प्रकाशक
जैन इतिहास समिति
आचार्य श्री विनयचन्द ज्ञान भण्डार
लाल भवन, चौड़ा रास्ता
जयपुर–३०२००३

•

•

प्रथम संस्करण : ११०० प्रतियां
जनवरी, १९८७

•

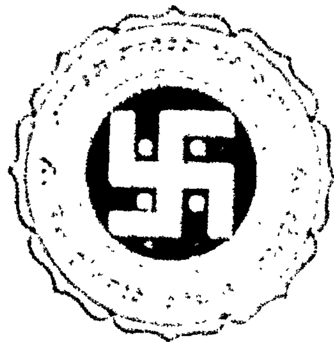
मूल्य ५०) रुपये



•

मुद्रक :
पॉपुलर प्रिन्टर्स
नवाब हवेली,
त्रिपोलिया बाजार
जयपुर–३०२००२

विषयानुक्रमणिका



जैन इतिहास समिति के पदाधिकारियों का परिचय

"जैन धर्म का मौलिक इतिहास" ग्रन्थमाला के ग्रंथ-रत्न निर्माण एवं प्रकाशन में प्रारम्भ से लेकर अद्यावधि तन, मन, धन से अनवरत सहयोग प्रदान करने वाले इतिहास समिति के वर्तमान पदाधिकारियों का परिचय।

★ श्रीमान् इन्द्रचन्द जी सा० हीरावत जयपुर ★

आप आदर्श गुरुभक्त, कर्मठ समाज-सेवी एवं धर्मनिष्ठ श्रावक हैं। इस इतिहास ग्रन्थमाला के निर्माण एवं प्रकाशन आदि कार्यों में प्रारम्भ से ही आपका तन-मन-धन से अनुकरणीय सहयोग रहा। आप वर्षों से जैन इतिहास समिति के अध्यक्ष पद का गुरुतर कार्यभार वहन कर रहे हैं। सम्यग् ज्ञान प्रचारक साहित्य के प्रकाशन में सहायतार्थ आप सदा स्वेच्छापूर्वक समुद्यत रहते हैं। सेवा-धर्म के आप आदर्श उपासक हैं। आपने स्थान-स्थान पर "आई कैम्प्स" का आयोजन कर तन-मन-धन से अपूर्व सेवाएं प्रदान की हैं।

★ श्रीमान पूनमचन्द जी सा० बडेर जयपुर ★

आप अनेक उत्तमोत्तम गुणों से सम्पन्न कर्मठ समाज-सेवी श्रावक हैं। आप जैन इतिहास समिति के गठन के समय से लेकर अद्यावधि कोषाध्यक्ष पद के कार्य-भार का पूर्ण निष्ठा एवं अपूर्व कौशल के साथ निर्वहन करते आ रहे हैं। आपने न केवल स्वधर्मी बन्धुओं की ही अपितु प्रत्येक अभाव-ग्रस्त, सहायता के पात्र की तन-मन-धन से सेवा करना, अपने जीवन के अवशिष्ट काल का परम लक्ष्य बना लिया है।

★ श्रीमान चन्द्रराजजी सा० सिंघवी डिप्टी सेक्रेटरी प्लानिंग राजस्थान ★

आप आदर्श गुरुभक्त होने के साथ-साथ एक उत्साही कर्मठ कार्यकर्त्ता हैं। सन् १९७३ से जैन इतिहास समिति के मन्त्री पद का कार्य-भार कुशलतापूर्वक निर्वहन करते हुए आपने जो समाज की सेवा की है, वह चिर काल तक स्मरण की जाती रहेगी। राजकीय सेवा में रहते हुए भी आप अपना अमूल्य समय निकाल कर इतिहास एवं सत्साहित्य के प्रकाशन में सर्वथा श्लाघनीय योगदान कर रहे हैं।

□

जैन धर्म का मौलिक इतिहास

(चतुर्थ भाग)

सामान्य श्रुतधर काल खण्ड (२)

श्री भोपालचन्द जी पगारिया का परिचय

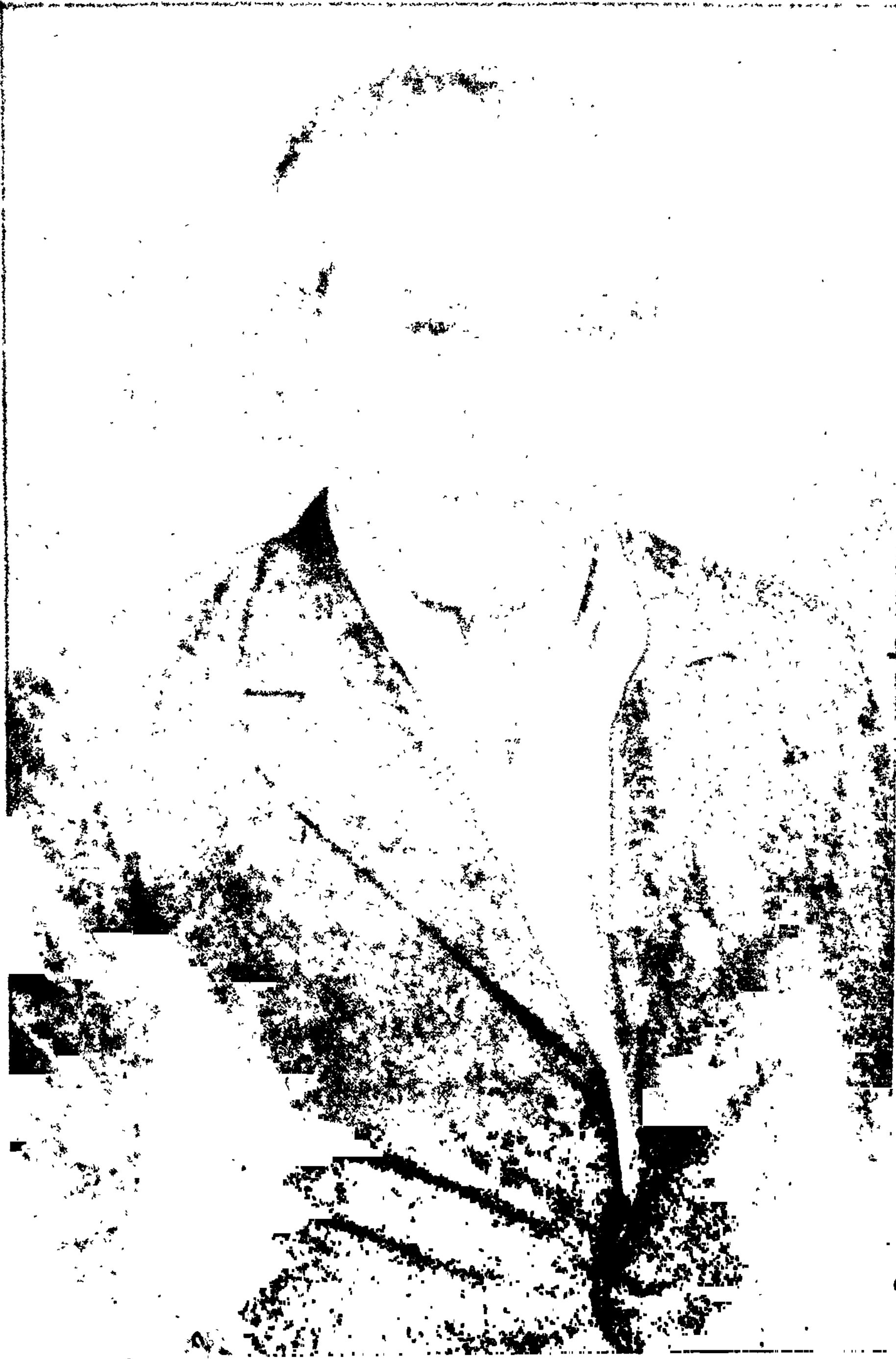
जिन महानुभावों ने अपने निज के पुरुषार्थ से धन और यश का उपार्जन किया है उनमें से श्री भोपालचन्द पगारिया वैंगलोर निवासी भी एक हैं।

आपका जन्म सन् १९३५ में सोजत मारवाड़ में श्रीमान सुकनराजजी पगारिया के गृह में मातुश्री विलिया वाई की कुक्षी से हुआ। आपके परिवार में आपकी धर्मपत्नी श्रीमती शान्ति वाई, दो पुत्र (राजेन्द्र कुमार व महेन्द्रकुमार) एवं तीन पुत्रियां हैं।

आप मैट्रिक तक की शिक्षा स्थानीय उच्च विद्यालय में प्राप्त कर पन्द्रह वर्प की अवस्था में ही सन् १९५० में व्यवसाय की तलाश में वैंगलोर आ गये और वहीं एक विद्युत उपकरण के प्रतिष्ठान में नौकरी करके आपने व्यावसायिक क्षेत्र में प्रवेश किया। सन् १९५६ में आपने अपना निजी व्यवसाय स्थापित कर लिया और इसके वाद तीन दशक की अवधि में आपने अपने नम्र व्यवहार एवं कुशल व्यावहारिक बुद्धि के द्वारा व्यावसायिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया।

धार्मिक क्षेत्र में कार्यरत संस्थाओं को भी आप हर प्रकार से सहयोग देते रहते हैं। आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी महाराज साहव की प्रेरणा से स्वाध्याय संघ की गतिविधियों में आपका पूर्ण सहयोग रहा। आप हर वर्ष गुरुदेव की सेवा में पधारकर दानादिसद् कार्यों की प्रेरणा लेते रहते हैं एवं अन्य लोगों को प्रेरणा लेने के लिए उत्साहित करते रहते हैं।

प्रस्तुत प्रकाशन में भी आपने विपुल अर्थ सहयोग दिया है। आपका यह सहयोग श्रुत-ज्ञान के प्रचार-प्रसार में स्तुत्य एवं अनुकरणीय है।



श्री भोपालचन्द पगारिया

मुद्रण कार्य को सुचारु रूपेण सम्पन्न करने में पॉपुलर प्रिन्टर्स के स्वामा सहोदरद्वय श्री महावीर जी एवं श्री निर्मल कुमार जी गोयल तथा इनके प्रेस के कर्मठ व्यवस्थापक श्री रवीन्द्र कुमार जी सारस्वत एवं फोरमैन श्री जगमोहनजी अग्रवाल ने जो आत्मीयतापूर्ण श्रम किया है उसके लिए हम उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

इन्द्रचन्द हीरावत — चन्द्रराज सिंघवी

अध्यक्ष — मंत्री

जैन इतिहास समिति जयपुर

लाल भवन

दिनांक २४-१-८७

सम्पादकीय

सर्वप्रथम मैं आचार्य देव श्री हस्तीमलजी म० सा० को सभक्ति वन्दन करता हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रारम्भिक अध्याय "पूर्व पीठिका" में उन सब बातों का भी उल्लेख कर दिया गया है, जिनका उल्लेख किसी भी ग्रन्थ के सम्पादकीय में करना आवश्यक होता है। अतः मात्र "सम्पादकीय" की औपचारिकता के निर्वहन हेतु गिनी चुनी पंक्तियों में निवेदन कर देना चाहता हूँ कि प्रस्तुत इतिहास माला के किसी भी भाग के मूल कलेवर में मेरा अपना एक भी शब्द नहीं है। जो कुछ है वह सब पूर्वाचार्यों और विभिन्न समय में हुए विद्वानों का ही कथन है। मैंने तो, जिस प्रकार एक माली छोटे बड़े विविध जाति और वर्णों के पुष्पों को चुन-चुन कर एक सुन्दर पुष्पस्तबक का निर्माण करता है, गुम्फन करता है ठीक उसी प्रकार सैकड़ों ग्रन्थों, शिलालेखों, हजारों प्राचीन हस्तलिखित पत्रों में जो जैन इतिहास भारत के विभिन्न क्षेत्रों में बिखरा पड़ा था उसे काल-क्रम से चुन-चुन कर समुचित प्रसंग एवं स्थान पर रख कर ऐतिहासिक घटना क्रम को सुव्यवस्थित, सुपाठ्य एवं सुबोध्य करने का प्रयास मात्र किया है।

मैं यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूँ कि मैंने तीर्थंकर काल से पूर्व के कुलकर काल से लेकर विक्रम की २० वीं शताब्दी तक के इतिहास का आलोडन और आगमों से लेकर साम्प्रत युगीन जैन-जैनेतर साहित्य का प्रस्तुत ग्रन्थ माला के सम्पादन हेतु अध्ययन किया है। मैंने वेद व्यास द्वारा निर्मित अति विशाल पौराणिक साहित्य का पारायण करते समय वेदव्यास की इस चेतावनी को भी पढ़ा है कि जो व्यक्ति जान बूझ कर किसी भी दूषित उद्देश्य से ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर लिखता है वह कल्पान्त काल तक दुस्सह्य दारुण नारकीय दुःखों का भागी बनता है।

इस प्रकार की स्थिति में यदि कोई व्यक्ति अपने मन में किंचित्मात्र भी इस प्रकार की शंका लाए कि इस इतिहास में किसी भी सम्प्रदाय अथवा मान्यता विशेष को श्रेष्ठ अथवा अन्य किसी सम्प्रदाय, संघ अथवा मान्यता विशेष को मध्यम सिद्ध करने के उद्देश्य से लिखा गया है, तो मैं यह निवेदन करूँगा कि ऐसी शंका करने से पहले यह अवश्य सोच लें कि वे कहीं "चोर की दाढ़ी में तिनका" की लोकोक्ति को तो चरितार्थ करने नहीं जा रहे हैं।

आलोचकों से भी नम्र निवेदन करूंगा कि वे आलोचक बन कर सुसभ्य भाषा में आलोचना करें, निन्दक बन कर निन्द्य, अनार्योचित असभ्य भाषा में नहीं। आलोच्य तथ्य के विरुद्ध ठोस आर्ष प्रमाण प्रस्तुत कर आलोचना करें न कि विक्षिप्त रथ्या पुरुष के अनर्गल प्रलाप की भांति। जैसा कि इतिहास माला के तृतीय भाग के प्रकाशन से पूर्व किसी दूसरे के नाम से उससे भिन्न किसी दूसरे ने ही किया था।

इस इतिहास माला के पाठकों से मैं यह भी निवेदन कर देना चाहता हूँ कि जिस कालावधि के इतिहास का आलेखन प्रस्तुत भाग में किया गया है, वह काल जैन इतिहास का सर्वाधिक दुर्भाग्यपूर्ण काल है। उस काल में जैन साहित्य को पढ़ते समय मुझे ऐसा प्रतीत होने लगता था कि क्या श्रमण भगवान महावीर के अनुयायियों के सिर पर शैतान सवार हो गया है जो एक दूसरे को देखते ही परस्पर एक दूसरे की पिण्डुली पकड़ने को दौड़ रहे हैं, एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिये एक दूसरे के विरुद्ध डाकिनी साकिनी मुद्‌गल जैसे अशोभनीय शब्दों का प्रयोग कर महामच्छ के नासाग्र पर रहने वाले अति लघुकाय तंदुल मच्छ की भांति घोर मानसिक हिंसा का ताण्डव नृत्य कर रहे हैं। जहां तीर्थंकर कालीन इतिहास से लेकर देवर्द्धि क्षमा श्रमण के समय तक के इतिहास का सम्पादन करते समय मैं अपने आपको बड़ा पुण्यशाली सौभाग्यशाली समझता था वहीं वीर निर्वाण भी १५वीं शताब्दी से २० वीं शताब्दी की मध्यावधि के इतिहास का सम्पादन आकलन करते समय मैं अपने आपको संसार का सबसे चोटी का दुर्भाग्यशाली अनुभव कर रहा था। अस्तु, जो बीती सी बीत चुकी, अब उसकी याद सताये क्यों ?"

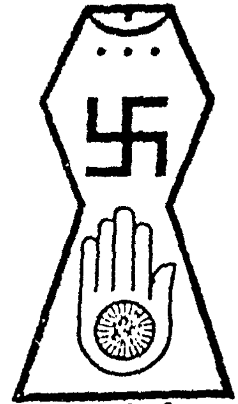
मेरे इस आलेखन-सम्पादन कार्य को यदि किसी से कष्ट हुआ हो तो, मैं उनसे विनम्रतापूर्वक क्षमा-याचना करता हूँ।

गजसिंह राठौड़
न्याय व्याकरण तीर्थ

जैन धर्म का मौलिक इतिहास

(चतुर्थ भाग)

सामान्य श्रुतधर काल खण्ड (२)





णमो अरिहंताणं

णमो सिद्धाणं

णमो आयरियाणं

णमो उवज्झायाणं

णमो लोए सव्व साहूणं

एसो पंच णमोक्कारो, सव्व पावप्पणासणो ।

मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥

पूर्व पीठिका

अगाध करुणासिन्धु जिनशासन-नायक विश्वबन्धु श्रमण भगवान् महावीर के अचिन्त्य प्रताप का ही प्रतिफल है कि अद्ययुगीन महान् अध्यात्म योगी जैनाचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज के निर्देशन में जैनधर्म का, भोग युग एवं कर्म युग के संगमकाल से प्रारम्भ कर श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाणोत्तर १४७५ वर्ष तक के अति सुदीर्घ काल का, इतिहास प्रस्तुत ग्रन्थमाला के तीन भागों में नाति विस्तृत—नाति संक्षिप्त शैली में प्रकाशित कर दिया गया है। अब इस प्रस्तुत किये जा रहे चतुर्थ भाग में वीर निर्वाण सम्वत् १४७६ से वीर निर्वाण सम्वत् २००० तक के इतिहास का समावेश किया जा रहा है। इसमें भी आचार्यश्री द्वारा प्रारम्भ से ही अपनाई गई नयी दिशा के अनुरूप धर्म के इतिहास के साथ-साथ संक्षेपतः पूरी अवधि का सामाजिक एवं राजनैतिक इतिहास भी प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस इतिहास ग्रन्थमाला के प्रथम भाग में विश्व के सकल चराचर प्राणियों के सच्चे सखा एवं एकमात्र शरण्य ऋषभादि महावीरान्त चौबीस तीर्थंकरों के काल का विशद् विवरण प्रस्तुत किया गया है। उस प्रथम भाग में चौबीस तीर्थंकरों के पावन जीवनवृत्त के साथ-साथ बारह चक्रवर्तियों, नव बलदेवों, नव वासुदेवों और नव प्रतिवासुदेवों का भी जीवनवृत्त देने का प्रयत्न किया गया। उसी भाग में उस काल की राजनैतिक स्थिति का भी इतिहास यथाशक्य प्रस्तुत किया गया है, जिसमें राजनीति के आदि प्रवर्त्तक आदि राजा भगवान् ऋषभदेव के सुपुत्र चक्रवर्ती भरत से लेकर शिशुनागवंशी सम्राट् श्रेणिक, बिम्बसार और उनके उत्तराधिकारी सम्राट् कुणिक के शासनकाल तक का विशद् इतिवृत्त भी सम्मिलित है।

साम्प्रतयुगीन पूर्व एवं पश्चिम के अनेक अग्रगण्य इतिहासज्ञ इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते रहे हैं कि जहां एक ओर जैनागमों में श्रीकृष्ण वासुदेव, उनकी महीपियों, उनके पुत्रों-पौत्रों तथा अनेक परिजनों का परिचय उपलब्ध होता है, वहां दूसरी ओर वैदिक परम्परा के किसी भी ग्रन्थ में श्रीकृष्ण के ताऊपुत्र (भाई) बावीसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि का स्पष्टतः नामोल्लेख तक क्यों नहीं है। इतिहास के विद्वानों की इस प्रकार की आशंका ने इस कमी को दूर करने की एक उत्कट अभिलाषा हमारे अन्तर्मन में उत्पन्न की। एतदर्थ वैदिक परम्परा के प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों और साहित्य का गहराई से अवलोकन किया गया तो वैदिक परम्परा के ही प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थ हरिवंश पुराण में न केवल भगवान् अरिष्टनेमि ही, अपितु उनकी वंश परम्परा का पूर्ण वंश वृक्ष ही प्राप्त हो गया, जिसे भगवान् अरिष्टनेमि के प्रकरण में यथा-स्थान प्रस्तुत किया गया है। इससे

यह तथ्य इतिहास-प्रेमियों के समक्ष प्रकाश में आ गया है कि श्रीकृष्ण वस्तुतः भगवान् अरिष्टनेमि के चचेरे भाई थे।[1]

साथ ही भारतीय इतिहास के विषय में गहन रुचि के साथ शोध करने वाले पाश्चात्य विद्वानों को इस बात की आशंका थी कि ईसा से सातवीं शताब्दी पूर्व जैन परम्परा के तेवीसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के तीर्थंकर काल में काशी (वाराणसी) में इक्ष्वाकु वंश का राज्य नहीं, बल्कि शिशुनाग वंश के राजा काकवर्णी का शासन था; जबकि जैनागमों में इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म काशी के इक्ष्वाकु वंशी महाराजा अश्वसेन की महाराणी वामादेवी की कुक्षि से हुआ था। इस विषय में भी गहन शोध के अनन्तर वैदिक परम्परा के पुराणों और अन्य ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया गया है कि भगवान् पार्श्वनाथ के दीक्षित हो जाने के अनन्तर एवं उनके पिता काशी के इक्ष्वाकु वंशीय राजा अश्वसेन के स्वर्गारोहण के अनन्तर काशी का राज सिंहासन उनके किसी उत्तराधिकारी के अभाव में कतिपय वर्षों के लिये रिक्त रहा। इस प्रकार की अराजकतापूर्ण स्थिति का अन्त करने के लिये काशी राज्य की प्रजा ने शिशुनाग नामक योद्धा को आमन्त्रित किया और उसे काशी के राज सिंहासन पर आसीन कर दिया।[2]

इस प्रकार इस ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प में प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से लेकर चरम तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाणकाल तक का जैनधर्म का और उसके साथ ही साथ भारत के तत्कालीन राजनैतिक एवं सामाजिक इतिवृत्त का संक्षेप में व्यौरा प्रस्तुत किया गया है। उस अवधि के जैनधर्म के इतिहास को अथवा तीर्थंकर काल के इतिहास को जैनधर्म के स्वर्णिम काल के इतिहास की संज्ञा दी जाती है।

इस ग्रन्थमाला के द्वितीय भाग में श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण से उत्तरवर्त्ती काल का, वीर निर्वाण सम्वत् एक से वीर निर्वाण सम्वत् एक हजार तक का जैनधर्म का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इसमें जैनधर्म के इतिहास के साथ-साथ एक हजार वर्ष का भारत का राजनैतिक और यथाशक्य सामाजिक इतिवृत्त भी क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत किया गया है। इस अवधि के जैनधर्म के इतिहास को केवली काल, चतुर्दश पूर्वधर काल, दश पूर्वधरकाल, और सामान्य पूर्वधरकाल इन चार वर्गों में विभक्त किया गया है। इसमें केवली काल की अवधि ६४ वर्ष की, चतुर्दश पूर्वधर काल की अवधि वीर निर्वाण सम्वत् ६४ से १७० तक (१०६ वर्ष) की, दश पूर्वधरकाल की अवधि वीर निर्वाण सम्वत् १७१ से वीर निर्वाण सम्वत्

---

१. जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग १, पृष्ठ [illegible]
२. देखिये जैनधर्म का मौलिक इतिहास भाग २, पृष्ठ २४३–२४५

५८४ तक (४१३ वर्ष) की, और वीर निर्वाण सम्वत् ५८४ से १००० वर्ष तक ४१६ वर्ष की अवधि सामान्य पूर्वधर काल की रही है।

इस प्रकार इस द्वितीय भाग में वीर निर्वाण सम्वत् १ में वीर प्रभु के पट्ट पर आसीन हुए उनके प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा से लेकर वीर निर्वाण सम्वत् १००० में स्वर्गस्थ हुए अन्तिम पूर्वधर आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के आचार्य काल तक का एक हजार वर्ष के जैनधर्म के इतिहास के साथ-साथ तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक दशा का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। वीर निर्वाण की तृतीय शती के चतुर्थ दशक के आस-पास आर्य महागिरि एवं आर्य सुहस्ती के समय की एक आव आपवादिक घटनाओं को और वीर निर्वाण सं० ६०९ के आस-पास भगवान् महावीर के संघ में दिगम्बर, यापनीय और तदनन्तर नियत-निवासी शिथिलाचारोन्मुखी चैत्यवासी परम्पराओं के बीज वपन के उपरान्त भी श्रमण भगवान् महावीर का धर्मसंघ वस्तुतः एकता के सूत्र में आबद्ध रह अपनी विशुद्ध एवं मूल शास्त्रीय परम्परा के प्रचार-प्रसार के माध्यम से जन-जन का कल्याण करता हुआ एक महानदी के प्रवाह तुल्य गति से गतिशील रहा।

द्वितीय भाग के आलेखन के समय भी गहन शोध के अनन्तर अनेक ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश डालने के साथ-साथ अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक उपलब्धियां अवाप्त की गईं, जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निम्नलिखित रूप में उल्लेखनीय हैं :—

१. अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर अथवा श्रुतकेवली भद्रबाहु उन निर्युक्तियों के रचनाकार नहीं थे, जो वर्तमान काल में उपलब्ध हैं। वस्तुतः इन निर्युक्तियों के निर्माता देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् अपने संघ के साथ दक्षिण की ओर विहार कर वहीं विचरण करने वाले और श्रमण बेलगोल में स्वर्गस्थ होने वाले निमित्तज्ञ भद्रबाहु (द्वितीय) थे।

२. अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु (प्राचीन गोत्रीय) दुष्काल के समय दक्षिण की ओर नहीं, अपितु नेपाल की ओर गये थे।

३. अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के पास मौर्य राजवंश के संस्थापक सम्राट् चन्द्रगुप्त दीक्षित नहीं हुए। वस्तुतः ऐतिहासिक तथ्य इस बात के साक्षी हैं कि वे दोनों समकालीन नहीं थे। अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु का स्वर्गवास दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार वीर निर्वाण सम्वत् १६२ में हुआ, जबकि मौर्य चन्द्रगुप्त ने वीर निर्वाण सम्वत् २१५ के आसपास नन्दवंश के अन्तिम मगध सम्राट् नवम नन्द को युद्ध में परास्त कर मगध साम्राज्य के सिंहासन पर आरूढ़ हो मौर्य साम्राज्य की स्थापना की।

४. यूनान और विश्व के इतिहास से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि सिकन्दर ने ईस्वी सन् पूर्व ३२७ (वीर निर्वाण सम्वत् २००) में भारत पर आक्रमण किया। उस समय राजा पुरु ने सिकन्दर से सन्धि होने के पश्चात् कहा था कि यदि तुम सम्पूर्ण भारतवर्ष पर अधिकार करना चाहते हो तो मगध साम्राज्य पर आक्रमण कर दो। मगध का राज्य एक बड़ा ही शक्तिशाली राज्य है। किन्तु उसके सम्राट् नवम नन्द को वहां की प्रजा नापितपुत्र मानती है और उससे घृणा करती है। इस कारण तुम एक कड़ी लड़ाई के पश्चात् मगध साम्राज्य पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सकते हो। मगध के सिंहासन पर अधिकार कर लेने के पश्चात् तुम्हारी विजयिनी सेनाओं को रोकने वाली अन्य कोई राज्य-शक्ति नहीं रहेगी।

चन्द्रगुप्त मौर्य, जो उस समय किशोरावस्था में ही था और भारत के एक विख्यात रणनीति विशारद गुरु के पास तक्षशिला में रणनीति की शिक्षा ग्रहण कर रहा था, भी यूनानी रणनीति के भेद से अवगत होने के लक्ष्य से सिकन्दर से मिला था। वह थोड़े समय के लिए सिकन्दर की सेना में भी रहा। उस समय चन्द्रगुप्त ने भी सिकन्दर को मगध पर आक्रमण करने का परामर्श देते हुए वही बात कही जो कि राजा पुरु ने सिकन्दर से कही थी।

विश्व और यूनान के इतिहास के इन दो उल्लेखों से यह स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि वीर निर्वाण सं० २०० के व्यतीत हो जाने तक मगध पर नवम नन्द का ही साम्राज्य था।

ईस्वी पूर्व ३२३ तदनुसार वीर निर्वाण सम्वत् २०४ में सिकन्दर युद्ध में स्वयं आहत होने तथा अपनी सेनाओं की भारी क्षति के परिणामस्वरूप सैनिकों में विद्रोह फैलने की आशंका से अपनी सेना के साथ अपने देश को लौट गया।

सिकन्दर के प्रधान सेना-नायकों के उल्लेखानुसार चन्द्रगुप्त मौर्य ने चोरों और लुटेरों की एक छोटी सी सेना जुटाकर सिकन्दर की सेनाओं से युद्ध भी किया था। उस युद्ध में चन्द्रगुप्त एक अति विशालकाय जंगली हाथी पर आरूढ़ हो अपनी तथाकथित चोर-लुटेरों की सेना में सबसे आगे रहकर यूनानियों से लड़ा था।

सिकन्दर के स्वदेश की ओर लौट जाने के पश्चात् उसके द्वारा विजित भारतीय क्षेत्रों में यूनानी शासन के विरुद्ध विद्रोह की आग भड़का कर और अपनी सैन्य शक्ति के बल पर यूनानियों की प्रायः सभी क्षत्रपियों को चन्द्रगुप्त ने नष्ट कर दिया था।

इस प्रकार रणनीति में सक्रिय सफलता प्राप्त करने के अनन्तर अपनी सैन्य शक्ति को बढ़ाकर अपने गुरु चाणक्य के तत्वावधान में सीधे मगध की राजधानी पाटलीपुत्र पर आक्रमण कर चन्द्रगुप्त ने मगध साम्राज्य के सिंहासन पर अधिकार करने का दुःसाहस किया था।

सिकन्दर के सम्भावित आक्रमण की आशंका से नवम नन्द ने पहले से ही अपनी शक्तिशाली सेना को सभी भांति और अधिक शक्तिशाली बना लिया था। इस कारण नवम नन्द और चन्द्रगुप्त की सेनाओं के बीच हुए उस युद्ध में चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना पूर्ण-रूपेण नष्ट-भ्रष्ट अथवा अस्त-व्यस्त हो गई। केवल चन्द्रगुप्त और चाणक्य—ये दो गुरुशिष्य ही उस युद्ध में बचे और वे येन-केन-प्रकारेण लुकते-छिपते एवं भयंकर वनों तथा दुर्गम पर्वतों में भटकते-भटकते बड़ी कठिनाई से अपने प्राण बचाकर मगध साम्राज्य की सुविशाल सीमाओं से बाहर निकलने में सफल हो सके। चाणक्य ने येन-केन-प्रकारेण पुनः एक विशाल सेना संगठित करके उस समय के एक अन्य राज्य के अधिपति राजा पर्वतक की सेनाओं के साथ मिलकर दूसरी वार मगध पर आक्रमण किया। इस वार मगध की सुदूरवर्ती सीमाओं पर पहले अधिकार करते हुए शनैः शनैः क्रमशः मगध के सीमावर्ती बहुत वड़े भाग पर अधिकार कर लेने के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने पाटलीपुत्र पर आक्रमण किया। इससे उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई और नन्द राज्य का अंत कर वह मगध साम्राज्य के सिंहासन पर वैठा। इस प्रकार वीर निर्वाण की तीसरी शताब्दी के द्वितीय दशक में चन्द्रगुप्त ने मौर्य साम्राज्य की स्थापना की। एक राज सत्ता विहीन महत्वाकांक्षी सेनानी को एक शक्तिशाली सेना गठित करने और उस सेना के मूलतः नष्ट हो जाने पर एक विशाल एवं महाशक्तिशाली साम्राज्य पर अधिकार करने के लिए दूसरी शक्तिशाली सेना सुगठित करने में दस पन्द्रह वर्ष का समय लगना हर दृष्टि से सहज स्वाभाविक लगता है।

इन सव ऐतिहासिक तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर स्पष्ट रूप से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि मुख्यतः दिगम्बर परम्परा के साहित्य में और साधारणतः श्वेताम्बर परम्परा की परवर्तीकाल की कृतियों में सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के सोलह स्वप्नों और श्रुतकेवली भद्रवाहु के पास चन्द्रगुप्त के दीक्षित होने तथा दुर्भिक्ष की अवस्था में दक्षिण की ओर विहार करने के जो उल्लेख उपलब्ध होते हैं, उनमें तथ्य का कहीं कोई लवलेश भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

नाम साम्य की भ्रान्ति और इतने बड़े सम्राट् द्वारा जैन श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की बात के माध्यम से अपने धर्म संघ की महानता तथा महिमा सिद्ध करने के उद्देश्य से विक्रम की छठी शताब्दी में हुए भद्रबाहु नामक आचार्य और उनके शिष्य चन्द्रगुप्ति की दक्षिण विहार की घटना को वीर निर्वाण की दूसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के द्वितीय शतक में ही अर्थात् वीर निर्वाण सम्वत् १६२ अथवा दूसरी मान्यतानुसार वीर निर्वाण सम्वत् १७० में स्वर्गस्थ हुए चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के साथ जोड़ दिया गया है।

श्रमणबेलगोल में बाहुबली की विश्वविख्यात विशाल मूर्ति के पार्श्व में अवस्थित चन्द्रगिरि नामक एक पहाड़ी पर पार्श्वनाथ वसति का एक शिलालेख आज भी विद्यमान है, जिस का सारांश इस प्रकार है :—

"सूर्य के समान भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनके पट्ट पर गौतम लोहार्य (सुधर्मा), जम्बू, विष्णु, अपराजित, गोवर्द्धन, अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु, विशाख, प्रोष्ठिल, कृतिकाय, जय, सिद्धार्थ, धृतिषेण, बुद्धिल आदि गुरु परम्परा के क्रम में महापुरुषों की शिष्य सन्तति को प्रकाशित करने वाले अष्टांग महानिमित्त को जानने वाले भद्रबाहु नामक आचार्य ने उज्जयिनी में भूत, भविष्य और वर्तमान की घटनाओं को बतला देने वाले निमित्त ज्ञान से बारह वर्ष के भावी दुष्काल को जानकर सब संघ को सूचित किया और संघ उनके साथ उत्तरापथ से दक्षिणापथ की ओर प्रस्थित हुआ। वे अपने संघ के साथ अन्न-जन-धन-धान्य-वृक्ष-लता-गुल्मादि से सम्पन्न दक्षिण देश में आये। उन भद्रबाहु नामक आचार्य ने चन्द्रगिरि की इस गुफा में अनशन एवं समाधिपूर्वक स्वर्ग-गमन किया।..........."[1]

इस प्रकार इस ग्रन्थमाला के द्वितीय भाग में ठोस आधार पर यह सिद्ध कर दिया गया है कि एकादशांगी के विच्छेद के अनन्तर हुए भद्रबाहु नामक आचार्य और उनके सुशिष्य चन्द्रगुप्ति के जीवन से सम्बन्धित घटना को वीर निर्वाण सम्वत् १६२ अथवा १७० में

स्वर्गस्थ हुए अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के जीवन की घटनाओं के साथ भ्रान्तिवश संयुक्त कर दिया गया है।

५. वीर निर्वाण सम्वत् २४५ में दशपूर्वधर आर्य महागिरि के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् जैन संघ में गणाचार्य तथा वाचनाचार्य इन दो आचार्य परम्पराओं के प्रादुर्भाव और तत्पश्चात् कालान्तर में तीसरी आचार्य परम्परा, युग प्रधानाचार्य परम्परा के उद्भव के कारण शताब्दियों तक युग प्रधानाचार्य, वाचनाचार्य और गणाचार्य इन तीनों आचार्य परम्पराओं के सम सामयिक काल में प्रचलित रहने का युक्तिसंगत ऐतिहासिक तथ्यों से पूर्णतः परिपुष्ट और जन-जन के मन का समाधान करने वाले ऐसे ऐतिहासिक तथ्यों पर पूर्ण प्रकाश डालकर असाधारण से असाधारण मेधा-सम्पन्न विज्ञ को भी उलझन भरे ऊहापोह में डालने वाली जटिल समस्या का सही हल निकाल लिया गया है।[1]

६. द्वितीय भाग में जो एक हजार वर्ष का इतिहास लिखा गया है उसके लेखन में नन्दि स्थविरावली और कल्पसूत्रीया स्थविरावलि इन दो स्थविरावलियों को मूल आधार माना गया है। मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई में जो वहां के अति प्राचीन जैन स्तूप से निकले अठारह सौ से उन्नीस सौ वर्ष पुराने शिलालेख, आयागपट्ट, मूर्तिलेख आदि मिले हैं उनमें कल्प सूत्रीया स्थविरावलि के छः गणों में से तीन गणों, चार गणों के बारह कुलों तथा दस शाखाओं के एवं नन्दीसूत्रीया स्थविरावलि के पन्द्रहवें वाचनाचार्य आर्य समुद्र, सोलहवें आर्य मंगू, इक्कीसवें आर्य नन्दिल, बावीसवें आर्य नागहस्ति और चौबीसवें वाचनाचार्य भूतदिन्न के नाम उट्टंकित हैं। आज से लगभग दो सहस्राब्दि पूर्व के इन शिलालेखों ने आर्य सुधर्मा से प्रारम्भ हुई जैन श्रमण संघ की इन दोनों स्थविरावलियों को संसार के समक्ष पूर्णतः प्रामाणिक और परम विश्वसनीय सिद्ध कर दिया है।

इस प्रकार नन्दी स्थविरावलि और कल्पसूत्रीया स्थविरावलि के आधार पर लिखा गया यह इतिहास १८००-१९०० वर्ष पूर्व के ऐतिहासिक अभिलेखों से पूर्णतः परिपुष्ट होने के कारण परम प्रामाणिक सिद्ध हुआ है।

७. दूसरे भाग के लेखन हेतु शोधकार्य करते समय मथुरा के पुरातात्विक संग्रहालय में उपलब्ध जैन इतिहास से सम्बन्धित मथुरा के कंकाली

---

१. जैनधर्म का मौलिक इतिहास भाग २ पृष्ठ ४६८–७१

टीले की खुदाई से प्राप्त हुई ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर यह तथ्य भी प्रकाश में लाया जा सका है कि कनिष्क के राज्य के चौथे वर्ष, तद्नुसार वीर निर्वाण सम्वत् ६०९ से पूर्व की कोई जैन मूर्ति मथुरा के राजकीय संग्रहालय में नहीं है।[1] वीर निर्वाण सम्वत् ६०९ की यह मूर्ति भी मथुरा के अति प्राचीन स्तूप के अवशेषों में मिली है। स्तूप वस्तुतः किन्हीं तीर्थंकर भगवान् अथवा महापुरुष की स्मृति में उस स्थान पर बनाये जाते थे, जिस स्थान पर कि उनके पार्थिव शरीर की अन्त्येष्टि क्रिया की जाती थी। ऐसी स्थिति में स्तूप में जो मूर्ति रखी जाती थी वह पूजा अर्चा के लक्ष्य से नहीं अपितु स्मृति के एक प्रतीक के रूप में होती थी। इस प्रकार के ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह तथ्य प्रकाश में लाया गया कि वीर निर्वाण सम्वत् ६०९ से पहले मथुरा के उस प्राचीन स्तूप में कोई जिनमूर्ति कभी नहीं रखी गई थी। इस प्रकार के ठोस ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर द्वितीय भाग के आलेखन के समय यह तथ्य प्रकाश में लाया गया कि वीर निर्वाण सम्वत् ६०९ तद्नुसार शक सम्वत् ४ से पूर्व साधारणतः सर्वत्र और मुख्यतः स्तूपों में मूर्त्तियां नहीं रक्खी जाती थीं। दूसरे शब्दों में यह कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि वीर निर्वाण सम्वत् ६०९ से पूर्व मथुरा जैसे जैनधर्म के सुदृढ़ केन्द्र स्थल में मूर्ति पूजा का प्रचलन नहीं था। हमारे द्वारा प्रतिपादित किये गये इस ऐतिहासिक तथ्य की पुष्टि आन्ध्रप्रदेश के गुन्टूर जिले के वड्डमानु ग्राम में डा. टी. वी. जी. शास्त्री, संचालक, बिरला पुरातत्व एवं सांस्कृतिक शोध प्रतिष्ठान (डायरेक्टर, बिरला आर्चियोलोजिकल एण्ड कल्चरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट) के तत्वावधान में मिले हुए अनुमानतः २२०० वर्ष पूर्व के स्तूप के अवशेषों से होती है। इस खुदाई में ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश डालने वाले शिलालेख तो उपलब्ध हुए हैं पर पूरी खुदाई में एक भी मूर्ति अथवा उसका कोई अंश उपलब्ध नहीं हुआ है।[2] इससे यही असन्दिग्ध रूप से सिद्ध होता है कि जैनधर्म में प्राचीन काल में मूर्तिपूजा के लिये आडम्बर का कोई स्थान नहीं था।

हमें इस बात का सन्तोष है कि इस ग्रन्थमाला में जैनधर्म का जो निर्वाणोत्तर १००० वर्ष का इतिहास प्रस्तुत किया गया है, उसकी आज से दो सहस्राब्दि और उससे भी पूर्व उट्टंकित किये गये विभिन्न काल के शिलालेखों से भी पुष्टि हो रही है।

आलेख्यमान ग्रन्थमाला के द्वितीय भाग के आलेखनानन्तर इसके प्रकाश के साथ ही तृतीय भाग के आलेखन का कार्य हाथ में लेने का उपक्रम किया गया क्योंकि वीर निर्वाण सम्वत् १ से १००० वर्ष तक के जैन धर्म के इतिहास का आलेखन वाचनाचार्य परम्परा की नन्दी स्थविरावली को प्रमुख आधार मानकर किया गया था. अतः सबसे पहले देवर्द्धि क्षमाश्रमण के उत्तरवर्ती काल की वाचनाचार्य परम्परा की पट्टावली की खोज की गई। युग प्रधानाचार्य आदि अनेक परम्पराओं की पट्टावलियों के साहित्य का पुनः पुनः आलोडन विलोडन कर लेने के पश्चात् भी जब वाचनाचार्य परम्परा की देवर्द्धि क्षमाश्रमण के आगे की पट्टावली कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुई तो एक बड़ी भारी निराशा के साथ-साथ एक बड़ी असमंजसपूर्ण उलझन हृदय को कचोटने लगी कि दो सहस्राब्दियों पूर्व उट्टंकित किये गये शिलालेखों से परिपुष्ट नन्दी स्थविरावली में वीर निर्वाण सम्वत् १ से १००० तक उल्लिखित की गई वाचनाचार्य परम्परा की अग्रेतन पट्टावली के अभाव में प्रामाणिक इतिहास-लेखन कार्य यथातथ्य रूपेण किस प्रकार आगे बढ़ाया जा सकेगा। ऐसे निराशा के क्षणों में एक नवीन आशा अन्तर्मन में उद्भूत हुई कि भारत के प्रमुख ग्रन्थागारों, प्राचीन हस्तलिखित ज्ञान भण्डारों का सूक्ष्म दृष्टि से यदि अवलोकन किया जाय तो सम्भव है कि वाचनाचार्य परम्परा की पट्टावली का कहीं कोई थोड़ा बहुत स्रोत मिल जाय। इस आशा की अनुपूर्ति हेतु अनेक प्राचीन ग्रन्थागारों एवं हस्तलिखित ग्रन्थों के ज्ञान भण्डारों में खोज प्रारम्भ की गई। इस खोज के साथ-साथ वीर निर्वाण सम्वत् १००१ से २००० और उससे आगे के इतिहास के आलेखन के लिये आवश्यक सामग्री का आलेखन संकलन भी प्रारम्भ रखा गया। इस लम्बे समय के प्रयास में जैन वाङ्मय के आलोडन में अनेक प्रकार की द्रव्य परम्पराओं की पट्टावलियां और उन द्रव्य परम्पराओं के सम्बन्ध में ऐतिहासिक सामग्री तो विपुल मात्रा में प्राप्त हुई किन्तु अहर्निश अथक् प्रयास के उपरान्त भी वाचनाचार्य परम्परा की देवर्द्धि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण के पश्चात् की कोई पट्टावली उपलव्ध नहीं हुई।

'वाचको पूर्व विद्' अथवा 'पूर्वविद् वाचकः' अर्थात् जो पूर्वज्ञान से सम्पन्न हो उसी को वाचक या वाचनाचार्य कहा जा सकता है। कम से कम एक पूर्व का ज्ञान वाचनाचार्य के लिए होना अनिवार्य रूपेण आवश्यक है। जिसे एक पूर्व का भी ज्ञान नहीं है वह वाचनाचार्य की अभिधा से अभिहित नहीं किया जा सकता। वत्तियों और प्राचीन जैन वांग्मय में वाचक अथवा वाचनाचार्य की इस व्याख्या को पढ़कर मस्तिष्क में एक विचार आया कि अन्तिम पूर्वधर वाचनाचार्य आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ हो जाने के अनन्तर पूर्व ज्ञान हमारी आर्य धरा से लुप्त हो गया। पूर्व ज्ञान के लुप्त होने के साथ ही वाचक संज्ञा से अभिहित किये जाने योग्य किसी भी वाचनाचार्य के विद्यमान न रहने के कारण वीर निर्वाण सम्वत् १००१ में वाचनाचार्य परम्परा भी समाप्त हो गई। वाचनाचार्य परम्परा

का अन्त हो जाने की स्थिति में उसी परम्परा की अग्रेतन पट्टावली का अस्तित्व भी कैसे रह सकता है। इस विचार से मन में वाचनाचार्य परम्परा की देवर्द्धि से आगे की वाचनाचार्य परम्परा की पट्टावली न मिलने से जो एक कसक, चुभन अथवा टीस अनुभव की जा रही थी, वह कुछ सीमा तक शान्त हुई। किन्तु हठात् एक-दूसरे ऐतिहासिक महत्त्व के प्रश्न ने अन्तर्मन में एक दूसरी ही टीस उत्पन्न कर दी कि देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण का वह शिष्य कौन था जो देवर्द्धि के स्वर्गगमन के पश्चात् उनके पद पर आसीन हुआ। लम्बे समय तक अथक् प्रयास के साथ उपलब्ध जैन वांग्मय का आलोडन, विलोडन, निदिध्यासन करने के उपरान्त भी देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण के किसी एक भी शिष्य का नाम उनके उत्तराधिकारी के रूप में तत्कालीन जैन साहित्य और उसके उत्तरवर्ती समय के साहित्य में उपलब्ध नहीं हुआ। "देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण जैसे महान् प्रभावक और पूर्वधर वाचनाचार्य, जिन्होंने न केवल एकादशांगी को ही अपितु उपांग छेदसूत्र आदि सम्पूर्ण आगमों को लिपिबद्ध अथवा पुस्तकारूढ़ कर सुविशाल शिष्योपशिष्य सन्तति की सहायता से ही पूर्ण किये जाने योग्य अतीव श्रम एवं समय साध्य गुरुतर कार्य को अपने भागीरथ प्रयास से सम्पन्न किया, वे शिष्य सन्तति विहीन होंगे और उनके स्वर्गारोहण के अनन्तर उनके पट्ट को अलंकृत करने वाला कोई भी सुयोग्य शिष्य अवशिष्ट न रहा होगा" यह बात किसी भी विचारक के गले नहीं उतर सकती। वीर निर्वाण की एक सहस्राब्दि के अवसान के साथ ही तत्काल श्रमण भगवान् महावीर की विशुद्ध मूल श्रमण परम्परा, वाचनाचार्य-परम्परा एक ही क्षण में तिरोहित हो गई होगी इस प्रकार की कल्पना नहीं की जा सकती। दुषमाकाल के अवसान के अन्तिम दिन में स्वर्ग सिधारने वाले दुःप्रसह आचार्य की विद्यमानता तक श्रमण भगवान् महावीर के जिनशासन का प्रवाह कभी तीव्र तो कभी मन्द गति से चलेगा पर चलता अवश्य रहेगा। किसी भी समय विच्छिन्न नहीं होगा। इस अवितथ आगम वचन के अनुसार यह तो किसी भी दशा में विश्वास नहीं किया जा सकता कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण के पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर का शासन कुछ समय के लिए विलुप्त अथवा तिरोहित हो गया होगा। देवर्द्धिगणि के पश्चात् भी जिनशासन का प्रवाह किसी न किसी रूप में अवश्यमेव चलता रहा, इस अटूट आस्था एवं अडिग विश्वास के साथ जब देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण के उत्तरवर्ती काल के जैनवांग्मय का पुनः पुनः परिमन्थन किया गया तो चारों ओर जैन वांग्मय में श्रमण भगवान् महावीर की अध्यात्मपरक मूल विशुद्ध भाव परम्परा के स्थान पर द्रव्य परम्पराओं का ही इतस्ततः वर्चस्व दृष्टिगोचर हुआ और वीर निर्वाण सम्वत् १००० से वीर नि० सं० १५५० (विक्रम सम्वत् १०८०) तक के जैन वांग्मय में विशुद्ध मूल परम्परा के क्रमबद्ध पट्टक्रम का कहीं नामोल्लेख तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

सम्वत् १५५० तदनुसार विक्रम सम्वत् १०८० तक के जैन जगत् में चारों ओर चैत्यवासी, यापनीय, भट्टारक, श्रीपूज्य, यति एवं शिथिलाचार में आपाद कण्ठ निमग्न कुलिङ्गि नामधारी परम्पराओं के वर्चस्व को देखकर हमारी यह निश्चित धारणा बन गई कि श्रमण भगवान् महावीर की विशुद्ध मूल श्रमण परम्परा, जो, आर्य महागिरि के स्वर्गारोहण (वीर निर्वाण सम्वत् २४५) के अनन्तर वाचनाचार्य गणाचार्य और युग प्रधानाचार्य इन तीनों परम्पराओं के नाम से समानान्तर रूप से वीर निर्वाण सम्वत् १००० तक चली आ रही थी, वह, १००१ के पश्चात् इन देशव्यापी द्रव्य परम्पराओं के प्रसार, प्रचार एवं वर्चस्व के परिणामस्वरूप नितान्त गौण रूप में अवशिष्ट रह गई। विशुद्ध मूल परम्परा की ये तीनों आचार्य परम्पराएं इस संक्रान्ति काल में विलुप्त तो नहीं हुई, किन्तु महातोया महानदी के अन्तर्प्रवाह के रूप में इस परम्परा का क्षीण प्रवाह अबाध गति से निरन्तर चलता ही रहा। नितान्त गौण अवस्था में पहुंची हुई विशुद्ध मूल परम्परा के आचार्यों की पट्टावलियां कहीं उपासकों के अभाव में, तो कहीं सम्भवतः द्रव्य परम्पराओं के वर्चस्व, एकाधिपत्य अथवा कुचक्र के प्रभाव से निरवशेष अथवा विलुप्त ही हो गई अथवा नष्ट कर दी गई।

हमारी इस प्रकार की धारणा की सम्पुष्टि न केवल निर्वाणोत्तर जैन वांग्मय से ही अपितु आगमिक उल्लेखों से भी होती है।

आगमिक उल्लेख के अनुसार अनन्त उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी कालचक्रों के व्यतीत हो जाने के अनन्तर पांच भरत तथा पांच एरवत-इन दस क्षेत्रों में समान रूप से एक हुण्डावसर्पिणी काल आता है। हुण्ड का अर्थ है-हीन, बुरा अथवा विषम और अवसर्पिणी काल का अर्थ है-उत्तरोत्तर हीयमान काल, जिसमें पुद्गलों के वर्ण, गंध एवं रस, स्पर्श आदि गुणों का अनुक्रम से अपकर्ष अथवा ह्रास होता रहता है। इसी प्रकार के हुण्डावसर्पिणी काल में समय-समय पर अनेक बार धर्म की ग्लानि-हानि एवं अधर्म का अभ्युत्थान होते रहने के साथ-साथ अघटनीय घटनाओं के घटित होते रहने के रूप में दस प्रकार के आश्चर्यों का प्रादुर्भाव होता है, जैसाकि अनन्त अवसर्पिणियों में और किसी एक भी उत्सर्पिणीकाल में कभी नहीं होता।

जिस अवसर्पिणी काल में हम उत्पन्न हुए हैं उस प्रवर्त्तमान अवसर्पिणी काल को शास्त्रों में, श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के साहित्य में हुंडावसर्पिणी काल की संज्ञा से अभिहित किया गया है। प्रवर्त्तमान हुंडावसर्पिणी काल में धर्म के विच्छेद-ह्रास के साथ साथ कब कब अधर्म का अभ्युत्थान हुआ और दस प्रकार की कौन-कौन सी आश्चर्यकारी घटनाएं कब-कब घटित हुईं, इस सम्बन्ध में यहां चर्चा करना अभीष्ट नहीं है, क्योंकि जैन वांग्मय में एतद् विषयक विशद् विवरण उपलब्ध है।[1]

---

१. जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग १, (प्रथम संस्करण) पृ० ३४४-४६

यहां केवल यही वताना अभीष्ट है कि वीर निर्वाण सम्वत् १००० में एक पूर्वधर अन्तिम आचार्य देवर्द्धिगरिण के स्वर्गस्थ हो जाने के पश्चात् हुंडावसर्पिणी काल के तथा भगवान् महावीर के निर्वाणकाल में भस्म ग्रह के योग के प्रभाव के परिणामस्वरूप श्रमण भगवान् महावीर के चतुर्विध धर्मतीर्थ के आचार-विचार व्यवहार आदि में अनेक प्रकार की विकृतियां उत्पन्न होने लगीं और श्रमण वर्ग में शिथिलाचार बड़े प्रवल वेग से पनपने लगा। अपने शिथिलाचार को लोकदृष्टि में संगत सिद्ध करने के अभिप्राय से उन शिथिलाचारपरायण कतिपय श्रमणों ने चैत्यवासी नाम की एक नई परम्परा को जन्म दिया। उन्होंने, जिन विधि-विधानों एवं मान्यताओं का मूल जैनागमों में कहीं कोई नाम मात्र तक के लिये भी उल्लेख नहीं है, ऐसे अनेक प्रकार के नये-नये धार्मिक अभिनव क्रिया-काण्डों एवं अनुष्ठानों के सूत्रपात के साथ-साथ एकादशांगी आदि जैन वांग्मय से नितान्त प्रतिकूल प्रतिष्ठा-कल्पों एवं लगभग ३६ निगमोपनिषदों आदि नूतन धर्मग्रन्थों की रचना कर उन्हें जैन धर्मावलम्बियों में परम प्रामाणिक एवं लोकप्रिय वनाने का प्रवल प्रयास किया। चैत्यवासी परम्परा के आचार्यों तथा विद्वानों को उस प्रयास में आशातीत सफलता प्राप्त हुई और इस प्रकार वीर निर्वाण की ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में ही चैत्यवासी परम्परा एक शक्तिशाली सुसंगठित धार्मिक संगठन के रूप में उभरी, विस्तीर्ण भूखण्ड में प्रसृत हुई और चारों ओर उसका वर्चस्व स्थापित हो गया। कालान्तर में चैत्यवासी परम्परा के एक प्रभावशाली आचार्य श्री शीलगुण सूरि के उपकारों से उपकृत वनराज चावड़ा ने विशाल गुर्जर राज्य की स्थापना के साथ ही शीलगुण सूरि को राजगुरु के पद से अलंकृत कर उनके निर्देशानुसार अपने विशाल राज्य में राजाज्ञा प्रसारित करवा दी कि चैत्यवासी परम्परा के आचार्य की अनुमति के विना चैत्यवासी परम्परा से भिन्न किसी भी अन्य जैन परम्परा का श्रमण श्रमणी वर्ग गुर्जर राज्य में न केवल विचरण ही अपितु प्रवेश तक भी नहीं कर सकता। वनराज चावड़ा के राज्यारोहण काल विक्रम सम्वत् ८०२ से लेकर चालुक्यराज गुर्जरेश्वर दुर्लभराज के शासनकाल विक्रम सम्वत् १०७९/८० पर्यन्त लगभग पौने तीन शताब्दी तक इस राजाज्ञा का कड़ाई से पालन किया जाता रहा। चैत्यवासी परम्परा के इस प्रकार के द्रुतगामी प्रचार-प्रसार, वर्चस्व, एकाधिकार एवं राज्यानुग्रह के परिणामस्वरूप श्रमण-श्रमणी वर्ग में शिथिलाचार, एवं श्रावक-श्राविका वर्ग में भावार्चन अथवा आध्यात्मिकता के स्थान पर भौतिक कर्म-काण्डों एवं बाह्याडम्बरों के रूप में द्रव्यार्चन का बोलबाला हो गया। चैत्यवासियों के इस प्रकार के स्पृहणीय उत्कर्ष से आकर्षित हो भारत के अन्यान्य प्रदेशों में भी अनेक प्रकार की द्रव्य परम्पराओं का अद्भुत प्रचार-प्रसार और वर्चस्व स्थापित हुआ। इस प्रकार सम्पूर्ण आर्यधरा पर चैत्यवासी, भट्टारक, श्रीपूज्य, यति एवं यापनीय आदि द्रव्य परम्पराओं का वर्चस्व स्थापित हो गया। इन द्रव्य परम्पराओं के प्रभावस्वरूप, भारतीय धार्मिक मान्यताओं में न केवल जैनों का ही, अपितु अजैनों तक का जनमन इन द्रव्य परम्पराओं की ओर आकर्षित होता गया। इस सब की

नितान्त अध्यात्मपरक जिनशासन की विशुद्ध मूल परम्परा पर बड़ा ही घातक कुप्रभाव पड़ा । विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले श्रमण-श्रमणी वर्ग की संख्या में उत्तरोत्तर बड़ा ही आश्चर्यकारी ह्रास होता गया । विक्रम की नवमीं शताब्दी के आसपास तो स्थिति यहां तक पहुंच गई कि आगमानुसारी विशुद्ध श्रमण धर्म का पालन करने वाले विरले साधु भारत के केवल उत्तरी भाग में ही अवशिष्ट रह गये । विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने और आगमानुसारी विशुद्ध धर्म-मार्ग का उपदेश करने वाले सच्चे त्यागी-विरागी श्रमणों का सम्पर्क-संसर्ग न मिल पाने के कारण श्रावक-श्राविका वर्ग भी जैन धर्म के विशुद्ध स्वरूप से उत्तरोत्तर अनभिज्ञ होता चला गया । भारत के अधिकांश भागों में शिथिलाचार-परायण चैत्यवासी, मठवासी, भट्टारक एवं यापनीय श्रमण-श्रमणियों और उनके श्रावक श्राविकाओं का एक प्रकार से एकाधिपत्य हो गया ।

इन द्रव्य परम्पराओं के श्रमण-श्रमणियों के नितान्त दोषपूर्ण और शास्त्रों से पूर्णतः प्रतिकूल आचार-विचार को ही तत्कालीन प्रबल बहुसंख्यक समुदाय प्रभु महावीर द्वारा प्ररूपित-प्रदर्शित विशुद्ध श्रमणाचार समझने लगा । चारों ओर शिथिलाचार का और धर्म में विकृतियों का बोलबाला हो गया ।[1]

शिथिलाचार के भीषण घटाटोप में विशुद्ध श्रमणाचार के साथ धर्म का स्वच्छ, विशुद्ध मूल-स्वरूप ठीक उसी प्रकार प्रच्छन्न हो गया, जिस प्रकार की काली काली सघन घन-घटाओं की ओट में प्रचण्ड मार्तण्ड छिप जाता है । चैत्यवासी परम्पराओं एवं उसका अन्धानुकरण करने वाली द्रव्य परम्पराओं ने न केवल श्रमणाचार में ही अपितु अहिंसा एवं अध्यात्म प्रधान विश्व कल्याणकारी जैनधर्म के विशुद्ध मूल स्वरूप में भी आमूलचूल अनेक प्रकार की विकृतियां उत्पन्न कर उसे आगमों में प्रतिपादित स्वरूप से नितान्त भिन्न (विपरीत) स्वरूप प्रदान कर डाला । शास्त्रों में प्रतिपादित मूल विशुद्ध धर्म का उपदेश करने और "विहंगमा व पुप्फेसु दाणभत्तेसणे रया" इस आगम वचन के अनुसार विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले त्यागी, तपस्वी और निष्परिग्रही स्वल्पातिस्वल्प संख्यक सच्चे साधुओं की एवं उनके सच्चे उपासकों की संख्या भी नगण्य सी रह गई । सर्वत्र विपुल परिग्रह के स्वामी अहर्निश आरम्भ समारम्भ के नानाविध सावद्य कार्यों में पूर्णतः निरत-लिप्त और श्रीमन्त गृहस्थों से भी अत्यधिक आडम्बरपूर्ण ठाट, बाट, वैभव, छत्र, चामर, सुखासन, स्वर्ण-सिंहासन आदि एक दूसरे से बढ़कर परिग्रह के धनी साधु नामधारी आचार्यों, मठाधीशों, भट्टारकों आदि द्रव्य परम्पराओं के कर्णधारों का वर्चस्व छा गया ।

द्रव्य परम्पराओं द्वारा जैन धर्म की आगम प्रतिपादित विशुद्ध मूल धारा में चतुर्विध संघ के आचार-विचार व्यवहार में उत्पन्न की गई विकृतियों और

---

१. जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग ३ पृष्ठ ५६ से ६४

आगम विरुद्ध मान्यताओं के देशव्यापी प्रचार-प्रसार एवं प्रबल बहुसंख्यक जैन धर्मावलम्बियों में उन मान्यताओं, विधि-विधानों आदि के व्यापक रूप से रूढ़ हो जाने के प्रारम्भ से लेकर अद्यावधि पर्यन्त के इतिवृत्त पर अति सूक्ष्म दृष्टि डालने के बाद हमारी वह धारणा विश्वास के रूप में परिणत हो गई कि देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर उनकी शिष्य परम्परा अर्थात् श्रमण भगवान् महावीर की मूल परम्परा की पट्टावलियां एवं उस परम्परा का क्रमबद्ध इतिहास उस समय की वर्चस्वशाली इन द्रव्य परम्परा के आचार्यों, विद्वानों एवं अनुयायियों द्वारा चुन-चुन कर नष्ट कर दिया गया। यही कारण है कि देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण जैसे महाप्रतापी, प्रबल प्रभावक एवं विशाल शिष्य सन्तति वाले महान् वाचनाचार्य के बाद उनकी पट्ट परम्परा के आचार्यों का, उनके जन्म, गृहवास, दीक्षा तिथि, आचार्य काल एवं स्वर्गारोहणकाल के अतिरिक्त कोई विशेष परिचय जैन वांग्मय में कहीं उपलब्ध नहीं होता।

देवर्द्धि के स्वर्गारोहण के साथ ही पूर्व ज्ञान विच्छिन्न हो गया था अर्थात् पूर्व ज्ञान का धारक कोई आचार्य अथवा श्रमण नहीं रहा, इसी कारण देवर्द्धिगणि से उत्तरवर्ती काल की उनके पट्टधरों की नामावलि के आचार्यों के नाम के पहले वाचक अथवा वाचनाचार्य शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। वस्तुतः "वाचको पूर्वधरः" इस वाचक शब्द की व्याख्या के अनुसार आर्य देवर्द्धिगणि के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् हमारी इस आर्यधरा पर किसी पूर्वधर के अवशिष्ट नहीं रहने के कारण पूर्वधर परम्परा का अस्तित्व नहीं रहा। कतिपय परम्पराओं की पट्टावलियों में आर्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ हो जाने के अनन्तर एक दो शताब्दी बीत जाने के पश्चात् कतिपय आचार्यों, कवियों एवं व्याख्याता साधुओं के नाम से पूर्व वाचक विरुद का उपयोग किया गया है किन्तु वाचक शब्द की उपरिलिखित व्याख्या के अनुसार पूर्वज्ञान के विच्छिन्न हो जाने के कारण किसी भी अवान्तर कालवर्ती आचार्य अथवा श्रमण के नाम के पूर्व वाचक अथवा वाचनाचार्य शब्द का प्रयोग पूर्णतः परम्परा से अमान्य एवं अनुचित है।

खुदाई से प्राप्त हुए शिलालेखों से भलीभांति परिपुष्ट हुई है, उसी प्रकार जैसलमेर के भंडार से मूल रूप में और जैनाश्रम भंडार से उसकी प्रति के रूप में उपलब्ध हुई आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के पट्टधरों की पट्टावली भी निकट भविष्य में एक न एक दिन शिलालेखों से परिपुष्ट हो सकेगी।

जहां तक तीसरे भाग का प्रश्न है, इसमें दिगम्बर संघ की भट्टारक परम्परा के उद्भवकाल, उसके उद्भव की रोमांचक कहानी एवं इस परम्परा के विकास पर प्रकाश डालते हुए जैन जगत् के समक्ष उन महत्त्वपूर्ण तथ्यों को रखा गया है, जिनसे जैन समाज के साम्प्रतकालीन सभी संघ और उन संघों के विद्वान् एवं शोधकार तक नितान्त अनभिज्ञ थे। मद्रास विश्वविद्यालय के परिसर में अवस्थित गवर्नमेन्ट ओरियन्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी से प्राप्त "जैनाचार्य परम्परा महिमा" नामक एक अति प्राचीन ग्रन्थ में भट्टारक परम्परा के वर्तमानकालीन रूप के उद्भव और विकास के सांगोपांग प्रामाणिक इतिवृत्त के साथ-साथ अनेक ऐसे महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है, जो तत्कालीन शिलालेखों से पूर्णतः परिपुष्ट हैं। इस ग्रन्थ में भट्टारक परम्परा को जन्म देने वाले आचार्य माघनन्दि, कोल्हापुर के शिलाहार वंशीय राजाधिराज गण्डरादित्य और उसके सेनापति निम्बदेव के सम्बन्ध में जो परिचय दिया गया है उसकी पुष्टि कोल्हापुर सम्भाग से प्राप्त पांच शिलालेखों से होती है।[1]

इस भाग में भट्टारक परम्परा के संस्थापक आचार्य माघनन्दि की दूरदर्शितापूर्ण, अद्भुत सूझ-बूझ पर विशेष प्रकाश डाला गया है, जिससे जैन श्रमणों एवं प्रचारकों के अभाव में क्षीणतर होती गई जैन परम्परा के उत्थान हेतु विशाल भारत के विभिन्न प्रान्तों के मध्य भाग में शंकराचार्य की प्रचार की शैली के अनुरूप भट्टारक परम्परा के २५ पीठ स्थापित कर जैन पुनः अभिनव जागरण, उत्साह एवं चेतना का संचार किया।

भट्टारक परम्परा की ही भाँति श्रमण भगवान् महावीर के धर्म उस यापनीय परम्परा पर भी अभिनव प्रकाश डाला गया है, जो आज के युग भारत भू पर दृष्टिगोचर नहीं होती, किन्तु वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी प्रथम दशक से लेकर वीर निर्वाण की बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक धर्म का प्रचार-प्रसार करने में तत्पर रही। उस यापनीय परम्परा ने पूर्वकाल में दक्षिण में कन्याकुमारी तक जैनधर्म का प्रचार-प्रसार किया। इस परम्परा के आचार्यों ने अजैन परम्पराओं द्वारा न केवल अन्यान्य जैनेतर धर्मों के अपितु जैनधर्म के अनुयायियों को भी अपनी ओर आकर्षित करने के लिये जो विधि विधान, जो आयोजन आदि आविष्कृत किये थे, उन्हें निरस्त करने के लिये समय

---

१. देखिये—जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग ३ के पृष्ठ १६०, १७० और १७१ के टिप्पण

की मांग को देखते हुए उन जैनेतर परम्पराओं द्वारा प्रचलित किये गये नवीनतम विधि विधानों से भी और अधिक आकर्षक विधि-विधान जैन संघ में प्रचलित किये। जैनधर्म के प्रचार-प्रसार के लिये यापनीय आचार्यों ने न केवल कर्नाटक में ही अपितु तमिलनाडु में कन्याकुमारी तक बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों, विद्यापीठों एवं मठों आदि की स्थापनाएं कीं। इस परम्परा के कर्णधारों ने "स्त्रीणां तद्भवे मोक्षः" का घोष देकर दक्षिण में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। इस घोषणा से प्रभावित होकर कर्णाटक प्रदेश की महिलाओं ने जैन धर्म के अभ्युदय और उत्कर्ष के लिये जो-जो कार्य किये, उनके उल्लेखों से उट्टंकित शिलालेखों का अम्बार सा कर्णाटक के विभिन्न स्थानों पर दृष्टिगोचर होता है।

यापनीय संघ के आचार्य सिंहनन्दी ने गंग नामक एक राजवंश की कोल्हापुर में स्थापना कर शताब्यियों तक के लिये जैन-धर्म के प्रचार-प्रसार का मार्ग प्रशस्त कर दिया। गंग राजवंश ने लगभग नौ शताब्दियों तक जैन धर्म को राज्याश्रय देकर इसके प्रचार-प्रसार में सक्रिय योगदान किया। यापनीय परम्परा के आचार्य द्वारा संस्थापित गंग राजवंश की यह सबसे बड़ी विशेषता रही है कि इस राजवंश के आदि पुरुष दड्डिग और माधव से लेकर अट्ठाईसवें अन्तिम राजा गंग-रस सत्यवाक्य तक के प्रायः सभी राजा जैन धर्मावलम्वी हुए।

साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स, वाल्यूम संख्या ५.१ के लेख संख्या ३२४ और ३२६ से एक बड़ा ही आश्चर्यकारी तथ्य प्रकाश में आता है कि तिरुच्चारणत्तु **कुरत्तिगल** (साध्वी प्रमुखा) ने वरगुण नामक पांड्य राजवंश के पुरुष को अपने शिष्य के रूप में दीक्षित किया था। इसी वाल्यूम के लेख संख्या ३७० से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि तिरुमल्ले **कुरत्ति** नामक एक साध्वीगण की आचार्या के पास एक पुरुष श्रमण धर्म में दीक्षित हुआ था। अनुमान किया जाता है कि यह साध्वी-गणों की सर्वेसर्वा आचार्याएं यापनीय संघ की ही हों क्योंकि श्वेताम्वर और दिगम्वर परम्परा के तो प्रारम्भ से लेकर आज तक के इतिहास में साध्वी को स्वतन्त्र रूप से आचार्य पद पर अधीष्ठित किये जाने की एक भी घटना दृष्टिगोचर नहीं होती। इसके अतिरिक्त चोलवंशीय महाराजा आदित्य प्रथम के शासनकाल में वेदाल से उपलब्ध ईसा की नवमीं शताब्दी के एक लेख से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि ईस्वी सन् ८५० के आसपास ६०० साध्वियां अकेले वेदाल में विद्यमान थीं और उसमें से ५०० साध्वियों की अधिनायिका आचार्या कुरुत्तियार (साध्वी प्रमुखा) **कनकवीरा** थी। वह भट्टारक गुणकीर्त्ति की अनुयायिनी और शिष्या थी। कीर्त्ति शब्द और नन्दि शब्द का प्रयोग प्रायः यापनीय संघ के आचार्यों एवं साधुओं के नाम के अन्त में प्रयुक्त होता आया है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि तमिलभाषी प्रदेश में एक ही स्थान पर इतनी बड़ी संख्या में जो साध्वी समूह थे, वे सम्भवतः यापनीय संघ के ही हों। इस प्रकार यापनीय संघ के सम्बन्ध में अनेक अज्ञात ऐतिहासिक तथ्यों पर इस ग्रन्थ माला के तृतीय भाग में विशद प्रकाश

डाला गया है। इस भाग में दिये गये राजवंशों का परिचय इस तथ्य को संसार के समक्ष रखता है कि प्राचीन भारत में चोल, चेर, पाण्ड्य, गंग, होय्सल, राष्ट्रकूट, चालुक्य, आदि अनेक राजवंशों ने न केवल जैनधर्म को राज्याश्रय ही दिया, अपितु अनेक राजाओं ने तो जैन धर्म के सिद्धान्तों को अपने जीवन में ढाला एवं कतिपय ऐसे राजाओं ने, जिनके शरीर रणक्षेत्र में लगे शस्त्राघातों के चिह्नों से नख शिख तक मण्डित थे, अपने जीवन के अन्त में एक-एक मास की संलेखना संथारा करके स्वेच्छया पंडित-मरण का वरण किया। अधिकांश राजाओं को जिनशासन की ओर आकर्षित करने में यापनीय परम्परा के साधु-साध्वियों एवं आचार्यों का एक श्लाघनीय योगदान रहा है।

इस ग्रन्थ में जैन धर्म के ह्रास के प्रमुख कारणों पर सार रूप में स्पष्ट प्रकाश डाला गया है, जिससे जैनसंघ की अद्ययुगीन और भावी पीढ़ियां समुचित मार्ग-दर्शन एवं प्रेरणा प्राप्त कर भविष्य में कभी उन ह्रास के कारणों की पुनरावृत्ति न होने देने का दृढ़ संकल्प कर श्रमण भगवान् महावीर के धर्म संघ की सर्वतोमुखी प्रगति के लिये कटिबद्ध हो सकें।

इस भाग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जैन इतिहास के शोधकों, लेखकों एवं विद्वान् मनीषियों ने केवल ये दो पंक्तियां ही लिखकर कि इस काल का इतिहास तिमिराच्छन्न है, विस्मृति के गहरे गह्वर में विलीन हो चुका है, जैन धर्म के वीर निर्वाण सम्वत् १००१ से वीर निर्वाण सम्वत् १७०० तक के ७०० वर्ष के इतिहास के विवरण प्रस्तुत करने में अपनी असमर्थता प्रकट की थी। पर सौभाग्य से हमें इसे उपलब्ध करने-कराने में सफलता मिली। परिणामस्वरूप उस ७०० वर्ष के तिमिराच्छन्न जैन इतिहास के समय में से केवल ४७५ वर्ष के इतिहास के आलेखन में हमें १ हजार पृष्ठ भी कम पड़ गये। अतः शेष २२५ वर्ष के जैन धर्म के इतिहास को हमें चौथे भाग में स्थान देने का निर्णय लेना पड़ा।

तीसरे भाग में उन सब ऐतिहासिक तथ्यों को खोज-खोज कर प्रस्तुत किया गया है, जिससे यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि काल प्रभाव से श्रमण भगवान् महावीर के धर्मसंघ पर किस प्रकार संक्रान्ति के बादल मंडराये, इस धर्मसंघ में कब-कब, किस-किस प्रकार और किस तरह की विकृतियां उत्पन्न हुईं, किस प्रकार वे विकृतियां एकादशांगी के यथावत् विद्यमान होते हुए भी धर्म संघ में रूढ़ हो गईं, किस प्रकार प्रबल वेग से द्रव्य परम्पराओं का प्रचार-प्रसार एवं सर्वतोव्यापी वर्चस्व उत्तरोत्तर बढ़ता गया और किस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर की विश्व कल्याणकारिणी शास्त्रीय विशुद्ध मूल परम्परा का ह्रास होते होते वह विलुप्त प्रायः दशा को प्राप्त हुई। इस तृतीय भाग में प्रस्तुत किये गये एतद् विषयक सभी तथ्य जैन धर्मसंघ के भावी कर्णधारों एवं भविष्य में आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रकाशस्तम्भवत् सत्पथ प्रदर्शित करने का कार्य करते रहेंगे, ऐसी हमारी धारणा है।

यह हम तृतीय भाग में पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि द्रव्य परम्पराओं द्वारा समय-समय पर जो अनेक प्रकार के परिवर्तन, परिवर्द्धन, संशोधन, संघ की रीति-नीतियों के सम्बन्ध में किये गये, उनमें से बहुत से वस्तुतः तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में इसी पुनीत भावना के साथ किये गये थे कि उस प्रकार की संक्रान्तिकालीन घड़ियों में जैन धर्म संघ येन केन प्रकारेण अपने अस्तित्व को बनाये रख सके और इतर संघों की जनमनाकर्षक प्रवृत्तियां एवं रीति-नीतियां जैन धर्मानुयायियों को आत्मसात् करने के अपने दृढ़ संकल्प में सफलकाम न हो सकें। उन अशास्त्रीय मान्यताओं, जैन धर्म की मूल आत्मा, मूल भावना एवं मूलभूत सिद्धान्त के विपरीत विधि-विधानों एवं मान्यताओं के समय-समय पर प्रचलित किये जाने का जो विस्तृत व्यौरा इस भाग में प्रस्तुत किया गया है, **उसके पीछे हमारी भावना किसी परम्परा के दोष बताने, उसको लोकदृष्टि में नीचा दिखाने अथवा इसके लिये उसकी भर्त्सना करने की किंचितमात्र भी नहीं रही है।** हमारी मूल भावना तो केवल यही रही है कि उस प्रकार के संक्रान्तिकाल में तात्कालिक परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए जिन शास्त्रीय विधानों को किसी समुदाय अथवा सम्प्रदाय विशेष ने धार्मिक कर्त्तव्य अथवा विधेय के रूप में प्रचलित किया, उस आपवादिक हेर-फेर को धर्म के विशुद्ध स्वरूप के रूप में सम्मिलित नहीं कर लिया जाना चाहिये। यदि कोई विषैला जन्तु किसी व्यक्ति को डस जाय तो उस विष के निवारण के लिये समुचित औषधि देना अथवा विषापहारक मन्त्र का जाप करना परमावश्यक हो जाता है किन्तु विष का प्रभाव दूर हो जाने के पश्चात् भी यदि विषापहारक उपचार सदा सर्वदा के लिये प्रचलित रखने का आग्रह किया जाय तो उसे हठाग्रह के अतिरिक्त अन्य कोई संज्ञा नहीं दी जा सकती। बस, यही स्थिति संक्रान्तिकाल में आपवादिक रूप से संघ में प्रचलित की गई मान्यताओं के विषय में भी होनी चाहिये।

तृतीय भाग में तिरुअप्पर और तिरुज्ञान सम्बन्धर द्वारा प्रचलित किये गये शव अभियान के समय जैनों पर जो भीषण अत्याचार किये गये, एक-एक ही दिन में आठ-आठ हजार, पांच-पांच हजार, जैन साधुओं को मौत के घाट उतार दिये जाने के जो विस्तृत विवरण प्रस्तुत किये गये हैं, उनका एकमात्र पवित्र उद्देश्य यही है कि आज का जैन समाज और जैन संघ की भावी पीढ़ियां इस प्रकार के विवरणों से शिक्षा लें कि किसी भी विषम परिस्थिति में यदि जैन समाज पर किसी प्रकार के अत्याचारों का उपक्रम किया जाय तो उस प्रकार के प्रयास को निरस्त कर देने के लिये सम्पूर्ण जैन समाज को, प्रत्येक जैन संघ के सदस्य को सुसंगठित होकर दृढ़ संकल्प के साथ दीवार बनकर आततायी के सम्मुख खड़े हो जाना चाहिये। बिच्छू द्वारा डंक मारे जाने पर जिस प्रकार हमारे अंग-अंग में, रोम-रोम में नख से लेकर शिख तक एक तीव्र वेदना होती है, पूरा शरीर तड़प उठता है और उस वेदना से छुटकारा पाने के लिये उस व्यक्ति के हाथ, पैर, मन, मस्तिष्क, जिह्वा और रोमावलि

तक व्यग्र हो उठती है. ठीक इसी प्रकार जिस समय तमिलनाडु में जैन श्रमणों का संहार किया गया, जैनों का बलात् धर्मपरिवर्तन किया गया, उस समय यदि समग्र देश का, समग्र प्रान्तों का जैन समाज, जैन धर्म का प्रत्येक अनुयायी इस प्रकार के अमानुषिक अत्याचार के विरोध में या उसके प्रतिकार के लिये सुगठित होकर खड़ा हो जाता तो न तो इतना नर-संहार होता, न धर्म परिवर्तन, और न तमिलनाडु में जैन धर्मानुयायी नगण्य संख्या में हो जाते।

किसी व्यक्ति के पैर में पीड़ा हो और उसके दूसरे अंग – हाथ, पैर, मस्तिष्क, वाणी, मन, मस्तक आदि यही सोचते रहें कि पीड़ित है तो पैर है, हमें तो किसी प्रकार की पीड़ा नहीं है इसलिये हम पैर की चिन्ता क्यों करें, तो उस प्रकार की स्थिति में पैर की पीड़ा उत्तरोत्तर बढ़ती जायेगी और उस पैर के निर्बल अथवा अशक्त हो जाने पर सम्पूर्ण शरीर को, शरीर के अंग-प्रत्यंग को अनेक दुःख उठाने होंगे, कठिनाइयों की एक लम्बी कतार शरीर के अंग-प्रत्यंग के समक्ष खड़ी हो जायेगी। ठीक इसी प्रकार तमिलनाडु में पूर्व काल में प्रचण्ड रूप से प्रज्ज्वलित हुई धार्मिक विद्वेषाग्नि में जलते हुए जैनों की चिन्ता आन्ध्र, कर्नाटक आदि भारत के सभी प्रान्तों के जैनों ने नहीं की तो शंकराचार्य के धार्मिक अभियान, रामानुजाचार्य के वैष्णव अभियान और लिंगायतों के जैन विरोधी अभियानों का तांता सा लग गया, जिससे जैन संघ को भयंकर हानि उठानी पड़ी। जैनों की संख्या बड़े प्रबल वेग से क्षीण होते-होते पूर्वापेक्षया स्वल्पात् स्वल्पतर ही अवशिष्ट रह गई।

समाज के एक अंग पर होने वाले आघात का शेष अंगों द्वारा प्रतिरोध न किये जाने का कटुतम प्रतिफल आज भारत के सम्पूर्ण जैन समाज को भोगना पड़ रहा है।

सामूहिक सशक्त प्रतिरोध के अथवा सामूहिक आत्मरक्षा के प्रयास का प्रतिफल अवश्यमेव सुखद एवं प्रभावी होता है। इस तथ्य पर भी इस ग्रन्थमाला के द्वितीय भाग में प्रकाश डाला गया है कि जिस समय अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ की धोखे से हत्या कर उसका सेनापति पुष्यमित्र सुंग पाटलिपुत्र के राज सिंहासन पर आरूढ़ हो जैन धर्मावलम्बियों पर अत्याचार करने लगा उस समय कलिंगपति महामेघवाहन खारवेल भिक्खु राय ने पाटलिपुत्र पर अपनी प्रबल सेना के साथ आक्रमण कर दिया। कलिंगपति ने पुष्यमित्र सुंग को पराजित कर भविष्य में जैन संघ के साथ अच्छा व्यवहार करने की शिक्षा दी।

भूतकाल में हुई इन दोनों प्रकार की घटनाओं से जैन संघ भविष्य में कुछ प्रेरणा ले, मार्ग-दर्शन ले इसी भावना से प्रस्तुत इतिहासमाला में अतीत की इन घटनाओं का यथातथ्यरूपेण वर्णन किया गया है।

इस इतिहासमाला के प्रथम भाग के सम्पादकीय में यह स्पष्ट-रूपेण प्रकट कर दिया गया था कि जहां तक पुरातात्विक अवशेषों, शिला-लेखों पट्टावलियों,

यह हम तृतीय भाग में पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि द्रव्य परम्पराओं द्वारा समय-समय पर जो अनेक प्रकार के परिवर्तन, परिवर्द्धन, संशोधन, संघ की रीति-नीतियों के सम्बन्ध में किये गये, उनमें से बहुत से वस्तुतः तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में इसी पुनीत भावना के साथ किये गये थे कि उस प्रकार की संक्रान्तिकालीन घड़ियों में जैन धर्म संघ येन केन प्रकारेण अपने अस्तित्व को बनाये रख सके और इतर संघों की जनमनाकर्षक प्रवृत्तियां एवं रीति-नीतियां जैन धर्मानुयायियों को आत्मसात् करने के अपने दृढ़ संकल्प में सफलकाम न हो सकें। उन अशास्त्रीय मान्यताओं, जैन धर्म की मूल आत्मा, मूल भावना एवं मूलभूत सिद्धान्त के विपरीत विधि-विधानों एवं मान्यताओं के समय-समय पर प्रचलित किये जाने का जो विस्तृत ब्यौरा इस भाग में प्रस्तुत किया गया है, **उसके पीछे हमारी भावना किसी परम्परा के दोष बताने, उसको लोकदृष्टि में नीचा दिखाने अथवा इसके लिये उसकी भर्त्सना करने की किंचित्मात्र भी नहीं रही है।** हमारी मूल भावना तो केवल यही रही है कि उस प्रकार के संक्रान्तिकाल में तात्कालिक परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए जिन शास्त्रीय विधानों को किसी समुदाय अथवा सम्प्रदाय विशेष ने धार्मिक कर्त्तव्य अथवा विधेय के रूप में प्रचलित किया, उस आपवादिक हेर-फेर को धर्म के विशुद्ध स्वरूप के रूप में सम्मिलित नहीं कर लिया जाना चाहिये। यदि कोई विषैला जन्तु किसी व्यक्ति को डस जाय तो उस विष के निवारण के लिये समुचित औषधि देना अथवा विषापहारक मन्त्र का जाप करना परमावश्यक हो जाता है किन्तु विष का प्रभाव दूर हो जाने के पश्चात् भी यदि विषापहारक उपचार सदा सर्वदा के लिये प्रचलित रखने का आग्रह किया जाय तो उसे हठाग्रह के अतिरिक्त अन्य कोई संज्ञा नहीं दी जा सकती। बस, यही स्थिति संक्रान्तिकाल में आपवादिक रूप से संघ में प्रचलित की गई मान्यताओं के विषय में भी होनी चाहिये।

तृतीय भाग में तिरुअप्पर और तिरुज्ञान सम्बन्धर द्वारा प्रचलित किये गये शव अभियान के समय जैनों पर जो भीषण अत्याचार किये गये, एक-एक ही दिन में आठ-आठ हजार, पांच-पांच हजार, जैन साधुओं को मौत के घाट उतार दिये जाने के जो विस्तृत विवरण प्रस्तुत किये गये हैं, उनका एकमात्र पवित्र उद्देश्य यही है कि आज का जैन समाज और जैन संघ की भावी पीढ़ियां इस प्रकार के विवरणों से शिक्षा लें कि किसी भी विषम परिस्थिति में यदि जैन समाज पर किसी प्रकार के अत्याचारों का उपक्रम किया जाय तो उस प्रकार के प्रयास को निरस्त कर देने के लिये सम्पूर्ण जैन समाज को, प्रत्येक जैन संघ के सदस्य को सुसंगठित होकर दृढ़ संकल्प के साथ दीवार बनकर आततायी के सम्मुख खड़े हो जाना चाहिये। बिच्छू द्वारा डंक मारे जाने पर जिस प्रकार हमारे अंग-अंग में, रोम-रोम में नख से लेकर शिख तक एक तीव्र वेदना होती है, पूरा शरीर तड़प उठता है और उस वेदना से छुटकारा पाने के लिये उस व्यक्ति के हाथ, पैर, मन, मस्तिष्क, जिह्वा और रोमावलि

नख-ध्वस्त हो उठती है, ठीक इसी प्रकार जिस समय तमिलनाडु में जैन श्रमणों का संहार किया गया, जैनों का बलात् धर्मपरिवर्तन किया गया, उस समय यदि समग्र देश का, समस्त प्रान्तों का जैन समाज, जैन धर्म का प्रत्येक अनुयायी इस प्रकार के अमानुषिक अत्याचार के विरोध में या उसके प्रतिकार के लिये सुगठित होकर खड़ा हो जाता तो न तो इतना नर-संहार होता, न धर्म परिवर्तन, और न तमिलनाडु में जैन धर्मानुयायी नगण्य संख्या में हो जाते ।

किसी व्यक्ति के पैर में पीड़ा हो और उसके दूसरे अंग – हाथ, पैर, मस्तिष्क, वाणी, मन, मस्तक आदि यही सोचते रहें कि पीड़ित है तो पैर है, हमें तो किसी प्रकार की पीड़ा नहीं है इसलिये हम पैर की चिन्ता क्यों करें, तो उस प्रकार की स्थिति में पैर की पीड़ा उत्तरोत्तर बढ़ती जायेगी और उस पैर के निर्बल अथवा अशक्त हो जाने पर सम्पूर्ण शरीर को, शरीर के अंग-प्रत्यंग को अनेक दुःख उठाने होंगे, कठिनाइयों की एक लम्बी कतार शरीर के अंग-प्रत्यंग के समक्ष खड़ी हो जायेगी । ठीक इसी प्रकार तमिलनाडु में पूर्व काल में प्रचण्ड रूप से प्रज्ज्वलित हुई धार्मिक विद्वेषाग्नि में जलते हुए जैनों की चिन्ता आन्ध्र, कर्नाटक आदि भारत के सभी प्रान्तों के जैनों ने नहीं की तो शंकराचार्य के धार्मिक अभियान, रामानुजाचार्य के वैष्णव अभियान और लिंगायतों के जैन विरोधी अभियानों का तांता सा लग गया, जिससे जैन संघ को भयंकर हानि उठानी पड़ी । जैनों की संख्या बड़े प्रबल वेग से क्षीण होते-होते पूर्वापेक्षया स्वल्पात् स्वल्पतर ही अवशिष्ट रह गई ।

समाज के एक अंग पर होने वाले आघात का शेष अंगों द्वारा प्रतिरोध न किये जाने का कटुतम प्रतिफल आज भारत के सम्पूर्ण जैन समाज को भोगना पड़ रहा है ।

सामूहिक सशक्त प्रतिरोध के अथवा सामूहिक आत्मरक्षा के प्रयास का प्रतिफल अवश्यमेव सुखद एवं प्रभावी होता है । इस तथ्य पर भी इस ग्रन्थमाला के द्वितीय भाग में प्रकाश डाला गया है कि जिस समय अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ की धोखे से हत्या कर उसका सेनापति पुष्यमित्र सुंग पाटलिपुत्र के राज सिंहासन पर आरूढ़ हो जैन धर्मावलम्बियों पर अत्याचार करने लगा उस समय कलिंगपति महामेघवाहन खारवेल भिक्खु राय ने पाटलिपुत्र पर अपनी प्रबल सेना के साथ आक्रमण कर दिया । कलिंगपति ने पुष्यमित्र सुंग को पराजित कर भविष्य में जैन संघ के साथ अच्छा व्यवहार करने की शिक्षा दी ।

भूतकाल में हुई इन दोनों प्रकार की घटनाओं से जैन संघ भविष्य में कुछ प्रेरणा ले, मार्ग-दर्शन ले इसी भावना से प्रस्तुत इतिहासमाला में अतीत की इन घटनाओं का यथातथ्यरूपेण वर्णन किया गया है ।

इस इतिहासमाला के प्रथम भाग के सम्पादकीय में यह स्पष्ट-रूपेण प्रकट कर दिया गया था कि जहां तक पुरातात्विक अवशेषों, शिला-लेखों पट्टावलियों,

हस्तलिखित ग्रन्थों एवं प्रचीन साहित्य का प्रश्न है, जैन धर्मावलम्वी वस्तुतः अन्यान्य सभी धर्मावलम्बियों की अपेक्षा अत्यधिक सम्पन्न – अत्यधिक समृद्ध है। किसी भी शोधप्रिय विद्वान् से यह तथ्य छिपा नहीं कि विभिन्न प्रान्तों की एपिग्राफिकाओं, एपीग्राफिका इंडिका के विशाल ग्रन्थों, एशियाटिक रिसर्च सोसायटी आदि शोधपरक संस्थाओं के जरनलों एवं पुरातात्विक शोधग्रन्थों में प्रस्तुत की गई सम्पूर्ण प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री में लगभग सत्तर से अस्सी प्रतिशत तक सामग्री जैनधर्म से सम्बन्धित है।

सन् १९३२ में अजमेर नगर में हुए वृहत् साधु सम्मेलन के जैन इतिहास निर्माण विषयक निर्णय के अनन्तर आचार्यश्री ने जैन इतिहास से सम्बन्धित सामग्री की खोज एवं उसके संकलन का कार्य बड़ी तत्परता से प्रारम्भ कर दिया। सन् १९६५ में बालोतरा चातुर्मासावासावधि में जैन इतिहास के निर्माण के निश्चय के साथ-साथ इतिहास समिति के निर्माण के अनन्तर तो आचार्य श्री ने बालोतरा से गुजरात की ओर विहार कर अहमदाबाद के अति विशाल ज्ञान भंडारों से, पाटण के विश्व विख्यात भंडार से, बड़ौदा के ज्ञान भंडार, बड़ौदा विश्वविद्यालय के पुरातत्व संग्रहालय से, गुजरात, काठियावाड़, सौराष्ट्र और कच्छ की खाड़ी तक के अनेक क्षेत्रों में अवस्थित ज्ञान भंडारों में अथक् परिश्रम पूर्वक शोध करने के साथ-साथ उनमें से जैन इतिहास से सम्बन्धित सामग्री का संकलन किया।

तदनन्तर बालू के टीलों, एवं रेतीले धोरों की धरा मरुधरा से लेकर दक्षिण सागर के तटवर्त्ती नगर मद्रास तक अप्रतिहत विहार कर आचार्य श्री ने अजमेर, मेरवाड़ा, टोंक, मेवाड़, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, कर्णाटक, आन्ध्र एवं तमिलनाडु प्रदेशों में गहन खोज के पश्चात जैन इतिहास से सम्बन्धित सामग्री का संकलन किया।

आमरु—सागरान्ता आर्यधरा के विशाल भू-भाग में ऐतिहासिक सामग्री की शोध के लिये किये गये इस भगीरथ प्रयास तुल्य अभियान में आचार्य श्री को ऐतिहासिक महत्व की विपुल सामग्री उपलब्ध हुई। उस महत्वपूर्ण सामग्री का उपयोग प्रस्तुत इतिहासमाला के गुम्फन, आलेखन में किया गया। तथापि यह शोध अभियान की इतिश्री नहीं है और न होगी।

इस भगीरथ प्रयास के उपरान्त भी अभी तक जैन इतिहास से सम्वन्धित विपुलतम महत्वपूर्ण सामग्री यत्र-तत्र विखरी एवं छिपी पड़ी है, जिसमें हमारे अतीत के अनमोल ऐतिहासिक तथ्य छिपे पड़े हैं। उदाहरणस्वरूप तृतीय भाग में दिये गये इतिहास की कालावधि के एक वड़े ही ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण तथ्य पर प्रकाश डालने वाली एक ऐतिहासिक हस्तलिखित प्रति आचार्यश्री द्वारा खोज निकाली गई है। उस ऐतिहासिक तथ्य को यहां "भूले विसरे ऐतिहासिक तथ्य" शीर्षक के नीचे दिया जा रहा है :—

भूले बिसरे ऐतिहासिक तथ्य

सागर के गहन तल में जिस प्रकार कई अनमोल मोती, बहुमूल्य रत्न और भांति-भांति की निधियां छिपी होती हैं, ठीक उसी प्रकार जैन इतिहास के आत्यन्तिक महत्व के ऐतिहासिक तथ्य विस्मृति के गर्भ में छुपे पड़े हैं। जिस प्रकार साहसी गोताखोर गहरी डुबकियां लगाकर अथाह समुद्र के तल से समय-समय पर उन अमूल्य निधियों को खोज निकालते हैं, ठीक उसी प्रकार विस्मृति के गहन गर्भ रूपी समुद्र में छिपे इतिहास के अनन्य ऐतिहासिक तथ्यों को कोई विरले ही शोधप्रिय विद्वान् प्रकाश में लाने में सफलकाम होते हैं।

इस युग के महान् अध्यात्मयोगी जैनाचार्य श्री हस्तिमलजी महाराज ने सदियों से विलुप्त माने जाते रहे जैन इतिहास को गहन शोध के अनन्तर जैन जगत् के समक्ष रक्खा है। ईस्वी सन् १९८५ तदनुसार वीर निर्वाण सम्वत् २५११–१२ के भोपालगढ़ चातुर्मासावास काल में आचार्यश्री ने एक ऐसी ऐतिहासिक कृति को खोज निकाला है जो दिगम्बर परम्परा के महान् आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के समय के सम्बन्ध में अद्यावधि चली आ रही विवादास्पद गुत्थी को सुलझाने में सम्भवत: पर्याप्त मार्गदर्शिका बन सकती है। आचार्य श्री कुन्दकुन्द के समय के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न अभिमत हैं, जो प्राय: सभी एकमात्र अनुमानों पर ही आधारित हैं। आचार्य श्री कुन्दकुन्द के सुनिश्चित समय को बताने वाला अद्यावधि एक भी प्रामाणिक उल्लेख अथवा कोई ठोस आधार उपलब्ध नहीं है। शोधरुचि आचार्यश्री ने प्राचीन हस्तलिखित पत्रों के पुलिन्दे में से **"अथ प्रतेठा पाठ लिख्यते"** शीर्षकवाली जो एक प्रति खोज निकाली है, उसमें दिगम्बर परम्परा के अनेक भट्टारकों एवं आचार्यों के समय के सम्बन्ध में प्रकाश डालने के साथ दिगम्बर परम्परा के महान् आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के जीवनवृत्त पर निम्नलिखित रूप में विस्तृत विवरण उपलब्ध हुआ, जो इतिहास में अभिरुचि रखने वाले विज्ञों के लिये यहां अक्षरश: उद्धृत किया जा रहा है।

"............सम्वत् ७७० के साल वारानगर में श्री कुन्दकुन्दाचार्य मुनिराज भये तिनका व्याख्यान करजे छे। कुन्द सेठ कुन्दलता सेठाणी के पांचवां स्वर्ग को देव चय करि गर्भ में आये ति दिन सु सेठ का नांव प्रसिद्ध हुआ। काहैं ते पुष्पादिक की वर्षा का कारण से नव महिना पीछे पुत्र का जन्म भया ता समय में श्वेताम्बरन की आम्नाय विसेस होय रही, दिगम्बर सम्प्रदाय उठ गई। एक जिनचन्द मुनि रामगिर पर्वत में रहै ताका दर्शन सेठजी करवो करै सोभाग्ये पुत्र आठ वर्ष का हुआ अर उठीने श्री आचार्य का आयुकर्म नजीके आया वे ॥ कुमार नित्य आवे छा सो

पूर्वला कारण तै कुन्दकुन्द कुमार दीक्षा लेता भया। आचार्य तो देवलोक पधारे अर कुन्दकुन्द मुनिराज का मार्ग विशेष जान्या नहीं सो अपने गुरु स्थापना के निकट ही ध्यान करता भया सोयन का ध्यान के प्रभाव तै सिंह व्याघ्रादिक सांत भाव कूं प्राप्त भया श्री स्वामी ऐसा ध्यान प्रगट भया तीन ज्ञान अगोचर श्री सीमंदर स्वामी पूर्वले विदेह क्षेत्र का राजा तिन का ध्यान स्वामी ने सरू कर्या। आदि समवसरण की रचना विधिपूर्वक चित्त रूपी महल में बनाया वा के बीच गंध कुटी रच दीनी अर बारा सभा सहित रचना बनाय सिंहासन उपर च्यार अंगुल अन्तरीक श्री महाराजि श्री सीमंदर स्वामी कूं विराजमान देख करि तत्काल श्री कुन्दकुन्द यतिराज नमस्कार करता भया। बस ही समय में विदेह क्षेत्र में श्री भगवान् मुनिराज कूं धर्मवृद्धि दीनी तदि चक्रवर्त्यादिक महंत पुरुषा कै बडो विस्मय उत्पन्न हुओ अवार कोई इन्द्रदेव मनुष्य में कोई भी आया नहीं अर स्वामी धर्मवृद्धि दीनी ता का कारण कह्या।। तदि महापद्म चक्रधर आदि सब ही राजा उठ करि स्वामी कूं नमस्कार करि पूछते भये भो सर्वज्ञ देव ! या धर्मवृद्धि आप कुण कूं दीनी ये वचन सुणि करि स्वामी दिव्य ध्वनि से व्याख्यान किया हे महापद्म ! भरत क्षेत्र का आर्य खंड में रामगिर पर्वत के उपरि कुन्दकुन्द मुनिराज तिष्ठे हैं। उनमें अचावार मन वचन काया की सुधता करि र नमस्कार कीयो तदि धर्मवृद्धि दीनी है। ऐसा स्वामी का वचन सुण करि सभी सभा के लोगन के उर में आश्चर्य उपज्यो। भो भगवन् ! आपकी दिव्य ध्वनि पहली भले प्रकार हम सुनी हती ज्यो भरतादिक दश क्षेत्र में धर्म का मार्ग नाहीं अर पाखंडी बहुत है। जिन धर्म का नाम मात्र जानेगा नाहीं। अघ वीपरीत मार्ग में चालेगा, पाखंडी लोगों की मान्यता बहुत होयगी। गुरुद्रोही लोक हो जायगा। स्व-स्व कल्पित ग्रन्थ बांचेंगे। अनेक पाखंड रचेंगे। जिनराज का धर्म आज्ञा समान कूं कहुं दीखेगा। पाखंडी का मठ जागि-जागि धावेगे। व्यन्तर आदिक कुदेव का चमत्कार प्रतिभासेगा स्व-स्व धर्म छोड़िकरि सब ही लोक उन्मार्ग में धंसेंगे। अब आपके मुख ऐसा ऋद्धि धारक मुनिराज का नाम सुन्या सो हमारे बड़ा आश्चर्य है। तदि केवलि वर्णन करते भये ऐसा मुनिराज बिरले होय है। आग्या का चिमत्कार समान आर्य खण्ड में चिमत्कार होयवो करेंगे, वे सुर्गवासी देव का जीव है। इहां सभा में रवि प्रभ सूर्यप्रभ देव हैं। तिनका वे आगले भव के भाई हैं। ऐसा शब्द होते दोय देव श्री भगवान् के निकटि आये नमस्कार करि सकल व्याख्यान पूछ्या अर मुनिराज का दर्शण करणे वास्ते रामगिर उपर आवते भये। जिस वखत देव आये ता समे में रात्रि थी तदि मुनिराज कूं नमस्कार करि र बैठ्या। मुनिराज बोल्या नहीं। अब उनका शिष्य विना ध्यान तिष्ठे छै तिनका दर्शन भया। उन से ही बतलावणा होत भई। अर देर देव ने कही श्रीमंदर स्वामी तुमकुं धर्मवृद्धि दीनी तदि मैं अठै आया। अबे स्वामी बोलते नहीं सो हम भगवान् के समोसरण में ही पाछा जावां छां। या कहीर देव भगवान् के समोसरण में गये। अब प्रभातिक का समय हुआ। तदि प्रभाति का नमस्कार सब ही शिष्य करते भये अर रात्रि का समाचार श्रीमंदर स्वामी सम्बन्धी सर्व विविपूर्वक मालुम करया।

अर फेर कही देव दोय आपके दर्शन करण कूं आया सो आपका दर्शन करि र वे देव भगवंत की सभा में हो गये। ये समाचार सुणि कर श्री कुन्दकुन्द मुनिराज विशेष आनन्द कू प्राप्त भये, अर सोहं ऐसा शब्द का प्रकाश करते भये। अब श्रीमंदर स्वामी का दर्शन करेंगे तदि आहारादिक लेंगे। या कहि करि स्वामी फिर मौन धार करि ध्यान में मगन भये। ऐसा ध्यान आवे तदि वैसा कारण होय। अति दो च्यार दिन में चित्त की थिरता तें वैसा ही ध्यान प्रकट भया। अर समवसरण दरसाया अर साक्षात्कार श्रीमंदर स्वामी कूं नमस्कार करता भया, वैसा समय धर्मवृद्धि फेरि भगवंत की हुई। अर प्रश्न भया अर भगवान् कही ज्यो देव गये थे सो पाछे आगे अब उनके ऐसा नियम हुआ के ज्यो दर्शण बिन सर्व त्याग है। तदि देवां कही भो स्वामिन्! वे आगे नहीं तदि भगवंत आज्ञा करी तुम वेसमय गये तव देव पूछने भये समय कोनसा तदि भगवंत कहि। यहां रात्रि होती वहां दिन है। वहां दिन है यहां रात्रि है। सूर्य का गमन ऐसा है सो तुम दिन में वां जाओ तो वन का आगमन हो जायगा। ऐसा वचन सुनि करि वे दोन्यू देव ध्यान (दिन) समय में आये मुनिराज का दर्शन हुआ अर परस्पर वचनालाप हुआ। देव हाथ जोडि नमस्कार विनती करी आप विमान में विराज अर श्रीमंदर स्वामी का दर्शण करो या बात सुणिकरि प्रसन्न होय आप विमाण में विराजे अर विमाण आकाश मार्ग चाल्यो सो अनुक्रम से क्षेत्र भोग भूमि का देश के उपरि विमाण चल्या जाय छो, सो स्वामी के सामायक का समय आ गया सो सामायिक करती वखत पीछी हाथन से गिर पड़ी अर पवन का वेग अत्यन्त लाग्या ही तदि स्वामी कही अब हमारा गमन अगारी नहीं काहे, ते मुनिराज का बाना बिना मुनिराज की पिछानी नाहीं तदि देव पीछी हेरण कूं बड़ा यतन किया तदि पीछी पाई नहीं, अर गृध्र पक्षी जाति के जिनावर की पांखडी हुती सो वै अति कोमल तिनकूं भैली करि उनकी पीछी आकार बनाय श्री मुनिराज कूं सौंपी तदि आप कोमल जाणि अर धर्म का कारण करणे के निमित्त अंगीकार करि करि र अगाडी गमन करता भया। इस कारण से दूसरा नाम गृध्र पिछाचार्य प्रकट भया। अब विदेह क्षेत्र में जाय पहुंचे। श्रीमंदर स्वामी का समोसरण मानस्थंभादि विभूति युक्ति देखकरि प्रसन्न भये, आप अन्तरंग की सुधता धारी विमाण से उतरि भगवान् का समवसरण में प्रवेश किया अर सीमंदर स्वामी के तीन प्रदक्षिणा दे करि नमस्कार किया अर स्तुति करि अहो सर्वज्ञ तुम्हारी महिमा अगम्य है, अगोचर है, आप सकल वस्तु कौ सदी वही देखो हौर आप जगत के गुरु हो आप परमेसुर हो, आपके नाम से अनेक जन्म के पाप प्रलय होय हैं आपका केवलज्ञान सर्व प्रति भासी है। आप पूज्याधिक हो आप ब्रह्म रूप हो, चतुर्मुख हो गणधरादिक देव भी तुम्हारे गुण गण कथन करते थाक गये, हमारि कहा गति आजि हमारा शरीर सफल भया आजि हमारी मोक्ष भई मानूं ऐसा मैं आनन्द मानूं या कह करि भगवान् की गंध कुटी की कटनि उपरि देव वैठावते भये, काहे तेवा का शरीर पांच से धनुष का अर ये ६ हाथ काय सकारण, वैसे ही समय में चक्रधर आयो गंध कुटी कै उपर नजरि गई तदि हात भैले करि

विचार करता भया ।। यह कौण सा आकार है छ खण्ड में यह आकार कहूं देख्या नहीं । ऐसा आकार कौन का है । तदि चक्रधर भगवान् कूं पूंछता भया हे जिनेन्द्र ! ये मनुष्यों का आकार कौनसा जीव है । तदि भगवान् की दिव्य ध्वनि हुई । यह भरत के मुनिराज है । तुम पहली धर्मवृद्धि का कारण पूछता था सो अब ये दर्शण करने निमित्त आये हैं । ऐसा शब्द सुणिकरि प्रसन्न होय चक्रधर मुनिराय कूं कटनी उपरि विराजमान करि र नमस्कार करता भया तदि मुनिराज का नाम एलाचार्य प्रकट होता भया । अर भगवान् की आज्ञा हुई । इन कूं सकल संदेह का निवारण करावणे वाला सिद्धान्त सिखाओ । अर ग्रंथ लिखाय द्यो, सो यो धर्म का उद्योतक होयगा । अब आपके जैसा संदेह छा सो सब भगवान् सूं पूछ करि निसंदेह भया, एक दिन चक्रधर विनती करी आप आहार कूं उतरो तदि आप कहि जोग्यता नाहीं काहे ते इहा दिन हमारा क्षेत्र में रात्रि हम वांहा के उपजे याशे आहार कैसे अंगीकार करे सो स्वामी दिन सात (७) तांई निराहार रहे । भगवान् की दिव्य ध्वनि निरूपी अमृत के पीवते क्षुधा बाधा नै देती भई, च्यार शास्त्र लिखाये ।

मतान्तर निर्णय चौरासी हजार, सर्व सिद्धान्त मन बियासी हजार, कम प्रकाश बहतरि हजार, न्याय प्रकाश बासठि हजार । ऐसे ग्रंथ च्यार लेकरि भगवान् सूं आज्ञा मांगी देव विमाण में वैठ करि रामगिरि उपरि आय विराजे देव अपने स्थानक गए अब सर्व ही स्वामी की आग्या में चालते भये । श्वेताम्बर धर्म छुड़ाय दिगम्बर धर्म का मार्ग बताया अर धन वाले कूं धन बताया, पुत्रवान् कूं पुत्र दिया, राज्य वाला कूं राज्य दीनो । केवल धर्म का मार्ग वधावा के निमित्त हजारु श्रावक व्रती हो गये । कुंद सेठ सबन का मालिक भया । ५९४ मुनिराज हुआ । ४०० आर्जिका हुई । अब आप सकल संघ सहित श्री गिरनारजी की यात्रा वास्ते चालता भया अर श्वेताम्बरीन का संघ भी जावा चाल्या, तिनकी संख्या श्रीपूज्य तो ८४ गच्छ के अर यति १२००० अर वन के श्रावक श्रावकणी दोय लाख बावन हजार अरु चाकर पयादे वहुत सो ये दोउ संघ गिरनारजी के नीचे अपणी अपणी हद में मुकाम करते भये । तदि श्री कुन्दकुन्दाचार्य जी का संघ ऊपर चढ़ने लगा तदि श्वेताम्बरीन का हलकारा अगाडी नहीं करणे दीना । अर कही पहली यात्रा हमारी होयगी पीछे यात्रा तुम्हारी होयगी । यह समाचार सुणि करि सव ही पाछा आय गया । अर आचार्य सूं विनती करी हे नाथ ! यह श्वेताम्वरी तो वहोत । अपना संघ थोड़ा सो यात्रा कैसे होवेगी तदि आचार्य आज्ञा करी तुम वांसु कहो तुमारे हमारे कछु वैर तो है नहीं अर जो तुम अपने मत का आडम्वर राख्या चावो छो तो अरु याहां आवो जो जीतेंगे सो ही पहली यात्रा करेगा । अवे यात्रा तुम भी नहीं करोगे ऐसा वचन होता थका दौन्यू संघ का ही वाद ठहर्‌या ज्यो जीते सो यात्रा पहली करेगा । दिगम्बर के स्वामी श्री कुन्दकुन्दाचार्य अर श्वेताम्वर के मालिक शुक्ताचार्य जा के चौइस महाकाल पक्ष का साधन सो इनकै केतेक दिन तलक वाद भया । जदि येक दिन शुक्ताचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी का कमंडल में छाकरि दीनी अर

नग्नता में कोई कहेंगे काहे का मुनि है नग्न का आवरण चीवर का है । ऐसी बात सुणि करि कोई श्रावक कही स्वामी कमंडल में कांई छै । स्वामी कही कमंडल के जल मे फूल है । स्वामी दिखाओ । तदि कमंडल ऊंधो करयो । सो कमंडल में सूं फूल के ढेर हो गया । अर स्वामी का नाम चौथा पद्मनन्दि स्वामी प्रकट भया । शुक्लाचार्य पीछी कमंडल दोनूं उठाय दीना । तदि स्वामी सब यतीन की चादर पैठना उठाय दीना । शुक्लाचार्य कूं नग्न करि दीना । पीछे तो ऊपर चांद स्या नीचे इस तरे से चादरि चादरि परि पीछी होय गई, कूंठ ने लगी यति बाहर मेलने लाग्या ऐसा स्वामी चिमत्कार बताया । अब आप बोल्या ऐसी धूर्त विद्या से वाद नहीं होना है । अब मैं कहता हूं या सरस्वती की प्रतिमा पापाणमयी छे इनै बुलावो ज्यो कहै सो ही पहली यात्रा करेगा । तदि शुक्लाचार्य अनेक पक्ष की स्थापना करी बुलाई तो भी नहीं बोली ॥ तदि स्वामी आप कमंडल पीछी हाथ में ले करि श्री सीमंदर स्वामी कूं नमस्कार करि पीछी सरस्वती का शिर ऊपर धरि करि आप प्रकट बोलते भये । हे देवी ! अब तूं सत्य वचन का प्रकाश करहु तदि देवी गर्जना रूप तीन बोल प्रकट बोली आदि दिगम्बर, आदि दिगम्बर, आदि दिगम्बर, गर्भ का बालक है चिह्न जामे तदि दिगम्बर सम्प्रदाय सत्य रूपी होय गई । श्वेताम्बरी भी देवी कूं बुलावना : सत्य वचन का प्रकाश करहु तदि देवी गर्जना रूप तीन बोल प्रकट बोली आदि दि. : सरु करयात देवी कही तुम बारा बरस तलक झगड़ा करो हमने एक सत्यार्थ था सो ई कह्या । तदि श्वेताम्बरी के सैकरूं शिष्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य के शिष्य भये । अर प्रथम यात्रा श्री कुन्दकुन्दाचार्य जी का संघ का लोग करता भया । अर श्री नेमिनाथ भगवान् की प्रतिष्ठा करी । अर सकलगिर प्रतिष्ठित भया ।

तदि मूलसंघ सरस्वती गच्छ बलात्कारगण श्री कुन्दकुन्दाचार्य का वंश बड़े नन्दि मुनिराज कूं आचार्य पद दीना सो उनकी आमनाय सकल संख्या गायत्री कर्म अंग न्यासादिक कर्म, प्रतिष्ठा, कलशाभिषेक, पूजा, दान, यात्रा, इत्यादि छहूं कर्मन की स्थापना करी सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप तीन वलय का सूत्र की यज्ञोपवीत श्रावक लोग कूं दीनी । अर जिनमार्ग का प्रकाश करि र आप वापनारा नाम नगर के वन में आये सब श्रावकन कूँ शिष्या (शिक्षा) दे करि आप सन्यास धारि करि पांचवे स्वर्ग गये । विशेष अधिकार बड़े ग्रन्थन से जाण लेणा यहां अधिकार मात्र वर्णन किया है ।"

"प्रतिष्ठा पाठ" शीर्षक वाली इस लघु पुस्तिका के उपरि लिखित उद्धरण से निम्नलिखित चार तथ्य प्रकाश में आते हैं :

१. दिगम्बर परम्परा के महान् प्रभावक आचार्य श्री कुन्दकुन्द विक्रम सम्वत् ७७० में विद्यमान थे ।
२. उनके गुरु का नाम आचार्य श्री जिनचन्द्र था ।

३. आचार्य जिनचन्द्र रामगिरि पर्वत पर रहते थे।

४. श्रमण भगवान् महावीर के धर्म संघ के एक अंग दिगम्बर सम्प्रदाय में ब्राह्मणों ही के समान श्रावकों के लिये त्रिकाल सन्ध्या, (गायत्री कर्म अंगन्यासादि कर्म), कलशाभिषेक, प्रतिष्ठा, पूजा, दान और यात्रा ये छ कर्म और सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र के प्रतीक रूपी तीन वलय के सूत्र की यज्ञोपवीत धारण करने की अनिवार्य रूपेण परमावश्यक प्रथा आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा प्रचलित की गई।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द आचार्य श्री जिनचन्द्र के शिष्य थे इस बात की पुष्टि इंडियन एन्टीक्यूरी के आधार पर विद्वानों द्वारा निर्णीत की गई नन्दी संघ की पट्टावली से भी होती है। उक्त पट्टावली में चौथे आचार्य का नाम जिनचन्द्र और पांचवें आचार्य का नाम कुन्दकुन्दाचार्य उल्लिखित है।[1]

इस लघु पुस्तिका में आचार्य श्री कुन्दकुन्द के समय के सम्बन्ध में एक सुनिश्चित सम्वत् का उल्लेख किया गया है कि वे विक्रम सम्वत् ७७० में (तदनुसार ईस्वी सन् ७१३ एवं वीर निर्वाण सम्वत् १२४०) में हुए। इस प्रकार का निश्चित सम्वत् का उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द के सम्बन्ध में जैन वांग्मय में, श्वेताम्बर अथवा दिगम्बर परम्परा की पट्टावलियों आदि में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता।

इसी प्रकार जैन श्रावक के लिये तीन सूत्र की यज्ञोपवीत धारण करना, त्रिकाल सन्ध्या, गायत्री कर्म, अंगन्यासादि कर्म, प्रतिष्ठा, कलषाभिषेक, आदि जिनका कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा के आगमों अथवा आगमिक ग्रन्थों में कहीं भी उल्लेख उपलब्ध नहीं होता, उन सब कर्मकांडों का ब्राह्मण ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी उल्लेख उपलब्ध नहीं होता, उन सब ब्राह्मणिक कर्मकांडों का प्रचलन आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने ही दिगम्बर परम्परा में प्रारम्भ किया, इस बात का उल्लेख भी स्पष्ट रूप से इस लघु पुस्तिका में है। इस दृष्टि से भी इस प्रतिष्ठा पाठ नामक हस्तलिखित पुस्तिका का एक बड़ा ही महत्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थान है। दिगम्बर एवं श्वेताम्बर पौराणिक ग्रन्थों में इस बात का उल्लेख है कि अहर्निश धर्माराधन में निरत रहने वाले माहणवर्ग की पहिचान के लिये भरत चक्रवर्त्ती ने रत्न विशेष से यज्ञोपवीत की भांति की तीन रेखाएं प्रत्येक माहण के दक्षिण स्कन्ध से वाम वक्षस्थल और वाम पृष्ठभाग तक अंकित कर दी थीं। यज्ञोपवीत जैसा यह चिह्न भरत चक्रवर्त्ती ने इस उद्देश्य से किया था कि जो माहण वस्तुतः धर्माराधन में, अध्ययन अध्यापन में ही निरत रहते थे और भरत चक्रवर्त्ती

१. (क) जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग ३, पृष्ठ १३६ व १३७

(ख) नन्दिसंघ की पट्टावली, जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग २ पृष्ठ ७५४

द्वारा इस प्रकार के नितान्त धर्मनिष्ठ ब्राह्मणों के लिये प्रदान की गई अशन, पान, आवास, परिधान आदि की सुविधाओं का उपभोग दूसरे छद्म व्यक्ति न कर सकें। ब्राह्मणों के लिये इस प्रकार की व्यवस्था भरत चक्रवर्ती द्वारा की गई थी, न कि किसी भी तीर्थंकर महाप्रभु अथवा किसी धर्माचार्य द्वारा। चतुर्विध तीर्थ की स्थापना तीर्थंकर प्रभु द्वारा की गई थी। उसमें श्रावक वर्ग भी सम्मिलित था। चतुर्विध तीर्थ की स्थापना के समय ऋषभादि महावीरान्त चौबीसों तीर्थंकरों में से किसी भी तीर्थंकर महाप्रभु ने श्रावक वर्ग के लिये त्रिकाल सन्ध्या, कलशाभिषेक, प्रतिष्ठा, तीर्थ यात्रा अथवा यज्ञोपवीत का विधान किया हो, इस प्रकार का एक भी उल्लेख सम्पूर्ण आगमिक वाङ्मय में कहीं नाम मात्र के लिये भी दृष्टिगोचर नहीं होता। श्रमण भगवान् महावीर के समय में भी श्रावकों ने यज्ञोपवीत धारण किया हो, इस प्रकार का एक भी उल्लेख कहीं उपलब्ध नहीं होता। इस प्रकार की स्थिति में इस लघु पुस्तिका के एतद् विषयक उपरि वर्णित उल्लेख से यह आत्यन्तिक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश में आता है कि आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने ही दिगम्बर परम्परा में यज्ञोपवीत एवं उपर्युक्त छहों कर्मों का विधान किया।

इस प्रकार आचार्य श्री हस्तिमलजी महाराज द्वारा खोज निकाली गई इस लघु पुस्तिका से इन ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ईस्वी सन् ७१३ में विद्यमान थे। वे भट्टारक श्री जिनचन्द्र के शिष्य थे, उन्होंने रामगिरि पर्वत पर बाल्यावस्था में भट्टारक जिनचन्द्र के पास पंच महाव्रतों की दीक्षा ग्रहण की थी और कालान्तर में इन्हीं आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने दिगम्बर परम्परा में श्रावकों के लिये यज्ञोपवीत के साथ-साथ षट्कर्मों का प्रचलन प्रारम्भ किया।

"प्रतिष्ठा पाठ" नामक इस पुस्तिका का आलेखन आज से लगभग १०३ वर्ष पूर्व विक्रम सम्वत् १९४० में पंडित महिपाल द्वारा गणेश नामक ब्राह्मण से करवाया गया। इस प्रति का लेखन किस प्राचीन प्रति के आधार पर करवाया गया, इस सम्बन्ध में केवल इतना ही उल्लेख है "ई मरजाद प्रतिष्ठा हुई, सो आगम के अनुसार लिखी है।"

इस उल्लेख से यही प्रकट होता है कि प्रतिष्ठा सम्बन्धी प्राचीन पत्रों के आधार पर ही सम्भवतः इस पुस्तिका का आलेखन करवाया गया होगा। यह "प्रतिष्ठा पाठ" नाम की लघु पुस्तिका स्थान-स्थान पर अतिशयोक्तियों से ओत-प्रोत है, किसी एक प्रतिष्ठा पर ३८ करोड़ रुपया, किसी दूसरी पर २४ करोड़ रुपया, तो किसी पर १९ करोड़ रुपया, किसी पर ३६ करोड़ रुपया, किसी पर ३५ करोड़ रुपया आदि व्यय किये जाने का उल्लेख है। सब मिलाकर बीस प्रतिष्ठाओं पर लगभग साढे चार अरब रुपये खर्च किये जाने का इस लघु पुस्तिका में उल्लेख है। आचार्य श्री कुन्द-कुन्द द्वारा करवाई गई प्रतिष्ठाओं और उनके तत्वावधान में

तीर्थयात्रा के लिये निकाले गये सुविशाल संघ पर जो धन व्यय हुआ वह इस राशि में सम्मिलित नहीं है।

इतना सब कुछ होते हुए भी इसमें उल्लिखित अनेक भट्टारकों के नाम और उनका काल ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक प्रतीत होता है। इनके नाम एवं काल की पुष्टि इंडियन एंटीक्यूरी के आधार पर तैयार की गई नन्दी संघ की पट्टावली एवं कतिपय शिलालेखों से भी होती है। इसी कारण यह लघु पुस्तिका इतिहास-विदों से गहन शोध की अपेक्षा करती है। आशा है शोधप्रिय इतिहासज्ञ इस सम्बन्ध में अग्रेतन शोध के माध्यम से आचार्य कुन्द-कुन्द के समय एवं उनके द्वारा श्रावकों के लिये प्रारम्भ किये गये यज्ञोपवीत आदि विधानों पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

इस प्रकार के अनेक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य विस्मृति के गर्भ में अब भी छिपे पड़े हैं। अस्तु।

चौथे भाग में भी इसी पुनीत उद्देश्य से विभिन्न गच्छों के पारस्परिक कलह, विद्वेष एवं लिंगायतों द्वारा जैन धर्मावलम्बियों के विरुद्ध चलाये गये भीषण धार्मिक अभियानों का विशद् विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

तीसरे भाग में देवर्द्धि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण से उत्तरवर्ती ४७५ वर्ष का जैनधर्म का इतिहास प्रस्तुत किया जा चुका है। तीसरे भाग के आलेखन हेतु किये गये शोध कार्य से पूर्व हमारी यह धारणा थी कि हम तीसरे भाग में वीर निर्वाण सम्वत् १००१ से २००० तक का जैन धर्म का इतिहास, जिनशासन के अनुयायियों एवं जैन इतिहास-प्रेमियों के समक्ष प्रस्तुत कर देंगे। परन्तु हम उसमें एक हजार वर्ष के स्थान पर केवल ४७५ वर्षों का ही इतिहास, सामग्री बाहुल्य के कारण, प्रस्तुत कर पाये हैं। शताब्दियों से जैन इतिहास के आलेखन के सम्बन्ध में प्रयास करने वाले मनीषियों ने समय-समय पर अनेक बार अथक् प्रयास करने के उपरान्त अपना यह अभिमत अभिव्यक्त कर दिया था कि देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् का लगभग ५००, ७०० वर्ष का इतिहास विस्मृति के गहरे गह्वर में विलीन हो चुका है। उन मनीषियों की इसी मान्यता को ध्यान में रखते हुए हमारा यह अनुमान था कि हम तीसरे भाग में वीर निर्वाण सम्वत् १००१ से २००० हजार तक का जैन धर्म का एक हजार वर्ष का इतिहास जैन जगत् के सम्मुख प्रस्तुत कर सकेंगे। पर तीसरे भाग के आलेखन के उपक्रम में जब ऐतिहासिक तथ्य एकत्रित करने हेतु शोध कार्य प्रारम्भ किया गया तो हमें तमिलनाडु और कर्णाटक प्रदेश में जैन इतिहास सम्बन्धी इतने अधिक तथ्य उपलब्ध हो गये कि वीर निर्वाण सम्वत् १००१ से १४७५ तक का चार सौ पिचहत्तर वर्ष का इतिहास लिखने में ही पुस्तक का कलेवर लगभग एक हजार पृष्ठ तक पहुंच

गया। इस पर इतिहासप्रेमी विज्ञों का यह अभिमत रहा कि एक हजार पृष्ठों से अधिक एक पुस्तक का आकार बढ़ाना सभी दृष्टियों से असुविधाजनक रहेगा। विज्ञों के इस परामर्शानुसार वीर निर्वाण सम्वत् २००० हजार तक के इतिहास को तृतीय भाग में सम्मिलित कर देने के हमारे पूर्व संकल्प को हमें बदलना पड़ा और वीर निर्वाण सम्वत् १४७५ तक की ऐतिहासिक घटनाओं के आलेखन के साथ ही हमें तृतीय भाग को परिसमाप्त कर देने के लिये बाध्य होना पड़ा।

अब इस इतिहासग्रन्थमाला के चतुर्थ भाग में हम वीर निर्वाण सम्वत् १४७६ से २००० वर्ष तक का ५२५ वर्ष का जैन धर्म का इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

इस अवधि में भी जैन धर्मावलम्बियों पर अनेक प्रकार के घोर संकट आये।

दक्षिण में मुख्यतः कर्णाटक में रामानुजाचार्य तथा आन्ध्र प्रदेश व कर्णाटक में लिंगायत सम्प्रदाय के अभ्युदय, उत्कर्ष और आक्रामक क्रान्तिकारी प्रचार-प्रसार के परिणामस्वरूप जैन धर्म को अभूतपूर्व क्षति उठानी पड़ी। आन्ध्र प्रदेश में तो लिंगायतों का जैन धर्म और जैन धर्मावलम्बियों के विरुद्ध यह प्रवल अभियान वस्तुतः अप्पर और ज्ञान सम्वन्धर द्वारा तमिलनाडु में किये गये जैनों के सामूहिक संहार से भी अत्यधिक भीषण था।

तमिलनाडु में तो तिरु अप्पर और तिरु ज्ञान सम्वन्धर द्वारा प्रचालित संहारक प्रचार अभियान के उपरान्त भी शताब्दियों पूर्व जैनों की वहुसंख्यक आवादी वाले तमिलनाडु प्रदेश में कतिपय सहस्र तमिलभाषा भाषी लोग जैन धर्म के अनुयायी के रूप में अवशिष्ट रह गये थे। किन्तु आन्ध्र प्रदेश में जहां जैनों की संख्या अन्य सभी धर्मावलम्बियों से अत्यधिक मानी जाती थी, वहां लिंगायतों के द्वारा प्रारम्भ किये गये सामूहिक संहारकारी अभियान में तो समूचे आन्ध्रप्रदेश में वहां के एक भी मूल निवासी को जैन नहीं रहने दिया गया।

इन सब ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर निर्विवाद रूप से सभी को यह स्वीकार करना होगा कि अप्पर ज्ञान सम्वन्धर रामानुजाचार्य और लिंगायत सम्प्रदाय के प्रचार-प्रसार और उसके उत्कर्ष के परिणाम स्वरूप दक्षिण में जैनों की संख्या करोड़ों से घटकर कतिपय सहस्रों की संख्या में ही अवशिष्ट रह गई। इस प्रकार उपरि वर्णित ५२५ वर्ष की अवधि में जैन संघ को, अन्य सम्प्रदायों द्वारा प्रारम्भ किये गये आक्रामक अभियानों के साथ-साथ पारस्परिक कलह और आन्तरिक वैर-विरोध और प्रायः प्रत्येक गच्छ के अनुयायियों द्वारा अपने से भिन्न सभी गच्छों को एवं उनके आचार्यों को न केवल अपने से हीन ही अपितु जमालिवत् निह्नव वताने की प्रवृत्ति के कारण भी अत्यधिक क्षति उठानी पड़ी। इस अवधि में जैनधर्म के स्वरूप और चतुर्विध संघ के आचार-विचार में अनेक प्रकार

की विकृतियां उत्पन्न करने वाली द्रव्य परम्पराओं का भी पूर्ण वर्चस्व रहा, जिनका कि श्रमण भगवान् महावीर की विशुद्ध मूल परम्परा को क्षीण, गौण और अन्त-प्रवाहिनी बनाने में बहुत बड़ा हाथ रहा। इतिहास साक्षी है कि गुजरात के चालुक्य-वंशी राजा भीमदेव के राज्यकाल में द्रव्य परम्पराओं की जननी चैत्यवासी परम्परा का प्रबल वर्चस्व था। प्रभावक चरित्र के उल्लेखानुसार चालुक्यवंशी गुर्जरेश्वर भीमदेव के समकालीन चैत्यवासी आचार्य गोविन्द सूरि का जैन समाज पर एका-धिकार था। श्री गोविन्दसूरि के चैत्यालय में नर्तकियों के नाच आयोजित किये जाते थे। चैत्यालयों में आयोजित किये जाने वाले नर्तकियों के विविध वाद्य वृन्दोपेत नाच को देखने के लिए न केवल राजमान्य उच्चाधिकारीगण, श्रेष्ठिवर्ग और प्रमुख प्रजाजन ही अपितु अपने आपको सुविहित परम्परा का अनुयायी बताने वाले श्रमण भी भाग लेते रहते थे। जैसा कि प्रभावक चरित्र के अन्तर्गत "श्री सूराचार्य चरितम्" में स्पष्ट उल्लेख है :—

"गोविन्द सूरि के चैत्य में किसी पर्व के अवसर पर आयोजित उस समय की एक विख्यात नर्तकी के नृत्य को देखने के लिये महाराज भीमदेव के राज्याधिकारियों के साथ-साथ सूराचार्य भी गये। नर्तकी ने जिनचैत्य में आयोजित उस नृत्य में अपनी उच्च कोटि की नृत्यकला का प्रदर्शन किया। उस नृत्य को देखकर सभी दर्शक चित्रलिखितवत् स्तब्ध रह गये। अपनी विशिष्ट कला का प्रदर्शन करने के अनन्तर सुरबालोपमा सुन्दर नर्तकी अपनी थकान मिटाने और पवन के झोंकों से अपने मुख-मण्डल एवं देहयष्टि के श्रमकणों को सुखाने के लिये नृत्यकक्ष के द्वार के पास के एक संगमरमर पत्थर के स्तम्भ का सहारा लेकर खड़ी हो गई। चमचमाते उस प्रस्तर स्तम्भ को अपने बाहुयुगल से आलिंगन कर खड़ी स्वेदखिन्ना नर्तकी की वह मुद्रा दर्शकों को अत्यधिक मनोहर प्रतीत हुई। प्रमुख दर्शकों ने जिनचैत्य के स्वामी चैत्यवासी परम्परा के आचार्य श्री गोविन्द सूरि से निवेदन किया कि इस नयनाभिराम मनमोहक मुद्रा का किसी कवि द्वारा वर्णन करवाया जाय। चैत्यवासी आचार्य श्री गोविन्द सूरि ने उस नृत्य समारोह में उपस्थित विद्वत्मण्डली में उपस्थित प्रत्येक विद्वान् की ओर अपनी दृष्टि दौड़ाई। अन्ततोगत्वा उनकी दृष्टि सूराचार्य के प्रशान्त सौम्य मुख मण्डल पर जा अटकी। उन्होंने सूराचार्य को आदेश दिया कि वे उस मनोहारिणी मुद्रा का रसभरी काव्यमयी भाषा में चित्रण करें। आशुकवि उद्भट विद्वान् सूराचार्य ने तत्क्षण निम्नलिखित श्लोक द्वारा उस आश्चर्य प्रदायिनी आह्लाद कारिणी मुद्रा का हृदयहारिणी शैली में वर्णन किया :

यत् कंकणाभरणकोमलबाहुवल्लि,
संगात् कुरंगकदृशोर्नवयौवनायाः।

न स्विद्यसि स्पन्दसि प्रविकम्पसे त्वम्,
अश्ममयेन रचिता ननु निर्मितोऽसि ॥

अर्थात्–चंचलमृगशावकों से संत्रस्त हरिणी के समान नेत्रों वाली अनुपम रूप लावण्य और नवयौवनसम्पन्ना सुन्दरी के अति सुकोमल भुजाओं के पाश में आबद्ध होने के उपरान्त भी हे स्तम्भ ! न तो तुझे पसीना ही आया है, न प्रसन्नभरी बाहुपाश का उत्तर देने के लिये तू किंचित्मात्र भी चलायमान हुआ है और न तेरे अन्दर किसी प्रकार का कामावेशजन्य कम्पन ही परिलक्षित हो रहा है। यह वस्तुतः बड़े आश्चर्य की बात है, तूं पत्थर-हृदय है। वास्तविक रूप में तूं पत्थर से ही तो बना हुआ है।"[1]

प्रभावक चरित्र में उपलब्ध इस विवरण पर विचार करने के अनन्तर तो असन्दिग्ध रूप से यह निश्चित हो जाता है कि विक्रम संवत् १०८० से ११३० तक चैत्यवासियों का भारत के उत्तर पश्चिमी भू-भाग में जैनधर्म संघ पर एक प्रकार से एकाधिपत्य था और विशुद्ध श्रमण परम्परा जैनधर्म संघ में स्वल्प जन सम्मत एवं गौण बनी हुई थी।

इन सब तथ्यों पर भी "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" नामक इस ग्रन्थमाला के प्रस्तुत किये जा रहे इस चतुर्थ भाग में विशद् रूप से प्रकाश डाला जायगा।

उपरिवर्णित इसी अवधि में रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायियों एवं शैवों द्वारा जैन धर्मावलम्बियों और उनके धार्मिक स्थानों पर कर्णाटक प्रदेश में भीषण प्रहार व अत्याचार किये जा रहे थे। उस संकट की महा विनाशकारी घड़ी में बादामी के चालुक्यराज बुक्कराय ने सच्चे राजधर्म का पालन करते हुए जैन धर्मावलम्बियों पर किये जा रहे प्रहारों से जैन संघ की रक्षा कर जैनों के साथ वैष्णवों एवं शैवों का सम्मानास्पद समझौता करवाया। चालुक्यराज की यह धर्मनिरपेक्ष न्यायप्रियता, जो संसार के इतिहास में विरल ही उपलब्ध होती है, इतिहास के पन्नों पर सदा सुवर्णाक्षरों में लिखी जाती रहेगी। इस तथ्य पर भी आलेख्यमान ग्रन्थ में यथास्थान यथाशक्य समुचित प्रकाश डाला जायगा।

एक अन्य दृष्टि से भी विक्रम सम्वत् १०८० से विक्रम सम्वत् १५३० तक का जैन इतिहास बड़ा ही महत्त्वपूर्ण इतिहास है क्योंकि इस अवधि में क्रियोद्धार की परम्परा का बारम्बार पुनरावर्तन हुआ। इन सब ऐतिहासिक तथ्यों के अतिरिक्त उपरिवर्णित अवधि में आगमानुसार सांगोपांग समग्र क्रियोद्धार के अभाव अथवा

---

१. प्रभावक चरित्र, पृष्ठ १५२ श्लोक १९ से २६

अपूर्ण एवं अधूरे क्रियोद्धारों के क्रियान्वयन के परिणामस्वरूप जनधम संघ में जो अगणित मान्यताभेद, गच्छभेद उत्पन्न हुए और उनके पारस्परिक क्लेष खण्डन-मण्डन एक दूसरे के प्रति कटु प्रहार, अशोभनीय व्यवहार आदि के कारण जैनसंघ की प्रतिष्ठा, शक्ति एवं वर्चस्व में उत्तरोत्तर न्यूनता का क्रम चला, उन सब दुखद प्रसंगों पर भी यथाशक्य संक्षेप में सारभूत प्रकाश डाला जायगा। जैनसंघ के दुखद ह्रास के मूल कारण इन ऐतिहासिक कटु तथ्यों पर प्रकाश डालने के पीछे हमारी लवलेशमात्र भी यह भावना नहीं है कि किसी भी गच्छ विशेष को लोकदृष्टि में नीचा दिखाया जाय। हमारी एक मात्र पुनीत भावना यही है कि जिनशासन प्रेमी प्रत्येक जैन को जिनशासन के ह्रास के मूल कारणों से सुस्पष्ट एवं सुचारु रूपेण अवगत करा दिया जाय। इस प्रसंग में हम स्पष्ट रूप से यह अभिव्यक्त कर देना चाहते हैं कि अपने-अपने समय में प्रत्येक गच्छ ने देशकाल और तत्कालीन विभिन्न परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए जैनसंघ को एक जीवित संघ के रूप में शक्तिशाली बनाने के लिए अथक् प्रयास किये हैं। तृतीय भाग के आलेखन के समय स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित कर दिया गया है कि जैन संघ के वर्चस्व को, प्रचार-प्रसार को, व्यापक रूप प्रदान करने के सदुद्देश्य से मुनिचन्द्र नामक एक आचार्य ने एक राज्य की सेनाओं की बागडोर अपने हाथ में लेकर सैन्य संचालन तक किया, यापनीय परम्परा के महान् आचार्यों ने जैन संघ की प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि करने के लक्ष्य से गंग वंश जैसी एक शक्तिशाली राज्यसत्ता तक को जन्म दिया। जैन धर्म की पोषक उस राज्य सत्ता को सशक्त एवं चिरस्थायी बनाने के लिये उन्होंने शास्त्र में साधु के लिये वर्जित उपदेशों एवं साम, दाम, दण्ड, भेदपूर्ण राजनैतिक निर्देशों तक का सहारा लिया। आचार्य माघनन्दी के उपदेशानुसार कोल्हापुर नृपति गण्डरादित्य एवं उनके जिनशासन प्रेमी सामन्त निम्बदेव ने हृदयद्रावक कूटनीति का सहारा लेकर ७७७ राजपुत्रों, सामन्तपुत्रों, श्रेष्ठिपुत्रों, एवं गण्यमान्य श्रीमन्त गृहस्थों के किशोरों को साधु धर्म में दीक्षित करवाकर भट्टारक परम्परा की स्थापना में माघनन्दी आचार्य को इतिहास में अमर उल्लेख योग्य सहायता प्रदान की। यापनीय परम्परा के आचार्यों ने जन-जन को जिन शासन की ओर आकर्षित करने के सदुद्देश्य से सर्वधर्म-समन्वयवादी नीति का एवं अशास्त्रीय विधि विधानों, अनुष्ठानों, धार्मिक आयोजनों का सहारा लेकर अनेक प्रकार के कल्पों, मन्त्र-तन्त्र-यन्त्रों का आविष्कार करने के साथ-साथ सुविशाल चैत्यों, ज्वालामालिनी, पद्मावती आदि देवियों के मन्दिरों, विशाल विद्यापीठों, मठों तथा श्रमण-श्रमणियों की सुविधा हेतु विशाल आवासों का निर्माण करवाया। यापनीय, चैत्यवासी, भट्टारक आदि परम्पराओं द्वारा किये गये उपरि वर्णित प्रकार के विविध कार्यकलाप यद्यपि श्रवण-श्रमणी वर्ग के लिये शास्त्रों में वर्जित हैं तथापि उनके समय की देश काल की परिस्थितियों को देखते हुए उनकी इन अशास्त्रीय गति-विधियों ने जैन संघ को जीवित रखने में बहुत बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है।

जिस प्रकार यापनीय संघ, भट्टारक परम्परा, चैत्यवासी परम्परा आदि के नाम से पूर्व काल में विभिन्न गणों ने जिन शासन के अभ्युदय, उत्थान के लिये अनेक प्रकार के ऐसे कार्य किये जो शास्त्रों में पंच महाव्रतधारी श्रमण-श्रमणी वर्ग के लिये वर्जनीय नहीं बताये गये हैं, ठीक इसी प्रकार विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशक पूर्व प्रारम्भ हुई आंशिक अपूर्ण अथवा असमग्र क्रियोद्धार की परम्परा के परिणामस्वरूप समय-समय पर जैनधर्म संघ में जितने भी गच्छ अस्तित्व में आये अथवा उत्पन्न हुए, उन सब में भी जिनशासन के उत्कर्ष के लक्ष्य एवं चतुर्विध संघ के आचार-विचार में यथाशक्य शास्त्रानुकूल सुधार लाने के लिये ही प्रयास किये गये। उन विभिन्न गच्छों के समय की विभिन्न परिस्थितियों के सन्दर्भ में यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो यही तथ्य प्रकाश में आयेगा कि प्रायः इन सभी गच्छों ने जिनशासन के गौरव की अभिवृद्धि हेतु कतिपय उल्लेखनीय कार्य किये। यदि इन गच्छों में अपने-अपने गच्छ के प्रति मिथ्या अहंभाव, साम्प्रदायिक व्यामोह, एक दूसरे को अपने से हीन, नीचा एवं मिथ्यात्वी बताने की होड़ और केवल अपने आपको ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने की प्रवृत्ति नहीं होती तो जैनधर्म संघ की गणना साम्प्रतकालीन संघों में एक शक्तिशाली धर्मसंघ के रूप में की जाती। किन्तु दुर्भाग्यवशात् स्थिति इसके पूर्णतः विपरीत रही, जिसका दुष्परिणाम आज हमें स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो रहा है कि जो जैनसंघ उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में सागर के तट पर्यन्त के प्रदेशों में और पूर्व में स्वर्ण भूमि से लेकर पश्चिम में अरब सागर के तटवर्ती क्षेत्रों में अपने पूर्ण वर्चस्व के साथ फैला हुआ था, वह सिमटते-सिकुड़ते सीमित क्षेत्रों में एक अत्यल्प संख्यक धर्मसंघ के रूप में अवशिष्ट रह गया है। इस तथ्य से तो कोई भी निष्पक्ष मनीषी असहमत नहीं होगा कि छोटी-छोटी अनेक इकाइयों में विभक्त हो जाने और उन छोटी-छोटी इकाइयों में भी पारस्परिक विद्वेष, कलह, एक दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति के घर कर जाने के कारण ही जैनधर्म की बड़ी भयंकर क्षति हुई। किसी समय भारत में बहु संख्यक के रूप में रहे जैन आज के युग में अत्यल्प संख्या में अवशिष्ट रह गये।

इतिहास वस्तुतः किसी भी देश, धर्म, राष्ट्र, समाज, जाति एवं व्यक्ति के लिये उनके अपने अपने अतीत को प्रत्यक्ष की भांति दिखाने वाला एक अद्भुत दर्पण है। इस इतिहास-दर्पण में देश, जाति, धर्म और समाज के कर्णधार अपने-अपने अतीत को भली-भांति देख सकते हैं। इतिहास-दर्पण में अपने अतीत के पर्यवेक्षण से प्रत्येक व्यक्ति को सहज ही सुस्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष की भांति बोध हो जाता है कि उसने कहां-कहां किस-किस प्रकार की त्रुटियाँ की हैं, उन त्रुटियों के कारण अति दुर्भाग्यपूर्ण भयंकर क्षति उठाई है और कहां-कहां अपनी त्रुटियों को सुधार कर उसने प्रगति की ओर चरण बढ़ाये हैं।

प्रस्तुत किये जा रहे इस चतुर्थ भाग में जैनधर्म के विभिन्न प्रमुख गच्छों का एकमात्र इसी दृष्टि से इतिवृत्त दिया जा रहा है कि प्रत्येक जैन धर्मावलम्बी अपने

अतीत के इतिहास को प्रत्यक्ष की भांति इस इतिहास दर्पण में देखकर पूर्ण रूप से सजग और सक्रिय हो जाय। जिन भूतकाल की भूलों के कारण संघ में बिखराव की प्रक्रिया प्रारंभ हुई, संघ विघटित होते होते एक सीमित क्षेत्र में संकुचित हो गया, उन सब भूलों को मूलतः विनष्ट करने के लिये वह सच्चे मन से कटिबद्ध हो जाय। अतीत में धर्म संघ के अभ्युदय और उत्कर्ष हेतु पूर्वजों द्वारा जो जो क्रान्तिकारी कदम उठाये गये उनसे प्रत्येक जैन भलीभांति अवगत हो, प्रगति की ओर बढ़े, उन पूर्वजों के पद-चिन्हों पर सामूहिक रूप से प्रयाण करने का दृढ़ संकल्प कर ले। अतीत में जिनेश्वर की शास्त्रों में प्रतिपादित आज्ञा के विपरीत जिन जिन अशास्त्रीय मान्यताओं, विधि-विधानों, धार्मिक आयोजनों एवं अनुष्ठानों को चतुर्विध संघ के लिये करणीय रूप में, धार्मिक कृत्यों के रूप में अंगीकार कर उन्हें अपनी आवश्यक दैनिक चर्या में क्रियान्वित किया गया और जिनके कारण श्रमण भगवान् महावीर का प्रबल शक्तिशाली सुदृढ़ संघ विभिन्न इकाइयों में विभक्त होकर विघटित एवं छोटे-छोटे टुकड़ों में छिन्न-भिन्न होकर बिखर गया, अतीव अशक्त तथा क्षीण बन गया, उन सब अशास्त्रीय मान्यताओं को एक ही झटके में उखाड़कर फैंकने के लिये प्रत्येक जैन, चतुर्विध संघ का प्रत्येक सदस्य दृढ़ संकल्प के साथ कटिबद्ध हो जाय। इन सब अतीत की भूलों एवं गच्छों में पराकाष्ठा तक पहुँचे पारस्परिक कलहों, विवादों, विद्वेषों आदि पर यथातथ्य रूपेण प्रकाश डालने के पीछे भी हमारी यही एकमात्र पुनीत भावना है कि अतीत में हुई उन भूलों का भविष्य में कदापि किसी भी रूप में पुनरावर्तन न हो। भूतकाल की उन भूलों के परिणामस्वरूप जो विघटनकारी बुराइयां हमारे धर्मसंघ में प्रविष्ट हो गहराई तक घर कर चुकी हैं, उन बुराइयों से समाज को, धर्मसंघ को सदा के लिये मुक्ति दिलाने हेतु सभी प्रकार के साम्प्रदायिक व्यामोहों को जलांजलि दे सभी भांति के कदाग्रहपूर्ण पूर्वाभिनिवेशों से पूर्णतः विमुक्त हो, उन सब बुराइयों को दृढ़ संकल्प के साथ दूर करना होगा।

भूतकाल की भूलों से अवगत हो जाने के अनन्तर भी यदि उस प्रकार की भूलें भविष्य में न हों, इस प्रकार का दृढ़ संकल्प न किया जाय और जिन भूलों अथवा बुराइयों के कारण धर्मसंघ, समाज अथवा किसी देश को जो हानियां उठानी पड़ी हैं, उनसे बचने के लिये यदि उन बुराइयों को दूर न किया जाय तो यह इतिहास-दर्पण का दोष नहीं, उसमें अपने मुखड़े को देखने वाले संघनायकों एवं राष्ट्रनायकों का ही दोष माना जायगा।

इसी ग्रन्थमाला के तृतीय पुष्प में भारत के दो शक्तिशाली राजाओं के थोथे अहं और उनके अहमक मन्त्रियों की अदूरदर्शितापूर्ण भूल के कारण भारत जैसे महान् राष्ट्र को जो अपूरणीय क्षति उठानी पड़ी, उस पर प्रकाश डाला गया है। ईस्वी सन् ६३७ के आसपास कन्नौज के महाराजा हर्षवर्द्धन की मृत्यु के ५३ वर्ष पश्चात् कन्नौज के राजसिंहासन पर आसीन होने वाले महाराजा यशोवर्मन

(राज्यकाल ईस्वी सन् ७०० से ७४०) और काश्मीर के महाराजा ललितादित्य (राज्यकाल ईस्वी सन् लगभग ७२४ से ७६०) अपने समय के दो महान् शक्तिशाली राजा थे। यशोवर्मन ने दक्षिणी समुद्र से लेकर उत्तर में काश्मीर राज्य की दक्षिणी सीमाओं तक अपने राज्य का विस्तार किया। उधर काश्मीर का महाराजा ललितादित्य भी बड़ा शौर्यशाली और साहसी राजा था। ईस्वी सन् ७२१ के आसपास जब अरब लोग विशाल भारत देश को इस्लामी राज्य बनाने के उद्देश्य से सर्वप्रथम सिन्ध की ओर और तदनन्तर काश्मीर की ओर बढ़ने लगे, उस समय कन्नौज के राजा यशोवर्मन ने सिन्ध में बढ़ती हुई अरब सेनाओं पर आक्रमण कर उन्हें पराजित किया। तदनन्तर काश्मीर की ओर बढ़ती हुई अरबों की विशाल सेना को काश्मीरराज ललितादित्य ने आगे बढ़ने से रोका और यशोवर्मन की सहायता से अरबों को पीछे की ओर धकेल दिया। महाराजा यशोवर्मन और ललितादित्य, इन दोनों ने ईस्वी सन् ७२१ के आसपास ही सम्भवतः अरबों के आक्रमण के कुछ समय पूर्व चीन के सम्राट् को अपने दूत भेजकर निवेदन किया कि अरबों के दबाव को रोकने के लिये सम्राट् उनकी सैनिक सहायता करे। चीन के सम्राट् की ओर से किसी प्रकार की सहायता उपलब्ध न होने पर भी इन दोनों शक्तिशाली राजाओं ने भारत की ओर बढ़ती हुई अरबों की सेनाओं को युद्ध में परास्त कर पीछे की ओर लौटने के लिये बाध्य कर दिया। काश्मीर के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ राजकवि कल्हण ने अपने ऐतिहासिक महत्त्व के ग्रन्थ राजतरंगिणी में लिखा है कि इन दोनों राजाओं के बीच परस्पर मनोमालिन्य बढ़ते-बढ़ते संघर्ष का रूप धारण कर गया। संघर्ष को उग्र होते देख दोनों राजाओं ने सन्धि करने का निश्चय किया। तदनुसार सन्धि-पत्र का आलेखन भी कर लिया गया। परन्तु "यशोवर्मन और ललितादित्य के बीच शान्ति सन्धि"—सन्धिपत्र के इस शीर्षक को देखकर काश्मीरराज ललितादित्य के सांधिविग्रहिक मन्त्री ने अपने स्वामी से पूर्व यशोवर्मन के नाम के लिखे जाने पर आपत्ति की। दोनों पक्षों में से कोई भी पक्ष अपने स्वामी का नाम दूसरे स्थान पर रखने के लिये सहमत नहीं हुआ। परिणामस्वरूप न केवल सन्धि ही होते होते रुक गई अपितु दो राज्यों के मन्त्रियों की अहमकता और दो राजाओं के अदूरदर्शितापूर्ण थोथे अहं के परिणामस्वरूप उन दोनों राजाओं में भयंकर युद्ध हुआ। जो शक्ति अरब आततायियों को सदा के लिये परास्त करने में लगनी चाहिये थी वह शक्ति एक दूसरे को समाप्त करने में ही नष्ट-भ्रष्ट हो गई।[1]

इस इतिहास ग्रन्थमाला के तृतीय पुष्प में इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना के सन्दर्भ में लिखा गया है :

"इस प्रकार भारत को एक अजेय शक्तिशाली राष्ट्र बनाने का स्वप्न असमय में ही टूट गया। यह भारत के लिये बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण घटना थी कि

१. जैनधर्म का मौलिक इतिहास भाग ३ पृष्ठ ६२३/६२४

दो राजाओं के थोथे अहं और उन राजाओं के अहमक मन्त्रियों की अदूरदर्शिता के कारण भारत की जो सेनाएं आने वाले दुर्दिनों में देश की रक्षा के लिये काम में आतीं, वह परस्पर ही लड़-भिड़कर नष्ट अथवा अशक्त हो गईं।"

इस प्रकार तृतीय भाग में दो राजाओं की भूल और उनके अहमक मन्त्रियों की अदूरदर्शिता पर जो प्रकाश डाला गया है, वह किसी शासक को नीचा दिखाने के उद्देश्य से नहीं, किन्तु भारत के भावी कर्णधार भूत की इस भूल से भविष्य में सदा शिक्षा लेते रहें, इसी उद्देश्य से इस घटना का उल्लेख किया गया है।

राजनैतिक क्षेत्र में दो अदूरदर्शी राजाओं द्वारा की गई अदूरदर्शितापूर्ण भूल अथवा त्रुटि के समान ही धार्मिक क्षेत्र में धर्मसंघ के अग्रणियों द्वारा जो जो भूलें की गईं, उनका दिग्दर्शन तृतीय भाग में इसी उद्देश्य से किया गया है कि अतीत में चतुर्विध संघ के कर्णधारों, नायकों अथवा सदस्यों ने जिस प्रकार की भूलें की हैं, शास्त्राज्ञा की अवहेलना कर अशास्त्रीय मान्यताओं को प्रश्रय देकर धर्मसंघ को विघटन की ओर ढकेलने की भूल की है, उस प्रकार की भूत में हुई भूलों की भविष्य में पुनः कभी पुनरावृत्ति न हो।

जिस अवधि का इतिहास आलेख्यमान चतुर्थ भाग में दिया जा रहा है, उस अवधि में भी दुष्षमा दोषवशात् धर्मसंघ के अग्रणियों, कर्णधारों, नायकों एवं उनके अनुयायियों अथवा उपासकों द्वारा विघटन, पतन की ओर धकेलने वाली ज्ञात अज्ञात अवस्था में भूलें हुई हैं, उनका दिग्दर्शन प्रस्तुत भाग में पूर्ण संयम के साथ, अति विनम्र शैली में किया जायेगा। उपरि लिखित अवधि में भूलें हुई हैं इस तथ्य को कोई भी विज्ञ अस्वीकार नहीं कर सकता। शास्त्रीय विशुद्ध परम्परा की तीर्थ प्रवर्त्तन काल से चली आ रही पूर्ण अध्यात्मपरक मान्यताओं के स्थान पर अनेक द्रव्य परम्पराओं द्वारा भौतिकता-प्रधान ऐसी मान्यताएं भी जैनधर्म संघ में प्रचालित एवं प्ररूढ़ की गई हैं, जो जिनाज्ञा से विपरीत और आगम-प्रतिपादित संस्कृति को मिटाने वाली हैं, इस तथ्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता। क्योंकि उन आगम विरुद्ध मान्यताओं एवं विघटनकारी भूलों की साक्षी देने वाली सैंकड़ों परस्पर विरोधी मान्यताओं, सैंकड़ों गच्छों, मतों, परम्पराओं, छोटी बड़ी सैंकड़ों इकाइयों के उल्लेखों से उक्त अवधि का जैन वांग्मय भरा पड़ा है। गच्छों द्वारा परस्पर एक दूसरे का कटुतर ही नहीं वलिक कटुतम शब्दों में खण्डन-मण्डन करने वाले एवं अपने प्रतिपक्षी को अशोभनीय अशिष्ट भाषा में अभिहित करने वाले विभिन्न गच्छों के मुद्रित एवं अमुद्रित ग्रन्थ आज भी बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध होते हैं। भगवान् महावीर के परम पवित्र एवं विश्व कल्याणकारी धर्म संघ को इस प्रकार की छिन्न-भिन्न, बिखरी हुई, परस्पर विरोधी, विघटित अवस्था में पहुंचाने वाले ये विभिन्न गच्छ, संघ एवं सम्प्रदाय ही हैं, जिन्होंने आगमों के स्थान पर देवर्द्धिगणि

क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण के पश्चात् अर्थात् पूर्व-ज्ञान के विलुप्त हो जाने के अनन्तर आचार्यों एवं विद्वानों द्वारा निर्मित ग्रन्थों, निर्युक्तियों, भाष्यों, चूर्णियों और वृत्तियों को आगमों के समकक्ष और अनेक प्रसंगों पर तो आगमों से भी अधिक प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयास किया है। एक सबसे बड़ी आश्चर्य की बात यह है कि विभिन्न गच्छों के उद्भव, विभिन्न मान्यताओं के प्रचलन और उन गच्छों एवं परम्पराओं में उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पारस्परिक विद्वेष के काल में विभिन्न गच्छों के विद्वानों द्वारा निर्मित खण्डन-मण्डनात्मक ग्रन्थों में अपने-अपने गच्छ को अपनी-अपनी परम्परा व अपनी-अपनी मान्यता को ही सर्वथा सत्य, सबसे श्रेष्ठ एवं अन्य सब गच्छों, परम्पराओं आदि की मान्यताओं को असत्य, मिथ्या, अतीर्थ, तीर्थ-बाह्य और निकृष्ट बताने का प्रयास किया है। अपने-अपने पक्ष को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने के प्रयास में प्रायः उन सभी विद्वानों ने आगमों के नहीं, अपितु आगमेतर ग्रन्थों के उद्धरण एवं प्रमाणादि प्रस्तुत किये हैं। उन गच्छों में से प्रत्येक गच्छ के प्रायः प्रत्येक विद्वान् ने केवल अपने पक्ष को ही सत्य और दूसरे पक्षों को मिथ्या एवं कदाग्रहपूर्ण सिद्ध करने में किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी है। इस प्रकार के तथ्यातथ्य का निर्णय करने में वीतराग, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी जिनेश्वर महावीर द्वारा उपदिष्ट एवं गणधरों द्वारा ग्रथित आगमों से इतर अन्य कोई सक्षम नहीं हो सकता, इस तथ्य की ओर उन विद्वानों ने कोई ध्यान नहीं दिया। विद्वानों द्वारा इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न कर दिये जाने का दुष्परिणाम यह हुआ कि आज श्रमण भगवान् महावीर का धर्मसंघ विभिन्न इकाइयों में विभक्त होकर विघटित छिन्न-भिन्न एवं अशक्तावस्था में पहुंच गया है।

उपरि वर्णित इन सब तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर हस्तामलकवत् स्पष्टतः यही प्रतिभासित होता है कि आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण के पश्चात् जितनी भी द्रव्य परम्पराओं का जन्म हुआ, उनकी नींव न केवल अनागमिक ही अपितु नितान्त आगम विरोधी मान्यताओं की आधारशिला पर रखी गई थी। चैत्यवासी, भट्टारक, श्री पूज्य आदि जितनी भी द्रव्य परम्पराएं अस्तित्व में आई, उन सबका उद्भव, प्रचार, प्रसार, उत्कर्ष यह सब कुछ सर्वज्ञ प्रणीत आगमों के आधार पर नहीं अपितु उन द्रव्यपरम्पराओं के सूत्रधारों द्वारा परिस्थितिवश लोकप्रवाह के आधार पर निर्मित प्रतिष्ठा-विधि, जिन-प्रतिमाधिकार जैसे ग्रन्थों एवं निर्युक्तियों, चूर्णियों, अवचूर्णियों, वृत्तियों अथवा भाष्यों आदि के अनागमिक उल्लेखों के आधार पर हुआ।

जैन साहित्य में विकारों का बीजारोपण देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के उत्तरवर्ती काल में इस प्रकार के ग्रन्थों की अनागमिक मान्यताओं के प्रबल प्रचार-प्रसार के परिणामस्वरूप एवं चतुर्विध संघ के बहुसंख्यक सदस्यों में उन मान्यताओं के रूढ़ हो जाने के फलस्वरूप ही हुआ। देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की विद्यमानता

अर्थात् वीर निर्वाण सम्वत् १००० तक केवल आगमों का ही जिनशासन में सर्वोपरि स्थान था किन्तु वीर निर्वाण की सहस्राब्दि के उत्तरवर्त्ती काल में आगमों के समान ही निर्युक्ति, चूर्णि, वृत्ति और भाष्य को भी परम प्रामाणिक माने जाने का क्रम चला। ज्यों-ज्यों यह क्रम बढ़ा, त्यों-त्यों मान्यता भेद, मताग्रह और विभिन्न इकाइयों के रूप में गच्छभेद भी वृद्धिगत होने लगा। अपने-अपने गच्छ की पृथक् पहिचान अथवा पृथक् अस्तित्व के औचित्य की जन-मानस पर छाप अंकित करने के अभिप्राय से उष्णोदक, प्रासुक (निर्दोष) शीतोदक, मलधारण, साधु द्वारा सचित्त जल, पुष्प आदि से जिनप्रतिमा का पूजन, प्रतिमा की केवल साधु द्वारा ही प्रतिष्ठा अथवा केवल श्रावक द्वारा ही प्रतिमा की प्रतिष्ठा किये जाने, प्रतिष्ठा पद्धति में मताग्रह, मत वैभिन्य, हठाग्रह आदि अनेक छोटे बड़े प्रश्नों को लेकर गच्छों में पारस्परिक कटुता, विद्वेष, विवाद एवं कलह का प्रसार प्रबल वेग से उग्र रूप धारण करने लगा। प्रायशः प्रत्येक गच्छ के अनुयायी अपने से भिन्न गच्छ वालों की—'जमाल्यन्वय' 'निन्हव' 'अतीर्थिक' 'तीर्थबाह्य' 'मिथ्या दृष्टि' आदि कटुतम सम्बोधनों से आलोचना—निन्दा करने लगे। एक दूसरे गच्छ को लोकदृष्टि से गिराने हेतु खण्डनात्मक ग्रन्थों की रचना की गई, परस्पर खण्डनात्मक इन ग्रन्थों को देखने से प्रत्येक विज्ञ सहज ही अनुमान लगा सकता है कि विभिन्न गच्छों के अनुयायियों ने जब लेखनी द्वारा परस्पर एक दूसरे के प्रति इस प्रकार विष वमन किया है तो मौखिक रूप से तो गरल वमन की पराकाष्ठा को पार करने में किसी भी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी होगी।

इस प्रकार समभाव, सह-अस्तित्व और विश्व बन्धुत्व के सिद्धान्तों का न केवल प्रबल पक्षपाती, अपितु जन्मदाता जैन संघ अभिनिवेशपूर्ण मताग्रह के परिणामस्वरूप ईर्ष्या, द्वेष, असहिष्णुता और कलह का केन्द्रस्थल बन गया। सम्भवतः इसी प्रकार की दुर्लक्ष्यपूर्ण दुःखद स्थिति से प्रपीड़ित एक मनीषी महापुरुष के अन्तर्ह्रद से ये शोकोद्‌गार सहज ही सहसा उद्‌गत हो उठे :—

..................आगारवर्तिषु यतिष्वपि हन्त खेद-
स्तेनाश्वभूदिहतमां गणगच्छभेदः ।।१८।।

तस्मात्स्वपक्ष-परिरक्षणवर्धनायाऽ
हंकारितापि जगतां हृदयेऽभ्युपायात् ।

अन्यत्र तेन विचिकित्सनमप्यकारि
सत्यादपेत परताशनकैरवारि ।।१९।।

तस्माद्दुराग्रहवतीर्पणशीलतापि,
अन्योन्यतः कलहकारितया सदापि
एवं मिथो हतितया बलहानितो नः
क्षेत्रे बभूव दुरितस्य हि सम्भवो हा ।।२०।।

धर्मः समस्तजनताहितकारि वस्तु
सद्बाह्याडम्बरमतीत्य सदन्तरस्तु ।
तस्मादनेकविधरूपमदायि लोकै-
र्नेमिमन्विनिमग्न इयत्य सतां मनोज्ञैः ॥२१॥

निर्ग्रन्थतां न गृहिणोऽपि निषेधयन्ति,
केचित्तदंश तु जनेऽपि विशेषयन्ति ।
तस्मै सदन्धुजनतापि केनताहः,
सान्योऽभिगन्तुमविचारयति त्वदर्शाहुः ॥२२॥

यः क्षत्रियैश्वरवरैः परिधारणीयः
सार्वत्वमावहति यश्च जिनानुगीयः ।
सैवागतोऽस्ति वणिजामहहाद्य हस्ते,
वैश्यत्वमेव हृदयेन वरन्त्यदन्तो ॥२६॥

येषां विभिन्नविपणित्वमनन्यकर्म,
स्वस्योपयोग परतोद्धरणाय मर्म ।
नो चेत्पुनस्तु निखिलात्मसु तुल्यमेव,
धर्मं जगाद न वचं जिनराजदेवः ॥[1]

अर्थात्—"अत्यन्त दुःख की बात है कि गृहस्थों और मुनियों में भी गणगच्छ के भेद ने स्थान प्राप्त किया और एक जैनधर्म अनेक गणगच्छ के भेदों में विभक्त हो गया ।

गणगच्छ भेद की उत्पत्ति के परिणामस्वरूप अपने-अपने पक्ष की मान्यताओं के परिरक्षण एवं परिवर्द्धन का अहंभाव अथवा व्यामोह प्रत्येक पक्ष में प्रकट हुआ । इस व्यामोह के वशीभूत प्रत्येक पक्ष अपनी मान्यताओं को सर्वश्रेष्ठ और अन्य सभी पक्षों की मान्यताओं को हीन मानकर पर पक्ष से ग्लानि-घृणा करने लगा । इस प्रकार लोग शनैः शनैः सत्य से दूर होते गये ।

गणगच्छभेद के फलस्वरूप जैनधर्मानुयायियों में दुराग्रहपूर्ण ईर्ष्या और पारस्परिक कलहकारिता का प्राबल्य बढ़ गया । इस अन्तर्कलह के परिणामस्वरूप जैनसंघ की शक्ति क्षीण हो गई और इस बलहानि के कारण हमारे यहां अनेक प्रकार की बुराइयां उत्पन्न हो गईं ।

जो जैन धर्म विश्व के प्राणिमात्र का परम हितकारी मित्र, सभी प्रकार के बाह्याडम्बरों से रहित विशुद्ध आध्यात्मिक वस्तु है, आत्मधर्म है, उस पतित पावन परम पुनीत जैनधर्म को भी लोगों ने अनेक प्रकार के आडम्बरपूर्ण बाह्यरूप प्रदान कर दिये, जिनके चक्र में पड़कर अथवा फंसकर सत्पुरुषों का मन भी विभिन्न प्रकार के संकल्प-विकल्पों में विलिप्त रहने लगा ।

---

१. वीरोदय काव्य—दि. मुनि श्री ज्ञान सागर जी म.

कितने ही लोग गृहस्थों के लिए भी प्रतिमापूजन का निषेध करते हैं तो कतिपय लोग मुनियों के लिए भी प्रतिमापूजन की आवश्यकता बतलाते हैं। कितने ही लोग वीतराग प्रभु की मूर्ति को भी वस्त्राभूषणादि पहनाना आवश्यक मानते हैं तो कितने ही लोग मूर्ति का अभिषेक आदि करना अनावश्यक बताकर मूर्तिपूजा का निषेध करते हैं।

जो जैनधर्म भरतादि उत्तम क्षत्रिय राजराजेश्वरों के द्वारा धारण करने योग्य था और जो अपनी विश्वकल्याणकारिणी निर्दोष प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप सार्वभौम विश्वधर्म था, वही जैनधर्म आज व्यापार करने वाले उन वैश्यों के हाथ में आ गया है, जो धर्म के विषय में भी अन्तर्मन से वणिक वृत्ति का अनुसरण कर रहे हैं, अर्थात् अपनी वस्तु को खरी और दूसरों की वस्तु को खोटी बताने की अपनी वणिक् वृत्ति को धर्म के सम्बन्ध में भी अक्षरशः चरितार्थ कर रहे हैं।

अपनी-अपनी अलग-थलग दूकान लगाना ही जिनका एक मात्र कार्य है और अन्यों की तुलना में अपना निराला श्रेष्ठत्व प्रकट कर अपनी उपयोगिता सिद्ध करना ही जिनका धर्म है, ऐसे वैश्यों के हाथों में आकर यदि यह विश्वधर्म आज अनेक गणगच्छ आदि के भेदों में विभक्त हो रहा है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। श्री जिनराज देव ने तो समस्त जीवों में समान भाव से जीवरक्षा को ही धर्म कहा है, जीवघात को नहीं।"

इस प्रकार की दुर्भाग्यपूर्ण दयनीय स्थिति के प्रादुर्भाव, प्रसार एवं प्राबल्य के पीछे सबसे बड़ा प्रमुख कारण यही रहा है कि अन्तिम पूर्वधर आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् श्रमणाचार में शिथिलाचार का सूत्रपात करने वाले जिन शिथिलाचारी श्रमणों एवं श्रमणियों ने न केवल स्वयं ही शिथिलाचार का आश्रय लिया अपितु दुष्षम आरक कथवा कलिकाल की दुहाई देकर समस्त श्रमण व श्रमणी वर्ग के लिए शिथिलाचार को समयोचित एवं निर्दोष बताकर खुल्लमखुल्ला क्रियाशैथिल्य को प्रश्रय दे, उसका प्रबल प्रचार-प्रसार किया। उन श्रमण-श्रमणियों को भी केवल उनके वेष का लिहाज कर, उनके मात्र वेष को महत्त्व देकर प्रारम्भ में स्वल्प संख्यक और आगे चलकर बहुसंख्यक जैन संघ ने अपना पूज्य माना, साधु के गुणों का नितान्त अभाव होने पर भी उन्हें साधु के समान समादर दिया। देवर्द्धि से उत्तरकालीन जैन वांग्मय के अध्ययन से ऐसा आभास होता है कि जैन संघ का बहुत बड़ा भाग शिथिलाचार के प्रवर्तकों द्वारा मानो मंत्रमुग्ध कि वा ग्रहग्रस्त की भांति व्यामोहित कर दिया गया था। दूरगामी भयावह दुष्परिणामों की ओर लवलेश मात्र भी ध्यान न देकर तत्कालीन बहुसंख्यक जैनसंघ ने उन शिथिलाचारग्रस्त चैत्यवासियों के प्रत्येक आदेश को शिरोधार्य कर उनके द्वारा आविष्कृत एवं प्रचारित अगणित अनआगमिक मान्यताओं को मान्य कर लिया। उन आगमविरुद्ध मान्यताओं को समुचित एवं

सीमंधरस्वामी भाष्य से ही परम्परागत सिद्ध करने के लक्ष्य से उन चैत्यवासियों के धर्मसंघ में विकृतियों के जनक शिथिलाचारपरायण विद्वान् श्रमणों द्वारा रचित ग्रन्थों को भी उनके आदेश से सम्पूर्ण जैनसंघ ने आगम तुल्य ही मान्य कर लिया। इस सबका ऐसा दुर्भाग्यपूर्ण भयावह दुष्परिणाम हुआ कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की विद्यमानता तक अपने मूल आध्यात्मिक स्वरूप में चला आ रहा भगवान् महावीर का परम पुनीत, पतितपावन धर्मसंघ अगणित विकृतियों का, आगम विरुद्ध मान्यताओं का, एवं बाह्याडम्बरपूर्ण शिथिलाचारपरायण द्रव्य परम्पराओं का सुदृढ़ गढ़ बन गया। एक मात्र आगम को ही सर्वोपरि परम प्रामाणिक मानने के स्थान पर पूर्वधर काल से उत्तरवर्ती काल के आचार्यों द्वारा निर्मित निर्युक्तियों, चूर्णियों, भाष्यों, टीकाओं के साथ-साथ आगमसम्मत सिद्धान्त से नितान्त प्रतिकूल द्रव्य परम्पराओं, आडम्बरपूर्ण विधि-विधानों के परिपोषक प्रतिष्ठा पद्धति जैसे ग्रन्थों को येन-केन प्रकारेण स्पष्टतः आगमों से भी अधिक प्रामाणिक मान लेने के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए मान्यता-भेद, गच्छ-भेद, पारस्परिक कलह आदि कारणों से भगवान् महावीर का सुदृढ़ शक्तिशाली धर्मसंघ अगणित इकाइयों में विभक्त हो छिन्न-भिन्न हो गया।

इस प्रकार की दयनीय स्थिति के दलदल से संघरथ का उद्धार करने के पुनीत लक्ष्य से समय-समय पर अनेक अध्यात्मनिष्ठ महापुरुषों ने क्रियोद्धार कर अनेक बार धर्म-क्रान्ति का शंखनाद पूरा। किन्तु भगवान् महावीर का चतुर्विध धर्म-संघ सर्वसम्मति से इस निर्णय पर नहीं पहुँच सका कि चतुर्विध धर्मसंघ के प्रत्येक सदस्य के लिये एक मात्र आगम ही सर्वोपरि, सर्वमान्य एवं परम प्रामाणिक हैं, न कि निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, टीका एवं पूर्वधर काल से उत्तरवर्ती समय के आचार्यो, विद्वानों द्वारा निर्मित ग्रन्थ। इसका यह अर्थ कदापि न लगाया जाय कि पूर्वधरों से उत्तरवर्ती काल के आचार्यों द्वारा निर्मित ग्रन्थों को सर्वथा अमान्य समझा जाय। उन ग्रन्थों में आगमों की मान्यताओं के अनुसार, जैन धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों के अनुरूप जिन तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है, वे तो वस्तुतः आगम के ही अंग अथवा अंश हैं। वे तो आगमवत् जैन मात्र के लिए प्रामाणिक एवं मान्य हैं ही, किन्तु उन ग्रन्थों में जहां कहीं भी आगमों से भिन्न अथवा आगमों से नितान्त विपरीत मान्यताओं का यदि कहीं प्रतिपादन अथवा विश्लेपण किया गया है तो उनका आगम प्रतिपादित तथ्यों के साथ तुलनात्मक—विवेचनात्मक दृष्टि से विश्लेषण कर यदि उनमें किंचित् मात्र भी आगमों से विपरीत अथवा आगमिक भावना से भिन्न मान्यता का प्रतिपादन किया गया है तो विना किसी अभिनिवेश के, विना किसी प्रकार के साम्प्रदायिक व्यामोह के उन ग्रन्थों में प्रतिपादित आगम विरुद्ध तथ्यों को एकान्ततः अमान्य एवं अप्रामाणिक घोपित कर दिया जाना चाहिये। जिन विधि-विधानों, मान्यताओं का आगमों में इंगित मात्र भी नहीं है, वे सब विधि-विधान, वे सभी मान्यताएं भविष्य में चतुर्विध

संघ के लिए, चतुर्विध संघ के प्रत्येक सदस्य के लिए सर्वथा अमान्य होंगी, चाहे उनका प्रतिपादन करने वाला आचार्य कितना ही बड़ा प्रभावक आचार्य क्यों न हो।

भगवान् महावीर के धर्मसंघ को एकता के सुदृढ़ सूत्र में सुचारु रूपेण आबद्ध रखने वाला वस्तुत: यही एकमात्र अमोघ सूत्र है कि संघ में एकमात्र आगमिक मान्यताएं ही सर्वमान्य और शेष सभी अनागमिक मान्यताएं एकान्तत: अमान्य घोषित कर दी जायं। इससे बढ़कर अन्य कोई सूत्र संसार में नहीं हो सकता, जो चतुर्विध संघ को एकता के सूत्र में आबद्ध रखने में सदा के लिये सक्षम हो, स्थायी रूप से सक्षम हो। अनेक बार किये गये क्रियोद्धारों के उपरान्त भी इस प्रकार के निर्विरोध ठोस निर्णय के अभाव में जिनेश्वर प्रभु के धर्मसंघ की स्थिति विगत् १५०० वर्षों से अद्यावधि उत्तरोत्तर क्षीण से क्षीणतर एवं सोचनीय ही होती चली आ रही है।

छोटी से छोटी मान्यता से लेकर बड़ी से बड़ी मान्यता के सम्बन्ध में उठने वाले विवाद अथवा किसी प्रकार के समस्यात्मक प्रश्न के समाधान में एकमात्र आगम को ही अन्तिम रूप से निर्णायक मानने के स्थान पर चौदहों पूर्वों के विच्छेद से उत्तरवर्ती काल के आचार्यों द्वारा निर्मित भाष्यों, प्रतिष्ठा-विधियों, चैत्य-परिपाटियों आदि आदि ग्रन्थों को धर्मसंघ के एक बड़े वर्ग द्वारा न केवल आगमों के तुल्य ही अपितु चैत्यवासियों द्वारा आविष्कृत एवं कालान्तर में संघ के बहुत बड़े भाग में रूढ़ हुई अनेक प्रकार की अनागमिक मान्यताओं के समर्थन में तो आगमों से भी अधिक प्रामाणिक मान लेने के परिणामस्वरूप भगवान् महावीर के महान् धर्मसंघ के संगठन, श्रमणाचार, श्रावकाचार एवं विश्वकल्याणकारी जैनधर्म के मूलभूत विशुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप में जो दुर्लक्ष्यपूर्ण स्थिति हुई है, वह किसी तटस्थ विचारक से छिपी नहीं है।

सबसे महत्त्वपूर्ण आवश्यकता आज इस बात की है कि सभी प्रकार के पूर्वाभिनिवेशों को हृदय से निकालकर संघ को साम्प्रतकालीन दयनीय स्थिति में पहुँचाने वाली भूतकालीन भूलों पर विचार कर उनका बीज तक संघ में अवशिष्ट न रहने दिया जाय। तटस्थ दृष्टि से विचार करने पर साधारण से साधारण व्यक्ति को भी स्पष्टत: विदित हो जायगा कि इन विगत की भूलों को जन्म देने वाली सबसे बड़ी भूल यह हुई कि एकादशांगी में प्रतिपादित जैनधर्म की मूल मान्यताओं और आगमिक सिद्धान्तों की अवहेलना कर आगमेतर ग्रन्थों को आगमों के समकक्ष मानने की प्रवृत्ति श्रमण भगवान् महावीर के धर्मसंघ में आज से लगभग १॥ हजार वर्ष पूर्व प्रचलित हो गई। इस मूल की भूल ने छोटी-बड़ी भूलों की एक बहुत बड़ी परम्परा को जन्म दिया। उन भूलों के कारण ही संघभेद, गच्छभेद, मान्यता भेद, पारस्परिक विद्वेष, स्वयं के गच्छ, स्वयं की मान्यता, स्वयं के गुरु,

नमन की आकांक्षा, स्वयं की सम्प्रदाय और स्वयं के संघ को छोड़कर शेष सबको हीन, उपहास्य, मिथ्यात्वी आदि सिद्ध करने की प्रवृत्ति ने बल पकड़ा और शताब्दियों से एक के मूल में आबद्ध संघ में गच्छों आदि की उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाने वाली संख्या की निर्बाध प्रक्रिया का प्रादुर्भाव हो गया।

इस विनाशकारिणी मूलभूल सबसे बड़ी भूल और उसकी सन्तति छोटी-बड़ी भूलों के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए सम्प्रदायभेदों, गच्छों और गच्छों में घर किये हुए विग्रह, कलह आदि का यथातथ्य रूप से इस दर्पण तुल्य इतिहास में चित्रण, वास्तविक चित्रण देने का यही उद्देश्य है कि हमारी भावी पीढ़ी इन शताब्दियों पूर्वकालीन भूलों के साथ इन सब भूलों की जननी एक मात्र आगम को ही प्रामाणिक नहीं मानने की सबसे बड़ी भूल को सुधारने का प्रयास करे। अगर यह सुधार की भावना प्रत्येक जैन धर्मावलम्बी के अन्तर्मन में तरंगित हो उठे और एकमात्र आगमों तथा आगमानुकूल ग्रन्थों को ही प्रामाणिक मानकर श्रमण भगवान् महावीर के धर्मसंघ को पुनः उनके पुरातन प्रतिष्ठित पद पर अधिष्ठित करने की ओर एकता के समवेत घोष के साथ सामूहिक रूप से जैन जगत् के चरण चल पड़ें तो हम अपने प्रयास को शत-प्रतिशत सफल व सार्थक समझेंगे।

हमें आशा ही नहीं अपितु दृढ़ विश्वास है कि विगत सुदीर्घ अतीत में उत्कर्ष अथवा अपकर्ष की ओर बढ़े जैन संघ के चरण-चिह्नों को इस इतिहास-दर्पण में प्रत्यक्षवत् देखकर जैन-दर्शन के महान् आधारस्तम्भ भूत "मित्ती मे सव्व भूएसु" के सिद्धान्त में आस्था रखने वाला प्रत्येक जैन धर्मावलम्बी अपने ही आत्मीय स्वधर्मी बन्धुओं के साथ की गई "अमित्ती निय बन्धुसु" जैसी भयंकर भूल को सुधारने के लिये दृढ़ संकल्प के साथ कटिबद्ध हो विश्व बन्धु श्रमण भगवान् महावीर के विश्व-कल्याणकारी परम पुनीत धर्मसंघ को सर्वाधिक शक्ति सम्पन्न बनाकर विश्व-शान्ति की स्थापना में सहभागी होगा।

धार्मिक क्रान्तियां और भारत पर मुस्लिम राज्य :

भारत पर मुसलमान आततायियों के जिहाद (इस्लाम के प्रसारार्थ युद्ध)-परक आक्रमणों से व्याप्त विभीषिका, जनसंहार, लूटमार एवं बलात् सामूहिक धर्म-परिवर्तन आदि का सभी भारतीय धर्मों की भांति जैन धर्म और जैनधर्मावलम्बियों पर भी बड़ा घातक प्रभाव पड़ा। इस प्रकार के आक्रमणों के परिणामस्वरूप शताब्दियों तक न केवल भारतीय धर्मों की प्रगति ही अवरुद्ध रही अपितु उनमें से अनेक धर्मों के अस्तित्व तक पर अनेक बार घोर संकट आये। अति पुरातन काल से भारत के अभिन्न अंग के रूप में रहे सिंध प्रदेश पर अरबों के आक्रमण एवं मुस्लिम राज्य की संस्थापना के अनन्तर तो वहां जैनधर्म का नाम लेने वाला तक

कोई अवशिष्ट नहीं रहा। सर्वज्ञप्रणीत एवं गणधरों द्वारा ग्रथित जैनागमों के उल्लेखानुसार श्रमण भगवान् महावीर की विद्यमानता में सिन्ध प्रदेश जैन धर्म का एक सुदृढ़ गढ़ था। सिन्धु-सौवीर के नाम से तीर्थप्रवर्तनकाल में विख्यात विशाल एवं शक्तिशाली सिन्ध महाराज्य का राजा उदायन भ० महावीर का अनन्य श्रद्धानिष्ठ भक्त था। श्रमण भ० महावीर अपने विशाल शिष्य-परिवार के साथ सिन्धु-सौवीर की राजधानी वीतभया नगरी में स्वयं पधारे थे। महाराजा उदायन ने भ० महावीर के अमोघ उपदेशों से प्रभावित हो सिन्धु-सौवीर का राजसिंहासन छोड़ अपने आराध्य प्रभु महावीर के पास श्रमण-धर्म की दीक्षा अंगीकार की थी। घोर तपश्चरण एवं दुस्सह्य दारुण उपसर्ग सहन कर श्रमणोत्तम उदायन ने वीतभया नगरी में ही केवलज्ञान-केवलदर्शन की अवाप्ति के साथ ही जन्म-जरा-मृत्यु के भवपाश को काट कर "यद्गत्वा न निवर्तन्ते"—अर्थात् जहां जाने के पश्चात् पुनः कभी लौटना नहीं पड़ता, उस मोक्षधाम को प्राप्त किया था।

इस प्रकार सहस्राब्दियों तक जैनधर्म के सुदृढ़ एवं प्रख्यात गढ़ के रूप में रहे सिन्ध प्रदेश में, अरबों के आक्रमण एवं शासन के पश्चात् जैनधर्म का अस्तित्व तिरोहित हो गया। इस कारण इस्लाम के अभ्युदय, तलवार के बल पर इस्लाम के प्रसारार्थ विभिन्न काल में भारत पर मुसलमानों द्वारा किये गये आक्रमणों और भारतीयों द्वारा किये गये मुस्लिम आततायियों के प्रतिरोध का अति संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

विश्व-इतिहास के सिंहावलोकन एवं पर्यवेक्षण से यही प्रतिफलित होता है कि अज्ञात सुदीर्घ अतीत में ही न केवल भारत अपितु विश्व के अनेक भागों में धर्म के नाम पर मतमतान्तरजन्य मतभेद, सामाजिक भेदभाव, जातिभेद, ऊँच-नीच, विशिष्ट-अविशिष्ट, वर्गभेद आदि के रूप में विश्वजनीन मानव समाज में वर्ग-संघर्ष एवं धार्मिक विद्वेष के बीज अंकुरित हो चुके थे। ईसा की छठी शताब्दी का अवसान होते-होते इस प्रकार के विभेद ने उग्र होते-होते वर्ग-विद्वेष, जाति-विद्वेष धार्मिक असहिष्णुता एवं पारस्परिक कलह का रूप धारण कर लिया। वर्ण-विद्वेष, जाति-पांति, ऊँच-नीच के अहं, वाह्याडम्बरपूर्ण भौतिक कर्मकाण्ड, छोटी-बड़ी जातियों, छोटे-बड़े प्रायः सभी राज्यों में सत्ता हथियाने की लिप्सा से उत्पन्न देश-व्यापी युद्धोन्माद आदि के परिणामस्वरूप भारत का बहुत बड़ा भाग गृह कलह की रंगस्थली-सा बन गया। बहुसंख्यक निम्न वर्ण के लोगों को सवर्णों द्वारा न केवल उनके धार्मिक एवं सामाजिक अधिकारों से वंचित किया जाने लगा अपितु उनके साथ आये दिन सवर्णों का अमानवीय व्यवहार उत्तरोत्तर अभिवृद्ध होने लगा। ईश्वर, देवी-देव, तीर्थस्थल, धर्मस्थान, वेद-वेदांग आदि आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन, धार्मिक कार्यकलाप-कर्मकाण्ड आदि को सवर्णों द्वारा अपनी ही बपौती बना लिया गया। निम्न-वर्ण अथवा वर्ग के लोगों को इन सब कार्य-कलापों से नितान्त दूर रखा जाने लगा। वस्तुतः मानव समाज के ही साधिकारिक एवं सम्पन्न कहे जाने

वाले वर्ग द्वारा निम्न कहे जाने वाले विपन्न अथवा अभाव-अभियोगग्रस्त मानव समाज के अमानवीय उत्पीड़न ने असन्तोष, संघर्ष एवं अन्तःकलह को जन्म दे आर्यधरा के जनजीवन को विक्षुब्ध कर अशान्त बना दिया। गांव-गांव, नगर-नगर और प्रायः सभी राज्यों तथा प्रान्तों में गृहकलह तुल्य दयनीय स्थिति उत्पन्न हो गई। कुल संघशक्ति द्रुत गति से क्षीण होने लगी। भारत एवं भारतवासियों को इस प्रकार की दयनीय दुर्दशा से, वर्ण-वर्गसंघर्ष, गृहकलह एवं अमानवीय उत्पीड़न से मुक्ति दिलाने का बीड़ा तिरु ज्ञानसम्बन्धर और तिरु अप्पर नामक दो शैव सन्तों ने उठाया।

तिरु ज्ञानसम्बन्धर और तिरु अप्पर ने लगभग ई० सन् ६१० से ६३० के बीच की अवधि में भारत के दक्षिणापथस्थ तामिलनाडु प्रदेश के जन-जन के समक्ष एकेश्वरवाद का सन्देश प्रस्तुत करते हुए कहा :—

"ईश्वर एक है, वह प्राणिमात्र के लिये शिव अर्थात् कल्याणकारी है। वही परमेश्वर शिव मानवमात्र का एक मात्र आराध्य देव और पिता है। हम सभी मानव उसी परमेश्वर शिव के पुत्र हैं। विश्वैकबन्धु विश्वेश्वर शिव की सन्तति होने के कारण सभी मानव समान हैं। मानव मानव में ऊँच-नीच, छोटे-बड़े का कोई भेद, कोई अन्तर न होने के कारण सभी को सभी प्रकार के मानवीय अधिकार समान रूप से प्राप्त होने चाहिये।"

तिरु अप्पर और ज्ञानसम्बन्धर इन दोनों "समकालीन शैव सन्तों ने वर्ण-विहीन, जातिविहीन एक ऐसे एकेश्वरवादी समाज के निर्माण के लिये जन-जन का आह्वान किया, जिसमें प्रत्येक मानव को एक ही पिता के पुत्रों की भांति सामाजिक, धार्मिक, नागरिक, शैक्षणिक आदि सभी प्रकार के मानवीय अधिकार एक रूपता लिये हुए समान रूप से प्राप्त हों। मानव-मानव के बीच इन मानवीय अधिकारों की दृष्टि से किसी भी प्रकार के अन्तर, भेदभाव अथवा न्यूनाधिक्य के लिये कहीं कोई किसी भी प्रकार का नाम मात्र का भी अवकाश उस एकेश्वरवाद के उपासक मानव समाज में न रहे।

शैव सन्तों का यह विभेदविहीन एकेश्वरवादी शैव अभियान अपने उद्भव के साथ ही सम्पूर्ण तामिलनाडु प्रदेश में लोकप्रिय हो गया। सवर्णों द्वारा जिन लोगों को निम्न वर्ण, निम्न वर्ग अथवा निम्न जाति की संज्ञा से अभिहित किया जाने लगा था, उनकी संख्या सवर्णों की अपेक्षा पर्याप्तरूपेण अधिक थी। उन्होंने ऊँच-नीच के भेदभाव को समाप्त कर उन सब को समान अधिकार, समान व्यवहार, समान समादर प्रदान करवाने वाले उस वर्गभेदविहीन मानव समाज की संरचना करने वाले एकेश्वरवादी शैव अभियान को अपने लिये ईश्वरीय वरदान समझ कर उस अभियान को अपना शत-प्रतिशत समर्थन प्रदान करने के

साथ-साथ इसके प्रचार-प्रसार में सामूहिक रूपेण अपनी पूरी शक्ति लगा कर पूर्ण मन, वचन, काय योग से प्रबल सहयोग प्रदान किया ।

प्रबल जनमत के सक्रिय सबल सहयोग के परिणामस्वरूप शैव सन्त तिरु ज्ञान सम्बन्धर और जैन सन्त से शैव सन्त बने तिरु अप्पर को अपने एकेश्वरवादी विभेदविहीन शैव धर्म के प्रचार-प्रसार में, स्वल्पतर समय में ही आशातीत सफलता प्राप्त हुई और उनके इस शैव अभियान ने राज्याश्रय प्राप्त होते ही धार्मिक क्रान्ति का रूप धारण कर लिया । तिरू ज्ञानसम्बन्धर के चमत्कारों से प्रभावित हो जैन धर्म के अनुयायी एवं प्रबल पोषक मदुरापति पाण्ड्यराज सुन्दर पाण्ड्य अपर नाम कुन् पाण्ड्य—मारवर्मन अथवा कुब्ज पाण्ड्य ने जैन धर्म का परित्याग कर शैव धर्म अंगीकार कर लिया । ठीक इसी समय में तिरू अप्पर नामक एक शैव महासन्त (जो ईसा की पांचवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों में धर्मसेन नामक अपने समय का एक महान् प्रभावक जैनाचार्य था और बड़े-बड़े शैव सन्तों के अथक प्रयासों से जिसने जैन धर्म का परित्याग कर शैव धर्म अंगीकार कर लिया था[1]) की वृहस्पति तुल्य वागीशता एवं प्रेरणाप्रदायी उपदेशों से प्रभावित हो कांचिपति पल्लवराज महेन्द्रवर्मन प्रथम (ई० सन् ६००–६३०) ने भी जैन धर्म का परित्याग कर शैव धर्म अंगीकार कर लिया ।

अपने समय के दो महाशक्तिशाली राजाओं (जो उस समय तामिलनाडु प्रदेश में जैनधर्म के सशक्त समर्थक एवं जैनसंघ के सबल स्तम्भ माने जाते थे) द्वारा जैनधर्म के परित्याग के साथ-साथ शैवधर्म स्वीकार कर लिये जाने से शैवों के उत्साह ने अपनी पराकाष्ठा को पार कर धर्मोन्माद का रूप धारण कर लिया । मदुरा (दक्षिण मथुरा) में पाण्ड्यराज कुन्पाण्ड्य और कान्ची में पल्लवराज महेन्द्र वर्मन के पृष्ठबल से प्रोत्साहित शैवों द्वारा ई० सन् ६१० से ६३० के बीच की अवधि के किसी एक ही समय में मदुरा तथा कान्ची दोनों नगरों में अनेक सहस्र जैन श्रमणों और बहुत बड़ी संख्या में जैन धर्मावलम्बियों का, सामूहिक संहार के साथ-साथ बल पूर्वक सामूहिक धर्म परिवर्तन किया गया । जिन कट्टर जैनों अथवा सवर्णों वा एकेश्वरवादी शैव धर्म से भिन्न किसी भी अन्य धर्म के अनुयायियों ने वर्ण-वर्ग आदि के भेदविहीन शैव धर्म के सिद्धान्तों को स्वीकार करने की अनिच्छा व्यक्त की, उन्हें तत्काल सामूहिक रूप से मौत के घाट उतार दिया गया और मृत्यु के भय से भयभीत लोगों को सम्पूर्ण तामिलनाडु प्रदेश में बलात् धर्म-परिवर्तन के लिये बाध्य किया जाने लगा । राज्याश्रय प्राप्त हो जाने और प्रथम प्रयास में ही इस प्रकार की अप्रत्याशित सफलताओं के प्राप्त हो जाने के परिणाम-स्वरूप शैवों का धर्मोन्माद इस सीमा तक बढ़ गया कि उन्होंने तामिलनाडु प्रदेश के गांव-गांव और नगर-नगर में उस समय प्रचुर मात्रा में विद्यमान जैनों के मन्दिरों,

---

१. विस्तार के लिये देखिये "जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग ३, पृष्ठ ४८६–४९३ ।

मठों, बसदियों एवं धार्मिक केन्द्रों को धूलिसात् करने के साथ-साथ जैनों तथा अन्य धर्मावलम्बियों पर मारना आदि के अत्याचार करने प्रारम्भ कर दिये। 'तामिलनाडु प्रदेश का प्रत्येक नागरिक एकेश्वर शिव में प्रगाढ़ आस्था रखने वाला केवल शैव धर्म का ही अनुयायी हो, सम्पूर्ण तामिलनाडु प्रदेश में एकेश्वरवादी शैवधर्म के अतिरिक्त अन्य किसी भी धर्म का अस्तित्व तक अवशिष्ट न रहे, इस प्रकार के दृढ़ संकल्प के साथ शैवों ने अपने धार्मिक अभियान को और अधिक तीव्र गति प्रदान की। मानवता को असमानतीय उत्पीड़नों से मुक्ति दिलाने के पवित्र लक्ष्य से विभेदविहीन अभिनव समाज की संरचना का जो अभियान प्रारम्भ किया गया था, वह अभियान एकेश्वर में आस्था रखने वाले एवं सिद्धान्त रूप में वर्ग-वर्ण-विहीन समाज में युगादि से ही दृढ़ विश्वास रखने वाले जैनों के लिये सम्पूर्ण तामिलनाडु प्रदेश में विनाश की विभीषिकापूर्ण ताण्डव लीला प्रस्तुत करने वाला वीभत्स कराल काल सदृश सिद्ध हुआ।

शैवों द्वारा जैनों पर किये गये इन रोमांचक अत्याचारों की साक्षी देने वाले पेरियपुराण के उल्लेख एवं उत्तरी आर्काट जिले के तिरुवत्तूर और मदुरा के मीनाक्षी मन्दिर की भित्तियों पर चित्रित भित्तिचित्र पाठकों तथा दर्शकों के मन एवं मस्तिष्क को आज भी हठात् झकझोर डालते हैं।[1]

यहां यह विचारणीय है कि शैव अभियान के प्रमुख लक्ष्य-जाति, वर्ण, वग आदि विभेदविहीन समाज की संरचना का जहां तक प्रश्न था, शैवों को जैनों एवं बौद्धों के साथ संघर्ष में उतरने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। जहां तक सिद्धान्तों का प्रश्न है शैवों को जैनों एवं बौद्धों के साथ संघर्ष में उतरने के लिये कहीं कोई अवकाश ही नहीं था। क्योंकि जैन धर्म और बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों में मूलतः उनके प्रारम्भिक काल से ही बिना किसी प्रकार के जाति-पांति अथवा ऊंच-नीच के भेदभाव के, मानवमात्र को समान धार्मिक अधिकार प्रदत्त हैं। इस प्रकार की स्थिति के रहते हुए भी शैवों द्वारा जैन धर्मानुयायियों एवं बौद्धों के विरुद्ध विप्लवकारी संघर्ष छेड़े जाने और श्रमणों तथा बौद्ध भिक्षुओं के प्रति जनमानस को घृणा से ओतप्रोत करने के निम्नलिखित तीन ऐसे प्रबल कारण थे; जिनके परिणामस्वरूप उन्हें अपने अभिनव अभियान के हित को दृष्टिगत रखते हुए इन दोनों धर्मों एवं धर्मावलम्बियों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ना न केवल परमावश्यक ही अपितु अनिवार्य सा प्रतीत हुआ :—

१. ईसा की छठी शताब्दी के अन्त अथवा सातवीं शताब्दी के प्रथम-द्वितीय दशक तक जैनों एवं बौद्धों के धर्मसंघ दक्षिण भारत के सर्वाधिक शक्तिशाली धर्मसंघ गिने-माने जाते थे। उस समय तक मुख्यतः जैन धर्म दक्षिणापथ का राजमान्य एवं बहुजनसम्मत धर्म माना जाता था।

---

१. जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग ३ पृष्ठ ४७८–४८१।

२. 'पेरियपुराण', 'श्रमणसंहारचरितम्' आदि शैव ग्रन्थों के उल्लेखानुसार दक्षिणापथ के राजा, मन्त्री, बड़े-बड़े राज्याधिकारी, व्यापारी, गण्य-मान्य जनाग्रणी तथा अधिकांश प्रजाजन जैन धर्म के अनुयायी थे। कारकल की पहाड़ी पर अवस्थित वाहुवली की मूर्ति पर उट्टंकित शिलालेख पर अपने शोधपूर्ण लेख में लब्धप्रतिष्ठ पुरातत्त्ववेत्ता विद्वान् ए. सी. बरनेल (एम. सी. एस. एस. आर. ए. एस.) ने दक्षिणापथ में जैनों की विपुल संख्या के विषय में प्रकाश डालते हुए लिखा है :—

"There is every reason to believe that the Jains were for long the *most numerous and most influential sect in the Madras Presidency,*"[1]

अर्थात्—"इस वात का विश्वास करने के सभी प्रकार के पुष्ट कारण हैं कि सम्पूर्ण मद्रास प्रदेश में पुरातन काल से ही जैन धर्मावलम्बियों का समग्र मद्रास आहाते (प्रदेश) पर अत्यधिक प्रभावपूर्ण वर्चस्व था।"

तामिलनाडु प्रदेश (मद्रास प्रेसिडेन्सी) में जैन धर्म तथा जैनधर्मावलम्बियों का अस्तित्व तक मिटा देने के संकल्प के साथ शैवों द्वारा प्रारम्भ किये गये रक्तपातपूर्ण वीभत्स अभियान के सम्पन्न हो जाने के लगभग ८०० वर्ष पश्चात् लिंगायतों द्वारा आन्ध्र एवं कर्नाटक प्रदेशों में जैनों का चिह्न तक मिटा डालने के लक्ष्य से प्रारम्भ किया गया अभियान वस्तुतः ईसा की सातवीं शती के प्रथम चरण में तामिलनाड के शैवों द्वारा किये गये शैव अभियान की अपेक्षा अत्यधिक व्यापक तथा भयानक खूनी अभियान था। लिंगायतों के उस अभियान से पूर्व दक्षिण में जैनधर्मावलम्बियों की संख्या के सम्वन्ध में प्रकाश डालते हुए अपने समय के मूर्धन्य इतिहासविद् श्री ए. एस. अल्तेकर (एम. ए. एल-एल. वी., डी लिट्) ने लिंगायती साहित्य के आधार पर अपना अभिमत निम्नलिखित रूप में अभिव्यक्त किया है :—

"....किन्तु दक्षिण भारत में जैन धर्म को राजाओं का व्यापक प्रभावकारी संरक्षण प्राप्त होता रहा। जैन धर्म के दक्षिणापथ के इतिहास में वह समय जैनधर्म के पल्लवन का वस्तुतः बड़ा ही उज्ज्वल समय था। उस समय जैनधर्म का दक्षिण में कोई प्रवल प्रतिपक्षी नहीं था। अतः उस कालावधि में राजा और प्रजा दोनों के ही सहयोग सहाय्य से जैनधर्म मध्याह्न के सूर्य के समान चमकता रहा। उस समय दक्षिण भारत में जैनों की संख्या वहां की सम्पूर्ण जन-संख्या का लगभग एक तिहाई भाग थी।"[२]

---

1. The Indian Antiquery, Vol. II, page 353-54
२. History and Culture of the Indian People, [illegible] IV. The age of Imperial Kannauj page [illegible] lished b[illegible] Vidya Bhawan, Bombay.

इससे यही प्रतिध्वनित होता है कि तामिलनाड़ प्रदेश में एक लम्बे समय तक चले सामूहिक संहार, बलात् धर्मपरिवर्तन आदि के रूप में संकटपूर्ण दौर के उपरान्त भी दक्षिण में जैनों की संख्या वहां की आबादी का एक तिहाई भाग थी।

३. जैन एवं वौद्ध दोनों ही धर्मों में वर्ण, जाति अथवा ऊँच-नीच जैसा कोई भेदभाव सिद्धान्ततः नहीं था। मानव मात्र के लिए साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूपी चतुर्विध-तीर्थ अथवा संघ के द्वार अनादि काल से ही खुले रखे गये थे। परम पवित्र जैन आगमों में इस प्रकार के अनेक उल्लेख अद्यावधि उपलब्ध हैं कि सुदीर्घ अतीत से लेकर श्रमण भगवान् महावीर की विद्यमानता तक चाण्डाल आदि जातियों के लोगों ने श्रमणधर्म अंगीकार कर नर, नरेन्द्र, देव, देवेन्द्रों द्वारा वन्दनीय एवं पूजनीय सर्वोच्च सम्मानास्पद पद प्राप्त किया। मथुरा के अत्यन्त महत्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थल "कंकाली टीले" की खुदाई से प्राप्त हुए प्राचीन पुरातात्विक अवशेषों से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि गणिकाएं तक जैन धर्म की उपासिकाएँ थीं और इन्होंने कुषाण वंशीय विदेशी राजाओं के शासनकाल में मथुरा के अति प्राचीन वोद्धस्तूप में तीर्थंकरों की मूर्तियां तक स्थापित कीं। दक्षिणापथ के कर्णाटक आदि प्रान्तों में उपलब्ध अनेक शिलालेखों से भी स्पष्टतः यही तथ्य प्रकाश में आता है कि वहां प्राचीनकाल में न केवल राजा, महाराजा, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सवर्णों को ही अपितु आज के युग में निम्न माने जाने वाले प्रायः सभी वर्गों के प्रजाजनों को भी जैनधर्म की आराधना अथवा उपासना का आज के युग में सवर्ण कहे जाने वाले वर्गों के समान ही बिना किसी भेदभाव के पूर्ण अधिकार था।

जैनधर्म की भांति वौद्ध धर्म में भी जाति-पांति, वर्ण आदि के भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं था। वौद्ध धर्म के प्रवर्तक भ० बुद्ध ने अपने भिक्षुओं एवं उपासकों को सम्बोधित करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा था :—

"हे भिक्षुओ और उपासकों! जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नदियां विभिन्न स्थानों से बहती हुई समुद्र में जा मिलती हैं। जब तक समुद्र में नहीं समा जातीं तभी तक उनका गंगा, यमुना आदि नाम से पृथक् रूप में अस्तित्व रहता है। समुद्र में मिल जाने के पश्चात् उनका कोई पृथक् अस्तित्व अवशिष्ट नहीं रह जाता। ठीक उसी प्रकार तुम लोग भी भिन्न-भिन्न स्थानों, भिन्न-भिन्न कुलों, वंशों, जातियों आदि से आकर वौद्ध संघ में सम्मिलित हुए हो। समुद्र में समाई हुई नदियों के समान अब तुम्हारा जाति, वर्ण, वंश, प्रान्त आदि के रूप में कोई पृथक् अस्तित्व नहीं, तुम्हारी अब कोई पृथक् पहिचान नहीं, अब तुम सब बुद्धपुत्र हो।"

इस प्रकार जैन और वौद्ध दोनों ही धर्मों में जाति-पांति, ऊँच-नीच, वर्ण आदि का किसी प्रकार का विभेद न होने के उपरान्त भी ऐसा प्रतीत होता है कि तामिलनाड़ में "ई० सन् ६१० से ६३० के बीच अथवा आस-पास की अवधि में

प्रारम्भ हुए शैव अभियान के युग में निम्न जाति अथवा वर्ण के नाम से अभिहित किये जाने वाले बहुसंख्यक प्रजाजन संभवतः अपने प्रति जैनों तथा बौद्धों के उपेक्षापूर्ण अथवा उदासीनतापूर्ण व्यवहार के परिणामस्वरूप शनैः शनैः जैन एवं बौद्ध संघ से उदासीन हो गये हों और अपनी इस उदासीन वृत्ति के परिणामस्वरूप निम्न वर्ण अथवा जातियों के लोगों ने शैव अभियान के समय विभेदविहीन एकेश्वरवादी अभिनव समाज की संरचना में शैवों को सक्रिय सबल सहयोग देते हुए जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म के विरुद्ध शैव संघर्ष में तन-मन से पूरा सहयोग दिया हो, सामूहिक रूप से एक जुट हो तामिलनाडु प्रदेश से जैन और बौद्ध दोनों ही धर्मों का अस्तित्व तक मिटाने का प्रयास किया हो।

ये तीन प्रमुख कारण थे, जिनके परिणामस्वरूप जैन श्रमणों के विरुद्ध घृणा का प्रचार करने और तामिलनाडु प्रदेश से जैन धर्म का अस्तित्व तक मिटा देने के संकल्प के साथ जैनधर्मावलम्बियों के विरुद्ध संघर्ष के लिए कटिबद्ध होना शैवों के लिये अनिवार्य हो गया था। राजा, प्रजा, राजतन्त्र और अर्थतन्त्र पर उस समय अपना पूर्ण वर्चस्व रखने वाले दक्षिण के उस कालावधि के सर्वाधिक शक्तिशाली जैन संघ को, उसके सर्वव्यापी वर्चस्व को बिना समाप्त किये, बिना क्षीण अथवा निर्बल-निष्प्रभाव किये शैवों के लिये किसी भी दशा में अपने एकेश्वरवादी, विभेदविहीन अभिनव सुदृढ़ एवं चिरस्थायी शैव समाज की सम्पूर्ण तामिलनाडु प्रदेश में स्थापना, प्रचार तथा प्रसार के कार्य में सफलता का प्राप्त होना वस्तुतः संभव ही नहीं था।

उपरिवर्णित तीन कारणों से तिरु ज्ञानसम्बन्धर, तिरु अप्पर आदि प्रमुख शैव सन्तों ने उस समय के महान् प्रभावशाली एवं त्यागी तपस्वी जैनाचार्यों के विरुद्ध जनमानस में घृणा उत्पन्न करने के साहित्यिक अभियान के साथ-साथ जैन श्रमणों के सामूहिक संहार का अभियान प्रारम्भ किया।[1]

प्रारम्भ में ही अनपेक्षित आशातीत सफलता ने शैवों के उत्साह को शतगुणित कर उसे धर्मोन्माद में परिवर्तित कर दिया। उस धर्मोन्माद ने ऐसा भीषण एवं व्यापक रूप धारण किया कि सम्पूर्ण तामिलनाडु प्रदेश के ग्राम-ग्राम, नगर-नगर एवं डगर-डगर में जैन धर्मावलम्बियों को बलप्रयोगपूर्वक शैव बनने के लिये बाध्य किया गया। जिन जैनों ने धर्म-परिवर्तन की अपेक्षा प्राण-त्याग को श्रेष्ठ समझा, उन धर्म के प्रति प्रगाढ़ आस्थावान् जैनों को तत्काल मौत के घाट उतार दिया गया। उनके घरों को लूट लिया गया। चारों ओर लूटमार और नरसंहार का ताण्डव नृत्य होने लगा। तमिलनाडु की सीमा पर बसने वाले अधिकांश जन अपना घरबार, सर्वस्व वहीं छोड़ अपने धर्म और प्राणों की रक्षा के लिये सुदूरवर्ती

१. जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग. ३, पृष्ठ ४८७-८६

पड़ौसी प्रदेशों की ओर भाग निकले। परिस्थितिवशात् जो जैन तामिलनाडु को छोड़ने के इच्छुक नहीं थे, अथवा जो भागने में सक्षम नहीं थे, उनमें से अधिकांश को मौत के घाट उतार दिया गया। जिन जैनों ने शिव की विभूति (राख) अपने भाल पर लगाते हुए अपना धर्म त्याग शैव धर्म अंगीकार कर लिया, केवल वे ही जीवित रह पाये।

तामिलनाडु में शैव अभियानकालीन परिस्थितियों के पर्यवेक्षण से यही प्रतीत होता है कि राजसत्ता के सहयोग और उस समय निम्न कहे जाने वाले बहु-संख्यक लोगों के सामूहिक सक्रिय सहयोग के अतिरिक्त तामिलनाडु के जैनों की आततायियों के अत्याचारों का समुचित प्रतिकार न करने की वृत्ति ही शैवों को उनके धार्मिक अभियान में सफलता प्राप्त करवाने में सर्वाधिक प्रमुख कारण रही। यह तो एक निर्विवाद तथ्य है कि आततायी के छोटे बड़े किसी भी प्रकार के अत्याचार को क्लैव्यभाव से चुपचाप सहन कर लेना वस्तुतः भीषणतम अत्याचारों की ओर छोरविहीन सेना को आमन्त्रित करने के समान है। विश्व का इतिहास साक्षी है कि जिस किसी देश, जाति अथवा धर्म अर्थात् धर्म के अनुयायियों ने आततायियों का, आततायियों के अत्याचारों का सतत सजग रह कर प्राण-पण से अटूट प्रबल साहस के साथ प्रतिरोध किया, उन्हीं का संसार में समुन्नत अवस्था में अस्तित्व रहा, उन्हीं का प्रतिष्ठा के साथ पल्लवन हुआ। इसके विपरीत जिन जातियों, देशों, संस्कृतियों अथवा धर्म के अनुयायियों ने भेड़ों की भांति क्लैव्यभाव से अत्याचारियों के अत्याचारों को चुपचाप सहन किया, उनका संसार के मानचित्र में अस्तित्व तो दरकिनार, नाम और चिन्ह तक अवशिष्ट न रहा। यदि येन-केन प्रकारेण पददलितावस्था में उनका अस्तित्व बना भी रहा तो, संसार ने उन्हें मृत की संज्ञा से ही अभिहित किया, जीवित की संज्ञा से कदापि नहीं।

जन धर्म सनातन काल से ही शूरवीरों का धर्म रहा है। जैन सिद्धान्तों में अत्याचार-सहन को कायरता और कायरता को महापाप एवं आत्महनन माना गया है। सम्पूर्ण जैन वांग्मय में एक भी ऐसा उदाहरण गहन खोज के अनवरत प्रयासों के उपरान्त भी उपलब्ध नहीं होता, जहां कायरता को, आत्महनन तुल्य क्लैव्य भाव से अत्याचार-सहन को आचरणीय बताने का इंगित तक किया गया हो। इसके विपरीत अत्याचारों के उन्मूलन एवं मानवमात्र के मूल मानवीय अधिकारों की रक्षा हेतु भीषण संग्रामों में विजयश्री का वरण करने वाले साहस-पुंज शूरवीरों को श्लाघ्य पुरुष, पुरुषोत्तम आदि प्रशस्त विशेषणों से अभिहित एवं अलंकृत किया गया। इतिहास साक्षी है कि मगध के सिंहासन पर आसीन होने के अनन्तर पुष्यमित्र शुंग ने जैन धर्मावलम्बियों पर अत्याचार करने प्रारम्भ किये तो कलिंगराज महामेघवाहन भिक्षुराय खारवेल ने जैन धर्मावलम्बियों की रक्षा के लिए पुष्यमित्र पर आक्रमण कर उसे परास्त किया और जैन इतिहास में अमर नाम प्राप्त कर लिया। दक्षिण के होयसल (पोयसल), गंग, राष्ट्रकूट आदि राज-

वंशों के राजाओं ने भी समय-समय पर जैनों के अधिकारों एवं जैनधर्म के वर्चस्व की रक्षा के लिए सैनिक अभियान किये और उत्पीड़ित जैन धर्मावलम्बियों की रक्षा के लिए कलभ्र के नाम से सहसा उदित एवं कतिपय वर्षों पश्चात् ही अवनितल से तिरोहित हुई राजसत्ता ने तो शताब्दियों से चले आ रहे चोल, चेर एवं पाण्ड्य जैसे शक्तिशाली शासनों का एक बार अन्त ही कर डाला था। इससे यही सिद्ध होता है कि पंच महाव्रतधारी श्रमण-श्रमणीवर्ग के लिए तो अविचल शान्त भाव से अत्याचार सहन एवं उपसर्ग सहन भूषण किन्तु गृहस्थ वर्ग के लिये कायरतापूर्वक अत्याचार सहना वस्तुतः निकृष्टतम दूषण माना गया है।

तृषष्टि शलाका पुरुषों के गृहस्थावधि के जीवनवृत्तों, महामेघवाहन भिक्खुराय खारवेल तथा कलभ्र, गंग, होय्सल, राष्ट्रकूट आदि राजवंशों के जैनधर्म की रक्षा से सम्बन्धित विस्तृत विवरणों से यह निर्विवादरूपेण सिद्ध हो जाता है कि जैनधर्म के अनुयायियों ने प्राचीनकाल में अबलाओं, असहाय निर्बलों की आततायियों के अत्याचारों से रक्षा करने में तथा अपने अधिकारों की रक्षा हेतु कभी किंचित्मात्र भी कार्पण्य अथवा क्लैव्यभाव प्रकट नहीं किया। इस प्रकार की परम्परागत स्थिति के रहते हुए भी ईसा की सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ काल से लेकर ईसा की १५वीं शताब्दी तक जैन धर्मावलम्बी दक्षिणापथ में शैवों द्वारा किये गये अत्याचारों का बिना किसी प्रकार का प्रतिरोध किये मुख्यतः आन्ध्रप्रदेश में पूर्णतः तथा तामिलनाड़ु एवं कर्णाटक में अधिकांशतः भेड़-बकरी की भांति नष्ट क्यों हो गये? इससे पूर्व में न केवल जैन इतिहास में ही अपितु सम्पूर्ण जैन वाङ्मय में इस प्रकार की सामूहिक क्लैव्यभाव भरी अकर्मण्यता, किसी भी काल में कहीं किञ्चित्मात्र भी पढ़ने-सुनने में नहीं आई। जैन धर्म के अनुआयियों की मनोवृत्ति में हठात् इस प्रकार का आत्मघाती परिवर्तन क्यों? यह आश्चर्यकारी प्रश्न एक जटिल पहेली की भांति प्रत्येक विज्ञ विचारक के समक्ष सहज ही उपस्थित हो जाता है।

ईसा की सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण में अपने ऊपर हुए भीषण अत्याचारों के प्रतिकार की दिशा में दक्षिण के जैनों की अकर्मण्यता के दो प्रमुख कारण अनुमानित किये जा सकते हैं। प्रथम तो यह कि मदुरा के महाराजा पाण्ड्य-राज कुन् पाण्ड्य और कांचीपति चोलराज महेन्द्रवर्मन के द्वारा जैनधर्म के परित्याग के साथ शैव धर्म अंगीकार कर लिये जाने के कारण दक्षिण का जैन संघ शताब्दियों से प्राप्त राज्याश्रय से पूर्णतः वंचित हो गया। दूसरा कारण यह हो सकता है कि वि० सं० ५२६ तदनुसार ई० सन् ५८३ में मदुरा में जैनों की परम्परागत मान्यताओं से अधिकांशतः विपरीत एवं भिन्न अभिनव मान्यताओं को जन्म देने वाले द्रविड़ संघ की उत्पत्ति से जैन धर्मावलम्बियों की एकता छिन्न-भिन्न हो गई। इसके परिणामस्वरूप पारस्परिक कलह की अत्यधिक अभिवृद्धि के कारण दक्षिण में,

मुख्यतः तामिलभाषी विशाल प्रदेश में जैनों की संघशक्ति उत्तरोत्तर क्षीण से क्षीणतम होती गई।[1]

इन दो प्रमुख कारणों के अतिरिक्त सबसे बड़ा कारण यह प्रतीत होता है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – इन जैन धर्म के मूल आधारभूत पांच सिद्धान्तों में से श्रमणवर्ग ने अपने उपासक गृहस्थवर्ग अर्थात् श्रावक-श्राविका वर्ग को उपदेश देते समय अहिंसा को सर्वाधिक महत्त्व देकर श्रावक-श्राविका वर्ग को भी परीषह सहन अथवा उत्पीड़न सहन में सर्वस्वत्यागी श्रमण-श्रमणीवर्ग के समकक्ष अहिंसक बने रहने की प्रेरणा प्रदान कर एक प्रकार से अति की पराकाष्टा पार कर दी हो। भावुकतावश अथवा भावावेश में सम्भवतः वे न तो इस तथ्य को ही स्मरण रख सके हों कि जैनागमों में श्रावक-श्राविका वर्ग के लिये अनुकूल अथवा प्रतिकूल सभी प्रकार की परिस्थितियों में श्रमण-श्रमणीवर्ग की भांति पूर्णतः अहिंसक बने रहना अनिवार्य नहीं बताया गया है और न उन्होंने इस सार्वभौम शाश्वत सत्य-तथ्य को ही अपने स्मृतिपटल पर अंकित रखा कि धर्म के अस्तित्व पर, अबलाओं की अस्मत पर, अपने स्वयं के सर्वस्व, सम्मान अथवा जीवन पर और असहाय निर्बलों के प्राणों पर आये संकट अथवा आततायियों के अत्याचारों के संक्रामक काल में चुपचाप हाथ पर हाथ धरे अकर्मण्य बने बैठे रहना अहिंसा नहीं अपितु अहिंसा भगवती के न केवल भाल अथवा मुख पर अपितु आनख-शिख स्वरूप पर कलंक-कालिमा पोतने तुल्य महापाप है।

आत्मरक्षा, अपने देश, जाति, समाज, धर्म, आश्रितों, अबलाओं की प्राण-पण के साथ रक्षा करना प्रत्येक मानव का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्राथमिक कर्त्तव्य है। जो व्यामोहवशात् अथवा मृत्यु के भय से अपने इस कर्त्तव्य के निर्वहन में किंचित्मात्र भी कोर-कसर रखता है, कोताई करता है, वह वस्तुतः क्लीब है, उसे पुरुष कहलाने का अधिकार नहीं। मृत्यु के भय से भयभीत हो कायरता प्रकट करने वाला पौरुष विहीन व्यक्ति स्वयं तो सर्वप्रथम अपने आश्रितों के साथ कीट-पतंग की मौत मरता ही है, साथ ही अपने पौरुषपुंज पूर्वपुरुषों के प्रताप, यश, गौरव को धूलिसात् कर अपने देश, जाति एवं धर्म को भी रसातल में ढकेल देता है।

---

१. बीएसु णत्थि जीवो, उब्भसणं णत्थि फासुगं णत्थि।
सावज्जं ण हु मण्णइ, ण गणइ गिहिकप्पियं अट्ठं ॥२६॥

कच्छं खेत्तं वसहिं, वाणिज्जं कारिऊण जीवंतो।
ण्हंतो सीयल णीरे, पावं पउरं स संजेदि ॥२७॥

पंचसए छव्वीसे, विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुरा जादो, दविडसंघो महामोहो ॥२८॥

—दर्शनसार [दिगम्बराचार्य श्री देवसेन]

दक्षिणापथ के तामिलनाडु प्रदेश में ईसा की सातवीं शताब्दी के प्रथम दशक में शैवों द्वारा प्रारम्भ किये गये रक्तपातपूर्ण शैव अभियान में जैनों पर सामूहिक संहार, वलात् धर्मपरिवर्तन, सर्वस्वापहरण आदि के रूप में जो अत्याचार किये गये, दक्षिणापथ से जैनधर्म के अस्तित्व तक को समाप्त कर देने के जो प्रवल प्रयास किये गये, उन प्रयासों के सफल होने की पृष्ठभूमि में दक्षिण के उस समय के जैनों की इस प्रकार की भीरुता, क्लैव्यता, आततायियों के अत्याचार, अनाचार को मूक भेड़ वकरी तुल्य विलविलाते हुए सहन कर लेने, दैन्य, पलायनपरक वृत्ति वस्तुतः सवसे वड़ा कारण रही, यह एक कटुतम सत्य है। इसके विपरीत कर्णाटक प्रदेश के कोल्हार राज्य में उस समय शक्तिशाली गंगवंशी राजाओं का राज्य था। वह राजवंश जैन धर्मावलम्वी था। उस समय तक कर्णाटक प्रदेश के जैन धर्मावलम्बियों के हृदय पर गंग राजवंश के संस्थापक काणूर गण (ग्रामणीय संघ) के आचार्य सिंहनन्दी की सात शिक्षाओं का पर्याप्त प्रभाव था। उन सात शिक्षाओं में से छठी शिक्षा इस प्रकार थी—"यदि तुम लोग अथवा तुम्हारे वंशज रणांगण में पीठ दिखा कर पलायन कर देंगे तो तुम्हारा राज्य नष्ट हो जायेगा।" इस शिक्षा का सीधा सा अर्थ यही है कि आततायियों को मूलतः नष्ट करने के लिए रणांगण में डटे रहो, मर मिटो पर अत्याचारी के समक्ष मत झुको। जैनों के इसी शौर्यशाली संकल्प के कारण शैव अभियान तामिलनाडु से कर्णाटक की ओर नहीं वढ़ सका। ई० सन् ६४० से ६७० के वीच की अवधि में गंग राजवंश के ग्यारहवें राजा भूविक्रम-श्रीवल्लभ भूरिविक्रम ने कांची के पल्लवराज पर आक्रमण किया और उसे युद्ध में परास्त कर उसके सम्पूर्ण कांची राज्य पर अधिकार भी कर लिया।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि पल्लवराज का पृष्ठवल पाकर जव शैवों ने जैनों पर जव और अधिक घोर अत्याचार प्रारम्भ कर दिये, उस समय सम्भवतः जैन धर्मावलम्बियों की रक्षा के लिए ही गंगराज भूविक्रम ने अत्याचारी पल्लवराज को परास्त कर कांची के राजसिंहासन पर अधिकार किया होगा।

इस प्रकार की स्थिति में स्पष्ट प्रमाणाभाव के परिणामस्वरूप यह तो सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि न केवल अपने अस्तित्वमात्र को ही अपितु अति प्राचीनतम सव संस्कृतियों की शिरमौर जैन संस्कृति के अस्तित्व तक को आर्यधरा के अंचल से, जगतितल के मानचित्र से मिटा देने वाला, विलुप्त कर देने वाला अहिंसा का पौरुषविहीन स्वरूप जैन धर्मावलम्बियों के अन्तःस्तल में कव उद्भूत हुआ। इसके उपरान्त भी शैव अभियानकाल में तामिलनाडु प्रदेश में तत्कालीन प्रचुर संख्यक जैनों के प्रतिकारविहीन सामूहिक भीषण संहार एवं सर्वस्वापहार की चुनौती के वल पर सार्वत्रिक सामूहिक धर्म परिवर्तन एवं व्यापक लूटपाट के सम्वन्ध में इतिहासज्ञों द्वारा सम्मत तथ्यों के आधार पर यह तो आधि-

1. जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग ३, पृष्ठ २६६

वास्तविक रूप से कहा जा सकता है कि ईसा की सातवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में तामिलनाडु के जैनधर्मावलम्बियों के मन, मस्तिष्क एवं हृदय-पटल पर अहिंसा के नाम पर कलंक का टीका लगाने वाला अहिंसा का पौरुषविहीन स्वरूप वड़ी गहराई में घर कर चुका था, जो कालान्तर में शनैः शनैः आन्ध्र, कर्णाटक आदि अन्य प्रदेशों में भी व्याप्त हो गया। आज तो स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रहा है कि अहिंसा का यह आत्मघाती स्वरूप जैनमात्र के स्वभाव का अभिन्न अंग वन गया है। अहिंसा के नाम पर इस प्रकार की आत्मघाती डरपोक वृत्ति के लिए जैन आगमों में कहीं कोई लवलेश मात्र भी स्थान नहीं है। इसके उपरान्त भी यह वड़े आश्चर्य की बात है कि अहिंसा का इस प्रकार का पौरुषविहीन स्वरूप जैन धर्माव-लम्बियों के रक्त में उत्तरोत्तर व्यापक रूप से क्यों घुलता-मिलता गया। अहिंसा के इस आत्मघाती स्वरूप से जैनों के पुरातन गढ़ अथवा केन्द्रतुल्य तामिलनाडु प्रदेश से विक्रम की सातवीं शताब्दी में ही जैनों का अस्तित्व समाप्तप्रायः हो गया। तदनन्तर ईसा की वारहवीं शताब्दी के समाप्त होते-होते जैन धर्मावलम्बियों के एक सुदृढ़ गढ़ आन्ध्र प्रदेश में लिंगायतों द्वारा किये गये जैनों के सामूहिक संहार एवं वलात्‌धर्मपरिवर्तन के परिणामस्वरूप वहां जैनधर्म का अस्तित्व पूर्णतः समाप्त हो गया और कर्णाटक प्रदेश में जहां जैनों का शताब्दियों से सर्वाधिक वर्चस्व था, वहां भी लिंगायतों एवं रामानुजाचार्य के अनुयायी वैष्णवों द्वारा जैनों के विरुद्ध अथवा अपने सम्प्रदाय के प्रचार-प्रसार हेतु आरम्भ किये गये अभियानों के फल-स्वरूप जैन धर्म के अनुयायी अतीव स्वल्प संख्या में अवशिष्ट रह गये। कर्णाटक में भी धार्मिक विद्वेष की अग्नि ऐसा प्रचण्ड स्वरूप धारण कर गई थी कि यदि वादामी के चालुक्यराज वुक्कराय ने वैष्णव होते हुए भी अपनी उत्कृष्ट एवं निष्पक्ष न्यायप्रियता का परिचय देकर जैनधर्मावलम्बियों को संरक्षण प्रदान नहीं किया होता तो सम्भवतः कर्णाटक प्रदेश में भी जैनधर्मावलम्बियों के साथ-साथ जैनधर्म का अस्तित्व पूर्णतः समाप्त हो जाता। जैनधर्मावलम्बियों के पुरातनकालीन सुदृढ़ गढ़ कर्णाटक में भी जैनधर्मावलम्बियों की संख्या में जो दुःखद न्यूनता आई, वह भी तत्कालीन जैनों के हृदय में घर किये गये पौरुषविहीन अहिंसा के दुस्वरूप का परिणाम है। वहां जो थोड़ी वहुत संख्या में जैन अवशिष्ट रह पाये हैं, उसका श्रेय वादामी के चालुक्य नरेश वुक्कराय की न्यायप्रियता को ही दिया जा सकता है, न कि अहिंसा के विकृत स्वरूप पौरुषविहीन अहिंसा के उपासक वहां के तत्कालीन जैनों को।

इन उपरिवर्णित ऐतिहासिक तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि सम्भवतः एकमात्र राज्याश्रय के विश्वास पर, ईसा की छठी-सातवीं शताब्दी में तामिलनाडु प्रदेश के जैन, जहां तक आत्मरक्षा का, अपने संघ, समाज, संस्कृति की रक्षा का, अपना अस्तित्व, अपने धर्म का अस्तित्व बनाये रखने का प्रश्न है, परमुखापेक्षी ही वने रहे। इस विषय में वे राज्याश्रय पर ही

नितान्ततः निर्भर रहे। उन्होंने सम्भवतः इस ओर उस अवधि में कभी ध्यान ही नहीं दिया कि द्रुतगति से परिवर्तनशील कालचक्र में संक्रान्तिकाल के उपस्थित हो जाने पर, वर्गविद्वेष, वर्णविद्वेष, धार्मिक असहिष्णुता के व्यापक प्रचार की दशा में अपने संघ, समाज, धर्म, संस्कृति और अस्तित्व की रक्षा के लिये आत्मनिर्भर रहना अनिवार्यरूपेण सदा आवश्यक है। इस तथ्य को भुला देने के कारण ही जैनों को उनके धर्म और उनकी संस्कृति को दक्षिण में अपूरणीय अपूर्व क्षति उठानी पड़ी। गीता के निम्नलिखित निष्कर्ष इस प्रकार की स्थिति में अक्षरशः चरितार्थ होते हैं :—

भयाद्रणादुपरतं, मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो, भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥
अवाच्यवादांश्च बहून्, वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं, ततो दुःखतरं नु किम् ॥

एकेश्वरवाद के अभ्युदय का विवरण प्रस्तुत करते समय प्रसंगवशात् इस सम्बन्ध में कटु सत्य पर केवल इसी लक्ष्य से विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है कि जैनधर्मानुयायी इन सब तथ्यों पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर किसी ऐसे प्रशस्त मार्ग का अनुसरण करें, जिससे भविष्य में जैनधर्म एवं जैनधर्मावलम्बियों को अतीत की भांति सर्वहारा हानि न उठानी पड़े। जहां तक तीन करण, तीन योग से सभी प्रकार के सावद्य कार्यों का यावज्जीवन त्याग करने वाले पंचमहाव्रतधारी सन्त-सतीवर्ग का प्रश्न है, भले ही वे विधान के रूप में यह नहीं कह सकें कि अत्याचारी के अत्याचारों का पूरी शक्ति के साथ प्राणपण से प्रतिरोध करना शूरवीरता है और मृत्यु के भय से भयभीत हो बिना किसी प्रकार के समुचित प्रतिरोध के आततायी के अत्याचारों को चुपचाप सहन कर लेना कायरता है, किन्तु ८ वर्ष की बाल्य वय में साथी बालकों के साथ बालक्रीड़ा में रत महावीर की संकुलीक्रीड़ा में अवरोध उत्पन्न करने हेतु भयंकर विषधर का रूप धारण कर आये हुए मायावी देव को हाथ से पकड़ कर एक ओर डाल देना तथा तदनन्तर उनके तिन्दूसक खेल में अवरोध उत्पन्न करने एवं सब बालकों को भयभीत करने के लक्ष्य से बालक का रूप धारण कर बालकों में सम्मिलित हुए और महावीर से उस क्रीड़ा में पराजित हो जाने के परिणामस्वरूप अपनी पीठ पर आरूढ़ महावीर को डराने एवं उनका अपहरण करने के लक्ष्य से सात ताल (ताड़) तुल्य भीषण रूप धारण किये मायावी की पीठ पर मुष्टिप्रहारपूर्वक महावीर द्वारा उस मायावी देव का गर्वावहार[1] यही शिक्षा देता है कि आततायी के अत्याचार का मुंह-तोड़ उत्तर देना प्रत्येक मानव का, प्रत्येक गृहस्थ जैन का जन्म-सिद्ध अधिकार है—प्राथमिक परमावश्यक कर्त्तव्य है।

१. जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग १, पृष्ठ ३५५–५६।

कर्मयुग का प्रवर्तन करते समय प्रथम धर्म तीर्थंकर भ० ऋषभदेव ने श्रामण्य स्वीकार करने से पूर्व कर्मविधि एवं कलाओं से नितान्त अनभिज्ञ मानव समाज को एक सशक्त, सुसंगठित एवं आत्मनिर्भर कर्मठ समाज की संरचना के लिए असि (तलवार आदि शस्त्र), मसि, (पठन-पाठन-लेखन, व्यापार) और कृषि (पशुपालन, अन्नोत्पादन) आदि की शिक्षा दे उसे सब कलाओं में निष्णात किया। इन तीन कर्मों में असि अर्थात् शस्त्र का नाम सर्वप्रथम आया है, यह भी कोई संयोग की बात नहीं। तदनन्तर आदि राजा ऋषभदेव ने राजनीति के आविर्भाव अथवा आविष्कार के साथ ही दण्ड-नीति का विधान किया।

शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ एवं अरनाथ ने भी धर्मतीर्थ के प्रवर्तन से पूर्व धरा पर सुसभ्य, सुसंस्कृत, शान्तिप्रिय, न्यायनीति परायण, कर्त्तव्यनिष्ठ सुखी समाज के लिए अनिवार्य रूपेण परमावश्यक सुशासन की स्थापना के लक्ष्य से दिग्विजय के रूप में षट्खण्डों की साधना की। सुशासन के लिए कण्टक तुल्य शक्तियों को पर-पीड़न-कार्य से विरत, न्यायप्रिय एवं अनुशासित बनाने के लक्ष्य से उन तीनों तीर्थंकरों ने अपने-अपने शासनकाल में अनेकों युद्ध भी किये। ये सब आगमिक तथ्य इस बात के साक्षी हैं कि अहिंसा का सिद्धांत किसी भी धर्मनिष्ठ एवं शान्तिप्रिय गृहस्थ को आततायी के लवलेश मात्र भी अत्याचार को चुपचाप सहन करने की नहीं अपितु वस्तुतः उसके समूलोन्मूलन की शिक्षा देता है। आशा है मनीषी इस विषय में मननपूर्वक विचारमन्थन कर जिनशासन के उज्ज्वल भविष्य के लिये जैन धर्मावलम्बियों को समुचित मार्ग-दर्शन करेंगे।

उपरिवर्णित तथ्यों से यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि ईसा की छठी-सातवीं शताब्दी में न केवल दक्षिणापथ ही अपितु भारत के अन्यान्य प्रदेशों में भी धार्मिक असहिष्णुता, छोटे बड़े अनेक मत-मतान्तर, वर्णविद्वेष, वर्गविद्वेष, ऊंच-नीच-छुआ-छूत के भेदभाव आदि के व्यापक प्रभाव के परिणामस्वरूप चारों ओर पारस्परिक कलह का ताण्डव नृत्य पराकाष्टा को पार कर चुका था। इस प्रकार की अशान्त स्थिति से छुटकारा पाने के लिए जन-जन का मन मचल उठा था। अन्ततोगत्वा सबको समान मानवीय अधिकार, समान स्तर, समान आदर प्रदान करने वाले, वर्ग, वर्ण, जाति, धर्म आदि के विभेदविहीन अभिनव समाज की रचना के लिए एकेश्वरवाद के सिद्धांत की घोषणा करते हुए ई० सन् ६०० के आसपास शैव सन्तों ने तामिलनाडु प्रदेश में शैव नाम से एक धार्मिक अभियान प्रारम्भ किया। उस समय समाज में दलित, उपेक्षित एवं निम्न कहे जाने वाले वर्गों के शत-प्रतिशत सहयोग एवं अदम्य उत्साह के परिणामस्वरूप वह शैव अभियान शनैः शनैः लोक-प्रिय होता चला गया और ई० सन् ६१० के आसपास तो कांची एवं मदुरा के राजाओं के सक्रिय एवं सशक्त सहयोग से शैव अभियान ने एक व्यापक धार्मिक क्रान्ति का रूप धारण कर लिया।

तामिलनाडु के उस एकेश्वरवाद का शंखनाद कालान्तर में न केवल भारत के अन्यान्य प्रान्तों में ही अपितु संसार के अन्य देशों में भी गुंजरित-प्रतिध्वनित हो उठा।

इस्लाम का अभ्युदय

अरब देश में भी उस समय (ईसा की छठी-सातवीं शताब्दी में) छोटे-बड़े ऊंच-नीच, कबीलों के विभेद, धर्मभेद, मत-मतान्तर, मूर्तिपूजा के प्राचुर्य आदि कारणों से भारत के समान ही पारस्परिक कलहपूर्ण स्थिति उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। भिन्न-भिन्न कबीलों ने जातियों का रूप धारण कर लिया था। प्रत्येक जाति अपना सर्वाधिक वर्चस्व स्थापित करने की स्पर्धा में उतर चुकी थी। इस स्पर्धा में प्रत्येक जाति के लोग अपने-अपने देवताओं की मूर्तियां अरब देश के प्रमुख तीर्थ-स्थल मक्का में ऐसे महत्त्वपूर्ण स्थान पर स्थापित करने के लिए कटिबद्ध रहते, जिससे कि मक्काशरीफ तीर्थ-स्थल उसी जाति अथवा कबीले का तीर्थ-स्थल प्रतीत हो। इस प्रकार की स्पर्धा ईसा की छठी-सातवीं शताब्दी में संघर्ष, विवाद एवं पारस्परिक कलह का रूप धारण कर चुकी थी। यद्यपि अरब देश में उस समय भी मूलतः यही मान्यता प्रचलित थी कि एकमात्र अल्लाह ही सर्वशक्तिमान् ईश्वर है तथापि भिन्न-भिन्न जातियों द्वारा अपने-अपने पृथक्-पृथक् देवता को ही सबसे बड़ा मानने के हठाग्रह के परिणामस्वरूप विभिन्न जातियों में उत्पन्न हुई प्रतिस्पर्धा ने सर्वशक्तिमान अल्लाह की मान्यता को लोगों में गौण बना दिया था।[1]

लब्धप्रतिष्ठ इतिहासज्ञ राय बहादुर पण्डित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार धर्मभेद, जातिभेद एवं भिन्न-भिन्न देवताओं की मूर्तियों की पूजा के प्रश्न को लेकर उत्पन्न हुई संघर्षपूर्ण स्थिति के अतिरिक्त उस समय अरब देश में छोटे-बड़े राजाओं एवं सरदारों का भी बाहुल्य था, जिनमें परस्पर छोटी-बड़ी लड़ाइयां प्रायः चलती ही रहती थीं। छोटे-बड़े झगड़े तो उनमें निरन्तर चलते ही रहते थे। वहां की साधारण जनता प्रायः असभ्य और अशिक्षित थी। इस प्रकार की देश-व्यापी पारस्परिक कलहपूर्ण परिस्थितियों में वि० सं० ६२८ तदनुसार ई० सन् ५७१ में कुरेश जाति में मुहम्मद नामक एक महापुरुष का जन्म हुआ।[2]

मुहम्मद साहब के पूर्वपुरुष कुरेश रेगिस्तान से आकर मक्का में रहने लग गये थे। यद्यपि मुहम्मद साहब का जन्म मक्का नगर में हुआ था तथापि रेगिस्तानी जीवन के अनुभव के लिये बाल्यकाल में उन्हें समय-समय पर रेगिस्तान के पैत्रिक ग्राम में भेजा जाता रहा। इस प्रकार मुहम्मद साहब का अधिकांश बाल्यकाल

१. एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन्स ऑफ दी वर्ल्ड
२. राजपूताने का इतिहास, खण्ड १, अ० ४, पृ० २४७

उनके चचा अबू तालिब के पास गांव में व्यतीत हुआ। इससे उन्हें वाल्यकाल में ही नागरिक जीवन के साथ-साथ रेगिस्तान के कठिनाई भरे ग्राम्य जीवन का, वहां की समस्याओं और ग्रामों में बसे अरबों की वास्तविक परिस्थितियों का भी प्रत्यक्ष अनुभव हो गया।

ऐसा प्रतीत होता है कि मुहम्मद साहव की वाल्यावस्था में ही उनके माता-पिता का देहावसान हो गया था। मुहम्मद साहव के पिता का नाम अब्दुल्ला उल्लिखित उपलब्ध होता है, इस सम्बन्ध में इब्न इशाक के हवाले से एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स में निम्न रूप में प्रकाश डाला गया है :—

"It is not possible to throw any serious doubt on the location of Muhammad as a member of a numerous Meccan family, though the name of his father excites suspecion, since Abdullah. (The equivalent of some one) is used at a later period as a substitute for an unknown name, perhaps it is in this case a substitute for the name of which the second element was that of a pagan diety."[1]

वयस्क हो जाने पर मुहम्मद साहव ने खादिजा नाम की एक धनी विधवा के कारवां (ऊंटों के काफिले) की देखभाल एवं व्यवस्था का कार्यभार सम्भाला। कारवां के साथ-साथ विभिन्न स्थानों के पर्यटन के परिणामस्वरूप मुहम्मद साहव अरव देश के विभिन्न स्थानों के निवासियों की वास्तविक दशा एवं आन्तरिक स्थिति से भी भली-भांति अवगत हो गये। जिस समय मुहम्मद साहव २५ वर्ष की वय के हुए उस समय, उम्र में उनसे कई वर्ष वड़ी उस गृहस्वामिनी खादिजा ने उनसे शादी की, जिसके कि कारवां का कारोवार वे करते थे। मुहम्मद साहव से शादी कर लेने के पश्चात् खादिजा ने समय पर एक या एक से अधिक पुत्रों और चार पुत्रियों को अनुक्रमश: जन्म दिया। किन्तु मुहम्मद साहव के वे पुत्र शैशवावस्था में ही फौत हो गये।[२]

मुहम्मद साहव वाल्यकाल से ही चिन्तनशील तो थे ही अत: वय की वृद्धि के साथ-साथ अपने देश की स्थिति के सम्बन्ध में ज्यों-ज्यों उनका अनुभव वढ़ने लगा त्यों-त्यों वे उत्तरोत्तर अधिकाधिक चिन्तनशील होते गये। वयस्क हो जाने पर जव मुहम्मद साहव ने अनुभव किया कि स्वभाव से ही वीर प्रकृति के धनी होने के उपरान्त भी अरव निवासी अन्धविश्वासों के दलदल में फंसे होने के कारण मूर्ति पूजा, मत-मतान्तरों, विभिन्न धार्मिक मान्यताओं, जातिपांति-कवीलों, ऊंच-

1. Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. VIII, page 873
२. एन्साइक्लोपीड़िया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, जिल्द ८वीं, पृष्ठ ८७३ (हेस्टिंग्स द्वारा लिखित)

नीच के विवादों एवं विभिन्न जातियों द्वारा अपनी-अपनी सत्ता स्थापित करने के प्रयासों के परिणामस्वरूप परस्पर लड़-झगड़ कर देश को बड़ी तीव्र गति से अधः पतन की ओर ढकेलते हुए स्वयं भी रसातल की ओर अग्रसर हो रहे हैं। पारस्परिक फूट, कलह तथा लड़ाई-झगड़ों में उलझे हुए अरबवासी अपने देश को बर्बाद कर रहे हैं, उसे अशक्त बना रहे हैं। अपने देश और देशवासियों की इस प्रकार की दुःखद दशा पर अनवरत चिन्तन के अनन्तर मुहम्मद साहब ने अनुभव किया कि उनके देशवासी संसार की एकमात्र सर्वोपरि शक्ति-सर्वशक्तिमान् परमपिता अल्लाह को भूल कर विभिन्न देवताओं को मानने लगे हैं, अन्धविश्वासों के वशीभूत बने वे लोग पृथक्-पृथक् विभिन्न देवताओं की मूर्तियां बना अपने-अपने देवताओं को ही सबसे बड़ा शक्तिमान् बता उनकी मूर्तियों की पूजा के प्रश्न को लेकर उसे ही अपना सबसे बड़ा धर्म, सर्वश्रेष्ठ मत बताते हुये परस्पर लड़-झगड़ रहे हैं।

फिरिश्ता लिखता है—"इस्लाम के उद्भव काल से पूर्व मिस्र और अरब देश में हिन्दू देव-देवियों की मूर्तियां थीं। उन दिनों भी सरंदीप (लंका) के व्यापारियों के जहाज अफ्रीका और लाल समुद्र के तट पर तथा फारस (ईरान) की खाड़ी में माल ले जाया करते थे। उन जहाजों में हिन्दू यात्री भी मिस्र एवं मक्का में अपने देवताओं के दर्शन एवं उन स्थलों की यात्रार्थ जाया करते थे।"[१] फिरिश्ता के इस उल्लेख से यह आभास होता है कि अरब में उस समय उस देश के देव-देवियों के अतिरिक्त हिन्दू देव-देवियों की मूर्तियां थीं और उनकी वहां पूजा होती थी। इस प्रकार वहां मत-मतान्तरों एवं देव-देवियों की मूर्तियों का प्राचुर्य था और इन भिन्न-भिन्न प्रकार की मान्यताओं एवं मत-मतान्तरों के परिणामस्वरूप वहां आये दिन लड़ाई-झगड़े होते ही रहते थे।

अपने देश एवं देशवासियों के लिये घातक इस प्रकार की दुःखद स्थिति पर गहन चिन्तन के अनन्तर मुहम्मद साहब को दृढ़ विश्वास हो गया कि वास्तव में एकमात्र अल्लाह ही संसार के सर्वोच्च शक्तिशाली ईश्वर एवं मानव मात्र के लिये समान रूप से सर्वोपरि आराध्य देवाधिदेव हैं। इस प्रकार का विचारमन्थन उनके अन्तर्मन में अनेक दिनों तक चलता रहा। अन्ततोगत्वा अनवरत चिन्तन-मनन के अनन्तर उन्होंने दृढ़ संकल्प किया कि वे एकेश्वरवाद की दृढ़ आधारशिला रख कर अपने देश से पारस्परिक कलह के मूल कारण धर्म भेद, मत-मतान्तर, जाति-पांति, ऊंच-नीच, छोटे-बड़े के भेदभाव, छोटी-बड़ी राजसत्ताओं आदि के अस्तित्व को मूलतः नष्ट कर मानवमात्र के लिये एकेश्वरवादी एक ही मानव धर्म की प्रतिष्ठापना करेंगे। विभिन्न देवी-देवताओं की मूर्तियों की स्थापना एवं उनकी पूजा के प्रश्न को लेकर मुख्यतः मक्का में और साधारणतः सम्पूर्ण अरब देश में आये दिन विवाद, संघर्ष और लड़ाई-झगड़े होते रहते थे अतः इन सब झगड़ों की

१. ब्रिग, फिरिश्ता, जिल्द ४, पृष्ठ ४०२

मुख्य मूल जड़ मूर्तियों को सर्वप्रथम खण्ड-खण्ड कर नष्ट करने का मुहम्मद साहव ने सुदृढ़ संकल्प किया। इस प्रकार के दृढ़ संकल्प के अनन्तर उन्होंने तीन वर्ष तक अपने पारिवारिकजनों एवं मित्रों के बीच अपने विचारों का प्रचार किया। उन्होंने मक्का की निकटवर्ती पहाड़ी पर एकान्त में ध्यान साधना भी की।

ध्यान, गहन चिन्तन-मनन के अनन्तर किये गये इन सुदृढ़ संकल्पों को कार्य-रूप में परिणत करने हेतु मुहम्मद साहव ने वि० सं० ६६७ तदनुसार ई० सन् ६१० में अपने आपको मक्का में संसार के समक्ष अल्लाह् अर्थात् सर्वशक्तिमान् ईश्वर—द्वारा प्रेरित पैगम्बर के रूप में प्रकट किया। सर्वशक्तिमान ईश्वर-अल्लाह् अथवा खुदा का ध्यान करने पर उसकी कृपा से अहलाम के रूप में प्राप्त हुये पवित्र धर्म-ग्रन्थ कुरान को उन्होंने अल्लाह् की आज्ञा वतलाते हुये विना किसी ऊंच-नीच, छोटे-बड़े, धनी-निर्धन, रंक-राजा आदि के भेदभाव के, मानवमात्र को एक ही ईश्वर अल्लाह् की आराधना-प्रार्थना अथवा इवादत करने और अल्लाह् की इवादत करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपना भाई समझने का उपदेश देना प्रारम्भ किया।

भारत के तामिलनाडु प्रदेश में, ईसा की छठी एवं सातवीं शताब्दी के सन्धिकाल में प्रारम्भ किये गये, मानव-मानव में भेदविहीन एकेश्वरवादी शैव अभियान का वहां के सवर्ण समाज द्वारा उपेक्षित पिछड़े वर्गों के लोगों ने जिस प्रकार हार्दिक स्वागत करते हुए अपना पूर्ण सहयोग दिया, ठीक उसी प्रकार अरव देश में मुहम्मद साहव द्वारा जन-जन के समक्ष प्रकाश में लाये गये अल्लाह् के उपासकों में पारस्परिक भाई-चारे के प्रतीक एकेश्वरवादी एक ही धर्म के सिद्धान्त का साधारणतः सम्पूर्ण अरव के और विशेषतः मक्का के सम्पन्न, सशक्त समाज द्वारा उपेक्षित दलित वर्गों के लोगों ने हार्दिक स्वागत के साथ अपना पूर्ण सहयोग प्रदान किया। मुहम्मद साहव के एकेश्वरवादी एक ही धर्म को मानने के उपदेशों से प्रभावित हो लोग उन्हें अल्लाह् का पैगम्बर (दूत) मानने लगे। उन्होंने एकेश्वरवादी धर्म का नाम रखा "इस्लाम", जिसका शाब्दिक अर्थ है—एकेश्वर—अल्लाह् को अटूट आस्था के साथ सर्वात्मना-सर्वभावेन सम्पूर्णतः आत्म-समर्पण। एकेश्वरवादी धर्म—इस्लाम को कुवूल अथवा अंगीकार करने वालों को मुस्लिम अथवा मुसलमान की संज्ञा दी गई, जिसका शाब्दिक अर्थ है—अल्लाह् की आज्ञा रूप कुरान में निहित निर्देशों, उसूलों अर्थात् "तौहीद" पर अटूट आस्था के साथ सुदृढ़ रहना।

एकेश्वरवादी एक ही धर्म को मानने वाले विभेद-विहीन सुदृढ़ मानव-समाज की संरचना विषयक मुहम्मद सा० के उपदेशों से प्रभावित हो बड़ी संख्या में जन-साधारण ने इस्लाम को अंगीकार करना प्रारम्भ किया और एक अभिनव जागरण की लहर-सी अरव देश के इस छोर से उस छोर तक तरंगित हो उठी। इस देश-व्यापी अभिनव जागरण के परिणामस्वरूप एक लम्बे समय से विशिष्ट

सुविधाओं, सम्मान एवं अधिकारों का उपभोग करते आ रहे अपने आपको जन-साधारण की अपेक्षा विशिष्ट अधिकार सम्पन्न समझने वाले वर्गों के स्वार्थों पर आंच आने लगी। उन निहितस्वार्थ लोगों ने अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए संगठित हो अपने पक्षधरों, अपने आश्रितों एवं अन्धविश्वास में ग्रस्त लोगों को मुहम्मद सा० द्वारा प्रारम्भ किये गये एक ही ईश्वर और एक ही धर्म को मानने तथा एकेश्वर-वादी प्रत्येक मानव को बिना किसी भेदभाव के समान अधिकार दिलाने वाले आमूल-चूल क्रान्तिकारी अभियान के विरुद्ध उकसाया-भड़काया। उन स्वार्थी लोगों ने मुहम्मद सा० और उनके अनुयायियों को भांति-भांति के कष्ट देने में अपनी ओर से किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी। यह सब कुछ होते हुए भी मुहम्मद सा० १२ वर्ष तक मक्का से एकेश्वरवाद के पैगाम को अरबों में प्रसारित करते रहे। स्वार्थियों द्वारा प्रारम्भ किये गये विरोध ने उग्र रूप धारण कर लिया और स्वार्थी वर्गों के बढ़ते हुए उस वैरभाव के परिणामस्वरूप मुहम्मद सा० और उनके कट्टर अनुयायियों का मक्का में सुरक्षित रूप से रहना तक दूभर हो गया। मुहम्मद सा० के प्रमुख अनुयायियों के एक बड़े समूह को मक्का छोड़ने और ईसाई बहुल एबीसीनियां में शरण लेने को बाध्य होना पड़ा। इस प्रकार की कठिन परिस्थितियों के दौर-वातावरण में यात्रिब (मदीना) में गृहकलह ने गृहयुद्ध का रूप धारण कर लिया। मदीना के निवासियों ने गृहयुद्ध की आग को शान्त करने के लिये मुहम्मद सा० को मदीना आने की प्रार्थना की। मुहम्मद सा० ने मदीना-वासियों की प्रार्थना स्वीकार कर ली। मक्का से मदीना के लिये प्रस्थान करने से पूर्व दूरदर्शी मुहम्मद सा० ने बड़ी ही बुद्धिमता से काम लिया। सर्वप्रथम उन्होंने पूर्णतः प्रच्छन्न रूप से अपने परम विश्वासपात्र अंगरक्षकों को मक्का से मदीना भेजा और पर्याप्त संख्या में अपने अंगरक्षकों के मदीना पहुँच जाने पर ई० सन् ६२२ (वि० सं० ६७९) में वे भी चुपचाप मक्का को छोड़कर मदीना की ओर प्रस्थित हुए। यह बड़ा ही जोखिम भरा कार्य था। इसी दिन से हिजरी सन् प्रारम्भ हुआ। इस कार्य में उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, पर सब कठिनाइयों को पार कर वे सकुशल मदीना पहुँच गये। मदीना पहुँच कर मुहम्मद सा० ने वहाँ गृहकलह को शान्त किया। अरब-निवासियों के अनेक कबीले वालों अर्थात् जातियों ने उन्हें अपना पूर्ण सक्रिय सहयोग दिया। अरबवासियों के अनेक कबीलों (जातियों) का हार्दिक सक्रिय सहयोग प्राप्त हो जाने पर मुहम्मद सा० ने अपने अनुयायियों की सेना का गठन प्रारम्भ किया और मक्कावासियों के, विभिन्न स्थानों एवं प्रदेशों से व्यापार हेतु जो कारवां जाते-आते उन पर आक्रमण कर उन्हें लूटना एवं उन पर अपना अधिकार करना प्रारम्भ किया। अपनी सैनिक शक्ति बढ़ा लेने के अनन्तर मुहम्मद सा० ने अपने पूर्व के साथी नागरिक मक्का-निवासियों से अनेक बार युद्ध किये और अन्ततोगत्वा हिजरी सन् ८ में उन्होंने अपनी शक्तिशाली सेना के साथ आक्रमण कर मक्का पर अधिकार कर लिया।

इस सम्बन्ध में धर्मों एवं मत-मतान्तरों पर विशाल कोष की रचना करने वाले महापंडित जेम्स हेस्टिंग्स ने लिखा है :-

"For fourty years he lived as a pagan of Macca (which come into history with his enterprise, not having been mentioned previously). At the age of twenty five he married a woman much older than himself, who bore him one or more sons (who died in infancy) and four daughters. In his fortieth year he became the reciplent of revelations, where in the office of prophet was conferred upon him. (2) For three years he carried on private propaganda, winning some adherents in his own family, among his private friends and among the humbler classes in the town. (3) For the years he carried on his mission publicity in Macca, for the greater part of the time under the protection of his uncle Abu Talib, who was not a believer, after his death the mission had for a time to be transferred to Taif, until other protector could be found among the Maccan magnates. Meanwhile a temporary refuge had been obtained for the prophet's persecuted followers in christian Abyssenia. Towards the end of this period the continuance of civil war at yatrib (Madina) suggested to some of the inhabitants the desirability of accuring a prophet to settle their disputes. Muhammad was invited to undertake this task and accepted, but he wisely sent his followers before him to yatrib to serve as a bodyguard when he arrived, he himself escaped with difficulty from Mecca, where danger was antcipated from this move. (4) Once in Madina, he proceeded to organize his followers as an army, ruthlessly suppressed internal opposition, secured the alliance of various Arabian tribes and started raiding the Maccan Carvans. Involved in war with his former fellow citizens, he inflicted on them a series of defeats, culmunating in the capture of the city in the eighth year of his migration. By the end of his life he had imposed his doctrine on the whole of Arabia, exterminating the Jewish Communities, with few exceptions rendering the Christian Communities tributary, and abolishing paganism.

—Encyclopaedia of religion & Ethics, Vol. VIII page 873.

स्वार्थी वर्गों द्वारा प्रकट किये गये प्रबल विरोध एवं उनके द्वारा उपस्थित की गई विभिन्न प्रकार की कठिनाइयों के उपरान्त भी मुहम्मद साहब अपने सिद्धांतों पर, इस्लाम के उसूलों पर अटल अडिग रूप से डटे रह कर अपने उपदेशों के माध्यम से एकेश्वरवादी धर्म का प्रचार करते रहे। अन्ततोगत्वा विजयश्री ने उनका वरण किया। वि० सं० ६६७ में मुहम्मद साहब द्वारा प्रारम्भ किये गये उपदेशों का प्रभाव स्वार्थी वर्गों के विरोध, अवरोध, प्रतिरोध के उपरान्त भी उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ते-बढ़ते अरब के बहुत बड़े भाग में फैल गई। मुहम्मद साहब द्वारा चलाये जाने के कारण लोग इस्लाम को मुहम्मदी धर्म के नाम से भी अभिहित करने लगे। एक ही ईश्वर तथा एक ही धर्म को मानने और इस्लाम को अंगीकार करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को बराबर के भाई का दर्जा दे दिये जाने के परिणामस्वरूप वे मुहम्मद साहब के अनुयायी एकता के सुदृढ़ सूत्र में आबद्ध हो गये। "प्रत्येक सहधर्मी बन्धु को अपना भाई समझ कर उसे भाई के समान ही सब प्रकार के प्रेम, अधिकार और बराबरी का दर्जा दो"—मुहम्मद साहब के इन उपदेशों ने समस्त अरबवासियों के अन्तर्मन में विद्युत् वेग से एक अभिनव संजीवनी शक्ति का संचार कर दिया। मुहम्मद साहब के नेतृत्व में अरबवासी सर्वप्रथम एक अजेय सुदृढ़ सामाजिक शक्ति के रूप में उभर कर प्रकट हुए और वे एकता के सुदृढ़ सूत्र में आबद्ध हो सामूहिक रूप से एकजुट हो सर्वत्र एकेश्वरवादी इस्लाम धर्म का प्रचार-प्रसार करने लगे। अपने अनुयायियों की इस अद्भुत् एवं अपूर्व एकता तथा उनका इंगित पाते ही धर्म के नाम पर बड़ी से बड़ी कुर्बानी, बड़े से बड़ा बलिदान कर देने की उत्कट भावना ने सर्वतोमुखी प्रतिभा सम्पन्न मुहम्मद साहब को सम्पूर्ण अरब के न केवल एक धार्मिक नेता के सर्वोच्च पद पर ही अपितु एक महाप्रतापी राजनैतिक नेता के पद पर भी अधिष्ठित कर दिया। इस प्रकार सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में उपलब्ध त्रिकोणात्मक शक्ति का बल पा मुहम्मद साहब ने डंके की चोट के साथ तलवार के बल पर इस्लाम के प्रचार-प्रसार का अभियान चलाया। जिस प्रकार ईसा की सातवीं शताब्दी के द्वितीय दशक में तामिलनाडु प्रदेश में शक्ति की छाया में प्रारम्भ किया गया शैव अभियान द्रुततम गति से स्वल्प काल में ही सम्पूर्ण तामिलनाडु प्रदेश पर छा गया, ठीक उसी प्रकार मुहम्मद साहब द्वारा ईसा की सातवीं शताब्दी के तृतीय दशक में तलवार के बल पर प्रारम्भ किया गया इस्लाम के प्रचार-प्रसार का अभियान अरब देश के बहुत बड़े भाग में सफल रहा। धार्मिक सफलता के साथ-साथ मुहम्मद साहब को महती राजनैतिक सफलता भी प्राप्त हुई और वे ईसा की सातवीं शताब्दी के तृतीय शतक के समाप्त होते-होते तो अपने देश के बहुत बड़े भाग के शक्तिशाली शासक, एकेश्वरवादी इस्लाम के सर्वसत्तासम्पन्न सर्वेसर्वा और अल्लाह (ईश्वर) के पैगम्बर के रूप में दूर-दूर तक विख्यात हो गये। अपने इस क्रान्तिकारी धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक अभियान को सफल बनाने के लिए मुहम्मद साहब को अनेक कठिनाइयों से जूझने के साथ-साथ देश

अपने धर्म की रक्षा के पक्ष में असन्तोष उत्पन्न करने वाले अपने देशवासी बन्धुओं से भी अनेक बार लड़ाइयां लड़नी पड़ीं ।

मुहम्मद साहब द्वारा अपने देश, देशवासियों और पद-दलित मानवता के उद्धार, अभ्युदय, उत्थान एवं उत्कर्ष तथा समानता की आधार-शिला पर जिस वर्ग-भेद विहीन समाज की संरचना के उद्देश्य से जो क्रान्तिकारी अभियान प्रारम्भ किया गया था, उस अभियान को असफल करने के लिये स्वार्थी तत्वों ने जो भांति-भांति के अवरोध-विरोध उपस्थित किये, उन विरोधावरोधों का अन्त करने के लिए उन्हें "भय बिन प्रीत न होय" इस नीति-वाक्य को अमल में लाना पड़ा । प्रबल जनमत मुहम्मद साहब के साथ था । उनके सुसंगठित एवं अनुशासित अनुयायी उनके प्रत्येक आदेश को ईश्वरीय आज्ञा समझ कर उनकी अनुपालना के लिये प्राण-पण से कटिबद्ध थे । अतः मुहम्मद साहब ने तलवार के बल पर इस्लाम का प्रचार-प्रसार करना प्रारम्भ किया । विरोधी प्राण-भय से भयभीत हो उठे । तलवार की तीक्ष्ण धार ने विरोध को तिरोहित कर दिया । चारों ओर सामूहिक धर्म परिवर्तन का दौर प्रारम्भ हुआ और मुहम्मद साहब के जीवन काल में ही अरब देश के बहुत बड़े भाग में इस्लाम का एकच्छत्र वर्चस्व स्थापित हो गया और वे विपुल धन-सम्पदा एवं ऐश्वर्य के स्वामी बन गये ।[1] सम्पूर्ण देश का, समग्र अरबवासियों का एक ही ईश्वर और एक ही धर्म हो, अपने इस महान संकल्प को चरितार्थ कर सम्पूर्ण देश को धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक एकता के सुदृढ़ सूत्र में आबद्ध करने के अपने लक्ष्य में आशातीत सफलता प्राप्त कर लेने के अनन्तर वि० सं० ६८९ तदनुसार हिजरी सन् ११ (ई० सन् ६३२) में ६२ वर्ष की अवस्था में मुहम्मद साहब अल्लाह के प्यारे अर्थात् स्वर्गवासी हुए ।

इस प्रकार वि० सं० ६६७ से वि० सं० ६८९ तक, २२ वर्ष पर्यन्त मुहम्मद साहब ने इस्लाम का अरब में प्रचार-प्रसार किया । प्रथमतः वि० सं० ६६७ से ६७९ पर्यन्त १२ वर्षों तक एक विभेद-विहीन समाज की स्थापना हेतु उपदेशों के माध्यम अर्थात् शान्तिपूर्ण रीति से उन्होंने इस्लाम का प्रचार-प्रसार किया । तदनन्तर लगभग १० वर्षों तक वे सैन्य-बल के माध्यम से, तलवार के बल से इस्लाम के प्रचार-प्रसार के साथ इस्लामी राज्य की स्थापना के कार्य में निरत रहे और कुल मिला कर २२ वर्ष के कठिन परिश्रम से उन्होंने अपने लक्ष्य की प्राप्ति में आशातीत अपूर्व सफलता प्राप्त की ।

पैगम्बर मुहम्मद साहब के बहिस्तगमन के पश्चात् आयशा नाम की उनकी पत्नी का पिता अबूबक्र सिद्दीकी हिजरी सन् ११ में पैगम्बर साहब का पहला उत्तराधिकारी अथवा पहला खलीफा हुआ । पैगम्बर साहब के पश्चात् अनुक्रमशः

---

१. रजपूताने का इतिहास, भाग १, पृष्ठ २४८, (गौरीशंकर हीराचन्द ओझा)

के आदमियों को मैं मौत के घाट उतार दूंगा। खलीफा के इस आदेश के प्राप्त होते ही उस्मान ने अरब सेना को तत्काल उमान वापिस बुला लिया।[1]

उसी अवधि में उस्मान के भाई ने भड़ौंच पर आक्रमण करने के लिये अरब सेना भेजी किन्तु चचनामे के उल्लेखानुसार सिन्ध प्रदेश के राजा चच (सिन्ध के इतिहास-प्रसिद्ध राजा दाहिर के पिता) ने देवल के पास अरबों की सेना को युद्ध में परास्त कर अरब सेना के सेनापति मुगैरा-अबुल-आशी को मार डाला।[2]

खलीफा उमर ने बसरा (ईराक) के हाकिम अबू-मूसा-अशाकी को सिन्ध की राजनैतिक एवं सैनिक स्थिति का विवरण लिख भेजने का आदेश दिया। अपने एक अफसर को मकरान एवं किरमान भेज कर सिन्ध की स्थिति के सम्बन्ध में जानकारी कर लेने के पश्चात् बसरा के हाकिम ने खलीफा को लिखा कि सिन्ध का राजा शक्तिशाली धर्मनिष्ठ और मन का मैला है। यह पढ़कर खलीफा ने अबू-मूसा को आदेश भेजा कि सिन्ध के राजा के साथ जिहाद (धर्मयुद्ध) नहीं करना चाहिये। हि० सन् २२ में अब्दुल्ला-बिन-आमर ने किरमान और सिजिस्तान पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् सिन्ध में भी सेना भेजना चाहा किन्तु खलीफा उमर ने अनुमति प्रदान नहीं की।[3]

हिजरी सन् २३ में खलीफा उमर-बिन-खत्ताब का देहावसान हो जाने पर हसर खलीफा हुआ। वह केवल ६ मास तक ही खलीफा पद पर रह सका। उस्मान के सेनापति मुआविया ने उससे खलीफा की गद्दी छीन ली और वह स्वयं खलीफा बन बैठा। इस प्रकार मुहम्मद सा० के बहिस्तगमन के २३ वर्ष पश्चात् ही खिलाफत की गद्दी के लिये परस्पर लड़ाई-झगड़े आरम्भ हो गये। मजहबी जुनून का स्थान सांसारिक ऐश्वर्य ने ले लिया और पद, प्रतिष्ठा एवं सत्ता हथियाने की लालसा इस्लाम के सुदृढ़ संगठन में उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। खलीफा मुआविया उम्मियाद वंश का था अतः वह और उसके उत्तराधिकारी अथवा उत्तरवर्ती १३ खलीफे उम्मियादवंशी कहलाये। उम्मियादवंशी खलीफाओं की राजधानी दमिश्क रही।[4]

खलीफों की मूल शाखा में हसन के पश्चात् हि० सन् २४ में उस्मान खलीफा बना, जो हि० सन् ३५ पर्यन्त ११ वर्ष तक खलीफा रहा। उस्मान के पश्चात् हि० सन् ३५ से ४० तक अली खलीफा पद पर रहा। खिलाफत के तख्त पर ज्योंही अली बैठा, त्योंही लोग उसकी यह कहकर मुखालफत करने लगे कि वह खिलाफत की गद्दी का असली हकदार नहीं है। इस पारस्परिक कलह ने उग्र होते-होते लड़ाई का

---

१. इलियट, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द १ पृष्ठ ४१५–१६
२. ,, ,, वही ,, पृष्ठ ४१६
३. इलियट, हिस्ट्री आफ इण्डिया, जि० १, पृ० ४१७
४. राजपूताने का इतिहास, पहला खण्ड, ओझा, पृष्ठ २४६ का टिप्पण

रूप धारण कर लिया। खारिजिन लोगों के साथ अली का युद्ध हुआ और उसमें वह पराजित हुआ। अन्ततोगत्वा हि० सन् ४०—ई० सन् ६६१ में अली मारा गया। उसकी मृत्यु के अनन्तर बहुत से मुसलमानों ने अली के मत को अंगीकार किया और वे शिया मुसलमान के नाम से प्रसिद्ध हुए। ईरान के मुसलमान और भारत के दाऊदी बोहरे अली के शिया मत के अनुयायी हैं।[1]

खलीफा उमर के जीवनकाल में अरब के सेनापति मुगैरा के नेतृत्व में भड़ौंच पर आक्रमण करने के लक्ष्य से बढ़ती हुई अरब सेना को सिन्ध के राजा चच द्वारा देवल के पास हुए युद्ध में जो मुंह की खानी पड़ी थी और उस युद्ध में अरब सेना का सेनापति मुगैरा सिन्ध के राजा चच के सैनिकों के हाथों मार दिया गया था, उसी के कारण अरब सेनाओं ने हिजरी सन् ९२ तक अर्थात् मुहम्मद सा० को स्वर्गस्थ हुए ८१ वर्ष व्यतीत हो जाने तक भारत पर आक्रमण करने का साहस नहीं किया। इस प्रकार भारत हिजरी सन् ९२ तक अरबों के आक्रमण से एक प्रकार से एकदम अछूता सा रहा।

हिजरी सन् ८६ में खलीफा वलीद खिलाफत की गद्दी पर आसीन हुआ और हिजरी सन् ९६ तक वह सत्ता में रहा। वलीद ने खलीफा बनते ही अपने सेनापति हारूं को मकरान पर आक्रमण करने का आदेश दिया। सेनापति हारूं ने मकरान पर हि० सन् ८७ में विजय प्राप्त कर बहुत से बिलोचों को मुसलमान बनाया और इस प्रकार वि० सं० ७६३ में मुसलमान भारत के नितान्त निकट आ पहुंचे।

खलीफा वलीद के गद्दी पर आसीन होने के लगभग तीन-चार वर्ष पश्चात् अनुमानतः हि० सन् ९० के आस-पास एक ऐसी घटना घटित हुई, जिससे भारत के साथ अरब के संघर्ष का सूत्रपात हुआ। जैसा कि पहले बताया जा चुका है सरंद्वीप (सिंहल अथवा लंका) के व्यापारी पूर्वकाल में अफ्रीका के लाल सागर (Red Sea) के तट पर तथा ईरान की घाटी के तटवर्ती प्रदेशों में समुद्री मार्ग से अपने जहाजों द्वारा माल लाया ले जाया करते थे। मुहम्मद साहब द्वारा इस्लाम प्रचार प्रारम्भ किये जाने के पश्चात् लंका के व्यापारी जब अरब के मुसलमानों के सम्पर्क में आये तो लंका के उन व्यापारियों में से बहुत से व्यापारी इस्लाम के अनुयायी हो गये और इस प्रकार उनका अरब आना जाना एवं वहां के लोगों (मुसलमानों) के साथ उन व्यापारियों का संपर्क बढ़ता ही गया। एक बार सरंद्वीप के राजा ने अपने देश की बहुमूल्य वस्तुओं से लदा एक जहाज खलीफा वलीद को भेंट स्वरूप सरंद्वीप से बगदाद की ओर भेजा। माल से भरे उस जहाज के साथ और भी अन्य ७ जहाज

---

१. राजपूताने का इतिहास, पहला खण्ड, ओझा, पृष्ठ २५०

थे, जिनमें कतिपय मुसलमान परिवार कर्बला की यात्रार्थ जा रहे थे। तत्कालीन सिन्ध राज्य में अवस्थित देवल नामक स्थान में पहुंचने पर वहां (ठट्टे) के राजा (सामन्त) की आज्ञा से उस माल से भरे लंका के जहाज को लूट लिया गया और सात जहाजों में सवार मुस्लिम यात्रियों को हिरासत में ले लिया गया। उन कैदियों में से कतिपय यात्री येन-केन-प्रकारेण कैद से निकल कर अरब एवं ईरान के प्रशासक हज्जाज के पास फरियाद ले गये। हज्जाज अपने समय का एक बड़ा ही बहादुर सेनापति था, जिसे उम्मियाद वंश के पांचवें खलीफा अब्दुल मलिक ने अरब और ईरान का शासक नियुक्त किया था। हज्जाज के लिये कहा जाता है कि वह एक ऐसा निर्दयी प्रकृति का शासक था कि उसने अपने जीवनकाल में १,२०,००० आदमियों को मौत के घाट उतरवा दिया और उसकी मृत्यु के समय ५०,००० आदमी उसकी हिरासत में थे।[1]

जहाज के लूट लिये जाने एवं कर्बला के यात्रियों को कैद कर लिये जाने के समाचार सुन कर हज्जाज ने जो कार्यवाही की इस पर राय बहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने इलियट, फिरिश्ता आदि लब्धप्रतिष्ठ इतिहासविदों के ग्रन्थों के निदिध्यासन एवं पुरातात्विक ऐतिहासिक महत्व के अवशेषों के आधार पर गहन शोध के अनन्तर अपनी ऐतिहासिक कृति "राजपूताने का इतिहास (पहला खण्ड)" में विशद प्रकाश डाला है, जिसका सारांश इस प्रकार है :—

"हज्जाज ने सिंध के महाराजा चच के पुत्र दाहिर को पत्र लिखकर निवेदन किया कि उनके वशवर्ती ठट्टे के राजा ने खलीफा को भेंट की जाने वाली वस्तुओं से भरे जहाज को लूटा है और कर्वला के यात्रियों से भरे सात जहाजों को अपने अधिकार में लिया है, वे सातों जहाज पूरे माल-असबाब और यात्रियों सहित हमें भेजने के लिए अपने सामन्त को आप मजबूर करें। हज्जाज ने वह पत्र मकरान के हाकिम हारूं के माध्यम से दाहिर के पास पहुंचाया। अपने पत्र का दाहिर की ओर से जो उत्तर हज्जाज को प्राप्त हुआ उससे उसे संतोष नहीं हुआ। उसने माल, जहाज तथा यात्रियों को ठट्टे के राजा से प्राप्त करने और भारत में इस्लाम के प्रचार हेतु खलीफा वलीद से भारत पर आक्रमण करने की आज्ञा प्राप्त कर बुदमीन नामक एक सेनानी को ३०० घुड़सवारों के साथ ठट्टे की ओर तत्काल प्रस्थित होने का आदेश दिया। इस आदेश के साथ ही हज्जाज ने मकरान के हाकिम हारूं को भी लिखा कि वह देवल पर आक्रमण हेतु बुदमीन की सहायता के लिये एक सहस्र अश्वारोहियों की सेना देवल की ओर भेजे।[2] बुदमीन ने १३०० घुड़सवारों की सेना के साथ देवल की ओर प्रयाण किया किन्तु ठट्टे के राजा की सेना ने उसे देवल की ओर बढ़ने से रोक दिया। दोनों सेनाओं के बीच भयंकर युद्ध

१. राजपूताने का इतिहास, खं० १ ओझा, पृष्ठ २५१
२. ब्रिग, फिरिश्ता, जिल्द ४, पृष्ठ ४०३

हुआ। इस युद्ध के प्रारम्भ होते ही अरब सेना का सेनानायक बुदमीन अपने बहुत से सैनिकों के साथ रणांगण में मार डाला गया।[1] इस प्रकार जो अरब सेना अपने तूफानी आक्रमणों से सीरिया, फिलिस्तीन, मिस्र, ईरान, समरकन्द, फरगाना, तासकन्द, खोकन्द आदि पर अपनी विजय वैजयन्ती फहराती हुई पूर्वी तुर्किस्तान में तूफान और चीन तक एक प्रचण्ड आंधी की भांति आनन-फानन में ही बढ़ चुकी थी, उसी अरब सेना के एक अंग को आर्यधरा पर दूसरी बार (पहली बार हि० सन् ७१-७२ में और दूसरी बार हि० सन् ८६ में) पराजय का मुख देखना पड़ा।[2]

तदनन्तर हज्जाज ने हि० सन् ९३, तदनुसार वि० सं० ७६८ एवं ई० सन् ७११ में अपने चचेरे भाई एवं दामाद इमामुद्दीन मोहम्मद-बिन-कासिम को ६००० असीरियन अश्वारोहियों की सशक्त सेना, आधुनिक "नैपाम बम" की किस्म के अग्नि प्रज्वलित कर देने वाले नफ्ते[3] आदि के विशाल जखीरे के साथ, देकर ब्राह्मणों के नगर देवल (सिंध) पर आक्रमण करने का आदेश दिया। इमामुद्दीन मोहम्मद-बिन-कासिम के सेनापतित्व में अरब सेना ने नगर पर घेरा डालने के उद्देश्य से देवल की ओर कूच किया। मार्ग में नगर से पहले एक अति विशाल मन्दिर था, जिसके चारों ओर अति सुदृढ़ एवं दुर्भेद्य दीवार का परकोटा बना हुआ था। मन्दिर के गगनचुम्बी शिखर पर अत्युच्च ध्वजदण्ड से लगी हुई ध्वजा नील गगन में लहर-लहर लहराती हुई मानो, भव्य भक्तों को मन्दिर की ओर आमन्त्रित कर रही थी। देवल के ब्राह्मणों की यह दृढ़ आस्था थी कि उस ध्वजदण्ड में अद्भुत चमत्कारपूर्ण दैवी शक्ति है। अरब सेना के सेनापति कासिम ने मर्कटी यन्त्र सन्नद्ध करवा यन्त्र-चालकों को उस ध्वजदण्ड पर भारी भरकम प्रस्तर खण्डों से प्रहार करने का आदेश दिया। शिलोपम विशाल पाषाण-खण्डों के दो सधे प्रहारों के उपरान्त भी उस ध्वजदण्ड पर लगी पताका पूर्ववत् नभोमण्डल में फहराती ही रही। किन्तु तीसरी बार के प्रस्तर प्रहार से वह ध्वजदण्ड टूटकर ध्वजा के साथ भूलुंठित हो गया। यह देखकर वहां के निवासियों के अन्धविश्वास के साथ ही उनकी जीवन आशा भी तिरोहित हो गई। अरबों की प्रबल सैन्य शक्ति के समक्ष अपनी सैन्य शक्ति को अपर्याप्त समझ कर मन्दिर एवं नगर की रक्षार्थ नियत सिन्ध के राजा दाहिर का छोटा पुत्र फौजी ब्राह्मणाबाद की ओर अपनी सेना के साथ भाग गया। प्राचीर और मन्दिर को भूमिसात् कर कासिम ने अपनी सेना को कत्लेआम (सामूहिक संहार) और लूट के आदेश दिये। १७ वर्ष से ऊपर की आयु के सभी

---

१. राजपूताने का इतिहास, खण्ड १, (ओझा), पृष्ठ २५०

२. — वही, — पृष्ठ २५० पर सेनापति मुगैरा और पृष्ठ २५१ अरब सेनापति बुदमीन की सिन्धी सेना के हाथों पराजय और मृत्यु का विवरण।

३. नफ्था तैयार करने का प्रज्ज्वलनशील द्रव पदार्थ, उस समय केवल अरब में ही उपलब्ध था। इसका प्रयोग सम्भवतः तब तक केवल अरबों तक ही सीमित था।

ब्राह्मणों को मौत के घाट उतार दिया गया। वृद्धाओं को छोड़ शेष बालक-बालिकाओं एवं अबलाओं को बन्दी बना लिया गया। मन्दिर की लूट से जो प्रचुर मात्रा में धन उपलब्ध हुआ, उसका ५वां भाग, ७५ बन्दी नवोढ़ाओं के साथ हज्जाज को भेज दिया गया और शेष सब अरब सैनिकों में बांट दिया गया।

तदनन्तर सेहबान आदि स्थानों को नष्ट करता हुआ कासिम अपनी सेना के साथ सिन्ध के महाराजा दाहिर की ओर बढ़ा। दाहिर का बड़ा राजकुमार हरिराय एक सशक्त सेना के साथ, बढ़ती हुई अरब सेना का मार्ग रोक कर सम्मुख आ डटा। अरब सैनिक हताश हो चुके थे और उनके पास युद्ध का सामान भी समाप्तप्राय: होने आया था, अत: कासिम ने हज्जाज को नई सेना एवं शस्त्रास्त्रों की नई खेप शीघ्र ही भेजने का सन्देश भेजा और अपनी सेना को मोर्चे बनाकर उनमें डटे रहने का आदेश दिया। "नई सेना के साथ शस्त्रास्त्रों की खेप भी शीघ्र ही आने वाली है"—पुन: पुन: अपने इस आश्वासन भरे वाक्य को दोहराते हुए कासिम ने अपने सैनिकों के मनोबल को शिथिल नहीं होने दिया। अरब सेना की नई कुमुक की प्रतीक्षा में कासिम अपनी सेना को सुदृढ़ मोर्चों में ही सन्नद्ध रख कर अपने सैनिकों के उत्साह को बढ़ाने के साथ-साथ युद्ध को टालता रहा।

राजकुमार हरिराय यदि अरब सेना की इस प्रकार की आन्तरिक कमजोरी का पता लगा तत्काल आक्रमण कर देता तो संभवत: स्थिति कुछ और ही होती, युद्ध का पासा ही पलट गया होता। परन्तु हरिराय को शत्रुसेना के सेनापति कासिम ने अपनी इस प्रकार की आन्तरिक कमजोरी का आभास तक नहीं होने दिया और हरिराय की ओर से अरव सेना पर विलम्ब हो जाना अरबों के लिए वरदान और भारत के लिये अभिशाप सिद्ध हुआ। हरिराय की ओर से आक्रमण न होने के कारण अरबों ने मोर्चों को दृढ़ किया। इस अवधि में कासिम को १००० अश्वारोही सेना की नई कुमुक शस्त्रास्त्रों के विपुल भण्डार के साथ प्राप्त हो गई। शस्त्रास्त्रों के सुविशाल जखीरे के साथ नई कुमुक के आ जाने पर अरब सेना के उत्साह का पारावार न रहा। दोनों सेनाओं के सैनिक अपने-अपने मोर्चों से आगे बढ़ कर शत्रुओं पर टूट पड़े। अनेक दिनों तक दोनों सेनाओं के बीच जम कर भीषण युद्ध हुए। दोनों ओर के सैनिकों ने अपने-अपने उत्कट शौर्य एवं रण-कौशल का परिचय दिया किन्तु विजयश्री ने किसी का वरण नहीं किया।

निर्णायक युद्ध के लिये कटिबद्ध हो सिन्ध का महाराजा दाहिर भी अब अपने ज्येष्ठ राजकुमार हरिराय की सेना से जा मिला। दाहिर की सेना में अरबेतर देशों के मुस्लिम योद्धा भी थे जिन्होंने दाहिर की शरण ग्रहण कर ली थी। हिजरी सन् ९३ तदनुसार ई० सन् ७१५ की तारीख १०, रमजान के दिन सैन्य संचालन की बागडोर अपने हाथों में लिये दाहिर ने अरबों पर भीषण आक्रमण किया। अरब अश्वारोहियों का संहार करता हुआ दाहिर शत्रु-सेना के मध्य-भाग तक जा

पहुँचा। प्रलय [illegible] की भांति अपनी ओर बढ़ते हुए दाहिर और उसके योद्धाओं पर चारों ओर से अरबों की धनुर्धर सेना अपने धनुषों की प्रत्यंचाओं पर जलते हुए नफ्थों ([illegible] द्रव पदार्थ) से निर्मित अग्निवर्षक गोलों से सज्जित तीरों की वर्षा करने लगी। अरबों की [illegible] में [illegible] दाहिर शत्रु सेना का संहार करता हुआ [illegible] हाथी के साथ निरन्तर आगे की ओर बढ़ता ही चला जा रहा था। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि विजयश्री दाहिर का वरण करने ही वाली है। इस प्रकार की [illegible], अरबों के एक तीरंदाज के तीर से जुड़ा जलता हुआ नफ्था सिन्धुराज दाहिर के [illegible] हाथी के मुख पर तीर के साथ गहराई तक आ घुसा। अग्निगोलक-नफ्थे की ज्वालाओं के दाह से दाहिर का हाथी तिलमिला उठा और पानी में डुबकी लगाने हेतु द्रुत गति से नदी की ओर भागा। राजा के हाथी को इस प्रकार रणांगण छोड़ भागते देख सिन्धुराज के अधिकांश सैनिकों ने समझा कि उनका स्वामी आहत हो रण-भूमि से पलायन कर रहा है। अतः वे भी शत्रु को पीठ दिखा पलायन करने लगे। दाहिर का युद्धोन्मत्त गजराज नदी में डुबकियां लगा अग्निगोलक की ज्वालाओं का शमन कर शत्रुसैन्य को कुचलता हुआ पुनः रणांगण में आ डटा। दाहिर ने अपने सैनिकों को शत्रुओं का संहार करने के लिये ललकारा। अपने राजाधिराज को शत्रुओं पर टूटते देख सिन्धुराज के सैनिक भी पुनः सुगठित हो अरब सेना पर टूट पड़े। दोनों ओर की सेनाएँ प्राणपण से जूझने लगीं। युद्ध वाद्यों के गगनभेदी घोषों के बीच युद्ध पुनः प्रचण्डता की पराकाष्टा को पार करने लगा। सहसा एक तीर सिन्ध के महाराजा दाहिर के वक्ष-स्थल में लगा और गहराई तक घुस गया। उस मर्मभेदी प्रहार से आहत हो दाहिर पृथ्वी पर गिर पड़ा। यद्यपि घाव बड़ा घातक था तथापि अपनी मातृभूमि की अपने अन्तिम श्वास तक रक्षा के दृढ़-संकल्प के साथ महाराजा दाहिर तत्काल उठ खड़ा हुआ और अश्व पर आरूढ़ हो दांतों से घोड़े की लगाम थामे विकराल भैरव की भांति दोनों हाथों से अपने सम्मुख एवं अपने दोनों पार्श्वों की ओर जूझ रहे शत्रु-सैन्य पर खड्ग-प्रहार करने लगा। दाहिर द्वारा दोनों हाथों से किये तीक्ष्ण तलवारों की तेज धारों का तीखा पानी पी कर सैकड़ों शत्रु रुण्ड-मुण्डविहीन हो रणांगण की शय्या पर सदा-सर्वदा के लिए, कभी न टूटने वाली प्रगाढ़ निद्रा में धराशायी होने लगे। प्रलयकाल की काली-काली सघन घनघटाओं में दमकती हुई विद्युल्लताओं की भांति दाहिर के दोनों हाथों की तलवारें रणांगण में चारों ओर शत्रु-समूह की ग्रीवाओं पर कौंधने लगीं। रणांगण मुण्डविहिन अश्वों एवं अश्वारोहियों की लहूलुहान लोथों से पट-सा गया। हताहत सुभटों एवं अश्वों के अंग-प्रत्यंग से प्रवाहित लाल-लाल लहू की धाराओं से रक्त वर्ण बना रणांगण मच्छ-कच्छ संकुल लालसागर-सा प्रतीत होने लगा। अगणित शत्रुओं को मृत्यु की गोद में सुला देने के अनन्तर अन्ततोगत्वा वीरवर दाहिर भी आततायियों से मातृ-भूमि की रक्षा हेतु अपने प्रलम्ब भुजदण्डों में कस कर पकड़ी हुई तेगों के तीव्र प्रहारों द्वारा शत्रुओं का

अपने अन्तिम श्वास तक संहार करता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ।[1] दाहक अग्निगोलक नफ्थे जैसे अभिनव एवं विशिष्ट अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित शत्रु सेना को भीषण क्षति के उपरान्त भी अन्ततोगत्वा विजयश्री और इस प्रकार के दूर मारक शस्त्रास्त्रों के अभाव-स्वरूप सिन्धुराज दाहिर की सेना को पराजय प्राप्त हुई।

दाहिर की सेना को परास्त कर कासिम ने अपनी सेना के साथ अजदर अर्थात् ऊच की ओर प्रयाण किया। सिन्धराज की सेना की पराजय और अरब सेना के अपनी ओर प्रयाण के समाचार सुनते ही दाहिर का पुत्र ऊच के गढ़ को रिक्त कर अपनी सेना के साथ ब्राह्मणाबाद की ओर पलायन कर गया। अपने पुत्र को क्लीब की भांति क्षात्रधर्म से विमुख हुआ सुन दाहिर की महारानी ने अपने पति का अनुसरण करते हुए सैन्य संचालन का कार्य अपने कंधों पर लिया और १५,००० सैनिकों को साथ ले वह शत्रुओं का संहार करने के दृढ़ संकल्प के साथ रणांगण की ओर बढ़ी। वीरगति प्राप्त अपने पतिदेव का प्रतिशोध लेने के लिये वह रणांगण में आततायियों के सम्मुख जा डटी। सती धर्म को सही अर्थों में चरितार्थ करते हुए उसने स्वर्गस्थ पति का तत्काल अनुगमन करने के लिए अग्नि-स्नान के स्थान पर शत्रुओं का संहार करते हुए असिधारा से प्रवाहित आततायियों के रक्त से स्नान करते हुए रणांगण में आत्मयज्ञ करने का मार्ग चुना। रणचण्डी का रूप धारण किये महारानी भूखी सिंहिनी की भांति शत्रु-सैन्य पर टूट पड़ी और बड़ी तीव्र गति से शत्रुओं का संहार करने लगी। उस क्षत्राणी के अदृष्टपूर्व शौर्य एवं युद्ध-कौशल को देख शत्रुसेना हत-प्रभ हो गई। अन्ततोगत्वा अरबी धनुर्धरों द्वारा की गई अग्निगोलक नफ्थों से संयुत तीरों की धुंआंधार वर्षा से रणांगण ने अग्नि-ज्वालाओं से धुकधुकाती-लपलपाती एक अति विशाल भीषण भट्टी का रूप धारण कर लिया। नफ्थों की आग में जलते-झुलसते अपने सैनिकों को इस प्रकार की अवशावस्था से उबारने का अन्य कोई उपाय न देख उस क्षत्राणी ने अपनी सेना को नगर के सुदृढ़ गढ़ में मोर्चे सम्हाल कर शत्रुओं के संहार का आदेश दिया। भीषण युद्ध के अनन्तर अपनी अवशिष्ट सेना के साथ उस वीरांगना ने गढ़ में प्रवेश कर अपने सैनिकों को मोर्चे सम्हाल कर शत्रुओं पर शस्त्रास्त्रों की वर्षा करने का आदेश दिया। सभी मोर्चों पर अपने योद्धाओं का उत्साह बढ़ाती हुई सिन्धराज्य की राजेश्वरी ने सधे सरों की वर्षा एवं विभिन्न प्रकार के शस्त्रास्त्रों के प्रहारों से शत्रुसेना का संहार करना प्रारम्भ किया। अनेक मास तक कासिम ने गढ़ को चारों ओर से घेरे रखा। उसने गढ़ को तोड़ने के संकल्प के साथ अनेक वार गढ़ में प्रविष्ट होने के प्रयास किये किन्तु प्रत्येक वार उसे गढ़विजय के स्थान पर सैनिक क्षति का ही मुख देखना पड़ा। अन्ततोगत्वा गढ़ में संचित अन्न एवं युद्ध-सामग्री के समाप्तप्रायः हो जाने पर उस क्षत्राणी ने अबलाओं को जौहर की अनुमति प्रदान कर गढ़ के द्वार खुलवाये और केसरिया परिधान पहने अपनी

१. ब्रिग, फिरिश्ता, जि० ४, पृ० ४०८।

सहारे अरब सेना ने सिन्ध राज्य पर विजय प्राप्त की। इस प्रकार इस्लाम के उद्भव के लगभग १०८ वर्ष पश्चात् हिजरी सन् ८६ में लगातार तीन वर्ष तक भीषण युद्धों में निरत रहने के पश्चात् भारत के पश्चिम पार्श्वस्थ सिन्ध पर मुसलमानों के आधिपत्य की आधार-शिला स्थापित हो गई और हिजरी सन् ११० के आस-पास सिन्ध में जुनैद की हाकिम के पद पर नियुक्ति के साथ ही सिन्ध प्रदेश दमिश्क के खलीफाओं द्वारा संचालित मुस्लिम राज्य बन गया।[1]

दाहिर के गढ़ और राजमहल की लूट के समय कासिम ने दाहिर की अनुपम रूपसी दो राजकन्याओं—स्वरूप देवी एवं परिमल देवी को बन्दी बना हज्जाज के माध्यम से खलीफा वलीद के पास भेंट स्वरूप भेजा। उन दोनों राजकुमारियों ने भी अपनी वीरांगना माता के पदचिन्हों पर चलते हुए जौहर की ज्वालाओं में जलने की अपेक्षा शत्रु से इन्तकाम (बदला) लेने का मन ही मन दृढ़-संकल्प कर लिया था। फिरिश्ता के उल्लेखानुसार हिजरी सन् ९६, तदनुसार ई० सन् ७१५ तथा वि० सं० ७७२ में जब वे दोनों राजकुमारियां उम्मियादवंशी खलीफों की राजधानी दमिश्क में खलीफा के समक्ष उपस्थित की गईं तो वह उनके अदृष्टपूर्व अनुपम अलौकिक सौन्दर्य पर विमुग्ध एवं काम-विह्वल हो उनसे कामभिक्षा की याचना करने लगा। अपनी कनकलता सी देहयष्टियों को लज्जातिरेक से समेटते-सकुचाते एवं लम्बे-लम्बे दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए अपने कृत्रिम आन्तरिक उद्गारों को अकृत्रिम सहज मुद्रा में अभिव्यक्त करते हुए उन दोनों सिन्धराज-दुलारियों ने शिकवा-शिकायत भरे रुआंसे स्वर में खलीफा वलीद से प्रार्थना की—"अय! खुदावन्द के नुमायन्दे नेकवक्त खलीफा! हम दोनों को आपकी पाक सेज पर कदम रखने के लायक नहीं रखा गया है। आपके सेनापति कासिम ने हमारे कौमार्य को नष्ट-भ्रष्ट एवं कलुषित कर दिया है।"

उन दोनों सहोदरा राजकन्याओं की बात सुनते ही खलीफा क्रोधातिरेक से तिलमिला उठा। प्रकुप्त-प्रक्रुद्ध मुद्रा में अपने करतलों को परस्पर रगड़ते एवं दांतों को पीसते हुए खलीफा वलीद ने आज्ञापत्र लिखवाया कि इस आदेश को पढ़ते ही तत्काल मुहम्मद कासिम को जीवित दशा में ही बैल के ताजा गीले चमड़े में सिलवाकर शीघ्रातिशीघ्र हमारे (खलीफा वलीद के) समक्ष पहुंचाया जाय। खलीफा के उक्त आदेश के पहुंचते ही उसकी तत्काल अक्षरशः अनुपालना की गई और यथाशीघ्र बैल के चमड़े में सिले मुहम्मद कासिम को खलीफा के समक्ष प्रस्तुत किया गया। गीले चमड़े के शनैः-शनैः सूखने सिकुड़ने के परिणामस्वरूप निरन्तर तीन दिनों तक दुस्सह्य, दारुण नारकीय वेदना से छटपटाते हुए कासिम के प्राण पखेरू मार्ग में ही देहपिंजरे से उड़ चुके थे। खलीफा ने सिन्धुराज की परमसुन्दर उन दोनों राजकन्याओं को अपने पास बुलाकर उनके समक्ष ही बैल के चमड़े में

---

१. इलियट, हिस्ट्री आफ इण्डिया, जि० १, पृष्ठ ४४१

सिले कासिम के मृत शरीर को बाहर निकलवाया और बड़े रौब भरे स्वर में बोला "खुदा के खलीफा की अवज्ञा करने वालों को हम इस प्रकार का कड़े से कड़ा कठोर दण्ड देते हैं ।"

अपनी मातृभूमि आर्यधरा के अंगस्वरूप सिन्धु प्रदेश की स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाले आततायी मुहम्मद कासिम के निष्प्राण शरीर को देखते ही निस्सीम संतोष एवं अनिर्वचनीय प्रसन्नता से उन दोनों राजकुमारियों के मुखकमल पारावारविहीन परम सन्तोष से प्रमुदित, प्रदीप्त एवं प्रफुल्लित हो उठे । अपने अन्तस्तल में धधकती प्रतिशोध की अग्नि को स्वयं द्वारा आविष्कृत चमत्कारपूर्ण चतुराई की राख से अपनी शत-प्रतिशत आशानुरूप पूर्णतः शान्त कर लिये जाने पर उन दोनों सिन्धुराज राजकुमारियों ने अपने आपको कृतकृत्य समझा । अब उन्हें अपने जीवन से रंचमात्र भी मोह नहीं रहा । जीवित ही अग्नि-ज्वालाओं में जला दिये जाने की अपनी आन्तरिक ललक की पृष्ठभूमि का निर्माण करती हुई, अधखिली नवकलियों सी सुकोमल सुकुमार राजकुमारियों ने खलीफा वलीद को ईषत् स्मित मुद्रा में सम्बोधित कर कहा—"ओ खलीफा ! हमारा कौमार्य, हमारी अस्मत, हमारा सतीत्व पूर्णतः सुरक्षित एवं अक्षत है । कासिम ने हमें सदा सहोदरा हमशीराओं की भांति समझा । उसके इस अनुपम बेमिसाल गुण की जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी ही थोड़ी है, किन्तु उसने आपके आदेश से हमारे माता-पिता, भ्राता एवं देश के नौनिहालों को मौत के घाट उतार कर हमारी प्राणाधिक प्रिया स्वर्गादपि गरीयसी मातृभूमि सिन्ध प्रदेश की स्वाधीनता को नष्ट किया है । उसके और आपके इस कभी न भुलाये जाने वाले वैर का बदला लेने की उत्कट अभिलाषा से ही हमने अन्य क्षत्रिय रमणीरत्नों, एवं कुमारियों की भांति अपने आपको जौहर की ज्वालाओं में न जला कर आप तक पहुंचने का उपक्रम किया है । कासिम को उसके महत्वाकांक्षी जीवन से और आपको तथा आपके देश को एक मेधावी रणशौंडीर सेनापति से वंचित कर हमने आततायियों के अक्षम्य अपराधपूर्ण वैर का प्रतिशोध ले अपने रोम-रोम को जलाने वाली इन्तकाम की आग को शान्त कर लिया है । अब हम मृत्यु का आलिंगन करने के लिये सहर्ष समुद्यत हैं । हमें संतोष है कि बैल के गीले चमड़े में सिले जा कर कासिम ने दुस्सह्य दारुण दुःखभरी मारणान्तिकी पीड़ाओं से निरन्तर तीन दिन तक तड़प-तड़प कर बैल की मौत मर आतंक भरी अत्याचारपूर्ण करणी का कटुतम फल पा लिया और कामान्ध हो आपने जो बिना किसी प्रकार की छानबीन के अपने सर्वाधिक सुयोग्य एवं सच्चे स्वामिभक्त सेनापति को बेरहमी से मरवा डाला है, उसके लिये आप जीवन भर पश्चात्ताप की आग में जलते रहेंगे ।"

उन राजकुमारियों की बात सुन कर खलीफा अपनी भूल के लिये पश्चात्ताप के सागर में गोते लगाता रहा । कर्ण परम्परा से इस प्रकार की किंवदन्ती चली आ रही है कि खलीफा ने उन दोनों राजकुमारियों को तत्काल अपनी दृष्टि

से दूर हटा अग्नि-ज्वालाओं में झोंक देने का आदेश दिया। सिंह की गुफा में प्रविष्ट हो सिंह के मुख में हाथ डालने तुल्य उन राजकुमारियों जैसा स्तुत्य साहस आर्यधरा भारत की सन्नारियों के अतिरिक्त विश्व के इतिहास में अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता।

हि० सन् ९३ से ९६ तक निरन्तर तीन वर्ष पर्यन्त सिन्धुराज दाहिर की सैन्य शक्ति से जूझते रहने के पश्चात् मोहम्मद कासिम ने सिन्ध में भारतीय राजा के राज्य को समाप्त कर दिया और तलवार के बल पर सिन्धुवासियों को सामूहिक रूप से इस्लाम कुबूल करवाया। इस सामूहिक धर्म-परिवर्तन के समय जेसा नामक सिन्धुराज दाहिर के एक पुत्र ने भी इस्लाम धर्म स्वीकार किया और शनैः शनैः उसने सिन्ध प्रदेश में अपना राज्य स्थापित कर लिया। लगभग १० वर्ष तक उसने सिन्ध के कुछ भू-भाग पर शासन किया। हि० सन् १०५ में हशाम खलीफा बना और वह हि० सन् १२५ तक (ई० सन् ७२४ से ७४३ पर्यन्त) खलीफा पद पर रहा। उसने हि० सन् ११० के आसपास अपने एक जुनैद नामक सेनापति को सिन्ध का हाकिम बना कर पर्याप्त संख्या में अश्वारोही सेना दे सिन्ध में भेजा। जुनैद के सिन्धु नदी पर पहुंचते ही दाहिर के पुत्र जेसा के साथ एक झील में नौका युद्ध हुआ। जेसा जिस नौका में सवार हो अरब से आये नवागन्तुक हाकिम जुनैद से युद्ध कर रहा था, उस समय उसकी नौका डूब गई। जुनैद ने जेसा को वन्दी वना कुछ ही समय पश्चात् मार डाला। अपनी राह के कण्टक जेसा को मार कर जुनैदा ने सिन्ध में अरबों के शासन को सुदृढ़ एवं सुगठित बनाने का अभियान प्रारम्भ किया और थोड़े ही समय में उसने अपने कार्य में सफलता प्राप्त कर ली। इससे उत्साहित हो जुनैद ने ई० सन् ७३४ में शस्त्रास्त्रों से लैस एक शक्तिशाली सेना ले भारत के दक्षिणापथ पर अरबों की विजय-वैजयन्ती फहराने की महत्वाकांक्षा के साथ कच्छ की राह से आगे वढ़ना प्रारम्भ किया। कच्छ, सौराष्ट्र, चापोत्कट, मौर्य आदि छोटे-छोटे राज्यों को नष्ट कर जुनैद ने नवसारी गुजरात पर आक्रमण किया।[1]

जैसा कि पहले वताया जा चुका है,[2] चालुक्यराज विक्रमादित्य द्वितीय के प्रतिनिधि गुजरात के राज्यपाल पुलकेशिन् ने राष्ट्रकूट वंशीय राजा दन्तिदुर्ग की सहायता से अरव सेना का भीषण संहार कर उसे युद्ध में वुरी तरह पराजित किया। इस युद्ध में हुई अपनी सैन्य शक्ति और जन-धन की अपूरणीय क्षति से हतोत्साहित हो सिन्ध का हाकिम जुनैद अपनी अवशिष्ट सेना के साथ रणांगण छोड़ बड़ी द्रुतगति से पलायन करता हुआ पुनः अपने राज्य सिन्ध में जा घुसा। अपने प्रतिनिधि गुजरात के राज्यपाल पुलकेशिन् द्वारा प्रदर्शित उत्कट साहस-

---

१. लाट के सोलंकी सामन्त पुलकेशिन का कल्चूरी सं० ४९०, ई० सन् ७४० का दान-पत्र।

२. जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग ३, पृ० ६२३

पूर्ण पराजय से हर्षविभोर हो चालुक्यराज विक्रमादित्य द्वितीय ने उसे "दक्षिणापथ साधार", "चालुक्य कुलालंकार", "पृथ्वीवल्लभ और अनिवर्तकनिवर्तयितृ" (पीछे की ओर नहीं लौटने वाले दुर्जय शत्रुओं को भगा देने वाला)—इन चार सर्वोच्च सम्मानास्पद उपाधियों अथवा विरुदों से विभूषित किया।[1] पुलकेशिन् और राष्ट्रकूट वंशी राजा दन्तिदुर्ग के शौर्य की अरबों पर ऐसी धाक जम गई कि अपनी इस घोर पराजय के पश्चात् ईसा की दशवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक उन्होंने भारत पर बड़े पैमाने के आक्रमण का साहस ही नहीं किया।

रघुवंशी प्रतिहार राजा नागावलोक की प्रशंसा में प्रतिहार राजा भोजदेव की ग्वालियर प्रशस्ति में निम्नलिखित उट्टंकित है[2] :

तद्वंशे प्रतिहारकेतनभृति त्रैलोक्य रक्षास्पदे,
देवो नागभटः पुरातनमुनेर्मूर्तिरभूवाद्भुतम्।
येनासौ सुकृतप्रमाथिवलुचम्लेच्छाधिपाक्षौहिणी,
क्षुन्दानस्फुरदुग्रहेति रुचिरैर्दोर्भिश्चतुर्भिर्बभौ ।।४।।

इससे भी यही सिद्ध होता है कि प्रतिहारवंशी राजा नागावलोक ने जुनद के सेनापतित्व में मध्यप्रदेश एवं दक्षिणापथ की ओर बढ़ती हुई विशाल अरब सेना के साथ युद्ध किया। अरब सेना को अपूरणीय क्षति पहुंचा बुरी तरह पराजित करने और उसे पुनः सिन्ध की ओर पलायन करने के लिये बाध्य करने में पुलकेशिन् और राष्ट्रकूट वंशीय राजा दन्तिदुर्ग की भांति कन्नौजपति रघुवंशी प्रतिहार राजा नागावलोक का भी अत्यधिक महत्वपूर्ण सक्रिय योगदान रहा। कन्नोजपति नागावलोक अपर नाम आमराज, जैनधर्मावलम्बी था। इसका परिचय इस ग्रन्थमाला के तृतीय पुष्प में दिया जा चुका है।[3]

इस प्रकार पुलकेशिन्, दन्तिदुर्ग और नागावलोक जैसे प्रबल पराक्रमी देशभक्त राजाओं ने भारत पर आक्रमण करने वाली अरब सेनाओं की बढ़ती हुई शक्ति को कुचल कर उनके मनोबल को ऐसा क्षीण कर दिया कि इस पराजय के पश्चात् लगभग ढाई शताब्दियों तक उन्होंने भारत की ओर आंख तक उठाने का साहस नहीं किया।

इस्लाम के अभ्युदय से लेकर उसके प्रसार और भारत पर आक्रमणों का बड़े विस्तार के साथ विवरण इस दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है कि मुसलमानों

---

१. (अ) राजपूताने का इतिहास, पहला खण्ड, पृ० २५६
(ब) नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग १, पृष्ठ २१०–११
२. आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया, ई० सन् १९०३–४ की रिपोर्ट, पृष्ठ २८०
३. विस्तार के लिये देखिये, जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग ३, पृष्ठ ६५९–६१

श्रमण भगवान् महावीर के ४८वें पट्टधर आचार्य श्री ऊमण ऋषि

जन्म	वीर नि० सं० १४०७
दीक्षा	वीर नि० सं० १४४९
आचार्यपद	वीर नि० सं० १४७४
स्वर्गारोहण	वीर नि० सं० १४९४
गृहवास पर्याय	४२ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	२५ वर्ष
आचार्य पर्याय	२० वर्ष
पूर्ण संयम पर्याय	४५ वर्ष
पूर्ण आयु	८७ वर्ष

वीर नि० सं० १४७४ में आचार्य श्री कलशप्रभ के स्वर्गस्थ हो जाने पर चतुर्विध संघ ने मुनिश्रेष्ठ श्री ऊमण ऋषि को प्रभु महावीर के ४८वें पट्टधर आचार्य पद पर अधिष्ठित किया। अपनी २५ वर्ष की साधु पर्याय एवं २० वर्ष की आचार्य-पर्याय में श्रमण भ० महावीर के चतुर्विध धर्मसंघ की आपने ४५ वर्ष तक महती सेवा की। अपने आचार्यकाल में चारों ओर चैत्यवासी, मठवासी, श्वेताम्बर भट्टारक, दिगम्बर भट्टारक आदि द्रव्य परम्पराओं के वर्चस्व काल में भी आपने आगमानुसारी विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करते हुए मूल विशुद्ध परम्परा के प्रवाह को अक्षुण्ण बनाये रखा।

वीर नि० सं० १४९४ में आपने संलेखना-संथारापूर्वक समाधिमरण के माध्यम से स्वर्गारोहण किया।

—: o :—

श्रमण भगवान् महावीर के ४८वें पट्टधर उमण ऋषि के समय की राजनैतिक घटनाएँ

श्रमण भगवान् महावीर के ४८वें पट्टधर श्री उमरण ऋषि के आचार्यकाल (वीर निर्वाण सम्वत् १४७४ से १४६४) में कन्नर अकालवर्ष एवं निरुपम उपाधियों अथवा उपनामों से विभूषित कृष्ण नामक राष्ट्रकूट राजवंश के १६वें राजा ने जैन धर्मावलम्बियों पर अत्याचार करने वाले चोल राजवंश के महाराज राजादित्य चोल एवं कलचुरी राजा वल्लाल को पराजित कर जैनधर्म की, उस पर आये घोर संकटों से रक्षा की।

जब शैवपक्षपाती चोलराजा राजादित्य द्वारा जैनों पर किये जाने वाले अत्याचार अत्यधिक बढ़ने लगे तो सदा से जैनधर्म के प्रबल पक्षपाती रहे राष्ट्रकूट राजवंश के इस १६वें शक्तिशाली महाराजा कृष्ण ने अपनी चतुरंगिणी विशाल सेना का स्वयं नेतृत्व करते हुए जैन विरोधी चोलराज राजादित्य को दण्ड देने के लक्ष्य से उसके राज्य पर भयंकर आक्रमण किया। चोलों और राष्ट्रकूटों के बीच भीषण युद्ध में राष्ट्रकूटराज कृष्ण ने चोलराज राजादित्य को पराजित कर जैनों पर आये भीषण संकट से जैनधर्म की रक्षा की और जैन धर्म के इतिहास में, अतीत में पुष्यमित्र सुँग के अत्याचारों से जैनधर्म की रक्षा करने वाले कलिंगपति महामेघवाहन भिक्खुराय खारवेल के समान ही श्लाघनीय स्थान प्राप्त किया।

इसी प्रकार जब कलचुरी राजा वल्लाल ने शैवधर्म अंगीकार कर जैनों पर अत्याचार करने प्रारम्भ किये तो इसी राष्ट्रकूट वंशी महाराजा कृष्ण ने अपने साले गंगवंशी युवराज मारसिंह को अपनी शक्तिशाली सेना देकर वल्लाल पर आक्रमण करवा वल्लाल को युद्ध में पराजित कर जैनों को कलचुरी राज्य के अत्याचारों से मुक्ति दिलवाई।

—: o :—

श्रमण भ० महावीर के ४९ वें पट्टधर आचार्य श्री जयसेन

जन्म	वीर नि० सं० १४२०
दीक्षा	वीर नि० सं० १४६५
आचार्यपद	वीर नि० सं० १४६४
स्वर्गारोहण	वीर नि० सं० १५२४
गृहवास पर्याय	४५ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	२६ वर्ष
आचार्य पर्याय	३० वर्ष
पूर्ण संयम पर्याय	५६ वर्ष
पूर्ण आयु	१०४ वर्ष

वीर नि० सं० १४६४ में आचार्य श्री ऊमरण ऋषि के स्वर्गारोहण के अनन्तर चतुर्विध संघ ने आगम-मर्मज्ञ, श्रमणोत्तम श्री जयषेण ऋषि को भगवान् महावीर के ४६वें पट्टधर आचार्य पद पर अभिषिक्त किया।

आपने भी अपनी ३० वर्ष की आचार्य-पर्याय में चतुर्विध संघ की उल्लेखनीय सेवाएं कीं और द्रव्य-परम्पराओं के सार्वत्रिक प्रचार-प्रसार के उपरान्त भी आपने श्रमण भ० महावीर द्वारा तीर्थप्रवर्तन काल में स्थापित की गई चतुर्विध संघ की मूल मर्यादाओं को अक्षुण्ण बनाये रख कर प्रभु महावीर की मूल परम्परा के प्रवाह को अवरुद्ध नहीं होने दिया।

—: ० :—

सैंतीसवें (३७) युगप्रधानाचार्य फल्गुमित्र

युगप्रधानाचार्य

जन्म	वीर निर्वाण सम्वत् १४४४
दीक्षा	वीर निर्वाण सम्वत् १४५८
सामान्य साधुपर्याय	वीर निर्वाण सम्वत् १४५८ से १४७१
युगप्रधानाचार्य काल	वीर निर्वाण सम्वत् १४७१ से १५२०
गृहस्थ पर्याय	१४ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	१३ वर्ष
युगप्रधानाचार्य पर्याय	४९ वर्ष
स्वर्ग	वीर निर्वाण सम्वत् १५२०
सर्वायु	७६ वर्ष, सात मास, सात दिन

सैंतीसवें युगप्रधानाचार्य फल्गुमित्र का युग प्रधान काल 'युग प्रधान पट्टावली' तथा 'द्वितीयोदय युग प्रधान यन्त्रम्' में वीर निर्वाण सम्वत् १४७१ से १५२० तक का और तदनुसार आपका स्वर्गारोहण काल वीर निर्वाण सम्वत् १५२० माना गया है। 'तित्थोगाली पइण्णय' में स्पष्ट उल्लेख है कि वीर निर्वाण सम्वत् १५०० में ये आचार्य स्वर्गस्थ हो गये। तित्थोगालि पइन्नय की एतद्विषयक गाथा इस प्रकार है :—

भणिदो दसाण छेदो, पनरस सएहिं होइ वरिसाणं।
समणम्मि फग्गुमित्ते, गोयम गोत्ते महासत्ते ।।८१८।।

अर्थात् वीर निर्वाण के १५०० वर्ष पश्चात् गौतम गोत्रीय महासत्वशाली श्रमण फल्गुमित्र के दिवंगत होने पर दशाश्रुत स्कन्ध का ह्रास (विच्छेद) कहा गया है।

एक ही कार्य के लिये इस गाथा के प्रथम चरण में 'भणिदो' और द्वितीय चरण में 'होइ' इन दो क्रियावाचक शब्दों को देखते ही प्रत्येक भाषा विशेषज्ञ को यह तत्काल विदित हो जायगा कि द्वितीय चरण की शब्द योजना मौलिक नहीं, त्रुटिपूर्ण है। सम्भव है इस गाथा का पूर्वार्द्ध प्रारम्भ में इस प्रकार रहा हो :—

भणिदो दसाण छेदो, पनरस सएहिं वीस अहिएहिं।

और कालान्तर में लिपिकों के दोष से 'पनरस सएहिं होइ वरिसाणं' यह रूप धारण कर गया हो। इस प्रकार के प्राचीन ऐतिहासिक घटनाचक्र के सम्बन्ध में पन्द्रह बीस वर्ष का अन्तर उस दशा में और भी सहज सम्भव हो जाता है, जबकि वह परम्परा क्षीण होते-होते शताब्दियों पूर्व ही विलुप्तप्रायः हो चुकी हो। जिस रूप में आज यह गाथा उपलब्ध है, उसी रूप में यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो भी इस गाथा से यह प्रमाणित होता है कि युग प्रधानाचार्य परम्परा प्राचीन-काल में सर्वोच्च सत्तासम्पन्न, सर्वाधिक वर्चस्व शालिनी सर्वजन सम्मत प्रामाणिक परम्परा थी। इसके साथ ही साथ इस गाथा से युगप्रधानाचार्य पट्टावली और अवचूरि एवं प्रथमोदय द्वितीयोदय युगप्रधान यन्त्रों सहित दुष्षमा श्रमण संघ स्तोत्र की भी प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

युग प्रधानाचार्य फल्गुमित्र के आचार्यकाल की विशिष्ट घटनाएँ

(१) शक सम्वत् ६१५ (वीर निर्वाण सम्वत् १५२०) में आहवमल्ल तैलप चालुक्य चक्रवर्त्ती के राज्यकाल में उसके सेनापति तैलप के आश्रित कवि रन्न ने "अजित तीर्थंकर पुराण तिलकम्" की रचना की।

(२) वीर निर्वाण सम्वत् १५२० के आसपास ही महाराजा आहवमल्ल के सेनापति तैलप की माता अतिमब्वे ने शान्तिपुराण की एक हजार प्रतियां तैयार करवा कर देश के विभिन्न भागों में दान कीं। इसी आदर्श श्राविका अतिमब्बे ने देश के विभिन्न भागों में डेढ़ हजार वसदियों का निर्माण करवाया। अतिमब्बे द्वारा की गई उल्लेखनीय सेवाओं के परिणामस्वरूप चतुर्विध संघ ने उसे घटान्तकी देवी का विरुद प्रदान किया।

—:०:—

४९वें पट्टधर
आचार्य जयसेन के आचार्यकाल की राजनैतिक स्थिति

वीर नि० सं० १४९४ से १५२४

श्रमण भगवान् महावीर के ४९वें पट्टधर आचार्य जयसेन के वीर निर्वाण सम्वत् १४९४ से १५२४ तक के आचार्यकाल में राष्ट्रकूट वंश के बीसवें एवं अन्तिम राजा कक्क-कर्क द्वितीय नरेन्द्र नृप तुंग के वीर निर्वाण सम्वत् १४८३ से १४९९ तक के शासनकाल में धारानगरी के परमारवंशी महाराजा मालवपति हर्षसियाक ने वीर निर्वाण सम्वत् १४९९ तदनुसार ईस्वी सन् ९७२ अथवा विक्रम सम्वत् १०२९ में राष्ट्रकूट राज्य की राजधानी मान्यखेट पर, अपनी शक्तिशाली सेना का नेतृत्व करते हुए आक्रमण किया। भीषण युद्ध के पश्चात् राष्ट्रकूट वंश के राजा कर्क नरेन्द्र नृपतुंग की पराजय हुई। हर्ष ने समृद्ध मान्यखेट को खूब लूटा और नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इस प्रकार वीर निर्वाण सम्वत् १४९९ में लगभग २५० वर्ष तक न्याय नीति पूर्वक शासन करने वाला जैनों का प्रवल संरक्षक शक्तिशाली राष्ट्रकूट साम्राज्य समाप्त हो गया। निम्नलिखित ऐतिहासिक गाथाएं एवं श्लोक राष्ट्रकूट वंशी साम्राज्य सूर्य के अस्तंगत होने के साक्षी हैं :

कवि धनपाल ने अपनी कृति 'पाइयलच्छी नाममाला' की प्रशस्ति में लिखा है :—

विक्कमकालस्स गए, अउणत्तीसुत्तरे सहस्संमि।
मालवनरिंद धाडीए लूडिए मन्नखेडम्मि ।।
धारानयरीए परिठिएण, मग्गे ठियाए अणवज्जे।
कज्जे कणिट्ठ वहिणीए, सुन्दरी नाम विज्जाए।
कइणो अंधजण किं वा कुसलत्ति पयाणमंतिया वण्णा।
नामंमि जस्स कमसो, तेणेसा विरइया देसी ।।

महाकवि पुष्पदन्त ने मान्यखेट के पतन पर निम्नलिखित श्लोक में अपने शोकोद्गार अभिव्यक्त किये हैं :—

दीनानाथधनं सदा वहुजनं प्रोत्फुल्लवल्लीवनं,
मान्याखेटपुरं पुरन्दरपुरीलीलाहरं सुन्दरम्।
धारानाथ नरेन्द्र कोपशिखिना, दग्धं विदग्धप्रियम्।
क्वेदानीं वसति करिष्यति पुनः श्री पुष्पदन्तः कविः ।।

भारत पर गजनवी सुल्तान का आक्रमण

ईसा की आठवीं शताब्दी के चतुर्थ दशक में खलीफा हशाम द्वारा नियुक्त सिन्ध प्रदेश के हाकिम (प्रशासक) जुनैद की नवसारी के पास गुजरात के तत्कालीन राज्यपाल पुलकेशिन, राष्ट्रकूट वंशीय महाराजा दन्तिदुर्ग और कन्नौजपति प्रतिहार नागावलोक (जैन धर्मावलम्बी आमराज) के हाथों भीषण पराजय और अरब सेना की अपूरणीय क्षति के पश्चात् लगभग २४३ वर्ष तक भारत पर मुसलमानों का कोई उल्लेखनीय आक्रमण नहीं हुआ।

ई. सन् ९७७ तदनुसार वीर नि. सं. १५०४ में गजनी के सुल्तान सुबुक्तगीन ने पंजाब पर आक्रमण किया। उस समय सरहिंद से लमगान तक और मुल्तान से काश्मीर तक सीमावाले लाहोर राज्य पर जयपाल (भीम अथवा भीमपाल[1] का पुत्र) का शासन था और वह भटिंडा के दुर्ग में रहता था। लाहोर के राजा जयपाल ने आततायी सेना पर भीषण आक्रमण किया। घोर युद्ध के पश्चात् जब जयपाल ने देखा कि उसकी सेना को बहुत क्षति पहुंच रही है तो उसने सोना, हाथी और खिराज आदि देना स्वीकार कर सुबुक्तगीन के साथ संधि करली। उसने तत्काल ५० हाथी और बहुतसी स्वर्णमुद्राएं देकर सुबुक्तगीन से कहा कि शेष धन लाहोर जाकर उसके आदमियों को दे देगा। सुबुक्तगीन गजनवी का पुत्र महमूद भी उस सैनिक आयोजन में अपने पिता के साथ था। महमूद ने अपने पिता से कहा कि संधि न की जाय किन्तु विपुल सम्पत्ति के लालच और युद्ध के परिणाम की अनिश्चितता की आशंका से उसने संधि करली। राजा ने बन्धक के रूप में अपने आदमी सुल्तान के पास रखे और गौरी के सुल्तान के आदमियों और अपनी सेना के साथ वह लाहोर लौट आया। महाराजा जयपाल ने मन्त्रणा के लिये राज्यसभा की आपद्कालीन बैठक आमन्त्रित कर सभा के समक्ष वस्तु स्थिति रखी। राजसिंहासन के दक्षिण पार्श्वस्थ ब्राह्मण अधिकारियों ने सुल्तान के आदमियों को बन्दी बना लेने और शत्रु को कानी कौड़ी तक न देने का पुरजोर शब्दों में परामर्श दिया। राजा के वाम पार्श्वस्थ क्षत्रिय सामन्तों ने वचन पालन का परामर्श देते हुए कहा कि यदि वचन भंग किया गया तो सुबुक्तगीन सुनिश्चित रूपेण बदले की भावना से और भी अधिक भीषण वेग से आक्रमण करेगा। जयपाल ने ब्राह्मण अधिकारियों के परामर्शानुसार सुल्तान के आदमियों को बन्दी बना लिया।

सुबुक्तगीन के पास जब ये समाचार पहुँचे कि जयपाल ने उसके साथ धोखा किया है, तो वह एक शक्तिशाली सेना के साथ गजनी से प्रयाण कर लाहोर की ओर बढ़ा। जयपाल भी दिल्ली, कालंजर और कन्नोज के राजाओं के साथ बड़ी सेना ले रणांगण में उपस्थित हुआ। सुबुक्तगीन की नई राजनीति और नवीन शस्त्रास्त्रों के परिणामस्वरूप जयपाल की सेना युद्धभूमि से भाग उठी। गजनी के

---

१. फिरिश्ता में हितपाल नाम उपलब्ध होता है। ब्रिग, फिरिश्ता, जि. १, पृष्ठ १५

सुल्तान की सेनाओं ने सिन्धु नदी तक जयपाल का पीछा किया। सिन्ध के पश्चिमी प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित कर लूट में प्राप्त विपुल सम्पदा के साथ गजनी की ओर लौट गया। सिन्धु व पश्चिमी प्रदेशों पर अपना शासन सुदृढ़ एवं सुस्थिर बनाये रखने के लिये सुबुक्तगीन ने पेशावर में १०,००० सैनिकों के साथ अपना हाकिम रखा।

इस प्रकार भारत के पश्चिमी प्रदेश सिन्ध प्रदेश के पश्चात् भारत की उत्तरी सीमा के प्रदेशों पर भी इस्लामी हुकूमत की स्थापना हो गई।

सुबुक्तगीन कौन था और किस प्रकार गजनी का सुल्तान बना इस सम्बन्ध में फिरिश्ता आदि इतिहास लेखकों के आधार पर रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने लिखा है :—

"ईसा की नौवीं शताब्दी से, जबकि बगदाद के अब्बासिया वंश के खलीफों का बल घटने लगा, उनके कई सूबे स्वतन्त्र बन गये। समरकंद, बुखारा आदि में एक स्वतन्त्र मुसलमान राज्य स्थापित हो चुका था। वहां के अमीर अबुक मलिक ने तुर्क अलप्तगीन को ई० सन् ९७२ (वि० सं० १०२९) में खुरासान का शासक नियत किया, परन्तु अबुक मलिक के मरने पर अलप्तगीन गजनी का स्वतन्त्र सुलतान बन बैठा। अलप्तगीन के पीछे उसका बेटा अबू इसहाक गजनी का स्वामी हुआ और अलप्तगीन का तुर्की गुलाम सुबुक्तगीन उसका नायब बनाया गया। इसहाक की मृत्यु के पीछे ई० सन् ९७७ (वि० सं० १०३४) में सुबुक्तगीन ही गजनी का सुलतान बना।"[1]

१. ब्रिग, फिरिश्ता, जि. १, पृष्ठ १२–१३। देखिये राजपूताने का इतिहास, पहली जिल्द, पृष्ठ २५७।

श्रमण भ० महावीर के ५०वें पट्टधर आचार्य
श्री विजय ऋषि

जन्म	वीर नि० सं० १४८७
दीक्षा	वीर नि० सं० १५०३
आचार्य पद	वीर नि० सं० १५२४
स्वर्गारोहण	वीर नि० सं० १५८६
गृहवास पर्याय	१६ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	२१ वर्ष
आचार्यपर्याय	६५ वर्ष
पूर्ण संयम पर्याय	८६ वर्ष
पूर्ण आयु	१०२ वर्ष

वीर निर्वाण सं० १५२४ में आचार्य श्री जयषेण के समाधिपूर्वक स्वर्गस्थ होने पर साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूपी चतुर्विध संघ ने मुनिश्रेष्ठ श्री विजय ऋषि को आचार्यपद के सर्वथा सुयोग्य समझ कर भ० महावीर के ५०वें पट्टधर आचार्य पद पर विधिवत् अधिष्ठित किया।

आपके आचार्यकाल में भी आर्यधरा पर चारों ओर चैत्यवासी परम्परा, दिगम्बर भट्टारक परम्परा, श्वेताम्बर भट्टारक परम्परा अर्थात् श्वेताम्बर श्रीपूज्य परम्परा आदि द्रव्य परम्पराओं का जनमानस पर प्रभुत्व था। इस प्रकार की विपरीत परिस्थितियों में भी आपने श्रमण भ० महावीर के विशुद्ध मूल धर्मसंघ की मर्यादाओं की रक्षा करते हुए जीवन भर जैन धर्मसंघ की सेवा की। ६५ वर्ष तक आचार्य पद के कार्यभार का समीचीन रूप से निर्वहन करते हुए आपने वीर नि० सं० १५८६ में समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण किया।



अड़तीसवें युग प्रधानाचार्य धर्मघोष (३८)

जन्म	वीर निर्वाण सम्वत् १४६६
दीक्षा	वीर निर्वाण सम्वत् १५०४
सामान्य साधु पर्याय	वीर निर्वाण सम्वत् १५०४ से १५२०
युग प्रधानाचार्य काल	वीर निर्वाण सम्वत् १५२० से १५६७
गृहस्थ पर्याय	८ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	१५ वर्ष (पन्द्रह वर्ष)
युगप्रधानाचार्य पर्याय	७८ वर्ष
स्वर्ग	वीर निर्वाण सम्वत् १५६७
सर्वायु	१०१ वर्ष, ७ मास और सात दिन

उपरिवर्णित तथ्यों के अतिरिक्त आपका जीवन परिचय उपलब्ध नहीं होता।

आपके पश्चात् विभिन्न गच्छों एवं समय में धर्मघोष नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। नाम साम्य के कारण भ्रान्तिवश एक दो इतिहासविदों ने इन्हें राजगच्छ के आचार्य शीलभद्र सूरि का तृतीय पट्टधर बताया है किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों पर विचार करने के पश्चात् उनकी यह मान्यता नितान्त निराधार सिद्ध होती है। शीलभद्र सूरि के तृतीय पट्टधर धर्मघोष को विक्रम सम्वत् ११८६ तद्नुसार वीर निर्वाण सम्वत् १६५६ की रचना "धर्म कल्पद्रुम" उपलब्ध है, जबकि ३८वें युग प्रधानाचार्य धर्मघोप का वीर निर्वाण सम्वत् १५६७ अर्थात् इस रचना से ५६ वर्ष पूर्व ही स्वर्गवास हो चुका था। राजगच्छ के ये आचार्य धर्मघोप वस्तुतः ३९वें युग-प्रधानाचार्य श्री विनयमित्र के युग प्रधानाचार्य काल में हुए हैं। युग प्रधानाचार्य श्री विनयमित्र के प्रकरण में इन राज गच्छीय आचार्य धर्मघोप का परिचय दिया जायेगा।

—:०:—

वीर निर्वाण की पन्द्रहवीं सोलहवीं शताब्दी के जिनशासन-प्रभावक गंगवंशीय महाराजा एवं सेनापति

श्रमण भगवान् महावीर के ४६वें पट्टधर आचार्य श्री जयसिंह के आचार्य-काल में गंग वंश के चौबीसवें राजा महाराजा मारसिंह गंग कन्दर्प-सत्यवाक्य- नव-लम्ब कुलान्तक देव (वीर निर्वाण सम्वत् १४६० से १५०१) बड़ा ही प्रतापी एवं जिनशासन-भक्त, परम श्रद्धालु और जिनशासन-प्रभावक राजा हुआ। इसने अपने ग्यारह वर्ष के शासनकाल में जिन शासन के प्रचार-प्रसार, अभ्युदय एवं सर्वतो-मुखी अभ्युत्थान के अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। जैसा कि इसी इतिहास ग्रन्थमाला के तृतीय भाग में बताया जा चुका है, गंग वंश के इस महाप्रतापी राजा ने अपनी आयु के सन्ध्याकाल में बंकापुर के भट्टारक अजितसेन की सन्निधि में शक सम्वत् ८९६ तदनुसार वीर निर्वाण सम्वत् १५०१ में संलेखना-संथारापूर्वक पण्डित मरण का वरण किया। यह महाराजा वस्तुतः चालुक्य राजकुमार राजादित्य के लिये कराल काल के समान भयोत्पादक था। इतिहास-प्रसिद्ध जिनशासन प्रभावक सेनापति चामुण्डराय इस चौबीसवें गंगराज के शासनकाल में एवं इसके पुत्र महाराजा राचमल्ल, राजमल्ल चतुर्थ, सत्यवाक्य (ईस्वी सन् ९७४ से ९८४ तदनुसार वीर निर्वाण सम्वत् १५०१ से १५११) का भी सेनापति और मन्त्री रहा।

गंगवंश के मन्त्री एवं सेनापति चामुण्डराय ने वीर निर्वाण सम्वत् १५५५ तदनुसार ईस्वी सन् १०२८ की तेईस मार्च के दिन श्रवण बेलगोल पर्वतराज के उच्चतम शृङ्ग को कटवा छंटवा कर एक ही ठोस पाषाणपुंज की उच्चकोटि की कला की प्रतीक गोम्मटेश्वर (बाहुबलि) की विश्व भर के लिये आश्चर्यस्वरूपा साढ़े छप्पन फुट ऊंची एक विशाल मूर्ति का निर्माण करवाया था।

—: ० :—

चैत्यवासी परम्परा के उन्मूलन का अभियान

प्रस्तुत ग्रन्थमाला के इससे पूर्व के तृतीय भाग में प्रबल ऐतिहासिक तथ्यों के ग्राधार पर बड़े विस्तार के साथ प्रमाण पुरस्सर यह बताया जा चुका है कि वीर निर्वाण की ग्यारहवीं शताब्दी के पदार्पण के साथ ही श्रमण भगवान् महावीर के धर्म संघ में एक अभूतपूर्व परिवर्तनकारी ऐसा प्रबल मोड़ ग्राया, जिसने लगभग एक हजार वर्ष से एकता के सूत्र में ग्राबद्ध चले ग्रा रहे न केवल जैन धर्मसंघ को ही झकझोर कर रख दिया, अपितु जैनधर्म की प्राणभूता परम्परागत ग्रागमिक मान्यताग्रों में भी ग्रामूलचूल परिवर्तन कर जैनधर्म एवं श्रमण धर्म के मूल स्वरूप को ही बदल दिया। उस परिवर्तनकारी मोड़ के परिणामस्वरूप जैन धर्मसंघ में अनेक द्रव्य परम्पराएं प्रादुर्भूत हुईं, पनपीं, पुष्पित ग्रौर पल्लवित हुईं। बड़ी ही द्रुतगति से उनका वर्चस्व जैन संघ पर ग्रौर जन-जन के मानस पर ऐसा छाया कि जिस प्रकार सघन घन-घटाग्रों के घटाटोप में सूर्य छिप जाता है, प्रायः उसी प्रकार परम्परागत ग्रध्यात्मपरक मूल परम्परा गौण होते-होते नितान्त नगण्य-लुप्तप्राय सी हो गई।

वीर निर्वाण की ग्यारहवीं शताब्दी से प्राबल्य में ग्राई उन द्रव्य परम्पराग्रों में सर्वाधिक सक्रिय ग्रौर सशक्त परम्परा, चैत्यवासी परम्परा सामान्यतः लगभग सम्पूर्ण उत्तर भारत पर अपना एकाधिपत्य ग्रौर साधारणतः कर्णाटक, ग्रान्ध्र ग्रादि दक्षिणी प्रान्तों के कतिपय क्षेत्रों पर लिंगायतों के ग्रभ्युदय से पर्याप्त पूर्व काल में अपना प्रभाव जमा चुकी थी।

चैत्यवासी परम्परा ने अपने नवीनतम ग्राडम्बरपूर्ण ग्रत्याकर्षक धार्मिक उत्सवों, ग्रायोजनों एवं चमत्कार प्रदर्शन ग्रादि के माध्यम से जन-मानस को अपनी ग्रोर ग्राकर्षित करने में ग्राश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की। वीर निर्वाण की ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक तो उपरिवर्णित विशाल भू-भाग के जैन धर्मावलम्बियों पर चैत्यवासी परम्परा छा गई। गुजरात, राजस्थान, मालवा, मत्स्य ग्रौर उत्तर प्रदेश के जैन संघों पर चैत्यवासी परम्परा का एक प्रकार से एकाधिपत्य सा छा गया। इसके बढ़ते हुए वर्चस्व के परिणामस्वरूप न केवल श्रावक-श्राविका वर्ग ही अपितु मूल परम्परा के श्रमण-श्रमणी वर्ग भी सामूहिक रूप से चैत्यवासी परम्परा के अनुयायी बनने लगे।

मूल परम्परा के प्रचारक-प्रसारक एवं प्राणभूत श्रमण-श्रमणी वर्ग की उत्तरोत्तर विघटित होती हुई स्थिति ग्रौर श्रमणोपासक-श्रमणोपासिका वर्ग की स्वल्प से स्वल्पतर एवं स्वल्पतम होती जा रही संख्या के फलस्वरूप मूल परम्परा

के अस्तित्व तक पर संकट के काले बादल मण्डराने लगे। धर्म के मूल विशुद्ध स्वरूप और सर्वज्ञ प्रणीत आगमानुसारी श्रमणाचार की रक्षा के लिए मूल परम्परा के गच्छों ने मिलकर "सुविहित परम्परा" को जन्म दिया।

सुविहित परम्परा के आचार्यों, श्रमणों, श्रमणियों तथा उनके उपासक उपासिका वर्ग के सामूहिक प्रयास, चैत्यवासी परम्परा के एकाधिपत्यात्मक वर्चस्व के संक्रान्तिकाल में जैनधर्म के मूल स्वरूप और आगमानुसारी विशुद्ध श्रमणाचार की, मूल श्रमण परम्परा की रक्षा करने में कतिपय अंशों में सफल भी हुए, किन्तु राज्याश्रयप्राप्त चैत्यवासी परम्परा अपने सुदृढ़ संगठन, विपुल भौतिक साधनों, जनमन-रंजनकारी चित्ताकर्षक आडम्बर पूर्ण धार्मिक आयोजनों, अनुष्ठानों, उत्सवों, महोत्सवों, संघयात्राओं और प्रभावनाओं के बल पर उत्तरोत्तर अधिकाधिक बहुजन सम्मत एवं लोकप्रिय होती गई। इस प्रकार सुविहित परम्परा के प्रचार-प्रसार एवं शक्ति संचय के पथ में चैत्यवासी परम्परा एक प्रबल बाधक (रोडा) ही बनी। समय-समय पर सुविहित परम्परा के कर्णधार आचार्यों द्वारा जैन समाज के समक्ष आगमानुसारी धर्म एवं श्रमणाचार का विशुद्ध स्वरूप रखा गया और मूल परम्परा को पुरातन प्रतिष्ठित पद पर पुनः प्रतिष्ठापित करने के प्रयास भी किये गये किन्तु उन्हें चैत्यवासी परम्परा के दुर्भेद्य सुदृढ़ गढ़ तुल्य प्रदेशों में प्रवेश तक प्राप्त नहीं हो सका।

हरिभद्र सूरि, अभयदेव सूरि, जिनवल्लभ सूरि आदि पूर्वाचार्यों के अतिरिक्त जैन इतिहास में अभिरुचि रखने वाले प्रायः सभी मनीषियों ने भी वीर निर्वाण सं० १००० के पश्चात् चैत्यवासी परम्परा के लोकप्रिय वर्चस्व एवं व्यापक प्रचार-प्रसार के परिणामस्वरूप जैन धर्म के विशुद्ध मूल स्वरूप में उत्पन्न हुई विकृतियों, मूल परम्परा के अत्यन्तिक ह्रास, विघटन आदि पर गहरा दुःख प्रकट किया है। देखें संघपट्टक की प्रस्तावना में क्या लिखा गया है :—

> "सदरहु देवर्द्धिगणि, भगवान थी १००० वर्षे स्वर्गवासी थया अने ते साथे खरूं जिन शासन गुम थई तेना स्थाने चैत्यवासियोए पोता नो दोर अने जोर चलाववा मांड्यो।"
>
> ....आ चैत्यवास रूप कुमार्ग जैन धर्म ना नामे चौमेर फैलाव मांड्यो।....................
>
> ....एम वीर प्रभु ना निर्वाण थी १००० वर्ष बीत्यां बाद जोर पर चढेलो चैत्यवास लगभग १००० वर्ष लगी[1] चाली ने पाछो सदंतर बन्द पड्यो।"

---

१. जैन वांग्मय के आलोडन से यह सिद्ध होता है कि वीर नि० सं० २१३० के समय तक भी चैत्यवासियों का कहीं-कहीं अस्तित्व था। यथा : "सं० (वि० सं०) १६६० में शाह श्री रत्नपाल (कडवा गच्छ के पट्टधर) ने राजनगर में चातुर्मास किया। ....श्री संघ सिरोही आया, वहां चैत्यवासी के साथ चर्चा शाह श्री रत्नपाल तथा संघ के आदेश से शाह जिनदास ने की।"

—कडवा मत पट्टावली; पट्टावली परागसंग्रह (जालोर) पृष्ठ ५०६, ५०७

इन सब तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में तटस्थ भाव से विचार करने पर प्रत्येक विचारक इसी निष्कर्ष पर पहुंचेगा कि चैत्यवासी परम्परा के व्यापक वर्चस्व एवं प्रचार-प्रसार के परिणामस्वरूप जिनशासन का वीर निर्वाण सम्वत् १००१ से २००० तक की अवधि के बीच दुखद विघटन हुआ, जैनधर्म की विशुद्ध मूल परम्परा नितान्त गौण, स्वल्पजन-सम्मत एवं अतीव क्षीण अवस्था में अवशिष्ट रह गई थी। यदि संक्षेप में यह कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि सूर्य के समान प्रकाशमान जिनशासन का विशुद्ध मूल स्वरूप विकृतियों की काली घटाओं से आच्छन्न अथवा तमसावृत्त हो गया था।

द्रव्य परम्पराओं की जननी चैत्यवासी परम्परा का वर्चस्व वीर निर्वाण की ग्यारहवीं शताब्दी से वीर निर्वाण की सोलहवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध तक जिस द्रुत गति से उत्तरोतर बढ़ता ही गया, वह यदि उसी गति से चार पांच शताब्दी तक और बढ़ता जाता तो आज आर्यधरा पर सर्वज्ञ प्रणीत आगमानुसारी जैनधर्म के मूल विशुद्ध स्वरूप के और जिस संख्या में पंच महाव्रतधारी विहरूक त्यागी श्रमण श्रमणियों के दर्शन सुलभ हो रहे हैं, सम्भवतः वे इस रूप में दर्शन नितान्त दुर्लभ हो जाते। किन्तु इसे मुमुक्षुओं का सद्भाग्य ही कहा जावेगा कि उस संक्रान्ति काल में भी बीज रूप में विद्यमान रही विशुद्ध श्रमण परम्परा के आगम मर्मज्ञ विद्वान् वनवासी आचार्य उद्योतनसूरि के पास विशुद्ध श्रमण धर्म में दीक्षित हो आगमों के अध्ययन के अनन्तर एक निर्भीक एवं मेधावी श्रमणवर ने अभिनव धर्म-क्रान्ति का सूत्रपात्र कर चैत्यवासियों के इंगित पर लगभग पांच सौ साढ़े पांच सौ वर्षों से अन्धकार की ओर अग्रसर होते आ रहे जैनसंघ को अन्धकार से प्रकाश की ओर मोड़ दिया-उन्मुख किया।

धर्मक्रान्ति का शंखनाद

जिस समय चैत्यवासी परम्परा चरमोत्कर्ष पर थी, उस समय विक्रम की ग्याहरवीं शताब्दी के मध्य भाग (विक्रम सम्वत् लगभग ११६० से ११८० के बीच की अवधि) में, जैन संघ में एक ऐसी अभिनव क्रान्तिकारिणी परम्परा का अभ्युदय हुआ, जिसने भगवान् महावीर की विशुद्ध मूल श्रमण परम्परा का ह्रास करने वाली, शिथिलाचार, वाह्याडम्बर, भौतिक विधि विधान, अनुष्ठान, चैत्यों में नियतनिवास, मठाधिपत्य, परिग्रह संचय, विहार-परित्याग आदि अशास्त्रीय एवं श्रमणाचार से नितान्त प्रतिकूल कार्यकलापों के माध्यम से जैनधर्म के सर्वज्ञ प्रणीत विशुद्ध स्वरूप तथा मूल, विशुद्ध श्रमणाचार में आमूलचूल परिवर्तन कर अनेक प्रकार की विकृतियों को जन्म देने वाली द्रव्य परम्परा, चैत्यवासी परम्परा के वर्चस्व को समाप्त करने एवं जैनधर्म तथा श्रमणाचार के विशुद्ध स्वरूप को पुनः प्रतिष्ठापित करने का बीड़ा उठाया। इस परम्परा के संस्थापक थे वर्द्धमान सूरि।

इस परम्परा के प्रथम संस्थापक आचार्य वर्द्धमानसूरि से लेकर सातवें आचार्य श्री जिनपतिसूरि तक अर्थात् सात पीढ़ी तक विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के अन्त पर्यन्त चैत्यवासी परम्परा के साथ इस परम्परा का संघर्ष चलता रहा।

वर्द्धमानसूरि प्रारम्भ में चैत्यवासी परम्परा में दीक्षित हुए थे। खरतर-गच्छ बृहद् गुर्वावलि के उल्लेखानुसार इनके चैत्यवासी गुरु का नाम आचार्य जिन-चन्द्र था, जो कि चौरासी स्थावलकों—चैत्यों के अधिनायक थे। आगमों की वाचना ग्रहण करते समय ८४ आशातनाओं का पाठ आने पर उस पर मनन करते हुए चैत्यवासी मुनि के मन में ऊहापोह उत्पन्न हुआ। आगमों में प्रतिपादित श्रमणाचार से चैत्यवासी साधुओं का नितान्त विपरीत आचार-व्यवहार देखकर उन्होंने अपने गुरु आचार्य जिनचन्द्र से निवेदन किया :—"गुरुदेव! यदि इन आशातनाओं से बचकर विशुद्ध श्रमणधर्म का पालन किया जाय, तभी आत्मा का कल्याण हो सकता है।"

अपने शिष्य की बात सुनकर चैत्यवासी आचार्य जिनचन्द्र स्तब्ध रह गये। उनके मन में शंका उत्पन्न हुई कि यह मेधावी साधु चैत्यवासी परम्परा के विरुद्ध कहीं विद्रोह न कर बैठे। आचार्य जिनचन्द्र ने अपने शिष्य को चैत्यवासी परम्परा में ही बनाये रखने के उपायों पर विचार कर उसे प्रलोभन देने का निश्चय किया। उन्होंने शीघ्र ही मुनि वर्द्धमान को आचार्यपद प्रदान कर दिया। आचार्य जिनचन्द्र को आशा थी कि इस प्रलोभन के अनन्तर उनके शिष्य के मन-मस्तिष्क में उठी विचारक्रान्ति ठण्डी पड़ जायगी। किन्तु चैत्यवासी आचार्य की वह आशा नितान्त निराशा में परिणत हो गई। आचार्य पद का प्रलोभन उन्हें सत्पथ पर अग्रसर होने से नहीं रोक सका। सत्य की उस झलक मात्र से ही वर्द्धमान मुनि का मन चैत्यवास से उचट गया। सत्य का साक्षात्कार करने की उनके अन्तर्मन में अमिट उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में अपने गुरु से कहा कि आत्म-कल्याण के उद्देश्य से वे घरबार छोड़कर निकले हैं। अतः अब वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रभु महावीर द्वारा प्रदर्शित साधना के आगमानुसारी प्रशस्त पथ पर अग्रसर होंगे।

अपने चैत्यवासी गुरु जिनचन्द्राचार्य को इस प्रकार सविनय निवेदन कर मुनि वर्द्धमान अपने कतिपय चैत्यवासी साथी मुनियों के साथ चैत्यवासी परम्परा का त्याग कर आगमानुसारी विशुद्ध श्रमण धर्म की दीक्षा अंगीकार करने के लिये निरतिचार विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले आगमों के मर्मज्ञ, ज्ञान और क्रिया रूपी गंगा-यमुना के संगमभूत श्रमणोत्तम गुरु की खोज में इधर-उधर विचरने लगे। अनेक सुदूरवर्त्ती क्षेत्रों में विचरण करने के अनन्तर उन्हें उद्योतनसूरि नामक अरण्यचारी (वनवासी) परम्परा के आचार्य के सम्बन्ध में सूचना मिली कि वे

वड़े ही क्रियानिष्ठ एवं आगम-निष्णात आचार्य हैं और दिल्ली के आसपास के क्षेत्र में विचरण कर रहे हैं।

मुनि वर्द्धमान अपने साथियों सहित अप्रतिहत विहार कर दिल्ली क्षेत्र के आसपास विचरण करते हुए उद्योतनसूरि की सेवा में पहुंचे। वर्द्धमान मुनि को उद्योतनसूरि के दर्शन और उनके साथ वातचीत से तत्काल विश्वास हो गया कि जिस प्रकार के क्रियापात्र और समर्थ गुरु की खोज में थे, वे उसी प्रकार के गुरु की सेवा में पहुँच गये हैं।

वर्द्धमान मुनि ने अपने विषय में अथ से इति तक पूरा विवरण उद्योतनसूरि के समक्ष निवेदित करने के अनन्तर उनसे प्रार्थना की :—

"आचार्यदेव! मैं विश्ववन्धु भगवान् महावीर द्वारा प्रदर्शित विशुद्ध धर्म-मार्ग पर आरूढ़ हो कर आत्म-कल्याण का आकांक्षी हूं। दया सिन्धो! पंच महाव्रतों की श्रमण दीक्षा देकर आप मुझे अपने चरणों की शरण में ले आगमों का ज्ञान प्रदान कीजिये।"

उद्योतनसूरि ने भवभीरु एवं सुयोग्य पात्र समझ चैत्यवासी परम्परा का परित्याग कर आये हुए मुमुक्षु वर्द्धमान और उनके साथियों को जीवन पर्यन्त सभी प्रकार के सावद्य योगों का त्रिविध योग एवं त्रिविध करण से त्याग करवाते हुए श्रमण-धर्म की दीक्षा प्रदान की।

उपसम्पदा ग्रहण करने के अनन्तर वर्द्धमान मुनि ने वड़ी निष्ठा और पूर्ण विनयपूर्वक अपने गुरु उद्योतन सूरि से एकादशांगी प्रमुख आगमों का अध्ययन किया। आगमों का तलस्पर्शी ज्ञान प्रदान करने के पश्चात् उद्योतनसूरि ने ही सम्भवत: कालान्तर में वर्द्धमानसूरि को सूरि मन्त्र प्रदान किया। इस प्रकार विशुद्ध मूल श्रमणाचार के पालक सूरि प्रदीप से दूसरा श्रमण दीप प्रदीप्त हुआ।

सूरि मन्त्र की साधना के अनन्तर वर्द्धमानसूरि ने चैत्यवासियों द्वारा विकृत किये गये धर्म के मूल स्वरूप और विशुद्ध श्रमणाचार को प्रकाश में लाने, जन-जन के समक्ष प्रकट करने का भगीरथ प्रयास प्रारम्भ किया।

खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली और वृद्धाचार्य प्रवन्धावलि में वर्द्धमानसूरि एवं इनके उत्तरवर्त्ती पट्टधरों के सम्बन्ध में कतिपय परस्पर विरोधी, अतिशयोक्तिपूर्ण तथा सुविहित श्रमणाचार से मेल न खाने वाली वातों का उल्लेख किया गया है।[1] उन उल्लेखों के सम्बन्ध में स्वर्गीय पंन्यास श्री कल्याणविजयजी महाराज

१. वृद्धाचार्य प्रवन्धावलि में "..........अरण्यचारी गच्छनायगा सिरि उज्जोयण सूरि पट्टधारिणो" में इस प्रकार का उल्लेख है किन्तु खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली में अरण्यचारी का उल्लेख न कर केवल "तथैवोद्योतनाचार्य आसीत्" यही उल्लेख है।
—खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली, पृष्ठ ८६ और १।

(तपागच्छीय) ने अपनी "पट्टावली पराग संग्रह" नामक कृति में पृष्ठ २५५ से ४८२ तक लगभग १२७ पृष्ठों में विशद् प्रकाश डाला है। लब्धप्रतिष्ठ इतिहासज्ञ स्व० पंन्यास श्री द्वारा प्रस्तुत किये गये एतद्विषयक विवरण के कतिपय महत्त्वपूर्ण विचारणीय अंश इतिहास-प्रेमियों के लाभार्थ यहां उद्धृत किये जा रहे हैं :—

"वर्तमान काल में खरतरगच्छ तथा अंचलगच्छ की जितनी भी पट्टावलियां हैं, उनमें से अधिकांश पर कुलगुरुओं की वहियों का प्रभाव है। विक्रम की **दशवीं शती तक जैन श्रमणों में शिथिलाचारी साधुओं की संख्या इतनी बढ़ गई थी कि उनके मुकाबले में सुविहित साधु बहुत ही कम रह गये थे।** शिथिलाचारियों ने अपने अड्डे एक ही स्थान पर नहीं जमाये थे, उनके बडेरे जहां-जहां फिरे थे, जहां-जहां के गृहस्थों को अपना भाविक बनाया था उन सभी स्थानों में शिथिलाचारियों के अड्डे जमे हुए थे, जहां उनकी पौषध शालाएं नहीं थीं, वहां अपने अड्डों से अपने गुरुओं के भाविकों को सम्हालने के लिये जाया करते थे, जिससे कि उनके पूर्वजों के भक्तों के साथ उनका परिचय बना रहे, गृहस्थ भी इससे खुश रहते थे कि हमारे कुलगुरु हमारी सम्हाल लेते हैं। उनके यहां कोई भी धार्मिक कार्य-प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा, संघ आदि का प्रसंग होता, तब वे अपने कुल गुरुओं को आमन्त्रित करते और धार्मिक विधान उन्हीं के हाथों से करवाते। धीरे-धीरे वे कुलगुरु परिग्रहधारी हुए, वस्त्र-पात्र के अतिरिक्त द्रव्य की भेंट भी स्वीकार करने लगे। तब से (उस युग में यदि) कोई गृहस्थ अपने कुलगुरु को न बुलाकर दूसरे गच्छ के आचार्य को बुला लेता और प्रतिष्ठा आदि कार्य करवा लेता तो उनका कुलगुरु बना हुआ आचार्य कार्य करने वाले अन्य गच्छीय आचार्य से झगड़ा करता। इस परिस्थिति को रोकने के लिये कुलगुरुओं ने विक्रम की बारहवीं शताब्दी से अपने-अपने श्रावकों के लेखे (वहियां) अपने पास रखने शुरु किये, किस गांव में कौन-कौन गृहस्थ अपना अथवा अपने पूर्वजों का मानने वाला है, उनकी सूचियां बनाकर अपने पास रखने लगे और अमुक-अमुक समय के बाद उन सभी श्रावकों के पास जाकर उनके पूर्वजों की नामावलियां सुनाते और उनकी कारकीर्दियों की प्रशंसा करते, तुम्हारे बडेरों को हमारे पूर्वज अमुक आचार्य महाराज ने जैन बनाया था, उन्होंने अमुक-अमुक धार्मिक कार्य किये थे— इत्यादि बातों से उन गृहस्थों को राजी करके दक्षिणा प्राप्त करते। यह पद्धति प्रारम्भ होने के बाद वे शिथिल साधु धीरे-धीरे साधु मार्ग से पतित हो गये और "कुलगुरु" तथा "बही वंचों" के नाम से पहिचाने जाने लगे। आज पर्यन्त ये कुलगुरु जैन जातियों में बने रहे हैं, परन्तु विक्रम की बीसवीं सदी से वे लगभग सभी गृहस्थ बन गये हैं, फिर भी कतिपय वर्षों के बाद अपने पूर्वज प्रतिबोधित श्रावकों को वन्दाने के लिये जाते हैं, वहियां सुनाते

हैं और भेंट-पूजा लेकर आते हैं, इस प्रकार के कुलगुरुओं की अनेक वहियां हमने देखी और पढ़ी हैं। उनमें वारहवीं शती के पूर्व की जितनी भी बातें लिखी गई हैं, वे लगभग सभी दन्तकथा मात्र हैं।[1] इतिहास से उनका कोई सम्वन्ध नहीं, गोत्रों और कुलों की वहियां लिखी जाने के बाद की हकीकतों में आंशिक तथ्य अवश्य देखा गया है, परन्तु अमुक हमारे पूर्वज आचार्य ने तुम्हारे अमुक पूर्वजों को जैन वनाया था और उसका अमुक गौत्र स्थापित किया था, इन बातों में कोई तथ्य नहीं होता, गोत्र किसी के वनाने से नहीं वनते आजकल के गोत्र उनके वडेरों के धन्धों रोजगारों के ऊपर से प्रचलित हुए हैं, जिन्हें हम "अटक" कह सकते हैं। खरतरगच्छ की पट्टावलियों में अनेक आचार्यों के वर्णन में लिखा मिलता है कि अमुक को आपने जैन वनाया और उसका यह गोत्र कायम किया, अमुक आचार्य ने इतने लाख और इतने हजार अजैनों को जैन वनाया, इस कथन का सार मात्र इतना ही होता है कि उन्होंने अपने उपदेश से अमुक गच्छ में से अपने सम्प्रदाय में इतने मनुष्य सम्मिलित किये। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की बातों में कोई सत्यता नहीं होती, लगभग आठवीं-नौवीं शताब्दी से भारत में जाति-वाद का किला वन जाने से जैन समाज की संख्या बढ़ने के वदले घटती ही गई है। इक्का-दुक्का कोई मनुष्य जैन होगा तो जातियों की जातियाँ जैन समाज से निकल कर अन्य धार्मिक सम्प्रदायों में चली गई हैं, इसी से तो करोड़ों से घटकर जैन समाज की संख्या आज लाखों में आ पहुंची है। ऐतिहासिक परिस्थिति उक्त प्रकार की होने पर भी वहुतेरे पट्टावलि लेखक अपने अन्य आचार्यों की महिमा वढ़ाने के लिये हजारों और लाखों मनुष्यों को नये जैन वनाने का जो ढिंढोरा पीटते जाते हैं, इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, इसलिये ऐतिहासिक लेखों, प्रवन्धों और पट्टावलियों में इस प्रकार की अतिशयोक्तियों और कल्पित कहानियों को स्थान नहीं देना चाहिये।"[2]

खरतरगच्छ की विभिन्न पट्टावलियों में उल्लिखित परस्पर एक दूसरी से भिन्न तथ्यों, खरतर गच्छ वृहद् गुर्वावली में उल्लिखित अतिशयोक्तिपूर्ण विवरणों, जिनेश्वर सूरी के उत्तरवर्ती काल में अश्वारोही सैनिकों के दलवल के मध्य राज-कीय छत्र से अलंकृत आचार्यों के, विविध वाद्ययन्त्रों के तुमुल घोष के बीच बड़े आडम्वर एवं राजसी ठाट-वाट के साथ नगर प्रवेश आदि के लालित्यपूर्ण उल्लेखों

१. इससे वहुत पूर्व राजा आम के शासन काल में, विक्रम सम्वत् ७७५ में ही कुल गुरुओं ने सर्वसम्मत नियम वनाकर अपनी-अपनी वाडेवन्दी प्रारम्भ कर दी थी।
—देखिये जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग ३, पृष्ठ ५२८ से ५३१।

२. पट्टावली पराग संग्रह, पृष्ठ ३८० से ३८२

तथा पट्टावली पराग संग्रह के ऊपर उद्धृत तथ्यों आदि के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि वर्द्धमान सूरी ने चैत्यवासियों द्वारा विकृत किये गये धर्म तथा श्रमणाचार के स्वरूप को पुनः पूर्वधरकालीन विशुद्ध रूप प्रदान करने का जिस दृढ़ संकल्प, निष्ठा एवं उत्साह के साथ बीड़ा उठाया था, उनकी दो तीन पीढ़ी पश्चात् ही उनके उत्तरवर्त्ती आचार्यों में वह उत्साह शनैः शनैः शिथिल अथवा मन्द पड़ता गया। धार्मिक कार्य-कलापों एवं अनुष्ठानों में प्रविष्ट बाह्याडम्बर को निर्मूल करने एवं जैन समाज पर छाये हुए चैत्यवासियों के वर्चस्व को समाप्त करने के उद्देश्य से वर्द्धमानसूरि ने चैत्यवासी परम्परा का परित्याग किया था। विश्व कल्याणकारी जैन धर्म के विशुद्ध आध्यात्मिक मूल स्वरूप एवं श्रमण परम्परा के प्राण-स्वरूप दुश्चर श्रमणाचार की छाप जन-जन की मनोभूमि पर अंकित करने के लिए वर्द्धमानसूरि ने जीवन भर प्रयास किया। उनके पश्चात् अनुक्रमशः उनके पट्ट पर आसीन होने वाले आचार्यों ने अपने पूर्वाचार्य वर्द्धमानसूरि द्वारा आगमानुसारी जिनधर्म के स्वरूप को पुनः प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से प्रारम्भ किये गये चैत्यवास-विरोधी अभियान को उत्तरोत्तर आगे की ओर बढ़ाया। वर्द्धमानसूरि के पट्ट पर अनुक्रमशः आसीन हुए उनके शिष्य, प्रशिष्य, प्रप्रशिष्य आचार्यों ने गुजरात, राजस्थान, मालवप्रदेश आदि प्रदेशों में अप्रतिहत विहार कर जन-जन के समक्ष धर्म और श्रमणाचार के आगमिक स्वरूप को प्रस्तुत कर चैत्यवासी परम्परा के न केवल वर्चस्व को ही समाप्त किया अपितु उसके अस्तित्व तक को भी घोर संकट में डाल दिया।

वनवासी आचार्य उद्योतनसूरि से विशुद्ध श्रमण दीक्षा (उप-सम्पदा) एवं शास्त्रज्ञान प्राप्त कर वर्द्धमानसूरि ने शिथिलाचार एवं द्रव्य परम्पराओं के दलदल में धंसे धर्मरथ का बड़े साहस के साथ उद्धार कर धर्म के विशुद्ध स्वरूप को पुनः प्रतिष्ठापित किया, वसतिवास को पुनः प्रारम्भ किया।[1] उसके लिये प्रत्येक जैन सहस्राब्दियों तक उनका ऋणी रहेगा।

वर्द्धमान सूरि की यह यशस्विनी परम्परा आगे चलकर "खरतरगच्छ" के नाम से विख्यात हुई। इस परम्परा के प्रमुख आचार्यों के जीवन और महत्त्वपूर्ण कार्य-कलापों पर क्रमशः यथाशक्य यथास्थान प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

---

१. ततः प्रभृते संजज्ञे, वसतीनां परम्परा।
महद्भिः स्थापितं वृद्धिमश्नुते नात्र संशयः ॥८९॥
—प्रभावक चरित्र, पृष्ठ १६३।

उद्योतनसूरि

द्रव्य परम्पराओं के उत्कर्ष काल में बाह्याडम्बरों एवं चमत्कारों की चकाचौंध के कारण बहुसंख्यक जैन धर्मावलम्बियों द्वारा उपेक्षित, अतिगौरण एवं क्षीरणावस्था को प्राप्त विशुद्ध मूल श्रमरण परम्परा एवं जैन धर्म के आगमिक स्वरूप को जनप्रिय बनाने वाले वर्द्धमानसूरि ने वनवासी उद्योतनसूरि से उसम्पदा-आगमानुसारी विशुद्ध श्रमरण धर्म की दीक्षा ग्रहरण की। वर्द्धमानसूरि ने अपने गुरुवर उद्योतनसूरि की सेवा में रह कर आगमों का गहन अध्ययन किया। उद्योतनसूरि ने आगम निष्णात अपने शिष्य वर्द्धमानसूरि को सुयोग्य सुपात्र समझ कर सूरिमंत्र भी दिया।

उद्योतनसूरि से आगमों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त करने के परिणामस्वरूप ही वर्द्धमान सूरि ने विश्वकल्याणकारी जैन धर्म के सच्चे स्वरूप एवं विशुद्ध श्रमरण-धर्म को पहिचाना। धर्म और श्रमरणाचार के विशुद्ध स्वरूप को भली-भांति पहिचान लेने के पश्चात् वर्द्धमानसूरि ने द्रव्य परम्पराओं की चकाचौंध में जन-जन को उनके द्वारा उपेक्षित धर्म के स्वरूप को समझाने का एक क्रान्तिकारी अभियान प्रारम्भ किया। उस गुरुतर महान् अभियान की पहली और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सफलता वर्द्धमान सूरि के जीवनकाल में ही उपलब्ध हो गई थी, यह तथ्य वर्द्धमान सूरि द्वारा पाटरणपति चालुक्यनरेश दुर्लभराज की राज्यसभा में कहे गये—"एष पण्डित जिनेश्वर उत्तर-प्रत्युत्तरं यद्भरिणष्यति तदस्माकं सम्मतमेव"[1] इस वाक्य से प्रकाश में आता है कि वर्द्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि ने दुर्लभराज की सभा में—"महाराज! अस्माकं मतेऽपि यद्गरणधरैश्चतुर्दशपूर्वधरैश्च यो दर्शितो मार्गःस एव प्रमारणीकर्तुं युज्यते, नान्यः"[2]—यह कह कर राजसभा के समक्ष इस शाश्वत सत्य को रखा कि जैन धर्म का विशुद्ध स्वरूप वही है, जो गरणधरों अथवा चतुर्दश पूर्वधरों द्वारा आगम शास्त्रों में प्रदर्शित किया गया है।

यह पहले बताया जा चुका है और प्रबुद्ध पाठक भी अनुभव करते होंगे कि यदि आगमिक विशुद्ध मूल धर्म और श्रमरणाचार की पुनर्प्रतिष्ठा के लिये वर्द्धमानसूरि द्वारा चैत्यवासी परम्परा के वर्चस्व को समाप्त करने का अभियान प्रारम्भ नहीं किया जाता तो आगमों में प्रतिपादित जैन धर्म तथा श्रमरणाचार का स्वरूप उत्तरोत्तर उपेक्षित, गौरण से गौरणतर और गौरणतम होता जाता और आज के युग

---

१. खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि, सिंघी जैन शास्त्र विद्यापीठ, भारतीय विद्याभवन बम्बई, पृष्ठ-३

२. .... वही ....

में उस स्वरूप के दर्शन भी विरल अथवा दुर्लभ हो जाते। पर वर्द्धमानसूरि ने उस प्रकार की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति नहीं आने दी।

धर्मोद्योत का एक क्रान्तिकारी अभियान प्रारम्भ कर वर्द्धमानसूरि ने उस संक्रान्तिकाल में सच्चे धर्म को और अधिक उपेक्षित अथवा क्षीण होने से उबारा। वर्द्धमानसूरि को यह प्रकाश उद्योतनसूरि से प्राप्त हुआ। इस प्रकार की स्थिति में वर्द्धमानसूरि के साथ-साथ उद्योतनसूरि का भी जैन इतिहास में सदा श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता रहेगा।

इस स्थिति में प्रत्येक विचारक के मन में इस प्रकार की जिज्ञासा का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि चैत्यवासी जैसी सशक्त परम्परा के एकछत्र वर्चस्वकाल में आगममर्मज्ञ, धर्म के विशुद्ध मूल स्वरूप एवं श्रमणाचार को अपने जीवन में ढालने वाले ये उद्योतनसूरि कौन थे? और किस क्षेत्र में वे विचरण करते थे? किन्तु हमें बड़े खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि विक्रम की दशवीं ग्यारहवीं शताब्दी के जैन वाङ्मय के सम्यग्रूपेण आलोडन के उपरान्त भी उद्योतनसूरि का प्रामाणिक एवं पूर्ण जीवन वृत्त अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुआ। वर्द्धमानसूरि के गुरु आचार्य उद्योतनसूरि के सम्बन्ध में अब तक उपलब्ध जैन वाङ्मय में जो उल्लेख उपलब्ध होते हैं, वे निम्नलिखित रूप में हैं :—

१. खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलि में उद्योतनसूरि के सम्बन्ध में केवल इतना ही उल्लेख है कि वर्द्धमान सूरि ने अभोहर देशस्थ "चैत्यवासी परम्परा के आचार्य अपने गुरु जिनचन्द्र से अनुमति प्राप्त कर कतिपय अपने साथियों के साथ चैत्यवासी परम्परा का परित्याग किया। विभिन्न प्रदेशों में विशुद्ध मूलश्रमण परम्परा के चारित्रनिष्ठ आगम मर्मज्ञ गुरु की खोज हेतु विचरण करते हुए वे दिल्ली (ढिल्ली अथवा दली) प्रदेश में पहुंचे। उन दिनों वहां सूरिवर श्री उद्योतनाचार्य विचरण कर रहे थे। उन उद्योतनसूरि से आगमों के मर्म का भली-भांति बोध पा चैत्यवासी परम्परा में पूर्वदीक्षित वर्द्धमान ने उनसे विशुद्ध श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की।[1] तदनन्तर वर्द्धमानसूरि को यह चिन्ता हुई कि इस सूरिमंत्र का अधिष्ठाता कौन है।"

खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली में इस बात पर कोई स्पष्ट प्रकाश नहीं डाला गया है कि वर्द्धमान सूरि को सूरिमंत्र उद्योतनसूरि से प्राप्त हुआ अथवा स्वतः या अन्य किसी से।

---

१. ततो गुरोःसम्मत्या निर्गत्य कतिचिन्मुनिसमेतो दिल्ली वा दली प्रभृति देशेषु समायातः। तस्मिन् प्रस्तावे, तत्रैवोद्योतनाचार्य सूरिवर आसीत्। तस्य पार्श्वे सम्यगागमतत्वं बुद्ध्वा, उपसंपदं गृहीतवान्। तदनन्तर श्री वर्द्धमानसूरेरियं चिन्ताजाता—"अस्य सूरिमंत्रस्य को अधिष्ठाता!

खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली, पृष्ठ १

खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली में इससे आगे यद्यपि वि. सं. १३९३ तक के इस संघ के आचार्यों के काल की घटनाओं का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है, किन्तु उद्योतनसूरि के सम्बन्ध में उपर्युल्लिखित के अतिरिक्त किसी प्रकार का उल्लेख नहीं किया है कि वे किस परम्परा के, किस गुरु के शिष्य थे, अथवा वर्द्धमान-सूरि से पूर्व उनके शिष्य-शिष्या परिवार में कितने साधु थे, कितनी साध्वियां थीं, उनमें प्रमुख के नाम क्या थे आदि।

२. "वृद्धाचार्य प्रबंधावलि" के वर्द्धमान सूरि प्रबन्ध में उद्योतनसूरि के नाममात्र के उल्लेख के साथ कहा गया है—"तदनन्तर किसी समय उद्योतनसूरि के पट्टधर अरण्यचारी (वनवासी) गच्छ के नायक आचार्य श्री वर्द्धमानसूरि अप्रतिहत विहारक्रम से एक ग्राम से दूसरे ग्राम में विचरण करते हुए आबू पर्वतराज की तलहटी में बसे कासद्रह ग्राम में आये"[1] इसमें वर्द्धमानसूरि के नाम के साथ "अरण्णचारीगच्छनायगा" विशेषण के प्रयोग द्वारा प्रकारान्तर अथवा परोक्ष रूप में उद्योतनसूरि को ही वनवासीगच्छ का आचार्य बताया गया है। क्योंकि वर्द्धमान-सूरि तो चैत्यवासी परम्परा से निकल आये थे और उद्योतनसूरि के शिष्य एवं पट्टधर होने के कारण ही वे वनवासीगच्छ के आचार्य के रूप में अभिहित किये जाने लगे।

इस प्रकार नामोल्लेख के अतिरिक्त उपरिलिखित प्रबन्ध में भी उद्योतनसूरि की गुरु परम्परा, शिष्यपरिवार एवं उन स्वयं के जीवन का कोई परिचय नहीं दिया गया है।

३. बीकानेर के श्रीपूज्य के श्री दानसागर जैन ज्ञान भण्डार में उपलब्ध, तीर्थ प्रवर्तन काल से सं० १८९२ तक की एक हस्त-लिखित गुर्वावली में, पो० सं० १० ग्रं० सं० १५२ में वर्द्धमानसूरि के गुरु इन उद्योतनसूरि का परिचय, भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर श्रीसुधर्मा स्वामी के उत्तरवर्ती आचार्यों का क्रम सं० के अतिरिक्त अधिकांशतः श्री मुनि सुन्दरसूरि की गुर्वावली पट्ट परम्परा तथा महोपाध्याय श्री धर्मसागरगणि द्वारा रचित तपागच्छ पट्टावली सूत्र (स्वोपज्ञया वृत्या समलंकृतं) से मिलता जुलता और कतिपय अंशों में नितरां भिन्न तथा अनेक स्थलों पर प्रकाशित पट्टावलियों के अभ्यस्त इतिहास रुचि पाठकों को नितान्त असंगत प्रतीत होने वाले विवरण के अनन्तर निम्नलिखित रूप में दिया गया है—

---

१. अन्नया कयाई सिरिवद्धमाणसूरि अरण्णचारिगच्छनायगा सिरि उज्जोयण-सूरिपट्टधारिणो गामाणुगामं दुइज्जमाणा..........खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली ..पृष्ठ ८६.

३२. ततः श्री रविप्रभसूरिः, ३३. ततः श्री यशोभद्रसूरिः, तस्य (स्य) च सुविहित मार्गाचरणात् सुविहितपक्ष इति प्रसिद्धिर्जाताः[1]

३६. तत्पट्टे श्री नेमिचन्द्रसूरि, ३७. तत्पट्टे श्री उद्योतनसूरिः अस्माच्चतुरशीति गच्छस्थापना जाता, तत्स्वरूपं यथा—एकदा श्री उद्योतनसूरिं महाविद्वांसं शुद्ध क्रियापात्रं च विज्ञाय अपरेषां त्र्यशीति संख्यानां स्थविराणां त्र्यशीतिशिष्याः पठनार्थं समागतास्तान् श्री गुरु सद्रीत्या पाठयति तस्मिन्नवसरे अभोहरदेशे स्थविर मण्डल्यां वृद्धस्य जिनचन्द्राचार्यस्य चैत्यवासिनः शिष्यो वर्द्धमाननामा सिद्धांतमवगाहमानश्चतुरशीत्याशातनाधिकारे आगते सति गुरुं प्रत्येवमुक्तवान् भो स्वामिन् ! चैत्ये निवसतामस्माकमाशातना न टलति ततोऽयं व्यवहारो मे न रोचते इत्युक्तिं श्रुत्वा गुरुणा यथातथा विप्रतारितोऽपि अयं स्वश्रद्धातो न परिभ्रष्टस्ततः श्रीउद्योतनसूरिं शुद्धक्रियावंतं श्रुत्वा तत्पार्श्वे समागत्य तस्यैव शिष्यो जातस्तदुपसंपदं च गृहीतवान् । ततः श्री गुरुभिर्योगादिकं वाहयित्वा सर्वे सिद्धान्ताः पाठिता : । क्रमेण योग्यं ज्ञात्वाचार्य-पदं दत्वा गच्छवृद्ध्यादि लाभं विज्ञाय उत्तराखण्डे विहारार्थमाज्ञा दत्ता । ततो वर्द्धमानाचार्योऽपि गुर्वादेशम् स्वीकृत्य तत्र गतः । अथ श्री उद्योतनसूरि स्त्र्यशीतिशिष्य परिवृतो मालवकदेशात् संघेन सार्द्धं शत्रुंजये गत्वा ऋषभेश्वरमभिवन्द्य पश्चाद्वलमानो रात्रौ सिद्धवटस्याधोभागे स्थितस्तत्र मध्यरात्रिसमये आकाशे रोहिणीशकट मध्यवृहस्पतिप्रवेशं विलोक्य एवमुक्तवान् साम्प्रतमीदृशी वेला विद्यते यतो यस्य मस्तके हस्तः क्रियते स प्रसिद्धिमान् भवतीति । अथैतत् श्रुत्वा त्र्यशीत्यपि शिष्यैरुक्तं—स्वामिन् ! वयं भवतां शिष्या स्मः यूयमस्माकं विद्यागुरवस्ततोऽस्मदुपरि कृपां कृत्वा हस्तः क्रियताम् । ततो गुरुभिरुक्तं वासचूर्णमानीयतां । तदा तैः शिष्यैः काष्ठछगणादिचूर्णं कृत्वा गुरुभ्य आनीय दत्तम् । गुरुभिरपि तच्चूर्णं मन्त्रयित्वा त्र्यशीतेः शिष्याणां मस्तके विक्षिप्तम् । ततःप्रभाते श्री गुरुभिः स्वस्याल्पायुर्ज्ञात्वा तत्रैवानशनं कृत्वा स्वर्गतिः प्राप्ता । अथ ते त्र्यशीतिरपि शिष्या आचार्य-पदं प्राप्य पृथक् पृथक् विहारं चक्रुः । अथैकः स्वशिस्यो वर्द्धमानसूरिः त्र्यशितिश्च इमे अन्यदीयाः शिष्या एवं चतुरशीतिः गच्छाः संजाता इति वृद्धवादः ।"

३८. उद्योतनसूरिपट्टे श्री वर्द्धमानसूरिः स च षण्मासान् यावत् आचाम्लतपः कृत्वा धरणेन्द्रं समाराध्य श्री सीमंधरस्वामिपार्श्वे संप्रेष्य सूरिमंत्रं शुद्धं कारितवान् । तथा पुनरेकदा विहारं कुर्वन् सरसाख्ये समाययौ ।" (अश्रुतपूर्व आश्चर्य)

---

१ "पण्हावागरण सूत्र" में श्रमणों के साथ "सुविहित" विशेषण का प्रयोग अनेक स्थानों पर किया गया है यथा—"जंपि य समणस्स सुविहियस्स उ रोगायंके बहु पगारम्मिसमुपण्णे. . "........"जंपि य समणस्स सुविहियस्स तु पडिग्गहधारिस्स भवति भायणभंडोवही उपकरणं पडिग्गहो पात्तबंधणं........।"
....पण्हावागरणं, संवरद्वार पंचम........

"तस्मिन्नवसरे च सोमब्राह्मणस्य द्वौ पुत्रौ शिवदासबुद्धिसागर नामानौ एका च कल्याणवतीनाम्नी पुत्री—एवं त्रयोऽप्येते सोमेश्वरमहादेवस्य यात्रार्थं गच्छन्तः सरसाभिधाने पत्तने समाजग्मुस्तत्र सरस्वत्यां नद्यां स्नात्वा रात्रौ तत्रैव सुप्ताः। ततोऽर्द्धरात्रिवेलायां सोमेश्वर : (महादेव :) प्रादुर्भूय तेभ्य इत्युवाच—भो ! प्रसन्नोऽहं मार्गयत मनोवांछितं वरं। ततस्तैर्वैकुण्ठं याचितम्। स प्राह—भो ! ममापि वैकुण्ठं नास्ति ततो भवद्भ्यः कुतो ददामि ? परं यदि वैकुण्ठे भवतां इच्छास्ति तर्हि श्री वर्द्धमानसूरेश्चरण—सेवा कार्या स एवैको वैकुण्ठदाताऽस्ति—इत्युक्त्वा देवोऽदृश्यो वभूव। ततः प्रातः काले ते त्रयोऽपि जना नद्यां स्नात्वा उपाश्रयमागत्य च गुरुभ्यो वैकुण्ठममार्गयन्। ततो गुरुभिरपि एकस्य भ्रातुर्मस्तकशिखायां स्थितां मत्सीं दर्शयित्वा दयामयं श्री जैनधर्मं द्योतयित्वा तान् प्रतिवोध्य दीक्षा दत्ता, योगादिकं वाहयित्वा सर्वसिद्धान्तपारगाःकृताः। शिवदासस्य जिनेश्वरेति नाम दत्तम्।"[1]

शोधार्थियों एवं इतिहास में अभिरुचि रखने वाले विज्ञजनों के लिये उपर्युद्धृत गुर्वावलि-गद्यांश में उल्लिखित प्रत्येक वात वड़ी गंभीरता के साथ मननीय है। इस गद्यांश से विभिन्न गच्छों की पट्टावलियों के ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यांकन में तथा उनकी प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता के निर्धारण में वड़ी सहायता मिलती है। तपागच्छ पट्टावली के उल्लेखों से पूर्णतः भिन्न प्रतिकूल अथवा विरुद्ध जिन घटनाओं का उल्लेख इस गुर्वावली में किया गया है, वे इस प्रकार हैं :—

१. तपागच्छ गुर्वावली में उद्योतनसूरि को विनयचन्द्रसूरि का पट्टधर और भगवान् महावीर की आचार्य परम्परा का ३५वां और मुनि सुन्दर रचित गुर्वावली परम्परा में ३६वां आचार्य वताया गया है।[2]

इसके विपरीत खरतरगच्छ की उपर्युल्लिखित दानसागर जैन ज्ञान भण्डार, वीकानेर में विद्यमान जैन गुर्वावली में उद्योतनसूरि को आचार्य नेमिचन्द्रसूरि का पट्टधर ३७वां आचार्य वताया गया है। तपागच्छ पट्टावली में इन्हीं आचार्य नेमिचन्द्र को ३९वें आचार्य के रूप में यशोभद्रसूरि के साथ वताया गया है। इसके विपरीत तपागच्छ पट्टावली में ३९वें उद्योतनसूरि के उत्तरवर्तीकालीन पट्टधर यशोभद्रसूरि को खरतरगच्छ की इस गुर्वावली में उद्योतनसूरि से ४ पट्ट पूर्व के ३४वें आचार्य के रूप में उल्लिखित किया गया है।[3]

---

१. गुर्वावली (१८९२) नक पो. १०. ग्रं. १५२, श्रीदानसागर जैन ज्ञान भण्डार वीकानेर। पत्र ५, ३८ पृष्ठों वाली इस गुर्वावली की फोटोस्टेट प्रति आ. विनय चन्द्रज्ञान भण्डार में है।

२. गुर्वावली (१८९२) नक पो. १० ग्रं. १५२ श्री दानसागर जैन ज्ञान भण्डार, वीकानेर पत्र ५. (८३ पृष्ठों वाली इस गुर्वावली की फोटोस्टेट प्रति आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञानभण्डार में है)।

३. पट्टावली समुच्चय प्रथम भाग पृष्ठ ४४, ५३, ५४ और (खरतरगच्छ) गुर्वावली दानसागर जैन ज्ञान भण्डार, वीकानेर पो. १०, ग्रं. १५२, पृष्ठ ८।

इस प्रकार दोनों पट्टावलियों में आचार्यों के पूर्वापर क्रम में परस्पर विरोधी बड़ा ही हेरफेर होने के कारण गहन शोध के विना यह कहना एक प्रकार से असंभव सा हो गया है कि इन दोनों पट्टावलियों में से कौनसी प्रामाणिक है और कौनसी अप्रामाणिक।

२. खरतरगच्छ की इस गुर्वावली के ऊपर उद्धृत पाठांश में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि उद्योतनसूरि को महान् विद्वान्, विशुद्ध श्रमणाचार का पालक (शुद्ध क्रियापात्र) समझ कर श्रमण समूहों के नायक ८३ स्थविरों ने अपना-अपना एक मेधावी शिष्य शास्त्रों के अध्ययन के लिये उद्योतनसूरि की सेवा में भेजा। उद्योतनसूरि ने उन ८३ स्थविरों के ८३ शिष्यों को शास्त्र का अध्ययन और विशुद्ध श्रमणाचार का वोध करवाया। उस अवसर पर अवोहर प्रदेश की स्थविर मण्डली के चैत्यवासी आचार्य जिनचन्द्राचार्य के वर्द्धमान नामक शिष्य को सिद्धान्तों का अवगाहन करते समय ८४ आशातना अधिकार को पढ़ कर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने अपने चैत्यवासी गुरु जिनचन्द्राचार्य से निवेदन किया—स्वामिन्! चैत्य में हमारे निवास के कारण हम इन आशातनाओं से वच नहीं सकते, इसलिये मुझे तो चैत्य में निवास किंचित्मात्र भी रुचिकर प्रतीत नहीं होता।" इस पर चैत्यवासी आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने अपने शिष्य वर्द्धमान को आक्रोशपूर्ण स्वर में विप्रताड़ित किया—भला-बुरा कहा। गुरु द्वारा भला-बुरा कहे जाने पर भी चैत्यवासी गुरु के शिष्य वर्द्धमान के मन में विशुद्ध श्रमणाचार के प्रति जो श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी, उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं आई। उसने चैत्यवास का परित्याग कर दिया और विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले उद्योतनसूरि की ख्याति सुन वह उनकी सेवा में उपस्थित हुआ और उनसे विशुद्ध श्रमण धर्म की उपसम्पदा अथवा दीक्षा ग्रहण कर उनका (उद्योतनसूरि का) शिष्य बन गया।

उद्योतनसूरि ने नवदीक्षित शिष्य वर्द्धमानसूरि को क्रमशः सभी सिद्धान्तों-आगमों का अध्ययन कराया। अपने मेधावी शिष्य वर्द्धमानसूरि मुनि को आगम-निष्णात एवं सुयोग्य समझ कर उद्योतनसूरि ने उन्हें आचार्य पद प्रदान किया। "मेरे इस मेधावी एवं प्रतिभाशाली शिष्य वर्द्धमान मुनि से मेरे गच्छ की अभिवृद्धि आदि अनेक काम होंगे"—यह कह कर उद्योतनसूरि ने उन्हें उत्तराखण्ड में विचरण करने की आज्ञा प्रदान की। गुरु आज्ञा को शिरोधार्य कर वर्द्धमानसूरि विहारक्रम से उत्तराखण्ड में पहुँचे और वहाँ विभिन्न ग्राम, नगर आदि में धर्मोपदेश देने लगे।

अपने शिष्य वर्द्धमानसूरि को उत्तराखण्ड की ओर विहार करने की आज्ञा प्रदान करने के अनन्तर ८३ श्रमण समूहों के स्थविरों द्वारा आगमों के अध्ययन हेतु अपने पास भेजे गये ८३ शिक्षार्थी श्रमण शिष्यों से परिवृत श्री उद्योतनसूरि ने संघ के साथ मालव प्रदेश से शत्रुन्जय पर्वतराज पर ऋषभदेव को वंदन किया। शत्रुन्जय से लौटते समय मार्ग में उन्होंने सिद्धवट (बड़वृक्ष) के नीचे रात्रि-विश्राम किया।

वहां आधी रात के समय उन्होंने गगनमण्डल में देखा कि रोहिणी शकट में वृहस्पति प्रवेश कर रहा है। यह देख कर उद्योतनसूरि ने कहा—इस समय ऐसी लाभदायक शुभ वेला चल रही है कि मैं जिस किसी के शिर पर हाथ कर (रख) दूँ तो वही सर्वत्र प्रसिद्ध हो जाय।"

यह सुन कर उन सभी ८३ शिष्य श्रमणों ने उद्योतनसूरि से प्रार्थना की—"स्वामिन्! आप हमारे विद्या गुरु हैं और हम आपके शिष्य हैं, अतः आप कृपा कर हमारे शिर पर अपना कर कमलकर दीजिये।"

उद्योतनसूरि ने कहा—"वासचूर्ण लाओ।"

इस पर उन ८३ श्रमणों ने काष्ट एवं कण्डे एकत्र कर उनका चूर्ण बनाया और उद्योतन सूरि को समर्पित किया। उद्योतनसूरि ने उस वासचूर्ण को अभिमंत्रित कर क्रमशः ८३ साधुओं के मस्तकों पर वासक्षेप किया।

प्रातःकाल **उद्योतनसूरि** ने अपनी आयु स्वल्प जानकर **अनशन अंगीकार किया और वहीं समाधिपूर्वक स्वर्गस्थ हुए।**

अन्य (अपनी परम्परा से भिन्न परम्परा वाले) स्थविरों के उन ८३ सभी शिष्यों ने (अपने-अपने श्रमण समूह में पहुँच कर) आचार्यपद प्राप्त किये। उन्होंने पृथक्-पृथक् क्षेत्रों में विहार किया और उनके ८३ गच्छ प्रकट हुए। उद्योतनसूरि ने अपने स्वयं के शिष्य वर्द्धमान मुनि को आचार्यपद पहले ही प्रदान कर दिया था, उनका गच्छ चौरासी गच्छ की प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। इस प्रकार चौरासी गच्छों की उत्पत्ति हुई।"

खरतरगच्छ गुर्वावली के इस उल्लेख से यही निष्कर्ष निकलता है कि चैत्यवासी परम्परा के उस वर्चस्वकाल में उद्योतनसूरि विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले उद्भट विद्वान् आचार्य थे। उनके पास जिन ८४ श्रमणों ने शास्त्रों का अध्ययन किया, उनमें से ८३ तो अन्यान्य परकीय स्थविरों के शिष्य थे और केवल एक वर्द्धमानसूरि ही उनके द्वारा दीक्षित उनके शिष्य थे। यदि वर्द्धमानसूरि से पूर्व दीक्षित शिष्यों का परिवार उद्योतनसूरि का होता तो वे उन पूर्वदीक्षित शिष्यों में से किसी को सूरीश्वर अथवा आचार्य का पद अवश्यमेव प्रदान करते। संभवतः उनके पास वर्द्धमानसूरि से पूर्व दीक्षित शिष्य परिवार नहीं था, इसी कारण चैत्यवासी परम्परा से निकले हुए वर्द्धमान मुनि को उन्होंने आचार्य-पद प्रदान किया। इन बातों पर विचार करने पर अनुभव किया जाता है कि वर्द्धमानसूरि के गुरु उद्योतनसूरि कहीं श्रमण भगवान् की उस विशुद्ध मूल श्रमण परम्परा के शिष्य परिवार विहीन आचार्य तो नहीं थे, जिनके सम्बन्ध में अभयदेव-सूरि से लेकर आज तक के सभी विद्वानों ने चैत्यवासी परम्परा के एकाधिपत्य

अथवा वर्चस्व के कारण अति क्षीण, अतिगौण रूप में अवशिष्ट रह जाने का सर्व सम्मत रूप में उल्लेख किया है।

इस प्रकार के अनुमान के पीछे प्रमाणों का बाहुल्य न हो ऐसी बात भी नहीं है। तपागच्छ पट्टावली आदि तपागच्छीय ऐतिहासिक साहित्य में एक नहीं अनेक उल्लेख इस प्रकार के हैं, जिनसे यह आभास होता है कि तपागच्छीय पट्टावली के अनुसार भगवान् महावीर की आचार्य परम्परा के ३५वें आचार्य श्री विमलचन्द्रसूरि के पट्टधर शिष्य एवं ३६वें आचार्य श्री सर्वदेवसूरि के गुरु वृहद्गच्छ के संस्थापक ३५वें आचार्यश्री उद्योतनसूरि और वर्द्धमानसूरि के गुरु खरतरगच्छ के आदि आचार्य श्री उद्योतनसूरि सुनिश्चित रूप से भिन्न-भिन्न समय में हुए समान नामा दो भिन्न आचार्य थे। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं :–

१. वि० सं० १४६६ में श्री गुणरत्नसूरि द्वारा रचित—"श्री गुरु पर्वक्रम-वर्णनम्" नामक प्राचीन छोटे से ग्रन्थ में इन उद्योतनसूरि द्वारा वृहद्गच्छ की स्थापना का समय और अपने ८ शिष्यों को आचार्य पद प्रदान करने का निम्नलिखित उल्लेख है :—

युगांकनन्द ९९४ प्रमिते गतेऽब्दे,
श्री विक्रमार्कात्सह संघलोकैः।
पूर्वविनीतो विहरन्नुधराया—
मुद्योतनःसूरिरथार्बुदाधः ॥८॥
आगत्य टेलीपुरसीम संस्थ—
पद्यासमासन्नवृहद्वटाधः ।
शुभे मुहूर्ते स्वपदेऽष्टसूरी—
नतिष्ठपत्सौवकुलोदयाय ॥९॥[1]

अर्थात् विक्रम संवत ९९४ तदनुसार वीर नि० १४६४ में संघ के साथ पूर्वीय भारत से विहार करते हुये उद्योतनसूरि आबूपर्वत की तलहटी में अवस्थित टेलीपुर की सीमा के वन में दिन ढलते ढलते पहुँचे और एक विशाल वटवृक्ष के नीचे ठहरे। वहां रात्रि में शुभ मुहूर्त देखकर उन्होंने जिनशासन के अभ्युदय के उद्देश्य से अपने ८ शिष्यों को आचार्यपद प्रदान किया।

२. वि. सं. १६४८ की चैत्र शुक्ला ६ शुक्रवार के दिन ५८वें पटधर हीरविजयसूरि के निर्देशानुसार उपाध्याय श्री विमलहर्षगणि आदि चार गीतार्थों द्वारा अनेक प्राचीन पट्टावलियों के आधार पर संशोधित महोपाध्याय श्री धर्मसागर गणि की स्वोपज्ञवृति सहित "श्री तपागच्छ पट्टावली सूत्रम्" में एतद्विषयक उल्लेख निम्नलिखित रूप में है :—

१. पट्टावली समुच्चय प्रथम भाग, पृष्ठ २७

"पणतीसोत्ति श्री विमलचन्द्रसूरि पट्टे पंचत्रिंशत्तमः श्रीउद्योतनसूरिः। स चार्बुदाचलयात्रार्थं पूर्वावनितः समागतः टेलिग्रामस्य सीम्नि पृथोर्वटस्य छायाया-मुपविष्टो निज पट्टोदय हेतुं भव्य मुहूर्तमवगम्य श्री वीरात् चतुष्षष्ठ्यधिक चतुर्दशशत १४६४ वर्षे, विक्रमात् चतुर्नवत्यधिकनवशत ९९४ वर्षे निजपट्टे श्री सर्वदेव सूरिप्रभृतीनष्टौ सूरीन् स्थापितवान्। केचित्तु सर्वदेवसूरीमेकमेवेति वदंति। वटस्याधः सूरिपदकरणात् वटगच्छ इति पंचमनाम लोकप्रसिद्धं। प्रधान शिष्य संतत्या ज्ञानादिगुणैः प्रधान चरितैश्च वृहत्वाद् वृहद्गच्छ इत्यपि।[1]

३. सीहविमलगणि शिष्य श्री देवविमलगणि (वि. सं. १६३९ से १६७१) विरचित हीर सौभाग्य नामक काव्य में "श्रीमन्महावीरदेवपट्टपरम्परा" में उद्योतनसूरि के संबंध में लिखा है :—

रेजेऽस्य पट्टे स्मररूपधेयः,
सूरीन्द्ररुद्योतननामधेयः।
दिग्वारणेन्द्रा इव सूरिचन्द्राः,
संजज्ञिरे यत्पदधारिणोऽष्टौ ।। ९४ ।।

मुहूर्तमद्वैतमवेत्य टेली,
ग्रामस्य यः सीम्नि वृहद्वटाधः।
अस्थापयच्चैत्यतरोस्तलेऽष्टौ,
पार्श्वो गणीन्द्रानिव काशिकुंजे ।। ९५ ।।[2]

उपरिलिखित तीनों पट्टावलियों के उद्धरणों का सारांश यह है :— "भगवान् महावीर के चौंतीसवें और दूसरी मान्यतानुसार पैंतीसवें पट्टधर श्री विमल चन्द्रसूरि के पट्टधर शिष्य (प्रभु महावीर के ३५वें अथवा ३६वें पट्टधर श्री उद्योतन सूरि ने वि. सं. ९९४ तदनुसार वीर सं. १४६४ आबू पर्वतराज की तलहटी के टेलीग्राम की सीमा में विशाल वटवृक्ष के नीचे रात्रि में शुभ मुहूर्त देख कर सर्वदेव सूरि आदि अपने आठ शिष्यों को आचार्यपद प्रदान किये। महोपाध्याय की स्वोपज्ञवृत्ति सहित "श्री तपागच्छ पट्टावली सूत्रम्" नामक पट्टावली में कतिपय पूर्वाचार्यों अथवा पट्टावलीकारों की इस मान्यता का भी उल्लेख किया है कि वट वृक्ष के नीचे उद्योतनसूरि ने अपने आठ शिष्यों को नहीं अपितु सर्वदेव नामक केवल एक शिष्य को ही अपने पट्टधर के रूप में आचार्यपद प्रदान किया।"

---

१. पट्टावली समुच्चय भाग १ पृष्ठ ५३

तपागच्छ की अब तक उपलब्ध अन्य सभी पट्टावलियों में भी लगभग इसी बात का उल्लेख है कि वीर निर्वाण वर्ष ६६४ में उद्योतनसूरि ने सर्वदेव को अथवा सर्वदेव आदि अपने आठ शिष्यों को टेलिग्राम की सीमा में स्थित विशाल वटवृक्ष के नीचे आचार्य पद प्रदान किया।[1]

तपागच्छ की उपरिवर्णित पट्टावलियों में से किसी एक भी पट्टावली में इन उद्योतनसूरि का, खरतरगच्छ के आदि पुरुष होने के रूप में कहीं कोई उल्लेख नहीं है। केवल इतना ही नहीं अपितु उस समय की सर्वाधिक शक्तिमती चैत्यवासी परम्परा का तृणवत् त्याग कर क्रियोद्धार करने वाले वर्द्धमानसूरि के इन उद्योतन सूरि के पास आने, उनसे उपसम्पदा ग्रहण करने, शिष्यत्व अंगीकार कर आगम शास्त्रों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त करने आदि का कहीं कोई नाम मात्र भी उल्लेख नहीं है। चैत्यवासी परम्परा के वर्चस्व और विशुद्ध श्रमण-परम्परा के घोर संक्रान्तिकाल में एक ऐतिहासिक धर्म क्रान्ति का सूत्रपात करने वाले वर्द्धमानसूरि यदि इन उद्योतनसूरि के पास उपसम्पदा एवं शास्त्रों का ज्ञान ग्रहण करते तो तपागच्छ के पट्टावलीकार उद्योतनसूरि के यशस्वी जीवन में चार चाँद लगा देने वाली इस ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना के उल्लेख के लोभ का संवरण किसी भी दशा में नहीं कर पाते। गुरु की गौरव-गरिमा में आशातीत उल्लेखनीय अभिवृद्धि करने वाली इस प्रकार की महत्त्वपूर्ण घटना का तपागच्छीय पट्टावलीकारों ने अपने गुरु उद्योतनसूरि के जीवनवृत्त में कहीं किंचित्मात्र भी उल्लेख नहीं किया है, इससे यही तथ्य प्रकट होता है कि तपागच्छ पट्टावली में बड़गच्छ के संस्थापक उन उद्योतनसूरि से ये वर्द्धमानसूरि के गुरु वनवासी उद्योतनसूरि समान नाम वाले भिन्न आचार्य थे।

वड़ (वृहद्) गच्छ की संस्थापना और दुर्लभराज सोलंकी की राजसभा में, वर्द्धमानसूरि की विद्यमानता में चैत्यवासी आचार्यों के साथ हुए जिनेश्वरसूरि के शास्त्रार्थ के संबंध में काल की दृष्टि से विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि समान नाम वाले ये दोनों आचार्य एक दूसरे से भिन्न समय में हुए थे।

न केवल तपागच्छ की पट्टावलियों में ही अपितु अन्यान्य गच्छों की पट्टावलियों में भी इस बात पर मतैक्य है कि बड़गच्छ की संस्थापना उद्योतनसूरि द्वारा आबूपर्वत की तलहटी में विक्रम सं. ६६४ (वीर नि० सं. १४६४) में हुई।

इसके विपरीत खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली में उद्योतनसूरि के संबंध में जो उल्लेख है, उसका सारांश यह है कि चौरासी मठों के नायक चैत्यवासी परम्परा के आचार्य जिनचन्द्र अभोहर प्रदेश में थे। उनके पास वर्द्धमान नामक एक किशोर ने चैत्यवासी परम्परा की साधुदीक्षा ग्रहण की। मुनि वर्द्धमान को विद्याभ्यास कराया

---

१. पट्टावली समुच्चय, भाग १ पृष्ठ १४५, १५२, और १६८

गया । उन्होंने सैद्धान्तिक ग्रन्थों का अध्ययन किया । चैत्यवासी परम्परा के साधुओं, आचार्यों आदि का सिद्धान्त शास्त्रों से विपरीत आचार-विचार-व्यवहार देख कर उन्होंने सच्चे श्रमणधर्म को अंगीकार करने का दृढ़ संकल्प किया । गुरु द्वारा अनेक भांति समझाये जाने और प्रलोभन दिये जाने के उपरान्त भी वर्द्धमान मुनि चैत्य-वासी परम्परा का परित्याग कर सच्चे क्रियानिष्ठ श्रमणश्रेष्ठ गुरु की खोज में निकल पड़े । सुदूरस्थ प्रदेशों के विभिन्न नगरों में विचरण करने के पश्चात् वर्द्धमान दिल्ली के समीपवर्ती क्षेत्र में पहुँचे । वहां उनकी उद्योतनसूरि से भेंट हुई । "वृद्धा-चार्य प्रबंधावली" के वर्द्धमान सूरिप्रबंध के अनुसार वे उद्योतनसूरि अरण्यचारीगच्छ के नायक थे । सच्चे गुरु की खोज में घूमते हुए वर्द्धमान मुनि को उद्योतनसूरि के दर्शनों से पूर्ण संतोष हुआ कि सच्चे श्रमण धर्म का पालन करने वाले जिन आगम निष्णात गुरु की खोज में वे विभिन्न क्षेत्रों में घूमे, उनका वह परिश्रम सफल हुआ ।

मुनि वर्द्धमान ने उद्योतनसूरि के पास शास्त्रोक्त सच्चे श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण की और उनकी सेवा में रहकर सभी शास्त्रों का अध्ययन किया । अपने मेधावी शिष्य वर्द्धमानसूरि को सभी भांति सुयोग्य समझ कर उद्योतनसूरि ने उन्हें आचार्यपद प्रदान किया । "उपसम्पदं गृहीतवान् । तदनन्तरं श्रीवर्द्धमान सूरेरियं चिन्ताजाता-अस्य सूरिमन्त्रस्य को अधिष्ठाता । तस्य ज्ञानायोपवासत्रयमकारि ।" इन वाक्यों से यही अनुमान लगाया जाता है कि उद्योतनसूरि अपने शिष्य वर्द्धमान को आचार्यपद एवं उसके साथ साथ सूरिमन्त्र भी प्रदान किया । सूरिमंत्र प्रदान करने के पश्चात् उद्योतनसूरि ने अपने शिष्य वर्द्धमानसूरि को अन्यत्र विहार करने की आज्ञा प्रदान की अथवा स्वर्गारोहण किया, इस संबंध में प्रमाणाभाव के कारण कुछ भी नहीं कहा जा सकता किन्तु इससे यह तो सिद्ध होता है कि सूरिमंत्र देने के पश्चात् गुरु अथवा शिष्य ने एक दूसरे से भिन्न दिशा में विहार कर दिया । अन्यथा "सूरि मंत्र का अधिष्ठाता कौन है", अपने अंतर्मन में इस प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न होते ही वर्द्धमनासूरि तत्काल अपने गुरु से पूछ कर अपने अन्तर्मन में उठे प्रश्न का तत्काल ही समाधान कर लेते और उन्हें इसके लिये तीन उपवास की तपस्यापूर्वक धरणेन्द्र की आराधना करने की आवश्यकता नहीं रहती ।

उद्योतनसूरि के साथ-साथ वर्द्धमानसूरि का जो विवरण ऊपर दिया गया है, इससे यह सिद्ध होता है कि चैत्यवासी परम्परा में दीक्षित वर्द्धमानसूरि को आगम समझने योग्य अध्ययन करने में १०–१५ वर्ष का समय अवश्य लगा होगा । आगमों में प्रतिपादित धर्म एवं श्रमणाचार के स्वरूप की तुलना में चैत्यवासी परम्परा के अनागमिक आचार-विचार के साथ साथ उनकी शास्त्र विरुद्ध धार्मिक मान्यताओं के संबंध में क्षीर नीर विवेकपूर्ण दृष्टि से विचार कर चैत्यवासी परम्परा का त्याग करने की परिपक्व बुद्धि भी वर्द्धमान मुनि में कम से कम तीस पैंतीस वर्ष जैसी वय की अवस्था में ही आई होगी । इस प्रकार ३०-३५ वर्ष की

अवस्था में चैत्यवास का परित्याग कर उपेक्षित एवं क्षीण बनी हुई विशुद्ध श्रमण परम्परा के क्रियानिष्ठ श्रमण श्रेष्ठ उद्योतनसूरि जैसे समर्थ सच्चे गुरु को खोजने में भी थोड़ा-बहुत समय लगा होगा। तदुपरान्त उद्योतनसूरि के पास उपसंपदा ग्रहण करने के अनन्तर अगाध सागर तुल्य आगमों के अध्ययन करने और उनमें निष्णात होने में भी कम से कम १२ वर्ष का समय उन्हें अवश्य लगा होगा। इन सब तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में वर्द्धमानसूरि ने लगभग ५० वर्ष की अपनी आयु हो चुकने के पश्चात् उद्योतनसूरि से आचार्यपद प्राप्त किया होगा। इन सब तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर जिस समय वर्द्धमानसूरि ने उद्योतनसूरि की सेवा में रहते हुए आगम ज्ञान में निष्णातता के साथ-साथ आचार्य पद प्राप्त किया उस समय उनकी वय ५० के लगभग होनी चाहिये।

खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली के उल्लेखानुसार दुर्लभराज की सभा में वर्द्धमान-सूरि की विद्यमानता में उनकी अनुमति से उनके शिष्य जिनेश्वरसूरि ने सूराचार्य आदि चैत्यवासी आचार्यों से शास्त्रार्थ कर उन पर विजय प्राप्त की।[1] दुर्लभराज का राज्य काल वि. सं. १०६७ से१०७९-८०तक ई. स. १०१० से १०२२ तक का इतिहास सिद्ध है। तपागच्छपट्टावली के उल्लेखानुसार विमलचन्द्र सूरि के शिष्य उद्योतन- सूरि ने वि. सं. ९९४ में वड़गच्छ की स्थापना कर आचार्यपद के कर्त्तव्यों अथवा कार्यभार से निवृत्ति ली।

इस प्रकार की स्थिति में वर्द्धमानसूरि तपागच्छ की पट्टावली के ३५वें पट्टधर आचार्य के शिष्य किसी भी दशा में नहीं हो सकते। क्योंकि वि. सं. ९९४ में ५० वर्ष की अवस्था को प्राप्त वर्द्धमानसूरि की आयु विक्रम संवत १०८० में चालुक्यराज की राज सभा में उपस्थित होने की दशा में १३६ वर्ष (५० प्लस ८६=१३६) तक पहुँचती है।

इन सब तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि तपागच्छ पट्टावली के ३५वें पट्टधर उद्योतनसूरि से सुनिश्चितरूपेण वर्द्धमान-सूरि के गुरु अरण्यचारीसूरि वस्तुतः कोई भिन्न एवं पश्चाद्वर्ती तथा उस समय अतिक्षीण अवस्था में अवशिष्ट रही, उपेक्षित एवं नितान्त गौण बनी मूल विशुद्ध श्रमण परम्परा के शिष्य सन्तति-विहीन आचार्य थे। जहां तक वर्द्धमानसूरि के गुरु की क्रमबद्ध गुरु परम्परा का प्रश्न है, मूल परम्परा के क्षीण अथवा उपेक्षित हो जाने के परिणाम स्वरूप वह (गुरु परम्परा) विस्मृति के गर्त में विलीन हो गई प्रतीत होती है। इस प्रकार की स्थिति प्राचीन इतिहास के

---

१. गुरुभिः (वर्द्धमानसूरिभिः) भणितम्–"एष पंडित जिनेश्वर उत्तर प्रत्युत्तर यद् भणिष्यति तदस्माकम् सम्मतमेव।"

खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली पृष्ठ-३

प्रगाढ़ विनय-भक्तिपूर्ण शब्दों का प्रयोग किया है अपितु चैत्यवासी परम्परा के निर्वृ तककुलीन आचार्य द्रोण की भी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए "ज्ञाताधर्म कथांग" की वृति में लिखा है :—

निर्वृ तककुलनभस्तलचन्द्रद्रोणाख्यसूरिमुख्येन ।
पण्डितगुणेन गुणवत्प्रियेण संशोधिता चेयम् ।। १० ।।

इस प्रकार अपने गुरु, गुरु के भ्राता, प्रगुरु और चैत्यवासी परम्परा के विद्वान् आचार्य द्रोण की तो अभयदेव सूरि ने भूरि-भूरि प्रशंसा की किन्तु अपने प्रगुरु को विशुद्ध श्रमण धर्म की उपसंपदा अथवा दीक्षा तथा आगमों का तलस्पर्शी ज्ञान प्रदान करने वाले उद्योतनसूरि का कहीं कोई किंचित्मात्र भी उल्लेख नहीं किया है। यह देखकर प्रत्येक विज्ञ के अन्तर्मन में आश्चर्य के साथ-साथ भांति-भांति के ऊहापोहों का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है।

अभयदेवसूरि द्वारा अपने पूर्वाचार्यों का स्मरण किये जाने के समय अपनी परम्परा के आदि आचार्य श्री उद्योतनसूरि के नाम का उल्लेख नहीं किये जाने से इतिहास में अभिरुचि रखनेवाले प्रत्येक प्रबुद्ध पाठक के मन में यह विचार उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि वर्द्धमानसूरि ने चैत्यवास का परित्याग करने के अनन्तर मूल-श्रमण परम्परा अथवा सुविहित श्रमण परम्परा के किन आचार्य के पास चारित्रिक उपसंपदा अंगीकार करने के साथ-साथ आगमों का अध्ययन किया। खरतरगच्छ पट्टावली में उद्योतनसूरि के पास उपसंपदा और आगमों का ज्ञान ग्रहण का स्पष्ट उल्लेख है तो उन उद्योतनसूरि के तृतीय पट्टधर अभय देवसूरि जैसे विद्वान् आचार्य ने अपने आदि आचार्य के रूप में उनका नामोल्लेख तक किस कारण नहीं किया ? चैत्यवास का परित्याग करने के पश्चात् वर्द्धमानसूरि ने विशुद्ध मूल श्रमण परम्परा में उद्योतनसूरि अथवा अन्य किसी आचार्य के पास उपसंपदा अवश्यमेव ग्रहण की। यदि उद्योतनसूरि के पास उपसंपदा ग्रहण की तो वे उद्योतनसूरि किस मूल अथवा किस परम्परा के आचार्य थे। तपागच्छ पट्टावली में जिन उद्योतनसूरि को श्रमण भगवान् महावीर का ३५वां पट्टधर बताया गया है, वे उद्योतनसूरि तो, जैसाकि बताया जा चुका है, वर्द्धमानसूरि के गुरु हो नहीं सकते क्योंकि वि० सं० ९९४ में उन उद्योतनसूरि ने जिन मुनियों को वटवृक्ष के नीचे आचार्य पद प्रदान किया, उन मुनियों में वर्द्धमानसूरि का कहीं कोई नामोल्लेख तक उपलब्ध नहीं होता। यदि मान भी लिया जाय कि आठ शिष्यों को आचार्य पद प्रदान किया, उनमें सम्भवतः वर्द्धमान-सूरि भी सम्मिलत हों तो उस दशा में भी वि० सं० ९९४ में आचार्य पद पर आसीन किये गये वर्द्धमानसूरि वि० सं० १०८० में अर्थात् प्रौढ़ावस्था में आचार्य पद पर आरूढ़ होने के ८६ वर्ष पश्चात् तक दुर्लभराज की सभा में चैत्यवासियों के साथ हुए शास्त्रार्थ में उपस्थित रह सके हों, यह संभव प्रतीत नहीं होता। जैसाकि खरतरगच्छ के श्रीपूज्यों की पूरक पट्टावलियों में उद्योतनसूरि नाम के शिष्य संतति-

विहीन आचार्य द्वारा ८३ अन्यान्यगच्छों के स्थविरों के ८३ शिष्यों को शास्त्रों का गहन ज्ञान प्रदान किये जाने के अनन्तर वटवृक्ष के नीचे कण्डे काष्ठ आदि के चूर्ण का उन शिष्यों के ऊपर वासक्षेप किया गया और वे सभी ८३ मुनि यशस्वी आचार्य बने। इस घटना से पर्याप्त समय पूर्व चैत्यवासी परम्परा का परित्याग कर अपनी शरण में आये हुए ज्ञान पिपासु शिष्य वर्द्धमानसूरि को उद्योतनसूरि द्वारा आचार्य पद प्रदान किये जाने का भी खरतरगच्छ की पूरक पट्टावलियों में उल्लेख है, उसके आधार पर यदि वर्द्धमानसूरि को तपागच्छ पट्टावलियों अथवा गुर्वावली में भगवान् महावीर के ३५वें पट्टधर के रूप में उल्लिखित विशाल संतति वाले उद्योतनसूरि को ही वर्द्धमानसूरि का गुरु मान लिया जाय तो उस दशा में जिस समय वर्द्धमानसूरि दुर्लभराज की सभा में चैत्यवासियों के साथ हुए शास्त्रार्थ में उपस्थित हुए, उस समय उनकी आयु १४०–१५० के लगभग होनी चाहिए। बड़गच्छ के संस्थापक उद्योतनसूरि से वर्द्धमानसूरि का गुरु-शिष्य सम्बन्ध जोड़ने के लिये खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली के पृष्ठ ६० पर जिनेश्वरसूरि प्रबन्ध में चैत्यवासियों के साथ हुए श्री जिनेश्वरसूरि के शास्त्रार्थ का समय ५६ वर्ष पूर्व ले जाते हुए वि० सं० १०८० के स्थान पर वि० सं० १०२४ लिख दिया गया है, यथा :—

"..........तओ जिनेश्वरसूरिगच्छनायगो विहरमाणो वसुहं अणहिल्लपुर-पट्टणे गओ। तत्थ चुलसी गच्छवासिणो भट्टारगा, दव्वलिंगिणो मढ़वइणो चेइयवा-सिणो पासइ। पासित्ता जिणसासणुन्नइकए सिरिदुल्लहरायसभाए वायं कयं। दससय चउवीसे (१) वच्छरए ते आयरिया मच्छरिणो हारिया जिणेसर सूरिणा जियं।"

वस्तुतः वि० सं० १०२४ में न तो जिनेश्वरसूरि का ही अस्तित्व था और न दुर्लभराज का ही। इस बिना सिर पैर के अप्रमाणिक उल्लेख के पीछे प्रबन्धकार की यही भावना प्रतीत होती है कि वह जिनेश्वरसूरि के गुरु वर्द्धमानसूरि को वि० सं० ९९४ में बड़गच्छ की स्थापना के अनन्तर स्वर्गस्थ हुए उद्योतनसूरि का शिष्य सिद्ध करना चाहता था। इस प्रकार की स्थिति के उपरान्त भी अभिधान राजेन्द्र कोष में तपागच्छीय पट्टावली से भिन्न[1] उल्लेख द्वारा भगवान् महावीर के ३७वें पट्टधर उद्योतनसूरि[2] को वर्द्धमानसूरि का गुरु बताते हुए लिखा है :—

"उज्जोयणसूरि-उद्योतनसूरि-पुं० देवसूरि-शिष्य नेमिचन्द्र शिष्ये वर्द्धमान-सूरि गुरौ वट गच्छस्य प्रथमाचार्य :—

१. अभिधान राजेन्द्र भाग २ पृष्ठ ७४५

२. दानसागर जैन ज्ञानभण्डार बीकानेर से उपलब्ध गुर्वावली (पो. १० ग्रं. (स) १५२ सं. १८३० में क्षमाकल्याण उपाध्याय द्वारा रचित पृष्ठ ८ देखें। (इसकी फोटो स्टेट प्रति श्री विनयचन्द्रज्ञान भण्डार में विद्यमान है)

तस्माच्च विमलचन्द्रः स हेमसिद्धिर्बभूव सूरिवरः ।
उद्योतनश्च सूरिः, शोषित दुरितांकुरव्यूहः ।।
अथ युगनवनन्द (९९२) मिते, वर्षे विक्रमादतिक्रान्ते ।
पूर्वावनितो विहरन्, सोऽर्बुदसुगिरेः सविधमागात् ।।
तत्र च टेलीखेटक-सीमावनिसंस्थो वरवटाधः ।
सुमुहूर्ते सूपदेष्टान् सूरीन् संस्थापयामास ।।

ख्यातस्तो गणोऽयं वटगच्छवहोऽपि वृद्ध गच्छ इति । ग० । पं० बं० । ९९४ मालवदेशात् शत्रुंजयं गच्छन् मार्ग एव देवलोकं गतः । जै. इ. ।।

अर्थात् उद्योतनसूरि बड़गच्छ के प्रथम आचार्य थे । वे देवसूरि के प्रशिष्य आचार्य नेमिचन्द्र के शिष्य और आचार्य वर्द्धमानसूरि के गुरु थे । पूर्वी भारत से विहार कर उद्योतनसूरि वि० सं० ९९२ में आबू पर्वत की तलहटी के टेलि खेटक नामक ग्राम की सीमा में अवस्थित विशाल वटवृक्ष के नीचे पहुँचे । वहाँ (रात्रि में) शुभ मुहूर्त देखकर उद्योतनसूरि ने अपने विद्वान् शिष्यों को आचार्य पद प्रदान किये ।[१] उन उद्योतनसूरि का वि० सं० ९९४ में मालवा प्रदेश से शत्रुंजय तीर्थ की ओर जाते हुए मार्ग में ही स्वर्गवास हो गया ।"

तपागच्छ की पट्टावलियों, गुर्वावलियों और खरतरगच्छ की गुर्वावली में उद्योतनसूरि के पूर्वाचार्यों तथा उत्तराधिकारियों के क्रमनाम आदि के सम्बन्ध में किस प्रकार का आकाश पाताल जैसा अन्तर है, इसका विज्ञ पाठक इन दोनों पट्टावलियों के निम्नलिखित उल्लेखों से सहज ही अनुमान लगा सकते हैं :—

महोपाध्याय श्री धर्मसागर गणि द्वारा रचित	**क्षमाकल्याण उपाध्याय द्वारा रचित**
श्री तपागच्छपट्टावली सूत्रं स्वोपज्ञवृति सहित :–	खरतरगच्छ गुर्वावली (१८३०) दानसागर जैन ज्ञान-भण्डार, बीकानेर :–
३०. श्री रविप्रभसूरि	२९. श्री मानदेवसूरि
३१. श्री यशोदेवसूरि	३०. श्री विबुधप्रभसूरि
३२. श्री प्रद्युम्नसूरि	३१. श्री जयनन्दसूरि
३३. श्री मान देवसूरि	३२. श्री रविप्रभसूरि
३४. श्री विमलचन्द्रसूरि	३३. श्री यशोभद्रसूरि
३५. श्री उद्योतनसूरि	३४. श्री विमलचन्द्रसूरि
३६. श्री सर्वदेवसूरि	३५. श्री देवसूरि (सुविहित आद्याचार्य)
३७. श्री देवसूरि	३६. श्री नेमिचन्द्रसूरि

१. (क) गच्छाचार पइण्णय वृत्ति (ख) पंचवस्तुक टीका.

३८. श्री सर्वदेवसूरि	३७. श्री उद्योतनसूरि
३९. श्री यशोभद्रसूरि और	३८. श्री वर्द्धमानसूरि
४०. श्री नेमिचन्द्रसूरि	३९. श्री जिनेश्वरसूरि

इन दोनों पट्टावलियों में परस्पर बड़ा वैभिन्य एवं विरोध स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो रहा है। तपागच्छ पट्टावली में पट्टधर क्रम संख्या ३१ और ३२ पर उल्लिखित आचार्यों के नाम खरतरगच्छ पट्टावली में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होते। ३३वें पट्टधर मानदेवसूरि को तपागच्छ पट्टावली में प्रद्युम्नसूरि का शिष्य तथा विमलचन्द्रसूरि का गुरु बताया गया है। इसके विपरीत खरतरगच्छ पट्टावली में इन्हें २९वां पट्टधर, श्री समुद्रसूरि का शिष्य और विबुधप्रभसूरि का गुरु बताया गया है। इस प्रकार इन दोनों पट्टावलियों में इस भांति का घोर अन्तर है कि इन दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से ऐतिहासिक तथ्यों की खोज का प्रयास अन्ततोगत्वा बालुका से तेल निकालने तुल्य निरर्थक ही सिद्ध होगा।

वि० सं० १०८० में सम्भवतः दुर्लभराज की सभा में चैत्यवासियों के साथ हुए शास्त्रार्थ के पश्चात् श्री जिनेश्वरसूरि तथा बुद्धिसागरसूरि ने जाबालिपुर (जालोर) नगर में चातुर्मास किया। उस चातुर्मासावधि में जिनेश्वरसूरि ने हरिभद्राष्टक टीका और बुद्धिसागरसूरि ने "बुद्धिसागर व्याकरण" की रचना की। इन ग्रन्थों की प्रशस्तियों में भी उन आचार्य द्वय ने वर्द्धमानसूरि के गुरु के रूप में न तो उद्योतनसूरि का नामोल्लेख किया है और न किसी अन्य आचार्य का अथवा खरतरगच्छ का ही।

इस प्रकार नवांगीवृत्तिकार अभयदेवसूरि द्वारा, भारत के विशाल प्रदेश पर शताब्दियों से अपना एकाधिपत्य स्थापित किये बैठी चैत्यवासी परम्परा के वर्चस्व को सदा-सदा के लिए समाप्त कर जिनधर्म एवं श्रमणाचार के विशुद्ध स्वरूप को प्रकाश में लाने वाली एक महान् क्रान्ति के सूत्रधार अपने प्रगुरु के गुरु उद्योतनसूरि का नामोल्लेख तक न किये जाने आदि उपरिवर्णित तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में क्षीर-नीर विवेकपूर्ण दृष्टि से विचार करने पर यही तथ्य प्रकाश में आता है कि वर्द्धमानसूरि के गुरु वे उद्योतनसूरि नहीं थे जिन्होंने कि बड़गच्छ की स्थापना की। वस्तुतः वर्द्धमानसूरि ने विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के उषःकाल में किन्हीं अज्ञात नामा ऐसे आचार्य के पास चारित्रिक एवं आगमिक अध्ययन की उपसम्पदा ग्रहण की जो चैत्यवासी परम्परा अथवा द्रव्य परम्पराओं के वर्चस्वकाल में नितान्त उपेक्षित अत्यधिक गौण रूप में अवशिष्ट रही, मूल विशुद्ध श्रमण परम्परा के शिष्य सन्तति विहीन आचार्य थे। इन सबल ठोस तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर यही अनुमान किया जा सकता है कि आनंद विमलसूरि आदि की भांति वर्द्धमानसूरि ने भी किसी आचार्य के पास उपसम्पदा ग्रहण किये बिना ही क्रियोद्धार किया हो।

"वर्द्धमानसूरि को चैत्यवासी परम्परा में सिद्धान्त शास्त्रों का अध्ययन करते समय जब यह दृढ़ विश्वास हो गया कि भगवान महावीर द्वारा प्रदर्शित किये गये विशुद्ध श्रमणाचार का चैत्यवासी साधु किंचित्मात्र भी पालन नहीं कर रहे हैं, तो उन्होंने चैत्यवासी परम्परा से निकल कर बिना किसी अन्य आचार्य का शिष्यत्व अंगीकार किये ही क्रियोद्धार किया" हमारे इस अनुमान की पुष्टि ऊपर उल्लिखित अभयदेवसूरि आदि द्वारा प्रकट किये गये तथ्यों के अतिरिक्त उनके (अभयदेव के) गुरुभ्राता उपाध्याय सुमतिगणि के शिष्य गुणचन्द्रगणि द्वारा अपनी "महावीर चरियं" नामक कृति के निम्नलिखित उल्लेख से भी होती है :—

अइसयगुणरयणनिही, मिच्छत्ततमंधलोयदिणनाहो ।
दूरुच्छारियवइरो, वइरसामी समुप्पन्नो ।।४७।।

साहाइ तस्स चंदे कुलम्मि, निप्पडिमपसमकुलभवणं ।
आसि सिरी वद्धमाणो, मुणिनाहो संजमनिहिव्व ।।४८।।

वहलकलिकालतमपसरपूरियासेसविसमसमभागो ।
दीवेणं व मुणीणं पयासिओ जेण मुत्तिपहो ।।४९।।

मुणिवइणो तस्स हरअट्टहाससियजसपसाहियासस्स ।
आसि दुवे वर सीसा, जयपयड़ा सूरससिणोव्व ।।५०।।

भवजलहिवीइसंभंत,भविय संताणतारणसमत्थो ।
वोहित्थोव्व महत्थो, सिरि सूरि जिणेसरो पढमो ।।५१।।

गुरुसाराओ धवलाउ सुविहिया (निम्मला पु०) साहुसंतईजाया ।
हिमवंताओ गंगव्व निग्गया सयलजणपुज्जा ।।५२।।

अन्नो य पुन्निमायंद,सुन्दरो बुद्धिसागरोसूरी ।
निम्मवियपवरवागरण-छंदसत्थो पसत्थमई ।।५३।।

एगंत-वायविलसिरपरवाइकुरंगभंगसीहाणं ।
तेसिं सीसो जिणचंदसूरिनामो समुप्पन्नो ।।५४।।

संवेगरंगसाला न केवलं कव्वविरयणा जेण ।
भव्वजणविम्हयकरी विहिया संजमपवित्तीवि ।।५५।।

ससमयपर-समयन्नू विसुद्धसिद्धंतदेसणाकुसलो ।
सयलमहिवलयवित्तो अन्नोऽभयदेवसूरित्ति ।।५६।।

जेणालंकारधरा सलक्खणा, वरपया पसन्ना य ।
नव्वंग (सिद्धंत पु०) वित्तिरयणेण भारई कामिणिव्व कया ।।५७।।

तेसिं अत्थि विणेओ, समत्थसत्थत्थवोहकुसलमई ।
सूरी पसन्नचंदो, चंदो इव जणमणाणंदो ।।५८।।

तव्वयणेणं सिरिसुमइवायगाणं विणेयलेसेण ।
गणिणा गुण चंदेणं रइयं सिरीवीरचरियमिमं ।।५६।।
नंदसिहिरुद्दसंखे (११३९) वोक्कंते विक्कमाओ कालम्मि ।
जेट्ठस्ससुद्धतइयातिहिंमि सोमे समत्तमिमं ।।८३।।[1]

अपनी उत्कृष्ट कोटि की काव्यकृति "महावीरचरियं" के अन्त में दी हुई प्रशस्ति में गुणचन्द्रगणि ने आर्यवज्र के शिष्य वज्रसेन की शिष्य संतति से उत्पन्न हुए चार कुलों में प्रथम चंद्रकुल के आचार्य श्री वर्द्धमानसूरि का प्रगाढ़ श्रद्धा-निष्ठा-भक्तिपूर्वक स्मरण किया है। गणिगुणचन्द्र ने वर्द्धमानसूरि की स्तुति में कहा है—जिस समय आर्यधारा पर सर्वत्र घोर कलिकाल के प्रभाव से निविड़ अज्ञानान्धकार व्याप्त हो गया था, उस समय चन्द्र कुल के आचार्य विशुद्ध संयम के अक्षय-भण्डार श्री वर्द्धमानसूरि ने आगम ज्ञान के प्रदीप्त प्रदीप का प्रकाश कर मुमुक्षु मुनियों के लिये मुक्ति का पथ प्रशस्त किया।

उन वर्द्धमानसूरि के साक्षात् सूर्य और चन्द्र की भांति सर्वविदित दो शिष्य-रत्न थे। उनमें से प्रथम शिष्य थे श्री जिनेश्वरसूरि जो भवसागर की उत्ताल तरंगों की थपेड़ों से प्रपीड़ित भव्य प्राणियों को भवसागर से उबार कर शाश्वत शिवसुखधाम-मुक्ति में पहुँचाने वाले महान् जलपोत के तुल्य थे। जिस भांति शैलाधिराज हिमालय पर्वत से महानदी गंगा प्रकट होती है, उसी प्रकार इन जिनेश्वरसूरि से साधु संतति पुनः निर्मल अथवा सुविहित रूप में प्रवर्तित-प्रवाहित हुई।

जिनेश्वरसूरि के पश्चात् महावीर चरियं के रचनाकार गुणचन्द्रगणि ने क्रमशः बुद्धिसागरसूरि, "संवेगरंग शाला" नामक ग्रन्थ रत्न के निर्माता जिनचन्द्रसूरि, नवांगीवृतिकार अभयदेवसूरि, उनके विद्याशिष्य प्रसन्नचन्द्रसूरि, सुमतिगणि (गुणचन्द्रगणि के गुरु) का सादर स्मरण करते हुए लिखा है कि सुमतिवाचक (उपाध्याय) के शिष्य गुणचन्द्र ने प्रसन्नचन्द्रसूरि के आग्रहपूर्ण निर्देश से विक्रम संवत् ११३९ (अभयदेवसूरि के स्वर्गवास होने के संवत्)[2] में महावीर चरियं का प्रणयन पूर्ण किया।

ऊपर उद्धृतप्रशस्ति गाथाओं में आर्यवज्र एवं चन्द्रकुल के स्मरण के तत्काल पश्चात् महावीरचरयिम् के रचनाकार ने भी अपनी श्रमण परम्परा के आदि आचार्य के रूप में वर्द्धमानसूरि का और उनके पट्ट और प्रपट्टधरों-जिनेश्वर, बुद्धिसागर, जिनदत्त, अभयदेव, प्रसन्नचन्द्रसूरि और उपाध्याय सुमतिगणि (अपने गुरु) का तो उनके गुणगानपूर्वक स्मरण किया है किन्तु उन्होंने भी अभयदेवसूरि की भांति वर्द्ध-

---

१. महावीर चरियं गुणचन्द्रगणि पत्र, ३३९, ३४०, ३४१।

२. अभयदेवसूरि का स्वर्गवास एक मान्यतानुसार वि. सं. ११३५ और दूसरी मान्यतानुसार वि. सं. ११३९ उपलब्ध होता है।

मानसूरि के गुरु के रूप में न कहीं उद्योतनसूरि अथवा अन्य आचार्य का अथवा अपनी परम्परा का नाम खरतरगच्छ होने का ही उल्लेख किया है।

इन सब तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि साम्प्रदायिक व्यामोह वशात् जैन संघ में व्याप्त दुर्भाग्यपूर्ण पारस्परिक कटुता के युग में अपने विरोधियों के कटु आक्षेपों से बचने के लिये वर्द्धमानसूरि की परम्परा में पट्टावलीकारों ने उद्योतनसूरि का नाम वर्द्धमानसूरि के रूप में उल्लिखित कर दिया। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब परस्पर एक दूसरे गच्छ की आलोचनाएं की जाने लगीं कि कहां है तुम्हारे गच्छ की अविच्छिन्न परम्परा, कौन था तुम्हारे पूर्वाचार्यों का गुरु? कोई नहीं, तो बिना गुरु के तुम्हारे पूर्वाचार्य द्वारा प्रचलित की गई परम्पराएं कपोलकल्पित ही समझी जानी चाहिये। उस दुर्भाग्यपूर्ण पारस्परिक वैमनस्य के संक्रान्ति काल में एक प्रकार से यह परिपाटी प्रचलित हो गई कि शिथिलाचारी परम्परा तथा गुरु से पृथक् हो क्रियोद्धार करने वाले साहसी श्रमणोत्तमों ने अपने गुरु के रूप में उन्हीं आचार्यों का नामोल्लेख किया, जिनके आगम विरुद्ध श्रमणाचार से असंतुष्ट हो उनका गच्छ छोड़कर उन्होंने क्रियोद्धार का शंखनाद पूरा था।

अभयदेवसूरि और गुणचन्द्रादि इसी परम्परा के विद्वान् आचार्यों द्वारा वर्द्धमानसूरि के गुरु के रूप से उद्योतनसूरि अथवा किसी अन्य आचार्य का नामोल्लेख नहीं किये जाने से यही तथ्य प्रकाश में आता है कि वर्द्धमानसूरि द्वारा प्रचलित की गई क्रान्तिकारी श्रमण परम्परा के आदि आचार्य के रूप में शिष्य संतति विहीन उद्योतनसूरि का नाम गुणचन्द्रगणि के उत्तरवर्ती लेखकों-पट्टावलीकारों ने "खरतर-गच्छ" नाम की भांति ही पीछे से जोड़ा है।

एक प्राचीन पत्र[१] में उद्योतनसूरि के उन ८४ शिष्यों की नामावली उल्लिखित है, जिनको उद्योतनसूरि ने आचार्य पद प्रदान किये थे। उन ८४ आचार्यों में वर्द्धमानसूरि का नामोल्लेख नहीं है। इतिहास प्रेमियों के चिन्तन मनन हेतु कतिपय महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों पर ऊहापोह योग्य सामग्री से संयुक्त उस प्राचीन पत्र की प्रतिलिपि अविकल रूप से यहां प्रस्तुत की जा रही है :—

श्री चोर्यासी गच्छोनी स्थापना

श्री महावीर प्रभु पछी ११९३ ना वर्ष मां अने विक्रम सं० ७२३ मां (मतान्तरे १४६४–९९४) श्री उद्योतनसूरिजी ना नीचे मुजब चोर्यासी शिष्यो थया

१. अभयदेवसूरि का स्वर्गवास, एक मान्यतानुसार वि. सं. ११३५ और दूसरी मान्यतानुसार वि. सं. ११३९ उपलब्ध होता है।

२. मथुरा जाकोर आदि से उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री का बड़ा रजिस्टर सं. १ आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार चौड़ा रास्ता, जयपुर।

तथा तेओ सघला महाविद्वान हता. अने ते ओ सर्वेसूरि पद ने लायक हता, गुरुए तेमने पछवाथी तेओए कह्यूं के अमो सर्वे ने सूरिपद मेलववानी इच्छा छै। पछी गुरु महाराज ते सर्व शिष्यो साथे विहार करता भिन्नमाल नगर नी पासे वट गाम नामना गाम मां आव्या, ते गामनी उत्तरदिशा मां एक महान् बड़नू वृक्ष हतुं, ते नीचे विश्राम माटे गुरुमहाराज शिष्यो सहित बैठा, त्यारे शासनदेवता तरफ थी एवी आकाशवाणी थई के जो अहीं सूरि पदनी स्थापना थशे तो तेओनो विस्तार सैकडों गमे शाखाओ थी वृद्धि पामशे ते सामली गुरुमहाराजे पोताना ते चोर्यासी शिष्यो ने सूरिपद आप्या। ते चोर्यासी आचार्योना नामो नीचे मुजब हतां :—

(१) सर्वदेवसूरि	(२) प्रभाचंदसूरि	(३) हरियानंदसूरि
(४) शिवदेवसूरि	(५) जिनेन्द्रसूरि	(६) दयाणंदसूरि
(७) गजे…………	(८) आणंदसूरि	(९) धर्माणंदसूरि
(१०) राजाणंदसूरि	(११) सोभाग्याचन्दसूरि	(१२) देवेन्द्रसूरि
(१३) स.…………रि	(१४) प्रज्ञानंदसूरि	(१५) सर्वाणंदसूरि
(१६) संघाणंदसूरि	(१७) सोमाणंदसूरि	(१८) यक्षायणसूरि
(१९) …………सूरि	(२०) सामंतसूरि	(२१) शिवप्रभसूरि
(२२) उदयराजसूरि	(२३) देवराजसूरि	(२४) गांगेयसूरि
(२५) प्रभसूरि	(२६) धर्मसिंहसूरि	(२७) संघसेनसूरि
(२८) सेनतिलकसूरि	(२९) चारित्रसूरि	(३०) भानु…………
(३१) नृसिंहसूरि	(३२) विनयसूरि	(३३) विजयाणंदसूरि
(३४) वल्लभसूरि	(३५) पानदेवसूरि	(३६) मान…………
(३७) राजदेवसूरि	(३८) जोगाणंदसूरि	(३९) भीमराजसूरि
(४०) सोमप्रभसूरि	(४१) कृष्णप्रभसूरि	(४२) …………न सूरि
(४३) पद्माणंदसूरि	(४४) नारायणसूरि	(४५) कर्मचन्द्रसूरि
(४६) भावदेवसूरि	(४७) देवस…………	(४८) इल्लसूरि
(४९) नागराजसूरि	(५०) पांडुसूरि	(५१) पुष्कलसूरि
(५२) डोडसूरि	(५३) खीमसूरि	(५४) य…………
(५५) सोवीरसूरि	(५६) मथुरासूरि	(५७) मंगलसूरि
(५८) जिनसिंहसूरि	(५९) वीरसूरि	(६०) वृध…………
(६१) शीलदेवसूरि	(६२) शाम्वसूरि	(६३) प्रियांगसूरि
(६४) आशाणंदसूरि	(६५) रामसूरि	(६६) रवि…………
(६७) प्रभासेन सूरि	(६८) आणंदराजसूरि	(६९) प्रज्ञाप्रभसूरि
(७०) ब्रह्मसूरि	(७१) रत्नराजसूरि	(७२) …………भसूरि
(७३) कर्प्यसूरि	(७४) मेघाणंदसूरि	(७५) भोजराजसूरि
(७६) सारिंगसूरि	(७७) रंगप्रभसूरि	(७८) …………ल सूरि
(७९) गोकर्णसूरि	(८०) सहदेवसूरि	(८१) भूतसंघसूरि
(८२) वाहटसूरि	(८३) लाडणसूरि	(८४) …………राजसूरि

ए रीते चोर्यासी आचार्यों ने बडना वृक्ष नीचे सूरिपद आपवा थी तेओनु वड़गच्छ नाम पड्यु । हवे त्यां थी विहार करी तेओ मांना जे आचार्ये प्रथमनु चातुर्मास जे गाम मां कयु ते गाम ना नाम थी तेओनो गच्छ शुरु थयो । तेओ मांना पहेला आचार्य श्री सर्व····(देवसूरि) विहारकरता थकां गुजरात नां बडियार देश मां आवेलां शाखेश्वर गाम मां आवी चातुर्मास रह्या अने तेमना गच्छनूं शंखेश्वर गच्छ-नाम पड्यु'' ते गाम मां सोलंकी वंशनो सांख्यकुमार नामे क्षत्रिय तेमनो शिष्य थयो तथा केटलेक काले ते विद्वान् थवां थी आचार्य श्रीए वि. सं. ७४५ (मतान्तर वि. सं. १०१६) मांहि सूरिपद शंखेश्वर गाम मांज आणिने आप्यु तेनूं बीजूं नाम पद्मदेवसूरि राख्यु । तेनी मांहे विक्रम सं. ७७२ (मतान्तर वि. सं. १०४३) उभयप्रभसूरि थया ।"[1]

स्व. पं. श्री कल्याण विजय जी की डायरी से प्राप्त इस सामग्री से श्री पूज्यजी म. के बीकानेर नगरस्थ "श्री दान सागर जैन ज्ञान भण्डार" में उपलब्ध (खरतरगच्छीय) गुर्वावली के इस उल्लेख की पुष्टि होती है कि विक्रम की १०वीं शताब्दी के उद्योतनसूरि नामक आचार्य ने अपने पास अध्ययनार्थ आए हुए ८४ शिक्षार्थी साधुओं को आगमों का तलस्पर्शी ज्ञान देने के पश्चात् उन सभी को क्रमशः पृथक्-पृथक् आचार्य पद प्रदान किये । दान सागर जैन ज्ञान भण्डार, बीकानेर की गुर्वावली के उल्लेखानुसार उद्योतनसूरि आगमों के पारदर्शी विद्वान्, विशुद्ध श्रमणाचार के परिपालक, परम क्रियानिष्ठ किन्तु शिष्य संततिविहीन श्रमण श्रेष्ठ थे । जिन ८४ साधुओं को उन्होंने आचार्य पद प्रदान किये, उनमें से ८३ साधु तो विभिन्न ८३ श्रमणसमूहों के साधु थे, जिन्हें उनके स्थविरों ने उद्योतनसूरि के पास विशुद्ध श्रमणाचार का समीचीन बोध एवं आगमों का गहन ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से भेजा था । पं. श्री कल्याण विजय जी म. के भण्डार से प्राप्त उक्त पत्र को दृष्टिगत रखते हुए ऊपर उद्धृत श्री दानसागर जैन ज्ञान भण्डार, बीकानेर की उक्त पट्टावली के उद्योतनसूरि विषयक उल्लेख पर विचार करने से ऐसा अनुमान किया जाता है कि वि. सं. ९९४ में सर्वदेवसूरि को वटवृक्ष के नीचे आचार्य पद प्रदान करने वाले उद्योतनसूरि और वर्द्धमानसूरि को तथा ८३ श्रमण समुदायों के ८३ स्थविरों के ८३ शिष्यों को आचार्य पद प्रदान करने वाले उद्योतनसूरि समान नाम वाले दो भिन्न-भिन्न आचार्य थे । इस अनुमान की पुष्टि पं. कल्याण विजय जी म. सा. की डायरी के श्री उद्योतनसूरि संबंधी उल्लेख से होती है, जिसमें कि उद्योतनसूरि का सत्ताकाल वि. सं. ७२३ और वि. सं. ९९४ दो प्रकार का दिया गया है । भिन्न-भिन्न समय में हुए समान नाम वाले दो आचार्यों का सत्ताकाल एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी वस्तुतः उद्योतनसूरि नामक एक ही

१. प्रसिद्ध जैन इतिहास वेत्ता स्व. पं. श्री कल्याण विजय जी म. सा. के जालोर ज्ञान भण्डार में विद्यमान उनकी डायरी नं. ११ के पृष्ठ १९८.......की प्रतिलिपि ।

आचार्य मानने की भ्रान्ति संभवतः विगत कतिपय शताब्दियों से ही चली आ रही है।

श्री दान सागर ग्रंथ भण्डार से उपलब्ध गुर्वावली में जो उल्लेख किया गया है कि ८३ विभिन्न साधु समुदायों के स्थविरों ने अपने-अपने समुदाय से एक-एक मेधावी मुनि को उद्योतनसूरि नामक चरित्रनिष्ठ श्रमणश्रेष्ठ के पास शास्त्रों के अध्ययन हेतु भेजा और अध्ययन के पूर्ण होने पर उन ८३ विद्वान् साधुओं को उद्योतनसूरि ने आचार्य पद पर अधिष्ठित किया, यह उल्लेख वस्तुतः सभी दृष्टि-कोणों से विचार करने पर बुद्धिगम्य अथवा युक्तिसंगत प्रतीत होता है। वीर निर्वाण से लेकर वर्तमान काल तक के जैन इतिहास पर गंभीरतापूर्वक दृष्टिनिपात करने पर सूर्य के समान यह तथ्य प्रकट होता है कि विगत ढाई हजार वर्ष जैसी सुदीर्घावधि में एक ही गच्छ में एक समय में ८४ आचार्य बनाने की इसके अतिरिक्त अन्य किसी घटना का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता, एक ओर तो तत्कालीन जैन वाङ्मय में स्थान-स्थान पर इस प्रकार के उल्लेख भरे पड़े हैं कि वीर निर्वाण १००० वर्ष से उत्तरवर्ती काल में विशेषतः वीर निर्वाण सं. १५५० तक और सामान्यतः वीरनिर्वाण की २०वीं शताब्दी तक भारतवर्ष के अनेक विशाल प्रदेशों में चैत्यवासी परम्परा और इसी प्रकार की द्रव्य परम्पराओं का (शिथिलाचारी परम्पराओं का) प्रभुत्व अथवा वर्चस्व रहने के कारण आगमानुसारिणी निर्ग्रंथ सुविहित श्रमण परम्परा विरलप्राया ही अवशिष्ट रह गई थी। सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर प्रभु महावीर द्वारा प्रणीत एवं गणधरों द्वारा ग्रथित निर्ग्रन्थ प्रवचनों को अन्धकारपूर्ण गहरे गह्वरों में बंद कर उन पर ताले लगा दिये गये थे। इसके विपरीत दूसरी ओर इस प्रकार का उल्लेख किया जाता है कि उद्योतनसूरि ने वि. सं. ९९४ (वी. नि. सं. १४६४) में अपने गच्छ में एक नहीं दो नहीं ८४ आचार्य पदों का निर्माण कर अपने ८४ शिष्यों को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया, इस पर कोई भी विज्ञ विचारक आंखें मूँद कर अंधविश्वास नहीं कर सकता। एक ही गच्छ में ८३ अथवा ८४ आचार्यों की स्थापना उसी दशा में की जानी न्याय-संगत अथवा उचित मानी जा सकती है, जबकि उस गच्छ में साधु-साध्वियों की संख्या ८४,००० या ८,४०० हो। चैत्यवासियों का वर्चस्वकाल वस्तुतः सुविहित श्रमण परम्परा के लिए घोर संकटकाल था और संक्रान्ति काल में सुविहित श्रमण परम्परा के साधुओं की संख्या विरल, नगण्य अथवा अंगुलियों के पौरों पर गिनने योग्य भी नहीं रह गई थी, इस प्रकार का उद्घोष तत्कालीन जैन साहित्य डिण्डिम घोष के साथ कर रहा है।

इस प्रकार की स्थिति में इन सभी तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर बीकानेर के दानसागर ज्ञान भण्डार की गुर्वावली के ऊपर उद्धृत किये गये गद्यांश में सत्य की थोड़ी सी झलक दृष्टिगोचर होती है कि निर्ग्रन्थ प्रवचन (गणिपिटक) के अपने समय के अप्रतिम विद्वान् सुविहित श्रमण परम्परा के क्रिया-पात्र किन्तु शिष्य सन्तति विहीन श्रमण श्रेष्ठ उद्योतनसूरि नामक आचार्य के पास

क्रियोद्धारक वर्द्धमानसूरि और अन्यान्य ८३ साधु समूहों के स्थविरों द्वारा आगमों के अध्ययन एवं आगमानुसारी श्रमणाचार के वास्तविक स्वरूप का बोध प्राप्त करने के लिए भेजे गये ८३ मेधावी शिष्यों ने उन शिष्य संतति विहीन उद्योतनसूरि के पास आगमिक श्रमणाचार और आगमों का ज्ञान प्राप्त किया। रात्रि में ग्रह नक्षत्रों की गति को देख कर उद्योतनसूरि ने उन ८३ शिक्षार्थी शिष्यों को उस समय के अतीव शुभ मुहूर्त एवं उनके फल पर प्रकाश डालते हुए बताया कि यदि इस शुभ वेला में किसी के मस्तक पर हाथ रख कर यदि उसे आचार्य पद प्रदान कर दिया जाय तो वह भविष्य में विपुल प्रसिद्धि प्राप्त करने वाला होता है। विभिन्न ८३ श्रमण समूहों के स्थविरों के शिष्यों की प्रार्थना पर उद्योतनसूरि ने अपने उन ८३ शिक्षार्थी शिष्यों के सिर पर क्रमशः अपना हाथ रखते हुए औपचारिक रूप से उन्हें आचार्य पद प्रदान कर दिये।

प्रमाणाभाव में सुनिश्चित रूप से तो कुछ भी नहीं कहा जा सकता किन्तु इस उल्लेख पर गम्भीरता से विचार करने पर यह अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि इस गुर्वावली में "अशीतिश्च इमे अन्यदीया" इस पद में वर्णित उन ८३ शिष्यों में से कतिपय द्रव्य परम्पराओं के, कतिपय चैत्यवासी परम्परा के गच्छों और सम्भवतः एक दो और नाममात्रावशिष्ट सुविहित परम्परा के साधु थे।

हमारे इस अनुमान की पुष्टि वड़गच्छ के संस्थापक उद्योतनसूरि के पट्टधरों से प्रारम्भ हुई परम्पराओं की पट्टावलियों से भी होती है। उद्योतनसूरि के अन्य सात पट्टधरों से जो सात परम्पराएं जैन संघ में प्रचलित हुईं, वे इस प्रकार हैं :—

पहली परम्परा

१.	उद्योतनसूरि	वि० सं०	०९९४
२.	आचार्य सर्वदेवसूरि	"	१०२०
३.	आचार्य देवसूरि	"	१११०
४.	आचार्य सर्व देवसूरि	"	११२९
५.	आचार्य नेमिचन्द्र	"	११३९
६.	आचार्य मुनिचन्द्र	"	११७८
७.	आचार्य अजितदेव	"	
८.	आचार्य वादिदेव	"	१२२६

दूसरी परम्परा

१. आचार्य उद्योतनसूरि
२. आचार्य सर्वदेवसूरि

३. आचार्य जिनचन्द्रसूरि
४. आचार्य आम्रदेव
५. आचार्य नेमिचन्द्र
६. आचार्य यशोदेव

तीसरी परम्परा

१. आचार्य उद्योतनसूरि
२. आचार्य प्रद्युम्नसूरि
३. आचार्य अजितदेवसूरि (अभयदेवसूरि ने स्थानांगसूत्र वृत्ति की प्रशस्ति में आपका नाम अजितसिंहसूरि लिखा है।)
४. आचार्य यशोदेवगणि (२५ अंगों की वृत्तियों के निर्माण में आपने अभयदेव सूरि को सहयोग दिया।)

चौथी परम्परा

१. आचार्य उद्योतनसूरि
२. आचार्य मानदेवसूरि
३. आचार्य जिनदेवगणि
४. आचार्य हरिभद्रसूरि (आपने वि० सं० ११७२ से ११८५ तक क्रमशः बन्ध स्वामित्व षडशीतिकर्म ग्रन्थ वृत्ति, मुनिपति चरित्र (प्राकृत), श्रेयांस चरित्र, उमास्वाति के प्रशमरति नामक ग्रन्थ की वृत्ति और क्षेत्र समास की वृत्ति की रचना की।

पांचवीं परम्परा

१. आचार्य उद्योतनसूरि
२. मुनि चन्द्रसूरि
३. आचार्य अजितदेवसूरि आदि।

---

१. वनवासी उद्योतनसूरी के सम्बन्ध में "दानसागर जैन ज्ञान भण्डार की गुर्वावली में उल्लेख हैं कि अपने ८४ शिक्षार्थी शिष्यों को विभिन्न ८४ गच्छों के आचार्य पदों पर आसीन करने के पश्चात् तत्काल ही आलोचना संलेखनापूर्वक अनशन किया और वे कतिपय ही दिनों के संथारे के साथ स्वर्गस्थ हुए किन्तु इस पट्टावली से ऐसा आभास होता है कि वि सं. ६६४ से कतिपय वर्षों पश्चात् वि. सं. १०२० तक उद्योतनसूरि विद्यमान रहे और वि. सं. १०२० से १११० तक ९० वर्ष तक उनके शिष्य सर्वदेव-सूरि और प्रशिष्यदेवसूरि का आचार्यकाल रहा। —सम्पादक

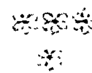
छठी परम्परा

१. आचार्य उद्योतनसूरि
२. आचार्य प्रद्योतनसूरि
३. आचार्य इन्द्रदेवसूरि आदि

सातवीं परम्परा

१. आचार्य उद्योतनसूरि
२. आचार्य सर्वदेवसूरि
३. आचार्य देवसूरि
४. आचार्य सर्वदेवसूरि
५. आचार्य जयसिंहसूरि
६. आचार्य चन्द्रप्रभसूरि
७. आचार्य धर्मघोषसूरि
८. आचार्य शीलगुणसूरि
९. आचार्य मानतुंगसूरि
१०. आचार्य मलयप्रभ, आदि

आचार्य उद्योतनसूरि के शिष्य प्रशिष्यों द्वारा प्रारम्भ की गई इन सात परम्पराओं की पट्टावलियों और बीकानेर के दानसागर जैन ज्ञान भण्डार की उपरि-चर्चित गुर्वावली में उल्लेखित उद्योतनसूरि सम्बन्धी तथ्यों के तुलनात्मक अध्ययन से भी यही सिद्ध होता है कि यशस्वी खरतरगच्छ के पूर्व पुरुष वर्द्धमानसूरि के गुरु वनवासी उद्योतनसूरि वस्तुतः वड़गच्छ के संस्थापक उद्योतनसूरि से भिन्न आचार्य थे।



वर्द्धमानसूरि

(चैत्यवासी परम्परा के ह्रास का प्रारम्भ)

वीर निर्वाण की ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण अर्थात् हारिलसूरि के युग प्रधानाचार्य पद पर आसीन होने के अनुमानतः ढाई दशक व्यतीत हो जाने के पश्चात् से लेकर वीर निर्वाण की १६वीं शताब्दी के लगभग आठवें अथवा नवमें दशक के अन्त तक के काल को जैन धर्म के इतिहास में मोटे रूप से चैत्यवासी परम्परा के चरमोत्कर्ष काल की संज्ञा दी जा सकती है ।

अरण्यचारी उद्योतनसूरि के सम्बन्ध में जो भी यत्किंचित् सामग्री जैन वाङ्मय में उपलब्ध होती है, उससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उत्तरी भारत में सम्पूर्ण गुर्जर प्रान्त से लेकर इसके चारों ओर के दूरवर्ती प्रदेशों तक चैत्यवासी परम्परा का वर्चस्व विद्यमान था ।

सुविहित परम्परा के साधु अति स्वल्प संख्या में अवशिष्ट रह गए थे, और जो भी थे वे सुदूरस्थ प्रदेशों में संभवतः लोक दृष्टि में एक प्रकार से उपेक्षित दशा में विचरण कर रहे थे । यही कारण था कि अभोहर[1] के चैत्यवासी आचार्य जिनचन्द्र के शिष्य वर्द्धमानसूरि ने चैत्यवास का परित्याग कर सदाचार सम्पन्न सुविहित परम्परा के किसी विद्वान् आचार्य अथवा साधु के पास अध्ययनार्थ उप सम्पदा ग्रहण करने का विचार किया तो उन्हें चारों ओर दृष्टि दौड़ाने पर भी आस-पास में सुविहित परम्परा का ऐसा विद्वान् श्रमण दृष्टिगोचर नहीं हुआ । खोज करने पर उन्हें दिल्ली क्षेत्र के आस-पास विचरण करते हुए अरण्यचारी उद्योतनसूरि के सम्बन्ध में समाचार मिले । वर्द्धमानसूरि को उनके गुरु ने सुरि पद प्रदान कर चैत्यवासी परम्परा में ही रहने के लिये प्रलोभन भी दिया किन्तु वर्द्धमान आचार्य के अन्तर्चक्षु उन्मीलित हो चुके थे अतः उन्होंने दिल्ली के आस-पास के क्षेत्रों में विचरण कर रहे वनवासी आचार्य उद्योतनसूरि के पास उप

---

१. खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली (पृष्ठ १) में "अभोहर देशे जिनचन्द्राचार्या.......आसन् । तेषां वर्द्धमान नामा शिष्यः ।" इस प्रकार के उल्लेख से इन्हें अभोहर देश का बताया है । प्रभावक चरित्र में वर्द्धमानसूरि को सपादलक्ष प्रदेश के कूर्चपुर के ८४ चैत्यों के माठपत्य का त्यागी बताया है । – देखो प्रभावक चरित्र पृष्ठ १६२, श्लोक संख्या ३१–३४

सम्पदा ग्रहण कर शास्त्रों के श्रध्ययन से सुविहित संविग्न परम्परा के प्रसार का प्रयास प्रारम्भ किया।

प्रथम क्रियोद्धार

श्रणहिल्लपुरपत्तन में, खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली के उल्लेखानुसार[1] स्वयं वर्द्धमान सूरि ने जिनेश्वर प्रभृति श्रपने १७ शिष्यों सहित दुर्लभ राज की सभा में जाकर सूराचार्य श्रादि चौरासी चैत्यवासी श्राचार्यों को पराजित किया श्रौर "वृद्धाचार्य प्रबन्धावली" के जिनेश्वर सूरि प्रबन्ध के उल्लेखानुसार[2] वर्द्धमानसूरि के स्वर्गस्थ होने के उपरान्त श्रपने गुरु की श्रन्तिम इच्छानुसार श्रणहिल्लपुर के महाराजा दुर्लभराय की सभा में वि. सं. १०२४ (दूसरी मान्यता १०८०) में चैत्यवासियों के ८४ गच्छों के भट्टारकों (श्राचार्यों) को शास्त्रार्थ में पराजित कर चैत्यवासियों के शताब्दियों से केन्द्र के रूप में चले श्रा रहे सुदृढ़ गढ़ को तोड़ दिया।

सुविहित श्रमण परम्परा में संविग्न श्राम्नाय के श्राचार्य वर्द्धमानसूरि श्रथवा उनके शिष्य जिनेश्वर सूरि की चैत्यवासियों पर इस विजय के श्रनन्तर शनैः शनैः चैत्यवासी परम्परा का निरन्तर ह्रास होता ही गया।

वर्द्धमानसूरि ने किस प्रकार क्रियोद्धार कर चैत्यवासियों को पराजित किया श्रौर इनके शिष्य प्रशिष्य किस प्रकार चैत्यवासी परम्परा के उन्मूलन एवं सुविहित परम्परा के प्रचार-प्रसार के लिये प्रयास करते रहे, इस पर पिछले प्रकरणों में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला जा चुका है, श्रतः यहां उसके पुनरुल्लेखन श्रथवा पिष्टपेषण की श्रावश्यकता नहीं।

---

१. गुरुभि (वर्द्धमान सूरिभिः) भणितम्—
"एवं पण्डित जिनेश्वर उत्तर प्रत्युत्तरं यद्भणिष्यति तदस्माकं सम्मतमेव।"
—खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली, पृष्ठ ३

२. गुरुणा जुग्गं जाणिऊण नियपट्टे ठविश्रो। जिणेसर सूरि इइ नामं कयं। पच्छा वद्धमाण सूरि श्रणसणं काऊण देव लोगं पत्तो। तश्रो जिणेसरसूरि गच्छ—नायगो विहरमाणो वसुहं श्रणहिल्लपुरपट्टणे गश्रो। तत्थ चुलसी गच्छवासिणोभट्टारगा दव्वलिंगिणो मढवइणो चेइयवासिणो पासइ। पासित्ता जिण नामपुन्नइकए सिरि दुल्लहराय सभाए वायं कयं। दस सय चउवीसे वच्छरे ते श्रायरिया मच्छरिणो हारिया। जिणेसर सूरिणा जियं
—वही, पृ. ६०

वर्द्धमानसूरि द्वारा किये गये इस क्रियोद्धार का एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व है। इस क्रियोद्धार की ऐतिहासिक घटना के उत्तरकालीन जैन इतिहास के विहंगमावलोकन से स्पष्टतः यह तथ्य प्रकाश में आता है कि न केवल साधु-साध्वी वर्ग में ही अपितु जनमानस में भी जैन धर्म के शुद्ध स्वरूप को समझने की प्रबल जिज्ञासा तरंगित हो उठी थी। वर्द्धमानसूरि द्वारा किये गये क्रियोद्धार का सुखद परिणाम यह हुआ कि जब-जब भी जैन संघ में धर्म के नाम पर बाह्याडम्बर का प्रभाव बढ़ा तब-तब आत्मार्थी सन्तों ने उसे सही राह पर लाने का प्रयत्न किया।

जनमानस में धर्म के शुद्ध स्वरूप के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ उसी का यह परिणाम था कि वीर निर्वाण की सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वर्द्धमानसूरि द्वारा किये गये क्रियोद्धार के पश्चात् क्रियोद्धारों की एक प्रकार से शृंखला सी बन गई।

वीर निर्वाण की ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर पच्चीसवीं शताब्दी तक हुए अधिकांश गच्छों की उत्पत्ति के पीछे किसी न किसी रूप में क्रियोद्धार का ही इतिहास छिपा हुआ है। बड़े से लेकर छोटे से छोटे मतभेद को आधार बनाकर अनेक गच्छों की उत्पत्ति हुई है, किन्तु ध्यान से देखा जाय तो वह मतभेद भी किसी न किसी क्रिया विशेष या मान्यता को लेकर ही हुआ, ऐसा प्रतीत होगा।

एक मनोवैज्ञानिक तथ्य इन क्रियोद्धारों में यह देखने में आया कि जिन साहसी महापुरुषों ने अनेक कष्ट उठाकर जो क्रियोद्धार किये, कालान्तर में उन्हीं के शिष्य-प्रशिष्य पुनः शिथिलाचारी बन गये। जैसे इन्हीं वर्द्धमानसूरि की परम्परा कालान्तर में यतियों जैसी बन गई। यतियों में और इनमें कोई अन्तर नहीं रह गया। इस सम्बन्ध में विक्रम की १९वीं शताब्दी में संस्कृत भाषा में बनाई गई खरतरगच्छ पट्टावली का निम्नलिखित गद्य इस गच्छ के आचार्य और अन्य गच्छों के श्रमणों के श्रमण जीवन की स्थिति का दिग्दर्शन कराता है :—

> फाल्गुन सुदि २ दिने सर्व तपागच्छीयादि आचार्य साधूनुपत्यकायां संरोध्य श्री जिन महेन्द्र सूरयः सर्व संघपतिभिः सार्द्धं श्री मूलनायक जिनगृहाग्रतो गत्वा विधिना सर्वेषां कण्ठेषु संघमालाः स्थापिताः, अन्य गच्छीयाचार्याणां कौशिकानामिव मनोभिलाषं मनस्येव स्थितं, खरतरगच्छेश्वर-सूर्योदयतेज प्रकरत्वात्तदनुत्तीर्य गीतगान तुर्यवाद्यमानगजाश्वशिविकेन्द्रध्वजादिमहर्घ्या पादलिप्त पुरे जिनगृहे दर्शनं विधाय तपागच्छाचार्यस्थितोपाश्रयाग्रतो भूत्वा संघवासेऽयासिषुः भूयोऽपि तत्रस्थ चतुरशीतिगच्छीय द्वादशशतसाधुवर्गेभ्यो महावस्त्र-रूप्यमुद्रायुग्मं प्रत्येकं प्रदत्तानि, तदवसरे श्रीमत् पूज्यैर्बहुद्रव्यव्ययं कृतम्, तत् सम्बन्धः पूर्ववत् पुनः।[1]

---

१. पट्टावली पराग संग्रह (पंन्यास श्री कल्याण विजय जी) पृष्ठ ३७४-३७६

अर्थात् सारांश यह है कि तपा आदि सभी गच्छों के आचार्यों तथा साधुओं को मन्दिर से नीचे ही रोक कर श्री जिनमहेन्द्रसूरि ने सब संघपतियों के साथ मूलनायक के मन्दिर के समक्ष जाकर विधिपूर्वक उन संघपतियों के कण्ठों में मालाएं पहनाईं। अन्य संघों के आचार्यों के मन की अभिलाषाएं ठीक उसी भांति मन में ही रह गईं, जिस प्रकार कि सूर्य को कभी उदित न होने देने की उल्लू की मनोकामना अनादि काल से उसके मन में ही रहती आई है। यह खरतरगच्छ के सूर्य तुल्य जिन महेन्द्रसूरि के उदय तेज का ही प्रताप था कि अन्य सब गच्छों के आचार्यों और साधुओं तथा उनके अनुयायिओं के विरोध के उपरान्त भी खरतरगच्छ के आचार्य जिन महेन्द्रसूरि ने दादाजी की मूर्ति के समक्ष ही संघपतियों को अपने स्वयं के हाथ से ही मालाएं पहना दीं। संघपति ने अपने गुरु श्री जिन महेन्द्रसूरि को उनके समग्र साधु समूह के साथ अपने घर पर बुलाकर स्वर्ण मुद्राओं से उनकी नवांग पूजा की और उन्हें (अपने गुरु श्री जिन महेन्द्रसूरि को १०,०००/– रुपया और एक सुन्दर पालकी समस्त संघ के समक्ष भेंट की। संघाध्यक्ष ने सभी गच्छों के साधुओं, वाचकों एवं पाठकों को रौप्य मुद्राएं, स्वर्ण मुद्राएं और सभी वस्त्र भेंट किये।

स्वयं श्री जिन महेन्द्रसूरि (खरतरगच्छ के आचार्य) ने भी चौरासी गच्छों के आचार्यों और बारह सौ साधुओं को दो-दो चांदी के सिक्के और महावस्त्र भेंट किये। इस अवसर पर गुरु श्री जिन महेन्द्रसूरि ने बहुत बड़ी धनराशि खर्च की।"

इससे स्पष्टरूपेण प्रकट होता है कि १९वीं शताब्दी के आचार्यों और साधु जीवन का क्या रूप था। कितना अन्तर आ गया था महान् क्रियोद्धारक वर्द्धमानसूरि द्वारा पुनः प्रतिष्ठित किये गये श्रमण में जीवन और उनके उत्तरवर्ती पट्टधर आचार्यों के श्रमण जीवन में ?

किन्तु इस प्रकार की स्थिति सदा नहीं रही। शुद्ध श्रमण जीवन का जो पथ वर्द्धमानसूरि ने जैन जगत् को दिखा दिया था, न केवल खरतरगच्छ के ही अपितु अनेक गच्छों के आत्मार्थी आचार्यों और मोक्ष मार्ग के सच्चे पथिक श्रमणों ने उसे नहीं भूलने-भुलाने दिया। वे समय-समय पर सबको सावधान करते ही रहे। श्रमणों ने ही नहीं, बल्कि कई गृहस्थ श्रमणोपासकों ने भी लोगों को समय-समय पर सावधान किया, इस बात का इतिहास साक्षी है।

प्रत्येक विज्ञ के अन्तर्मन में इस प्रकार की जिज्ञासा का उत्पन्न होना सहज स्वाभाविक ही है कि महापुरुषों द्वारा क्रियोद्धार या धर्म जागरण के माध्यम से सर्वज्ञ प्रणीत आगमों के उल्लेखानुसार धार्मिक क्रियाओं का प्रशस्त पथ प्रदर्शित

कर दिये जाने के उपरान्त भी पुनः पुनः क्रियोद्धारों की, आवश्यकता क्यों हुई ? इस प्रश्न का सीधा सा उत्तर है कि आध्यात्म-साधना कष्ट साध्य है और द्रव्य साधना सुसाध्य है। अध्यात्म साधना अन्तःकरण में अलौकिक प्रकाश प्रकट करने वाली है और द्रव्य साध्य भौतिक साधना तत्काल सम्मान, प्रतिष्ठा, यश आदि लोकेषणाओं की पूरक होने के कारण सद्यः फल प्रदायिनी। अध्यात्म साधना का पथ विकट, वीहड़ और नीरस है, जबकि भौतिक साधना का पथ धूम धड़ाके से मुखरित, लोक-संकुल एवं कलरव कल्लोल कुतूहल से परिपूर्ण है। यही प्रमुख कारण था कि लोक-प्रवाह, द्रव्य साधना की सूत्रधार द्रव्य परम्पराओं की ओर उमड़ पड़ता।

वर्द्धमानसूरि से पूर्व भी समय-समय पर क्रिया निर्धारण के माध्यम से चतुर्विध संघ को शास्त्र सम्मतविशुद्ध धर्म पथ पर आरूढ़ करने के प्रयास महापुरुषों द्वारा किये गये थे, इनके उल्लेख जैन वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं। किन्तु वर्द्धमान-सूरि द्वारा प्रारम्भ किया गया क्रियोद्धार का अभियान बड़े ऐतिहासिक महत्व का था। वर्द्धमानसूरि और उनके जिनेश्वरसूरि आदि शिष्यों के द्वारा केवल आगमों को ही प्रामाणिक मान्य किये जाने का खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली में बड़े ही सुन्दर ढंग से विवरण दिया गया है। राजपिण्ड को नितान्त अग्राह्य मान कर उन्होंने अणहिल्लपत्तन में मधुकरी के माध्यम से ४२ दोष टाल कर एषणीय आहार ग्रहण किया। वे निर्दोष वसति में रहे। पट्टावली के उल्लेखानुसार उनके श्रमण जीवन में आडम्बर अथवा परिग्रह के लिए अवकाश तक नहीं था। किन्तु इनके उत्तरवर्ती काल में इन्हीं के पट्टधरों की श्रमण चर्या शुद्ध, निर्दोष एवं उनकी श्रमण चर्या के अनुरूप नहीं रही।

जैन इतिहास के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान् स्व. पंन्यास श्री कल्याण विजय जी महाराज ने—"खरतरगच्छीया हस्तलिखित पट्टावली" में "दुर्लभराज द्वारा जिनेश्वरसूरि को खरतर विरुद दिया गया"—इस उल्लेख का खण्डन करते हुए ताम्र-पत्रों और शिलालेखों के आधार पर तैयार की गई अणहिल्लपुरपत्तन के सोलंकी (चालुक्य) राजाओं की काल निर्देश के साथ-साथ एक वंशावली दी है, जो इस प्रकार है :—

(१) मूलराज, ई. ९४२–९९७, वि० सं० ९९९–१०५४ (२) चामुण्ड ई. ९९७–१०१० (३) वल्लभसेन ई. १०१०–१० (४) दुर्लभसेन ई. १०१०–१०२२ वि० सं० १०६७–१०७९ (५) भीमदेव (प्रथम) १०२२–१०७२, वि० सं० १०७९–११२९ (६) करण ई. १०७२–१०९४, ११२९–११५१ (७) सिद्धराज ई. १०९४–११४३ (८) कुमार पाल ई. ११४३–११७४ (९) अजयपाल ई. ११७४–११७७ (१०) मूलराज (द्वितीय) ई. ११७७–११७९ (११) भीमदेव (द्वितीय) ई. ११७९–१२४१ (१२) त्रिभुवनपाल ई. १२४१–१२४१.

स्व. श्री कल्याण विजयजी महाराज ने पाटण में वर्द्धमानसूरि अथवा जिनेश्वर सूरि से पाटण की राज सभा में चैत्यवासियों की पराजित होने की घटना को ऐतिहासिक घटना स्वीकार करते हुए भी पट्टावली कार द्वारा वि० सं० १०८० में इस घटना के घटित होने के उल्लेख को अविश्वसनीय ठहराते हुए लिखा है कि दुर्लभसेन का काल उपरिलिखित चालुक्य राजाओं की वंशावली के उल्लेखानुसार ई. सं. १०१०–१०२२ तदनुसार वि० सं० १०६७ से वि० सं० १०७९ तक ही रहा। तदनुसार वि० सं० १०८० में दुर्लभसेन की सभा में जिनेश्वर सूरि का चैत्यवासियों के साथ शास्त्रार्थ कैसे सम्भव हो सकता है।

वास्तविकता यह है कि संवत् के उल्लेख में त्रुटि हुई है। जिनेश्वर सूरि प्रवन्ध में उल्लिखित दससय चउवीसे (१) वच्छरे ते आयरिया मच्छरिणो हारिया। जिणेसर सूरिणा जियं इन वाक्यों से स्पष्टतः प्रकट होता है कि संवत् के सम्वन्ध में इस प्रवन्ध के रचनाकर और पट्टावली कारों के मन में शंका रही है।

स्वयं पं. श्री कल्याण विजय जी म. के ध्यान में यह वात थी। उन्होंने पट्टावली पराग संग्रह के पृष्ठ १६८ और १६९ पर दो वार वि.सं. १०२४ का "वर्द्धमान सूरि प्रवन्ध" के आधार पर उल्लेख किया। इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ३४७ पर आपने "खरगच्छीया हस्तलिखित पट्टावली" की इस मान्यता का भी उल्लेख किया है कि वि.सं. १०८० में दुर्लभ राज की सभा में जिनेश्वर सूरि ने चैत्यवासियों को पराजित किया।

इन सव उल्लेखों पर विचार करने से यही प्रतीत होता है कि इस ऐतिहासिक महत्व की घटना के उल्लेख में कहीं कोई त्रुटि रह सकती है। किन्तु वह त्रुटि नगण्य है। विक्रम संवत् को ई. संवत् में वदलने पर अधिक मास आदि की गणना के कारण वि.सं. १०८० का ई. सन् १०२२-२३ होना चाहिए। संभव है वि.सं. १०७९ के अवसान काल में दुर्लभसेन की सभा में शास्त्रार्थ हुआ हो और पत्टवाली लेखक ने १०७९ के स्थान पर १०८० लिख दिया हो। वस्तुतः देखा जाय तो यह कोई ऐसी वड़ी त्रुटि नहीं है कि जिसके आधार पर ऐतिहासिक घटना को ही विवादास्पद मान लिया जाय। शिलालेखों और ताम्रपत्रों के आधार पर काल क्रम निर्धारित करने में तो प्रायः वर्ष दो वर्ष का अन्तर रह जाना संभव है। अणहिल्लपुर पट्टण में दुर्लभराज की राज्य सभा में जिनेश्वरसूरि ने चैत्य-वासियों को शास्त्रार्थ में पराजित कर गुजरात में पुनः वसतिवास की स्थापना की—इस घटना की ऐतिहासिकता और प्रामाणिकता सिद्ध करने वाला सर्वाधिक प्रवल प्रमाण है जिनेश्वर सूरि के पट्ट शिष्य जिनचन्द्र सूरि द्वारा इस घटना के कुछ ही समय पश्चात् प्रणीत गणधर सार्द्धशतक का एतद्विषयक उल्लेख।

आचार्य जिनचन्द्र सूरि ने "गणधर सार्द्धशतक" नामक कृति में चैत्यवासियों के पराजय की घटना का इस प्रकार वर्णन किया है :—

अणहिल्लवाडए नाडइव्व दंसिय सुपत्तसंदोहे ।
पउरपए वहुकविदूसगेये नायगाणुगए ।।६५।।
सड्ढिय दुल्लह राये, सरस्सइ अंकोवसोहिए सुहए ।
मज्झे रायसह, पविसिउण लोयागमाणुमयं ।।६६।।
नामायरिएहिं समं, करिय वियारं वियाररहिएहिं ।
वसहि निवासो साहूणं ठाविओ ठाविओ अप्पा ।।६७।।

श्री वर्द्धमानसूरि विक्रम सं. १०८० तदनुसार वीर नि. सं. १५५० के आस-पास आबू पर्वत पर समाधि पूर्वक स्वर्गस्थ हुए।

वर्द्धमानसूरि ने अपने जीवनकाल में ही अपने पट्ट शिष्य जिनेश्वरसूरि को अपना पट्टधर घोषित कर आचार्य पद प्रदान कर जिनेश्वरसूरि के लघुभ्राता मुनि बुद्धि सागर को भी आचार्य पद प्रदान कर दिया।



जिनेश्वरसूरि

वर्द्धमानसूरि के पश्चात् संविग्न परम्परा के आचार्य जिनेश्वरसूरि हुए। वर्द्धमानसूरि ने इन्हें अपने जीवन काल में ही आचार्य पद प्रदान कर अपना पट्टधर बना दिया था। इनके भ्राता बुद्धि सागर को भी वर्द्धमानसूरि ने आचार्य पद प्रदान किया। इन भ्रातृद्वय आचार्यों का जीवन परिचय 'प्रभावक चरित्र' के अनुसार इस प्रकार है :—

धारा नगरी में लक्ष्मी पति नामक यथा नाम तथा गुण सम्पन्न अति समृद्ध श्रेष्ठी रहता था। श्रेष्ठी लक्ष्मीपति बड़ा ही धर्मनिष्ठ एवं उदारमना था। वह स्वभाव से ही परोपकार परायण था।

उस समय मध्य-प्रदेश के किसी ग्राम में रहने वाले कृष्ण नामक एक ब्राह्मण के श्रीपति और श्रीधर नामक दो पुत्र वेद-वेदांग एवं अनेक विद्याओं में पारीणता प्राप्त करने के पश्चात् देश-दर्शन हेतु अपने घर से प्रस्थित हुए। अनेक स्थानों पर घूमते हुए वे दोनों भाई धारा नगरी पहुंचे।

श्रेष्ठिवर लक्ष्मीपति की दानशीलता एवं परोपकारपरायणता की ख्याति सुनकर वे भिक्षार्थ उसके घर गये। श्रेष्ठि ने उन्हें बड़े प्रेम से भिक्षा और यथेप्सित वस्त्र-पात्रादि प्रदान किये। उन दोनों ब्राह्मण कुमारों ने कुछ दिन धारा नगरी में ठहरने का विचार किया। वे प्रतिदिन लक्ष्मीपति के घर भिक्षार्थ आते और उन्हें लक्ष्मीपति प्रचुर मात्रा में यथेप्सित भिक्षा प्रदान करता।

लक्ष्मीपति के घर में बैठक के पास ही एक अतिविशाल प्राचीन शिलालेख उट्टंकित था। वह शिलालेख बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था। उसमें धर्म, श्रेष्ठि के पूर्वजों, उनके द्वारा किये गये उल्लेखनीय कार्यों आदि के सम्बन्ध में तिथि, वार, वर्ष आदि उल्लेखों के साथ बड़े ही महत्त्व के विवरण उट्टंकित थे। श्रीपति और श्रीधर दोनों भाइयों की दृष्टि उस शिलालेख पर पड़ी। उन दोनों भाइयों ने उस शिला-लेख को अन्त तक पढ़ा। वह अभिलेख उन्हें बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और रुचिकर लगा। वे दोनों भाई प्रतिदिन भिक्षार्थ जब श्रेष्ठी के घर आते तो एकाग्रचित्त हो बड़ी लगन के साथ उस शिलालेख को पढ़ते। इस प्रकार उन दोनों भाइयों ने उस अभिलेख का अवगाहन करते हुए उसे अनेक बार पढ़ा।

एक दिन श्रेष्ठी लक्ष्मीपति के घर में आग लग गई और उसकी विपुल सम्पत्ति के साथ वह प्राचीन शिलालेख भी अग्नि की प्रचण्ड ज्वालाओं से प्रनष्ट

टूट-फूट कर पूर्णतः नष्ट हो गया। शिलालेख को नष्ट हुआ देखकर लक्ष्मीपति बड़ा दुःखित हुआ।

दूसरे दिन श्रेष्ठी जिस समय चिन्तासागर में निमग्न बैठा था, उस समय श्रीपति और श्रीधर उसके घर पर आये। उन्हें भी अग्नि के ताण्डव से हुए विनाश को देखकर बड़ा दुःख हुआ। श्रीपति ने उस उदारमना श्रेष्ठि के दुःख में भागी होते हुए सान्त्वनापूर्ण शब्दों में कहा—"श्रेष्ठिवर! इस आकस्मिक अग्निप्रकोप से जो आपकी सम्पत्ति की हानि हुई है, उससे हमें भी बड़ा दुःख हुआ है। संसार में सुख-दुःख, हानि-लाभ और जीवन-मरण का क्रम धूप और छाया के समान अपरिहार्य अनवरत क्रम की भांति अटल है। आप जैसे विज्ञ एवं धैर्यशाली मनस्वी को इस प्रकार अधीर नहीं होना चाहिये। भीषण से भीषणतम संकटापन्न स्थिति में भी धैर्य से विचलित नहीं होना—यही तो धीर मनस्वियों का प्रथम लक्षण है। साहस के सम्बल को सम्हालिये। आपके जिस साहस एवं सूझ-बूझ भरे बुद्धिबल ने आपको धन कुबेरोपन वैभव का स्वामी बनाया है, वही आपको अब भी पुनः पूर्ववत् बनायेगा।

गहरी दीर्घनिश्वास के साथ श्रेष्ठी लक्ष्मीपति के कण्ठरव से ये उद्गार उद्भूत हुए—"ब्रह्मकुमारो! मुझे अन्न वस्त्र, भाण्डोपकरणादि सम्पत्ति के नष्ट हो जाने का कोई विशेष दुःख नहीं है, मुझे सबसे बड़ा दुःख तो इस प्राचीन शिलालेख के पूर्णतः ध्वस्त हो जाने का है। सम्पत्ति तो पुनः उपार्जित कर ली जायेगी परन्तु यह महत्त्वपूर्ण प्राचीन शिलालेख तो अब पुनः किसी भी तरह तैयार नहीं किया जा सकेगा।"

श्रेष्ठी लक्ष्मीपति की बात सुनते ही दोनों भाइयों के मुखमण्डल आशा एवं उमंगों से ओत-प्रोत उत्साह के तेज से उद्दीप्त हो उठे। दोनों भाइयों ने श्रेष्ठि को आश्वस्त करते हुए सोत्साह एक साथ कहा—"श्रेष्ठिवर! यदि आप इसी चिन्ता से चिन्तित हैं, तो इसी क्षण निश्चिन्त हो जाइये। हम दोनों भाइयों ने उस अभिलेख को पढ़ा तो हमें वह धार्मिक, सामाजिक और वंश परम्परानुगत कौटुम्बिक आदि सभी दृष्टियों से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण एवं मननीय प्रतीत हुआ। इसी कारण हम दोनों भाइयों ने उसे उत्कण्ठापूर्वक पुनः पुनः पढ़ा है और वह सम्पूर्ण शिलालेख हमें अक्षरशः कण्ठस्थ हो गया है। जिस रूप में वह अभिलेख था, उसी रूप में उसका पुनरालेखन कर हम आपको दे देंगे।"

अपूर्व आश्चर्य से अवाक् बना श्रेष्ठी कतिपय क्षणों तक तो उन दोनों ब्रह्मकुमारों की ओर अपलक देखता ही रह गया। तदनन्तर आश्वस्त हो अगाध शान्ति के सागर में सुस्नात सस्मित स्वर से समस्त वातावरण में सुधा सी घोलते हुए श्रेष्ठी ने कहा—"धन्य हैं आप! इस प्रकार की स्थिति में तो मेरा कुछ भी नष्ट नहीं हुआ, सब कुछ सुरक्षित ही है।"

श्रीपति और श्रीधर ने अथ से इति तक, तिथिवार, वर्ष, नक्षत्र आदि सहित उस सम्पूर्ण शिलालेख को पत्रों पर लिख कर श्रेष्ठी को समर्पित कर दिया। श्रेष्ठी ने उसे पढ़ा तो उसके नयन युगल से हर्षाश्रु छलक उठे। उसने उन पत्रों को अपने उन्नत भाल से लगा विशाल वक्षस्थल से, हृदय से चिपका लिया। उसके अन्तर्मन में एक पुनीत विचार धारा उद्भूत हुई—"यदि इस प्रकार के अद्भुत मेधा-शक्ति सम्पन्न किशोर मेरे गुरुवर आराध्य आचार्य देव को मिल जायें तो निश्चित है कि जिन – शासन एक बार पुनः आर्यधरा के क्षितिज में सूर्य के समान दैदीप्य-मान हो जगती तल को अध्यात्म ज्ञान की अलौकिक आभा से ओत-प्रोत एवं आलोकित कर दे। अपूर्व संयोग की बात थी कि श्रेष्ठि के अन्तर्मन में अंकुरित हुई भव्य भावना-वल्लरी शीघ्र ही फलवती भी हो गई।

श्रेष्ठी लक्ष्मीपति ने उन दोनों द्विज किशोरों को बड़े सम्मान के साथ अपने घर पर ही रख लिया और उनके भोजन-पान-वस्त्र आदि की व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध कर दिया। श्रीपति और श्रीधर भी श्रेष्ठी के घर में आनन्दपूर्वक रहने लगे।

उन दोनों ब्राह्मण किशोरों को श्रेष्ठी के घर रहते हुए थोड़े ही दिन बीते होंगे कि महान् क्रियोद्धारक आचार्य वर्द्धमानसूरि का धारा नगरी में पदार्पण हुआ। श्रेष्ठी लक्ष्मीपति दोनों द्विज कुमारों के साथ आचार्य श्री के दर्शन, नमन एवं प्रवचन-श्रवण के लिए धर्मस्थान में पहुंचा। श्रेष्ठी ने श्रद्धा भक्ति पूर्वक आचार्य श्री को वन्दन-नमन किया और वह उनके समक्ष बैठ गया। श्रीपति और श्रीधर ने भी अपने अंजलिपुटों को भाल से लगा वर्द्धमानसूरि को प्रणाम किया और दोनों भाई उनके समक्ष हाथ जोड़ कर बैठ गये। पूर्व जन्म के संस्कारों का ही प्रभाव था कि उन दोनों द्विज कुमारों का अन्तर्हृद आह्लाद से आपूरित हो गया। वे दोनों निर्निमेष दृष्टि से सूरिवर के शान्तसौम्य मुखारविन्द की ओर देखते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो दो मधु लोलुप भ्रमर दिव्य पारिजात पुष्प पा अपनी सुध-बुध भुला एकमात्र उसका मधुपान करने में निमग्न हों।

उन दोनों द्विज किशोरों की मुखाकृति आंखों की चमक, और सामुद्रिक लक्षणों से युक्त भव्य व्यक्तित्व को देखकर वर्द्धमानसूरि ने अनुभव किया कि ये दोनों किशोर आत्म-विजय के साथ-साथ पर–विजय करने में भी सर्वथा समक्ष होंगे।

वर्द्धमानसूरि का उपदेश सुन कर श्रीपति और श्रीधर दोनों ही वन्धुओं को दृश्यमान जगत् की क्षण भंगुरता, भौतिक भोगोपभोगों की निस्सारता और अध्यात्म साधना की दृष्टि से मानव जन्म की महत्त्वपूर्ण महनीयता के बोध के साथ-साथ संसार से, संसार के समस्त कार्य-कलापों से, नाते-रिश्तों से विरक्ति हो गई। उन्होंने वर्द्धमानसूरि से प्रार्थना की कि वे उन दोनों भाइयों को श्रमण-धर्म में दीक्षित कर सदा के लिए अपने चरणों की शरण प्रदान करें।

वर्द्धमानसूरि ने, प्रभावक चरित्र के अनुसार श्रेष्ठी लक्ष्मीपति की अनुज्ञा-प्रार्थना पर श्रीपति और श्रीधर नामक उन दोनों द्विज किशोरों को श्रमण धर्म में दीक्षित किया । कालान्तर में इन बन्धु द्वय की भगिनी कल्याणमती ने वर्द्धमानसूरि की छत्र-छाया में श्रमणी धर्म की दीक्षा ग्रहण की – इससे अनुमान लगाया जाता है कि श्रीपति और श्रीधर की श्रमण दीक्षा के समय भी सम्भवतः उनके माता-पिता अथवा किसी पारिवारिक जन ने इन्हें दीक्षा प्रदान करने सम्बन्धी अनुज्ञा प्रदान की हो । दीक्षा के पश्चात् इन दोनों भ्राताओं का नाम क्रमशः जिनेश्वर और बुद्धिसागर रखा गया ।

श्रीपति और श्रीधर ने श्रमण धर्म में दीक्षित होने के अनन्तर अपने गुरु वर्द्धमानसूरि की सेवा में रह कर शास्त्रों का अध्ययन किया । पहले से ही वेद-वेदांग एवं अनेक विद्याओं में पारंगत श्रीपति और श्रीधर ने स्वल्प समय में ही जैन सिद्धान्तों का भी तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर लिया ।

पाटण में चालुक्य राज दुर्लभसेन की राज सभा में जिनेश्वरसूरि ने चौरासी गच्छों के चैत्यवासी आचार्यों को शास्त्रार्थ में पराजित कर सुविहित परम्परा की जिस प्रकार पुनः प्रतिष्ठा स्थापित की, इस सम्बन्ध में वर्द्धमानसूरि के परिचय में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला जा चुका है ।

इन दोनों भ्राताओं को सुयोग्य समझ कर वर्द्धमानसूरि ने जिनेश्वरसूरि को आचार्य पद प्रदान कर अपना पट्टधर नियुक्त किया । बुद्धि सागर सूरि को भी उन्होंने द्वितीय आचार्य के पद पर अधिष्ठित किया । इन दोनों भाइयों की सहोदरा साध्वीजी कल्याणमति जी को वर्द्धमानसूरि ने महत्तरा पद प्रदान किया ।

बुद्धिसागर सूरि ने अपने ही समान नाम वाले सात हजार श्लोक प्रमाण "बुद्धिसागर व्याकरण" नामक व्याकरण ग्रन्थ की रचना की । यह ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है ।

श्री जिनेश्वरसूरि ने जिनचन्द्रसूरि और अभयदेवसूरि को आचार्य पद प्रदान किया । प्रभावक चरित्र के निम्नलिखित श्लोक के अनुसार श्री जिनेश्वर सूरि ने अपने गुरु वर्द्धमानसूरि के आदेश से ही अभयदेवसूरि को आचार्य पद प्रदान किया था :—

श्रीवर्द्धमान सूरीणामादेशात् सूरितां ददौ ।
श्री जिनेश्वर सूरिश्च, ततस्तस्य गुणोदधेः ।। ९८ ।।
श्रीमानभयदेवाख्यः सूरिः पूरित-विष्टपः ।....।। ९९ ।।

श्री जिनेश्वरसूरि की अद्भुत् रचना शक्ति और संस्कृत भाषा पर पूर्ण अधिकार का परिचय कराने वाली एक घटना जैन वांग्मय में उपलब्ध होती है, वह इस प्रकार है :—

एक समय जिनेश्वरसूरि ने डियाणा नामक नगर में चातुर्मासावास किया। प्रतिदिन के व्याख्यान के अवसर पर आगमिक उपदेश के साथ-साथ शिक्षाप्रद कथानकों के माध्यम से श्रोताओं को आगम के गहन विषय सुचारू रूपेण हृदयंगम कराने के अभिप्राय से जिनेश्वरसूरि ने चैत्यवासी आचार्यों से आवश्यक पुस्तकें मंगवाईं। चैत्यवासी आचार्य अपनी चैत्यवासी परम्परा का पाटण में पराभव करने वाले जिनेश्वरसूरि को अपना कोई भी ग्रन्थ देने को सहमत नहीं हुए। जिनेश्वरसूरि ने तत्काल कथानक कोश नामक विशाल ग्रन्थ की रचना प्रारम्भ कर दी। प्रतिदिन अपराह्न में दो प्रहर तक वे कथानक कोश की रचना करते और दूसरे दिन प्रातः व्याख्यान में उन कथानकों के माध्यम से श्रोताओं को विमुग्ध कर देते। इस प्रकार चार मास में उन्होंने विशाल कथानक कोश की रचना सम्पन्न कर दी।[1]

चैत्यवासियों को पराजित करने के अनन्तर श्री जिनेश्वरसूरि एवं श्री बुद्धिसागरसूरि अपने सन्त वृन्द के साथ जाबालिपुर आये। यहां श्री जिनेश्वरसूरि ने विक्रम सम्वत् १०८० में प्रमालक्ष्म आदि कतिपय ग्रन्थों और बुद्धिसागरसूरि ने सात हजार श्लोक परिमाण के 'बुद्धिसागर व्याकरण' नामक व्याकरण ग्रन्थ की रचना पूर्ण की, जैसा कि बुद्धिसागर द्वारा रचित व्याकरण ग्रन्थ के अन्त में उल्लिखित निम्न श्लोक से प्रकट होता है :—

श्री विक्रमादित्य नरेन्द्रकालात्,
साशीतिके याति समासहस्रे। (वि. सं. १०८०)

सश्रीक जावालिपुरे तदाद्यं,
दृब्धं मया सप्त सहस्रकल्पम् ॥११॥

वृद्धाचार्य प्रवन्धावलि में और खरतरगच्छ की वीकानेर नगरस्थ श्रीपूज्य "दान सागर जैन ज्ञान भंडार" के उपाश्रय की श्री क्षमा कल्याण द्वारा सं. १८३० में रचित गुर्वावली में श्री जिनेश्वरसूरि का गृहस्थ जीवन का परिचय उपरिवर्णित परिचय से भिन्न प्रकार का ही दिया हुआ है।

'वृद्धाचार्य प्रवन्धावलि" के जिनेश्वरसूरि प्रवन्ध में श्री जिनेश्वरसूरि का परिचय निम्नलिखित रूप में दिया गया है :—

"वर्द्धमानसूरि विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करते हुए सिद्धपुर नगर में पधारे। दूसरे दिन प्रातःकाल श्री वर्द्धमानसूरि जिस समय जंगल से नगर की ओर लौट

---

१. खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली।

रहे थे, उस समय वेद-वेदांग का पारगामी जग्गा नामक पुष्करणा ब्राह्मण सरस्वती नदी में स्नान कर अपने घर की ओर जा रहा था। उस पुष्करणा ब्राह्मण जग्गा ने वर्द्धमानसूरि को देखते ही जैन धर्म की निन्दा करते हुए कहा :—"ये जैन साधु शूद्र वेद बाह्य और अपवित्र हैं।"

उस पुष्करणा ब्राह्मण की बात सुनकर वर्द्धमानसूरि ने शान्त एवं गम्भीर स्वर में कहा :—"हे विद्वान् ब्राह्मण ! बाह्य स्नान से वस्तुतः शुद्धि नहीं होती। तुम्हारे मस्तक पर मृत मछली पड़ी हुई है। इस दशा में तुम स्वयं अनुभव करोगे कि तुम्हारे शरीर की शुद्धि नहीं हुई है।

मृत मत्स्य की अपने मस्तक पर विद्यमानता की बात सुनकर पुष्करणा पंडित जग्गा ने इसे अपने सम्मान का प्रश्न बनाते हुए कहा :—"यदि मेरे मस्तक पर मृत मछली मिल जाय तो मैं तुम्हारा शिष्य बन जाऊंगा अन्यथा मेरे मस्तक पर मृत मत्स्य के न मिलने की अवस्था में तुम्हें मेरा शिष्य बनना होगा।"

सस्मित शान्त स्वर में वर्द्धमानसूरि ने इस पण अथवा प्रण पर अपनी स्वीकृति देते हुए कहा :—"ठीक है। ऐसा ही हो।"

आवेशाभिभूत पंडित जग्गा ने ज्योंही अपने शिर से शिरोवेष्टन (साफा) उठाया त्यों ही एक मृत मत्स्य जग्गा ब्राह्मण के मस्तक पर से पृथ्वी तल पर गिर पड़ा और पण के अनुसार उसने तत्काल वर्द्धमानसूरि का शिष्यत्व अंगीकार कर लिया।"

वृद्धाचार्य प्रबन्धावलि के उपरिवर्णित जिनेश्वरसूरि प्रबन्ध में जिनेश्वरसूरि के लघुभ्राता बुद्धिसागर का नामोल्लेख तक नहीं किया गया है, यह वस्तुतः विचारणीय है।

"श्री दान सागर जैन ज्ञान भंडार" बीकानेर की गुर्वावली में श्री जिनेश्वरसूरि का परिचय निम्नलिखित रूप में दिया गया है :—

सुविहित पक्ष में संस्थापक श्री देवसूरि के प्रशिष्य तथा श्री नेमिचन्द्रसूरि के शिष्य श्री उद्योतनसूरि को विशुद्ध श्रमणाचार के प्रतिपालक क्रियापात्र एवं उच्च कोटि के आगम मर्मज्ञ विद्वान् समझकर दूसरे विभिन्न ८३ श्रमण समूहों के स्थविरों के ८३ शिष्य उनके (उद्योतनसूरि के) पास पढ़ने के लिये आये। उसी समय स्थविर मंडली में सर्वाधिक वृद्ध अबोहर प्रदेश के चैत्यवासी आचार्य जिनचन्द्र के शिष्य श्री वर्द्धमान नामक चैत्यवासी साधु चैत्यवास का परित्याग कर उद्योतनसूरि की सेवा में पहुंचे और उन्हें सुविहित श्रमण श्रेष्ठ एवं विद्वान् जानकर वे उद्योतनसूरि के शिष्य बन गये।

इस प्रकार ८४ शिक्षार्थी श्रमणों को उद्योतनसूरि ने समीचीनतया आगमों का अध्ययन करवाया। अध्ययन के सम्पन्न हो जाने पर एक रात्रि में सुविहित श्रमण परम्परा के अभ्युदय सूचक शुभ मुहूर्त को देखकर उद्ययोतन सूरि ने अपने शिष्यों से कहा कि देखो आकाश में बृहस्पति रोहिणी शकट में प्रवेश करने जा रहा है। इस प्रकार के शुभ मुहूर्त में यदि कोई गुरु अपने शिष्य के सिर पर हाथ रखकर उन्हें आचार्य पद प्रदान कर दे तो उन आचार्यों की दिशा विदिशाओं में दूर-दूर तक यशोकीर्ति प्रसृत होती है।

८३ उन विभिन्न स्थविरों के शिष्यों की प्रार्थना पर उद्योतनसूरि ने कंडे काष्ठ के अभिमन्त्रित चूर्णमय वासक्षेप के साथ क्रमशः उनके शिर पर अपना हाथ रखते हुए उन्हें आचार्य पद प्रदान कर दिये।

अपने शिष्य वर्द्धमान मुनि को, जो कि चैत्यवासी परम्परा का परित्याग कर उनके पास पंच महाव्रत रूप श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर शिष्य बने थे, उद्योतनसूरि ने इन ८३ श्रमणों को आचार्य पद प्रदान करने से कुछ समय पूर्व ही अपना पट्टधर नियुक्त कर सूरि मन्त्र प्रदान कर दिया था। वर्द्धमानसूरि को आचार्य पद प्रदान करते समय उद्योतनसूरि ने गच्छ वृद्धि के लाभ को देखते हुए उन्हें उत्तराखंड में विहार करने का आदेश दिया। उत्तराखंड और अनेक क्षेत्रों में धर्म का प्रचार करने के अनन्तर वर्द्धमानसूरि सरसा नामक पत्तन 'नगर' में पधारे।

उन्हीं दिनों सोम नामक ब्राह्मण के दो पुत्र शिवदास तथा बुद्धि सागर और कल्याणवती नाम की पुत्री—ये तीनों भाई-बहिन सोमेश्वर महादेव के दर्शनार्थ तीर्थ यात्रा करते हुए उस समय के प्रसिद्ध नगर सरसा में पहुंचे। तीनों वहन भाइयों ने सरस्वती नदी में स्नान किया और सोमनाथ महादेव का अन्तर्मन में ध्यान करते हुए वे वहीं सो गये। मध्य रात्रि में उनके समक्ष सोमनाथ महादेव ने प्रकट होकर कहा:—"वत्सो ! मैं तुम पर प्रसन्न हूं। तुम मुझसे मनोवांछित वर मांगो।"

उन तीनों ने सांजलि शीष झुका कर वर की याचना करते हुए शंकर से प्रार्थना की :—"प्रभो। आप हम पर प्रसन्न हैं तो हम तीनों को वैकुण्ठवास प्रदान कीजिये।"

सोमनाथ ने कहा :—"वत्सो। वैकुंठ तो मुझे भी उपलव्ध नहीं है, ऐसी स्थिति में मैं तुम्हें वैकुंठवास किस भांति प्रदान कर सकता हूं। यदि वस्तुतः वैकुंठवास ही तुम्हारा एकमात्र लक्ष्य है तो श्री वर्द्धमानसूरि के चरणों की सेवा करो। वर्तमान काल में एक मात्र वे ही वैकुंठवास प्रदान करने में सक्षम हैं,[1] समर्थ हैं। यह कहकर सोमनाथ महादेव अदृश्य हो गये।

---

१. दान सागर जैन ज्ञान भण्डार, बीकानेर पो० १० ग्रं० १५२ गुर्वावली, पृ० ६

दूसरे दिन प्रातःकाल उन तीनों बहन भाइयों ने नदी में स्नान किया और तत्पश्चात् वे उपाश्रय में विराजमान श्री वर्द्धमानसूरि की सेवा में उपस्थित हुए। वन्दन नमन के अनन्तर उन्होंने वर्द्धमानसूरि से प्रार्थना की :—"महात्मन् ! आप हमें वैकुंठ वास प्रदान करें।"

वर्द्धमानसूरि ने अन्तस्तलवेधी दृष्टि से उनकी ओर देखा। उनमें से एक बड़े भाई शिवदास (के मस्तक के केशजाल में एक छोटी सी मछली उलझी हुई थी। जलप्राणा मछली जल से बाहर निकाल दिये जाने के कारण जलाभाव में मर चुकी थी। वर्द्धमानसूरि ने मरी हुई उस मछली की ओर इंगित किया और जैन धर्म की आधार शिला स्वरूपा दया भगवती पर प्रकाश डालते हुए वैकुंठ प्रदायी श्रमणाचार का स्वरूप उन्हें समझाया। वर्द्धमानसूरि के मुखारविन्द से वैकुंठवास (मोक्ष) प्राप्ति के सच्चे मार्ग को सुनकर उन तीनों बहिन-भाइयों के अन्तःकरण-मन-मस्तिष्क में मोक्ष मार्ग पर अग्रसर होने की उत्कट आकांक्षा उत्पन्न हुई। उन तीनों मुमुक्षु भव्यात्माओं ने वर्द्धमानसूरि से जीवन-पर्यन्त सर्व सावद्य-विरति स्वरूप पंच महाव्रतों की दीक्षा ग्रहण की। गुरु ने दीक्षा प्रदान करते समय शिवदास का नाम जिनेश्वर रखा। मुनि जिनेश्वर और बुद्धि सागर ने पूर्ण निष्ठा एवं प्रगाढ़ श्रद्धापूर्वक अपने गुरु वर्द्धमानसूरि से आगमों का अध्ययन किया। उत्कृष्ट लगन और कठोर परिश्रम के परिणाम-स्वरूप उन बन्धुद्वय मुनियों ने सभी सैद्धान्तिक शास्त्रों में निष्णातता प्राप्त की।

वर्द्धमानसूरि से एक दिन जिनेश्वर मुनि ने निवेदन किया कि यदि गुर्जर प्रदेश में विचरण कर धर्म का प्रचार किया जाए तो जिनशासन की बड़ी उन्नति हो सकती है। वर्द्धमानसूरि ने कहा :— "वहां चैत्यवासियों का एकाधिपत्य परक प्रबल प्रभाव है अतः पग-पग पर उनकी ओर से अनेक प्रकार के उपसर्ग-उपद्रव उपस्थित किए जाने की आशंका है।"

जिनेश्वरसूरि ने अपने गुरु से निवेदन किया :– "आचार्यदेव ! यूकाओं (जूंओं) के भय से वस्त्र का परित्याग तो नहीं किया जा सकता। मुझे और बुद्धि सागर को गुजरात में धर्म प्रचार की आज्ञा प्रदान कीजिये। हम दोनों वहां सभी प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियों का साहस के साथ सामना करते हुए प्रभु महावीर के विश्वकल्याणकारी जैन धर्म का प्रचार-प्रसार करेंगे।"

अपने शिष्यों के साहस एवं क्षमता से सन्तुष्ट एवं आश्वस्त हो वर्द्धमानसूरि ने उन्हें गुजरात में धर्म प्रचार की अनुज्ञा प्रदान करते हुए उन दोनों मुनियों को आचार्य पद और साध्वी कल्याणवती को महत्तरा पद प्रदान किया। गुरुआज्ञा प्राप्त कर जिनेश्वरसूरि और आचार्य बुद्धि सागर ने गुजरात की ओर विहार किया। वे दोनों बन्धु अणहिल्लपुर पट्टण में पहुंचे और राजपुरोहित के घर में ठहरे। राजपुरोहित द्वारा उनसे उनके नाम, वंश, स्थान आदि के सम्बन्ध में प्रश्न

किये जाने पर जिनेश्वरसूरि ने कहा :—"हम दोनों भाई वाराणसी नगरी के निवासी श्री सोम ब्राह्मण के पुत्र हैं।"

आन्तरिक आह्लाद प्रकट करते हुए राजपुरोहित ने कहा :—"अहो ! आप दोनों मेरे भागिनेय (भान्जे) हो।" राजपुरोहित ने उन दोनों बन्धुओं को बड़े सम्मान के साथ अपने घर पर रक्खा।[1]

गुर्जरेश दुर्लभराज की राज सभा में जिनेश्वरसूरि ने चैत्यवासियों को वाद में पराजित कर अणहिल्लपुर पट्टण में वसतिवास की स्थापना की।

इस प्रकार "प्रभावक चरित्र", वृद्धाचार्य प्रबन्धावलि और दानसागर जैन ज्ञान भंडार, बीकानेर की गुर्वावली में श्री जिनेश्वरसूरि का दीक्षित होने से पूर्व का परिचय दिया गया है, वह परस्पर समान नहीं है। प्रभावक चरित्रकार ने जिनेश्वरसूरि और बुद्धि सागरसूरि को मध्यप्रदेश निवासी कृष्ण नामक ब्राह्मण के श्रीधर और श्रीपति नामक पुत्र बताते हुए धारानगरी के श्रेष्ठि लक्ष्मीपति के माध्यम से धारानगरी में उनके दीक्षित होने का उल्लेख किया है। इसके विपरीत वृद्धाचार्य प्रबन्धावली में जिनेश्वरसूरि को गृहस्थावस्था में जग्गा नामक पुष्करणा ब्राह्मण बताया गया है। इसमें जिनेश्वरसूरि का दीक्षास्थल सिद्धपुर और दीक्षा का कारण शुद्धि अशुद्धि के पण में पराजित होना बताया गया है।

दान सागर जैन ज्ञान भंडार बीकानेर की उपरिवर्णित (खरतरगच्छ) गुर्वावली में जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि का वाराणसी के सोम नामक ब्राह्मण के पुत्र के रूप में परिचय दिया गया है। इसके साथ ही सरसा नगर में सोमनाथ महादेव के निर्देश से वर्द्धमानसूरि के सम्पर्क में आने और वहीं सरसा नामक नगर में ही वर्द्धमानसूरि के पास उनके दीक्षित होने का उल्लेख है।

परस्पर भिन्न इस प्रकार के विवरणों में से वस्तुतः कौनसा विवरण प्रामाणिक है, इस सम्बन्ध में प्रमाणाभाव के कारण सुनिश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। केवल अनुमान ही किया जा सकता है कि प्रभावक चरित्रकार ने जिनेश्वरसूरि के गृहस्थ जीवन का जो परिचय दिया है, वह संभवतः वास्तविकता के अधिक सन्निकट हो। वृद्धाचार्य प्रबन्धावलि और बीकानेर के दान सागर जैन ज्ञान भंडार की गुर्वावली के एतद् विषयक विवरणों को प्रामाणिक मानने में एक बहुत बड़ी बाधा यह आती है कि दुर्लभराज की अणहिल्लपुर पट्टण की राज सभा में जिनेश्वरसूरि द्वारा चैत्यवासियों को पराजित करने से पूर्व सम्पूर्ण गुजरात, सौराष्ट्र आदि दक्षिणी पश्चिमी प्रदेशों में सुविहित परम्परा के श्रमणों का विचरण

---

१. तदा तेन ज्ञातं एतौ मम भागिनेयौ। ततश्च बहुमानपुरस्सरं स्वगृहे रक्षितौ। गुर्वावली : १८६२ तकः पो. १०, ग्रं. १५२, पृष्ठ ११ दान सागर जैन ज्ञान भंडार, बीकानेर।

नहीं के बराबर था, यह खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली आदि जैन वांग्मय के उल्लेखों से स्पष्टतः विदित होता है। इस प्रकार की स्थिति में चैत्यवासियों को पाटण में पराजित करने से पूर्व वर्द्धमानसूरि का गुजरात में विचरण और जग्गा ब्राह्मण अथवा शिवदास बुद्धिसागर और कल्याणवती का सरसा नगर में वर्द्धमानसूरि के पास दीक्षित होना सम्भव ही नहीं हो सकता।

उपरिलिखित तीनों प्रकार के उल्लेखों से यह तो स्पष्टतः सिद्ध होता है कि श्री जिनेश्वरसूरि ब्राह्मण कुल के नर-रत्न थे और उन्होंने चैत्यवासी परम्परा की आगम विरुद्ध मान्यताओं की काली सघन घन-घटाओं से पूर्णतः आच्छादित जैन धर्म के विशुद्ध स्वरूप को संसार के समक्ष पुनः प्रकाशित कर जिन शासन की महती सेवा की। वस्तुतः जिनेश्वरसूरि ने चैत्यवासी परम्परा द्वारा चारों ओर प्रसारित बाह्याडम्बर, शास्त्र विरुद्ध श्रमणाचार और आगम विरुद्ध मान्यताओं को निरस्त-समाप्तप्रायः कर द्रव्य परम्पराओं द्वारा उत्तरोत्तर मन्द की जा रही जिन शासन की ज्योति को पुनः प्रज्वलित किया।

यदि महाप्रतापी जिनेश्वरसूरि ने चैत्यवासी परम्परा की जड़ों को न झकझोरा होता तो आज भाव-परम्परा के, जैन धर्म के विशुद्ध स्वरूप के, सुविहित श्रमण-परम्परा के ओर आगमानुसार विशुद्ध श्रमणाचार के दर्शन सम्भवतः बहु श्रमसाध्य ही नहीं अपितु दुर्लभ हो जाते।

आपश्री द्वारा की गई जिनशासन की उल्लेखनीय सेवा जैन इतिहास में सर्वदा स्वर्णाक्षरों में लिखी जाती रहेगी।

—: ० :—

जिनचन्द्रसूरि

जिनेश्वरसूरि के पश्चात् जिनचन्द्रसूरि संविग्न परम्परा के आचार्य हुए। इन्हें और अभयदेवसूरि को जिनेश्वरसूरि ने अपने गुरु वर्द्धमानसूरि के जीवन काल में उनके आदेश से ही आचार्य पद प्रदान कर दिया था।

खरतरगच्छ की अनेक पट्टावलियों में संविग्न परम्परा के आचार्यों, श्रमण, श्रमणियों तथा श्रावक-श्राविकाओं को खरतरगच्छ की परम्परा का बताया गया है। इस सम्बन्ध में उन पट्टावलियों में लिखा गया है कि अणहिलपुर पाटण के महाराजा दुर्लभराज सोलंकी की राजसभा में ८४ गच्छों के चैत्यवासी साधुओं को जिनेश्वरसूरि ने शास्त्रार्थ में पराजित किया। उस उपलक्ष में दुर्लभराज ने जिनेश्वरसूरि को खरतर विरुद से विभूषित किया। पट्टावलीकारों के इस कथन की स्व० पं. श्री कल्याण विजयजी महाराज जैसे लब्धप्रतिष्ठ इतिहासकारों ने प्रामाणिकता की कोटि में गणना नहीं की है।

वास्तविकता यह है कि "खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावली" में पाटण के महाराजा दुर्लभराज की सभा में वर्द्धमानसूरि की विद्यमानता में उनके शिष्य जिनेश्वरसूरि द्वारा चैत्यवासियों को शास्त्रार्थ में पराजित किये जाने का तो उल्लेख है किन्तु "खरतर विरुद" दिये जाने का किंचित्मात्र भी उल्लेख नहीं है। अभयदेवसूरि ने भी अपनी ज्ञाता धर्मकथांग वृत्ति में अपनी परम्परा को चन्द्र कुलीन संविग्न परम्परा का बताया है।[1]

इसी प्रकार जिनदत्तसूरि (वि० सं० १२०४–१२११) ने भी अपनी कृति गणधर सार्द्ध शतक" में चैत्यवासियों को पराजित किये जाने का तो उल्लेख किया है, किन्तु खरतर विरुद दिये जाने का कहीं उल्लेख नहीं किया है।

श्री जिनचन्द्रसूरि ने १८ हजार श्लोक प्रमाण 'संवेग-रंगशाला" नामक एक ग्रन्थ की रचना की जो प्रत्येक मुमुक्षु के लिये पठनीय, मननीय एवं अध्यात्म के प्रशस्त पथ पर अग्रसर होने के इच्छुक साधकों के लिए प्रकाशस्तम्भ तुल्य है। जिनचन्द्रसूरि की कृति का "संवेग रंगशाला" नाम से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि वर्द्धमानसूरि द्वारा क्रियोद्धार के पश्चात् प्रारम्भ की गई परम्परा उनके समय तक संविग्न परम्परा के नाम से ही अभिहित की जाती थी।

---

१. ज्ञाता धर्म कथांग वृत्ति, प्रशस्ति, श्लोक सं. ८

अभयदेवसूरि

(नवांगी वृत्तिकार)

श्री अभयदेवसूरि वीर निर्वाण की सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी के आगम मर्मज्ञ, महान् टीकाकार एवं प्रभावक आचार्य हुए हैं।

आप जैन इतिहास में नवांगी वृत्तिकार के विरुद से विभूषित एवं विख्यात रहे हैं। आपने आचारांग और सूत्रकृतांग को छोड़कर शेष नौ अंगों पर वृत्तियों की रचना करके जो जिनशासन की-जिनवाणी की नितरां श्लाघनीय सेवा की है, उसके लिये जैन जगत् आपका सदा सर्वदा कृतज्ञ रहेगा।

श्री अभयदेवसूरि का जन्म विक्रम सम्वत् १०७२ में मालव प्रदेश की इतिहास प्रसिद्ध धारा-नगरी में हुआ। प्रभावक चरित्र के उल्लेखानुसार आप महान् क्रियोद्धारक एवं संविग्न परम्परा के सूत्रधार आचार्य वर्द्धमानसूरि के प्रशिष्य और जिनेश्वरसूरि के शिष्य थे।[1]

प्रभावक चरित्र के अतिरिक्त "खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली" में भी श्री अभयदेवसूरि को जिनेश्वरसूरि का ही शिष्य बताया गया है। खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली का एतद्विषयक वह उल्लेख निम्नलिखित रूप में है :—

> "पश्चाच्छ्री जिनेश्वर सूरिणा विहारक्रमं कुरुता जिनचन्द्र, अभयदेव, धनेश्वर, हरिभद्र, प्रसन्नचन्द्र, धर्मदेव, सहदेव, सुमति प्रभृतयोऽनेके शिष्याः कृताः।...........। पश्चाच्छ्री जिनेश्वर सूरिभिः श्री जिनचन्द्राभयदेवौ गुणपात्रं ज्ञात्वा सूरिपदे निवेषितौ, क्रमेण युगप्रधानौ जातौ।"

प्रभावक चरित्र के उल्लेखानुसार अभयदेवसूरि का जन्म धारानगरी के महा समृद्धिशाली श्रेष्टि महीधर की पतिपरायणा धर्मपत्नी धनदेवी की कुक्षि से हुआ।

---

१. अन्यदा विहरन्तश्च, श्री जिनेश्वरसूरयः।
पुनर्धारापुरीं प्रापुः, सपुण्यप्राप्यदर्शनाः ॥६१॥
श्रेष्ठी महीधरस्तत्र, पुरुषार्थत्रयोन्नतः।...........॥६२॥
तस्याभयकुमाराख्यो, धनदेव्यंगभूरभूत।...........॥६३॥
अथाभयकुमारोऽसौ, वैराग्येण तरंगितः।...........॥६५॥
अनुमत्या ततस्तस्य, गुरुभिः स च दीक्षितः।...........॥६६॥
—प्रभावक चरित्र, पृष्ठ १६३-१६४

इनके जन्म और आचार्यपद पर आसीन होने के सम्बन्ध में प्रभावक चरित्रकार ने प्रकाश डालते हुए उल्लेख किया है कि महीधर श्रेष्ठि और धनदेवी के पुत्र अभयकुमार ने बाल्यावस्था में एवं वर्द्धमानसूरि की विद्यमानता में ही श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी। श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान किये जाने पर गुरु द्वारा अभयकुमार का नाम अभयदेव रखा गया। इनकी दीक्षा के सम्बन्ध में प्रभाचन्द्र-सूरि ने लिखा है कि एक समय जिनेश्वरसूरि विहार क्रम से धारानगरी में पधारे। उनके उपदेश को सुनने के लिये विशाल जनसमूह उमड़ पड़ा। अतुल धन सम्पदा के स्वामी महीधर नामक श्रेष्ठि अपनी पत्नी धनदेवी और अपने बालक अभयकुमार के साथ आचार्य श्री के धर्मोपदेश को सुनने के लिये आया। उनके उपदेश को सुनकर बालक अभयकुमार को संसार की असारता एवं क्षणभंगुरता का पहली बार भली-भांति बोध हुआ और वह वैराग्य के गहरे रंग में रंग गया। अभयकुमार ने तत्काल माता-पिता से प्रार्थना की कि उसे वे जिनेश्वरसूरि के चरणों की शीतल छाया में श्रमण-धर्म की दीक्षा ग्रहण करने की अनुज्ञा प्रदान करें। अपने प्राणप्रिय पुत्र की इस प्रकार की बात सुनकर महीधर और धनदेवी स्तब्ध हो शोक सागर में निमग्न हो गये। उन्होंने श्रमणजीवन की कठिनाइयों से अपने पुत्र को अवगत कराते हुए उसे समझाने का यथाशक्य पूरा-पूरा प्रयास किया कि अभी उसकी बालवय है अतः अर्थकरी विद्या के अर्जन में ही निरत रहे और युवावस्था में नाना प्रकार के सांसारिक भोगोपभोगों का सुखोपभोग करने के अनन्तर ढलती वय में श्रमण-धर्म में दीक्षित हो जाय। होनहार बालक अभय कुमार को पूर्वजन्मों के संस्कारों के प्रताप से अनमोल मानव जीवन के महत्व और सांसारिक जीवन के ऐहिक भोगोप-भोगों की क्षण-भंगुरता का आभास हो गया था अतः उसने दीक्षित हो जाने का अपना दृढ़ संकल्प प्रकट करते हुए कहा कि उसे क्षणभंगुर संसार के निस्सार कार्य-कलापों एवं सुखोपभोगों में कोई सार प्रतीत नहीं होता। अब उसे संसार का कोई प्रलोभन अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकता। उसने मन ही मन सब भांति सोच विचार कर श्रमण धर्म में दीक्षित हो जाने का अटल निश्चय कर लिया है।

अपने पुत्र के स्वभाव से महीधर और धन देवी, दोनों ही, भली-भांति परिचित थे कि अभय कुमार ने एक बार जो निश्चय कर लिया है, उससे उसे कोई डिगा नहीं सकता। अतः उन्होंने अन्ततोगत्वा अश्रुपूरित नयनों से अपने प्राणप्रिय पुत्र की ओर निहारते हुए संधे स्वर में उसे दीक्षित होने की अनुज्ञा प्रदान कर दी।

माता-पिता की अनुज्ञा प्राप्त होते ही अभयकुमार के हर्ष का पारावार नहीं रहा। दीक्षित होने के पश्चात् मुनि अभयदेव ने गुरु-चरणों की सेवा में रहते हुए बड़ी निष्ठा के साथ संस्कृत प्राकृत आदि भाषाओं का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। कुशाग्र बुद्धि के धनी मुनि अभयदेव ने अथक् प्रयास करते हुए सभी भाषाओं का आधिकारिक ज्ञान प्राप्त कर विद्वद् समाज को आश्चर्याभिभूत कर दिया। उन्होंने

श्रमणधर्म की समीचीनतया परिपालना के साथ-साथ अपने गुरु जिनेश्वरसूरि से आगमों का अध्ययन कर उनका तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया ।

इस प्रकार विनय, वैयावृत्य एवं निरतिचार श्रमण धर्म की परिपालना के साथ मुनि अभयदेवसूरि अनुपम अध्यवसाय, निष्ठा तथा अथक् श्रमपूर्वक व्याकरण न्याय, छन्द-शास्त्र तथा स्व-पर दर्शन के उद्भट विद्वान् एवं जैनागमों के तल-स्पर्शी ज्ञाता बन गये । सभी विद्याओं में निष्णातता और आगमों के गूढ़तम ज्ञान के तल-स्पर्शी ज्ञाता बन जाने के कारण मुनिश्री अभयदेव की कीर्ति दिग्दिगन्त में व्याप्त हो गई । उनकी गणना उस समय के अग्रगण्य उद्भट विद्वानों में की जाने लगी ।

अपने प्रत्युत्पन्न-मति आगम मर्मज्ञ उद्भट विद्वान् प्रशिष्य अभयदेवसूरि के आर्जव-मार्दव-विनय आदि गुणों और यशोगाथाओं पर मुग्ध हो प्रथम महान् क्रियोद्धारक वर्द्धमानसूरि ने अपने परम आज्ञाकारी एवं प्रभावक शिष्य जिनेश्वरसूरि को आदेश दिया कि वे होनहार षोडश वर्षायुष्क किशोर मुनि अभयदेव को आचार्य पद पर अधिष्ठित कर दें । अपने अनन्य उपकारी परम प्रभावक गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर जिनेश्वरसूरि ने वि० सं० १०८८ में[1] अपने असाधारण प्रतिभा के धनी मेधावी शिष्य श्री अभयदेव को सूरि पद (आचार्य पद) पर प्रतिष्ठित किया ।[2]

सूरि पद पर प्रतिष्ठित किये जाने के अनन्तर भी अभयदेवसूरि अपने गुरु के साथ विभिन्न क्षेत्रों में अप्रतिहत विहार-क्रम से जिन शासन के अभ्युदयोत्कर्षकारी कार्यों में विरत रह जैन धर्म का प्रचार-प्रसार करते रहे ।

अभयदेवसूरि को सूरिपद प्रदान करने के कुछ समय पश्चात् विभिन्न क्षेत्रों में जिन धर्म का प्रचार-प्रसार करते हुए आचार्य श्री वर्द्धमानसूरि पल्यपद्रपुर नामक नगर में पधारे । वहां अपने जीवन का अन्त समय जान कर आलोचनापूर्वक अशन-पान का यावज्जीवन परित्याग कर संथारा ग्रहण किया । और वहीं वे स्वर्गस्थ

---

१. ततः प्रज्ञातिशयात् षोडशवर्षजन्मपर्यायः कुमारावस्थ एव वर्द्धमानसूरिणाभ्यनुज्ञातो विक्रमीय १०८८ मिते वर्षे आचार्यपदमभ्यतिष्ठत् !

—अभिधान राजेन्द्र, प्रथम भाग, पृष्ठ ७०६–७०७

२. स चावगाढ-सिद्धान्त, तत्त्वप्रेक्षानुमानतः ।
बभौ महाक्रियानिष्ठः, श्री संघाम्भोजभास्करः ।।६७।।

श्री वर्द्धमानसूरीणामादेशात् सूरितां ददौ ।
श्री जिनेश्वरसूरिश्च, ततस्तस्य गुणोदधेः ।।६८।।

—प्रभावक चरित्र, पृष्ठ १६४

हुए। शिथिलाचारपरायण चैत्यवासी परम्परा के वर्चस्व को सशक्त चुनौती देने वाले और श्रमण भगवान् महावीर के धर्मसंघ की विशुद्ध मूल परम्परा को पुनः प्रकाश में लाने वाले श्री वर्द्धमानसूरि के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर श्री अभयदेवसूरि अपने गुरु के निर्देशानुसार विभिन्न क्षेत्रों में शुद्ध-मूल परम्परा का प्रचार-प्रसार करते हुए विचरण करने लगे। अपने शिष्यों को आगमों की वाचना देते समय उन्होंने अनुभव किया कि एकादशांगी के प्रथम दो अंग आचारांग और सूत्रकृतांग—इन दो अंगों पर आचार्य शीलाङ्क द्वारा रचित टीकाओं के उपलब्ध होने के कारण इन दोनों सूत्रों के गूढार्थ को हृदयंगम करने में आगमों के शिक्षार्थियों को अधिक कठिनाई का अनुभव नहीं होता। किन्तु शेष स्थानांग आदि नौ अंगों पर शीलाङ्काचार्य द्वारा निर्मित टीकाओं के विलुप्त हो जाने के कारण उन अंगों के अध्येताओं को आगमों के अर्थ को समझने और गूढार्थ भरे अनेकार्थक सूत्रों को हृदयंगम करने में बड़ी कठिनाई होते देखकर आचार्य अभयदेवसूरि ने अन्तर्मन से अनुभव किया कि आगमों के अध्येताओं की सुविधा के लिये इस कठिनाई को दूर करना परमावश्यक है, अतः उन्होंने इस गुरुतर कार्य को सम्पन्न करने का मन ही मन संकल्प किया।

प्रभावक चरित्रकार प्रभाचन्द्राचार्य के उल्लेखानुसार उपाश्रय में रात्रि के समय जिनशासन की अधिष्ठात्री देवी ने अभयदेवसूरि के समक्ष उपस्थित हो नमनानन्तर निवेदन किया—"पूर्वकाल में कोट्याचार्य के नाम से प्रख्यात शीलाङ्काचार्य ने ग्यारहों अंगों की वृत्तियों की रचना की थी, उनमें से आचारांग और सूत्रकृताङ्ग इन दो सूत्रों की ही वृत्तियां साम्प्रतकाल में उपलब्ध हैं। शेष ९ अंगों की टीकाएं कालप्रभाव से विलुप्त हो गई हैं। जैन संघ पर कृपा कर आप स्थानांगादि शेष नौ अंगों पर वृत्तियों की रचना करने का प्रयास करें।"

शासनाधिष्ठात्री देवी की बात सुनकर अभयदेव ने उत्तर देते हुए कहा :— सर्वज्ञ सर्वदर्शी श्रमण भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट और मति, श्रुति, अवधि एवं मनः पर्यव इस प्रकार चार विशिष्ट ज्ञान के धनी आर्य सुधर्मा द्वारा ग्रथित गूढार्थ भरे आगमों के रहस्यभरे अनेकार्थपूर्ण शब्दों की व्याख्या करने में मेरे जैसा अल्पज्ञ क्या सफल हो सकेगा ? आपके आदेश की अवहेलना तो मैं नहीं कर सकता किन्तु मुझे एक ही भय है कि अपनी अल्प मति के कारण यदि मेरे द्वारा गूढार्थ भरे एक भी शब्द की सर्वज्ञप्रणीत आगम की मूल भावना के विपरीत व्याख्या हो गई तो मैं अनन्तकाल तक भयावहा भवाटवी में भटकने का अधिकारी एवं अनन्त दुःसह्य दारुण दुःखों का भागी बन जाऊंगा।"

इस पर शासनदेवी ने अभयदेवसूरि को आश्वस्त करते हुए कहा—"महामनीषिन् ! आगमों की टीका करने में सुयोग्य समझ कर ही तो मैंने नवांगों पर वृत्ति निर्माण की आपसे प्रार्थना की है। वृत्तियों की रचना करते समय कहीं पर

भी किसी प्रकार का कोई संशय किसी आगमिक शब्द के विषय में हो जाय, तो आप तत्काल मेरा स्मरण कर लेना। मैं तत्काल आपके समक्ष उपस्थित हो जाऊंगी और आपके संशय से भली-भांति अवगत हो सीमन्धर स्वामी की सेवा में महाविदेह क्षेत्र में जाकर उनसे आपकी शंकाओं का पूर्ण समाधान प्राप्त कर आपको समुचित अर्थ से अवगत करा दूंगी। अतः आप सब प्रकार के ऊहापोह का परित्याग कर स्थानांगादि नौ अंगों पर वृत्तियों की रचना करने का कार्य प्रारम्भ कर दीजिये।"[1]

शासन देवी के कथन को स्वीकार कर अभयदेवसूरि ने नवांगी वृत्ति की रचना का कार्य प्रारम्भ किया।

प्रभाचन्द्राचार्य द्वारा प्रस्तुत किये गये इस विवरण से कुछ भिन्न रूप में "खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली" के रचनाकार ने नवांगी वृत्ति की रचना के सम्बन्ध में निम्नलिखित रूप में विचार प्रस्तुत किया है :–

"तदनन्तर (जिनेश्वरसूरि के पश्चात्) नवांगी वृत्तियों के रचनाकार श्री अभयदेवसूरि युगप्रधानाचार्य हुए। वे नौ अंगों की वृत्तियों के रचनाकार कैसे हुए इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि सम्भाणा नामक ग्राम में अभयदेव सूरि व्याधिग्रस्त हो गये। ज्यों ज्यों उपचार किया गया त्यों त्यों रोग बढ़ता ही गया। रोग की असाध्य स्थिति से अपनी शारीरिक अशक्तावस्था को देखकर अपने दोषों की आलोचना प्रत्यालोचना के लक्ष्य से अभयदेव सूरि ने चारों ओर चार चार योजन दूर तक के श्रावकों को बुलवाया। तेरस के दिन की रात्रि के अवसान काल में दो प्रहर रात्रि के अवशिष्ट रहने पर जिनशासन की अधिष्ठात्री देवी उनके पास उपस्थित हुई और उसने अभयदेवसूरि से पूछा—"सो रहे हो या जाग रहे हो ?"

रुग्ण अभयदेवसूरि ने अतीव मन्द स्वर में उत्तर दिया–"जाग रहा हूं।"

देवी ने कहा :–"शीघ्र उठो और सूत्र की इन नौ घुण्डियों को सुलझाओ।"
अभयदेव सूरि ने उत्तर दिया—"मैं उठ नहीं सकता।"

देवी ने कहा :–"कैसे नहीं उठ सकते ? अभी तो तुम बहुत वर्षों तक जीओगे और नो अंगों पर वृत्तियों की रचना करोगे।"

---

१. यत्र संदिह्यते चेतः, पृष्टव्योऽत्र मया सदा।
श्रीमान् सीमन्धरः स्वामी, तत्र गत्वा धृतिं कुरु ॥ ११० ॥
आरभस्व ततोह् येतत्, मात्र संशय्यतां त्वया
स्मृतमात्रा समायास्ये, इहार्थे त्वत्पदो शपे ॥ १११ ॥
श्रुत्वेत्यंगीचकाराथ, कार्यं दुष्करमप्यदः........ ॥ ११२ ॥

"इस प्रकार की विशीर्ण शारीरिक स्थिति में वृत्तियों की रचना कैसे कर सकूंगा ?"

इस पर देवी ने उपदेश की मुद्रा में कहा—"स्तम्भनकपुर नामक नगर के समीप सेढिका नामक नदी के तट के सन्निकट खंखरा पलाश नामक वृक्षों के बीच में पार्श्वनाथ भगवान् की प्राकृतिक (स्वयंभू) प्रतिमा विद्यमान है। उस प्रतिमा के समक्ष देवों का वन्दन करो। तुम पूर्ण स्वस्थ हो जाओगे।"

यह कहकर देवी तिरोहित हो गई।

प्रातःकाल चारों ओर के अड़ोस-पड़ोस के गांवों से आये हुए श्रावकों का समूह अभयदेवसूरि के समक्ष उपस्थित हुआ। सबने सादर सूरिजी को वन्दन-नमन किया।

अभयदेवसूरि ने उनसे कहा—"स्तम्भनकपुर में पार्श्वनाथ भगवान् को वन्दन करने जाना है।"

श्रावकों ने इसे अपने पूज्य आचार्य का उपदेश समझा और वे बोले—"हम इसका प्रबन्ध करके अभी आपकी सेवा में उपस्थित होते हैं।"

उन्होंने अभयदेवसूरि के लिये वाहन की व्यवस्था की और स्तम्भनकपुर की ओर प्रस्थित हुए। अभयदेव सूरि की भूख वस्तुतः उस समय तक पूर्णतः नष्ट हो चुकी थी। किन्तु कुछ ही दूरी की यात्रा के पश्चात् उन्हें भूख लग गई और उनकी कुछ पेय लेने की इच्छा हुई। यात्रा क्रम से धवलक नामक ग्राम तक पहुंचते पहुंचते अभयदेवसूरि का शरीर निरोग हो गया। स्वस्थ हो जाने पर उन्होंने स्तम्भनकपुर तक चरण विहार किया। वहां पहुंचते ही श्रावकों ने इधर-उधर भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा को ढूंढना प्रारम्भ किया। किन्तु जब मूर्ति कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं हुई तो उन्होंने गुरु से पूछा कि वह मूर्ति कहां है।

अभयदेवसूरि ने उन्हें बताया—"खंखरा पलाश वृक्षों के मध्य भागों में देखो।"

उन वृक्षों के पास ढूंढ़ने पर श्रावकों को दैदीप्यमान वह मूर्ति दृष्टिगोचर हुई। उन्हें लोगों से यह भी विदित हुआ कि प्रतिदिन एक गाय यहां आकर इस मूर्ति पर अपने स्तनों से दूध की धाराएं वर्षा कर इस मूर्ति को दूध से स्नान कराती है। श्रावक बड़े सन्तुष्ट हुए और उन्होंने अभयदेवसूरि के समक्ष उपस्थित होकर कहा—"भगवन् ! आपके द्वारा बताई गई मूर्ति को हमने ढूंढ़ लिया है।"

इस पर अभयदेवसूरि भगवान् को वन्दन करने के लिये भक्ति-विभोर हो उस ओर चल पड़े। उन्होंने उस स्थान पर मूर्ति को देखा और उसकी भक्ति-भाव

से वन्दना की। उन्होंने उसी समय खड़े ही खड़े (प्रभु के प्रभाव से) तत्काल "जय तिहुयण" नामक नमस्कार द्वात्रिंशिका की रचना करते हुए प्रभु की स्तुति की। स्तुति के प्रभाव से अनेक देवगण वहां उपस्थित हुए और उन्होंने अभयदेवसूरि से निवेदन किया—"अन्तिम दो नमस्कारों को, अर्थात् अन्तिम दो गाथाओं को आप इस स्तोत्र से निकाल दीजिये क्योंकि उन दो गाथाओं के अमोघ प्रभाव के कारण जहां कहीं भी, जिस किसी के द्वारा इन दोनों गाथाओं का उच्चारण किये जाने पर हम सबको तत्काल स्मरण करने वाले के समक्ष उपस्थित होना पड़ेगा और इस प्रकार जब कभी, जिस किसी के समक्ष तत्काल उपस्थित होना हमारे लिये कष्टकर ही सिद्ध होगा। वस्तुतः हम तीस गाथाओं द्वारा प्रभु को नमस्कार करने पर भी उसका सब प्रकार से भला कर देंगे।

अभयदेवसूरि ने उन देवों के कथनानुसार उन अन्तिम दोनों गाथाओं को 'जय तिहुयण' स्तोत्र से अलग कर दिया।

तदनन्तर उपस्थित श्रावक समूह के साथ देव वन्दन किया। श्रावक समुदाय ने पार्श्व प्रभु की प्रतिमा का स्नान विलेपन, आभरण विभूषा आदि से पूजन किया। वहीं पर पार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिमा की स्थापना कर दी गई और मन्दिर का भी निर्माण करा दिया गया। सब लोगों की मनोवांछित अभिलाषाओं की पूर्ति कर देने के कारण उस मन्दिर की "अभयदेवसूरि द्वारा स्थापित पार्श्वनाथ तीर्थ" नाम से दिग्दिगन्त में ख्याति फैल गई।

उस नवनिर्मित-पार्श्वनाथ तीर्थ से अभयदेवसूरि पाटन में पधारे और वहां "करडिहट्टी" नामक वस्ती में विराजे। वहां रहते हुए अभयदेवसूरि ने स्थानांग प्रभृति नौ अंग शास्त्रों पर नौ वृत्तियों की रचना की। वृत्तियों की रचना करते समय उन्हें आगमसूत्रों के अर्थ एवं व्याख्या के सम्बन्ध में जहां कहीं शंका उत्पन्न होती, वहां उनके द्वारा स्मरण मात्र से ही जया, विजया, जयन्ती नामक देवियां महाविदेह क्षेत्र में तीर्थंकर की सेवा में उपस्थित हो उन सभी शंकाओं का उनसे समाधान प्राप्त कर अभयदेयसूरि के सन्देहों का निवारण कर देतीं।"[1]

प्रभावक चरित्रकार प्रभाचन्द्रसूरि और खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली द्वारा नवांगी वृत्ति की रचना के सम्बन्ध में प्रस्तुत किये गये विवरणों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलीकार ने कुष्ठ रोग की उत्पत्ति के पश्चात् शासन देवता के उनके समक्ष उपस्थित होने, शासन देवी द्वारा नौ अंगों पर वृत्तियों के निर्माण की प्रार्थना, कुष्ठ रोग के निवारण का शासन देवी द्वारा उपाय बताने और देवी के निर्देशानुसार स्तम्भनकपुर के पास पार्श्वनाथ की प्रतिमा के वन्दन,

---

१. खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली, पृ. ६–७।

नमन, और "जय तिहुयण" नामक नमस्कार द्वात्रिंशिका की रचना करने तथा उससे कुष्ठ रोग से मुक्ति पाने के अनन्तर पाटन स्थित 'करडिहट्टी' नामक वसति में नौ अंगों पर वृत्तियों की रचना करने का उल्लेख किया गया है। जबकि प्रभावक चरित्रकार ने स्थानांग आदि नौ आगमों पर वृत्तियों की रचना करने की प्रार्थना के साथ-साथ आचाम्ल व्रत पूर्वक बड़े लम्बे समय तक अहर्निश वृत्तियों की रचना के गुरुतर कार्य की निष्पत्ति के लिये अथक् परिश्रम करते रहने के कारण नौ ही अंगों की वृत्तियों की परिसमाप्ति के पश्चात् कुष्ठ रोग की उत्पत्ति का उल्लेख किया है।

इन दोनों ग्रन्थकारों के एतद्विषयक उल्लेख में दूसरा अन्तर यह है कि खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलीकार 'शम्भाणा' नामक ग्राम में कुष्ठ रोग से अभयदेव-सूरि के ग्रस्त होने का, और धौलकपुर में पहुंचते ही उनके कुष्ठ-रोग से मुक्त हो जाने का उल्लेख किया है; इसके विपरीत प्रभावक चरित्र में उल्लेख है कि नौ अंगों पर वृत्तियों की रचना कर देने के पश्चात् जब अभयदेवसूरि धवलकपुर में पहुंचे तो लम्वे समय तक आचाम्ल व्रत करने, कठोर परिश्रम करने और रात्रियों में वड़े लम्वे समय तक जागते रहने के कारण उनके शरीर में रक्तदोष उत्पन्न हो गया।

उपरिलिखित दोनों ग्रन्थों के उल्लेख में तीसरा वड़ा अन्तर यह है कि प्रभावक चरित्रकार के उल्लेखानुसार कठोर परिश्रम, रात्रि जागरण और लम्वे समय तक आचाम्ल व्रत के परिणामस्वरूप अभयदेव सूरि रक्त दोष से ग्रस्त हो गये। उनसे द्वेष और ईर्ष्या रखने वाले लोगों ने चारों ओर इस प्रकार का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया कि अभयदेव सूरि ने नवांगों की वृत्तियों में सर्वज्ञ-प्ररूपित वचन से विपरीत अर्थ में सूत्रों की व्याख्या की अतः उनकी इस उत्सूत्र-प्ररूपणा के अपराध से कुपित होकर जिनशासन के अधिष्ठाता देवों ने उनके अंग प्रत्यंग में कुष्ठ रोग उत्पन्न कर दिया। इस प्रकार के लोकापवाद से चिंतित हो म्लानमना अभय देव सूरि ने रात्रि के समय धरणेन्द्र नामक सर्पराज का स्मरण किया। उसी रात में निद्रावस्था में अभयदेव सूरि ने स्वप्न में देखा कि एक भीषण काला नाग अपनी लपलपाती जिह्वा से उनके अंग प्रत्यंगों को, पूरे शरीर को चाट रहा है। जागृत होने पर जव उन्होंने स्वप्न पर चिन्तन किया तो उन्हें आभास हुआ कि काले विष-धर नाग ने अपनी लपलपाती लाल लाल जिह्वा से उनके शरीर को चाटा है, इससे यही प्रतीत होता है कि अव उनकी आयुष्य का अन्तिम समय आ चुका है। इस प्रकार की स्थिति में आलोचना पूर्वक संलेखना संथारा अंगीकार कर लेना चाहिये। इस प्रकार उन्होंने शीघ्र ही आजीवन चतुर्विध आहार का परित्याग कर देने का मन ही मन विचार कर लिया। किन्तु द्वितीय रात्रि के समय उन्होंने स्वप्न में देखा कि स्वयं धरणेन्द्र उनके सम्मुख उपस्थित होकर कह रहा है:— मैं धरणेन्द्र हूं। मैंने आपके इस रोग को अपनी जिह्वा से चाट कर नष्ट कर दिया है, अव आप पूर्णतः स्वस्थ हैं।"

धरणेन्द्र की बात सुनकर अभयदेव सूरि ने कहा:– न तो मुझे मृत्यु से कोई भय है, और न घोरातिघोर रोग से ही। लोगों ने जो यह झूठा अपवाद फैला दिया है कि वृत्तियों की रचना करते समय मैंने सूत्रों की जिनवाणी से विपरीत उत्सूत्र व्याख्या की, इसलिये जिन शासनाधिष्ठायक देवों ने क्रुद्ध हो मेरे शरीर में कुष्ठ रोग उत्पन्न कर दिया है, इस प्रकार के झूठे अपवाद के कारण मुझे केवल इसी बात का भय है कि यदि मेरा रोग से प्रपीड़ित अवस्था में देहावसान हो गया तो लोक में जिनशासन की प्रतिष्ठा एवं प्रभावना को धक्का लगेगा।"

इस पर धरणेन्द्र ने कहा–"तुम्हें इस प्रकार अधीर नहीं होना चाहिये। मैं बताता हूं उस भांति जिनबिम्ब का उद्धार कर जिनशासन की महती प्रभावना करो। स्तम्भन ग्राम के पास सेटिका नाम की नदी के तट पर जाल वृक्ष के समूह के बीच में पार्श्वनाथ की प्रतिमा रक्खी हुई है। उस प्रतिमा को तुम प्रकट कर दो। वहां एक महान् तीर्थ की स्थापना हो जायगी। उस तीर्थ की स्थापना से धरातल पर तुम्हारी पुण्यशालिनी कीर्ति युग-युगान्तर तक स्थायी हो जायगी।" उसने फिर कहा– "वृद्धा स्त्री का रूप धारण किये एक देवी तुम्हारा मार्गदर्शन करेगी। उसे तुम्हारे अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति नहीं देख सकेगा। उसके आगे आगे श्वेत स्वरूप में किं वा श्वेत कुत्ते के रूप में क्षेत्रपाल चलता रहेगा।" यह कह कर धरणेन्द्र तत्काल तिरोहित हो गया।

इस प्रकार प्रभावक चरित्रकार ने पार्श्वनाथ की मूर्ति के सम्बन्ध में अभयदेवसूरि को धरणेन्द्र द्वारा सूचना दिये जाने का उल्लेख किया है। पर खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली में शासनदेवी द्वारा इस विषयक सूचना दिये जाने का उल्लेख है।

गया है कि जिनशासन की अधिष्ठात्री देवी ने अभयदेवसूरि के समक्ष उपस्थित होकर उन्हें आचारांग और सूत्रकृतांग को छोड़ स्थानांग आदि शेष ९ अंग शास्त्रों पर वत्तियों का निर्माण करने की प्रार्थना की। उक्त दोनों ग्रन्थों में उल्लेख है कि शासनाधिष्ठात्री देवी के समक्ष अभयदेवसूरि ने इस प्रकार की आशंका प्रकट की कि गूढार्थ भरे एकादशांगी के इन नौ अंग शास्त्रों के सूत्रों, शब्दों आदि की व्याख्या करने में उनके जैसा अल्पज्ञ कैसे सक्षम हो सकता है ? गूढार्थ भरे संशयास्पद शब्दों या स्थलों की व्याख्या करते समय यदि उनके द्वारा अज्ञानवश शास्त्र की मूल भावना के विपरीत व्याख्या कर दी गई तो उस उत्सूत्र प्ररूपणा के अपराध से उन्हें अनन्त अनन्त काल तक संसार की नरक, तिर्यंच निगोद आदि योनियों में भटकना पड़ सकता है। इन दोनों ग्रन्थों के उल्लेख के अनुसार शासनदेवी ने अभयदेव को आश्वस्त करते हुए कहा—"जहां कहीं तुम्हें शंका हो, मेरा स्मरण कर लेना। मैं तुम्हारी सब शंकाओं को सुनकर महाविदेह क्षेत्र में विराजित तीर्थंकर प्रभु सीमन्धर स्वामी के समक्ष उपस्थित हो, उनसे शंकाओं का पूर्ण रूपेण निराकरण प्राप्त कर तुम्हें उन से भली-भांति अवगत करा दूंगी।" शासन देवी द्वारा प्रदत्त इस आश्वासन से अभयदेवसूरि सन्तुष्ट हुए और उन्होंने नवांगी की वृत्तियों की रचना प्रारम्भ कर दी। उक्त दोनों ग्रन्थों में यह भी स्पष्ट उल्लेख है कि नवांगी की रचना करते समय अभयदेवसूरि को जिन जिन स्थलों पर शंका उत्पन्न हुई, किन्चित्मात्र भी सन्देह हुआ, उन्होंने तत्काल शासनदेवता का स्मरण किया और उसने सीमन्धर स्वामी से उन शंकाओं का समाधान प्राप्त कर उन समाधानों से श्री अभयदेवसूरि को सदा अवगत कर अपनी प्रतिज्ञा का पूरी तरह से पालन किया।[1]

यहां प्रत्येक विज्ञ के मन में सहज ही यह जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली और प्रभावक चरित्र के उल्लेखानुसार जिन शासन-अधिष्ठात्री देवी ने अभयदेवसूरि की शंकाओं को सीमन्धर स्वामी के समक्ष उपस्थित कर प्रभु से उन शंकाओं का समाधान या, अभयदेवसूरि की वृत्तियों के लेखन के समय सहायता की होती तो अभयदेवसूरि सुनिश्चित रूप से इस प्रकार के चमत्कारिक तथ्य का सभी वृत्तियों अथवा किसी एक वृत्ति के आदि में नहीं तो कम से कम अन्त में दी गई प्रशस्ति में तो अवश्यमेव उल्लेख करते। स्थानांगादि

---

१. (क) ....निरवाह्यत देव्या च, प्रतिज्ञा या कृता पुरा ॥११३॥

—प्रभावकचरित्र पृष्ठ १६४

(ख) तत्स्थानात् पत्तने समायाताः। करडिहट्टी वसतौ स्थिताः। तत्र स्थितैर्नवांगानां स्थानांग प्रभृतीनां वृत्तय, कृताः। यत्र सन्देह उत्पद्यते स्मरण प्रस्तावे, जया-विजया-जयन्ति-अपराजिता-देवताः स्मृताः सत्यस्तीर्थंकर पार्श्वे महाविदेहेगत्वा तान् पृष्ट्वा निस्सन्देहं तत्स्थानम् कुर्वन्ति।

—खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली पृष्ठ ७।

नौ अंगों की प्रभावना की दृष्टि से और इन पर निर्मित
प्रमाणिकता प्रकट करने के लिये अभयदेवसूरि द्वारा
जाना तो वस्तुतः अनिवार्य रूप से आवश्यक हो
इन दोनों ग्रन्थकारों के उल्लेखानुसार अभयदेवसूरि
की प्रतिज्ञा की होती कि स्मरणमात्र से ही सब शंकाओं
स्वामी से प्राप्त करवा देंगी, और इस प्रकार की प्रतिज्ञा
निर्वहन किया होता और देवी द्वारा समस्त जिनशासन
पर किये गये इस उपकार से उऋण होने के साथ इन
प्रामाणिक एवं सर्वमान्य सिद्ध करने के लिये भी
सहायता का उल्लेख किया जाना न केवल न्यायसंगत
पुनीत परमावश्यक कर्त्तव्य था। यदि अभयदेवसूरि द्वारा
तो आज सम्पूर्ण जैन जगत् के मानस पर इस बात की
कि ये ९ ही वृत्तियां सर्वज्ञ सर्वदर्शी विहरमान तीर्थंकर
समर्थित होने के कारण संसार में परम प्रामाणिक
सीमन्धर स्वामी के समक्ष अभयदेवसूरि की कतिपय
रक्खे जाने की दशा में उन शंकाओं को अतिरिक्त छोटी-
की शंकाएं त्रिकालदर्शी तीर्थंकर से छिपी नहीं रह स
अभयदेवसूरि द्वारा शासन देवी के माध्यम से रक्खी
अभयदेवसूरि के अन्तर में उठी हुई सभी छोटी बड़ी शंक
के अन्तर्यामी सीमन्धर स्वामी अवश्यमेव कर देते।

इस प्रकार की स्थिति में सीमन्धर स्वामी द्वारा
केवल ९ अंगों की वृतियाँ ही अपितु नवों अंगसूत्रों का
णिकता की पराकाष्ठा को भी पार कर जाता और इन
की दोहरी छाप अंकित हो जाती।

नौ अंगों की वृत्तियों के निर्माण जैसे गुरुतर
सहायता प्रदान करने वाले निवृत्ति कुल के अजित सि
यशोदेव गणि का अभयदेव ने नामोल्लेख किया है।[1]
स्थानांग वृत्ति की प्रशस्ति में "द्रोणाचार्यादिभिः प्राज्ञै
श्लोकार्द्ध से इस वृत्ति का संशोधन कर इसका समाद
भी और उनके साथ अन्य आचार्यों का बिना नामोल्ले

ज्ञाताधर्मकथांग सूत्रवृत्ति की प्रशस्ति में भी
रूपी गगन के चन्द्र तुल्य सूरि-मुख्य द्रोणाचार्य का सा

---

१. ....संविग्न मुनिवर्ग ... द जत सह ... र्त्तव॥
सावकस्यैव विद्याक्रियाप्रधानस्य साहाय्येन समर्थितम्

के संशोधक के रूप में साभार स्मरण किया है ।[1] इसी प्रकार विपाक सूत्र वृत्ति की प्रशस्ति में भी अभयदेवसूरि ने द्रोणाचार्य का इस वृत्ति के संशोधक के रूप में बड़े आदर के साथ स्मरण किया है ।[2]

यह जानकर न केवल सुविहित परम्परा के अनुयायियों अथवा उपासकों को ही, अपितु प्रत्येक जैन धर्मावलम्बी को सम्भवतः आश्चर्याभिभूत होना पड़ेगा कि जिन द्रोणाचार्य का अभयदेयसूरि ने अपनी कतिपय वृत्तियों के संशोधक के रूप में स्मरण किया है, वे द्रोणाचार्य चैत्यवासी परम्परा के आचार्य-थे । इस तथ्य को प्रकट करते हुए खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलीकार ने लिखा है :—

"११–तस्मिन् प्रस्तावे देवगृहनिवास्याचार्यमुख्यो द्रोणाचार्योऽस्ति । तेनाऽपि सिद्धान्तो व्याख्यातुं समारब्धः । सर्वेऽप्याचार्याः कपलिकां गृहीत्वा श्रोतुं समागच्छन्ति । तथाऽभयदेवसूरिरपि गच्छति । स चाचार्य आत्म-समीपे निषद्यां दापयति । यत्र तत्र व्याख्यानं कुर्वतस्तस्य सन्देह उत्पद्यते, तदा नीचैः स्वरेण तथा कथयति यथाऽन्ये न शृण्वन्ति । अन्यस्मिन् दिने यद् व्याख्यायते सिद्धान्तस्थानं तद्वृत्तिरानीता । एतां चिन्तयित्वा व्याख्या-यन्तु भवन्तः । यस्तां पश्यति सार्थकां, तस्याऽऽश्चर्यं भवति; विशेषेण व्याख्यातुराचार्यस्य । स चिन्तयति—किं साक्षाद्गणधरैः कृताऽथवाऽ-नेनाऽपि, तस्मिन् विषयेऽतीवादरो मनसि विहितः । द्वितीय दिने सम्मुख-मुत्थातुं प्रवृत्तः ।

द्रोणाचार्येणाऽभाणि श्रीमदभयदेवसूरीणामग्रे—'या वृत्तीः सिद्धान्ते करिष्यसि ताः सर्वा मया शोधनीया लेखनीयाश्च ।'[3]

इससे स्पष्ट रूप से यह प्रकट होता है कि द्रोणाचार्य जो न केवल उस समय तक महावर्चस्वशालिनी चैत्यवासी परम्परा के सर्वाधिकार सम्पन्न प्रमुख आचार्य ही थे, अपितु वे अणहिलपुर पट्टणनगर के महान् जैन संघ के प्रमुख थे, उन्होंने अभयदेवसूरि द्वारा रचित नौ अंगों की वृत्तियों में से कतिपय वृत्तियों का संशोधन किया ।

---

१. निर्वृ त्तक कुल नभस्तलचन्द्रद्रोणाख्यसूरिमुख्येन ।
पंडितगुणेन गुणवत्प्रियेण संशोधिता चेयम् ।।१०।।
—ज्ञाता धर्मकथांग वृत्ति प्रशस्ति ।

२. अणहिलपाटकनगरे श्रीमद् द्रोणाख्यसूरिमुख्येन ।
पंडितगुणेन गुणवत्प्रियेण संशोधिता चेयम् ।।३।।
—विपाकसूत्र वृत्ति प्रशस्ति ।

३. खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली पृष्ठ ७

प्रभावक चरित्र के रचनाकार इतिहासमनीषि आचार्य प्रभाचन्द्र ने भी अपनी इस ऐतिहासिक कृति में यद्यपि द्रोणाचार्य का तो शोधकर्त्ता के रूप में नाम स्मरण नहीं किया है किन्तु :—

महाश्रुतधरैः शोधितासु तासु चिरन्तनैः ।
ऊरीचक्रे तदा श्राद्धैः पुस्तकानां च लेखनम् ।।११४।।[1]

इस श्लोक के माध्यम से स्पष्ट रूपेण यह प्रकट किया है कि ज्ञानवयोवृद्ध श्रुतधर आचार्यों ने अभयदेवसूरि द्वारा रचित नवांगी वृत्तियों का संशोधन किया ।

इन सव उल्लेखों पर चिन्तन-मनन करने के अनन्तर दो प्रश्न प्रत्येक विज्ञ के अन्तर्मन में उत्पन्न होते हैं । पहला यह कि यदि अभयदेवसूरि ने इन नौ अंगों की वृत्तियों की रचना करते समय अपने सब संशयों का सीमन्धर स्वामी से शासन देवता को संशय निवारण का माध्यम बना अपने सब संशयों के समाधान प्राप्त कर लेने के पश्चात् इन नौ अंगों की वृत्तियों की रचना की होती तो श्री सीमन्धर स्वामी द्वारा किये गये स्पष्टीकरण के अनन्तर इन वृत्तियों का चैत्यवासी परम्परा के आचार्य श्री द्रोणसूरि से अथवा अन्य किसी श्रुतधर आचार्य से संशोधन करवाने की किसी भी सूरत में आवश्यकता क्यों हुई ? सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु सीमन्धर स्वामी द्वारा सभी प्रकार के संशयों का निवारण एवं स्पष्टीकरण कर दिये जाने के अनन्तर किसी भी आचार्य के द्वारा चाहे वह गणधर ही क्यों न हो, उन वृत्तियों के संशोधित करवाने का औचित्य किसी जड़मति की समझ में भी किंचित्मात्र भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं हो सकता ।

इसी प्रकार दूसरा एक बड़ा प्रश्न उपस्थित होता है कि शासन देवी ने अभयदेव के समक्ष उनके सभी संशयों का निवारण श्री सीमन्धर स्वामी से प्राप्त करवाने की प्रतिज्ञा की और उसने अपनी उस प्रतिज्ञा का पूर्ण रूपेण निष्ठापूर्वक निर्वहन किया । महाविदेह में विहरमान जगदैकबन्धु सीमन्धर स्वामी ने दया कर नव अंगों विषयक अभयदेवसूरि के सभी संशयों का निवारण कर हमारी इस आर्य धरा के सम्पूर्ण जैन संघ को चिरकाल तक के लिये उपकृत किया । ऐसी दशा में अभयदेवसूरि ने इन दोनों के प्रति कृतज्ञतापूर्वक आभार प्रकट क्यों नहीं किया ? साधारण सहायता करने वाले यशोदेवसूरि और चैत्यवासी आचार्य द्रोणाचार्य के प्रति अभयदेवसूरि द्वारा प्रकट किये गये आभार-पूर्ण उल्लेख को देखकर तो सीमन्धर स्वामी और शासनदेवी के प्रति अभयदेवसूरि द्वारा कृतज्ञता प्रकट करने का अभाव अन्तर्मन में त्रिशूल की तरह खटकता है, चुभता है ।

---

१. प्रभावक चरित्र, अभयदेवसूरि चरितम् श्लोक सं. ११४ पृष्ठ १६४

इन दोनों वड़े प्रश्नों को लेकर एक प्रकार की ऊहापोहात्मक स्थिति प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्मन में सहज ही उद्भूत हो सकती है कि शासन देवी के माध्यम से श्री अभयदेवसूरि ने अपने संशयों का निवारण सीमन्धर स्वामी से प्राप्त किया अथवा नहीं। साधारण से साधारण सहायक का अपनी प्रशस्तियों में स्मरण करने वाले कृतज्ञशिरोमणि अभयदेवसूरि सीमन्धर स्वामी और शासन देवता के प्रति आभार प्रकट करना कदापि नहीं भूल सकते। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया, इससे कहीं ऐसा तो नहीं है कि शासनाधिष्ठायिका देवी द्वारा सीमन्धर स्वामी से अभयदेवसूरि की शंकाओं के निवारण के विवरणों की उपर्युल्लिखित ग्रन्थों के रचनाकारों की वर्णन शैली में अतिरंजना का पुट हो।

इस प्रकार की ऊहापोहात्मक प्रश्न भरी संशयपूर्ण स्थिति का युक्तिसंगत समाधान या तो विज्ञ विचारक ही कर सकते हैं या कोई विशिष्ट तत्त्वज्ञानी ही।

जिनशासन के प्रति श्रद्धा भक्ति रखने वाले प्रत्येक स्वच्छ सरलमना व्यक्ति के मानस में उक्त दोनों ग्रन्थों के एतद्विषयक उल्लेखों को देखकर सहज ही यह प्रश्न तरंगित हो सकता है कि यदि इस प्रकार वीर निर्वाण की सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के आचार्य अभयदेवसूरि द्वारा जिनशासन-अधिष्ठायिका देवी के माध्यम से महाविदेह में विहरमान सीमन्धर स्वामी से अपने संशयों का निवारण किया जा सकता है तो वीर निर्वाण की दूसरी शताब्दी में हुए अनुपम कामजयी आचार्य स्थूलिभद्र, वीर निर्वाण की छठी शताब्दी में हुए आर्य रक्षित, और वीर निर्वाण की तेरहवीं शताब्दी (१२२७ से १२९७ के बीच की अवधि) में हुए आचार्य हरिभद्र क्रमशः केवल दस पूर्वधर, आठ पूर्वधर एवं दीमकों द्वारा खा ली गई महानिशीथ की प्रति के अपूर्णोद्धारक नहीं रह जाते।

आचार्य प्रभाचन्द्रसूरि ने प्रभावक चरित्र में यह उल्लेख किया है कि शासन देवी की सहायता से अभयदेवसूरि ने नवांगों के पाठों के सम्बन्ध में अपनी सब शंकाओं का सीमन्धर स्वामी से समाधान प्राप्त कर नवांगों पर वृत्तियों की रचना की। देवी की सहायता से अपनी शंकाओं का समाधान प्राप्त करने वाले अभयदेवसूरि से केवल २०० वर्ष पश्चात् प्रभावक चरित्र की रचना करने वाले आचार्य प्रभाचन्द्र भी इतिहास सम्बन्धी अपनी उलझनों को देवी की सहायता से सुलझा सकते थे किन्तु आचार्य हेमचन्द्रसूरि के परिशिष्ट पर्व में उल्लिखित आचार्यों के चरित्र से आगे विक्रम सम्वत् ४३४ तक का जैनाचार्यों का क्रमवद्ध इतिहास लिखने के अपने संकल्प में वे सफल हो सके। वे केवल २३ आचार्यों का ही जीवनवृत्त लिख सके, जिनमें कतिपय आचार्य चैत्यवासी परम्परा के भी सम्मिलित हैं। स्वयं से २०० वर्ष पूर्व हुए अभयदेवसूरि की भांति वे भी यदि शासन देवता की सहायता प्राप्त कर लेते तो उन्हें :—

श्री वज्रानुप्रवृत्तप्रकट मुनिपतिपृष्ठवृत्तानि तत्तद्
ग्रन्थेभ्यः कानिचिच्च श्रुतधरमुखतः कानिचित् संकलय्य ।

दुष्प्रापत्वादमीषां विशकलिततयैकत्र चित्रावदातं
जिज्ञासैकाग्रहाणामधिगतविधयेऽभ्युच्चयं स प्रतेने ।।१७।।

इस श्लोक के माध्यम से यह प्रकट करने की आवश्यकता ही नहीं होती कि आर्य वज्र के पश्चाद्वर्त्ती कतिपय आचार्यों के ऐतिह्य को उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों से, कतिपय के जीवन-वृत्त को श्रुतधरों के मुखारविन्द से संकलित किया है । वस्तुतः पूर्वाचार्यों का इतिवृत्त आज बड़ा दुष्प्राप्य, खण्डित-विखण्डित हो गया है अतः उसे एकत्र-संकलित कर लिखा है ।

इस सबके अतिरिक्त एक आश्चर्यकारी तथ्य यह है कि प्रभावक चरित्र में अभयदेवसूरि के जीवन चरित्र के सम्बन्ध में उल्लिखित विवरण को यदि तथ्य की कसौटी पर कसा जाय तो साम्प्रदायिक व्यामोह-विमुग्ध एवं पूर्वाग्रह-ग्रस्त अनेक लोगों को बड़ी निराशा होगी । उदाहरण के रूप में जैसा कि अभी-अभी बताया जा चुका है आचार्य अभयदेवसूरि ने नवांगी वृत्तियों की रचना अनहिल्लपुर पट्टण में की । इस प्रकार का उल्लेख स्वयं अभयदेवसूरि ने अपनी कतिपय वृत्तियों की प्रशस्तियों में किया है ।[1] इसके विपरीत प्रभावक चरित्रकार ने पल्यपद्रपुर में इन वृत्तियों की अभयदेवसूरि द्वारा रचना किये जाने का उल्लेख किया है । 'अभयदेवसूरि-चरितम्' के श्लोक संख्या ९९ को अन्तिम श्लोकार्द्ध "यशोभिर्विहरन्प्राप पल्यपद्रपुरं शनैः" और श्लोक संख्या ११९ का अन्तिम श्लोकार्द्ध "अजानन्तश्च तन्मूल्यं श्रावका पत्तनं ययुः" स्पष्टतः इस बात को प्रकट करता है कि अभयदेवसूरि ने नवांगी वृत्तियों की रचना अणहिल्लपुर पट्टण में नहीं अपितु पल्यपद्रपुर में की । प्रभाचन्द्र-सूरि की इस भूल से इस अनुमान को बल मिलता है कि शासनदेवी विषयक उनके द्वारा प्रस्तुत किया गया विवरण भी नवांगी वृत्तियों के रचनास्थल के समान अविश्वसनीय हो सकता है ।

सीमन्धर स्वामी से अपनी शंकाओं का निवारण करने में अभयदेवसूरि ने शासनदेवी की सहायता विषयक कोई उल्लेख अपनी वृत्तियों में नहीं किया है, इससे किसी भी विज्ञ द्वारा यही अनुमान किया जा सकता है कि अपनी शंकाओं के निवारण में देवी की सहायता नहीं प्राप्त हुई । इस अनुमान की पुष्टि अभयदेवसूरि द्वारा अपनी वृत्तियों की प्रशस्तियों में दिये गये निम्न लिखित पद्यों अथवा पद्यांशों से होती है :—

---

१. देखिये समवायांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्म कथांग और विपाक सूत्रों के अन्त में दी हुई प्रशस्तियां । —सम्पादक

"क्षूणानि सम्भवन्तीह, केवलं सुविवेकिभिः ।
सिद्धान्तानुगतो योऽर्थः, सोऽस्माद् ग्राह्यो न चेतरः ।।३।।
शोध्यं चैतज्जिने भक्तैर्मामवद्भिर्दयापरैः ।
संसार कारणाद् घोरादपसिद्धान्तदेशनात् ।।४।।"[1]

सार रूप में कहा जाय तो अनन्तकाल तक भयावहा भवाटवी में भटकाने वाले उत्सूत्र व्याख्यान अथवा प्ररूपणा के भय से भीरु बने अभयदेवसूरि ने अति विनम्र शब्दों में स्वयं द्वारा अनेक प्रकार की त्रुटियां होने की सम्भावना व्यक्त करते हुए क्षमायाचनापूर्वक जिनभक्त विद्वज्जनों से उन त्रुटियों को शुद्ध कर लेने की प्रार्थना की है ।

दुःसम्प्रदायादसदूहनाद्वा, भणिष्यते यद्वितथं मयेह ।
तद्धीधनैर्मामनुकम्पयद्भिः, शोध्यं मतार्थक्षतिरस्तु मैव ।।२।।

अर्थात् परम्परागत अर्थ के अभाव अथवा अज्ञान के कारण इस समवायांग वृत्ति में मेरे द्वारा सम्भावित विपरीत प्ररूपणा को विद्वज्जन शोधने की कृपा करें ।[2], "शास्त्रार्थे मे वचनमनघं दुर्लभमिह ।।३।।" तथा "ततः सिद्धान्त तत्वज्ञैः स्वयमुह्यः प्रयत्नतः न पुनरस्मदाख्यात एव ग्राह्यो नियोगतः ।।४।।"[3]

अर्थात् मेरे द्वारा सिद्धान्तों से विपरीत इस वृत्ति में लिख दिया गया हो तो उसको विद्वज्जन शुद्ध कर लें । केवल मेरे द्वारा लिखित विवरण को ही नियोगवशात् ग्रहण न करें । मेरे द्वारा बताया गया अर्थ ही सत्य और निर्दोष हो, यह तो यहां कहना सम्भव नहीं है ।

इसी प्रकार अन्तकृद्दशांग वृत्ति के अन्त में अभयदेवसूरि ने लिखा है:—

शब्दाः केचन नार्थतोऽत्र विदिताः केचित्तु पर्यायतः,
सूत्रार्थानुगतेः समूह्य भणतो यज्जातमागः पदम् ।
वृत्तावत्र तकत् जिनेश्वरवचोभाषाविधौ कोविदैः,
संशोध्यं विहितादरैर्जिनमतोपेक्षा यतो न क्षमा ।।

अर्थात् कतिपय शब्दों के अर्थ एवं कतिपय शब्दों के पर्याय—पर्यायवाची शब्दों का ज्ञान न होने के कारण इस अन्तकृद्दशा वृत्ति में त्रुटियों का रहना स्वाभाविक है । जिनेश्वर की वाणी में निष्णात आदरणीय विद्वज्जन मेरी उन त्रुटियों का

१. स्थानांग वृत्ति की प्रशस्ति अभयदेवकृत
२. समवायांग वृत्ति का प्रारम्भिक भाग अभयदेवकृत
३. ज्ञाताधर्म कथांग वृत्ति प्रशस्ति अभयदेवकृत

संशोधन कर लें क्योंकि जिनेश्वर द्वारा प्ररूपित मत की उपेक्षा करना कभी क्षम्य नहीं है।[1]

विपाकवृत्ति की प्रशस्ति में भी अन्य वृत्तियों की भांति वृत्तिगत त्रुटियों को शुद्ध करने की निम्नलिखित श्लोक द्वारा प्रार्थना की है :—

इहानुयोगे यदयुक्तमुक्तं, तद् धीधना द्राक् परिशोधयन्तु।
नोपेक्षणं युक्तिमदत्र येन जिनागमे भक्तिपरायणानाम् ॥

प्रभावक चरित्रकार और खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलिकार के उल्लेखानुसार यदि ये वृत्तियां देवी की सहायता के माध्यम से सीमन्धर स्वामी से अभयदेवसूरि के संशयों के निवारण होने के पश्चात् लिखी जातीं तो न तो वृत्तिकार को उत्सूत्र भाषण की, सिद्धान्तों से विपरीत व्याख्या करने की आशंका ही शेष रहती और न उन्हें विद्वज्जनों से इस प्रकार बार-बार क्षमा-याचना करने की ही आवश्यकता होती। जैनेतर अथवा पाश्चात्य विद्वान् इस सन्दर्भ में अपना कोई अभिमत व्यक्त करें, उससे पूर्व ही सम्भावित सभी तथ्यों को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है। जिससे कि प्रत्येक जैन धर्मावलम्वी इस विषय पर तटस्थ भाव से विचार कर सके।

अभयदेवसूरि के दादा गुरु वर्द्धमानसूरि द्वारा क्रियोद्धार करने, श्रमण-जीवन में शिथिलाचार के विरुद्ध जन-जन के मन में नवचेतना जागृत करने तथा इनके गुरु जिनेश्वरसूरि द्वारा अणहिल्लपुर पट्टण में चैत्यवासी परम्पराओं से भिन्न जैन परम्पराओं के साधु साध्वी वर्ग पर प्रवेश विषयक लगी राजकीय निषेधाज्ञा को निरस्त करवाने के समय से ही आचार्य वर्द्धमानसूरि की, कालान्तर में खरतर-गच्छ के नाम से विख्यात हुई परम्परा के साधुओं के साथ चैत्यवासी परम्परा के साधुओं का व्यवहार प्रायः कटुतापूर्ण चला आ रहा था, किन्तु अभयदेवसूरि की विनम्रता और उनके आगम विषयक तलस्पर्शी गहन ज्ञान के कारण चैत्यवासी परम्परा के प्रधानाचार्य भी उनका बड़ा सम्मान करते थे। इस सम्बन्ध में खरतर-गच्छ वृहद् गुर्वावली का उल्लेख द्रष्टव्य है, जिसका सारांश इस प्रकार है :—

"अभयदेवसूरि जिस समय अणहिल्लपुर पट्टण करडिहट्टी नामक वसति में विराज रहे थे, उस समय उस नगर में चैत्यवासी परम्परा के प्रमुख आचार्य द्रोणाचार्य ने अंग शास्त्रों पर विवेचनात्मक व्याख्यान देना प्रारम्भ किया। पाटन में विद्यमान सभी आचार्य कपलिकाएं (सम्भवतः लकड़ी की तख्ती जिस पर पत्र रख कर व्याख्या के समय स्मरणीय आवश्यक अंश लिखे जाते हैं) लेकर अंगों की व्याख्या सुनने के लिये उपस्थित होते थे।

१ अन्तकृद्दशावृत्ति प्रशस्ति।

अभयदेवसूरि भी वहां जाते थे। द्रोणाचार्य सदा अभयदेवसूरि को अपने पास में ही एक आसन पर बिठाते थे। सूत्रों की व्याख्या करते समय जिस किसी स्थल पर उन्हें अर्थ विषयक सन्देह उत्पन्न हो जाता वहां वे ऐसे मन्द स्वर से बोलते कि जिससे दूसरों को कुछ भी सुनाई न दे। द्रोणाचार्य को दूसरे दिन जिन-जिन सूत्रों की व्याख्या करनी थी, अभयदेवसूरि दूसरे दिन उन पर स्वयं द्वारा रचित वृत्ति लेकर व्याख्यान स्थल पर पहुंचे और उन्होंने द्रोणाचार्य से निवेदन किया कि इस वृत्ति को देखकर, इस पर मनन करके आप आज के सूत्रों की व्याख्या कीजिये। उस वृति के कुछ अंशों को पढ़ते ही सभी चैत्यवासी आचार्य चमत्कृत हो गये, द्रोणाचार्य के आश्चर्य का तो पारावार ही नहीं रहा। उस वृत्ति को पढ़ते हुए द्रोणाचार्य विचार करने लगे :—"क्या इस वृत्ति का निर्माण साक्षात् गणधरों ने किया है अथवा यह इन अभयदेवसूरि द्वारा ही रचित है। द्रोणाचार्य के मानस में अभयदेव के प्रति प्रगाढ़ आदर भाव जागृत हुआ। दूसरे दिन अभयदेवसूरि को व्याख्यान स्थल पर आते देखकर उनकी अगवानी के लिये द्रोणाचार्य अपने आसन से उठ खड़े हो गये। सुविहित परम्परा के एक आचार्य के प्रति अपनी चैत्यवासी परम्परा के सबसे बड़े आचार्य, द्रोणाचार्य का इस प्रकार का आदर-भाव देखकर वे सभी चैत्यवासी आचार्य रुष्ट हो, उठ खड़े हुए और अपनी-अपनी वसति की ओर लौट गये। अपने-अपने मठ में जाकर उन्होंने द्रोणाचार्य से कहलवाया "इसमें (अभयदेवसूरि में) हमसे अधिक ऐसी क्या विशेषता है, ऐसा क्या गुण है कि जिसके कारण हमारे प्रमुख आचार्य उनके प्रति इस प्रकार का आदर-भाव प्रकट करते हैं? अन्य परम्परा के आचार्य के प्रति इस प्रकार का आदर-भाव प्रकट किया जायगा तो हमारी क्या स्थिति होगी?" रुष्ट चैत्यवासी आचार्यों की इस प्रकार की पारस्परिक मन्त्रणा से अवगत होते ही गुणग्राही विद्वान् द्रोणाचार्य ने एक श्लोक की रचना की और उसकी अनेक प्रतियां लिखवाकर सभी चैत्यवासी आचार्यों के पास अनेक मठों में भिजवा दीं। वह श्लोक इस प्रकार है :—

आचार्याः प्रतिसद्म सन्ति महिमा येषामपि प्राकृतै-
र्मातुं नाऽध्यवसीयते सुचरितैस्तेषां पवित्रं जगत्।
एकेनाऽपि गुणेन किन्तु जगति प्रज्ञाधनाः साम्प्रतं,
यो धत्तेऽभयदेवसूरिसमतां सोऽस्माकमावेद्यताम्॥

अर्थात् यों तो सभी मठों, उपाश्रयों, आदि धर्मस्थानों में बहुत से ऐसे आचार्य हैं, जिनके निर्मल चरित्र से यह जगती-तल पवित्र बन गया है, जिनकी महिमा का कोई असाधारण व्यक्ति भी अनुमान नहीं लगा सकता, किन्तु क्या आज के युग में कोई एक भी ऐसा विद्वान् आचार्य है, जो किसी एक गुण में भी

अभयदेवसूरि के समक्ष ठहर सकता हो ? यदि कोई ऐसा हो तो वह हमें बतलावें ।

इस श्लोक को पढ़ते ही सभी चैत्यवासी आचार्य हतप्रभ हो पूर्णतः शान्त हो गये और अभयदेव सूरि द्वारा रचित वृत्तियों के आधार पर चैत्यवासी प्रमुख आचार्य द्रोणाचार्य अंग शास्त्रों की व्याख्या पहले की भांति करने लगे ।

यह सब आचार्य अभयदेवसूरि की उच्चकोटि की विद्वत्ता एवं विनम्रता का ही चमत्कार था कि सुविहित परम्परा की नितान्त विरोधिनी चैत्यवासी परम्परा के प्रमुख आचार्य भी अन्तर्मन से उनका आदर करने लगे ।

अभयदेवसूरि की गुणज्ञता का एक इसी उदाहरण से भलीभांति अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्होंने चैत्यवासी परम्परा के विद्वान् प्रमुख आचार्य द्रोणाचार्य से अपनी वृत्तियों का संशोधन करवाकर न केवल उनकी विद्वत्ता को सम्मानित ही किया अपितु उससे पूर्णरूपेण लाभ भी उठाया ।

इन सब गुणों के अतिरिक्त प्रतिभा की परख और सत्पात्र के चयन गुण में भी वे अप्रतिम थे । इस सम्बन्ध में जिनवल्लभसूरि का उदाहरण उल्लेखनीय है । कूर्चपुरीय चैत्यवासी आचार्य जिनेश्वरसूरि ने अपने जिनवल्लभ नामक एक मेधावी शिष्य को अभयदेवसूरि के पास अंग शास्त्रों के अध्ययन के लिये भेजा । शिक्षार्थी पर प्रथम दृष्टि निक्षेप से ही उन्होंने अनुभव कर लिया कि यह शिक्षार्थी आगे चलकर एक उच्च कोटि का विद्वान् और शासन प्रभावक होगा । उन्होंने बड़े स्नेह से शिक्षार्थी जिनवल्लभ को सिद्धान्तों के शिक्षण के साथ-साथ सभी विद्याओं का तलस्पर्शी अध्ययन करवाया और उसे विद्वानों में अग्रणी बना दिया । अभयदेव-सूरि के पास सिद्धान्तों एवं विभिन्न विद्याओं का अध्ययन करने के अनन्तर अपने चैत्यवासी गुरु के पास जा उन्हें स्पष्ट रूप से कह दिया—"मैं स्व-पर-कल्याण की कामना से चैत्यवास का परित्याग कर सुविहित परम्परा के आचार्य अभयदेव का शिष्यत्व स्वीकार करूँगा ।"

गुरु द्वारा पुनः पुनः अनुरोध किये जाने के उपरान्त भी जिनवल्लभसूरि ने चैत्यवास का परित्याग कर दिया और जीवन भर सुविहित परम्परा के प्रचार-प्रसार एवं उत्कर्ष के लिए समर्पित रहे ।

खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली के उल्लेखानुसार आचार्य अभयदेवसूरि महान् उच्च कोटि के निमितज्ञ अथवा भविष्य कथन में अद्वितीय थे । इस उल्लेखानुसार आचार्य अभयदेवसूरि विहार क्रम से पाल्हउदा (प्रभावक चरित्र में उल्लिखित पाल्यपद्रपुर) नामक ग्राम में पहुँचे । इस ग्राम के रहने वाले श्रावक अभयदेवसूरि के परम भक्त थे । उन श्रावकों का विदेशों में दूर-दूर समुद्र पार तक

व्यापार चलता था। जिस समय अभयदेवसूरि उस नगर में पधारे उससे पहले ही उन श्रावकों के जहाज व्यापारार्थ समुद्र पार के देशों के लिये भेज दिये गये थे। वे जहाज विदेशों से माल लेकर भारत की ओर लौट रहे थे, उस समय यह बात चारों ओर फैल गई कि वे जहाज समुद्र में डूब गये हैं। इस प्रकार की बात सुनकर उन श्रावकों को बड़ा दुःख हुआ। शोक सागर में निमग्न रहने के कारण वे लोग पर्याप्त विलम्ब के पश्चात् आचार्यश्री की सेवा में वन्दनार्थ उपस्थित हुए। देरी का कारण पूछने पर उन श्रावकों ने जहाज डूबने विषयक अपुष्ट समाचारों की बात आचार्यश्री से निवेदित की और कहा कि हम लोग इस चिन्ता के कारण विलम्ब से आ सके हैं। श्रावकों की बात सुनकर कुछ क्षण तक ध्यानस्थ रहने के पश्चात् अभयदेवसूरि ने कहा—"इस विषय में तुम्हें किसी प्रकार की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हारे जहाज सुरक्षित हैं और शीघ्र ही यहां आने वाले हैं।" दूसरे ही दिन उन व्यापारियों के सेवक ने आकर सूचित किया कि जहाज सुरक्षित अवस्था में आ गये हैं और उनसे समस्त क्याणक उतार लिया गया है। यह सुनते ही उन श्रावकों के हर्ष का पारावार नहीं रहा। सभी ने परस्पर मन्त्रणा कर समवेत स्वरों में अभयदेवसूरि के समक्ष उपस्थित हो अपना अटल निश्चय सुनाया—"आचार्यदेव ! हमारे इन जहाजों द्वारा लाये गये क्याणक से हम सबको जितना लाभ होगा, उसका आधा भाग हम आप द्वारा निर्मित सिद्धान्तों, वृत्तियों और साहित्य के लिखवाने में व्यय करेंगे।"

अभयदेव सूरि ने कहा—"यह तो तुम्हारे लिये मुक्ति-गमन में सहायक होगा। तुम्हारे परिणाम बड़े सुन्दर हैं। अच्छे कार्य करने में तो सदा तत्पर रहना चाहिये।" कतिपय दिनों तक 'पाल्ह उद्रा' नगर में रहने के अनन्तर आचार्य अभयदेव सूरि पुनः अणहिल्लपुर पट्टण लौट आये।

खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली के उल्लेखानुसार अभयदेवसूरि द्वारा प्रतिबोधित दो श्रावकों ने श्रावक के १२ व्रतों के पालन और समाधि-पूर्वक मरण के कारण स्वर्गगति प्राप्त की। कहा जाता है कि दोनों देवों ने सीमन्धर और युगमन्धर स्वामी को वन्दन करने के पश्चात् उनसे प्रश्न किया कि उनके गुरु अभयदेवसूरि कौनसे भव में मुक्ति प्राप्त करेंगे। "तीसरे भव में अभयदेवसूरि सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाएंगे।"

प्रभु के मुख से यह उत्तर सुनकर देव बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने अभयदेव-सूरि के समक्ष उपस्थित हो उन्हें भी यह सुसंवाद सुनाया। पुनः देव-लोक की ओर लौटते हुए उन दोनों ने हर्षातिरेकवशात् एक गाथा का उच्चारण किया जो गुर्वावली में इस प्रकार उद्धृत है :—

भणियं तित्थयरेहिं, महाविदेहे भवंमि तइयंमि।
तुम्हाण चेव गुरवो, मुत्ति सिग्घं गमिस्संति ॥

स्वाध्याय करती हुई एक साध्वी ने देवों के मुख से उस गाथा को सुना। परम्परा से समागत इस गाथा को गुर्वावलिकार ने गुर्वावली में निबद्ध किया।

इन सब उल्लेखों से यह प्रकट होता है कि अभयदेवसूरि अति मृदु मंजुल एवं जनमनाकर्षक प्रकृति के अपने युग के अप्रतिम उद्‌भट विद्वान् और जन-जन को प्रभावित करने वाले लोकप्रिय आचार्य थे।

श्री अभयदेवसूरि ने नवअंगों पर वृत्तियों की एवं परमोपयोगी साहित्य-ग्रन्थों की रचना कर जिनशासन की जो महती सेवा की है, वह जैन इतिहास में सदा स्वर्णाक्षरों में लिखी जायेगी, आगमों के तल-स्पर्शी ज्ञान का अर्जन करने के अभिलषुक भव्य प्राणियों द्वारा निःसीम श्रद्धा के साथ स्मरण की जाती रहेगी। अभयदेवसूरि द्वारा जो विपुल साहित्य का निर्माण किया गया, उसका सार रूप में परिचय यहां दिया जा रहा है :—

१. **स्थानांग वृत्ति**—एकादशांगी के तृतीय अंग स्थानांग पर आपने १४२५० श्लोक प्रमाण वृत्ति का विक्रम सं. ११२० में निर्माण किया। इस कार्य में संविग्न पक्ष के आचार्य अजितसिंह के शिष्य यशोदेवगणि ने आपकी सहायता की। इस वृत्ति को आद्योपान्त देखकर द्रोणाचार्य आदि अनेक विद्वानों ने सराहना की। अभयदेव-सूरि ने स्थानांग वृत्ति के निर्माणस्थल का उल्लेख नहीं किया है।

२. **समवायांग वृत्ति**—चौथे अंग समवायांग पर आपने ६५७५ श्लोक प्रमाण वृत्ति का विक्रम सं० ११२० में अणहिल्लपुर पट्टण में निर्माण किया।

३. **व्याख्या प्रज्ञप्ति वृत्ति**—एकादशांगी के पंचम अंग व्याख्या प्रज्ञप्ति (वियाह पण्णत्ति–भगवतीसूत्र) पर आपने १८६१६ श्लोक प्रमाण वृत्ति की विक्रम सं. १०२८ में अणहिल्लपुर पट्टण नगर में रचना सम्पन्न की।

४. **ज्ञाताधर्मकथांगवृत्ति**—एकादशांगी के छठे अंग ज्ञाताधर्म कथा पर आपने ३८०० श्लोक प्रमाण वृत्ति की रचना विक्रम सं. ११२० की विजयादशमी के दिन अणहिल्लपुर पट्टण नगर में सम्पन्न की। इस वृत्ति का निर्वृतक कुल के आचार्य द्रोणसूरि ने संशोधन किया।

५. **उपासकदशांग वृत्ति**—एकादशांगी के सातवें अंग उपासक दशांग पर आपने १८१२ श्लोक प्रमाण वृत्ति की रचना सम्पन्न की। इसके निर्माण स्थल व सम्वत् का भी वृत्तिकार ने कोई उल्लेख नहीं किया है।

६. **अन्तकृद्दशांग वृत्ति**—एकादशांगी के आठवें अंग अन्तकृत्दशा पर आपने ८९९ श्लोक परिणाम वृत्ति का निर्माण किया। वृत्ति के निर्माण काल व स्थान का इसमें उल्लेख नहीं है।

७. **अनुत्तरोपपातिकदशांग वृत्ति**—एकादशांगी के नवमें अंग अनुत्तरौपपातिक दशा वृत्ति की रचना की। इस वृत्ति में भी रचनाकाल एवं रचनास्थल का उल्लेख नहीं किया गया है।

८. **प्रश्नव्याकरण वृत्ति**—एकादशांगी के दसवें अंग शास्त्र प्रश्नव्याकरण की १६३० श्लोक प्रमाण वृत्ति की रचना की। रचनाकाल एवं स्थल का उल्लेख इसमें भी नहीं मिलता।

९. **विपाक वृत्ति**—एकादशांगी के ग्यारहवें अंग विपाक सूत्र पर आपने ३१२५ श्लोक प्रमाण वृत्ति की अणहिल्लपुर पट्टण नगर में रचना सम्पन्न की। इस वृत्ति को भी आचार्य द्रोणाचार्य ने संशोधित किया। इस वृत्ति के अन्त में इसके रचनाकाल और रचना सम्वत् का उल्लेख नहीं किया गया है।

यह पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है कि एकादशांगी के प्रथम अंग आचारांग एवं द्वितीय अंग सूत्रकृतांग पर आचार्य शीलांक द्वारा रचित टीकाएं उपलब्ध हैं, इसी कारण अभयदेवसूरि ने इन दोनों सूत्रों पर वृत्तियों का निर्माण नहीं किया।

९ अंगों पर उपरिवर्णित ९ वृत्तियों की रचना के अतिरिक्त अभयदेवसूरि ने औपपातिक नामक उपांग पर भी ३१२५ श्लोक परिमाण वृत्ति की रचना की।

उपरिवर्णित ९ अंगों और १ उपांग पर कुल १० वृत्तियों की रचना के अतिरिक्त आचार्य अभयदेवसूरि ने प्रज्ञापना तृतीय पद-संग्रहणी, पंचाशक वृत्ति, जयतिहुयण स्तोत्र, पंचनिर्ग्रन्थी और षष्ठ कर्मग्रन्थ-सप्ततिकाभाष्य की भी रचना की।

आ० अभयदेवसूरि द्वारा ९ अंगों पर रचित ये वृत्तियां इन (नवों ही) अंगों के गूढार्थपूर्ण सूत्रों और शब्दों पर स्पष्ट प्रकाश डालने वाली हैं। न तो ये अति संक्षिप्त हैं और न ही अति विस्तारपूर्ण। सूत्रार्थ स्पर्शिनी एवं शब्दार्थ विवेचन प्रधान शैली को अपना कर भी अभयदेवसूरि ने इन वृत्तियों में जहां-जहां उन्हें आवश्यकता प्रतीत हुई, शब्दों और सूत्र के अर्थ का सुबोध शैली में ऐसा सुन्दर ढंग से विवेचन किया है कि आगमों के अध्ययन में रुचि रखने वाला जिज्ञासु सूत्रों एवं शब्दों के गहन-गूढ़ रहस्य को भली-भांति हृदयंगम करने में सक्षम हो सकता है। अपनी विवेचनशैली को सूत्र तथा शब्दों के अर्थ तक ही सीमित न रख कर

वृत्तिकार ने न केवल सैद्धान्तिक तत्त्वों और दार्शनिक तथ्यों पर ही प्रकाश डाला है अपितु यत्र-तत्र मानव जीवन से चोली-दामन का सा सम्बन्ध रखने वाले सामाजिक एवं राजनैतिक विषयों पर प्रकाश डालने में भी वे सजग रहे हैं। अतः इन वृत्तियों के अध्ययन, निदिध्यासन से अध्येता को सहज ही यह अनुभव होने लगता है कि अभयदेवसूरि ने इन ९ वृत्तियों के रूप में वस्तुतः उसे आगमों के निगूढ़ रहस्य को उद्घाटित कर देने वाली ९ कुञ्जियां ही प्रदान कर दी हैं।

वृत्तियों की रचना के गुरुतर कार्य को हाथ में लेते ही अभयदेवसूरि के समक्ष उपस्थित हुई कठिनाइयों पर स्वयं ने प्रकाश डाला है। उनके द्वारा सत्सम्प्रदायहीनता इस श्लोक के माध्यम से उनके वास्तविक सूत्रार्थ का यथातथ्य रूपेण बोध कराने वाली गुरु-परम्परा का अभाव आदि जो बड़ी-बड़ी ६ कठिनाइयां प्रकट की गई हैं, उन कठिनाइयों के उपरान्त भी अभयदेवसूरि ने जिस सुगम्य-सुबोध सरल एवं सुन्दर शैली में इस गुरुतर कार्य के निष्पादन में जो प्रथम प्रयास किया है, उस प्रयास को यदि भगीरथ प्रयास की संज्ञा से अभिहित किया जाय तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

नौ अंगों की नवों वृत्तियों की प्रतिलिपियाँ लिखवाने के सम्बन्ध में प्रभावक चरित्रकार और खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलीकार ने एक दूसरे से भिन्न दो प्रकार के उल्लेख किये हैं। प्रभाचन्द्रसूरि द्वारा प्रभावक चरित्र में निबद्ध एतद्विषयक विवरण का सार इस प्रकार है :—

"स्थानाङ्ग आदि ९ अंगों पर अभयदेवसूरि द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य के सम्पन्न हो जाने और महान् श्रुतधरों द्वारा उन वृत्तियों में आवश्यक संशोधन कर दिये जाने पर श्रावकों ने उन वृत्तियों की प्रतिलिपियाँ तैयार अर्थात् वृत्तियाँ लिखवाने का कार्य हाथ में लिया। उस समय शासन देवी अभयदेवसूरि के समक्ष एकान्त में उपस्थित हुई और उसने सूरिवर से निवेदन किया—"प्रभो! इन नवों वृत्तियों की प्रथम प्रतियाँ मेरे द्रव्य से लिखवाई जायँ।" यह कहकर शासनाधिनायिका ने अपना एक स्वर्ण निर्मित दिव्य आभूषण उपाश्रय के मुख्य द्वार के ऊपर रख दिया और देवी तत्काल अदृश्य हो गई।

भिक्षाचरी कर लौटे साधु सूर्य के समान दैदीप्यमान उस अद्भुत् आभूषण को देखकर चमत्कृत् एवं आश्चर्याभिभूत हो उठे। उन्होंने अभयदेवसूरि से उस विषय में जब जिज्ञासा की तो उन्होंने वास्तविक वृतान्त अपने शिष्यों को सुनाकर उन्हें प्रमुख श्रावकों को बुलवाने का निर्देश दिया। श्रावक उपाश्रय में आचार्य श्री के समक्ष उपस्थित हुए। उन्होंने उस देवी आभूषण को अच्छी तरह देखा पर उस अनमोल आभूषण के मूल्य के सम्बन्ध में नितान्त अनभिज्ञ श्रावक उस मुद्रिका अथवा आभूषण को लेकर अनहिलपुर पत्तन गये। पत्तन के प्रमुख जौहरी और श्रेष्ठिवर भी जब उस अमूल्य आभूषण के मूल्य का निर्णय न कर सके, तो उन्होंने

परस्पर मन्त्रणा कर यह निर्णय किया कि गुर्जरेश्वर महाराजा भीम के समक्ष इस दिव्य आभूषण को प्रस्तुत कर दिया जाय और वे इसका जो भी मूल्य दें, वही ले लिया जाय, क्योंकि इसका मूल्य निर्धारित करने में कोई श्रेष्ठिवर सक्षम नहीं है। इस प्रकार मन्त्रणा कर पाटण के प्रमुख श्रेष्ठियों का समूह महाराजा भीम के समक्ष उपस्थित हुआ और वह अद्भुत् आभूषण उसने राजा को दिखाया। पल्यपद्र पुर के श्रावकों से उस आश्चर्यकारी आभूषण के सम्बन्ध में पूरे वृतान्त को सुनकर राजा भीम बड़ा ही प्रमुदित एवं सन्तुष्ट हुआ। वह वोला—"तपस्वी महात्माओं को समर्पित की गई वस्तु बिना मूल्य के मैं ग्रहण नहीं करूंगा।"

श्रेष्ठि समूह ने राजा भीम को निवेदन किया कि उस आभूषण का जो भी मूल्य बतायेंगे, वही सब के लिये स्वीकार्य एवं सर्वमान्य होगा। इस पर महाराजा भीम ने उस दैवी आभूषण का मूल्य तीन लाख द्रम्म मुद्रा श्रेष्ठि प्रमुखों को राजकोष से दिलवाकर उसे क्रय कर लिया। उन श्रेष्ठियों ने देवी आभूषण के मूल्य के रूप में राजा भीम से प्राप्त हुई तीन लाख द्रम्म की द्रव्य राशि से उन नवों ही अंगों की प्रतिलिपियाँ तैयार करवा कर अभयदेवसूरि को समर्पित कर दीं।

इसके अनन्तर पाटण, ताम्रलिप्ति, आशापल्ली और धवल्लक नगर के ८४ चतुर श्रावकों ने उन प्रतियों से और भी अनेक प्रतिलिपियाँ प्रचुर मात्रा में लिखवा कर अभयदेवसूरि को समर्पित कीं।"[1]

प्रभावक चरित्रकार द्वारा उल्लिखित इस उदन्त के विपरीत 'खरतरगच्छ वृहद गुर्वावली' के रचनाकार ने अपनी कृति में नवाङ्गी वृत्तियों की पुस्तकें लिखवाने के विषय में एक और ही प्रकार का कथानक प्रस्तुत किया है। गुर्वावलिकार के अनुसार, जैसा कि पहले अभयदेवसूरि के जीवन वृत्त के सन्दर्भ में लिखा जा चुका है कि जिस समय अभयदेवसूरि नवाङ्गीवृत्तियों के निर्माण के पश्चात् पाटण से विहार कर पाल्हउदा नामक ग्राम में पधारे, उस सयय वहाँ समुद्र-मार्ग से विदेशों के साथ व्यापार करने वाले भक्त श्रावकों को जनश्रुति के रूप में एक सूचना मिली कि उनके क्रयाणक से भरे जहाज समुद्र में डूब गये हैं।

वे श्रावक अभयदेवसूरि के परम भक्त थे। वे प्रतिदिन नियमित समय पर अपने आचार्यदेव के दर्शनार्थ उनके उपाश्रय में जाते थे। उस दिन अपने जहाजों के समुद्र में डूब जाने का उदन्त सुनकर वे शोक सागर में निमग्न हो गये। इसी कारण वे नियत समय से वड़ी देर पश्चात् तक भी गुरु दर्शन हेतु उपाश्रय में नहीं पहुँचे। इस अप्रत्याशित असाधारण विलम्ब को देखकर अभयदेवसूरी को आभास हो गया कि नित्य प्रति नियमित रूप से नियत समय पर आने वाले श्रावकों के आने में विलम्ब का कोई विशेष कारण होना चाहिये। उन्होंने सन्देश भेजकर उन्हें उपाश्रय

१. प्रभावक चरित्र, अभयदेवसूरि चरितम्, श्लोक ११५ से १२५।

में आने का इंगित किया। अपने आराध्य आचार्य देव का इंगित पाते ही वे श्रावक तत्काल अभयदेवसूरि की सेवा में उपस्थित हुए और समय पर अपने न आ सकने के लिये शोक प्रकट करते हुए बोले—"गुरुदेव ! आज हमें अतीव शोकप्रद समाचार मिले हैं कि बहुमूल्य क्रयाणक से लदे हमारे जहाज संभवतः समुद्र में डूब गये हैं। इसी अप्रत्याशित अपूरणीय क्षति के समाचार से सागर में निमग्न हमारे जलपोतों की भांति हमारे मन-मस्तिष्क भी असन्तुलित एवं अस्त-व्यस्त हो शोक सागर में निमग्न हो गये हैं। यही कारण है कि खाने-पीने के साथ ही हम लोग अपने ईश्वर तुल्य आराध्य देव के दर्शन करना भी भूल गये थे। अब अपने आशा केन्द्र आप श्री के प्रशान्त सुधासागरोपय शान्तिप्रदायक तपोपूत मुखारविन्द के दर्शन कर शोक-सागर से उबर प्रशान्त सुधासागर में निमग्न हो गये हैं। हे क्षमासागर देव ! अपने इन अज्ञ दासों के अपराध को क्षमा प्रदान कर दीजिये।" यह कहते हुए वे श्रद्धालु श्रावक अभयदेवसूरि के चरणों पर लोट-पोट हो गये।

अपने पुण्डरीक पुष्पोपम लोचन युगल को निमीलित कर आचार्यश्री अभयदेवसूरि क्षण भर ध्यानमुद्रा में चिन्तन करने के अनन्तर अपने कमल दलायत विस्फारित नेत्र युगल से सुधावृष्टि करते हुए बोले :—"इस विषय में तो आप लोगों को किञ्चित्मात्र भी चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है।"

अपने अगम ज्ञानी आराध्य आचार्यदेव अभयदेवसूरि के आध्यात्मिक तपोपूत अन्तस्तल से उद्गत अमृतोपम उद्गारों को सुनकर श्रद्धालु श्रावकों के मन मयूर घनगर्जन से मत्त बने मयूरों की भांति आनन्दविभोर हो नाच उठे। वे सब पूर्णतः आश्वस्त हो गये। दूसरे दिन ही उनके सब जलपोत सकुशल आ गये। "हर्षविभोर कृतज्ञ श्रावक गुरु-सेवा में उपस्थित हुए। "सौ सयाने एक मता" की सूक्ति को चरितार्थ करते हुए वे सब श्रावक समवेत स्वरों में बोले—"भविष्यज्ञ भगवन् ! जलपोतों में लदापद भरे क्रयाणकों से हम लोगों को जितना लाभ होगा, उसके अर्द्धांश से हम नवांगी वृत्तियों की प्रतिलिपियों का आलेखन करवायेंगे।"

अभयदेवसूरि ने अपने श्रद्धालु श्रावकों के संकल्प का समादर करते हुए कहा—"श्रावकोचित् सत्कार्य करने की आपकी शुभभावना अन्ततोगत्वा आपके लिये मुक्ति का साधन बनेगी। शुभ कार्य तो अवश्यमेव करना ही चाहिये।"

खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली में स्पष्ट शब्दों में यह तो नहीं लिखा है कि उन श्रावकों ने नवांगी वृत्तियों का आलेखन करवाया किन्तु उक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि पाल्हउदा (संभवतः प्रभावक चरित्रकार द्वारा उल्लिखित पल्यपद्रपुर) ग्राम अथवा नगर के श्रावकों ने अपने उन जलपोतों में आये हुए क्रयाणकों से अर्जित लाभ के अर्द्धांश से नवाङ्गी वृत्तियों की प्रतिलिपियों का आलेखन करवाया, जिन जलपोतों के सागर में डूबने के समाचार के अनन्तर अभय-

देवसूरि ने अपने उन श्रावकों को आश्वस्त किया था कि उनके जलपोत सकुशल आ जायेंगे।

प्रभावक चरित्रान्तर्गत 'अभयदेवसूरि चरितम्' के श्लोक संख्या १२५ के तृतीय एवं चतुर्थ चरण में यह तो स्पष्टतः लिखा गया है कि पल्यपद्रपुर के श्रावकों ने नवाङ्गी की प्रतियां लिखवाकर अभयदेवसूरि को समर्पित कीं[1] किन्तु श्लोक संख्या १२४ के अन्तिम चरण "ततः श्री भीमभूपतिः" और १२५ वें श्लोक के प्रथमार्द्ध "द्रम्मलक्षत्रयं कोशाध्यक्षाद् दापयति स्म सः" इससे स्पष्टतः यही प्रकट होता है कि दैवी आभूषण के मूल्य के रूप में महाराजा भीम ने पल्यपद्रपुर के श्रावकों को ३ लाख द्रम्भ (मुद्रा विशेष) दिलवाये और उस धनराशि से उन श्रावकों ने नवों अंगों की वृत्तियों का आलेखन करवा कर अभयदेवसूरि को वे प्रतियां दीं।

दो महान् ग्रन्थकारों द्वारा इस विषय में किये गये एक दूसरे से नितान्त भिन्न उल्लेखों को देखकर प्रत्येक सुज्ञ पाठक के अन्तर्मन में इस प्रकार की जिज्ञासा का उठना सहज ही सम्भव है कि उक्त दोनों उल्लेखों में से किसको प्रामाणिक माना जाय। अभयदेवसूरि ने नौ अंगों की वृत्तियों में से चार अंगों की वृत्तियों के अन्त में दी गई प्रशस्तियों में स्वयमेव स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि इन वृत्तियों की रचना उन्होंने पाटन में सम्पन्न की। खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली में भी स्पष्ट उल्लेख है कि नवाङ्गी वृत्तिकार ने पाटन स्थित करडिहट्टी (तुषरहित जौओं का बाजार) वस्ती में विराज कर नव अंगों पर वृत्तियों की रचना की। इसके विपरीत प्रभाचन्द्रसूरि ने अपनी कृति प्रभावक चरित्र में लिखा है कि नवाङ्गी वृत्तिकार ने वृत्तियों की रचना पल्यपद्रपुर में की। इस कारण प्रभावक चरित्र के उल्लेख को तो आंखें मूंद कर ही प्रामाणिक माना जा सकता है, अन्यथा नहीं। लब्ध प्रतिष्ठ साहित्य गवेषक स्व. विद्वान् अगरचन्द नाहटा के अभिमतानुसार 'खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली' में वि. सं. १२११ ("सं. १२११ आषाढ वदी ११, जिनदत्तसूरयो दिवंगताः") तक का वृत्तान्त तो सं. १२९५ में सुमतिगणि द्वारा रचित "गणधरसार्द्ध-शतक-वृहद् वृत्ति' के अनुसार ही प्राचीन शैली का है। इसके अतिरिक्त खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली में यह स्पष्ट उल्लेख है कि इसमें वि. सं. १३०५ तक का वृत्तान्त जिनपतिसूरि के शिष्य जिनपालोपाध्याय ने प्रभावक चरित्र की रचना से २९ वर्ष पूर्व लिखा है।[2] इन सब तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने से खरतरगच्छ वृहद्

---

१. पुस्तकान् लेखयित्वाच, सूरिभ्यो ददिरेऽथ तैः ॥१२५॥

—प्रभावक चरित्र, अभयदेवसूरि चरितम्, पृष्ठ १६५

२. ढिल्ली वास्तव्य साधु, साहुलिसुत सा. हेमाभ्यर्थनया।
जिनपालोपाध्यायैरित्यं ग्रथिता: स्वगुरुवार्ता ॥ ७५ ॥

—खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली, पृष्ठ ५०

गुर्वावली के एतद्विषयक उल्लेख का पलड़ा प्रभावक चरित्र के उल्लेख की अपेक्षा भारी पड़ता प्रतीत हो रहा है। अस्तु, नवाङ्गी वृत्तियों की सहस्रों प्रतिलिपियाँ लिखवाई गई होंगी। शुभारम्भ करने वालों के पश्चात् तो अनेक नगरों के श्रीमन्तों के सहयोग से ही इस प्रकार का गुरुतर कार्य सम्पन्न हो सका होगा।

अभयदेवसूरि की कृतियों का अन्तर्वेधी दृष्टि से अध्ययन करने पर उनका एक ऐसा गुरण प्रकट होता है, जिसकी ओर अद्यावधि अधिकांश विद्वानों का ध्यान विशिष्ट रूप में आकर्षित नहीं हुआ है। जैन जगत् के विद्वद्वृन्द का ध्यान आ० श्री अभयदेवसूरि के उस अनुपम महान् गुरण की ओर आकर्षित करने हेतु उनकी वृत्तियों के २ उद्धरण यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

स्थानाङ्ग आदि ६ अंगों पर वृत्तियों की रचना करते समय उनके समक्ष जो कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं, उन्हें तत्कालीन जिनोपासकों एवं उनकी भावी पीढ़ी-प्रपीढ़ियों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए उन्होंने स्थानाङ्ग वृत्ति में जिन ७ बड़ी कठिनाइयों का उल्लेख किया है, उनमें से पहली कठिनाई—"सत्सम्प्रदायहीनत्वात्" पर न केवल प्रत्येक विद्वान् को ही अपितु प्रत्येक धर्म प्रेमी विज्ञ को गहराई से विचार करने की आवश्यकता है। प्रशस्ति के प्रथम श्लोक के उक्त प्रथम चरण में अभयदेवसूरि ने बिना किसी प्रकार के साम्प्रदायिक व्यामोह के बड़ी निर्भीकता के साथ इस तथ्य को जैन जगत् के समक्ष सुस्पष्ट रूपेण प्रकट किया है कि आज (वृत्तिकार के युग में) सत्सम्प्रदाय अर्थात् आगमों के गूढार्थ भरे शब्दों एवं सूत्रों के वास्तविक अर्थ का बोध कराने वाली सत्—अच्छी—सच्ची-सम्यक् गुरु-परम्परा का अभाव है। अपने वृत्ति-निर्माण काल से लगभग ५६० वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुए आगमिक विशुद्ध मूल परम्परा के ह्रास ने वीर निर्वाण सं० १५५० के आते-आते जो पूर्ण ह्रास का तो नहीं परन्तु आत्यन्तिक ह्रास का रूप धारण कर लिया और उससे सत्सम्प्रदाय अर्थात् श्रमण भगवान् महावीर की मूल विशुद्ध परम्परा की जो दुःखद दुरवस्था हुई, उस स्थिति का अभयदेवसूरि ने वास्तविक चित्र प्रकट करते हुए बिना किसी मताग्रह के, बिना किसी साम्प्रदायिक व्यामोह के स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है—"आज सत्सम्प्रदाय का एक प्रकार से अभाव है।" यह सत्य के प्रति अभयदेवसूरि के परम प्रगाढ़ प्रेम-गुरण को प्रकट करने वाला प्रबलतम प्रमाण है।

अभयदेवसूरि के इसी प्रकार के परम गुरण को इससे भी और अधिक स्पष्ट रूप से द्योतित करने वाला दूसरा प्रबलतम प्रमाण है उनके द्वारा रचित 'आगम अष्टोत्तरी की अधोलिखित ऐतिहासिक गाथा, जिस पर इस इतिहास ग्रन्थ माला के तृतीय पुष्प में यथाशक्य पूरा प्रकाश डाला जा चुका है। वह आगम अष्टोत्तरी की गाथा इस प्रकार है :—

देवड्ढिखमासमण जा, परंपरं भावग्रो वियाणेमि ।
सिढिलायारे ठविया, दव्वग्रो परंपरा बहुहा ।।

ग्रभयदेव सूरि ने ग्रपनी स्थानाङ्ग वृत्ति में "सत्सम्प्रदायहीनत्वात्" इस उपरिलिखित पद के माध्यम से ग्रपने समय के जिस तथ्य को प्रकट किया है, उसी तथ्य पर ग्रौर ग्रधिक सुस्पष्ट प्रकाश डालते हुए इस गाथा में लिखा है :—"यह तो मैं भलीभांति मानता हूँ कि ग्रार्य देवर्द्धिगरिण क्षमा-श्रमरण की विद्यमानता (वीर नि. सं. १०००) तक हमारी ग्रार्यधरा पर श्रमरण भ० महावीर के धर्मसंघ में भ० महावीर की विशुद्ध मूल ग्रध्यात्मपरक भाव परम्परा ग्रपने जिस वास्तविक रूप में तीर्थ प्रवंतन काल से निर्मल-प्रबल प्रवाह के साथ चली ग्रा रही थी, उसी वास्तविक भाव परम्परा के रूप में चलती रही, ग्रथवा प्रवाहित रही। किन्तु देवर्द्धिगरिण के स्वर्गस्थ होने के ग्रनन्तर तो विशुद्ध मूल परम्परा के पक्षधर शिथिलाचार-परायरण हो गये ग्रौर प्रभु के धर्मसंघ में ग्रनेकानेक प्रकार की द्रव्य-परम्पराएँ प्रचलित हो गईं।"

ग्रपने समय में प्रचलित शिथिलाचारोन्मुखी एवं ग्रागम प्रतिपादित ग्राचार-विचार से प्रतिकूल ग्राचार-विचार वाली ग्रनेक परम्पराग्रों, गच्छ ग्रादि के रूप में प्रचलित सम्प्रदायों, उन गच्छों के दिग्गज ग्राचार्यों, विद्वानों, उपासकों ग्रादि की किञ्चित्मात्र भी चिन्ता न करते हुए निष्पक्ष भाव से निर्भीक हो ग्रभयदेवसूरि ने जो तथ्य प्रकट किया है, उससे उनका यह ग्रनुपम महान् गुरण प्रकाश में ग्राता है कि वे सत्य के ऐसे महान् एवं ग्रादर्श परमोपासक थे, जिनकी तुलना करने वाला देवर्द्धिगरिण क्षमा-श्रमरण की उत्तरवर्ती एक सहस्राब्दि की ग्रवधि में एक भी ग्रन्थकार तत्कालीन समग्र जैन वाङ्मय के पुनः पुनः ग्रालोडन-विलोडन के उपरान्त भी कहीं दृष्टिपथ में नहीं ग्राता। ग्रभयदेवसूरि ने "स्थानाङ्ग वृत्ति" ग्रौर "ग्रागम-ग्रष्टोत्तरी" में एक ऐसे कटुसत्य को उद्घाटित किया है, जो शताब्दियों से साम्प्रदायिक व्यामोहाभिभूत पूर्वाभिनिवेशपरायरण विद्वानों के ग्रन्तर्मन को ग्रान्दोलित करता ग्रा रहा है, झकझोरता रहा है कि ग्रभयदेवसूरि द्वारा प्रकट किया गया यह तथ्य कहीं उनके उन सहस्रों-सहस्रों उपासकों की मनोभूमि में उनकी मान्यताग्रों के प्रति लहलहाती ग्रास्थाग्रों को उखाड़ न फेंके। यही कारण है कि पूर्वाभिनिवेश परस्त कतिपय विद्वानों द्वारा यह कह कर—यह लिख कर इस कटु सत्य पर गहरा ग्रावरण डालने का प्रयास किया जा रहा है कि "ग्रागम ग्रष्टोत्तरी" ग्रभयदेव की कृति नहीं है। यह किसी ग्रन्य ग्रज्ञातनामा विद्वान् द्वारा निर्मित कृति है ग्रौर किसी निहित स्वार्थ से यशस्वी ग्रागम-मर्मज्ञ नवाङ्गीवृत्तिकार ग्रभयदेवसूरि के नाम पर चढ़ा दी गई है। वस्तुतः ग्रभयदेवसूरि द्वारा उद्घाटित इस तथ्यपूर्ण रहस्य पर पर्दा डालने का प्रयास करते समय इस गाथा में प्रकट किये गये तथ्य की प्रबल पुष्टि करने वाले स्वयं ग्रभयदेवसूरि द्वारा स्थानाङ्गवृत्ति में उल्लिखित "सत्संप्रदायहीनत्वात्"

इस पद की ओर से अपने मन, मस्तिष्क और नेत्र युगल को पता नहीं क्यों मोड़ लेते हैं। 'आगम अष्टोत्तरी' को अन्यकर्तृक ग्रन्थ सिद्ध करने का मोघ प्रयास करने वाले विद्वान् क्या अभयदेवसूरि द्वारा निर्मित स्थानाङ्गवृत्ति को भी किसी अन्य अज्ञातनामा विद्वान् की कृति सिद्ध करने का साहस कर सकते हैं ?

इस प्रकार सत्य के अनन्य उपासक आचार्यश्री अभयदेवसूरि ने उपरिलिखित तथ्य को प्रकाश में लाकर इतिहासविदों, लेखकों, सत्य की खोज में संलग्न शोधकों और जिनशासन के अभ्युदयोत्कर्षापेक्षी मनीषियों को गहन चिन्तन-मनन एवं शोध की दिशा में नया मार्गदर्शन किया है।

इन तथ्यों से यह भलीभांति सिद्ध होता है कि अपने समय के अप्रतिम प्रतिभाशाली नवाङ्गीवृत्तिकार अभयदेवसूरि उच्च कोटि के आगम-मर्मज्ञ, सागर को गागर में समा देने की अद्भुत् क्षमता के धनी तत्त्व-विवेचक एवं सत्य के परमोपासक, विरोधियों को विनयावनत बना देने की चमत्कारिणी शक्ति से सम्पन्न एवं दुस्साध्य को साध्य सिद्ध करने में सक्षम साहसी महापुरुष थे। उनका समग्र जीवन जिनशासन के उत्कर्षकारी कार्यों के लिये समर्पित रहा। विक्रम सं० १०८८ में १६ वर्ष की किशोर वय में उन्हें आचार्यपद पर अधिष्ठित किया गया, इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि वे कैसी असाधारण प्रतिभा के धनी थे। ५१ वर्ष तक आचार्यपद पर रहकर उन्होंने विशाल वृत्तिसाहित्य के अतिरिक्त विविध विषयों पर विपुल ग्रन्थों की रचना की। विक्रम सं० ११३९ में जिस समय वे कपड़गंज (गुर्जर प्रदेश) में विराजमान थे, उस समय एक दिन उन्होंने अपनी आयु का अवसानकाल समीप देख आलोचनापूर्वक अनशन किया और वे समाधि अवस्था में ६७ वर्ष की आयु पूर्ण कर स्वर्गस्थ हुए। खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलीकार ने स्वर्गस्थ होने का काल निर्देश न कर केवल यही लिखा है कि वे (पाटण में) समाधिपूर्वक चतुर्थ देवलोक में गये।[1]

अभयदेवसूरि के स्वर्गारोहण काल के सम्बन्ध में दो प्रकार की मान्यताएँ जैन वाङ्मय में उपलब्ध होती हैं। खरतरगच्छीया कतिपय पट्टावलियों में अभयदेवसूरि का स्वर्गारोहण काल वि. सं. ११३५ उल्लिखित है तथा दूसरी मान्यतानुसार उनका स्वर्गवास वि. सं. ११३९ में कपड़गंज में होने का भी उल्लेख है। प्रभावकचरित्रकार ने प्रभावक चरित्र में अभयदेवसूरि के स्वर्गगमन काल का उल्लेख न कर केवल यही लिखा है कि अभयदेवसूरि पाटण नगर में पाटणाधीश कर्णराज के राज्यकाल में स्वर्गस्थ हुए।[2] गुर्जरेश चालुक्यराज कर्ण का शासनकाल प्राचीन

---

१. नवाङ्गवृत्त्या भव्यजीवान् सुखिनः कृत्वा कालक्रमेण सिद्धान्तविधिना समाधानेन चतुर्थदेवलोकं प्राप्ता अभयदेव सूरयः। खर. ग. गु. पृष्ठ ६।

२. प्रभावक चरित्र. अभयदेवसूरि चरितम् श्लोक १७२-१७३, पृष्ठ १६६।

शिलालेखों एवं ताम्रपत्रों के आधार पर वि. सं. ११२९ से ११५१ तक निश्चित किया गया है। पांचवें अंग व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र) की वृत्ति की रचना अभयदेवसूरि ने की, इस वृत्ति के अन्त में दी गई प्रशस्ति के अनुसार उन्होंने विक्रम सं. ११२८ में इसे सम्पन्न की। इसके पश्चात् कतिपय अंगों की वृत्तियों का निर्माण करने के अनन्तर स्वरचित अति विशाल अथवा विपुल साहित्य में से बहुत से साहित्य का निर्माण किया होगा और इतने सुविशाल साहित्य की रचना करने में उन्हें दस अथवा ग्यारह वर्ष तो अवश्यमेव लगे होंगे।

इस सम्वन्ध में विचार के पश्चात् अभयदेव सूरि का स्वर्गारोहण काल वि. सं. ११३५ की बजाय वि. सं. ११३९ ही अनुमानित करना संगत प्रतीत होता है।

विक्रम की ११वीं-१२वीं शताब्दी के आगम मर्मज्ञ, वृत्तिकार, विपुल साहित्य के स्रष्टा आचार्य अभयदेव जैन जगत् में नवाङ्गी वृत्तिकार के रूप में विख्यात हैं। आगमों के गहन-गूढार्थ का सुगम सरल शैली में बोध करा देने वाली आपकी नवाङ्गी वृत्तियां विगत ९ शताब्दियों से आगमों के अध्येताओं को मार्ग-दर्शन करती आ रहीं हैं और भविष्य में भी सहस्राब्दियों तक मुक्ति पथ के पथिकों को दुरूह मुक्तिपथ के परम-प्रमुख पाथेय आगमिक ज्ञान के अर्जन में सहायता प्रदान करती रहेंगीं। इसी कारण आचार्य अभयदेवसूरि का प्रातः स्मरणीय पवित्र नाम जैन जगत् के इतिहास में सदा-सदा स्वर्णाक्षरों में लिखा जाता रहेगा।

यदि अभयदेवसूरि के, अथ से इति तक के जीवन वृत्त की गहराइयों में पैठने का प्रयास किया जाय तो सत्यान्वेशी शोधार्थियों को शोध के लिए नितान्त नूतन सामग्री उपलब्ध हो सकती है। इस बात में तो किसी का कोई मतभेद नहीं कि अभयदेवसूरि आगमों के तलस्पर्शी मर्मज्ञ विद्वान् थे। विश्व के प्राणिमात्र के हितेच्छु-सुखेप्सु-अनन्य बन्धु-सच्चे सखा-सही अर्थ में सच्चे माता-पिता त्रिकालदर्शी-वीतराग-सर्वज्ञ-सर्वहितंकर तीर्थंकर प्रभु-महावीर ने आगमों में बाह्याडम्बर-विहीन एवं नितान्त अध्यात्मपरक आत्मधर्म-विश्वधर्म-जैन धर्म का, साधु धर्म का, श्राद्ध धर्म का, किस प्रकार का स्वरूप संसार के समक्ष रखा है, इस तथ्य से आगममर्मज्ञ अभयदेवसूरि भली-भांति अवगत थे। उनसे यह भी छुपा नहीं रहा कि आगमों में प्रतिपादित श्रमणाचार एवं श्रावकाचार से उनके युग के श्रमणाचार एवं श्रावकाचार में वस्तुतः कैसा आकाश-पाताल तुल्य अन्तर आ चुका है। आगम-प्रतिपादित अध्यात्मपरक जैन धर्म के विशुद्ध मूल स्वरूप में पंचांगी के नाम पर तीर्थ प्रवर्तन-काल से ११–१२ ही नहीं १३ शताब्दियों के पश्चात् पूर्वज्ञानविहीन आचार्यों द्वारा निर्मित भाष्य आदि आगमेतर ग्रन्थों का पुट लगा कर उसकी तीर्थ-प्रवतन-काल से चली आ रही मूल विशुद्ध भाव परम्परा को देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण के अनन्तर द्रव्य परम्परा के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है, इस तथ्य से भी आचार्य अभयदेवसूरि सुनिश्चित रूपेण भली-भांति अवगत थे। इस

बात की अकाट्य परम प्रामाणिक साक्षी है, स्वय अभयदेवसूरि द्वारा रचित 'आगम अष्टोत्तरी' की वह गाथा, जिसका प्रथमार्द्ध है—"देवड्ढि खमासमण जा परम्परं भावओ वियाणेमि" जिस पर यथास्थान स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला जा चुका है। यह तथ्य भी अभयदेवसूरि से छुपा तो नहीं रह सका होगा कि उनके दादा गुरु वर्द्धमानसूरि ने क्रियोद्धार करते समय कोई आंशिक धर्मक्रान्ति नहीं अपितु सर्वांगपूर्ण समग्र धर्मक्रान्ति की थी। चालुक्यराज पाटणपति महाराज दुर्लभराज की राजसभा में अभयदेवसूरि के गुरु जिनेश्वरसूरि द्वारा कहे गये ये शब्द—"महाराज ! अस्माकं मतेऽपि यद्गणधरैश्चतुर्दशपूर्वधरैश्च यो दर्शितो मार्गः स एव प्रमाणीकर्तुं युज्यते नान्यः"[1]—इस ऐतिहासिक तथ्य के अमर साक्षी, इस बात के अकाट्य प्रबल प्रमाण हैं कि वर्द्धमानसूरि ने पूरी पंचाङ्गी—(आगम, निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य और वृत्ति) प्रमाणभूत न मानते हुए केवल आगमों को ही सर्वोपरि एवं परम प्रामाणिक मानकर पूर्ण क्रियोद्धार किया था। जिनेश्वरसूरि के उपर्युक्त कथन का दूसरे स्पष्ट शब्दों में यही अर्थ निकलता है कि निर्युक्तियां, चूर्णियां, भाष्य और वृत्तियां तथा चैत्यवासियों द्वारा रचित निगमोपनिषद् किसी गणधर अथवा चतुर्दशपूर्वधर द्वारा निर्मित नहीं हैं, अतः वे आगमों के अर्थ को समझने में सहायक तो हो सकती हैं किन्तु आगमों की भांति अक्षरशः किसी भी दशा में प्रामाणिक नहीं मानी जा सकतीं। उपरिलिखित कथन के माध्यम से जिनेश्वरसूरि ने अपने गुरु वर्द्धमानसूरि द्वारा किये गये सर्वांगपूर्ण क्रियोद्धार में आगमेतर किसी भी ग्रन्थ के नाम पर, चाहे वह निर्युक्ति, चूर्णि, वृत्ति अथवा भाष्य हो क्यों न हो, अनागमिक मान्यता के विपरीत किसी भी मान्यता, विधि-विधान, कर्म-काण्ड, अनुष्ठान आदि अथवा किसी भी प्रकार की विकृति के प्रवेश का कहीं कोई किंचित्मात्र भी अवकाश न रखकर पूर्ण क्रियोद्धार को अपूर्ण अथवा आंशिक क्रियोद्धार का रूप देने के सभी प्रकार के प्रयासों का सदा-सदा के लिए द्वार ही बन्द कर दिया था।

इस प्रकार की सुस्पष्ट स्थिति के उपरान्त भी सर्वाङ्गपूर्ण क्रियोद्धार के माध्यम से एक सशक्त एवं पूर्ण धर्मक्रांति का सूत्रपात कर शिथिलाचार तथा अनागमिक मान्यताओं की जननी चैत्यवासी परम्परा का सार्वभौम वर्चस्व, एकच्छत्र आधिपत्य समाप्त करने वाले महान् क्रियोद्धारक वर्द्धमानसूरि के उत्तराधिकारियों में एकमात्र आगमों के स्थान पर पूरी पंचांगी को प्रामाणिक मानने की प्रक्रिया कब प्रारम्भ हुई ? "सुहागिन स्त्रियाँ आगम निष्णात, वाग्मी, एवं आचार्य के सभी गुणों से सम्पन्न प्रतिष्ठाचार्य के शरीर पर तैल मर्दन, गन्ध विलेपन आदि करें। तदनन्तर प्रतिष्ठाचार्य को बहुमूल्य एवं अतीव सुन्दर वस्त्र पहनाये जायें। तत्पश्चात् प्रतिष्ठाचार्य को हाथ की एक अंगुली में स्वर्ण मुद्रिका और एक कर में स्वर्णकंकण

---

१. खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलि, पृष्ठ ३

धारण करवाया जाय। प्रतिष्ठा कराने वाले आचार्यप्रवर प्रतिष्ठाचार्य को इस प्रकार नितरां अतीव सुन्दर वस्त्र पहनाने और स्वर्णाभूषणों से विभूषित करने के पश्चात् प्रतिष्ठा कराने हेतु प्रतिष्ठाचार्य के आसन पर विराजित किया जाय"— इस प्रकार के आगम विरोधी एवं श्रमण जीवन का सर्वनाश करने वाले 'प्रतिष्ठा पद्धति' विधान, जो चैत्यवासी परम्परा के आचार्यों, पादलिप्तसूरि आदि ने चैत्यवासी परम्परा के वर्चस्वकाल में जैन संघ में प्रचलित किये थे, वे एकमात्र आगमों को ही सर्वोपरि तथा परम प्रामाणिक मानने एवं अपने आप में परिपूर्ण कही जाने वाली सर्वांगपूर्ण धर्मक्रांति का सूत्रपात करने वाले महान् क्रियोद्धारक आचार्य वर्द्धमानसूरि की परम्परा में तथा अपने आपकी सुविहित परम्परा के नाम से पहिचान करवाने वाली अन्यान्य सुविहित परम्पराओं में कब और कैसे प्रविष्ट हो गये? जिन सुविहित कही जाने वाली परम्पराओं ने शिथिलाचार, बाह्याडम्बर एवं आगम विरोधी मान्यताओं की जननी चैत्यवासी परम्परा के चंगुल से भगवान् महावीर के धर्म संघ को छुड़ाने के लिए दीर्घकाल तक अथक् प्रयास किये, उन्हीं सुविहित परम्पराओं ने अन्ततोगत्वा चैत्यवासी परम्परा के चरण-चिह्नों का अनुसरण कर उस द्रव्यपरम्परा-चैत्यवासी परम्परा द्वारा प्रचलित बाह्याडम्बरपूर्ण अनागमिक विधि-विधानों, शास्त्र विरुद्ध मान्यताओं को अपना कर कब, कैसे और क्यों आत्मसात् कर लिया?

प्रत्येक विज्ञ जिनशासन प्रेमी के हृदय को यदा-कदा ही नहीं अपितु सदा-सर्वदा प्रतिपल कचोटते रहने वाले इन प्रश्नों का सन्तोषप्रद समाधान अभयदेवसूरि के समय की परिस्थितियों के पर्यालोचन के साथ-साथ अभयदेवसूरि के जीवनवृत्त की कतिपय घटनाओं के अन्तःनिरीक्षण से सम्भव है कि नहीं, इस दिशा में विद्वानों को क्षीर-नीर विवेकपूर्ण वृत्ति से प्रयास करने की आवश्यकता है।

जैन वाङ्मय में उपलब्ध अनेकानेक उल्लेखों से परिपुष्ट यह तो एक ऐतिहासिक तथ्य है कि वर्द्धमानसूरि द्वारा किये गये क्रियोद्धार एवं धर्म क्रान्ति के सूत्रपात के परिणामस्वरूप शताब्दियों से सशक्त एवं सुदृढ़ होती चली आ रही चैत्यवासी परम्परा की आधारशिला अथवा आधार भित्ति विक्रम की ११वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में सहसा हिल उठी। अनहिलपत्तनाधीश दुर्लभराज की राज्यसभा में वि० सं० १०७९–८० में चैत्यवासी परम्परा के कर्णधारों के साथ आयोजित शास्त्रार्थ में "जैन कहलाने वाले प्रत्येक जैन धर्मावलम्बी के लिये एकमात्र आगम शास्त्र ही सर्वोपरि, सर्वमान्य एवं परम प्रामाणिक हैं"—इस सिंहनाद के साथ जिनेश्वरसूरि ने चैत्यवासियों को परास्त कर शिथिलाचार एवं अनागमिक आचार-विचार की धात्री चैत्यवासी परम्परा को एक प्रकार से झकझोर ही डाला। श्रमण भगवान् महावीर द्वारा उद्घाटित अथवा प्रदर्शित मुक्ति के मूल पथ से चैत्यवासियों द्वारा भटका दिये गये भव्य नर-नारी वृन्द विश्व कल्याणकारी जैन धर्म के विशुद्ध स्वरूप से अवगत आश्वस्त हो पुनः मुक्ति के मूल सत्पथ पर आरूढ़ होने लगे।

इस अप्रत्याशित पराजय के कारण परिवर्तित परिस्थितियों के परिणाम-स्वरूप चैत्यवासी परम्परा की प्रतिष्ठा को घातक तो नहीं पर गहरा आघात लगा। पीढ़ियों-प्रपीढ़ियों पुराने अपने ही अभेद्य गढ़ पाटन में पराजित होने के दुस्सह्य दुःख से प्रपीड़ित चैत्यवासी परम्परा ने प्रारम्भ में तो अभिनव रूप से लोकप्रियता प्राप्त करने वाली वसतिवासी परम्परा को अपनी चैत्यवासी परम्परा का अस्तित्व तक मिटानेवाली परम्परा मानकर उसके साथ विरोधात्मक व्यवहार ही किया होगा। किन्तु जब चैत्यवासी परम्परा के कर्णधार विद्वान्, प्रतिभाशाली एवं दूरदर्शी आचार्यों ने यह अनुभव किया होगा कि वसतिवासी परम्परा के आगमिक उपदेशों से प्रभावित हो जनमानस उसकी ओर आकर्षित हो उनकी चैत्यवासी परम्परा से उन्मुख होता चला जा रहा है, तो अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये सुनिश्चित रूप से अपने आचार-विचारों, कार्यकलापों एवं अपनी रीति-नीति में शनैः शनैः कुछ ऐसे परिवर्तन किये होंगे, जिनके कारण उनकी परम्परा से विमुख होता जा रहा जन-मानस पुनः उनकी ओर आकर्षित हो सके। अनुमान किया जाता है कि संभवतः अपने इस प्रकार के परिवर्तनकारी प्रयासों से प्राप्त हुई थोड़ी बहुत सफलता से प्रभावित हो चैत्यवासी परम्परा के प्रमुख आचार्यों ने समन्वयवाद का अवलम्बन ले वसतिवासी श्रमणों के साथ मेल-जोल बढ़ाने का रुख भी अपनाया होगा।

न केवल वसतिवासी परम्परा के साहित्य में अभयदेवसूरि के जीवन वृत्त सम्बन्धी उल्लेखों से ही अपितु स्वयं अभयदेवसूरि द्वारा अपनी कृतियों में किये गये उल्लेखों से भी इन उपरिलिखित अनुमानों की निस्संशय रूप से पुष्टि होती है कि महान् क्रियोद्धारक वर्द्धमानसूरि एवं चैत्यवासियों को चालुक्य राजसभा में परास्त करने वाले जिनेश्वरसूरि के स्वर्गस्थ हो जाने के पश्चात् अभयदेवसूरि के आचार्य-काल में चैत्यवासी परम्परा के कर्णधार आचार्य द्रोणसूरि के दूरदर्शिता पूर्ण निर्देशन में उस परम्परा के आचार्यों ने वसतिवासी परम्परा के प्रतिभाशाली आचार्य के समक्ष सुनिश्चित-रूपेण समन्वयपरक नीति का अवलम्बन ले मेल-जोल का हाथ बढ़ा उस मेल-जोल को सम्मानपूर्ण पारस्परिक सौहार्दभाव का रूप प्रदान किया। चैत्यवासी परम्परा के चौरासी गच्छों के आचार्यों के भी युगप्रानतुल्य आचार्य एवं पाटण के शक्तिशाली जैन संघ के सर्वोच्च अधिकारसम्पन्न प्रमुख अथवा अध्यक्ष पद से अलंकृत होने पर भी द्रोणाचार्य ने अपनी विरोधी परम्परा के आचार्य अभय-देवसूरि को अपनी ओर आते देखकर अभ्युत्थानपूर्वक अर्थात् खड़े होकर उन्हें अपनी परम्परा के आचार्यों के सुविशाल समूह के समक्ष जो अप्रत्याशित सम्मान दिया, वह इस बात का किसी भी युक्ति से अन्यथा सिद्ध न होने वाला बड़ा ही ठोस प्रमाण है कि चैत्यवासी परम्परा के कर्णधारों ने समन्वयवादी नीति का आश्रय ले वसतिवासी सुविहित परम्परा के आचार्य के साथ सम्मानास्पद सौहार्दपूर्ण मेल-जोल बढ़ाया। सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न परम पूज्य पद पर अधिष्ठित अपने आचार्य देव द्वारा वस्तुतः अपनी चैत्यवासी परम्परा की जड़ों को भीषण अन्धड़ की भाँति आमूल चूल

झकझोर कर खोखली कर देने वाली, उनके केन्द्रीय सुदृढ़ गढ़ में नवोदित वसतिवासी परम्परा के आचार्य अभयदेवसूरि के प्रति इतना बड़ा सम्मान प्रकट करना, वहाँ उस समय आगमवाचनार्थ उपस्थित लगभग ८४ चैत्यवासी आचार्यों के रोम-रोम में विषबुझी सहस्रों सहस्र शूलों की भांति चुभा। मर्माहत अवस्था में रूष्ट हो बिना कुछ बोले वे सब के सब सहसा उठकर मुख्य मठ से निकल अपने-अपने मठों की ओर चल पड़े। उन्होंने परस्पर मन्त्रणा की—हमारे सब से बड़े आचार्य शिशु तुल्या नगण्य प्रतिपक्षी परम्परा के समक्ष इस प्रकार झुकने लगे तो हमारी और इस देश-व्यापिनी चैत्यवासी परम्परा की क्या दुर्दशा होगी ?

जसा कि पहले बताया जा चुका है और अभी खरतरगच्छीया वृहद् गुर्वावली के मूल उद्धरण के साथ बताया जा रहा है, पाटण संघाध्यक्ष एवं चैत्यवासी परम्परा के प्रमुख आचार्य द्रोणसूरि ने तत्काल एक श्लोक की रचना कर चौरासी चैत्यवासी आचार्यों के पास उस श्लोक की प्रतियाँ भेजीं, जिसके माध्यम से शताधिक गुणों के निधान अभयदेवसूरि के किसी एक भी गुण की तुलना करने वाले आचार्य को सम्मुख होने के लिये ललकारा था। उस एक ही श्लोक में की गई अभयदेव-सूरि की प्रशंसा से अभिभूत सभी चैत्यवासी आचार्य द्रोणाचार्य के प्रमुख मठ में लौट आये और पूर्ववत् उनसे आगम वाचना लेने लगे।

खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली का वह मूल पाठ विज्ञ शोधकों एवं पाठकों की सुविधा के लिये यहां प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसे इस सन्दर्भ में पढ़ते ही, तत्काल उन्हें सहज ही इस अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य पर निस्संदिग्ध रूप से विश्वास हो जायगा कि चैत्यवासी परम्परा के सर्वाधिक प्रभावशाली आचार्य द्रोणसूरि ने और उन द्रोणसूरि के परामर्श पर चैत्यवासी परम्परा के सभी आचार्यों ने सामूहिक रूप से सुविहित परम्परा के आगम-मर्मज्ञ विद्वान आचार्य श्री अभयदेवसूरि के साथ सौहार्दपूर्ण-सम्मानास्पद मेल-जोल बढ़ा कर समन्वयात्मक नीति का अवलम्बन किया :—

"११. तस्मिन् प्रस्तावे देवगृहनिवास्याचार्यमुख्यो द्रोणाचार्योऽस्ति। तेनापि सिद्धान्तो व्याख्यातुं समारब्धः। सर्वेऽप्याचार्याः कपलिकां गृहीत्वा श्रोतुं समागच्छन्ति। तथा अभयदेवसूरिरपि गच्छति। स चाचार्य **आत्मसमीपे निषद्यां दापयति**। यत्र-यत्र व्याख्यानं कुर्वतस्तस्य सन्देह उत्पद्यते, तदा नीचैः स्वरेण तथा कथयति यथान्ये न शृण्वन्ति। अन्यस्मिन् दिने यद् व्याख्यायते सिद्धान्तस्थानं तद्वृत्तिरानीता। एतां चिन्तयित्वा व्याख्यानयन्तु भवन्तः। यस्तां पश्यति सार्थकां, तस्याश्चर्यं भवति, विशेषेण व्याख्यातुराचार्यस्य। स चिन्तयति—किं साक्षाद्गणधरैः कृताऽथवाऽनेनाऽपि, तस्मिन्विषयेऽतीवादरो मनसि विहितः। द्वितीय दिने सम्मुखमुत्थातुं प्रवृत्तः। ततस्तादृशं सुविहिताचार्यविषयमादरं दृष्ट्वा, रुष्टा व्युत्थिताः सन्तः वसतौ गता भणन्ति देवगृहनिवास्याचार्याः—'केन गुणेनैषोऽधिकः

येनाऽस्माकं मुख्योऽप्येवंविधमादरं दर्शयति, पश्चात् के वयं भविष्यामः ?' द्रोणाचार्योऽपि वृद्धतरः सदर्थो विशेषज्ञो गुणपक्षपाती सन् नूतनं वृत्तं कृत्वा सर्वेषु देवगृहनिवास्याचार्यमठेषु प्रेषितम्—

आचार्याः प्रतिसद्म सन्ति महिमा येषामपि प्राकृतै-
र्मातुं नाऽध्यवसीयते सुचरितैस्तेषां पवित्रं जगत् ।
एकेनाऽपि गुणेन किन्तु जगति प्राज्ञाधनाः साम्प्रतं,
यो धत्तेऽभयदेवसूरि समतां सोऽस्माकमावेद्यताम् ।।१०।।

तत उपशान्ताः सर्वे । द्रोणाचार्येणाभाणि श्रीमदभयदेव सूरीणामग्रे—"या वृत्तीः सिद्धान्ते करिष्यसि ताः सर्वा मया शोधनीया लेखनीयाश्च ।"[1]

खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली के उल्लेख से इस ऐतिहासिक तथ्य में कहीं किञ्चित्मात्र भी सन्देह के लिये अवकाश नहीं रह जाता कि चैत्यवासी परम्परा के युग प्रधानाचार्य तुल्य सर्वमान्य प्रमुख आचार्यप्रवर द्रोणसूरि ने और उनके अधीनस्थ चैत्यवासी परम्परा के सभी ८४ गच्छों के आचार्यों ने सुविहिताचार्य अभयदेवसूरि के साथ समन्वयकारी रीति-नीति का अवलम्बन ले सौहार्दपूर्ण मेल-जोल का हाथ बढ़ाया ।

इस ऐतिहासिक तथ्य की निर्विवादरूप से वास्तविकता सिद्ध हो जाने के साथ-साथ वृहद् गुर्वावली का उपर्युक्त गद्यांश इस बात की ओर भी संकेत करता है कि दोनों परम्पराओं में कतिपय मान्यताओं एवं कतिपय समन्वयकारिणी रीति-नीतियों पर भी "कुछ हम झुकते हैं, थोड़ा तुम भी झुको—क्योंकि अब सहनौ वीर्यं करवावहै का युग आ गया है, 'संघे शक्ति कलौयुगे' का समय आ गया है, हठाग्रह दोनों पक्षों के लिये समान रूप से ही अहितकर होगा" अनुमानतः कुछ इस प्रकार के पारस्परिक विचार-विमर्श के पश्चात् कतिपय रीति-नीतियों के सम्बन्ध में मतैक्य पर पहुंचने का प्रयास भी हुआ था । दोनों पक्षों के एतद्विषयक विचार-विमर्श में किन-किन रीति-नीतियों पर दोनों परम्पराओं का मतैक्य हुआ, इस सम्बन्ध में प्रमाणाभाव के कारण सुनिश्चित रूप से अभी कुछ नहीं कहा जा सकता किन्तु वृहद् गुर्वावली के उपरिलिखित उद्धरण और नवाङ्गी वृत्तिकार स्वयं अभयदेवसूरि द्वारा स्थानांग वृत्ति[2], ज्ञाताधर्मकथांगवृत्ति और औपपातिक वृत्ति की प्रशस्तियों में किये गये उल्लेखों से निर्विवाद रूपेण अन्तिम रूप से यह सिद्ध हो जाता है कि नवाङ्गी वृत्तियों को चैत्यवासी और सुविहित दोनों ही परम्पराओं में साधकों के

---

१. खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली, पृष्ठ ७, आचार्य श्री जिन विजय मुनि द्वारा सम्पादित एवं 'सिंही जैन शास्त्र शिक्षापीठ भारतीय विद्या भवन, बम्बई द्वारा प्रकाशित ।

२. द्रोणाचार्यादिभिः प्राज्ञैरनेकैरादृतं यतः ।।६।। स्थानांग वृत्ति प्रशस्ति ।

लिये समान रूप से ग्राह्य-उपभोग्य बनाने के लक्ष्य से अभयदेवसूरीया नवाङ्गी वृत्तियों को चैत्यवासी परम्परा के प्रमुख आचार्य श्री द्रोणसूरि द्वारा संशोधित करवाने और परस्पर सहयोग करते रहने की रीति-नीति पर दोनों पक्षों में मतैक्यपूर्ण निश्चय हुआ अथवा सम्मानास्पद समझौता हुआ था।

खरतर गच्छ वृहद् गुर्वावलीकार के शब्दों में चैत्यवासी परम्परा के मुख्य आचार्य द्रोणसूरि द्वारा अभयदेवसूरि के समक्ष इस प्रस्ताव का रखा जाना कि उनके द्वारा जितनी वृत्तियों का निर्माण किया जायगा, उन सव अङ्गवृत्तियों का संशोधन और आलेखन तक वे (द्रोणाचार्य) स्वयं करेंगे। और तदनन्तर उपरिलिखित तीन-स्थानांग, ज्ञाताधर्मकथाङ्ग तथा औपपातिक की वृत्तियों की प्रशस्तियों में स्वयं अभयदेवसूरि द्वारा इस प्रकार के स्पष्ट उल्लेख का किया जाना कि पाण्डित्य गुण से समन्वित, गुण के समान प्रिय, निर्वृ त कुल रूपी गगनमण्डल के पूर्णचन्द्र द्रोण नामक प्रमुख आचार्य ने इस वृत्ति का संशोधन किया—ये दोनों ओर से एक दूसरे की बात की पुष्टि करने वाले प्रमाण इस ऐतिहासिक तथ्य के प्रबल समर्थक हैं कि दोनों परम्पराओं में विक्रम की १२वीं शताब्दी के प्रथम दशक में पारस्परिक सहयोग, मेल-मिलाप अथवा मेल-जोल का समझौता हुआ। उक्त समझौते का दोनों पक्षों की ओर से भली-भांति पालन किया गया। दोनों परम्पराओं के बीच हुए इस प्रकार के समझौते का पालन अभयदेवसूरि के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् भी एक दो दशक तक चलता रहा।

अब सहज ही किसी भी विज्ञ के मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि उत्तरोत्तर लोकप्रिय होती जा रही वसतिवासी परम्परा के आचार्य अभयदेवसूरि को चैत्यवासी परम्परा के प्रमुख आचार्य से पारस्परिक मेल-जोल वढ़ाने की, पारस्परिक सहयोग के आदान-प्रदान की, समन्वयात्मक नीति का अवलम्वन ले किसी भी रीति-नीति के विषय में समझौता करने की आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई। इस सम्वन्ध में तात्कालिक परिस्थितियों के विषय में जो उल्लेख जैन वाङ्मय में उपलव्ध होते, हैं उनके पर्यवेक्षण से प्रत्येक विज्ञ विचारक को स्वस्थरूपेण परिलक्षित हो जायेगा कि अभयदेवसूरि के समय तक ही नहीं अपितु उनके स्वर्गारोहण के लगभग वीस वर्ष पश्चात् तक चैत्यवासी परम्परा का पाटण में ही नहीं अपितु पूरे गुर्जर प्रदेश में वड़ा ही शक्तिशाली संगठन रहा। राज्याधिकारी श्रेष्ठि वर्ग और अन्यान्य वर्गों के वहुसंख्यक लोग विक्रम संवत् ११५९ में एक व्यापक

---

१. निर्वृ तककुलनभस्तलचन्द्र द्रोणाख्यसूरिमुख्येन।
पण्डितगुणन गुणवत्प्रियेण संशोधिता चेयम् ॥१०॥ ज्ञाता धर्मकथांग वृत्ति प्रशस्ति।

२. अणहिल पाटक नगरे, श्रीमद् द्रोणाख्यसूरिमुख्येन।
पण्डितगुणेन गुणवत्प्रियेण संशोधिता चेयम् ॥३॥ औपपातिक वृत्ति प्रशस्ति

क्रियोद्धार करने वाले पूर्णिमागच्छ-संस्थापक आचार्य चन्द्रप्रभसूरि के समय तक पाटण का सम्पूर्ण जैन संघ चैत्यवासी परम्परा के ही प्रभुत्व में रहा था।

इस प्रकार की परिस्थिति में एक शक्तिशाली प्रतिपक्षी परम्परा के साथ संघर्षात्मक स्थिति को टाल कर समन्वयात्मक रीति-नीति को अपनाना ही श्रेयस्कर था। विशेष कर उस स्थिति में जबकि चैत्यवासी परम्परा के कर्णधारों ने नवांगी-वृत्तिकार अभयदेवसूरि के समक्ष मेल-जोल का हाथ बढ़ाया हो। नवांगीवृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि के जीवन-वृत्त की घटनाओं के सूक्ष्म अन्तर्निरीक्षण से भी यही प्रकट होता है कि उन्होंने जीवन भर सृजनात्मक कार्य में ही अपनी अद्भुत् प्रतिभा का उपयोग किया, संघर्षात्मक अथवा विघटनकारी प्रवृतियों में नहीं।

अभयदेवसूरि के स्वर्गस्थ हो जाने के पश्चात् उनके शिष्य जिन वल्लभसूरि वस्तुतः चैत्यवासी परम्परा के आचार्यों एवं अनुयायियों के साथ इस प्रकार का मधुर सम्बन्ध नहीं निभा सके। उन्होंने संघपट्टक नामक लघु ग्रन्थ की रचना कर चैत्य-वासियों का डटकर न केवल विरोध ही अपितु उग्र रूप से खण्डन किया। जिनवल्लभसूरि के इस प्रकार के संघर्षात्मक व्यवहार के कारण ही उन्हें पाटन के शक्तिशाली जैन संघ में चैत्यवासियों का प्रबल प्रभुत्व देखते हुए पाटन छोड़ कर चित्तौड़ की ओर विहार करने के लिये बाध्य होना पड़ा। अभयदेवसूरि के स्वर्गारोहण के उत्तरवर्ती काल की इन घटनाओं पर विचार करने से यह स्पष्टतः प्रकट हो जाता है कि विक्रम की बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रथम दशक तक चैत्यवासियों का प्रबल बहुमत और प्रभुत्व था।

इस प्रकार की अपने प्रतिपक्षी की सशक्त स्थिति को देखते हुए आचार्य अभयदेवसूरि ने अपनी सुविहित परम्परा के हित को दृष्टि में रखते हुए चैत्यवासी परम्परा के साथ सौहार्दपूर्ण मेल-जोल एवं एक दूसरे के सहयोग का आदान-प्रदानात्मक जो समझौता किया, वह तत्कालीन परिस्थितियों में समुचित ही कहा जा सकता है।

विक्रम सं० १०७९–८० में पाटन पति चालुक्य नरेश दुर्लभ राज की राज्य सभा में चैत्यवासी परम्परा की करारी हार के उपरान्त भी विक्रम सं० ११५९ तक पाटन के जैन संघ पर अधिकार तो वस्तुतः चैत्यवासी परम्परा का ही रहा था। पाटण जैन संघ के छिन्न-भिन्न होने के काल के सम्बन्ध में लब्ध प्रतिष्ठ इतिहासज्ञ पं० श्री कल्याणविजयजी ने निम्नलिखित रूप में प्रकाश डाला है :—

"आचार्य चन्द्रप्रभ ने प्राथमिक रूप में साधु द्वारा जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा करने का विरोध किया और धीरे-धीरे उनके अनुयायियों ने पूर्णिमा का पाक्षिक प्रतिक्रमण और भाद्रपद शुक्ल पंचमी को सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करना प्रारम्भ किया। महानिषीथ सूत्र के आधार पर पहले जो उपधान करवाया जाता था, उस

प्रवृत्ति का भी त्याग किया। आय रक्षित सूरि, जो अंचलगच्छ के प्रवर्तक माने जाते हैं; उन्होंने तो चन्द्रप्रभ से भी दो कदम आगे रखे, प्रचलित धार्मिक क्रिया-काण्ड जो किसी न किसी सूत्र अथवा उसकी पञ्चाङ्गी का आधार रखता था, उसे छोड़कर शेष सभी परम्परागत प्रवृत्तियों का त्याग कर दिया, ...इस विरोध तथा नये गच्छों की उत्पत्ति का परिणाम यह हुआ कि **पाटण का संघ-बंधारण जो सैकड़ों वर्षों से अक्षुण्ण चला आ रहा था, छिन्न-भिन्न हो गया।**"[1]

इससे भी स्पष्टतः यही परिलक्षित होता है कि अभयदेवसूरि के समय तक भी पाटण का चैत्यवासी संघ अपनी पराजय के उपरान्त भी पर्याप्त रूपेण सशक्त और सुदृढ़ था। पाटण के जैन संघ में उसका अपनी पराजय से पूर्व की भांति शत-प्रतिशत तो बहुमत नहीं परन्तु पाटण के जैन संघ को येन केन प्रकारेण अपने प्रभुत्व में रखने योग्य बहुमत पूर्णिमागच्छ के संस्थापक चन्द्रप्रभसूरि के क्रियोद्धार काल तक बना रहा।

चैत्यवासी परम्परा की इस प्रकार की सुदृढ़ एवं सशक्त स्थिति को देखते हुए चत्यवासियों की पहल पर अभयदेवसूरि ने पारस्परिक सौहार्द, सहयोग एवं समझौते के लिए हाथ बढ़ाया। बहुत सम्भव है, इसी प्रकार की समन्वयात्मक रीति-नीति का दोनों पक्षों द्वारा अवलम्बन लिये जाने के समय में वे सभी अनागमिक विधि-विधान, मान्यताएँ, आडम्बरपूर्ण आयोजन आदि-आदि कार्य कलाप वर्द्धमान सूरि की एकमात्र आगम को ही सर्वोच्च एवं परम प्रामाणिक मानने वाली परम्परा में और उसके साथ-साथ शनैः शनैः सुविहित नाम से पहिचानी जाने वाली अन्य परम्पराओं, अन्य गच्छों, आम्नायों, सम्प्रदायों आदि में भी प्रविष्ट हो कालान्तर में रूढ़ हो गये हों।

इन सब तथ्यों को लक्ष्य में रखकर नवांगीवृत्तिकार अभयदेवसूरि के जीवन की घटनाओं के आधार पर यदि आगे की शोध की जाय तो जैन संघ में प्रविष्ट हुई आगम विरुद्ध मान्यताओं के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है। हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि इतिहास के विद्वान् शोधार्थी इस दिशा में सूक्ष्म शोधपरक दृष्टि से खोज करने का प्रयास करेंगे।

---

१. पट्टावली पराग संग्रह, पं० कल्याण विजयगणि, पृष्ठ ३५१।

द्रोणाचार्य
(चैत्यवासी परम्परा)

वीर निर्वाण की सोलहवीं-सत्रहवीं, तदनुसार विक्रम की ११वीं १२वीं और ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के जैनाचार्यों में चैत्यवासी परम्परा के युगप्रधान तुल्य आचार्य श्री द्रोणाचार्य का जीवनवृत्त वस्तुतः तत्कालीन जैन इतिहास की दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। जैन वाङ्मय में इन्हें द्रोणसूरि एवं आचार्य द्रोण की संज्ञा से भी अभिहित किया गया है। आचार्य द्रोण नवाङ्गी वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि के समकालीन और अभयदेवसूरि से संभवतः वयोवृद्ध थे। तथापि आचार्य द्रोण सदा अभयदेवसूरि को इस प्रकार अत्यधिक सम्मान देते थे, जिस प्रकार कि अपने से बड़ों को दिया जाता है। इससे उनके वैयक्तिक जीवन की एक बहुत बड़ी विशेषता प्रकट होती है कि वे बड़े ही गुणज्ञ एवं गुणों की पूजा करने वाले थे।

चैत्यवासी परम्परा का अस्तित्व, विक्रम की १७वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही आर्यधरा से तिरोहित हो चुका था।[1] इसी कारण आज न तो चैत्यवासी परम्परा से सम्बन्धित कोई खास साहित्य ही उपलब्ध है और न उस परम्परा की क्रमबद्ध पट्टपरम्परा अथवा उस परम्परा के प्रतापी आचार्यों का प्रामाणिक जीवनवृत्त ही।

इसमें तो किसी का मतभेद नहीं कि चैत्यवासी परम्परा ने आदर्श त्याग-तप-संयमपूर्ण निष्परिग्रही, (निरासक्त-निस्संग) श्रमण जीवन में शिथिलाचार के बीजारोपण के साथ २मूलतः नितान्त अध्यात्मपरक निर्ग्रन्थ जैन धर्म के स्वरूप में अनेक प्रकार की विकृतियों, विधि विधानों एवं अनागमिक मान्यताओं को प्रविष्ट करा कर तीर्थ प्रवर्तनकाल से वीर निर्वाण सं. १००० तक अबाध रूप से चली आ रही जैन धर्म की भाव परम्परा को बाह्याडम्बर बहुल द्रव्य परम्परा के रूप में परिवर्तित कर दिया। इतना सब कुछ होते हुए भी विक्रम की १२वीं शती के कतिपय विद्वानों ने केवल खण्डनात्मक नीति को प्रश्रय दे समष्टि रूप से सम्पूर्ण चैत्यवासी परम्परा का अपनी कृतियों में जिस प्रकार का चित्र प्रस्तुत किया है,

---

१. वि० सं० १६६० में कड़वा मत के पट्टधर शाह श्री रत्नपाल सघ के साथ सिरोही आये। "वहाँ चैत्यवासी के साथ चर्चा शाह श्री रत्नपाल तथा संघ के आदेश से शाह जिनदास ने की।"

—कडवा मत पट्टावली, ६ तेजपाल के पट्टधर शाह श्री रत्नपाल का चरित्र—

इससे सिद्ध होता है कि चैत्यवासी परम्परा का अस्तित्व, वि० सं० १६६० तक रहा।

—सम्पादक

वस्तुतः शत-प्रतिशत वस्तुस्थिति उस प्रकार की नहीं थी। यह तथ्य द्रोणाचार्य के जीवनवृत्त से प्रकाश में आता है।

यह पहले बताया जा चुका है कि जिस प्रकार लुप्त चैत्यवासी परम्परा के आचार्यों का इतिवृत्त आज जैन वाङ्मय में उपलब्ध नहीं, ठीक उसी प्रकार द्रोणाचार्य का जीवनवृत्त भी उपलब्ध नहीं है। उनके जीवन से सम्बन्धित जो दो चार स्फुट तथ्य खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली और अभयदेवसूरि द्वारा रचित तीन अंगवृत्तियों की प्रशस्तियों में उपलब्ध होते हैं, उनसे न केवल द्रोणाचार्य की संघ-संचालन कुशलता, प्रकाण्ड पाण्डित्य और आगममर्मज्ञता का ही पता चलता है, अपितु चैत्यवासी परम्परा के सुविशाल संघ की ठोस व्यवस्था-प्रणाली का भी पता चलता है।

जिस समय अभयदेवसूरि के गुरु जिनेश्वर सूरि का पाटणाधीश महाराजा दुर्लभसेन (दुर्लभराज) की विद्यमानता में चैत्यवासी परम्परा के आचार्यों के साथ शास्त्रार्थ हुआ, उस समय चैत्यवासी परम्परा का संघ अतीव सुदृढ़, विशाल एवं बड़ा ही शक्तिशाली था। यह तथ्य खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली के निम्नलिखित उल्लेख से प्रकाश में आता है :—

"ततश्चिन्तिते दिने तस्मिन्नेव देवगृहे सूराचार्य प्रभृति चतुरशीतिराचार्याः स्वविभूत्यनुसारेणोपविष्टाः। .... तेऽप्याचार्याः पूजितास्ताम्बूल-दानेन राज्ञा।"[1] इस उल्लेख से निर्विवाद रूपेण यह सिद्ध होता है कि विक्रम सं. १०८० तक चैत्यवासी परम्परा का संघ अति विशाल और बड़ा ही शक्तिशाली था। उसमें प्रायः चौरासी गच्छ और चौरासी आचार्य थे। उन चौरासी गच्छों के चौरासी आचार्यों में सूराचार्य सर्वोपरि प्रमुख अथवा प्रधान आचार्य माने जाते थे। चौरासी गच्छों में से प्रत्येक गच्छ की व्यवस्था का संचालन उस गच्छ का आचार्य करता था और उन चौरासी आचार्यों में से जिसे संघ द्वारा प्रधानाचार्य पद पर अधिष्ठित कर दिया जाता था, उसकी आज्ञा को सभी शेष आचार्य शिरोधार्य कर सम्पूर्ण संघ के हित के कार्यों को सम्पन्न करने में निरत रहते थे। जिनशासन के प्रचार-प्रसार के लिये प्रत्येक गच्छ की गतिविधियों को समीचीन रूप से संचालित करते रहने का उत्तरदायित्व ८४ गच्छों के प्रत्येक गच्छ के आचार्य पर और सब संघों को एकसूत्र में बांधे रखकर सभी गच्छों के लिये एक ही प्रकार की नीति निर्धारित कर सभी आचार्यों से उस विशिष्ट नीति का सभी गच्छों द्वारा परिपालन करवाने के लिये सभी आचार्यों को निर्देश देने का कार्य प्रधान आचार्य के अधीन था। किसी भी गच्छ की कार्यप्रणाली में गुणदोष देखने तथा उसके दोषनिवारण अथवा गुण अभिवर्द्धन हेतु सम्बन्धित आचार्य को समुचित निर्देश देने का कार्य प्रधानाचार्य के

---

१. खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली, पृष्ठ ३

अधिकारों में समाहित था। "ततः आशीदुर्गे श्रीमत्कूर्चपुरीय देवगृहनिवासि-जिनेश्वरसूरिरासीत् । तत्र ये श्रावकपुत्रास्ते सर्वेऽपि तस्य मठे पठन्ति ।"[१] इस उल्लेख से चैत्यवासी परम्परा की २ बड़ी विशेषताएं प्रकाश में आती हैं। पहली तो यह कि चैत्यवासी परम्परा की, उसके गच्छों की पाटण से सुदूरस्थ प्रदेश कूर्चपुर (संभवतः साम्प्रतकालीन कुचेरा) में शाखा और आशीदुर्ग उपखण्ड में उपशाखा की भांति देश के विभिन्न भागों में शाखाओं एवं उपशाखाओं का जाल बिछा हुआ था। दूसरी विशेषता यह कि प्रत्येक प्रदेश के प्रत्येक खण्ड की शाखा में और उपखण्डों की उपशाखाओं में स्थानीय एवं अड़ोस-पड़ोस के क्षेत्रों को समुचित शिक्षण देने की व्यवस्था थी। सभी खण्डों एवं उपखण्डों के मठों में पौगण्ड पौध को चैत्यवासी परम्परा के संस्कारों में ढालने के साथ साथ व्याकरण, काव्य, न्याय आदि विषयों और आगमों का उच्च प्रशिक्षण देकर भावी-पीढ़ियों के नेतृत्व के लिये चैत्यवासी पम्रपरा के भावी कर्णधारों को तैयार किया जाता था।

"तेनापि सिद्धान्तो व्याख्यातुं समारब्धः। सर्वेऽप्याचार्याः कपलिकां हीत्वा श्रोतुं समागच्छन्ति।"[२] इस उल्लेख से यह तथ्य भली-भांति प्रकाश में आता है कि चैत्यवासी परम्परा के प्रधानाचार्य आगमों के तलस्पर्शी ज्ञाता थे और वे अपने अधीनस्थ अथवा आज्ञानुवर्ती सभी आचार्यों को आगमों का अध्ययन नियमित रूप से करवाते थे। इस उल्लेख से चैत्यवासी परम्परा में शास्त्रज्ञान के प्रति अभिरुचि एवं जागरूकता का आभास होने के साथ ही अनुमान किया जा सकता है कि देश के विभिन्न भागों में अवस्थित सभी मठों में चैत्यवासी परम्परा के अनुयायियों की सन्तति को समुचित शिक्षण देकर इस परम्परा के भावी कर्णधार, सद्गृहस्थ, समाजसेवी, योग्य कार्यकर्त्ताओं के निर्माण की और श्रमण-श्रमणी वर्ग को आगमों का अध्ययन करवाने की व्यवस्था थी।

इसी प्रकार "अभोहरदेशे जिनचन्द्राचार्य देवगृह-निवासिनश्चतुरशीतिस्था-वलकनायका आसन्।"[३] एवम् "मालव देशे उज्जैणी नयरीए कच्चोलायरिओ चेइयवासी परिवसई।"[४] तथा "............नीसरिऊण अणहिलपुरपट्टणे गओ। तत्थ चुलसीइ पोसहसाला, चुलसीइ गच्छवासिणो भट्टारगा वसंति।"[५] इन उल्लेखों से यह भली-भांति सिद्ध हो जाता है कि चैत्यवासी परम्परा वस्तुतः विक्रम की बारहवीं शताब्दी में न केवल गुर्जर प्रदेश की ही अपितु देश के विभिन्न भागों की बहुजन-सम्मत एक बड़ी ही शक्तिशाली परम्परा थी। यद्यपि इस परम्परा में चौरासी

---

१. खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावली, पृष्ठ ७
२. वही — पृष्ठ ७
३. खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली पृष्ठ १
४. श्री वृद्धाचार्य प्रबंधावलिः जिनवल्लभसूरि प्रबंधः खरतरगच्छ बृहद् पट्टावली—पृष्ठ ९०
५. वही — पृष्ठ ९०

गच्छ थे और उन सभी गच्छों के पृथक्-पृथक् चौरासी आचार्य थे तथापि विक्रम की १२वीं शताब्दी में वे सभी गच्छ एक सूत्र में बंधे हुए थे। द्रोणाचार्य उन सब आचार्यों में प्रधानाचार्य थे। उनका आदेश न केवल प्रत्येक गच्छ के आचार्य के लिये ही अपितु चैत्यवासी परम्परा के प्रत्येक सदस्य के लिये अनिवार्य रूपेण शिरोधार्य होता था।

इन सब तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर यही अनुमान किया जाता है कि द्रोणाचार्य विक्रम की ११वीं–१२वीं शताब्दी के चैत्यवासी परम्परा के एक सर्वशक्ति-सम्पन्न महान् आचार्य थे। किन्तु बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आचार्य द्रोण गृहस्थावस्था में किस प्रदेश के किस ग्राम अथवा नगर के रहने वाले, किस जाति के थे, उनके माता-पिता का नाम क्या था, कब वे श्रमण धर्म में दीक्षित हुए, उनके गुरु का नाम क्या था, उन्हें कब आचार्य पद पर अधिष्ठित किया गया, कितने वर्षों तक वे आचार्य पद पर रहे तथा उनका स्वर्गवास कब हुआ, इन सब बातों के सम्बन्ध में जैन साहित्य में कहीं कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता।

खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली में इनके सम्बन्ध में जो प्रासंगिक उल्लेख प्राप्त होता है उससे इनके जीवनवृत्त के संबंध में केवल इतना ही परिचय प्राप्त होता है कि वे चैत्यवासी परम्परा के प्रमुख आचार्य और आगमज्ञान के मर्मज्ञ थे। वे अपने अधीनस्थ आचार्यों के विशाल समूह को आगमों की वाचना भी देते थे। नवाङ्गी-वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि जिस समय नौ अंगों पर वृत्तियाँ निर्मित करने के दृढ़ संकल्प के साथ पट्टण नगर की करड़ि-हट्टी बस्ती में आये और वहां उन्होंने वृत्तियों का निर्माण प्रारम्भ किया, उस समय जब उन्हें ज्ञात हुआ कि चैत्यवासी परम्परा के द्रोणाचार्य अपने अधीनस्थ आचार्यों को आगमों की वाचना प्रदान कर रहे हैं तो अभयदेवसूरि भी उनके पास आगमों की वाचना सुनने के लिये जाने लगे। द्रोणाचार्य ने उन्हें सम्मानपूर्वक अपने आसन के समीप आसन दिया। अभयदेवसूरि ने वाचना सुनते समय जब यह देखा कि द्रोणाचार्य संदेहास्पद स्थलों पर अतिमन्द स्वर में बोलते हैं और इस प्रकार उस पर किसी प्रकार की व्याख्या किये बिना ही आगे बढ़ जाते हैं, तो दूसरे दिन अपने साथ उस अंग शास्त्र की वृत्ति के उन अंशों को द्रोण के पास लेकर आये जिन पर आचार्य द्रोण को उस दिन वाचना देनी थी। वृत्ति के उन अंशों को आचार्य द्रोण के समक्ष उपस्थित करते हुए अति विनम्र शब्दों में निवेदन किया :—"अंग सूत्रों पर व्याख्यान से पूर्व आप इन पत्रों को पढ़ लीजिये। इनमें उन सूत्रों पर विवरण लिखा हुआ है। इससे आपको व्याख्यान में सहायता मिलेगी।" अंगवृत्ति के इन पत्रों को वहाँ उपस्थित चैत्यवासी आचार्यों ने देखा और पढ़ा भी। वे सब आश्चर्याभिभूत हो उठे। द्रोणाचार्य ने भी उन वृत्तिपत्रों को पढ़ा। आगम के गूढ़ार्थ को इतनी सहज सुबोधगम्य भाषा में वर्णित देखकर द्रोणाचार्य के आश्चर्य का पारावार नहीं रहा। वे अभयदेवसूरि से

बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने अभयदेवसूरि को दूसरे दिन अभ्युत्थान पूर्वक बड़ा ही सम्मान दिया और उन्होंने अभयदेवसूरि से कहा—"आप जितनी भी वृत्तियों का निर्माण करेंगे उन सब वृत्तियों का मैं संशोधन करूँगा।"

खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली के उपरिवर्णित उल्लेख के अन्तिम अंश की पुष्टि स्वयं आचार्य अभयदेवसूरि ने स्थानाङ्गवृत्ति, ज्ञाताधर्म कथाङ्गवृत्ति और औपपातिक सूत्रवृत्ति की प्रशस्तियों में की है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि निर्वृत्ति कुल के प्रमुख आचार्य द्रोणसूरि ने मेरी इन वृत्तियों का संशोधन किया। नवाङ्गी वृत्तिकार द्वारा किये गये इस प्रकार के उल्लेख से खरतरगच्छ की गुर्वावली के उपरिलिखित विवरण की भी पुष्टि होती है। किसी प्रकार की शंका को अवकाश नहीं रह जाता।

द्रोणाचार्य जैसे अपने समय के एक आगमज्ञ आचार्य के केवल उपरिवर्णित परिचय से किसी भी शोधप्रिय विज्ञ को संतोष नहीं हो सकता। इसी बात को ध्यान में रखते हुए इनके विशेष परिचय को खोज निकालने के प्रयास में आचार्य प्रभाचन्द्रसूरि द्वारा रचित प्रभावक चरित्र में द्रोणाचार्य के सम्बन्ध में एक उल्लेख दृष्टिगोचर हुआ, जिसमें यह बताया गया है कि अणहिल्लपुरपट्टण में गुर्जरेश्वर भीम नामक राजा था। उसके राजगुरु का नाम द्रोणाचार्य था। उन आचार्य द्रोण का जन्म क्षत्रिय कुल में हुआ और वे राजा भीम के मामा (मातुल) थे। द्रोणाचार्य ने बाल्यावस्था में ही श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण करली और वे आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित हुए।

प्रभावक चरित्र में उपलब्ध इस उल्लेख से यह अनुमान किया जाता है कि चैत्यवासी परम्परा के आचार्य द्रोण जिनका यत्किंचित परिचय ऊपर दिया जा चुका है, वे ही प्रभावक चरित्र में वर्णित क्षत्रिय कुलोत्पन्न द्रोणाचार्य हो सकते हैं। चालुक्यराज महाराजा भीम के समय में ही नहीं अपितु भीम से शताब्दियों पूर्व और शताब्दियों पश्चात् भी द्रोणाचार्य नामक किसी अन्य आचार्य का जैन साहित्य में नामोल्लेख तक उपलब्ध नहीं होता। एक सबसे बड़ी कठिनाई, प्रभावक चरित्र-कार द्वारा वर्णित द्रोणाचार्य और खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली एवं अभयदेवसूरि द्वारा उल्लिखित द्रोणाचार्य के एक होने में, यह उपस्थित होती है कि प्रभावक चरित्रकार ने सूराचार्य नामक एक प्रभावक आचार्य को द्रोणाचार्य का पश्चाद्वर्ती और उनका अपना शिष्य आचार्य बताया है। इसके विपरीत खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली में सूराचार्य को द्रोणाचार्य का पूर्ववर्ती आचार्य बताया है। उक्त पट्टावली में उल्लिखित सूराचार्य और द्रोणाचार्य के नाम को देख कर पाठक को सहज ही यह आभास होने लगता है कि द्रोणाचार्य इनसे पूर्व में वर्णित सूराचार्य के शिष्य थे।

सूराचार्य और द्रोणाचार्य इन दोनों का एक साथ जुड़ा हुआ उल्लेख प्रभावक चरित्र और खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली के अतिरिक्त जैन साहित्य में

अन्यत्र कहीं पर उपलब्ध नहीं हाता । अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त गुर्वावली में सूराचार्य को पूर्ववर्त्ती तथा द्रोणाचार्य को उत्तरवर्ती आचार्य बताया है और प्रभावक चरित्र में सूराचार्य को द्रोणाचार्य का शिष्य बताया गया है, इस प्रकार की स्थिति में इन दोनों उल्लेखों में से किसे प्रामाणिक माना जाये ।

इस सम्बन्ध में सूराचार्य और द्रोणाचार्य के समय के ऐतिहासिक तथ्यों, तिथिक्रमों पर विचार करने से ही सर्वसम्मत निर्णय पर पहुँचा जा सकता है । खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली के उल्लेखानुसार गुर्जर नरेश दुर्लभराज की विद्यमानता में पाटण नगर में चैत्यवासी सभी आचार्यों का वसतिवासी आचार्य वर्द्धमानसूरि एवं उनके शिष्य जिनेश्वरसूरि के साथ शास्त्रार्थ हुआ । उन चैत्यवासी आचार्यों में प्रधान आचार्य का नाम सूराचार्य था । सूराचार्य को और उनके साथ आये हुए सभी चैत्यवासी आचार्यों को जिनेश्वरसूरि ने शास्त्रार्थ में पराजित किया और इस प्रकार गुर्जर प्रदेश की राजधानी अनहिलपुर पट्टण में वसतिवास की स्थापना हुई । यह ऐतिहासिक घटना अनहिलपुरपत्तन के चालुक्यवंशी राजा दुर्लभसेन के राज्यकाल की है । दुर्लभसेन का राज्य शिलालेखों एवं ताम्रपत्रों के आधार पर इतिहासज्ञों द्वारा ईस्वी सन् १०१० से १०२२–२३ तदनुसार वि. सं. १०६७ से १०७९–८० तक निश्चित किया गया है । दोनों परम्पराओं के आचार्यों का यह शास्त्रार्थ दुर्लभराज के सान्निध्य में हुआ था । महाराजा दुर्लभराज ने वाद में विजयी हुए वर्द्धमानसूरि, जिनेश्वरसूरि आदि वसतिवासियों को पाटण नगर में रहने और धर्म का प्रचार करने की अनुज्ञा के साथ-साथ रहने के लिये करड़िहट्टी नामक वसति भी प्रदान की ।

इस ऐतिहासिक काल गणना के अनुसार सूराचार्य का समय अथवा उनका अस्तित्व विक्रम सं. १०८० तक का निस्संशय रूप से निश्चित हो जाता है । सूराचार्य के समय के सम्बन्ध में इस प्रकार के सुनिश्चित निर्णय के अनन्तर द्रोणाचार्य के समय पर विचार करना परमावश्यक हो जाता है । अभयदेवसूरि और द्रोणाचार्य दोनों समकालीन और एक दूसरे के प्रति पूर्ण सौहार्दभाव रखने वाले आचार्य थे । अभयदेवसूरि ने स्थानाङ्गवृत्ति का निर्माण वि. सं. ११२० में किया । उस वृत्ति का संशोधन द्रोणाचार्य ने किया । इसके साथ ही अभयदेवसूरि द्वारा वि. सं. ११२० में निर्मित ज्ञाताधर्म कथाङ्गवृत्ति का संशोधन भी आचार्य द्रोण ने किया । इस सभी भांति परिपुष्ट ऐतिहासिक तथ्य से द्रोणाचार्य की सत्ता वि सं. ११२० की सिद्ध होती है । इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वि. सं. १०८० में सूराचार्य चैत्यवासी परम्परा के प्रधान आचार्य थे और उनके ४० वर्ष पश्चात् चैत्यवासी परम्परा के प्रधानाचार्य पद पर द्रोणाचार्य विद्यमान थे । इससे सहज ही यह सिद्ध हो जाता है कि सूराचार्य द्रोणाचार्य से पूर्ववर्ती आचार्य थे और सम्भवतः द्रोणाचार्य के गुरु भी । सूराचार्य पाटण में वर्द्धमानसूरि और जिनेश्वरसूरि के समय में विद्यमान थे

और उनके ४० वर्ष पश्चात् उनके प्रधानाचार्य पद पर विद्यमान आचार्य द्रोण वस्तुतः वर्द्धमानसूरि के प्रशिष्य अभयदेवसूरि के समय में विद्यमान थे।

इन उपरिलिखित ऐतिहासिक तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर प्रभावक चरित्रकार द्वारा सूराचार्य को जो द्रोण का शिष्य अथवा द्रोण को सूराचार्य का गुरु बताया गया है, उसकी ऐतिहासिक तथ्यों से पुष्टि नहीं होती और इतिहास में अभिरुचि रखने वाले विज्ञों को आचार्य द्रोण के सम्बन्ध में यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि वे क्षत्रियकुल में उत्पन्न हुये थे और गुर्जरेश्वर महाराजा भीम (प्रथम) के मामा थे।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपनी कृति प्रभावक चरित्र की प्रशस्ति में इन शब्दों में स्वीकार किया है :–"आर्य वज्र के पश्चाद्वर्ती जिन-जिन आचार्यों के जीवन चरित्र प्रस्तुत किये हैं, उनमें से कतिपय आचार्यों के जीवन चरित्र प्राचीन ग्रन्थों से, कतिपय आचार्यों के जीवन चरित्र वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध स्थविरों, श्रुतधरों के मुख से सुनकर और कतिपय आचार्यों के जीवनवृत्त इधर-उधर से संकलित-एकत्रित कर लिखे हैं, क्योंकि वर्तमान युग में पूर्वाचार्यों के जीवन चरित्र वस्तुतः दुष्प्राप्य हैं। लिखित अथवा कर्ण-परम्परा से जो कुछ उपलब्ध हो सका है, उन सब को मिला कर उन जीवन चरित्रों को लिखा है, जो खण्ड विखण्ड में इधर-उधर बिखरे हुए थे।"[१] इस प्रकार आचार्य प्रभाचन्द्रसूरि ने स्वीकार किया है कि उन्होंने कतिपय आचार्यों के जीवन चरित्र कर्णपरम्परा से सुनकर लिखे हैं। संभव है सूराचार्य का जीवनवृत्त लिखते समय कर्णपरम्परा से चले आ रहे इस कथानक को किसी वयोवृद्ध से सुना हो और उस आधार से सूर आचार्य को द्रोणाचार्य का शिष्य लिख दिया हो। कर्णपरम्परा से चली आ रही सुनी-सुनाई बात में इस प्रकार की त्रुटि का हो जाना, पहले का नाम बाद में और पीछे का नाम पहले आ जाना असंभव नहीं है। अस्तु।

इस प्रकार की स्थिति में द्रोणाचार्य के सम्बन्ध में क्षत्रियकुलोत्पन्न होने का जो उल्लेख है, वह वस्तुतः इन्हीं द्रोणाचार्य के लिए समझा जाना चाहिये।

इस सम्बन्ध में एक कथानक स्मरण हो आता है वह इस प्रकार है—"राजा भोज की राज्य सभा में चार विदुषियां उपस्थित हुईं। उन्होंने अपनी काव्य प्रतिभा

---

१. श्री वज्रानुप्रवृत्तप्रकट मुनिपतिपृष्ठवृत्तानि तत्तद्
ग्रन्थेभ्यः कानिचिच्च श्रुतधरमुखतः कानिचित् सङ्कलय्य।
दुष्प्रापत्वादमीषां विशकलिततयैकत्रचित्रावदातं
जिज्ञासैकाग्रहाणामधिगतविधयेऽभ्युच्चयं स प्रतेने ॥६७॥
—प्रभावक चरित्र, प्रशस्ति पृष्ठ २१५

से राजा भोज एवं उसकी दिग्दिगन्त में प्रसिद्ध विद्वद् मण्डली और भोज की राज सभा को चमत्कृत कर दिया। जब उन चारों कवयित्रियों से उनका वंश परिचय पूछा गया तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया, "राजा भोज की विद्वद् मण्डली की अनूठी कल्पना शक्ति एवं अज्ञात तथ्य की वास्तविकता प्रकट करने के कौशल की बड़ी प्रशंसा सुनी है। तो क्या हमारी जाति के सम्बन्ध में वास्तविकता ज्ञात करना यहां के कवियों के लिये कोई कठिन कार्य है ?"

पर्याप्त विचार-विमर्श के अनन्तर भी उन चारों विदुषी महिलाओं की जाति ज्ञात कर लेने का किसी विद्वान् ने साहस नहीं किया, तो अन्ततोगत्वा महाकवि कालिदास ने इस कार्य को पूरा करने का बीड़ा उठाया।

कालिदास ने उन चारों विदुषी महिलाओं के कक्ष के पास वाले ऐसे कक्ष में अपना पलंग बिछवाया, जहां उन चारों महिलाओं की बात-चीत स्पष्टतः सुनाई दे सकती थी। उन विदुषी महिलाओं के निद्राधीन हो जाने के अनन्तर कालिदास भी अपने लिये नियत कक्ष में जाकर सो गए। कालिदास सदा ब्रह्ममुहूर्त में उठने वाले धर्म-निष्ठ विद्वान् थे। वे ब्रह्ममुहूर्त में उठे और अपने पास के कक्ष की ओर कान लगा कर बैठ गये। घटिका पर्यन्त प्रतीक्षा करने के अनन्तर उनके कर्णरन्ध्रों में उन चारों विदुषी महिलाओं में से एक विदुषी की, तदनन्तर दूसरी की, तत्पश्चात् तीसरी की और अन्त में चौथी विदुषी की वीणाझंकृतितुल्य सुमधुर कण्ठ-ध्वनि गुञ्जरित हुई :—

"परं प्राची पिङ्गा रसपतिरिव प्राप्य कनकम्,
परिम्लानश्चन्द्रो बुधजन इव ग्राम्य सदसि।
परिक्षीणास्तारा: नृपतय इवानुद्यमपरा,
न राजन्ते दीपा: द्रविण रहितानामिव गुणा: ॥"

चारों विदुषियों की कण्ठध्वनि से तो कालिदास राज्यसभा में ही परिचित हो चुके थे, इन चारों पदों को सुनकर उन चारों महिलाओं के वंश का परिचय भी प्राप्त कर लिया और वे तत्काल अपने भवन की ओर लौट कर नित्यकर्म से निवृत्त होने में प्रवृत्त हो गये।

राजा भोज ने राज सभा में उपस्थित हो जब महा कवि की ओर इंगित किया तो कालिदास ने अपनी अलंकारपूर्ण भाषा में उन चारों विदुषियों की ओर क्रमशः संकेत करते हुए कहा :—"आप स्वर्णकारवंश की शोभा में चार चांद लगाने वाली, ये ब्रह्मकुल की कीर्तिपताका, वे रण में और काव्यगोष्ठी में समान रूप से उत्कृष्ट यश प्राप्त करने वाले विद्वद्जन हृदय सम्राट राज राजेश्वर महाराज भोज के समान क्षत्रिय कुल को सुशोभित करने वाली महिला रत्न हैं, और ये जो चौथी विदुषी हैं वे श्रेष्ठि कुल की शृंगार-रसिका महिला रत्न हैं।"

चारों विदुषियां स्तब्ध हो कालिदास की ओर देखती रह गईं। उन चारों ने राजा भोज को प्रणति मुद्रा में अभिहित करते हुए निवेदन किया—"राजन् ! आप धन्य हैं, जिन्हें महाकवि कालिदास जैसे सरस्वतीपुत्र सखा के रूप में प्राप्त हुए हैं। हमने कोई ऐसा कार्य नहीं किया, जिससे किसी को हमारी जाति का आभास तक हो सके। हमें आश्चर्य है कि हमारे द्वारा अनभिव्यक्त तथ्य को महाकवि ने पूर्णतः यथा तथ्य रूप में प्रकट कर दिया। यह कैसे हुआ, बस यही जानने की हमारे अन्तर्मन में उत्कण्ठा है।" कालिदास ने उन चारों द्वारा चार पदों में अभिव्यक्त किये गये प्रातःकाल के वर्णन के श्लोक को सुनाते हुए कहा—"आपके अन्तर्हृद से उद्गत हुई प्राकृतिक काव्य धारा ने आपके वंश का परिचय दे दिया है।" क्रमशः 'रसपतिः,' 'बुधजन,' 'नृपतय,' और 'द्रविणरहितानाम्' की ओर महाकवि ने उन चारों महिलाओं का ध्यान दिलाया। सभ्यों सहित वे चारों विदुषियां आश्चर्याभिभूत हो निर्निमेष दृष्टि से महाकवि, की ओर अपलक देखती ही रह गईं।

यह कथानक इतिहास की गुत्थियों को सुलझाने वाले श्रम से परिश्रान्तमना पाठकों के केवल मनोरंजनार्थ ही नहीं अपितु –"चैत्यवासी परम्परा के महान् आचार्य द्रोणसूरि क्षत्रिय कुल के प्रदीप थे"—इस ऐतिहासिक तथ्य की पुष्टि के लिये भी प्रस्तुत किया गया है। द्रोणाचार्य ने अपनी एकमात्र कृति—"ओघनिर्युक्ति-वृत्ति के आद्य मङ्गलाचरण की प्रथम पंक्ति में संभवतः अपने वंश को ही प्रकट करते हुए लिखा है :—

"अर्हद्भ्यस्त्रिभुवनराजपूजितेभ्यः" अर्थात्—त्रिलोकी के राजाओं द्वारा पूजित अर्हद् भगवान् को मैं प्रणाम करता हूँ। उपर्युक्त श्लोक की भांति यह पद भी द्रोणसूरि की क्षत्रिय जाति का द्योतक होना चाहिये।

इतिहास की एक अनबुझी पहेली को हल करने के श्रम से पाठकों के परिश्रान्त मन एवं मस्तिष्क को काव्य की रसधारा से गतक्लम करने के अनन्तर अब पुनः विज्ञ विचारकों का ध्यान चैत्यवासी परम्परा के प्रधानाचार्य श्री द्रोणाचार्य के जीवन वृत्त के एक ऐसे पहलू की ओर आकर्षित किया जारहा है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

यह तो इस इतिहास माला के तृतीय भाग में और प्रस्तुत किये जा रहे चतुर्थ भाग में भी बताया जा चुका है कि महान् क्रियोद्धारक आचार्य वर्द्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि द्वारा विक्रम सम्वत् १०८० के आस-पास पत्तनाधीश दुर्लभराज की राज्य सभा में चैत्यवासी परम्परा के आचार्यों को, जिनमें द्रोणाचार्य के पूर्ववर्ती चैत्यवासी प्रधानाचार्य सूराचार्य भी सम्मिलित थे, शास्त्रार्थ में पराजित कर दिये जाने के पश्चात् चैत्यवासी परम्परा की साख जनमानस से उठ चुकी थी। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि चैत्यवासी परम्परा का अभेद्य कहा जाने वाला गढ़ अति

सन्निकटापन्न समय में ही ढह कर धूलिसात् होने वाला है। ऐसे संक्रान्तिकाल में द्रोणाचार्य ने चैत्यवासी परम्परा की बागडोर सम्भाली। उन्होंने अपनी परम्परा के अस्तित्व को बनाये रखने के लिये सर्वप्रथम अपनी परम्परा के अपने अधीनस्थ विविध विद्याओं में निष्णात विद्वान् आचार्यों को आगमों का तलस्पर्शी ज्ञान देना प्रारम्भ किया, जिससे कि वे प्रतिपक्षी परम्परा द्वारा आगमिक आधार पर किये जा रहे प्रचार के प्रमुख पहलुओं से भली-भांति अवगत हो अपनी परम्परा में भी अपरिहार्य परिस्थितियों में परमावश्यक सुधार की भूमिका तैयार कर सकें।

इसके साथ ही बदलती हुई परिस्थितियों में किन-किन पहलुओं, रीति-नीतियों और मान्यताओं पर पाटण में लोकप्रिय होती जा रही नवोदिता वसतिवासी अथवा सुविहित परम्परा के साथ उनकी अपनी चैत्यवासी परम्परा का मतैक्य संभव हो सकता है, इस पहलू पर भी द्रोणाचार्य ने गहन चिन्तन-मनन के पश्चात् इस दिशा में बड़ी ही सूझ-बूझ के साथ काम लिया। इसके लिये उन्होंने अभयदेवसूरि के साथ मेलजोल बढ़ा, समन्वयपरक नीति का अवलम्बन लिया। चैत्यवासी परम्परा के चौरासी गच्छों के प्रधानाचार्य और पाटण के महान् संघ के प्रमुख पद के धारक होते हुए भी उन्होंने समन्वयवादी नीति का अवलम्बन लेकर नवोदिता सुविहित परम्परा के आचार्य अभयदेवसूरि के प्रति अत्यधिक सम्मान प्रकट करना शुरू किया। आचार्य द्रोण वाचना में सम्मिलित होने के लिये आते हुए अभयदेवसूरि को देखकर तत्काल खड़े होते और उनके प्रति इस प्रकार का उत्कृष्ट सम्मान प्रकट करते, जिस प्रकार का कि कोई छोटे पद वाला व्यक्ति अपने से बड़े पद वाले पूज्य के प्रति प्रकट करता है। अपने दो बड़े पदों की गरिमा के विपरीत अपनी सुविशाल एवं सुदृढ़ परम्परा की तुलना में एक छोटी-सी नगण्य परम्परा के आचार्य के प्रति इस प्रकार का उत्कृष्ट सम्मान अपने महान् प्रधानाचार्य द्वारा प्रकट किया जाना चैत्यवासी परम्परा के अन्य ८३ आचार्यों को पहले पहल बड़ा खटका। वे अपने प्रधानाचार्य से रुष्ट होकर बिना कुछ कहे चुपचाप अपने-अपने मठों की ओर बिना वाचना लिये ही लौट गये। अभयदेवसूरि के साथ उत्तरोत्तर सहयोग बढ़ाकर येनकेन प्रकारेण अपनी मान्यता की गिरती हुई प्रतिष्ठा को बनाये रखना है, इस लक्ष्य से द्रोणाचार्य ने अपने अधीनस्थ आचार्यों को समझाया कि जिन आचाय के प्रति वे अप्रत्याशित बहुमान प्रकट कर रहे हैं, वे अभयदेवसूरि कोई सामान्य आचाय नहीं हैं। वे आगमों के तलस्पर्शी मर्मज्ञ और आचार्य के योग्य सभी गुणों के निधान हैं। उनके प्रति जितना सम्मान प्रकट किया जाय, थोड़ा है।

इस प्रकार अपने अधीनस्थ आचार्यों को अथवा अपने अनुयायियों को भली-भांति समझा बुझाकर द्रोणाचार्य ने अभयदेवसूरि के प्रति पूर्ववत् पूर्ण सम्मान प्रकट करते हुए उनके साथ सम्पर्क को उत्तरोत्तर बढ़ाये रक्खा। द्रोणाचार्य की इस दूरदर्शिता का परिणाम यह निकला कि अभयदेवसूरि ने स्वयं द्वारा रचित

अङ्गवृत्तियों का द्रोणाचार्य से संशोधन करवा कर उन वृत्तियों को सर्वभोज्ञा बनाया। ये वृत्तियाँ अभयदेवसूरि द्वारा निर्मित हैं, इस दृष्टि से सुविहित परम्परा के साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका वर्ग उन्हें प्रामाणिक मानने लगे तो दूसरी ओर ये वृत्तियाँ हमारे महान् प्रधानाचार्य द्रोणाचार्य द्वारा संशोधित की गई हैं, इस दृष्टि से चैत्यवासी परम्परा के सब अनुयायी भी उन वृत्तियों को सुविहित परम्परा की भांति ही परम प्रामाणिक मान कर आगमों का गहन ज्ञान प्राप्त करने के लिये उन वृत्तियों का उपयोग भी करने लगे। उन वृत्तियों की सहायता से अपने शास्त्रज्ञान को उत्तरोत्तर अभिवृद्ध करने लगे।

जहाँ इस प्रकार का सहयोग आगम की प्रामाणिकता के संबंध में संभव हो जाता है तो सहज ही यह विश्वास किया जा सकता है कि छोटी-मोटी अन्यान्य मान्यताओं रीति-रिवाजों, विधि-विधानों आदि के संबंध में भी द्रोणाचार्य की उस दूरदर्शिता के फलस्वरूप आदान-प्रदान, मानना-मनवाना, हठाग्रह छोड़ कर परस्पर एक-दूसरे की छोटी-बड़ी सभी प्रकार की मान्यताओं को अपने-अपने संघ में सम्मिलित करना आदि बातों पर दोनों परम्पराओं के कर्णधार अवश्यमेव मतैक्य पर पहुँचे होंगे।

आज सुविहित परम्परा में जितनी भी अनागमिक मान्यताएँ जितने भी आगम प्रतिपंथी रीति-रिवाज, क्रिया-कलाप, अनुष्ठान, आयोजन आदि प्रचलित हैं, "एक मात्र गणधरों एवं चतुर्दशपूर्वधरों द्वारा ग्रथित आगम ही हमारे लिये प्रामाणिक हैं, आगमों के अतिरिक्त इतर कुछ भी प्रामाणिक नहीं"—इस प्रकार का उद्घोष विक्रम सं. १०८० में अनहिलपुरपत्तन की राज्य सभा में करने वाली वसतिवासी परम्परा में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और वृत्ति साहित्य आगम के तुल्य ही मान्य दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सब आचार्य द्रोण की अनोखी सूझ-बूझ एवं अद्भुत दूरदर्शिता का ही प्रतिफल है। यह स्पष्ट प्रतीत होता है।

इस प्रकार चैत्यवासी परम्परा के प्रधानाचार्य द्रोणसूरि ने अपनी परम्परा की गिरती हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्रतिष्ठित किया, अपनी परम्परा के ढहते हुए गढ़ को धूलिसात् होने से बचा कर अपनी प्रतिपक्षी वसतिवासी परम्परा के साथ सम्पर्क बढ़ा पाटण को पुनः अपनी परम्परा के एक सुदृढ़ गढ़ का स्वरूप प्रदान किया। द्रोणाचार्य की इस दूरदर्शिता का चैत्यवासी परम्परा के लिए तो सबसे बड़ा सुखद परिणाम यह हुआ कि जो चैत्यवासी परम्परा विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी के समाप्त होने के साथ-साथ ही इस आर्यधरा से समाप्त होने वाली थी, वह पुनरुज्जीवित हो उठी और विक्रम की १७वीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक येन-केन प्रकारेण अपने अस्तित्व को बनाये रखने में सफल हो सकी। अन्ततोगत्वा विक्रम की १७वीं शती में चैत्यवासी परम्परा समाप्त तो हो गई पर द्रोणाचार्य की सूझ-बूझ और दूरदर्शिता के परिणामस्वरूप चैत्यवासी परम्परा द्वारा आविष्कृत अनेक

प्रकार की अनागमिक मान्यताएं, अनेक प्रकार के आगम विरुद्ध विधि-विधान अनुष्ठान, बाह्याडम्बर आदि कतिपय तो अपने मूल स्वरूप में और कतिपय परिवर्तित स्वरूप में आज भी सुविहित कहलाई जाने वाली परम्पराओं में उनके प्रमुख धार्मिक कृत्यों के रूप में विद्यमान हैं।

दूसरी ओर द्रोणाचार्य की इस अद्भुत् सूझबूझ और अचिन्त्य दूरदर्शिता का दु:खद दुष्परिणाम सुविहित परम्परा अथवा वसतिवासी परम्परा के लिए यह हुआ कि धर्म के विशुद्ध मूल स्वरूप में चैत्यवासियों द्वारा प्रविष्ट की गई अनेक प्रकार की विकृतियों और चैत्यवासी परम्परा द्वारा विशुद्ध श्रमणाचार में आमूल-चूल प्रविष्ट किये गये शिथिलाचार को मूलत: नष्ट कर इन दोनों के विशुद्ध मूल स्वरूप को पुन: प्रतिष्ठापित करने के जिस लक्ष्य से वसतिवासी परम्परा की चैत्यवासी परम्परा के गढ़ पाटण में प्रतिष्ठापना की गई थी, उस लक्ष्य की प्राप्ति वीर निर्वाण की २०वीं शताब्दी तक सुचारु-रूपेण प्राप्त नहीं हो सकी। द्रोणाचार्य की दूरदर्शितापूर्ण समन्वयवादी नीति ने, उनके मेल-जोल, सम्पर्क-सहयोग ने धर्म का विशुद्ध मूल स्वरूप प्रकट करने के लिए कटिबद्ध हुई वसतिवासी परम्परा की धर्म क्रान्ति को एक लम्बे समय तक के लिये ठण्डा कर दिया। एक मात्र आगम के आधार पर सब प्रकार की विकृतियों को दूर कर धर्म के विशुद्ध स्वरूप और विशुद्ध श्रमणाचार की पुन: प्रतिष्ठापना का वर्द्धमानसूरि का स्वप्न द्रोणाचार्य की अनूठी सूझबूझ के परिणामस्वरूप साकार नहीं हो सका।

द्रोणाचार्य के जीवन का यह एक ऐसा महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पहलू है जिसकी ओर तथ्यान्वेषी शोधप्रिय विद्वानों को अग्रेतर शोध करने की आवश्यकता है। आशा है वे इस दिशा में गहन खोज कर द्रोणाचार्य के जीवन की घटनाओं पर विशेष प्रकाश डालने का प्रयास अवश्यमेव करेंगे।

इस वास्तविकता को तो प्रत्येक जैन स्वीकार करेगा कि द्रोणाचार्य की दूरदर्शिता ने उन्हें सुविहित परम्परा में भी अमर बना दिया। जब तक अभयदेवसूरि द्वारा निर्मित नवाङ्गी वृत्तियां प्रचलित रहेंगी तब तक अभयदेवसूरि के साथ साथ द्रोणाचार्य का नाम भी साधकों द्वारा स्मरण किया जाता रहेगा।

अभयदेवसूरि के प्रति समन्वयपरक पारस्परिक सहयोग का हाथ बढ़ा उनके प्रति असीम सम्मान प्रदर्शित कर द्रोणाचार्य ने उनके (अभयदेवसूरि) द्वारा निर्मित वृत्तियों को संशोधित करने की उनसे स्वीकृति प्राप्त कर उन वृत्तियों को शोधित भी किया इससे प्रत्येक विज्ञ सहज ही अनुमान लगा सकता है कि सम्भवत: द्रोणाचार्य ने वृत्तियों का संशोधन करते समय अपनी चैत्यवासी परम्परा की कतिपय मान्यताओं को भी इन वृत्तियों में समाविष्ट करने का प्रयास किया हो। अभयदेवसूरि के प्रति आश्चर्यकारी सम्मान प्रकट कर उनका प्रगाढ़ विश्वास प्राप्त

करने के पश्चात् उन्होंने इसका लाभ इस रूप में उठाया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है । "अकारणमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते"—इस तथ्यपरक सूक्ति को ध्यान में रखते हुए यदि आगम-मर्मज्ञ विद्वान् क्षीर-नीर विवेकपूर्ण सूक्ष्म दृष्टि से शोध करें तो सम्भव है कुछ आश्चर्यकारी तथ्य प्रकाश में आयें । सम्भव है इस स्वर्णिम अवसर से लाभ उठा वे अपनी परम्परा की स्वल्पाधिक मान्यताओं को वृत्तियों में समाविष्ट करने के लोभ का संवरण न कर सके हों ।

इन सब तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर चैत्यवासी परम्परा के प्रधानाचार्य द्रोणसूरि का जीवनवृत्त जैन इतिहास में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा । आशा है आगम मर्मज्ञ आचार्य, सत्य के प्रबल पक्षपाती सन्त, प्रबुद्ध पाठक एवं शोधप्रिय विद्वान् इस दिशा में प्रयास कर शोधपूर्ण प्रकाश डालने की कृपा करेंगे ।



भ० महावीर के ५०वें पट्टधर आ० श्री विजयऋषि के आचार्यकाल की राजनैतिक स्थिति

श्रमण भ० महावीर के ५०वें पट्टधर आ० श्री विजयऋषि के आचार्यकाल (वीर नि० सं० १५२४–१५८६) में महमूद गजनवी ने वि० सं० १०५८ से १०८७ के बीच की २६ वर्ष की अवधि में भारत पर १७ बार आक्रमण कर भारत के अनेक भागों के जनजीवन को अस्तव्यस्त एवं भयत्रस्त कर दिया। अपने पहले सैनिक अभियान में ही महमूद गजनवी को रत्नजटित अनमोल आभरणों, स्वर्ण, हाथी आदि के रूप में अपार धन-सम्पदा प्राप्त हुई। अतः भारत को सोने के चिड़िया समझ कर भारत के धन से अपने देश को समृद्ध एवं सम्पन्न (मालामाल) वनाने के लिये उसने कुल मिला कर १७ बार भारत के विभिन्न भागों पर आक्रमण किये और खुलकर जी भर लूट-खसोट की। भारत पर किये गये उन अपने सैनिक अभियानों में महमूद गजनवी ने न केवल भारत की सम्पत्ति लूटकर अपने देश को समृद्ध ही किया अपितु भारत के अनेक पवित्र तीर्थस्थानों—मन्दिरों को भूमिसात् करने के साथ-साथ सहस्रों मूर्तियों को तोड़ा और भीषण जनसंहार कर अनेक नगरों एवं ग्रामों के निवासियों को वलात् धर्मपरिवर्तन के लिये बाध्य भी किया।

महमूद के पिता सुबुक्तगीन की मृत्यु के पश्चात् लाहोर के राजा जयपाल ने वि० सं० १०३४ में स्वीकार की गई गजनी की अधीनता से मुकर एवं अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर गजनी की हुकूमत को खिराज आदि देना बन्द कर दिया। इससे रुष्ट हो महमूद ने वि० सं० १०५८ में एक बड़ी सेना ले लाहोर की ओर प्रयाण किया। लाहोर के राजा जयपाल ने भी एक शक्तिशाली सेना के साथ, जिसमें ३०० हाथियों की सेना भी सम्मिलित थी, पेशावर के पास महमूद गजनवी की सेना का मार्ग रोका। दोनों सेनाओं के बीच भयंकर युद्ध हुआ। अग्निवर्षक नफ्थों के प्रहारों से राजा जयपाल के ५००० योद्धा वीरगति को प्राप्त हुए। घोर संग्राम के पश्चात् महमूद ने राजा जयपाल को उसके भाई पुत्र आदि १५ आत्मीय जनों के साथ बंधुआ बना लिया। महमूद गजनवी को इस लूट में, अत्यधिक विपुल मात्रा में सम्पदा मिली, जिसमें १६ रत्नजटित बहुमूल्य कण्ठे भी थे। महमूद ने रत्नपारखी जौहरियों को बुला कर, उन कण्ठों के मूल्य के सम्बन्ध में उनसे पूछा। जौहरियों ने सभी भांति परीक्षणों के अनन्तर उन सोलह कण्ठों में से एक कण्ठे का मूल्य एक लाख ८० हजार स्वर्ण दीनार के बराबर आंका। "द्वात्रिंशद्रत्तिकापरिमितं कांचनं इति भरतः" इस उल्लेखपूर्वक शब्दकल्पद्रुम में एक दीनार का भार ३२ रत्ती माना गया है। लूट में प्राप्त हुई इस सम्पत्ति के अतिरिक्त महमूद ने वन्दी वनाये

हुए राजा जयपाल को तीन महीने बन्दी रखने के पश्चात् मुक्त करते समय उससे दण्ड के रूप में यथेच्छ धन भी प्राप्त किया।

महमूद की कैद से मुक्त होने पर राजा जयपाल ने अपने पुत्र को अपना राज्य संभला कर उस समय तक क्षत्रिय राजाओं में प्रचलित पारम्परिक रीति-नीति का अनुसरण करते हुए दो बार युद्ध में पराजित हो जाने के कारण अग्नि में प्रवेश कर अपना प्राणान्त किया।

इस घटना के कतिपय वर्ष पश्चात् मुलतान के अबुल फतह दाऊद नामक शासक ने अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर महमूद को खिराज देना बन्द कर दिया। महमूद जिस समय दाऊद पर आक्रमण करने आया, उस समय आनन्दपाल ने महमूद से प्रतिशोध लेने के लिये दाऊद की सहायता की। इससे क्रुद्ध हो महमूद ने वि० सं० १०६६ में आनन्दपाल के विरुद्ध सैनिक अभियान किया।

उस समय तक भारत के अनेक राजाओं के मानस में इस प्रकार की उत्कट भावना जागृत हो चुकी थी कि मुसलमानों के राज्य को येन केन प्रकारेण भारत से उखाड़ फेंकने के लिये एक जुट हो युद्ध किया जाय। आनन्दपाल ने भारत के विभिन्न राजाओं के पास अपने दूत भेज कर महमूद के सैनिक अभियान को विफल एवं उसकी सैनिक शक्ति को नष्ट करने हेतु उनसे सैनिक सहायता मांगी। मुस्लिम आततायी को सदा के लिये भारत से खदेड़ देने की एक लहर सी भारतीयों के मानस में तरंगित हो उठी थी। तदनुसार भारत के विभिन्न भागों से महिलाओं ने भी अपने अपने जेवर बेच कर धनराशि एकत्रित की और महमूद के सैनिक अभियान के विरुद्ध युद्ध हेतु वह राशि आनन्दपाल के पास सहायता के रूप में भेजी। तीस हजार गक्खर योद्धा भी महमूद को रणांगण में परास्त करने के दृढ़ संकल्प के साथ आनन्दपाल की सहायता के लिये, उसकी सेना के साथ आ मिले। उज्जैन, ग्वालियर, कालिंजर, कन्नोज, दिल्ली और अजमेर के शासक भी अपनी सेनाओं के साथ आनन्दपाल की सहायतार्थ महमूद से युद्ध करने के लिये आ उपस्थित हुए। भारतीय सेनाओं ने लगभग ४० दिन तक पेशावर के पास शिविर डाले रखे। लम्बी प्रतीक्षा के पश्चात् महमूद की सेना भारतीय सेना के सम्मुख आई और महमूद ने अपने धनुर्धारियों को आज्ञा दी कि जाज्वल्यमान नफ्थों से संयुत तीरों की वर्षा से वे भारतीय सेना में भगदड़ उत्पन्न कर दें। ३० हजार गक्खर योद्धाओं ने बड़ी वीरता से निरन्तर आगे बढ़ते रह कर महमूद के धनुर्धारियों को परास्त कर पीछे की ओर खदेड़ दिया और महमूद की सेना के मध्यभाग तक पहुंच कर शत्रुसेना का संहार करने लगे। उस भीषण संग्राम में शौर्यशाली गक्खर योद्धाओं ने थोड़े से ही समय में महमूद की सेना के ५००० योद्धाओं को मौत के घाट उतार दिया। विजयश्री भारतीयों के हाथ लगने ही वाली थी कि सहसा, महमूद के इस आक्रमण से २९७ वर्ष पूर्व वि० सं० ७६९ में सिन्ध के राजा दाहिर और अरब सेनापति कासिम के बीच

सिन्ध युद्ध में घटित हुई एक अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण घटना की पुनरावृत्ति हो गई। जलते हुए नफ्थे से संयुक्त एक तीर राजा आनन्दपाल के हाथी के कपोल में गहराई तक आ घुसा। तीर के गहरे घाव के साथ ही साथ नफ्थे की दुस्सह्य दाहक ज्वालाओं से संत्रस्त हो आनन्दपाल का हाथी कर्णवेधी चिंघाड़ करता हुआ रणांगण से भाग निकला। इस अप्रत्याशित घटना से हड़बड़ा कर राजा के हाथी के आगे, पीछे और दोनों पार्श्वों में लड़ रहे भारतीय सैनिक भी युद्ध भूमि से भाग खड़े हुए। भारतीय सेनाओं ने समझा कि राजा आनन्दपाल रण में पीठ दिखा कर भाग गया है। इस आशंका से अभिभूत हो उपर्युल्लिखित छहों राजाओं की सेनाएं भी रणभूमि से पलायन करने लगीं और इस प्रकार कुछ ही क्षणों के अनन्तर प्राप्त होने वाली विजयश्री के स्थान पर भारत की सेनाओं को प्रवल सैन्य शक्ति के होते हुए भी पराजय प्राप्त हुई। महमूद को अतुल धन-सम्पदा के साथ ही प्रचुर मात्रा में हाथी आदि सैनिक साज—बाज और युद्ध सामग्री प्राप्त हुई।

वि० सं० १०७५ में महमूद गजनवी ने कन्नोज पर आक्रमण कर वहां के राजा राज्यपाल को अपने अधीन किया, जिससे उसे प्रचुर मात्रा में धन-सम्पत्ति प्राप्त हुई। तदनन्तर उसने यमुनातट पर बसे महावन पर आक्रमण किया। वहां के राजा कुलचन्द्र ने शत्रु से युद्ध करने के लिये सेना के साथ प्रयाण तो किया किन्तु शत्रु की सैन्य शक्ति के समक्ष अपनी सैन्य शक्ति को अपर्याप्त समझ पराजय के कलंक से बचने के लिये अपने परिवार को मार कर शत्रु से युद्ध करने से पूर्व ही आत्मघात कर लिया। महावन की लूट में महमूद को ८० हाथी और विपुल धनराशि मिली।

महावन को लूटने के पश्चात् महमूद ने मथुरा पर आक्रमण किया। उस समय मथुरा पर वारण (बुलन्द शहर) के डोडिया जाति के हरदत्त नामक राजा का शासन था। थोड़े से सैनिकों के अतिरिक्त महार्घ्य मूर्तियों एवं अद्भुत कलाकृतियों के केन्द्र अथवा प्रतीक स्वरूप मथुरा जैसे नगर की सुरक्षा का कोई समुचित प्रबन्ध नहीं था। अतः नाम मात्र की छोटी सी लड़ाई के अनन्तर ही महमूद गजनवी ने मथुरा पर सहज ही अधिकार कर लिया। महमूद ने बिना किसी उल्लेखनीय प्रतिरोध के, सोने और चांदी की मूर्तियों को तोड़ा। उन मूर्तियों में जड़े हुए अनमोल लाल, पन्ने, हीरे आदि रत्नों को महमूद ने अपने अधिकार में लिया। मथुरा के सभी मन्दिरों की मूर्तियों को गलवा कर उसने मणों सोना और चांदी की शिलाएं हस्तगत कीं।

इस प्रकार लूट में प्राप्त हुई अपार धन-सम्पदा साथ लिये वह गजनी की ओर लौटा और मार्ग में जितने भी मंदिर मिले उन्हें एवं उनकी मूर्तियों को तोड़ा।

यहां यह उल्लेखनीय है कि मथुरा में महमूद ने मूर्तियां तो इतनी तोड़ीं कि उनके गलाने पर सोने और चांदी के विशाल ढेर लग गये किन्तु उसने मथुरा के

मन्दिरों को नहीं तोड़ा। इसका कारण बताते हुए उसने (महमूद ने) अपने गजनी के हाकिम को लिखा था :—

"यहां (मथुरा में) असंख्य मन्दिरों के अतिरिक्त १००० प्रासाद मुसलमानों के ईमान के समान दृढ़ हैं। उनमें से कई तो संगमरमर के बने हुए हैं, जिनके बनाने में करोड़ों दीनार खर्च हुए होंगे। ऐसी इमारतें यदि २०० वर्ष लगें तो भी नहीं बन सकतीं।[१]"

महमूद गजनवी ने वि० सं० १०८२ में सोमनाथ मन्दिर की अपार धन-राशि को लूटने और वहां की उस समय की सर्वाधिक चमत्कारिक मानी जाने वाली सोमनाथ की मूर्ति को तोड़ने के लक्ष्य से सोमनाथ पर मुलतान और उससे आगे के जनशून्य रेगिस्तान के मार्ग से आक्रमण किया। उसके साथ की विशाल सेना में ३० हजार चुने हुए घुड़सवार थे। रेगिस्तानी मार्ग में अन्न-जल के दर्शन तक दुर्लभ थे अतः उसने ३० हजार ऊंटों पर विपुल मात्रा में अन्न एवं जल का संग्रह कर सोमनाथ की ओर प्रयाण किया। वह पौष मास के शुक्ल पक्ष में गुरुवार के दिन सोमनाथ पहुंचा।

फिरिश्ता के उल्लेखानुसार विशाल गुर्जर राज्य का महाराजा भीमदेव प्रथम (वि० सं० १०७६-११२६) सोमनाथ के मन्दिर की रक्षा के लिये अपनी सेना के साथ सोमनाथ पहुंचा। दूसरे दिन शुक्रवार को महमूद ने समुद्र तट पर अवस्थित सुदृढ़ किले पर आक्रमण किया। बड़ी भयंकर लड़ाई हुई। इस युद्ध में सोमनाथ की रक्षार्थ एकत्रित हुए योद्धाओं ने महमूद की सेना पर शस्त्रास्त्रों के भीषण प्रहार किये। अपनी अत्यधिक सैनिक क्षति होती देख महमूद के सैनिक सीढ़ियां लगाकर किले पर चढ़ गए। फिरिश्ता के उल्लेखानुसार सोमनाथ की रक्षार्थ आए हुए अनहिलवाड़े के महाराजा भीमदेव ने ३००० मुसलमान सैनिकों को मौत के घाट उतार दिया। इस किले पर विजय प्राप्त करने के लिए मुसलमानों ने दीन की पुकार कर अपनी पूरी ताकत बताई तो भी महमूद के इतने सैनिक मारे गए कि युद्ध का परिणाम संदेहास्पद प्रतीत होने लगा।[२] रात्रि हो जाने क कारण उस दिन की लड़ाई बन्द कर दी गई और दूसरे दिन सूर्योदय के साथ ही पुनः धमासान युद्ध प्रारम्भ हुआ। इस युद्ध में भीषण नरसंहार हुआ। मन्दिर की रक्षा के लिए एकत्रित हुए योद्धा बड़े-बड़े झुण्डों में मन्दिर में जाकर रो-रो कर प्रार्थना करने लगे और प्रार्थना के पश्चात् अन्तिम श्वास तक मन्दिर की रक्षा के लिए लड़ते रहे। अन्ततोगत्वा भीषण नरसंहार के पश्चात् महमूद सोमनाथ के मन्दिर में प्रविष्ट हुआ। मन्दिर में सीसे से मढ़े सागवान के ५६ स्तम्भ थे। सोमनाथ की

---

१. ब्रिग, फिरिश्ता, जि० १, पृ० ५८-५६

२. वही

मूर्ति ठोस पत्थर की थी, जो पांच हाथ ऊंची, दो हाथ पृथ्वी में गड़ी हुई थी। उसकी परिधि ३ हाथ थी। वह मूर्ति एक अन्धेरे कमरे में थी, जिसमें रत्नजटित दीपकों का प्रकाश रहता था। मूर्ति के निकट २०० मन तोल की सोने की शृंखला थी जिसमें घण्टे लटकते थे, जिन्हें एक-एक प्रहर के अन्तर से स्वर्णशृंखला को हिला-हिला कर बजाया जाता था। मूर्ति के कमरे के पास ही भण्डार था, जिसमें सोने तथा चांदी की बहुत सी मूर्तियां और बहुमूल्य रत्नों से जटित वस्त्र थे। महमूद ने गुर्ज से मूर्ति को तोड़ा। उसका एक हिस्सा उसने वहीं जलवा दिया और दूसरा हिस्सा वह लूट में सोमनाथ के मन्दिर से प्राप्त हुए सोना, चांदी, रत्नराशि आदि बहुमूल्य वस्तुओं के साथ गजनी ले गया और सोमनाथ की मूर्ति के उस टुकड़े से वहां की जामे मस्जिद के दरवाजे की एक सीढ़ी बनवाई।

सोमनाथ पर महमूद गजनवी द्वारा किए गए इस भीषणतम जनसंहारकारी आक्रमण में कुल मिलाकर ५० हजार से भी अधिक भारतवासियों को अपने प्राणों की बलि देनी पड़ी और २० लाख दीनार से भी अधिक मूल्य का माल महमूद गजनवी के हाथ लगा। जिसे वह अपने साथ गजनी ले गया।[1]

इस प्रकार भारत को जन-धन की अपूरणीय महती क्षति किन कारणों से उठानी पड़ी? अपने ही देश में, विपुल जन-धन शक्ति का सद्भाव होते हुए भी भारतवर्ष के निवासी बाहर से आये हुए आततायियों के हाथों भेड़-बकरी की भांति मौत के घाट किन कारणों से उतार दिये गए? महमूद गजनवी के आक्रमणों के पश्चात् शहाबुद्दीन गौरी द्वारा भी भारत पर आक्रमण किए गए। शहाबुद्दीन गौरी के आक्रमणों के पश्चात् तो भारत पर मुसलमानों के आक्रमणों का तांता सा लग गया। मुसलमानों द्वारा भारत पर किये गए उन आक्रमणों में भारतवासियों को बारम्बार कत्लेआम—सामूहिक जनसंहार, सामूहिक बलात्धर्म-परिवर्तन आदि का शिकार क्यों होना पड़ा, यह प्रश्न प्रत्येक भारतीय के हृदय को शताब्दियों से कचोटता हुआ उसके अन्तर में कभी शान्त न होने वाली टीस उत्पन्न करता चला आ रहा है। साधारण से साधारण व्यक्ति भी यह सोचता है कि जो भारत, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और विश्व-कल्याणकारिणी रीति-नीतियों अथवा गतिविधियों के क्षेत्र में सहस्राब्दियों पर्यन्त विश्व का नायक रहा, उसका विक्रम की दशवीं—ग्यारहवीं शताब्दी का प्रादुर्भाव होते ही इस प्रकार की विपरीत एवं दयनीय दशा के रूप में कायापलट किन कारणों से और क्यों हो गया।

भारतीय इतिहास की अतीत में घटित हुई आत्यन्तिक ऐतिहासिक महत्त्व की घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में तटस्थ दृष्टि से गहन चिन्तन के अनन्तर भारत और भारतीयों को इस प्रकार की असमंजसपूर्ण दयनीय दुर्दशा में पहुंचाने वाला निम्नलिखित केवल

---

१. राजपूताने का इतिहास, पहली जिल्द, पृष्ठ २६३

एक ही प्रमुख कारण निष्कर्ष के रूप में उभर कर हमारे समक्ष आता है। अलबेरूनी, आर. सी. मजूमदार आदि अनेकानेक लब्धप्रतिष्ठ इतिहासविदों द्वारा प्रस्तुत किये गये अन्यान्य सभी कारणों का जनक यही एकमात्र मूल कारण है कि—

नरशार्दूल के समान सम्मानपूर्ण जीवन जीने के लिये अनिवार्यरूपेण आवश्यक "सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु, सहनौ वीर्यं करवावहै, तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै"—अर्थात्, हम मिलकर साथ-साथ उठें-बैठें, साथ-साथ समान रूप से खायें-पीवें, भोगोपभोगों का उपभोग करें, हम मिलकर एक साथ पौरुषपूर्ण परिश्रम करें, हमारा सर्वांगीण अध्ययन तेजस्वितापूर्ण अर्थात् उत्कृष्ट कोटि का हो और हम परस्पर एक दूसरे से कभी द्वेष न करें, इस मूल मन्त्र को हमने, हम भारतीयों ने शनैः शनैः भुलाना प्रारम्भ कर दिया। प्रगतिपथ पर अग्रसर करने वाले इस मूलमन्त्र के विस्मरण के परिणामस्वरूप भारतीयों ने समय-समय पर अनेक बार झटके सहे, अनेक बार अधःपतन की ओर उन्मुख हुए। झटकों से सम्भल कर जब इस मूल मन्त्र का स्मरण किया, अपने जीवन में इसे ढालना प्रारम्भ किया तो पुनः प्रगतिपथ पर आरूढ़ हुए। इस प्रकार की अपकर्षोत्कर्षात्मक प्रक्रिया के चलते-चलते विक्रम की दशवीं शताब्दी के आविर्भाव के आसपास प्रगति के इस मूलमन्त्र को भारतीय अपनी कथनी और करणी—दोनों में ही भूल बैठे।

"सह नाववतु"—हम एक ही दृढ़ संकल्प के साथ एक जुट हो प्रशस्त सुपथ पर साथ-साथ चलें—इस सकल कार्य-सिद्धिप्रदायी महामन्त्र को विस्मृत कर दिये जाने का भयंकर दुष्परिणाम यह निकला कि सब अपनी-अपनी इच्छानुसार केवल स्वयं के ही स्वार्थों की पूर्ति के उद्देश्य से एक दूसरे का साथ छोड़, एक दूसरे से विपरीत पथ पर बढ़ने लगे। कोई पूर्व दिशा की ओर द्रुतगति से दौड़ने लगा तो दूसरा पश्चिम की ओर, तीसरा दक्षिण और चौथा उत्तर दिशा की ओर। इससे सम्पूर्ण भारत की गति दिशाविहीन हो गई। संघशक्ति का चिन्ह तक अवशिष्ट न रहा।

"सह नौ भुनक्तु" हमें हमारे सामूहिक-सम्मिलित प्रयास-परिश्रम से जो भी भोगोपभोग की सामग्री उपलब्ध हो, उसका समान रूप से बंटवारा कर हम सभी समान रूप से साथ-साथ उपभोग करें—इस आत्मीयता से ओत-प्रोत भाई-चारे के महामन्त्र को भुला बैठने के कारण इने-गिने लोगों को विशिष्ट प्रकार की भोग्य सामग्री उपलब्ध कराने के प्रयास से वर्णविद्वेष एवं पारस्परिक कलह की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती गई। वर्णविशेष, वर्गविशेष अथवा जातिविशेष ने भोगोपभोग की अधिकाधिक सामग्री अपने लिये ही सुरक्षित अथवा निर्धारित रखने की अभिलाषा से सत्ता हथियाने के प्रयास प्रारम्भ किये। सत्ता हथियाने के लिये पारस्परिक कलह और लड़ाई-झगड़ों का दौर "दिन दूना-रात चौगुना" बढ़ने लगा।

"सह नौ वीर्यं करवावहै"—हम मिल कर एक जुट हो सर्वांगीण अभ्युदयोत्कर्ष एवं समष्टि के कल्याण के लिए पौरुष प्रकट करें—इस, स्व-पर तथा समष्टि के लिये कल्याणकारी महामन्त्र को भूल कर भारतीय स्वार्थ के वशीभूत हो केवल अपनी सुख-सुविधा एवं समृद्धि के लिये ही प्रयत्नशील रहने लगे। सामूहिक शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई। सबल सम्पन्न वर्ण एवं वर्ग अपने से निर्बल वर्ण अथवा वर्गों से, सबल जातियां निर्बल जातियों से और शक्ति-सम्पन्न राजा लोग अपने आपको और अधिक सशक्त बनाने के प्रयास में परस्पर लड़ने लगे। जो शक्ति अपने देश एवं देशवासियों के सर्वांगीण विकास, अभ्युदय-उत्कर्ष में पुरातन काल से लगती चली आ रही थी, वह सम्पूर्ण शक्ति स्वार्थाभिभूत भारतीयों द्वारा परस्पर एक-दूसरे को दबाये रखने, क्षीण बनाने, अशक्त बनाने और यहां तक कि मार डालने अथवा नष्ट करने में व्यर्थ ही व्यय होने लगी। राष्ट्रीय भावना एक प्रकार से पूर्णतः विलुप्त हो गई। अल्पसंख्यक वर्णों, वर्गों अथवा जातियों का वर्चस्व पृथक्-पृथक् क्षेत्रों में खण्डित-विखण्डित रूप में छा गया। साधन-सम्पन्न अल्पसंख्यक जातियों ने अपने आपको सवर्ण एवं सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं का सर्वोच्च अधिकारी घोषित कर बहुसंख्यक साधनविहीन अथवा विपन्न जातियों को अछूत, शूद्र आदि संज्ञा से अभिहित कर उन्हें न केवल राजनैतिक, सामाजिक एवं शैक्षणिक अधिकारों से ही अपितु उनके जन्मसिद्ध मानवीय अधिकारों तक से वंचित कर दिया।

इस सबका घोर दुष्परिणाम यह हुआ कि भारत की कुल जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग देश की राजनीति से एकदम उदासीन हो गया। राष्ट्रीय भावना के विलुप्त हो जाने और शासकों के परस्पर लड़ते-झगड़ते रहने के कारण राष्ट्रव्यापी प्रभुसत्ता का अस्तित्व तक अवशिष्ट नहीं रहा। इस सबके परिणामस्वरूप देश की सुरक्षा की ओर ध्यान देने वाली किसी सर्वोच्च शक्ति अथवा राजसत्ता का भारत में विक्रम की दशवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के पश्चात् कोई चिह्न तक नहीं रहा। देश में एक सार्वभौम सत्ता के अभाव के परिणामस्वरूप देश की सुरक्षा के लिये साधन जुटाने, धन लगाने आदि की दिशा में किसी का ध्यान नाममात्र के लिये भी आकर्षित नहीं हुआ। भारत में उस समय धन सम्पदा का किंचित्मात्र भी अभाव नहीं था। सम्पूर्ण देश बड़ा सम्पन्न एवं समृद्ध था, इसी कारण विदेशियों ने भारत को सोने की चिड़िया की संज्ञा दी। सार्वभौम प्रभुसत्ता के अभाव में देश की सुरक्षा के लिये जो धन लगाया जा सकता था उसका व्यय कलाकृतियों के प्रतीक विशाल भवनों, मन्दिरों और सोने की रत्नजटित भारी भरकम मूर्तियों के निर्माण में होने लगा। अपार सम्पदा के निधान तुल्य उन भवनों एवं मन्दिरों की सुरक्षा का भी समुचित प्रबन्ध न होने के कारण वे वस्तुतः विदेशियों को भारत पर आक्रमण करने हेतु निमन्त्रण देने वाले आकर्षण केन्द्र एवं उन्हें पुनः पुनः भारत की ओर आमन्त्रित करने वाले अग्रदूत ही सिद्ध हुए। यदि भारत में उस समय सार्वभौम शक्तिशाली प्रभुसत्ता होती तो उस दशा में न तो इतनी अतुल-अमित सम्पदा

आततायी आक्रान्ताओं के हाथ ही लगती और न इतनी बड़ी संख्या में भारतवासियों का जनसंहार ही होता ।

"तेजस्वी नावधीतमस्तु" अर्थात् हमारा सर्वांगीण अध्ययन तेजस्वितापूर्ण हो, जिससे कि हमारी तेजस्विता उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहे—इस महामन्त्र को भुला देना भी भारतवासियों के लिये बड़ा भयंकर अभिशाप सिद्ध हुआ । अभ्युदय, उत्कर्ष, सर्वांगीण विकास और विज्ञान की दौड़ में विश्व के अन्यान्य देश कितने आगे बढ़ गये हैं, संसार के अन्य देशों में कहां-कहां क्या-क्या हो रहा है, इस दिशा में विक्रम की सातवीं-आठवीं शताब्दी के आगमन के साथ ही संभवतः भारत-वासियों का अध्ययन वस्तुतः शून्यवत् रहा । दरियापार के देशों की यात्रा न की जाय, भारत के पश्चिमी प्रदेश की अटक आदि महानदियों को भी दरिया की संज्ञा दी जाकर उनको पार करने पर ब्राह्मणों द्वारा सामाजिक प्रतिबन्ध लगा दिया गया । इस प्रतिबन्ध के उपरान्त भी यदि किसी ने दरिया पार के देशों की यात्रा का दुस्साहस किया तो उसे समाज से बहिष्कृत कर उसे म्लेच्छ की संज्ञा से अभिहित किया जाने लगा । इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि भारतीय जनता संसार के अन्यान्य देशों, मुख्यतः पड़ौसी देशों की प्रगतिशील गतिविधियों, युद्ध में विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से उन देशों के द्वारा किये गये अभिनव आविष्कारों आदि से पूर्णतः अनभिज्ञ बनी रही । विक्रम की आठवीं शताब्दी (विक्रम सं. ७६८) में सिन्ध प्रदेश पर अरबों द्वारा किये गये आक्रमण के समय सिन्ध के राजा दाहिर और अरब सेनापति कासिम की सेनाओं के युद्ध में अरबों द्वारा आविष्कृत अभिनव अस्त्र अग्निपुञ्ज नफ्थे ने युद्ध की निर्णायक घड़ियों में दाहिर की विजय को घोर पराजय में परिवर्तित कर दिया, यह वस्तुतः भारतीयों के तेजस्वितावर्द्धक अध्ययन के नितान्त अभाव का ही कारण था ।

विक्रम की आठवीं शताब्दी में अरबों के हाथों हुई उस पराजय के उपरांत भी भारतीयों ने वि. सं. १०६६ तक रणकौशल विषयक विदेशियों के इस विज्ञान का "तेजस्वी नावधीतमस्तु" इस महामन्त्र से मुख मोड़ कर अध्ययन नहीं किया । उसका दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम यह हुआ कि सुबुक्तगीन (महमूद गजनवी के पिता) के साथ हुए संग्राम में जबकि विजयश्री भारतीय योद्धाओं का वरण करने वाली थी, एक नफ्था लाहोर के राजा आनंदपाल के हाथी के कपोल में लगा और राजा को लिये हुए हाथी के भागते ही भारतीय सेना रणांगण से भाग खड़ी हुई और भारतीयों को भयंकर अपमानजनक पराजय का मुंह देखना पड़ा ।

तत्कालीन, भारतीयों की संकीर्णतापूर्ण अनभिज्ञता के सम्बन्ध में महमूद गजनवी के समय में अनेक वर्षों तक भारत में रहे प्रसिद्ध ज्योतिर्विद एवं इतिहासकार अल्बेरुनी ने अपनी ऐतिहासिक कृति "तहकीके हिन्द" में प्रत्यक्षदर्शी

के रूप में जो लिखा है उसका आंग्ल भाषा में रूपान्तर पाठकों की जानकारी के लिए यहां प्रस्तुत किया जा रहा है :—

"The Hindus", Says he, "believe that there is no country but their's, no king like their's, no science like theirs............ If they travelled and mixed with other nations they would have soon changed their mind."

Al-Beruni also remarks that "their ancestors were not so narrow-minded as the present generation."[1]

इस प्रकार अपने पूर्वजों से विरासत के रूप में प्राप्त "तेजस्वी नावधीतमस्तु" इस दृढ़ संकल्प स्वरूप हितप्रद मन्त्र के विस्मरण का कटुतम फल भारतीयों को भोगना पड़ा।

"मा विद्विषावहै"—हम एक दूसरे को अपना सहोदर समझ कर परस्पर कभी द्वेष न करें—इस महामन्त्र के ६ अक्षरों में से प्रथमाक्षर 'मा" को तो भारतीयों ने पूर्ण रूप से ही भुला दिया और अन्तिम पांच अक्षरों "विद्विषावहै" (हम परस्पर एक दूसरे से द्वैष करें) को अपने वैयक्तिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में, अपने जीवन के हर क्षण, हर लहमें, हर पल में मन, वचन एवं कर्म से क्रियान्वित करना प्रारम्भ कर दिया। इसका घोर दुर्भाग्यपूर्ण दयनीय दुष्परिणाम यह हुआ कि भारत का राजनैतिक, सामाजिक, शैक्षणिक, धार्मिक एवं वैयक्तिक संतुलन पारस्परिक विद्वेष की प्रचण्ड आंधी में अर्क-तुल (आक की रूई) की भांति पूर्णतः छिन्न-भिन्न हो गया। भारत की संघशक्ति इतनी बुरी तरह बिखर गई कि भारत पर विदेशी आततायियों के आक्रमण का तांता सा लग गया। राष्ट्रव्यापी सार्वभौम सत्तासम्पन्न सशक्त शासन अथवा प्रभुसत्ता के अभाव में परस्पर लड़ कर पहले से ही अशक्त बने हुए राज्यों के शासक विदेशी आक्रमणों के समक्ष न टिक पाने के कारण, एक-एक करके सभी राज्य बड़ी तीव्र गति से बालू के महल की भांति ढहते ही चले गये।

देशव्यापी जनमानस में व्याप्त वर्ण-विद्वेष, उच्च वण, उच्च जाति, उच्च कुल के थोथे दम्भ, धार्मिक असहिष्णुता, झूठे मताग्रह और जन-जन के मन में घर किये हुए अपनी-अपनी ही श्रेष्ठता के अहं ने खुलकर ताण्डव नृत्य किया, जिसका सर्वनाशी दुष्परिणाम यह हुआ कि सम्पूर्ण भारत के किसी भी प्रदेश, नगर अथवा

1. The History and Culture of Indian people Vol. V. The struggle for Empire, page 127

By R. C. Majumdar

ग्राम का वातावरण पारस्परिक कलह-क्लेश से अछूता नहीं रहा और सामूहिक सद्भाव, सामूहिक सत्प्रयास के दर्शन तक भारत में दुर्लभ हो गये। इस प्रकार की कलहपूर्ण-विद्वेषजन्य सार्वत्रिक स्थिति के फलस्वरूप महती महनीया आर्यधरा के अभ्युदयोत्थान के द्वार एक प्रकार से अवरुद्ध और अधःपतन के द्वार दशों दिशाओं में खुले हो गये।

भारतवासियों एवं भारतीय राजाओं के अधःपतन के उपरिवर्णित कारणों पर प्रकाश डालते हुए साम्प्रतयुगीन लब्धप्रतिष्ठ इतिहासकार आर. सी. मजूमदार ने The History and Culture of the Indian People—The Struggle for Empire (Part V) के Cause of Collepses of Hindu Rule—शीर्षक के अन्तर्गत लिखा है :—

Subject to these natural limitations we may refer to some of the causes of the downfall of the Hindus that appear probable in the light of the available data. The foremost among these seem to be the iniquitous system of caste and absence of contact with the outside world. The first resulted in a fragmentation of Indian society into mutually exclusive classes, among whom the privileged minority preserved their vested interests by depriving the masses of many civic rights, specially of education and of free intercourse and association on equal terms with their fellowmen, and further, by imposing on them the most irritating disabilities on the one hand, and a tremendous weight of innumerable duties and obligations towards the privileged classes on the other. And this evil led to another. It bred among the leaders of the Indian people a vain pride in isolationism and insularity and that attitude of arrogance which has been noticed by Al-Biruni. "The Hindus", says he, "believe that there is no country but theirs, no king like theirs, no science like theirs........ If they travelled and mixed with other nations they would have soon changed their mind."

Al-Biruni also remarks that "their ancestors were not so narrow-minded as the present generation." This spirit of exclusive superiority was created and maintained by a process of intellectual fraud, in as much as almost the entire

literature of the period was utilised for this purpose and the masses were asked to follow it blindly in the name of the Holy Writ, to question whose authority was an unpardonable sin. It became thus a part of the Hindu Dharma not to cross the seas or even the territorial limits of certain hallowed areas. This insularity contributed largely to the supineness of the Indian Chiefs, and their utter lack of appreciation of the higher values of patriotism and national freedom in the context of India as a whole, apart from the narrow geographical regions in which they lived. Consequently they were unable to comprehend the far-reaching importance of, and the proper measures for, frontier defence, in view of the great political changes and evolution in military tactics which were taking place in the world outside.

The degraded level to which the majority of people was pushed down made them indifferent to country-wide dangers and kindred problems. This alone made possible the woeful situation that while the invaders swept across the country, the masses mostly remained inert. The people of the land, with a few exceptions, were indifferent to what was happening around them. Their voice had been hushed in silence by a religio-social tyranny. No public upheaval greets the foreigners, nor are any organised efforts made to stop their progress. Like a paralysed body, the Indian people helplessly look on, while the conqueror marches on their corpse. They look staggered, for a moment, only to sink back into a pitiable acquiescence to the inevitable to which they have been taught to submit.

Then again the false ideals of Kshatriya chivalry, taught them by their mentors, made the Rajput princes paralyse one another by perpetual internecine conflicts, and what was more fatal, made them oblivious of a broad national vision and patriotic sentiment.

This alone can explain why, or how, at a time when the country was threatened with a grave peril, the rulers of

the land devoted the best part of their energies in mutual fighting. The enormous wealth of the country was spent in building and enriching the temples which they proved unable to protect; whereas the most appropriate use for these resources should have been to organise a common defence against the invaders, backed by a national effort. On the contrary it was the very fabulous wealth of these defenceless temples and sacred towns which invited the foreigners and contributed greatly to the consequent disaster.

History had no meaning for the Hindu Kings, who presided over the destinies of this woe-striken land. The repeated warnings of the past went unheeded. The onslaught began with the Arab conquest of Sindh in the eighth century when the Hindus got a fore taste of what might happen in the future. But it assumed formidable proportions under the lead of Mahmud at the end of the tenth and beginning of the eleventh century. The next century and a half witnessed a cessation of this onslaught, barring a few comparatively minor and irregular raids. But when the offensive was resumed by another Turk, even though he was far inferior to Mahmud, he found the victim as ready for slaughter as it was two centuries earlier.

महमूद गजनवी द्वारा भारत पर किये गये संहारक सत्रह आक्रमणों के समय भारत में अनेक वर्षों तक रहकर भारत की तत्कालीन दयनीय अस्तव्यस्त दशा के प्रत्यक्ष द्रष्टा मुसलमान इतिहासकार अबुरिहां अल्बेरूनी ने और साम्प्रतयुगीन लब्धप्रतिष्ठ इतिहासविद् विद्वान् आर. सी. मजूमदार ने विदेशी आक्रान्ताओं के हाथों भारत की पुनः पुनः पराजय पर पराजय और भारतीय राजाओं के अधःपतन एवं विनाश के कारणों पर उपरिवर्णित रूप में जो प्रकाश डाला है, उससे स्पष्टतः यही प्रकट होता है कि विक्रम की आठवीं-नौवीं शताब्दी से ही भारतवासियों ने सामूहिक रूप से "सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु, सह नौ वीर्यं करवावहै, तेजस्वीनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै"–इस सर्वसिद्धिप्रदायी महामन्त्र को भुलाना प्रारम्भ कर दिया था। इस महामन्त्र के विस्मरण के परिणामस्वरूप आततायियों द्वारा भारतीयों का अनेकों बार भीषण संहार किया गया, भारत की अतुल-अपरिमेय धन-सम्पदा को लूटा गया, भारतीयों को बलात् धर्मपरिवर्तन के लिये बाध्य किया गया और आर्थिक, राजनैतिक एवं मनोवैज्ञानिक आदि सभी दृष्टियों से भारतवासियों को ऐसी अपूरणीय क्षति पहुंचाई गई कि १००० वर्ष व्यतीत हो जाने के उपरान्त इस

बीसवीं शती में भी भारतीय अद्यावधि अपनी पूर्व स्थिति के अनुरूप पूर्णतः अपने पैरों पर खड़े नहीं हो पाये हैं।

विक्रम की आठवीं शती से प्रारम्भ हुए एवं अनेक शताब्दियों तक चलते रहे विदेशी आततायियों के आक्रमणों से भारत के शासक वर्ग की, कुवेरोपम सम्पत्ति के स्वामी व्यापारी वर्ग की और कुल मिला कर भारतीय नागरिकों के प्रत्येक वर्ग की जो जन, धन एवं मनोबल की अपूरणीय क्षति हुई, उसके स्मरणमात्र से ही प्रत्येक सहृदय सिहर उठता है।

भारत पर अपने १७ बार के आक्रमणों के दौरान की गई लूट से अपने देश को मालामाल और अपनी गजनी की हुकूमत को एक बहुत बड़ी शक्तिशाली हुकूमत का स्वरूप देने के पश्चात् वि० सं० १०८७ (वीर नि० सं० १५५७) में महमूद गजनवी ने अपनी इहलीला समाप्त की। महमूद की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र अपार दौलत और सत्ता के लिये परस्पर लड़ने लगे। महमूद के छोटे पुत्र मसूद ने अपने बड़े भाई सुलतान मुहम्मद को गजनी के तख्त से हटा उसे अन्धा बना दिया और स्वयं गजनी राज्य का स्वामी बन गया। थोड़े ही समय पश्चात् गजनी की सेना ने मसूद को पदच्युत कर, उसके द्वारा अपदस्थ एवं अन्ध किये गये उसके बड़े भाई महमूद को पुनः गजनी का सुलतान बना दिया। कुछ ही समय पश्चात् मुहम्मद के पुत्र अहमद ने वीर नि० सं० १५६९ में मसूद को मौत के घाट उतार दिया। उसी वर्ष मसूद के पुत्र मौदूद ने मुहम्मद को मार कर गजनी के तख्त पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार महमूद गजनवी के उत्तराधिकारी पुत्र-पौत्र आदि परस्पर ही लड़-भिड़ कर कट मरे और महमूद गजनवी द्वारा संस्थापित एवं भारत से लूट में प्राप्त अपार दौलत के बल पर सुदृढ़ की गई गजनी की सल्तनत पर अन्ततोगत्वा वि० सं० १२०६ तदनुसार वीर नि० सं० १६७६ के आसपास सैफुद्दीन गौरी के भाई अल्लाउद्दीन हुसैन गौरी ने अधिकार कर गजनी के तुर्क राज्य का अन्त कर दिया।

उपर्युक्त अवधि के बीच महमूद गजनवी की मृत्यु के लगभग १४ वर्ष पश्चात् वीर नि० सं० १५७१ में दिल्ली के हिन्दू राजा ने हांसी, थाणेश्वर, सिन्ध और नगरकोट पर अधिकार कर वहां से मुसलमानों को भगा दिया। वहां मन्दिरों में मूर्तियों की प्रतिष्ठा-पूजा एवं मन्दिरों के नवनिर्माण आदि के कार्य पुनः प्रारम्भ हुए। उसी अवधि के आस-पास पंजाब के छोटे-बड़े राजाओं ने मिल कर लाहौर पर भी आक्रमण किया किन्तु ७ मास के कड़े संघर्ष के अनन्तर पंजाब के हिन्दू राजाओं की युद्ध में पराजय हो गई और इस प्रकार लाहौर का राज्य गजनवी के सुलतानों के अधीन ही रहा।

इस प्रकार वीर निर्वाण की सोलहवीं शताब्दी का अधिकांश समय भारतीय इतिहास की दृष्टि से बड़ा ही दुर्भाग्यपूर्ण एवं भारतवासियों के लिये वस्तुतः बड़ा त्रासकारी रहा।

००००००

जैन धर्म संघ पर दक्षिणपथ में पुनः संकट के घातक घने काले बादल

प्रस्तुत ग्रन्थमाला के तृतीय पुष्प में विस्तार के साथ प्रामाणिक शिलालेखों और ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर यह बताया जा चुका है कि गंग, कदम्ब, राष्ट्रकूट और होय्सल राजवंशों के शासन काल में दक्षिण में जैनधर्म की, जैन संघ की, उल्लेखनीय अभिवृद्धि हुई। उनके राज्यकाल में जैनधर्म की गणना दक्षिण के धर्मों में एक प्रमुख धर्म के रूप में की जाने लगी थी। ईसा की दूसरी शताब्दी से ईसा की सातवीं शताब्दी तक दक्षिण में जैनधर्म बहुजन सम्मत सर्वाधिक वर्चस्वशाली एवं शक्तिसम्पन्न धर्म माना जाता रहा। वीर निर्वाण सम्वत् १५०१ तदनुसार ईस्वी सम्वत् ९७४ में राष्ट्रकूट वंशीय राजा इन्द्र चतुर्थ के संलेखनापूर्वक देहावसान हो जाने पर[1] पश्चिमी चालुक्यों का शासन काल आया।

पश्चिमी चालुक्यों के शासन काल में जैनधर्म की प्रगति एक प्रकार से अवरुद्ध सी हो गई। राज्याश्रय के कारण जैनधर्म एक सर्वाधिक वर्चस्वशाली धर्म माना जाता था वह पश्चिमी चालुक्यों के शासनकाल में राज्याश्रय न मिलने से शनैः शनैः गौण होता चला गया। जैन वसतियों में से जैनों के आराध्यदेवों की मूर्तियां अनेक क्षेत्रों में उखाड़ कर फैंक दी गईं। जैन प्रतिमाओं के स्थान पर पौराणिक शैव अथवा वैष्णव मूर्तियां प्रतिष्ठापित कर दी गईं। किन्तु इस प्रकार की स्थिति अधिक समय तक नहीं चली। ईस्वी सन् ११२६ में कल्चुरी राजा विज्जल ने चालुक्य राज के सिंहासन पर अधिकार कर अपने आपको सार्वभौम महाराजा घोषित किया। विज्जल के प्रारम्भिक शासनकाल में जैनधर्म की पुनः चौमुखी प्रगति प्रारम्भ हुई। विज्जल स्वयं जैन था और उसने अपने आपको चक्रवर्ती घोषित किया था। इस समय जैन संघ ने अपनी खोई हुई शक्ति को पुनः सुगठित किया और पुनः एक शक्तिशाली धर्मसंघ का रूप धारण करने लगा। किन्तु जैनधर्म का यह वर्चस्व वस्तुतः अस्त होते हुए दीपक की टिमटिमाहट के समान ही था। महाराजा विज्जल का बसवा नामक एक मन्त्री गुप्त रूप से लिंगायत धर्म का प्रचार करने लगा और अपने इस धर्म के प्रचार के लिये वह कल्याणी के राज्यकोष को अपनी इच्छानुसार व्यय करने लगा। अन्ततोगत्वा जब विज्जल को यह ज्ञात हुआ कि उसका राजद्रोही मन्त्री बसवा अपने राज्यकोष से बहुत बड़ी धनराशि लिंगायत धर्म के प्रचार

---

१. (अ) श्रवणबेलगोल शिलालेख संख्या ५७

(आ) Shravan belgol Inscriptions, by. B Lewis Rice M. R. A. S., Appendix B. page 71

प्रसार पर व्यय कर रहा है तो उसने राज्यकोष की देख-रेख का कार्य अपने हाथ में ले लिया।

इस पर मन्त्री बसवा ने महाराजा विज्जल को धोखे से जहर दिलवाकार मरवा डाला। विज्जल के राजकुमारों ने बसवा को मार डालने के लिये उसके घर पर आक्रमण किया किन्तु अपराधी बसवा वहां से पहले ही भाग निकला था। राजकुमारों ने अपनी सेना के साथ बसवा का पीछा किया। धारवाड़ के पास बसवा ने जब यह देखा कि विज्जल के राजकुमार अपनी सेना के साथ उसका पीछा कर रहे हैं तो उसने अपने बचाव का और कोई उपाय न देख कर एक कुएं में छलाँग लगा ली। बसवा का प्राणान्त हो गया। किन्तु उसकी गणना धर्म पर प्राण न्यौछावर करने वाले महावीर के रूप में की जाने लगी। लिंगायतों ने चारों ओर राजद्रोह का झंडा उठा कर जैन धर्मावलम्बियों का सामूहिक संहार करना प्रारम्भ कर दिया। लिंगायत साधुओं द्वारा बनाये गये क्रान्तिगीत जन-जन की जिव्हा पर गुँजरित होने लगे। उन क्रान्तिगीतों का जन-जन के मन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि विशाल कलचुरी राज्य की सीमाओं में जैनों पर अनेक प्रकार के भीषण अत्याचार किये जाने लगे। वणिजग जाति, जो शताब्दियों से जैन धर्म की अनुयायिनी और कर्णाटक की सर्वाधिक सम्पत्तिशालिनी जाति गिनी जाती थी, लिंगायतों ने उस जाति का बलात् सामूहिक धर्म परिवर्तन करवाकर पूरी की पूरी वणिजक जाति को जैन से लिंगायत धर्म की अनुयायिनी जाति बना दिया। जब तक वणिजक लोग जैन धर्म के अनुयायी रहे वे शताब्दियों से न केवल अपने प्रदेश में ही अपितु दूर-दूर के प्रदेशों एवं क्षेत्रों में भी जैन धर्म के प्रचार प्रसार के लिये प्रचुर मात्रा में धन व्यय करते रहे। वणिजक जाति के बलात् जैन से लिंगायत बना दिये जाने पर जैन धर्म पर एक ओर तो जैनधर्म के अनुयायियों की संख्या में कमी होने का भयंकर आघात पहुंचा और दूसरी ओर उस धनाढ्य जाति से जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये प्राप्त होने वाली विपुल धनराशि के नितान्त अवरुद्ध हो जाने के कारण जैनधर्म के प्रचार प्रसार कार्य पर बड़ा ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

लिंगायतों के मनोबल को उत्तरोत्तर बढ़ाते रहने वाली और जैन धर्मानुयायियों के मनोबल को पूर्णतः कुंठित कर देने वाली अनेक जन कथाएं लिंगायत सम्प्रदाय के कर्णधारों द्वारा कर्णाटक एवं आन्ध्र प्रदेश में प्रसारित की गई। इन जन गीतों एवं जन कथानकों ने एक प्रकार से आन्ध्र प्रदेश में तो जैनों का अस्तित्व तक सदा के लिये समाप्त कर दिया।

इस प्रकार की एक जनकथा सर रामकृष्ण भण्डारकर द्वारा प्रकाश में लाई गई है। उस कथानक का नाम "महामण्डलेश्वर कामदेव" है। इस पर काल का कोई उल्लेख तो नहीं है किन्तु अनुमान किया जाता है कि यह ईस्वी सन् ११८१ से १२०३ के बीच की है। उसमें जो कथानक है वह इस प्रकार है :—

"भगवान् शंकर और माता पार्वती एक समय कैलाश पर्वत पर एक शिवभक्त महात्मा की कुटिया में अतिथि के रूप में विराजमान थे। उस समय नारद—'नारायण नारायण' का सस्वर जाप करते हुए भगवान् शंकर के समक्ष उपस्थित हुए। नारद ने भगवान् शंकर से निवेदन किया—"आर्यधरा पर जैनों और बौद्धों की शक्ति प्रबल रूप से बढ़ गई है।"

इस पर भगवान् शंकर ने अपने गण वीरभद्र को आज्ञा प्रदान करते हुए कहा—"वीरभद्र ! तुम धरती पर मानव के रूप में जन्म ग्रहण करो और जैनों तथा बौद्धों की शक्ति को अवरुद्ध कर उन पर अपना अधिकार स्थापित करो।"

भगवान् शिव की आज्ञा प्राप्त होते ही वीरभद्र ने पुरुषोत्तम पट्ट (भट्ट) नामक एक ब्राह्मण को स्वप्न में सूचित किया—"द्विजोत्तम ! तुम्हें शीघ्र ही एक पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी।" पुरुषोत्तम भट्ट का स्वप्न साकार हुआ और उसकी पत्नी ने समय पर एक तेजस्वी बालक को जन्म दिया। माता-पिता ने उस बालक का नाम राम रक्खा। बालक राम शैशवकाल से ही शिव का भक्त था और ज्यों-ज्यों वह बालक बड़ा होता गया त्यों-त्यों उसका अधिकांश समय भगवान् शंकर की आराधना में व्यतीत होने लगा। "इस कारण वह बालक एकान्तद रमैया के नाम से विख्यात हुआ।"

इस कथानक में आगे बताया गया है कि यही एकान्तद रमैया के नाम से विख्यात बालक राम आगे चलकर अपने देश में जैन धर्म के वर्चस्व को समाप्त करने में सफलकाम हुआ। इस लोक कथानक में आगे यह बताया गया है कि जब शिव का परम भक्त रमैया भगवान् शंकर की पूजा करता था तो उस समय जैनों ने उसे ललकारा कि यदि तुम्हारे आराध्य देव में शक्ति है तो उसका चमत्कार दिखाओ। एकान्तद रमैया ने प्रमुख जैन धर्मानुयायियों की इस ललकार को सुनकर भगवान् शंकर की शक्ति का चमत्कार बताने के उद्देश्य से अपने हाथ से ही अपना सिर काटकर धड़ से अलग कर दिया। अपना सिर काटने से पहले एकान्तद रमैया ने जैनों से यह प्रतिज्ञा करवा ली थी कि यदि वह भगवान् शंकर की शक्ति का चमत्कार बताने में सफल हो गया तो जैनों को अपनी वसतियां छोड़कर उस प्रदेश से बाहर चले जाना होगा। जैनों ने ही उसे कहा था कि तुम अपने हाथ से अपना सिर काटकर अपने धड़ से अलग कर दो। यदि तुम्हारे आराध्य देव की शक्ति से तुम्हें अपना सिर पुनः प्राप्त हो जायगा—यदि तुम पुनः जीवित हो जाओगे तो हम अपनी प्रतिज्ञा का निर्वहन करेंगे। इस प्रतिज्ञा के पश्चात् एकान्तद रमैया ने अपना सिर अपने हाथ से काट डाला।

लेकिन बड़े आश्चर्य की बात हुई कि दूसरे ही दिन एकान्तद रमैया पूर्ववत सशिर व सशरीर जैनों के समक्ष उपस्थित हुआ और उनसे अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने

का आग्रह करने लगा। जैनों ने अपनी प्रतिज्ञा को भंग किया और वे अपनी वसतियों में ही बने रहे। प्रतिज्ञा विमुख जैनों पर एकान्तद रमैया बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसने उसी समय जैनों के आराधना स्थलों को नष्ट करना प्रारम्भ कर दिया। जैनों ने महाराज विज्जल के समक्ष उपस्थित होकर एकान्तद रमैया के विरुद्ध अपना अभियोग रक्खा। एकान्तद रमैया भी विज्जल के समक्ष उपस्थित हुआ और उसने जैनों तथा अपने बीच हुई प्रतिज्ञा को दोहराते हुए कहा :—"मैं पुनः आपके समक्ष अपने सिर को काटकर और भगवान् शंकर के कृपाप्रसाद से पुनः उसे प्राप्त करने का चमत्कार दिखाने को कटिवद्ध हूं।" यह कहते हुए एकान्तद रमैया ने अपना सिर पुनः अपने हाथ से ही काटकर तत्काल यथावत् रूप में फिर प्राप्त कर लिया। इस चमत्कार को देखकर महाराजा विज्जल को शैव धर्म पर पूर्ण प्रतीति हो गई और उसने जैनों को अपने राज प्रासाद से तत्काल बाहर चले जाने का आदेश देते हुए कहा :—"अब तुम सब लोग शैवों के साथ में पूर्णतः शान्तिपूर्ण व्यवहार रखो।"

यह है कलचुरी राज्य के विशाल साम्राज्य में पराजय के साथ जैनों के ह्रास की कहानी। इस कथानक में आगे यह भी बताया गया है कि जैनों ने अपनी प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिये अनेक बार प्रयास किये किन्तु उन्हें एक बार भी सफलता प्राप्त नहीं हुई।

इसके अतिरिक्त जैनों के ह्रास के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के लोक कथानक प्रचलित हुए। एक कथानक में कहा गया है कि होय्सल राजवंश अपने उदय के साथ ही जैनधर्म का प्रबल समर्थक रहा किन्तु इस वंश के बिट्टी देव नामक एक बड़े शक्तिशाली राजा ने, जिसका कि शासनकाल ईस्वी सन् ११११ से ईस्वी सन् ११४१ तक रहा, अपने शासन के उत्तरार्द्ध काल में रामानुजाचार्य के प्रभाव में आकर वैष्णवधर्म स्वीकार कर लिया और अपना नाम विष्णुवर्द्धन रखा। इससे भी जैनधर्म का उत्तरोत्तर ह्रास ही होता चला गया।

जहां तक विट्टीदेव विष्णुवर्द्धन के धर्म परिवर्तन का प्रश्न है, इसी इतिहास-माला के तृतीय भाग में प्रमाण पुरस्सर यह प्रतिपादित किया गया है कि विष्णुवर्द्धन ने चोलों के षड्यन्त्र से येन केन प्रकारेण बच कर अपने यहाँ आये हुए रामानुजाचार्य को अपने राज प्रासाद में आश्रय दिया और पर्याप्त समय तक उन्हें अपने यहां रखा भी किन्तु उसने धर्म परिवर्तन नहीं किया। वह अन्त तक जैनधर्म का अनुयायी ही बना रहा। उसकी महारानी शान्तल देवी भी जैन धर्म की प्रबल पक्षपातिनी थी। वह भी अन्त समय तक आचार्य प्रभाचन्द्र की परम भक्त श्राविका बनी रही।

विट्टीदेव विष्णुवर्द्धन के आश्रय में रामानुजाचार्य के पर्याप्त समय तक रहने के परिणामस्वरूप लोगों में सम्भव है इस प्रकार की बात फैल गई हो कि विष्णु-वर्द्धन ने वैष्णवधर्म स्वीकार कर लिया है। धर्म परिवर्तन न किये जाने के उपरान्त

भी एक अच्छी अवधि तक वैष्णव धर्म के पुनरुद्धारक अथवा संस्थापक रामानुजाचार्य के पर्याप्त समय तक विष्णुवर्द्धन के राजप्रासाद में रहने से इस प्रकार की बात अथवा अफवाह लोक में प्रचलित हो जाना सहज स्वाभाविक ही है कि उसने जैनधर्म का परित्याग कर वैष्णवधर्म स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार की अफवाह अथवा जन श्रुति के यत्र तत्र लोक में प्रचलित हो जाने के परिणामस्वरूप भी जैनों के मनोबल का ह्रास होना तथा वैष्णव एवं लिंगायत सम्प्रदायों के मनोबल का अभिवृद्ध हो जाना स्वाभाविक ही था। वस्तुत: यह तो एक ऐतिहासिक तथ्य है कि भारत में प्राचीन समय में जिस धर्म को राजवंश का आश्रय अथवा प्रश्रय जितना अधिक प्राप्त हुआ उतनी ही अधिक उस धर्म ने प्रगति की और राजवंशों का प्रश्रय न पा सकने की दशा में उस धर्म का सुनिश्चित रूप से ह्रास हुआ।

इस प्रकार शक्तिशाली चोल राजाओं की जैनधर्म के प्रति शत्रुतापूर्ण वृत्ति एवं लिंगायतों द्वारा जैनधर्मावलम्बियों के सामूहिक संहार के परिणामस्वरूप और सम्भवत: होय्सल राज विष्णुवर्द्धन की तटस्थवृत्ति के कारण भी जैनों को प्रबल आघात सहने पड़े। होय्सल महाराजा विष्णुगोप के मन्त्री गंगराय ने तथा होय्सलराज नरसिंहदेव के मन्त्री हल ने जैनधर्म को उसके पूर्व के प्रतिष्ठित पद पर अधिष्ठित करने के अनेक प्रयास किये। किन्तु रामानुज सम्प्रदाय के योजनाबद्ध विरोध एवं अन्ततोगत्वा लिंगायतों के सर्व संहारकारी घातक आक्रमणों के परिणामस्वरूप जैन धर्म का दक्षिण में उत्तरोत्तर ह्रास होता ही चला गया।

इन सब विकट परिस्थितियों के उपरान्त भी जैनधर्म कर्णाटक प्रदेश में पूर्णत: नष्ट नहीं हुआ। अपने वर्चस्व के इस ह्रासोन्मुख संक्रान्तिकाल में भी अच्छी संख्या में जैन कर्णाटक प्रदेश में विद्यमान रहे। मैसूर के उत्तरवर्त्ती राजवंश द्वारा जैन धर्मावलम्बियों को समय-समय पर सहायता भी प्राप्त होती रही। विदेशी शासकों की भी जैनों के साथ यत्किंचित् उदारतापूर्ण वृत्ति ही रही। उदाहरणस्वरूप हैदर नाइक ने जैन मन्दिरों को ग्रामदान भी किये।

ईस्वी सन् १३२६ के आसपास मुस्लिम आक्रान्ताओं ने होय्सल राज्य को उखाड़ फैंका। मुसलमानों के आक्रमणों से जो अराजकता उत्पन्न हुई उस अराजकता के परिणामस्वरूप विजयनगर में एक शक्तिशाली हिन्दू राज का अभ्युदय हुआ। विजयनगर के चालुक्यवंशी राजा प्राय: वैष्णव धर्मावलम्बी रहे और उनके मन्त्री भी अधिकांशत: ब्राह्मण ही रहे। इस कारण जैन धर्मावलम्बियों को अपनी शक्ति के संचय का तो कोई अवसर नहीं मिला, किन्तु विजयनगर के शासकों ने वैष्णवधर्मावलम्बियों द्वारा जैन धर्मावलम्बियों के विरुद्ध किये गये अभियानों से जैनधर्मावलम्बियों की रक्षा अवश्य की। विजय नगर के किसी भी राजा ने किसी जैन को

नहीं सताया। वस्तुत: विजयनगर के राजाओं ने जैनों को संकट की घड़ियों में सब प्रकार से संरक्षण प्रदान किया।

उदाहरण के रूप में ईस्वी सन् १३५३ से ईस्वी सन् १३७७ तक के विजयनगर राज्य पर चालुक्यराज बुक्कराय के शासनकाल में जो जैनों और वैष्णवों के बीच में एक ऐतिहासिक सन्धि करवा कर जैन धर्मावलम्बियों की बुरे वक्त में बड़ी सहायता की गई, वह संसार में अन्यत्र दुर्लभ एवं अतीव श्लाघनीय आदर्श है। डॉ० पी० बी० देसाई ने बुक्कराय के इस अनुशासन के सम्बन्ध में अपनी ऐतिहासिक कृति "ए हिस्ट्री आफ कर्णाटिक" में लिखा है :—

Minorities Protected :—One event of Bukka's reign which has assumed national importance on account of its magnitude in the socio-religious plain was the Jaina-Ramanuja conciliation. The dispute between the Jainas and the Shrivaishnavas (The followers of Ramanuja) over the rights and privileges in respect of the religious performances assumed serious proportions at this time. The Jainas, who were in a state of minority, were harassed by the Shrivaishnavas, who formed a majority. The Jainas, therefore, appealed to Vijayanagara Sovereign for justice. In the presence of the representatives of the two communities and the general public, who had assembled in his court, Bukka gave his verdict which may be styled the Jaina-Ramanuja award. According to the terms of the award, the majority community was held responsible for safe-guarding the rights, privileges and interests of the minority. In other words, it was the proclaimation of a royal charter of rights granted in favour of the minorities in the State.

Instances are rare in history of such an equitable decision in religions disputes. This exemplary award stands testimony to the wisdom of the great monarch, who conferred it. It proved effective as it helped to establish goodwill among the various communities, classes and sections within his empire. This catholic out look outlined the general policy of all Vijayanagara Kings, who, following Bukka, transcended the narrow barriers and conferred equal rights and benefits to

their subjects belonging to different religions and faiths, be they Hindus of different sects."[1]

इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है :—

अल्पसंख्यकों को बुक्कराय द्वारा दिया गया संरक्षण

विजयनगर के महाराजा बुक्कराय के शासनकाल की एक राष्ट्रीय स्तर की महत्त्वपूर्ण घटना से महाराजा बुक्कराय की सामाजिक एवं धार्मिक न्याय सम्बन्धी अत्यन्त उदारतापूर्ण वृत्ति प्रकाश में आती है। वह घटना है जैन, रामानुज संघर्ष की समस्या का समाधान करने वाला बुक्कराय का अनुशासन। बुक्कराय के शासनकाल में जैनों और रामानुजाचार्य के अनुयायी श्री वैष्णवों के बीच अपने-अपने अधिकारों, सुविधाओं और धार्मिक अनुष्ठानों के प्रश्न को लेकर बड़ा संघर्ष उत्पन्न हुआ। जैन धर्मावलम्बी, जो कि उस समय अल्पसंख्यक हो चुके थे, श्री वैष्णवों द्वारा जो कि उस समय जैनों से बहुत बड़ी संख्या में हो गये थे, सताये जाने लगे। इस पर पीड़ित जैनों ने विजयनगर के सार्वभौम सत्ता सम्पन्न महाराजा बुक्कराय के समक्ष न्याय की याचना के साथ अपना पक्ष रखा। महाराजा बुक्कराय ने दोनों ही धर्मावलम्बियों के प्रमुख प्रतिनिधियों को अपनी न्याय सभा में बुलाया। महाराजा बुक्कराय के न्याय को सुनने के लिये सभी वर्गों के प्रजाजन भी वहुत बड़ी संख्या में बुक्कराय की न्याय सभा में उपस्थित हुए। दोनों पक्षों को बड़े ध्यानपूर्वक सुनने के पश्चात् महाराजा बुक्कराय ने अपना निर्णय सुनाया, जिसमें सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि बहुसंख्यक समुदाय के लोगों का यह सबसे बड़ा प्राथमिक कर्त्तव्य स्थापित किया गया कि वे अल्पसंख्यक वर्गों के लोगों के अधिकारों, उनकी सुविधाओं और उनके हितों की रक्षा करे। दूसरे शब्दों में यदि कहा जाय तो अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा करने वाली वह एक राजकीय घोषणा थी।

संसार के इतिहास में इस प्रकार के उदाहरण अन्यत्र अलभ्य हैं जिसमें कि विभिन्न धर्मावलम्बियों के संघर्ष को, कलह को शान्त करने वाला इस प्रकार का सबको समान न्याय देने वाला निर्णय दिया गया हो। सार्वभौम सत्ता सम्पन्न महाराजा बुक्कराय द्वारा दिया गया यह निर्णय उनके महान् उदारतापूर्ण बुद्धि-कौशल का एक अतीव आदर्श एवं प्रत्येक के लिये अनुकरणीय उदाहरण है।

महाराजा बुक्कराय का यह ऐतिहासिक निर्णय बड़ा ही प्रभावपूर्ण सिद्ध हुआ। इससे विजयनगर साम्राज्य की विशाल सीमाओं में रहने वाले प्रजाजनों में विभिन्न जातियों, वर्गों एवं धर्मावलम्वियों में परस्पर धार्मिक सहिष्णुता, पारस्परिक सौहार्द्रपूर्ण प्रीति का पुनः प्रावल्य के साथ प्रादुर्भाव हुआ। महाराजा

1. A History of Karnataka, by Dr. P. B. Desai, page 342.

बुक्कराय के इस आदर्श मानवीय दृष्टिकोण का उनका भावी पीढ़ियों के उत्तराधिकारियों पर भी बड़ा चमत्कारिक एवं दूरगामी प्रभाव पड़ा और महाराजा बुक्कराय के इस पवित्र मानवीय दृष्टिकोण को सदा अपने ध्यान में रखते हुए उनके उत्तराधिकारियों ने संकुचित मनोवृत्ति का परित्याग कर विशाल हृदयता एवं उदारता प्रकट करते हुए अपनी प्रजा के सभी वर्गों को चाहे वे हिन्दू हों अथवा अन्य किसी वर्ग के, सबको समान न्याय प्रदान किया।

महाराजा बुक्कराय का शासन ईस्वी सन् १३५३ से १३७७ तक का ऐतिहासिक प्रमाणों से इतिहासविदों द्वारा मान्य किया गया है। जैन वैष्णव संघर्ष की यह घटना शक सम्वत् १२९० तदनुसार ईस्वी सन् १३६८ में बुक्कराय के शासन के पन्द्रहवें वर्ष की घटना है। जैनों और वैष्णवों के प्रतिनिधियों को अपना निर्णय सुनाते हुए बुक्कराय ने जैन प्रतिनिधियों के हाथ वैष्णव प्रतिनिधियों के हाथों में थमा कर कहा—"आज से आप लोग एक दूसरे के मित्र हुए। आप दोनों का परम कर्त्तव्य होगा कि एक दूसरे को अपने धार्मिक कृत्य करने में किसी की ओर से किसी भी प्रकार की कोई बाधा नहीं पहुंचाई जाय। सब अपने-अपने धार्मिक अनुष्ठान, धार्मिक क्रिया-कलाप पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ करते रहें।" तदनन्तर महाराजा बुक्कराय ने वैष्णवों को आज्ञा दी कि वे सम्पूर्ण विजयनगर राज्य की सीमाओं में वर्तमान अपने-अपने मन्दिरों में इस अनुशासन को अक्षरशः उट्टंकित करवा कर सच्चे मन से इस अनुशासन का पूर्ण रूपेण परिपालन करते रहें।

जैनों और वैष्णवों में सौहाद्रपूर्ण सन्धि करवाने वाला महाराज बुक्कराय का वह अनुशासन स्थान-स्थान पर मन्दिरों में प्रस्तरशिलाओं एवं प्रस्तर स्तम्भों पर उट्टंकित करवाया गया। जैनों के धर्मस्थान श्रमण वेलगोल की पहाड़ी पर मन्दिर के समक्ष एक प्रस्तर खण्ड पर भी इस अनुशासन को उट्टंकित करवाया गया, जो श्रवण वेलगोल नगर में अद्यावधि विद्यमान है।

महाराज बुक्कराय के उस अनुशासन का आंग्लभाषा में रूपान्तर ईस्वी सन् १८०९ में एशियाटिक रिसर्चेज वाल्यूम ९ में पृष्ठ २७० पर छप चुका है। उसकी प्रतिलिपि यथावत् यहां प्रस्तुत की जा रही है। जो इस प्रकार है :

(Shilanushashan of Maharaja Bukka Rai of Vijayanagar No. 136 Date A. D. 1368 size 3 ft. 4 inch × 2 ft. 2 inch mentioned in the Book "Shrawan Belgol Inscriptions" written by Shri Lewis Rice MRAS, at page 179).

Be it well. Possessed of every honour, the great fire of the mare-faced to the ocean of herities, the original slave at the lotus feet of Shri Ranga Raja (or the King of Shri Ranga)

donor of a path to the jewelled temple of the world of holy Vishnu, Ramanuja triumphs, the king of royal Yatis.

In the Saka Year 1290, the year Kilaka, the 1st of the bright fortnight of Bhadrapada, Thursday, at the time when, be it well. The auspicious Mahamandaleshwara, the victor over hostile kings, the punisher of Kings, who break their word, the auspicious Vira Bukka Raya was conducting the government of world mutual strife having arisen between the Jainas and the Bhaktas (or faithful), the blessed people (i.e. the Jainas) of all the districts including within Anegondi, Hisapattana, Penagonde and Kallehadapattana, having made petition to that Bukka Raya of the injustice done by the Bhaktas, the Maharaya, under the hand of the Shri Vaishnavas of the eighteen districts, especially of Kovil Terumale, Perumal Kovil and Terunarayanpuram, including all the acharis, all the Samayas, all the respectable men, those living on alms, the (temple) servants of the holy tredent-mark, of the holy feet, and the drawers of water, the four (thrones) and the eight tatas, the instructors of the true faith, the Tirukula and Jambawakula, declaring that between the Vaishnava Darshana and their Jaina darshana, there was no difference whatever, the king, **taking the hand of the Jainas and placing it in the hand of the Vaishnavas,** (decreed as follows) :—

In this Jaina darshana, according to former custom, the five big drums and the Kalsas (or vasa) will (continue to) be used. If to the Jaina darshana any injury on the part of the Bhaktas should arise, it will be protected (in the same manner) as if injury to the Vaishnavas had arisen.

In (the matter of) this custom, the Shri Vaishnavas will set up the decree in all the Bastis through the Kingdom. As long as sun and moon endure, the Vaishnava Samaj will continue to protect the Jaina Darshana. The Vaishnavas cannot (be allowed to) look upon the Jainas as in a single respect different.

The tatas of holy Tirumale, by consent of the blessed people of the whole kingdom, the Jainas throughout the whole kingdom having given according to them doors house by house one fanam a year (to provide) for the personal protection of the God at the tirtha of Balu-gula will with the gold so raised appoint month by month twenty servants for the personal protection (or as a body-guard) of the God, and with the remainder of the gold will cleanse and purify the ruined Jinalayas, and as long as sun and moon endure, allowing no failure in this custom, and giving (the money) year by year, will acquire fame and merit.

This rule now made who so transgrasses is a traitor to the King, a traitor to the assembly (Sangha) and to the congregation (Samudaya). Be he devotee, or he be village headman, that destroy this work of merit, they incur the guilt of killing a cow or a Brahaman on the banks of Ganges. Who takes away hand given by himself or by another is born a worm in ordure for sixty thousand years.

Subsequent addition at the top–Dvi Satti of Kallsha and Husuri Setti having made application to Bukkaraya, the tatas of Terumal came and had the, repaired. And both parties uniting bestowed on Husuri Setti the title of Sangha Nayaka.[1]

उपरिलिखित बुक्कराय के शिलानुशासन का हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार है :–

शुभ हो । प्रत्येक सम्मान के सुयोग्य सुपात्र शाही यतियों के राज राजेश्वर, पवित्र विष्णु रामानुज सम्प्रदाय के रत्निम मन्दिरों के मुख्य आश्रयदाता (दान-दाता) रंगराज (श्री रंगा के राजा) के चरण-कमलों में दास का प्रणाम ।

---

1. This inscription is commonly known as Ramanuj chari's Shashana. An erroneous version of it, made for Colonel Mackenzee, was published in 1809 in Asiatic Researches Vol. IX Page 270. The situation of the inscription is there said to be "On a stone upon the Hill of Belgola, in front of the Image". If this was correct, the stone must have been since removed to its present position, which is in the town and not on the Hill.

शक सम्वत् १२९० किलक वर्ष के भाद्रपद शुक्ला की एकम गुरुवार का यह समय शुभ हो।

परम श्रद्धेय महामण्डलेश्वर, देशी राजाओं के विजेता अपने वचन (प्रतिज्ञा) तोड़ने वाले राजाओं को दण्ड देने वाले श्रद्धेय वीर बुक्कराय विश्व की सरकार का संचालन कर रहे थे। जैनों और भक्तों—(रामानुज के भक्तों) के मध्य आपसी संघर्ष पैदा हुआ। समस्त जिले मय अनेगोण्डी, ह्सिापट्टन, पेनागोण्डे और कल्लेहदपट्टन के सम्माननीय व्यक्तियों (जैनों) ने राजा बुक्कराय के पास भक्तों द्वारा किये गये अन्याय के विरोध में आवेदन प्रस्तुत किया। महाराजा ने अपनी सभा में इन सभी (अठारह प्रान्त—विशेषकर कोविल, तेरुमल, पेरुमल-कोविल और तेरुनारायणपुरम् के वैष्णव, जिनमें सभी आचार्य व समया, प्रतिष्ठित पुरुष, भिक्षाजीवी, मन्दिर के सेवक, श्रीचरणों के पवित्र चिह्न से अंकित, पानी लाने वाले, चार सिंहासन के और आठ त्राता, सच्चे धर्म के शिक्षक अर्थात् धर्मोपदेशक, तिरुकुल और जम्बवकुल आदि भी सम्मिलित थे) की उपस्थिति में घोषणा की कि वैष्णव दर्शन और जैन दर्शन में कोई मतभेद नहीं है। तदनन्तर महाराजा बुक्कराय ने जैनों के हाथ वैष्णवों के हाथों में थमाते हुए इस प्रकार का निर्णय दिया—"इस जैन दर्शन में परम्परागत रिवाज के अनुसार पांच बड़े ढोल और कलशों का प्रयोग यथावत् जारी रहेगा। यदि जैन दर्शन पर भक्तों की ओर से कोई किसी प्रकार की आंच-आपत्ति आवेगी तो उसे वैष्णवों पर आई हुई आपत्ति समझ कर ही सुलझाया जायगा और जैनों की पूरी तरह से रक्षा की जायगी।"

इस सम्बन्ध में जो यह निर्णय दिया गया है उसका सम्पूर्ण राज्य के सभी वसतियों, ग्रामों एवं नगरों में वैष्णवों द्वारा पूर्ण रूप से पालन किया जाय, इस प्रकार की समुचित व्यवस्था वैष्णवों को करनी होगी। जब तक पृथ्वी पर सूर्य चन्द्र विद्यमान हैं तब तक वैष्णव समाज जैन दर्शन का रक्षण करता रहेगा। वैष्णव जैनियों को किसी भी अवस्था में अपने से पृथक् नहीं देखेंगे।

पवित्र तिरुमलै के ताता, सम्पूर्ण राज्य के प्रतिष्ठित व्यक्तियों की स्वीकृति से सम्पूर्ण राज्य के जैनों को अधिकार दिया गया कि प्रत्येक घर से एक फैनम् वार्षिक बेलगोल तीर्थ के भगवान् के रख-रखाव रक्षण आदि के लिये लेंगे। इस प्रकार एकत्रित किये गये स्वर्ण से प्रति मास बीस सेवक भगवान् के व्यक्तिगत रक्षण (अंगरक्षक) के लिये रहेंगे और शेष बचा सोना जिनालयों की सफाई, शुद्धि एवं जीर्णोद्धार के कार्यों में व्यय किया जायगा। जब तक सूर्य और चन्द्रमा विद्यमान हैं इस नियम में किसी भी प्रकार की स्खलना (त्रुटि) नहीं आने देंगे। इस प्रकार प्रतिवर्ष अर्थदान से यश और पुण्य का अर्जन करते रहेंगे।

यह जो नियम अभी बनाया गया है, इस नियम का जो कोई भी व्यक्ति उल्लंघन करेगा, वह राजा का, संघ का और समुदाय का द्रोही होगा। चाहे वह

पुजारी हो अथवा ग्राम प्रमुख, जो भी इस श्रेष्ठ कार्य को किंचित्मात्र भी ठेस पहुंचायेगा वह गौघातक अथवा गंगातट पर ब्राह्मण की हत्या करने वाला पापी समझा जावेगा। जो अपने दिये हुए वचन का उल्लंघन करेगा, वह साठ हजार वर्ष तक कीड़े की योनि में जन्म लेता रहेगा।

इसके उपरि भाग में बाद में जोड़ा गया—कलश के द्वि शेट्टी और हुजूरी शेट्टी ने बुक्कराय के समक्ष आवेदन प्रस्तुत किया, तेरुमल के ताता आये और जीर्णोद्धार किया और दोनों पक्षों ने मिल कर हुजूरी शेट्टी को संघनायक की उपाधि से सम्मानित किया।[1]

महाराजा बुक्कराय के इस न्यायपूर्ण शिलानुशासन का कैसा प्रभाव पड़ा इसके कतिपय उदाहरण इतिहास में उपलब्ध होते हैं। बुक्कराय के इस सर्वधर्म समन्वयात्मक उदार दृष्टिकोण से एक ओर जैनों को संरक्षण मिला, वे अपने धार्मिक अनुष्ठानों को, धर्म के प्रचार-प्रसार को पुनः पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ प्रारम्भ करने के लिए प्रोत्साहित हुए; तो दूसरी ओर अनेक अजैनों ने भी जैनधर्म स्वीकार किया। ईस्वी सन् १३०७ से ईस्वी सन् १४०४ तक के महाराज हरिहर द्वितीय के शासनकाल में उनके एक सेनापति के पुत्र ने और महाराजकुमार उग्गा ने शैवधर्म का परित्याग कर जैनधर्म स्वीकार किया। इसी प्रकार ईस्वी सन् १४१९ से ईसवी सन् १४४६ तक के महाराज देवराय द्वितीय के शासनकाल में स्वयं महाराज देवराय ने अर्हद् भगवान् पार्श्वनाथ के एक विशाल मन्दिर का शिलाखण्डों से अपने निवास विजयनगर के पान-सुपारी बाजार में निर्माण करवाया। इन उदाहरणों से यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि महाराज बुक्कराय के उत्तराधिकारियों ने उनकी सर्वधर्म समभाव परक उदारवृत्ति से न केवल जैनों को संरक्षण ही दिया, अपितु उन्होंने सक्रिय रूप से जैनधर्म के उत्कर्ष के लिए उल्लेखनीय सहयोग भी प्रदान किया।

जैन धर्मावलम्वियों पर आये भीषण संकटकाल में महाराज बुक्कराय ने उनको संरक्षण प्रदान कर—

क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः,
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।

---

१. यह शिलालेख सामान्यतया रामानुजाचारी शासन के रूप में जाना जाता है। इसका भाषान्तर कर्नल मैकेन्जी के लिये किया गया और एशियाटिक रिसर्चेज जिल्द ९ पृष्ठ २७० पर ईस्वी सन् १८०९ में प्रकाशित हुआ। इस शिलालेख का स्थान मूर्ति के समक्ष बेलगोल पर्वत के ऊपर एक पत्थर पर उट्टंकित किया, ऐसा बताया गया है। यदि यह सही है तो उस पत्थर को वहां से हटाकर वर्तमान स्थान पर लाकर रखा गया है जो कि अब पर्वत पर न होकर नगर में विद्यमान है।

महाकवि कालिदास द्वारा प्रस्तुत की गई क्षत्रिय शब्द की इस व्याख्या को अक्षरश: चरितार्थ करते हुए सतयुग के महाराजाओं की भांति क्षात्रधर्म का निर्वहन किया। महाराज बुक्कराय के इस धार्मिक एवं सामाजिक न्याय के प्रति जैन धर्मावलम्बी चिरकाल तक कृतज्ञ रहेंगे।

ईसा की सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण में तमिलनाडु प्रदेश में जो धर्मोन्माद की भयंकर आंधी जैनों के विरुद्ध उठी, वह शनैः शनैः कर्नाटक और आन्ध्रप्रदेश में भी फैली और ईसा की पन्द्रहवीं सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भकाल तक जैनधर्मावलम्बियों को कहीं प्रलय तो कहीं खण्ड प्रलय के दृश्य कभी अधिक तो कभी न्यून मात्रा में दिखाती ही रही।

सुदीर्घ अतीत से समय-समय पर सागर में उठते आ रहे भीषण समुद्री तूफानों की विनाशलीला के ताण्डव-नृत्यों के लोमहर्षक-हृदयद्रावी वृत्तान्त, पीढ़ी प्रपीढ़ी क्रम से मानव सुनता आ रहा है। पौराणिक युग में महाराज मनु के शासन काल में आये जलविप्लव के विवरण प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं. संगमकाल के अनन्तर एक अति भीषण समुद्री तूफान उठा, हिन्द महासागर, अरब सागर और बंगाल की खाड़ी के नाम से अभिहित किये जाने वाले तीनों सागरों ने अपनी वेलाओं का उल्लंघन कर कन्याकुमारी प्रदेश में एक प्रबल खण्ड-प्रलय का महासंहारकारी दृश्य उपस्थित कर, जहां पूर्वकाल में विद्वानों के दो संगम हो चुके थे, उस विशाल भू-भाग को सागर ने सदा के लिए अपने क्रोड़ में छुपा लिया। अगणित मानवों, भिन्न-भिन्न जातियों के पशु-पक्षियों एवं समस्त भूतसंघ के साथ-साथ उस बड़े भू-भाग को सागर ने लील लिया—निगलकर उदरसात् कर लिया। साम्प्रत काल में भी प्राय: प्रतिवर्ष सागर में उठने वाले तूफानों की विनाश लीला को हम समाचार-पत्रों में पढ़ते हैं, दूरदर्शन के माध्यम से देखते हैं और हम में से अनेक तो अपनी आंखों से उस विनाश लीला को देखते भी हैं। इन समुद्री तूफानों की विनाश लीला तो एक सीमित अवधि तक ही परिसीमित रहती है। अनेक बार तो प्राय: कुछ घड़ियों, कुछ घण्टों और कभी-कभी एक दो दिनों अथवा कतिपय दिनों के पश्चात् सागर अपनी प्रलयकारिणी लीला को समेटकर पुनः पूर्ववत् शान्त हो जाता है। थोड़े से समय की सीमित अवधि के इन समुद्री तूफानों के परिणामस्वरूप कितने प्राणियों का संहार हो जाता है, इसका अनुमान लगाना आज के सर्वसाधन सम्पन्न वैज्ञानिक युग में भी बड़ा कठिन हो जाता है।

जब जड़ समझ जाने वाले समुद्र तक के भावना-शून्य तूफानों से इस प्रकार की प्रलयोपम विनाश लीला ताण्डव नृत्य करती है तो सृष्टि के सर्वाधिक बुद्धिशाली मानव के अहर्निश भावनाओं से ओतप्रोत मानस में उठे तूफान के कितने भयंकर परिणाम हो सकते हैं इस सम्बन्ध में प्रत्येक विचारशील विज्ञ कल्पनाओं की उड़ान कर सकता है। ईसा की छठी सातवीं शताब्दी के सन्धिकाल में तमिलनाडु प्रदेश के

एक वर्ग विशेष के मानव मन मस्तिष्क में जैन धर्मावलम्बियों के विरुद्ध धर्मोन्माद का तूफान प्रबल वेग से उठा। प्रदेश में यत्र-तत्र-सर्वत्र सामूहिक संहार का दुष्चक्र एक लम्बे समय तक चला। जैन धर्मावलम्बियों के धर्मस्थानों को नष्ट-भ्रष्ट किया गया। अगणित लोगों को धर्म परिवर्तन के लिए बल प्रयोग द्वारा विवश किया गया। जिन लोगों ने धर्मोन्माद में उन्मत्त उन लोगों के धर्म परिवर्तन के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया, उन्हें तत्काल मौत के घाट उतार दिया गया। विशाल तमिलनाडु प्रदेश में उठे धर्मोन्माद के प्रलयंकर तूफान की चपेट से केवल वे ही लोग बच पाये जो या तो तमिलनाडु की सीमाओं से बाहर चुपचाप छिपकर पलायन कर गये अथवा जिन्होंने उन उन्मत्त लोगों के प्रस्ताव को स्वीकार कर शैव धर्म को अंगीकार कर लिया।

जैसा कि पेरीयपुराण में उल्लिखित विवरणों के आधार पर इस ग्रन्थमाला के तृतीय भाग में बताया जा चुका है कि शैवों के इस धर्मोन्माद से पूर्व सम्पूर्ण तमिलनाडु प्रदेश में जैनों का वर्चस्व था। राजा, मन्त्री, राज्याधिकारी, बड़े-बड़े व्यवसायी, श्रेष्ठिवर्ग और सत्ता के प्रमुख पदों पर जैन धर्मावलम्बियों का एक प्रकार से एकाधिपत्य था। जैन संहार चरितम् के उल्लेखानुसार शिव के मन्दिरों पर ताले पड़ चुके थे। शंकर की पूजा-अर्चना तक बन्द हो गई थी। किन्तु धर्मोन्माद के इस प्रबल तूफान के फलस्वरूप जैन-बहुल तमिलनाडु प्रदेश में जैनों का एक प्रकार से अभाव-सा हो गया।

संक्रामक रोग के कीटाणुओं की भांति तमिलनाडु के जन मानस में उठे धर्मोन्माद के मानव संहारकारी महारोग के कीटाणु पड़ौसी प्रदेशों के वर्ग विशेष के मानस में भी प्रविष्ट हुए। जैन धर्म के प्रबल समर्थक राष्ट्रकूट राजवंश एवं गंग राजवंश की सत्ता के समाप्त होते ही कर्णाटिक प्रदेश में भी इस धर्मोन्माद ने अपना रंग जमाना प्रारम्भ किया। जैसा कि इसी अध्याय में बताया जा चुका है—चोलों के जैन विरोधी मनोभावों से प्रेरित हो वैष्णवों एवं शैवों ने जैनों के धार्मिक अनुष्ठानों में, धार्मिक स्वतन्त्रता में यहां तक कि नगाड़े बजाने के प्रश्न तक को लेकर अवरोध उत्पन्न करने प्रारम्भ किये। स्थान-स्थान पर जैन धर्मावलम्बियों के मन्दिरों से जैनों के आराध्यदेवों की मूर्तियों को बाहर फैंककर, नष्ट-भ्रष्ट कर, उनके स्थान पर शैव एवं वैष्णव धर्म के पौराणिक देवताओं की मूर्तियों को स्थापित किया जाने लगा। धर्मोन्माद का यह क्रम बड़े लम्बे समय तक कभी छुटपुट रूप में, तो कभी कुछ बड़े रूप में चलता ही रहा। अन्ततोगत्वा ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त एवं बारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में मानव मानस में उठे इस धर्मोन्माद के तूफान ने उग्र रूप धारण किया। एकान्तद रमैया और कल्चुरी राज्य के विश्वास घातक मन्त्री बसवा ने लिंगायत सम्प्रदाय को सुसंगठित किया, लिंगायतों के मानस में जैनों के विरुद्ध धर्मोन्माद को कूट-कूट कर भरा और इसी धर्मोन्माद के परिणामस्वरूप लिंगायतों के अगुआ कल्चुरी राज्य के शक्तिसम्पन्न मन्त्री बसवा ने अपने

स्वामी कलचुरी महाराजा बिज्जल की गुप्त रूपेण विष प्रयोग द्वारा हत्या करवा दी। इस जघन्य कृत्य के पश्चात् अपने प्राणों को बचाने के लिए बसवा भाग खड़ा हुआ। बिज्जल के पुत्रों ने उसका पीछा किया। पीछा करते हुए कल्चुरी राजकुमारों और उनकी सेनाओं से बचने का और कोई उपाय न देख लिंगायत सम्प्रदाय के अग्रणी नेता बसवा ने धारवाड़ के पास एक कुएं में झंपापात कर अपना प्राणांत कर लिया। बसवा की आत्महत्या ने उसे धर्म के नाम पर बलिदान होने वाले महावीरों की श्रेणी में स्थान दिया। बसवा की मृत्यु ने लिंगायत सम्प्रदाय के अनुयायियों के मानस में धर्मोन्माद को भयंकर रूप से उद्वेलित कर दिया। स्थान-स्थान, ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में जैनों का सामूहिक रूप से संहार प्रारम्भ हुआ। जैनों के धर्मस्थानों का नामोनिशान तक मिटाया जाने लगा। जैनों का बलात् धर्म परिवर्तन करवा कर उन्हें लिंगायत सम्प्रदाय का अनुयायी बना दिया गया। यह क्रम ईसा की सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक चलता रहा। उग्र रूप धारण किये हुए लिंगायतों के प्रान्तव्यापी जैनविरोधी योजनाबद्ध प्रचार और उनके द्वारा सामूहिक रूप से किये गये जैनों के सामूहिक संहार के परिणामस्वरूप शताब्दियों से आन्ध्रप्रदेश में बहुसंख्यक रूप में चले आ रहे जैन धर्मावलम्बी नाममात्र के लिये भी वहां अस्तित्व में नहीं रहे।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, समय-समय पर सीमित अवधि तक अस्तित्व में रहे समुद्री तूफानों के परिणामस्वरूप कितनी जन-धन की हानि हुई इसका अनुमान सर्व साधन सम्पन्न आज के वैज्ञानिक युग में भी नहीं लगाया जा सकता, तो ईसा की छठी शताब्दी के अन्त से ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक लगभग ९०० (नौ सौ) वर्षों तक जन मानस में उद्वेलित होते रहे धार्मिक उन्माद रूपी तूफान से जैनों का कितना भीषण रूप से संहार हुआ होगा, इसका अनुमान तो कल्पना की ऊंची उड़ानों से भी लगाना सम्भव प्रतीत नहीं होता।

धर्मोन्माद में अन्धे बने मानवों ने जैन धर्मावलम्बी अपने ही बान्धवों का किस प्रकार निर्दयतापूर्वक भीषण संहार किया इसका अनुमान श्रीशैलम् पर अवस्थित मल्लिकार्जुन मन्दिर के मुख्य मण्डप के दक्षिण एवं वाम पार्श्व पर अवस्थित पाषाण स्तम्भों पर विक्रम सम्वत् १४३३ में उट्टंकित किये गये एक शिलालेख से सहज ही लगाया जा सकता है।

संस्कृत भाषा में उट्टंकित इस शिलालेख में लिंगायतों के लिंगा नामक (शान्त के पुत्र) एक अग्रणी नायक द्वारा मन्दिर को की गई भेंट के विवरण के साथ उसकी प्रशंसा करते हुए यह लिखा गया है कि लिंगायतों के प्रमुख नेता लिंगा ने अपनी तलवार से श्वेताम्बर जैन साधुओं के सिर काटे।

इससे यह स्पष्टत: प्रकाश में आ जाता है कि धर्मोन्माद से अन्धे बने लिंगायतों ने कितनी निर्दयता और क्रूरता के साथ विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जैनों का सामूहिक रूप से संहार किया।

लिंगायत सम्प्रदाय के अनुयायियों द्वारा आन्ध्र प्रदेश और कर्णाटक में किये गये भयंकर संहार से पूर्व जैन किस प्रकार बहुसंख्या में विद्यमान थे किस प्रकार का उनका वर्चस्व था और संहार के पश्चात् जैनों की किस प्रकार की स्थिति रही इस पर प्रकाश डालते हुए लब्ध प्रतिष्ठ इतिहासज्ञ एम. एस. रामास्वामी आयंगर तथा बी. शेष गिरि राव ने अपनी संयुक्त कृति "स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म" के एपीग्राफिया जैनिका नामक द्वितीय अध्ययन में प्रकाश डालते हुए लिखा है :—

"Progress in the discovery of Andhra —Karnatake Jaina Epigraphs-Bearing of the progress of epigraphy on the materials of the last chapter—places at which Jaina epigraphs have been found-Main indication-Difference between the Andhra and the Andhra—Karnata epigraphs—more numerous in the Andhra Karnata than in the Andhra districts—scope for further enquiries—Regions in the Andhra Desa awaiting exploration—Difference between the Hindu Revival in the Andhra and the Andhra Karnata districts in its bearing on the fortunes of Jainism—Tabulation (classified) of Andhra—Karnata Jaina epigraphs and a few points of further interest brought out—Jainism and its antiquity in the Andhra Kalinga country.

Epigraphic Research in the South Indian Presidency is still in a state of continuous progress. Yet, so far as it has succeeded in interpreting the memorial epigraphs of the past, it has proved in a considerable measure the validity of the traditions of the local Records relied upon as the chief materials for the foregoing survey, in outline, of the meaning and message of the social tradition of the Jainas in the Andhra and Karnata mandalas. The District Manuals and Gazetteers largely trusted to the guidance of these local traditions in the conduct of further enquiries and their light never proved illusory. In and about the centres of Jainism mentioned in these records, the officers of the Epigraphist department have discovered traces of Jaina epigraphs taking us back to the times when Jainism played a predominent and significant part in South India. These epigraphs still await publication. *Find spots of Jaina Antiquities.* At **Penokonda, Tadpatri, Kottasivaram, Patasivaram, Amarapuram, Tammadahalli, Agali** and

Kotipi in the *Anantapur* District; at **Nandaperur, Chippigiri, Kogali, Sogi, Bagali, Vijayanagar, Rayadurg,** in the *Bellary* District; at **Danavulapadu** in *Cuddappa* District; at **Amaravati** in the *Guntur* District; at **Masulipattam** and **Kalachumbarru** in the *Krishna* District; at **Srisailam** in *Kurnool* District; in the Madras **Central** Museum; at **Kanupartipadu,** in the *Nellore* District; at **Vallimalai** in the North *Arcot* District; at **Basrur, Koteswara; Mulki, Mudabidri, Venur, Karkala, Kadaba,** in the South Kanara District; at **Bhoja-puram, Lakkumavarapukota** and **Ramatirtham** in the *Vizaga* pattanam District, have been discovered Jaina epigraphs.

These, for one thing, indicate the large vogue that Jainism once had in the Andhra and Karnata mandalas. The epigraph from Srisailam is interesting in that it shows the kind of persecution to which Jainism in these lands had finally to succumb, (**Extermination or toleration**). The epigraph in question is indeed a Shaiva one. It records in Sanskrit, "On the right and left pillars of the eastern porch of the Mukhamandapa of the Mallikarjuna Temple, in S. 1433, Prajotpatti, Magha, badi 14, Monday, a lengthy account of the gifts made to the temple of Shreesailam by a certain Chief Linga, the son of Santa, who was evidently a Tirasaiva, one of his pious acts being the beheading of the Svetambara Jainas." This record is important in two ways. It shows how the Shaivite opposition gathering force in the Andhra Desa against Jainism about the first quarter of the **eleventh century** A. D. developed into an exterminating persecution "by the first quarter of the sixteenth century A. D. and how the Svetambaras" also are represented in South Indian Jainism as a class deserving the expurgatory attention of the Shaiva fanatics."

सारांश यह है कि आन्ध्र-कर्णाटक में जो पुरातात्विक खोज की गई उसमें जैनों के वर्चस्व के सूचक अनेक पुरातात्विक प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। आन्ध्र कर्णाटक में पुरातात्विक खोज का कार्य अभी चल रहा है। इस अभियान में आन्ध्र कर्णाटक संभाग में आन्ध्र की अपेक्षा बहुत बड़ी संख्या में जैनों के पुरातात्विक महत्त्वपूर्ण अवशेष मिले हैं; जब कि आन्ध्र प्रदेश का पुरातात्विक खोज कार्य अभी

होना बाकी है। आन्ध्र कलिंग में भी जैनों के अनेक महत्त्वपूर्ण पुरातात्विक अवशेष उपलब्ध हुए हैं।

साधारण रूप में दक्षिण भारत के अनेक स्थानों पर शोध कार्य अद्यावधि प्रगति पथ पर है। तथापि अद्यावधि तक जो भी सफलताएं प्राचीन पुरातात्विक सामग्री को खोज निकालने में प्राप्त हुई है उस सबका श्रेय मूलतः यहां के विभिन्न सम्भागीय मुख्यालयों में उपलब्ध प्राचीन जिला मैन्युअलों और गजेटियरों को जाता है। वस्तुतः इन मैन्युअलों में जो विवरण उपलब्ध हैं उनसे पुरातात्विक खोज में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण मार्ग-दर्शन मिला है। इनमें उल्लिखित सूचनाएं पूर्णतः विश्वसनीय सिद्ध हुई हैं। इनके आधार पर जहां भी शोधकार्य किया गया वहां किसी भी स्थान पर खोज व्यर्थ नहीं गई। इन मैन्युअलों में जैन धर्म के केन्द्रों का जिन-जिन स्थानों में उल्लेख किया गया है उन सभी स्थानों पर पुरातात्विक शोध विभाग के अधिकारियों को जैनों के उस समय के प्राचीन महत्त्वपूर्ण पुरातात्विक अवशेष (मूर्तियां, शिलालेख आदि आदि) प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हुए हैं, जहां कि एक समय जैनों का बड़ा ही शानदार और सार्वभौम वर्चस्व था। इन पुरातात्विक अवशेषों के सम्बन्ध में अभी प्रकाशन होना अवशेष है। पैनोकोण्डा, ताड़पत्री, कोट्टशिवेरम्, पटसीवरम्, अमरपुरम्, तम्मदहल्ली, आगली, कोटपी, इन अनन्तपुर जिले के नगरों में, नन्दपेरूर, चिप्पीगिरि, कोगली, सोगी, बागली, विजयनगर, रायदुर्ग, इन बैलारी जिले के नगरों में, दानावुल्लापाडु नामक कुड्डप्पह जिले के स्थान में, गुन्तूर जिले के अमरावती नगर में, कृष्णा जिले के मछलीपट्टम् एवं कलचुम्बर्रू नगरों में, कुरनूल जिले के श्री शैलम् नामक स्थान पर मद्रास के केन्द्रीय अजायबघर में, नेलोर जिले के कनुपरतीपाडु नामक स्थान में उत्तरी आरकाट जिले के वल्लीमलइ नामक स्थान में, दक्षिण कन्नड़ जिले के वेसरूर, कोटेश्वर, मुल्की, मूडविद्री, वेनूर, कारकल, एवं कडब नामक स्थानों पर और विजगापट्टम जिले के भोजपुर, लक्कुमवर पुकोट और रामतीर्थ नामक स्थानों पर जैन धर्म की पुरातात्विक सामग्री खोज निकाली गई है।

इन पुरातात्विक अवशेषों से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि आन्ध्र एवं कर्णाटक मण्डल में एक समय जैनों का सर्वाधिक वर्चस्व एवं प्रवल प्रभुत्व था। श्री शैलम् से उपलब्ध पुरातात्विक अभिलेख बड़ा ही सनसनीखेज है। उसमें से यह एक भयोत्पादक तथ्य प्रकाश में आता है कि उस प्रदेश में जैनों का चिह्न तक मिटा डालने के लिये किस क्रूरता के साथ जैनों का संहार किया गया है। यह पुरातात्विक अभिलेख वस्तुतः एक शैव अभिलेख है। श्री शैलम् पर अवस्थित मल्लिकार्जुन मन्दिर के पूर्वीय संभाग में दक्षिण और वाम पार्श्व के स्तम्भों पर वि० सं० १४३३ का यह अभिलेख संस्कृत भाषा में उट्टंकित है। इस पर विक्रम सम्वत् १४३३, वर्ष प्रजोत्पत्ति, माघ कृष्णा चतुर्दशी सोमवार, यह दिनांक अंकित है। इस शिला-

लेख में शान्त के पुत्र लिंगा नामक एक लिंगायतों के सरदार तिरुशैव की प्रशंसा करते हुए उसके द्वारा किये गये एक पवित्र कार्य का उल्लेख किया गया है कि उसने श्वेताम्बर जैनों के सिर काटे। यह शिलालेख दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। एक तो इस दृष्टि से कि शैवों के संहारक समूहों ने आन्ध्र प्रदेश में ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में जो जैनों का संहार प्रारम्भ किया था वह ईसा की सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक कितना प्रलयंकर रूप धारण कर गया था। दूसरा इस दृष्टि से कि दक्षिण भारत में श्वेताम्बर जैनों का भी उस समय ऐसा प्राबल्य था कि उन्हें समाप्त करने की दिशा में भी धर्मोन्माद में उन्मत्त शैवों का ध्यान गया।

इस प्रकार जैसा कि पहले बताया जा चुका है जैनों पर अनेक बार देशव्यापी संकट आये। उनमें से पहला संकट था ईसा की सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ काल में पल्लवराज कांचिपति महेन्द्रवर्मन एवं मदुरा के पांड्यराज सुन्दरपांड्य के शासनकाल में तिरु ज्ञान सम्बन्धर और तिरु अप्पर द्वारा शैवधर्म के उद्धार के रूप में जैनों के विरोध का अभियान। जैनों पर दूसरा संकट आया ईसा की सातवीं-आठवीं शताब्दी में प्रथमतः कुमारिल्ल भट्ट एवं तदनन्तर शंकराचार्य की दिग्विजयों के रूप में। यद्यपि प्रथम संकट सर्वाधिक घातक था। उसने थोड़े से समय में ही तमिलनाडु में शताब्दियों से सर्वाधिक शक्तिशाली धर्म संघ के रूप में रहे हुये जैनसंघ को थोड़े से समय में ही लुप्तप्रायः सा कर दिया। दूसरा जो संकट आया वह वस्तुतः शीतयुद्ध के रूप में लम्बे समय तक देशव्यापी अभियान रहा। इस दूसरे संकट में जैनों के संहार का एक भी पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होता क्योंकि शंकराचार्य द्वारा भारत के सुदूरवर्ती विभिन्न दिशाओं और भागों में स्थापित किये गये पीठों के माध्यम से योजनाबद्ध रूप से ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त का देशव्यापी प्रचार-प्रसार अनवरत रूप से चलता रहा। इसके परिणामस्वरूप जैनों की प्रचार-प्रसारात्मक प्रगति अवरुद्ध होने के साथ-साथ शनैः शनैः जैन धर्मावलम्बियों की संख्या भी क्षीण होती चली गई।

जैनों पर तीसरा संकट रामानुजाचाय द्वारा ईस्वी सन् [illegible] प्रारम्भ किये गये रामानुज वैष्णव सम्प्रदाय के अभ्युदय-उत्थान [illegible] रूप में आया। ईस्वी सन् ११३०-३५ के आसपास लिंगायतों [illegible] कर लेने के परिणामस्वरूप जैनों पर आये हुये इस तीसरे संकट [illegible] रूप धारण कर लिया। जैनों के विरुद्ध प्रारम्भ किया गया [illegible] अनुयायियों का यह अभियान वस्तुतः तिरु अप्पर और तिरु [illegible] तमिलनाडु में प्रारम्भ किए गए शैव अभियान के समान ही [illegible] घातक था। लिंगायतों का यह अभियान ईसा की पन्द्रहवीं [illegible] तक के एक लम्बे समय तक अनेक चरणों में चलता [illegible]

..............The remains of the Shloka which commenced the inscription show that this statue was properly consecrated by advice of Vir Pandya's guru, by name Lalit Keerti. Its date–1432 A.D. Vir Pandya seems to have been a Jain feudatory of Vidyanagar, at Ikkiri above the Ghats but his successors seem to have been bigoted Lingaits, and to have much contributed to the decay of the Jains in South Kanara."[1]

इससे यह तथ्य प्रकाश में आता है कि वि. सं. १४८८ तक दक्षिण कर्नाटक में जैन बड़ी भारी संख्या में विद्यमान रहे और उनका न केवल शासक वर्ग पर ही अपितु जन मानस पर भी सर्वाधिक प्रभाव रहा। विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में दक्षिणी कर्णाटक में विद्यानगर के कट्टर जैन धर्मावलम्बी सामन्त-राज वीर पाण्ड्य के उत्तराधिकारियों ने लिंगायत सम्प्रदाय के अनुयायी बनकर धर्मोन्माद के वशीभूत हो दक्षिण कर्णाटक से जैन धर्म को निरवशिष्ट करने के लिंगायतों के अभियान का नेतृत्व किया।

इस प्रकार ईसा की बारहवीं शताब्दी के तृतीय अथवा चतुर्थ दशक में जैन धर्मावलम्बियों के विरुद्ध जो धर्मोन्माद का ताण्डव नृत्य आन्ध्रप्रदेश और कर्नाटक में प्रारम्भ हुआ उसका अन्तिम चरण ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में जाकर समाप्त हुआ। जैनों के अस्तित्व को मिटाने के लिए लिंगायतों द्वारा प्रारम्भ किया गया यह हिंसात्मक अभियान लगभग चार सौ वर्ष तक चलता रहा और अन्ततोगत्वा चार सौ वर्ष के हिंसक वातावरण के परिणामस्वरूप आन्ध्रप्रदेश में जैनों का अस्तित्व पूर्णतः समाप्त हो गया।

इन उपरिवर्णित ऐतिहासिक तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर एक स्पष्ट चित्र यह प्रकाश में आता है कि ईसा की छठी-सातवीं शताब्दी से लेकर ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक दक्षिण भारत में जैनधर्म पर एक के पश्चात् उत्तरोत्तर अनेक बार भीषण प्रहार किये गये। लगातार लगभग नौ सौ वर्षों के जैन विरोधी अभियानों के परिणामस्वरूप तमिलनाडु में मात्र एक उत्तरीय आरकाट सम्भाग को छोड़कर शेष पूर्ण तमिलनाडु प्रदेश में एक भी जैनधर्म का उपासक अवशिष्ट नहीं रहा, आन्ध्रप्रदेश में तो जैनधर्म का नाम तक लेने वाला कोई व्यक्ति बचा नहीं रहा और कर्नाटक प्रदेश में, जहां जैन बहुसंख्यक थे वे एक प्रकार से नगण्य अल्पमत में अवशिष्ट रहे।

---

1. The Indian Antiquery. Vol. II, on the colossal Jain Statue at Karkala in the South Kanara district by A. C. Bornell, Esq., M.C.S., M.R.A.S. Page 353–4.

निरन्तर नौ सौ वर्षों के जैन विरोधी हिंसात्मक अथवा घृणात्मक अभियान के उपरान्त भी जैनधर्म का अस्तित्व तमिलनाडु प्रदेश के एक संविभाग अर्थात् उत्तरी आरकाट में अवशिष्ट रह ही गया तथा कर्नाटक में इतने भीषण हिंसात्मक अभियान के उपरान्त भी जैनधर्म कर्नाटक के प्रायः सभी संविभागों में स्वल्प संख्या में अद्यावधि अवशिष्ट है। इससे यही अनुमान किया जाता है कि दक्षिण में जैन-धर्मावलम्बी पूर्वकाल में अत्यधिक प्रचुर संख्या में तथा दक्षिण के कतिपय प्रदेशों में वहुसंख्यक के रूप में विद्यमान थे। पेरीय पुराण के—"उन कलभ्रों ने तमिल प्रदेश की धरती में आते ही जैन धर्म अंगीकार कर लिया। उस समय तमिल देश में जैनों की संख्या अगणित (अपरिगणनीय) थी। जैनों के प्रभाव में आकर उन कलभ्रों ने शैव सन्तों का संहार करना प्रारम्भ कर दिया।" इस उल्लेख से एवं जैन संहार चरितम् के—"पूर्वकाल में पृथ्वी भर में श्रमण लोगों की संख्या अधिक मात्रा में थी। राजा और प्रजा सभी इस धर्म—जैनधर्म—में ऐक्यत्व को प्राप्त हो गये थे। जैनधर्म में लोगों की आस्था अधिक होने के कारण अन्य धर्म की बातें उन्हें रुचिकर नहीं लगती थी। सब जगह अरिहन्त भगवान् की उपासना की जाती थी············ सम्पूर्ण जन मानस में यही एकमात्र अटल आस्था थी कि पहले लौकिक सुख देकर अन्त में मुक्ति प्रदान करने वाले अरिहन्त भगवान् ही सर्वोपरि सर्वस्व अर्थात् सब कुछ हैं। ·······इस प्रकार जब श्रमण धर्म अति उन्नत अवस्था में था तब चोल मण्डल नामक प्रदेश के·······गांव में ब्राह्मण कुल में सुन्दर मूर्ति का जन्म हुआ।" इस विस्तृत विवरण से तथा लिंगायतों के—"महामण्डलेश्वर कामदेव नामक प्राचीन कथानक के—"भगवान् शंकर और माता पार्वती एक समय कैलाश पर्वत पर एक शिवभक्त महात्मा की कुटिया में अतिथि के रूप में विराजमान थे। उस समय नारद शंकर के समक्ष उपस्थित हुए और उन्होंने शंकर से निवेदन किया—"भगवन्! आर्यधरा पर जैनों और बौद्धों की शक्ति प्रबल रूप से बढ़ गई है।" भगवान शंकर ने अपने गण वीरभद्र को आज्ञा दी—"वीरभद्र! तुम धरती पर मानव के रूप में जन्म ग्रहण करो और जैनों तथा बौद्धों की शक्ति को अवरुद्ध कर उन पर अपना अधिकार स्थापित करो।" इस उल्लेख से यही सिद्ध होता है कि दक्षिण में शैवों द्वारा अथवा लिंगायतों द्वारा जैनों के संहार से पूर्व जैन धर्मावलम्बियों की संख्या सम्पूर्ण दक्षिणापथ में पेरीय पुराण आदि शैव ग्रन्थों के शब्दों से ही अगणित थी। उत्तरकालीन इतिहासविदों का भी अभिमत है कि शैव अभियानों के आरम्भ होने से पूर्व दक्षिण में जैन धर्मावलम्बियों की संख्या बड़ी प्रचुर मात्रा में थी। पटना विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के विभागाध्यक्ष साम्प्रतयुगीन लब्ध प्रतिष्ठ इतिहासज्ञ श्री ए.एस. अल्तेकर, एम.ए. एल.एल.बी., डी लिट् ने भी कतिपय अंशों में शैव पुराणों में उल्लिखित एतद्विषयक तथ्य की पुष्टि करते हुए लिखा है :—

"As in the preceding period, Jainism lacked royal support in northern India, but this was compensated by the

popularity of the religion among the trading classes in the north, and the extensive royal patronage it enjoyed in South.

This is the most flourishing period in the history of Jainism in the Deccan. There was no serious rival for it, and it was basking in the sunshine of popular and royal support. Dr. Altekar surmises that probably one third of the population of the Deccan was following the gospal of Mahavira during the period under review. Jainism received a serious set back shortly afterwards owing to rapid spread of the Lingayata sect."[1]

श्री अल्तेकर के इस कथन का सारांश यह है कि विक्रम की दसवीं शताब्दी में चावड़ा राजवंश की समाप्ति के अनन्तर उत्तर भारत में यद्यपि जैन धर्म को राज्याश्रय का अवलम्बन नहीं के समान रह गया था तथापि व्यवसायी वर्ग में इसके प्रति प्रगाढ़ आस्था रहने के कारण इसकी लोकप्रियता में कोई विशेष अन्तर नहीं आया था। किन्तु दक्षिण भारत में जैनधर्म को पर्याप्त समय तक राज्याश्रय की सुविधाएँ प्राप्त होती रहीं। वह समय वस्तुतः जैनधर्म के लिये दक्षिणापथ के इतिहास में बड़ा ही उज्ज्वल समय था। उस समय दक्षिण में जैनधर्म का कोई प्रबल प्रतिपक्षी नहीं था। अतः जैनधर्म उस अवधि में सर्व साधारण प्रजा एवं राजवंशों की सहायता से मध्याह्न के सूर्य के समान चमकता रहा। डा० अल्तेकर का अभिमत है कि उस समय जैनों की संख्या दक्षिण भारत में लगभग सम्पूर्ण जनसंख्या की एक तिहाई थी। किन्तु कुछ समय पश्चात् लिंगायत सम्प्रदाय के बड़ी तीव्र गति से प्रचार प्रसार के परिणामस्वरूप जैनधर्म को बड़ा भयंकर आघात पहुँचा।

इन सब ऐतिहासिक तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में जनधर्मावलम्बियों की शैव धर्मावलम्बियों के जैन विरोधी अभियान से पूर्व की जैन धर्मावलम्बियों की संख्या और शैवों के अभियान के अन्तिम दौर के पश्चात् की जैन धर्मावलम्बियों की संख्या का तुलनात्मक दृष्टि से लेखा जोखा करने पर सहज ही प्रत्येक विज्ञ को विदित हो जाता है कि लगभग नौ सौ वर्ष के जैन विरोधी अभियानों में कितनी बड़ी संख्या में जैन धर्मावलम्बियों का संहार, प्राणापहार, एवं बलात् धर्मपरिवर्तन किया गया।

---

1. History and Culture of the Indian People Volume IV—The age of Imperial Kannauj, published by Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay second Edition, 1964 page 288.

"जैनधर्म संघ पर दक्षिणापथ में पुनः आपत्ति के घातक घने काले बादल"—शीर्षक अध्याय में विशद् रूप से प्रस्तुत किये गये प्रमाण पुरस्सर ऐतिहासिक विवरणों से निष्कर्ष के रूप में निम्नलिखित तीन तथ्य प्रकाश में आते हैं—

(१) जैन धर्मावलम्बियों के विरुद्ध प्रारम्भ किये गये संहारपरक शैव अभियानों से पूर्व दक्षिणापथ में जैनों की संख्या एक तिहाई अथवा इससे भी पर्याप्त रूप से अधिक थी। जैनधर्म उस समय राजवंशों का परम प्रिय राजधर्म होने के साथ-साथ प्रजा के प्रायः सभी वर्गों का भी लोकप्रिय धर्म था। जब तक जैनधर्म का वर्चस्व रहा राजन्य वर्ग एवं प्रजा के सभी वर्गों द्वारा जन कल्याण के अगणित कार्य किये जाते रहे, देश सभी भांति सुखी एवं समृद्धिशाली रहा।

(२) संहारात्मक शैव अभियानों के परिणामस्वरूप ईसा की सातवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं सोलहवीं शताब्दी तक की लगभग ९०० वर्षों की अवधि में जैनों का जिस भांति सामूहिक रूप से संहार एवं धर्म परिवर्तन किया गया इसका अनुमान लगाने में कल्पना की उड़ानें भी थक जाती हैं।

(३) यदि विजयनगर के महाराजा बुक्कराय ने ईस्वी सन् १३६८ में जैनधर्मावलम्बियों को न्यायपूर्ण संरक्षण प्रदान नहीं किया होता तो सम्भवतः कर्णाटक में साम्प्रतकाल में जो जैनों की थोड़ी बहुत संख्या दृष्टिगोचर होती है, वह भी उपलब्ध नहीं होती।



श्रमण भ० महावीर के ५१वें पट्टधर आचार्य
श्री देव ऋषि (द्वितीय)

जन्म	वीर नि० सं०	१५५४
दीक्षा	,, ,, ,,	१५६४
आचार्य पद	,, ,, ,,	१५८९
स्वर्गारोहण	,, ,, ,,	१६४४
गृहवास पर्याय	१०	वर्ष
सामान्य साधुपर्याय	२५	वर्ष
आचार्य पर्याय	५५	वर्ष
पूर्ण संयम पर्याय	८०	वर्ष
पूर्ण आयु	९०	वर्ष

प्रभु महावीर की विशुद्ध मूल परम्परा के ५० व पट्टधर आचार्य श्री विजय ऋषि के स्वर्गारोहण के अनन्तर चतुर्विध संघ ने वीर नि० सं० १५८९ में मुनिश्रेष्ठ श्री देव ऋषि (द्वितीय) को प्रभु महावीर के ५१ वें पट्टधर आचार्य पद पर अधिष्ठित किया ।

आपने अपनी ५५ वर्ष की आचार्य पर्याय से स्वयं विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करते हुए अपने साधु साध्वियों के द्वारा भी विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करवाया । इसके साथ ही साथ श्रावक-श्राविका वर्ग को भी आगमिक उपदेशों के द्वारा अध्यात्ममूलक भाव परम्परा पर सुदृढ़ बनाये रखा । इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर के धर्मसंघ का ५५ वर्ष तक नेतृत्व करते हुए आपने वीर नि० सं० १६४४ में समाधिपूर्वक ९० वर्ष की आयु पूर्ण कर स्वर्गारोहण किया ।

—: :—

जिनवल्लभसूरि

(नवांगी वृत्तिकार अभयदेवसूरि के शिष्य)

महान् क्रियोद्धारक आचार्यश्री वर्द्धमानसूरि की खरतरगच्छ नाम से कालान्तर में प्रसिद्ध परम्परा में जिनवल्लभसूरि नामक एक महान् प्रभावक आचार्य हुए हैं। आप उच्च कोटि के आगम मर्मज्ञ, वादी, निमित्त शास्त्रज्ञ और क्रान्ति के दूत तुल्य मुनि पुंगव थे। आपका सम्पूर्ण जीवन संघर्षपूर्ण परिस्थितियों में व्यतीत हुआ। आपको न केवल अपने प्रतिपक्षी चैत्यवासी परम्परा के आचार्यों से ही संघर्ष करना पड़ा, अपितु सुविहित नाम से अभिहित की जाने वाली कतिपय परम्पराओं के विद्वानों के संघर्ष का भी सामना करना पड़ा। चैत्यवासी परम्परा के साथ तो आपका संघर्ष जीवन भर चलता रहा। चैत्यवासी परम्परा के वर्चस्व को समाप्त करने में महान् क्रियोद्धारक वर्द्धमानसूरि एवं महान् वादी जिनेश्वरसूरि के पश्चात् आप ही का सर्वाधिक योगदान रहा।

खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली में जो आपका जीवन परिचय उपलब्ध है उसके अनुसार आपका जन्म स्थान आशीदुर्ग था। शैशवकाल में ही आपके पिता का देहावसान हो गया था। अतः आपकी विधवा माता ने बड़े परिश्रम के साथ आपका लालन पालन किया। आशीदुर्ग में चैत्यवासी परम्परा के कूर्चपुरीय चैत्य के अधिष्ठाता आचार्य जिनेश्वरसूरि नामक चैत्यवासी आचार्य थे। इनके मठ में आशीदुर्ग के निवासी श्रावकों के पुत्र अध्ययनार्थ आते थे। बालक जिनवल्लभ की माता ने भी अपने पुत्र को अध्ययन योग्य आयु में अध्ययनार्थ मठ में भेजना प्रारम्भ किया। शैशव काल से ही जिनवल्लभ की बुद्धि बड़ी कुशाग्र थी। उसने निष्ठा के साथ अध्ययन प्रारम्भ किया और स्वल्प समय में ही उसकी गणना मठ के सर्वश्रेष्ठ छात्र के रूप में की जाने लगी। मेधावी जिनवल्लभ ने अपनी कुशाग्र बुद्धि के बल पर अनेक विद्याओं में पारीणता प्राप्त की। एक दिन बालक जिनवल्लभ को एक प्राचीन टिप्पणक मिला। उसमें सर्पाकर्षणी और सर्पमोक्षणी ये दो विद्याएं उल्लिखित थीं। बालक जिनवल्लभ ने ज्योंही सर्पाकर्षणी विद्या को पढ़ा तो उसके प्रभाव से सभी दिशाओं से सर्प द्रुत गति से उसकी ओर आने लगे। सब ओर से सर्पों को आते हुए देखकर बालक जिनवल्लभ के मन में रंच मात्र भी भय उत्पन्न नहीं हुआ। उसने तत्क्षण समझ लिया कि यह सब इस विद्या का ही प्रभाव है। उस ने तत्काल उस टिप्पणक में नीचे की ओर लिखी सर्पमोक्षणी नामक विद्या को पढ़ना प्रारम्भ किया। उस विद्या के पढ़ते ही सभी सर्प जिस ओर से आये थे उसी ओर लौट गये। बालक जिनवल्लभ भी उस टिप्पणक को साथ लिये मठ में अपने स्थान पर जा बैठा।

चैत्यवासी आचार्य जिनेश्वरसूरि को जब उक्त घटना का विवरण ज्ञात हुआ तो उन्होंने मन ही मन विचार किया कि यह बालक वस्तुतः बड़ा ही होनहार और गुणसम्पन्न है। इसे शिष्य अवश्य बनाना चाहिये। वस्तुतः यह आगे चलकर बड़ा प्रभावक आचार्य सिद्ध होगा। इस प्रकार विचार कर जिनेश्वरसूरि ने जिनवल्लभ की माता को मधुर वचनों से प्रसन्न किया और उसे सभी भांति समझा बुझा कर उस बालक को अपना शिष्य बना लिया। अपनी परम्परा में जिनवल्लभ को दीक्षित कर जिनेश्वरसूरि ने उसे अनेक प्रकार की निमित्त ज्ञान आदि की विद्याओं का अध्ययन कराया। इस प्रकार क्रमशः चैत्यवासी मुनि जिनवल्लभ अनेक विद्याओं में निष्णात हो गया।

एक दिन जिनेश्वरसूरि को किसी आवश्यक कार्यवशात् ग्रामान्तर को जाने की आवश्यकता हुई। उन्होंने अपने मठ का कार्यभार पंडित जिनवल्लभ को समझाते हुए कहा : "मैं एक आवश्यक कार्य से ग्रामान्तर को जा रहा हूं शीघ्र ही काम निष्पन्न कर मैं लौट आऊंगा। जब तक मैं बाहर रहूं, मठ की सब प्रकार की गतिविधियों एवं कार्य कलापों की तुम देखरेख करते रहना।"

जिनवल्लभ ने अपने गुरु को आश्वस्त करते हुए कहा :—"आप निश्चिन्त रहिये, मैं सब कार्यों को यथाशक्ति भली-भांति देखता रहूंगा। पर आप से यही निवेदन है कि आप कार्य को शीघ्रातिशीघ्र निष्पन्न कर अविलम्ब लौटने की कृपा करें।"

जिनेश्वरसूरि के ग्रामान्तर की ओर चले जाने के अनन्तर दूसरे दिन जिनवल्लभ ने विचार किया :—"इस विशाल भंडार में अनेक मंजूषाएं पुस्तकों से भरी पड़ी हैं। इन पुस्तकों में क्या होगा ? निश्चित रूप से इनमें ज्ञान भरा पड़ा होगा।" इस प्रकार विचार कर एक मंजूषा में से पुस्तकों का एक गंडलक खोला और उसमें से एक सिद्धान्त पुस्तक-आगम ग्रन्थ निकाल कर पढ़ना प्रारम्भ किया। उस आगम ग्रन्थ में लिखा था :—

"यतिना द्विचत्वारिंशद्दोष विवर्जितः पिंडो गृहस्थ—
गृहेभ्यो मधुकरवृत्या गृहीत्वा संयमहेतु देहधारणा कर्त्तव्या।"

इस आर्ष वचन को पढ़कर जिनवल्लभ के मन में हलचल-सी उत्पन्न हो गई। उसके मुंह से हठात् निकल पड़ा—"आज हम यति लोगों का आचरण आगम वचनों से नितान्त विपरीत चल रहा है। हमारा इस प्रकार का आगम विरोधी आचार-विचार हमें श्रेयस की ओर नहीं अपितु रसातल की ओर ले जाने वाला है।" उसने मन ही मन कुछ अस्फुट संकल्प किया और उस पुस्तक तथा गंडलक को पुनः यथास्थान रखकर अपने स्थान पर विचारमग्न मुद्रा में बैठ गया। उसी समय आचार्य जिनेश्वरसूरि भी ग्रामान्तर से अपने मठ में लौट आये। मठ की व्यवस्था में किसी प्रकार की

कमी न देखकर मन ही मन विचार किया—"मठ की व्यवस्था सुचारू रूप से पूर्ववत् चल रही है। यह किशोर, जैसा मैंने विचार किया था उसी प्रकार का योग्य होगा। मुझे चाहिए कि मैं इसे आचार्य पद पर आसीन कर मठ की व्यवस्था की तरफ से निश्चिन्त हो जाऊं। इस किशोर ने सभी प्रकार की अन्यान्य विद्याओं में तो निष्णातता प्राप्त कर ली है किन्तु अभी तक इसने सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त नहीं किया है। आगमों का ज्ञान प्रदान करने में इन दिनों अभयदेवसूरि ही प्रख्यात हैं। इसलिये जिनवल्लभ को अभयदेवसूरि के पास भेजकर आगमों का मर्मज्ञ विद्वान् बनाना परमावश्यक है। जब यह अभयदेवसूरि के पास आगमों का अध्ययन कर लौटेगा तब इसे मैं आचार्य पद पर अधिष्ठित कर दूँगा।" इस प्रकार का संकल्प कर जिनेश्वरसूरि ने अपने शिष्य जिनवल्लभ को वाचनाचार्य पद पर अधिष्ठित किया और अपने जिनशेखर नामक एक शिष्य को उसकी वैयावृत्य आदि के लिए साथ कर ५०० स्वर्ण मुद्राओं के साथ उसे अभयदेवसूरि के पास आगमों के अध्ययन के लिये अणहिल्लपुर पट्टण की ओर प्रस्थित किया। जिनवल्लभ अपने साथी जिनशेखर के साथ प्रस्थित हो मार्ग में अवस्थित मरुकोट्ट नामक नगर में रात्रि में माणु श्रावक के देवगृह में रुका। वहां से दूसरे दिन प्रस्थान कर वह क्रमशः अणहिल्लपुर पट्टण में पहुंचा और अभयदेवसूरि के उपाश्रय को पूछता हुआ उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। वहां विराजमान अभयदेवसूरि को जिनवल्लभ ने बड़ी भक्ति के साथ वन्दन किया। अभयदेवसूरि ने उसको देखते ही उसके प्रशस्त लक्षणों से भव्य व्यक्तित्व एवं चूड़ामणि ज्ञान के द्वारा समझ लिया कि यह कोई सुयोग्य भव्य प्राणी है। अभयदेवसूरि द्वारा आगमन का प्रयोजन पूछे जाने पर जिनवल्लभ ने अति विनम्र स्वर में अभयदेवसूरि से निवेदन किया—"पूज्य आचार्यदेव! मेरे गुरुवर श्री जिनेश्वरसूरि ने मुझे आपके चरणों की शरण में आगमों के अध्ययन के लिये भेजा है।"

नख से शिख तक अन्तर्वेधिनी दृष्टि से जिनवल्लभ की ओर देखते हुए अभयदेवसूरि ने मन ही मन विचार किया—"यद्यपि यह चैत्यवासी परम्परा के आचार्य का शिष्य है तथापि है सुयोग्य। आगम में स्पष्ट विधान है कि किसी भी आगमज्ञ को भले ही अपनी विद्या के साथ ही समय आने पर मरना क्यों न पड़े पर अपात्र को किसी भी दशा में आगमों का ज्ञान नहीं देना चाहिये परन्तु यदि आगम ज्ञान के लिये सुपात्र उपलब्ध हो जाय तो उसकी अवमानना और उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।" क्षण भर मन ही मन इस प्रकार का विचार कर अभयदेवसूरि ने घनरव गम्भीर स्वर में जिनवल्लभ से कहा—"अच्छा ही किया कि आगमों की वाचना के लिये यहां आ गये।" शुभ मुहूर्त्त देखकर अभयदेवसूरि ने नवागन्तुक शिष्य जिनवल्लभ को आगमों की वाचना देना प्रारम्भ कर दिया। वाचना के समय जिनवल्लभ एकाग्र चित्त हो अभयदेवसूरि के मुखारविन्द से प्रकट हुए एक-एक अक्षर, प्रत्येक शब्द और वाक्य को अमृत तुल्य समझ कर पीने लगा—हृदयंगम

करने लगा। ज्यों-ज्यों आगम वाचना का क्रम उत्तरोत्तर आगे की ओर बढ़ता गया त्यों-त्यों जिनवल्लभ के अन्तर्चक्षु उन्मीलित होते गये। इस प्रकार के अध्यवसायी, मेधावी, मनस्वी और एकाग्र चित्तवृत्ति वाले शिष्य को प्राप्त कर अभयदेवसूरि को भी असीम आनन्द की अनुभूति हुई। वे जब भी समय मिलता रात दिन जिनवल्लभ को आगमों की वाचनाएं देने लगे और इस प्रकार थोड़े ही समय में अभयदेवसूरि ने जिनवल्लभ को सभी आगमों की पूर्ण वाचनाएं प्रदान कर दीं।

पूर्व में किसी एक ज्योतिष विद्या के विद्वान् ने अभयदेवसूरि से निवेदन किया था कि यदि उनका कोई अतिशय मेधावी सुयोग्य शिष्य हो तो उसे उसके पास ज्योतिष विद्या की शिक्षा के लिये भेजें। तदनुसार अभयदेवसूरि ने जिनवल्लभ को आगमों की वाचना देने के अनन्तर उस ज्योतिषी के पास ज्योतिष विद्या का भी अध्ययन करने के लिये भेजा। उस ज्योतिर्विद् ने स्वल्प समय में ही जिनवल्लभ को ज्योतिष विद्या का निष्णात विद्वान् बना दिया। इस प्रकार ज्योतिष विद्या में भी निष्णातता प्राप्त करने के अनन्तर जिनवल्लभ पुनः अभयदेवसूरि की सेवा में रहने लगा। एक दिन अभयदेवसूरि ने जिनवल्लभ से कहा—"पुत्र! तुम्हें आगमों का अध्ययन करवा दिया गया है। आगमों का ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् अब तुम जो उचित समझो वही करो।"

जिनवल्लभ ने सांजलि शीष झुका "यथा ज्ञापयति देव!" कहते हुए सुदृढ़ स्वर में कहा—"भगवन्! मैं यथा शक्ति आप से प्राप्त आगम ज्ञान के अनुसार ही आचरण करूंगा।"

एक दिन शुभ घड़ी में अभयदेवसूरि की आज्ञा प्राप्त कर जिनवल्लभ अपने चैत्यवासी आचार्य से मिलने के लिये उसी मार्ग से प्रस्थित हुआ जिस मार्ग से कि वह पाटण में आया था। मार्ग में अवस्थित मरुकोट्ट नगर में वह उसी श्रावक के चैत्य में ठहरा। उसने उस देवगृह में इस प्रकार की विधि लिखी जिससे अविधि चैत्य भी विधि चैत्य बन जाता है। वह विधि इस प्रकार है—

(१) यहां आगम विरुद्ध कोई बात नहीं की जायगी।
(२) रात्रि में यहां कभी स्नात्र कार्य नहीं किया जायगा।
(३) यहां कोई साधु ममतापूर्वक अपना आश्रय बनाकर नहीं रह सकेगा।
(४) यहां रात्रि में किसी भी स्त्री का प्रवेश नहीं होगा।
(५) यहां जाति वंश कुल आदि का कोई भेद अथवा कदाग्रह नहीं होगा।
(६) यहां श्रावकजन न तो ताम्बूल चर्वण कर सकेंगे और न ताम्बूल मुख में डाले यहां प्रवेश ही कर सकेंगे।

तदनन्तर अपने गुरु से मिलने के लिये जिनवल्लभ मरुकोट से प्रस्थित हुए। आशिदुर्ग से तीन कोस पूर्व ही माईयड़ नामक ग्राम में जिनवल्लभ ठहर गये। स्वयं

अपने गुरु के पास न जाकर उन्होंने एक पत्रवाहक को अपने गुरु के पास यह लिख-कर भेजा कि आपके कृपा प्रसाद से सुगुरु श्री अभयदेवसूरि के पास सम्पूर्ण आगमों की वाचनाएं ग्रहण कर मैं यहां माईयड़ ग्राम में आ गया हूं। कृपा कर पूज्य गुरुदेव यहीं पधार कर मिलें।

पत्र पढ़कर चैत्यवासी आचार्य जिनेश्वरसूरि को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे मन ही मन सोचने लगे—"अरे! जिनवल्लभ स्वयं यहां क्यों नहीं आया, उसने इस प्रकार का निर्देशात्मक पत्र क्यों लिखा है ?"

इतना सब कुछ होते हुए भी उनका शिष्य आगमों की वाचना लेकर आया है, इस समाचार से उनके हर्ष का पारावार नहीं रहा। दूसरे दिन जिनेश्वरसूरि अनेक विद्वानों, प्रतिष्ठित नागरिकों एवं अपने अनुयायियों के विशाल समूह के साथ माईयड ग्राम में जिनवल्लभ के पास आये। जिनवल्लभ भी गुरु के सम्मुख गया और उन्हें वन्दन किया। पारस्परिक कुशलक्षेम के वार्तालाप के अनन्तर ब्राह्मण विद्वानों की जिज्ञासा को शान्त करने के लिये जिनवल्लभ ने अपने ज्योतिष ज्ञान के अनेक चमत्कार बताये। अपने ज्योतिष बल से कुछ ही क्षणों पश्चात् होने वाली घटनाओं की जिनवल्लभ ने भविष्यवाणी भी की। उनकी भविष्यवाणी को तत्काल सफल सत्य हुई देख चैत्यवासी आचार्य जिनेश्वरसूरि भी आश्चर्यविभोर हो उठे।

अन्ततोगत्वा जिनेश्वरसूरि ने अपने शिष्य जिनवल्लभ को एकान्त में पूछा—"वत्स ! क्या कारण है कि तुम आशीदुर्ग न आकर बीच के इस ग्राम में ही रुक गये ?"

जिनवल्लभसूरि ने अपने गुरु के प्रश्न के उत्तर में कहा—"भगवन् ! सच्चे गुरु के मुख से जिनेश्वर प्रभु के वचनामृत का पान करने के अनन्तर अब मैं विष तुल्य चैत्यवास को कैसे अंगीकार कर सकता हूं।"

जिनेश्वरसूरि ने समझाने का प्रयास करते हुए उसके समक्ष प्रलोभन भरे स्वर में कहा—"वत्स ! मैंने यह सोच रक्खा था कि तुम्हें आचार्य पद पर आसीन कर अपने गच्छ और देवगृह तथा श्रावक श्राविकावर्ग की व्यवस्था तुम्हें सम्भलाकर मैं अभयदेवसूरि के पास वसति निवास को ग्रहण कर लूंगा।"

जिनवल्लभ ने उत्तर दिया—"भगवन् ! यदि आपने इस प्रकार का निश्चय कर रखा है तो वसति वास को अंगीकार करने में अब विलम्ब क्यों कर रहे हैं ? विवेकशील व्यक्ति को तो तत्काल ही अनुचित मार्ग का त्याग और उचित मार्ग का अनुसरण (अंगीकरण) कर लेना चाहिये।"

चैत्यवासी आचार्य ने कहा—"मेरे अन्तर्मन में अभी तक इस प्रकार की निस्पृहता उत्पन्न नहीं हुई है कि मैं किसी समर्थ एवं सुयोग्य व्यक्ति को अपने गच्छ और देवमन्दिर का भार सौंपे बिना ही वसतिवास को स्वीकार कर लूं। हां, अब तुम वसतिवास सहर्ष स्वीकार कर सकते हो।"

अपने दीक्षा गुरु चैत्यवासी आचार्य जिनेश्वरसूरि की इस प्रकार सम्मति प्राप्त हो जाने पर जिनवल्लभ ने उन्हें वन्दन कर पत्तन की ओर प्रस्थान किया। विहार क्रम से वे अनहिल्लपुर पट्टण में अभयदेवसूरि की सेवा में उपस्थित हुए और उन्हें बड़ी भक्तिपूर्वक वन्दन किया। अभयदेवसूरि को अतीव सन्तोष हुआ। मन ही मन उन्होंने सोचा—"जैसा भव्य समझा था उसी प्रकार का यह सिद्ध हुआ है। वस्तुतः मेरे पद के योग्य है यह, किन्तु यह चैत्यवासी परम्परा के आचार्य का शिष्य है इस कारण इस समय इसे आचार्य पद पर आसीन करना मेरे गच्छ के साधु-साध्वी श्रावक श्राविकावर्ग को रुचिकर प्रतीत नहीं होगा। इस प्रकार विचार कर अभयदेवसूरि ने अपने वर्द्धमान नामक शिष्य को अपने गच्छ के धुरीण आचार्यपद पर अधिष्ठित कर दिया और जिनवल्लभ गणि को उन्होंने अपनी उपसम्पदा प्रदान करते हुए कहा—"वत्स ! हमारी आज्ञा से तुम जहां चाहो वहीं विचरण कर सकते हो।"

तदनन्तर एकान्त देखकर अभयदेवसूरि ने अपने विश्वासपात्र प्रसन्नचन्द्राचार्य को कहा—"मेरे पट्ट पर कोई शुभ मुहूर्त्त देखकर तुम जिनवल्लभ गणि को आचार्यपद प्रदान कर देना।"

इस प्रकार निर्देश देने के कुछ ही समय पश्चात् अभयदेवसूरि ने विक्रम सम्वत् ११३५ तथा दूसरी मान्यता के अनुसार विक्रम सम्वत् ११३९ के आसपास कपड़गंज नामक स्थान में स्वर्गारोहण किया।

प्रसन्नचन्द्राचार्य भी अभयदेवसूरि के निर्देशानुसार जिनवल्लभ को उनके पट्टधर पद पर आसीन करने हेतु समुचित अवसर की प्रतीक्षा में ही रह गये, और करपटक वाणिज्य नामक स्थान में अपना अवसान काल अति सन्निकट देख उन्होंने देवभद्राचार्य को अभयदेवसूरि की अन्तिम इच्छा सुनाते हुए कहा—"मैं तो गुरुवर्य की आज्ञा का पालन नहीं कर सका और अब परलोक की ओर प्रयाण करने ही वाला हूं। आप जिनवल्लभ को अभयदेवसूरि के पट्ट पर आसीन कर उनकी अन्तिम इच्छा की पूर्ति करना।"

अभयदेवसूरि के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर जिनवल्लभ गणि कुछ समय तक अनहिल्लपुर पट्टण और उसके आस-पास के क्षेत्रों में विचरण करते रहे। पर उन्होंने अनुभव किया कि वहां रहते हुए उनके द्वारा कोई ऐसा कार्य सम्पन्न नहीं किया जा रहा है जिससे कि उनके अन्तर्मन में आह्लाद हो तथा जिन शासन की

अभ्युन्नति हो। अतः उन्होंने अपने दो और साधुओं के साथ शुभ मुहूर्त में पट्टण से विहार कर जिनेन्द्र प्रभु द्वारा प्रदर्शित विधि धर्म के प्रचार-प्रसार के लक्ष्य से चित्रकूट आदि विभिन्न नगरों एवं प्रदेशों में विचरण किया। विहार क्रम से जिनवल्लभसूरि जिन-जिन ग्रामों, नगरों अथवा प्रदेशों में गये वहां उस समय तक चैत्यवासियों का पूर्ण वर्चस्व था। प्रायः वहां के सभी निवासियों के मन, मस्तिष्क और हृदय तक में चैत्यवासी परम्परा अपनी गहराई से जड़ जमाए हुए थी। इस प्रकार के क्षेत्रों में विधि मार्ग का प्रचार-प्रसार करते हुए जिनवल्लभसूरि चित्रकूट नगर में पधारे। चित्रकूट में वस्तुतः तब तक चैत्यवासियों का पूर्ण वर्चस्व था। अतः उन्हें प्रयास करने के उपरान्त भी कोई समुचित स्थान ठहरने के लिये नहीं मिला। वहां के चैत्यवासी श्रावकों ने नगर के बाहर निर्जन एकान्त स्थान में अवस्थित चण्डिका मठ की ओर इंगित करते हुए कहा कि उस चण्डिका मठ में तो आप ठहर सकते हैं। जिनवल्लभ गणि तत्काल ताड गये कि ये लोग इन्हें किसी दैवी संकट में डालने के अभिप्राय से मठ में ठहरने का कह रहे हैं। किन्तु इस प्रकार की प्रतिकूल परिस्थिति में निर्जन चण्डिका मठ में ठहरने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकते थे। उन्होंने मन ही मन यह विचार कर कि उस निर्जन चंडिका मठ में ठहरने पर भी देवाधिदेव जिनेश्वरदेव एवं गुरुवर के कृपा प्रसाद से सभी प्रकार कल्याण ही होगा, उन लोगों से कहा—"यदि आपकी यही इच्छा है तो हम उस चंडिका मठ में ही ठहर जायेंगे।" तदनन्तर देव और गुरु का स्मरण कर तथा शासन देवी को अनुज्ञापित कर जिनवल्लभसूरि उस चंडिका मठ में जा ठहरे। जिनवल्लभसूरि के ज्ञान ध्यान एवं सदनुष्ठान से प्रसन्न हो शासन देवी उनकी सब प्रकार के अशुभ अनिष्टों से रक्षा करने लगी।

जिनवल्लभ सूरि के सम्बन्ध में चित्तौड़ के नागरिकों में यह बात विद्युत् वेग से फैल गई कि वे न केवल जैन दर्शन ही अपितु सभी भारतीय दर्शनों के पारदृश्वा विद्वान्, न्याय शास्त्र, तर्कशास्त्र, पाणिनी की अष्टाध्यायी, व्याकरण, ८४ प्रकार के नाटक शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र (सर्वोत्कृष्ट पंच महाकाव्य, जयदेव कवि का शब्द सौष्ठव सम्पन्न भक्ति एवं शृंगार रस से ओत-प्रोत गीतिकाओं) और छन्द शास्त्र के तलस्पर्शी प्रकाण्ड पण्डित हैं। इस प्रकार की प्रशंसापूर्ण प्रसिद्धि के प्रसृत होते ही सभी दर्शनों के विद्वान् और वेद वेदांगों के पारगामी ब्राह्मण विद्वान् उनके पास चण्डिका के मठ में आने लगे। जिस-जिस विद्वान् को जिस-जिस अपने प्रिय शास्त्र के विषय में जो-जो भी संशय थे उन संशयों को उन विद्वानों ने जिनवल्लभसूरि के समक्ष रखा। अपने समय के उच्च कोटि के उद्भट विद्वान् जिनवल्लभसूरि ने प्रमाण पुरस्सर युक्ति-संगत उत्तर से उन सभी विद्वानों के संशयों का परम सन्तोषकारी समाधान किया। सभी विद्वान् परम सन्तुष्ट हुए और उनके माध्यम से जिनवल्लभसूरि की यशोपताका पूरे नगर में लहराने लगी कि वस्तुतः वे सभी दर्शनों, सभी शास्त्रों और विद्याओं के प्रकाण्ड पण्डित हैं एवं ऐसे विद्वान्

महापुरुष का चित्तौड़ निवासियों के भाग्य से ही चित्तौड़ में पदार्पण हुआ है। नगर में प्रसृत जिनवल्लभ की कीर्ति से आकर्षित होकर कतिपय श्रावक भी जिनवल्लभसूरि की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने जिनवल्लभसूरि के प्रवचनों में आत्मोद्धार के सम्बन्ध में आगमिक उपदेश सुनकर अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव किया। आगम वचन के अनुसार ही जिनवल्लभसूरि के श्रमणाचार को देखकर श्रावक साधारण, श्रावक सड्ढक आदि अनेक श्रावकों ने वाचनाचार्य जिनवल्लभ-गणि को अपने गुरु के रूप में स्वीकार किया। अपने गुरु के तलस्पर्शी आगमज्ञान और उनकी ज्योतिषशास्त्र में निष्णातता को देखकर वे सभी श्रावक जिनवल्लभ-सूरि के परम आज्ञाकारी श्रावक हो गये। एक दिन श्रावक साधारण ने जिनवल्लभसूरि से प्रार्थना की कि वे कृपा कर उसे बीस हजार की धनराशि का परिग्रह परिमाण करवाएँ। जिनवल्लभसूरि ने साधारण श्रावक को बार-बार समझाकर बीस हजार द्रम्म के स्थान पर लाख द्रम्म का परिग्रह परिमाण करवाया। परिग्रह परिमाण का नियम करने के पश्चात् श्रावक साधारण की सम्पत्ति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ने लगी और उसकी गणना लक्षाधिपति श्रेष्ठियों में की जाने लगी। इस अदृष्ट अद्भुत चमत्कार से न केवल श्रावक साधारण ही अपितु सभी श्रावक बड़े चमत्कृत और प्रभावित हुए। वे सब गुरु के छोटे-बड़े सभी प्रकार के आदेशों का पालन करने के लिए तत्पर रहने लगे। इस प्रकार जिनवल्लभ सूरि का प्रभाव चित्तौड़ दुर्ग और उसके आसपास के जैन धर्मावलम्बियों पर उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला गया।

आसोज कृष्णा त्रयोदशी के दिन जिनवल्लभ गणि ने अपने श्रावकों के समक्ष यह बात रखी कि यदि आज भगवान् महावीर के देवगृह में भगवान को वन्दन किया जाय तो संघ का बड़ा कल्याण होगा क्योंकि आज श्रमण भगवान् महावीर का गर्भापहार नामक छठा कल्याणक है। क्योंकि इस समय चित्तौड़नगर में एक भी विधि चैत्य नहीं है इसलिये चैत्यवासी परम्परा के किसी भी मन्दिर में जाकर भगवान् के षष्ठ कल्याणक के उपलक्ष्य में उनको वन्दना करनी चाहिये। श्रावक वर्ग ने अपने गुरु के आदेश को शिरोधार्य करते हुए कहा—"भगवन् ! जो आपको अभीष्ट है वही हम करेंगे।" तदनन्तर सभी श्रावक नहा धोकर निर्मल वस्त्र पहने अपने हाथों में पूजा की पवित्र सामग्री लिये अपने गुरु के साथ भगवान् के मन्दिर में जाने के लिए उद्यत हुए। जिन चैत्य में बैठी हुई चैत्यवासी परम्परा की एक साध्वी ने जब जिनवल्लभसूरि को अपने श्रमणोपासक समुदाय के साथ मन्दिर की ओर आते देखा तो उसने आगे बढ़कर श्रावकों से पूछा—"क्या आज कोई विशिष्ट आयोजन है ? कोई पर्व विशेष है ?"

जिनवल्लभसूरि के एक श्रावक ने उसके उत्तर में कहा—"हां, आज वीर गर्भापहार नामक भगवान महावीर का छठा कल्याणक है इसलिए हम लोग भगवान के वन्दन पूजन के लिए यहां आये हैं।"

उस आर्या ने क्षण भर मन ही मन विचार किया कि आज तक पहले किसी ने भगवान् महावीर का छठा कल्याणक नहीं मनाया, इस प्रकार की स्थिति में यदि ये आज गर्भापहार नामक छठा कल्याणक मनायेंगे तो यह बड़ा ही अनुचित होगा।

इस प्रकार विचार कर वह साध्वी मन्दिर के द्वार पर लेट गई और ज्योंही वे श्रावक जिनवल्लभसूरि के साथ मन्दिर के द्वार की ओर बढ़ने लगे तो उसने कहा—"तुम लोग मेरे मरने पर ही मन्दिर में प्रवेश कर सकोगे, मेरी जीवित अवस्था में कदापि नहीं।"

कटुता के बढ़ने की आशंका से जिनवल्लभसूरि के साथ सभी श्रावक वहां से लौट आये। श्रावकों ने जिनवल्लभसूरि से निवेदन किया—"भगवन् ! हम लोगों में से अनेक के पास बड़े ही विशाल भवन हैं उनमें से किसी एक भवन के उपरितन कक्ष में चौबीस तीर्थंकरों का जिनपट्टक धर कर प्रभु वन्दन आदि सभी धार्मिक कृत्य सम्पन्न किए जाएँ।"

जिनवल्लभसूरि ने श्रावकों के प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए एक भवन में सविधि षष्ठ कल्याणक का महोत्सव मनाया। इससे सभी बड़े सन्तुष्ट हुए और उन्होंने परस्पर मन्त्रणा पर जिनवल्लभसूरि से निवेदन किया—"भगवन् ! अविधि में प्रवृत्त इन चैत्यवासियों के मन्दिर में कभी किसी भी दशा में जिनोक्त विधि से प्रभु वन्दन पूजन का अवसर मिलना बड़ा कठिन है। अतः यदि आपको यह उचित प्रतीत हो तो हम लोग एक-दूसरे के नीचे ऊपर दो जिन मन्दिरों का निर्माण करवा लें।" जिनवल्लभसूरि ने धनरव गम्भीर स्वर में निम्नलिखित गाथा का गान किया :—

जिनभवनं जिनबिम्बं, जिनपूजां जिनमतं च यः कुर्यात्।
तस्य नरामरशिवसुख फलानि करपल्लवस्थानि ॥

अर्थात् जो कोई व्यक्ति जिनेश्वर भगवान् का मन्दिर, जिनेश्वर प्रभु का बिम्ब बनवाता है, जिनेश्वर की पूजा करता है, जिन प्ररूपित धर्म का प्रचार प्रसार करता है उसके करतल में मानव भव, देव भव और मोक्ष के सुख फल के रूप में अनायास ही उपलब्ध हो जाते हैं।

इस गाथा को सुनकर श्रावकों को यह विश्वास हो गया कि दो तलों के एक भवन में दो जिन मन्दिरों का निर्माण करवाना जिनवल्लभ गणि की दृष्टि में महान् पुण्यफलप्रदायी कार्य है। यह विचार कर उन श्रावकों ने दो तलों के रूप में दो जिन मन्दिर बनवाने का निश्चय किया। यह संवाद चैत्यवासियों तक पहुंचा। चैत्यवासी परम्परा के प्रमुख श्रावक लक्षाधीश प्रह्लादन और बहुदाक ने कहा :—"देखो तो

सही, यह दरिद्री द्रमुक देवमन्दिरों का निर्माण करवाएंगे और राजमान्य हो जाएंगे।" चैत्यवासी श्रावकों की यह बात जिनवल्लभ गणि के कानों तक पहुंची। शौच निवृत्ति हेतु बहिर् भूमि की ओर जाते समय जिनवल्लभ गणि को श्रेष्ठि प्रह्लादन मिला। जिनवल्लभ गणि ने उससे कहा—"देखो भद्र! तुम्हें इस प्रकार की गर्वोक्ति नहीं कहनी चाहिये। इन नये उपासक श्रावकों में से भी कोई न कोई श्रावक राजमान्य श्रेष्ठि होगा और वह तुम्हें राजपुरुषों के बन्धन से छुटकारा दिलवाएगा।"

कालान्तर में जिनवल्लभ गणि की यह भविष्यवाणी फलीभूत हो गई। प्रह्लादन श्रावक को किसी अपराध में दण्डनायक ने पकड़ कर उसके हाथों में हथकड़ियां डाल दीं। जब जिनवल्लभ गणि के प्रमुख श्रावक साधारण को यह बात ज्ञात हुई तो उसने अपने प्रभाव से प्रह्लादन को बन्धनों से मुक्त करवाया।

अपने निश्चय के अनुसार जिनवल्लभ गणि के श्रावकों ने एक विशाल भवन का निर्माण करवाया और उसकी दोनों मंजिलों में दो जिन मन्दिर बनवाये। बड़े ठाठ-बाठ से उन श्रावकों ने उन दोनों मन्दिरों में मूर्तियों की जिनवल्लभ गणि के हाथों प्रतिष्ठा करवाई। इससे जिनवल्लभ गणि की कीर्ति दिग्दिगन्त में फैल गई कि वस्तुतः गुरु हों तो ऐसे हों।

खरतरगच्छ् वृहद् गुर्वावलीकार ने जिनवल्लभ गणि के जीवनवृत्त में उनके ज्योतिष विज्ञान के प्रकांड पांडित्य पर प्रकाश डालते हुए उनके एतद्विपयक चमत्कारों का भी वर्णन किया है।

वृहद् गुर्वावली में उल्लेख है कि एक समय मुनिचन्द्राचार्य ने अपने दो शिष्यों को आगमों की वाचना ग्रहण करने के लिये जिनवल्लभ गणि के पास भेजा। जिनवल्लभ गणि ने उनको आगमों की वाचना देना प्रारम्भ किया। वे दोनों आगम शिक्षार्थी भी जिनवल्लभ गणि के श्रावकों को अपने पक्ष में करने के लक्ष्य से उनका अनेक प्रकार से मनोरंजन करने लगे। एक दिन मुनि चन्द्र के उन दोनों शिष्यों ने अपने गुरु के नाम एक पत्र लिखा। उस पत्र को वाचना ग्रहण करने के वसते में डालकर वे दोनों विद्यार्थी मुनि जिनवल्लभ गणि की वसति में गये। वे दोनों जिनवल्लभ गणि को वन्दन करने के पश्चात् उनके समक्ष बैठ गये। वाचना ग्रहण करने के लिये ज्यों ही उन्होंने वसते को खोला तो उनका वह पत्र बाहर गिर गया। अभिनव लेखन को देखकर जिनवल्लभ गणि ने उस पत्र को उठाकर पढ़ना प्रारम्भ कर दिया। वे दोनों विद्यार्थी मुनि अवाक् एवं अवश हो देखते ही रह गये। जिनवल्लभ गणि के हाथ में से उस पत्र को छीन लेने का तो उनमें साहस नहीं था। जिनवल्लभ गणि ने उनके उस पत्र को पढ़ा जिसमें लिखा हुआ था :—"जिनवल्लभ गणि के कतिपय श्रावकों को हमने अपने वश में कर लिया है। शनैः शनैः इनके सभी श्रावकों को हम वश में कर सकेंगे ऐसी हमारी धारणा है।"

पत्र को पढ़ लेने के पश्चात् जिनवल्लभ गरिण ने सस्वर निम्नलिखित आर्या का उच्चारण किया :—

आसीज्जनः कृतघ्नः क्रियमाणघ्नस्तु साम्प्रतं जातः ।
इति मे मनसि वितर्को भविता लोकः कथं भविता ।।

अर्थात् अपने ऊपर किये गये उपकार के बदले अपकार करने वाले कृतघ्न लोग तो समय-समय पर युगादि से ही होते चले आ रहे थे । किन्तु आज के इस युग में तो अपने ऊपर किये जा रहे उपकार के बदले अपकार करने वाले क्रियमाणघ्न लोग हो गये हैं यह देखकर मेरे मन में एक दुखभरी आशंका उत्पन्न हो रही है कि अब आगे लोग किस-किस प्रकार के होंगे और इस संसार की कैसी दयनीय दशा बन जायेगी ।

इस आर्या का उच्चारण करने के पश्चात् जिनवल्लभ गरिण ने उन दोनों क्रियमाणघ्न शिक्षार्थी कुशिष्यों को सम्बोधित करते हुए कहा :—"बस अब बहुत हो गई वाचना आप लोगों की इस प्रकार की विषबुझी भावना को देखकर ।"

वे दोनों मुनि तत्काल अपने-अपने बसते वस्त्र पात्र आदि समेट कर द्रुतगति से अपने गुरु मुनिचन्द्राचार्य के पास लौट गये ।

इस घटना के पश्चात् उन्हें कभी किसी ने चित्तौड़गढ़ में नहीं देखा ।

जिनवल्लभ गरिण के अन्तर्प्रेरणाप्रदायिनी उपदेश शैली का एक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलीकार ने लिखा है :—"वागड प्रान्त का रहने वाला गणदेव नामक एक श्रावक यह जानकर कि जिनवल्लभगरिण के पास स्वर्णसिद्धि की विधि है, विपुल स्वर्ण प्राप्ति की इच्छा से चित्तौड़गढ़ में उनकी सेवा में आया और उनकी अहर्निश उपासना करने लगा । जिनवल्लभ गरिण ने उस श्रावक के मनोभावों को किसी प्रकार जान लिया । उन्होंने अनुभव किया कि यह व्यक्ति वस्तुतः बड़ा ही सुयोग्य है । यदि इसे धर्म की शिक्षा देकर धर्म के प्रचार-प्रसार के कार्य में लगा दिया जाय तो लोगों का बड़ा उपकार हो सकता है । यह विचार कर वे उसे धार्मिक ज्ञान के साथ-साथ इस प्रकार के उपदेश देने लगे जिनसे कि उसके अन्तर्मन में अनासक्ति परक संविग्न भाव, वैराग्य भाव उत्पन्न हो जाय । जिनवल्लभ गरिण की अमोध एवं अद्भुत उपदेश शैली का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह गणदेव श्रावक स्वर्णसिद्धि के प्रति उदासीन हो सांसारिक कार्यकलापों से विरक्त एवं अनासक्त हो गया । गणदेव श्रावक के उत्कट अनासक्ति और संविग्नभाव को देख कर एक दिन जिनवल्लभगरिण ने उससे कहा :—"सौम्य । क्या मैं तुम्हें स्वर्णसिद्धि बताऊं ?" गणदेव श्रावक ने कहा :—"भगवन् ! मुझे स्वर्णसिद्धि अथवा स्वर्ण से

अब कोई प्रयोजन नहीं है। मैं तो आपके मुखारविन्द से यह नियम ग्रहण करना चाहता हूं कि बीस द्रम्म से मैं व्यापार कर अपना जीवन निर्वाह करूंगा और अधिकाधिक समय तक श्रावक धर्म के कर्त्तव्यों का निर्वहन करता रहूंगा।"

कुछ समय तक जिनवल्लभ गणि की सेवा में उसने धार्मिक ज्ञान के साथ-साथ धर्म का प्रचार करने की कला भी अपने गुरु से सीख ली। इस प्रकार उसे धार्मिक ज्ञान का प्रशिक्षण दे जिनवल्लभगणि ने धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु बागड़ देश में भेज दिया। धर्मोपदेश देने की कला में गणदेव श्रावक निष्णात हो गया था। बागड देश के गांव-गांव, नगर-नगर और डगर-डगर में घूम-घूम कर उसने लोगों में धर्म का प्रचार-प्रसार करना प्रारम्भ किया और थोड़े ही समय में बागड देश के निवासियों को बड़ी संख्या में जिनवल्लभगणि का उपासक बना दिया।

उनके काव्य-रचना कौशल का दिग्दर्शन कराते हुए गुर्वावलीकार ने लिखा है कि जिनवल्लभगणि का व्याख्यान सुनने के लिये प्राय: प्रतिदिन अनेक विद्वान्, विचक्षण पुरुष और विशेषत: ब्राह्मण पंडित अपने-अपने मन की शंकाओं को मिटाने के उद्देश्य से आया करते थे। एक दिन व्याख्यान देते समय प्रसंगवशात् उन्होंने 'धिज्जाईण माहणं' (धिग्जातीया ब्राह्मणा) इस गाथा का विवेचन किया। 'धिग्जातीया ब्राह्मणा:' यह सुनते ही सब ब्राह्मण रुष्ट होकर व्याख्यान-स्थल से उठकर बाहर चले गये। वे सब एक स्थान पर एकत्रित हुए, जिनवल्लभगणि के विपक्षी लोग भी उन ब्राह्मणों में जाकर सम्मिलित हो गये। वे सब के सब क्रोधाभिभूत हो कहने लगे :—"हम जिनवल्लभ के साथ शास्त्रार्थ कर उसे पराजित एवं लज्जित करेंगे।" जिनवल्लभगणि को जब यह सब वृत्तान्त ज्ञात हुआ तो उन्होंने एक पत्र पर निम्नलिखित श्लोक लिखकर अपने एक विश्वस्त विवेकी श्रावक के साथ यह कहकर उन ब्राह्मणों के पास भेजा कि उन ब्राह्मणों में जो सबसे अधिक प्रभावशाली वृद्ध ब्राह्मण हो उसके हाथ में यह पत्र दे देना। उस उपासक ने उन ब्राह्मणों के समूह में जाकर एक प्रतिभाशाली वयोवृद्ध ब्राह्मण पंडित के हाथ में वह पत्र दे दिया। उस श्लोक को वयोवृद्ध ब्राह्मण ने बड़े ध्यान से पढ़ा और अन्य सब विद्वानों को वह श्लोक सुनाते हुए उन्हें परामर्श दिया :—"हमें यहां विवेक से काम लेना चाहिए। हम सब लोग वस्तुत: एक-एक विद्या के ही विज्ञ हैं लेकिन यह जैन महामुनि जिनवल्लभ तो सब प्रकार की विद्याओं में निष्णात हैं। ऐसी दशा में हम सब मिलकर भी उनके साथ शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करना तो दूर, शास्त्रार्थ में क्षण भर के लिये भी उनके समक्ष टिक नहीं सकेंगे। अत: उनके साथ संघर्ष में न उतर कर उनके गुणों से, उनके अगाध ज्ञान से लाभ उठाना ही हम सबके लिए श्रेयस्कर है।" अपने वयोवृद्ध विद्वान् के इस सत्परामर्श से उन सब ब्राह्मण विद्वानों का क्रोध शांत हुआ और वे सब अपने-अपने स्थान की ओर चले गये। जिनवल्लभसूरि द्वारा बनाया हुआ वह श्लोक इस प्रकार है :—

मर्यादाभंगभीतेरमृतमयतया धैर्यगांभीर्ययोगान्
न क्षुभ्यन्त्येव तावन्नियमितसलिला: सर्वदैते समुद्रा:।

अहो क्षोभं व्रजेयुः क्वचिदपि समये दैवयोगात्तदानीं
न क्षोणी नाद्रिचक्रं न च रविशशिनौ सर्वमेकार्णवं स्यात् ।।

अर्थात् कहीं हमारी मर्यादा का भंग न हो जाय इस भय से, अपने अगाध उदर में अमृत होने के कारण तथा अथाह धैर्य एवं गाम्भीर्य के धनी होने के कारण अगाध अपार पानी के अक्षय निधान होते हुए भी वे समुद्र कभी क्षुब्ध नहीं होते। यदि कदाचित् किसी समय किसी कारणवश दैव योग से यह समुद्र क्षुब्ध हो जायं तो न तो कहीं इस धरती का अता-पता रहे, न उत्तुङ्ग गगनचुम्बी पर्वतों की मालाएं और न सूर्य-चन्द्र ही दृष्टिगोचर हों। निखिल ब्रह्मांड केवल एकार्णव स्वरूप अर्थात् जल ही जल के रूप में परिणत हो जाय।

इस उदन्त से जिनवल्लभगणि के अक्षोभ्य गाम्भीर्य, अतुल साहस एवं अटल आत्म-विश्वास की एक झलक दृष्टिगोचर होती है।

खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली के उल्लेखानुसार जिनवल्लभसूरि ने धारानगरी के राजाधिराज नर वर्मा की राज्य सभा के सम्मान की रक्षा की। बाहर के कोई दो विद्वान् एकदिन नरवर्मा की राज्यसभा में उपस्थित हुए और उन्होंने राजा की विद्वद् मंडली के समक्ष "कंठे कुठारः कमठे ठकारः" इस एक पद की समस्या पूर्ति का प्रस्ताव रक्खा। राज्य सभा के सभी विद्वानों ने अपनी-अपनी प्रज्ञा के अनुसार उस समस्या की पूर्ति की किन्तु उन दोनों विद्वानों को किसी से संतोष नहीं हुआ। राज सभा की प्रतिष्ठा का प्रश्न था। राजा बड़ा चिन्तित हुआ। अपनी राजसभा के किसी एक विवेकशील पुरुष के परामर्श से एक चरण की उस समस्या को पत्र में लिखकर एक द्रुतगामी अश्वारोही दूत के साथ जिनवल्लभसूरि के पास चित्तौड़ भेजा। जिनवल्लभसूरि ने तत्काल शेष तीन चरणों की पूर्ति कर पूरा श्लोक एक पत्र में लिखकर धाराधीश नरवर्मा के पास तत्काल भेज दिया। सूर्योदय होते-होते वह दूत जिनवल्लभगणि का पत्र लेकर राजा की सेवा में उपस्थित हुआ। राजसभा में उस समस्यापूर्ति को निम्नलिखित रूप में सुनाया गया :—

"रे रे नृपाः ! श्री नरवरभूपप्रसादनाय क्रियतां नतांग्री।
कंठे कुठारः कमठे ठकारश्चक्रे यदश्वोऽग्रखुराग्रघातैः ।।"

अर्थात् अरे ओ ! छोटे-बड़े राज्यों के राजाओं ! राजाधिराज श्री नरवर्मा को प्रसन्न करने के लिये उन्हें साष्टांग प्रणाम करके अपने कंठ पर कुल्हाड़ा रख लो क्योंकि उसके घोड़ों ने अपने खुरों के आघात से बड़े-बड़े राजाओं को भूलुंठित कर दिया है।

इस समस्यापूर्ति को सुनते ही वे दोनों ही विद्वान् समस्या-पूर्ति करने वाले अज्ञात विद्वान् की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हुए परम प्रमुदित हुए। अपनी राज्य

सभा की प्रतिष्ठा बचाने वाले जिनवल्लभसूरि के प्रति राजा नरवर्म ने मन ही मन हार्दिक कृतज्ञता प्रकट की और उसने उन दोनों विद्वानों को वस्त्राभूषण पुरस्कार आदि प्रदान कर विदा किया।

कालान्तर में जब जिनवल्लभसूरि धारानगरी गये तो राजा नरवर्म ने बड़ी श्रद्धा और भक्ति से उनका सम्मान करते हुए तीन लाख पारुत्थ (मुद्रा विशेष) और तीन गांव भेंट स्वरूप स्वीकार करने की प्रार्थना की। जिनवल्लभगरिण ने राजा की प्रार्थना के उत्तर में कहा :—"राजन् ! हम पंच महाव्रतधारी साधु हैं। धनराशि और ग्रामादि को भेंट रूप में स्वीकार करना तो दूर, हम तो धन के नाम पर, परिग्रह के नाम पर किसी भी मुद्रा का स्पर्श तक नहीं कर सकते। यदि यह धनराशि और तीनों ग्रामों की आय किसी सत्कार्य में ही लगाना चाहते हैं तो चित्तौड़ में श्रावकों ने कुछ ही समय पूर्व जो दो जिन मन्दिर बनवाये हैं, उनकी व्यवस्था के लिये यह दान कर दीजिये।

राजा इस प्रकार जिनवल्लभगरिण की निस्पृहता देखकर बड़ा ही चमत्कृत एवं सन्तुष्ट हुआ और उसने चित्रकूट के दोनों जिन मन्दिरों के लिए प्रतिदिन दो पारुत्थ के हिसाब से शाश्वत दान की राजाज्ञा प्रसारित की।

इस पट्टावली में यह भी उल्लेख है कि जिनवल्लभगरिण की प्रसिद्धि चारों ओर प्रसृत हो गई और नागौर, नढ़वर, मरुकोट्ट, विक्रमपुर आदि नगरों के श्रावकों ने चैत्यवासी परम्परा का परित्याग कर आपको अपना गुरु बनाया। मरुकोट्टनगर के श्रावकों की प्रार्थना पर आपने एक समय उपदेशमाला पर व्याख्यान देना प्रारम्भ किया और 'सम्वच्छरमुसभजिणो' इस एक गाथा पर आपने छः मास पर्यन्त व्याख्यान दिया। आपके व्याख्यानों से श्रावक बड़े सन्तुष्ट हुए। एक दिन व्याख्यान भवन में व्याख्यान देने के पश्चात् जब वे अपनी वसति में अपने श्रावक समूह के साथ लौटे तो उसी समय उन्होंने देखा कि एक दूल्हा घोड़े पर आरूढ़ हो विवाह के लिए जा रहा है और उसके पीछे स्त्रियों का समूह मधुर कण्ठ स्वर से गीत गाता हुआ जा रहा है। जिनवल्लभसूरि के मुख से हठात् दीर्घ निश्वास निकल पड़ी। श्रावकों द्वारा कारण पूछे जाने पर जिनवल्लभसूरि ने कहा—विचित्र है कर्म की गति। ये जो स्त्रियां इस समय गाती हुई जा रही हैं, कुछ ही क्षणों के पश्चात् करुण क्रन्दनपूर्वक रुदन करती हुई लौटेंगी।

कुछ ही क्षणों पश्चात् अपने गुरु की भविष्यवाणी को सत्य हुआ देख श्रावकों के आश्चर्य का पारावार नहीं रहा। कुछ ही क्षणों पूर्व जो स्त्रियां गाती हुई जा रही थीं वे सब रोती हुई लौट रहीं थीं। स्त्रियों के रोने का कारण यह था कि जिस समय दूल्हा सीढ़ियों पर चढ़ रहा था उसका पैर फिसल गया और वह घरट्ट के ऊपर गिर पड़ा। तत्काल उसका पेट पूरी तरह फट गया और उसका प्राणान्त हो गया।

मरुकोट से विहार कर जिनवल्लभसूरि नागपुर-नागौर पधारे और अनेक स्थानों पर विचरण करते हुए देवभद्राचार्य अणहिल्लपुर पट्टण पधारे। वहां उन्होंने विचार किया कि प्रसन्नचन्द्राचार्य ने स्वर्गारोहण से पूर्व मुझे यह कहा था कि जिनवल्लभगरिण को अभयदेव सूरि के पट्ट पर आसीन कर देना। इसके लिए अब उपयुक्त समय है। उन्होंने तत्काल नागपुर–नागौर में स्थित जिनवल्लभगरिण के पास एक पत्र भेजा कि वे शीघ्र ही अपने समुदाय के साथ चित्रकूट पहुँच जाएं। वे भी शीघ्र ही वहां आकर अपना अभीप्सित कार्य करेंगे।

तदनुसार दोनों—जिनवल्लभगरिण और देवभद्राचार्य अपने-अपने समुदाय के साथ चित्तौड़ पहुँच गये। पं० सोमचन्द्र को भी उस समय बुलाया गया था किन्तु वे चित्तौड़ नहीं पहुँच सके। शुभ मुहूर्त देखकर देवभद्रसूरि ने विक्रम सम्वत् ११६७ की आषाढ़ शुक्ला छठ के दिन चित्तौड़ स्थित वीर विधि चैत्य में जिनवल्लभसूरि को नवांगी वृत्तिकार अभयदेवसूरि के पट्ट पर आचार्य पद प्रदान किया।

इस प्रकार जिनवल्लभसूरि को अभयदेवसूरि का पट्टधर नियुक्त कर देवभद्राचार्य अपने शिष्य परिवार सहित विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करने लगे।

आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के पश्चात् जिनवल्लभसूरि विधि मार्ग के प्रचार-प्रसार के लिए निरन्तर प्रयास करते रहे, पर सहसा वे रुग्ण हो गये। उन्होंने व्याधि के आकस्मिक आक्रमण को देखकर निमित्त ज्ञान के बल से यह ज्ञात कर लिया कि अब उनका अन्तिम समय आ पहुँचा है। उन्होंने विक्रम सम्वत् ११६७ की कार्तिक वदि दशम के दिन अपने सभी दुष्कृतों की आलोचना कर संथारा किया और नमस्कार मंत्र का निरन्तर जाप करते हुए विक्रम सम्वत् ११६७ की कार्तिक कृष्णा द्वादशी के दिन रात्रि के अन्तिम प्रहर में तीन दिन के अनशन के पश्चात् वे चतुर्थ देवलोक के अधिकारी हुए।

जिनवल्लभसूरि के जीवन वृत्त का यह एक पक्ष है, जिसे यशस्विनी खरतरगच्छ परम्परा की पट्टावली (वृहद् गुर्वावली) के आधार पर संक्षेपतः ऊपर प्रस्तुत किया गया है।

खरतरगच्छ से इतर प्रायः सभी परम्पराओं के विद्वान् लेखकों ने, मुख्यतः तपागच्छ के उपाध्याय श्री धर्मसागर गरिण ने जिनवल्लभसूरि के जीवन वृत्त का, उपरिवर्णित पक्ष से नितान्त विपरीत पक्ष प्रस्तुत किया है। धर्म सागर ने जिनवल्लभ की कटुतम आलोचना करते हुए, उनके द्वारा की गई भगवान् महावीर के छः कल्याणकों की प्ररूपणा के प्रश्न को लेकर उन्हें उत्सूत्र-प्ररूपक की संज्ञा तक से अभिहित कर दिया है। तपागच्छीय महोपाध्याय श्री धर्मसागर गरिण ने अपनी "श्रीतपागच्छपट्टावली सूत्रम् स्वोपज्ञ वृत्ति संवेतम्" में श्री जिनवल्लभसूरि को अभयदेवसूरि के शिष्य के रूप में स्वीकार न कर उनके जीवन के अन्तिम क्षणों तक चैत्यवासी

परम्परा का अनुयायी श्रमण एवं चैत्यवासी परम्परा के आचार्य श्री जिनेश्वरसूरि का ही शिष्य बताते हुए लिखा है :

> "तथा कूर्च्चपुरगच्छीय चैत्यवासी जिनेश्वरसूरि शिष्यो जिनवल्लभश्चित्रकूटे षट्कल्याणक प्ररूपणया निजमतं प्ररूपितवान् ।"[1]

अर्थात् कूर्चपुर (कुचेरा) गच्छीय चैत्यवासी आचार्य जिनेश्वरसूरि के शिष्य जिनवल्लभ ने चित्तौड़ में भगवान् महावीर के छट्ठे कल्याणक की प्ररूपणा कर अपने स्वयं के नये मत को प्रकट किया।

इसी प्रकार अज्ञात कर्त्तृक "श्री गुरु पट्टावली" में भी जिनवल्लभसूरि के लिये इसी प्रकार का उल्लेख किया गया है जो इस प्रकार है :—"तत्समये कूर्च्चपुरगच्छीय चैत्यवासी श्री जिनेश्वरसूरि शिष्यो जिनवल्लभ नामा चित्रकूटे षष्टकल्याणक प्ररूपणया अविधि संघम् स्थापितवान्, तत्सम्प्रदायः खरतर इति व्यवह्रीयते विक्रमात् १२०४ वर्षे जातः ।"[2]

अर्थात् उस समय कूर्च्चपुर गच्छ के चैत्यवासी आचार्य श्री जिनेश्वरसूरि के शिष्य जिनवल्लभ ने चित्रकूट में छः कल्याणकों की प्ररूपणा कर अविधि संघ की, (अर्थात् विधि विहीन, अनागमिक अथवा मूल परम्परा से विपरीत संघ की) स्थापना की। श्री जिनवल्लभसूरि का वह सम्प्रदाय विक्रम सम्वत् १२०४ में खरतर नाम से पहिचाना जाने लगा।

तपागच्छ के उपाध्याय श्री धर्मसागर गणि ने अपने खण्डन मण्डनात्मक विशाल ग्रन्थ "प्रवचन परीक्षा" में न केवल जिनवल्लभ को ही अपितु सबसे पहले क्रियोद्धार का शुभारम्भ करने वाले महान् क्रियोद्धारक वर्द्धमानसूरि तक को और उनके द्वारा संस्थापित संविग्न परम्परा अथवा सुविहित परम्परा के अभिन्न प्रमुख अंग खरतरगच्छ तक को मूलतः चैत्यवासी परम्परा के अनुयायी बताते हुए लिखा है :—

"श्री वर्द्धमानाचार्यस्तु चैत्यवासं परित्यज्य श्री उद्योतनसूरि पार्श्वे चारित्रं गृहीत्वा विपमभोगिकः सन्नेव योगानुष्ठानपूर्वकं सूत्रवाचनां गृहीतवान्, परं विहारस्तदाज्ञामात्रेणेति—अतः एव श्री वर्द्धमानसूरि संतानीयै श्री अभयदेवसूरि, श्री वर्द्धमानसूरि (द्वितीय) प्रभृतिभिस्तथा तदनपत्य जिनवल्लभेनापि श्री वर्द्धमानसूरिमवधिकृत्य स्वकृत ग्रन्थ प्रशस्त्यादौ श्री वर्द्धमानसूरि पट्ट परम्परा लिखिता, न पुनस्ततः प्रागपि सूरिमवधिकृत्येति ।"[3]

---

१. पट्टावली समुच्चय (सम्पादक मुनि श्री दर्शनविजयजी) पृष्ठ ५८

२. वही, पृष्ठ १६६

३. प्रवचन परीक्षा, भाग १, पृष्ठ ३०६ (उपाध्याय श्री धर्म सागर द्वारा रचित)

अर्थात् श्री वर्द्धमानसूरि ने चैत्यवासी परम्परा का परित्याग कर श्री उद्योतनसूरि के पास चारित्र ग्रहण किया अर्थात् अभिनव रूप से पंच महाव्रत की दीक्षा ग्रहण की। तदुपरान्त भी वे विषम भोगिक ही रहे, उनके साथ उद्योतनसूरि ने श्रमण परम्परा में प्रचलित बारह प्रकार के सम्भोग एवं पारस्परिक व्यवहार नहीं रखा। इस प्रकार विषम भोगी रहते हुए ही वर्द्धमानाचार्य ने उद्योतनसूरि से आगमों की वाचनाएं ग्रहण कीं। इस प्रकार विषमभोगी रहते हुए भी वर्द्धमानसूरि अपने शिक्षागुरु उद्योतनसूरि की आज्ञा से विचरण करते रहे। इस भांति न तो उद्योतनसूरि ने वर्द्धमानसूरि को अपनी परम्परा के शिष्य के रूप में और न वर्द्धमानसूरि ने ही उद्योतनसूरि को अपना पूर्वाचार्य विधिवत् स्वीकार किया। यही कारण है कि वर्द्धमानसूरि के सन्तानीय अथवा शिष्य प्रशिष्य अभयदेवसूरि और वर्द्धमानसूरि (द्वितीय) आदि आचार्यों ने तथा उनकी शिष्य सन्तति में नहीं आने वाले जिनवल्लभ ने भी अपनी-अपनी कृतियों की प्रशस्तियों में श्री वर्द्धमानसूरि से ही पट्ट परम्परा के उद्भव का उल्लेख किया है। वर्द्धमानसूरि से पूर्व के आचार्यों का उन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया। इसका कारण यह है कि इनके पूर्वाचार्य तो चैत्यवासी थे और उद्योतनसूरि को ये सब विद्वान् लेखक उद्योतनसूरि की परम्परा से विसम्भोगिक होने के कारण उन्हें (उद्योतनसूरि को) अपना पूर्वाचार्य नहीं लिख सकते थे।

इन पंक्तियों के माध्यम से महोपाध्याय श्री धर्मसागर ने महान् क्रियोद्धारक वर्द्धमानसूरि की उस महती महनीया परम्परा को, जो आगे चलकर खरतरगच्छ के नाम से लोकविख्यात हुई और जिसने चैत्यवासी परम्परा के प्रचार प्रसार एवं वर्चस्व के कारण नितान्त गौण बनी हुई श्रमण भगवान् महावीर की मूल विशुद्ध परम्परा को पुनः वर्चस्व प्रदान करने में भगीरथ प्रयास तुल्य महान् योगदान किया, मूलतः ही नगण्य एवं विक्रम सम्वत् १०८० के आस-पास अभिनव रूप से संस्थापित परम्परा सिद्ध करने का अपनी ओर से अथक किन्तु वस्तुतः निरर्थक प्रयास किया है।

खरतरगच्छ परम्परा की आलोचना करने में आलोचना की सीमा को लांघकर उपाध्याय श्री धर्मसागर ने लिखा है :—

"सव्वेहिं कुवक्खेहिं अ निब्भन्तो खरयरो सहावेणं।
जिब्भादोसदुगेणं, भासणभक्खणसरूवेणं ॥८४॥

उस्सुत्तं भासित्ता, दिज्जा अलिअंपि सम्मइं मूढो।
पज्जूसिअ विदलाइ, भक्खंतो भणइ मुणिमप्पं ॥८५॥[१]

---

१. प्रवचन परीक्षा, पृष्ठ ३१६, भाग १

तीए पमाण करणे, अपमाणं सासणं समग्गं पि ।
कायव्वं विवरीया, जेणं दोण्णंपि दो पंथा ।।७०।।[१]
जिणवल्लहो अ सीसो, तेण कओ दविण दाणेण ।[२]

खरतरोप्यनंत संसार्येव, तन्मध्ये पतितो जिनप्रभोऽपि म्लेच्छाधिपति-प्रतिबोधकोऽपि प्रवचनोपघात्यैव, उत्सूत्र भाषिणां प्रवचनोपघातित्वात्......." [३]

अर्थात् जितने भी कुपक्ष हैं, उनमें खरतर पक्ष वस्तुतः स्वभाव से ही ढीठ है । भाषण और भक्षण की दृष्टि से जो सबसे बड़े दो दोष होते हैं, उन दोषों से खरतरगच्छ युक्त है । उत्सूत्र अर्थात् सूत्र विरुद्ध प्ररूपणा करके यह मूढ झूठी ही सम्मति देता है । यानि वासी द्विदल आदि को खाकर भी यह अपने आप को मुनि कहता है ।

यदि खरतरगच्छ को प्रामाणिक मान लिया जाय तो समग्र जिनशासन ही अप्रामाणिक सिद्ध हो जाता है, क्योंकि जिनशासन और खरतरगच्छ ये दोनों एक-दूसरे से विपरीत दिशा की ओर ले जाने वाले भिन्न-भिन्न और परस्पर विरोधी दो मार्ग हैं ।

कूर्च्चपुर गच्छीय चैत्यवासी आचार्य जिनेश्वरसूरि ने धन देकर जिनवल्लभ को खरीदा और उस क्रय किये हुए बालक को अपना शिष्य बनाया ।

ये खरतरगच्छ वाले भी अनन्त-अनन्त काल तक संसार में भटकने वाले हैं और इनके बीच में पतित यह जिनप्रभ भी म्लेच्छराज तुगलक मोहम्मद शाह का प्रतिबोधक होते हुए भी निर्ग्रन्थ प्रवचन का उड्डाह अथवा उपघात करने वाला ही है, क्योंकि उत्सूत्रभाषी वस्तुतः निर्ग्रन्थ. प्रवचन का उपघात करने वाले ही होते हैं ।

इस प्रकार विरोध की पराकाष्ठा को पारकर धर्म सागर ने जिनशासन को शिथिलाचारियों के बाहुपाश से उन्मुक्त कराने में सर्वाधिक योगदान करने वाले जिनवल्लभसूरि को अविधि मार्ग का संस्थापक, उत्सूत्रभाषी, क्रयक्रीत साधु, चैत्यवासी आदि कुत्सित सम्बोधनों से अभिहित कर वर्द्धमानसूरि और खरतरगच्छ को जिनशासन से नितान्त विपरीत पथ का अनुगामी बताया है । इसके कारणों पर विचार करने से पहले उपाध्याय धर्मसागर के सम्बन्ध में पट्टावली समुच्चय के एक टिप्पण[४] की ओर ध्यान दिलाना परमावश्यक है । उस टिप्पण में धर्मसागर

१. प्रवचन परीक्षा, भाग १, विश्राम ४, पृष्ठ ३०६
२. प्रवचन परीक्षा, भाग १, पृष्ठ २३१
३. वही पृष्ठ ३१६
४. पट्टावली समुच्चय, पृष्ठ १७३, टिप्पण

के सम्बन्ध में लिखा है—"तथा तत्शिष्यो विजयदान सूरिः क्रियोद्धार सहायकृत् तस्य शिष्यः, पूर्वं खरतरगच्छः पश्चात् तपोगच्छाचरणः, देवगिरौ श्री हीरविजय-सूरीणां सहाध्यायी, गीर्वाणभाषाजल्पदक्षः, तीव्र बुद्धिः, प्रखर वादी, चतुर्विध वाद निष्णातः, श्री जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (विक्रम सं० १६३९) कल्प किरणावली (विक्रम सम्वत् १६२८ दीपावल्यां राजधन्यपुरे)—कुमति कुद्दालः—प्रवचन परीक्षा—तपागच्छ पट्टावलिषु—तद्वृत्ति नयचक्र—ईर्यापथिका षट्त्रिंशिका वृत्तिः—औष्ट्रिक मतोत्सूत्रदीपिका (विक्रम सम्वत् १६१७) प्रमुख ग्रन्थानां प्रणेता उपाध्याय श्री धर्मसागरः।"

इस टिप्पण में स्पष्ट रूप से यह बताया गया है कि श्री धर्मसागर पहले खरतरगच्छ का साधु था और कालान्तर में तपागच्छ का अनुयायी हो गया। यद्यपि इस टिप्पण के अतिरिक्त अद्यावधि अन्यत्र कहीं इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध नहीं हुआ है, जिससे यह सिद्ध हो कि उपाध्याय धर्मसागर प्रथमतः खरतरगच्छ का साधु था और कालान्तर में उसने खरतरगच्छ को छोड़कर तपागच्छ परम्परा को अपनाया हो। ऐसी स्थिति में यदि इस टिप्पण को नितान्त निराधार न माना जाय तो यह अनुमान किया जाता है कि खरतरगच्छ के किसी आचार्य अथवा विद्वान् साधु से मतभेद हो जाने के कारण उपाध्याय धर्मसागर ने तपागच्छ को स्वीकार किया हो और उसी पारस्परिक मनोमालिन्य के कारण धर्मसागर ने खरतरगच्छ के विरुद्ध इस प्रकार विषवमन किया हो। इस पारस्परिक विद्वेष ने बहुत उग्र रूप धारण किया, इसकी पुष्टि आचार्यश्री विनयचन्द ज्ञान भण्डार, जयपुर में उपलब्ध एक प्राचीन पत्र की प्रतिलिपि से होती है, जिसमें लिखा है :—

> "श्री खरतरगच्छीय सुविहित साधुवर्ग के ऊपर द्वेषबुद्धि धरते थके तपगच्छी श्री विजयदानसूरि शिष्यधर्मसागर उपाध्याये तीस बोल सूत्र सूं विरुद्ध प्ररूप्या और पिण श्री अभयदेवसूरि परम्परादिक नीं मन कल्पित प्ररूपणा कीधी जे एहवा आचार्य खरतरगच्छ में न थाय इत्यादि असम्बद्ध वचन भाख्या। ते वारे सम्वत् १६२७ कार्त्तिक सुदी सातम दिने शुक्रवासरे श्री पाटण नगर में श्री खरतरगच्छ नायक परम संवेगी परम वैरागी युग प्रधान गुरु श्री जिनचन्द्रसूरि समस्त दर्शनीए एकट्ठा करी शास्त्र पढाव्या। ते वारे सर्वगच्छीय गीतार्थ मिलि घणा ग्रन्थ जोई, जोइयां पछे धर्मसागर ने तिडाव्यो। पछे छिपि रह्यो। न आवे तिवारे कार्त्तिक सुदि १३ सर्व-दर्शन मिली चर्चा ए खोटी जाणी ने निन्हव थाप्यो, जिनदर्शन थी बाहर कीधो। शुद्ध मार्गी तपागच्छीय गीतार्थे पिण निन्हव जाणी तेहनो वचन प्रमाण न कीनो। हिवडा कितराइक कदाग्रही मन्दमति शास्त्रज्ञान हीन तपागच्छी पिण ते उत्सूत्रवादी निन्हव ना वचन प्रमाण करे छे अने जिन वचन लोपे छे। ते वापडा घणू संसार ववारस्यैं।..........."

उपरिलिखित सब विवरणों को देखने से यह अनुमान किया जाता है कि

गच्छभेद के कारण जो कलहाग्नि जिनशासन में भड़क उठी थी, उसी के परिणाम-स्वरूप परस्पर एक-दूसरे को नीचा दिखाने के प्रयास प्रतिपक्षी गच्छों के विद्वानों द्वारा किये गये।

वस्तुतः तटस्थ दृष्टि से यदि जिनवल्लभसूरि के जीवनवृत्त पर विचार किया जाय तो यही तथ्य प्रकाश में आयेगा कि वे एक महान् क्रान्तिकारी विद्वान् थे। श्री वर्द्धमानसूरि ने विक्रम सम्वत् १०८० में क्रियोद्धार कर शिथिलाचार और चैत्यवासियों द्वारा जैनधर्म संघ में रूढ़ कर दिये गये विकारों के विरुद्ध जो अभियान प्रारम्भ किया था, उसे वस्तुतः जिनवल्लभसूरि ने बल दिया। विभिन्न क्षेत्रों में घूम-घूम कर उन्होंने चैत्यवासियों के गढ़ों को धूलिधूसरित किया। संघ पट्टक जैसी क्रान्तिकारी कृति का निर्माण कर उन्होंने जन-जन के मन में शिथिलाचार के विरुद्ध विद्रोह की आग भड़का दी।

ऐसा प्रतीत होता है कि वर्द्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि के स्वर्गस्थ हो जाने के अनन्तर भी चैत्यवासियों का अनहिल्लपुर पट्टण में प्रबल बहुमत था। वसतिवास परम्परा को जिनेश्वरसूरि के प्रयासों से पट्टण में धर्म प्रचार की स्वतन्त्रता मिल चुकी थी तथापि गुर्जर राज्य के उच्च पदों पर, व्यावसायिक प्रतिष्ठानों पर एवं सामाजिक संगठनों पर चैत्यवासी परम्परा के अनुयायियों का बड़ा गहरा प्रभाव था। इसी कारण पाटण के संघ पर चैत्यवासी परम्परा के आचार्यों का प्रभुत्व बना रहा। जैसा कि अभयदेवसूरि के प्रकरण में बताया जा चुका है—कोई भी चाहे कैसी ही शक्तिशाली परम्परा क्यों न हो—चैत्यवासी परम्परा के साथ मिलजुलकर रहने की दशा में ही वह न केवल अणहिल्लपुर पट्टण में ही, अपितु समस्त गुर्जर राज्य में अपना अस्तित्व बनाये रख सकती थी। यही कारण था कि अभयदेवसूरि ने चैत्यवासी आचार्य द्रोणाचार्य की पहल पर उनके साथ समन्वयात्मक सहयोग का हाथ बढ़ाया। अनुमानतः अभयदेवसूरि के जीवनकाल तक चैत्यवासी परम्परा के साथ सुविहित परम्परा का, मुख्यतः वर्द्धमानसूरि की परम्परा का पूर्णतः सौहार्दपूर्ण एवं पारस्परिक सहयोगपूर्ण मधुर व्यवहार रहा। हमारे इस अनुमान की पुष्टि इन दो तथ्यों से होती है कि द्रोणाचार्य द्वारा जो चैत्यवासी परम्परा के ८३ आचार्यों को आगमों की वाचनाएं प्रतिदिन दी जाती थीं उनमें आचार्य अभयदेवसूरि प्रायः नित्य प्रति उपस्थित हुआ करते थे और नवांगी वृत्ति-कार अभयदेवसूरि ने जिन नौ अंगों पर वृत्तियों की रचनाएं कीं, उनका संशोधन चैत्यवासी परम्परा के प्रधान आचार्य द्रोणाचार्य ने किया। अभयदेवसूरि के जीवनकाल में उनकी परम्परा का चैत्यवासी परम्परा के साथ किसी भी प्रकार के संघर्ष के होने का उल्लेख भी उपलब्ध जैनवांग्मय में अद्यावधि कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। इससे यही प्रतिफलित होता है कि अभयदेवसूरि के जीवन काल पर्यन्त चैत्यवासी परम्परा और सुविहित परम्परा के नाम से अभिहित की जाने वाली चैत्यवासी परम्परा के बीच सौहार्दपूर्ण वातावरण रहा। जिस समय जिनवल्लभसूरि

पाटरण छोड़कर विहार क्रम से चित्तौड़ पहुँचे, उस समय चित्तौड़ में भी चैत्यवासियों का ही प्रभुत्व एवं प्राबल्य था। यही कारण था कि जिनवल्लभसूरि को रहने के लिये प्रारम्भ में कोई अनुकूल स्थान न मिलने के कारण उन्हें दैवी आपदाओं के स्थान चामुण्डा के मठ में निवास करना पड़ा। खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली के एतद् विषयक उल्लेख से स्पष्टतः यही प्रकट होता है कि अभयदेवसूरि के स्वर्गस्थ होने के लगभग एक दो दशक पर्यन्त न केवल गुजरात अपितु मेदपाट आदि अनेक स्थानों पर चैत्यवासियों का पूर्ण वर्चस्व, प्रभुत्व व प्राबल्य था।

अभयदेवसूरि के स्वर्गस्थ होने के कुछ ही वर्षों पश्चात् दोनों परम्पराओं के सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न हो जाने के संकेत जैन वांग्मय में दृष्टिगोचर होते हैं। इसका प्रमुख कारण यही रहा कि जिनवल्लभसूरि क्रान्तिकारी विचारधारा के विद्वान् उपाध्याय थे। वे शीघ्रातिशीघ्र चैत्यवासी परम्परा के शिथिलाचार और चैत्यवासियों द्वारा जिन शासन में प्रविष्ट की गई विकृतियों के समूलोन्मूलन के लिए व्यग्र हो उठे थे। उन्होंने अनहिल्लपुर पट्टरण में भी विधि चैत्य के नाम से अनेक चैत्यालयों का निर्माण करवाया। किन्तु राज्याश्रय प्राप्त चैत्यवासी परम्परा ने उन विधि चैत्यों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सुविहित परम्परा के शब्दों में उन्हें अविधि चैत्य के रूप में परिवर्तित कर दिया। श्री जिनवल्लभसूरि के इस प्रकार के क्रान्तिकारी प्रयासों ने न केवल चैत्यवासी परम्परा को ही अपितु सुविहित परम्परा के जितने भी कर्णधार आचार्य, उपाध्याय अथवा विद्वान् श्रमरण जो अनहिल्लपुर पट्टरण में उस समय विद्यमान थे, उन सब को भी रुष्ट कर दिया। जिनवल्लभसूरि के इन सुधारवादी प्रयासों से चैत्यवासी परम्परा के आचार्यों, श्रमरणों, श्रावक एवं श्राविका वर्ग का रुष्ट हो जाना तो सहज स्वाभाविक ही था किन्तु सुविहित परम्परा के जो आचार्य, उपाध्याय, गरिण, विद्वान् श्रमरण आदि जिनवल्लभ गरिण के इन कार्यों से रुष्ट हुए, उसके पीछे यही एक कारण था कि सुविहित परम्परा के साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ की यह दृढ़ धारणा थी कि चैत्यवासी परम्परा के साथ सम्बन्धों को बिगाड़कर वे कम से कम विशाल गुर्जर प्रदेश में अपना अस्तित्व सुदृढ़ नहीं रख सकते। इसी कारण चैत्यवासी परम्परा के रुष्ट होते ही सुविहित परम्परा के कर्णधार भी जिनवल्लभसूरि से रुष्ट हुए। क्योंकि वे चैत्यवासी परम्परा के साथ मधुर व्यवहार रखने में ही अपना भला समझते थे। इस प्रकार अपने प्रतिपक्षियों और पक्ष वाले समुदाय के रुष्ट हो जाने के परिणामस्वरूप जिनवल्लभसूरि को अनहिल्लपुर पट्टरण छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा और उन्होंने गुर्जर प्रदेश से मेदपाट की ओर विहार किया। खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली के निम्नलिखित उल्लेख से इस तथ्य की पूर्णतः पुष्टि होती है :—

"ततो वाचनाचार्यो जिनवल्लभगरिण कतिचित् दिनानि पत्तरणभूमौ विहृत्य न तादृशो विशेषेण वोधो विधातुं कस्यापि शक्यते, येन सुखमुत्पद्यते

मनसि । ततश्चात्मतृतीय आगम विधिना सुशकुनेन भव्यजनमनसि भगवद्भणित विधि धर्मोत्पादनाय चित्रकूट देशादिसु विहृत: । ते च देशा सर्वेऽपि प्रायेण देवगृहनिवासीमुनीन्द्रैर्व्याप्ता: । सर्वोऽपि तद्वासितो लोक:, किं बहुना । नानाग्रामेषु विहारं विदधंश्चित्रकूटे प्राप्त: । यद्यपि तत्राशुभैर्भाविता लोकास्तथाप्ययुक्तं कर्तुं न शक्नुवन्ति, पत्तने गुरूणां प्रसिद्धि श्रवणात् ।[1]

अर्थात् अभयदेवसूरि के स्वर्गस्थ हो जाने के अनन्तर कुछ समय तक अनहिल्लपुर पट्टण में तथा उसके आसपास के क्षेत्रों में विचरण करने के अनन्तर जिनवल्लभ गणि ने यह अनुभव किया कि वहां उनके उपदेशों से कोई विशेष लाभ होता दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है, न किसी को अपनी विचारधारा के अनुरूप मोड़ देकर अन्तर्मन को आह्लादित कर देने वाला कार्य ही किया जाना सम्भव है । इस प्रकार का दृढ़ विश्वास होते ही उन्होंने प्रभु महावीर द्वारा प्ररूपित विधि मार्ग के अभ्युदयोत्थान के उद्देश्य से शुभ मुहूर्त में शुभ शकुन होने पर चित्रकूट आदि प्रदेशों की ओर दो और साधुओं के साथ विहार किया । वे सभी प्रदेश प्राय: चैत्यवासी परम्परा के आचार्यों के सुदृढ़ प्रभाव में थे । वहां के निवासियों के मानस में चैत्यवासी परम्परा की विचारधारा कूट-कूट कर भरी हुई थी । अनेक ग्रामों में विचरण करते हुए वे चित्तौड़ पहुँचे । यद्यपि वहां के निवासियों के अन्तर्मन में जिनवल्लभसूरि के प्रति अशुभ भावनाएं भरी हुई थीं तथापि वे लोग उनका किसी भी प्रकार का अनिष्ट करने में सक्षम नहीं हो सके । क्योंकि अणहिल्लपुर पट्टण में जो उनकी प्रसिद्धि हुई थी उसकी सुवास उस समय तक सुदूरस्थ प्रदेशों में व्याप्त हो चुकी थी । उन्होंने विश्राम के लिए वहां के श्रावकों से आवास की याचना की, किन्तु उन श्रावकों ने वसति से दूर निर्जन एकान्त में अवस्थित चामुण्डा मठ की ओर इंगित करते हुए कहा—"वह चामुण्डा का मठ आपको निवास के लिए मिल सकता है और कोई स्थान आपके लिए नहीं है ।" जिनवल्लभसूरि तत्काल ताड़ गये कि उन श्रावकों के मन में उनके प्रति दुर्भावना है । वहां किसी प्रकार के दैवी उपद्रव उपस्थित होने का इनको विश्वास है । इसी कारण उन्होंने वह निर्जन एकान्त स्थान हमें रहने के लिए बताया है । देवगुरु प्रसाद से सब कुछ भला ही होगा, मन ही मन यह विचार कर उन्होंने प्रकट में कहा—"ठीक है, हम वहीं रह जायेंगे । साधना के लिए तो निर्जन एकान्त स्थान ही सर्वोत्तम होता है ।"

उन्होंने तत्काल परमेष्ठी-मन्त्र का ध्यान कर चामुण्डा मठ की ओर प्रयाण किया और वहां जाकर देवी की अनुज्ञा ले विश्राम किया ।

खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली के उपर्युल्लिखित उद्धरण से भी यही तथ्य प्रकाश में आता है कि समस्त मेदपाट तक में विक्रम की बारहवीं शताब्दी के

१. खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली पृष्ठ १०

उत्तरार्द्ध के लगभग डेढ शतक तक चैत्यवासियों का ही वर्चस्व एवं पूर्ण प्रभुत्व था। इस तथ्य की पुष्टि जिनवल्लभसूरि के जीवन की इस घटना से ही भली-भांति हो जाती है कि जब उन्होंने भगवान् महावीर के गर्भापहार का छठा कल्याणक किसी जिनमन्दिर में मनाने का निश्चय किया तो चित्तौड़ के किसी भी जिनमन्दिर में उन्हें प्रवेश तक नहीं करने दिया गया। इसी कारण उन्हें चौबीस जिनेश्वरों के चित्रपट को एक गृहस्थ के घर में रखकर छठे कल्याणक का उत्सव मनाना पड़ा। तदनन्तर जब उन्होंने यह देखा कि उन्हें वन्दन-नमन और उनके उपासकों को पूजा अर्चन के लिये चित्तौड़ में कोई जिनमन्दिर उपलब्ध नहीं होने वाला है, क्योंकि सभी जिनालयों पर चैत्यवासी परम्परा का स्वामित्व है तो उन्होंने उपासना के लिए अभिनव जिनमन्दिर के निर्माण करवाने के अपने श्रावक श्राविकाओं के प्रस्ताव का अनुमोदन किया और शीघ्रातिशीघ्र जैसा कि पहले ऊपर बताया जा चुका है, दो तल्ले भवन का निर्माण करवा उसे दो जिनमन्दिरों का रूप प्रदान किया गया।

ये सब ऐतिहासिक तथ्य इस बात के द्योतक हैं कि अभयदेवसूरि के जीवनकाल तक चैत्यवासी परम्परा के साथ सुविहित परम्परा का जो सद्भावपूर्ण व्यवहार रहा वह जिनवल्लभसूरि के सुधारवादी अथवा क्रान्तिकारी कार्यकलापों के परिणामस्वरूप संघर्ष में बदल गया। ऐसा प्रतीत होता है कि नवांगी वृत्तिकार अभयदेवसूरि के पास आगमों का अध्ययन कर लेने के पश्चात् जिनवल्लभसूरि ने दृढ़ संकल्प कर लिया था कि वे चैत्यवासी परम्परा द्वारा चारों ओर फैलाये गये शिथिलाचार के दलदल से संघ का उद्धार करके ही विश्राम ग्रहण करेंगे। अपने इस दृढ़ संकल्प के अनुसार उन्होंने चैत्यवासी परम्परा के समूलोन्मूलन का अभियान प्रारम्भ किया और उसके परिणामस्वरूप उन्हें चैत्यवासी परम्परा और सुविहित दोनों ही परम्पराओं के अनुयायियों का कोपभाजन बनना पड़ा। "अद्यैव वा मरणमस्तु, युगान्तरे वा। न्यायात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।" इस सूक्ति को चरितार्थ करते हुए उन्होंने साहस नहीं छोड़ा। गुर्जर प्रदेश में और मुख्यतः अनहिलपुर पत्तन में वे अपने संकल्प का क्रियान्वयन नहीं कर सकेंगे, यह विचार कर जिनवल्लभ गणि ने गुर्जर प्रदेश को छोड़ अन्य क्षेत्रों को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। वे जीवन-भर चैत्यवासी परम्परा से जूझते रहे और चैत्यवासी परम्परा के उन्मूलन और विधि मार्ग के अभ्युत्थान के लिये उन्होंने संघपट्टक जैसी क्रान्तिकारी कृति की संरचना की। संघपट्टक का घोष दिग्दिगन्त में गूंज उठा। संघपट्टक द्वारा प्रकट किये गये युक्तिसंगत तथ्यों से जन-मानस जिनवल्लभ की ओर आकर्षित हुआ। बड़ी संख्या में लोग उनके उपासक बनने लगे। सर्वप्रथम चित्तौड़ नगर में और तदनन्तर देश के विभिन्न नगरों में जिनवल्लभसूरि की प्रेरणा से विधि चैत्यों के निर्माण प्रारम्भ होने लगे। उन विधि चैत्यों में चैत्यवासी परम्परा के विधि-विधान, आचार-विचार, व्यवहार आदि से नितान्त विपरीत निम्नलिखित आज्ञाएं उट्टंकित करवा दी गई :—

१. यहां आगम के विरुद्ध कोई कार्य नहीं किया जायेगा।

२. रात्रि में इन विधि चैत्यों में स्नात्र का आयोजन नहीं किया जायेगा।

३. इन विधि चैत्यों पर किसी भी साधु का किसी प्रकार का स्वामित्व नहीं रहेगा।

४. इन विधि चैत्यों में रात्रि के समय कोई स्त्री प्रवेश नहीं कर सकेगी। रात्रि में स्त्रियों का प्रवेश पूर्णतः निषिद्ध रहेगा।

५. इन विधि चैत्यों में जाति, वंश, कुल आदि का किसी प्रकार का कदाग्रह नहीं रहेगा।

६. इन विधि चैत्यों में उपासक वर्ग ताम्बूल चर्वण कभी नहीं कर सकेगा।

जिनवल्लभसूरि के इस प्रकार के सुधारवादी एवं क्रान्तिकारी विचारों का जनमानस पर बड़ा ही चमत्कारपूर्ण प्रभाव हुआ। देश के कोने-कोने में जनमानस जिनवल्लभ गरिण की ओर आकृष्ट हुआ और लोग चैत्यवासी परम्परा का परित्याग कर महानदी के वेग की भांति विधि मार्ग के अनुयायी बनने लगे।

इस प्रकार जिस चैत्यवासी परम्परा के सुविशाल, सुगठित एवं शक्तिशाली संगठन को महान् क्रियोद्धारक वर्द्धमानसूरि के शिष्य श्री जिनेश्वरसूरि ने विक्रम सम्वत् १०८० में झकझोर डाला था, उसे विक्रम सम्वत् ११६५ के आगमन से पूर्व ही जिनवल्लभसूरि ने छिन्न-भिन्न, अशक्त और निष्प्रभावी बना डाला। चैत्यवासी परम्परा के निर्बल और निष्प्रभावी हो जाने से सुविहित परम्परा का अभ्युदय, उत्तरोत्तर प्रगति की ओर अग्रसर होने लगा।

सुविहित परम्परा के अन्दर आमूलचूल परिवर्तनकारी सर्वांगपूर्ण क्रियोद्धार के अभाव में अथवा सद्भाव के उपरान्त भी उसके सम्यग् रूप से क्रियान्वयन न होने के कारण श्रमण भगवान् महावीर के धर्मसंघ में जो गच्छभेद उत्पन्न हुए, उन गच्छभेदों की कालान्तर में एक प्रकार की बाढ़ सी आ गई। उन सब गच्छों के तत्कालीन पारस्परिक विद्वेष, कलह, वैमनस्य पूर्ण कार्य-कलापों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यदि एकमात्र आगमों को ही आधार एवं सर्वोपरि मानकर पूर्ण क्रियोद्धार किया जाता और उस क्रियोद्धार का आगमों के निर्देश के अनुसार अक्षरशः अनुपालन किया जाता तो जिनवल्लभसूरि के प्रयास सम्पूर्ण जैनसंघ को एकता के सूत्र में आवद्ध करने में सम्भवतः सफलकाम हो जाते। पर दुर्भाग्य की वात यह रही कि जिनवल्लभ की सुविहित परम्परा के विद्वानों ने ही कटु से कटुतम आलोचना की और उनके द्वारा षष्ठ कल्याणक की प्ररूपणा ने तो सुविहित परम्परा के अन्य गच्छों को इतना अधिक उत्तेजित किया कि उन इतर गच्छों ने जिनवल्लभसूरि को अविधि मार्ग अर्थात् आगमिक विधि से विपरीत मार्ग पर चलने वाले मत का संस्थापक तक घोषित कर दिया।

अस्तु, जो बीत गया उसके लिये तो—"अवश्यं भाविनो भावा भवन्ति महतामपि" अथवा "सुनो भरत ! भावी प्रबल, विलखि कहे रघुनाथ। हानि-लाभ जीवन-मरण, यश-अपयश विधि हाथ" इन सूक्तियों को सम्बल बना सन्तोष करने के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं है।

इन सब तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर निष्कर्ष यही निकलता है कि जिनवल्लभसूरि अपने समय के एक महान् साहसी, उद्भट विद्वान् और क्रान्तिकारी विचारधारा के धनी थे। उन्होंने संघरथ को गहन पंकिल शिथिलाचार के दलदल से बाहर निकालने का अद्भुत् साहसपूर्ण प्रयास किया। घर और बाहर के दोनों ओर के विरोध के उपरान्त भी वे चैत्यवासी परम्परा के वाह्य वर्चस्व को सदा-सदा के लिए समाप्त करने में सफलकाम हुए।

साहसी धर्मप्रचारक होने के साथ-साथ जिनवल्लभसूरि एक सफल एवं श्रेष्ठ साहित्यसर्जक भी थे। उनकी निम्नलिखित १७ कृतियां आज भी जैन साहित्य की श्रीवृद्धि कर रही हैं :—

१. आगमिक वस्तु विचार सार	२. श्रृंगार शतक
३. प्रश्न षष्ठि शतक	४. पिंड विशुद्धि प्रकरण
५. गणधर सार्द्ध शतक	६. पौषध विविध प्रकरण
७. संघ पट्टक	८. धर्म शिक्षा
९. धर्मोपदेश मय द्वादशमूलक रूप प्रकरण	१०. प्रश्नोत्तर शतक
११. स्वप्नाष्टक विचार	१२. चित्र काव्य
१३. अजित शान्ति स्तवन	१४. भवारि-वारण स्तोत्र
१५. जिन कल्याणक स्तोत्र	१६. जिनचरित्र मय जिन स्तोत्र
१७. महावीर चरित्र मय वीरस्तव	

अन्त में जैसा कि ऊपर वताया जा चुका है विक्रम सम्वत् ११६७ तदनुसार वीर निर्वाण सम्वत् १६३७ की कार्तिक कृष्णा द्वादशी के दिन तीन दिन के अनशन से इन महापुरुष ने समाधिपूर्वक स्वर्गलोक की ओर प्रयाण किया।

जिनवल्लभसूरि के क्रान्तिकारी विचारों की उनके पट्टधर जिनदत्तसूरि पर ऐसी अमिट छाप अंकित हुई कि वे जीवन भर अपने पूर्वाचार्य के पदचिन्हों पर चलते हुए जिनशासन की प्रभावना के कार्य में निरत रहे। जैसा कि जिनदत्तसूरि के जीवन वृत्त से स्पष्टतः प्रकट हो जायेगा कि जिनवल्लभ सूरि से भी अति कठोर संघर्ष का उन्हें सामना करना पड़ा, किन्तु वे तिल मात्र भी अपने निर्धारित लक्ष्य से विचलित नहीं हुए।



१. यहां आगम के विरुद्ध कोई कार्य नहीं किया जायेगा।
२. रात्रि में इन विधि चैत्यों में स्नात्र का आयोजन नहीं किया जायेगा।
३. इन विधि चैत्यों पर किसी भी साधु का किसी प्रकार का स्वामित्व नहीं रहेगा।
४. इन विधि चैत्यों में रात्रि के समय कोई स्त्री प्रवेश नहीं कर सकेगी। रात्रि में स्त्रियों का प्रवेश पूर्णतः निषिद्ध रहेगा।
५. इन विधि चैत्यों में जाति, वंश, कुल आदि का किसी प्रकार का कदाग्रह नहीं रहेगा।
६. इन विधि चैत्यों में उपासक वर्ग ताम्बूल चर्वण कभी नहीं कर सकेगा।

जिनवल्लभसूरि के इस प्रकार के सुधारवादी एवं क्रान्तिकारी विचारों का जनमानस पर बड़ा ही चमत्कारपूर्ण प्रभाव हुआ। देश के कोने-कोने में जनमानस जिनवल्लभ गरिण की ओर आकृष्ट हुआ और लोग चैत्यवासी परम्परा का परित्याग कर महानदी के वेग की भांति विधि मार्ग के अनुयायी बनने लगे।

इस प्रकार जिस चैत्यवासी परम्परा के सुविशाल, सुगठित एवं शक्तिशाली संगठन को महान् क्रियोद्धारक वर्द्धमानसूरि के शिष्य श्री जिनेश्वरसूरि ने विक्रम सम्वत् १०८० में झकझोर डाला था, उसे विक्रम सम्वत् ११६५ के आगमन से पूर्व ही जिनवल्लभसूरि ने छिन्न-भिन्न, अशक्त और निष्प्रभावी बना डाला। चैत्यवासी परम्परा के निर्बल और निष्प्रभावी हो जाने से सुविहित परम्परा का अभ्युदय, उत्तरोत्तर प्रगति की ओर अग्रसर होने लगा।

सुविहित परम्परा के अन्दर आमूलचूल परिवर्तनकारी सर्वांगपूर्ण क्रियोद्धार के अभाव में अथवा सद्भाव के उपरान्त भी उसके सम्यग् रूप से क्रियान्वयन न होने के कारण श्रमण भगवान् महावीर के धर्मसंघ में जो गच्छभेद उत्पन्न हुए, उन गच्छभेदों की कालान्तर में एक प्रकार की वाढ़ सी आ गई। उन सव गच्छों के तत्कालीन पारस्परिक विद्वेष, कलह, वैमनस्य पूर्ण कार्य-कलापों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यदि एकमात्र आगमों को ही आधार एवं सर्वोपरि मानकर पूर्ण क्रियोद्धार किया जाता और उस क्रियोद्धार का आगमों के निर्देश के अनुसार अक्षरशः अनुपालन किया जाता तो जिनवल्लभसूरि के प्रयास सम्पूर्ण जैनसंघ को एकता के सूत्र में आवद्ध करने में सम्भवतः सफलकाम हो जाते। पर दुर्भाग्य की वात यह रही कि जिनवल्लभ की सुविहित परम्परा के विद्वानों ने ही कटु से कटुतम आलोचना की और उनके द्वारा षष्ठ कल्याणक की प्ररूपणा ने तो सुविहित परम्परा के अन्य गच्छों को इतना अधिक उत्तेजित किया कि उन इतर गच्छों ने जिनवल्लभसूरि को अविधि मार्ग अर्थात् आगमिक विधि से विपरीत मार्ग पर चलने वाले मत का संस्थापक तक घोषित कर दिया।

लिये प्रतिदिन नियमित रूप से आती थी। उन साध्वियों ने बाहड़देवी के बालक को पहली बार देखते ही समझ लिया कि आगे चल कर यह बालक बड़ा ही होनहार होगा। अपने सामुद्रिक एवं ज्योतिष ज्ञान के आधार पर उन साध्वियों की जब यह धारणा बन गई कि यह बालक भविष्य में जिनशासन की महती प्रभावना करेगा तो उन्होंने बड़े स्नेह से बाहड़देवी को समझाना प्रारम्भ किया कि यदि उनके होनहार पुत्र को श्रमणधर्म की दीक्षा दिला दी जाय तो यह जिनशासन की बहुमुखी उन्नति करने वाला महान् प्रभावक आचार्य सिद्ध होगा। प्रतिदिन के प्रयास से जब उन साध्वियों को विश्वास हो गया कि अन्ततोगत्वा बाहड़देवी अपने पुत्र को दीक्षा दिलाने के लिये सहमत हो जायेगी, तो उन्होंने धर्मदेव उपाध्याय की सेवा में यह संदेश भेजा—"यहाँ एक सुयोग्य पात्र प्राप्त हुआ है, हमारा अनुमान है कि इस सुपात्र को देख कर आपको भी प्रमोद होगा।"

चातुर्मास की अवधि परिसमाप्त हो चुकी थी। अतः इस समाचार के पहुंचते ही शुभ शकुन में धवलकपुर की ओर प्रस्थित हो अप्रतिहत विहार क्रम से श्री धर्मदेव उपाध्याय वहां पहुँचे। उन्होंने धवलकपुर में वाहड़देवी के उस प्रतिभाशाली पुत्र को देखा। अपनी आशाओं के शत-प्रतिशत अनुरूप उस ओजस्वी बालक को देख कर धर्मदेव उपाध्याय पूर्णतः तुष्ट हुए। वि० सं० ११४१ में शुभ लग्न देख कर धर्मदेव उपाध्याय ने ६ वर्ष की वय के उस बालक को श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान की और उन नवदीक्षित मुनि का नाम मुनि सोमचन्द्र रखा। धर्मदेव उपाध्याय ने सर्वदेवगणि को नवदीक्षित मुनि का अभिभावक बनाते हुए उन्हें आदेश दिया कि वे नवदीक्षित मुनि की दिनचर्या, धर्मचर्या आदि के सभी कार्य नियमित रूप से समय पर करवाते रहें।

दीक्षा ग्रहण करने के दिन ही मध्याह्नोत्तर काल में सर्वदेवगणि सोमचन्द्र मुनि को अपने साथ बहिर्भूमि ले गये। शौचनिवृत्यर्थ मुनि सोमचन्द्र को जीव-जन्तु विहीन स्थान की ओर इंगित कर सर्वदेवगणि आगे की ओर बढ़ गये।

बालसुलभ चांचल्य वशात् एवं जीव-अजीव आदि का बोध न होने के कारण सोमचन्द्रमुनि ने पास ही के खेत से चने के कतिपय पौधे जड़ सहित उखाड़ लिये। शौच निवृत्ति के पश्चात् सोमचन्द्र के पास लौट कर सर्वदेवगणि ने उन मुनि के पास चने के जड़ से उखाड़े गये पौधे देखे तो नवदीक्षित मुनि को शिक्षा देने के अभिप्राय से बालक मुनि की मुख वस्त्रिका और रजोहरण लेते हुए कहा—"चला जा अपने घर, मुनि बनने के अनन्तर भी क्या कोई खेतों के पौधे उखाड़ता है? कभी नहीं।"

बालक सोमचन्द्रमुनि ने तत्क्षण अपना अपराध स्वीकार करते हुए कहा—"मेरी मुखवस्त्रिका और रजोहरण मुझसे मेरे अपराध के दण्ड स्वरूप आपने ले लिये,

आचार्य श्री जिनदत्तसूरि (दादा साहब)

आचार्य जिनदत्तसूरि विक्रम की बारहवीं शताब्दी के ऐसे महान् प्रभावक आचार्य हुए हैं, जिनकी कीर्ति आज भी भारत के अनेक प्रान्तों में सुदूर तक व्याप्त है। वे बड़े ही निर्भीक, प्रत्युत्पन्नमति और स्पष्टवादी थे। उनके उपदेश बड़े ही मार्मिक, अन्तस्तलस्पर्शी होते थे। आपने भारत के कोने-कोने में अप्रतिहत विहार कर न केवल जैन धर्मावलम्बियों के मनोबल के साथ-साथ नैतिक एवं सामाजिक धरातल को ही समुन्नत बनाया अपितु सहस्रों सहस्र अजैनों को श्रमण भगवान् महावीर के विश्वकल्याणकारी उपदेश सुना कर उन्हें जैन धर्मावलम्बी भी बनाया। आपश्री के अन्तःकरण में जैन धर्म के अभ्युदय और उत्थान की बलवती उत्कट भावनाएँ अहर्निश उत्ताल तरंगों की भांति आन्दोलित होती रहती थीं। इस प्रकार की विश्वकल्याणकारिणी उत्कट भावनाओं के परिणामस्वरूप आपकी प्रत्येक इच्छा विराट प्रकृति के लिये आदेश तुल्य बन गई थी, आपके मुखारविन्द से प्रकट हुआ प्रत्येक शब्द सुरतरु के समान तत्काल फलप्रदायी सिद्ध होने लगा। इन सबके परिणामस्वरूप आपके प्रत्येक कार्य-कलाप को, आपकी वाणी को जन-जन में अद्भुत चमत्कार की संज्ञा दी जाने लगी।

माता, पिता, जाति और जन्म

जिनदत्तसूरि के पिता का नाम वाच्छिग था। वाच्छिग गुजरात के प्रतिष्ठित एवं राजमान्य हुम्मड़ कुलोत्पन्न श्रेष्ठिवर थे। आपका मूल निवास स्थान गुजरात का ऐतिहासिक नगर धवलकपुर (धोलका) था। वाच्छिग तत्कालीन गुजरात राज्य के अमात्य (मंत्री) थे। वाच्छिग की धर्म पत्नी का नाम था वाहड़देवी। वाहड़देवी वडी धर्मनिष्ठा एवं पतिपरायणा सन्नारीरत्न थी।

वि० सं० ११३२ में मंत्री वाच्छिग की पत्नी वाहड़देवी ने धवलकपुर में एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। यही हुम्मड़ कुल प्रदीप शिशु कालान्तर में जिन-शासन प्रभावक जिनदत्तसूरि (दादा साहब) के नाम से विख्यात हुआ।

शिक्षा योग्य वय में बालक का सुयोग्य शिक्षक के पास अध्ययन प्रारम्भ करवाया गया। हुम्मड़ कुल प्रदीप कुशाग्रबुद्धि बालक निष्ठापूर्वक अध्ययन करने लगा।

जिनेश्वरसूरि के शिष्य धर्मदेव उपाध्याय की आज्ञानुवर्तिनी कतिपय विदुषी साध्वियों ने वि० सं० ११४१ का वर्षावास धवलकपुर में किया। अपने पुत्र के साथ धर्मनिष्ठा वाहड़देवी उन साध्वियों के दर्शन, उपदेश श्रवण, सत्संग व धर्म चर्चा के

लिये प्रतिदिन नियमित रूप से आती थी। उन साध्वियों ने बाहड़देवी के बालक को पहली बार देखते ही समझ लिया कि आगे चल कर यह बालक बड़ा ही होनहार होगा। अपने सामुद्रिक एवं ज्योतिष ज्ञान के आधार पर उन साध्वियों की जब यह धारणा बन गई कि यह बालक भविष्य में जिनशासन की महती प्रभावना करेगा तो उन्होंने बड़े स्नेह से बाहड़देवी को समझाना प्रारम्भ किया कि यदि उनके होनहार पुत्र को श्रमणधर्म की दीक्षा दिला दी जाय तो यह जिनशासन की बहुमुखी उन्नति करने वाला महान् प्रभावक आचार्य सिद्ध होगा। प्रतिदिन के प्रयास से जब उन साध्वियों को विश्वास हो गया कि अन्ततोगत्वा बाहड़देवी अपने पुत्र को दीक्षा दिलाने के लिये सहमत हो जायेगी, तो उन्होंने धर्मदेव उपाध्याय की सेवा में यह संदेश भेजा—"यहाँ एक सुयोग्य पात्र प्राप्त हुआ है, हमारा अनुमान है कि इस सुपात्र को देख कर आपको भी प्रमोद होगा।"

चातुर्मास की अवधि परिसमाप्त हो चुकी थी। अतः इस समाचार के पहुंचते ही शुभ शकुन में धवलकपुर की ओर प्रस्थित हो अप्रतिहत विहार क्रम से श्री धर्मदेव उपाध्याय वहां पहुँचे। उन्होंने धवलकपुर में बाहड़देवी के उस प्रतिभाशाली पुत्र को देखा। अपनी आशाओं के शत-प्रतिशत अनुरूप उस ओजस्वी बालक को देख कर धर्मदेव उपाध्याय पूर्णतः तुष्ट हुए। वि० सं० ११४१ में शुभ लग्न देख कर धर्मदेव उपाध्याय ने ९ वर्ष की वय के उस बालक को श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान की और उन नवदीक्षित मुनि का नाम मुनि सोमचन्द्र रखा। धर्मदेव उपाध्याय ने सर्वदेवगणि को नवदीक्षित मुनि का अभिभावक बनाते हुए उन्हें आदेश दिया कि वे नवदीक्षित मुनि की दिनचर्या, धर्मचर्या आदि के सभी कार्य नियमित रूप से समय पर करवाते रहें।

दीक्षा ग्रहण करने के दिन ही मध्याह्नोत्तर काल में सर्वदेवगणि सोमचन्द्र मुनि को अपने साथ बहिर्भूमि ले गये। शौचनिवृत्यर्थ मुनि सोमचन्द्र को जीव-जन्तु विहीन स्थान की ओर इंगित कर सर्वदेवगणि आगे की ओर बढ़ गये।

बालसुलभ चांचल्य वशात् एवं जीव-अजीव आदि का बोध न होने के कारण सोमचन्द्रमुनि ने पास ही के खेत से चने के कतिपय पौधे जड़ सहित उखाड़ लिये। शौच निवृत्ति के पश्चात् सोमचन्द्र के पास लौट कर सर्वदेवगणि ने उन मुनि के पास चने के जड़ से उखाड़े गये पौधे देखे तो नवदीक्षित मुनि को शिक्षा देने के अभिप्राय से बालक मुनि की मुख वस्त्रिका और रजोहरण लेते हुए कहा—"चला जा अपने घर, मुनि बनने के अनन्तर भी क्या कोई खेतों के पौधे उखाड़ता है? कभी नहीं।"

बालक सोमचन्द्रमुनि ने तत्क्षण अपना अपराध स्वीकार करते हुए कहा—"मेरी मुखवस्त्रिका और रजोहरण मुझसे मेरे अपराध के दण्ड स्वरूप आपने ले लिये,

यह तो आपने उचित ही किया, किन्तु मेरे मस्तक पर जो चोटी थी उसे मेरे मस्तक पर उसी रूप में यथावत् उगाकर मुझे प्रदान कीजिये, जिससे कि मैं अपने घर लौट सकूं।"

मुनि सोमचन्द्र की इस बात को सुनकर सर्वदेवगणि के आश्चर्य का पारावार न रहा। उन्होंने मन ही मन यह कहते हुए कि इसकी इस बात का कोई उत्तर किसी के पास नहीं है, सोमचन्द्रमुनि को उनके दोनों धर्मोपकरण तत्काल लौटा दिये और वे दोनों उपाश्रय में लौट आये। सर्वदेवगणि ने धर्मदेव उपाध्याय को इस घटना का उपर्युक्त विवरण सुनाया। धर्मदेव उपाध्याय को विश्वास हो गया कि यह बालक भविष्य में जिनशासन का सक्षम प्रभावक सिद्ध होगा।[1]

धवलकपुर से मुनि सोमचन्द्र अपने अभिभावक गुरु श्री सर्वदेवगणि के साथ विचरण करते हुए पाटण आये। वहां उनके अध्ययन की व्यवस्था की गई। वे भावडाचार्य के पास अध्ययन करने लगे। एक दिन अध्ययनार्थ भावड़ाचार्य की धर्मशाला की ओर जाते हुए मुनि सोमचन्द्र से एक उद्धत किशोर ने पूछा—"ओ श्वेतपट ! हाथ में यह कपलिका किस लिये रखी है ?" प्रत्युत्पन्नमति सोमचन्द्र मुनि ने तत्काल उस उद्धत को उसी की मुद्रा में उत्तर देते हुए कहा—"तुम्हारे मुख को विचूर्णित करने और अपने मुख की शोभा बढ़ाने के लिये।" प्रश्नकर्ता हतप्रभ हो अवाक् की भांति देखता ही रह गया।[2]

भावड़ाचार्य के पास प्रगाढ़ निष्ठापूर्वक अध्ययन करते हुए मुनि सोमचन्द्र ने लक्षण पंजिका आदि अनेक विषयों के ग्रन्थों में पारीणता प्राप्त की। भावड़ाचार्य मुनि सोमचन्द्र की कुशाग्र प्रत्युत्पन्नमति एवं प्रतिभा से पूर्णतः प्रभावित थे। वे मुनि सोमचन्द्र को अपने पास आने वाले सभी शिक्षार्थी शिष्यों में सर्वश्रेष्ठ मानते और उन्हें कस्तूरी की उपमा से उपमित किया करते थे।[3] चतुर्विध संघ को आश्चर्य-विभोर करते हुए मुनि सोमचन्द्र ने स्वल्प समय में ही व्याकरण, छन्द शास्त्र, न्याय, नीति आदि विषयों में आधिकारिक प्रकाण्ड पाण्डित्य प्राप्त कर आगमों का अध्ययन प्रारम्भ किया। श्री हरिसिंहाचार्य ने मुनि सोमचन्द्र को यथा क्रम से सभी आगमों का अध्ययन करवाया।[4] प्रगाढ़ श्रद्धाभक्ति एवं निष्ठापूर्वक आगमों का तल-स्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् पण्डितमुनि सोमचन्द्र विभिन्न क्षेत्रों में अप्रतिहत विहार कर अनेक भव्य प्राणियों को प्रतिबोध देते हुए जिनशासन के

---

१. शिक्षानिमित्तं रजोहरणं मुखवस्त्रिका च गृहीता—"स्वगृहे गच्छ।"........युक्तं गणिना कृतं परं सा मम मस्तके चोटिकासीत् तां तु दापय।........गुरुभिश्चिन्तितं-भविष्यति योग्य एषः। खरतरगच्छ वृ० गुर्वावली पृष्ठ-१४

२. खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली पृष्ठ १४–१५

३. वही ,, १५

४. वही ,, १५

अभ्युदय, अभ्युत्थानकारी एवं स्व-पर कल्याणकारी कार्यों में लीन हो गये। जैनधर्म के विशुद्ध स्वरूप के साथ-साथ सुविहित परम्परा को प्रकाश में लाने के दृढ़ संकल्प के साथ श्री वर्द्धमानसूरि, श्री जिनेश्वरसूरि आदि इस परम्परा के यशस्वी आचार्यों ने चैत्यवासियों के वर्चस्व का समूलोन्मूलन करने वाली धर्म क्रान्ति का सूत्रपात किया था। उस धर्म क्रान्ति के पथ पर मुनि सोमचन्द्र भी अग्रसर होते रहे। स्वल्प समय में ही मुनि सोमचन्द्र के गुणों की सौरभ दूर-दूर तक फैलने लगी। इससे श्री देव भद्राचार्य का सोमचन्द्र मुनि पर धर्म स्नेह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।

दैव दुर्विपाकवशात् वि० सं० ११६७ की कार्तिक कृष्णा द्वादशी को रात्रि के अंतिम प्रहर में अभयदेवसूरि के पट्टधर, इस प्रतापी गच्छ के अपने समय के महान् प्रभावक आचार्य श्री जिनवल्लभसूरि ने तीन दिन की संलेखना से समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण किया। इस अनभ्र वज्रपात से चतुर्विध संघ के हृदय को गहरा आघात पहुँचा। देवभद्राचार्य को श्री जिनवल्लभसूरि के आकस्मिक स्वर्गवास से मानसिक संताप ने आ घेरा। वे विचारने लगे कि अभयदेवसूरि के पट्ट को वस्तुतः जिनवल्लभसूरि समीचीन रूप से समुद्योतित कर रहे थे। पर कराल काल की कुदृष्टि ने उन्हें जैन संघ से छीन लिया। उन्होंने मन ही मन निश्चय किया कि जिनवल्लभसूरि के पट्ट पर किसी ऐसे सुयोग्य पात्र को प्रतिष्ठित किया जाये जो जिनशासन को जिनवल्लभसूरि के समान उद्योतित कर सके।

हमारे गच्छ में ऐसा सुयोग्य एवं प्रतिभाशाली विद्वान् साधु कौन है, जो जिनवल्लभसूरि के पट्ट की श्रीवृद्धि के साथ-साथ जिन शासन के वर्चस्व की अभिवृद्धि करने में सक्षम हो—इस विषय में चिन्तन करते-करते देवभद्राचार्य के मस्तिष्क में पंडित मुनि सोमचन्द्र का नाम उभर आया। मुनि सोमचन्द्र की प्राथमिकता पर मन ही मन विहंगमावलोकनपूर्वक समीक्षा करते हुए श्री देवभद्राचार्य ने अनुभव किया कि मुनि सोमचन्द्र वस्तुतः उन सभी गुणों से सम्पन्न हैं जो कि एक प्रभावक आचार्य में होने चाहिये। वह वाग्मी हैं, विद्वान् हैं, नितान्त निर्भीक हैं और हैं स्पष्टवादी। अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल—सभी प्रकार की परिस्थितियों में संघ को आगे बढ़ाने की मुनि सोमचन्द्र में अद्भुत् क्षमता है। वह भव्य व्यक्तित्व का धनी, ओजस्वी, गहन गम्भीर और प्रतिभाशाली है। उसका हृदय नवनीतवत् सुस्निग्ध-सुकोमल और मनोबल वज्र से भी कठोरतम है। वह जिनवल्लभसूरि के पट्टधर पद के लिये सभी दृष्टियों से सर्वथा योग्य है।

देवभद्राचार्य ने चतुर्विध संघ से मंत्रणा के पश्चात् पं० सोमचन्द्र को संदेश भेजा कि वे सीधे चित्तौड़ पहुँच जायें जिससे कि उन्हें जिनवल्लभसूरि के पट्ट पर आसीन किया जाये। वस्तुतः जिनवल्लभसूरि की भी यही इच्छा थी।

समय पर शिष्य परिवार सहित देवभद्राचार्य एवं वर्द्धमानसूरि के गच्छ के अनेक साधु और श्रावक आदि चित्तौड़ पहुँचे। चतुर्विध संघ में कर्ण परम्परा से यह

बात फैल गई थी कि किसी सुयोग्य साधु को श्री जिनवल्लभसूरि का पट्टधर नियुक्त किया जायेगा, अतः पट्टाभिषेक के अवसर पर की जाने योग्य सभी प्रकार की समुचित व्यवस्था की गई।

एक दिन देवभद्राचार्य ने पण्डित सोमचन्द्र मुनि से एकान्त में कहा—"अमुक दिन आपको जिनवल्लभसूरि के पट्ट पर आसीन किया जायेगा।"

पण्डित सोमचन्द्र मुनि ने उत्तर दिया—"आपने जो विचार किया है, ठीक ही है। किन्तु इस मुहूर्त्त पर यदि मुझे जिनवल्लभसूरि के पट्ट पर बैठाया जायेगा तो मैं चिरंजीवी नहीं हो सकूँगा, इस मुहूर्त्त के छः दिन बाद शनिवार को बड़ा ही शुभ मुहूर्त्त आता है। उस मूहूर्त्त में यदि पट्टधर पद प्रदान किया जाय तो चारों दिशाओं में मेरे विचरण करने से भू-मण्डल में दूर-दूर तक हमारे गच्छ के साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाओं की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि होगी। हमारा चतुर्विध संघ बड़ा शक्तिशाली और सुविशाल हो जायेगा।"

श्री देवभद्रसूरि ने कहा—"ठीक है, वह मुहूर्त्त भी कोई दूर नहीं, केवल छः दिन पश्चात् ही तो है। तो यह निश्चित रहा कि शनिश्चरवार के शुभ मुहूर्त्त में ही पट्टाभिषेक किया जायेगा।"

मुहूर्त्त सम्बन्धी निर्णय के अनन्तर वि. सं. ११६९ की वैशाख शुक्ला १ शनिश्चरवार के दिन शुभ मुहूर्त्त में वड़े ही ठाट-वाटपूर्ण महोत्सव के साथ मुनि सोमचन्द्र को श्री जिनदत्तसूरि द्वारा चित्तौड़ नगर में प्रतिष्ठित महावीर चैत्य में श्री जिनवल्लभसूरि के पद पर प्रतिष्ठित किया गया। सूरि पद पर अधिष्ठित करने के अवसर पर पण्डित मुनि सोमचन्द्र का नाम श्री 'जिनदत्तसूरि' रखा गया। पट्टाभिषेक के पश्चात् श्री जिनदत्तसूरि से प्रवचन देने के लिये निवेदन किया गया। देवभद्राचार्य की अभ्यर्थना का समादर करते हुए जिनदत्तसूरि ने भावपूर्ण देशना दी। अपने आचार्य के मुखारविन्द से प्रेरणास्पद भावपूर्ण देशना सुनकर श्रोतागण मंत्रमुग्ध की भांति घड़ी भर के लिए आध्यात्मिक आलोक में विचरण करने लगे। प्रवचन श्रवण के पश्चात् सभी श्रोताओं ने अपने-अपने आन्तरिक उद्गार अभिव्यक्त करते हुए कहा—"धन्य हैं देवभद्राचार्य, जिन्होंने महान् प्रभावक जिनवल्लभसूरि की इच्छानुसार उनके पट्ट पर जिनदत्तसूरि जैसे सर्वथा सुयोग्य सुपात्र को अधिष्ठित किया है। जिनवल्लभगणि ने यही कहा था कि मेरे पट्ट पर मुनि सोमचन्द्र को बिठाना। आज आपने उनकी इच्छा को साकार कर दिया।"

एक दिन चित्तौड़ नगर में ही जिनशेखर की मुनिव्रत सम्बन्धिनी किसी स्खलना के अपराध को देखकर देवभद्राचार्य ने उन्हें गच्छ से निष्कासित कर दिया। जिनशेखर नगर के बाहर एक ऐसे स्थान पर जाकर बैठ गये जहां से जिनदत्तसूरि शौचादि से निवृत्ति के लिये जंगल की ओर जाते थे। जिनदत्तसूरि

ज्योंही उस स्थान पर पहुंचे त्योंही जिनशेखर उनके चरणों पर गिर पड़ा और निवेदन करने लगा—"सूरिवर ! मेरे इस अपराध को क्षमा कर दें, भविष्य में मैं इस प्रकार के अपराध की पुनरावृत्ति कभी न होने दूंगा ।"

क्षमा सागर जिनदत्तसूरि ने जिनशेखर को क्षमा प्रदान कर संघ में सम्मिलित कर लिया। जब देवभद्राचार्य को सम्भवतः जिनदत्तसूरि के मुख से ही यह विदित हुआ तो उन्होंने जिनदत्तसूरि से कहा—"यह जिनशेखर आपके लिये सुखप्रद सिद्ध नहीं होगा ।"

जिनदत्तसूरि ने कहा—"सूरिवर ! मैं यह जानता हूं। किन्तु यह जिनशेखर आचार्य श्री जिनवल्लभसूरि का छाया की भांति अनुसरण करता हुआ चैत्यवास का परित्याग कर आया था। अतः जितने दिन अपने साथ चलता है, उतने दिनों तक साथ निभायें ।"

तदनन्तर देव भद्राचार्य श्री जिनदत्तसूरि को यह परामर्श देकर अपने उपाश्रय की ओर प्रस्थित हुए कि कुछ समय तक वे अनहिल्लपुर पट्टण के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर यथेच्छ विचरण करें।

विहार किस ओर किया जाय ?—अपने अन्तर्मन में उठे इस प्रश्न के समाधान के लिये श्री जिनदत्तसूरि ने तीन उपवास की तपस्या के साथ अपने शिक्षा गुरु श्री हरिसिंहसूरि का स्मरण किया। स्वर्गस्थ आचार्य ने तेले की तपस्या की अन्तिम रात्रि में प्रकट होकर पूछा—"कैसे स्मरण किया है मुझे ?" जिनदत्तसूरि ने कहा—"मैं कहां विचरण करूं ?"

उत्तर मिला—"मरुस्थली प्रभृतिषु देशेषु विहर" अर्थात् मरुस्थल आदि प्रदेशों में विचरण करो ।"

तदनन्तर जिनदत्तसूरि ने चित्तौड़ से मरुधरा की ओर विहार किया। विहार-क्रम में जहां-जहां जिनदत्तसूरि ने पदार्पण किया वहाँ-वहाँ उनके दर्शन और प्रवचन श्रवण से श्रावक-श्राविका वर्ग को परमाह्लाद की अनुभूति हुई। उन लोगों ने अपने-अपने परिवार के सभी सदस्यों के साथ जिनदत्तसूरि को विधिवत् अपना गुरु बना यथाशक्ति व्रत प्रत्याख्यानादि ग्रहण कर श्रावक-श्राविका के रूप में उनका शिष्यत्व अंगीकार किया।

इस प्रकार स्थान-स्थान पर जिनशासन का प्रचार करते हुए जिनदत्तसूरि नागौर पहुंचे। यहां एक ऐसी घटना हुई जिससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि वस्तुतः जिनदत्तसूरि अपरिमित आत्मबल के धनी, साहस एवं शौर्य के पुंज और परमुखानपेक्षी-स्पष्टवादी थे। नागौर में प्रभावशाली समाजाग्रणी धनदेव नामक एक श्रावक ने जिनदत्तसूरि के सम्मुख उपस्थित हो कहा—"महाराज,

यदि आप मेरे कहने के अनुसार कार्य करेंगे तो सम्पूर्ण जैन समाज में पूजनीय बन जायेंगे...........।"

श्रेष्ठि धनदेव अपना अगला वाक्य प्रारम्भ करे, इससे पूर्व ही जिनदत्तसूरि घनरव गम्भीर स्वर में बोले—"हे धनदेव ! यह क्या कह रहे हो ? आगमों में तो प्रभु ने स्पष्ट कहा है कि श्रावक को गुरु के कहे अनुसार करना चाहिये। यह तो किसी भी शास्त्र में उल्लेख नहीं है कि श्रावक जिस प्रकार कहे, उसके कथनानुसार गुरु को कार्य करना चाहिये। इसके साथ ही श्रेष्ठिवर ! आप कभी यह न समझें कि केवल शिष्य-प्रशिष्यों, उपासकों अथवा अनुयायियों के विशाल परिवार के वल पर ही कोई व्यक्ति पूज्य अथवा लोकमान्य बनता है, क्योंकि आज साधारणतः यह प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होता है कि—"सहैव दशभिः पुत्रैः भारं वहति गर्दभिः" अर्थात् दश पुत्रों की जननी होते हुए भी गधी उनके साथ भार ढोये फिरती है तथा "येन घनतनय युक्तापि, शूकरी गूथमश्नाति।" श्री जिनदत्तसूरि की अटूट आत्मविश्वास से ओत-प्रोत इस स्पष्टोक्ति को सुनकर श्रेष्ठिमुख्य धनदेव अवाक् हो देखता ही रह गया।

तदनन्तर श्री जिनदत्तसूरि ने नागौर से अजमेर की ओर विहार किया। अजमेर के समीप पहुंचने पर वहां के श्रावकाग्रणी आसधर, रासल आदि ने श्रावक समूह के साथ आचार्यश्री की अगवानी की और उन्हें वसति में ठहराया। शाह आसधर, रासल आदि श्रावकों का शिष्ट-मण्डल महाराजा अर्णोराज के समक्ष उपस्थित हुआ। उन्होंने अर्णोराज से निवेदन किया कि उनके गुरु श्री जिनदत्त-सूरि अजमेर नगर में पधारे हैं। प्रसन्न मुद्रा में राजा ने कहा—"यह तो वड़ा कल्याणकारी शुभ संवाद है। यदि कोई कार्य हो तो कहो। अपने गुरु महाराज के दर्शन हमें भी अवश्य कराना।" आसल आदि श्रावकों ने निवेदन किया—"स्वामिन् ! हमें एक ऐसे विशाल भूखण्ड की आवश्यकता है, जहां हम लोग मन्दिर, अन्य धर्मस्थान और पास ही चारों ओर अपने कुटुम्बीजनों के निवास के लिए भवनों का निर्माण करा सकें।"

अर्णोराज ने कहा—"नगर के दक्षिण दिग्विभाग में जो पर्वत हैं, उसके ऊपर, नीचे तलहटी में वहुत विस्तृत एवं आपके लिए हर दृष्टि से उपयुक्त भूखण्ड है, वह ले लो।" महाराज अर्णोराज के प्रति इसके लिये आन्तरिक आभार प्रकट करने के वाद श्रावक समूह जिनदत्तसूरि की सेवा में उपस्थित हुए और उन्हें अर्णो-राज से हुई सारी वातों का विवरण सुनाया।

सव वातें सुनने के वाद जिनदत सूरि ने श्रावकों से कहा—"महाराज अर्णोराज जव स्वयं यहां आने के लिए उत्सुक हैं तो उन्हें भी इस अवसर पर अवश्य आमन्त्रित करना चाहिये। उनके यहां आने में सभी भांति लाभ ही की सम्भावना है।"

अर्णोराज के समक्ष उपस्थित हो आसधर, रासल आदि श्रावकों ने गुरु-दर्शनार्थ वसति में आने का उन्हें निमन्त्रण दिया। निश्चित समय पर अर्णोराज श्री जिनदत्तसूरि की सेवा में उपस्थित हुए। तपस्तेज से दैदीप्यमान बालब्रह्मचारी सूरिवर के ओजस्वी मुखमण्डल को देखते ही अर्णोराज बड़े प्रभावित हुए। नरेश्वर ने मुनीश्वर को श्रद्धापूर्वक नमस्कार किया। जिनदत्तसूरि ने राजा को आशीर्वाद दिया। आचार्यश्री के साथ हुए सुमधुर शुभ आलाप-संलाप से अर्णोराज ने अभूतपूर्व आनन्द की अनुभूति की। उसने जिनदत्तसूरि से प्रार्थना की—"महाराज! आप सदा के लिए यहीं विराजमान रहें।"

जिनदत्तसूरि ने सस्मितमुद्रा में कहा—"राजन्! हमारे श्रमण जीवन के विधि-विधान में नियत-निवास के लिए कोई स्थान नहीं। "स्वान्तः सुखाय समष्टि-हिताय च" श्रमणों को बहते निर्भर की भांति सर्वत्र विचरण करते हुए सभी की ज्ञान पिपासा को शान्त करने का जीवनभर प्रयास करते रहना चाहिये। विहार-क्रम से महीमण्डल पर विचरण करते हुए हम समय-समय पर आपके यहां भी आने का प्रयास करेंगे।"

जिनदत्तसूरि के आध्यात्मिक ओज से ओत-प्रोत भव्य व्यक्तित्व और ऋजु, पटु, मृदु वाग्वैभव से अर्णोराज बड़ा संतुष्ट हुआ और अन्त में उन्हें नमस्कार कर राजप्रासाद की ओर लौट गया। अर्णोराज ने अजयमेरु नगर के जैन समाज को जिन मन्दिर आदि धर्म स्थान और आवास के लिए जो विस्तीर्ण भूखण्ड प्रदान किया, वह आज भी लाखन कोटड़ी से नाम से जिनदत्तसूरि व अर्णोराज की स्मृति जन-जन को दिला रहा है।

तदनन्तर जिनदत्तसूरि ने अजमेर से वागड़ प्रदेश की ओर विहार किया। यह संवाद बागड़ प्रदेश में विद्युत् वेग से फैल गया कि जिनवल्लभसूरि के परम प्रभावक पट्टधर जिनदत्तसूरि जन-जन को जिनवाणी का अमृतपान कराने आ रहे हैं। स्थान-स्थान पर श्रद्धालु भक्त-जनों के विशाल जन-समूह अपने आराध्य आचार्यदेव की अगवानी के लिए एकत्र हुए मिलते। वागड़ में जिनदत्तसूरि के उपदेशों का ऐसा अद्भुत् एवं अमिट प्रभाव पड़ा कि उनके उपदेशों से प्रभावित हो अगणित लोगों ने सम्यक्त्व ग्रहण किया, अनेकों ने श्रावक धर्म के १२ व्रत अंगीकार किये। व्रत-प्रत्याख्यान करने वालों की तो गणना करना ही कठिन हो गया था। कारण कि जिस किसी ने भी जिनदत्तसूरि के प्रवचनों को सुना उसने कोई न कोई व्रत अथवा प्रत्याख्यान ग्रहण किया ही।

वागड़ विहार के प्रथम चरण में ही जिनदत्तसूरि के उपदेशों को सुनकर अनेक भव्यात्माओं को इस संसार से विरक्ति हो गई। अनेक पुरुषों ने जिनदत्तसूरि के पास पंच महाव्रत रूप श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की। खरतरगच्छ गुर्वावली के उल्लेखानुसार उस अवसर पर ५२ महिलाएँ श्रमणी धर्म में दीक्षित हुईं। यहां

उसे वह ग्रंथ बड़ा ही महत्त्वपूर्ण व रोचक लगा। ज्यों-ज्यों वह चच्चरी टिप्पणक को पढ़ता गया त्यों-त्यों उसकी शंकाओं का समाधान होता गया। आद्योपान्त पढ़ लेने के पश्चात् उसके मन में केवल दो शंकाएँ ही अवशिष्ट रह गईं, पहली तो अनायतन बिम्ब सम्बन्धी और दूसरी स्त्री द्वारा जिन पूजा न करने सम्बन्धी।

बागड़ प्रदेश में विहार करते समय श्री जिनदत्तसूरि ने उन साधु-साध्वियों को अपने पास बुला लिया, जिन्हें कि उज्जैन अध्ययनार्थ भेजा था। उन सबको और अपने अन्य साधु साध्वियों को श्री जिनदत्तसूरि ने शास्त्रों की वाचनाएँ प्रदान कीं। इस समय तक खरतरगच्छ का श्रमण-श्रमणी समूह पर्याप्तरूपेण विशाल हो गया था। अनुशासन, अध्ययन, अध्यापन, विभिन्न क्षेत्रों में धर्म प्रचार, ज्ञान, दर्शन, चारित्र की समीचीन रूप से आराधना—परिपालना आदि सभी तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए जिनदत्तसूरि ने अपने हस्त-दीक्षित शिष्य जीवदेव को आचार्य पद प्रदान किया। अपने शिक्षा गुरु हरिसिंहाचार्य एवं मुनिचन्द्र उपाध्याय के जयसिंह नामक शिष्य को भी आचार्य पद प्रदान कर उन्हें चित्तौड़ क्षेत्र में विचरण एवं धर्मप्रचार करते रहने का आदेश दिया। जयसिंहाचार्य के शिष्य जयचन्द्र को भी आपने आचार्यपद प्रदान कर पत्तन में धर्म प्रचार के लिए नियत किया।

इस प्रकार तीन विद्वान् मुनियों को सूरिपद प्रदान करने के साथ-साथ जिनचन्द्रगणि, शीलभद्रगणि आदि १० विद्वान् शिष्यों को आपने वाचनाचार्य पद, श्रीमती, जिनमती, पूर्णश्री, जिनश्री और ज्ञानश्री, इन पांच विदुषी साध्वियों को महत्तरा पद एवं जीवानंद नामक अपने विद्वान् शिष्य को उपाध्याय पद प्रदान किया। अपने इन सब पदाधिकारियों को उनके कर्तव्यों और विहार क्षेत्रों के सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश देकर उन्हें उन निर्दिष्ट क्षेत्रों की ओर विहार करने का आदेश दे स्वयं जिनदत्तसूरि ने अजमेर की ओर प्रस्थान किया। अजमेर पहुंचने

आचार्यपद प्रदान कर अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। वही आचार्य मुनि जिनचन्द्र आगे चलकर मणिधारी आचार्य जिनचन्द्रसूरि के नाम से विख्यात हुए।

उन दिनों जिनमन्दिरों के आयतन (विधि चैत्य) अथवा अनायतन (अविधि चैत्य) का विवाद यत्र तत्र सर्वत्र बड़े उग्र रूप से चल रहा था। जिनदत्तसूरि के "चच्चरी टिप्पणक" के पुनःपुनः अध्ययन-चिन्तन-मनन से शाह सण्हिया के पुत्र देवधर ने आयतन अनायतन के सम्बन्ध में पर्याप्त परिज्ञान प्राप्त कर लिया था। देवधर था तो चैत्यवासी परम्परा का उपासक किन्तु जिनदत्तसूरि के "चच्चरी-टिप्पणक" का उसके मानस पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उसका झुकाव खरतरगच्छ की ओर बढ़ने लगा। अपने अन्तर्मन में उठी आयतन-अनायतन विषयक हलचल को सदा के लिये समाप्त कर देने का उसने दृढ़ संकल्प किया और वह उस समय के अति प्रभावशाली अपने गुरु चैत्यवासी आचार्य देवाचार्य के पास अपने नगर के गण्यमान्य श्रावकों के साथ विक्रमपुर से प्रस्थित हो नागौर पहुंचा।

दशाब्दियों से जैन समाज पर एकाधिपत्य जमाये चली आ रही चैत्यवासी परम्परा के वर्चस्व का समूलोन्मूलन करने के अभियान में श्री वर्द्धमानसूरि की परम्परा के आचार्यों ने अपनी कृतियों के माध्यम से किस-किस प्रकार की सीधी-सादी सरल और सर्वजन ग्राह्य अकाट्य युक्तियों का आविष्कार किया, किस-किस प्रकार की प्रणालियाँ प्रचलित कीं, सर्वसाधारण में किस प्रकार के वातावरण का निर्माण किया, इन सब तथ्यों पर चैत्यवासो आचार्य देवाचार्य और उनके सजग श्रावक देवधर के बीच हुआ संवाद विशद प्रकाश डालता है। अतः सहृदय पाठकों के लाभ के लिये उस छोटे से परमोपयोगी प्रश्नोत्तरात्मक संवाद को यहां यथावत् रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है :—

"दिग्दिगन्त से ख्याति प्राप्त देवाचार्य नागौर नगरस्थ अपने चैत्य में निवास करते थे। प्रसिद्ध श्रावक देवधर भी कतिपय श्रावकों के साथ वहां पहुंचा। उस समय व्याख्यान का समय हो गया था अतः चैत्यवासी आचार्य देवाचार्य व्याख्यान देने के लिए अपने चैत्य के व्याख्यान स्थल में पट्ट पर आसीन हुए। देवधर भी अपने साथी श्रावकों के साथ हाथ-पैर धोकर मण्डप से मुखशुद्धि कर चैत्य में प्रविष्ट हुआ। देवधर ने देवाचार्य को वंदन किया। देवाचार्य ने उसके कुशल मंगल की पृच्छा की।

देवधर ने विना कोई भूमिका वाँधे देवाचार्य से सीधा यही प्रश्न किया :— "भगवन्! जिनप्रभु के मन्दिर में रात्रि के समय स्त्रियों का आवागमन चलता रहता है, उसे किस प्रकार चैत्य कहा जाता है ?"

इस प्रश्न के सुनते ही देवाचार्य समझ गये कि निश्चय ही इसके श्रवणपुटों में जिनदत्ताचार्य का गुरु मंत्र प्रविष्ट हो चुका है। इसी कारण यह जिनदत्तसूरि

से पूर्णतः प्रभावित दृष्टिगोचर हो रहा है। इस प्रकार विचार कर देवाचार्य ने देवधर के प्रश्न के उत्तर में कहा :—"श्रावक ! वस्तुतः रात्रि के समय चैत्यों में स्त्रियों का आना जाना, नृत्य-गान आदि उचित नहीं है।"

देवधर ने पुनः प्रश्न किया—"यदि वास्तविकता यह है तो रात्रि के समय चैत्यों में स्त्रियों के गमनागमन आदि को रोका क्यों नहीं जाता ?"

देवाचार्य ने अवशता प्रकट करते हुए उत्तर दिया—"आगन्तुक लाखों की संख्या में हैं, किस-किस को रोका जाय।"

इस पर श्रावक देवधर ने आश्चर्य एवं आक्रोश मिश्रित मुद्रा में कहा—"भगवन् ! आप यह निर्णायक रूप में स्पष्ट बताइये कि जिस जिन-चैत्य में जिनेन्द्र प्रभु की आज्ञा नहीं चलती और जहां लोग जिनेश्वर की आज्ञा की अवहेलना करते हुए निरंकुश व्यवहार करते हैं, उसे जिनगृह कहा जाय अथवा जनगृह कहा जाय ? देवाचार्य ने प्रश्नगर्भित मुद्रा में उत्तर दिया—"जहां साक्षात् जिनेश्वर भगवान् विराजमान दृष्टिगोचर होते हैं, उसे जिन मन्दिर कैसे नहीं कहा जाय ?"

देवधर ने दृढ़ स्वर में कहा—"भगवन् ! हम किसी की दृष्टि में भले ही मूर्ख हों पर इतना तो हम भी जानते हैं कि जिस घर में जिसकी आज्ञा नहीं चलती, वह घर उसका नहीं कहा जा सकता है। आश्चर्य की बात तो यह है कि आप यह सब जानते हुए भी इस जिनाज्ञा-विरुद्ध प्रवाह को रोक नहीं रहे हैं। रोकना तो दूर, उल्टे प्रकारांतर से आप इस प्रकार के असंगत एवं अनुचित प्रवाह की, इसके प्रचलन की पुष्टि कर रहे हैं। इसीलिये मैं आपको वंदनपूर्वक यह सूचित कर देता हूं कि जहां तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा चलती हो—अर्थात् जहां शास्त्र सम्मत प्रचलन हो, वही मार्ग मुझे अपनाना चाहिये।" यह कहकर देवधर अपने साथी श्रावकों के साथ उठा और अपने साथ विक्रमपुर से आये हुए श्रावकों के साथ श्री जिनदत्तसूरि के पास अजमेर की ओर प्रस्थित हुआ।

कितने संक्षेप में सरल और सुयौक्तिक रीति से आयतन एवं अनायतन का विवेचन किया गया है। इस प्रकार के उपदेशों, इस प्रकार की सरल एवं जनमानस को आन्दोलित कर देने वाली अपनी कृतियों के माध्यम से खरतरगच्छ के आचार्यों ने जैन संघ को सजग किया। परिणाम स्वरूप चैत्यवासी परम्परा के उपासक बहुत बड़ी संख्या में चैत्यवासी परम्परा का परित्याग कर सुविहित परम्परा के उपासक बनने लगे। इस प्रकार चैत्यवासी परम्परा के वर्चस्व को समाप्त करने में चैत्यवासी आचार्यों, साधुओं और उपासक-उपासिका के बहुत बड़े वर्ग को अपना अनुयायी एवं अनन्य उपासक बना कर चैत्यवास को क्रमशः क्षीण से क्षीणतर और निर्बल बनाने में जिनदत्तसूरि का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

यह ऊपर बताया जा चुका है कि जिनदत्तसूरि का समय तथा उनके पूर्व का समय चर्चा का युग था। आयतन-अनायतन विषयक चर्चाओं के अवसर पर प्रायः पारस्परिक कटुता उग्र रूप धारण कर लेती थी। दूरदर्शी श्री जिनदत्तसूरि ने इस विषय में श्री जिनवल्लभसूरि के चरण चिह्नों का अनुसरण किया। उन्होंने चैत्यवासियों के साथ प्रत्यक्षतः इस प्रकार की चर्चाओं में उलझने की अपेक्षा जन-जन को एतद्विषयक वास्तविक ज्ञान कराने वाले बोधप्रद लघु ग्रन्थों की रचना करना सभी भांति श्रेयस्कर समझा। उपरिलिखित देवधर और चैत्यवासी देवाचार्य के सम्भाषण से स्पष्ट है कि जिनदत्तसूरि का इस प्रकार का वाङ्मय चैत्यवासी परम्परा के उन्मूलन और सुविहित परम्परा के पुनः प्रतिष्ठापन में बड़ा ही कारगर–लाभप्रद एवं तत्काल फलप्रदायी सिद्ध हुआ।

चैत्यवासी परम्परा की आधारशिला को झकझोर कर अपनी जिन रचनाओं के माध्यम से जिनदत्तसूरि ने सुविहित परम्परा की चिर स्थायी सेवा की वे कतिपय रचनाएं इस प्रकार हैं :—

औपदेशिक एवं आचार विषयक रचनाएं

१. संदेह दोहावली	प्राकृत	गद्य	१५०
२. चच्चरी	अपभ्रंश	,,	४७
३. उत्सूत्र पदोपघाटन कुलक	प्राकृत	,,	३०
४. चैत्यवंदन कुलक	,,	,,	२८
५. उपदेश धर्म रसायन	अपभ्रंश	,,	८०
६. उपदेश कुलक	प्राकृत	,,	३४
७. काल स्वरूप कुलक	अपभ्रंश	,,	३२

स्तुतिपरक रचनाएं

८. गणधर सार्द्ध शतक	प्राकृत	गद्य	१५०
९. गणहर सप्ततिका	,,	,,	२६
१०. सर्वाधिष्ठायी स्तोत्र	,,	,,	२६
११. गुरु पारतन्त्र्य स्तोत्र	,,	,,	२१
१२. विघ्न विनाशी स्तोत्र	,,	,,	१४
१३. श्रुतस्तव	,,	,,	२७
१४. अजित शान्ति स्तोत्र	,,	,,	१५
१५. पार्श्वनाथ मन्त्रगर्भित स्तोत्र	,,	,,	३७
१६. महाप्रभावक स्तोत्र	,,	,,	३

१७. चक्रेश्वरी स्तोत्र	संस्कृत	श्लोक	१०
१८. सर्व जिन स्तुति	"	"	४
१९. वीर स्तुति	"	"	४
२०. योगिनी स्तोत्र			

प्रकीर्णक रचनाएं

२१. अवस्था कुलक
२२. विंशिका
२३. पद व्यवस्था
२४. शान्तिपर्व विधि
२५. वाडी कुलक
२६. आरात्रिक वृत्तानि
२७. अध्यात्म गीतानि[1]

जिनदत्तसूरि की रचनाओं से जैन समाज में एक अभिनव जागरण की अमिट लहर तरंगित हो उठी, जिसका दूरगामी एवं चिरस्थायी परिणाम यह हुआ कि शताब्दियों से चैत्यवासी परम्परा की ओर बह रहे लोक प्रवाह ने सहसा सुविहित परम्परा की ओर मोड़ ले लिया।

जिनदत्तसूरि का संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश आदि भाषाओं पर पूर्ण अधिकार एवं अद्‌भुत अभिव्यंजना शक्ति होने के साथ-साथ इन सभी भाषाओं में इनकी अभिव्यंजना शक्ति एवं शैली बड़ी ही चमत्कारपूर्ण थी। उपरि वर्णित अपनी रचनाओं में आपके द्वारा प्रयुक्त एक-एक शब्द अपने आप में अथाह भावों के अर्थ सागर को समेटे हुए गागर के समान है। अपभ्रंश भाषा में आपके द्वारा की गई रचनाएं न केवल विषय की दृष्टि से अपितु तत्कालीन साहित्य एवं भाषा विज्ञान के इतिहास की दृष्टि से भी वस्तुतः महत्त्वपूर्ण हैं। अपभ्रंश भाषा की आपकी रचनाओं में हिन्दी भाषा के उद्‌भव के क्रमिक विकास एवं भाषा विज्ञान से सम्बन्धित अध्ययनीय प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है। आवश्यकता है, इस दिशा में गहन शोध की।

चमत्कारिक महापुरुष खरतरगच्छ के उन्नायक दादा जिनदत्तसूरि के जीवन का बहुत बड़ा भाग चमत्कारों से परिपूर्ण है। उनके चमत्कारों के आश्चर्यकारी आख्यान आज भी देश के विभिन्न भागों में जन-जन में लोकप्रिय हैं। कर्ण-वेध से पूर्व की बाल्य वय में आपने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पंच-महाव्रतों की दीक्षा ग्रहण की। जीवन-पर्यन्त इसी उत्कट भावना के साथ जैन धर्म

१. खरतरगच्छ गुर्वावली, पृष्ठ १६, पैरा ३७

के प्रचार-प्रसार में अहर्निश संलग्न रहे—"मैं संसार के प्रत्येक प्राणी को जिन-शासन के प्रति प्रगाढ़ रुचि रखने वाला, रस लेने वाला बना दूं।" इस प्रकार की उच्च भावना, त्याग, तप, संयम एवं अखण्ड ब्रह्मचर्य के प्रताप से जिनदत्तसूरि को दुस्साध्य से दुस्साध्य असाध्य कहे जाने वाले कार्यों को सुसाध्य बना देने की अद्भुत् इच्छाशक्ति व आत्मशक्ति प्राप्त हो गई थी और लोक में इसे चमत्कार की संज्ञा दी जाने लगी। सुविहित परम्परा के प्रति प्रगाढ़ शत्रुता रखने वाली चैत्यवासी परम्परा के महा प्रभावशाली आचार्य अपने शिष्य परिवार सहित जिनदत्तसूरि की सेवा में उपस्थित हो यह कहते हुए—"हमें गुरु मिले तो भव भवान्तरों में जिनदत्त-सूरि ही मिलें" जिनदत्तसूरि के शिष्य बन गये—यह कोई मन्त्र का चमत्कार नहीं, जिनदत्तसूरि की "सभी जीव करु जिनशासन रसी" इस उत्कट भावना का चमत्कार था।

जिनदत्तसूरि के महान् कार्यों ने उनकी कीर्ति को अमर बना दिया। आज देश के विभिन्न प्रान्तों के नगर-नगर में दादावाड़ियां, दादावाड़ियों के मन्दिरों में उनकी चरणपादुकाएं प्रत्येक श्रद्धालु जैन अथवा अजैन को मूक प्रेरणा दे रहीं हैं कि तुम भी त्याग तप और अहर्निश उत्कट विशुद्ध भावना से जिनशासन की सेवा कर पूजनीय बन सकते हो।

गच्छ व्यामोहजन्य विद्वेष का ताण्डव :

यह पहले बताया जा चुका है कि आडम्बर प्रधान द्रव्यार्चना (द्रव्य पूजा) और अपनी शिथिलाचारोन्मुखी समाचारी, आचार सम्बन्धी रीति-नीतियों, विधियों, विधानों के माध्यम से चैत्यवासियों द्वारा विकृत किये गये, आमूल-चूल परिवर्तित किये गये जैन धर्म के मूल विशुद्ध आगमिक स्वरूप की पुनः प्रतिष्ठापना की दिशा में वर्द्धमानसूरि की परम्परा के जिनेश्वरसूरि, जिनचन्द्रसूरि, अभयदेवसूरि, जिनवल्लभ-सूरि और जिनदत्तसूरि आदि आचार्यों ने जो भगीरथ प्रयास किये, वे जैन इतिहास में सदा-सर्वदा के लिए बड़े सम्मान के साथ स्वर्णाक्षरों में लिखे जाते रहेंगे। यह तो एक निर्विवाद सत्य तथ्य है कि वर्द्धमानसूरि, उनके शिष्य जिनेश्वरसूरि, बुद्धि-सागरसूरि आदि ने जैन धर्म के आगमानुसारी विशुद्ध स्वरूप को जैन जगत् के समक्ष उजागर करने के एकमात्र उद्देश्य से जन-जन के मन और मस्तिष्क पर छाई हुई चैत्यवासी परम्परा के विरुद्ध अभियान प्रारम्भ कर उसके वर्चस्व को समाप्त न किया होता तो आज के युग में जैन धर्म के आगमिक स्वरूप के दर्शन तक दुर्लभ हो जाते। आज आर्यधरा के विभिन्न प्रदेशों, क्षेत्रों, ग्रामों और नगरों में शास्त्रसम्मत श्रमणाचार का पालन करते हुए, जैन धर्म के आगम प्रणीत आध्यात्मिक स्वरूप का प्रचार-प्रसार करने वाले साधु साध्वियों के जो संघाटक विचरण कर रहे हैं, यह वस्तुतः मुख्य रूपेण वर्द्धमानसूरि की परम्परा के जिनेश्वरसूरि आदि आचार्यों द्वारा जैन जगत् पर किये गये असीम उपकार का ही प्रतिफल है।

इस प्रकार की वस्तुस्थिति के होते हुए भी साम्प्रदायिक विद्वेष के वशीभूत हो कतिपय मध्ययुगीन विद्वान् श्रमणों ने अपने गच्छ को ही सत्य और सब अन्य गच्छों को, उनकी रीति-नीतियों को असत्य सिद्ध करने के प्रयास में परस्पर एक दूसरे गच्छ पर, उसके आचार्यों पर न केवल कीचड़ उछालना ही प्रारम्भ किया अपितु दिगम्बर पौर्णिमीयक, खरतर, आंचलिक सार्द्धपौर्णिमीयक, आगमिक (त्रिस्तुतिक), लोंका, कडुआमती, बीजामती और पाशचन्द्र गच्छ—इन दशों ही आम्नायों, सम्प्रदायों अथवा गच्छों को कुपाक्षिक, उत्सूत्रभाषी, कुत्सित, तीर्थनिन्द्य, अभिनिवेश मिथ्यात्वी, अतीर्थंकरमूलक, तीर्थाभास, उल्लू, औष्टिकः (जिनदत्तः) अनन्तसंसारी और तीर्थबाह्य आदि आदि कुत्सित सम्बोधनों से संबोधित किया।[1]

उपाध्याय पद को सुशोभित करने वाले एक विद्वान् मुनि ने तो अशोभनीयता की पराकाष्ठा को पार करते हुए श्री जिनदत्तसूरि एवं सम्पूर्ण खरतरगच्छ के लिये लिख दिया—"अतिशयेन खरः खरतर-इति व्युत्पत्या महान् गर्दभः, उग्रतरो वा भाष्यते।" अर्थात् खरतर शब्द का अर्थ है सबसे बड़ा गधा अथवा अत्यन्त उग्र स्वभाव वाला।[2]

दूसरों के मुख पर कालिख पोतने के प्रयास में इस प्रकार की असाधु योग्य अपशब्द भरी असभ्य भाषा के प्रयोगों को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि—"सच्चे हैं तो केवल हम ही, शेष जगत् सब झूठा।"

इस व्यामोह में विमुग्ध बने अपने समय के उच्च कोटि के विद्वान् माने गये मुनियों की लेखिनी भी उन्मत्त हो बिना नकेल के ऊंट की भांति ऊबड़-खाबड़ में उछल फांद करती हुई यथेच्छ दौड़ी है, खूब खुलकर उच्छृंखल गति से चली है।

यह प्रकृति का अटल नियम है कि प्रत्येक भले-बुरे काम की भली बुरी प्रक्रिया अनिवार्य-रूपेण होती है। किसी भी गगनचुम्बी गिरिराज की उपत्यका अथवा गुफा के पास जाकर कोई पुकारे—"आप महान् हो।" प्रतिक्रिया स्वरूप उस तरह पुकारने वाले के कर्णरन्ध्रों में गुफा से वैसी ही प्रतिध्वनि गुंजरित हो उठेगी—"आप महान् हो।" यदि कोई व्यक्ति गुफा द्वार पर खड़ा हो पुकारता है—"तू उल्लू है—गधा भी।" तो गिरि गुहा से उस व्यक्ति के कर्णरन्ध्रों में वही शब्द गूंज उठेंगे—"तू उल्लू है, गधा भी।" ठीक इसी प्रकार गच्छ-व्यामोहाभिभूत जिस गच्छ के विद्वान् ने दूसरे गच्छों पर अपशब्दों की वर्षा की, उनमें से किसी भी गच्छ के लेखक ने उस आक्रामक गच्छ की छवि बिगाड़ने के प्रयास में किसी भी प्रकार की कोर-कसर नहीं छोड़ी। एतद्विषयक अग्रलिखित श्लोकों से स्पष्टतः उस समय के साम्प्रदायिक व्यामोहपूर्ण विद्वेष का ताण्डव प्रत्यक्षवत् दृष्टि-गोचर हो जाता है :—

१. प्रवचन परीक्षा, भाग १, पृष्ठ ५, ६, १६, ५६ आदि।
१. प्रवचन परीक्षा, भाग १, पृष्ठ २८६

बाह्य क्रिया दर्शनेन, मोहयन्तो जगज्जनम् ।
तपोभूता अटन्तीति, तपोटाः परिकीर्तिताः ।।१।।
तपोटानां मतं चैव मुद्गलानां मतं तथा ।
शाकिनीनां मतं चैव, प्रायस्तुल्यानि वक्ष्यते ।।२।।
संक्लिष्टपरिणामित्वात् तुल्यमेतन्मतत्रयम् ।
तस्माद् दूरतरं त्याज्यं, भावशुद्धिमभीप्सता ।।३।।
अयुक्तमुक्तमथवा, मिथ्यादुष्कृतमस्तु नः ।
शाकिनी मुद्गलेभ्योऽपि, यत्तपोटा दुराशयाः ।।४।।
शाकिनी मुद्गलात्तानां, दृश्यतेऽद्याप्युपक्रमः ।
तपोटेनार्दितानां तु, चिकित्सास्याद्दरा भृशम् ।।५।।
हिनस्ति जन्मन्येकत्र, शाकिनी-मुद्गलग्रहः ।
तपोट कुग्रहस्त्वेष, प्रणिहन्ति भवे-भवे ।।६।।
विपर्यस्तधियः क्रूराः, परर्द्धिमसहिष्णवः ।
गुरु लाघव विज्ञानवन्ध्याः शासननिन्दिनः ।।७।।
ज्ञानमुष्णपयः पानं, दर्शनं मुखमुद्रणम् ।
चारित्रं तर्कयाम्येषां, केवलं मलधारणम् ।।८।।
वर्णान्तरादि प्राप्तं सत्, प्राशुकं च श्रुते स्मृतम् ।
न्यवारि शिशिरंवारि, तदपि नेति गेहिनाम् ।।९।।
अप्कायमात्रहिंसोत्थं, निरस्य प्राशुकोदकम् ।
प्रारूपि गृहिणामुष्णं, वाः षट्कायापमर्दद्जम् ।।२।।[1]

अर्थात् तप के साक्षात् अवतार का स्वांग बनाये केवल बाह्य (दिखावटी) साधु आचार से लोगों को सम्मोहित करते हुए इधर-उधर विचरण करने वाले तपोट अर्थात् तपागच्छीय कहे गये हैं ।

इन तपागच्छीयों का मत, म्लेच्छों का मत, और शाकिनियों (डाकिनी की भांति हीन जाति की पिशाचिनी) का मत—ये तीनों मत प्रायः एक दूसरे से मिलते-जुलते ही कहे गये हैं ।

दुर्भावनाओं से ओत-प्रोत बुरे परिणामों के कारण ये तीनों मत परस्पर मिलते-जुलते ही हैं । इसलिये भावशुद्धि के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये कि वह तपागच्छ से सदा दूर ही रहे ।

---

1. तपागणदूषण शतक "तपोमत कुट्टण" (तुगलक मोहम्मदशाह प्रतिबोधक, विधिमार्ग प्रपा, विविधतीर्थ कल्प आदि ग्रन्थों के वि० सं० १३६३, वि० सं० १३८९ में रचयिता विक्रम की १४वीं शताब्दी के श्री जिनप्रभसूरि द्वारा विरचित) ।

यदि हमारे कथन में किंचित्मात्र भी अतिशयोक्ति अथवा अनौचित्य हो तो हम पहले ही मिच्छा मे दुक्कड़ं (मिथ्या भवतु दुष्कृतम्) कह देते हैं कि वस्तुतः शाकिनियों और मुद्गलों की अपेक्षा तपोटा (तपागच्छ वाले) अधिक दुष्ट हैं क्योंकि शाकिनियों एवं मुद्गलों द्वारा खाये हुए लोगों का उपचार हो सकता है परन्तु जिन लोगों को तपागच्छ वालों ने खा लिया उनका तो उपचार सुनिश्चित रूपेण असंभव ही है।

शाकिनियां एवं मुद्गल तो एक प्राणी को एक भव में ही मारते हैं किन्तु तपागच्छ एक ऐसा क्रूर ग्रह है जो अनन्त काल तक भव-भवान्तरों में भी प्राणियों के जीवन को नष्ट करता रहता है।

ये तपागच्छ वाले उल्टी खोपड़ी, उल्टी बुद्धि वाले, क्रूर, दूसरों की समृद्धि, अभ्युन्नति को देखकर जलने वाले छोटे बड़े की पहचान के ज्ञान से नितान्त शून्य और जिनेश्वर प्रभु के धर्मशासन के निन्दक हैं।

मुझे तो इन तपागच्छियों का ज्ञान केवल गर्म पानी पीने तक, दर्शन केवल मुख फुलाये रहने तक और चरित्र अपने शरीर (एवं वस्त्रों) पर मल (मैल) धारण किये रहने तक ही सीमित प्रतीत होता है।

शास्त्रों में वर्णान्तर आदि को प्राप्त जिस शीतल जल को मुनियों तक के लिये प्राशुक अर्थात् ग्राह्य एवं पीने योग्य बताया गया है, उसका इन तपागच्छियों ने न केवल साधु-साध्वियों के लिये ही अपितु श्रावक-श्राविकाओं तक के लिये भी पीने का वर्जन किया है।

एकमात्र अप्काय (जलगत) जीवों की हिंसा से तैयार हुए प्राशुक (निर्दोष) शीतल जल के उपयोग का निषेध कर इन तपागच्छियों ने छहों जीव-निकायों की हिंसा से तैयार किये जाने वाले उष्ण जल के उपयोग का उपदेश गृहस्थों को दिया।

इस प्रकार के साम्प्रदायिक व्यामोहजन्य पारस्परिक विद्वेष के युग में जिन विद्वान् मुनियों की लेखिनियां अपने से इतर गच्छ वालों को लोक दृष्टि में नीचा और अपने गच्छ को सर्वश्रेष्ठ दिखाने के उद्देश्य से चलीं, उन विद्वान् मुनियों का नामोल्लेख करना न तो श्रेयस्कर ही है और न गणनातीत होने के कारण संभव ही। परस्पर एक-दूसरे पर कीचड़ उछाल कर जैन संघ, जिनशासन की छवि को उज्ज्वल करने के नाम पर विकृत विड्रूप करने वाले मुनियों की हजारों पृष्ठों की कतिपय मुद्रित और अनेकों हस्तलिखित प्रतियां आज भी विभिन्न ग्रन्थागारों-ज्ञान भण्डारों में उपलब्ध हैं।

इस प्रकार के विपुल मात्रा में उपलब्ध खण्डन-मण्डनात्मक ग्रन्थों के निष्पक्ष दृष्टि से अध्ययन, निदिध्यासन, पर्यालोचन से ऐसा प्रतीत होता है कि अपने गच्छ

के व्यामोह के वशीभूत हो प्रायः सभी गच्छों के साधुओं ने केवल अपने-अपने गच्छ की मान्यताओं को ही सर्वश्रेष्ठ एवं आगमानुसारी तथा अन्य गच्छों की मान्यताओं को उनकी कपोल-कल्पित एवं सर्वज्ञ प्रणीत आगमों से विरुद्ध सिद्ध करने के प्रयास में ही अपने मुनि जीवन का एक बहुत बड़ा भाग व्यर्थ ही व्यतीत कर दिया हो। इससे सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस साम्प्रदायिक विद्वेष के युग में साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूपी चतुर्विध जैन संघ परस्पर एक-दूसरे गच्छ को अनागमिक, धर्म के वास्तविक स्वरूप के विपरीत पथ का पथिक सिद्ध करने वाली इन चर्चाओं का केन्द्र बन चुका था। चतुर्विध संघ के प्रत्येक सदस्य को इस प्रकार की चर्चाओं में कुशल एवं वाक्पटु बनाने के लिये इस प्रकार के खण्डन-मण्डनात्मक ग्रन्थों का निर्माण विभिन्न गच्छों के विद्वान् मुनियों ने किया।

इस सब का घातक परिणाम यह हुआ कि विश्वकल्याणकारी जगत्गुरु जिनेश्वर भगवान् महावीर का धर्मसंघ ऐसे विभिन्न गच्छों की वाड़ेबन्दी में विभक्त हो गया, जिन गच्छों में प्रत्येक गच्छ अपने से भिन्न गच्छ को अपना प्रतिद्वन्दी, प्रतिस्पर्धी अथवा शत्रु तक समझने लगा। इस प्रकार की पारस्परिक शत्रुतापूर्ण प्रतिस्पर्धा का ही प्रतिफल था कि गच्छ विशेष के आचार्य अथवा विद्वान् मुनि द्वारा तपागच्छियों को शाकिनी-डाकिनी से भी क्रूर एवं भव-भवान्तरों को नष्ट करने वाला बताकर उनसे कोसों दूर रहने का परामर्श अथवा उपदेश दिया गया और तपागच्छीय विशिष्ट प्रतिभा के धनी विद्वान् द्वारा अन्य सभी गच्छों, सम्प्रदायों को उत्सूत्र प्ररूपक, संघवाह्य, तीर्थाभास आदि अशोभनीय-अप्रीतिकर उपाधियों से लांछित किया गया। पारस्परिक विद्वेष के उस युग में गच्छों की वाड़ेवन्दी के परिणामस्वरूप पारस्परिक विद्वेष वस्तुतः इस पराकाष्ठा तक पहुंच चुका था कि चाहे कोई कितना ही महान् से महत्तर प्रभावक आचार्य क्यों न हो, यदि वह अपने गच्छ से भिन्न किसी भी गच्छ का आचार्य हो और लोकप्रिय हो रहा हो, तो उसे सहज ही दो ओष्ठ हिलाकर अथवा लेखिनी से सात अक्षर लिखकर अपने गच्छ की ओर से उत्सूत्रप्ररूपक की उपाधि का अमर पट्टा प्रदान किया जा सकता था। दादा जिनदत्त-सूरि, उनके गुरु जिनवल्लभसूरि, म्लेच्छ प्रतिवोधक जिनशासन प्रभावक जिनप्रभसूरि, तिलकाचार्य आदि अनेक क्रियोद्धारक आचार्यों के नाम उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनको उनके विरोधी गच्छ के विद्वानों ने उनकी अनुपम अमर सेवाओं की नितान्त उपेक्षा कर उन्हें उत्सूत्र प्ररूपक, तीर्थवाह्य, जमालीतुल्य उत्सूत्र प्ररूपक, औष्ट्रिक आदि अशोभनीय उपाधियों से, उपमाओं से अलंकृत किया।

कालान्तर में खरतरगच्छ के नाम से विख्यात वर्द्धमानसूरि, जिनेश्वरसूरि की यशश्विनी परम्परा के जिन आचार्यों ने जिनशासन की जो महती सेवा की थी, उन आचार्यों में दादा जिनदत्तसूरि जी का नाम वड़े सम्मान के साथ स्मरण किया जाता रहा है, किया जा रहा है और यावच्चन्द्र दिवाकरौ सदा सम्मान के साथ स्मरण किया जाता रहेगा। किन्तु गच्छविशेष के ग्रन्थकार मुनि ने उनकी किस प्रकार से

असम्मानजनक कटु शब्दों में आलोचना की, इसका एक उदाहरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है :—

तपागच्छ के ५७वें पट्टधर विजयदानसूरि के शिष्य उपाध्याय धर्मसागर ने, जोकि तपागच्छ के ५८वें पट्टधर जिनशासन प्रभावक श्री हीरविजयसूरि का सहपाठी था,[1] अपने ग्रन्थ प्रवचन परीक्षा भाग १ में दादा श्री जिनदत्तसूरि की असम्मानजनक भाषा में कटुतर आलोचना करते हुए लिखा है :—

"यद्यपि जिनवल्लभ से विधिसंघ प्रकट हुआ तथापि उस विधिसंघ में साध्वियों के नितान्त अभाव के कारण वह संघ पंगु अर्थात् चतुर्विध संघ न रह कर साधु-श्रावक-श्राविका रूपी त्रिविध संघ ही था। कुछ समय पश्चात् जिनदत्त ने महिलाओं को साध्वी वेष प्रदान कर उस त्रिविध विधिसंघ को चतुर्विध संघ का रूप प्रदान किया। उस समय से लेकर आज तक वह विधिसंघ अविच्छिन्न अवस्था में विद्यमान है। इस कारण सर्वांगपूर्ण चतुर्विध विधिसंघ का संस्थापक अथवा प्रथम आचार्य, आद्य आचार्य जिनदत्त ही है। इस प्रकार विधिसंघ के प्रथम दो उत्सूत्र प्ररूपक मूल आचार्य जिनवल्लभसूरि और जिनदत्त थे।[2] उस विधिसंघ के चामुण्डिक, औष्ट्रिक और खरतर ये तीन नाम जिनदत्त से ही प्रचलित हुए। वि. सं. १२०१ में जिनदत्त ने अपने मत की वृद्धि के उद्देश्य से मिथ्यादृष्टि देवता चामुण्डा (अपरनाम चण्डिका) की आराधना की। जिनदत्त ने चित्तौड़ नगरस्थ चामुण्डा के मन्दिर में चातुर्मासावास करते हुए चामुण्डा की आराधना की। अतः लोगों ने जिनदत्त के विधिसंघ का प्रमुख प्रथम नाम चामुण्डा गच्छ रखा।[3]

कालान्तर में अणहिल्लपुर पाटण नगर में रहते हुए जिनदत्त ने जिनेश्वर प्रभु के मन्दिर (निज मन्दिर) में रुधिर के छींटे देखे। जब जिनदत्त को ज्ञात हुआ कि निज मन्दिर में पड़े वे रुधिर के धब्बे जिनेन्द्र भगवान् की पूजा के लिये आई हुई किसी रजस्वला महिला के मासिक रक्तस्राव के छींटे हैं, तो उनके क्रोध

---

१. तथा तच्छिष्यो विजयदानसूरिः क्रियोद्धारसहायकृत्। तस्य शिष्यः पूर्वं खरतरगच्छः पश्चात्तपोगच्छाचरणः, देवगिरौ श्रीहीरविजयसूरीणां सहाध्यायी, गिर्वाणभाषाजल्पदक्षः, तिव्रबुद्धिः, प्रखरवादी, चतुर्विधवादनिष्णातः, श्रीजम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्ति (वि. सं. १६३६), कल्प किरणावली (वि. सं. १६२८) कुमतिकुद्दालः–प्रवचनपरीक्षा, तपागच्छ पट्टावली-सूत्र तद्वृत्ति-नयचक्र········औष्ट्रिकोत्सूत्रदीपिका (वि. सं. १६१७) पर्युषणाशतक प्रकरण–तद्वृति-गुरुतत्वदीपिका (श्लो. १०००) प्रमुख ग्रन्थानां प्रणेता धर्मसागरः।
—पट्टावली समुच्चय, भाग १, पृष्ठ ७३ (टिप्पण)—सं. मुनिदर्शन विजयः श्री चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला, वीरमग्राम (गुजरात)।

२. प्रवचन परीक्षा, भाग—१. विश्राम ४, पृष्ठ २६६, गाथा ३२

३. —वही— गाथा नं० ३३, ३४, पृष्ठ २६६, २६७

का पारावार न रहा। एक रजस्वला महिला के इस अपराध का दण्ड अथवा प्रायश्चित्त सम्पूर्ण नारी समाज को दिया। जिनदत्त ने एक नियम बनाकर समग्र स्त्री जाति के लिये जिनेन्द्र की पूजा का निषेध करते हुए जिनमन्दिरों में इस प्रकार की आज्ञा प्रसारित कर दी कि कोई भी स्त्री—जिनेश्वर भगवान् की मूर्ति की और मुख्यतः मूल प्रतिमा की पूजा नहीं कर सकती।

संघ के समक्ष जब यह समस्त विवरण प्रस्तुत किया गया तो संघ ने विचार-विनिमय के पश्चात् निर्णय किया—"प्रवचनों का उपघात-उड्डाह करने वाले इस प्रकार के उपदेश से जिनदत्त ने इस प्रकार की प्रायश्चित विधि, इस प्रकार के कल्पित दण्ड का विधान कहां से खोज निकाला है। प्रातःकाल जिनदत्त को संघ के समक्ष उपस्थित किया जाय और उससे इस सम्बन्ध में पूछा जाय। समझाने पर भी यदि वह अपना कदाग्रह नहीं छोड़े तो उसे समुचित शिक्षा दी जाय।"

संघ द्वारा किये गये इस प्रकार के निर्णय की सूचना जब जिनदत्त को मिली तो वह बड़ा भयभीत हुआ। संघ से त्राण का और कोई उपाय न देख जिनदत्तसूरि रात्रि में ही द्रुत गति वाले एक उष्ट्र पर आरूढ़ हो तत्काल पाटण से जालोर की ओर प्रस्थित हुए। सूर्योदय होते-होते जिनदत्तसूरि जालोर पहुंच गये। नगर के बाहर ही ऊंट पर से उतरकर जिनदत्तसूरि ने उष्ट्र वाहक को वहीं से पाटण की ओर विदा किया और वे उपाश्रय में पहुंचे। उन्हें देख श्रावक-श्राविका वर्ग को बड़ा आश्चर्य हुआ कि पद विहारी जैनाचार्य सूर्योदय होते-होते ही कहां से किस प्रकार जालोर पहुंच गये? अपने इस कौतुहल को शान्त करने हेतु श्राद्धवर्ग ने जिनदत्तसूरि से पूछा—पाटण से आप कब प्रस्थित हुए, रात्रि में कहां ठहरे और सूर्य की प्रथम किरण के साथ ही आपने नगर में प्रवेश किस प्रकार किया?

जिनदत्तसूरि ने श्रावकवर्ग की जिज्ञासा को शान्त करने का प्रयास करते हुए उत्तर दिया—"पाटण में वेशमात्र से साधु कहलाने वाले लोगों की ओर से भयंकर उपद्रव उपस्थित किये जाने की आशंका उत्पन्न हो गई थी अतः मैं रात्रि में ही औष्ट्रिकी विद्या की साधना कर उसकी सहायता से यहां सूर्योदय होने तक पहुंचा हूं।"

यह सुनकर लोग बड़े चमत्कृत हुए। कर्णपरम्परा से इस घटना का समाचार दूर-दूर तक फैल गया और लोक में जिनदत्तसूरि की औष्ट्रिक और उनके गच्छ की औष्ट्रिक गच्छ के नाम से प्रसिद्धि हो गई।[1]

जन-जन के मुख से स्वयं अपने लिये और अपने गच्छ के लिये औष्ट्रिक विशेषण को सुनकर जिनदत्त क्रोधातिरेक से तमतमा उठते, लोगों की भर्त्सना

---

१. प्रवचन परीक्षा, भाग १, विश्राम ४, गाथा ३५, ३६, पृष्ठ २६८

करते तथा बुरा-भला कहते । जिनदत्त के इस प्रकार के रूक्ष एवं कठोर स्वभाव को देख कर लोगों ने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि—"अरे ! जिनदत्तसूरि की प्रकृति बड़ी ही खरतर है।" इस प्रकार जिनदत्तसूरि के गच्छ की खरतरगच्छ के नाम से लोक में प्रसिद्धि हो गयी ।[1]

उपाध्याय धर्मसागर ने खरतरगच्छ की कटुतर आलोचना करते हुए पुनः लिखा है :—

"जितने भी कुपाक्षिक हैं, उनमें खरतरगच्छानुयायी अपने जन्म जात स्वभाव के कारण सर्वाधिक निश्शूल हैं, सर्वाधिक निर्लज्ज अथवा निकृष्ट हैं। खरतरगच्छानुयायियों के भाषण और भक्षण दोनों में ही दोष है। वे आगम विरुद्ध प्ररूपणा करके उसकी पुष्टि हेतु अपनी झूठी सम्मति देते और श्रावकों द्वारा भी त्याज्य पर्युषित (वासी) द्विदल पोलिका आदि का भक्षण करते हैं।"[2]

खरतर शब्द का अर्थ अभिव्यक्त करते हुए उ० धर्मसागर ने लिखा है :— "अधोभावादि शब्दै व्याकरण—निष्पन्नमेव गृह्यते तर्ह्यतिशयेन खरः खरतरः इति व्युत्पत्त्या महान् गर्दभः उग्रतरो वा भण्यते ।........।" अर्थात् खर का अर्थ हुआ गधा और खरतर का अर्थ होता है वड़ा गधा अथवा अतीव उग्र। पर ऐसा प्रतीत होता है कि स्वर्णगिरि (जालोर) में लोगों के मुख से अपने लिये प्रयुक्त 'औष्ट्रिक' विशेषण को सुनकर जिनदत्त क्रोधाविष्ट हो लोगों की आक्रोषपूर्ण कटु एवं कठोर शब्दों में भर्त्सना करगे लगे और लोगों ने उन्हें—ये, वड़े उग्र अर्थात् खरतर हैं—यह कहना प्रारम्भ कर दिया ।[3]

उपाध्याय धर्मसागर ने जिनदत्तसूरि और खरतरगच्छ को "औष्ट्रिक" की उपाधि से संवोधित किये जाने के विषय में और भी स्पष्ट शब्दों में लिखा है :—

"जिनपूजा विघ्नकरो महापातकी, प्रवचनोपघाती च........कलिकाल-सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य प्रभृतिभिरनेकैर्वहुश्रुतैरनेकशो निवारितोऽपि स्वाभिनिवेश-मत्यजन् संघभीत्या उष्ट्रमारूह्य जावालिपुरं गतः यदुक्तम् :—

जिनदत्तक्रियाकोशच्छेदोऽयं यत्कृतस्ततः ।
संघोक्तिभीतिस्तिेऽभूदारूह्योष्ट्रं पलायनम् ।।

........स्त्रीजिन पूजा व्यवस्थापका अस्माकीना वादि—श्री देवसूरि श्री हेमचन्द्राचार्य प्रभृतयो भूयांसो येषां भयेनोष्ट्रमारूह्य पलायनं जिनदत्तस्य स्त्री-जिनपूजा निषेध हेतुकं सम्पन्नम् ।"

१. प्रवचन परीक्षा, भाग १, विश्राम ४, गाथा ३७, ३८ पृष्ठ २९७-२९९
२. — वही — पृष्ठ संख्या ३१९
३. — वही — पृष्ठ संख्या २८९

अर्थात् जिनेश्वर भगवान् की पूजा में जिन-प्रवचनों का प्रलोप करने वाला व्यक्ति महापापी और जिन-प्रवचनों का प्रलोप करने वाला उपघाती है। उसे (श्री जिनदत्तसूरि को) कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य, वादी श्री देवसूरि आदि ने अनेक भांति समझाया कि स्त्रियों द्वारा जिनेन्द्र प्रभु की पूजा किये जाने का निषेध न करें किन्तु जिनदत्त ने अपने कदाग्रह को नहीं छोड़ा और संघ से भयभीत हो ऊंट पर आरूढ़ हो पाटण से जालोर की ओर पलायन कर गया। जिनदत्तसूरि का यह पलायन स्त्रियों द्वारा जिनेन्द्र भगवान की (मूर्ति की) पूजा करने के निषेध के प्रश्न को लेकर हुआ।"

साम्प्रदायिक पूर्वाभिनिवेश, गच्छव्यामोह, धार्मिक असहिष्णुता और अहं जन्य पारस्परिक विद्वेष के उस युग में अपने से भिन्न गच्छ अथवा सम्प्रदायों के बड़े से बड़े प्रभावक आचार्यों को भी लोकदृष्टि में नीचे गिराने के उद्देश्य से किस-किस प्रकार के कुत्सित प्रयास विभिन्न गच्छों के विद्वानों द्वारा व्यापक रूप में किये गये, इस सम्बन्ध में इतिहास के प्रति अभिरुचि रखने वाले जिज्ञासु पाठकों को तत्कालीन स्थिति की थोड़ी सी झलक दिखाने के लिये ये कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत किये गये हैं। यहां महान् प्रभावक एवं अद्यावधि सर्वाधिक लोकप्रिय आचार्य जिनदत्तसूरि के जीवन परिचय का प्रसंग होने के कारण केवल उनके विरुद्ध किये गये कुत्सित प्रचार के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। वस्तुस्थिति यह है कि उस युग में किसी भी गच्छ के महान् प्रभावक आचार्य को अथवा अभ्युदय की ओर अग्रसर होने वाले किसी भी क्रियोद्धारक गच्छ को लोकदृष्टि में नीचा दिखाने के प्रयास में किसी भी प्रकार की कोर कसर नहीं रखी गई। खरतरगच्छ के अन्य आचार्यों तथा अन्यान्य गच्छों एवं उनके बड़े-बड़े प्रभावक आचार्यों को लोक दृष्टि में गिराने के अभिप्राय से उस पारस्परिक विद्वेष के युग में विभिन्न गच्छों के विद्वान् लेखकों द्वारा जो प्रचार-प्रसार किया गया, वह जैन संघ के लिये घातक सिद्ध हुआ। जिनशासन की अभ्युन्नति के लिये जिस सामूहिक सम्मिलित शक्ति का उपयोग किया जाना चाहिये था, उस शक्ति को परस्पर एक-दूसरे की जड़ें खोखली करने की दिशा में व्यर्थ ही व्यय किया जाता रहा। उस सब पर विभिन्न गच्छों और विभिन्न गच्छों के प्रभावक आचार्यों के परिचय में यथा प्रसंग सार रूप में पूर्ण प्रकाश डालने का प्रयास किया जायेगा।

उस पारस्परिक विद्वेष एवं वैमनस्य के युग में युगादि से महान् रहते आये जैन संघ को जो अपूरणीय क्षति हुई, उसका अनुमान केवल एक इसी तथ्य से आंका जा सकता है कि प्राचीन काल में जो जैन संघ न केवल "आ सिन्धोर्सिन्धु पर्यन्तं" भारतवर्ष में ही नहीं अपितु अड़ौस-पड़ौस के द्वीप समूहों में भी फैला हुआ था एवं सभी धर्म संघों में मूर्धन्य माना जाता रहा था, वह पारस्परिक वैमनस्य-विद्वेष के कारण विपन्न से विपन्नतर अवस्था को प्राप्त होता हुआ भारत के इने गिने प्रदेशों में सिमटता-सिकुड़ता एक क्षीण, अशक्त, अल्पसंख्यक संघ के रूप में अवशिष्ट रह गया।

सबसे बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि परस्पर एक-दूसरे गच्छ पर कीचड़ उछालने वाले विद्वान् ग्रन्थकार मुनियों को उनके समय के महान् प्रभावक आचार्यों तक का प्रश्रय प्राप्त होता रहा और इस प्रकार के पारस्परिक वैमनस्य का प्रचार-प्रसार करने वाले ग्रंथकार विद्वान् मुनियों के सिर पर उन प्रभावक महान् आचार्यों का पूर्ण वरद हस्त रहा। इस कटु सत्य के साक्ष्य के रूप में उपाध्याय धर्म सागर द्वारा रचित "कुपक्ष कौशिक सहस्र किरण" नामक ग्रन्थ आदि से अन्त तक पठनीय एवं मननीय है। ७७० पृष्ठों के पूर्व एवं उत्तर इन दो भागों में दृब्ध इस विशाल ग्रन्थ में दिगम्बर १, पौर्णिमीयक २, औष्ट्रिक (खरतर-गच्छ) ३, पाशचन्द्रगच्छ ४, स्तनिक (अंचलगच्छ) ५, सार्द्ध पौर्णिमीयक ६, आगमिक ७, कटुक ८, लुम्पाक (लोकागच्छ) ९ और बीजामती १०—इन दशों ही आम्नायों-गच्छों की कटुतर एवं अशोभनीय भाषा में कटु आलोचना की गई है। इस ग्रन्थ में एक मात्र अपने गच्छ को ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने के प्रयास के साथ-साथ उपरिनामांकित शेष दशों ही आम्नायों को उत्सूत्र प्ररूपक एवं तीर्थ-वाह्य बताया गया है। इस ग्रन्थ की रचना से सम्पूर्ण जैन संघ में विक्रम की १७वीं शताब्दी के द्वितीय दशक में बड़ा ही भीषण विद्वेष फैला। उस विद्वेषपूर्ण वातावरण को शान्त करने के लिए उ० धर्मसागर के गुरु आचार्य श्री विजयदानसूरि ने उस ग्रन्थ को जल में प्रवाहित कर दिया अर्थात् उपाध्याय श्री धर्मसागर के उस ग्रन्थ को जल में डुबो दिया और धर्म सागर को चतुर्विध धर्म संघ से अपनी उक्त रचना के लिए क्षमा याचना करनी पड़ी। उपाध्याय धर्मसागर के इसी ग्रन्थ को विजय-दानसूरि के स्वर्गस्थ होने के ७ वर्ष पश्चात् वि. सं. १६२९ में विजयदानसूरि के पट्टधर, अकबर प्रतिबोधक महान् प्रभावक आचार्य हीरविजयसूरि ने पुनः प्रकट करवाकर अपनी ओर से इस ग्रन्थ का अपर नाम "प्रवचन परीक्षा" रखा।

दादा श्री जिनदत्तसूरीश्वर ने अपने आचार्य काल में जिनशासन की कितनी महती प्रभावना की होगी, इसका अनुमान इस तथ्य से सहज ही लगाया जा सकता है कि भारत के सुदूरस्थ प्रदेशों में आपके चरण चिन्हांकित मन्दिरों से सुशोभित दादावाड़ियां आज भी सहस्रों की संख्या में विद्यमान हैं और विरोधी गच्छों के विद्वानों द्वारा आपश्री के विरुद्ध किया गया धुआंधार प्रचार भी आपकी लोक-प्रियता एवं लोकपूज्यता में लवलेश मात्र भी अन्तर लाने में पूर्णतः निष्फल रहा।

---

१. (क) ग्रंथ के मुख पृष्ठ पर ग्रन्थ का नाम—
"श्री प्रवचन परीक्षा (श्री हीरविजयसूरीयाभिधा), कुपक्षकौशिक-सहस्रकिरण, (ग्रन्थकृत्कृताभिधा)"

(ख) इस ग्रन्थ के सभी ग्यारहों विश्रामों के अन्त में निम्नलिखित पंक्तियां उल्लिखित हैं—"इतिश्रीमत्तपागणनभोमणि श्रीहीरविजयसूरीश्वर शिष्योपाध्याय श्री धर्मसागरगणि विरचित स्वोपज्ञ कुपक्षकौशिक सहस्रकिरणे श्री हीरविजयसूरिदत्त प्रवचन परीक्षा नाम्नि प्रकरणे'''विश्रामो व्याख्यातः।"

श्री वादिदेवसूरि

विक्रम की बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में श्री वादिदेवसूरि और कलिकाल सर्वज्ञ के विरुद से अभिहित श्री हेमचन्द्राचार्य नामक दो महान् ग्रन्थाकार, उद्भट विद्वान् और जिन शासन के बहुत बड़े प्रभावक आचार्य हुए हैं। वादिदेवसूरि का जन्म श्री हेमचन्द्रसूरि से दो वर्ष पूर्व, दीक्षा दो वर्ष पश्चात् आचार्यपद आठ वर्ष पश्चात् और स्वर्गारोहण तीन वर्ष पूर्व हुआ था। इस प्रकार ये दोनों आचार्य समकालीन और परस्पर एक-दूसरे से केवल पूर्णतः परिचित ही नहीं, अपितु पूरी तरह घुले-मिले हुए भी थे। वादिदेवसूरि ने अपने समय के उच्च कोटि के वाद-विद्या-निष्णात दिगम्बर आचार्य श्री कुमुदचन्द्र को अणहिल्लपुर पट्टण के महान् प्रतापी राजाधिराज चालुक्य वंशी सिद्धराज जयसिंह की राज्यसभा में, शास्त्रार्थ में पराजित कर न केवल गुजरात प्रदेश में ही अपितु समस्त भारतवर्ष में श्वेताम्बर परम्परा की प्रतिष्ठा को उच्चतम आसन पर प्रतिष्ठित किया।

दूसरी ओर कलिकाल सर्वज्ञ के विरुद से विभूषित आचार्य हेमचन्द्र ने सिद्धराज जयसिंह के हृदय पर अपने त्याग, विराग और पाण्डित्य की छाप अंकित कर, उनके पश्चात् विशाल गुर्जर राज्य के सिंहासन पर आसीन होने वाले चालुक्य-राज कुमारपाल को प्रतिबोधानन्तर जिनशासन का अग्रणी उपासक वनाकर तथा उच्च कोटि के विपुल साहित्य का निर्माण कर जिन शासन की गौरव-गरिमा को अतिशय रूप से अभिवृद्ध किया।

गुजरात प्रदेश के उस समय अठ्ठारह सौ (१८००) के नाम से प्रसिद्ध मण्डल के मड्ड्राहृत (मद्दाहृत) नामक नगर में नाग नामक एक प्राग्वाटवंशीय व्यापारी रहता था। उसकी पत्नी का नाम जिनदेवी था। पति परायणा जिनदेवी ने रात्रि में एक स्वप्न देखा कि पूर्णचन्द्र उसके मुख में प्रविष्ट हो रहा है। उन दिनों आचार्य मुनिचन्द्रसूरि मद्दाहृत नगर में आये हुए थे। जिनदेवी प्रातःकाल अपने गुरु के दर्शन वन्दन के लिए गयी और उसने वन्दन के पश्चात् उन्हें अपने स्वप्न का वृत्तान्त सुनाते हुए जिज्ञासा प्रकट की कि "भगवन्! इस स्वप्न का क्या फल है?"

मुनिचन्द्रसूरि ने जिनदेवी की जिज्ञासा को शान्त करते हुए कहा—"वत्से! चन्द्रमा के समान कान्ति वाला कोई जीव तुम्हारे उदर में अवतरित हुआ है। तुम्हें पुत्र रत्न की प्राप्ति होगी और तुम्हारा वह पुत्र आगे चलकर जन-जन के मन को आनन्दित करने वाला होगा।"

अपने आराध्य गुरुदेव के मुख से अपने स्वप्न का फल सुनकर जिनदेवी के आनन्द का पारावार न रहा। वह अपने घर लौटी और बड़ी सावधानीपूर्वक अपने गर्भस्थ अर्भक का पालन करने लगी। गर्भकाल पूर्ण होने पर विक्रम सम्वत् ११४३ (ग्यारह सौ तयालीस) में जिनदेवी ने एक सुन्दर पुत्ररत्न को जन्म दिया। वीर नाग और जिनदेवी बड़े दुलार के साथ अपने पुत्र का लालन-पालन करने लगे और चन्द्र के स्वप्न दर्शन को ध्यान में रखते हुए उन्होंने उस बालक का नाम पूर्णचन्द्र रखा। पूर्णचन्द्र के शैशव काल में ही मद्दाहृत नगर में महामारी का प्रकोप हुआ और उसके परिणामस्वरूप वीरनाग और जिनदेवी अपने पुत्र पूर्णचन्द्र को साथ ले लाट प्रदेश के भृगुकच्छपुर (भड़ौंच) नगर में जा बसे।

इन संकट के दिनों में आठ वर्षीय बालक पूर्णचन्द्र ने जीविकोपार्जन में अपने पिता का हाथ बटाने का निश्चय किया। तदनुसार वह अनेक प्रकार के सुस्वादु व्यञ्जन घर पर बनाकर श्रीमन्तों के घर विक्रयार्थ ले जाने लगा। पुण्यवान् बालक पूर्णचन्द्र को अपने इस छोटे से व्यवसाय से पर्याप्त आय होने लगी। एक दिन वह अनेक प्रकार के व्यञ्जन लेकर एक श्रीमन्त के घर पहुंचा। उसने देखा कि गृहस्वामी एक घड़े में से बड़े आकार की स्वर्णमुद्राएं चिमटे से पकड़-पकड़ कर चौक में फैंक रहा है। बालक पूर्णचन्द्र को बड़ा विस्मय हुआ। उसने तत्काल उस श्रेष्ठि को सम्बोधित करते हुए कहा—"श्रेष्ठिवर! आप मानव जीवन के लिए संजीवन स्वरूप इस महार्घ्य द्रव्य:स्वर्ण मुद्राओं को विषैले कीटों की भाँति चिमटे से पकड़-पकड़ कर बाहर क्यों फैंक रहे हैं?"

यह सुनते ही गृहस्वामी के आश्चर्य का पारावार नहीं रहा। उसने बालक के सौम्य मुख की ओर अपलक देखते हुए मन ही मन विचार किया—"ये विषैले बिच्छू स्वर्ण मुद्राओं के रूप में इस बालक को दृष्टिगोचर हो रहे हैं। अवश्यमेव यह कोई महा पुण्यवान् प्राणी है।"

उसने स्नेहसिक्त स्वर में पूर्णचन्द्र को सम्बोधित करते हुए कहा—"वत्स! यह एक बांस की टोकरी लो और इस महार्घ्य द्रव्य को इसमें डाल-डालकर मुझे दो।"

बालक ने तत्काल उन सब स्वर्ण मुद्राओं को, जो श्रेष्ठि को बिच्छुओं के रूप में दृष्टिगोचर हो रही थीं, चुन-चुनकर उस टोकरी में रखा और वह टोकरी उस श्रेष्ठि को समर्पित करने लगा। गृहस्वामी को यह देखकर अपार हर्ष मिश्रित अचिन्त्य आश्चर्य हुआ कि उस बालक के हाथ लगाते ही वे सब बड़े-बड़े बिच्छू स्वर्णमुद्राओं के रूप में परिवर्तित हो गये हैं। अब तो उसने टोकरी में भरी उन स्वर्णमुद्राओं को अपने कोषागार में रखना प्रारम्भ किया। बालक उन विशाल घड़ों से स्वर्ण-मुद्राओं को निकाल-निकालकर टोकरी में भर-भर कर गृहस्वामी को देता

गया और गृहस्वामी उन टोकरियों में रखी स्वर्णमुद्राओं को अपने कोषागार में रखता गया। देखतें ही देखते उसका पूरा कोषागार स्वर्णमुद्राओं से ठसाठस भर गया। उस श्रेष्ठी ने बालक पूर्णचन्द्र से विक्रय हेतु लाये गये भिष्टान्न की खरीदकर उसके मूल्य के रूप में उसे कुछ स्वर्ण मुद्राएं प्रदान कर दीं। प्रमुदित हो बालक अपने पिता के पास पहुँचा और वह धन अपने पिता को समर्पित करते हुए उन्हें उसने पूरा वृत्तान्त सुना दिया। इस घटना से वीरनाग को भी वड़ा आश्चर्य हुआ और उसने अपने धर्म गुरु मुनिचन्द्रसूरि को उस घटना का विवरण सुना दिया।

इस वृत्तान्त को सुनकर मुनिचन्द्रसूरि ने मन ही मन विचार किया— "वस्तुतः यह बालक कोई भावी महान् पुरुषोत्तम है। कुछ समय तक बालक के सम्बन्ध में मंन ही मन चिन्तन करने के अनन्तर मुनि चन्द्रसूरि ने वीरनाग से उस होनहार बालक पूर्णचन्द्र की याचना की। वीरनाग ने अति विनम्र स्वर में अपने गुरु के समक्ष अपने मनोभाव प्रकट करते हुए कहा—"भगवन्! हम तो वंश-परम्परा से आप ही के चरण सेवक हैं। किन्तु यह मेरा एक मात्र पुत्र है और हमारा यही एक मात्र जीवन का सहारा है। अब न तो मैं ही किसी प्रकार के व्यवसाय के माध्यम से जीविकोपार्जन में सक्षम हूं और न पूर्णचन्द्र की माता ही। इसके उपरान्त भी यदि गुरुदेव इस वालक को अपनी चरण शरण में लेना ही चाहते हैं तो मैं आपकी आज्ञा को सहर्ष शिरोधार्य करता हूं। आप इसे ले लीजिये।"

वीरनाग की इस प्रकार की अपूर्व त्यागपूर्ण उदारता से द्रवित हो मुनि चन्द्रसूरि ने कहा—"श्रावकोत्तम! मेरे जो ये पांच सौ शिष्य हैं, वे सव आज से तुम्हारे ही पुत्र हैं। इसके साथ ही साथ जितने भी मेरे उपासक तुम्हारे ये सधर्मी बन्धु हैं वे सब तुम्हारी जीवनपर्यन्त अन्तर्मन से सेवा सुश्रूपा करेंगे। अव तुम तो सब प्रकार की चिन्ता छोड़कर परलोक के पाथेय एक मात्र धर्माराधन का अवलम्बन लो।"

इसी प्रकार आचार्य मुनिचन्द्र ने पूर्णचन्द्र की माता जिनदेवी को भी सहमत कर लिया और उन्होंने विक्रम सम्वत् ११५२ (ग्यारह सौ वावन) में पूर्णचन्द्र को श्रमण धर्म की दीक्षा प्रदान कर अपना शिष्य वना लिया। दीक्षा प्रदान करते समय आचार्यश्री ने पूर्णचन्द्र का नाम रामचन्द्र रखा।

दीक्षित होने के अनन्तर मुनि रामचन्द्र ने तर्क शास्त्र, लक्षण शास्त्र, व्याकरण, साहित्य, न्याय, दर्शन एवं आगम शास्त्रों में क्रमशः पारीणता प्राप्त की। जैन-दर्शन के अतिरिक्त वौद्ध, वैशेषिक, सांख्य आदि सभी दर्शनों का भी तलस्पर्शी अध्ययन कर रामचन्द्र अपने समय के वादियों में विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न वादी के रूप में प्रसिद्ध हुए। महावादीभ मुनि रामचन्द्र ने धोलका नगर में बन्ध नामक शिवा-

द्वैतवादी को, सत्यपुर में कश्मीरी महावादी सागर को, नागपुर में दिगम्बरवादी गुणचन्द्र को, चित्रकूट में शिवभूति नामक भागवत मतावलम्बी को, गोपगिरि में गंगाधर नामक वादी को, धारानगरी में धरणीधर नामक वादी को, पुष्करिणी में ब्राह्मण विद्वान् पद्माकर को और भृगुकच्छ में कृष्ण नामक महावादी ब्राह्मण को शास्त्रार्थ में पराजित कर वादजयी के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की। विमलचन्द्र, हरिचन्द्र, सोमचंद्र, पार्श्वचंद्र, प्रज्ञाधनी शान्ति और अशोकचन्द्र आदि अनेक उद्भट विद्वान् मुनि रामचन्द्र के अभिन्न मित्र बन गये। इस प्रकार मुनि रामचन्द्र की यशोपताका दिग्दिगन्त में लहराने लगी।

अपने महायशस्वी विद्वान् मुनि रामचन्द्र को सभी भांति सुयोग्य समझकर आचार्य मुनिचन्द्रसूरि ने उन्हें विक्रम सम्वत् ११७४ (ग्यारह सौ चौहत्तर) में आचार्यपद प्रदान किया और आचार्यपद प्रदान करते समय उन्होंने पूर्णचन्द्र का नाम देवसूरि रखा। आचार्यपद प्रदान के प्रसंग पर श्री मुनिचन्द्रसूरि ने पूर्णचन्द्र के पिता श्री वीरनाग को पंच महाव्रतों की भागवती दीक्षा प्रदान की और पूर्व में ही दीक्षिता श्री पूर्णचन्द्र की मातेश्वरी साध्वीश्रेष्ठा जिनदेवी को महत्तरा पद प्रदान कर उनका नाम चन्दनबाला रखा।

आचार्यपद पर अभिषिक्त किये जाने के अनन्तर अपने आराध्य गुरुदेव की आज्ञा से श्री देवसूरि ने धोलका आदि अनेक क्षेत्रों में विचरण कर जिन-प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा आदि के साथ-साथ उपदेशामृत से अनेक भव्यों को आप्यायित करते हुए जिनशासन का उल्लेखनीय प्रचार-प्रसार किया। तपश्चरण के साथ-साथ अहर्निश आत्मचिन्तन में लीन रहने के परिणामस्वरूप आचार्य श्री देवसूरि को अनेक प्रकार की सिद्धियां स्वतः एवं अनायास ही उपलब्ध हो गईं और उनकी कीर्ति दिग्दिगन्त में व्याप्त हो गईं।

एक समय जब वे अर्बुदाचल पर आरोहण कर रहे थे, तब उनके साथ मन्त्री अम्बाप्रसाद भी था। पर्वत पर चढ़ते समय मन्त्री को एक विषधर ने डस लिया। साथ के स्वधर्मी बन्धुओं ने तत्काल देवसूरि के चरणोदक से मन्त्री के उस पैर के उस भाग को धो डाला, जिस भाग को सर्प ने डसा था। यह देखकर लोगों के आश्चर्य का पारावार नहीं रहा कि मन्त्री अम्बाप्रसाद के पैर पर सर्पदंश स्थल को श्री देवसूरि के चरणोदक से धोते ही भयंकर विषधर के विष का प्रभाव तत्काल पूर्णतः विलुप्त हो गया और मन्त्रीश्वर पूर्णतः स्वस्थ हो पहले की भांति अर्बुदाचल पर आरोहण करने लगे।

श्री देवसूरि ने कुछ समय तक आबू पर्वत पर रहकर सपादलक्ष (साम्भर) की ओर विहार करने का विचार किया। किन्तु उन्हें अदृष्ट शक्ति से प्रेरणा मिली कि वे सांभर की ओर विहार न कर यथाशक्य शीघ्र ही अणहिल्लपुरपत्तन पहुंच

जायें, क्योंकि उनके गुरु श्री मुनिचन्द्रसूरि का आयुष्य केवल ६ मास का ही अवशिष्ट रह गया है। इस प्रकार के भावी का बोध होते ही देवसूरि ने आबू से अनहिलपुर पत्तन की ओर विहार किया और अप्रतिहत विहारक्रम से वे पत्तन पहुंचकर गुरु की सेवा में रत हो गये।

जिस समय देवसूरि धोलका और अर्बुदाचल आदि क्षेत्रों में विचरण कर रहे थे, उन दिनों देवबोध नामक एक महावादी पत्तन में आया। बड़े-बड़े लब्धप्रतिष्ठ प्रतिवादियों को शास्त्रार्थ में पराजित कर देने के कारण देवबोध के अन्तर्मन में अहंकार घर कर गया था कि उसके समक्ष न तो कोई वादनिष्णात प्रतिवादी ही खड़ा रह सकता है और न कोई उच्चकोटि का उद्‌भट विद्वद्‌शिरोमणि ही। उसने पत्तननगर के विद्वानों के पाण्डित्य को ललकारते हुए निम्नलिखित अति जटिल एक श्लोक पत्र पर लिख कर पत्तनाधीश चालुक्यराज सिद्धराज जयसिंह के राजद्वार पर चिपका दिया :—

एकद्वित्रिचतुः पंचषण्मेनकमने न काः।
देवबोधे मयि क्रुद्धे षण् मेनकमनेनकाः॥

एक दूसरे से उच्च कोटि के अनेक दिग्गज विद्वानों ने उस श्लोक को पढ़ा और उसका शब्दार्थ करने का प्रयास किया। किन्तु एक जटिल समस्या के समान रहस्यपूर्ण उस श्लोक का अर्थ करने में कोई विद्वान् सफल नहीं हुआ। यह पाटन के प्रभुत्व की प्रतिष्ठा का प्रश्न था। महाराज सिद्धराज जयसिंह ने जब यह देखा कि लगभग ६ मास व्यतीत हो जाने पर भी देवबोध द्वारा राजद्वार पर चिपकाये गये इस गूढ़ रहस्यपूर्ण समस्यात्मक श्लोक का उनके राज्य के विद्वानों में से कोई भी समुचित अर्थ करने में सफल नहीं हो सका है तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। अपने स्वामी की चिन्ता को देख कर महामात्य अम्बाप्रसाद ने उन्हें निवेदन किया—"स्वामिन्! जैनाचार्य श्री देवसूरि वर्तमान युग के महामेधावी विद्वद्वरेण्य हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि उन्हें निवेदन किया जाय तो वे इस गूढ़ श्लोक की सुस्पष्ट रूप से व्याख्या कर देंगे।

महाराज सिद्धराज जयसिंह ने देवसूरि से प्रार्थना की कि वे देवबोध द्वारा राजद्वार पर चिपकाये गये उस श्लोक की समुचित व्याख्या करने की कृपा करें। देवसूरि ने तत्काल उस श्लोक को पढ़ कर सिद्धराज जयसिंह के समक्ष उस श्लोक की निम्नलिखित रूप से व्याख्या करते हुए कहा :—"महाराज! इस श्लोक के माध्यम से विद्वान् देवबोध विद्वन्मण्डली को ललकारते हुए गर्वपूर्वक अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन इस प्रकार कर रहा है :—

"एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाले एक प्रमाणवादी चार्वाक, प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों को मानने वाले द्विमा अर्थात् बौद्ध और

वैशेषिक, **प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम** इन तीन प्रमाणों को मानने वाले त्रिमा अर्थात् सांख्य, **प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम** और उपमान इन चार प्रमाणों को मानने वाले चतुर्मा अर्थात् नैयायिक, **प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति** इन पांच प्रमाणों को मानने वाले प्रभाकरमतावलम्बी और **प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव** इन ६ प्रकार के प्रमाणों को मानने वाले षण्मा अर्थात् मीमांसक—इन छहों मतावलम्बियों के दर्शनों में निष्णात "एकद्वित्रिचतुः पंचषण्मेनकमने मयि" मुझ देवबोध के क्रुद्ध हो जाने पर "न काः" मेरे समक्ष वादी के रूप में नहीं ठहर सकते। साथ ही "मेनकमनेना" अर्थात् मा-लक्ष्मी उसका इन अर्थात् स्वामी मेन-विष्णु, कमनः ब्रह्मा और इन् अर्थात् सू आदित्य (सूर्य) ये तीनों सबसे बड़े देव भी देवों को बोध-ज्ञान देने वाले मुझ देवबोध के समक्ष नहीं टिक सकते। क्योंकि देवबोध नाम होने के कारण मैं देवों का बोधक गुरु हूं और ये देव मेरे शिष्य। इस प्रकार मेरे समक्ष किसी मानव की तो गणना ही क्या देवों के स्वामी विष्णु, ब्रह्मा और सूर्य तक नहीं ठहर सकते।

पण्डित देवबोध को विश्वास था कि उसके इस श्लोक का कोई भी विद्वान् अर्थ नहीं बता सकेगा। देवसूरि द्वारा अपने अन्तर्मन की भावना के अनुरूप किये गये इस श्लोक के अर्थ को पढ़कर विद्वान् देवबोध बड़ा ही चमत्कृत हुआ। उसका गर्व गल गया और उसने देवसूरि को तत्काल अपने पूज्य के रूप में स्वीकार कर उन्हें प्रणाम किया। राजाधिराज सिद्धराज जयसिंह के हर्ष का तो पारावार न रहा। वह देवसूरि के प्रगल्भ प्रकाण्ड पाण्डित्य से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि जीवन भर वह उनके प्रति गहरा सम्मान प्रकट करता रहा। इस प्रकार देवसूरि की मूर्धन्य विद्वानों में गणना की जाने लगी।

देवसूरि लगभग पांच मास तक अपने गुरु की सेवा में रहे और उन्होंने उनकी बड़ी ही श्रद्धा-भक्ति एवं निष्ठापूर्वक सेवा की। श्री मुनिचन्द्रसूरि ने अपना अन्तिम समय सन्निकट समझ कर संलेखना-संथारा-अनशन कर विक्रम संवत् ११७८ में समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण किया।

अपने गुरु के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर भी देवसूरि को लगभग ६ मास तक पाटण में ही रुकना पड़ा, क्योंकि उनकी प्रेरणा से अतुल धन के धनी धर्मनिष्ठ श्रेष्ठि थाहड़ द्वारा प्रारम्भ किया गया भगवान् महावीर के मन्दिर के निर्माण का कार्य तब तक निर्माणाधीन था। निर्माण कार्य पूर्ण हो जाने पर श्रेष्ठिवर थाहड़ ने उस मन्दिर की प्रतिष्ठा देवसूरि के करकमलों से करवाई। इस प्रकार कुल मिला-कर एक वर्ष तक पाटण में रहने के अनन्तर देवसूरि ने नागपुर की ओर विहार किया।

नागपुर पहुंचने पर महाराजा आह्लादन ने देवसूरि के समक्ष उपस्थित हो उनकी अगवानी करते हुए उन्हें वन्दन नमन किया। उस समय भागवत विद्वान

देवबोध भी महाराजा आह्लादन के साथ था। अपने धर्मगुरु के दर्शनार्थ वहां उपस्थित हुए विशाल जनसमूह के समक्ष विद्वान् देवबोध ने देवसूरि की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हुए निम्नलिखित आर्या का सस्वर पाठ किया :—

यो वादिनो द्विजिह्वान्, साटोपं विषममानमुद्गिरतः।
शमयति स देवसूरिनरेन्द्रवन्द्यः कथं न स्यात् ॥७६॥

अर्थात्—फुत्कार के साथ फरग उठा कर विष का वमन करने वाले दो जिह्वा वाले विषधर सर्पों के समान बड़े आडम्बर के साथ प्रगाढ़ अभिमान प्रकट करने वाले वाक्शूर वादियों के विष तुल्य दुखदायी गर्व का शमन कर देने वाले ये देवसूरि नरेश्वरों द्वारा वन्दनीय क्यों नहीं होंगे ? अवश्यमेव वन्दनीय होंगे।

महाराजा आह्लादन ने प्रगाढ़ भक्ति प्रकट करते हुए आचार्य श्री देवसूरि का बड़े ठाट-बाट से नगर-प्रवेश करवाया। तत्वदर्शी आचार्य देवसूरि भव्य जनों को उपदेश देकर स्व तथा पर का कल्याण करने वाले धर्म के पथ पर उन्हें आरूढ़ और उत्तरोत्तर अग्रसर करने लगे।

जिस समय देवसूरि नागपुर नगर में विराजमान थे, उसी समय पत्तनाधीश सिद्धराज जयसिंह ने अपनी विशाल चतुरंगिणी सेना ले नगर को चारों ओर से घेर लिया किन्तु ज्योंही सिद्धराज जयसिंह को ज्ञात हुआ कि आचार्य श्री देवसूरि नागपुर नगर में विद्यमान हैं, तो उसने तत्काल नगर का घेरा उठा अपनी विशाल वाहिनी के साथ पुनः अपनी राजधानी पत्तन की ओर प्रयाण कर दिया। अपने सम्मानास्पद मित्र श्री देवसूरि जब तक नागपुर नगर में रहे, तव तक वलपूर्वक उस दुर्ग पर आक्रमण नहीं किया जा सकता, इस प्रकार विचार कर महाराजा जयसिंह ने अपने विश्वस्त पौर जनों को देवसूरि की सेवा में भेज वड़ी भक्तिभरी प्रार्थना कर उन्हें पुनः अनहिलपुरपत्तन में वुला लिया और उन्हें चातुर्मासावास भी वहीं करवाया। जिस समय देवसूरि पत्तन में वर्षावास व्यतीत कर रहे थे, उस समय आश्विन मास में सिद्धराज जयसिंह ने अपनी सेना के साथ नागपुर पर आक्रमण किया और स्वल्प समय में ही दुर्ग पर अपना अधिकार कर लिया।

इस घटना से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि जैनाचार्य श्री देवसूरि के प्रति चालुक्यराज सिद्धराज जयसिंह के अन्तर्मन में कितनी प्रगाढ़ श्रद्धा भक्ति थी कि एक वड़े ही महत्त्वपूर्ण सैनिक अभियान में विपुल अर्थ और समय का व्यय कर नागपुर के चारों ओर घेरा डालने के उपरान्त भी जब सिद्धराज जयसिंह को यह विदित हुआ कि देवसूरि नगर में ही विराजमान हैं तो वह तत्काल घेरा हटा अपने नगर को लौट गया। जव तक देवसूरि नागपुर में रहे, उसने नागपुर पर आक्रमण नहीं किया और अन्ततोगत्वा उन्हें पत्तन में चातुर्मासावास करवाने के अनन्तर ही नागपुर पर आक्रमण और अधिकार किया।

आचार्य श्री देवसूरि का अनहिलपुरपत्तन का चातुर्मासावास पूर्ण हो जाने के अनन्तर कुछ समय पश्चात् कर्णावती नगरी का संघ श्री देवसूरि की सेवा में उपस्थित हुआ और उसने आचार्यश्री से अनुनय-विनयपूर्ण भावभरी विनती की कि अगला वर्षावास वे कृपा कर कर्णावती नगरी में करें। देवसूरि ने श्रद्धालु संघ की प्रार्थना स्वीकार कर अनहिलपुरपत्तन से विहार किया और अनेक क्षेत्रों में जन्म-जरा-मृत्यु से सदा-सदा के लिये मुक्ति दिलाने वाले सर्वज्ञप्रणीत जैन धर्म का प्रचार-प्रसार करते हुए वे विहारक्रम से समय पर कर्णावती नगरी पधारे और वहां चातुर्मासासावासार्थ एक उपाश्रय में विराजमान हुए। वहां पर भगवान् अरिष्टनेमि के मन्दिर में प्रतिदिन प्रवचनामृत की वर्षा कर भव्य जनों को आप्यायित कर धर्म-मार्ग पर अग्रसर करने लगे। अन्तर्चक्षुओं को उन्मीलित कर देने वाले श्री देवसूरि के अध्यात्मपरक उपदेशों को सुनने के लिये न केवल कर्णावती के नर-नारी वृन्द ही अपितु दूर-दूर के मुमुक्षु तीव्र उत्कण्ठा के साथ बड़ी संख्या में उपस्थित होने लगे। आचार्यश्री के प्रवचनपाटव की कीर्ति चारों ओर दूर-दूर तक प्रसृत हो गई।

आचार्य श्री देवसूरि के कर्णावती चातुर्मासावास के समय पत्तनपति सिद्धराज जयसिंह के नाना कर्णाटकाधीश जयकेशिदेव के धर्मगुरु दिगम्बराचार्य श्री कुमुदचन्द्र भी कर्णावती नगरी में भगवान् वासुपूज्य के मन्दिर में वर्षावासार्थ विराजमान थे। कर्णावती एवं सुदूरस्थ प्रदेशों के विशाल जनसमूह को केवल देवसूरि के दर्शनों और प्रवचनश्रवण के लिये उद्वेलित सागर की तरह उमड़ते, उनकी कीर्तिपताका को चारों ओर लहराते और जनमानस में अपनी ओर उपेक्षा भाव देखकर महावादी दिगम्बराचार्य की मनोभूमि में देवसूरि के प्रति अमर्ष एवं ईर्ष्या के बीज अंकुरित हो उठे। प्रभावकचरित्र के उल्लेखानुसार दिगम्बर महावादी कुमुदचन्द्र ने अपने उपासकों के माध्यम से काव्यकलाकोविद वन्दीजनों को दान-सम्मानादि प्रलोभनों से अपने वश में कर देवसूरि को उत्तेजित करने का प्रयास किया। वन्दीगण व्याख्यान-स्थल में जाकर सम्पूर्ण श्वेताम्बर आम्नाय को और विशेषतः देवसूरि को लोगों की दृष्टि में उपहासास्पद एवं तिरस्कृत करने के अभिप्राय से अनेक प्रकार के गद्यगीत सुनाने लगे। एक वन्दी ने एक दिन व्याख्यान-स्थल में उपस्थित विशाल जनसमूह के समक्ष निम्नलिखित श्लोक उच्च स्वर में सुनाया :—

> हंहो श्वेतपटाः किमेष विकटाटोपोक्तिसण्टंकितैः,
> संसारावटकोटरेऽतिविषमे मुग्धो जनः पात्यते।
> तत्वातत्वविचारणासु यदि वो हेवाकलेशस्तदा,
> सत्यं कौमुदचन्द्रमंह्रियुगलं रात्रिदिवं ध्यायत ॥६२॥

अर्थात्—हे श्वेताम्बरों! अपनी इन शब्दाडम्बरपूर्ण कूटोक्तियों से संसार के भोले मुग्धजनों को रसातल में क्यों गिरा रहे हो। यदि तत्वातत्व के निर्णय में

तुम्हारी लेशमात्र भी रुचि है तो हम तुम्हें यह सच्ची वात बता रहे हैं कि महावादी दिगम्बराचार्य के चरणकमलों की सेवा में निरत रह रात-दिन उनका ध्यान करो ।

देवसूरि के प्रमुख शिष्य आशुकवि माणिक्यमुनि इस तिरस्कारपूर्ण गर्वोक्ति को सहन नहीं कर सके और उन्होंने तत्काल उस श्लोक के उत्तर में निम्नलिखित श्लोक घनरव गम्भीर स्वर में सुनाया :—

क: कण्ठीरवकण्ठकेसरसटाभासं स्पृशत्यंह्रिणा,
 क: कुन्तेन शितेन नेत्रकुहरे कण्डूयनं कांक्षति ।
क: सन्नह्यति पन्नगेश्वरशिरोरत्नावतंशश्रिये,
 य: श्वेताम्बरदर्शनस्य कुरुते वन्द्यस्य निन्दामिमाम् ।।६४।।

अर्थात्—जो मूर्ख वनराज केसरीसिंह की ग्रीवा पर सुशोभित अयाल अर्थात् केसरसन्निभ केसराशि को पैर से छूने का दुस्साहस कर सकता है, जो मूढ़ तीक्ष्ण भाले से अपने नेत्रयुगल को खुजलाने की मूर्खता कर सकता है, और जो मुग्धमना विमूढ़ शेषनाग के शिर की मणि को हस्तगत करने के लिये नागराज के फण की ओर अपना हाथ बढ़ाने को समुद्यत होता है, वही मूर्ख वन्दनीय श्वेताम्वर दर्शन अर्थात् धर्म की इस प्रकार निन्दा करता है ।

देवसूरि ने अपने शिष्य माणिक्य मुनि को शांत करते हुए कहा—"दुर्वचन बोलने वाले दुर्जनों पर कभी कोप नहीं करना चाहिए क्योंकि उनका तो स्वभाव ही इस प्रकार के वचन बोलने का है ।"

यह सुनकर आचार्य कुमुदचन्द्र द्वारा भेजे गये उस वन्दिराज ने कहा :—"हमारे महावादी आचार्य कुमुदचन्द्र श्वेताम्वर रूपी चने को वड़ी रुचि के साथ चर जाने वाले अश्वराज हैं, श्वेताम्वर सम्प्रदाय रूप अन्धकार को विनष्ट करने वाले सूर्य, श्वेताम्वर रूपी मच्छर भगा देने वाले धूम्रपुंज और श्वेताम्बरों को जगज्जनों का हास्यपात्र बनाने वाले प्रहसन के सूत्रधार हैं अत: इस प्रकार के वचनाडम्बर से कोई कार्य सिद्ध होने वाला नहीं है । सार रूप में आप उन्हें क्या कहलवाना चाहते हो, वही मुझे वता दो ।

देवसूरि ने उस वन्दी को कहा—तुम तो मेरे भाई उस कुमुदचन्द्र को मेरी ओर से यही कहना—"हे दिगम्वर शिरोमणि ! गुणों से विमुख मत वनो, मद का परित्याग कर अपने गुणों को शांति और संयम के रंग में रंजित करो क्योंकि वस्तुत: इन्द्रिय दमन-कषाय मर्दन ही मुनियों का भूषण है और वह भूषण मद के परित्याग के अनन्तर ही प्राप्त किया जा सकता है ।"

जव वन्दिराज ने देवसूरि का उपर्युक्त सन्देश दिगम्वराचार्य कुमुदचन्द्र को सुनाया तो उन्होंने वन्दी से कहा—"मूर्ख साधु का उत्तर शम अर्थात् शान्ति के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है ।"

"किसी न किसी प्रकार देवसूरि को उत्तेजित कर, उसको अधिकाधिक मानसिक पीड़ा पहुंचा कर उसे विक्षुब्ध कर दिया जाय जिससे कि हमें यह भली-भांति विदित हो जाय कि वह कितने गहरे पानी में है, उसमें कितना बल और सामर्थ्य है ?"—इस प्रकार विचार कर दिगम्बर आचार्य कुमुदचन्द्र ने अपने उपासकों को आदेश दिया कि गली कूंचों में, राजमार्ग पर इन श्वेताम्बर साधुओं को देखते ही उनके साथ इस प्रकार का व्यवहार किया और कराया जाय कि उनका अपने स्थान से बाहर निकलना दूभर हो जाय। इस प्रकार अपने उपासकों को आदेश देकर अपने नग्न स्वरूप के अनुरूप ही नग्न अर्थात् हीन चेष्टाएं प्रारम्भ कर दीं। एक दिन देवसूरि के श्रमणी संघ की एक वयोवृद्धा को मधुकरी हेतु अपने चैत्य के आगे से जाती हुई देखकर कुमुदचन्द्र के उपासकों ने उसे अनेक प्रकार के उपसर्ग पहुंचाने प्रारम्भ किये। कुमुदचन्द्र के इंगित पर उसके लोगों ने उस वृद्धा साध्वी को ऊपर उठाकर एक कुण्ड में फैंक दिया। उसे नृत्य करने के लिये बाध्य कर दिया। इस प्रकार एक वयोवृद्धा साध्वी के साथ किये गये अभद्र और निंद्य व्यवहार को देखकर समस्त नागरिक कुमुदचन्द्र की बुराई करते हुए उसे कोसनें लगे। नगर भर में पलक झपकते ही उसकी अपकीर्त्ति फैल गई। कतिपय प्रमुख नागरिकों ने वृद्धा आर्या की दयनीय दशा से द्रवित होकर उन दुष्टों के पंजे से उसे येन-केन-प्रकारेण छुड़ाया।

अपमानिता वृद्धा आर्या वहां से तत्काल देवसूरि के उपाश्रय में गई और उनके समक्ष दिगम्बर आचार्य द्वारा करवाये गये अति हीन अभद्र व्यवहार की व्यथा-कथा अवरुद्ध कंठ से सुनाने लगी। सूरि ने उससे पूछा :—"आपका इस प्रकार का अपमान किसने और किस कारण से किया ?"

जरा जर्जरिता आर्या ने आवेशवशात् प्रकम्पित आक्रोशपूर्ण स्वर में देवसूरि के समक्ष कहना प्रारम्भ किया :—"मेरे गुरुदेव ने तुम्हें बड़ा किया, पढ़ाया और सूरि पद पर भी आपको अधिष्ठित किया। क्या उन्होंने यह सब कुछ हमारी इस प्रकार की विडम्बना करवाने के लिये किया था ? उस बीभत्स स्वरूप वाले नग्नाट ने मुझे राजमार्ग पर जाती देखकर अपने शिष्यवृन्द के द्वारा बलात् पकड़वा कर मुझे इस प्रकार प्रपीड़ित और अपमानित करवाया है। तुम्हारी यह विद्वत्ता किस काम की, जो अपने आश्रितों की रक्षा नहीं कर सके, हाथ में धारण किये हुए उस शस्त्र से क्या प्रयोजन जो शत्रु का संहार न कर सके। शम भाव की ठण्डी बेल के फल पराभव और अपमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकते। शीतलता का पुंज चन्द्र राहु द्वारा उसकी इच्छा के अनुसार पुनः पुनः ग्रसा ही जाता आया है। सूरि ! कान खोलकर सुन लो कि यह तुम्हारे पराक्रम और पाण्डित्य का परीक्षा काल है। यदि इस समय तुमने अपनी विद्वत्ता और शक्ति का प्रदर्शन नहीं किया तो वे सब निष्फल-निरर्थक सिद्ध होंगे। वन-धान्य के शुष्क हो जाने पर जिस प्रकार वर्षा

निरर्थक होती है, उसी प्रकार बड़े परिश्रम से अर्जित किया गया यह तुम्हारा आध्यात्मिक विक्रम और पांडित्य निरर्थक सिद्ध होगा।"

क्रोधवशात् क्रुद्धा नागिन की भांति फूत्कार करती हुई उस वयोवृद्धा साध्वी के इस प्रकार के कथन को सुनकर देवसूरि ने कहा:—"हे आर्ये ! तुम विषाद मत करो। उस दुर्विनीत का अवश्यमेव पतन होगा।"

वयोवृद्धा साध्वी ने कहा:—"उस दुर्विनीत का पतन तो होगा अथवा नहीं, किन्तु यह सुनिश्चित है कि तुम्हारे जैसे दुर्बल सूरि के संरक्षण में रखे हुए हमारे संघ का अवश्यमेव पतन होगा।"

इस पर देवसूरि ने साध्वी को सम्बोधित करते हुए कहा :—"आप स्थिरचित्त होकर विचार करेंगी तो आपको भलीभांति विदित हो जायगा कि मोतियों का वेधन जिस प्रकार युक्ति से ही किया जाता है, ठीक उसी प्रकार इस दुर्विनीत का पराभव भी युक्तिपूर्वक ही किया जायगा।"

तदनन्तर अपने शिष्य माणिक्य मुनि की ओर अभिमुख हो देवसूरि ने उन्हें आदेश दिया :—"मुने। तुम इसी समय अनहिल्लपुर पत्तन के संघ को विनयपूर्ण शब्दों में मेरी ओर से निम्नलिखित रूप में एक विज्ञप्ति लिखकर भेजो :

> "कर्णावतिपुरी से देवसूरि वीर जिनेश्वर को नमन करने के अनन्तर अणहिल्लपुर पट्टण के संघ को स्वस्तिवाद के साथ भक्तिपूर्वक यह विज्ञापित करते हैं कि विवादोन्मुख दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र के साथ शास्त्रार्थ करने के दृढ़ संकल्प के साथ वे शीघ्र ही अणहिल्लपुर पट्टण पहुंच रहे हैं।"

इस प्रकार का विज्ञप्ति पत्र एक द्रुतगामी दूत के माध्यम से तत्काल अणहिल्लपुर पट्टण के संघ के पास भेजा गया। वह चर तीन प्रहर की यात्रा में ही पट्टण पहुंच गया और संघप्रमुख को आचार्य देवसूरि द्वारा प्रेषित विज्ञप्तिपत्र समर्पित किया। संघ ने दूत को समुचित रूप से सम्मानित कर उसके साथ संघ का आदेशपत्र देवसूरि की सेवा में भेजा। दूत ने द्रुतगति से कर्णावती लौटकर वह संघादेश देवसूरि की सेवा में समर्पित किया, जिसमें लिखा था :—

> "तीर्थेश्वर को नमन करने के अनन्तर पट्टण का संघ दिगम्बराचार्य के साथ शास्त्रार्थ करने के लिये कृत संकल्प कर्णावती में विराजमान देवसूरि को आदेश करता है कि वे वादि पुंगव परवादि-मद-गंजन शीघ्र ही अणहिल्लपुर पट्टण नगर में पधार जावें। वादि वेताल शान्तिसूरि के पास रह कर समस्त दर्शनों का तलस्पर्शी अध्ययन करने वाले श्री मुनिचन्द्रसूरि के आप शिष्य शिरोमणि हैं। आज हमारे संघ का

अभ्युदयोत्कर्ष आप ही के पांडित्यपूर्ण पौरुष पर निर्भर करता है। हमने महाराज सिद्धराज जयसिंह को सब कुछ निवेदन कर दिया है। हम आपकी विजय को अपनी विजय समझते हुए आपके आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। तीन सौ श्रावकों और सात सौ श्राविकाओं ने आपकी विजय की कामना के साथ आचाम्ल व्रत करना प्रारम्भ कर दिया है ताकि इस तपश्चरण के प्रभाव से शासनदेवी आपको अपने प्रतिपक्षियों का पराभव करने के लिये बल प्रदान करे।"

इस संघादेश के प्राप्त होते ही महावादी देवाचार्य ने उस दूत को निर्देश दिया कि वह दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र के पास जाकर उन्हें उनका यह सन्देश सुनावे— "मैं महाराज सिद्धराज जयसिंह की सभा में आपके साथ शास्त्रार्थ करने के लिये जा रहा हूं। वे हम दोनों द्वारा अपने-अपने पक्ष की पुष्टि के लिये प्रस्तुत किये गये प्रमाणों पर निर्णय कर जयाजय की न्यायपूर्ण घोषणा करेंगे।"

दूत ने तत्काल दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र के पास जाकर उनका सन्देश सुनाया। देवसूरि के सन्देश को कुमुदचन्द्र ने सावधानीपूर्वक सुना और उसके उत्तर में दूत से कहा :—"मैं भी अणहिल्लपुर पट्टण शीघ्र ही पहुंचूंगा।"

इस प्रकार का उत्तर देते ही दिगम्बराचार्य को छींक हुई। दूत ने इसे दिगम्बराचार्य के लिये अपशकुन समझा और देवसूरि के पास आकर दूत ने समस्त विवरण सुना दिया।

तदनन्तर शुभ घड़ी शुभ मुहूर्त्त में देवसूरि ने अणहिल्लपुर पट्टण की ओर विहार किया। विहार करते ही उन्हें तत्काल अनेक प्रकार के श्रेष्ठतम शुभ शकुन हुए। उनका दाहिना नेत्र फरकने लगा। इसी प्रकार के अनेक शुभ शकुनों के बीच कर्णावतीपुरी से प्रस्थान कर आचार्य देवसूरि विहार क्रम से अणहिल्लपुर पट्टण पहुंचे। पाटण के संघ ने बड़े ही हर्षोल्लास के साथ देवसूरि के नगर-प्रवेश का महोत्सव किया। कुछ समय पश्चात् दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र भी अनहिलपुरपत्तन पहुंच गये। तदनन्तर एक दिन देवसूरि महाराजा सिद्धराज जयसिंह से मिले और दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र के सम्बन्ध में उपरिवर्णित पूर्ण विवरण संक्षेपतः उन्हें सुनाया। पत्तन-पति जयसिंह से बात कर लेने के पश्चात् देवसूरि ने मागधमुख्य (दूत) को दिगम्बराचार्य श्री कुमुदचन्द्र के पास जाकर उन्हें अपना यह संदेश सुनाने को कहा :—

"देवसूरि ने आपको यह सन्देश कहलवाया है कि आप मद का परित्याग कर श्रमणोचित शमभाव को धारण करें। मद वस्तुतः मानवमात्र के लिये घोर दुःख का कारण है। जिस रावण की त्रेसठ शलाका पुरुषों में गणना की जाती है, उसकी भी मद के कारण कैसी दुर्दशा हुई, यह तो सर्वविदित ही है।"

संदेशवाहक मागधमुख्य के मुख से देवसूरि का संदेश सुन कर दिगम्बराचार्य ने उससे कहा :—"कथाजीवी ये श्वेताम्बर कथाएं कहने में निष्णात हैं। यह सब कुछ होते हुए भी देवसूरि ने यह एक पते की बात कही है कि महाराज सिद्धराज जयसिंह की सभा में हम दोनों के बीच शास्त्रार्थ हो। वस्तुतः शास्त्रार्थ से ही तथ्यातथ्य पक्ष का अन्तिम रूप से निर्णय हो सकता है। तुम जाओ और देवसूरि से कह दो कि वाद के लिये राज्य सभा में उपस्थित हो जाय। मैं भी इसी समय वहां पहुंच रहा हूं।"

आचार्य कुमुदचन्द्र ने तत्काल सुखासन (पालकी) पर आरूढ़ हो दूत के देखते ही देखते राज्य सभा की ओर प्रस्थान कर दिया। पालकी पर बैठते ही आचार्य कुमुदचन्द्र के समक्ष आते हुए व्यक्ति को छींक हुई। उस अपशकुन की अवमानना करते हुए कुमुदचन्द्र ने कहा:—"यह तो श्लेष्म के विकार का परिणाम है। हमारे जैसे साहसिक इसकी ओर कोई ध्यान नहीं देते।" यह कहकर सुखासन वाहकों को उन्होंने आदेश दिया कि वे शीघ्र आगे की ओर बढ़ें। पालकी के आगे बढ़ते ही वाम पार्श्व से एक काला विषधर नाग निकला। इस घोर अपशकुन को देखकर कुमुदचन्द्र के अनुयायियों ने कहा :—"आचार्य ! आज का दिन आपके लिये अमंगलकारी प्रतीत हो रहा है। अतः आप मठ में लौट जाइये।"

आचार्य कुमुदचन्द्र ने उन सब लोगों के आग्रह की उपेक्षा करते हुए सस्मित स्वर में कहा :—"यह अपशकुन नहीं है अपितु बड़ा ही श्रेष्ठ शुभ शकुन है। भगवान् पार्श्वनाथ के तीर्थाधिष्ठायक धरणेन्द्र ने मुझे दर्शन देकर यह इंगित किया है कि वे मेरे सहायक हैं और अवश्यमेव मेरी विजय होगी।"

देवसूरि ने भी तत्काल राजसभा की ओर प्रस्थान किया। उस समय थाहड़ और नागदेव नामक दो संघाग्रणी श्रीमन्त श्रावक उनकी सेवा में उपस्थित हुए और उन्हें वन्दन नमन के अनन्तर निवेदन करने लगे :—"आचार्यदेव ! गांगिल आदि उच्च राज्याधिकारियों को विपुल धनराशि देकर दिगम्बराचार्य के श्रावकों ने अपने वश में कर लिया है। अब यदि आप आदेश दें तो हम लोग भी उच्च न्यायाधिकारियों को धनराशि देकर अपने पक्षधर बना लें। हमें डर है कि यदि ऐसा नहीं किया गया तो दिगम्बराचार्य घूंस के बल पर कहीं विजयी घोषित न कर दिये जायं।"

देवसूरि ने उन्हें इस प्रकार की कोई कार्यवाही न करने का निर्देश करते हुए कहा :—"आपको इस प्रकार व्यर्थ ही द्रव्य का अपव्यय नहीं करना चाहिये। घूंस के बल पर प्राप्त की गई विजय वस्तुतः विजय नहीं, पराजय ही है। देव, गुरु हमारे सहायक हैं। राजा न्यायवादी है। अतः सुनिश्चित रूप से हमारी विजय होगी।"

राज्य सभा में शास्त्रार्थ के लिये भली-भांति व्यवस्था हो जाने के अनन्तर दोनों आचार्यों को महाराज सिद्धराज जयसिंह ने राजसभा में बुलाया। दोनों वादी-

प्रतिवादी चालुक्यराज जयसिंह की राज्यसभा में उपस्थित हुए, जहां महाराजा ने घोषणा की कि दोनों पक्षों में से जो पक्ष शास्त्रार्थ में पराजित हो जायेगा, उस पक्ष को सदा के लिये अनहिलपुरपत्तन के विशाल गुर्जर राज्य की सीमाओं से बाहर चला जाना होगा। जो पक्ष विजयी होगा वही गुर्जर राज्य की सीमाओं में रह सकेगा, इस पण के साथ दोनों पक्षों के बीच विक्रम संवत् ११८१ की वैशाख शुक्ला पूर्णिमा के दिन पाटन में चालुक्यराज सिद्धराज जयसिंह की राजसभा में शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। स्त्री मुक्ति के प्रसंग को लेकर इन दोनों महान् तार्किकों में परस्पर वाद हुआ। दिगम्बराचार्य श्री कुमुदचन्द्र ने अपने पक्ष को रखते हुए गम्भीर स्वर में कहा :—"किसी भी प्राणी की स्त्री भव में मुक्ति नहीं हो सकती। स्त्री वस्तुत: तुच्छ सत्त्वा अर्थात् निर्बल होती है। संसार में जितने भी तुच्छ सत्त्व वाले प्राणी हैं, उनकी मुक्ति नहीं हो सकती। इसका साक्षात् उदाहरण है बालक, निस्सत्व युवा पुरुष और अबला नारी। इन सब तथ्यों के आधार पर मैं अपना पक्ष रखता हूं कि तुच्छ सत्त्वा अथवा अबला होने के कारण स्त्री की उसी भव में मुक्ति कदापि नहीं हो सकती।"

दिगम्बराचार्य श्री कुमुदचन्द्र द्वारा इस प्रकार अपने पक्ष के प्रस्तुत किये जाने पर श्वेताम्बराचार्य देवसूरि ने इसके विपरीत अपना पक्ष रखते हुए घनरव-गम्भीर स्वर में कहा :—"पौरुषपुंज पुरुषों के समान ही स्त्री भी महासत्त्वा होती है और महासत्त्वा होने के कारण स्त्री भी उसी भव में मुक्त हो सकती है। इसका प्रमाण शास्त्रों में उपलब्ध है कि भगवान् ऋषभदेव की माता मरुदेवी ने अपने स्त्री भव में ही मुक्ति प्राप्त की। प्रवर्त्तमान अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम मुक्त होने वाली स्त्री माता मरुदेवी ही है, यह सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्रों में स्पष्ट रूप से लिखा है। मेरे मित्र दिगम्बराचार्य श्री कुमुदचन्द्र ने जो यह हेतु रखा है कि स्त्री तुच्छ सत्त्वा प्राणी होती है इसलिये मुक्ति में नहीं जा सकती क्योंकि तुच्छ सत्त्व वाले जितने भी प्राणी हैं वे उसी भव में मोक्ष नहीं जा सकते जिस प्रकार कि बालक और स्त्री। दिगम्बराचार्य द्वारा प्रस्तुत किया गया यह तर्क नितान्त निराधार और तथ्यविहीन है। प्रत्यक्ष देखते हैं कि स्त्रियां महासत्त्वशालिनी होती हैं। इसका साक्षात् प्रमाण है विशाल गुर्जर राज्य की राजमाता महादेवी मयणल्लमा। महासती सीता, माता कुन्ती, सुभद्रा, आदि महासत्त्वशालिनी नारी रत्नों के अतुल साहस और अनुपम शौर्य के आख्यान न केवल हमारे धर्मशास्त्रों में ही, अपितु अन्यान्य धर्मों के प्रामाणिक रूप से प्रसिद्ध आर्षग्रन्थों में भी पड़े हैं। क्या हमारी इस न्यायवादिनी राज्यसभा में कोई एक भी ऐसा व्यक्ति है जो सीता, कुन्ती आदि महासतियों और गुर्जर राज्य की राज्यमाता मयणल्लमा को तुच्छसत्त्वा सिद्ध करने की धृष्टता करने को उद्यत हो। मैं समझता हूं कि मेरे माननीय मित्र श्री कुमुदचन्द्र भी इस प्रकार का दुस्साहस नहीं कर सकते। जहां तक स्त्री मुक्ति का प्रश्न है—मरुदेवी माता की मुक्ति का आदर्श उदाहरण हमारे धर्मशास्त्रों में स्पष्ट रूप से उसी प्रकार देखा जा सकता

है जिस प्रकार से दर्पण में अपना मुख। जहां तक बालक की मुक्ति का प्रश्न है बालक अतिमुक्तक साधु ने श्रमण भगवान् महावीर का शिष्यत्व स्वीकार कर मुक्ति प्राप्त की। यह हमारे धर्मशास्त्रों में सुस्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है। इसके साथ ही यह देखा गया है कि अनेक स्त्रियां तो पुरुषों की अपेक्षा भी अत्यधिक महासत्त्वशालिनी होती हैं। महासत्त्वशालिनी होने के कारण ही अनन्त-अनन्त स्त्रियां अतीत में मुक्ति को प्राप्त कर चुकी हैं। वर्तमान में भी पंचमहाविदेह क्षेत्रों में मुक्त होती हैं और अनन्त भविष्यत् काल में भी अनन्त-अनन्त स्त्रियां स्त्री भव में ही मोक्ष को प्राप्त करती रहेंगी। मेरा यह पक्ष न केवल सबल युक्तियों से ही अपितु शास्त्रों द्वारा भी सम्यग् रूप से सुस्पष्टतः परिपुष्ट है।"

दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र ने अपने प्रतिपक्षी देवसूरि द्वारा रखे गये पक्ष को वितथ सिद्ध करने की कोई सबल युक्ति न देख राज सभा के समक्ष प्रश्न किया :—
"क्या कहा ? क्या कहा ?"

महावादी देवसूरि ने दूसरी बार पुनः अपने पक्ष को उसी रूप में रखा। इस पर भी दिगम्बराचार्य ने फिर कहा :—"क्या कहा ? क्या कहा ?"

इस पर देवसूरि ने सिंह गर्जन के समान घनरवगम्भीर उच्च स्वर में अपने पक्ष को तीसरी बार पुनः राज्य सभा के समक्ष प्रस्तुत किया।

तीसरी बार देवसूरि द्वारा अपने पक्ष के प्रस्तुत किये जाने के उपरान्त भी उसका कोई समीचीन उत्तर मस्तिष्क में न आने पर किंकर्त्तव्यविमूढ़ की भांति कुमुदचन्द्र ने कहा :—"मेरे प्रतिवादी के इस कथन को कटित्र (पट्ट अथवा पट्टी) में लिख दिया जाय।"

प्रमुख निर्णायक, राजसभा के सभासद् महर्षि उत्साह ने महाराज सिद्धराज जयसिंह के अभिवादनपूर्वक सभासदों को सम्बोधित करते हुए निर्णायक स्वर में कहा :—"दिगम्बराचार्य श्री कुमुदचन्द्र की वाणी वस्तुतः मुद्रित अर्थात् गूंगी हो गई प्रतीत हो रही है। श्वेताम्बराचार्य श्री देवसूरी ने दिगम्बराचार्य श्री कुमुदचन्द्र पर शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त कर ली है।"

महाराज सिद्धराज जयसिंह ने महर्षि उत्साह के कथन और सभी सभासदों की मुखमुद्रा से अभिव्यक्त अभिमत का अनुमोदन करते हुए तत्काल देवसूरि को विजयी घोषित किया और श्री केशव को जयपत्र लिखने का आदेश दिया।

चालुक्यराज के आदेश का तत्काल पालन किया गया और महाराजाधिराज सिद्धराज जयसिंह ने स्वयं अपने हाथ से वह जयपत्र देवसूरि को समर्पित किया।

जयपत्र लेते हुए संसार के सभी प्राणियों पर समभाव रखने वाले देवसूरि ने चालुक्यराज से निवेदन किया :—"महाराज ! शास्त्रार्थ में वादी की पराजय हो

उसके लिये सबसे बड़ा अपमान है। इसलिये अब दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र का किसी की ओर से किंचित्मात्र भी तिरस्कार नहीं किया जाय।"

सिद्धराज जयसिंह ने कहा :—"महर्षिन् ! आपके उदार आदेश के अनुसार ही सब कुछ किया जायगा।"

देवसूरि की अद्भुत वादशक्ति, उनके तर्क कौशल और प्रकाण्ड पांडित्य पर अपार हर्ष प्रकट करते हुए सिद्धराज जयसिंह ने एक लाख स्वर्णमुद्राओं का तुष्टि-दान देवसूरि को प्रदान करना चाहा किन्तु देवसूरि ने विपुल द्रव्यदान को अस्वीकार करते हुए कहा :—"राजन् ! हम निर्ग्रन्थ निस्पृह साधुओं के लिये द्रव्य का स्पर्श करना तक निषिद्ध है।"

तदनन्तर देवसूरि राजा एवं राजसभा से विदा ले अपने अनुयायियों के विशाल जन-समूह के बीच अपने उपाश्रय की ओर प्रस्थित हुए। चालुक्यराज के आदेश से राजकीय ठाट-बाट के साथ विविध वाद्य-यन्त्रों के घोष के बीच राज्यसभा के सभासद् जयघोष करते हुए महोत्सवपूर्वक देवसूरि को उनके उपाश्रय तक पहुंचाने गये।

दो महान् आचार्यों के बीच हुए इस शास्त्रार्थ के समय कलिकाल सर्वज्ञ के विरुद से विभूषित श्री हेमचन्द्राचार्य भी उपस्थित थे।[1] उन्होंने देवसूरि की इस विजय के उपलक्ष्य में निम्नलिखित रूप में अपने उद्गार अभिव्यक्त किये :—

> यदि नाम कुमुदचन्द्रं नाजेष्यद् देवसूरिरहिमरुचिः।
> कटिपरिधानमधास्यत् कतमः श्वेताम्बरो जगति ॥२५१॥

अर्थात् यदि महाप्रतापी देवसूरि कुमुदचन्द्र को पराजित नहीं करते तो इस आर्यधरा पर क्या कोई श्वेताम्बर अपनी कटि पर वस्त्र धारण कर सकता था ?

इस विजय के उपलक्ष में श्री उदयप्रभसूरि ने भी अपने निम्नलिखित उद्गार अभिव्यक्त किये :—

> भेजेऽवकीर्णितां नग्नः कीर्तिकन्यामुपार्जयन्।
> तां देवसूरिराच्छिद्य तं निर्ग्रन्थं पुनर्व्यधात् ॥

अर्थात् कीर्त्ति रूपी कन्या को उपार्जित कर नग्न आचार्य कुमुदचन्द्र ने अपनी नग्नता को ढंक लिया किन्तु देवसूरि ने उस कीर्ति कन्या की धज्जियां उड़ाकर पुनः उसे पूर्णतः नग्न बना दिया।

---

१. प्रबन्ध चिन्तामणि १०८-१०६

मेरुतुङ्गसूरि आदि अनेक ग्रन्थकारों ने देवसूरि की इस विजय पर अपने हर्षोद्गार अभिव्यक्त कर इस घटना को एक ऐतिहासिक घटना का रूप प्रदान किया है।

प्रबन्ध चिन्तामणि के उल्लेखानुसार स्वयं राजा जयसिंह शास्त्रार्थ में विजयी देवसूरि को अपनी राज्यसभा से उनके उपाश्रय तक पहुंचाने पूरे राजकीय ठाट-बाट के साथ गया था।[1]

अंचलगच्छीय पुरातन आचार्य श्री मेरुतुङ्ग द्वारा विक्रम सं० १३६१ में रचित 'प्रबन्धचिन्तामणि' के उल्लेखानुसार अनहिलपुर पत्तन की राजसभा में महाराजा सिद्धराज जयसिंह की विद्यमानता में हुए शास्त्रार्थ में देवसूरि द्वारा दिगम्बराचार्य जब पराजित कर दिया गया तो चालुक्यराज ने पराजित हुए दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र को प्रासाद के अपद्वार (कूकरा बारी) से बाहर निकलवा दिया और इस घोर अपमान एवं पराजय के दुःख के परिणामस्वरूप उसका हृदय फट गया। और वह तत्काल इहलीला समाप्त कर परलोक को प्रयाण कर गया। प्रबन्धचिन्तामणि का एतद्विषयक वह उल्लेख इस प्रकार है :—

"अथ प्रथममेव 'वाचस्ततो मुद्रिता' इति स्वयं पठितमिति स्वयमपशब्द-प्रभावात्तदा तु प्रादुर्भूतमुखमुद्रः। श्री देवाचार्येण निर्जितोऽहमिति स्वयमुच्चरन् श्री सिद्धराजेन पराजितव्यवहारादपद्वारेणापसार्यमाणः संभवत्पराभवाविर्भावाद्हृद्विस्फोटं प्राप्य विपेदे।"[2]

आचार्य मेरुतुङ्ग द्वारा रचित प्रबन्ध चिन्तामणि से २७ वर्ष पूर्व रच्व किये गये प्रभावकचरित्र में उल्लेख है कि देवसूरि के निवेदन पर सिद्धराज जयसिंह ने उनके निर्देश को शिरोधार्य करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा कि पराजित हुए कुमुदचन्द्र के साथ किसी भी प्रकार का अपमानजनक अथवा अभद्र व्यवहार नहीं किया जायेगा। इसके पूर्व ही प्रभावकचरित्र में यह स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया है कि दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र वस्तुतः महाराज जयसिंह के मातामह अर्थात् राजमाता मयणलदेवी के पिता कर्णाटकेश्वर जयकेशी के गुरु थे। इसी कारण राजमाता मयणलदेवी का झुकाव भी शास्त्रार्थ से पूर्व कुमुदचन्द्र की ओर ही था।[3] इस प्रकार की स्थिति में और विशेषतः राजमाता मयणलदेवी की विद्यमानता में तथा देवसूरि के समक्ष पत्तनाधीश द्वारा यह स्वीकार कर लिये जाने पर कि पराजित कुमुदचन्द्र के साथ किसी भी प्रकार का अपमानजनक व्यवहार नहीं किया जायगा, मेरुतुंग आचार्य द्वारा किये गये "सिद्ध नरेश्वर ने कुमुदचन्द्र को अपद्वार से निकलवाया।"

---

१. प्रबन्ध चिन्तामणि, पृष्ठ १११
२. प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ० १११
३. वही, पृष्ठ १०८

इस उल्लेख की प्रामाणिकता वस्तुतः विचारणीय हो जाती है। प्रबन्ध चिन्तामणि से पूर्व की रचना प्रभावक चरित्र में यह भी उल्लेख है कि राज्यसभा में हुए शास्त्रार्थ में देवसूरि से पराजित हो जाने के उपरान्त भी कुमुद चन्द्राचार्य ने देवसूरि से अपनी पराजय का प्रतिशोध लेने में किसी भी प्रकार की कोर कसर नहीं रखी। उसने मन्त्र-तन्त्र बल का सहारा ले देवसूरि के उपाश्रय में रात्रि के समय चूहों की एक सेना-सी उत्पन्न कर उनके शिष्यों तथा स्वयं उनके वस्त्रों तथा ओघा आदि धर्मोपकरणों की केवल कुतरन मात्र अवशिष्ट रखी। प्रातःकाल चूहों की इस लीला को देखकर श्रमणों ने देवसूरि को चूहों द्वारा की गई ध्वंस लीला दिखाई। एक क्षण मौन रह कर देवसूरि ने कहा—"अच्छा! वह दिगम्बराचार्य हम सबको भी स्वयं की भांति नग्न करना चाहता है।"

उन्होंने अपने शिष्य को आदेश देकर लवण से भरा एक घड़ा मंगवाया और एक कपड़े से उस घट का मुख अच्छी तरह बांध दिया। उस घड़े को अभिमन्त्रित कर उपाश्रय के एकान्त स्थान में एक ओर रखवा दिया। तदनन्तर देवसूरि ने अपने श्रमणसमूह को आश्वस्त करते हुए कहा—"आप लोग किसी प्रकार की चिन्ता न करें। कुछ ही घटिकाओं के अन्दर एक बड़ा कौतुक होने वाला है। उन्हें शीघ्र ही ज्ञात हो जायगा कि उनके द्वारा किये गये अपकार का कितना कड़वा फल उन्हें मिल रहा है।"

नमक से पूर्ण घट को अभिमन्त्रित कर एक ओर रखे पौन प्रहर भी व्यतीत नहीं हुआ था कि दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र के श्रावक सांजलि शीष झुकाये देवसूरि के समक्ष उपस्थित हुए और करुण स्वर में प्रार्थना करने लगे:—"भगवन्! कृपा कर हमारे गुरु को भीषण बाधा से मुक्त कर दो।"

देवसूरि ने दिगम्बराचार्य के उपासकों से प्रश्न किया—"मेरे उन बन्धु को क्या बाधा हो गई है, किस प्रकार का कष्ट हो गया है। मुझे बताओ।" इस प्रकार स्थिति से नितान्त अनभिज्ञ होने का अभिनय-सा करते हुए देवसूरि ने स्पष्ट रूप से उन उपासकों को कह दिया कि कुमुदचन्द्र आचार्य की बाधा के विषय में उन्हें कुछ ज्ञात नहीं है। हताश हो दिगम्बराचार्य के उपासक मठ की ओर लौट गये। डेढ़ प्रहर बीतते-बीतते आचार्य कुमुदचन्द्र स्वयं अपने शिष्य समूह के साथ देवसूरि के समक्ष उपस्थित हुए। देवसूरि ने उन्हें बाहुपाश में आबद्ध कर अपने अर्द्धासन पर बिठाया और बड़े मृदु स्वर में उनसे पूछा—"मेरे भाई! तुम्हें किस प्रकार की पीड़ा है? मुझे ज्ञात कराओ।"

कुमुदचन्द्र आचार्य ने अनुनय भरे विनम्र स्वर में कहा:—"आप मुझ पर इतना प्रगाढ़ क्रोध मत करो। मुझे पीड़ा से मुक्त करो। मुझे निरोध की पीड़ा से विमुक्त करो अन्यथा वायु और मूत्र के निरोध के कारण सुनिश्चित है कि मेरी कुछ ही क्षणों में मृत्यु हो जायगी।"

कुमुदचन्द्र के इस प्रकार के दीन वचन सुनकर देवसूरि ने कहा :—"आप अपने शिष्य परिवार सहित शीघ्र ही मेरे उपाश्रय के बाहर जाकर ठहरिये। मैं कुछ उपाय करता हूं।"

देवसूरि का इस प्रकार का आदेश प्राप्त होते ही आचार्य श्री कुमुदचन्द्र अपने उपासक परिवार सहित उपाश्रय के बाहर जाकर ठहर गये। उन सब के उदर वायु से ओत-प्रोत मशक की तरह फूले हुए थे। उन सवके बाहर जाते ही देवसूरि ने अपने एक शिष्य को आदेश देकर नमक से भरा हुआ घट मंगवाया और उसमें बांधे हुए वस्त्रखण्ड को दूर हटा उसके मुख को खुला कर दिया। तत्काल दिगम्बराचार्य और उनके शिष्य वर्ग का निरोध दूर हो गया। और प्रचुर मात्रा में प्रवाहित हुए उनके मूत्र प्रवाह को देखकर सभी उपस्थित दर्शक आश्चर्याभिभूत हो उठे।

निरोध के दूर होते ही कुमुदचन्द्र और उनके शिष्य वर्ग को असीम शान्ति का अनुभव हुआ। किन्तु कुमुदचन्द्र अपने पराभव के शोक से सन्तप्त होकर पाटन से उसी प्रकार अदृश्य हो गये जिस प्रकार कि अमावस्या की रात्रि में चन्द्र।

देवसूरि की विजय और विद्वत्ता से प्रसन्न हो सिद्धराज जयसिंह, जो उन्हें एक लाख स्वर्ण मुद्राएं तुष्टिदान के रूप में देना चाहते थे, उस राशि के देवसूरि द्वारा अस्वीकार किये जाने के अनन्तर अपने मन्त्रियों के परामर्श से उन्होंने भगवान् ऋषभदेव का एक विशाल मन्दिर उस धन-राशि के व्यय से वनवाया। विक्रम सम्वत् ११८३ में देवसूरि ने अन्य तीन आचार्यों के साथ उस मन्दिर में भगवान् आदिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा की।

देवसूरि के अद्भुत अतिशय और प्रताप का उल्लेख करते हुए प्रभावक चरित्रकार ने लिखा है कि एक समय देवसूरि अपने संघ के साथ पिप्पलवाटक नामक विकट वन में विहारचर्या करते हुए जा रहे थे। उस समय एक भूखा केशरी सिंह घोर गर्जना के साथ छलांग भरता हुआ संघ की ओर बढ़ा। देवसूरि ने तत्काल आगे बढ़कर पृथ्वी पर एक रेखा खींच दी और सिंह तत्काल जिस ओर से आया था उसी ओर लौट गया, और संघ ने आगे की ओर विहार किया।

हिंस्र प्राणियों से संकुल उस भीषण निर्जन वन में लम्बे विहार के कारण बालक एवं वृद्ध वय के जो अनेक संत संघ में साथ थे, वे भूख और प्यास से पीड़ित एवं क्लिष्ट हो उठे। उस निर्जन वन में न तो उनकी भूख और प्यास को शान्त करने का ही कोई उपाय था और न वे क्षुधा तृषातुर बाल-वृद्ध सन्त आगे की ओर बढ़ने में ही सक्षम रह गये थे। इस प्रकार की संकटापन्न स्थिति में अपने आश्रितों की पीड़ा से द्रवित हो देवसूरि ने एकाग्र मन से शासनेश का स्मरण किया। यह देखकर सभी के आश्चर्य का पारावार न रहा कि पीछे की ओर से एक विशाल

सार्थ उनकी ओर आ रहा है। सूरिराट् और सन्त वृन्द के दर्शन करते ही सार्थवाह ने शकटों, अश्वों, ऊष्ट्रों, गजों और रथादि विविध वाहनों को रोक कर वहीं पड़ाव डाला और एषणीय अशन पानादि से सन्त वृन्द को प्रतिलाभित कर प्रभूत पुण्य का उपार्जन किया।

इस प्रकार प्रभावक चरित्र के उल्लेखानुसार देवसूरि के अतिशय से संघ पर आया हुआ एक प्राणापहारी परीषह तत्क्षण दूर हो गया।

आचार्य श्री देवसूरि ने प्रमाण नयतत्वालोक की रत्नाकरावतारिका नाम की टीका के ग्रन्थ रत्न की रचना कर जिनशासन के न्याय शास्त्र के भण्डार की उल्लेखनीय श्रीवृद्धि की।

इस प्रकार अपने पांडित्य, तर्क बल और आत्म बल से जिनशासन की महती प्रभावना कर आचार्य देवसूरि ने विक्रम सम्वत् १२२६ के श्रावण कृष्णा सप्तमी गुरुवार के दिन अपराह्न में भद्रेश्वर सूरि को अपना उत्तराधिकारी आचार्य नियुक्त कर अपनी ८३ वर्ष की आयु पूर्ण कर संलेखना संथारापूर्वक समाधि मरण का वरण कर स्वर्गारोहण किया। ८३ वर्ष की अपनी पूर्ण आयु में से आप ६ वर्ष तक गृहवास में, २२ वर्ष तक साधारण श्रमण पर्याय में और ५२ वर्ष तक आचार्य पद पर रहे।

देवसूरि को जैन वांग्मय में सर्वत्र वादि विरुद से विभूषित किया गया है। उनको वादी का विरुद किसने प्रदान किया इस सम्बन्ध में प्रभावक चरित्र के निम्नलिखित दो श्लोकों से स्पष्टत: यही प्रकट होता है कि महाराज सिद्धराज जयसिंह की सभा में देवसूरि से पराजय स्वीकार करते हुए स्वयं प्रतिवादी दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र ने राज सभा के समक्ष देवसूरि को महान् वादी के विरुद से विभूषित किया था। वे श्लोक इस प्रकार हैं :

अशक्नुवन्निति प्रत्युत्तरे देवगुरोस्तत:।
सवैलक्ष्यमथाहस्मानुत्तर: स दिगंबर: ।।२३६।।
महाराज ! महान् वादी देवाचार्य: किमुच्चते।
राजाह वद निस्तन्द्र: कथयिष्यामि विस्मृतम् ।।२३७।।

देवसूरि और दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र के बीच शास्त्रार्थ कितने दिन चला, इस सम्बन्ध में प्रभावक चरित्रकार ने कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। एतद्विषयक प्रभावक चरित्र के उल्लेख को देखने से पाठक को यही प्रतीत होता है कि सम्भवत: शास्त्रार्थ केवल एक दिन ही चला और वह भी कुछ ही घटिका पर्यन्त। इसके विपरीत आचार्य मेरुतुंगसूरि ने विक्रम सम्वत् १३६१ की अपनी ऐतिहासिक कृति प्रबन्ध चिन्तामणि में लिखा है :—

"........सिद्धराजसभ्येषु निषेधपरेष्वपि अप्रमेयप्रमेयलहरीभिस्तं प्रमाणाम्भोधौ मज्जयितुं प्रारब्धे षोड़शे दिने आकस्मिके देवाचार्यस्य कण्ठावग्रहे मान्त्रिकैः श्री यशोभद्रसूरिभिरतुल्यकुरुकुल्लादेवी प्रसादलब्धवरैस्तत्कण्ठपीठात्क्षणात्क्षपणककृतकार्मणानुभावात् केशचण्डुकः पातयांचक्रे। तच्चित्रनिरीक्षणाच्चतुरैः श्री यशोभद्रसूरिः श्लाघ्यमानः, कुमुदचन्द्रश्चामन्दं निन्द्यमानः प्रमोदविषादौ दधाते।........

"........अथ प्रथममेव वाचस्ततो मुद्रिता इति स्वयं पठितमिति स्वयमपशब्दप्रभावात्तदा तु प्रादुर्भूतमुखमुद्रः श्रीदेवाचार्येण निर्जितोऽहमिति स्वयमुच्चरन् श्री सिद्धराजेन पराजितव्यवहारादपद्वारेणापसार्यमाणः संभवत्पराभवाविर्भावादुद्विस्फोटं प्राप्य विपेदे ॥[1]

'प्रबन्ध चिन्तामणि' के उक्त उल्लेख में "प्रारब्धे षोडशे दिने" इस पद के प्रयोग से यह भली-भांति सिद्ध हो जाता है कि अपने समय के उन दो महान् आचार्यों के बीच पाटन की राज्य सभा में जो शास्त्रार्थ हुआ, वह सोलह दिन चला।

इन दोनों आचार्यों के बीच हुए शास्त्रार्थ के समय कलिकाल सर्वज्ञ विरुद विभूषित श्री हेमचन्द्र सूरि भी राजसभा में उपस्थित थे, यह तथ्य भी प्रबन्ध चिन्तामणि में स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया गया है। जो इस प्रकार है :—

"युवयोः को वादीति पृच्छन्, श्री देवसूरिभिस्तन्निराकरणायायं भवतः प्रतिवादीत्यभिहिते कुमुदचन्द्रः प्राह। मम वृद्धस्यानेन शिशुना सह को वाद इति तदुक्तिमाकर्ण्याहमेव ज्यायान् भवानेव शिशुः यो अद्यापि कटीदवरकमपि नादत्से निर्वसनं च। इत्थं राजा तयोर्वितण्डायां निषिद्धायामित्थं पणबन्धो मिथः समजनि पराजितैः श्वेताम्बरैर्दिगम्बरत्वमंगीकार्यम्।"

अर्थात् देवसूरि और हेमचन्द्राचार्य को एक आसन पर राज्यसभा में बैठे देखकर दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र ने प्रश्न किया :—"तुम दोनों में से वादी कौन है? "देवसूरि ने आचार्य हेमचन्द्र की ओर इंगित करते हुए कहा :—"आपके प्रतिवादी ये आचार्य हेमचन्द्र हैं। "इस पर आचार्य कुमुदचन्द्र ने व्यंग-हास्यपूर्वक कहा :— "इस शिशु के साथ मुझ जैसे वयोवृद्ध का शास्त्रार्थ वस्तुतः एक अद्भुत् प्रसंग ही है।"

प्रत्युत्पन्नमति आचार्य हेमचन्द्र ने आचार्य कुमुदचन्द्र की बात सुनते ही तत्काल कहा :—"महानुभाव ! आपसे तो मैं बड़ा ही हूं। मेरे समक्ष तो अभी

१. प्रबन्ध चिन्तामणिः पृष्ठ ११० व १११

वस्तुतः आप ही शिशु हैं क्योंकि आपने तो अभी तक कटिपट तो दूर कटिसूत्र (कणकती अथवा कन्दोरा) तक भी धारण नहीं किया है, शिशुवत् नितान्त नग्न ही हैं।" आचार्य हेमचन्द्र के प्रसंगोपात्त इस उत्तर से राज्य सभा में अट्टहास गूंज उठा। महाराज जयसिंह ने तत्काल सभ्यों को शान्त करते हुए दोनों पक्षों से इस बात का पण करवाया कि यदि श्वेताम्बर शास्त्रार्थ में पराजित हो जाएं तो दिगम्बरत्व स्वीकार कर लें और यदि दिगम्बर पराजित हो जाएं तो वे पट्टण राज्य की सीमा से बाहर देश त्याग कर चले जाएं।"

आचार्य कुमुदचन्द्र और देवसूरि के बीच हुए इस शास्त्रार्थ की ऐतिहासिकता को दिगम्बर परम्परा के विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। 'जैन धर्म का प्राचीन इतिहास' द्वितीय भाग में इसके लेखक श्री परमानन्द शास्त्री ने इस सम्बन्ध में लिखा है :—

"प्रस्तुत कुमुदचन्द्र वे हैं, जिनका गुजरात के जयसिंह सिद्धराज की सभा में विक्रम सम्वत् ११८१ में श्वेताम्बरीय विद्वान् वादिसूरि देव (वादिदेवसूरि) के साथ वाद हुआ था।"

वादिदेवसूरि के जीवन वृत्त को "प्रभावक चरित्र" और "प्रबन्ध चिन्तामणि" के आधार पर यथातथ्य रूप से प्रस्तुत करने के पीछे हमारा एकमात्र लक्ष्य यही है कि जिनशासन के प्रति प्रगाढ़ प्रीति और निष्ठा रखने वाले प्रत्येक पाठक को पुरातन काल की जैन संघों की स्थिति का भली-भांति परिचय प्राप्त हो जाय कि उस समय समाज में विषाक्त वातावरण एवं पारस्परिक विद्वेष किस प्रकार अपनी पराकाष्ठा को पार कर चुका था। इसी प्रकार के विद्वेषपूर्ण वातावरण के कारण जिनशासन की जो घातक क्षति हुई है, भविष्य में उसकी पुनरावृत्ति न हो।

इनके आचार्यकाल में विक्रम सम्वत् १२०४ में खरतरगच्छ, विक्रम सम्वत् १२१३ में अंचल गच्छ, विक्रम सम्वत् १२२६ में सार्द्धपौर्णमीयक गच्छ उत्पन्न हुए। इनके स्वर्गस्थ होने के अनन्तर विक्रम सम्वत् २१५० में आगमिक गच्छ उत्पन्न हुआ।

श्री वादिदेवसूरि बड़ गच्छ (वृहद् गच्छ) के महान् प्रभावक आचार्य थे। आपके गुरु श्री मुनिचन्द्रसूरि महान् तपस्वी थे। तपागच्छ पट्टावली में मुनिचन्द्रसूरि को श्रमण भगवान् महावीर का चालीसवां पट्टधर बताया गया है। इस पट्टावली में आपके बड़े गुरु भ्राता अजित देवसूरि को इसी पट्टावली में प्रभु महावीर का इकतालीसवां पट्टधर बताया गया है। आपके गुरु मुनिचन्द्रसूरि के गुरु भ्राता चन्द्रप्रभसूरि ने विक्रम सम्वत् ११४९ में पौर्णमीयक गच्छ की स्थापना की।

उपाध्याय श्री धर्मसागर गरिण द्वारा रचित स्वोपज्ञ वृत्ति समलंकृत 'तपागच्छ पट्टावली सूत्रम्' में आपके सम्बन्ध में निम्नलिखित उल्लेख उपलब्ध होता है :—

तथा श्री मुनिचंद्रसूरिशिष्या: श्री अजितदेवसूरि वादिश्री देवसूरि प्रभृतय: ।। तत्र वादि श्री देवसूरिभि: श्रीमदणहिल्लपुरपत्तने जयसिंह देवराजस्याऽनेकविद्वज्जनकलितायां सभायां चतुरशीतिवादलब्धजययशसं दिगंबरचक्रवर्तिनं वादलिप्सुं कुमुदचंद्राचार्यं वादे निर्जित्य श्रीपत्तने दिगंबर-प्रवेशो निवारितोऽद्यापि प्रतीत: ।। तथा वि० चतुरधिकद्वादशशत १२०४ वर्षे फलवर्धिग्रामे चैत्य बिंबयो: प्रतिष्ठा कृता । तत्तीर्थं तु संप्रत्यपि प्रसिद्धं ।। तथा आरासणे च श्री नेमिनाथप्रतिष्ठा कृता । चतुरशीतिसहस्र ८४००० प्रमाण: स्याद्वादरत्नाकरनामा प्रमाणग्रन्थ: कृत: ।। येभ्यश्च यन्नाम्नैव ख्यातिमत् चतुर्विंशतिसूरिशाखं बभूव ।। एषां च वि० चतुस्त्रिंशदधिके एकादशशत ११३४ वर्षे जन्म, द्विपंचाशदधिके ११५२ दीक्षा, चतु: सप्तत्यधिके ११७४ सूरिपदं, षड्विंशत्यधिकद्वादशशत १२२६ वर्षे श्रावण वदि सप्तम्यां ७ गुरौ स्वर्ग: ।।[1]

उपाध्याय श्री रविवर्द्धनगरिण द्वारा रचित 'पट्टावली सारोद्धार' में भी श्री देवसूरि और उनके गुरु श्री मुनिचन्द्रसूरि के सम्बन्ध में इसी से मिलता-जुलता निम्नलिखित उल्लेख है :—

"(४०) श्री यशोभद्रसूरि श्री नेमिचन्द्रसूरिपट्टे चत्वारिंशत्तम: श्री मुनिचन्द्रसूरि: ।। स च यावज्जीवं सौवीरपायी प्रत्याख्यातसर्वविकृतिक: अनेकांतजयपताकापंजिकोपदेशपदवृत्यादिकर्ता, तार्किकशिरोमरिण: संवत् ११७८ वर्षे स्वर्गभाग् ।

अत्र च संवत् ११५९ वर्षे पौर्णमियकमतोत्पत्ति: तत्प्रतिबोधाय च श्री मुनिचन्द्रसूरिभि: पाक्षिकसप्तति: कृता ।

तथा श्री मुनिचन्द्रसूरिशिष्य: श्री वादिदेवसूरिस्तै: श्रीमदणहिल्लपुर-पत्तने श्री सिद्धराज जयसिंहसभायां वादे कुमुदचन्द्राचार्यं निर्जित्य श्री पत्तननगरे दिगंबरप्रवेशो निवारित: तथा सं० १२०४ वर्षे फलवर्द्धिग्रामे चैत्यबिंबयो: प्रतिष्ठा कृता: तथा आरासणे च श्री नेमिनाथप्रतिष्ठाकृता, तथा ८४००० प्रमाण: स्याद्वादरत्नाकर नामा प्रमाणग्रंथ: कृत:, स च वादिदेवसूरि: संवत् १२१६ वर्षे स्वर्गभाग् ।

तस्मिन् समये श्री देवचन्द्रसूरिशिष्य: त्रिकोटिग्रन्थकर्ता श्री हेमचन्द्र-सूरि: तस्य च संवत् ११४५ वर्षे जन्म सं० ११५० वर्षे व्रतं सं० ११६६ वर्षे सूरिपदं सं० १२२९ वर्षे स्वर्गगति: ।।४०।।

---

१. पट्टावली समुच्चय: पृष्ठ ५५

(४१) श्रीमुनि सूरिचन्द्रपट्टे एकचत्वारिंशत्तमः "श्री अजितदेव सूरिः" ।।४१।।

(पट्टावली समुच्चयः पृष्ठ १५३ व १५४)

'वृहद्गच्छ गुर्वावली' में वादिदेवसूरि को इकतालीसवां पट्टधर और आपके गुरु श्री मुनिचन्द्रसूरि को चालीसवां पट्टधर बताया गया है। तपागच्छ पट्टावली के उपर्युल्लिखित उद्धरण में देवसूरि के नाम से चौबीस शाखाएं प्रसिद्ध होने का उल्लेख है। उस उल्लेख से और वृहद् गच्छ गुर्वावली में मुनिचन्द्रसूरि के पश्चात् उनके पट्टधर वादिदेवसूरि का नामोल्लेख होने तथा तपागच्छ पट्टावली में मुनिचन्द्रसूरि के पश्चात् उनके पट्टधर के रूप में अजितदेवसूरि का उल्लेख होने से स्पष्टतः यह प्रमाणित होता है कि मुनिचन्द्रसूरि के पश्चात् उनके वड़े शिष्य श्री अजितदेवसूरि और उनके दूसरे शिष्य वादिदेवसूरि से दो भिन्न-भिन्न शाखाएं प्रचलित हुईं। वृहद्गच्छ गुर्वावली[1] में इस गच्छ के इकतालीसवें पट्टधर वादिदेवसूरि के पश्चात् बयालीसवें पट्टधर से लेकर अडसठवें पट्टधर तक जो पट्टधरों के नाम दिये गये हैं, वे उपाध्याय धर्मसागर गणि द्वारा रचित 'तपागच्छ पट्टावली[2]' में उल्लिखित इकतालीसवें पट्टधर से लेकर अठ्ठावनवें पट्टधर तक के नामों से नितान्त भिन्न हैं। इससे भी यही तथ्य प्रकाश में आता है कि मुनिचन्द्र के शिष्यों से दो भिन्न-भिन्न शाखाएं प्रचलित हुईं।



१. पट्टावली पराग संग्रह (पं० श्री कल्याणविजयजी महाराज कृत) पृष्ठ १३१ व २३२।
२. वही, पृष्ठ १४४ से १५५

महान् वृत्तिकार आचार्य मलयगिरि

आचार्य मलयगिरि वीर निर्वाण की सत्रहवीं तदनुसार विक्रम की बारहवीं शताब्दी के एक महान् वृत्तिकार आचार्य हुए हैं। अपनी लगभग एक लाख ९६ हजार ६०० से भी अधिक श्लोक प्रमाण की वृत्तियों में आपने अपना कोई परिचय नहीं दिया है। अपनी कृतियों के अन्त में—

"यदवापि मलयगिरिणा, सिद्धि तेनाश्नुतां लोकः।"

"यदवापि मलयगिरिणा, साधुजनस्तेन भवतु कृती।"

"जीवाजीवाभिगमं विवृण्वता वापि मलयगिरिणेह। कुशलं तेन लभन्तां, मुनयः सिद्धान्त सद्बोधम्।"

इस परिचय के अतिरिक्त मलयगिरि ने और कोई परिचय नहीं दिया है।

श्री मलयगिरि द्वारा निर्मित आगम ग्रन्थों पर निम्नलिखित वृत्तियां वर्तमान में उपलब्ध हैं :—

नाम ग्रन्थ	श्लोक प्रमाण
१. भगवती सूत्र द्वितीय शतक वृत्ति	३७५०
२. राजप्रश्नीयोपांग टीका	३७००
३. जीवाभिगमोपांग टीका	१६०००
४. प्रज्ञापनोपांग टीका	१६०००
५. चन्द्रप्रज्ञप्त्युपांग टीका	९५००
६. सूर्यप्रज्ञप्त्युपांग टीका	९५००
७. नन्दीसूत्र टीका	७७३२
८. व्यवहारसूत्रवृत्ति	३४०००
९. बृहत्कल्पपीठिका वृत्ति (अपूर्ण)	४६००
१०. आवश्यकवृत्ति (अपूर्ण)	१८०००
११. पिंडनिर्युक्ति टीका	६७००
१२. ज्योतिष्करंड टीका	५०००
१३. धर्मसंग्रहणी वृत्ति	१००००
१४. कर्मप्रकृतिवृत्ति	८०००
१५. पंचसंग्रहवृत्ति	१८८५०

१६. षडशीतिवृत्ति	२०००
१७. सप्ततिका वृत्ति	३७८०
१८. बृहत्संग्रहणी वृत्ति	५०००
१९. बृहत्क्षेत्रसमास वृत्ति	९५००
२०. मलयगिरिशब्दानुशासन	५०००

इन उपलब्ध वृत्तियों के अतिरिक्त आचार्य मलयगिरि द्वारा अपनी जिन कृतियों का नामोल्लेख तो अपनी कृतियों में किया गया है किन्तु वर्तमान में वे ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं :—

आचार्य मलयगिरि की अनुपलब्ध कृतियां

१. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति टीका
२. ओघनिर्युक्ति टीका
३. विशेषावश्यक टीका
४. तत्वार्थाधिगम सूत्र टीका
५. धर्मसारप्रकरण टीका
६. देवेन्द्र नरेन्द्र प्रकरण टीका

आचार्य मलयगिरि किस गण गच्छ अथवा कुल के श्रमणोत्तम थे, इस सम्बन्ध में, प्रमाणाभाव में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। आपने अपनी कृति मलयगिरिशब्दानुशासन के प्रारम्भ में—

> "एवं कृतमंगलरक्षाविधानः परिपूर्णमल्पग्रन्थ लघुपायः
> आचार्य मलयगिरिः शब्दानुशासनमारभते।"

इस प्रकार लिखकर यह स्पष्ट कर दिया है कि वे एक श्रमण परम्परा के आचार्य पद पर अधिष्ठित थे।

यद्यपि इन्होंने अपनी एक भी कृति में अपने समय का उल्लेख नहीं किया है तथापि आपकी एक कृति आवश्यकवृत्ति में आपने यह लिखकर—

"तथा चाहुःस्तुतिषु गुरवः—

अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्, यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः।
नयानशेषानविशेषमिच्छन्, न पक्षपाती समयस्तथा ते॥

अपने समय के सम्बन्ध में स्पष्ट-रूपेण प्रकाश डाल दिया है।

यह कारिका आचार्य हेमचन्द्र की "अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका" की है। आचार्य हेमचन्द्रसूरि के प्रति "गुरवः" इस अति सम्मानपूर्ण शब्द के प्रयोग से यह स्पष्टतः प्रकट कर दिया है कि कलिकाल सर्वज्ञ के विरुद से विभूषित आचार्य हेमचन्द्रसूरि के वे समकालीन आचार्य थे, हेमचन्द्रसूरि के प्रकांड पांडित्य का उन पर गहरा प्रभाव था और वे उनका गुरु के समान आदर करते थे। आचार्य मलयगिरि द्वारा आगम ग्रन्थों पर निर्मित इन अति महत्त्वपूर्ण टीकाओं से प्रत्येक विज्ञ के मन मस्तिष्क पर उनके अति गहन तलस्पर्शी प्रकांड पांडित्य की छाप स्पष्ट-रूपेण अंकित हो जाती है। उनकी शैली में प्रौढ़ता प्रांजलता और प्रासादिकता प्रस्फुटित-सी होती प्रतीत होती है।

आचार्य मलयगिरि की उपलब्ध एवं अनुपलब्ध लगभग दो-ढाई लाख श्लोक परिमाण कृतियों से प्रभावित हो विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के ग्रन्थकार श्री जिनमंडन गणि ने अपनी कृति "कुमारपाल प्रबन्ध" में आचार्य मलयगिरि के सम्बन्ध में एक चमत्कारिक घटना का उल्लेख किया है। उसमें यह बताया गया है कि आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने अपने मुनि जीवनकाल में गुरु की आज्ञा प्राप्त कर अपने से भिन्न गच्छीय देवेन्द्रसूरि एवं मलयगिरि के साथ विद्याओं में निष्णातता प्राप्त करने के उद्देश्य से गौड प्रदेश की ओर विचरण किया। अपने लक्ष्य-स्थल की ओर बढ़ते हुए इन तीनों ने "खिल्लूर" नामक ग्राम में एक रुग्ण साधु को देखा। उन तीनों मुनियों ने उस रोग-ग्रस्त साधु की भली-भांति सेवा सुश्रूषा की। एक दिन उस व्याधिग्रस्त साधु ने रैवतक तीर्थ (गिरनार) की यात्रा करने की उन तीनों मुनियों के समक्ष अपनी उत्कट अभिलाषा व्यक्त की। रुग्ण साधु की इच्छापूर्त्ति हेतु हेमचन्द्र, देवेन्द्र और मलयगिरि इन तीनों साधुओं ने ग्रामवासियों को समझा-बुझाकर डोली की व्यवस्था की। तदनन्तर वे तीनों आवश्यक कार्यों से निवृत्त हो रात्रि के समय यथा-समय सो गये। प्रातःकाल जब उन तीनों मुनियों की निद्रा भंग हुई तो यह देखकर उनके आश्चर्य का पारावार नहीं रहा कि वे गिरनार पर्वत पर बैठे हुए हैं। उसी समय शासनाधिष्ठात्री देवी ने उनके समक्ष उपस्थित होकर कहा :—"आप तीनों मुनियों की परोपकार वृत्ति श्लाघनीय है। आप तीनों के अभीप्सित कार्य यहीं निष्पन्न हो जाएंगे। अब आपको अन्यत्र कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है।" तदनन्तर उन तीनों मुनियों को अनेक मन्त्र औषधियां आदि प्रदान कर शासननायिका देवी तिरोहित हो गई। तदनन्तर उन तीनों को गुरु ने सिद्धचक्र मन्त्र दिया। उन्होंने उस मन्त्र की आराधना-साधना की। उनकी आराधना से प्रसन्न हो मन्त्र के अधिष्ठाता विमलेश्वर देव ने उन तीनों को इच्छानुसार वर मांगने को कहा। हेमचन्द्रसूरि ने राजा को प्रतिबोध देने का, देवेन्द्रसूरि ने एक ही रात्रि के अन्दर कान्तिनगरी से मन्दिर उठाकर सेरिसक ग्राम में प्रतिष्ठापित करने का और मलयगिरि ने जैन सिद्धान्तों की वृत्तियां निर्माण करने का वर मांगा। विमलेश्वरदेव उन्हें अभीप्सित वरदान देकर अन्तर्धान हो गया।

देव के वरदान से शास्त्रों का पारगामी विद्वान् बनने और उन पर टीकाओं का निर्माण करने की क्षमता प्राप्त हो सकती है अथवा नहीं यह तो स्वयं विज्ञों के विचार का विषय है। अद्भुत प्रतिभा के धनी मेधावी मनस्वीजन कठिन से कठिन-तर कार्य को सम्पन्न करने में सफलकाम होते हैं तो जन साधारण द्वारा इस प्रकार की कल्पना का किया जाना प्रायः सहज ही हो जाता है कि उस महापुरुष की पीठ पर किसी दैवी शक्ति का वरद हस्त था।

महामनस्वी आचार्य मलयगिरि ने आगम साहित्य पर बीस वृत्तियों का निर्माण कर मुमुक्षुओं के साधनापथ को वस्तुतः प्रशस्त किया है। उनके इस महान् कार्य के लिये जैन जगत् उनका चिरकाल तक कृतज्ञ रहेगा।

—: ० :—

आचार्य अभयदेव मलधारी

आचार्य मलधारी 'अभयदेव' विक्रम की वारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से लेकर पश्चिमार्द्ध के प्रथम दशक तक की बीच की अवधि के एक महान् प्रभावक आचार्य हुए हैं। आप कौटिक गण के प्रश्नवाहन कुल की मध्यम शाखा के हर्षपुरीय नामक गच्छ के यशस्वी आचार्य थे। उत्तरवर्त्ती काल के कतिपय अपुष्ट उल्लेखों के अनुसार आपका विहार-क्षेत्र अति विशाल था।

आपके जन्मकाल, जन्म स्थान, माता-पिता, कुल एवं दीक्षाकाल के सम्वन्ध में प्रकाश डालने वाली अद्यावधि कोई सामग्री उपलब्ध न होने के कारण कुछ भी नहीं कहा जा सकता। आप हर्षपुरीय गच्छ के आचार्य जयसिंहसूरि के शिष्य थे। आपके प्रशिष्य श्री श्रीचन्द्रसूरि द्वारा रचित मुनि सुव्रत चरित्र की प्रशस्ति के उल्लेखानुसार गुर्जरेश्वर सिद्धराज आपके त्याग और तप से अत्यन्त प्रभावित होकर आपके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा भक्ति रखता था। आपका त्याग उच्च कोटि का था। अपने समय के श्रमण वर्ग में व्याप्त शिथिलाचार के उन्मूलन और स्व पर के कल्याण के उद्देश्य से आपने विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने का दृढ़ निश्चय कर अपने वस्त्रों की सफाई की और शरीर तक की भी सफाई का ध्यान देना छोड़ दिया। फलतः आपका शरीर और आपके वस्त्र मल अर्थात् मैल से विवर्ण हो गये। आप की इस प्रकार की निस्पृहता, आपकी अपने शरीर और वस्त्रों के प्रति इस प्रकार की निर्ममत्व भावना से प्रभावित होकर गुर्जराधिपति सिद्धराज जयसिंह ने आपको मलधारी की उपाधि से विभूषित किया। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि आपको मलधारी की उपाधि गुर्जरेश्वर सिद्धराज ने नहीं, अपितु उनके पूर्ववर्त्ती राजा कर्ण ने दी थी। इतिहासविदों ने परिपुष्ट ऐतिहासिक आधारों पर गुर्जरेश्वर कर्ण का शासनकाल विक्रम सम्वत् ११२९ से ११५१ तक का और सिद्धराज का राज्यकाल विक्रम सम्वत् ११५१ से १२०० तक का माना है। मलधारी आचार्य अभयदेवसूरि का आचार्य काल विक्रम सम्वत् ११३५ से ११६० के लगभग तक का अनुमानित किया जाता है। इस दृष्टि से यदि अभयदेवसूरि ने आचार्य पद पर अधिष्ठित होते ही विक्रम सम्वत् ११३५ के आसपास स्नान, वस्त्र-प्रक्षालन आदि की उस समय के भट्टारक चैत्यवासी आदि परम्पराओं के साधु वर्ग में प्रचलित शिथिला-चार पूर्ण प्रवृत्ति का परित्याग कर विशुद्ध श्रमणाचार का पालन प्रारम्भ कर दिया हो तो वहुत सम्भव है कि गुर्जरेश्वर महाराज कर्ण ने उनकी इस त्याग वृत्ति से प्रभावित हो उनकी मैल मलाकीर्ण देहयष्टि को देखकर उन्हें मलधारी का विरुद प्रदान कर दिया हो। यदि उन्होंने विक्रम सम्वत् ११५१ के पश्चात् अपनी देहयष्टि

और वस्त्रों की ओर से अपना ध्यान हटाकर आध्यात्म रस में लीन हो शास्त्रोक्त विधि से विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करना प्रारम्भ किया हो तो महाराजा सिद्धराज द्वारा भी इस उपाधि के दिये जाने की कल्पना की जा सकती है। अस्तु। मलधारी की उपाधि चाहे महाराजा कर्ण ने दी हो अथवा महाराजा सिद्धराज ने पर यह तो सुनिश्चित है कि उनके समय के गुर्जरेश्वर ने उनके अपूर्व त्याग से प्रभावित होकर भक्तिवश इस प्रकार की पदवी प्रदान की।

आपके प्रशिष्य मुनि श्रीचन्द्र द्वारा रचित मुनि सुव्रत चरित्र प्रशस्ति के अनुसार महाराजा सिद्धराज आपके प्रति और आपके शिष्य मलधारी हेमचन्द्र आचार्य के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा रखता था। उक्त प्रशस्ति के उल्लेखानुसार मलधारी अभयदेवसूरि ने संलेखनापूर्वक ४७ दिन का अनशन किया। आपके अनशन के समाचार सुनकर महाराजा सिद्धराज आपके दर्शनार्थ अजमेर में उपस्थित हुये थे। "श्री जैन धर्म विद्या प्रसारक वर्ग पालीताना" की ओर से प्रकाशित जैन इतिहास नामक पुस्तक के उल्लेखानुसार आपने अनेक राजाओं को प्रतिबोध दिया। ४१ दिन का अनशन पूर्ण होने पर आपके भौतिक शरीर की श्मशानयात्रा में अजमेर नगर का निवासी प्रत्येक आबाल वृद्ध उमड़ पड़ा। शव यात्रा सूर्योदय के समय प्रारम्भ हुई किन्तु स्थान-स्थान पर उमड़ती भीड़ के कारण दिन के पिछले प्रहर में शव-यात्रा श्मशान में पहुंची। अग्नि संस्कार के अनन्तर उनके भौतिक शरीर की अवशिष्ट भस्म को लेने के लिए अजमेर और उसके आसपास के नागरिक उमड़ पड़े। लोगों के मन में इस प्रकार की धारणा घर कर गई थी कि इन महान् त्यागी योगीश्वर की भस्मी से सभी प्रकार के रोग शान्त हो जावेंगे। फलतः भस्मी के समाप्त हो जाने पर लोगों ने उनके दाह संस्कार स्थल की मिट्टी तक को खोद-खोद-कर ले जाना प्रारम्भ कर दिया और वहां एक गहरा गड्ढा तक बन गया।

"मलधारी अभयदेवसूरि के पार्थिव शरीर की न केवल भस्म ही अपितु उनके दाह संस्कार स्थल की मिट्टी तक लोग खोद-खोद कर ले गये और उस स्थान पर एक गहरा गड्ढा हो गया।" जैन वांग्मय के इस उल्लेख से यही प्रतिभासित होता है कि जन-जन के मानस में उनके प्रति प्रगाढ़ आस्था एवं अटूट श्रद्धा भक्ति थी। उस समय के जैन-अजैन सभी लोग समान रूप से उन्हें अपने युग की महान् विभूति, महान् योगी और महापुरुष समझते थे। इससे यही प्रकट होता है कि उन्होंने अपने त्याग और तप से जन-जन के मन पर अपने पवित्र जीवन की अमिट छाप अंकित कर दी थी। उनके मलधारी विरुद से स्पष्टतः यही प्रकट होता है कि उनकी प्रवृत्तियां पूर्णतः अन्तर्मुखी हो गई थीं। अपने वस्त्र और शरीर तक की उपेक्षा कर उन्होंने अपने आत्म देव को सत्यं शिवं सुन्दरं का स्वरूप प्रदान करने की अटल प्रतिज्ञा कर ली थी। अपने समय के श्रमण वर्ग की बहिर्मुखी, लोकैषणा परक वृत्तियों का पूर्णतः परित्याग कर एक मात्र अध्यात्म परक विशुद्ध श्रमणाचार को अपने जीवन में आपने साकार रूप से ढाल लिया था।

उनके इस त्याग-तपोपूत अन्तर्मुखी जीवन का उनके शिष्यवृन्द पर और उपासक तथा उपासिकावृन्द पर प्रगाढ़ प्रभाव पड़ा। यही कारण था कि उनके स्वर्गस्थ हो जाने के अनन्तर भी उनके विरुद के नाम वाली मलधारी परम्परा शताब्दियों तक स्वपर के कल्याण में निरत और लोकप्रिय रही।

इस प्रकार के अपने युग के महान् अध्यात्म योगी मलधारी अभयदेवसूरि के जीवन की अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं के सम्बन्ध में अभी गहन शोध की परमावश्यकता है। आशा है शोधप्रिय विद्वद्वृन्द इस दिशा में अवश्यमेव प्रयास करेंगे।

—: o :—

मलधारी आचार्य हेमचन्द्रसूरि

आचार्य मलधारी हेमचन्द्रसूरि विक्रम की बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के एक महान् प्रभावक, राजमान्य, महापुरुष और महान् ग्रन्थकार आचार्य हुए हैं। उन्होंने स्वहस्त लिखित जीव समास वृत्ति के अन्त में अपना थोड़ा-सा परिचय निम्नलिखित रूप में दिया है :—

> "ग्रन्थाग्र ६६२७। सम्वत् ११६४ चैत्र शुदि ४ सोमेऽद्येह श्रीमदणहिलपाटके समस्तराजावलिविराजित महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीमज्जयसिंह देवकल्याणविजयराज्ये एवं काले प्रवर्तमाने यमनियमस्वाध्यायध्यानानुष्ठानरतपरम नैष्ठिकपंडित श्वेताम्बराचार्य भट्टारकश्री हेमचन्द्राचार्येण पुस्तिका लि० श्री०।"

अर्थात्—आज सम्वत् ११६४ की चैत्र शुक्ला ४ सोमवार के दिन यहां अणहिल्लपुर पट्टण नगर में अपने समस्त सामन्तों से सेवित महाराजाधिराज-परमेश्वर-श्रीमान् जयसिंहदेव के कल्याणकारी, विजयश्री सम्पन्न राज्य काल में यम-नियम-स्वाध्याय, ध्यान, अनुष्ठान में निरत परम नैष्ठिक पंडित श्वेताम्बर आचार्य भट्टारक श्री हेमचन्द्राचार्य ने यह पुस्तिका लिखी।

प्रशस्ति के इस उल्लेख से यह एक नवीन तथ्य प्रकाश में आता है कि दिगम्बर आम्नाय की भट्टारक परम्परा की भांति श्वेताम्बर आम्नाय में भी भट्टारक विरुद का प्रयोग आचार्यों के नाम के पूर्व में किया जाता था। यही कारण है कि दिगम्बर परम्परा के भट्टारकों से अपने आपको भिन्न बताने के उद्देश्य से हेमचन्द्राचार्य ने अपने नाम से पूर्व श्वेताम्बराचार्य-भट्टारक शब्दों का प्रयोग किया है।

आचार्य मलधारी हेमचन्द्र वस्तुतः प्रश्नवाहन कुल की मध्यम शाखा के हर्षपुरीय गच्छ के आचार्यश्री मलधारी अभयदेवसूरि के प्रमुख शिष्य एवं पट्टधर थे। आचार्य अभयदेवसूरि महान् तपस्वी एवं परम क्रियावादी सम्यग् आचार सम्पन्न श्रमण श्रेष्ठ थे। उनके शरीर पर और वस्त्रों पर मैल देखकर अणहिल्लपुर पट्टणाधीश महाराज जयसिंह ने उन्हें मलधारी विरुद से विभूषित किया। 'यथा गुरुस्तथा शिष्यः' इस सूक्ति के अनुसार आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि ने भी अपने शरीर और वस्त्र के प्रक्षालन की ओर कभी कोई ध्यान नहीं दिया। इसी कारण अपने गुरु की भांति वे भी जीवन भर मलधारी विरुद से अभिहित किये जाते रहे।

मलधारी आचार्य हेमचन्द्रसूरि के तीन प्रमुख शिष्य थे, विजयसिंह, श्रीचन्द्र और विबुधचन्द्र। उनमें से श्रीचन्द्र उनके पट्टधर आचार्य हुए। आचार्य श्रीचन्द्र ने अपनी कृति "मुनि सुव्रत चरित्र" की प्रशस्ति में अपने गुरु मलधारी हेमचन्द्रसूरि का और अपने दादा गुरु मलधारी अभयदेवसूरि का परिचय देते हुए लिखा है :— "अपने सौम्य, ओजस्वी एवं तेजस्वी स्वभाव से श्रेष्ठ पुरुषों के हृदय को आनन्दित करने वाले कौस्तुभ मणि के समान श्री हेमचन्द्रसूरि मलधारी आचार्य अभयदेवसूरि के पश्चात् हुए। हेमचन्द्रसूरि अपने समय के एक समर्थ प्रवचन पारगामी व्याख्याता थे। "वियाह पण्णत्ति" (भगवती शतक) जैसा विशालकाय आगम तो उन्हें अपने नाम की भांति कण्ठस्थ था। उन्होंने अपने अध्ययन काल में मूल आगमों, भाष्यों एवं आगमिक ग्रन्थों के साथ-साथ व्याकरण, न्याय, साहित्य आदि अनेक विषयों का तलस्पर्शी अध्ययन किया था। उनका राजाओं, अमात्यों एवं प्रजा के सभी वर्गों पर बड़ा प्रभाव था। वे जिन शासन की प्रभावना के कार्यों में गहरी रुचि लेते थे। उनके अन्तस्तल में संसार के प्राणिमात्र के लिये करुणा का सागर तरंगित रहता था। घनरव गम्भीर स्वर में जिस समय वे प्रवचनामृत की वर्षा करते थे, उस समय जिन भवन के बाहर खड़े रहकर भी लोग उनके उस उपदेशामृत का रसास्वादन करते रहते थे। वे व्याख्यानलब्धि सम्पन्न थे। अतः उनके शास्त्रीय व्याख्यान को सुनकर मन्द मति वाले लोग भी सहज ही बोध प्राप्त कर लेते थे। उपमिति भव प्रपंच कथा जैसे दुरूह ग्रन्थ पर अपने श्रद्धालु भक्तों की प्रार्थना पर आपने लगातार तीन वर्ष तक प्रवचन दिये। आपकी सरस सुगम व्याख्यान शैली से उपमिति भव प्रपंच कथा आपके समय में बड़ी लोकप्रिय हो गई। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की। अन्त में अपना अन्तिम समय निकट समझ कर मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने अपने स्वर्गस्थ गुरु अभयदेवसूरि की ही भांति आलोचनापूर्वक संलेखना संथारा स्वीकार किया। आपके गुरु अभयदेवसूरि ने ४७ दिन का अनशन किया था और आपने ७ दिन का। राजा सिद्धराज स्वयं आपकी शवयात्रा में सम्मिलित हुआ था, जबकि आपके गुरु अभयदेव की शवयात्रा का दृश्य राजा सिद्धराज ने अपने महलों से ही देख लिया था।"

मलधारी हेमचन्द्रसूरि के जीवन से सम्बन्धित जो थोड़े बहुत उपरि वर्णित तथ्य उपलब्ध होते हैं, उनमें संभवतः शोधार्थियों के लिये, इतिहास-गवेषकों के लिये बड़ी महत्त्वपूर्ण सामग्री छुपी पड़ी प्रतीत होती है। गुर्जरेश सिद्धराज जयसिंह ने मलधारी हेमचन्द्रसूरि के गुरु आचार्य अभयदेवसूरि को मलधारी की उपाधि दी। इससे प्रत्येक विज्ञ के अन्तर्मन में सहज ही यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि उनके समय में बड़ी संख्या में जो श्रमण विद्यमान थे, उनमें से केवल अभयदेवसूरि को ही मलधारी की उपाधि से सिद्धराज जयसिंह ने क्यों विभूषित किया ? क्या अभयदेव-सूरि को छोड़ शेष सब श्रमण अपने शरीर को और अपने वस्त्रों को पूर्णतः स्वच्छ एवं निर्मल अथवा मल विहीन रखते थे ? यदि विभिन्न श्रमण परम्पराओं के नर्मा

श्रमण अपने शरीर और वस्त्रों को मैल से आच्छन्न रखते थे तो गुर्जरेश ने केवल अभयदेवसूरि को ही "मलधारी" के विरुद से क्यों विभूषित किया ?

हेमचन्द्रसूरि द्वारा रचित "जीव समास की वृत्ति" के अन्त में "........... एवं काले प्रवर्तमाने यमनियमस्वाध्यायध्यानानुष्ठानरतपरमनैष्ठिक पंडित-**श्वेताम्बराचार्य-भट्टारक श्री हेमचन्द्राचार्येण** पुस्तिका लिखिता श्री०" इस वाक्यांश को पढ़कर प्रत्येक सत्यान्वेषी के अन्तर्मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि हेमचन्द्र-सूरि ने इसमें अपना परिचय देते हुए—श्वेताम्बराचार्य-भट्टारक श्री हेमचन्द्राचार्येण इस पद द्वारा अपने आपको जो श्वेताम्बर भट्टारक बताया है, इसके पीछे क्या कोई रहस्य तो नहीं छुपा हुआ है ? इस ग्रन्थ माला के तृतीय पुष्प में ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के पश्चात् चैत्यवासी परम्परा, दिगम्बर भट्टारक परम्परा, श्वेताम्बर भट्टारक परम्परा, जिसका अवशेष श्रीपूज्य के रूप में अद्यावधि विद्यमान है, आदि अनेक द्रव्य परम्पराएं अस्तित्व में आईं और उनका वर्चस्व उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।

इस प्रकार की स्थिति में इन उपरिलिखित तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर ऐसी आशंका उत्पन्न होती है कि मलधारी आचार्य अभयदेवसूरि कहीं भट्टारक परम्परा के ही आचार्य न रहे हों। वर्द्धमानसूरि द्वारा किये गये क्रियोद्धार एवं एक प्रकार की धर्मक्रान्ति के सूत्रपात के अनन्तर जो देशव्यापी धर्म जागरण की लहर तरंगित हो उठी थी और अनेक आत्मार्थी श्रमणों ने द्रव्य परम्पराओं का परित्याग कर विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करना प्रारम्भ कर दिया था, उसी प्रकार कहीं भट्टारक अभयदेवसूरि ने भी भट्टारक परम्परा के आचार-विचार का परित्याग कर दशवैकालिक सूत्र में वर्णित विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करना प्रारम्भ नहीं कर दिया था ? दशवैकालिक में श्रमणचर्या का एतद्विषयक उल्लेख इस प्रकार है :

उद्देसियं कीयगडं नियागमभिहडाणि य।
राइभत्ते सिणाणे य गंध मल्ले य वीयणे ।। २ ।।
सन्निही गिहीमत्ते य रायपिंडे किमिच्छए।
संवाहणा दंत पहोयणा य संपुच्छणा देह पलोयणा य ।। ३ ।।

इन गाथाओं को पढ़कर कहीं अभयदेवसूरि ने भी भट्टारक परम्परा में प्रचलित स्नान वस्त्र प्रक्षालन आदि का परित्याग कर अपने शरीर और वस्त्रों को धोना वन्द न कर दिया हो। अपने शरीर और वस्त्रों की सुध-बुध भुला विशुद्ध श्रमणाचार के पालन में निरत अभयदेवसूरि के शरीर पर, वस्त्रों पर मैल का जमना स्वाभाविक ही था। अभयदेवसूरि के धूलि धूसरित मैल भरे गात्र और वस्त्रों को देख कर ही सिद्धराज जयसिंह ने उन्हें मलधारी के विरुद से अभिहित करना प्रारम्भ कर दिया हो।

इन तथ्यों को प्रस्तुत करने के पीछे हमारा यह किंचित्मात्र भी कहने का उद्देश्य नहीं है कि आचार्य अभयदेवसूरि (मलधारी) और उनके शिष्य आचार्य हेमचन्द्रसूरि द्रव्य परम्परा कही जाने वाली भट्टारक परम्परा के आचार्य थे। इन सब तथ्यों को रखने के पीछे हमारा यही उद्देश्य है कि आचार्य अभयदेवसूरि मूलत: भट्टारक परम्परा में दीक्षित हुए थे किन्तु क्रियोद्धार के माध्यम से उत्पन्न हुई धर्म जागृति की लहर ने उनके अन्तर्मन में विशुद्ध श्रमणाचार की परिपालना की ललक उद्भूत की और उन्होंने द्रव्य परम्परा कही जाने वाली भट्टारक परम्परा में रहते हुए ही क्रियोद्धार किया और भट्टारक परम्परा में बने रहकर उसके द्रव्य परम्परा स्वरूप को भाव परम्परा के रूप में परिवर्तित कर दिया हो।

प्रमाणाभाव में इस विषय में सुनिश्चित रूप से तो कुछ कहने की स्थिति आज नहीं है। इस विषय में गहन शोध की आवश्यकता है। गहन शोध के अनन्तर इस अनुमान की पुष्टि अथवा विरोध में तथ्यों की उपलब्धि होने पर ही सुनिश्चित अभिमत अभिव्यक्त किया जा सकता है। आशा है कि शोधप्रिय इतिहासवेत्ता इस विषय में शोध कर वास्तविक तथ्य को समाज के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

—: ० :—

पौर्णमीयक गच्छ

पौर्णमीयक गच्छ के संस्थापक चन्द्रप्रभसूरि थे। तपागच्छ पट्टावली के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर के चालीसवें पट्टधर श्री मुनिचन्द्रसूरि के गुरुभ्राता चन्द्रप्रभसूरि ने विक्रम सम्वत् ११५९ में पूर्णिमा गच्छ की स्थापना की।

पौर्णमीयक गच्छ मूलतः चन्द्रगच्छ की एक शाखा है। अनेक पट्टावलियों एवं जनश्रुति के अनुसार आगमिक, आंचलिक, खरतर, तपा तथा अन्य चतुर्दशी एवं पूर्णिमा पक्ष के प्रायः सभी गच्छ चन्द्रगच्छ से ही कालान्तर में उद्‌भूत हुए हैं।

चन्द्रप्रभसूरि का जन्म विक्रम सम्वत् ११४ में हुआ। उन्होंने दस वर्ष की वय में विक्रम सम्वत् ११२४ में दीक्षा ग्रहण की। विक्रम सम्वत् ११३६ में उन्हें जयसिंहसूरि ने आचार्यपद पर आसीन किया और आचार्यपद पर आसीन होते ही विधि मार्ग की प्ररूपणा प्रारम्भ कर दी। इस कारण उन्हें चतुर्दशी को पाक्षिक पर्व मनाने वाले तथा साधु द्वारा मूर्ति की प्रतिष्ठा किये जाने के पक्षधर अनेक आचार्यों से शास्त्रार्थ करने पड़े। आगमीय गच्छ की ३४ श्लोकों वाली पट्टावली के अन्त में दी गयी निम्नलिखित गाथाओं में इनके जन्म, दीक्षा, सूरिपद, वाद में अनेक आचार्यों को पराजित करने और अन्त में बावन वर्ष की आयु में स्वर्गस्थ होने का उल्लेख किया गया है :—

भुवणरुद्द समवरसि जम्मो हुओ गुणभूरिहिं। (विक्रम सं० १११४)
तह चउवीसइ हूयदिक्ख चंदप्पहसूरिहिं ॥ (विक्रम सं० ११२४)
छत्तीसइ संठवियसूरि सिरि जयसिंहसूरिहिं। (विक्रम सं० ११३६)
संपा वसही वादु जितु चउरासी सूरिहिं ॥
एगुण पंचासइ तिहिं वरसिसंघ सुक्खिपट्टणपवारि। (विक्रम सं० ११४९)
छासट्ठइ सिवु परिगमण, किर बावन्नसव्वायु वरि ॥ (वि० सं० ११६६)

आपने पूर्णिमा पक्ष की स्थापना की, इस सम्बन्ध में उपरिलिखित पट्टावली की निम्नलिखित गाथा द्रष्टव्य है :—

सिरि चंदप्पहसूरि, जइ न पयासंत पुन्निमापक्खं।
उदयंमि अजयपाले चउद्दसी जंतु पायालं ॥३०॥

चन्द्रप्रभसूरि ने पूर्णिमा के दिन ही पाक्षिक प्रतिक्रमण करने का जो सिद्धान्त आगमों में उल्लिखित है, उसे नहीं छोड़ा और उन्होंने न तो कभी किसी भी

बिम्ब (मूर्त्ति, प्रतिमा) की प्रतिष्ठा की और न कभी किसी वर्ष में मासकल्प न करने की त्रुटि की। इन बातों का उल्लेख निम्नलिखित गाथा में किया गया है :—

पुन्निम न हु परिहरियमग्गु सिद्धांत न चालिओ ।
उच्चासणि न वयट्ठ पाउसिंहासणि वालिओ ।।
बिम्बह किय न पतिट्ठ मासकप्पह नहु चुक्कउ ।
दमंमि दलिमेलीइ जेण अप्पाणु न मुक्कउ ।।

अविधि अर्थात् किसी श्रमण द्वारा प्रतिमा की प्रतिष्ठा करना और चौदस के दिन पाक्षिक प्रतिक्रमण करना—का चन्द्रप्रभसूरि ने किस प्रकार विरोध कर विधि पक्ष का उद्धार किया—इसका वर्णन उपरिलिखित पट्टावली के अन्त में दी गई गाथाओं में से निम्नलिखित गाथाओं में किया गया है :—

जिम इक्किण दिणयरण निसिहिं तमपसर विहाडिय ।
जिम इक्कण ससिहरण गयणमंडलु परिपयडिय ।।
जिम इक्कण केसरिणकरड कोडि किय खंडण ।
तिमपइं इक्कण चन्दसूरि किय अविहि विहंडण ।।
पायाल जंतु सूमवसिण सत्तहीण नरपरिहरिय ।
इक्कल्लण हरिहिं धरित्त जिम पइं विहिपक्ख समुद्धरिय ।।

अर्थात् जिस प्रकार अकेला सूर्य रात्रि के घोर अन्धकार को क्षण भर में विनष्ट कर देता है, जिस प्रकार एक ही चन्द्र समस्त गगनमण्डल को अपनी चन्द्रिका से आलोकित कर देता है, जिस प्रकार एक ही सिंह करोड़ों हाथियों का मानमर्दन कर देता है, उसी प्रकार अकेले चन्द्रसूरि ने अविधि का अर्थात् चतुर्दशी को पाक्षिक प्रतिक्रमण करने वाले और साधु के द्वारा ही जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा किये जाने रूप अविधि मार्ग का खण्डन कर विधि मार्ग का प्रवर्तन किया। दुस्समकाल की वजह से सत्वहीन मानव रसातल में चले जाते किन्तु अकेले ही चन्द्रप्रभसूरि ने विधि पक्ष का उद्धार कर अनेक भव्यों को रसातल में जाने से बचाया।

इसी प्रकार पूर्णिमा पक्ष के संस्थापक श्री चन्द्रप्रभसूरि की महिमा का गान करते हुए आगमिक गच्छीय पट्टावली के अन्त में निम्नलिखित श्लोक में उन्हें चन्द्रगच्छ रूपी अथाह पाथोधि को उद्वेलित कर देने वाले चंद्र की उपमा दी है :—

श्री पूर्णिमापक्षसरोजबोध-
गभस्तयोऽभ्यस्तसमस्तशास्त्राः ।
श्री चन्द्रगच्छाम्बुधि चन्द्रतुल्या-
श्चन्द्रप्रभाख्या गुरवो जयन्ति ।।

अर्थात् पूर्णिमा पक्ष रूपी कमलिनी को अपने उपदेश रूपी शीतल किरणों से प्रफुल्लित कर देने वाले एवं समस्त शास्त्रों के तलस्पर्शी ज्ञाता श्री चन्द्र गच्छ रूपी सागर को अपनी शुभ्र छटा से उद्वेलित कर देने वाले चन्द्रप्रभसूरि सदा जयवन्त रहें।

आगमिक गच्छीय पट्टावली के नाम से जो यह पूर्णिमा गच्छ की पट्टावली दी गई है, इसमें पूर्णिमा गच्छ का श्रमण भगवान् महावीर की विशुद्ध मूल परम्परा से सम्बन्ध बताया गया है। इसमें श्रमण भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर सुधर्मा स्वामी से लेकर चन्द्रसूरि तक के पट्टधरों के नामोल्लेख के पश्चात् यह बताया गया है कि चन्द्रसूरि से चन्द्रगच्छ का प्रादुर्भाव हुआ। चन्द्रगच्छ में अनेक प्रभावक आचार्य हुए। कालान्तर में चन्द्रगच्छ वृहद्गच्छ के रूप में प्रसिद्ध हुआ। उस वृहद्गच्छ में जयसिंहसूरि हुए। जयसिंहसूरि ने चन्द्रप्रभसूरि को आचार्यपद प्रदान किया। इन्हीं चन्द्रप्रभसूरि ने आगमानुसारी विधिमार्ग का उद्धार किया। आपने पूर्णिमा के स्थान पर जो चतुर्दशी को पाक्षिक प्रतिक्रमण करने की प्रथा परम्परा से चली आ रही थी, उसके स्थान पर पूर्णिमा को पाक्षिक प्रतिक्रमण करने वाले पूर्णिमा गच्छ की स्थापना की। इस सम्बन्ध में उपर्युक्त पट्टावली में निम्नलिखित श्लोकों द्वारा चन्द्रप्रभसूरि की मुख्य मान्यताओं का संक्षेप में उल्लेख किया गया है :—

बंधः पुण्येषु नैवोपधिषु सुविधिषु स्थापनं नो जिनेषु,
श्राद्धस्वान्तेषु नित्यस्थिति सचितपुरग्रामगोष्ठेषु नैव।
तृष्णा ज्ञानामृतेषु प्रणतजन पुरस्कार सौख्येषु नैव,
सर्वज्ञोक्तेष्वपेक्षा न च धनिषु मुनिस्वामिना येन चक्रे ॥२८॥

कैलाशं दशकण्ठवत् गिरिवरं गोवर्द्धनं विष्णुवत्,
क्षोणिमादिवराहवद्गुरुधुरंधौरेय वृद्धोक्षवत्।
योऽन्यैर्दुर्द्धरमुद्धार विधिवत् पक्षं विधेर्धीरधीः,
श्रीचन्द्रप्रभ सूरिरद्य भवतां भद्राय भूयात् प्रभुः ॥२९॥

अर्थात् पुण्य का वन्ध उपधियों में नहीं, जिन बिम्व की स्थापना में नहीं सुविधि में—अर्थात् आगमोक्त विधि के अनुसार क्रिया करने में है। अपनी इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करना ही श्रावक का लक्षण है, वहिर्मुखी करना नहीं। तृष्णा का शमन ज्ञानामृत से ही सकता है। लोगों के नमस्कार से उत्पन्न होने वाले सुख से नहीं। प्रत्येक मोक्षार्थी को सर्वज्ञ वीतराग प्रभु के वचन की ही अपेक्षा रखनी चाहिये, न कि धनियों की। इस प्रकार की घोषणा चंद्रप्रभसूरि ने की।

जिस प्रकार कैलास को रावण ने, गोवर्द्धन को कृष्ण ने, पृथ्वी को आदि-वराह ने एक धुरा धौरेय वृषभ की भांति अपने ऊपर धारण कर लिया, उसी

प्रकार चन्द्रप्रभसूरि ने विधि मार्ग का भार वहन कर उसका उद्धार कर दिया। जो कि किसी अन्य के वश का कार्य नहीं था। ऐसे वे चन्द्रप्रभसूरि सब का कल्याण करें।

पूर्णिमा पक्ष के संस्थापक तदनुसार पूर्णिमा पक्ष के प्रथम आचार्य चन्द्रप्रभसूरि ने चतुर्दशी को पाक्षिक प्रतिक्रमण की मान्यता वाले अनेक आचार्यों को शास्त्रार्थ में पराजित किया। उनमें से पांच आचार्यों को अपने मत में दीक्षित किया।

चन्द्रप्रभसूरि के आचार्यपद पर आसीन होने से पूर्व जैन धर्मसंघ में मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः नियमित रूप से साधुओं द्वारा ही की जाती थीं। उस समय तक सुविहित परम्परा के विभिन्न गच्छों में भी अनुमानतः चैत्यवासी परम्परा द्वारा प्रचलित की गई प्रतिष्ठाविधियों का ही प्रचलन था। आचार्य श्री पादलिप्तसूरि द्वारा निर्मित प्रतिष्ठाविधि में प्रतिष्ठाचार्य को सधवा स्त्रियों के हाथों अभ्यंग आदि करवाने के अनन्तर बहुमूल्य सुन्दर वस्त्र पहनाने तथा कर में स्वर्ण कंकण और स्वर्ण की अंगूठी पहनाने का विधान है। अतः सुविहित परम्परा में भी प्रतिष्ठाचार्य को सुन्दर वस्त्र, कर में स्वर्ण कंकण अंगुलि में स्वर्ण की मुद्रिका पहनाने का प्रचलन रहा। चन्द्रप्रभसूरि ने इसे श्रमणाचार से नितान्त विरुद्ध एवं अनागमिक सिद्ध करते हुए एक नवीन क्रान्ति का सूत्रपात किया कि जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा साधु के द्वारा नहीं, अपितु श्रावक के द्वारा ही करवाई जानी चाहिये। इसे लेकर चन्द्रप्रभसूरि का चारों ओर से घोर विरोध हुआ। चतुर्दशी को पाक्षिक प्रतिक्रमण करने वालों की, चौथ को सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करने की परम्परा को मानने वालों की संख्या भी अत्यधिक थी। इस कारण चन्द्रप्रभसूरि का घर और बाहर अर्थात् सुविहित परम्परा के विविध गच्छों के आचार्यों एवं चैत्यवासी परम्परा के आचार्यों के द्वारा भी घोर विरोध हुआ। इस प्रकार के प्रबल विरोध का साहसपूर्वक सामना करते हुए चन्द्रप्रभसूरि ने पौर्णमीयक गच्छ का प्रचार प्रसार और विस्तार किया।

आचार्य श्री चन्द्रप्रभसूरि द्वारा पौर्णमीयक गच्छ की स्थापना किये जाने के समय तक अणहिल्लपुर पट्टण के संघ पर चैत्यवासी परम्परा का ही वर्चस्व था। उस समय तक चैत्यवासी परम्परा पर्याप्त रूप से सशक्त थी तथा उसे राज्याश्रय भी प्राप्त था इस कारण भी चन्द्रप्रभसूरि को बहुत समय तक अपनी मान्यताओं के प्रचार के लिये चैत्यवासियों एवं सुविहित परम्परा के अनेक सुगठित एवं सशक्त गच्छों की ओर से कड़े विरोध का सामना करना पड़ा।

आचार्यश्री श्रीचन्दसूरि, श्री जिनप्रभसूरि और वर्द्धमानसूरि ने भी चैत्यवासी परम्परा की प्रतिष्ठाविधि में उल्लिखित-"वासुकिनिर्मोकलघुनी प्रत्यग्रवाससी दधानः करांगुली विन्यस्तकाञ्चनमुद्रिकः, प्रकोष्ठदेशनियोजित कनककंकणः,

तपसा विशुद्ध देहो वेदिकायामुदंग्मुखमुपविश्य"[1] का अनुसरण करते हुए अपनी अपनी प्रतिष्ठा पद्धतियों में—"ततः सूरिः कंकरण मुद्रिकाहस्तः सदशवस्त्रपरिधानः" इस प्रकार का विधान प्रतिष्ठाचार्य के वेश के सम्बन्ध में किया है।

"निर्वाण कलिका" के उपर्युल्लिखित उद्धरण एवं सुविहित परम्परा के आचार्यश्री श्री चन्दसूरि, श्री जिनप्रभसूरि तथा श्री वर्द्धमानसूरि द्वारा निर्मित प्रतिष्ठा विधियों के सम्बन्ध में इतिहास एवं जैन सिद्धान्तों के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् स्वर्गीय पंन्यास श्री कल्याणविजयजी महाराज ने अपनी कृति निबन्ध निचय में पृष्ठ २०७ से २०६ पर लिखा है :—

"जैन साधु के आचार से परिचित कोई भी मनुष्य यहां पूछ सकता है कि जैन आचार्य, जो निर्ग्रंथ साधुओं में मुख्य माने जाते हैं, उनके लिए सुवर्ण मुद्रिका और सुवर्ण कंकण का धारण करना कहां तक उचित गिना जा सकता है ? स्वच्छ नवीन वस्त्र तो ठीक पर सुवर्ण मुद्रा, कंकण धारण तो प्रविष्ठाचार्य के लिए अनुचित ही दीखता है। क्या सुवर्ण मुद्रा, कंकण पहिने बिना अंजनशलाका हो ही नहीं सकती ?

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रतिष्ठाचार्य के लिए मुद्रा कंकण धारण करना अनिवार्य नहीं है। श्री पादलिप्तसूरिजी ने जिन मूल गाथाओं को अपनी प्रतिष्ठा पद्धति का मूलाधार माना है और अनेक स्थानों में "यदागमः" इत्यादि शब्द प्रयोगों द्वारा जिसका आदर किया है, उस मूल प्रतिष्ठागम में सुवर्ण मुद्रा अथवा सुवर्ण कंकण परिधान का उल्लेख किया है, वह तत्कालीन चैत्यवासियों की प्रवृत्ति का प्रतिविम्ब है। पादलिप्तसूरिजी आप चैत्यवासी थे या नहीं इस चर्चा में उतरने का यह उपयुक्त स्थल नहीं है, परन्तु उन्होंने आचार्याभिषेक विधि में तथा प्रतिष्ठा विधि में जो कतिपय बातें लिखी हैं वे चैत्यवासियों की पौधशालाओं में रहने वाले शिथिलाचारी साधुओं की हैं, इसमें तो कुछ शंका नहीं है। जैन सिद्धान्त के साथ इन बातों का कोई सम्बन्ध नहीं है। आचार्याभिषेक के प्रसंग में उन्होंने भावी आचार्य को तैलादि विधिपूर्वक अविधवा स्त्रियों द्वारा वर्णक (पीठी) करने तक का विधान किया है। यह सब देखते तो यही लगता है कि श्री पादलिप्तसूरि स्वयं चैत्यवासी होने चाहिये। कदापि ऐसा मानने में कोई आपत्ति हो तो न मानें फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि पादलिप्तसूरि का समय चैत्यवासियों के प्राबल्य का था। इससे इनकी प्रतिष्ठा पद्धति आदि कृतियों पर चैत्यवासियों की अनेक प्रवृत्तियों की अनिवार्य छाप है। साधु को सचित्त जल पुष्पादि द्रव्यों द्वारा जिन-

---

१. निर्वाण कलिका—१२—१

पूजा करने का विधान जैसे चैत्यवासियों की आचरणा है, उसी प्रकार से सुवर्ण मुद्रा, कंकण धारणादि विधान ठेठ चैत्यवासियों के घर का है, सुविहितों का नहीं। शास्त्रों का विधान नहीं है।

श्रीचन्द, जिनप्रभ, वर्द्धमानसूरि स्वयं चैत्यवासी न थे, फिर भी वे उनके साम्राज्यकाल में विद्यमान अवश्य थे। इन्होंने प्रतिष्ठाचार्य के लिए मुद्रा कंकण धारण का विधान लिखा, इसका कारण श्रीचन्दसूरिजी आदि की प्रतिष्ठा पद्धतियां चैत्यवासियों की प्रतिष्ठा विधियों के आधार से बनी हुई हैं, इस कारण से इनमें चैत्यवासियों की आचरणाओं का आना स्वाभाविक है। उपर्युक्त आचार्यों के समय में चैत्यवासियों के किले टूटने लगे थे फिर भी वे सुविहितों द्वारा सर नहीं हुए थे। चैत्यवासियों के मुकाबले में हमारे सुविहित आचार्य बहुत कम थे। उनमें कतिपय अच्छे विद्वान् और ग्रन्थकार भी थे, तथापि उनके ग्रंथों का निर्माण चैत्यवासियों के ग्रन्थों के आधार से होता था। प्रतिष्ठा विधि जैसे विषयों में तो पूर्व ग्रन्थों का सहारा लिये बिना चलता ही नहीं था। इस विषय में आचार दिनकर ग्रन्थ स्वयं साक्षी है। इसमें जो कुछ संग्रह किया है, वह सब चैत्यवासियों और दिगम्बर भट्टारकों का है, वर्द्धमानसूरि का अपना कुछ भी नहीं है।"

पौर्णमीयक गच्छ की कालान्तर में अनेक शाखाएं हुईं। उनके नाम इस प्रकार हैं :—

१. पूर्णिमा गच्छ ढंढ़रिया शाखा। यह शाखा मुख्य शाखा के रूप में मानी गई है। तीसरे आचार्य समुद्रघोष से यह नाम पड़ा।
२. सार्द्ध (साधु) पूर्णिमा गच्छ—यह वस्तुतः पौर्णमीयक गच्छ की ही शाखा थी, किन्तु कालान्तर में यह साधु-पूर्णिमा गच्छ के नाम से स्वतन्त्र गच्छ के रूप में चलती रही।
३. भीमपल्लीय पूर्णिमागच्छ।
४. पूर्णिमा गच्छ की चौथी शाखा जिसमें धर्म शेखर, विशालराज, पद्म-शेखर और जिनहर्ष आदि प्रभावक आचार्य हुए।
५. पूर्णिमा गच्छ वटपद्रीय शाखा।
६. पूर्णिमा गच्छ बोरसिद्धीय शाखा।
७. पूर्णिमा गच्छ भृगुकच्छीय शाखा।
८. पूर्णिमा गच्छ छापरिया शाखा।

पूर्णिमा गच्छ में अनेक ग्रन्थकार विद्वान् आचार्य हुए हैं। इस गच्छ के एवं इसकी शाखाओं के आचार्यों के लेख, प्रतिष्ठालेख प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं।

विक्रम सम्वत् ११५६ में चन्द्रप्रभाचार्य ने संघ के समक्ष कहा—"आज रात्रि में पद्मावती देवी ने आकर मुझसे कहा है—(१) मूर्त्ति की प्रतिष्ठापना श्रावक के द्वारा ही की जानी चाहिये। और इसी प्रकार (२) पाक्षिक प्रतिक्रमण पूर्णिमा को एवं सांवत्सरिक पर्व पंचमी को ही मनाया जाना चाहिये (३) ये तीनों बातें अनादि सिद्ध हैं। अतः तुम इन तीनों बातों की प्ररूपणा करो।"

इस पर श्रीसंघ ने कहा—"आप इस प्रकार जिन-वचन का उपघात करने वाली बात न कहें।"

आचार्य चन्द्रप्रभ ने उत्तर दिया:—" यदि पद्मावती देवी के कथन के अनुसार श्रावक द्वारा प्रतिष्ठा के किये जाने और पूर्णिमा को पाक्षिक किये जाने एवं सांवत्सरिक पर्व पंचमी को किये जाने की प्ररूपणा नहीं करता हूं तो पद्मावती देवी मुझ पर रुष्ट होगी। अतः मैं तो इन तीनों बातों की प्ररूपणा करूंगा।"[1]

इस प्रकार चन्द्रप्रभाचार्य ने विक्रम सम्वत् ११४९ में मुनि के स्थान पर श्रावक द्वारा प्रतिमा की प्रतिष्ठा किये जाने का और मुनि द्वारा प्रतिष्ठा न किये जाने आदि तीन बातों का विधान करते हुए क्रियोद्धार किया और विक्रम सम्वत् ११५९ में अपनी इस मान्यता के साथ-साथ पूर्णिमा को पाक्षिक पर्व मनाये जाने का विधान करते हुए पौर्णमीयक गच्छ की विधिवत् प्रतिष्ठापना की। आगमिक गच्छ और अञ्चलगच्छ ने भी साधु द्वारा मूर्ति की प्रतिष्ठा किये जाने का विरोध किया।

पौर्णमीयक गच्छ द्वारा किये गये इस क्रियोद्धार के परिणामस्वरूप जैन संघ में साधु द्वारा प्रतिष्ठा किये जाने, पाक्षिक प्रतिक्रमण पूर्णिमा को किया जाय या चतुर्दशी को तवा सांवत्सरिक पर्वाराधन पंचमी को किया जाय अथवा चौथ को इन तीन प्रमुख विषयों को लेकर एक बहुत बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ। इस प्रकार का विवाद शताब्दियों तक चलता रहा और आज भी यह विवाद किसी न किसी रूप में देश के प्रायः सभी भागों में चल रहा है। विधि चैत्य, अविधि चैत्य, आयतन अनायतन, आदि के विवाद वस्तुतः विक्रम की बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से उत्पन्न हुए मूर्त्ति-प्रतिष्ठा सम्बन्धी विवाद के ही अंग हैं।

पाटण नगर इन विवादों का केन्द्र-स्थल रहा प्रतीत होता है। पाटण के महाराजाधिराज (वि० सं० १२९८ से १३०२) त्रिभुवन पाल देव के राज्य काल में विक्रम सम्वत् १२९९ में प्रसारित किये गये एक संघादेश से यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि इस विवाद के कारण विभिन्न गच्छों में परस्पर बड़ा कटु व्यवहार रहा। एक पक्ष कहता था कि साधु द्वारा मूर्त्ति की प्रतिष्ठा न की जाय, केवल श्रावक द्वारा ही की जाय। दूसरा पक्ष संघ में इस प्रकार के संघादेश प्रसारित करता

१. प्रवचन परीक्षा, तृतीय विश्राम, गाथा संख्या १ से ४, पृष्ठ ११९ से १२१

था कि प्रतिष्ठा साधु के द्वारा ही करवाई जाय, श्रावक द्वारा की गई प्रतिष्ठा को किसी भी दशा में प्रामाणिक न माना जाय, पाक्षिक प्रतिक्रमण चतुर्दशी को ही किया जाय, पूर्णिमा के दिन कदापि नहीं। पूर्णिमा पक्षीय आंचलिक गच्छ, एवं त्रिस्तुतिक आगमिक गच्छ आदि के साधुओं के साथ वन्दना व्यवहार एवं शास्त्रों के अध्ययन अध्यापनादि का व्यवहार न किया जाय।[1]

उपरि वर्णित संघादेश में उल्लिखित तथ्यों पर मनन करने से यह तो स्पष्टतः प्रकट हो जाता है कि विक्रम सम्वत् ११४९ में आचार्य चन्द्रप्रभ द्वारा किये गये क्रियोद्धार के परिणामस्वरूप पौर्णमीयक गच्छ के प्रतिपक्षी गच्छों में भी मूर्त्ति पूजा के आडम्बरपूर्ण विधानों के प्रति एक प्रकार की उपेक्षा दृष्टि उत्पन्न हो गई थी। इस सम्बन्ध में उस संघादेश के निम्नलिखित वाक्य चिन्तनीय एवं मननीय हैं :—"

> "यथा श्री देवस्य पुरतो बलिनैवेद्य रात्रिकादीनि निषेध्यानि ॥२॥ तथा समस्त वैयावृत्यकरणम् ॥ सम्यग्दृष्टि समस्त, अम्बिकादि मूर्त्ति प्रभृतिनां गृहचैत्येषु च सन्तिष्ठमानानां पूजा निषेधो मा कार्यः ॥३॥······· एनं च संघादेशं कुर्वाणान् अंगीकृत्य, अकुर्वाणानां आज्ञातिक्रमदोपवतां— अमीषां श्रावकाश्च संघबाह्याः कर्त्तव्या : ।"[2]

इस प्रकार इन सब तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि चन्द्रप्रभसूरि द्वारा विक्रम सम्वत् ११४९ में किये एये मूर्त्ति पूजा विपयक इस क्रियोद्धार के परिणामस्वरूप जैन संघ में चैत्यवासी परम्परा द्वारा प्रचलित की गई द्रव्य-पूजा विषयक रूढ़ियों में सुधार की प्रक्रिया का सूत्रपात हो गया था।

---

१. पूर्ण जानकारी के लिये देखिये "जैन धर्म का मौलिक इतिहास—भाग ३" का सम्पादकीय पृष्ठ १३–१४

२. जैन धर्म का मौलिक इतिहास—भाग ३, पृष्ठ १३–१४

आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि

विक्रम की बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में हुए प्रभावक ग्रन्थकार एवं लोकप्रिय जैनाचार्यों में कलिकाल सर्वज्ञ के विरुद से विभूषित आचार्य श्री हेमचन्द्र सर्वाधिक लोकप्रिय, राजमान्य, सर्वोत्तम ग्रन्थकार एवं जिन शासन के महान् प्रभावक, आचार्य हुए हैं । अपने त्याग, तप एवं प्रगल्भ प्रकाण्ड पाण्डित्य से प्रभावित अपने समय के दो प्रतापी राजाधिराजाओं को समयोचित सत्परामर्ष एवं लोक कल्याणकारी मार्गदर्शन देकर स्व तथा जन-जन के इहलोक और परलोक उभय लोकों को सुधारने-संवारने वाले, समष्टि के लिये अभ्युदयकारी नैतिक, सामाजिक, चारित्रिक एवं धार्मिक धरातल को अभ्युन्नत करने वाले सत्कार्यों की प्रेरणा दे जन-जन के जीवन में सच्ची मानवीयता के संस्कार ढालकर हेमचन्द्रसूरि ने जिनशासन की चिरस्थायिनी महती प्रभावना एवं उल्लेखनीय सेवा की ।

आचार्य श्री हेमचन्द्र के जन्म स्थान, जन्म दिवस, माता-पिता आदि के सम्बन्ध में राजगच्छीय आचार्य श्री प्रभाचन्द्रसूरि ने, अपनी विक्रम सं० १३३४ की कृति 'प्रभावक चरित्र' में और अंचलगच्छीय आचार्य श्री मेरुतुङ्गसूरि ने विक्रम सम्वत् १३६१ की कृति 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में पर्याप्त प्रकाश डाला है ।

'प्रभावक चरित्र' के उल्लेखानुसार समृद्ध गुर्जर प्रदेश में चालुक्यराज कर्ण के शासनकाल में, धुन्धुका (धन्धूक) नामक सुन्दर नगर में चाचिग (चाचोशाह) नामक मोढ जाति का श्रेष्ठि रहता था । श्रेष्ठि चाचिग की धर्मपत्नी का नाम पाहिनी था । श्रेष्ठिपत्नी पाहिनी बड़ी ही धर्मनिष्ठा, पतिपरायणा एवं रूप-लावण्य--गुण-सम्पन्ना रमणीरत्न थी ।

एक समय रात्रि के अन्तिम प्रहर में सुसुप्तावस्था में श्रेष्ठिपत्नी पाहिनी ने स्वप्न में देखा कि एक दैदीप्यमान दिव्य चिन्तामणि रत्न उसे प्राप्त हुआ है और वह उस तेजोपुंज अनमोल चिन्तामणि रत्न को अपने आराध्य धर्मगुरु के कर-कमलों में समर्पित कर रही है । स्वप्न दर्शन के तत्काल पश्चात् पाहिनी की निद्रा भग हुई तो उसने अनुभव किया कि उसका रोम-रोम पुलकित हो रहा है । उसके अन्तर्ह्रद में अनिर्वचनीय आनन्द का अथाह सागर उत्ताल तरंगों से तरंगित एवं उद्वेलित हो रहा है । हर्षविभोर पाहिनी ने शय्या का परित्याग कर लोचन युगल को निमीलित करते हुए पंच परमेष्ठि नमस्कार मन्त्र का ध्यान आरम्भ किया । उसकी आंखें बन्द थीं पर स्वप्न में दिखे चिन्तामणि रत्न की अलौकिक नयनाभिराम सम्मोहक छवि उसके लोचन युगल में, मन में, मस्तिष्क में बस चुकी थी अतः उसे चारों ओर अलौकिक आलोक ही आलोक प्रसृत हुआ प्रतीत हो रहा था । घन घटा के आगमन

की प्रथम सूचना के साथ ही जिस प्रकार मयूर हर्षोन्मत्त हो अनायास ही नाच उठता है, ठीक उसी प्रकार उसका मुदित मन थिरकने को मानो व्यग्र हो उठा है ? मन ही मन इसके कारण के विषय में विचार करने पर उसे यही लगा कि यह सब कुछ उस स्वप्न का ही प्रभाव है। स्वप्न तो वस्तुतः अतीव श्रेष्ठ है इसीलिये उसका अन्तर्मन आनन्द से ओतप्रोत हो रहा है। श्रेष्ठ स्वप्न का फल भी श्रेष्ठ ही होना चाहिये पर किस रूप में होगा यह तो ज्ञानी ही जाने। इस प्रकार के मृदु मंजुल विचारों के हिंडोलों पर झूलती-झूमती पाहिनी को उषा कालीन मन्द-मन्द मलयानिल के झोंकों ने जैसे कुछ स्मरण दिलाया हो, वह उठी और सदा की भांति दैनिक कार्यों में व्यस्त हो गई। गृहकार्यों को समेटते-समेटते उसे स्मरण हो आया कि उसके धर्मगुरु आचार्यदेव धन्धुका नगर में पधारे हुए हैं, तो वह उन्हें अपना स्वप्न सुनाकर इसका फल पूछेगी।

उन दिनों चन्द्रगच्छीय विद्वान् आचार्य श्री प्रद्युम्नसूरि के शिष्य देवचन्द्रसूरि धन्धुका नगर के 'मोढ वसही' नामक स्थान में विराजमान थे। प्रातःकालीन आवश्यक कृत्यों से निवृत्त हो पाहिनी 'मोढ वसही' की ओर चली। आचार्य श्री देवचन्द्रसूरि के दर्शन वन्दन के अनन्तर पाहिनी ने उन्हें अपने स्वप्न दर्शन की बात सुनाते हुए निवेदन किया :—"आचार्यदेव ! रात्रि के अवसान काल में मैंने एक बड़ा ही सुन्दर स्वप्न देखा है। उस स्वप्न में मैंने एक अलौकिक कान्तिमान चिन्तामणि रत्न आपको भेंट किया। भगवन् ! कृपा कर बताइये कि इस स्वप्न का क्या फल होगा।"

अनेक विद्याओं एवं आगमों के पारदृश्वा आचार्य श्री देवचन्द्रसूरि अन्तर्वेधिनी दृष्टि से पाहिनी के भाल की ओर एक क्षण देखकर विचारमग्न हो गये। कतिपय क्षणों तक पृथ्वी पर दृष्टि गड़ाए सोचने के अनन्तर उन्होंने पाहिनी से कहा :— "धर्मनिष्ठे ! तुम कौस्तुभ मणि के समान एक पुत्र रत्न को जन्म दोगी, तुम अपना वह पुत्र रत्न मुझे प्रदान करोगी और वह जिनशासन की महती प्रभावना कर उसकी शोभा बढ़ाएगा।[1]

गर्भकाल पूर्ण होने पर पाहिनी ने विक्रम सम्वत् ११४५ की कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा के दिन प्राची में रोहणगिरि पर आरूढ़ उदीयमान ध्वान्तान्तकारी बाल आदित्य के समान अरुण वर्ण वाले मनोहारी नयनाभिराम पुत्र रत्न को जन्म

१. प्रवन्ध चिन्तामणिकार आचार्य श्री मेरुतुङ्गसूरि ने पाहिनी के स्वप्न और देवचन्द्रसूरि के आगमन आदि का कोई उल्लेख न करते हुए केवल यही लिखा है :—"अर्धाष्टमनामनि देशे धुन्धुक्क नगरे श्रीमन् मोढवंशे चाचिग नामा व्यवहारी·····तत्सधर्मचारिणी····· पाहिणी नाम्नी·····तयोः पुत्रश्चांगदेवोऽभूत्।

—प्रबन्ध चिन्तामणि, पृष्ठ १३५

दिया। विविध वाद्ययन्त्रों की कर्णप्रिय हृदयहारी सुमधुर मिश्रित ध्वनियों ने सम्पूर्ण वातावरण में मधु-सा घोल दिया। वर्द्धापन एवं आशीष-प्रदान आदि के लिये आने वाले नर-नारियों का श्रेष्ठिवर चाचिग के गृहांगण में तांता-सा लग गया। चाचिग श्रेष्ठि के हर्ष का पारावार न था। उसने मुक्त हस्त हो अभ्यर्थियों को अर्थ प्रदान कर तुष्ट किया। सूतक निवृत्ति के अनन्तर चाचिग ने अपने पारिवारिक जनों एवं प्रमुख पौरजनों को भोज के लिये आमन्त्रित कर अपने पुत्र का नाम चंगदेव रक्खा और सब समागत स्वजन सज्जनवृन्द का अशन-पान-ताम्बूलादि से सम्मान कर उन्हें विदा किया।

श्रेष्ठिवर चाचिग और माता पाहिनी बड़े दुलार प्यार से अपने कुलप्रदीप चंगदेव का पालन करने लगे। उन्हें क्या पता था कि यही उनका छोटा-सा कुल-प्रदीप आगे चलकर न केवल गुर्जर प्रदेश का ही अपितु सम्पूर्ण जैन जगत् का प्रखर प्रकाश पुंज प्रशस्त प्रदीप बन दशों दिशाओं को ज्ञान की लौ से आलोकित करने वाला है। श्रेष्ठि दम्पत्ति को सुर-दम्पत्ति तुल्य सुखानुभूति कराते हुए बालक चंगदेव ने क्रमशः अपनी वय के पांचवें वर्ष को पार कर छठे वर्ष में प्रवेश किया। सुख के ये पांच वर्ष पाहिनी को पांच मास तुल्य ही प्रतीत हुए। अपने व्यवसाय का सुचारू रूप से संचालन करने हेतु श्रेष्ठिवर चाचिग को प्रायः अपने नगर से बाहर जाना पड़ता था। एक समय चाचिग श्रेष्ठि अपने व्यावसायिक कार्य के निष्पादन के लिये ग्रामान्तर को गया हुआ था, उस समय आचार्यश्री देवचन्द्रसूरि का धुन्धुका नगर में आगमन हुआ।

अपने धर्माचार्य के दर्शन वन्दन के लिये पाहिनी अपने पुत्र को साथ ले 'मोढ वसही' की ओर प्रस्थित हुई। बालक चंगदेव अपनी माता के वाम कर की कनिष्ठिका पकड़े वसही में प्रविष्ट हुआ। जिस समय श्रेष्ठिपत्नी पाहिनी ने अपने पुत्र के साथ मोढ वसही में प्रवेश किया, उस समय देवचन्द्रसूरि अपने आसन से थोड़ी ही दूरी पर वसही में अवस्थित जिन मन्दिर में जिनेश्वर देव के चैत्य का वन्दन कर रहे थे। पाहिनी आचार्यदेव को आदक्षिणा प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन करने हेतु रुकी और उधर बालक चंगदेव आगे की ओर बढ़कर आचार्यश्री देवसूरि के आसन (निषद्या) पर जाकर बैठ गया। आश्चर्याभिभूत कतिपय कण्ठस्वरों से सहसा उद्गत—"अरे! यह क्या?" के स्वर वसही के वातावरण में प्रतिध्वनित हो उठे। आचार्यश्री ने चैत्य वन्दन के अनन्तर मुड़कर देखा कि एक तेजस्वी बालक उनके आसन पर पूर्वाभ्यस्त जन्मजात योगी की भांति आश्वस्त मुद्रा में निर्भय बैठा है। आचार्यश्री के तपोपूत मुखमण्डल पर हर्षाश्चर्य मिश्रित मधुर मुस्कान सहज ही थिरक उठी। अपने समक्ष वन्दन मुद्रा में मस्तक झुकाए खड़ी पाहिनी की ओर देखते ही मुखाकृति से आचार्यश्री ने समझ लिया कि उनके आसन (आचार्य पीठ) पर जो पुण्यशाली बालक शालीनता के साथ बैठा है, वह पाहिनी का ही पुत्र है।

जिनशासन को कोई अपूर्व लाभ होने वाला है, इस आशा से उनके अन्तस्तल में आध्यात्मिक आनन्द का अथाह पाथोधि उत्ताल तरंगों से उद्वेलित हो उठा।

कैसा अद्भुत अपूर्व सुन्दर सुयोग था, कैसी, शुभ घड़ी थी कि सम्भवतः एक ही दिन, एक ही शुभ मुहूर्त्त में दो बालकों ने दो प्रकार की सार्वभौम सत्ताओं के केन्द्र स्थल—दो सिंहासनों—को सहज ही एक साथ अलंकृत किया। जिस दिन, जिस समय ५ वर्ष, एक मास और ३ दिन की वय के बालक चंगदेव ने बाल लीला करते हुए जिनशासन के एक धर्मसंघ का संचालन करने वाले आचार्य के महान् उत्तरदायी आध्यात्मिक सार्वभौम सत्ता सम्पन्न आसन को अलंकृत किया, सम्भवतः उसी दिन, उसी समय में विशाल गुर्जर राज्य के अधिपति चालुक्य वंश के तीन वर्ष की वय के राजकुमार जयसिंह—राज राजेश्वर कर्ण के सुपुत्र ने बालक्रीड़ा ही क्रीड़ा में विशाल गुर्जर राज्य के सर्वोच्च राजनैतिक सत्ता सम्पन्न राज सिंहासन पर बैठकर उसे सुशोभित किया। इस सन्दर्भ में प्रभावक चरित्र और प्रबन्ध चिन्तामणि के निम्नलिखित उद्धरण साक्षी के रूप में मननीय हैं। 'प्रभावक चरित्रकार' ने पाहिनी के पुत्र चंगदेव के सम्बन्ध में लिखा है—

"तस्याथ पंचमे वर्षे, वर्षीयस इवाभवत्।
मतिः सद्गुरु सुश्रूषाविधौ विधुरितैन सः ॥२५॥
अन्यदा मौढ चैत्यान्तः प्रभूणां चैत्यवन्दनम्।
कुर्वतां पाहिनी प्रायात्, सपुत्रा तत्र पुण्यभूः ॥२६॥
सा च प्रदक्षिणां दत्वा, यावत् कुर्युः स्तुतिं जिने।
चंगदेवो निषद्यायां, तावन्निविविशे द्रुतम् ॥२७॥"

सारांश यह है कि ज्योंही बालक चंगदेव पांच वर्ष का हुआ उस समय वह अल्प वयस्क होते हुए भी सवयस्कों की भांति गुरु दर्शन वन्दन के रूप में धर्म गुरु की सेवा सुश्रूषा के लिए लालायित व उत्कण्ठित रहने लगा। एक दिन अपने पुत्र चंगदेव को साथ ले माता पाहिनी अपने धर्म गुरु श्री देवचन्द्रसूरि के दर्शन वन्दन के लिये मोढ वसही में गई, उस समय देवचन्द्रसूरि उस वसही के चैत्यालय में चैत्य वन्दन कर रहे थे अतः पाहिनी चैत्य के समक्ष रुकी। पर पांच वर्ष की वय का बालक चंगदेव आगे बढ़ा और देवचन्द्रसूरि के रिक्त पड़े आसन (पट्ट अथवा निषद्या) पर अनोखी आन-बान-शान की मुद्रा में जा बैठा।

आचार्यश्री मेरुतुंगसूरि ने अपनी ऐतिहासिक कृति 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में बालक सिद्धराज जयसिंह के सम्बन्ध में लिखा है :

"६. सुलग्ने तस्य जातस्य सूनोर्नृपति जयसिंह इति नाम निर्ममे। स बालस्त्रिवार्षिकः कुमारैः सवयोभिः सह रममाणः सिंहासनमलंचक्रे। नैमित्तिकैस्तस्मिन्नेवाभ्युदयिके लग्ने निवेदिते राजा तदैव तस्य सूनो राज्या-

भिषेकं चकार ।। सम्वत् ११५० वर्षे पौष वद ३ शनौ श्रवण नक्षत्रे वृषलग्ने श्री सिद्धराजस्य पट्टाभिषेकः ।

७. स्वयं तु आशापल्ली निवासिनमाशाभिधानं भिल्लमभिषेणयन् .... । कर्णावती पुरं निवेश्य स्वयं तत्र राज्यं चक्रे ।"

अर्थात्—चालुक्य राज कर्ण ने अपने पुत्र का नाम जयसिंह रक्खा । जब कुमार जयसिंह ३ वर्ष का हुआ उस समय अपने समवयस्क बालकों के साथ खेलता हुआ विशाल गुर्जर राज्य के सिंहासन पर इस प्रकार की प्रशस्त मुद्रा में जा बैठा मानो कोई अनुभवी सम्राट् अपने राज सिंहासन पर बैठा हो । समीप ही बैठे हुए महाराजा कर्ण एवं उनके मन्त्रिगण को तीन वर्ष जैसी स्वल्प वय के बालक राजकुमार को कुशल सम्राट् की मुद्रा में सिंहासन पर बैठे देख हर्ष मिश्रित आश्चर्य हुआ । पास ही में बैठे निमित्तज्ञ राज पुरोहित ने कहा :

"महाराज ! इस समय अतीव श्रेष्ठ मुहूर्त्त है । इसी समय राजकुमार का राज्याभिषेक कर दिया जाय तो आगे जाकर ये शक्तिशाली गुर्जर साम्राज्य की स्थापना कर निष्कंटक राज्य करेंगे ।"

सबके परामर्शानुसार महाराज कर्ण ने तत्काल तीन वर्ष के अल्पायुष्क राजकुमार जयसिंह का गुर्जर राज्य के राज सिंहासन पर विक्रम सम्वत् ११५० की पौष वदि तृतीया शनिवार के दिन विधिवत् राज्याभिषेक कर दिया ।

अपने पुत्र को गुजरात के राज सिंहासन पर आसीन कर देने के पश्चात् महाराज कर्ण ने आशापल्ली के आशा नामक भिल्लराज को युद्ध में परास्त कर वहां कर्णावती नगरी बसाई और वहां रहकर वह अपने नव संस्थापित राज्य का शासन करने लगा ।

'प्रभावक चरित्र' और 'प्रबन्ध चिन्तामणि' इन दोनों—विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के ग्रन्थों के उपरिलिखित उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि विक्रम सम्वत् ११५० में पांच वर्ष की वय का बालक चंगदेव देवचन्द्रसूरि के आसन पर और तीन वर्ष का अल्पायुष्क राजकुमार जयसिंह अपने पिता चालुक्यराज के राज सिंहासन पर बालक्रीड़ा करते-करते ही बैठ गये । यह अद्भुत संयोग की ही बात है कि एक ही समय में दो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के उच्च पीठ पर आसीन होने वाले ये दोनों बालक अपने-अपने क्षेत्र में अपने समय के शीर्षस्थ युगपुरुष सिद्ध हुए । कालान्तर में कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरि के नाम से विख्यात बालक चंगदेव ने दो राजाओं को जनकल्याण के मार्ग पर आरूढ़ कर जन-जन के जीवन में सुसंस्कार डालकर सुदीर्घ काल के लिये विस्तृत भू भाग में अमारि की घोषणाएं करवाने के माध्यम से गणनातीत पशु पक्षियों को अभयदान प्रदान कर और बड़ी संख्या में

आध्यात्मिक ग्रन्थरत्नों के सर्जन के माध्यम से जिनशासन के साहित्य की श्रीवृद्धि कर, दिग्दिगन्त में जैनधर्म की यशोपताका फहरा कर जिन शासन की चिरस्थायिनी महती प्रभावना की।

दूसरी ओर दूसरे बालक राजकुमार जयसिंह ने आगे चलकर सिद्धराज के विरुद से विख्यात हो गुर्जर राज्य की सीमाएं दूर-दूर के प्रदेशों तक बढ़ाकर एक शक्तिशाली गुर्जर साम्राज्य की स्थापना की। अस्तु।

आचार्य श्री देवचन्द्रसूरि ने प्रणाम करती हुई पाहिनी की ओर वरद मुद्रा में अपना करतल ऊपर उठाते हुए कहा :—"पुण्यशालिनी धर्मनिष्ठे ! तुम्हें अपने उस श्रेष्ठ स्वप्न का स्मरण होगा ही। आज तुम स्वयं प्रत्यक्ष देख लो। उस महा स्वप्न के माध्यम से अपने आगमन की पूर्व सूचना देने वाला यह तुम्हारा तेजस्वी बालक तुम्हारे उस नितरां अतीव सुन्दर श्रेष्ठतम स्वप्न को साकार रूप देने की भूमिका का शुभारम्भ कर रहा है। जिनशासन के आचार्य के इस उच्च आसन पीठ पर बैठा हुआ यह बालक न केवल तुम्हें और मुझे ही अपितु संसार को अपनी चेष्टा से बता रहा है कि वह इस आसन के लिये, इस पद अथवा पट्ट के लिये ही उत्पन्न हुआ है। श्राविके ! तुमने उस श्रेष्ठ स्वप्न में जिस चिन्तामणि का दान मुझे किया था वस्तुतः वह चिन्तामणि रत्न यह तुम्हारा पुत्र ही है। आओ ! इस चिन्तामणि को मुझे देकर अपने स्वप्न को साकार करो।"

माता पाहिनी ने देवेन्द्रसूरि की बात सुनकर कहा—"भगवन् ! इस बालक के पिता से ही आप इसको मांगिये, यही उचित होगा। वे इस समय यहां हैं नहीं, कार्यवश अन्यत्र गये हुए हैं।"

"इस बालक के पिता श्रेष्ठि चाचिग, मांगने पर भी अपने पुत्र को नहीं देंगे।" इस आशंका से देवचन्द्रसूरि असमंजसावस्था में मौन रहे।

लगभग ६ वर्ष पूर्व देखे गये स्वप्न पर विचार करते हुए पाहिनी ने मन ही मन सोचा :—"स्वप्न के अनुसार तो यह बालक मैं आचार्यश्री को समर्पित कर चुकी हूं। अदृष्ट का तो सांकेतिक आदेश यही है कि बिना मांगे ही अपने इस प्राणप्रिय पुत्र को आचार्यश्री के चरणों में सदा के लिये भेंट कर दूं। एकमात्र शासनहित की दृष्टि से अब तो ये स्वयं इसे मांग रहे हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से भी विचार किया जाय तो धर्माचार्य का अभ्यर्थनापूर्ण आदेश धर्मनिष्ठ उपासक-उपासिका वृन्द के लिये अनुल्लंघनीय होता है। इस प्रकार की स्थिति में तो मेरे एवं इस बालक के लिये वस्तुतः यही श्रेयस्कर है कि मैं अपने स्वप्न, अपने कर्त्तव्य एवं शासनहित को दृष्टिगत रखती हुई अपने इस प्राणप्रिय पुत्र का मोह त्यागकर जिनशासन की सेवा हेतु इसे आचार्यश्री को सदा के लिये समर्पित कर दूं। देश-विदेश में व्यापार के माध्यम से वित्तोपार्जन द्वारा घर, परिवार और राष्ट्र की समृद्धि एवं सांसारिक

सुखोपभोगों के लिये भी तो गुर्जर प्रदेश की धीर वीर साहसी रमणियां अपने प्राणाधार पति-पुत्रों को समुद्री यात्रा हेतु सदा से ही सहर्ष विदा करती आई हैं, अगाध अपार सागर के क्रोड में समर्पित करती आई हैं। अब मेरे पूज्य धर्माचार्य तो जिन-शासन की सेवा के लिये, परमार्थ के लिये, धर्माभ्युदय के लिये मेरे पुत्र की याचना कर रहे हैं। इहलोक एवं परलोक को सुधारने-संवारने वाले इस पारमार्थिक पुनीत कार्य के लिये अपने पुत्र को समर्पित करने में तो मुझे किसी प्रकार का व्यामोह और किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये।" इस प्रकार विचार कर पाहिनी ने अपने अन्तर में उद्वेलित होते हुए पुत्र-वियोग के दुःख को श्लाघनीय उत्कट साहस से दबाकर अपने होनहार पुत्र चंगदेव को अपने धर्मगुरु देवचन्द्रसूरि के चरणों में सदा के लिये समर्पित कर दिया।[1]

श्री देवचन्द्रसूरि ने दुलार भरे स्वर में बालक चंगदेव से प्रश्न किया :—"बोलो सौम्य ! क्या तुम मेरे शिष्य बनोगे ?" बालक ने मधुर मुस्कान से वातावरण में मधु सा घोलते हुए उत्तर दिया :—"हां महाराज !"[2]

बालक चंगदेव को अपने साथ लेकर देवचन्द्रसूरि ने माघ शुक्ला चतुर्दशी (विक्रम सम्वत् ११५०) के दिन शुभ मुहूर्त्त में धुन्धुका नगर से स्तम्भ तीर्थ की ओर विहार किया। विहारक्रम से स्तम्भ तीर्थ पहुंचने पर आचार्य श्री पार्श्वनाथ के मन्दिर में ठहरे। बालक चंगदेव मन्त्रीश्वर एवं सामन्त उदयन के भवन पर रह समवयस्क बालकों के साथ पढ़ने लगा।

श्री देवचन्द्रसूरि के साथ बालक चंगदेव के धुन्धुका से चले जाने के कतिपय दिनों पश्चात् श्रेष्ठि चाचिगदेव अन्य नगरों में अपने व्यावसायिक कार्य से निवृत्त हो धुन्धुका लौटा। अपने घर आते ही अपने पुत्र को घर में इधर-उधर कहीं नहीं देखकर चाचिग ने व्यग्र स्वर में अपनी पत्नी से पूछा :—"चंग कहां है ?"

पाहिनी ने मधुर स्वर में सब वृत्तान्त सुनाते हुए अपने पति से कहा कि शासनहित और स्वप्न के अदृष्ट संकेत को दृष्टिगत रखते हुए उसने उस होनहार पुत्र को आचार्य श्री देवचन्द्रसूरि के कर-कमलों में समर्पित कर दिया है।

अपने प्राणप्रिय एकमात्र पुत्र को सदा के लिए आचार्यश्री के समर्पित किये जाने की वात सुनकर श्रेष्ठि चाचिग बड़ा रुष्ट हुआ। पुत्र-विछोह में उसे घर-बार संसार शून्य-सा प्रतीत होने लगा। उसने दृढ़ स्वर में—"मैं जब तक अपने लाडले लाल को देख नहीं लूंगा, तब तक अन्न ग्रहण नहीं करूंगा।" यह कह कर स्तम्भतीर्थ की ओर तत्काल प्रस्थान कर दिया। मार्ग में बिना क्षण भर भी विश्राम किये वह

१. प्रभावक चरित्र, श्लोक संख्या ३१, पृष्ठ १८४
२. प्रबन्ध चिन्तामणि, पृष्ठ १३५

स्तम्भ तीर्थ पहुंचा । मार्ग में श्रम से थककर चूर हुआ धूलि-धूसरित चाचिग सीधा देवसूरि के पास उपाश्रय में गया । क्रोधातिरेक से उसका मुखमण्डल तमतमा रहा था । भावावेशवशात् श्वासोच्छ्वास की गति तीव्र हो जाने के कारण उसके नथुने फूल उठे थे । इस प्रकार क्रोधाभिभूत क्लान्त चाचिग ने केवल कुलागत संस्कार-वशात् ग्रीवा को थोड़ा-सा झुका आचार्यश्री को नमन किया । प्रथम दृष्टि-निपात में ही देवेन्द्रसूरि ने मुखाकृति से चाचिग को पहचान कर सुधासिक्त शान्त वचनों से उसके क्रोध का शमन कर दिया । खम्भात (स्तम्भ तीर्थ) का सामन्त मन्त्री उदयन भी उस समय आचार्यश्री की सेवा में बैठा हुआ था । चाचिग के साथ आचार्यश्री के सम्भाषण के प्रथम वाक्य से ही उदयन ने ताड़ लिया कि नवागन्तुक होनहार बालक चंगदेव का जनक श्रेष्ठि चाचिग ही है ।

अवसरज्ञ मन्त्रीश्वर उदयन ने आचार्यश्री के चरणों पर अपना मस्तक रख उठने का उपक्रम करते हुए आचार्यश्री से निवेदन किया—"आचार्यदेव ! मुझे आपकी सेवा में उपस्थित हुए पर्याप्त समय हो गया है । मन तो चाहता है कि अहर्निश इन चरणों की सेवा में ही रहूं किन्तु बालक चंगदेव बड़ी उत्कण्ठा से मेरी प्रतीक्षा कर रहा होगा । ये धर्मबन्धु भी बड़ी दूर से आये हुए श्रान्त से प्रतीत होते हैं । ये भी मेरे साथ चलकर अशन-पानादि के अनन्तर अपनी थकान दूर कर लेंगे ।

आचार्यश्री की आशीर्वाद मुद्रा में मौन सम्मति देखकर मन्त्रिवर उदयन ने धूलि-धूसरित परिश्रान्त एवं क्लान्त मुख चाचिग श्रेष्ठि को सम्वोधित करते हुए कहा :—"सम्माननीय धर्मबन्धु ! आइये, अपने स्वधर्मी वन्धु की झौंपड़ी को भी पवित्र कर दीजिये ।"

श्रेष्ठि चाचिग ने एक बार देवचन्द्रसूरि के मुख मण्डल की ओर और तदनन्तर उदयन की ओर दृष्टि निक्षेप कर अनुभव किया कि आचार्यश्री के मुख-मण्डल पर अथाह असीम शांति का साम्राज्य झलक रहा है और उदयन की प्रभाव-पूर्ण मुखमुद्रा से आन्तरिक आग्रहभरी मनुहार । श्रेष्ठि चाचिग उठा और अब की बार पूर्ण श्रद्धा से नत मस्तक हो आचार्यश्री को प्रणाम करने के अनन्तर मन्त्री उदयन के साथ उपाश्रय से प्रस्थित हुआ ।

उपाश्रय के बाहर पैर रखते ही यह देखकर श्रेष्ठि चाचिग के आश्चर्य का पारावार नहीं रहा कि बड़े-बड़े राज्याधिकारी अपना-अपना वाम कर अपने वक्ष-स्थल पर रखे आजानुशीष झुका कर दक्षिण कर से पृथ्वी तल का स्पर्श करते हुए उसके आगे-आगे चलते हुए भद्र पुरुष को अति विनम्र मुद्रा में प्रणाम कर रहे हैं । विस्फारित नयन युगल से चाचिग यह देख ही रहा था कि सहसा श्वेतवर्ण के हृष्ट-पुष्ट जातीय अश्वों से वाहित एक बड़ी ही सुन्दर बग्घी उसके समक्ष उपस्थित हुई । जामुनी रंग की मखमल में जरी के काम का आनख-शिख परिधान पहने बग्घी-

वाहक ने विद्युत्वेग से नीचे उतर उसी विनयावनत मुद्रा में उस भद्र पुरुष का अभिवादन करते हुए बग्घी का द्वार खोला। सहसा भद्र पुरुष ने पीछे की ओर मुड़कर श्रेष्ठि चाचिग का करावलम्बन कर उसे बग्घी में एक उच्चासन पर आसीन किया और स्वयं भी चाचिग के वाम पार्श्व में उसी उच्चासन पर आरूढ़ हो गया। द्वार बन्द कर रथी ने घोड़ों की रास सम्भाली और उसके एक ही इंगित पर बग्घी को लिये आठों अश्व पवन को भी पीछे ढकेलते हुए राजपथ पर सरपट दौड़ने लगे। चाचिग ने देखा—राजपथ के दोनों पार्श्व की आपणिकाओं में बैठे क्रय-विक्रय में व्यस्त ग्राहक और व्यवसायी घोड़ों के पोड़ों की ध्वनि कर्णरन्ध्रों में पड़ते ही विद्युत् वेग से खड़े हो उस भद्र पुरुष को सांजलि शीष झुका अभिवादन करने लगे और गगनचुम्बी भवनों के गवाक्षों एवं अट्टालिकाओं पर खड़ी सुहागिनें बग्घी की ओर अबीर और पुष्प की वर्षा करने लगीं। आश्चर्याभिभूत चाचिग इस प्रभावोत्पादक नयनाभिराम दृश्य को देख देखकर मन ही मन यह सोच ही रहा था कि उसके वाम पार्श्व में बैठा हुआ यह भद्र पुरुष वस्तुतः है कौन, जिस पर नगर के नर नारी वृन्द पग-पग पर सम्मानपूर्ण असीम आन्तरिक अनुराग उंडेल रहे हैं, कि वह बग्घी एक राज प्रासादोपम गगनचुम्बी भव्य भवन के विशाल द्वार में प्रविष्ट हो मुख्य भवन के सौपान प्रकोष्ठ में रुकी। रथी ने पूर्व की ही भांति त्वरित गति से नीचे उतर कर बग्घी का द्वार खोला और विनत मुद्रा में द्वार थामे खड़ा हो गया।

मन्त्रिवर उदयन ने रथ से नीचे उतर कर श्रेष्ठि चाचिग को करावलम्बन दे सम्मानपूर्वक बग्घी से नीचे उतारा और उन्हें साथ लिये अपने मन्त्रणाकक्ष में प्रवेश किया। उसी समय बालक चंगदेव दौड़ा-दौड़ा आया और उदयन के घुटनों को अपने छोटे-से बाहुपाश में आबद्ध कर मचलते हुए प्रश्न किया :—"मन्त्री प्रवर! आपने इतना विलम्ब कहां कर दिया ?"

बालक चंगदेव के दोनों कपोलों को अपने करतल युगल से दुलारपूर्वक सहलाते हुए मन्त्रिवर ने कहा :—"देखो चतुर चंगे चंग ! हमारे यहां ये कौन आये हैं ?" यह कहकर उदयन ने अपने सेवकों को आदेश दिया कि वे चाचिग के स्नानादि की व्यवस्था करें।

बालक चंगदेव ने इधर मन्त्री के इंगित की ओर देखा और "वप्पा ! आप कब आये ?" कहते हुए अपने पिता के चरणों में प्रणाम किया। चाचिग ने भी चंगदेव को अपने वक्षस्थल से चिपका कर बार-बार उसके मस्तक को सूंघा।

"वप्पा ! मैंने पढ़ना-लिखना सीख लिया है। स्वयं मन्त्रीश्वर भी मुझे पढ़ाते हैं। बड़े अच्छे हैं ये। वप्पा ! जानते हो ? ये मन्त्रीश्वर वप्पा उदयन हैं।"

उदयन ने बालक को दुलार से उलाहने के स्वर में कहा :—"चंग ! चंग ! अपने वप्पा को कुछ खिलायेगा-पिलायेगा भी कि केवल बातों से ही इनका पेट भर देगा ?"

उसी समय सेवक ने स्नानगृह की ओर संकेत करते हुए चाचिग से विनम्र स्वर में निवेदन किया :—"मान्यवर ! स्नानादि के लिये कृपया पधारिये।"

श्रेष्ठि चाचिग के स्नानादि से निवृत्त होते ही मन्त्रीश्वर उदयन ने उन्हें अपने साथ बिठाकर भोजन कराया। मन्त्रिवर उदयन के इस प्रकार के उदारतापूर्ण वात्सल्य भाव का चाचिग श्रेष्ठि के अन्तर्मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। कुवेरोपम समृद्धि के स्वामी, राजसभा सदस्य, शूर शिरोमणि, सामन्त के अन्तर्मन में भी इस प्रकार की निरभिमानिता और स्वधर्मीवात्सल्य की भावना हो सकती है, यह श्रेष्ठिवर चाचिग को अपने जीवन में पहली बार अनुभव हुआ।

अशन-पानादि से निवृत्त होने के अनन्तर उदयन ने श्रेष्ठि चाचिग से कहा :—"अब आप विश्राम कीजिये। आप इसे अपना ही घर समझिये। भोजनोपरांत वामकुक्षि विश्राम स्वास्थ्य की दृष्टि से परमावश्यक है।" तत्पश्चात् विश्रान्तिकक्ष में मन्त्री उदयन और चाचिग ने घड़ी भर विश्राम किया। श्रेष्ठि चाचिग की थकान दूर हुई।

चाचिग को पूर्ण रूपेण आश्वस्त देखकर उदयन ने सम्भाषण का क्रम प्रारम्भ करते हुए कहा :—"श्रेष्ठिवर ! आपका यह पुत्र चंगदेव वस्तुत: अदृष्ट पूर्व उत्कृष्ट मेधा एवं चमत्कारपूर्ण प्रतिभा का धनी है। इसने स्वल्प समय में ही पढ़ने लिखने और सुसंस्कारों को अपने जीवन में ढालने में अपनी असाधारण मेधा-शक्ति का परिचय देकर हम सब लोगों के मन को जीत लिया है। मेरी यह सुनिश्चित, सुदृढ़ धारणा बन गई है कि यह बालक आगे चलकर न केवल गुर्जर भूमि के गौरव की अपितु हमारी सम्पूर्ण आर्यधरा की गरिमा की कीर्ति-पताका दिग्दिगन्त में लहराएगा। देवचन्द्रसूरि जैसे महान् आध्यात्मिक शिल्पी महापुरुष के अहर्निश सान्निध्य में तो यह बालक आगे चलकर धर्म-धुरा-धौरेय और जन-जन के हृदय का सम्राट् युगपुरुष सिद्ध होगा। आप तो इसके जन्म काल से ही इसकी चेष्टाओं को, इसके अलौकिक गुणों को देखते आ रहे हैं। अत: आप तो इसकी असाधारण प्रतिभाओं से भली भांति परिचित ही हैं।"

चाचिग ने अपने अन्तर्मन की अवशता को, प्रकट करने की मुद्रा में, निवेदन करते हुए कहा—"उदारमना मन्त्रिवर ! आपकी लोकप्रसिद्ध पैनी पारखी दृष्टि की यशोगाथाएं मैंने सुनी हैं। आपके निष्कर्ष वस्तुत: अन्तिम रूप से निर्णायक होते हैं। जटिल से जटिलतम किसी भी विषय में आपके अपने बुद्धिकौशल से तथ्यातथ्य के सम्बन्ध में विचार करने के उपरान्त जिस निष्कर्ष पर आप पहुंचते हैं, उस निर्णय के सम्बन्ध में फिर किसी के लिये किसी भी प्रकार की शंका करने का किञ्चित्मात्र भी अवकाश नहीं रह जाता। ठीक इसी प्रकार इस अल्पवयस्क बालक के उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में इसके लक्षणों, गुणावगुणों को परख कर उन सबके निष्कर्ष के रूप में आप जिस निर्णय पर पहुंचे हैं, उस निर्णय से मैं पूर्ण रूपेण सहमत हूं। होनहार

बिरवान के होत चीकने पात' इस तथ्यपूर्ण सूक्ति के अनुसार इस बालक के लक्षणों, चेष्टाओं, इसका उठना बैठना, इसके कार्य कलापों एवं प्रतिदिन की प्रवृत्तियों को देखकर उसके उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में आप जिस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं, मैं भी वस्तुतः यही सोचता हूं कि आगे चलकर यह बालक असाधारण कार्यों को निष्पादित करने वाला कोई असाधारण पुरुष होगा। पर मन्त्रीश्वर ! वस्तुस्थिति यह है कि मेरे बुढ़ापे का सहारा, मेरे अन्धेरे घर का दीपक यही एकमात्र पुत्र है। मन्त्री प्रवर ! मेरे घर में इसके अतिरिक्त भले ही साधारण से साधारण प्रतिभा वाला एक भी और पुत्र यदि होता तो मैं सहर्ष इस बालक को जिनशासन की सेवा में हमारे धर्मसंघ को हमारे ज्ञानपुंज तपोधन आचार्यदेव को समर्पित कर देता। पर यदि इस इकलौते पुत्र को भी धर्माचार्य की भेंट कर दिया जाय तो हमारा शेष समग्र जीवन, घोर अन्धकारपूर्ण हो जायगा। हमारे पश्चात् हमारे घर के द्वार सदा के लिये बन्द हो जायेंगे। बस यही एक बहुत बड़ी दुविधा मेरे समक्ष है। अन्यथा अपने प्राणप्रिय पुत्र के उज्ज्वल भविष्य में बाधक बनने जैसी मूर्खता मैं कदापि नहीं करता।"

मन्त्री उदयन ने बड़े एकाग्र चित्त से श्रेष्ठि चाचिग की बात सुनने के पश्चात् कहा :—"धर्मबन्धु श्रेष्ठिवर ! साधारणतः लौकिक दृष्टि से आपका कथन शत-प्रतिशत समुचित है। किन्तु जहां तक इस बालक की असाधारण पुण्यशालिनी प्रतिभा के सदुपयोग का प्रश्न है, आपको, हमें लौकिक दृष्टि की अपेक्षा समष्टि के हित में लोकोत्तर दृष्टि को, आध्यात्मिक दृष्टि को सर्वाधिक महत्त्व देना होगा। इस तथ्य से तो आप भली भांति अवगत ही हैं कि असाधारण अलौकिक आत्मशक्ति सम्पन्न युग परिवर्तनकारिणी विभूतियां इस धरातल पर अनेकों शताब्दियों ही नहीं अपितु कतिपय सहस्राब्दियों के अन्तराल के अनन्तर कभी-कभी समष्टि के पुण्योदय से ही अवतीर्ण होती हैं। आपका यह बालक चंगदेव सहस्राब्दियों से जन-जन के प्रबल पुण्योदय के फलस्वरूप अवनितल पर अवतीर्ण होने वाली महान् विभूतियों में से एक महा महिमामयी महार्घ्य विभूति है। यों तो संसार में जन्म-मरण का क्रम अनादि काल से अनवरत रूपेण चला आ रहा है। लाखों करोड़ों मानवों में से प्रायः अधिकांश लघु श्रेणी के, उनसे कम मध्यम श्रेणी के ही होते हैं। उन करोड़ों लोगों में से असाधारण उच्च कोटि के शिल्पी, विद्वान् योद्धा, व्यवसायी अथवा प्रशासक भी इने गिने—इक्के दुक्के हो ही जाते हैं। किन्तु जन-जन को विश्व बन्धुत्व का पाठ पढ़ाकर इह तथा पर—उभय लोकों में परम कल्याणकारिणी सच्ची मानवता के सांचे में ढालने वाले, नर को नारायण अथवा सत्यं शिवं सुन्दरं स्वरूप प्रदान करने वाले समष्टि के सच्चे मित्र युग प्रवर्त्तक महापुरुष तो युग युगान्तरों में सहस्रों वर्षों के अन्तराल से कभी-कदास ही होते हैं। जो काम आप नहीं कर सकते, मैं नहीं कर सकता, हमारे जैसे करोड़ों व्यक्ति भी मिल कर नहीं कर सकते हैं, उस कार्य को विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न वह महान् विभूति सहज ही सम्पन्न-सिद्ध कर देती है। इस युग के महान् योगी भविष्य द्रष्टा देवचन्द्रसूरि ने आपके इस असा-

धारण प्रतिभाशाली पुत्र चंगदेव में उसी प्रकार की विराट् विभूति का अंकुर देखकर ही जिनशासन के अभ्युदय-उत्कर्ष के साथ-साथ जन-जन के अन्तर्मन में सच्ची मानवता के विकास के उद्देश्य से ही इस विलक्षण विभूति का चयन किया है।

घर, द्वार, परिवार, विषय, कषाय, ऐहिक सुखोपभोग एवं समस्त सांसारिक प्रपंचों को तृणवत् त्याग कर, विषवत् वमन कर स्वयं के कल्याण के साथ-साथ समष्टि के कल्याण के लिये इन्होंने आगार रहित अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह–इन पांच महाव्रतों की प्रव्रज्या अंगीकार की है। सकल चराचर प्राणिवर्ग के हितैषी विश्वबंधु हमारे धर्मगुरु आचार्यदेव को किसी प्रकार का किंचित्मात्र भी ऐहिक लोभ हो, इस प्रकार की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। इनके अन्तर्मन में यदि किसी प्रकार का लोभ, यदि किसी प्रकार की आकांक्षा है तो केवल यही कि जिनशासन का अभ्युदय-उत्कर्ष, प्रचार-प्रसार हो और सभी भांति समुन्नत जिनशासन के माध्यम से जन-जन के मन में मानवीय गुणों का विकास हो, समष्टि का कल्याण हो, एक मात्र इसी उद्देश्य से दूरदर्शी आचार्यश्री ने आपके पुत्र का चयन किया है कि आगम ज्ञान का, आध्यात्मिक ज्ञान का सुपात्र यह बालक सभी विद्याओं में निष्णात हो, जन-जन का पथ प्रदर्शक बने, समष्टि को सत्पथ पर आरूढ़ कर जिनशासन की महिमा को दिग्दिगन्त में व्याप्त कर दे।"

श्रेष्ठि चाचिग ने व्यग्र स्वर में कहा—"किन्तु मन्त्रीश्वर ! मेरे तो एकमात्र पुत्र है। इसे यदि जिनशासन को समर्पित कर दूंगा तो संसार में मेरा और मेरे पूर्वजों का नाम ही मिट जायगा। इस एक मात्र पुत्र, कुल-दीपक को दे देने पर तो न केवल मेरे घर में ही अपितु मेरे अभ्यन्तर में, मेरी आंखों के समक्ष सदा के लिये निविड़तम घनान्धकार छा जायगा।"

उदयन ने श्रेष्ठि चाचिग की आक्रोशपूर्ण व्यग्रता को शान्त करते हुए कहा :—"बन्धुवर ! जिनशासन के इस भावी कर्णधार एवं महान् प्रभावक पुत्ररत्न को जिनशासन की सेवा के लिये, श्रमण भगवान् महावीर के धर्मसंघ के उत्कर्ष के लिये समर्पित कर देने पर आपका नाम मिटेगा नहीं अपितु इस बालक के साथ-साथ आपका, आपकी रत्नगर्भा धर्मपत्नी का, मोढ जाति का, आपके धुन्धुका ग्राम का और समस्त गुर्जर प्रदेश का नाम सदा सर्वदा के लिये, जब तक सूर्य और चन्द्र प्रकाशमान रहेंगे, तब तक के लिये अमर हो जायगा। आपके जीवन में घनान्धकार नहीं जिनशासन के इस उदीयमान दिव्य नक्षत्र की यशश्चन्द्रिका से न केवल आपके घर, आंगन और अन्तर्मन में ही अपितु समस्त पृथ्वीतल पर अनिर्वचनीय आनन्द प्रदायक अलौकिक आलोक जगमगा उठेगा।"

"युग प्रवर्त्तक महापुरुषों की श्रेणि को सुशोभित करने वाले इस भावी महापुरुष को क्या आप धंधुका की धूलि में ही धूलि-धूसरित अवस्था में देखना चाहते हैं ?

श्रेष्ठिवर ! संसार में धन वैभव ही सब कुछ नहीं है। जन्म उसी का सफल है जो भूले-भटके लोगों को सन्मार्ग पर आरूढ करे। समष्टि के कल्याण के लिये जीवन अर्पित कर दे। आप अपने इस होनहार पुत्र को घर ले जाकर प्रारम्भ में लिखाएंगें पढाएंगें और फिर व्यवसाय में झौंक देंगे। व्यवसाय में भाग्यवशात् लाखों की सम्पत्ति एकत्रित भी कर ली तो उससे क्या होने वाला है ? आज गुर्जर प्रदेश में एक से एक बढ़कर कुबेरोपम समृद्धि के स्वामी साहस्रों श्रीमन्त श्रेष्ठि हैं। अधिक से अधिक यही होगा कि उन सहस्रों श्रीमन्तों की संख्या में आपका पुत्र भी एक अंक और बढ़ा दे। मानव जीवन की सार्थकता की इतिश्री इसी में नहीं हो जाती कि लाखों करोड़ों की सम्पत्ति का स्वामी बने। मुझे ही देख लीजिये मेरे प्रारम्भिक जीवन में मेरी आर्थिक स्थिति बड़ी दयनीय थी। धनोपार्जन के लिये घरवार छोड़कर मैं पाटन में आया। मुझे सिर छिपाने के लिये एक विधवा छींपी (मालवणिया) के घर के कोने में एक जगह मिली। भाग्य में परिवर्तन आया। मैं करोड़ों की सम्पत्ति का स्वामी हो गया। गुर्जर राज्य के मन्त्री पद पर भी मुझे आसीन किया गया। आज मैं गुर्जर जैसे विशाल और शक्तिशाली राज्य का मन्त्री होने के साथ-साथ गुर्जर राज्य के समृद्धिशाली एक प्रान्त-सँविभाग स्तम्भतीर्थ (खम्भात) का राज्यपाल हूं। विपुल वैभव और सत्ता का स्वामी होते हुए भी मुझे शान्ति कहां है ? शान्ति की खोज में मैं प्रतिदिन त्यागी विरागी निष्परिग्रही श्रमणोत्तमों की सेवा में उपस्थित होता हूं। यदि सत्ता और समृद्धि में ही सुख और शान्ति का निवास होता तो मुझे कहीं जाने की आवश्यकता नहीं थी। लोभ वस्तुतः अलोकाकाश के समान अनन्त-असीम है। धन की इच्छा सन्तोष के विना कभी किसी की पूरी हुई है न होगी ही। यह भी कोई निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि अमुक व्यक्ति लक्ष्मीपति होगा ही। लाखों व्यवसायी अहर्निश वित्तोपार्जन का प्रयास करते हैं लेकिन हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि अनेकों से लक्ष्मी जीवन भर रूठी ही रहती है। दूसरी ओर जन्म मरण के चक्र से सदा सर्वदा के लिये मुक्ति दिलाकर अनन्त सुख अव्याबाध आनन्द प्रदान करने वाला प्रशस्त आध्यात्मिक पथ है, जिसके लिये ज्ञानपुंज आचार्यश्री देवचन्द्र ने इस बालक का चयन किया है। इस बालक के लक्षणों को देखने से भी यही प्रतीत होता है कि आध्यात्मिक पथ पर आरूढ़ हो जन्म-जरा-मृत्यु-व्याधि आदि घोरातिघोर दारुण दुखों से ओतप्रोत इस संसार में सन्त्रस्त भव्य प्राणियों को शाश्वत सुख के पथ पर आरूढ़ करने के लिये ही इस बालक का जन्म हुआ है। चिन्तामणि रत्न तुल्य इस होनहार बालक को यदि आप केवल धन के लिये ही मुक्तिपथ से विमुख करना चाहते हैं तो मेरे पास स्वर्णराशि की कोई कमी नहीं है,लाखों, करोड़ों, जितनी भी स्वर्ण मुद्राएं आपको चाहिये, आप सहर्ष ले लीजिये।"

श्रेष्ठि चाचिग का आत्म सम्मान मन्त्रिवर उदयन के अन्तिम वाक्य को सुनते ही सहसा तिलमिलाकर जाग उठा [illegible] कहा—"मन्[illegible] आपके

इस कथन के पीछे आपकी भावना प्रशस्त है, आप मुझे मोहनिद्रा से जागृत कर देने के लिये ही यह सब कुछ कह रहे हैं तथापि मैं आप से यह निवेदन कर देना चाहता हूं कि आपके स्वयं के कथनानुसार मेरा यह पुत्र संगदेव अनर्घ्य है। संसार की समस्त सम्पदा को मैं इसके नाम पर ठुकराता हूं। क्योंकि वस्तुतः इसका कोई मोल है ही नहीं। जिनशासन के प्रति प्रगाढ प्रेम भरे, समष्टि के कल्याण के प्रति आपके अगाध आस्थापूर्ण आन्तरिक उद्‌गारों को सुनकर अब मेरी मोहनिद्रा पूर्णतः भंग हो गई है। यदि मैंने अपने पुत्र को अपने पास ही रक्खा, तो इसे मदारी के वन्दर के समान जन-जन को नमस्कार करना होगा और यदि मैंने इसे गुरुचरणों में समर्पित कर दिया तो यह विश्ववन्द्य हो जायगा। राजा, महाराजा, श्रीमन्त, सेनापति, योद्धा और सभी प्रजाजन इसे वन्दन-नमन करेंगे। अतः मैं अपने प्राणप्रिय पुत्र को सहर्ष जिनशासन की सेवार्थ आचार्यश्री की सेवा में समर्पित करने के लिये समुद्यत हूं।"

श्रेष्ठि चाचिग ने दृढ निश्चयपूर्ण स्वर में मन्त्रिवर उदयन से कहा :— "बालक चंगदेव को लेकर चलिये। मैं इसी समय इसे आचार्य श्री देवचन्द्रजी के चरणों में जिनशासन की सेवार्थ समर्पित करता हूं।"

मन्त्री उदयन, चाचिग श्रेष्ठि और बालक चंगदेव एक द्रुतगामी वाहन पर वैठ देवेन्द्रसूरि की सेवा में पहुंचे। वन्दन-नमन के अनन्तर श्रेष्ठिवर चाचिग ने सांजलि शीष झुका आचार्यश्री से निवेदन किया :— "भगवन्! मेरे इस प्राणप्रिय पुत्र चंगदेव को मेरी धर्मिष्ठा सहधर्मिणी पहले ही आपको समर्पित कर चुकी है। अव मैं भी इसे सहर्ष आपकी सेवा में सदा के लिये समर्पित करता हूं। अव इसके माता, पिता, आराध्यदेव एवं भगवान् सब कुछ आप ही हैं।"

यह सुनते ही होनहार वालक चंगदेव के हर्ष का पारावार न रहा। उसने आचार्यश्री के चरणों पर अपना मस्तक रखते हुए उनके चरणों को अपने दोनों कोमल हाथों से कस कर पकड़ लिया। संघ में हर्ष की लहर दौड़ गई। दीक्षा का मुहूर्त्त निकाला गया और विक्रम सम्वत् ११५० की माघ शुक्ला चतुर्दशी शनिवार के दिन अति श्रेष्ठ मुहूर्त्त में आचार्यश्री देवचन्द्र ने बालक चंगदेव को स्तम्भतीर्थ में स्थित भगवान् पार्श्वनाथ के मन्दिर के प्रांगण में पंच महाव्रत रूप श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान कर दी। दीक्षा के समय चंगदेव का नाम सोमचन्द्र रक्खा गया। मन्त्रिवर उदयन ने स्वयं अभूतपूर्व समारोह के आयोजन के साथ दीक्षा-महोत्सव की समुचित रूप से देख-रेख एवं व्यवस्था की। प्रभावक चरित्र के उल्लेखानुसार दीक्षा के समय वालक चंगदेव की वय ५ वर्ष ३ मास की थी। प्रवन्ध चिन्तामणि के उल्लेखानुसार दीक्षित होने के समय बालक चंगदेव की आयु लगभग आठ वर्ष की थी।[1] प्रभावक चरित्र विक्रम सम्वत् १३३४ को और

---

१. ....तयोः पुत्रश्चांगदेवोऽभूत्। स चाष्टवर्षदेश्यः श्री देवचन्द्राचार्येषु श्री पत्तनात्तीर्थ यात्रा प्रस्थितेषु धुन्धुक्के श्री मोढवसहिकायां देवनमस्करणाय प्राप्तेषु निषद्यासन-स्थित तदीय निपद्याया उपरि सवयोभिः समं रममाणः शिशुभिः सहसा निषसाद।
—प्रबन्ध चिन्तामणि, पृष्ठ १३५

प्रबन्ध चिन्तामरिण विक्रम सम्वत् १३६१ की कृति है। इस प्रकार प्रभावक चरित्र प्रबन्ध चिन्तामरिण से २७ वर्ष पूर्व की रचना है। तथापि हेमचन्द्रसूरि की दीक्षा के सम्बन्ध में अन्य कोई प्रामारिणक लेख के अभाव में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि इन दोनों उल्लेखों में कौनसा उल्लेख वस्तुतः ठीक है। इतना होते हुए भी प्रभावक चरित्र में उल्लिखित दीक्षाकाल ही अन्यत्र कतिपय ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इस कारण जब तक कि अन्य कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध न हो जाय तब तक प्रभावक चरित्र के उल्लेख को ही प्रामारिणक मानने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। प्रबन्ध-चिन्तामरिणकार ने कुमारपाल प्रबन्ध में :—तदनु सुतस्य प्रव्रज्याकरणोत्सवश्चाचिगेन चक्रे।" इस उल्लेख से यह स्पष्ट किया है कि हेमचन्द्र सूरि की दीक्षा के महोत्सव में उनके पिता चाचिग ने ही व्ययभार वहन किया।

नवदीक्षित मुनि सोमचन्द्र अपने गुरु की सेवा में रहकर बड़ी निष्ठा के साथ अध्ययन करने लगे। अतिशय मेधावी मुनि सोमचन्द्र ने अनुक्रमशः संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, आदि भाषाओं का बोध प्राप्त करने के अनन्तर साहित्य, व्याकरण, तर्कशास्त्र, छन्दशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र आदि अनेक विद्याओं का निष्ठापूर्वक अध्ययन करते हुए उन सब विषयों में पारीणता प्राप्त की। गुरु के चरणों की सेवा करते हुए उन्होंने जैनागमों एवं आगमिक साहित्य का भी तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया। मुनि सोमचन्द्र की स्मरण शक्ति इतनी तीव्र थी कि किसी भी विषय के ग्रन्थ को दो तीन बार पढ़ने मात्र से ही वह ग्रन्थ कण्ठस्थ हो जाता था। किशोर वय में ही वे स्व पर दर्शन के अपने समय के अप्रतिम विद्वान् बन गये और उनके पांडित्य की ख्याति चारों ओर प्रसृत हो गई।

प्रभावक चरित्र के उल्लेखानुसार सभी विद्याओं में निष्णातता प्राप्त करने के अनन्तर भी मुनि सोमचन्द्र को आत्म-सन्तोष नहीं हुआ। वे मन ही मन सोचने लगे—"पूर्वकाल में आर्य वज्र आदि ऐसे प्रतिभाशाली पदानुसारिणी विद्या के धनी विद्वान् हुए हैं, जो एक पद को देखते ही एक लाख पदों का ज्ञान प्राप्त कर लेते थे, उस प्रकार की विलक्षण प्रतिभा अथवा लब्धि प्राप्त हो तभी अथाह ज्ञान उपार्जित करके जिनशासन के उत्कर्ष, प्रचार एवं प्रसार के लिये परमोपयोगी उत्तम साहित्य का निर्माण किया जा सकता है। अन्यथा इस प्रकार एक-एक विषय के तलस्पर्शी ज्ञान को प्राप्त करने के लिये विभिन्न विषयों के अनेकानेक बड़े-बड़े ग्रन्थों को पढ़ने में ही पूरी आयु व्यतीत हो जायगी और जिनशासन की सेवा के लिये, प्रभावना के लिए मैं कुछ भी नहीं कर सकूंगा। धिक्कार है मुझे; जो मैंने इस प्रकार की स्थूलबुद्धि प्राप्त की है। ऐसी स्थिति में मुझे सरस्वती की उपासना करनी पड़ेगी।" पर्याप्त सोच-विचार के अनन्तर मुनि सोमचन्द्र ने सरस्वती की उपासना करने का दृढ़ संकल्प किया और एक दिन प्रातःकाल अपने गुरु श्री देवचन्द्रसूरि के चरणों पर अपना मस्तक रखते हुए उन्होंने निवेदन किया :—"भगवन्! मैं विद्यासिद्धि के

लिये देवी सरस्वती की उपासना करना चाहता हूं। मुझे आज्ञा दीजिये। मैं यथाशक्य शीघ्र ही लौटने का प्रयास करूंगा।"[1]

इस प्रकार की साधना से किशोर मुनि को अवश्यमेव ही लाभ होगा, यह विचार कर देवचन्द्रसूरि ने सोमचन्द्र मुनि के मस्तक पर अपना वरद हस्त रखते हुए कहा :—"वत्स ! तुम पर सरस्वती बिना किसी प्रकार की उपासना के ही प्रसन्न है। यही कारण है कि तुम्हारी तुलना करने वाला कोई विद्वान् आज कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। अल्प वय को देखते हुए तुमने जो अध्ययन किया है, वह स्तुत्य है। उसमें परिपक्वता तो शनैः शनैः आयु और अनुभव इन दोनों की वृद्धि से ही प्राप्त होगी। किन्तु तुम्हारी मुखमुद्रा से मुझे यह स्पष्टतः अनुभव हो रहा है कि तुम श्रुत देवता सरस्वती की उपासना के लिए कृत संकल्प हो। मैं तुम्हें अनुमति देता हूं कि अपने अटल निश्चय के अनुसार तुम विद्या देवी की उपासना करो और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के पश्चात् शीघ्र ही लौटो। मेरी और संघ की शुभ कामनाएं तुम्हारे साथ हैं।"

अपने गुरु की अनुज्ञा प्राप्त कर कतिपय गीतार्थ मुनियों के साथ विद्या के केन्द्र ब्राह्मी देश की ओर मुनि सोमचन्द्र ने प्रस्थान किया। विहारक्रम से रैवताचल को पार कर मुनि सोमचन्द्र नेमिनाथ तीर्थ में आये और एकान्त स्थान में ठहरे। रात्रि में अपने नासाग्र पर दृष्टि जमाये मुनि सोमचन्द्र ब्राह्मी की आराधना में निरत हो गये। सभी चित्तवृत्तियों के निरोधपूर्वक एकाग्र मन से विद्या की देवी ब्राह्मी की उपासना के परिणामस्वरूप लगभग अर्द्ध रात्रि के समय ब्राह्मी देवी उनके समक्ष प्रकट हुई और अपना वरद हस्त ऊपर उठा मुनि सोमचन्द्र को सम्बोधित करते हुए कहा :—"हे विशुद्धमना वत्स ! अब आपको देशान्तर जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं तुम्हारी निष्ठापूर्ण अनन्य भक्ति से तुम पर प्रसन्न हूं। तुम्हारा अभीप्सित कार्य यहीं सिद्ध हो जायगा।"

ब्राह्मीदेवी इस प्रकार मुनि सोमचन्द्र को वरदान देकर अदृश्य हो गई। देवी के अन्तर्हित हो जाने के अनन्तर भी मुनि सोमचन्द्र ने शेष रात्रि वाणी की अधिष्ठात्री देवी ब्राह्मी की उपासना में ही व्यतीत की। इस प्रकार बिना किसी विशेष कष्ट के मुनि सोमचन्द्र सिद्ध सारस्वत कवि एवं विद्वद् शिरोमणि बन गये और अपने गुरु की सेवा में लौट गये।

प्रबन्ध चिन्तामणि की एक बी डी के चिह्न से अंकित प्रति में हेमचन्द्रसूरि पर सरस्वती के प्रसन्न होने का विवरण निम्नलिखित रूप में उपलब्ध होता है :—

"केश लुंचन के तत्काल पश्चात् हेमचन्द्र नामक एक शिष्य प्रासुक जल लाने के लिये किसी सद्गृहस्थ के घर की ओर जा रहे थे। मार्ग में सामने

१. प्रभावक चरित्र, हेमचन्द्रसूरि का प्रकरण।

आते हुए हाथी से बचने के लिये वे एक भवन की दीवार से सट कर खड़े हो गये । झरोखे में बैठे हुए आलिग पुरोहित ने उन्हें इस प्रकार खड़े रहने के लिये भला-बुरा कहा । हेमचन्द्र मुनि ने जाकर अपने गुरु से इस सम्बन्ध में निवेदन किया । गुरु ने हेमचन्द्र को कहा कि तुम इसके लिये मिथ्या दुष्कृत दो अर्थात् प्रायश्चित करो । इससे मुनि हेमचन्द्र को बड़ा दुःख हुआ और वह अपने गुरु के उपाश्रय से बाहर निकल कर अन्यगच्छीय देवचन्द्र और पद्माकर नामक दो मुनियों के साथ काश्मीर की ओर प्रस्थित हुआ । उन तीनों ने सरस्वती को प्रसन्न करने के लिये उपवास प्रारम्भ कर दिये । वे तीनों तपश्चरण करते हुए नडोला नामक ग्राम में पहुंचे । उस दिन उनके उपवास का सातवां दिन था । उनके सात उपवासों से सरस्वती प्रसन्न हुई और उसने हेमचन्द्र को दर्शन दिये । हेमचन्द्र ने अपने दोनों साथी मुनियों को देवी के दर्शन की बात कही । अपने दोनों मित्रों की कार्यसिद्धि के लिये मुनि हेमचन्द्र ने सत्तर श्लोकों की रचना कर नडोला ग्राम की महिमा का वर्णन किया और वे तीनों वहां से प्रस्थित हुए । स्तम्भ तीर्थ में प्रवेश करते-करते किसी एक देशान्तरीय व्यक्ति ने उन्हें बुलाकर एक विद्या प्रदान की और कहा :—"मेरा मरण समय सन्निकट है । मेरे मर जाने पर मेरे शव को श्मशान में ले जा मेरी नाभि पर तुम तीनों इस मन्त्र का जाप करना । मेरा शव तुम्हें यथेप्सित वरदान देगा ।" उस पथिक के कथनानुसार उसकी थोड़ी देर में मृत्यु हो गई और अर्द्ध रात्रि के समय उस शव की नाभि पर श्मशान में उन तीनों ने उस मन्त्र का जाप किया । शव तत्काल उठ खड़ा हुआ और बोला :—"वर मांगो ।" मुनि हेमचन्द्र ने शव से यह वरदान मांगा :—"किसी राजा को बोध देने में मुझे सफलता प्राप्त हो ।" देवचन्द्र ने आकर्षिणी विद्या का वरदान मांगा और पद्माकर ने प्रकाण्ड पांडित्य का । उन तीनों मुनियों को उनके मुंहमांगे वरदान देकर शव श्मशान में पुनः गिर पड़ा ।

इस प्रकार वरप्राप्ति के अनन्तर मुनि हेमचन्द्र अपने गुरु की सेवा में उपस्थित होने के लिये लौट पड़े । मार्ग में काल भैरवी चण्डी के मन्दिर में मुनि हेमचन्द्र विश्राम के लिये ठहरे । उसी समय लघु भैरवानन्द अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ चण्डी के मन्दिर में आया । उसने देवी को सम्बोधित करते हुए कहा :—"अहो प्रचण्ड चण्डे चण्डिके ! मुझे लड्डू दे ।" इस प्रकार कह कर लघु भैरवानन्द ने अपना स्वर्णमय खप्पर देवी की प्रतिमा के आगे कर दिया और देवी ने तत्काल उस सोने के खप्पर को लड्डुओं से भर दिया । लघु भैरवानन्द ने वहां उपस्थित सभी लोगों को लड्डू दिये । उसने मुनि हेमचन्द्र की ओर भी खप्पर को आगे सरकाते हुए कहा :—"मेरे शिष्य ! तू भी लड्ड ले ।" हेमचन्द्र ने उसके दोनों हाथों

को स्तम्भित कर दिया और उससे कहा :—"हे लघु भैरवानन्द ! यदि तुम में शक्ति है तो तुम्हीं खा लो ।" लघु भैरवानन्द ने अपने दोनों हाथों को हिलाने-डुलाने का पूरी शक्ति लगाकर प्रयास किया लेकिन उसके दोनों हाथ किंचित्मात्र भी नहीं हिले । वह तत्काल मुनि हेमचन्द्र के पैरों पर गिरकर क्षमा मांगने लगा ।

मुनि हेमचन्द्र के चमत्कार की यह बात विद्युत्वेग से चारों ओर के ग्राम-ग्रामन्तरों में प्रसृत हो गई । मुनि हेमचन्द्र ज्योंही पत्तन के समीप पहुंचे कि पत्तन निवासी उद्वेलित सागर की तरंगों की भांति हेमचन्द्रसूरि के स्वागत के लिये उमड़ पड़े । पत्तनपति महाराज जयसिंह देव भी मुनि हेमचन्द्र की अगवानी के लिये उनके सम्मुख आये । उन्होंने मुनि हेमचन्द्र को अपने पट्ट हस्ति पर बिठाकर कुछ ही दिन पूर्व अपने पुरोहित द्वारा तिरस्कृत हेमचन्द्रसूरि का नगर प्रवेश करवाया । तदनन्तर महाराज जयसिंह ने आचार्य देवचन्द्रसूरि को निवेदन कर हेमचन्द्र को आचार्य पद पर अधिष्ठित करवाया । सिद्धराज जयसिंह की प्रार्थना पर हेमचन्द्रसूरि अष्टमी और चतुर्दशी को राजभवन में जाकर पौषधागार (उपासनागार) में श्री स्थूलि भद्र के चरित्र का वाचन करने लगे ।"

मुनि हेमचन्द्र को हाथी पर आरूढ़ करने के सम्बन्ध में, इसमें लिखा है :—

ततः पत्तने आयातं श्री जयसिंहदेवः सन्मुखमेत्य समानीय हेमचन्द्रं गजाधिरूढं प्रवेश्य च........"

—प्रवन्ध चिन्तामणि, पृष्ठ-९६

मुनि सोमचन्द्र के अप्रतिम पांडित्य की प्रसिद्धि दूर-दूर तक प्रसृत हो गई । जन-जन के मुख पर यही बात प्रकट होने लगी कि मुनि सोमचन्द्र के कण्ठों में साक्षात् सरस्वती विराजमान है, जटिल समस्याओं की वे तत्क्षण पूर्ति कर देते हैं एवं चौदह विद्याओं के निधान मुनि सोमचन्द्र के समक्ष कोई विद्वान् क्षण भर भी टिक नहीं सकता । अपने सुयोग्य शिष्य सोमचन्द्र की जन-जन के मुख से इस प्रकार की ख्याति सुनकर देवचन्द्रसूरि ने उन्हें आचार्य पद पर आसीन करने का दृढ़ संकल्प किया । उन्होंने संघ के सदस्यों को आमन्त्रित कर उनके समक्ष अपना प्रस्ताव रखते हुए कहा :—"मुनि सोमचन्द्र जैनागमों के साथ-साथ सभी दर्शनों के पारदृश्वा विद्वान् वन गये हैं । उनमें आचार्य के योग्य सभी गुण प्रशस्त रूप से विद्यमान हैं । मैं अपना कार्यभार मुनि सोमचन्द्र के सबल कन्धों पर रखकर एकमात्र आत्म-कल्याण की साधना में निरत रहना चाहता हूं । हमारे पूर्वाचार्यों ने भी परम्परा से समय-समय पर अपने हाथों से ही अपने सुयोग्य शिष्यों को आचार्य पद प्रदान कर अपने जीवन का संध्याकाल आत्मसाधना में ही व्यतीत किया है ।"

आते हुए हाथी से बचने के लिये वे एक भवन की दीवार से सट कर खड़े हो गये। झरोखे में बैठे हुए आलिग पुरोहित ने उन्हें इस प्रकार खड़े रहने के लिये भला-बुरा कहा। हेमचन्द्र मुनि ने जाकर अपने गुरु से इस सम्बन्ध में निवेदन किया। गुरु ने हेमचन्द्र को कहा कि तुम इसके लिये मिथ्या दुष्कृत दो अर्थात् प्रायश्चित करो। इससे मुनि हेमचन्द्र को बड़ा दुःख हुआ और वह अपने गुरु के उपाश्रय से बाहर निकल कर अन्यगच्छीय देवचन्द्र और पद्माकर नामक दो मुनियों के साथ काश्मीर की ओर प्रस्थित हुआ। उन तीनों ने सरस्वती को प्रसन्न करने के लिये उपवास प्रारम्भ कर दिये। वे तीनों तपश्चरण करते हुए नडोला नामक ग्राम में पहुंचे। उस दिन उनके उपवास का सातवां दिन था। उनके सात उपवासों से सरस्वती प्रसन्न हुई और उसने हेमचन्द्र को दर्शन दिये। हेमचन्द्र ने अपने दोनों साथी मुनियों को देवी के दर्शन की बात कही। अपने दोनों मित्रों की कार्यसिद्धि के लिये मुनि हेमचन्द्र ने सत्तर श्लोकों की रचना कर नडोला ग्राम की महिमा का वर्णन किया और वे तीनों वहां से प्रस्थित हुए। स्तम्भ तीर्थ में प्रवेश करते-करते किसी एक देशान्तरीय व्यक्ति ने उन्हें बुलाकर एक विद्या प्रदान की और कहा :—"मेरा मरण समय सन्निकट है। मेरे मर जाने पर मेरे शव को श्मशान में ले जा मेरी नाभि पर तुम तीनों इस मन्त्र का जाप करना। मेरा शव तुम्हें यथेप्सित वरदान देगा।" उस पथिक के कथनानुसार उसकी थोड़ी देर में मृत्यु हो गई और अर्द्ध रात्रि के समय उस शव की नाभि पर श्मशान में उन तीनों ने उस मन्त्र का जाप किया। शव तत्काल उठ खड़ा हुआ और बोला :—"वर मांगो।" मुनि हेमचन्द्र ने शव से यह वरदान मांगा :—"किसी राजा को बोध देने में मुझे सफलता प्राप्त हो।" देवचन्द्र ने आकर्षिणी विद्या का वरदान मांगा और पद्माकर ने प्रकाण्ड पांडित्य का। उन तीनों मुनियों को उनके मुंहमांगे वरदान देकर शव श्मशान में पुनः गिर पड़ा।

इस प्रकार वरप्राप्ति के अनन्तर मुनि हेमचन्द्र अपने गुरु की सेवा में उपस्थित होने के लिये लौट पड़े। मार्ग में काल भैरवी चण्डी के मन्दिर में मुनि हेमचन्द्र विश्राम के लिये ठहरे। उसी समय लघु भैरवानन्द अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ चण्डी के मन्दिर में आया। उसने देवी को सम्बोधित करते हुए कहा :—"अहो प्रचण्ड चण्डे चण्डिके! मुझे लड्डू दे।" इस प्रकार कह कर लघु भैरवानन्द ने अपना स्वर्णमय खप्पर देवी की प्रतिमा के आगे कर दिया और देवी ने तत्काल उस सोने के खप्पर को लड्डुओं से भर दिया। लघु भैरवानन्द ने वहां उपस्थित सभी लोगों को लड्डू दिये। उसने मुनि हेमचन्द्र की ओर भी खप्पर को आगे सरकाते हुए कहा :—"मेरे शिष्य! तू भी लड्ड ले।" हेमचन्द्र ने उसके दोनों हाथों

को स्तम्भित कर दिया और उससे कहा :—"हे लघु भैरवानन्द ! यदि तुम में शक्ति है तो तुम्हीं खा लो।" लघु भैरवानन्द ने अपने दोनों हाथों को हिलाने-डुलाने का पूरी शक्ति लगाकर प्रयास किया लेकिन उसके दोनों हाथ किंचित्मात्र भी नहीं हिले। वह तत्काल मुनि हेमचन्द्र के पैरों पर गिरकर क्षमा मांगने लगा।

मुनि हेमचन्द्र के चमत्कार की यह बात विद्युत्वेग से चारों ओर के ग्राम-ग्रामन्तरों में प्रसृत हो गई। मुनि हेमचन्द्र ज्योंही पत्तन के समीप पहुंचे कि पत्तन निवासी उद्वेलित सागर की तरंगों की भांति हेमचन्द्रसूरि के स्वागत के लिये उमड़ पड़े। पत्तनपति महाराज जयसिंह देव भी मुनि हेमचन्द्र की अगवानी के लिये उनके सम्मुख आये। उन्होंने मुनि हेमचन्द्र को अपने पट्ट हस्ति पर बिठाकर कुछ ही दिन पूर्व अपने पुरोहित द्वारा तिरस्कृत हेमचन्द्रसूरि का नगर प्रवेश करवाया। तदनन्तर महाराज जयसिंह ने आचार्य देवचन्द्रसूरि को निवेदन कर हेमचन्द्र को आचार्य पद पर अधिष्ठित करवाया। सिद्धराज जयसिंह की प्रार्थना पर हेमचन्द्रसूरि अष्टमी और चतुर्दशी को राजभवन में जाकर पौषधागार (उपासनागार) में श्री स्थूलि भद्र के चरित्र का वाचन करने लगे।"

मुनि हेमचन्द्र को हाथी पर आरूढ़ करने के सम्बन्ध में, इसमें लिखा है :—

ततः पत्तने आयातं श्री जयसिंहदेवः सन्मुखमेत्य समानीय हेमचन्द्रं गजाधिरूढं प्रवेश्य च........"

—प्रवन्ध चिन्तामणि, पृष्ठ-६६

मुनि सोमचन्द्र के अप्रतिम पांडित्य की प्रसिद्धि दूर-दूर तक प्रसृत हो गई। जन-जन के मुख पर यही बात प्रकट होने लगी कि मुनि सोमचन्द्र के कण्ठों में साक्षात् सरस्वती विराजमान है, जटिल समस्याओं की वे तत्क्षण पूर्ति कर देते हैं एवं चौदह विद्याओं के निधान मुनि सोमचन्द्र के समक्ष कोई विद्वान् क्षण भर भी टिक नहीं सकता। अपने सुयोग्य शिष्य सोमचन्द्र की जन-जन के मुख से इस प्रकार की ख्याति सुनकर देवचन्द्रसूरि ने उन्हें आचार्य पद पर आसीन करने का दृढ़ संकल्प किया। उन्होंने संघ के सदस्यों को आमन्त्रित कर उनके समक्ष अपना प्रस्ताव रखते हुए कहा :—"मुनि सोमचन्द्र जैनागमों के साथ-साथ सभी दर्शनों के पारदृश्वा विद्वान् वन गये हैं। उनमें आचार्य के योग्य सभी गुण प्रशस्त रूप से विद्यमान हैं। मैं अपना कार्यभार मुनि सोमचन्द्र के सबल कन्धों पर रखकर एकमात्र आत्म-कल्याण की साधना में निरत रहना चाहता हूं। हमारे पूर्वाचार्यों ने भी परम्परा से समय-समय पर अपने हाथों से ही अपने सुयोग्य शिष्यों को आचार्य पद प्रदान कर अपने जीवन का संध्याकाल आत्मसाधना में ही व्यतीत किया है।"

आचार्यश्री देवचन्द्र के इस समयोचित प्रस्ताव का संघ के प्रत्येक सदस्य ने हार्दिक स्वागत किया। तत्काल प्रमुख ज्योतिर्विदों को बुलवाकर पट्ट महोत्सव का मुहूर्त्त निकलवाया गया। ज्योतिर्विदों ने ज्योतिष शास्त्र के आधार पर परस्पर विचार विनिमय के अनन्तर वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन मध्यान्ह वेला में मुनि सोमचन्द्र को आचार्यपद पर अधिष्ठित करने का मुहूर्त्त सर्वसम्मत रूप से निश्चित किया। इस मुहूर्त्त के सम्बन्ध में साधिकार रूप से कहा कि यह ऐसा सर्वश्रेष्ठ मुहूर्त्त है, जिसमें किसी भी पुरुष की अथवा देव की प्रतिष्ठा की जाय तो वह संसार में राजमान्य जगत्पूज्य होता है। आचार्यपद मोहत्सव की तैयारियां पर्याप्त समय पूर्व ही प्रारम्भ कर दी गईं। अणहिल्लपुर पट्टण के नागरिकों ने बड़े उत्साह के साथ इस महोत्सव को अपूर्व बनाने में पूर्ण सहयोग दिया। गुर्जरेश्वर महाराज सिद्धराज जयसिंह स्वयं अपने राजसी वैभव के साथ इस महोत्सव में सम्मिलित हुए। निर्द्धारित मुहूर्त्त में वैशाख शुक्ला तृतीया की मध्यान्ह वेला में महाराज सिद्धराज जयसिंह, समस्त संघ और नागरिकों के समक्ष विविध वाद्ययन्त्रों की ध्वनि के बीच मुनि सोमचन्द्र को आचार्य पट्ट पर अधिष्ठित किया गया। तदनन्तर एक ही इंगित से सर्वत्र निस्तब्धता छा गई। आचार्य देवचन्द्र ने अगरु, कपूर और चन्दन के लेप से चर्चित मुनि श्री सोमचन्द्र के कान में सूरि मंत्र का उच्चरण किया। इस प्रकार मुनि सोमचंद्र को सूरि पद पर अधिष्ठित करते समय उनके गुरु श्री देवचन्द्रसूरि ने उनका नाम हेमचन्द्रसूरि रखा।

इसी मंगल मुहूर्त्त में आचार्यश्री हेमचन्द्र की माता पाहिनी ने आचार्यश्री देवचन्द्र के मुखारविन्द से पंचमहाव्रतों की दीक्षा ग्रहण की। उसी समय आचार्य पद पर सद्यः आसीन हेमचन्द्रसूरि ने अपने गुरु देवचन्द्रसूरि को प्रार्थना कर अपनी माता पाहिनी को प्रवर्त्तिनी पद प्रदान करवा उनके लिये पट्ट पर बैठने का प्रावधान करवाया।[1]

आचार्यपद पर आसीन किये जाने के अनन्तर हेमचन्द्रसूरि विभिन्न क्षेत्रों में जिनशासन का प्रचार-प्रसार करते हुए एक समय विहारक्रम से अणहिल्लपुर पट्टण में पधारे।

दूसरे दिन अपने राजसी ठाट-बाट के साथ पट्टहस्ती पर आरूढ़ महाराजा जयसिंह राजमार्ग पर जा रहे थे। उन्होंने पास ही के उपाश्रय में श्री हेमचन्द्रसूरि को बैठे हुए देखकर महावत के माध्यम से गजराज के कपोल में अंकुश लगवा कर

---

१ प्रवर्तिनीप्रतिष्ठां च दापयामास नम्रगीः
तदैवाभिनवाचार्यो गुरुभ्यः सम्यसाक्षिकम् ।।६२।।
सिंहासनासनं तस्य अन्वमानयदेप च ।
कटपे जननीभक्तिरुत्तमानां कषौपलः ।।६३।।
प्रभावक चरित्र पृष्ठ १८५ ।

हाथी को बढ़ने से रोक दिया। इस प्रकार हाथी को रुकवा कर महाराज सिद्धराज जयसिंह कुछ क्षण तक हेमचन्द्रसूरि के समक्ष जिज्ञासापूर्ण मुद्रा में खड़ रहे और बोले—"कुछ कहिये।"

सिद्ध-सारस्वत श्री हेमचन्द्रसूरि ने तत्क्षण निम्नलिखित श्लोक पढ़ा :—

"कारय प्रसरं सिद्ध !, हस्तिराजमशंकितम्।
त्रस्यन्तु दिग्गजाः किं तैर्भूस्त्वयैवोद्धृता यतः ।।६६।।

अर्थात्–हे सिद्धराज जयसिंह ! आप अपने गजराज को निश्शंक होकर आगे बढ़ाओ। दिग्गज भले ही आपसे त्रस्त होकर दशों दिशाओं में इधर-उधर भागें, दिग्गजों के दांतों पर अवस्थित यह वसुंधरा तिलमात्र भी अपने स्थान से विचलित नहीं होगी। क्योंकि आपने इस धरित्री को अपने सशक्त वृपस्कन्धों पर धारण कर रखा है।"

हेमचन्द्रसूरि के सम्वन्ध में जो जो सुन रखा था, उसे अक्षरशः सत्य पा कर सिद्धराज जयसिंह को पूर्ण संतोष हुआ और हेमचन्द्रसूरि के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धाभक्ति प्रकट करता हुआ बोला :—"वस्तुतः आप सिद्ध-सारस्वत हैं, साक्षात् मां सरस्वती आपके कण्ठों में सदा विराजमान रहती है। आप कृपा कर मध्याह्नकाल में प्रतिदिन मेरे यहां पधारा करें, मुझे असीम आनन्द की अनुभूति होगी।"

उसी क्षण से सिद्धराज और सिद्ध-सारस्वत में प्रगाढ़ मैत्री हो गई। इन दोनों का प्रायः प्रतिदिन ही मिलन होता रहा। गुर्जरेश सिद्धराज जयसिंह और अप्रतिम पाण्डित्य के धनी सिद्ध सारस्वत की यह मैत्री उत्तरोत्तर प्रगाढ़ से प्रगाढ़तर होती गई और उसी के परिणामस्वरूप गुर्जर भूमि के सुसंस्कारित नवनिर्माण का शुभारम्भ हुआ। मालव विजय के पश्चात् जैसा कि सिद्धराज जयसिंह के जीवन परिचय में उल्लेख किया जा चुका है, अन्यान्य दर्शनों के धर्माचार्यों ही की भांति आचार्यश्री हेमचन्द्र भी सिद्धराज जयसिंह को आशीर्वाद के रूप में अभिवादन करने गुर्जरेश के प्रासाद में सबसे अन्त में गये। उस समय आचार्य हेमचन्द्र ने जिन शब्दों में सिद्धराज का अभिवादन किया उसको सुनकर तो सिद्धराज सदा के लिये हेमचन्द्र सूरि का परम श्रद्धानिष्ठ प्रशंसक बन गया। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, आचार्यश्री हेमचन्द्र ने सिद्धराज जयसिंह को मालव-विजय के उपलक्ष में अभिवादन करते हुए कहा :—"हे कामधेनु ! तुम अपने पवित्र गोवर से समस्त पृथ्वीतल को लीप-पोतकर सुन्दर बना दो। अरे रत्नाकरों ! तुम इस लिपे-पुते धरातल पर अपने महार्घ्य से महार्घ्य मुक्ताफलों से स्वास्तिक की रचना कर दो। ओ पूर्णचन्द्र ! तुम इस मुक्ताफलों से निर्मित स्वास्तिक के समीप कुम्भकलश के रूप में विराजमान हो जाओ। और हे दिग्गजो ! तुम अपनी सूंडों में धारण किये हुए प्रवेश द्वार पर विशाल तोरण वन्दनवार का निर्माण कर दो। तुम सब शीघ्रतापूर्वक अपना-अपना

आचार्यश्री देवचन्द्र के इस समयोचित प्रस्ताव का संघ के प्रत्येक सदस्य ने हार्दिक स्वागत किया। तत्काल प्रमुख ज्योतिर्विदों को बुलवाकर पट्ट महोत्सव का मुहूर्त्त निकलवाया गया। ज्योतिर्विदों ने ज्योतिष शास्त्र के आधार पर परस्पर विचार विनिमय के अनन्तर वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन मध्यान्ह वेला में मुनि सोमचन्द्र को आचार्यपद पर अधिष्ठित करने का मुहूर्त्त सर्वसम्मत रूप से निश्चित किया। इस मुहूर्त्त के सम्बन्ध में साधिकार रूप से कहा कि यह ऐसा सर्वश्रेष्ठ मुहूर्त्त है, जिसमें किसी भी पुरुष की अथवा देव की प्रतिष्ठा की जाय तो वह संसार में राजमान्य जगत्पूज्य होता है। आचार्यपद मोहत्सव की तैयारियां पर्याप्त समय पूर्व ही प्रारम्भ कर दी गई। अणहिल्लपुर पट्टण के नागरिकों ने बड़े उत्साह के साथ इस महोत्सव को अपूर्व बनाने में पूर्ण सहयोग दिया। गुर्जरेश्वर महाराज सिद्धराज जयसिंह स्वयं अपने राजसी वैभव के साथ इस महोत्सव में सम्मिलित हुए। निर्द्धारित मुहूर्त्त में वैशाख शुक्ला तृतीया की मध्यान्ह वेला में महाराज सिद्धराज जयसिंह, समस्त संघ और नागरिकों के समक्ष विविध वाद्ययन्त्रों की ध्वनि के बीच मुनि सोमचन्द्र को आचार्य पट्ट पर अधिष्ठित किया गया। तदनन्तर एक ही इंगित से सर्वत्र निस्तब्धता छा गई। आचार्य देवचन्द्र ने अगरु, कपूर और चन्दन के लेप से चर्चित मुनि श्री सोमचन्द्र के कान में सूरि मंत्र का उच्चरण किया। इस प्रकार मुनि सोमचंद्र को सूरि पद पर अधिष्ठित करते समय उनके गुरु श्री देवचन्द्रसूरि ने उनका नाम हेमचन्द्रसूरि रखा।

इसी मंगल मुहूर्त्त में आचार्यश्री हेमचन्द्र की माता पाहिनी ने आचार्यश्री देवचन्द्र के मुखारविन्द से पंचमहाव्रतों की दीक्षा ग्रहण की। उसी समय आचार्य पद पर सद्यः आसीन हेमचन्द्रसूरि ने अपने गुरु देवचन्द्रसूरि को प्रार्थना कर अपनी माता पाहिनी को प्रवर्त्तिनी पद प्रदान करवा उनके लिये पट्ट पर बैठने का प्रावधान करवाया।[1]

आचार्यपद पर आसीन किये जाने के अनन्तर हेमचन्द्रसूरि विभिन्न क्षेत्रों में जिनशासन का प्रचार-प्रसार करते हुए एक समय विहारक्रम से अणहिल्लपुर पट्टण में पधारे।

दूसरे दिन अपने राजसी ठाट-बाट के साथ पट्टहस्ती पर आरूढ़ महाराजा जयसिंह राजमार्ग पर जा रहे थे। उन्होंने पास ही के उपाश्रय में श्री हेमचन्द्रसूरि को बैठे हुए देखकर महावत के माध्यम से गजराज के कपोल में अंकुश लगवा कर

---

१ प्रवर्तिनीप्रतिष्ठां च दापयामास नम्रगीः
तदैवाभिनवाचार्यो गुरुभ्यः सभ्यसाक्षिकम् ।।६२।।
सिंहासनासनं तस्य अन्वमानयदेप च।
कटपे जननीभक्तिरुत्तमानां कषोपलः ।।६३।।
प्रभावक चरित्र पृष्ठ १८५।

हाथी को बढ़ने से रोक दिया। इस प्रकार हाथी को रुकवा कर महाराज सिद्धराज जयसिंह कुछ क्षरण तक हेमचन्द्रसूरि के समक्ष जिज्ञासापूर्ण मुद्रा में खड़ रहे और बोले—"कुछ कहिये।"

सिद्ध-सारस्वत श्री हेमचन्द्रसूरि ने तत्क्षरण निम्नलिखित श्लोक पढ़ा :—

"कारय प्रसरं सिद्ध !, हस्तिराजमशंकितम्।
त्रस्यन्तु दिग्गजाः किं तैर्भूस्त्वयैवोद्धृता यतः ।।६६।।

अर्थात्—हे सिद्धराज जयसिंह ! आप अपने गजराज को निश्शंक होकर आगे बढ़ाओ। दिग्गज भले ही आपसे त्रस्त होकर दशों दिशाओं में इधर-उधर भागें, दिग्गजों के दांतों पर अवस्थित यह वसुंधरा तिलमात्र भी अपने स्थान से विचलित नहीं होगी। क्योंकि आपने इस धरित्री को अपने सशक्त वृषस्कन्धों पर धारण कर रखा है।"

हेमचन्द्रसूरि के सम्बन्ध में जो जो सुन रखा था, उसे अक्षरशः सत्य पा कर सिद्धराज जयसिंह को पूर्ण संतोष हुआ और हेमचन्द्रसूरि के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धाभक्ति प्रकट करता हुआ बोला :—"वस्तुतः आप सिद्ध-सारस्वत हैं, साक्षात् मां सरस्वती आपके कण्ठों में सदा विराजमान रहती है। आप कृपा कर मध्याह्नकाल में प्रतिदिन मेरे यहां पधारा करें, मुझे असीम आनन्द की अनुभूति होगी।"

उसी क्षरण से सिद्धराज और सिद्ध-सारस्वत में प्रगाढ़ मैत्री हो गई। इन दोनों का प्रायः प्रतिदिन ही मिलन होता रहा। गुर्जरेश सिद्धराज जयसिंह और अप्रतिम पाण्डित्य के धनी सिद्ध सारस्वत की यह मैत्री उत्तरोत्तर प्रगाढ़ से प्रगाढ़तर होती गई और उसी के परिणामस्वरूप गुर्जर भूमि के सुसंस्कारित नवनिर्माण का शुभारम्भ हुआ। मालव विजय के पश्चात् जैसा कि सिद्धराज जयसिंह के जीवन परिचय में उल्लेख किया जा चुका है, अन्यान्य दर्शनों के धर्माचार्यों ही की भांति आचार्यश्री हेमचन्द्र भी सिद्धराज जयसिंह को आशीर्वाद के रूप में अभिवादन करने गुर्जरेश के प्रासाद में सबसे अन्त में गये। उस समय आचार्य हेमचन्द्र ने जिन शब्दों में सिद्धराज का अभिवादन किया उसको सुनकर तो सिद्धराज सदा के लिये हेमचन्द्र सूरि का परम श्रद्धानिष्ठ प्रशंसक बन गया। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, आचार्यश्री हेमचन्द्र ने सिद्धराज जयसिंह को मालव-विजय के उपलक्ष में अभिवादन करते हुए कहा :—"हे कामधेनु ! तुम अपने पवित्र गोबर से समस्त पृथ्वीतल को लीप-पोतकर सुन्दर बना दो। अरे रत्नाकरों ! तुम इन लिपे-पुते धरातल पर अपने महार्घ्य से महार्घ्य मुक्ताफलों से स्वास्तिक की रचना कर दो। ओ पूर्णचन्द्र ! तुम इस मुक्ताफलों से निर्मित स्वास्तिक के समीप कुम्भकलश के रूप में विराजमान हो जाओ। और हे दिग्गजो ! तुम अपनी सूंडों में धारण किये हुए प्रवेश द्वार पर विशाल तोरण वन्दनवार का निर्माण कर दो। तुम सब शीघ्रतापूर्वक अपना-अपना

कार्य करो। देख नहीं रहे ! महाराज सिद्धराज जयसिंह जगतितल पर अपनी विजय वैजयन्ती फहराकर आ रहे हैं।"

इस प्रकार के चमत्कारकारी अभिनव विधा के अलंकारपूर्ण अभिवादन को सुनकर सिद्धराज की राजसभा के सदस्य भावुकता के भावावेश में झूम उठे। सिद्धराज तो उस श्लोक को सुनकर हेमचन्द्रसूरि की सिद्ध सारस्वतता पर ऐसा अनुरक्त हुआ कि प्रति दिन, दिन में अनेक वार हेमचन्द्रसूरि का सत्संग करने लगा।

एक दिन पत्तन की राजसभा की विद्वन्मण्डली अवन्ति से आये हुए ग्रन्थ-रत्न सिद्धराज जयसिंह को दिखा रही थी। सिद्धराज जयसिंह ने एक ग्रन्थ पर 'भोज व्याकरण' लिखा हुआ देखकर विद्वानों से पूछा :— "यह क्या है ?"

एक वयोवृद्ध विद्वान् ने कहा :— "राजन् ! यह मालवराज भोज द्वारा निर्मित व्याकरण है।"

महाराज भोज स्वयं विद्वद्शिरोमणि थे। उन्होंने अलंकार, ज्योतिष, अर्थ-शास्त्र, आयुर्वेद, राजनीति, वास्तुकला, अंकगणित, शकुनशास्त्र, स्वप्नशास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र एवं आध्यात्मिक विषय पर अनेक ग्रन्थों की रचनाएं की थीं।

सिद्धराज जयसिंह ने विषादमिश्रित जिज्ञासापूर्ण स्वर में प्रश्न किया :— "क्या हमारे गुर्जर राज्य के ग्रन्थागार में इस प्रकार के ग्रन्थ रत्न नहीं हैं ? क्या हमारे विशाल समृद्ध गुर्जर प्रदेश में इन सब विषयों के विशेषज्ञ उच्चकोटि के विद्वानों का अभाव है ?"

इस प्रश्न को सुनकर किंकर्त्तव्यविमूढावस्था में मौन धारण किये सभी विद्वान् अपलक दृष्टि से विद्वद्वरेण्य आचार्यश्री हेमचन्द्र की ओर देखने लगे। सिद्ध-राज जयसिंह ने अपनी विद्वन्मण्डली के मौन से वास्तविकता को भांप लिया और तत्काल बड़ी भक्तिपूर्वक आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए उनसे प्रार्थना की :— "महर्षिन् ! आप भी एक उत्कृष्ट कोटि के व्याकरण शास्त्र का निर्माण कर मेरे मनोरथ को पूर्ण करने की कृपा कीजिये। मुझे दृढ़ विश्वास है कि आपके अतिरिक्त इस गुर्जर भूमि में अन्य कोई विद्वान् हमारे राज्य की इस खटकने वाली कमी को दूर करने में सक्षम नहीं है। आप ऐसे व्याकरण शास्त्र का निर्माण कीजिये जो व्याकरण के सभी श्रेष्ठ लक्षणों से सम्पन्न होने के साथ-साथ सरल, सुबोध और न केवल विद्वज्जनोपभोग्य ही अपितु जन-जन के लिये परमोप-योगी सिद्ध हो। इस प्रकार के व्याकरण के निर्माण से धरातल पर आपके साथ-साथ मेरी भी यशोगाथाएं अमर हो जाएंगी और आप महान् पुण्य के भागी होंगे। मैं आपसे पुनः साग्रह अनुरोधपूर्वक प्रार्थना करता हूं कि आप एक अत्युत्तम नये व्या-करण की रचना कर मानवता की वर्तमान एवं भावी पीढ़ियों को उपकृत करें।"

सिद्धराज जयसिंह के अनुनयपूर्ण निवेदन को सुनकर हेमचन्द्रसूरि ने कहा :— "राजन् जिस कार्य को निष्पन्न करने के लिये मैं अन्तर्मन से कृतसंकल्प हूं, आपने मुझे उस कार्य का स्मरण दिलाया है परन्तु इस कार्य में जो सबसे बड़ी कठिनाई है वह यह है कि आठ प्रकार के लोक विश्रुत व्याकरण हैं। व्याकरण विषयक ग्रन्थों के भण्डार काश्मीर प्रदेश में अवस्थित सरस्वती देवी के ग्रन्थागार में है। वहाँ से उन ग्रन्थों को यहां मंगवाये जाने पर उन सबके समीचीनतया पर्यालोचन के अनन्तर ही सर्वांगपूर्ण व्याकरण की रचना की जा सकती है।"

सिद्धराज जयसिंह ने तत्काल अपने प्रधान पुरुषों को आदेश दिया कि वे काश्मीर में जाकर सरस्वती ग्रन्थागार से आचार्यश्री की इच्छानुसार सभी ग्रन्थों को लेकर लौटें। सिद्धराज जयसिंह की आज्ञा को शिरोधार्य कर प्रधान पुरुषों के समूह ने द्रुतगामी वाहनों से काश्मीर प्रदेश की ओर प्रस्थान किया। द्रुतगामी वाहनों से लम्बे मार्ग को पार करते हुए अन्ततोगत्वा वे प्रवरपुर पहुंचे। वहां उन्होंने देवी भारती की स्तुति की। भारती प्रसन्न हुई और उसने अपने अधिष्ठायकों को निर्देष देते हुए कहा :—"मेरे द्वारा वरप्राप्त श्वेताम्बर श्री हेमचन्द्र मेरे ही हैं और मेरे ही दूसरे स्वरूप हैं, उनकी इष्ट-सिद्धि के लिये उनके द्वारा अभीप्सित सभी ग्रन्थ रत्न इन लोगों को दे दो।"

मां भारती की इस प्रकार की प्रसादपूर्ण वाणी सुनकर उसके सचिवों ने अथवा अधिष्ठायकों ने आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि द्वारा अभीप्सित सभी ग्रन्थ सिद्धराज जयसिंह द्वारा भेजे गये राजपुरुषों को दिये और उनका बड़ा आदर सत्कार किया। भारती के सचिवों द्वारा प्रदत्त ग्रन्थरत्नों को लेकर वे पाटनेश्वर के प्रधान पुरुष अणहिल्लपुर पट्टण लौटे। उन्होंने सिद्धराज जयसिंह को वे सभी ग्रन्थरत्न समर्पित करते हुए भारती मन्दिर का पूर्ण वृत्तान्त सुनाया कि देवी भारती स्वयं आचार्यश्री हेमचन्द्र पर परम प्रसन्न है और इन्हें देहान्तरधारी अपना स्वरूप ही समझती है। महाराज जयसिंह हेमचन्द्रसूरि पर देवी की अनन्य कृपा की बात सुनकर बड़े चमत्कृत हुए और उन्होंने अपनी राज सभा के सदस्यों के समक्ष अपना आन्तरिक आह्लाद प्रकट करते हुए कहा :—"धन्य है मेरा यह देश, जहां इस प्रकार के समर्थ महापुरुष हैं।"

आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि ने भारती के ग्रन्थागार से आये ग्रन्थ-रत्नों को पूर्ण एकाग्रता और निष्ठा के साथ पढ़कर एवं उन पर चिन्तन मनन कर 'सिद्ध हेम व्याकरण' नामक व्याकरण के एक नवीन ग्रन्थ रत्न की रचना की। सूत्र वृत्ति तथा अनेकार्थ बोधिका नाममाला सहित इस ग्रन्थ रत्न को देख कर सभी विद्वानों ने हेमचन्द्रसूरि की मुक्तकण्ठ से भूरि-भूरी प्रशंसा की और सबने इस ग्रन्थ-रत्न का पूर्ण-रूपेण समादर किया। क्योंकि इससे पूर्ववर्त्ती सभी व्याकरण ग्रन्थों में अनेक स्थल संकीर्ण, अधिकांश स्थल दुर्बोध एवं कतिपय स्थान दोषों से परिपूर्ण होने के

साथ-साथ अति विस्तीर्ण हैं और जीवन भर उन्हें पढ़ते रहने पर भी व्याकरण के गूढ़ रहस्यों का अधिकांश लोगों को बोध नहीं होता। इसीलिये विद्वद् समाज ने सर्व सम्मति से सिद्धहेम व्याकरण को परम प्रामाणिक रूप में मान्य किया। स्वयं सिद्धराज जयसिंह ने विद्वानों के साथ सिद्धहेम व्याकरण का सार्थ वाचन किया। इसके वाचन से महाराज सिद्धराज को अननुभूत आनन्द की अनुभूति हुई। उन्होंने तत्काल घोषणा की कि प्रतिवर्ष तीन लाख मुद्राएं (रौप्य मुद्राएं) सिद्ध हेम व्याकरण की प्रतियां लिखवाने के लिये राज्यकोष से व्यय की जाएं। सिद्ध हेम व्याकरण की प्रतियां लिखवाने के लिये विभिन्न नगरों एवं ग्रामों से तीन सौ प्रख्यात लेखकों (लिपिकों) को पाटन में बुलवा कर लेखनकार्य प्रारम्भ करवाया। सिद्धहेम व्याकरण की विपुल मात्रा में प्रतियां एक साथ तैयार हो जाने पर सर्वप्रथम सभी दर्शनों के धर्म गुरुओं को और तदनन्तर विद्यालयों के अध्यापकों को वे प्रतियां वितरित की गईं। तदनन्तर सिद्धहेम व्याकरण की उपनिबन्ध सहित बीस प्रतियां महाराज जयसिंह ने काश्मीर भारती के मन्दिर में बड़े सम्मान के साथ भेंट की, जिन्हें भारती के ग्रन्थागार में रखा गया। तदनन्तर विशाल गुर्जर राज्य के सभी नगरों एवं ग्रामों में सिद्धहेम व्याकरण की प्रतियां विद्वानों एवं छात्रों को अध्ययनार्थ वितरित की गईं, सिद्धहेम व्याकरण की प्रतियां जिन-जिन प्रदेशों, राज्यों एवं स्थानों को भेजी गईं, उनके सम्बन्ध में प्रभावक चरित्रकार ने निम्नलिखित रूप में विवरण प्रस्तुत किया है :—

अंग बंग कलिंगेषु, लाट कर्णाट कुँकणे ।
महाराष्ट्रसुराष्ट्रासु वत्से कच्छे च मालवे ।। ।।१०६।।

सिंधू सौवीर नेपाले पारसीक मुरंडयोः ।
गंगापारे हरिद्वारे काशि चेदि गयासु च ।। ।।१०७।।

कुरुक्षेत्रे कान्यकुब्जे गौड श्रीकामरूपयोः ।
सपादलक्षवज्जालंधरे च खसमध्यतः ।। ।।१०८।।

सिंहलेऽथ महाबोधे चौड़े मालव कैशिके ।
इत्यादिविश्वदेशेषु शास्त्रं व्यस्तार्यत स्फुटम् ।। ।।१०९।।

उन्हीं दिनों अणहिल्लपुर पट्टण में कायस्थ कुलोत्पन्न काकल नाम का एक विद्वान् रहता था। उसने आठों प्रकार के व्याकरणों का पारदर्शी अध्ययन किया था। व्याकरण शास्त्र में उसकी गति ऐसी तीव्र थी कि एक बार पढ़ने मात्र से ही उसके गूढ़तम रहस्यों से अवगत हो जाता। आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि के परामर्श से सिद्धराज जयसिंह ने काकल को सिद्धहेम व्याकरण के अध्यापनार्थ प्राध्यापक के रूप में नियुक्त किया। उसके पास अध्ययन के लिये स्थान-स्थान से बड़ी संख्या में व्याकरण के शिक्षार्थी आने लगे। प्रवन्ध चिन्तामणि के उल्लेखानुसार महाराजा जयसिंह ने स्वशासित गुर्जर, मालव आदि अठारह प्रदेशों में इस प्रकार की राजाज्ञा

प्रसारित करवा दी कि उसके राज्य में कहीं 'सिद्ध हेम व्याकरण' के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्याकरण ग्रन्थ का अध्ययन-अध्यापन न किया जाय।

सिद्धहेम व्याकरण के अध्ययन-अध्यापन को पूर्ण प्रोत्साहन प्रदान करने हेतु प्रत्येक वर्ष की ज्ञान पंचमी के दिन अखिल राज्यस्तर पर सिद्धहेम व्याकरण की परीक्षा का आयोजन राज्य की ओर से किया गया। जो शिक्षार्थी इस परीक्षा में उच्चकोटि के अंकों से उत्तीर्ण होते उन्हें स्वयं महाराज सिद्धराज जयसिंह द्वारा महार्घ्य, दुशालों एवं स्वर्णाभूषण के पारितोषिकों से तथा स्वर्णपदक प्रदान आदि से सम्मानित किया जाता। सर्वश्रेष्ठ शिक्षकों को भी सुखासन आदि से स्वयं राजा द्वारा सम्मानित किया जाता। इस प्रकार के पारितोषिकों एवं प्रोत्साहनों के परिणामस्वरूप सिद्धहेम व्याकरण के अध्ययनार्थियों की संख्या प्रतिवर्ष उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। राज्य द्वारा दिये जाने वाले इस प्रकार के प्रोत्साहनों का ऐसा चमत्कारिक प्रभाव हुआ कि भारत के विशाल भू-भाग में 'सिद्ध हेम व्याकरण' का पठन-पाठन बड़ा ही लोकप्रिय हो गया। अन्य व्याकरणों को अनेक राज्यों के लोग प्रायः भूल से गये।

आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि के आशु कवि एवं प्रमुख शिष्य मुनि श्री रामचन्द्र की चक्षुपीड़ा से दक्षिण नेत्र की दृष्टि विलुप्त हो जाने के कारण आचार्यश्री को पाटन में ही चातुर्मासावास करना पड़ा। चातुर्मासावधि में श्री हेमचन्द्रसूरि ने बावीसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ के चरित्र पर विस्तारपूर्वक व्याख्यान देना प्रारम्भ किया। एक ओर तो अपूर्व त्याग ओज और प्रेरणाओं से ओत-प्रोत भगवान् नेमिनाथ का पावन जीवन चरित्र, और दूसरी ओर उस पर व्याख्यान करने वाले सिद्ध सारस्वत साक्षात् सरस्वती पुत्र श्री हेमचन्द्रसूरि, इस मणि कांचन तुल्य अद्भुत संयोग का लाभ उठाने के लिये अणहिल्लपुर पट्टण के आबाल वृद्ध नर-नारीवृन्द चतुर्मुख जिनालय के अति विशाल व्याख्यान भवन की ओर उत्तरोत्तर अधिकाधिक संख्या में उमड़ने लगे। भगवान् नेमिनाथ के पावन जीवन चरित्र पर जिस समय आचार्यश्री का प्रवचन प्रारम्भ होता, श्रोताओं को अनुभव होता कि चारों ओर अमृत वर्षा हो रही है। व्याख्यान के प्रारम्भ काल से लेकर अवसान काल तक सभी श्रोता चकोर की भांति अपनी दृष्टि आचार्यश्री के मुखचन्द्र पर केन्द्रित किये अपूर्व उत्कण्ठा से उनकी सुधासिक्त वाणी में वर्णित भगवान् नेमिनाथ के पवित्र चरित्रामृत का पान करते रहते। जिनेश्वर नेमिनाथ के जीवन चरित्र और आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि की सरस अद्भुत व्याख्यान शैली की श्रोताओं के मुख से महिमा सुनकर सभी धर्मों के अनुयायी–सभी दर्शनों के लोग भी व्याख्यान में एकत्रित होने लगे। व्याख्यान का श्रवण करते-करते श्रोतागण अनेक बार भाव-विभोर हो झूम उठते। कथानक के करुण प्रसंग पर आबालवृद्ध नर-नारियों के नेत्र युगल से गंगा यमुना प्रवाहित हो उठतीं। वहीं वीर रस के प्रसंग में बालकों एवं महिलाओं तक की भुजाएं फड़क उठतीं। सभी श्रोतागण व्याख्यान के अवसान पर व्याख्यान

शैली की, पवित्र जीवन चरित्र की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हुए परस्पर यही कहते हुए घर पहुंचते कि ऐसे अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव तो जीवन में इसी बार हुआ है।

भगवान् नेमिनाथ के चरित्र के अन्तर्गत पांडवों के चरित्र चित्रण का भी प्रसंग आया। युधिष्ठिर की सत्यवादिता, भीम के अतुल बल और 'अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे, न दैन्यं न पलायनम्' इन दो महान् प्रतिज्ञावाले महान् धनुर्धर अर्जुन के शौर्य का वृत्तान्त सुनकर श्रोतागण अपने आपको भूलकर कल्पनालोक में उड़ाने भरने लगते।

एक दिन पांडवों के जीवन वृत्त का उपसंहार करते हुए आचार्यश्री हेमचन्द्र ने जब यह कहा कि पांचों पाण्डवों ने एवं द्रौपदी ने पांच महाव्रतों की प्रव्रज्या ग्रहण कर ली तथा कठोर श्रमण धर्म का पालन कर पांचों पाण्डव अन्त समय में संलेखना संथारा कर सिद्ध बुद्ध मुक्त हुए और द्रौपदी देवलोक में गई, तो कतिपय धर्मान्ध व्यक्ति मात्सर्याभिभूत हो क्रुद्ध हो उठे। और उन्होंने सिद्धराज जयसिंह के समक्ष उपस्थित होकर न्याय की प्रार्थना करते हुए निवेदन किया :—

> "महाराज ! हमारे पूर्वर्षि वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन ने महाभारत में स्पष्ट रूप से लिखा है कि अन्त समय में पांडुपुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव हिमालय पर्वत पर गये। उन्होंने हिमालय पर्वत पर केदार नामक स्थान में अवस्थित भगवान् शंकर को स्नान करा उनकी भावपूर्वक पूजा अर्चना की और भगवान् शंकर की आराधना करते हुए उन्होंने अपने प्राणों का विसर्जन किया था। इसके विपरीत श्वेताम्बराचार्य श्री हेमचन्द्र अपने सार्वजनिक व्याख्यानों में जैन-अजैन सभी धर्मावलम्बियों के समक्ष यह कहते हैं कि पांचों पाण्डवों ने जैन श्रमणधर्म की दीक्षा ली और गिरनार पर्वत पर अनशन कर मोक्ष प्राप्त किया। हमारे ब्रह्मज्ञानी पूर्वर्षि कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास के कथन के विपरीत इस प्रकार की बिना शिर पैर की बातें विशाल जनसमूह के समक्ष कह कर ये शूद्र श्वेताम्बर हमारी धार्मिक भावनाओं पर आघात करते हैं। महाराज आप जैसे न्यायप्रिय नरेश्वर से हम प्रार्थना करते हैं कि आप न्याय कर इन श्वेताम्बरों को आदेश दें कि वे भविष्य में हमारी धार्मिक भावनाओं पर इस प्रकार के आघात न करें।"

उन लोगों की बात ध्यानपूर्वक सुनकर महाराज सिद्धराज जयसिंह ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा—"हमारे राजवंश के राजाओं की यह परम्परा रही है कि वे किसी भी बात के सब पहलुओं पर विचार किये बिना निर्णय नहीं देते। किसी भी

धर्मावलम्बी की धार्मिक भावना को किसी भी प्रकार की ठेस न पहुंचे, इस प्रकार की व्यवस्था करना हमारा परम पुनीत कर्त्तव्य है। सभी प्रकार के पूर्वाभिनिवेषों से मुक्त हृदय, अपरिग्रही, पक्षपात विहीन हेमचन्द्राचार्य कोई भी तथ्यविहीन अप्रामाणिक बात कहें, इस पर हठात् विश्वास नहीं होता। अतः उन्हें आप लोगों के समक्ष ही बुला कर इस बात का निर्णय कर लिया जाय कि उन्होंने पाण्डवों के सम्बन्ध में क्या कहा है और जो कुछ भी कहा है वह किस आधार पर कहा है। उनकी बात सुनने के पश्चात् ही न्यायपूर्ण निस्पक्ष निर्णय किया जाय तो सभी दृष्टि से समुचित होगा।"

महाराज जयसिंह के इस प्रस्ताव से सभी अभियोगी सहमत हो गये। न्यायप्रिय सिद्धराज जयसिंह ने आचार्यश्री हेमचन्द्र को अपनी राजसभा में आमन्त्रित किया और अभियोगियों की सब बात उनके समक्ष रखने के अनन्तर उनसे पूछा—महर्षिन्! आपने वेदव्यास के कथन के विपरीत पांडवों के सम्बन्ध में अभियोगियों के कथनानुसार व्याख्यान में जो यह कहा है कि पांचों पाण्डवों ने आर्हती श्रमणदीक्षा ग्रहण कर अनशनपूर्वक गिरनार पर्वत पर मुक्ति प्राप्त की, इस सम्बन्ध में आप प्रमाणपुरस्सर यह बताने की कृपा कीजिये कि वास्तविकता क्या है? महामहिम युधिष्ठिरादि पांचों पाण्डवों ने हिमगिरि का आरोहण कर केदार में भगवान् शंकर को जल चढ़ा उनकी पूजा अर्चा करते हुए शिवलोक को महाप्रयाण किया अथवा आर्हती श्रमणदीक्षा ग्रहण कर गिरनार से निर्वाण को प्राप्त किया?"

आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि ने राजसभा की न्यायपरिषद् के समक्ष पाण्डवों की मुक्ति के विषय में स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए घनरव गम्भीर स्वर में कहना प्रारम्भ किया :—"महाराज! कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने जिन पाण्डवों के सम्बन्ध में अपने महाभारत पुराण में आख्यान प्रस्तुत किया है, वह हमारे शास्त्रों में जिन पाण्डवों के जीवन चरित्र का वर्णन है, उन्हीं पाण्डवों के सम्बन्ध में आख्यान प्रस्तुत किया है अथवा अन्य किन्हीं पाण्डवों के सम्बन्ध में? यह मैं तो नहीं बता सकता। यदि मेरे ये बन्धु जानते हों तो बताएं।"

आचार्यश्री हेमचन्द्र की बात सुनकर न केवल अभियोगी ही, अपितु न्यायपरिषद् के सभी सदस्य स्तब्ध हो आचार्यश्री की ओर अवाक् देखते ही रह गये। निस्तब्धता को भंग करते हुए महाराज जयसिंह ने श्री हेमचन्द्रसूरि से प्रश्न किया—"क्यों महर्षिन्! क्या पाण्डव भी भिन्न-भिन्न समय में बहुत से हो गये हैं?"

आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि ने उपस्थित जनों की जिज्ञासा को शान्त करने का प्रयास करते हुए कहा :—"राजन्! सुनिये। महाभारत में वेदव्यास ने अपने आख्यान में स्पष्ट कहा है कि रणांगण में प्रवेश करते समय भीष्म पितामह ने अपने सभी वंशजों को सम्बोधित करते हुए कहा :—"युद्ध में वीर गति प्राप्त कर लेने के

अनन्तर मेरे शव का दाह किसी ऐसे स्थान में किया जाय जहां पूर्व में कभी किसी भी व्यक्ति का दाह संस्कार नहीं किया गया हो।"

शर-शय्या पर अपने प्राणों का विसर्जन करने से पूर्व उन्होंने पाण्डवों और कौरवों, सभी को और मुख्यतः अर्जुन को पुनः अन्तिम इच्छा प्रकट करते हुए कहा :—"मेरी इस बात को स्मरण रक्खा जाय कि मेरे शव का दाह उसी स्थान पर किया जाय जहां पूर्व काल में किसी भी शव का दाह न किया गया हो।" यह कहते हुए भीष्म पितामह ने सूर्य के उत्तरायण में आने पर अपने प्राणों का विसर्जन किया।

कौरव और पाण्डव सभी भीष्म पितामह के पार्थिव शरीर का अन्तिम संस्कार करने के लिये एक दुर्लंघ्य गगनचुम्बी गिरिराज के शिखर पर पहुंचे। वहां यह सोचकर कि ऐसे दुरारोह गिरिशिखर पर तो पूर्व में किसी ने किसी भी शव के दाह संस्कार करने का साहस नहीं किया होगा, उस स्थान पर वे भीष्म के शव के अन्तिम संस्कार का उपक्रम करने लगे। उसी समय दिव्य आकाशवाणी इस रूप में प्रकट हुई :—

"अत्र भीष्मशतं दग्धं, पाण्डवानां शत त्रयम्।
द्रोणाचार्य सहस्रं तु, कर्ण संख्या न विद्यते ॥१६२॥"

अर्थात् इस स्थान पर पूर्व में सौ भीष्मों का, तीन सौ पांडव पंचकों का और एक हजार द्रोणाचार्य नामक मृतात्माओं के शवों का दाह संस्कार हो चुका है, और कर्ण नाम के इतने लोगों के शवों का दाह संस्कार हुआ है कि जिनकी संख्या किसी को विदित ही नहीं है।

यह स्वयं वेदव्यास का कथन है। इतनी बड़ी संख्या में जो पूर्वकाल में पाण्डव हुए हैं, उनमें से जो पाण्डव जिनेश्वर भगवान् के अनुयायी थे उन्हीं का कथन हमारे आगमों में है और उसी आधार पर मैंने पांडवों का चरित्र, उनकी दीक्षा और अनशनपूर्वक गिरिनार पर्वत पर उनके सिद्ध बुद्ध और मुक्त होने की बात अपने व्याख्यान में कही है। शत्रुञ्जय पर्वत पर उन पांचों पाण्डवों की मूर्तियां आज भी विद्यमान हैं। इसी प्रकार नासिक्यपुर के श्री चन्द्रप्रभ जिनालय में भी पांचों पाण्डवों की मूर्तियां हैं। केदार महातीर्थ में मेरे इन वन्धुओं के धर्मग्रन्थों के उल्लेखानुसार तीन सौ की संख्या वाले व्यास द्वारा वर्णित पांडवों में से कोई पांडव होंगे, उनके सम्बन्ध में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। जिस प्रकार गंगा किसी की पैतृक सम्पत्ति नहीं, उसी प्रकार ज्ञान भी किसी की पैतृक सम्पत्ति नहीं है। यह वेद निष्णात स्मृतियों के पारगामी विद्वान् ही बताएं कि व्यास ने जिन पाण्डवों का हिमाद्रि पर अवसान होने का वर्णन किया है, वे इन उपरिलिखित तीन सौ, पांच-पांडवों में से कौनसे पांडव थे?"

आचार्य श्री हेमचन्द्र के महाभारत पुराणोल्लिखित युक्तिसंगत उत्तर को सुनकर महाराज सिद्धराज जयसिंह ने अपना निर्णय देते हुए कहा :—"जैनाचार्य महर्षि हेमचन्द्र ने जो कुछ कहा है वह वस्तुतः सत्य है। हे द्विजोत्तमो ! अब इनके कथन के उत्तर में आपके पास कोई तथ्यपूर्ण प्रमाण हों तो उन्हें प्रस्तुत करिये। मैं सब दर्शनों का समान रूप से सम्मान करता हूं। इसके प्रमाण हैं मेरे द्वारा निर्मापित सभी धर्मावलम्बियों के देवस्थान। आप लोगों को भी इसी प्रकार सभी धर्मों के प्रति, सभी धर्मावलम्बियों के प्रति समान सम्मानभाव रखकर अपनी धार्मिक सहिष्णुता का परिचय देना चाहिये।"

सभी अभियोग प्रस्तुतकर्ताओं को नितान्त मौन एवं निरुत्तर देखकर महाराज जयसिंह ने आचार्यश्री हेमचन्द्र का सत्कार करते हुए कहा :—

"महर्षिन् ! आप अपने आगमों के अनुसार निःसंकोच व्याख्यान कीजिये, इसमें अणुमात्र भी दूषण नहीं है।"

यह कहकर पत्तनाधिपति ने सबको सम्मानपूर्वक विदा किया।

पत्तन निवासी सभी वर्गों एवं सभी धर्मों के लोग आचार्यश्री हेमचन्द्र की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हुए कहने लगे :—"सिद्ध सारस्वत आचार्यश्री हेमचन्द्र न केवल जैन आगमों और जैन दर्शनों के ही अपितु सभी दर्शनों के, सिद्धान्त शास्त्रों एवं धर्मग्रन्थों के पारदृश्वा विद्वान् हैं।"

इस घटना से यत्र-तत्र-सर्वत्र जिनशासन की अपूर्व महिमा एवं प्रभावना हुई। जैन क्षितिज में हेमचन्द्रसूरि मध्याह्न के सूर्य के समान दैदीप्यमान हो जन-जन के अन्तर्मन को आध्यात्मिक आलोक से आलोकित करने लगे।

आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि ने जैनधर्म के प्रचार-प्रसार और जिनशासन की प्रभावना के साथ-साथ उस समय के लोगों के अन्तर्मन में घर किये हुए धार्मिक असहिष्णुता के संस्कारों को निर्मूल करने के लिये भी अनेक प्रकार के उल्लेखनीय कार्य किये। वे सभी धर्मों का पूर्ण रूप से सम्मान करते थे। इसी प्रकार वे अन्य दर्शनों के विद्वानों का भी समादर करने के साथ-साथ उनके प्रति बड़ी उदारता प्रकट करते रहते थे। अपनी इस प्रकार की समन्वयवादी नीति के माध्यम से गुर्जर प्रदेश में धार्मिक असहिष्णुता के उन्मूलन की दिशा में अथक् प्रयास किये। उनकी इस प्रकार की समन्वयवादी नीति का एक बड़ा ही रोचक उदाहरण प्रभावक चरित्र में उपलब्ध होता है।

एक बार भागवत धर्मानुयायी देवबोध नामक एक प्रकाण्ड पण्डित मुनि महाराज जयसिंह की सभा में उपस्थित हुआ। वह उच्च कोटि का आशु कवि था। समस्यापूर्त्ति के क्षेत्र में तो उसका एकछत्रात्मक अधिकार था। उसने पाटन की

राज्यसभा में अपनी कवित्व शक्ति से अनेक उच्च कोटि के कवियों को हतप्रभ कर दिया। पाटन की राज्य सभा में उस देवबोध ने गुर्जर राज्य के लोकप्रिय आशुकवि को निम्नलिखित श्लोक के पाठ के साथ सबके समक्ष हंसी का पात्र बना दिया। वह श्लोक इस प्रकार है :—

शुक्रः कवित्वमापन्नः, एकाक्षी विकलोऽपि सन्।
चक्षुर्द्वयविहीनस्य, युक्ता ते कविराजता ।।२०८।।

अर्थात् एक आंख से विकल होते हुए भी शुक्राचार्य कविताएं करता है। यह तो किसी प्रकार क्षम्य है किन्तु दोनों नेत्रों से जन्मान्ध होते हुए भी ओ कवि शिरोमणि ! श्रीपाल ! तुम जो कविताओं की रचना करते हो क्या तुम्हारे लिये कविराजता उचित है ?

पाटन का राज्यसभा भवन सभ्यों के अट्टहास से गुंजरित हो उठा। श्रीपाल को उत्साहित करते हुए महाराज जयसिंह ने उन्हें आदेश दिया कि वे कठिन से कठिन विकट समस्याएं भागवत कवि के समक्ष प्रस्तुत करें। श्रीपाल कवि ने गुर्जरेश्वर की आज्ञा को शिरोधार्य कर अनेक प्रकार की जटिल से जटिल समस्याएं देवबोध के समक्ष रक्खीं। आशु कवि देवबोध ने तत्काल उन सभी समस्याओं की पूर्ति कर महाराज सिद्धराज सहित सभी सभ्यों को चमत्कृत एवं आश्चर्याभिभूत कर दिया। प्रत्येक सभासद ने देवबोध की काव्य प्रतिभा की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। अपनी इस विजय के उन्माद में देवबोध ने महाराज सिद्धराज से निवेदन किया :—राजन् ! एक नितान्त निरक्षर भट्टाचार्य को राज्य सभा में उपस्थित करवाया जाय। फिर देखिये मां भारती का चमत्कार !"

कुछ ही क्षणों में राजपुरुषों ने एक नितान्त मूढ़ एवं अनपढ़ व्यक्ति को सभा के समक्ष देवबोध के पास उपस्थित किया, जो कि भैंसों का चरवाहा था।

भागवत विद्वान् देवबोध ने कुछ अस्फुट उच्चारण कर अपना हाथ भैंसों के चरवाहे उस व्यक्ति के सिर पर रख दिया और कहा :—"सुनाओ कोई अद्‌भुत् कविता !"

भैंसों के चरवाहे ने तत्काल निम्नलिखित श्लोक का एक उद्‌भट विद्वान् की भांति शुद्ध एवं स्पष्ट रूप से उच्चारण कर सम्पूर्ण राज्यसभा को चमत्कृत एवं आश्चर्य के अथाह सागर में निमग्न कर दिया :—

तं नौमि यत्करस्पर्शात् व्यामोहमलिने हृदि।
सद्यः सम्पद्यते गद्यपद्यबन्धविदग्धता ।।२३५।।

अर्थात्—मैं उस अलौकिक काव्य प्रतिभा के धनी को नमस्कार करता हूं जिसके करतल के स्पर्श मात्र से अथाह अज्ञानान्धकार के आगार मेरे हृदय में भी सहसा काव्य रचना की विलक्षण प्रतिभा उद्भूत हो उठी है।

राज्य सभा के समस्त सदस्यों की आश्चर्य विभोर विस्फारित दृष्टि भारती देवी लब्ध प्रसाद महाकवि देवबोध के मुख मण्डल पर केन्द्रित हो गई। सिद्धराज जयसिंह की प्रसन्नता का पारावार नहीं रहा। उन्होंने तत्काल एक लाख मुद्राएं देवबोध को पारितोषिक के रूप में प्रदान कीं।

कवि समूह में सदा उच्च कोटि का सम्मान प्राप्त करने वाला प्रज्ञाचक्षु श्रीपाल कवि उस भागवत् कवि की काव्य प्रतिभा से प्रभावित तो हुआ किन्तु उसके द्वारा राज्य सभा के समक्ष किया गया अपमान उसके हृदय में शल्य की तरह चुभने लगा। उसने अपने विश्वस्त अनुचरों को उस अहंकारी कवि देवबोध के छिद्रान्वेषण के लिये नियुक्त किया। श्रीपाल को अपने कार्य में पूर्ण सफलता मिली। श्रीपाल के अनुचरों ने उसे सूचित किया कि रात्रि के समय पण्डित देवबोध मद्य पीकर उन्मत्त हो नदीतट पर मदोन्मत्तों की भांति प्रलाप करता हुआ अनेक प्रकार की हीन लीलाएं करता है। पूर्ण रूपेण आश्वस्त हो जाने के पश्चात् श्रीपाल ने सिद्धराज जयसिंह के समक्ष देवबोध के मद्यपी होने की बात रखकर और छद्मवेष में रात्रि के समय उन्हें नदी के तट पर ले जाकर चालुक्यराज को प्रत्यक्ष दिखा दिया कि देवबोध किस प्रकार प्रचुर मात्रा में मद्यपान कर उन्मत्त हो अपने अनुचरों के साथ अनर्गल प्रलाप करता हुआ अशोभनीय मुद्रा में नाच रहा है। सिद्धराज जयसिंह ने कंटीली झाड़ियों में छिपकर यह देखा। तो यह देखकर महाराज जयसिंह को उससे बड़ी घृणा हुई। वे मन ही मन सोचने लगे कि संसार कैसा विचित्र है कि इस प्रकार के विद्वान् और धर्म के कर्णधार भी अपनी मर्यादा को लांघकर इस प्रकार के निंद्य कर्म करते हैं। यदि इस समय मैं प्रकट होकर इसे कुछ भी नहीं कहता हूं तो प्रातःकाल यह अपने इस दुराचरण को कभी स्वीकार नहीं करेगा। जिस समय राजा इस प्रकार विचार कर रहा था उस समय रात्रि के घनान्धकार को दूर करता हुआ आकाश में चन्द्र प्रकट हुआ। प्रकाश के प्रकट होते ही देवबोध की उन्मत्तता और बढ़ी। उसने मद्यपात्र से पानपात्र में और मदिरा उंडेली और अपने अनुचरों से कहने लगा—"लो एक-एक प्याला और पीओ।" यह कहते हुए उसने एक-एक पानपात्र सबको पिलाया और एक प्याला भरकर स्वयं ने भी पिया। तदनन्तर उसने अपने साथियों से कहा :—"अच्छा, अब और पीवें या अपने स्थान पर चलें।" यह सुनकर अपने प्रकट होने का समुचित अवसर देख सिद्धराज झाड़ियों से निकला और देवबोध के समक्ष उपस्थित हो बोला :—"ऐसी स्वादिष्ट वस्तु से कौन मूर्ख अपना मुंह मोड़ेगा ? लाइये हमें भी हमारा भाग दीजिये।"

क्षण भर विचार करते ही जैसे उसकी प्रणष्ट प्रतिभा लौट आई हो देवबोध ने कहा :—"अहो ! हमारा सौभाग्य है कि आपका यहां पदार्पण हुआ।

हम आपका हार्दिक वृर्द्धापन करते हैं।" इस प्रकार वर्द्धापन के अनन्तर स्वर्णपात्र भरकर देवबोध ने राजा के हाथ में समर्पित किया। यह देखकर सिद्धराज जयसिंह के आश्चर्य का पारावार नहीं रहा कि वह स्वर्णपात्र मदिरा से नहीं दूध से भरा है। राजा ने उस पात्र को ओष्ठों से छूआ और उसे अमृत तुल्य मीठा स्वादयुक्त पाकर पी लिया। अदृष्ट शक्ति से परावर्तित उस पेय को पी लेने के अनन्तर भी राजा यह निश्चय नहीं कर सका कि वह दूध था अथवा मद्य। राजा ने मन ही मन विचार किया कि यदि इसने वस्तुत: मदिरा को दूध के रूप में परिवर्तित कर दिया है तो यह भी एक इसकी अद्भुत् शक्ति ही है। तदनन्तर महाराज सिद्धराज जयसिंह अपने राजप्रासाद की ओर और देवबोध अपने निवासस्थान की ओर प्रस्थित हुए।

प्रात:काल राजसभा में उपस्थित होकर कवि देवबोध ने महाराज जयसिंह से निवेदन किया :—"महाराज ! मैं तीर्थयात्रा करना चाहता हूं इसलिये आपसे पूछने आया हूं।" महाराज जयसिंह को देवबोध से घृणा हो गई थी। इस तथ्य से देवबोध भी पूर्णत: परिचित हो गया था। दोनों के बीच परस्पर रहस्यपूर्ण ढंग से वार्तालाप हुआ। यद्यपि सिद्धराज नहीं चाहते थे कि इस प्रकार का भ्रष्ट चरित्र कवि उनके वहां रहे तथापि सभा के समक्ष कृत्रिम भक्ति प्रकट करते हुए उन्होंने कहा :—"राजा लोग तो निर्मल चारित्र वाले मुनियों के कृपा प्रसाद से ही पृथ्वी का पालन करते हैं इसलिये हे मुनीश्वर ! मेरी आपसे यही प्रार्थना है कि आप मेरे देश के अन्दर ही रहें। महात्मा अपने श्रद्धालु भक्तों की प्रार्थना को कभी नहीं ठुकराते। आप मेरी प्रार्थना को स्वीकार करें। मेरे राज्य के अन्दर ही रहे।"

महाराज सिद्धराज जयसिंह की इस प्रकार अनुनय विनयपूर्ण प्रार्थना को सुनकर मुनि देवबोध बड़ा प्रसन्न हुआ और अपने आश्रम में ही रहने लगा। वस्तुत: सिद्धराज जयसिंह को देववोध से पूरी तरह घृणा हो गई थी अत: देवबोध को पहले जो भेंट राजकोष से मिलती थी वह बन्द कर दी गई। राजकोष से आने वाली आय के अभाव में मुक्तहस्त हो अत्यधिक व्यय करने वाले देववोध की आर्थिक स्थिति उत्तरोत्तर बिगड़ती ही गई और शनै-शनै वह ऋण के भार से दब गया और स्वयं के तथा अनुचरों के उदरपोषण के लिये उसे भिक्षावृत्ति का सहारा लेना पड़ा।

अपने चरों के माध्यम से प्रज्ञाचक्षु कवि श्रीपाल को भागवत् मुनि देववोध की दुरवस्था के समाचार प्रतिदिन ज्ञात होते रहते। एक दिन कवि श्रीपाल ने आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि की सेवा में उपस्थित होकर निवेदन किया :—"भगवन् ! इस समय उस दुञ्चरित्र अहम्मानी भागवत् मुनि देवबोध की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय हो चुकी है। उसे भिक्षावृत्ति में मिले रूखे सूखे अन्न से उदरपोषण करना पड़ता है। मेरा सुनिश्चित अनुमान है कि अब वह आपके पास आवेगा और आपके माध्यम से राजकोष से अपनी आवश्यकतानुसार द्रव्य प्राप्त करने और अपने ऋण के भार से मुक्त होने का प्रयास करेगा। मेरी आपसे यही प्रार्थना है कि इस प्रकार

के दुश्चरित्र एवं अभिमान के मूर्त्त स्वरूप पतित मुनि की, दुःखपूर्ण दुरवस्था से द्रवित हो जाने वाले आप, किसी भी प्रकार की सहायता न करें। महाराज सिद्धराज जयसिंह को भूमि पर बिठाकर और स्वयं उच्च आसन पर बैठकर उपदेश करने वाले उस अभिमानी को उसके दुराचार का फल मिल रहा है। मुझे अपने चरों से विदित हुआ है कि अब एकमात्र आप ही उसके आशा केन्द्र रहे हैं। अपने अनुचरों से वह यह कहता सुना गया है कि अब तो राजमान्य हेमचन्द्रसूरि के अतिरिक्त मुझे ऋण से मुक्त करा देने वाला और कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। मैं तो यही समुचित समझता हूं कि इस प्रकार के धूर्त्त एवं छद्म मुनि की किसी भी प्रकार की सहायता नहीं की जानी चाहिये। क्योंकि ऐसे पतित का कोई भी विज्ञ मुंह तक भी देखना नहीं चाहता।"

कवि श्रीपाल के मुख से भागवत् मुनि देवबोध के सम्बन्ध में सब बातें ध्यानपूर्वक सुनने के अनन्तर आचार्यश्री हेमचन्द्र ने कहा :—"कविराज ! आपने जो कुछ कहा है वस्तुतः वह ठीक ही कहा है। पर वास्तविकता यह है कि आज देवबोध के समान सरस्वती का वरप्राप्त विद्वान् अन्यत्र कोई दृष्टि-गोचर नहीं होता। हम तो उसके एक इसी गुण पर मुग्ध होने के कारण उसका सम्मान करते हैं। यदि वह विषविहीन सर्प की भांति म्लान मुख हो हमारे पास आता है और अपने अभीष्ट की पूर्त्ति में असफल रहता है तो अन्य किस स्थान से उसे सहायता प्राप्त हो सकती है ? क्योंकि उसकी अपकीर्त्ति सर्वत्र व्याप्त हो चुकी है।"

कविराज श्रीपाल ने प्रत्युत्तर में निवेदन किया :—"महर्षिन् ! मैंने तो अपने अन्तर्मन की बात आपके सन्मुख रख दी। आप सब के पूज्य और ज्ञान के निधान हैं। आप अपनी गरिमा के अनुसार फिर जैसा उचित समझें वही करें।"

दूसरे ही दिन मध्याह्नकाल में क्षुधातुर भागवत् मुनि देवबोध हेमचन्द्रसूरि के उपाश्रय के द्वार पर उपस्थित हुआ। प्रतिहार ने ज्यों ही आकर आचार्यश्री हेमचन्द्र को देवबोध के आने की सूचना दी, वे अपने आसन से उठ खड़े हुए और सुधासिक्त मृदु स्वर में बोले :—"स्वागतम् ! आइये आइये सरस्वती लब्ध वर प्रसाद ! विद्वद्वरेण्य ! मेरे इस अर्द्धासन पर बैठिये।"[1]

अपने युग के एक महान् आचार्य द्वारा प्रकट किये गये सम्मान से भागवत् मुनि देवबोध गद्-गद् हो उठा। उसने मन ही मन यह विचार किया—"निश्चित रूप से मेरे मर्म की बातों से ये भली-भांति अवगत हैं। या तो किसी ने मेरे विषय में इन्हें सब कुछ बता दिया है अथवा ये अपने प्रज्ञातिशय से स्वयमेव जान गये हैं। कुछ भी हो। यह अपने समय के उच्च कोटि के विद्वान् हैं। आज के युग में ऐसा कौन है

१. प्रभावक चरित्र, हेमचन्द्रसूरि का प्रकरण।

जो पुण्य और विद्या दोनों ही की दृष्टि से इनकी तुलना में ठहर सकता हो।" इस प्रकार ऊहापोह में मग्न देवबोध को सम्बोधित करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने अपने आसन पर बैठने का आग्रह भरा इंगित करते हुए कहा :—"आज का दिन कितना पुण्यशाली दिन है कि आप जैसे कलानिधि ने घर बैठे मुझे दर्शन दिये हैं। यह कहते हुए आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि ने देवबोध का करावलम्बन करते हुए अपने आसन पर बिठाया।

उस समय भागवत् मुनि देवबोध को ऐसा प्रतीत हुआ मानो साक्षात् सरस्वती मनुष्य का रूप धारण किये हुए आचार्यश्री हेमचन्द्र के रूप में उसके पास में विराजमान है। देवबोध ने हेमचन्द्रसूरि के प्रति हार्दिक कृतज्ञता अभिव्यक्त करते हुए श्रद्धा सुमन के रूप में निम्नलिखित श्लोक का सस्वर उच्चारण किया :—

पातु वो हेम गोपालः, कम्बलं दण्डमुद्वहन्।
षड्दर्शन पशुग्रामम्, चारयन्जैनगोचरे ॥३०४॥

अर्थात् कन्धे पर कम्बल और हाथ में दण्ड धारण किये हुए, छहों दर्शनों के पशुओं के समूहों को (छहों दर्शनों के अनुयायियों को) जैनधर्म रूपी गोचर भूमि में चराता हुआ यह हेम गोपाल संसार के सब प्राणियों की रक्षा करे।

इस श्लोक को सुनते ही आचार्यश्री हेमचन्द्र की सेवा में बैठे हुए सन्तवृन्द के साथ ही साथ उपासकों का विशाल समूह हर्षातिरेक से झूम उठा। देवबोध के इस कथन की काव्यमयी कल्पना और काव्य प्रतिभा पर उपस्थित जन-समूह के कण्ठ स्वरों से 'साधु साधु' स्वर हठात् ही गुंजरित हो उठा। पारस्परिक कुशलक्षेम की पृच्छा के अनन्तर हेमचंद्रसूरि ने कविराज श्रीपाल को बुलाकर देव-बोध और श्रीपाल के बीच कतिपय दिनों से चल रहे पारस्परिक मनोमालिन्य को दूर किया। तदनन्तर कविराज श्रीपाल को महाराज सिद्धराज जयसिंह के पास भेज-कर राज्यकोष से देवबोध को एक लाख मुद्राएं प्रदान करवाईं। अन्य दर्शन एवं उसके विद्वान् के प्रति आचार्यश्री हेमचन्द्र के स्तुति, सम्मान एवं अनुपम औदार्यभाव को देखकर देवबोध का एक प्रकार से कायापलट ही हो गया। उसने मन ही मन तत्क्षण मानव मात्र को रसातल की ओर ले जाने वाली मद्यपी वृत्ति को सदा सर्वदा के लिये जलांजलि दे दी। आचार्यश्री हेमचन्द्र के प्रति अपने हाव-भाव एवं रोम-रोम से हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हुआ देवबोध राजकोष से प्राप्त हुई प्रचुर धनराशि को साथ ले अपने आश्रम की ओर लौट गया। उसने सब ऋण-दाताओं का ऋण चुका कर पूर्वाचरित सभी प्रकार के निन्द्य आचार का जीवन भर के लिये पूर्ण रूपेण परित्याग कर दिया। प्रभु की साक्षी से विशुद्ध मुनि आचार को अंगीकार कर गंगा के तट पर चला गया और वहां आध्यात्मिक साधना में निरत हो गया। यह आचार्यश्री हेमचंद्र की समन्वयवादी नीति और उत्कट उदारता का ही चमत्कार था कि एक पतित व्यक्ति पुनः पूज्य बन गया।

सभी धर्मों के प्रति सम्मानजनक व्यवहार और भागवत् धर्म के मुनि देवबोध के प्रति आचार्यश्री हेमचन्द्र द्वारा प्रकट की गई अनुपम उदारता से चारों ओर हेमचन्द्रसूरि की अधिकाधिक यशोगाथाएं गाई जाने लगीं और जिनशासन की महती प्रभावना हुई।

आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि की सर्वधर्मसमभाव नीति का एक और उदाहरण प्रभावक चरित्र में उपलब्ध होता है। भागवत् मुनि देवबोध को एक लाख मुद्राओं का दान करने के अनन्तर महाराज सिद्धराज जयसिंह ने तीर्थयात्रा के लिये प्रस्थान किया। अपने इस निश्चय के पूर्व ही महाराज जयसिंह ने हेमचन्द्रसूरि से प्रार्थना की कि तीर्थाटन में वे भी साथ-साथ पधारें। तीर्थयात्रार्थ प्रस्थान करते समय महाराज जयसिंह ने आचार्य हेमचन्द्र को प्रगाढ़ आग्रह के साथ अनुरोध किया कि वे एक पालकी में बैठकर तीर्थयात्रा में उनका साथ दें। किन्तु हेमचन्द्रसूरि ने मुनि के आचार के विरुद्ध चालुक्यराज द्वारा किये गये आग्रहपूर्ण अनुरोध को अस्वीकार करते हुए पदचार से ही विशाल भू-भाग की यात्रा की। पुत्राभाव के दुःख से प्रपीड़ित सिद्धराज जयसिंह ने आचार्यश्री हेमचन्द्र के साथ शत्रुञ्जय, रैवतकाचल, उज्जयन्त महातीर्थ आदि अनेक तीर्थों की यात्रा की। इन तीर्थों में महाराज जयसिंह ने सिंहासन–आसन आदि का कभी उपयोग नहीं किया, उसने इन जैन तीर्थों की यात्रा की अवधि में पृथ्वीतल को ही सदा अपना सिंहासन समझा। इन तीर्थों में चालुक्यराज जयसिंह ने पुण्यार्जन के लिये जिनमंदिरों को ग्रामदान, द्रव्यदान आदि अनेक प्रकार के विपुल दान दिये। उज्जयन्त तीर्थ पर भगवान् नेमिनाथ के बिम्ब को भक्तिपूर्वक वन्दन नमन करने के अनन्तर गुर्जरेश ने सदा के लिये वहां ये मर्यादाएं निर्धारित कर दीं कि इस तीर्थ में कदापि कोई व्यक्ति मंच-पलंग आदि पर नहीं सोयेगा। स्त्रीसंग, सूतककर्म और दही का विलोडन वहां सदा के लिये निषिद्ध कर दिया गया। 'प्रभावक चरित्र' के उल्लेखानुसार इसके रचनाकार आचार्य प्रभाचन्द्र के समय तक सिद्धराज जयसिंह द्वारा स्थापित की गई इन मर्यादाओं का इस तीर्थ में पूर्ण रूप से पालन किया जाता रहा। उपरिलिखित जैन तीर्थों की यात्रा करने के अनन्तर सिद्धराज जयसिंह श्री हेमचन्द्रसूरि के साथ सोमेश्वर तीर्थ में भगवान् सोमेश्वर के मंदिर में गया। वहां हेमचन्द्रसूरि को परमात्मस्वरूप से परम संतोष हुआ। किसी का विरोध नहीं करना अर्थात् सर्वधर्मसमन्वय की नीति को अपनाना ही मुक्ति का परम साधन है,[1] इस प्रकार विचार करते हुए आचार्य श्री हेमचन्द्र ने निम्नलिखित श्लोक के सस्वर पाठ के साथ भगवान् सोमेश्वर के लिंग को नमस्कार किया :—

यत्र तत्र समये यथा तथा, योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोषकलुषः स चेद् भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते ।।३४७।।

---

१. सूरिश्च तुष्टुवे तत्र परमात्मवस्रूपतः।
ननाम चाविरोधो हि, मुक्तेः परम कारणम् ।।३४६।।

प्रभावक चरित्र के इस उल्लेख से स्पष्टतः यही सिद्ध होता है कि आचार्यश्री हेमचन्द्र सब धर्मों के प्रति, सब धर्मों के आराध्य देवों के प्रति सम्मान प्रकट करने वाले और समन्वयवाद के प्रबल पक्षधर थे।

सोमेश्वर तीर्थ में भगवान् सोमेश्वर की पूजा अर्चा एवं वहां अनेक प्रकार के महादान प्रदान करने के अनन्तर महाराज सिद्धराज जयसिंह आचार्य श्री हेमचन्द्र के साथ कोटिनगर में अवस्थित अम्बिका के मंदिर में पहुंचे। अम्बिका के मंदिर में गुर्जराधिप जयसिंह ने अपनी सन्ततिविहीनावस्था से प्रपीड़ित हो अम्बिका की अनेक दिनों तक विधिवत् उपासना की। आचार्यश्री हेमचन्द्र ने भी तीन दिन तक उपोसित रहते हुए ध्यानमग्न हो शासनाधिष्ठात्री अम्बिकादेवी का आह्वान करते हुए आराधन किया। तीसरे दिन के उपवास की रात्रि के अवसानकाल में अम्बिकादेवी हेमचन्द्रसूरि के समक्ष प्रकट हुई और उसने हेमचन्द्राचार्य को सम्बोधित करते हुए कहा—"सुनो मुने! नराधिप जयसिंह के और इसके चचेरे भाई कुमारपाल के संतान का योग नहीं है। इस समय ऐसा कोई पुण्यशाली प्राणी भी नहीं है जो इनमें से किसी के पुत्र के रूप में उत्पन्न हो। राजा जयसिंह के पश्चात् इसका भ्रातृज कुमारपाल गुर्जर राज्य का राजा होगा। वह विपुल पुण्य और यशोकीर्ति अर्जित करने वाला प्रतापी राजा होगा। वह राजा कुमारपाल विजयाभियानों में अन्य कतिपय राज्यों को प्राप्त कर उनका उपभोग करेगा।" यह कर अम्बिकादेवी अदृश्य हो गई।

जब सिद्धराज जयसिंह को हेमचन्द्रसूरि के मुख से अम्बिका द्वारा कही हुई यह बात विदित हुई कि उसके संतान का कोई योग नहीं है तो वह बड़ा दुःखी हुआ और भारी मन लिये वह आचार्यश्री के साथ अणहिल्लपुर पट्टण लौट आया। अपनी राजधानी में पहुंचने के पश्चात् पुत्र की आशा के भंग हो जाने के कारण उद्विग्नमना सिद्धराज ने ज्योतिष शास्त्र में निष्णात अनेक ज्योतिषियों को अपने प्रासाद में बुलाया और उनसे भी पूछा कि उसके संतान होने का योग है अथवा नहीं। उन ज्योतिर्विदों ने सभी प्रकार के ज्योतिष शास्त्रों, प्रश्न चूड़ामणि, सामुद्रिक शास्त्र, पासा केवलि आदि अनेक विधियों से चिन्तन मनन के अनन्तर सर्व सम्मत निर्णय पर पहुँच कर महाराज जयसिंह से यही कहा कि आपके संतान का योग नहीं है। स्वर्गीय चालुक्य नरेश्वर कर्ण महाराज के पुत्र देवप्रसाद तथा देवप्रसाद के पुत्र त्रिभुवनपाल का पुत्र कुमारपाल, जो कि आपके चचेरे भाई का पुत्र है वही आपके पश्चात् विशाल गुर्जर राज्य के राज सिंहासन पर आसीन होगा। समस्त नैमित्तिक शास्त्रों से यही तथ्य प्रकाश में आता है जो अचल, अटल और अवश्यम्भावी है। भावी राजा कुमारपाल अनेक राजाओं को युद्ध में पराजित कर उनके राज्यों को गुर्जर राज्य में सम्मिलित करेगा। निमित्तशास्त्रों के परिज्ञान से यही प्रतिफलित होता है कि कुमारपाल एक महाप्रतापी राजा होगा और उसकी मृत्यु के पश्चात् प्रतापी चालुक्यवंश का राज्य नष्टप्रायः हो जायगा। सभी प्रमुख निमित्तज्ञों के इस

प्रकार के निर्णय को सुनकर सिद्धराज जयसिंह बड़ा खिन्न हुआ। इस बात को भली-भांति जानते हुए भी कि 'अवश्यम्भाविनो भावा भवन्ति महतामपि' सिद्धराज जयसिंह द्वेषाभिभूत हो कुमारपाल के प्राणापहार के लिये व्यग्र हो उठा। इससे पहले कि सिद्धराज उसकी हत्या के लिये कोई षड़यन्त्र की रचना करे, कुमारपाल को किसी भांति संदेह हो गया और वह अणहिल्लपुर से चुपचाप पलायन कर शैव दर्शन में जटाजूट तापस का वेष बनाकर रहने लगा। सिद्धराज जयसिंह ने कुमारपाल को खोज निकालने के लिये अपने विश्वस्त चरों को अनेक दिशाओं में भेज दिया। कुछ समय पश्चात् राजा जयसिंह को उसके गुप्तचर ने सूचना दी कि अणहिल्लपुर पट्टण में ३०० जटाधारी तापसों की एक जमात आई हुई है। उस जमात में कुमारपाल भी जटाजूटधारी तापस के भेष में विद्यमान है।

सिद्धराज जयसिंह ने कुमारपाल को खोज निकालने और यम का अतिथि बनाने के लक्ष्य से उन तीन सौ तापसों को भोजन के लिए अपने राजप्रासाद में निमन्त्रित किया। महाराज जयसिंह को यह विदित था कि कुमारपाल के पदतल में पद्म एवं विशाल ऊर्ध्व रेखा के चिह्न अंकित हैं। उस चिह्न को देख कर सहज ही कुमारपाल को पहिचाना जा सकता है। इस प्रकार मन ही मन विचार कर राजा स्वयं समागत अतिथि तापसों के पैरों का प्रक्षालन करने लगा। अनेक तापसों के राजा द्वारा पाद प्रक्षालन किये जाने के अनन्तर जब तापस के छद्मवेषधर कुमारपाल की बारी आई और राजा उसके पैरों का प्रक्षालन करने लगा तो उपरिलिखित दोनों चिह्नों का अंगुली स्पर्श से बोध होते ही सिद्धराज जयसिंह सशंक हो उठा। वह अपने अनुमान की पुष्टि के लिये सावधानीपूर्वक पद्म और ऊर्ध्वरेखा के चिह्नों को अपनी अंगुलियों से टटोलने लगा। कुमारपाल को तत्काल आशंका हो गई कि अब अतिशीघ्र ही उस पर प्राणापहारी संकट आने वाला है। दूसरे तापस के चरण धोने से पूर्व अपने अनुचरों को महाराज जयसिंह संकेत करें इससे पूर्व ही कुमारपाल तापसों की ओट में छिपता हुआ त्वरित गति से अपने पूर्व परिचित राजप्रासाद के किसी गुप्त द्वार में प्रविष्ट हो वह राजप्रासाद से बाहर निकल भागा। अपनी प्राणरक्षा के लिये हेमचन्द्रसूरि के उपाश्रय के अतिरिक्त अन्य कोई सर्वाधिक सुरक्षित स्थान नहीं हो सकता। इस प्रकार विचार कर कुमारपाल हेमचन्द्रसूरि की वसति में प्रविष्ट हो हाथ जोड़कर उनसे निवेदन करने लगा :—
"महाराज ! चालुक्यराज जयसिंह मुझे मारना चाहते हैं। मेरी उनसे रक्षा करें।"
हेमचन्द्रसूरि ने तत्काल कुमारपाल को ताड़पत्रों से भरी एक कोठरी में ताड़पत्रों के नीचे छिपा दिया।.

कुमारपाल की खोज में सभी ओर दौड़ते हुए जयसिंह के सैनिकों ने आचार्यश्री हेमचन्द्र के उपाश्रय में प्रविष्ट हो उनसे पूछा और उपाश्रय में चारों ओर देखने पर भी कुमारपाल को न पा वे वहां से लौट गये। रात्रि में घनान्धकार

व्याप्त होने तक कुमारपाल उन ताड़पत्रों के नीचे छिपा रहा। रात्रि में चारों ओर निस्तब्धता देख आचार्यश्री ने कुमारपाल को कोठरी से बाहर निकाला और कहा :—"अब तुम निर्जन वनों में होते हुए यथाशीघ्र गुर्जर राज्य की सीमा से बाहर चले जाओ।"

लता गुल्मों और वृक्षों के समूह से आच्छन्न विकट वनों एवं पर्वतों को पार करता हुआ कुमारपाल वामदेव के तपोवन में आया। वहां तीर्थ में स्नान कर उसने पुनः जटाधर तापस का वेष धारण किया और निर्भय हो आगे बढ़ा। ज्योंही वह आलिग नामक एक कुम्भकार के घर के पास पहुँचा उसने घोड़ों के पौड की ध्वनि सुनी। यह सोचकर कि उसका काल उसका पीछा कर रहा है, कुमारपाल उस कुलाल के घर में घुस गया और उससे कहा :—"मुझे कहीं छिपाकर मेरे प्राणों की रक्षा करो।" कुम्भकार ने तत्काल उसे मिट्टी के बरतन पकाने के नीवाह के एक कोने में कच्चे भाण्डों के बीच छिपा दिया और ऊपर कण्टक, काष्ठ, कण्डे और घास-फूस आदि डाल दिये। कुम्हार ने बड़ी चतुराई से उस नीवाह के एक कोने में आग भी लगा दी। उसी समय राजपुरुष दौड़ते हुए उस कुम्भकार के घर में घुसे और कुम्भकार से पूछा :—"क्या यहां एक युवक आया था?" कुम्हार ने तपाक् से उत्तर दिया :—"नहीं, महाराज! यहां तो कोई नहीं आया। आप अच्छी तरह से घर और बाड़े को और देख लीजिये।" सैनिकों ने बड़ी सावधानी के साथ घर के बाहर-अन्दर चारों ओर घूम-घूम कर देखा। नीवाह में अग्नि की ज्वालाएं उठ रही थीं इसलिए उस ओर कोई सैनिक नहीं गया। कुम्हार के घर में कुमारपाल को कहीं न पा सैनिक आगे की ओर बढ़ गये। सैनिकों के बहुत दूर निकल जाने पर कुम्हार ने जलते हुए नीवाह की ओर तेजी से बढ़कर देखा कि अभी आग की लपटें, जिस स्थान पर आगन्तुक छिपा है, उससे पर्याप्त दूरी पर है। उसने सन्तोष की सांस ली और कुमारपाल को नीवाह से बाहर निकाल कर एक ओर घास-फूस के ढेर की ओट में छिपा दिया। बड़ी सावधानी से चारों ओर देखकर कुम्हार ने कुमारपाल को भोजन करवाया।

रात्रि के समय में कुमारपाल कुम्भकार के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट कर विकट वन की ओर बढ़ गया। इस प्रकार घूमते-घूमते पर्याप्त समय व्यतीत हो गया। एक दिन वह स्तम्भ तीर्थ में गया। वहां आचार्यश्री हेमचन्द्र चातुर्मासावासार्थ विराजमान थे। नगर में इधर-उधर घूमता हुआ कुमारपाल संयोगवशात हेमचन्द्रसूरि के उपाश्रय में पहुँचा और सूरीश्वर का व्याख्यान सुनने बैठ गया। आचार्यश्री ने छद्मवेष में होते हुए भी लक्षणादि से कुमारपाल को पहिचान लिया। व्याख्यान समाप्त होने के अनन्तर उन्होंने कुमारपाल को एकान्त स्थान में ले जाकर कहा :—"राजपुत्र! अभी कुछ समय के लिये और धैर्य धारण करो। आज से सातवें वर्ष में तुम विशाल गुर्जर राज्य के स्वामी बन जाओगे।"

कुमारपाल ने "यदि ऐसा हुआ, तो उस राज्य के स्वामी वस्तुतः आप ही होंगे किन्तु मेरा निवेदन है कि सात वर्ष जैसी लम्बी अवधि में कैसे पार कर सकूंगा क्योंकि आज ही मेरे पास निर्वाह के लिए कुछ भी नहीं है।"

आचार्यश्री ने तत्काल अपने एक श्रावक को कहकर कुमारपाल को ३२ द्रम्म (एक प्रकार की मुद्रा) दिलवाये और कहा—"मेरी एक बात सावधानीपूर्वक सुनो। आज से तुम्हें दरिद्रता का दुःख कभी नहीं देखना पड़ेगा। तुम्हें मेरे इन व्यवसायी श्रावकों से भोजन, वस्त्र आदि की यथासमय प्राप्ति होती रहेगी।"

तदनन्तर कुमारपाल आचार्यश्री के प्रति कृतज्ञता प्रकट कर उन्हें वन्दन करता हुआ अज्ञात लक्ष्य की ओर प्रस्थित हुआ। कभी उसने कापालिक का भेष धारण किया तो कभी कौल का तो कभी शैव का। इस प्रकार अनेक वेष बदलता हुआ कुमारपाल विभिन्न प्रदेशों के भिन्न-भिन्न ग्रामों एवं नगरों में भ्रमण करता रहा और उसने बिना किसी कठिनाई के सात वर्ष की अवधि व्यतीत कर दी।

भविष्यवाणी के अनुसार राजसिंहासन पर आरूढ़ होने का समय सन्निकट आने पर कुमारपाल अणहिल्लपुर पट्टन पहुँचा। आचार्यश्री हेमचन्द्र के उपाश्रय में प्रविष्ट हो वह आचार्यश्री के रिक्त पट्ट पर उनके दर्शनों की प्रतीक्षा में बैठ गया। उसी समय आचार्यश्री हेमचन्द्र उपाश्रय में प्रविष्ट हुए और कुमारपाल को अपने पट्ट पर बैठा देखकर निश्चयात्मक स्वर में बोले—"कुमार! अब तो निश्चित रूप से आप राजसिंहासन पर बैठोगे। मेरे पट्ट पर तुम्हारा इस प्रकार बैठना इसी भावी की सूचना देता है।"

तदनन्तर कुमारपाल राजप्रासाद की ओर बढ़ा। राजप्रासाद के बाहर उसे गुर्जर राज्य के मन्त्रियों ने देखा और वे उसे आदरपूर्वक राजप्रासाद में ले गये। वे सभी मन्त्रिगण आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि द्वारा पूर्व में की गई भविष्यवाणी से अवगत थे। मन्त्री कृष्णदेव ने कुमारपाल से कहा—"महाराज! सिद्धराज जयसिंह का देहावसान हो गया है। दो राजकुमार राजसिंहासन के प्रत्याशी के रूप में अन्दर बैठे हुए हैं। आप भी आइये।"

मन्त्रिवर कृष्णदेव ने एक प्रत्याशी राजकुमार को उसकी योग्यता की परीक्षा हेतु पट्ट पर बिठाया। पर वह पट्ट पर बैठते समय अपने वस्त्रों को भी समेट नहीं सका। उसका उत्तरीय नीचे गिर पड़ा। सभी मन्त्रियों ने उसे अयोग्य घोषित करते हुए दूसरे प्रत्याशी को पट्ट पर बिठाया। उसने भी पट्ट पर बैठते ही उपस्थित मन्त्री समूह को हाथ जोड़ कर अपना मस्तक झुकाया। एक वयोवृद्ध मन्त्री ने कहा—"यह तो इस विशाल गुर्जर राज्य की चप्पा-चप्पा भूमि शत्रु-राजाओं को समर्पित कर देगा।" उसे भी एक स्वर से सभी ने अयोग्य घोषित कर कुमारपाल को इस कारण सिंहासन पर बैठने का निवेदन किया कि आचार्यश्री

व्याप्त होने तक कुमारपाल उन ताड़पत्रों के नीचे छिपा रहा। रात्रि में चारों ओर निस्तब्धता देख आचार्यश्री ने कुमारपाल को कोठरी से बाहर निकाला और कहा :—"अब तुम निर्जन वनों में होते हुए यथाशीघ्र गुर्जर राज्य की सीमा से बाहर चले जाओ।"

लता गुल्मों और वृक्षों के समूह से आच्छन्न विकट वनों एवं पर्वतों को पार करता हुआ कुमारपाल वामदेव के तपोवन में आया। वहां तीर्थ में स्नान कर उसने पुनः जटाधर तापस का वेष धारण किया और निर्भय हो आगे बढ़ा। ज्योंही वह आलिग नामक एक कुम्भकार के घर के पास पहुँचा उसने घोड़ों के पौड की ध्वनि सुनी। यह सोचकर कि उसका काल उसका पीछा कर रहा है, कुमारपाल उस कुलाल के घर में घुस गया और उससे कहा :—"मुझे कहीं छिपाकर मेरे प्राणों की रक्षा करो।" कुम्भकार ने तत्काल उसे मिट्टी के बरतन पकाने के नीवाह के एक कोने में कच्चे भाण्डों के बीच छिपा दिया और ऊपर कण्टक, काष्ठ, कण्डे और घास-फूस आदि डाल दिये। कुम्हार ने बड़ी चतुराई से उस नीवाह के एक कोने में आग भी लगा दी। उसी समय राजपुरुष दौड़ते हुए उस कुम्भकार के घर में घुसे और कुम्भकार से पूछा :—"क्या यहां एक युवक आया था ?" कुम्हार ने तपाक् से उत्तर दिया :—"नहीं, महाराज ! यहां तो कोई नहीं आया। आप अच्छी तरह से घर और बाड़े को और देख लीजिये।" सैनिकों ने बड़ी सावधानी के साथ घर के बाहर-अन्दर चारों ओर घूम-घूम कर देखा। नीवाह में अग्नि की ज्वालाएं उठ रही थीं इसलिए उस ओर कोई सैनिक नहीं गया। कुम्हार के घर में कुमारपाल को कहीं न पा सैनिक आगे की ओर बढ़ गये। सैनिकों के बहुत दूर निकल जाने पर कुम्हार ने जलते हुए नीवाह की ओर तेजी से बढ़कर देखा कि अभी आग की लपटें, जिस स्थान पर आगन्तुक छिपा है, उससे पर्याप्त दूरी पर है। उसने सन्तोष की सांस ली और कुमारपाल को नीवाह से बाहर निकाल कर एक ओर घास-फूस के ढेर की ओट में छिपा दिया। बड़ी सावधानी से चारों ओर देखकर कुम्हार ने कुमारपाल को भोजन करवाया।

रात्रि के समय में कुमारपाल कुम्भकार के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट कर विकट वन की ओर बढ़ गया। इस प्रकार घूमते-घूमते पर्याप्त समय व्यतीत हो गया। एक दिन वह स्तम्भ तीर्थ में गया। वहां आचार्यश्री हेमचन्द्र चातुर्मासावासार्थ विराजमान थे। नगर में इधर-उधर घूमता हुआ कुमारपाल संयोगवशात हेमचन्द्रसूरि के उपाश्रय में पहुँचा और सूरीश्वर का व्याख्यान सुनने बैठ गया। आचार्यश्री ने छद्मवेष में होते हुए भी लक्षणादि से कुमारपाल को पहिचान लिया। व्याख्यान समाप्त होने के अनन्तर उन्होंने कुमारपाल को एकान्त स्थान में ले जाकर कहा :—"राजपुत्र ! अभी कुछ समय के लिये और धैर्य धारण करो। आज से सातवें वर्ष में तुम विशाल गुर्जर राज्य के स्वामी बन जाओगे।"

सम्प्रति महाराज को बोध देकर जैनधर्म का सुदूरस्थ प्रदेशों में प्रचार करवाने वाले आचार्य सुहस्ति एवं वीर विक्रमादित्य को प्रतिबोध देकर जिनशासन की प्रभावना करने वाले आचार्य सिद्धसेन के पश्चात् आचार्यश्री हेमचन्द्र ही विगत ढाई हजार वर्षों में ऐसे महान् जिनशासन प्रभावक आचार्य हुए हैं, जिन्होंने सिद्धराज जयसिंह को जिनशासन का हितैषी और कुमारपाल चालुक्यराज को (वि० सं० १२१६) सच्चा जैन धर्मानुयायी, धर्मनिष्ठ, वारह व्रतधारी श्रावक बनाकर जिनशासन की महती प्रभावना की ।[1] यह हेमचन्द्रसूरि के उपदेशों का ही प्रभाव था कि कुमारपाल ने अपने विशाल राज्य के विस्तृत भू-भाग में चौदह वर्ष तक निरन्तर अमारि की घोषणा करवाकर कोटि-कोटि मूक पशुओं को अभयदान प्रदान कर जैन धर्म की प्रतिष्ठा को वढ़ाया ।

आचार्य श्री हेमचन्द्र के प्रभावशाली उपदेशों, प्रकाण्ड पांडित्य और समष्टि के कल्याण के लिये दी गई प्रेरणाओं का ही फल था कि विशाल गुर्जर राज्य के दो महाराजाओं—सिद्धराज जयसिंह और परमार्हत कुमारपाल—के राज्यकाल में गुर्जर प्रदेश को एक सुगठित, मानवीय आदर्शों से प्रेरित सुसंस्कृत, समृद्ध और समुन्नत राज्य के रूप में उभरने का अवसर मिला ।

आचार्य श्री हेमचन्द्र ने साहित्य सृजन के क्षेत्र में तो क्रान्ति लाकर एक प्रकार से नया कीर्तिमान स्थापित किया । आपकी प्रेरणा से सिद्धराज जयसिंह और परमार्हत कुमारपाल ने सुदूरस्थ प्रान्तों से प्रचुर मात्रा में प्राचीन ग्रन्थरत्नों को, उपयोगी अभिलेखों को एवं दुर्लभ साहित्य को पाटन में मंगवाकर न केवल गुजरात के ज्ञान भण्डारों को ही समृद्ध किया अपितु व्याकरण, न्याय, साहित्य, योग आदि अनेक विषयों के अभिनव ग्रन्थरत्नों के निर्माण में अपना अमूल्य योगदान दिया । गुर्जर राज्य के निवासियों में राष्ट्र, साहित्य, सदाचार, नैतिकता, पुरातन भारतीय संस्कृति, साहसिकता, कर्त्तव्य-निष्ठा, कला आदि के प्रति जो विशिष्ट प्रेम आज भी दृष्टिगोचर होता है, उसके पीछे वस्तुतः निर्विवाद रूप से आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि की प्रेरणाओं, अमोघ उपदेशों और उनके द्वारा सिद्धराज जयसिंह एवं महाराज कुमारपाल को समय-समय पर दी गई सत्प्रेरणाओं और सत्परामर्शों का वहुत बड़ा योगदान रहा है । इस तथ्य को स्वीकार करने में सम्भवतः किसी भी विज्ञ को किंचितमात्र भी आपत्ति नहीं होगी ।

उपरिवर्णित तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर भली-भांति यह सिद्ध हो जाता है कि आचार्य हेमचन्द्रसूरि विक्रम की वारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के जिनशासन के महान् प्रभावक आचार्य थे । उन्होंने न केवल जिनशासन के उत्कर्ष एवं प्रचार-प्रसार के लिये ही कार्य किया अपितु समष्टि के कल्याण के लिये भी उन्होंने

---

१. "नेमिनाह चरिउ"—(श्री चन्द्र के शिष्य श्री हरिभद्र द्वारा रचित) की प्रशस्ति ।

हेमचन्द्र एवं निमित्तज्ञों ने पूर्व में ही भविष्यवाणी कर दी थी कि सिद्धराज जयसिंह के पश्चात् कुमारपाल विशाल गुर्जर राज्य के सिंहासन पर आसीन हो गुर्जर राज्य को और भी अधिक शक्तिशाली राज्य का रूप देगा। मन्त्रियों का इंगित पाते ही कुमारपाल धीर गम्भीर मुद्रा में शार्दूल के समान पराक्रम प्रकट करता हुआ आगे बढ़ा। अपने वस्त्रों को समुचित रीति से समेट कर सुदीर्घविधि से अभ्यस्त सम्राट की भांति सिंहासन पर आसीन हो गया।

राज सिंहासन पर बैठते ही अपनी तलवार की मूठ को अपनी मुट्ठी में कस कर पकड़कर अपने क्रोड में शनैः शनैः डुलाने लगा। सभी सामन्तों ने समवेत स्वर में कहा—"हमारे गुर्जर राज्य के यही महाशक्तिशाली राजा होंगे।" ये अपने भुजबल से शत्रुओं का संहार कर गुर्जर राज्य की सीमाओं, प्रताप और कीर्त्ति को दिग्दिगन्त में प्रसृत करेंगे। तत्काल बड़े हर्षोल्लास और समारोह के साथ कुमारपाल का विशाल गुर्जर राज्य के राज सिंहासन पर राज्याभिषेक कर दिया गया।

गुर्जर राज्य की बागडोर अपने हाथों में सम्भालते ही कुमारपाल ने आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही प्रकार के शत्रुओं का निग्रह किया और स्वल्प समय में ही उसने गुर्जर राज्य की सीमाएं चारों दिशाओं में दूर-दूर तक अभिवृद्ध कर दीं।

राज सिंहासन पर आरूढ़ होने से पहले उस पर आये प्राण संकट की घड़ियों में आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि ने जिस प्रकार उसके प्राणों की रक्षा की, जिस प्रकार उसकी सहायता की और जिस प्रकार उसके उत्साह को बढ़ाया, उन सबके प्रति कुमारपाल जीवन भर आचार्यश्री हेमचन्द्र का आभारी एवं परमभक्त रहा। वह भलीभाँति जानता था कि यदि उसे आचार्यश्री हेमचन्द्र अपने उपाश्रय में ताड़पत्रों के ढेर के नीचे कोठरी में नहीं छिपाते, तीन दिन के भूखे को यदि अपने श्रद्धालु श्रेष्ठि से पाथेय के रूप में द्रव्य नहीं दिलाते तो राज सिंहासन पर आरूढ़ होना तो दूर, प्राणों का धारण करना तक भी उसके लिये असम्भव हो जाता।[1]

हेमचन्द्राचार्य के इस उपकार से उऋण होने के लिये वह सदा उनकी सेवा में उपस्थित होता। उनके प्रत्येक आदेश को शिरोधार्य कर उसकी परिपालना में अपना अहोभाग्य समझता।

---

१. तथा श्वेताम्बराचार्यो हेमसूरिर्मया तदा,
प्रदोषसमयेऽर्दशि कल्पद्रुमसमः श्रिया ॥४६१॥
पाथेयं कृपया किं च न दद्यात् यद्यसौ प्रभुः।
राज्यं कः प्राप्स्यदानन्दि भवत्संगमसुन्दरम् ॥४६२॥

—प्रभावक चरित्र, पृष्ठ ११९

सम्प्रति महाराज को वोध देकर जैनधर्म का सुदूरस्थ प्रदेशों में प्रचार करवाने वाले आचार्य सुहस्ति एवं वीर विक्रमादित्य को प्रतिबोध देकर जिनशासन की प्रभावना करने वाले आचार्य सिद्धसेन के पश्चात् आचार्यश्री हेमचन्द्र ही विगत ढाई हजार वर्षों में ऐसे महान् जिनशासन प्रभावक आचार्य हुए हैं, जिन्होंने सिद्धराज जयसिंह को जिनशासन का हितैषी और कुमारपाल चालुक्यराज को (वि० सं० १२१६) सच्चा जैन धर्मानुयायी, धर्मनिष्ठ, बारह व्रतधारी श्रावक बनाकर जिन-शासन की महती प्रभावना की ।[1] यह हेमचन्द्रसूरि के उपदेशों का ही प्रभाव था कि कुमारपाल ने अपने विशाल राज्य के विस्तृत भू-भाग में चौदह वर्ष तक निरन्तर अमारि की घोषणा करवाकर कोटि-कोटि मूक पशुओं को अभयदान प्रदान कर जैन धर्म की प्रतिष्ठा को बढ़ाया ।

आचार्य श्री हेमचन्द्र के प्रभावशाली उपदेशों, प्रकाण्ड पांडित्य और समष्टि के कल्याण के लिये दी गई प्रेरणाओं का ही फल था कि विशाल गुर्जर राज्य के दो महाराजाओं—सिद्धराज जयसिंह और परमार्हत कुमारपाल—के राज्यकाल में गुर्जर प्रदेश को एक सुगठित, मानवीय आदर्शों से प्रेरित सुसंस्कृत, समृद्ध और समुन्नत राज्य के रूप में उभरने का अवसर मिला ।

आचार्य श्री हेमचन्द्र ने साहित्य सृजन के क्षेत्र में तो क्रान्ति लाकर एक प्रकार से नया कीर्तिमान स्थापित किया । आपकी प्रेरणा से सिद्धराज जयसिंह और परमार्हत कुमारपाल ने सुदूरस्थ प्रान्तों से प्रचुर मात्रा में प्राचीन ग्रन्थरत्नों को, उपयोगी अभिलेखों को एवं दुर्लभ साहित्य को पाटन में मंगवाकर न केवल गुजरात के ज्ञान भण्डारों को ही समृद्ध किया अपितु व्याकरण, न्याय, साहित्य, योग आदि अनेक विषयों के अभिनव ग्रन्थरत्नों के निर्माण में अपना अमूल्य योगदान दिया । गुर्जर राज्य के निवासियों में राष्ट्र, साहित्य, सदाचार, नैतिकता, पुरातन भारतीय संस्कृति, साहसिकता, कर्त्तव्य-निष्ठा, कला आदि के प्रति जो विशिष्ट प्रेम आज भी दृष्टिगोचर होता है, उसके पीछे वस्तुतः निर्विवाद रूप से आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि की प्रेरणाओं, अमोघ उपदेशों और उनके द्वारा सिद्धराज जयसिंह एवं महाराज कुमारपाल को समय-समय पर दी गई सत्प्रेरणाओं और सत्परामर्शों का बहुत बड़ा योगदान रहा है । इस तथ्य को स्वीकार करने में सम्भवतः किसी भी विज्ञ को किंचित्मात्र भी आपत्ति नहीं होगी ।

उपरिवर्णित तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर भली-भांति यह सिद्ध हो जाता है कि आचार्य हेमचन्द्रसूरि विक्रम की बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के जिन-शासन के महान् प्रभावक आचार्य थे । उन्होंने न केवल जिनशासन के उत्कर्ष एवं प्रचार-प्रसार के लिये ही कार्य किया अपितु समष्टि के कल्याण के लिये भी उन्होंने

---

१. "नेमिनाह चरिउ"—(श्री चन्द्र के शिष्य श्री हरिभद्र द्वारा रचित) की प्रशस्ति ।

अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। उपदेशक होने के साथ-साथ वे अपने समय के एक महान् साहित्य सर्जक थे। उन्होंने विविध विषयों पर ग्रन्थ रत्नों की रचनाएं कर सरस्वती के भण्डार की श्रीवृद्धि की। वस्तुतः आचार्यश्री हेमचन्द्र अलौकिक प्रतिभा के धनी विद्वद्वरेण्य थे। सम्भवतः ऐसा लगता है कि उनकी इस अप्रतिम अनूठी प्रतिभा से प्रभावित होकर ही पश्चाद्वर्त्ती साहित्यकारों ने उन्हें कलिकाल सर्वज्ञ के विरुद से विभूषित कर उनके सम्बन्ध में देवी वरदान जैसे कथानकों की रचना की हो। उन्होंने विपुल मात्रा में ग्रन्थरत्नों की रचना कर साहित्य जगत् में जो एक नया कीर्तिमान स्थापित किया, उसमें महाराज सिद्धराज जयसिंह और उनके उत्तराधिकारी कुमारपाल का भी बड़ा ही महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय योगदान रहा। यदि आचार्यश्री हेमचन्द्र को चालुक्यराज सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल का, उन दोनों के शासन का योगदान न मिला होता तो वे इस प्रकार के उच्च कोटि के विपुल साहित्य का निर्माण करने में सम्भवतः इतने अधिक सफल नहीं होते। आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि चालुक्यराज सिद्धराज जयसिंह और परमार्हत महाराजा कुमारपाल इन तीनों ही युग पुरुषों के जीवन वस्तुतः एक-दूसरे के पूरक रहे। इन तीनों में से किसी भी एक के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का मौखिक अथवा लिखित रूप में वर्णन किया जाय तो अनिवार्य रूप से शेष दो के नाम भी स्वतः ही उस विवरण में सम्मिलित हो जायेंगे।

आचार्यश्री हेमचन्द्र द्वारा रचित ग्रन्थ

यह तो ऊपर बताया जा चुका है कि आचार्य हेमचन्द्र अपने समय के सशक्त एवं महान् ग्रन्थकार थे। उन्होंने साहित्य निर्माण के क्षेत्र में एक अभिनव कीर्तिमान स्थापित किया। जैन वांग्मय में आचार्यश्री की रचनाओं के सम्बन्ध में इस प्रकार के कतिपय उल्लेख उपलब्ध होते हैं कि उन्होंने साढ़े तीन करोड़ (३,५०,००,०००) श्लोक परिमाण ग्रन्थों की रचना की। किन्तु वर्तमान में उनके द्वारा रचित जो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उनकी श्लोक परिमाण सहित सूची निम्न प्रकार है :—

नाम ग्रन्थ	श्लोक परिमाण
१. सिद्ध हेम लघु वृत्ति	६,०००
२. सिद्ध हेम वृहद् वृत्ति	१८,०००
३. सिद्ध हेम वृहन्न्यास	८४,०००
४. सिद्ध हेम प्राकृत वृत्ति	२,२००
५. लिंगानुशासन	३,६८४
६. उणादिगण विवरण	३,२५०

७.	धातु पारायण विवरण	५,६००
८.	अभिधान चिन्तामणि	१०,०००
९.	अभिधान चिन्तामणि परिशिष्ट	२०४
१०.	अनेकार्थ कोष	१,८२८
११.	निघंटु कोष	३९६
१२.	देशी नाम माला	३,५००
१३.	काव्यानुशासन	६,८००
१४.	छन्दोनुशासन	३,०००
१५.	संस्कृत द्व्याश्रय	२,८२८
१६.	प्राकृत द्व्याश्रय	१,५००
१७.	प्रमाण मीमांसा (अपूर्ण)	२,५००
१८.	वेदांकुश	१,०००
१९.	त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र महाकाव्य, १० पर्व	३२,०००
२०.	परिशिष्ट पर्व	३,५००
२१.	योगशास्त्र	१२,७५०
२२.	वीतराग स्तोत्र	१८८
२३.	अन्य योग व्यवच्छेद द्वात्रिंशिका (काव्य)	३२
२४.	अयोग व्यवच्छेद द्वात्रिंशिका काव्य	३२
२५.	महादेव स्तोत्र	४४

आचार्यश्री हेमचन्द्र की इन कृतियों से ही अनुमान लगाया जा सकता है कि वे कितने महान् ग्रन्थकार थे। इस प्रकार लगभग ६३ वर्ष जैसे सुदीर्घ कालावधि के अपने आचार्य काल में हेमचन्द्रसूरि ने निरन्तर सरस्वती की उपासना करते हुए जन-जन के अन्तर्मन पर जैन धर्म के सिद्धान्तों की अमिट छाप अंकित कर जिन-शासन की प्रतिष्ठा को बढ़ाया। गुर्जर प्रदेश के अपने समय के दो महा प्रतापी राजाओं को प्रेरणा देकर जन कल्याण के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित करवा जन-जन के नैतिक, धार्मिक, शैक्षणिक और सामाजिक धरातल को समुन्नत कर जनशक्ति को सुसंस्कृत किया।

अन्त में अपना अन्तिम समय सन्निकट देख अपने युग के महान् योगी हेमचन्द्रसूरि ने परमार्हत महाराज कुमारपाल, अपने शिष्यों एवं संघ-प्रमुखों को आमन्त्रित कर उन्हें जिनशासन की सेवा में उत्तरोत्तर अधिकाधिक निरत रहने

का उद्‌बोधन दे अपने दोषों की आलोचना कर संलेखनापूर्वक संथारा किया। उन्होंने :—

"खामेमि सव्वे जीवा सव्वे जीवा खमन्तु मे ।
मित्ति मे सव्व भूएसु वेरं मज्झं न केणइ ।।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए संसार के प्राणिमात्र से क्षमायाचनापूर्वक उन्हें क्षमा किया और संसार के प्राणिमात्र के प्रति अपना मैत्री भाव प्रकट करते हुए आत्म-चिन्तन में लीन हो गये। अन्त में आत्म रमण में लीन आचार्यश्री हेमचन्द्र ने विक्रम सम्वत् १२२९ में ८४ वर्ष की आयु पूर्णकर समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण किया।

—: ० :—

उनचालीसवें (३९) युग प्रधानाचार्य विनयमित्र

जन्म	वीर निर्वाण सम्वत् १५६८
दीक्षा	वीर निर्वाण सम्वत् १५७८
सामान्य साधु पर्याय	वीर निर्वाण सम्वत् १५७८ से १५९७
युग प्रधानाचार्य काल	वीर निर्वाण सम्वत् १५९७ से १६८३
गृहस्थ पर्याय	दस (१०) वर्ष।
सामान्य साधु पर्याय	१९ वर्ष
युग प्रधानाचार्य पर्याय	८६ वर्ष
स्वर्ग	वीर निर्वाण सम्वत् १६८३
सर्वायु	११५ वर्ष, सात मास, सात दिन

अड़तीसवें युगप्रधानाचार्य धर्मघोष के स्वर्गस्थ हो जाने पर चतुर्विध संघ ने श्रमणोत्तम श्री विनयमित्र को युग प्रधानाचार्य परम्परा के ३९वें पट्ट पर युग-प्रधानाचार्य के रूप में अधिष्ठित किया। इन ३९वें युगप्रधानाचार्य श्री विनयमित्र ने वीर नि. सं. १५९७ से वीर नि. सं. १६८३ तक कुल मिलाकर ८६ वर्ष जैसी सुदीर्घावधि तक जिनशासन की महती सेवा की।

अद्यावधि उपलब्ध जैन वाङ्मय में आपका (युगप्रधानाचार्य श्री विनयमित्र का) इससे विशेष परिचय दृष्टिगोचर नहीं होता।

आपके युगप्रधानाचार्य काल में पौर्णमीयक गच्छ के प्रवर्त्तक श्री चन्द्रप्रभ-सूरि के शिष्य श्री धर्मघोष आचार्य ने वीर निर्वाण सम्वत् १६३२ के आसपास 'शब्द सिद्धि' (व्याकरण) और 'ऋषिमण्डल स्तोत्र' की रचना की।

वीर निर्वाण सम्वत् १६५६ में **राजगच्छीय** श्री शीलभद्रसूरि के चौथे पट्ट-धर धर्मघोष नामक बड़े ही प्रभावक आचार्य हुए। उनकी स्मरण- शक्ति अनुपम थी। वे उच्चकोटि के विद्वान्, अद्‌भुत व्याख्याता और अपने समय के अप्रतिम शास्त्रार्थजयी आचार्य थे। वीर निर्वाण सम्वत् १६७० के आसपास आपने शाकंभरी के राजा अर्णोराज की सभा में दिगम्बराचार्य गुणचन्द्र को शास्त्रार्थ में पराजित किया। आपके उपदेश बड़े ही आन्तस्तलस्पर्शी होते थे। उस समय के अनेक राजा-

महाराजा अपनी-अपनी राजसभाओं में बड़ी ही श्रद्धाभक्तिपूर्वक आपके व्याख्यानों का आयोजन किया करते थे।

इन राजगच्छीय **धर्मघोष** आचार्य ने विक्रम सम्वत् ११८६ (तदनुसार वीर निर्वाण सम्वत् १६५६) में 'धम्मकप्पद्दुमो' और उसी वर्ष की मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी के दिन 'गृहिधर्म परिग्रह प्रमाण' नामक ग्रन्थों की रचना की। आपके नाम पर राजगच्छ की 'धर्मघोष शाखा' का प्रादुर्भाव हुआ जो कालान्तर में **'धर्मघोष गच्छ'** के नाम से विख्यात हुआ। अपनी शाखा अथवा अपने गच्छ में किसी प्रकार का आचार शैथिल्य न पनपने पाए, इस दृष्टि से दूरदर्शी **आचार्य धर्मघोष ने १६ श्रावकों की** एक समिति का गठन किया। आबू पर्वत पर बनी विमल वसति की प्रशस्ति में आचार्य धर्मघोष के सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक उट्टंकित है :

वादिचन्द्र गुणचन्द्र विजेता, भूपतित्रय विबोधविधाता।
धर्मसूरिरिति नाम पुरासीत्, विश्व विश्वविदितो मुनिराजः ।।३६।।

राजवंश परमार्हत महाराजा कुमारपाल के राजसिंहासन पर आरूढ़ होते ही शाकंभरी के महाराजा अर्णोराज ने चाहड आदि गुर्जर सामन्तों के भड़काने पर गुजरात राज्य पर आक्रमण कर दिया था। उस युद्ध में अर्णोराज पराजित हुआ।

अर्णोराज की सुधवा नाम की एक रानी की कुक्षि से उत्पन्न हुए अर्णोराज के ज्येष्ठ राजकुमार जगदेव ने राज्य के लालच में आकर विक्रम सम्वत् १२०७ तदनुसार वीर निर्वाण सम्वत् १६७७ में अपने पिता अर्णोराज की हत्या कर दी। अर्णोराज की रानी सुधवा मरुकोट्ट (मारोठ) के जोहिया राजा की बहिन थी।

—: ० :—

श्रमण भगवान् म० के ५२वें पट्टधर आ. श्री सूरसेन

जन्म	वी. नि. सं. १६०१
दीक्षा	" " " १६२३
आचार्य पद	" " " १६४४
स्वर्गारोहण	" " " १७०८
गृहवास पर्याय	२२ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	२१ वर्ष
आचार्य पर्याय	६४ वर्ष
पूर्ण संयम पर्याय	८५ वर्ष
पूर्ण आयु	१०७ वर्ष

श्रमण भगवान् महावीर की विशुद्ध मूल परम्परा के ५१वें पट्टधर आचार्य श्री देवऋषि के समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण पर चतुर्विध संघ ने वी. नि. सं. १६४४ में आगम-निष्णात मुनिवर श्री सूरसेन को भ. म. के ५२वें पट्टधर आचार्य पद पर अधिष्ठित किया।

आपने अपनी ६४ वर्ष की आचार्य-पर्याय में साधु-साध्वी, श्रावक तथा श्राविका वर्ग को आगमानुसारी अध्यात्म मूलक भाव-परम्परा पर दृढ़ बनाये रक्खा। इस प्रकार ८५ वर्ष की विशुद्ध श्रमण-पर्याय में स्व-पर का कल्याण करने के अनन्तर आपने वी. नि. सं. १७०८ में १०७ वर्ष की आयु पूर्ण कर संलेखना संथारा-पूर्वक समाधि मरण द्वारा स्वर्गारोहण किया।

—: :—

श्रमण भगवान् महावीर के ५१वें पट्टधर आचार्यश्री देवऋषि (द्वितीय) और ५२वें पट्टधर आचार्यश्री सूरसेन के आचार्य काल की राजनैतिक स्थिति

गूर्जराधीश श्री सिद्धराज जयसिंह

श्रमण भगवान् महावीर के इक्कावनवें पट्टधर आचार्यश्री देवऋषि वीर निर्वाण सम्वत् १५८९ में जब आचार्यपद पर आसीन हुए उस समय विशाल गुर्जर राज्य के राजसिंहासन पर चालुक्यराज भीम आसीन थे। आचार्यश्री देवऋषि के आचार्यपद पर आरोहण के दूसरे वर्ष वीर निर्वाण सम्वत् १५९० में महाराजा भीम का वीर निर्वाण सम्वत् १५४८ से १५९० तक विशाल गुर्जर राज्य का ४२ वर्ष तक शासन करने के अनन्तर देहावसान हो गया। तदनन्तर वीर निर्वाण सम्वत् १५९० में महाराजा भीम के पश्चात् महाराजा कर्ण चालुक्य राज्य के राज सिंहासन पर आरूढ़ हुए।

महाराजा कर्ण ने वीर निर्वाण सम्वत् १५९० से १६२० की पौष कृष्णा दूज पर्यन्त २९ वर्ष, ८ मास और २१ दिन तक गुर्जर राज्य पर शासन करनें के अनन्तर अपने तीन वर्ष की वय के पुत्र सिद्धराज जयसिंह को विक्रम सम्वत् ११५० की पौष कृष्णा तृतीया शनिवार के दिन श्रवण नक्षत्र तथा वृष लग्न में गुजरात राज्य के राज सिंहासन पर अभिषिक्त कर दिया।

अपने अल्प वयस्क राजकुमार जयसिंह को पट्टण के राज्य सिंहासन पर आसीन करने के अनन्तर महाराजा कर्ण ने आशापल्ली के दुर्दान्त भिल्लराज आशा पर आक्रमण कर उसे युद्ध में परास्त किया। आशापल्ली पर अपना आधिपत्य स्थापित कर कर्ण ने वहां अपने नाम पर कर्णावतीपुर नामक नगर बसाया और स्वयं वहां राज्य करने लगे। अपने नवीन राज्य का सुचारू रूप से संचालन करते हुए महाराज अपने पुत्र जयसिंह के विशाल पट्टण राज्य का भी उनके वयस्क होने तक संरक्षण करते रहे। उन्होंने कर्णावती पुरी के पास कर्णेश्वर देव का विशाल मन्दिर और उसके पास ही कर्ण सागर नामक एक विशाल तालाब का निर्माण करवाया।

महाराजा कर्ण के परलोक गमन के अनन्तर आशापल्ली—कर्णावती का सशक्त समृद्ध राज्य भी महाराजा जयसिंह के विशाल गुर्जर राज्य में सम्मिलित

कर लिया गया और इस प्रकार एक विशाल गुर्जर राज्य के शासन की बागडोर महाराजा जयसिंह के हाथ में उसके बाल्यकाल में ही आ गई और महाराजा कर्ण की उदयमती नाम की राणी के सहोदर मदनपाल को जयसिंह का संरक्षक नियुक्त किया गया। मदनपाल बड़ा ही विचित्र प्रकृति का व्यक्ति था। एक विशाल राज्य के संरक्षक और विशाल गुर्जर राज्य के महाराजा जयसिंह के अभिभावक का पद प्राप्त कर लेने के अनन्तर उसकी स्वेच्छाचारिता बढ़ गई। उन दिनों लीला नामक राज्यवैद्य अणहिल्लपुर पट्टण में रहता था। वह अपने समय का एक सर्वोत्कृष्ट नाड़ी वैद्य और आयुर्वेद का पारंगत विद्वान् था। जो कोई भी रोगी उसके पास आता वह इस निष्णात वैद्य की चिकित्सा से पूर्ण-रूपेण रोग मुक्त हो जाता। उसकी कीर्त्ति दिग्दिगन्त में व्याप्त हो गई और न केवल गुर्जर राज्य के ही अपितु सुदूरस्थ देशों के लोग भी उसके पास चिकित्सा करवानें के लिये आने लगे। उस राजवैद्य की चमत्कारपूर्ण चिकित्सा पद्धति के प्रभाव से हजारों लोग उसे प्रसन्न हो सम्मानपूर्वक स्वर्ण मुद्राएं प्रदान करने लगे। राजवैद्य के घर में लोगों द्वारा की गई इस प्रकार की स्वर्ण वृष्टि को देखकर मदनपाल ने बिना किसी रोग के ही रुग्ण जैसा व्याज अथवा छल करते हुए उस राजवैद्य को अपने यहां बुलवाया। नाड़ी देखने पर उस राजवैद्य ने मदनपाल से कहा :—"आपका स्वास्थ्य पूर्णतः उत्तम है, आपको किसी प्रकार की व्याधि नहीं है।" राजवैद्य की बात सुनते ही आक्रोशभरे स्वर में मदनपाल ने कहा :—"मैंने तुम्हें किसी रोग को दूर करने के लिए नहीं अपितु अपनी स्वर्ण की भूख को मिटाने के लिये कांचन मुद्राओं का पथ्य मुझे प्रदान करने के लिये बुलाया है। अतः तत्काल बत्तीस हजार स्वर्ण मुद्राएं मुझे प्रदान करो अन्यथा तुम्हें बन्दी कर लिया जायगा।" राजवैद्य से किसी उत्तर की बिना अपेक्षा किये ही मदनपाल ने तत्काल उस राजवैद्य को बन्दी बना लिया। राजवैद्य ने साश्चर्य शोकाभिभूत हो अपनी मुक्ति के लिए तत्काल ३२ हजार स्वर्ण मुद्राएं लाकर मदनपाल को समर्पित कीं और उससे अपना पीछा छुड़ाया।

मदनपाल के इसी प्रकार के अत्याचारों से अणहिल्लपुर पट्टण की प्रजा संत्रस्त हो उठी। महाराजा जयसिंह उस समय अपनी किशोर वय को पाकर यौवन के द्वार पर पदनिक्षेप करने ही वाले थे। जब जयसिंह ने मदनपाल के अत्याचारों की बात सुनी तो उन्होंने अपने मन्त्री सान्तू से एकान्त में मन्त्रणा कर उसे आदेश दिया कि समस्त गुर्जर राज्य पर छाये हुए मदनपाल से येन-केन प्रकारेण राज्य की प्रजा को शान्ति दिलवाएं। इस प्रकार की मन्त्रणा के पश्चात् सान्तू मन्त्री द्वारा बताये गये उपाय से जयसिंह ने गुप्त रूप से अपने अंगरक्षकों द्वारा मदनपाल को मरवा डाला। और मन्त्री सान्तू को अपने प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया।

महाराजा जयसिंह के जन्म के सम्बन्ध में प्रबन्ध चिन्तामणिकार मेरुतुंगाचार्य ने एक बड़ी रहस्यपूर्ण एवं आश्चर्यजनक घटना का उल्लेख करते हुए प्रबन्ध चिन्तामणि में लिखा है।

कर्णाटक के महाराजा जयकेशी की राजरानी ने एक कन्या को जन्म दिया। उस कन्या का नाम मयणल्ल देवी रखा गया। एक बार राजकुमारी मयणल्ल देवी ने शिवभक्तों के मुख से सोमेश्वर का स्तुति पाठ सुना। सोमेश्वर का नाम सुनते ही राजकुमारी को जाति-स्मरण ज्ञान हो गया कि वह पूर्व जन्म में ब्राह्मणी थी। एक-एक मास के बारह मासोपवास करने के पश्चात् उस ब्राह्मणी ने बारह प्रकार की वस्तुएं उस तप के उद्यापन में दान कर सोमेश्वर देव के दर्शन करने के लिये सोमेश्वर तीर्थ की ओर प्रयाण किया। अपनी यात्रा के अन्तिम चरण में जब वह वाहुलोड नगर में आई तो उससे राज्याधिकारियों ने सोमेश्वर तीर्थ के यात्रियों से वसूल किये जाने वाले बाहुलोडकर देने की बात कही। उस ब्राह्मणी के पास उस कर को चुकाने के लिये कुछ भी नहीं था। इस कारण राज्य द्वारा नियुक्त कराधिकारियों ने उसे सोमेश्वर देव के दर्शन करने की अनुमति प्रदान नहीं की। सोमेश्वर देव के दर्शन न कर पाने के कारण वह ब्राह्मणी अत्यन्त दुखित हुई और मृत्यु से पूर्व उसने यह निदान किया कि वह सोमेश्वर के यात्रियों पर लगाये जाने वाले उस बाहुलोड कर को आगामी जन्म में बन्द करवाने वाली हो।

इस प्रकार का निदान कर उसने आमरण अनशन किया और वह सोमेश्वर तीर्थ के नगर में निधन को प्राप्त हो महाराजा जयकेशी की राजपुत्री के रूप में उत्पन्न हुई।

इस प्रकार का जाति स्मरण ज्ञान हो जाने के अनन्तर राजकुमारी मयणल्ल देवी ने प्रण किया कि सोमेश्वर के यात्रियों को वाहुलोड कर से मुक्ति दिलाने के लिये वह गुजरात के महाराजा के साथ ही विवाह करेगी। अन्य किसी के साथ नहीं।

कर्णाट राज जयकेशी को जब अपनी पुत्री के प्रण की वात ज्ञात हुई तो उन्होंने अपने मन्त्रियों को भेजकर कर्ण से प्रार्थना की कि वे उसकी पुत्री का पाणिग्रहण कर उसे अपनी रानी के रूप में स्वीकार करें। कर्ण ने पहले से ही मयणल्लदेवी के कुरूपा होने की वात सुन रखी थी। अतः उसने जयकेशी की प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया। अपने मन्त्रियों से गुर्जरेश कर्ण की इस प्रकार की उदासीनता के समाचार सुनकर जयकेशी ने और कोई उपाय न देख कर्ण को ही अपना पति वनाने के लिये कृतसंकल्पा राजकुमारी मयणल्लदेवी को अपने विश्वस्त राज्याधिकारियों एवं दास दासियों के साथ स्वयम्वरा के रूप में अणहिल्लपुर पट्टण भेज दिया।

स्वयम्वरा राजकुमारी मयणल्लदेवी के अणहिल्लपुर पट्टण पहुंचने की वात सुनकर महाराजा कर्ण ने प्रच्छन्न वेप में, गुप्त रीति से उस राजकुमारी को देखा

और वस्तुत: उसे एकदम कुरूप देखकर उसने उसके साथ विवाह करने की बात को पूरी तरह ठुकरा दिया। इस प्रकार ठुकराये जाने से हताश हो राजकुमारी मयणल्ल देवी ने अपनी आठ सहचरियों के साथ सहर्ष मृत्यु वरण का निश्चय किया। कर्ण की माता उदयमती ने जब इस प्रकार की बात सुनी तो वह द्रवित हो उठी और उसने स्वयं ने भी उसी प्रकार मरने का संकल्प कर लिया। अपनी माता के स्वेच्छा मरण वरण की बात सुनकर मातृभक्त कर्ण ने माता के प्राणों की रक्षा करने के लिये मयणल्लदेवी के साथ विवाह कर लिया। विवाह कर लेने के उपरान्त भी कर्ण ने मयणल्लदेवी के अन्त:पुर में जाने की बात तो दूर, उसकी ओर कभी दृष्टि निपात तक नहीं किया।

इस प्रकार कतिपय मास व्यतीत हो जाने के अनन्तर एक दिन मन्त्री मुंजाल को राजा के विश्वासपात्र कंचुकी से ज्ञात हुआ कि महाराजा कर्ण एक नीच जाति की नवौढा पर मुग्ध है और उससे समागम करने के लिये आतुर है। मुंजाल ने मयणल्लदेवी को उस नीच जाति की रमणी के समान परिधान पहनाकर एकान्त स्थान में भेज दिया। अपनी कंचुकी से अपनी अभीप्सित नीच जाति की नारी के एकान्त स्थान में आगमन की बात सुनकर राजा कर्ण उस एकान्त कक्ष में गया। और वहां उस अंधकार पूर्ण कक्ष में मयणल्ल देवी को ही अपनी हीनकुलीना प्रेयसी समझते हुए उसका उपभोग किया। मयणल्लदेवी उसी रात गर्भवती हो गई और उसने राजा से विदा होते समय राजा की अगूंठी स्मरणचिह्न के रूप में मांग ली। कर्ण अपनी अगूंठी देकर अपने कक्ष में चला गया और मयणल्लदेवी अपने महल में।

दूसरे दिन प्रात:काल राजा कर्ण को रात्रि में किये गये अपने दुष्कृत्य पर भयंकर पश्चात्ताप हुआ। उसने तत्काल मनुस्मृति आदि मान्य स्मृतियों के निष्णात ब्राह्मण विद्वानों को बुलवाया और उनसे अगम्या नीच कुल की नारी के साथ समागम का प्रायश्चित्त पूछा। उन स्मार्तों ने प्रमाण पुरस्सर बताया कि अग्निकुण्ड में प्रतप्त की गई ताम्र की पुतली का आलिंगन करना ही इस प्रकार के जघन्य अपराध का प्रायश्चित्त है। तदनुसार राजा कर्ण ने तांबे की पुतली मंगवाकर उसे अग्नि में तपाने का अपने अनुचरों को आदेश दिया। राजा को मरने के लिये कृत-संकल्प देखकर मन्त्री मुंजाल ने रात्रि के रहस्य का उद्घाटन करते हुए बता दिया कि जिस स्त्री के साथ उसने समागम किया है, वह कोई नीच कुल की कन्या नहीं, अपितु कर्णाटक के महाराजा जयकेशी की कुलीना राजपुत्री और महाराजा कर्ण की परिणीता महारानी मयणल्ल देवी थी। इस रहस्य के उद्घाटन से कर्ण को ऐसा अनुभव हुआ मानो वह नर्क कुण्ड से निकल कर पुन: मृत्युलोक में आ गया है। अपनी मुद्रिका एवं महारानी मयणल्लदेवी को देखकर उसे पूर्णत: विश्वास हो गया कि उसने कोई जघन्य दुष्कृत्य नहीं किया है।

इस घटना के पश्चात् महाराजा कर्ण मयणल्ल देवी के साथ समुचित सद्व्यवहार करने लगा। गर्भ-काल पूर्ण होने पर मयणल्लदेवी ने पुत्र को जन्म दिया। पुत्र जन्म से महाराजा कर्ण के हर्ष का पारावार नहीं रहा और उसने अपने राजकुमार का नाम जयसिंह रखा। राजोचित वैभव से राजकुमार का लालन-पालन किया जाने लगा और वह राजकुमार अपने समवयस्कों के साथ खेलने लगा। इस प्रकार राजकुमार क्रमशः तीन वर्ष का हो गया। समान वय के बालकों के साथ खेलता हुआ राजकुमार एक दिन राज सिंहासन पर आरूढ़ हो उस पर बैठ गया। राजा कर्ण ने देखा कि उसका पुत्र राज सिंहासन पर उसी मुद्रा और ठाट से बैठा है, जैसे कि एक अनुभवी राजा बैठता है। राजा कर्ण और उसके पास बैठे हुए मन्त्री, नैमित्तिक आदि आश्चर्यविभोर हो सिंहासन पर आसीन जयसिंह की ओर एकटक देखने लगे। नैमित्तिकों ने अति विनम्र स्वर में राजा से निवेदन किया :—"राज-राजेश्वर ! राज्याभिषेक का इस समय सर्वश्रेष्ठ मुहूर्त्त है। इस अतीव श्रेष्ठ एवं शुभ मुहूर्त्त में यदि राजकुमार का राज्याभिषेक कर दिया जाय तो आगे चलकर विशाल गुर्जर राज्य वर्तमान की अपेक्षा कई गुना बड़ा विशाल साम्राज्य बन जायगा।" महाराजा कर्ण ने तत्काल राज्याभिषेक की तैयारी का आदेश दिया और तत्काल उसी शुभ मुहूर्त्त में जैसा कि पहले बताया गया है विक्रम सम्वत् ११५० की पौष कृष्णा तृतीया, शनिवार, श्रवण नक्षत्र, वृष लग्न में अपने राजकुमार जयसिंह का राज्याभिषेक कर दिया।

तदनन्तर अनेक विद्याओं एवं राजनीति में निष्णात हो महाराजा जयसिंह ने गुर्जर राज्य की आमूलचूल अतीव समीचीन रूप से बड़ी सुन्दर राज्य व्यवस्था की। एक दिन मयणल्ल देवी ने अपने पुत्र सिद्धराज को अपने जातिस्मरण ज्ञान से ज्ञात हुए पूर्व भव का वृत्तान्त सुनाया और कहा कि उसे शान्ति तभी मिलेगी जब कि सोमनाथ की यात्रा पर लगा हुआ कर पूरी तरह से उठा लिया जायगा। सिद्धराज ने अपनी माता की आन्तरिक अभिलाषा की पूर्त्ति हेतु माता के साथ सोमनाथ की यात्रा करने का निश्चय किया। मयणल्लदेवी ने सवा करोड़ मूल्य की स्वर्णमयी पूजा सामग्री लेकर अपने पुत्र के साथ सोमनाथ की यात्रा प्रारम्भ की। जब मयणल्ल देवी बाहुलोड नगर पहुंची तब उसने देखा कि अनेक यात्रियों को कर विभाग के अधिकारी यात्रा का कर देने के लिये बाध्य कर रहे हैं और वे यात्री अपनी निर्धनावस्था के कारण कर देने में अपनी असमर्थता प्रकट कर रहे हैं। यात्रियों की इस प्रकार की दयनीय दशा को देखकर मयणल्ल देवी बड़ी खिन्न हुई। उसने देखा कि यात्रियों के समूह कर न चुकाये जाने एवं राज्याधिकारियों द्वारा सोमनाथ के दर्शनों की अनुमति न मिलने के कारण हताश एवं खिन्न हो आंखों से अश्रुधारा प्रवाहित करते हुए पुनः अपने-अपने ग्राम और नगरों की ओर लौट रहे हैं। यह देखकर तो मयणल्ल देवी की आंखें अश्रुओं से डबडबा उठीं और उसने अपने परिजनों एवं परिचारकों को पुनः पाटन की ओर लौट जाने की आज्ञा

दी। अपनी माता को पाटन की ओर लौटने के लिये उद्यत देख कर जयसिंह ने माता के समक्ष उपस्थित हो निवेदन किया :—"अम्ब ! सोमनाथ के इतना पास आकर आप विना सोमनाथ की पूजा किये ही क्यों लौटना चाहती हैं ?"

मयणल्ल देवी ने कहा :—"पुत्र ! इस कर को सदा सर्वदा के लिये समाप्त कर देने पर ही मैं सोमेश्वर की पूजा करूंगी और तभी मैं अन्न ग्रहण करूंगी, अन्यथा नहीं।"

अपनी माता की इस प्रकार की प्रतिज्ञा सुनकर जयसिंह ने उसी समय वहां के उच्चाधिकारियों को बुलवाया और उनसे उस कर के माध्यम से होने वाली आय के पत्रक को लेकर देखा। उस पत्र में ७२ लाख के आय के अंक को देखकर महाराजा जयसिंह ने तत्काल उस पत्र को फाड़कर अपनी माता के कल्याण के लिये हाथ में जल लेकर सोमनाथ की यात्रा पर लगने वाले बाहुलोड कर को सदा के लिये समाप्त करते हुए अपनी अंजलि का जल संकल्पपूर्वक पृथ्वी पर डाल दिया।

चालुक्यराज जयसिंह द्वारा की गई करमुक्ति की घोषणा से मयणलदेवी को अपार हर्ष हुआ। उसने सोमेश्वर के मन्दिर में जाकर सवा करोड़ मूल्य के स्वर्ण से सोमनाथ की पूजा की। पूजा के अवसर पर तुला पुरुषदान, गजदान आदि अनेक प्रकार के बड़े-बड़े दान दिये।

इस प्रकार के महार्घ्य दान देने से मयणल देवी के अन्तर मन में इस प्रकार का अभिमान उत्पन्न हुआ कि मेरे जैसा महादान न तो कभी किसी ने पहले दिया है और न भविष्य में ही कोई इतना बड़ा दान देने वाला पृथ्वी पर होगा ही। इस प्रकार के गर्व से उन्मत्त हो वह प्रगाढ़ निद्रा में सो गई। मयणल देवी के इस गर्व को देखकर भगवान् सोमनाथ "तपस्वी का भेष धारण कर उसके समक्ष स्वप्न में उपस्थित हुए और उन्होंने उससे कहा" :—

> "यहीं इस मन्दिर की परिधि में एक दीन-हीन भिखारिन यात्रा के लिये आई हुई है। तुम प्रातःकाल उससे उसके द्वारा किये हुए सुकृत की, पुण्य की याचना करना।"

यह कह कर तपस्वी वेषधारी भगवान् सोमनाथ अदृश्य हो गये। यह स्वप्न देखकर मयणलदेवी की निद्रा भंग हो गई और उसने तत्काल राजपुरुषों को आज्ञा दी कि वे उस भिखारिन को खोज कर लाएं। राजपुरुषों ने थोड़ी ही देर में उस भिखारिन को राजमाता के समक्ष उपस्थित किया। मयणलदेवी ने उस भिखारिन से उसके पुण्य की याचना की। भिखारिन ने राजमाता की बात सुनकर विनीत स्वर में कहा :—

"राज मातेश्वरी ! मैं स्वयं नहीं जानती कि मैंने क्या पुण्य किया है। और यदि किया भी है तो मैं यह नहीं जानती कि उसे आपको किस प्रकार प्रदान किया जाय।"

मयणल देवी ने इस प्रकार की असमंजसपूर्ण स्थिति को देखकर उस भिखारिन से पूछा : "तुम ने इस यात्रा में सब कुछ मिलाकर कितना द्रव्य खर्च किया है ?"

उस भिखारिन ने हाथ जोड़कर उत्तर दिया :– "राजमाता ! मैं तो भीख मांग-मांग कर सौ योजन की पदयात्रा के अनन्तर यहां आई हूं। कल मैंने तीर्थ पर आकर उपवास किया और उपवास के पारणे के दिन किसी पुण्यात्मा से पिण्याक (भोज्य) प्राप्त कर उसी के एक अंश से भगवान् सोमेश्वर की पूजा कर उसका एक अंश अतिथि को दे शेष अंश से मैंने पारणा किया था। आप महा-पुण्यशालिनी हैं। आपके पिता, भ्राता, पति और पुत्र राजा हैं। आपने बाहुलोड कर को सदा के लिये समाप्त करवा दिया है। सवा करोड़ मूल्य की पूजा से आपने भगवान् सोमेश्वर की पूजा की है और विपुल दान दिया है। इतना सब कुछ करने के उपरान्त भी आपको मेरा पुण्य प्राप्त करने की इच्छा क्यों हुई है ?"

मयणल देवी को मौन एवं असमंजसावस्था में देखकर उस भिखारिन ने कहा :—"राजमाता ! यदि आप बुरा न मानें तो एक बात कहूं।"

मयणलदेवी की मौन स्वीकृति मिलने पर उसने कहा :—"वस्तुतः देखा जाय तो आपके पुण्य से इस महीतल पर मेरा पुण्य महान् है क्योंकि विपुल सम्पत्ति के होते हुए भी, सर्व शक्तिसम्पन्न होते हुए भी सहन शक्ति (सहिष्णुता), यौवना-वस्था में ब्रह्मचर्य का व्रत और दरिद्रावस्था में दान यदि थोड़ा-सा भी किया जाय तो उसका लाभ महान् से महत्तम और वृहत् से वृहत्तम होता है।"

उस भिखारिन की बात सुनकर राजमाता मयणलदेवी का गर्व तत्काल कपूर की तरह उड़ गया।

जिस समय महाराज जयसिंह अपनी माता मयणलदेवी को सोमेश्वर की यात्रा करवा रहे थे, उस समय मालवराज यशोवर्मा ने एक विशाल राज्य को हस्तगत करने का सुअवसर देखकर गुर्जर राज्य पर आक्रमण कर दिया। चरों से शत्रु के आक्रमण की बात सुनकर महामन्त्री शान्तु तत्काल यशोवर्मा के पास पहुंचा और उससे पूछा :—"मालवेश्वर ! आप ही बताइये क्या कोई ऐसा कार्य है, जिसके, हमारे द्वारा किये जाने से आप पुनः मालव की ओर लौट सकते हों।"

इस पर मालवराज यशोवर्मा ने कहा :—"हां, एक उपाय है। यदि तुम अपने स्वामी द्वारा की गई सोमेश्वर देव की यात्रा के फल को मुझे दे देते हो तो मैं इसी समय अपनी राजधानी को लौट सकता हूं।"

प्रधानामात्य शान्तु ने तत्काल मालवराज यशोवर्मा के पैरों को जल से प्रक्षालित किया। तदनन्तर अपने दक्षिण कर की अंजलि में जल लिया और महाराजा जयसिंह द्वारा उपार्जित किये गये सोमेश्वर देव की यात्रा के पुण्य को संकल्पपूर्वक मालवेश्वर यशोवर्मा को प्रदान करते हुए अंजलि का जल छोड़ दिया। इससे संतुष्ट हो यशोवर्मा अपनी विशाल वाहिनी के साथ तत्काल मालव राज्य की ओर लौट गया।

अपनी माता को सोमेश्वर की यात्रा करवा देने के अनन्तर पत्तन लौटने पर जब सिद्धराज को यह विदित हुआ कि उनके महामन्त्री शान्तु ने उनके द्वारा की गई सोमेश्वर की यात्रा का पुण्य मालवराज को समर्पित कर दिया है तो वह बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसने शान्तु को बुलाकर उसे इसका कारण पूछा। महामात्य शान्तु ने अतीव विनम्र, शान्त एवं गम्भीर स्वर में उत्तर देते हुए कहा :—"पृथ्वीनाथ ! मेरे द्वारा दान कर देने मात्र से यदि आपका पुण्य किसी और के पास चला जाता हो तो न केवल यशोवर्मा के पुण्य को ही अपितु विश्व भर के पुण्यशाली पुरुषों का सम्पूर्ण सुकृत मैं आपको इसी समय संकल्प पूर्वक समर्पित करने के लिये समुद्यत हूं। अथवा यह समझ लीजिये कि मैंने संसार का समस्त पुण्य आपको प्रदान कर दिया। राज राजेश्वर ! अपने शत्रु को येन केन उपायेन यथाशीघ्र अपने देश की भूमि में प्रविष्ट न होने देना, यही राजनीति का सबसे पहला गुरुमन्त्र है।"

अपने महामात्य के उत्तर से महाराजा जयसिंह का क्रोध शांत हो गया। किन्तु "मालवराज ने उस समय गुर्जर राज्य पर आक्रमण किया जिस समय मैं अपनी माता के साथ भगवान् सोमेश्वर की यात्रा के लिये गया हुआ था" इस विचार से वह यशोवर्मा पर बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसने उसके इस दुस्साहस का प्रतिशोध लेने की ठानी। युद्ध की पूरी तैयारी कर लेने के अनन्तर एक दिन महाराज जयसिंह ने एक शक्तिशाली विशाल चतुरंगिणी सेना के साथ मालवराज की राजधानी धारानगरी की ओर प्रस्थान किया। जयसिंह की शक्तिशाली सेना मालव सेना को पराजित करती हुई धारानगरी की ओर द्रुतगति से बढ़ती ही गई। यशोवर्मा ने शत्रु की प्रबल सैन्य शक्ति को दुर्दान्त एवं अजेय समझ रणस्थली से पलायन कर अपनी सेना के साथ अपनी राजधानी धारानगरी में प्रवेश किया और नगर के परकोटे के लोह कपाटों को बन्द कर नगर के प्राकार की प्रतोलियों एवं प्राचीरों पर अपनी पूरी सैनिक शक्ति को शत्रु से लोहा लेने के लिये आदेश दिया। गुर्जराधीश ने नगर को चारों ओर से घेर कर नगर में प्रवेश का प्राणपण से प्रयास किया किन्तु नगर के परकोटे की प्रतोलियों पर सन्नद्ध यशोवर्मा के सैनिकों ने गुर्जर सेना को भीषण शस्त्रास्त्रों की वर्षा कर प्राकार के पास तक नहीं फटकने दिया। 'प्रबन्ध चिन्तामणि' के रचनाकार के अनुसार लगभग बारह वर्ष तक सिद्धराज जयसिंह की सेनाओं ने नगर को घेरे रक्खा और अगणित बार नगर के प्रकोष्ठ को तोड़ कर नगर में प्रवेश करने के अथक् प्रयास किये किन्तु नगर के दुर्भेद्य प्राकार एवं मालव

सेना की शस्त्रास्त्र वर्षा के कारण गुर्जर सेना को किंचित्मात्र भी सफलता नहीं मिली। इस लम्बे युद्ध से क्रुद्ध हो एक दिन महाराजा जयसिंह ने अपनी विशाल सेना के सामने यह घोषणा की :—"जब तक धारानगरी पर अधिकार नहीं कर लिया जायगा तब तक मैं अन्न ग्रहण नहीं करूंगा।" अपने राज राजेश्वर की इस प्रतिज्ञा को सुनकर गुर्जर राज की सेना ने 'कार्यं वा साधयामि देहं वा पातयामि' जैसे दृढ़ संकल्प के साथ नगर पर भीषण आक्रमण किया। सूर्यास्त होने तक लगभग पांच सौ परमार सेनानी रणचण्डी की बलिवेदी पर जूझते-जूझते अपने शीश चढ़ा चुके किन्तु महाराजा जयसिंह की प्रतिज्ञा अपूर्ण ही रही। इस प्रकार की भीषण स्थिति में गुर्जर सेना के कतिपय सेनानियों ने मन्त्रणा की कि कृत्रिम धारानगरी का निर्माण कर उसे ध्वस्त कर दिया जाय किन्तु दृढ़ प्रतिज्ञ जयसिंह ने जब यह सुना तो उनकी आंखें कोपानल उगलने लगीं और उन्होंने घनरव गम्भीर दृढ़ स्वर में कहा :—"मैं धारानगरी पर अधिकार करने के अनन्तर ही अन्न ग्रहण करूँगा।" प्रधानामात्य शान्तु ने अपने बुद्धि कौशल एवं कुशल चरों के माध्यम से गुप्त रूप से धारानगरी के ही एक वयोवृद्ध निवासी से यह ज्ञात कर लिया कि यदि पूरी शक्ति लगाकर नगर के दक्षिणी भाग की प्रतोली पर प्रचण्ड वेग के साथ आक्रमण किया जाय तो दुर्ग भंग हो सकता है अन्यथा किसी भी भांति सम्भव नहीं है। इस गुप्त भेद के ज्ञात होते ही जयसिंह ने अपने रणबांकुरे तूफानी सैनिक टुकड़ी के योद्धाओं का नेतृत्व करते हुए उस दुर्ग पर भीषण आक्रमण कर दिया। जयसिंह ने अपने यश:पटह नाम के गजराज पर चढ़कर श्यामल नामक महावत को आज्ञा दी कि वह हाथी को उस त्रिपोली के लोह कपाटों पर झौंक दे। उस पट्ट हस्ति ने पूरी शक्ति लगाकर उन लोह कपाटों पर अपने मस्तक से भीषण प्रहार किया। हाथी के शक्तिशाली आक्रमण से लोह कपाटों की अर्गला टूट गई और हाथी द्वार के अन्दर प्रविष्ट होने लगा। लोह कपाटों के गिरने से पट्टहस्ति का कपाल फट गया। यह देखकर महावत ने विद्युत् वेग से लपक कर महाराज जयसिंह को पृष्ठ भाग की ओर से उतार कर ज्योंही वह स्वयं उतरने लगा कि वह हाथी पृथ्वी पर गिर पड़ा। जयसिंह अपनी मालव सेना के साथ नगर में प्रविष्ट हुआ और उसने मालवराज यशोवर्मा को वन्दी बना लिया। तदनन्तर विजयी जयसिंह ने मालव राज्य को अपने अधिकार में कर सर्वत्र अपनी आज्ञा प्रसारित कर दी। मालव राज्य पर अपना अधिकार करने और वहां पर शासन के लिए समुचित रूपेण व्यवस्था करने के अनन्तर गुर्जराधीश जयसिंह पट्टण को लौट गया। स्थान-स्थान पर ग्रामों और नगरों में प्रजा ने अपने विजयी महाराजा का जयघोषों के साथ वर्धापन किया। पत्तन पहुंचने पर गूर्जरेश ने शुभ मुहूर्त्त में नगर में प्रवेश करने के अभिप्राय से नगर के वाहर ही अपनी सेना का पड़ाव ड़ाला। उस समय पत्तन में विद्यमान सभी धर्माध्यक्षों ने नियत समय पर गुर्जरेश के पास जाकर अपनी-अपनी अभिनव काव्य रचनाओं से उनका अभिवादन किया। एक दिन जैनाचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि ने भी महाराजा जयसिंह को आशीर्वाद देते हुए निम्नलिखित श्लोक पढ़ा :—

भूमिं कामगवि स्वगोमयरसैरासिंच रत्नाकरा
मुक्तास्वस्तिकमातनुध्वमुडुप त्वं पूर्णकुम्भी भव ।
धृत्वा कल्पतरोर्दलानि सरलैर्दिग्वारणास्तोरणा-
न्याधत्त स्वकरैर्विजित्य जगतीं नन्वेति सिद्धाधिपः ।।

अर्थात् मनोभिलसित सर्व कामनाओं को तत्काल पूर्ण करने वाली हे मातकामधेनु ! तुम अपने पवित्र गोबर से समस्त पृथ्वी को लीप-पोत कर स्वच्छ-अच्छ कर दो। उत्तमोत्तम रत्नराशियों के निधान हे सागरों ! कामधेनु के गोबर से लिपि-पुती इस पृथ्वी पर आप सब मिल कर अपने श्रेष्ठतम महार्घ्य मुक्ताफलों से अति विशाल अतिसुन्दर स्वस्तिक का निर्माण कर चौक को पूर दो, हे अमृतवर्षी चन्द्रदेव ! आप इस लिपि-पुती धरा पर स्वस्तिक के पास पूर्ण कुम्भ-कलश बन कर विराजमान हो जाओ और हे दन्ताल दिग्गजो ! आप आठों ही रजताभ श्वेतवर्ण वाले दिग्गज अपनी सूंडों से कल्पवृक्ष के कोमल-सुकोमल पत्रों से तोरणों का-वन्दनवारों का निर्माण कर उन्हें अपनी सूंडों में थामें इस धरातल को तोरणों से मंडित कर दो, देखिये "महाराज सिद्धराज जयसिंह समस्त पृथ्वीमण्डल पर अपनी विजय वैजयन्ती फहरा कर यहां अलका तुल्या अनहिल्लपुरपत्तन नाम्नी नगरी में पधार रहे हैं, उनके स्वागत की शुभ वेला आ गई है।"

आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि द्वारा सुनाये गये इस श्लोक के शब्दसौष्ठव, कवि की कल्पना की ऊंची उड़ान और चमत्कारपूर्ण वचन चातुरी को सुनकर वहां उपस्थित सभी सरस्वती उपासक, सभी सामन्त, सभी सभ्यवृन्द एवं श्रोतागण मन्त्रमुग्ध की भांति हर्षविभोर हो उठे। स्वयं सिद्धराज जयसिंह के कण्ठ से हर्षातिरेकवशात् हठात् साधुवाद के 'साधु-साधु-साधु' स्वरों के रूप में आन्तरिक उद्गार प्रस्फुटित हो उठे।

आचार्यश्री हेमचन्द्र की इस महिमा को सह न सकने के कारण ईर्ष्याभिभूत एक दो सभासद बोल उठे—"महाराज इन जैनाचार्य ने हमारे व्याकरणशास्त्र के बल पर ही तो इस प्रकार की विद्वत्ता प्राप्त की है। कहां है जैनों के पास व्याकरण ?"

सिद्धराज जयसिंह की जिज्ञासा भरी दृष्टि को अपनी ओर मुड़ी देख जैनाचार्य श्री हेमचन्द्र ने कहा—"राजन् ! श्रमण भगवान् महावीर ने अपनी शैशवावस्था में इन्द्र के समक्ष जिस व्याकरण को प्रकट कर उसकी व्याख्या की थी, उस व्याकरण को हम लोग पढ़ते हैं।"

इस पर उन ईर्ष्यालु विद्वानों ने कहा—"राजराजेश्वर ! विद्वान् आचार्यश्री यह तो पौराणिक आख्यान की बात कह रहे हैं। इस पौराणिक कथा के अतिरिक्त अन्य किसी ने व्याकरण बनाया हो तो उसका नाम बताया जाय।"

आचार्यश्री हेमचन्द्र ने दृढ़ आत्मविश्वास से ओत-प्रोत घनरव गम्भीर स्वर में कहा—"यदि महाराज सिद्धराज जयसिंह की सहायता प्राप्त हो जाय तो मैं स्वल्प समय में ही इस प्रकार की सर्वांग पूर्ण व्याकरण की रचना कर विद्या-प्रेमियों के हितार्थ विद्वद्वर्ग के समक्ष प्रस्तुत कर सकता हूं।"

सिद्धराज जयसिंह ने विद्वन्मण्डली के समक्ष आचायश्री से कहा :—"पूज्यवर ! मैं इस कार्य में मेरी ओर से जितनी सहायता अपेक्षित की जा सकती है, उसे पूरा करने का पूरी तरह प्रयास करूंगा।" तदनन्तर महाराज जयसिंह ने श्री हेमचन्द्रसूरि को ससम्मान विदा किया।

नगर प्रवेश का शुभ मुहूर्त्त आने पर शुभ दिन शुभ घड़ी में महाराज जयसिंह के ठाट-बाट पूर्वक नगर प्रवेश के लिये गज, रथ, अश्व आदि वाहन सुसज्जित कर प्रस्तुत किये गये।

गुर्जर राज्य की चतुरंगिणी विशाल सेना भी सुसन्नद्ध हो गुर्जरेश के आगे पीछे और दोनों पार्श्व में रह कर प्रयाण के लिये समुद्यत हुई। उसी समय सिद्धराज जयसिंह ने अपने मन्त्रियों के समक्ष ही मालवराज यशोवर्मा के हाथ में अपनी नग्न कटार (दो धार वाली छुरी) देते हुए घोषणा की कि एक ही हाथी पर मैं आगे बैठूंगा और मेरे पृष्ठ भाग पर हाथ में नंगी छुरी लिये मालवराज यशोवर्मा बैठेंगे। इसी मुद्रा में मैं नगर प्रवेश करूंगा। यह सुनते ही मुंजाल मन्त्री ने दीर्घ विश्वास छोड़ते हुए कहा :—

"मास्म संधिं विजानन्तु, मास्म जानन्तु विग्रहम्।
आख्यातं यदि शृण्वन्ति, भूपास्तेनैव पंडिता ॥"

अर्थात् भूपतिगण सन्धि और विग्रह की नीति को जान लें अथवा न जान लें, किन्तु पुरातन आख्यानों को, राजनैतिक आख्यानों को यदि ध्यान से सुन लें तो वे राजनीति के पारदृश्वा पण्डित हो जाते हैं।

राजन् ! नीति शास्त्र में निष्णात होते हुए भी आपने अपनी ही मति के अनुसार जो यह निर्णय किया है वह वस्तुतः न आपके हित में है और न प्रजा-हित में ही।"

इस पर महाराज जयसिंह ने कहा :—"मन्त्रिवर ? मैं कहे हुए अपने वचन से पीछे हटने की अपेक्षा प्राणों के परित्याग को श्रेष्ठ समझता हूं।"

अपने स्वामी की इस बात को सुनकर प्रत्युत्पन्न मति महामन्त्री मुंजाल ने काष्ठ से बनी और श्वेत रंग से रंगी हुई म्यान रहित छुरी महाराज जयसिंह द्वारा दी गई छुरी के स्थान पर मालवराज यशोवर्मा के हाथ दे में दी।

तदनन्तर हाथ में दारुमयी कटार लिये यशोवर्मा के आगे हाथी पर बैठकर सिद्धराज जयसिंह ने अतीव मनोहारी आडम्बरपूर्ण ठाट-बाट के साथ जयघोषों के बीच नगर प्रवेश महोत्सव से जन-जन के मन को रंजित करते हुए अणहिल्लपुर पट्टण नगर में प्रवेश किया।

प्रवेशोत्सव के सम्पन्न हो जाने के अनन्तर महाराज जयसिंह को आचार्यश्री हमचन्द्रसूरि की व्याकरण निर्माण विषयक बात का स्मरण हुआ और उन्होंने सुदूरस्थ विद्याकेन्द्रों एवं विभिन्न नगरों से उद्भट वैयाकरणों के साथ-साथ उस समय में उपलब्ध सभी प्रकार के व्याकरण ग्रन्थों को मंगवाया और उन्हें हेमचन्द्राचार्य को समर्पित किया। आचार्य हेमचन्द्र ने उन सभी व्याकरण ग्रन्थों का अवगाहन कर सवा लाख श्लोक परिमाण सिद्धहेम व्याकरण नामक पंचांगपूर्ण अतीव सुन्दर एवं सुगम्य व्याकरण ग्रन्थ का निर्माण किया। इस व्याकरण के निर्माण में महाराज जयसिंह के नगर प्रवेश महोत्सव के पश्चात् एक वर्ष का समय लगा। सिद्धहेम व्याकरण को हाथी के होदे पर रखकर उस पर राजसी छत्र और चामरों को ढोरते हुए बड़े महोत्सव के साथ महाराज जयसिंह के राजमन्दिर में लाया गया और बड़े हर्षोल्लास के साथ उसकी पूजा अर्चा के पश्चात् उसे राज्य कोषागार में रखा गया। महाराजा जयसिंह ने सिद्ध हेम व्याकरण का भलीभांति परीक्षण करने के पश्चात् राजाज्ञा प्रसारित करवा दी कि उनके राज्य की सीमाओं में एकमात्र सिद्धहेम व्याकरण का ही अध्ययन-अध्यापन किया जाय, न कि किसी अन्य व्याकरण का। स्वल्प काल में ही दिग्दिगन्त में सिद्ध हेम व्याकरण की कीर्ति प्रसृत हो गई। इस व्याकरण के नामकरण में प्रयुक्त सिद्ध और हेम शब्दों से महाराज सिद्धराज जयसिंह और कलिकाल सर्वज्ञ आचार्यश्री हेमचन्द्र का नाम अमर हो गया। सिद्धराज आचार्यश्री हेमचन्द्र के त्याग, तप और प्रकाण्ड पांडित्य से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि वह जीवन भर उनका सर्वाधिक सम्मान करता रहा।

न्यायनीतिपूर्वक गुर्जर राज्य का शासन करते हुए एक दिन सिद्धराज जयसिंह के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि संसार सागर को पार किये बिना शाश्वत सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। संसार सागर को तैर कर पार करने के लिये सभी दर्शनों में मार्ग दर्शन किया गया है। ऐसी स्थिति में कौनसा दर्शन पूर्णतः सच्चा और सर्वश्रेष्ठ है। इसका निर्णय किया जाना सर्वप्रथम परमावश्यक है। इस प्रकार के निर्णय के अनन्तर जो सर्वश्रेष्ठ और परम सत्य दर्शन हो उसी के निर्देशों का पालन करते हुए संसार सागर को पार किया जाय। इस प्रकार विचार कर गुर्जराधीश ने विभिन्न दर्शनों के धर्माध्यक्षों को राजसभा में आमन्त्रित कर सच्चे धर्म की खोज करना प्रारम्भ किया। प्रत्येक धर्माध्यक्ष से राजा ने यही प्रश्न किया कि सर्वश्रेष्ठ और सच्चा दर्शन कौनसा है?

राजा के प्रश्न के उत्तर में प्रत्येक धर्माध्यक्ष ने अपने धर्मशास्त्रों के प्रमाण प्रस्तुत करते हुए एकमात्र अपने दर्शन को ही सच्चा और सर्वश्रेष्ठ वताया।

उन विभिन्न दर्शनों के धर्माचार्यों के निजस्तुति एवं परनिन्दापरक उत्तरों से सिद्धराज जयसिंह का किसी निर्णय पर पहुँचना तो दूर, इसके विपरीत उन धर्माध्यक्षों की एक-दूसरे के विपरीत तर्कों एवं युक्तियों को सुन-सुन कर उसका मन अनेक प्रकार के सन्देहों के झूलों पर झूलता-झूलता झकझोरित हो उठा। अन्ततोगत्वा सिद्धराज जयसिंह ने जैनाचार्य हेमचन्द्रसूरि को आमन्त्रित किया और उनके समक्ष भी अपना वही प्रश्न रखते हुए कहा—"महात्मन्! मैं संसार सागर को पार करना चाहता हूं। इसीलिए मैं यह जानना चाहता हूं कि संसार सागर में डूबते हुए प्राणियों को संसारसागर से पार उतारने का दावा करने वाले आज के युग के धर्म दर्शनों में से वस्तुतः कौनसा दर्शन—कौनसा धर्म सच्चा है, जिसका अवलम्वन ले संसार सागर को तैर कर पार करने का प्रयास किया जाय?"

राजा के प्रश्न को सुन कर आचार्य हेमचन्द्र ने मन ही मन विचार किया कि विभिन्न मान्यताओं वाले विभिन्न धर्मों के धर्माचार्यों एवं विद्वानों ने स्वदर्शन-मण्डन और परदर्शन-खण्डन के अथक प्रयास में अनेक प्रकार की युक्तियों एवं तर्कों को प्रस्तुत कर राजा को असमंजसपूर्ण संशयास्पद स्थिति में डाल दिया है अतः इसके समक्ष दार्शनिक तर्क एवं युक्तियों के रखने से कोई लाभ नहीं होने वाला है। विभिन्न दर्शनों के धर्माध्यक्षों ने अपने-अपने तर्कों एवं युक्तियों से राजा के मन-मस्तिष्क में तर्कजाल निर्मित कर दिया है, मेरी सैद्धान्तिक युक्तियों से केवल इतना ही होगा कि उस पहले से वने हुए तर्क जाल में तर्कों का एक ताना-वाना और जुड़ जायेगा। यह विचार कर आचार्य हेमचन्द्र ने रूपक के रूप में एक पौराणिक आख्यान प्रस्तुत करते हुए कहा—"राजन्! एक पौराणिक आख्यान है कि एक व्यापारी ने अपनी पूर्व पत्नी से रुष्ट होकर अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति पर अपना अधिकार कर लिया। पत्नी के पास कुछ भी नहीं रक्खा। इस आकस्मिक परिवर्तन से दुःखित हो वह वणिक् पत्नी अपने पति को पुनः वश में करने के लिये अनेक तान्त्रिकों एवं मान्त्रिकों से इस प्रकार का कोई कार्य करने की प्रार्थना करने लगी जिससे कि उसका पति पूर्णरूपेण पुनः उसके वश में हो जाय। संयोग वशात् उसे एक गौडदेशीय कार्मणक (टोना करने वाले) ने एक औषधि देते हुए कहा :— "यह तुम अपने पति को किसी तरह खिला देना। इसके खाते ही तुम्हारा पति डोर से वन्धे ढोर के समान तुम्हारे वश में हो जायगा।" वह औषधि देकर वह तान्त्रिक चला गया।

एक दिन रात्रि के समय उस वणिक् पत्नी ने वह औषधि भोजन में मिलाकर अपने पति को खिला दी। उस अचिन्त्य शक्ति वाली दिव्य औषधि के खाते ही तत्काल उसका पति वैल के रूप में परिवर्तित हो गया। यह देखकर वह वणिक् पत्नी अत्यन्त दुःखित हुई। उसे अपने दुष्कृत्य पर वड़ा पश्चात्ताप हुआ। किन्तु उस औषधि का उसे कोई प्रतिकार ज्ञात नहीं था। इस कारण वह विवश हो पड़ोसियों के कटु कटाक्षों, जन-जन के तानों को सुनती हुई उस वैल की सेवा करने लगी।

वह हरे-भरे मैदानों में उस बैल को ले जाकर चराती, सरोवरों का स्वच्छ नीर पिलाती और रात-दिन पश्चात्ताप की अग्नि में जलती रहती। एक दिन मध्याह्न की चिलचिलाती धूप में वह उस बैल को गोचर भूमि में घास चराते-चराते सूर्य की प्रचण्ड किरणों से प्रतप्त हो एक वृक्ष की छाया में बैठकर विलाप करने लगी। अकस्मात् उसने गगन में किसी के वार्तालाप का शब्द सुना। उसने ज्योंही सिर ऊपर उठाया तो देखा कि विमान में भगवान् शंकर भवानी के साथ बैठे हुए हैं। भवानी उसके करुण विलाप का कारण पूछ रही है। शिव ने पार्वती को बीती हुई घटना का वृत्तान्त सुनाते हुए कहा :—"यदि यह स्त्री इसी वृक्ष की छाया में इस बैल को चराये तो यहां एक ऐसी वन्यौषधि है कि जिसके खाते ही यह बैल पुनः पुरुप के रूप में प्रकट हो जायगा।"

तदनन्तर तत्काल शिव और पार्वती विमान सहित तिरोहित हो गये। गौरीशंकर के इस संवाद को सुनकर वह वणिक् पत्नी उठी और एक काष्ठ खंड लेकर जहां-जहां उस वृक्ष की छाया उस समय थी उस भू-भाग पर उस डंडे से पृथ्वी पर रेखा खींच दी। इसके बाद उस रेखांकित भू-भाग में से वनस्पति घास, जड़ी-बूँटी आदि उखाड़-उखाड़ कर उस बैल को खिलाने लगी। इस प्रकार बैल को घास खिलाते-ख़िलाते कोई ऐसी वनस्पति औषधि उस बैल के मुख में चली गई कि जिसे उसके मुख में रखते ही वह बैल पुनः पुरुष बन गया।"

आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि ने सिद्धराज जयसिंह को सम्बोधित करते हुए कहा :—"राजन् ! जिस प्रकार उस अज्ञात औषधि ने अभिप्सित कार्य की सिद्धि कर दी उसी प्रकार कलियुग में व्यामोह के कारण जो पात्रता का परिज्ञान नष्ट हो गया है, वस्तुतः सभी दर्शनों की भक्तिपूर्वक आराधना करने से वह अज्ञात पात्र परिज्ञान शिवसुख प्रदायी हो सकता है। अतः हे राजन् ! आप जैसे न्यायप्रिय राजा के लिये सभी दर्शनों के प्रति सम्मान प्रकट करना ही श्रेष्ठ है।" आचार्यश्री हेमचन्द्र के इस उत्तर से सिद्धराज जयसिंह बड़ा सन्तुष्ट हुआ और उसी दिन से उसने सम-भाव से सभी दर्शनों के प्रति सम्मानपूर्ण व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया।

इस प्रकार सिद्धराज जयसिंह ने अपने राज्यकाल में स्वयं शैव धर्मावलम्बी होते हुए भी सभी धर्मावलम्बियों के साथ समान रूप से सम्मानास्पद व्यवहार किया। इसके राज्यकाल में गुर्जर राज्य की समृद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। मालव जैसे समृद्ध और सम्पन्न राज्य को गुर्जर सत्ता के अधीन कर उसने न्याय नीतिपूर्वक प्रजा का पालन किया। वह अपने सभी सैनिक अभियानों में सदैव सफल रहा। इस कारण अथवा तीन वर्ष की वय में ही बाललीला करते समय स्वयमेव राजसिंहासन पर सहज भाव से आरूढ़ हो गया, इसी कारण गुर्जरेश्वर महाराजा जयसिंह को लोक द्वारा सिद्धराज के विरुद से विभूषित किया गया। इसी कारण आज भी इतिहास के पृष्ठों में गुर्जरेश जयसिंह को सिद्धराज जयसिंह के नाम से अभिहित किया जाता है।

सिद्धराज जयसिंह के विशाल साम्राज्य को उसके पीछे सम्भालने वाला कोई पुत्र नहीं हुआ। इस कारण उसका अन्तिम समय बड़ा शोकपूर्ण रहा। उसे नैमित्तिकों से यह ज्ञात हो गया था कि उसकी मृत्यु के पश्चात् कुमारपाल विशाल गूर्जर राज्य का अधिपति होगा। इस कारण भी वह अपनी आयु के अन्तिम दिनों में चिन्तामग्न रहा। वस्तुतः वह यह नहीं चाहता था कि विशुद्ध चालुक्य राजवंश के राज सिंहासन पर हीनकुल का व्यक्ति उसका उत्तराधिकारी बन कर वैठे। सिद्धराज जयसिंह के दादा महाराज भीम ने अपने अणहिल्लपुर पट्टण में चौला देवी नाम की एक वारांगना की यशोगाथाएं सुनीं कि वह अनेक दिव्य गुणों एवं अनुपम रूप लावण्य से सम्पन्न होते हुए भी ऐसी मर्यादा का पालन करती है कि ऊंचे से ऊंचे कुल की कुलवधुएं भी उसके गुणों की प्रशंसा करते नहीं अघाती। महाराजा भीम ने अपने विश्वस्त अनुचर के माध्यम से अपनी सवा लाख मूल्य की कटारी उसके पास अग्रिम राशि के रूप में परीक्षा हेतु भेजी। वह कटारी पण्यांगना चौला देवी के पास पहुँचाने के अनन्तर महाराजा भीम तत्काल ही मालवप्रदेश में विजयाभियान हेतु चला गया और दो वर्ष तक मालव प्रदेश में ही रुका रहा। चौला देवी ने वे दो वर्ष विशुद्ध शीलव्रत का पालन करते हुए ही विताये। क्योंकि उसने सवा लाख मूल्य की महाराजा भीम की कटारी अग्रिम राशि के रूप में स्वीकार कर ली थी इसलिये उसने किसी पुरुष का मुँह तक नहीं देखा। मालव प्रदेश के सैनिक अभियान से लौटने के पश्चात् महाराजा भीम ने चौला देवी के शीलव्रत पालन की यशोगाथाएं अपने चरों के मुख से सुनीं। वह उसके इस गुण पर मुग्ध हो गया और उसने तत्काल चौला देवी को राजकीय सम्मान के साथ वुलवा कर अपने अन्तःपुर में रख लिया। महाराजा भीम को अपनी रक्षिता (रखैल) चौला देवी से हरिपाल नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ। कालान्तर में चौला देवी के पुत्र उस हरिपाल से त्रिभुवनपाल का जन्म हुआ और उस त्रिभुवनपाल से कुमारपाल का। यही कारण था कि सिद्धराज जयसिंह इस भय से कि कहीं उसके मरणोपरान्त कुमारपाल चालुक्यवंश के पवित्र राज सिंहासन पर न वैठ जाय, कुमारपाल का प्राणान्त कर देने के लिये व्यग्र हो उठा।

सिद्धराज जयसिंह के जीवन की यही एक ऐसी घटना थी कि जिसने उसके अन्तिम जीवन को विक्षुब्ध कर दिया था। शेप उसका जीवन वड़ा ही सम्मानास्पद एवं आदर्श रहा।

सिद्धराज जयसिंह के ४९ वर्ष के शासनकाल में गुर्जर राज्य ने अभूतपूर्व वृद्धि एवं समृद्धि प्राप्त की। विक्रम सम्वत् ११९९ में विक्रम की वारहवीं शताब्दी के महान् शक्तिशाली गुर्जर नरेश ने इस लोक से परलोक के लिये प्रयाण किया।

विशाल गूर्जर राज्य के अधिपति सिद्धराज जयसिंह के शासनकाल में आचार्यश्री देवसूरि, कलिकाल सर्वज्ञ के विरुद से विभूपित आचार्यश्री

हमचन्द्रसूरि और जिनवल्लभसूरि के पट्टधर दादा जिनदत्तसूरि ये तीन महान् जिनशासन प्रभावक युगपुरुष हुए। महाराज सिद्धराज जयसिंह की राजसभा में उनके (जयसिंह के) नाना कर्णाटक नरेश जयकेशी के राजगुरु दिगम्बराचार्य-वादि चक्रवर्ती कुमुदचन्द्र के साथ देवसूरि का शास्त्रार्थ हुआ। सिद्धराज जयसिंह की न्यायप्रियता का यह एक आदर्श एवं ऐतिहासिक उदाहरण था कि उन्होंने अपने नाना के राजगुरु आचार्य कुमुदचन्द्र के साथ हुए शास्त्रार्थ में श्वेताम्बराचार्य देवसूरि को विजयी घोषित करते हुए उन्हें बड़े समारोह के साथ जयपत्र प्रदान किया।



परमार्हत महाराजा कुमारपाल

विक्रम की बारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक के समाप्त होने के केवल एक वर्ष पूर्व से लेकर विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के प्रथम तीन दशकों तक कुल मिलाकर ३१ वर्ष तक विशाल गुर्जर राज्य के राज सिंहासन पर महाराजा कुमारपाल आसीन रहकर न्याय नीतिपूर्वक अपनी प्रजा का पालन करते हुए जिनशासन के अभ्युदय और उत्कर्ष के अनेक कार्यों में निरत रहे।

अपने शासन काल में गुर्जराधीश महाराजा कुमारपाल द्वारा किये गये जिन-शासन के अभ्युदयोत्थानकारी महत्त्वपूर्ण कार्यों को दृष्टिगत रखते हुए जैन जगत् में उन्हें परमार्हत के विरुद से अभिहित किया जाता रहा है और भविष्य में भी शता-ब्दियों तक इसी विरुद के साथ जैन इतिहास में उनका नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जाता रहेगा।

कुमारपाल का राज्यारोहण से पूर्वकाल का जीवन बड़ा ही दुख:पूर्ण एवं संघर्षमय रहा। उसको अपने प्राणों की रक्षा के लिये प्रच्छन्न वेष में दर-दर की ठोकरें खानी पड़ीं। अनेक वार उसके समक्ष घोर प्राणसंकट उपस्थित हुए और उसे अपने प्राणों की रक्षा के लिये पलायन कर अनेक वर्षों तक सन्यासी के वेष में सुदूरस्थ प्रदेशों में भटकना पड़ा। "न भवति महिमा विना विपत्तेः", यह उक्ति परमार्हत महाराजा कुमारपाल पर अक्षरशः चरितार्थ होती है। कुमारपाल के इस प्रकार के संघर्षमय एवं संकटपूर्ण जीवन के पीछे एक वहुत वड़ा कौटुम्बिक कारण रहा है।

यों तो कुमारपाल की धमनियों में यशस्वी चालुक्य राजवंश का ही रक्त प्रवाहित हो रहा था, किन्तु उसके जन्म की एक विचित्र कथा के कारण इसके पूर्ववर्त्ती चालुक्यराज सिद्धराज जयसिंह ने यह एक प्रकार से दृढ़ संकल्प कर लिया था कि पवित्र चालुक्यराजवंश के राज सिंहासन पर उसके पश्चात् चालुक्य वंश का ऐसा उत्तराधिकारी आसीन हो, जिसके मातृ-पक्ष एवं पितृ पक्ष पूर्णतः विशुद्ध एवं निष्कलंक हों। किन्तु सिद्धराज जयसिंह की मान्यतानुसार कुमारपाल के मातृपक्ष में इस प्रकार की विशुद्धता एवं निष्कलंकता नहीं थी।

अंचलगच्छीय पुरातन इतिहासविद् आचार्यश्री मेरुतुंगसूरि ने अपनी विक्रम सम्वत् १३६१ की ऐतिहासिक कृति "प्रबन्ध चिन्तामणि" में परमार्हत महाराजा

कुमारपाल के मातृ पितृ पक्ष के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रकार का विवरण प्रस्तुत किया है :—

"चालुक्य महाराज जयसिंह के पितामह एवं परमार्हत महाराज कुमारपाल के प्रपितामह पट्टनाधीश महाराज भीम के शासनकाल (विक्रम सम्वत् १०३६ से विक्रम सम्वत् १०७८ तक) में अणहिल्लपुर पट्टण नगर में एक वैश्या रहती थी। उसने चौलादेवी नाम की एक बाला को अपने पास रखकर उसका पालन-पोषण किया। जब चौला देवी ने किशोर वय को पार कर यौवन की देहली पर प्रथम चरण रखा तो उसकी अभिभाविका वैश्या ने उसे वारवधु का कार्य प्रारम्भ करने के लिये बाध्य किया। बाला चौला देवी वस्तुतः रूप लावण्य सम्पन्ना अनुपम सुन्दरी थी। वह न केवल परम सुन्दरी ही थी अपितु कुलीन कन्याओं के अनेक गुणों से सम्पन्न थी। सुर बालाओं के सौन्दर्य को भी तिरस्कृत कर देने वाले उसके अनिन्द्य सौन्दर्य एवं कुलवधुओं द्वारा प्रशंसनीय उसके गुणों की ख्याति दिग्दिगन्त में प्रसृत हो चुकी थी। अनेक श्रीमन्त चौलादेवी के सौन्दर्य और गुणों पर मुग्ध हो उसके रूप लावण्य का रसपान करने हेतु उसकी अभिभाविका को विपुल धनराशि भेंट करने का प्रस्ताव कर चुके थे किन्तु चौला देवी ने अपनी अभिभाविका के समक्ष एक ऐसा प्रण (शर्त) रक्खा कि वह जब तक कोई प्रशस्त कुल का शौर्यशाली एवं रूपगुण सम्पन्न पुरुष जीवन भर के लिये उसकी अपनी अभिभाविका और उसके स्वयं के निर्वाह योग्य धनराशि देने का उसके समक्ष प्रस्ताव न रक्खे, तब तक वह इस प्रकार के निन्द्य कार्य को नहीं करेगी। उसकी अभिभाविक ने अनेक बार उसे इस प्रण से डिगाने का भरसक प्रयास किया किन्तु चौला देवी अपने प्रण पर अटल रही। चालुक्यराज भीमदेव ने जब चौला देवी की यशोगाथा सुनी तो उसने अपने एक अति विश्वासपात्र एवं प्रभावशाली बालसखा के साथ चौलादेवी की प्रणपूर्त्ति के आश्वासन के रूप में अपनी एक सवा लाख मुद्रा के मूल्य की कटारी उसके पास बन्धक के रूप में भेजी। चौलादेवी, ऐसा प्रतीत होता है, पहले से ही महाराज भीम पर मुग्ध थी, सम्भवतः इसी कारण उस बन्धक स्वरूपा भीम की कटारी को उसने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

जिस दिन चौला देवी ने महाराज भीम द्वारा उसके पास भेजी गई कटारी को ग्रहण किया, संयोग से उसी दिन एक लम्बे सैनिक अभियान के लिये महाराज भीम को अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ मालव प्रदेश की ओर प्रस्थान करना पड़ा। मालव प्रदेश में वे ऐसे विग्रहग्रस्त हुए कि दो वर्ष तक वे अणहिल्लपुर पट्टण नहीं लौट सके। अपने सैनिक अभियान के सफलतापूर्वक सम्पन्न होने के पश्चात् जब वे अपनी राजधानी लौटे तो उन्हें उनके गुप्तचरों द्वारा यह विदित हुआ कि चौला देवी ने किसी पुरुष का अद्यावधि मुंह तक नहीं देखा है। इस प्रकार का संवाद सुनने और इस विषय में सभी भांति आश्वस्त हो जाने के अनन्तर पत्तना-धीश चालुक्यराज भीम ने पूर्ण राजकीय सम्मान के साथ चौला देवी को अपने

अन्तःपुर में बुला लिया और विधिपूर्वक उसे अपनी रानी बनाकर उसके साथ दाम्पत्यसुख का उपभोग करने लगे। कालान्तर में रानी चौला देवी गर्भवती हुई और समय पर उसने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। महाराज भीम ने अपने उस पुत्र का नाम हरिपाल रक्खा और राजकुमारों की भांति उसका लालन-पालन किया। युवा होने पर हरिपाल का विवाह एक राजकन्या के साथ किया गया। कालान्तर में हरिपाल को भी एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई और उसने अपने पुत्र का नाम भुवनपाल रक्खा। भुवनपाल का भी लालन-पालन संवर्द्धन, शिक्षण और दीक्षण राजपुत्रों की भांति किया गया। विवाह योग्य युवावय में भुवनपाल का विवाह भी क्षत्रिय राजकन्या के साथ कर दिया गया। राजसी वैभव एवं ठाट बाट के साथ दाम्पत्य सुख का उपभोग करते हुए भुवनपाल को भी एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई और उसका नाम कुमारपाल रक्खा गया। कुमारपाल बड़ा ही होनहार और दयालु प्रकृति का मिलनसार एवं प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का धनी था। उसका बाल्यकाल और किशोर काल राजकुमारों की ही भांति ऐश्वर्यपूर्ण सुखावस्था में व्यतीत हुआ। सभी लोग उससे बड़े प्रभावित थे और उसके अतिशालीन मृदु मंजुल स्वभाव के कारण राजप्रासाद के सभी लोग उससे सम्मान पूर्ण प्रेम करते थे। हठात् उसके सौभाग्य ने उल्टी करवट ली, जिसने उसे अति दुर्भाग्यपूर्ण दारुण दुःख के सागर में ढकेल दिया।

एक दिन सामुद्रिक शास्त्र का एक लब्ध प्रतिष्ठ विशेषज्ञ सिद्धराज जयसिंह की सेवा में उपस्थित हुआ। उसने चालुक्य राजवंश के कतिपय कुमारों के ललाट, हस्त एवं पदतलों के सामुद्रिक चिन्ह देखे। क्रमशः कुमारपाल की देहयष्टि पर अत्युत्तम सामुद्रिक चिन्हों को देखकर वह आश्चर्याभिभूत हो उठा। सिद्धराज जयसिंह को अपने मुख की ओर जिज्ञासापूर्ण दृष्टि से निहारते देख उस सामुद्रिक शास्त्रविद् ने कहा—"महाराज ! इस किशोर के सामुद्रिक लक्षण ऐसे श्रेष्ठ हैं कि जिनके कारण आपके पश्चात् यही विशाल गुर्जर राज्य का अधिपति होगा।" उसने कुमारपाल के पादतल पर अंकित अनवच्छिन्न एवं सुस्पष्ट ऊर्ध्व रेखा की ओर इंगित करते हुए पुनः कहा—"मेरी यह सुनिश्चित मान्यता है कि यह रेखा कभी विफल नहीं हो सकती।"

सामुद्रिक शास्त्र के विशेषज्ञ विद्वान् की बात सुनकर महाराज जयसिंह मन ही मन बड़े खिन्न हुए और उन्होंने उसी समय मन में यह दृढ़ संकल्प कर लिया कि परम्परागत पवित्र चालुक्य राजवंश को किसी भी दशा में वे अपवाद का भागी नहीं बनने देंगे। बस, उसी दिन से कुमारपाल के दुर्दिन प्रारम्भ हो गये।

महाराज सिद्धराज जयसिंह ने मन ही मन यह विचार किया कि यदि यह कुमारपाल जीवित रहा तो अवश्यमेव इसकी भाग्य रेखा एक न एक दिन फलवती हो सकती है, ऐसी स्थिति में 'नष्टे मूले कुतः शाखा' अथवा 'न रहेगा बांस न

बजेगी बांसुरी' की उक्तियों के अनुसार इसको येन केन उपायेन यमधाम को पहुंचा दिया जाय तो पवित्र चालुक्य राजवंश के भाल पर कालिमा की क्षीरणतम रेखा भी नहीं उभर पावेगी। यह विचार कर महाराज जयसिंह कुमारपाल को मारने के अवसर की खोज में रहने लगे। अपनी सहजन्मा प्रत्युत्पन्नमति एवं दूरदर्शिता के कारण कुमारपाल को महाराज सिद्धराज जयसिंह के मनोभावों की थोड़ी सी झलक पड़ गई और वह सदा उनसे दूर रहने का प्रयास करने लगा। एक दिन जब उसे यह पूरी तरह से विश्वास हो गया कि महाराज सिद्धराज जयसिंह उसके प्राणों के प्यासे हैं तो कुमारपाल गुप्त रूप से एक तापस का वेष धारण कर पाटण से निकल पड़ा और सुदूरस्थ देश देशान्तरों में इधर-उधर घूमता रहा। इस प्रकार प्रच्छन्न वेष में कतिपय वर्षों तक विशाल भारत के विभिन्न स्थानों में भ्रमण करने के अनन्तर तापस वेष में ही वह पुनः पत्तन लौटा और एक मठ में अन्य संन्यासियों के साथ रहने लगा। श्राद्ध के दिनों में अपने स्वर्गीय पिता महाराज कर्ण के श्राद्ध के दिन सिद्धराज जयसिंह ने पाटण के ब्राह्मणों, साधुओं, सन्यासियों आदि को श्राद्ध भोजन के लिए निमन्त्रित किया। उन्हें यह शंका हो गई थी कि कुमारपाल सन्यासी के वेष में उन दिनों अणहिल्लपुर पट्टण में ही आया हुआ है, अतः सिद्धराज जयसिंह ने श्राद्ध के दिन अपने यहां समागत सभी सन्यासियों के चरणों को अपने हाथ से धोना प्रारम्भ किया। साधु वेष में आये हुए कुमारपाल के पैरों का अपने दोनों हाथों की अंगुलियों से प्रक्षालन करते समय जब सिद्धराज जयसिंह को यह ज्ञात हुआ कि इस तपस्वी के पदतल में अतीव सुस्पष्ट लम्बी ऊर्ध्व रेखा है तो उन्होंने बड़े ध्यान से दृष्टि गडाकर उस तपस्वी की ऊर्ध्व रेखा को देखा और उन्हें विश्वास हो गया कि यही कुमारपाल है। कुमारपाल पहले से ही सशंक तो था ही, जब उसने सिद्धराज जयसिंह की इस प्रकार की चेष्टाओं को देखा तो उसे और विश्वास हो गया कि गुर्जरेश्वर ने उसे पहिचान लिया है और वह इस बार उसके प्राणों का अपहरण करके ही दम लेगा तो वह बड़ी चतुराई से सन्यासियों के पीछे अपने आपको छिपाता हुआ अपना वेष बदल कर तत्काल राज प्रासाद के पूर्व परिचित किसी गुप्त द्वार से निकल भागा। जब कुछ ही क्षण में सिद्धराज की आंखें उस साधु वेषधारी कुमारपाल को खोजने के लिये चारों ओर उठीं तो उस साधु को वहां कहीं न देख उसने तत्काल अपनी अंग-रक्षक सेना के नायक को आदेश दिया कि सभी दिशाओं में अपने सुभटों को भेजकर उस साधु को पकड़ कर उनके समक्ष उपस्थित करो। कुमारपाल नगर में त्वरित गति से आगे की ओर बढ़ता हुआ आलिग नाम के एक कुम्हार के घर में घुसा और वहां मिट्टी के भांडों को पकाने के लिये आव में कुम्हार के द्वारा रखे जा रहे भांडों के नीचे छिप गया। राजा के सुभट कुमारपाल का अनुसरण करते हुए कुम्हार के घर में घुसे। उन्होंने कुम्हार के घर आंगन आदि को घूम-घूम कर बड़े ध्यान से देखा किन्तु कहीं कुमारपाल को न देखकर उन्होंने कुम्हार से पूछा :—"एक युवक राजमहलों से भाग निकला है, क्या तुमने उसे देखा है ?" दयालु कुम्हार ने बड़ी चतुराई से अज्ञात की भांति अपनी मुखमुद्रा बनाते हुए

हाथ जोड़कर कहा :—"नहीं महाराज ! इधर तो कोई नहीं आया।" राजा के सैनिक तत्काल किसी और दिशा की ओर कुमार की खोज में चल पड़े। कुछ क्षणों तक वहीं छिपे रहकर कुमार सावधानीपूर्वक आव से बाहर निकला और नगर के बाहर वन की ओर द्रुतगति से झाड-झंखाडों और वृक्षों की ओट में छिपता हुआ एक किसान के खेत में पहुंचा। वहां बहुत से कृषण अपने खेतों की रक्षा के लिये बाड निर्माण हेतु कटीले वृक्षों की लम्बी-लम्बी टहनियों की एक विशाल राशि तैयार कर रहे थे, कुमार चुपचाप उस कंटकराशि के नीचे छिप गया। उसका शरीर कंटकों से बिंध गया किन्तु उसने साहसपूर्वक उस कष्ट को सहन किया। राजा के सुभट जो सब ओर कुमारपाल की खोज में घूम रहे थे, उनमें से कतिपय सुभट उस किसान के पास भी आये। खेत में चारों ओर उन्होंने वृक्षों आदि में सावधानीपूर्वक कुमारपाल की खोज की। कटीली झाड़ियों के उस बड़े ढेर को भी उन्होंने अपने तीक्ष्ण भाले ढेर में घुसेड़-घुसेड़ कर देखा पर कुमारपाल श्वांस रोके चुपचाप उस कांटे के ढेर के नीचे छिपा रहा। राजा के सैनिक हताश होकर वहां से भी लौट गये। सैनिकों के चले जाने के पश्चात् उन किसानों ने रात्रि के अन्धकार में कुमारपाल को उस कंटक राशि से बाहर निकाल कर अशन पानादि से तृप्त कर वहां से विदा किया। वृक्षों और लतागुल्मों की ओट में छिपता हुआ कुमारपाल दो दिन और दो रात तक निरन्तर चलता रहा और तीसरे दिन अणहिल्लपुर पट्टण से बहुत दूर एक घने जंगल में पहुंचा। सूर्य की प्रखर किरणों से सन्तप्त और इतनी लम्बी दौड़ भाग के परिश्रम से क्लान्त कुमारपाल एक वृक्ष की छाया में बैठ गया। वहां उसने देखा कि एक चूहा अपने मुंह में एक रौप्य मुद्रा लिये अपने बिल से बाहर निकला और उस रौप्य मुद्रा को एक ओर रख कर पुनः बिल में प्रविष्ट हो गया। थोड़ी ही देर के पश्चात् वह पुनः दूसरी रौप्य मुद्रा लिये बिल से बाहर निकला और उसे भी पहली मुद्रा के पास रख कर पुनः बिल में प्रविष्ट हो गया। इस प्रकार वह चूहा २१ बार एक-एक रौप्य मुद्रा अपने मुंह में लिये बिल से बाहर आता रहा और उन सब मुद्राओं को क्रमशः एक-दूसरी मुद्रा के पास रखता रहा। अन्त में वह पहली मुद्रा को मुख से पकड़ कर बिल में प्रविष्ट हो गया। कुमारपाल यह देख कर अपने स्थान से उठा और उन अवशिष्ट बीसों ही मुद्राओं को उठा कर एक वृक्ष की ओट में बैठ उस बिल की ओर देखने लगा। उसने देखा कि कुछ ही क्षणों में वह चूहा पुनः अपने बिल से बाहर लौटा और जिस स्थान पर उसने रौप्य मुद्राएं रखी थीं, उस स्थान पर उन मुद्राओं को न देख कर इतस्ततः उन मुद्राओं की बड़ी ही व्यग्रतापूर्वक खोज करने लगा। अन्ततोगत्वा जब उसे वे मुद्राएं नहीं मिलीं तो वह इधर-उधर लौट-पोट हो छटपटा कर मर गया। इस प्रकार चूहे को मरा हुआ देखकर कुमारपाल बड़ा दुःखित हुआ और मन ही मन सोचने लगा कि अपने स्वायत्त द्रव्य के प्रति एक अबोध वन्य जन्तु को भी कितना प्रगाढ़ मोह होता है। उसे स्वयं को भी अपना घर-द्वार ही नहीं सर्वस्व तक छोड़ कर वन-वन की, दर-दर की ठोकरें खाने के लिये बाध्य होना पड़ा है। इस प्रकार भारी मन लिये वह उस

वन में आगे की ओर बढ़ा। तीन दिन से उसे खाने को कुछ भी नहीं मिला था। भूख के कारण उसे एक डग भी आगे बढना दूभर हो गया था।

उसी समय ससुराल से अपने पीहर की ओर पालकी में जा रही किसी अपार समृद्धिशाली श्रेष्ठिकुल की महिला की दृष्टि पूर्णरूपेण परिश्रान्त-क्लान्त एवं म्लानमुख कुमारपाल पर पड़ी। प्रथम दृष्टिनिपात से ही उस युवती ने ताड़ लिया कि वह कोई सम्भ्रान्त कुल का प्रदीप है और दुर्दिनों की चपेट में आ भूखा-प्यासा वन में भटक रहा है। उसने अपनी पालकी रोक कर कुमारपाल से पूछा :— "वन्धु ! तुम कौन हो ?"

अदीन घनरव गम्भीर स्वर में ईषत्स्मित के साथ कुमारपाल ने उत्तर दिया :—"वहिन ! इस समय तो मैं इससे अधिक कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं हूं कि मैं एक लक्ष्यविहीन पथिक हूं।"

रमणी ने सहमे स्वर में प्रश्न किया :—"बन्धुवर ! ऐसा कौन-सा वृक्ष है, जिसे शीत, उष्ण आदि सब प्रकार के अनुकूल अथवा प्रतिकूल पवन के झोंकों ने नहीं झकझोरा हो ? पहले के दिन न रहे, तो ये दिन भी सदा रहने वाले नहीं हैं। क्या आप यथेच्छ समय तक हमारे यहां सुखपूर्वक प्रच्छन्न एकान्त अज्ञातवास करने की स्थिति में हैं ?"

कुमारपाल ने कृतज्ञतापूर्ण दृढ़ स्वर में कहा :—"बहिन ! तुम्हारे इस वात्सल्यपूर्ण उच्चकुलोचित सौहार्दभाव के लिए धन्यवाद ! किन्तु मैं किसी को अपने दुर्दिनों का साझी नहीं बनाऊंगा, विशेष कर तुम्हारे जैसे सुखी समृद्ध परिवार को। यह कह कर कुमारपाल ने आगे की ओर डग बढ़ाया।"

ईभ्य कुल की उस महिला ने कुमारपाल को रोकते हुए कहा :—"ठहरो भाई ! तुम्हारे स्वावलम्बनपरक साहस से तुम्हें शीघ्र ही अभीप्सित कार्य की सिद्धि प्राप्त होगी, किन्तु थोड़ा भोजन कर लो। देखो ! वहिन के आग्रह को टालना मत।" यह कहते हुए उस ईभ्य महिला ने अपने पाथेय में से करम्ब का स्वादिष्ट पाथेय विपुल मात्रा में उस पथिक की ओर बढ़ाया। कुमारपाल उसके आग्रह को टाल न सका और उसने वह पाथेय रख लिया।

कुमारपाल ने एक सघन वृक्ष की ओर डग बढ़ाये और उस ईभ्य पत्नी ने अपनी पालकी को अपने लक्ष्य की ओर बढ़ाने का अपने परिचारकों को आदेश दिया।

जैसे कोई भूली-बिसरी बात स्मृति-पटल पर आ उभरी हो। कुमारपाल सहसा उस महिला की पालकी के पास आया और उससे पूछा :—"आप किस श्रीमन्त की पुत्री और किस ईभ्य की कुलवधु हैं ?"

उस श्रेष्ठिकुल की महिला से उसके श्वसुर और पिता का नाम-धाम मालूम कर कुमारपाल बीस रजत मुद्राएं उस श्रेष्ठि कुलवधु के हाथ में रखकर बोला :— "बहिन ! अपने भाई की यह अकिंचन भेंट ठुकराना मत ।" तदनन्तर कुमारपाल त्वरित गति से उस सघन वृक्ष की ओर बढ़ गया । कुमारपाल ने वृक्ष की छाया में बैठकर तीन दिन से प्रज्वलित हो रही अपनी पेट की ज्वाला को शान्त किया । पास ही बहती हुई नदी से जल पीकर वह दक्षिण दिशा की ओर बढ़ चला । इस प्रकार अनेक प्रान्तों में परिभ्रमण करता हुआ कुमारपाल स्तम्भ तीर्थ में सामन्त उदयन के पास पहुंचा, उस समय सामन्त उदयन पौषधशाला में आचार्यश्री हेमचन्द्राचार्य के पास बैठा हुआ था । कुमारपाल ने पौषधशाला में जाकर आचार्यश्री हेमचन्द्र को नमस्कार करने के अनन्तर उदयन का अभिवादन किया । उदयन कुमारपाल को देखते ही हर्ष-विभोर हो उठा और उसे अपने वक्षस्थल से लगा अपने पास बिठाया । तदनन्तर आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि को कुमारपाल का परिचय कराते हुए उदयन ने आचार्यश्री से प्रश्न किया :—"भगवन् ! इस शौर्यपुंज क्षत्रियकुमार की इस दुर्भाग्यपूर्ण दशा का अन्त कब होगा ?"

आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि ने कुमारपाल के भाल एवं अन्य अंगों पर अंकित प्रशस्त लक्षणों को देखकर घनरव गम्भीर सुदृढ़ स्वर में कहा :—"सामन्तराज ! यह युवक शीघ्र ही सार्वभौम राज राजेश्वर होने वाला है । यह सुनिश्चित है । इसकी प्रशस्त भाग्यरेखाओं को अब तो विधाता भी नहीं मिटा सकता ।" दारिद्र्य की दुर्दशा में आकण्ठ मग्न कुमारपाल के साथ ही सामन्त उदयन को भी आचार्यश्री के इस भविष्य कथन पर एक बार तो विश्वास नहीं हुआ । दोनों को संदिग्धावस्था में देखकर हेमचन्द्रसूरि ने यह कहते हुए कि क्षत्रियकुमार के लिये यह कोई असम्भव बात नहीं है, दृढ़ स्वर में कहा :—"विक्रम सम्वत् ११९९ की कार्तिक कृष्णा द्वितीया, रविवार के दिन हस्त नक्षत्र में यदि कुमारपाल का राज्याभिषेक न हो जाय तो मैं उस दिन के पश्चात् इस निमित्त ज्ञान से सदा सर्वदा के लिये संन्यास ग्रहण कर लूंगा ।"

तदनन्तर आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि ने अपने इस भविष्य कथन को अपने हाथ से दो पत्रों पर लिखा । एक पत्र उन्होंने मन्त्री उदयन के हाथ में और दूसरा पत्र कुमारपाल के हाथ में रख दिया ।

इस चमत्कारपूर्ण भविष्य कथन को इस प्रकार के सुदृढ़ आत्म-विश्वास के साथ प्रकट करने के आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि के अद्‌भुत् कला-कौशल को देखकर आश्चर्याभिभूत कुमारपाल ने निर्णयात्मक स्वर में कहा :—"भगवन् ! यदि आपका यह भविष्य कथन सत्य सिद्ध हुआ तो उसी दिन से उस समस्त राज्य के आप ही स्वामी होंगे । मैं तो आपके आज्ञाकारी अनुचर के रूप में सदा आपके आदेशों की अनुपालना को ही आजीवन अपना सौभाग्य समझता रहूंगा ।"

कुमारपाल की इस प्रकार की प्रतिज्ञा को सुनकर आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि ने कहा :—"क्षत्रियकुमार ! अन्ततोगत्वा नरक में गिराने वाले राज्य से हमारे जैसे विरक्त साधु-संन्यासियों को क्या प्रयोजन है ? हां, आप अपनी इस बात को सदा याद रखना और यथाशक्ति श्रमण भगवान् महावीर के शासन की सतत सेवा में निरत रहते हुए अपनी कृतज्ञता प्रकट करते रहना।"

कुमारपाल ने आचार्यश्री के इस निर्देश को अटल आज्ञा समझकर शिरोधार्य किया और उन्हें नमस्कार करने के अनन्तर मन्त्री प्रवर उदयन के साथ उसके प्रासाद की ओर प्रस्थित हुआ। मन्त्रीश्वर उदयन ने स्नान, पान, अशनादि से कुमारपाल का बहुमानपूर्वक सम्मान-सत्कार किया और उसे उसकी लक्ष्यविहीन यात्रा के लिये पर्याप्त पाथेय प्रदान कर विदा किया। उदयन से विदा हो कुमारपाल क्रमिक पद-यात्रा करता हुआ मालव प्रदेश में पहुंचा। वहां उसने कुडंगेश्वर के भव्य प्रासाद में शिला पर उट्टंकित प्राचीन प्रशस्ति की निम्नलिखित गाथा को पढ़ा :—

पुन्ने वाससहस्से, सयम्मि वरिसाण नवनवइअहिए।
होही कुमरनरिन्दो, तुह विक्कमराय सारिच्छो ॥

अर्थात् हे विक्रम महाराज ! आपके स्वर्गारोहण के अनन्तर एक हजार एक सौ निन्यानवे वर्ष व्यतीत हो जाने पर आपके समान ही प्रतापी कुमारपाल नाम का एक राजा होगा।

इस गाथा को पढ़कर कुमारपाल के आश्चर्य का पारावार नहीं रहा। विक्रम सम्वत् ११९९ का अवसान होने में एक मास से भी कम समय अवशिष्ट रह गया है। इस वर्ष के अवसान के साथ ही साथ मेरे राज्यारोहण काल विषयक इन दो भविष्यवाणियों को देखते हुए महाराज सिद्धराज जयसिंह का अवसान काल भी सन्निकट ही प्रतीत हो रहा है, यह विचार कर कुमारपाल ने कुडंगेश्वर से अणहिल्लपुर पट्टण की ओर प्रस्थान करने का दृढ़ निश्चय किया। अपनी मातृ पितृ भू गूर्जर भूमि की ओर द्रुतगति से प्रयाण कर पथ को पार करता हुआ कुमारपाल एक दिन रात्रि के समय अणहिल्लपुर पट्टण पहुंचा और अपने बहनोई (भगिनीपति) कान्हडदेव के भवन में पहुंचा। कान्हडदेव उस समय राजप्रासाद में थे। बहिन ने अपने भाई का बड़े दुलार से स्वागत किया और कहा—"महाराज सिद्धराज जयसिंह असाध्य रोगग्रस्त हो अचेतनावस्था में रुग्ण शय्या पर हैं। तुम्हारे जीजाजी को यहां लौटने में सम्भवत: विलम्ब हो सकता है। अत: तुम हाथ मुंह धोकर भोजन कर लो।"

कुमारपाल ने कहा—"नहीं, मैं उनके आने पर ही भोजन करूंगा।"

उन्हें अधिक समय तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। कान्हडदेव राज प्रासाद से लौट आये। उन्होंने कुमारपाल को बड़े प्रेम के साथ भोजन कराया और कहा—

"अभी थोड़ी ही देर पहले महाराज सिद्धराज जयसिंह ने परलोक के लिये प्रयाण कर दिया है। अभी तक इस सूचना को गुप्त रखा गया है। तुम इस समय शान्ति से सो जाओ। प्रातःकाल महाराज के अन्तिम संस्कार से पूर्व ही चालुक्य राजवंश के परम्परागत नियम के अनुसार राज्याभिषेक के महत्त्वपूर्ण कार्य का निष्पादन करना है।" यह कहकर कान्हडदेव अपने शयनकक्ष में चले गये। कुमारपाल भी एक कक्ष में शय्या पर लेट गया। कुछ क्षणों तक उसके अन्तर्मन में अनेक प्रकार के विचार आते रहे किन्तु उसे उपरिवर्णित दो भविष्यवाणियों पर और गूर्जर शासन तन्त्र के प्रभावशाली सामन्त अपने बहनोई कान्हडदेव पर तथा अपने पौरुष पर अटल आस्था थी। अतः वह शीघ्र ही प्रगाढ़ निद्रा में मग्न हो गया।

प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व ही कान्हडदेव ने अपनी सुसज्जित सेना सहित कुमारपाल को साथ लेकर राजभवन में प्रवेश किया। राजभवन में पहुंचने के पश्चात् कान्हडदेव ने राज्य के महामात्य, अन्य अमात्यगण, सामन्तगण एवं प्रमुख राजमान्य नागरिकों के समक्ष राज्याभिषेक की पूरी तैयारी करवाई। कान्हडदेव ने उपस्थित सामन्त, मन्त्री एवं मान्य नागरिकवृन्द को सम्बोधित करते हुए कहा—"इस अतिविशाल एवं महान् शक्तिशाली गुर्जर साम्राज्य के भार को वहन करने में कौन सक्षम है? इसकी परीक्षा कर ली जाय?" वहां उपस्थित सभी प्रमुख पुरुषों ने मौन इंगित से कान्हडदेव के कथन के प्रति अपनी सहमति प्रकट की। राज सिंहासन पर आरूढ़ होने के प्रत्याशी एक कुमार को पट्ट पर बैठने का कान्हडदेव ने संकेत किया। पट्ट पर बैठते समय उस कुमार का न केवल उत्तरीय अपितु सभी वस्त्र अस्त-व्यस्त हुए देख कान्हडदेव ने उसे हाथ पकड़ कर उठाया और एक ओर बैठने का संकेत किया। तदनन्तर दूसरे प्रत्याशी कुमार को कान्हड-देव ने पट्ट पर बैठने का निर्देश दिया। उस कुमार ने पट्ट पर बैठकर अपने दोनों हाथ जोड़कर सिर को झुका दिया। हठात् वहां उपस्थित सामन्तादि प्रमुख पुरुषों के कण्ठों से ये स्वर फूट पड़े—"यह यशस्वी गुर्जर राज्य वंश के उन्नत भाल को नीचा कर देगा।" कान्हडदेव ने हाथ पकड़ कर उस दूसरे प्रत्याशी को भी पट्ट से उठा दिया और कुमारपाल को सिंहासन पर आसीन होने का निर्देश दिया। कुमारपाल तत्काल गरुड की भांति वेग से सिंहासन पर सभी भांति सुसंयत हो अपने उत्तमांग को राज राजेश्वर की भांति ऊपर उठाये हुए बैठ गया और अपनी तलवार की मूठ को अपने दक्षिण करके वज्रपाश में आबद्ध कर उसे शनैः शनैः दोलित करने लगा। वहां उपस्थित सभी प्रमुखजनों ने सिर झुकाकर उसका राज्याभिषेक करने की सहर्षपूर्ण सम्मति प्रदान की। राज पुरोहित ने तत्काल मंगल पाठ के साथ कुमार-पाल का गुर्जर साम्राज्य के राज सिंहासन पर राज्याभिषेक किया और साथ ही साथ विविध वाद्य ध्वनियों से समस्त वायु मण्डल गुंजरित हो उठा। 'महामहिम गुर्जरेश्वर महाराज कुमारपाल की जय हो' आदि जयघोषों से समस्त गगनमण्डल प्रकम्पित हो उठा। कान्हडदेव आदि सभी सामन्तों और उपस्थित जनसमूह ने

अपने उत्तमांगों से पृथ्वी का स्पर्श करते हुए कुमारपाल को नमस्कार किया। राज्य में सर्वत्र कुमारपाल की राजाज्ञा प्रसारित करवा दी गई।

कुमारपाल के राज्याभिषेक के अनन्तर महाराज सिद्धराज जयसिंह की राजकीय सम्मान के साथ सभी प्रकार की औध्र्वदैहिक क्रियाएं सम्पन्न की गईं। पुरोहितों, ब्राह्मणों और भिक्षुकों को विपुल दान दिया गया। अनेक प्रकार के पुण्य कार्य किये गये।

महाराजा कुमारपाल राज्यारोहण से पूर्व भारत के विभिन्न भागों में एवं अनेक राज्यों में परिभ्रमण कर चुका था, अनेक प्रकार के कटु अनुभव भी उसे हो चुके थे, विभिन्न राज्यों की प्रजा के अभाव अभियोगों आदि की दशा को उसने प्रत्यक्ष रूप से देखा था, इस प्रकार की अनुभूतियों से मेधावी कुमारपाल की मेधा शक्ति और भी अधिक निखर चुकी थी। उसने शासन सूत्र सम्भालते ही राज्य के सब कार्यों को स्वयं अपनी सीधी देखरेख में करना प्रारम्भ किया। शासन सूत्र के संचालन की सभी गतिविधियों पर कुमारपाल की दूरदर्शी कड़ी दृष्टि के कारण राज्य के प्रायः सभी प्रमुख अधिकारीगण थोड़े ही दिनों में उससे मन ही मन रुष्ट हो उसकी हत्या करने के प्रपंच रचने लगे। कुमारपाल के पुण्य-प्रताप से किसी स्वामिभक्त वयोवृद्ध अधिकारी ने कुमारपाल के समक्ष उसकी हत्या के षडयन्त्र की जानकारी रख दी। कुमारपाल ने तत्काल उन सब षडयन्त्रकारियों को चुन-चुन कर एक ही रात में यमधाम पहुंचा दिया। कुमारपाल के इस प्रकार के कठोर अनुशासन का यह परिणाम निकला कि सभी अधिकारी, सभी प्रकार की षडयन्त्रकारी प्रवृत्तियों से कोसों दूर रहकर प्रगाढ़ स्वामिभक्ति और अटूट देशभक्ति के साथ शासन और शासित प्रजा की सेवा में अत्यन्त संवेदनशीलता के साथ निरत रहने लगे। महाराज कुमारपाल ने सिंहासनारूढ़ होते ही मन्त्रीश्वर उदयन के पुत्र वाग्भट्टदेव को अपने महामात्य पद पर नियुक्त किया और आलिग नामक कुम्हार को चित्रकूट के पास सात सौ गांवों का अधिपति बना दिया। उसके पारिवारिक जनों को क्षत्रियों के समकक्ष सम्मान प्रदान कर अपने वंश के 'प्रधान' पद पर नियत किया। इस प्रकार की "प्रधान" जातियां आज भी राजस्थान के विभिन्न भागों के क्षत्रियों में उपलब्ध होती हैं। जिन किसानों ने कटीले वृक्षों की कंटीली शाखाओं के ढेर के नीचे कुमारपाल को छिपाकर रखा था, उन किसानों को कृतज्ञ शिरोमणि कुमारपाल ने अपने अंगरक्षकों के पद पर प्रतिष्ठित किया।

इस प्रकार विशाल गुर्जर साम्राज्य के शासनसूत्र को अपने हाथ में सम्भालने के स्वल्प काल पश्चात् ही कुमारपाल ने अपने राज्य को निष्कंटक बना लिया।

उदयन देव के 'वाहड' नामक पुत्र को महाराज जयसिंह ने अपने जीवन के संध्याकाल में एक प्रकार से अपना पुत्र मान लिया था। वाहड कुमार का राज्य के

प्रमुख अधिकारियों, कर्मचारियों, राज भवन के परिचारकों एवं राज्य के विभिन्न गण्यमान्य प्रमुख नागरिकों पर पर्याप्त प्रभाव था। इसके साथ ही साथ वाहडकुमार महाराज सिद्धराज जयसिंह का कृपापात्र वरद पुत्र होने के कारण गुर्जर राज्य के अनेक रहस्यों से भी अवगत था। उसे कुमारपाल का गुर्जर राज्य के सिंहासन पर आरूढ होना सह्य नहीं हुआ। अतः उसने मन ही मन निश्चय किया कि वह येन-केन-प्रकारेण कुमारपाल को भीषण युद्ध में उलझाकर उसे राज्यच्युत करे। इस प्रकार विचार करने के अनन्तर वह सपादलक्ष (वर्तमान सांभर) राज्य के नरेश का सेनापति बन गया। सपादलक्ष के राज्य की सेना को अभिवृद्ध, सुगठित, युद्ध कला कौशल में निष्णात, शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित एवं शक्तिशाली बनाकर उसने कुमारपाल से युद्ध प्रारम्भ करने से पहले गुर्जर राज्य के प्रायः सभी सामन्तों, अनेक सेना-नायकों आदि को बड़ी-बड़ी धनराशियां घूंस के रूप में प्रदान कर गुप्त रूप से अपने पक्ष में कर लिया। इस प्रकार की व्यवस्था करने के अनन्तर "हमारी जीत सुनिश्चित है", "हम कुमारपाल को अवश्यमेव पराजित कर उसे वन्दी बना सकेंगे" इस प्रकार का दृढ़ विश्वास लिये उसने सपादलक्ष राज्य के नरेश और उसकी विशाल चतुरंगिणी सेना को साथ लेकर गुर्जर राज्य की सीमाओं पर पड़ाव डाला। चरों के मुख से यह सुन कर कि सपादलक्ष नरेश और उसकी सेनाओं के साथ वाहडकुमार गुर्जर राज्य की ओर बढ़ रहा है, कुमारपाल ने भी अपनी चतुरंगिणी विशाल सेना को युद्ध हेतु सुसज्जित कर अपनी सीमा पर पड़ाव डाला। दोनों ओर की सेनाओं ने युद्ध के लिये सुसज्जित हो व्यूह रचना की। शत्रु की सेना गुर्जर राज्य की सीमा में प्रवेश करे, इससे पहले ही ३६ प्रकार के आयुधों के विपुल संचय से युक्त कलह पंचानन नामक हस्ति की पीठ पर कुमारपाल का राजसिंहासन प्रतिस्ठापित कर हस्ति संचालन कला में लब्ध प्रतिष्ठ शामल नामक हस्तिप (महावत) ने कुमारपाल के समक्ष उस हस्तिरत्न को प्रस्तुत किया। महाराज कुमारपाल तत्काल उस हस्ति पर आरूढ होकर सिंहासन पर बैठ गया। अपने सेनानायकों एवं सामन्तों की ओर दृष्टिनिपात करते ही उनकी भावभंगियों एवं युद्ध के लिये अनुत्सुकता के भावों से उसने समझ लिया कि शत्रु ने उनको देशद्रोही बनाकर अपने पक्ष में कर लिया है। उसने तत्काल सामल हस्तिप को आज्ञा दी कि वह स्वयं ही सबसे आगे रहकर शत्रु के साथ युद्ध करेगा, इसलिए वह कलहपंचानन हाथी को सपादलक्ष राज के हाथी की ओर बढ़ाये। सामल ने कलहपंचानन को गुर्जर सेना के शीर्षस्थ स्थान पर लाकर ज्योंही शत्रु राजा के हाथी की ओर बढ़ने की प्रेरणा दी कि हाथी पीछे की ओर सरकने लगा। हस्तिप ने अनेक बार अंकुश मारे। हाथी को आगे बढ़ाने के लिये सभी प्रकार के सम्भव प्रयत्न किये किन्तु हाथी ने आगे की ओर एक डग तक भी नहीं रक्खा। कुमारपाल ने क्रुद्ध हो सामल को सम्बोधित करते हुए कहा :—"क्यों सामल ! तू भी इन मातृभूमिद्रोही गुर्जर सेना के सेनानियों की भांति शत्रु पक्ष में जा मिला है ?" शामल ने हाथी को आगे की ओर बढ़ाने का एक बार और प्रवल प्रयास करते हुए कुमारपाल से कहा :—"पृथ्वीनाथ ! जव तक यह पृथ्वी और

यह सूर्य और चन्द्र विद्यमान रहेंगे, तब तक कलहपंचानन नामक हस्ती और इसका संचालक सामल कभी राजद्रोह के पाप का कलंक कालिमापूर्ण काला टीका अपने भाल पर नहीं लगने देंगे। पर वास्तविकता यह है कि शत्रुओं की हस्तिसेना के एक हाथी के होदे में वाहडकुमार एक वाद्य यन्त्र के तार से इस प्रकार की ध्वनि प्रकट कर रहा है, जिसे सुनकर हाथी रणांगण से भाग खड़े होते हैं।" यह कहते हुए सामल ने अपने उत्तरीय के दोनों पल्लों से कलह पंचानन हाथी के दोनों कर्ण-रन्ध्रों को भली-भांति बन्द कर उसे शत्रु राजा के हाथी से भिड़ा दिया। दोनों हाथियों के भिड़ जाने तक वाहडकुमार को यही विश्वास था कि चौलिंग नामक हस्ती का हस्तिप जिसे मैंने लंचादानपूर्वक अपने पक्ष में कर लिया है, वही राजा के हाथी को लेकर मेरे हाथी के पास आया है। इस प्रकार विचार कर वाहड ने नंगी तलवार हाथ में लिये गुर्जरेश कुमारपाल के सिर को धड़ से पृथक् कर देने के उद्देश्य से अपने हाथी के हौदे से कलह पंचानन हाथी के हौदे पर अपना एक पैर रख दिया। वह दूसरा पैर उठाये इससे पहले ही सामल ने विद्युत् वेग से कलह पंचानन हस्ती को पीछे की ओर गतिमान कर दिया और दोनों सेनाओं के देखते ही देखते वाहडकुमार रणांगण में पृथ्वी पर आ गिरा। कुमारपाल के अंगरक्षक पदाति सैनिकों ने वाहडकुमार को तत्काल पकड़कर बन्दी बना लिया। तदनन्तर कुमारपाल ने सपादलक्ष-राज को रण के लिये ललकारा। कुमारपाल को लक्ष्य कर अपने धनुष की प्रत्यंचा से सांभर नरेश 'आनक' बाण को छोड़ना ही चाहता था कि कुमारपाल ने अपने शर प्रहार से उसे खंड-विखंडित कर दिया और सिंह की भांति छलांग मार कर शत्रु राजा 'आनक' को उसके हाथी के हौदे से अपने हाथी के हौदे पर ला पटका। तत्काल सपादलक्ष नरेश को बन्दी बना "जीत लिया, जीत लिया" इस प्रकार का सिंहनाद करते हुए कुमारपाल ने अपने स्वामी भक्त सैनिकों और अंगरक्षकों की टुकड़ियों के साथ शत्रु सेना पर भयंकर आक्रमण किया। अपने राजा के बन्दी बना लिये जाने के कारण सपादलक्ष की सेना का मनोबल टूट चुका था। इस अप्रत्याशित भीषण आक्रमण से उसमें तत्काल भगदड़ मच गई। कुमारपाल ने तत्काल शत्रु के कोषागार, शस्त्रागार, अनेक हस्तियों और बहुत बड़ी संख्या में घोड़ों को अपने अधिकार में कर लिया। इससे गुर्जर सेना का उत्साह बढ़ा। विद्रोही सेना-नायकों ने भी अपने विद्रोह-भाव को भुलाकर भागती हुई शत्रु सेना का पीछा कर शत्रु के अस्त्र, शस्त्र और अश्वों को अपने अधिकार में कर लिया।

युद्ध में विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् कुमारपाल ने विद्रोही सामन्तों और सेना-नायकों को कड़ा दंड दे उनके स्थान पर सच्चे देशभक्त एवं स्वामि भक्तों को नियुक्त किया।

एक दिन महाराज कुमारपाल की राज्य सभा में कोंकण नरेश मल्लिकार्जुन के 'मागध' (बन्दी) ने अपने स्वामी की प्रशंसा में उसे 'राज पितामह' के विरुद से अभिहित किया। महाराज कुमारपाल उसके इस विरुद को सहन न कर सके और

वे दृष्टि उठाकर राजसभा में उपस्थित अपने सामन्तों की ओर देखने लगे । 'अम्बड़' नामक मन्त्री ने अपनी ओर गुर्जरराज के दृष्टि-निक्षेप के होते ही अपने दोनों हाथ अंजलिबद्ध कर ऊपर की ओर उठा दिये । यह देखकर कुमारपाल को बड़ा आश्चर्य हुआ और सभा के विसर्जित होते ही अम्बड़ मन्त्री को एकान्त में अपने पास बुलाकर सभा में उस प्रकार अंजलिबद्ध हाथ ऊपर उठाने का कारण पूछा । अंबड मन्त्री ने उत्तर में निवेदन किया :—"राज राजेश्वर ! कोंकण के मागध के मुख से मल्लिकार्जुन के लिये प्रयुक्त 'राज-पितामह' शब्द को सुनते ही आपके नेत्रों में लाली-सी दौड़ गई । आपने सामर्ष अपने सामन्त समूह की ओर दृष्टिनिपात किया । उस समय आपके दृष्टिनिक्षेप का मैंने यही अर्थ समझा कि आप यही जानना चाहते थे कि आपकी राज सभा में क्या कोई ऐसा सुभट विद्यमान है, जो मिथ्याभिमानी मल्लिकार्जुन का सिर काटकर मेरे सम्मुख उपस्थित करे । मैंने आपके उस मौन आदेश को स्वीकार एवं शिरोधार्य कर आपके आन्तरिक अभिप्राय की पूर्ति के लिये अपने अंजलिबद्ध दोनों हाथ ऊपर उठाये ।" कुमारपाल अपने इंगितज्ञ मन्त्री अम्बड़ के उत्तर से बड़ा प्रसन्न हुआ । उसने मन्त्री अम्बड़ को अपनी एक विशाल चतुरंगिणी सेना के साथ कोंकण राज्य पर आक्रमण करने के लिये विदा किया । मन्त्री अम्बड़ ने प्रयाण पर प्रयाण करते हुए अपनी सेना के साथ कलिवणी नदी को पार कर उसके दूसरे तट पर अपनी सेना का पड़ाव डाला । गुर्जर सेना के अपनी सीमा में प्रवेश का समाचार सुनते ही मल्लिकार्जुन ने अपनी सशक्त सेना के साथ गुर्जर राज्य की सेना पर आक्रमण कर दिया । दोनों सेनाओं के बीच भीषण संग्राम हुआ किन्तु शीघ्र ही गुर्जर सेना में भगदड़ मच गई और अम्बड़ मन्त्री मल्लिकार्जुन से परास्त हो गुर्जर राज्य की ओर लौट पड़ा । उसने अपनी पराजित सेना को साथ लिये अणहिल्लपुर पट्टण से थोड़ी दूर अपनी सेना का एक नदी के किनारे पड़ाव डाला । उसने काले कपड़े एवं काला ही छत्र धारण किया और कृष्ण मुख किये वहीं रहने लगा । कुमारपाल ने अम्बड़ की सेना के सन्निवेश में उसे इस वेष में देखकर पूछा कि यहां सेना का पड़ाव क्यों डाला है ? अपना कृष्ण मुख किये कृष्ण वेष में मन्त्री अम्बड़ ने सांजलि शीश झुका उत्तर दिया :—"पृथ्वीनाथ ! कोंकण से पराजित हो लौटने के कारण आपका यह सेनापति लज्जित हो यहीं पड़ा है ।" कुमारपाल उसके उत्तर से प्रसन्न हो कहने लगे :—"शौर्यशाली सेनापति के लिये इस प्रकार की लज्जा भी वहुत बड़ा आभूषण है ।" कुमारपाल ने अनेक रणसौंडीर सामन्तों और एक बड़ी शक्तिशाली सेना को अम्बड़ के सेनापतित्व में देकर उसे पुनः कोंकण-विजय का आदेश दिया । इस बार सेनापति अम्बड़ ने कोंकण राज्य की सीमा में विद्युत् वेग से आगे बढ़कर कोंकण की सेना पर बड़ा भीषण आक्रमण किया । अपने पट्ट-हस्ति-रत्न पर आरूढ मल्लिकार्जुन अपनी सेना का नेतृत्व कर रहा था । अम्बड़ ने उसे देखते ही अपने अश्व को एड लगाकर मल्लिकार्जुन के हाथी की ओर वायु वेग से बढ़ाया । मल्लिकार्जुन के हाथी के पास पहुंचते ही सेनापति अम्बड़ ने अपने घोड़े की पीठ से छलांग लगाकर कोंकणराज के हाथी के दांतों पर पैर रख हाथी

के हौदे पर बैठे हुए मल्लिकार्जुन को ललकारते हुए कहा :—"पहले तुम मुझ पर प्रहार करो और अपने इष्टदेव का स्मरण कर परलोक प्रयाण के लिए तैयार हो जाओ।" मल्लिकार्जुन ने जैसे ही उस पर अपनी गदा का प्रहार करने को गदा उठाई, अम्बड़ ने अपनी तीक्ष्ण तलवार की धार के प्रहार से उसके सिर को पृथ्वी पर गिरा दिया। मल्लिकार्जुन के मस्तक को भूलुंठित होते देख कोंकण की सेना के पैर उखड़ गये। वह रणांगण से पलायन करने लगी। गुर्जर सेना के योद्धाओं ने अपने भीषण प्रहारों से शत्रु सेना को नष्ट-भ्रष्ट एवं छिन्न-भिन्न कर दिया। कोंकण की सेना को पराजित करने के पश्चात् सेनापति अम्बड़ ने कोंकणराज की राजधानी में प्रवेश किया और पूरे कोंकण राज्य में महाराज कुमारपाल की आज्ञा प्रसारित कर कोंकण के राज्य कोष पर अधिकार कर लिया। सेनापति अम्बड़ ने मल्लिकार्जुन के मस्तक को स्वर्ण के पत्तों से वेष्टित कर कोंकण की बहुमूल्य अपार धनराशि को साथ ले अणहिल्लपुर पट्टण की ओर प्रस्थान किया। कतिपय प्रयाणों के अनन्तर वह अणहिल्लपुर पहुंचा और राजसभा में उपस्थित हुआ। अपने ७२ सामन्तों द्वारा सेवित महाराज कुमारपाल के सिंहासन के सम्मुख उपस्थित हो अम्बड़ ने मल्लिकार्जुन का सिर उनके चरणों पर रखते हुए अपना सिर झुकाया। कोंकण देश से लाई हुई अपार धनराशि भी सेनापति अम्बड़ ने अपने स्वामी को भेंट की, जिसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अलभ्य अनमोल निम्नलिखित वस्तुएं थीं :—

(१) शृङ्गारकोटि नामक साड़ी, (२) माणिक्य नामक दुशाला, (३) पापक्षयकर नामक हार, (४) संयोगसिद्धि नामक विषापहारिणी मुक्ताशुक्ति, (मोती सहित सीप), (५) बत्तीस स्वर्ण कलश, (६) मोतियों से भरे कुम्भ, (७) एक चार दांतों वाला हाथी, (८) १२० स्वर्णपात्र, (९) १४ करोड़ स्वर्ण मुद्राएं और अपार द्रव्य।

अम्बड़ ने इन सब महार्घ्य वस्तुओं और मल्लिकार्जुन के सिर से अपने स्वामी कुमारपाल के चरणों की पूजा की।

चालुक्यराज कुमारपाल अम्बड़ के शौर्य से बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे अनेक गांवों की जागीर प्रदान कर सम्मानित किया।

एक समय जबकि महाराज कुमारपाल उज्जयिनी के अपने राजप्रासाद में रहते हुए, कुछ समय तक वहाँ रहने के अनन्तर अपने अधीनस्थ मालव राज्य की व्यवस्था को दृढ़तर एवं अधिकाधिक लोककल्याणकारी बनाने हेतु मालव राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में अपने सैनिक स्कन्धावार आयोजित कर प्रजा के अभाव-अभियोगों की सुनवाई कर रहे थे, उस समय अनहिल्लपुर पत्तन में आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि की माता साध्वीमुख्या महत्तरा पाहिनी ने अपनी आयु का अवसान काल देख आलोचना-

संलेखनापूर्वक संथारा किया। उस अवसर पर आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि ने एक करोड़ नमस्कार मन्त्र का जाप किया। महत्तरा पाहिनी ने पूर्ण समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण किया। पत्तन के श्रावक वर्ग और प्रजाजनों ने महत्तरा पाहिनी के पार्थिव शरीर की अन्त्येष्टि क्रिया का बड़े ठाट-बाट के साथ महोत्सव किया। जिस समय उनके शव को लिये वैकुण्ठी श्मशान भूमि के पास पहुंची तो वहां के कतिपय ईर्ष्यालु तापसों ने शववाहिनी उस वैकुण्ठी को तोड़ने का विफल प्रयास किया। अन्त्येष्टि के समय उपस्थित विशाल जनसमुद्र के समक्ष उन तापसों का वस नहीं चला और निर्विघ्न रूप से महत्तरा पाहिनी के पार्थिव शरीर का अन्तिम संस्कार समीचीन रूप से हो गया।

इस प्रकार के प्रसंग पर तापसों के ईर्ष्यापूर्ण व्यवहार से हेमचन्द्रसूरि के हृदय को ठेस पहुंची और उन्होंने पत्तन से मालवभूमि की ओर विहार कर दिया। विहार क्रम से वे मार्ग में आये हुए ग्रामों एवं नगरों में वीतराग प्रभु महावीर का विश्वकल्याणकारी संदेश भव्यों को सुनाते हुए, अनेक भव्यों को सत्पथ पर आरूढ और अनेक श्रद्धालुओं को अध्यात्मपथ पर अग्रसर करते हुए गुर्जरेश्वर महाराज कुमारपाल के स्कन्धावार में पहुंचे। मन्त्रीश्वर उदयन से आचार्यश्री के शुभागमन की सूचना प्राप्त होते ही कुमारपाल उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। उसने बड़ी कृतज्ञता प्रकट करते हुए आचार्यश्री को वन्दन-नमन करने के अनन्तर बहुमान-सम्मानपूर्वक स्कन्धावारस्थ उदयन के कक्ष से उन्हें वह अपने निजी कक्ष में ले गया। राज्यारोहण के तत्काल पश्चात् ही कुमारपाल अनेक प्रकार के आन्तरिक कुचक्रों एवं युद्धों में उलझा हुआ रहा था, इसी कारण कुमारपाल अन्यत्र विहार कर रहे आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि की सेवा में उपस्थित नहीं हो सका था। गुर्जर राज्य के राज सिंहासन पर आरूढ़ होने के पश्चात् कुमारपाल के लिये आचार्यश्री के दर्शनों का यह प्रथमावसर ही था। उसने कृतज्ञता और हर्षातिरेक से अवरुद्ध अपने कण्ठस्वर में आचार्यश्री को उनकी भविष्यवाणी का स्मरण दिलाते हुए निवेदन किया :— "भगवन् ! मैं जीवन भर आपका ऋणी रहूंगा। आप सदा इस दास पर कृपा कर ईश स्मरण की वेला में मेरे पास अवश्य आया करें। आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि ने कुमारपाल से कहा :—"राजन् ! हम त्याग-विरागपूर्ण अध्यात्म पथ के पथिक भिक्षान्न से अपना निर्वाह कर और जीर्ण वस्त्र से अपके तन को ढक भूमि पर सोते हैं। इस प्रकार की स्थिति में हमें राजाओं के सम्पर्क से क्या प्रयोजन ?" कुमारपाल ने अति विनम्र स्वर में अभ्यर्थनापूर्वक आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि से निवेदन किया :— "महाराज मैं अपने परलोक को सुधारने के लिये आप जैसे महापुरुषों के सत्संग का अभिलाषी हूं। आप किसी भी समय मेरे यहां पधार सकते हैं।" कुमारपाल ने तत्काल अपने अंगरक्षकों और प्रहरियों को आदेश दिया—"आचार्यश्री कृपा कर जब कभी किसी भी समय मेरे कक्ष में पधारने का कष्ट करें तो उन्हें बड़े सम्मान के साथ मेरे कक्ष में बिना किसी प्रकार की रोक-टोक के तत्काल लाया जाय।"

इस प्रकार प्रायः प्रतिदिन आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि का सैनिक स्कन्धावार में कुमारपाल के कक्ष में धर्मोपदेश हेतु एवं धर्म-चर्चा के निमित्त आवागमन होता रहा। एक दिन कुमारपाल भक्ति के प्रवाह में श्रद्धातिरेकवशात् आचार्यश्री के त्याग, तप एवं ज्ञान, विराग की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करने लगा। यह प्रशंसा राज पुरोहित को आचार्यश्री के प्रति ईर्ष्या के वश सहन नहीं हुई और उसने कहा :—"राजन् ! जीवन भर केवल पानी और पत्तों से जीवन का निर्वाह करने वाले विश्वामित्र और पाराशर जैसे तपोपूत महर्षि भी स्त्री के मुख कमल को देखते ही मोहपाश में आबद्ध हो गए। तो जो साधु अथवा व्यक्ति घृत, दूध, दही जैसे गरिष्ठ पदार्थों के साथ शाल्यन्न आदि का सरस भोजन करते हैं, उन लोगों के ब्रह्मचारी रहने की बात तो समुद्र में किसी पर्वत के तैरने के समान ही असम्भव बात है।"

कुमारपाल ने जिज्ञासापूर्ण दृष्टि से आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि की ओर देखा। आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि ने पुरोहित की व्यंगभरी उपरिलिखित बात के उत्तर में कहा—"शक्तिशाली केशरी सिंह मदोन्मत्त हाथियों के कपोलों को चीर कर उनके लहुपान के साथ उनके मांस का और वन शूकरों के शक्तिप्रदायी रक्त-माँस का भोजन करता है। किन्तु वह वर्ष भर में केवल एक बार ही काम वासना का सेवन करता है। इसके विपरीत कंकर, ढेले आदि से अपने पेट को भरने वाला कबूतर दिन में अनेक वार प्रति दिन अपनी कामाग्नि के शमन हेतु विषय पंक में लिप्त रहता है। इससे यही सिद्ध होता है कि ब्रह्मचर्य केवल भोजन पर नहीं, किन्तु आत्मबल पर ही निर्भर करता है।"

श्री हेमचन्द्राचार्य के इस युक्तिसंगत उत्तर को सुनकर राज पुरोहित निरुत्तर हो किंकर्त्तव्यविमूढ़ की भांति अवाक् अपनी कुक्षियों की ओर झांकता ही रह गया।

उसी समय जिन शासन के प्रति ईर्ष्या रखने वाले एक अन्य पंडितमानी ने कुमारपाल को सांजलि शीश झुकाते हुए कहा—"क्षमा करें नरदेव ! यह श्वेताम्बर मतावलम्बी सूर्य को भी नहीं मानते।"

हेमचन्द्राचार्य ने कुमारपाल को सम्बोधित करते हुए कहा—"राजन् ! हम तो सूर्य के अस्त हो जाने पर अन्न की बात तो दूर, जल की एक बूंद तक भी अपने मुंह में नहीं डालते। इसके विपरीत मेरे मित्र, जो इस प्रकार की बात आपके समक्ष कह रहे हैं, वे सूर्य के अस्त हो जाने पर रात्रि में सरस अशन-पानादि का नितप्रति रसास्वादन करते ही रहते हैं। न्यायप्रिय नरेश्वर ! आप ही न्यायपूर्ण निर्णय दीजिये कि सूर्य के अस्त हो जाने पर उसके संकटकाल में अशन-पानादि का पूर्णतः परिहार करने वाले हम लोग ही वस्तुतः सूर्य का समादर करने वाले हैं, न कि ये लोग, यह अकाट्य प्रत्यक्ष प्रमाण से स्वतः सिद्ध है।"

एक दिन आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि चालुक्य चूड़ामणि महाराज कुमारपाल के कक्ष में आये। उस समय उनके शिष्य यशश्चन्द्रगणि ने उनके आसन पर कम्बल रखने से पूर्व उसे अपने रजोहरण से परिमार्जित किया। जीवदया सम्बन्धी गहन तत्त्व से अनभिज्ञ कुमारपाल ने आचार्यश्री की ओर देखते हुए पूछा—"भगवन्! यह क्या है? यदि यहां पर किसी प्रकार का कोई जीव जन्तु, कीटाणु दृष्टिगत होता तो उस दशा में तो आप जैसे जगत् के प्राणिमात्र के बन्धु महात्माओं द्वारा पट्ट का परिमार्जित किया जाना परमावश्यक था, किन्तु इस समय तो किसी प्रकार का कोई जीव-जन्तु दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है, उस दशा में श्रद्धेय श्रमणवर का परिमार्जन-प्रयास क्या निरर्थक प्रयत्न की कोटि में नहीं आता?"

"जब कोई जीव जन्तु दृष्टिगोचर हो तभी इस प्रकार का प्रयास किया जाना चाहिये, अन्यथा इस प्रकार का प्रयास वृथा ही सिद्ध होगा।" इस प्रकार की युक्तिपूर्ण राजा कुमारपाल की बात को सुनकर हेमचन्द्रसूरि ने अपने ईषत् हास्य से वातावरण में मधु सा घोलते हुए कहा—"राजन्! एक चतुर राजा उसके शक्तिशाली शत्रु के आक्रमण करने पर ही क्या हाथी, घोड़े, रथ आदि की चतुरंगिणी सेना का गठन करता है, अथवा उससे पूर्व ही? इसका सीधा सा उत्तर है—उससे पूर्व ही। तो जिस प्रकार यह राजनीति है कि किसी राज्य के अधीश्वर को अपनी चतुरंगिणी सेना को सुगठित, सुसज्जित और किसी भी शत्रु के आक्रमण को निरस्त करने योग्य सदा सुसज्जित रखना चाहिये, ठीक उसी प्रकार राज्य व्यवहार ही की भांति हमारा धर्म व्यवहार भी है 'कि छोटे से छोटे अदृश्य जीव तक की रक्षा के लिए हम लोग परिमार्जन आदि सभी प्रकार की क्रियाएं करने में, प्राणियों की यतना करने में सदा तत्पर रहें।"

आचार्यश्री की अद्भुत प्रत्युत्पन्नमति के द्योतक इस युक्ति संगत उत्तर से कुमारपाल इतना प्रसन्न हुआ कि वह उसी समय सांजलि शीश झुकाते हुए प्रार्थना करने लगा—"आचार्य देव! राज्यारोहण से पूर्व आपके समक्ष की गई अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए मैं यह विशाल गुर्जर राज्य आपको सादर समर्पित करता हूं। कृपा कर आप इसे ग्रहण कीजिये।"

इस प्रकार कुमारपाल द्वारा पूर्व में की गई राज-प्रदान की बात को पुनः सुनकर हेमचन्द्राचार्य ने कहा—"राजन्! मैंने उसी समय कहा था कि सर्वस्य त्यागी हमारे जैसे अध्यात्म पथ के पथिकों को राज्य की बात तो दूर, धर्मोपकरण के अतिरिक्त किसी भी प्रकार के परिग्रह से कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि किसी भी प्रकार का परिग्रह और विशेषतः राज्य तो अन्ततोगत्वा नरक में ही ढकेलने वाला है। पुराणों में भी राज्य को घोर दुखदायी ही बताया है। यथा—

राजप्रतिग्रहदग्धानां, ब्राह्मणानां युधिष्ठिरः।
दग्धानां इव बीजानां, पुनर्जन्म न विद्यते ।।

अर्थात् जिस प्रकार जला हुआ बीज पुनः अंकुरित नहीं होता ठीक उसी प्रकार छोटे-बड़े किसी भी प्रकार के राज्य की बागडोर सम्भालने वाले ब्राह्मण कल्पान्त-काल तक कभी न तो फूलते हैं और न फलते ही हैं। इसी प्रकार जिनेश्वर प्रभु ने भी राज्य को, राजपिंड को अनन्त-अनन्त काल तक भवाटवी में भटकाने वाला बताया है।"

श्री हेमचन्द्रसूरि के अद्भुत त्याग और उत्कृष्ट अनासक्ति से ओतप्रोत वचन को सुनकर महाराज कुमारपाल के अन्तर्मन में उनके प्रति पूर्वापेक्षया शत-गुणित श्रद्धा उत्पन्न हो गई।

कतिपय दिनों तक मालव प्रदेश में रहने के अनन्तर कुमारपाल ने अपनी सेना के साथ अणहिल्लपुर पट्टण की ओर प्रस्थान किया और उसकी प्रार्थना पर आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि ने भी पट्टण की ओर विहार किया। कतिपय दिनों के प्रयाण और विहार क्रम के अनन्तर कुमारपाल अपनी सेना के साथ और आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि अपने शिष्य वृन्द के साथ अणहिल्लपुर पट्टण पहुंचे।

अब तो कुमारपाल प्रति दिन आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि के दर्शन एवं प्रवचन-श्रवण का लाभ लेने लगा। उसने आचार्य श्री की प्रेरणा से कुछ काल के लिये मद्य-मांस के सेवन नहीं करने का व्रत लिया। महाराज कुमारपाल के अन्तर्मन में हेमचन्द्रसूरि के प्रति श्रद्धा उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। और वह उन्हें ही अपना महर्षि, पिता, गुरु, और इष्टदेव मानने लगा।

एक दिन कुमारपाल ने आचार्यश्री के समक्ष अपनी आन्तरिक इच्छा व्यक्त करते हुए प्रश्न किया :—"महात्मन् ! क्या किसी उपाय से मेरी कीर्त्ति भी युग युगान्तरों तक स्थायी हो सकती है ?"

"अभी महाराजा कुमारपाल के मन में अपने वंश परम्परागत धर्म कार्यों के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा है।" यह विचार कर श्री हेमचन्द्रसूरि ने कहा—"हां राजन् ! इसके तो अनेक उपाय हैं। विक्रमादित्य के समय सम्पूर्ण पृथ्वी को ऋणमुक्त बनाकर जो सोमनाथ का मन्दिर बनाया गया था, कालान्तर में समुद्र की लोल तरंगों से अहर्निश उठते हुए जलकणों से सोमनाथ का वह काष्ठमय मन्दिर क्षीणप्राय हो चुका है, उसका उद्धार कर उसे एक चिरस्थायी मन्दिर का रूप प्रदान कर तुम विपुल कीर्त्ति अर्जित कर सकते हो।"

आचार्य हेमचन्द्रसूरि की इस बात को सुनकर उसने सोमेश्वर के मन्दिर का पुनरुद्धार प्रारम्भ करवाया।

आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि के प्रति महाराजा कुमारपाल की उत्तरोत्तर प्रगाढ़ से प्रगाढ़तर होती जा रही श्रद्धा भक्ति को देखकर कतिपय ईर्ष्यालु स्वभाव के

व्यक्ति यह सोचने लगे कि राजा को हेमचन्द्रसूरि से किस प्रकार रुष्ट किया जाय। एक दिन पृष्ठमांसभोजी मच्छर की भांति पीठ पर ही निन्दा करने वाले एक चाटुकार ने महाराजा कुमारपाल से कहा :—"महाराज ! यह श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रसूरि केवल आपको प्रसन्न रखने के लिये ही आपके मन को भाने वाली बातें किया करते हैं। वस्तुतः इनकी सोमेश्वर के प्रति किंचित्मात्र भी श्रद्धा-भक्ति नहीं है। और न ये भगवान् शंकर को कभी नमस्कार ही करते हैं। आप उन्हें सोमेश्वर की यात्रा के लिये कहकर देख लीजिये। आपको तत्काल हमारी बात पर विश्वास हो जायगा।"

चाटुकारों की बातों में आकर कुमारपाल ने दूसरे दिन आचार्यश्री से अपने साथ सोमेश्वर की यात्रा का प्रस्ताव रखते हुए उन्हें निवेदन किया—"आप भी तीर्थ यात्रा के लिये पधारिये।"

आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि को वस्तुस्थिति पहचानने में क्षण मात्र भी विलम्ब नहीं हुआ। उन्होंने कहा :—"राजन् ! भूखे को भोजन के लिये निमन्त्रण देते समय आग्रह की आवश्यकता नहीं रहती। तपस्वी तो तीर्थों के अधिकारी होते ही हैं। हम अवश्य चलेंगे।"

कुमारपाल ने कहा :—"मैं आपके लिये सुखासन आदि की सम्पूर्ण सुखद व्यवस्था करवा दूँ ?"

आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि ने कहा :—"नहीं राजन् ! इसकी कोई आवश्यकता नहीं। हम तो पदयात्रा करते हुए ही इस पुण्य का उपार्जन करेंगे।"

सोमदेव की यात्रा पर निकले राजा ने सोमनाथ के मन्दिर में प्रवेश करते ही भगवान् शिव के लिंग को साष्टांग प्रणाम कर बार-बार उनके समक्ष मस्तक झुकाया। राजा कमारपाल के मन में चाटुकार चुगलखोरों द्वारा यह बात अच्छी तरह से जमा दी गई थी कि ये श्वेताम्बर साधु जिनेन्द्र भगवान् के अतिरिक्त और किसी को नमस्कार नहीं करते। इस बात की परीक्षा के लिये उसने हेमचन्द्रसूरि से निवेदन किया :—"महात्मन् ! भगवान् सोमनाथ की पूजा के लिये यह विपुल सामग्री जो मेरे साथ आई है, उससे आप ही पूजा कीजिये।"

"ऐसा ही होगा।" कहते हुए श्री हेमचन्द्राचार्य सोमेश्वर के लिंग के पास पहुंचे। नेत्रों को विस्फारित कर दसों दिशाओं में दृष्टि प्रसार करते हुए उन्होंने कहा—"अहो ! यहां तो इस मन्दिर में कैलाशपति महादेव साक्षात् विराजमान हैं। अतः जो पूजा सामग्री यहां प्रस्तुत की गई है, उससे दुगुनी कर दी जाय।"

श्री हेमचन्द्राचार्य ने अपनी अत्यन्त भावविभोर ऐसी मुद्रा में अपने ये आन्तरिक उद्‌गार अभिव्यक्त किये कि उनका रोम-रोम पुलकित हो उठा। तत्काल और

सामग्री प्रस्तुत की गई और आचार्य श्री ने शिव पुराण में निर्दिष्ट विधि के अनुसार आह्वानन, कवगुण्ठन, मुद्रा, मन्त्र आदि का उच्चारण करते हुए परिपूर्ण विधि के साथ उस सामग्री से शिव का अर्चन किया और अन्त में निम्नलिखित दो श्लोकों का तारस्वर से घनरव गम्भीर, मृदु मंजुल, सम्मोहक वाणी में उच्चारण करते हुए अपार जन समूह के समक्ष साष्टांग प्रणाम किया :—

"यत्र तत्र समये यथा तथा
योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया ।
वीतदोषकलुष स चेद्‌भवा–
न्नेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते ।।१।।
भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा महेश्वरो (हरो जिनो) वा नमस्तस्मै ।।२।।

अर्थात् हे भगवन् ! विभिन्न दर्शनों द्वारा विभिन्न समय में आपको चाहे किन्हीं विभिन्न नामों से अभिहित किया गया हो पर यदि आप समस्त दोषों और कर्मकलुष से पूर्णतः विनिर्मुक्त हैं तो आप वे ही विश्ववन्द्य भगवान् हैं । मैं आपको नमस्कार करता हूं । जन्म मरण के अंकुर स्वरूप रागद्वेषादि दोष जिनके मूलतः नष्ट हो चुके हैं, उन भगवान् को मैं भक्तिसहित नमन करता हूं, चाहे उन का नाम ब्रह्मा हो, विष्णु हो, सोमेश्वर हो अथवा जिनेश्वर ।"

आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि द्वारा शिव की पूजा के पश्चात् महाराज कुमारपाल ने बृहस्पति द्वारा बताई हुई विधि के अनुसार सोमेश्वर की पूजा की और तत्काल राजा ने धर्मशिला पर तुला पुरुष, गजदान आदि अनेक प्रकार के महादान दिये । तत्पश्चात् कपूर से शंकर की आरती उतार कर कुमारपाल ने वहां उपस्थित राज्याधिकारियों एवं अन्य सभी लोगों को थोड़े समय के लिये बाहर रहने का निर्देश दिया । सभी लोगों के यहां तक कि पुजारियों तक के बाहर चले जाने के अनन्तर कुमारपाल ने आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि के साथ मन्दिर के गर्भगृह में प्रवेश किया । वहां बैठकर अतीव विनम्र स्वर में निवेदन करना प्रारम्भ किया—"हे आचार्य देव ! संसार में महादेव के समान और कोई देव नहीं है । न कोई मेरे समान राजा है । और न आपके समान कोई महर्षि । पूर्वोपार्जित पुण्य के प्रताप से ही यहां इस प्रकार तीनों का संयोग मिला है । सभी दर्शन अपने-अपने आराध्यदेव का एक दूसरे से भिन्न अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार स्वरूप बताते हैं । इसलिये वस्तुतः इन सब दर्शनों ने मिलकर परमेश्वर के स्वरूप को संदिग्ध कर दिया है । इसीलिए इस तीर्थ स्थान में मैं अपने आन्तरिक उद्‌गार आपके समक्ष प्रकट करते हुए आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप उस सत्य देवाधिदेव भगवान् का और उस धर्म का स्वरूप मुझे बताइये जो वस्तुतः मुक्ति देने वाला है ।"

आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि ने कुछ क्षण राजा की मुख मुद्रा पर दृष्टि जमाये विचार कर कहा—"राजन् ! पुराणों और विभिन्न दर्शनों की कोई बात न कहकर मैं सोमेश्वर को ही तुम्हें प्रत्यक्ष में दिखाता हूं, जिससे कि तुम स्वयं उनके मुख से ही मुक्ति के मार्ग को सुन और समझ सको।"

"क्या सोमेश्वर देव के साक्षात् दर्शन भी सम्भव हैं ?" इस प्रकार के विस्मय सागर में निमग्न कुमारपाल को हेमचन्द्रसूरि ने कहा—"राजन् ! हम दोनों का देव यहां अदृष्य रूप में विद्यमान है। यदि हम दोनों निश्चल, निष्छल मुद्रा में एकाग्र मन से उसकी आराधना करें तो हमें सहज ही देव के दर्शन हो सकते हैं। मैं ध्यान मग्न हो उस देव का आह्वान करता हूं। आप काले अगुरु का धूप कीजिये। आप काले अगर का तब तक धूप देते रहना जब तक कि सोमेश्वर स्वयं यहां प्रकट होकर तुम्हें धूप देने का निषेध न करें।"

तदनन्तर आचार्य ने पद्मासन लगा चित्त को एकाग्र कर ध्यान लगाया और कुमारपाल ने काले अगर का अग्नि पर धूप देना प्रारम्भ किया। राजा द्वारा इस प्रकार निरन्तर धूप दिये जाने पर गर्भ गृह काले अगरु के धूम्र के घटाटोप से आच्छन्न हो गया और समस्त दीपशिखाएं बुझ गई। गर्भ गृह में घनान्धकार का एक दम साम्राज्य व्याप्त हो गया। इस प्रकार के घनान्धकार में राजा को प्रकाश प्रकट होता हुआ दिखाई दिया। राजा ने तत्काल धूम्र से पूरित अपनी आंखों को करतल युगल से मसलकर ज्योंही आखें खोलीं तो सोमेश्वर के लिंग पर गिरती हुई जलधारा पर विशुद्ध जाम्बुनद जाति के स्वर्ण की क्रान्ति वाला, चर्म चक्षुओं से दुरवलोकनीय अप्रतिम अनुपम मनोहारी स्वरूप वाला एक तपस्वी उसे दृष्टिगोचर हुआ। कुमारपाल ने उसे पैर से लेकर जटाजूट तक स्पर्श किया और जब उसे यह विश्वास हो गया कि यहां देवाधिदेव प्रकट हुए हैं तो उसने साष्टांग प्रणाम करते हुए निवेदन किया—"हे जगदीश्वर ! आपके दर्शनों से मेरी दोनों आंखें पवित्र हो गई। अब आप मुझे आदेश देकर मेरे कर्ण युगल को भी कृतार्थ कर दीजिये।

तत्काल उस दिव्य तपस्वी के मुख से दिव्य ध्वनि प्रकट हुई—"राजन् ! यह महर्षि सब देवताओं का अवतार है। भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल के भाव को हथेली पर रक्खे हुए मोती की भांति देखने जानने वाला ब्रह्मज्ञानी है। यह जो तुम्हें बताये वही असंदिग्ध एवं सच्चा मुक्ति-मार्ग है।

इस प्रकार कहकर शंकर के अदृश्य हो जाने पर कुमारपाल उनमना हो गया। उसी समय प्राणायाम द्वारा निरुद्ध पवन को निश्वास के रूप में छोड़ते हुए आसनबन्ध को शिथिल करते हुए आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि ने कुमारपाल को 'राजन् !' इस सम्बोधन से सम्बोधित किया। कुमारपाल को अपने इष्टदेव के मुख से आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि का वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो गया था। अतः उसने

अपने राज राजेश्वरत्व के अभिमान को जलांजलि दे हेमचन्द्रसूरि के चरणों में अपना मस्तक रखते हुए अति विनम्र स्वर में कहा—"आज्ञा कीजिये भगवन् !"

कुमारपाल ने उसी समय जीवन भर के लिये मांस और मदिरा का त्याग कर दिया। तदनन्तर आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि और कुमारपाल दोनों ही गर्भगृह से निकल कर सोमेश्वर के मन्दिर से बाहर आये और उन्होंने पत्तन की ओर प्रयाण कर दिया।

कुमारपाल को सम्यक्त्व प्राप्ति

सोमेश्वर से अणहिल्लपुर पट्टण आने के पश्चात् कुमारपाल नित्य नियमित रूप से आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि के प्रवचनों को सुनने लगा। स्वल्प काल में ही उसे जिनवाणी के श्रवण से जैन धर्म पर प्रगाढ़ श्रद्धा हो गई। सर्वप्रथम महाराज कुमारपाल ने अपने सम्पूर्ण राज्य में अमारि की घोषणा करवा दी।

कालान्तर में उसने श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किये। एक समय अदत्तादान विरमण नामक तृतीय व्रत के विवेचन को आचार्य श्री के मुख से सुनते ही कुमारपाल ने तत्काल अपुत्रक मृति कराधिकारी (अपुत्रावस्था में मृत नागरिक की सम्पत्ति को मृति कर के रूप में राज्यकोषायत करने वाले कराधिकारी) को बुलाया और इस प्रकार के कर को निरस्त करने की आज्ञा प्रदान करते हुए महाराज कुमारपाल ने इस प्रकार के कर की आनुमानित वसूली के ७२ लाख रजत-मुद्राओं की राशि के पत्रों को तत्काल नष्ट कर दिया।

इस कर के निरस्त किये जाने पर कुमारपाल की यशोगाथाएं दिग्दिगन्त में निम्नलिखित श्लोक के रूप में गुंजरित हो उठीं :

अपुत्राणां धनं गृह्णन्, पुत्रो भवति पार्थिवः।
त्वं तु सन्तोषतो मुंचन्, सत्यं राजपितामह ।।

अर्थात् पुत्र विहीन लोगों के मरने पर उनके धन को ग्रहण करने वाला राजा उस मृतक का पुत्र हो जाता है। किन्तु हे कुमारपाल ! तुमने सन्तोष धारण कर इस प्रकार के धन को ठुकरा दिया है। अतः तुम सही अर्थों में राजपितामह हो।

पुत्र विहीन नागरिक की मृत्यु हो जाने के अनन्तर उसके धन को मृतिकर के रूप में राज्य द्वारा ले लिये जाने विषयक गुर्जर राज्य के विधान को महाराज कुमारपाल ने किस कारण निरस्त किया, इस सम्बन्ध में आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि द्वारा रचित "द्व्याश्रय काव्य" प्रकाश डालता है, जो इस प्रकार है :—

"एक समय महाराज कुमारपाल अपने शयनकक्ष में निद्राधीन थे। मध्यरात्रि में उनके कर्णरन्ध्रों में किसी के करुण क्रन्दन की हृदय विदारक ध्वनि गूंज उठी। कुमारपाल चौंक कर उठा और उसने अनुभव किया कि दूर से किसी स्त्री के करुण क्रन्दन की ध्वनि आ रही है। तत्क्षण उसके मन में विचार आया कि प्रजा के सुख-दुःख का वस्तुतः "राजा कालस्य कारणम्" इस नीति वाक्य के अनुसार ध्यान रखना राजा का परम कर्त्तव्य है, ऐसा कौन दुःखी प्राणी है जो अर्द्ध-रात्रि के समय इस प्रकार करुण क्रन्दन कर रहा है। वह तत्काल अपनी शय्या से उठा। एक साधारण जन जैसे वस्त्र पहने और चुपचाप दबे पांव उस ओर बढ़ गया जिस ओर से कि उस करुण क्रन्दन की ध्वनि आ रही थी। अर्द्ध-रात्रि की निस्तब्धता में उनींदे प्रहरियों की दृष्टि बचाता हुआ राजा नगर के बाहर निकला और क्रन्दन की ध्वनि को लक्ष्य कर आगे बढ़ता गया। तीव्र गति से पर्याप्त पथ पार करने के अनन्तर कुमारपाल ने निर्जन वन में देखा कि एक नारी एक वृक्ष के नीचे बैठी हुई करुण क्रन्दन कर रही है। उसके हाथों में स्वर्ण कंकण हैं किन्तु शोक और रुदन के कारण उसका मुख मलिन हो गया है। उसके समीप जाकर राजा ने सम्वेदना भरे नम्र स्वर में पूछा :—"बहिन ! तुम इस निर्जन वन में इस समय किस कारण करुण क्रन्दन कर रही हो ? क्या किसी ने तुम्हारे साथ धोखा कर तुम्हें इस भयावह वन में एकाकिनी छोड़ दिया है अथवा क्या किसी ने तुम पर किसी प्रकार का अत्याचार किया है ? जो भी बात हो मुझे स्पष्ट कहो।"

उस स्त्री ने क्षण भर के लिये उसकी ओर दृष्टिपात किया और अपने प्रति सहानुभूति प्रकट करने वाले उस भद्र पुरुष से कहा :—"बन्धु ! मैं थी तब तो सब कुछ थी, किन्तु आज मैं कुछ भी नहीं हूं। मैं अबला अपने जीवन से ऊब चुकी हूँ। मेरी व्यथाभरी कहानी सुनकर तुम क्या करोगे ?"

कुमारपाल ने फिर कहा :—"बहिन ! धूप और छाया की भांति सुख और दुःख प्राणिमात्र के पीछे लगे हुए हैं। अतः साहस से काम लो। हताश होने से कोई भी समस्या हल नहीं होती है और अधिक उलझती है। मुझे स्पष्ट शब्दों में बताओ कि तुम कौन हो और तुम्हें क्या दुःख है ? यथा शक्ति मैं तुम्हारे दुःख को दूर करने का प्रयास करूंगा।"

उस महिला ने कुमारपाल के दयामिश्रित सान्त्वनाभरे शब्दों को सुनकर कहना प्रारम्भ किया :—"भाई ! मेरा पति इस गुर्जरदेश का प्रमुख व्यापारी था। समुद्री मार्ग से अनेक देशों में व्यापार कर उसने विपुल धन संचय किया। हमारे एक पुत्र भी हुआ। उसे पढ़ा लिखाकर अपने पैतृक व्यवसाय में भी लगाया और एक कुलीना रूपसी कन्या के साथ उसका

विवाह भी कर दिया। जिस समय मेरे पुत्र की आयु बीस वर्ष की हुई, उस समय मेरे पति का सहसा अवसान हो गया। हमारे छोटे से परिवार पर विपत्ति के बादल छा गये। मेरा पुत्र इस अनभ्र वज्रपात के आघात को नहीं सह सका और वह भी मुझ अबला को अवलम्बविहीन छोड़कर इस संसार से चल बसा। यह राज्य का नियम है कि पुत्रविहीन व्यक्ति की सब सम्पत्ति पर राज्य द्वारा अधिकार कर लिया जाता है। मेरा पति नहीं रहा तथा मेरा प्राणप्रिय पुत्र भी चला गया और अब मेरा विपुल धन भी राज्य द्वारा अधिकार में कर लिया जायगा। अतः मुझे इस संसार के प्रति कोई आकर्षण नहीं रहा। मेरे शोक के अश्रुओं से भीगा हुआ यह धन राज्यकोष में चला जायगा। इसी दुःख के कारण मैं रो रही हूं। मुझे अब अपने जीवन से किसी प्रकार का मोह नहीं है। तुम अपने रास्ते जाओ और मैं अपने संकल्प के अनुसार अपना कार्य करती हूं। यह कहते हुए वह महिला द्रुतवेग से उठी और उस वृक्ष पर लटकाये हुए फांसी के फन्दे को अपने गले में डालने का चिन्तापूर्वक उपक्रम करने लगी। कुमारपाल विद्युत् वेग से उस फन्दे की ओर बढ़ा और उसने अपनी तलवार के बार से उसे काट डाला। वह अबला अवाक् खड़ी उसके मुख की ओर देखती ही रह गई। कुमारपाल का हृदय द्रवित हो उठा। वह मन ही मन स्वयं को धिक्कारता हुआ सोचने लगा—पति-पुत्र विहीना निस्सहाया विधवा का जीवनाधार एकमात्र अर्थ ही तो होता है। इस प्रकार की अनाथ अबलाओं के प्राणों के एकमात्र सम्बल धन को लेने वाले 'राजा' शब्द को कलंकित करने वाले मेरे जैसे राजा को धिक्कार है। उसने सान्त्वनाभरे शब्दों से उस महिला को आश्वस्त करते हुए कहा :—"बहिन ! तुम सब प्रकार के शोक को त्याग कर अपने घर जाओ। अब तुम्हारे जीवन सर्वस्व धन पर कोई हाथ नहीं डालेगा।"

उस महिला ने उपेक्षापूर्ण मुद्रा में कहा :—"बन्धु ! ऐसा प्रतीत होता है कि तुम पाटन के रहने वाले नहीं हो। किसी दूसरे देश से आये हुए पथिक हो। यहां के राज्य का जो नियम है, वह तुम्हें विदित नहीं है। मेरा धन तो अब राज-भण्डार में ही शोभा देगा। आंसुओं से भीगे इस धन के लिये राजकोष के अतिरिक्त अन्य कोई स्थान नहीं है। इस नियम को टालने वाला कोई नहीं है। बन्धु, तुम अपनी राह पकड़ो।" कुमारपाल ने पुनः उसे आश्वस्त करते हुए कहा :—"बहिन ! मैं ही वह कुमारपाल हूं। तुम आश्वस्त हो अपने घर को लौट जाओ। अब तुम्हारे धन को कोई छूएगा भी नहीं।"

१८ देशों में अमारि की घोषणा कर करोड़ों अनगिनत मूक पशुओं को अभयदान देने वाले दयालु राजा कुमारपाल को अपने समक्ष खड़े

देखकर उस विधवा अबला के आश्चर्य का पारावार नहीं रहा। उसने पृथ्वी पर अपना मस्तक रखते हुए कुमारपाल को प्रणाम किया।

अर्द्ध-रात्रि के अन्धकार में एक अबला के समक्ष प्रकट किये गये कुमारपाल के ये उद्‌गार सूर्योदय होते-होते उस अबला के माध्यम से अणहिल्लपुर पट्टण के आबाल वृद्ध प्रजाजनों के कण्ठहार बन गये।

गुजरात उन दिनों देश-विदेश से व्यापार का केन्द्र होने के कारण अतीव समृद्धिशाली प्रदेश था। इसमें कुबेरोपम अपार सम्पत्ति के स्वामी समृद्धिशाली श्रेष्ठियों की संख्या गणनातीत थी। इस प्रकार के समृद्धिशाली राज्य में मृतिकर से राज्य को विपुल धनराशि का लाभ होता था। किन्तु इस घटना ने कुमारपाल के अन्तर्मन को आन्दोलित कर दिया। सम्भव है उसके सम्बन्धित मन्त्रियों ने राज्य को इस स्रोत से होने वाली आय का स्मरण भी दिलाया होगा किन्तु कुमारपाल ने यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि चाहे लाखों ही नहीं करोड़ों की हानि भी राज्य को क्यों न हो जाय, वह इस प्रकार के प्रजापीडक कर को निरस्त करके ही रहेगा।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कुमारपाल ने अदत्तादान विरमण व्रत को अपने गुरु आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि से ग्रहण करते समय इस कर को पूर्ण रूप से सदा के लिये निरस्त कर दिया।

जिनशासन के अभ्युत्थान, उत्कर्ष, प्रचार और प्रसार की तीव्र अभिलाषा लिये कुमारपाल ने हेमचन्द्रसूरि से प्रार्थना की कि वे उत्कृष्ट कोटि के साहित्य का निर्माण कर जिनशासन के साहित्य भण्डार की शोभा बढ़ावें। कुमारपाल की प्रार्थना को स्वीकार कर हेमचन्द्रसूरि ने उत्कृष्ट कोटि के जैन साहित्य का निर्माण करना प्रारम्भ किया। राजा ने विशाल भारत के विभिन्न राज्यों से प्राचीन ग्रन्थों को मंगवा कर उन्हें आचार्यश्री को समर्पित किया ताकि उनको साहित्य के निर्माण में सहायता मिले। प्राचीन साहित्य के संकलन हेतु कुमारपाल ने काश्मीर राज्य तक से प्राचीन ग्रन्थों का विशाल साहित्य भण्डार अपने हाथियों पर लदवा कर मंगवाया।

साहित्य निर्माण के लिये परमावश्यक प्रामाणिक एवं प्राचीन सामग्री के उपलब्ध हो जाने पर हेमचन्द्रसूरि ने 'त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र' नामक अति विशाल महाकाव्य की रचना की जिसमें ऋषभादि महावीरान्त चौबीसों तीर्थंकरों, उनके गणधरों, बारह चक्रवर्त्तियों, नौ वासुदेवों, नौ बलदेवों और नौ प्रतिवासुदेवों के जीवन चरित्र विस्तारपूर्वक अति सुगम एवं रोचक शैली में दिये गये है। आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने मानव मात्र के लिये परमोपयोगी लोक शास्त्र की रचना की। हेमचन्द्रसूरि द्वारा रचित साहित्य अतिविशाल था। उनके द्वारा रचित जो ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध हैं, उनके नाम आचार्यश्री के जीवन वृत्त में उल्लिखित किये जा चुके हैं।

परमार्हत् महाराजा कुमारपाल ने अपने अधीनस्थ अट्ठारह देशों में चौदह वर्ष के लिये अमारि की घोषणा कर जैनधर्म के आधारभूत सिद्धान्त अहिंसा के प्रति जन-जन के मन में अनुराग उत्पन्न किया। इस प्रकार का प्राणी मात्र के प्रति करुणा एवं मैत्रीभाव का उदाहरण अनेक शताब्दियों के भारत के इतिहास में अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। उन १८ देशों में कुल मिलाकर चौदह सौ चालीस अति भव्य विहारों का निर्माण भी कुमारपाल ने करवाया। उन १८ देशों के नाम इस प्रकार हैं :—

कर्णाटे, गुर्जरे, लाटे, सौराष्ट्रे, कच्छ, सैन्धवे ।
उच्चायां, चैव भम्भेर्यां, मारवे, मालवे, तथा ।।१।।
कौंकणे च, महाराष्ट्रे, कीरे, जालन्धरे पुनः ।
सपादलक्षे, मेवाड़े, दीपाभीराख्ययोरपि ।।२।।

चालुक्य चूड़ामणि महाराजा कुमारपाल द्वारा अपने अधीनस्थ १८ देशों में की गई अमारि की घोषणा ऐसी सुन्दर ठोस एवं अनुल्लंघनीया थी और उस अमारि की परिपालना के लिये उसने अपने शासित विशाल भू-भाग पर इस प्रकार की सुदृढ़ एवं पूर्ण संवेदनशील व्यवस्था की थी कि छोटे से छोटे जीव-जन्तु तक को उस अमारि की घोषणा के पश्चात् जान-बूझ कर मारने पर अपराधी को तुरन्त दण्डित कर दिया जाता था। छोटे से छोटा अपराधी भी दण्ड से बच नहीं सकता था। इसका एक बड़ा ही रोचक एवं ऐतिहासिक तथ्य के रूप में परिपुष्ट प्रमाण विक्रम सं० १३६१ की, एक लब्धप्रतिष्ठ आचार्य मेरुतुंगसूरि की कृति, प्रबन्ध चिन्तामणि में आज भी उपलब्ध है।

अपने अधीनस्थ १८ देशों में कुमारपाल द्वारा उपर्युल्लिखित अमारि की घोषणा किये जाने के कुछ ही समय पश्चात् की घटना है कि सपादलक्ष देश के एक धनी-मानी श्रेष्ठि ने केशसम्मार्जन के समय अपनी पत्नी द्वारा उसके हाथ में रखी गई यूका (जूँ) को यह कहते हुए मसल कर मार डाला कि इसने मेरी प्रिया को बड़ी पीड़ा पहुंचाई है। उस यूका के मारने की बात स्थानीय पंचकुल (पंचायत) के प्रधान एवं सदस्यों को बालकों अथवा और किसी के माध्यम से तुरन्त ज्ञात हो गई। पंचों ने तत्काल उस श्रेष्ठि से पूछा कि क्या उसने यूका को जान-बूझ कर मारा है ? श्रेष्ठि द्वारा अपना दोष स्वीकार किये जाने पर पंचकुल उस श्रेष्ठि को अपने साथ ले अनहिलपुर पत्तन पहुंचा और उसने उसे महाराज कुमारपाल के समक्ष उपस्थित किया।

कुमारपाल ने श्रेष्ठि से प्रश्न किया :—"क्या यह सच है कि अमारि की घोषणा के उपरान्त भी जान-बूझ कर तुमने एक छोटे से निरीह, मूक प्राणी की हिंसा की है ?"

श्रेष्ठि ने अपना दोष स्वीकार करते हुए कहा—"हां, महाराज ! मैंने विनोदपूर्ण मुद्रा में अपनी प्राणेश्वरी को प्रसन्न करने के लिये उस छोटे से प्राणी को

मसल कर मार डाला था। इस बात का मुझे पश्चात्ताप हो रहा है और मैं अपने इस दोष का प्रायश्चित्त करने के लिये व्यग्र हूं। मैंने जैन कुल में जन्म लिया है, जैन संस्कारों में मेरा पालन-पोषण एवं संवर्द्धन हुआ है। यदि अमारि की घोषणा नहीं होती तो भी मुझे एक जैन होने के नाते किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये थी। अमारि की घोषणा के अनन्तर तो मैंने हास्यास्पद भावावेश में इस प्रकार की साधारण जीवहिंसा कर वस्तुतः राजाज्ञा के उल्लंघन का अपराध किया है। मैं दण्ड का भागी हूं।"

महाराज कुमारपाल ने कहा—"पाप का प्रायश्चित्त पुण्यार्जन से होता है। तुम्हारे द्वारा उपार्जित द्रव्य से एक विहार का निर्माण करवा दिया जाय, यही तुम्हें राजाज्ञा के उल्लंघन का दण्ड है। उस विहार में चिरकाल तक धर्माराधन होता रहेगा और उससे तुम्हें पुण्य का लाभ होगा।"

सपादलक्ष देश के उस श्रेष्ठि ने राजादेश को सहर्ष स्वीकार करते हुए विहार-निर्माण हेतु विपुल धनराशि दण्ड के रूप में राज्य के निर्माण प्राधिकरण को समर्पित की और उस धनराशि से पत्तन में एक विशाल एवं भव्य विहार का निर्माण करवाया गया। उस विहार का नाम "यूका-विहार" रखा गया। इससे कुमारपाल की अहिंसा के प्रति प्रगाढ़ प्रीतिपूर्ण आस्था के साथ-साथ उसकी सुन्दर ठोस एवं प्रभावपूर्ण शासन व्यवस्था प्रणाली का भी परिचय प्राप्त होता है।

कुमारपाल ने स्वयं द्वारा अज्ञातावस्था में हुई जीव हिंसा के लिये भी इसी प्रकार का प्रायश्चित्त करते हुए अपनी राजसभा में कहा—"वन में भटकते समय मैंने एक मूषक द्वारा अपने बिल के बाहर रखी गई उसकी २० रजत मुद्राओं को उठा लिया था। अपने धन के अपहरण से उस मूषक के हृदय पर ऐसा गहरा आघात हुआ कि वह तत्काल छटपटा कर मर गया। मेरे कारण उस मूषक की मृत्यु हुई अतः अपने उस पाप के प्रायश्चित्तस्वरूप मेरे अपने द्रव्य से एक विशाल विहार का निर्माण करवाया जाय और उस विहार का नाम "मूषक-विहार" रखा जाय। "अपने इस संकल्प के अनुसार महाराज कुमारपाल ने अनहिलपुर पत्तन में अपने निजी कोष से एक भव्य 'मूषक-विहार' का निर्माण करवाया।

कुमारपाल की कृतज्ञता के अनेक उदाहरण ऊपर बताये जा चुके हैं। साधारण से साधारण उपकार करने वाले के प्रति भी उसने कृतज्ञता प्रकट की इसका ज्वलन्त प्रमाण है कुमारपाल द्वारा बनवाया गया "करम्ब-विहार"। अपने प्राणों की रक्षा के लिये कुमारपाल जिस समय वन-वन में भटक रहा था, उस समय तीन दिन तक उसे कहीं भोजन नहीं मिला था। उस समय श्वसुर गृह से अपने पितृगृह को पालकी में बैठकर जा रही एक ईभ्य कुल की महिला ने तीन दिन के भूखे कुमारपाल को अति स्वादिष्ट करम्ब आदि पक्वान्न का भोजन करवाया था।

विशाल गुर्जरराज्य के राजसिंहासन पर आसीन होने के उपरान्त भी कुमारपाल उस महिला द्वारा खिलाये गये करम्ब को नहीं भूला और उस घटना की स्मृति में उसने अनहिलपुर पत्तन में करम्ब विहार का निर्माण करवाया।

एक समय चरों ने कुमारपाल के समक्ष उपस्थित होकर निवेदन किया कि सौराष्ट्र के 'सूंवर' नामक सामन्तराज ने विद्रोह प्रारम्भ कर दिया है। महाराज कुमारपाल ने अपने मन्त्रीश्वर उदयन को एक सेना देकर 'सूंवर' को दण्ड देने के लिये भेजा। उदयन अपनी सेना के साथ सौराष्ट्र की ओर त्वरित वेग से बढ़ा। वर्द्धमानपुर में आकर उसने भगवान् ऋषभदेव को वन्दन करने की इच्छा से विमलगिरि की ओर प्रयाण किया। वहां जिन मन्दिर में वन्दन करते समय उसने देखा कि एक चूहा दीपक की जलती हुई बाती को मुख में लिये उस काष्ठ निर्मित जिनालय के एक बिल में प्रवेश करने जा रहा है और एक पुजारी ने दौड़कर चूहे के मुख से जलती हुई उस बत्ती को बाहर गिरा दिया है। यह देखकर मन्त्रिवर उदयन के मन में बड़ी चिन्ता उत्पन्न हुई कि यह काष्ठ निर्मित जिनालय इस प्रकार के अग्नि प्रकोप से किसी भी समय भस्मीभूत हो सकता है। उसने उसी क्षण निश्चय किया कि वह शत्रुंजय के उस देव मन्दिर का और शकुनिका विहार का पुनरुद्धार करवाएगा। इस प्रकार के संकल्प के साथ अपने सैनिक शिविर में लौटकर अपने शत्रु से संग्राम करने हेतु आगे की ओर प्रयाण किया। सूंवर ने अपनी शक्तिशाली सेना के साथ अकस्मात् ही आक्रमण कर पाटन की सेना को परास्त कर दिया। अपनी सेना की दुर्दशा देख उदयन सूंवर की ओर बढ़ा और वहां उन दोनों के बीच जमकर युद्ध हुआ। अपने सेनापति को शत्रु से जूझते हुए देखकर पत्तन की सेना में नवीन उत्साह की लहर जागृत हो उठी और उसने शत्रु सेना पर अति भीषण वेग से प्रत्याक्रमण किया। सूंवर की सेना नष्ट-भ्रष्ट एवं छिन्न-भिन्न हो गई और सूंवर रणांगण से भाग खड़ा हुआ। उदयन को विजयश्री तो प्राप्त हुई किन्तु शस्त्रों के प्रहारों से उसका सम्पूर्ण शरीर गम्भीर रूप से आहत हो गया था। प्राथमिक चिकित्सा के पश्चात् गम्भीर रूपेण आहत मन्त्रीश्वर उदयन को उसके घर पहुंचाया गया। उदयन ने अपने आत्मीयजनों के समक्ष करुण क्रन्दन करते हुए विलाप करना प्रारम्भ किया। इससे सबको बड़ा आश्चर्य हुआ कि अनेक युद्धों में विजय प्राप्त करने वाला शूर शिरोमणि मन्त्रिराज आज विलाप किस कारण से कर रहा है।

स्वजनों द्वारा पूछे जाने पर उदयन ने कहा :—"रणांगण में जूझने से पहले आदिदेव के दर्शन करते समय मैंने यह दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली थी कि मैं शत्रुञ्जय के काष्ठ निर्मित जिनालय और शकुनिका विहार का जीर्णोद्धार करूंगा। किन्तु अब मुझे स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा है कि मेरी ये अन्तिम अभिलाषाएं अपूर्ण अवस्था में मेरे साथ ही परलोक की ओर प्रयाण करने वाली हैं। इसी कारण मैं विलाप कर रहा हूं। उदयन के आत्मीयजनों ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा :—"हम आपके इस कार्यभार को अपने कन्धों पर लेते हैं। वाग्भट्ट और आम्रभट्ट—आपके ये

दोनों पुत्र आपके संकल्प को निश्चित रूप से पूर्ण करेंगे। हम साक्षी हैं। आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें।"

अपने आत्मीयों के मुख से इस प्रकार का निश्चित आश्वासन पाकर उदयन के अंग-प्रत्यंग पुलकित हो उठे। उसने निश्चिन्त हो अन्तिम आराधना कराने के लिए किसी श्रमण को बुलाने का अपने आत्मीयजनों से आग्रह किया। किसी श्रमण की खोज में उदयन के अनेक परिजन नगर और आसपास की पौषधशालाओं एवं उपाश्रयों की ओर दौड़े किन्तु उन्हें कहीं कोई श्रमण दृष्टिगोचर नहीं हुआ। उदयन की अन्तिम इच्छा का सम्मान करते हुए एक बंठ (रथ्या पुरुष) को साधु का वेष पहना कर उदयन के समक्ष उपस्थित किया गया। उदयन ने तत्काल उस मुनि वेषधर के चरणों में मस्तक रखते हुए उसके समक्ष शान्त चित्त हो बड़ी ही तन्मयता के साथ आलोचना-प्रत्यालोचनापूर्वक दस प्रकार की आराधना की। आराधना करते ही उदयन ने समाधिपूर्वक परलोक की ओर प्रयाण किया। जिस प्रकार चन्दन के वृक्ष के पार्श्व में उगे हुए कंटकाकीर्ण वृक्ष में भी चन्दन की सौरभ-सुहास आने लगती है ठीक उसी प्रकार उस महा आराधक उदयन के कुछ ही क्षणों के संसर्ग से उस साधारण रथ्या पुरुष (बंठ) के अन्तर्मन में इस प्रकार का उत्कट वैराग्य उत्पन्न हुआ कि उसने कठोर संयम का पालन कर अन्त समय में संथारा संलेखना करके समाधिपूर्वक पण्डित मरण प्राप्त किया।

मन्त्रिवर उदयन के देहावसानानंतर उसके पुत्र वाग्भट्ट और आम्रभट्ट ने शत्रुञ्जय के काष्ठ प्रासाद और भृगुपुर के शकुनिका विहार का पूर्णतः अभिनव रूप से जीर्णोद्धार करवा कर अपने पिता की अन्तिम इच्छा को पूर्ण किया।

महाराज कुमारपाल ने बोधिरत्न प्रदान करने वाले आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि के प्रति अपनी कृतज्ञता को चिरस्थायी बनाने हेतु स्तम्भतीर्थ के सालिगवसहि प्रासाद का, जिसमें कि हेमचन्द्रसूरि ने श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी, विपुल धनराशि व्यय कर जीर्णोद्धार करवाया और वहां रत्नमय जिन बिम्ब की प्रतिष्ठापना की।

अठारह देशों में अमारि घोषणा एवं १४४० विहारों का निर्माण करवाकर दिग्दिगन्तव्यापिनी विपुल कीर्त्ति अर्जित कर लेने के उपरान्त भी महाराजा कुमारपाल के अन्तर्मन और मस्तिष्क में यही उत्कट अभिलाषा उद्वेलित होती रही कि वह भी पृथ्वीमण्डल को अनृण कर सम्वत्सर प्रवर्त्तक वीर विक्रमादित्य की भांति अक्षय कीर्त्ति उपार्जित करे। उसके मन में यह बात घर कर गई थी कि स्वर्ण सिद्धि की प्राप्ति होने पर ही वह विक्रमादित्य की तरह पृथ्वी को अनृण करने का लोकोत्तर कार्य कर सकता है। उसने अपने परमाराध्य समर्थ गुरु आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि से इस प्रकार की सिद्धि प्राप्त करने की अनेक बार प्रार्थनाएं कीं।

कुमारपाल द्वारा अनवरत रूप से अनुरोध के परिणामस्वरूप हेमचन्द्रसूरि ने अपने गुरु देवचन्द्रसूरि की सेवा में महाराजा कुमारपाल एवं पत्तन संघ के माध्यम से विनय पत्रिका भिजवाकर प्रार्थना की कि संघ के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य के निष्पादन के लिये वे एक बार अणहिल्लपुर पट्टण पधारने की कृपा करें। श्री देवचन्द्रसूरि उन दिनों कठोर तपश्चरण कर रहे थे तथापि पत्रिका प्राप्त होने पर कुमारपाल और संघ की ओर के आग्रह को देखते हुए उन्होंने यही समझा कि संघ का कोई बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य होगा। अतः उन्होंने पत्तन की ओर विहार किया और विहार क्रम से कुछ ही दिनों में पत्तन पहुंचे और सीधे अपनी पौषधशाला में प्रविष्ट हुए। देवचन्द्रसूरि के आगमन का संवाद सुनते ही कुमारपाल देवचन्द्रसूरि की सेवा में पहुंचा। संघमुख्य सहित श्राविका-श्रावक वृन्द भी पौषधशाला की ओर उद्वेलित सागर की भांति उमड़ पड़ा। राजा आदि समस्त श्रावक वर्ग ने सामूहिक गुरु वन्दन के अनन्तर उनके उपदेशामृत का पान किया। व्याख्यान की समाप्ति पर आचार्यश्री देवचन्द्रसूरि ने महाराज कुमारपाल और अपने शिष्य हेमचन्द्रसूरि से पूछा कि संघ का क्या कार्य है। उपस्थित साधक एवं श्राद्धवृन्द को विसर्जित कर एकान्त स्थान में श्री हेमचन्द्रसूरि और चालुक्यराज कुमारपाल देवचन्द्रसूरि के चरणों पर अपने भाल रखकर उनसे निवेदन करने लगे :—"भगवन् ! जिन-शासन की प्रभावना के लिए आप स्वर्ण सिद्धि का रहस्य बताने की कृपा कीजिये।" हेमचन्द्रसूरि ने अपने गुरु को अपने बाल्यकाल की बात का स्मरण कराते हुए निवेदन किया :—"भगवन् ! जब मैं अपने बाल्यकाल में विरक्तावस्था में आपकी सेवा में था, उस समय आपके आदेश से एक कठियारी से एक वेलि मांग कर उसके रस में ताम्बे के टुकड़े को मैंने बार-बार भिगोकर बार-बार अग्नि में तपाया। तपाने से थोड़ी ही देर में वह ताम्रखण्ड विशुद्ध स्वर्ण खण्ड के रूप में परिवर्तित हो गया था। कृपा कर उस बल्लरी के नाम के साथ-साथ उसकी पहिचान भी बताने की कृपा करें।"

अपने शिष्य हेमचन्द्रसूरि की स्वर्णसिद्धि विषयक की गई प्रार्थना को सुनते ही शान्त-दान्त आचार्य देवचन्द्रसूरि बड़े प्रकुपित हुए और हेमचन्द्रसूरि को अपने से दूर एक ओर ढकेलते हुए बोले :—"तू इस सिद्धि के नितान्त अयोग्य है। पहले मैंने तुझे लड्डू के छोटे से कण के तुल्य विद्या प्रदान की थी, उसी से तुझे अजीर्ण हो गया। अब तुझ जैसे मन्दाग्नि वाले अयोग्य व्यक्ति को पूर्ण मोदक तुल्या विद्या कैसे दी जा सकती है ? तुझे यह विद्या किसी भी दशा में नहीं मिल सकती।" तदनन्तर महाराजा कुमारपाल की ओर उन्मुख होते हुए देवचन्द्रसूरि ने कहा :—"राजन् आपका ऐसा प्रबल भाग्य नहीं है कि स्वर्ण सिद्धि जैसी विद्या आपको सिद्ध हो जाय। आपने अठारह देशों में अमारि की घोषणा द्वारा और पृथ्वी को जिनमन्दिरों से मण्डित करवाकर विपुल पुण्य अर्जित करते हुए इहलोक एवं परलोक—उभय लोकों को सुधार लिया है। अब इससे और अधिक आपको क्या चाहिए ?"

अपने शिष्य आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि और चालुक्यराज कुमारपाल को इस प्रकार उत्तर दे आचार्यश्री देवचन्द्रसूरि ने अणहिल्लपुर पट्टण से विहार कर दिया, और विहार क्रम से जहां से आये थे वहीं लौट गये।

महाराज कुमारपाल के जीवन के सम्बन्ध में उपरि वर्णित विवरणों से निम्नलिखित तथ्य प्रकाश में आते हैं :—

(१) आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि के उपदेशों से महाराज कुमारपाल को बोधि प्राप्त हुई और उन्होंने श्रावक के बारह व्रत धारण किये।[1]

(२) परम जिनभक्त महाराज सम्प्रति के पश्चाद्वर्त्ती काल में हुए जिन-भक्त राजाओं से अहिंसा की उपासना में अत्यधिक आगे बढ़कर महाराज कुमारपाल ने अपने अधीनस्थ १८ देशों में अमारि की घोषणा के साथ-साथ जिन-शासन का प्रचार-प्रसार किया।[2]

(३) अपने अधीनस्थ १८ देशों के सुविशाल भूखण्ड में उसके द्वारा घोषित अमारि का अक्षरशः पालन होता है कि नहीं इस बात की देखरेख के लिये उसके द्वारा की गई व्यवस्था ऐसी सर्वांगपूर्ण और सुदृढ़ थी कि साधारण से साधारण निरीह प्राणी की हिंसा तक की सूचना स्वयं महाराज कुमारपाल तक पहुंच जाती थी।

(४) जिन शासन के अभ्युदय, उत्कर्ष, प्रचार-प्रसार एवं समस्त भूमण्डल पर विस्तार की कुमारपाल के मन में इस प्रकार की अत्युत्कट उत्कण्ठापूर्ण अभिलाषा थी कि यदि उसके पास स्वर्ण के सुमेरु होते तो जगज्जीवों को सुखी करने, जिनधर्म-रसिक बनाने एवं जैनधर्म के प्रमुख सिद्धान्त अहिंसा, सत्य, अस्तेय, विश्वबन्धुत्व आदि को जन-जन के जीवन में ढालने हेतु उन स्वर्ण-सुमेरुओं को भी वह सहर्ष न्यौछावर कर देता। स्वर्ण सिद्धि की आकांक्षा का जो कथानक आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि और कुमारपाल के सम्बन्ध में जैन साहित्य में शताब्दियों से चला आ

---

१. इय अणहिल्लपुरम्मि य जयसिंह नरिंद पट्टलंकारो।
सिरि कुमरपाल राओ जाओ भूपाल मउडमणी ॥१०६॥
सिरि हेमसूरि गुरुणा पडिबोहिय वयण सुरस दाणेणं।
जिणभत्ति जुत्तिरत्तो, जाओ सुसावओ परमो ॥१०७॥

२. अट्ठारदेसमज्झे, अमरि उग्घोसणं पवट्टेइ।
सो जीवदयातप्पर, परिपालइ देसविरइं च ॥१०८॥

—श्री वीरवंश पट्टावली अपर नाम विधिपक्षगच्छ पट्टावली भावसागर सूरि विरचिता।

रहा है, यह वस्तुतः कुमारपाल की जैन धर्म को जन-जन का धर्म अथवा विश्वधर्म बनाने की उत्कट अभिलाषा का ही रूपकतुल्य प्रतीक प्रतीत होता है।

(५) कुमारपाल की सबसे बड़ी पांचवीं विशेषता यह थी कि वह सम्पूर्ण जिन-शासन को एकता के सूत्र में आबद्ध देखना चाहता था। अपने समय में विभिन्न गच्छों के अनुयायियों एवं गणधरों में पारस्परिक मतभेद, वैमनस्य, छोटी-छोटी बात को लेकर कलह, श्रमण समाचारियों में एकरूपता का नितान्त अभाव, पाक्षिक प्रतिक्रमण की तिथि के प्रश्न को लेकर परस्पर संघर्ष एवं विद्वेषपूर्ण अतीव कटु वातावरण से महाराज कुमारपाल के अन्तर्मन को दुःख होता था। उन्होंने इस प्रकार के कलहों को मिटाने के अनेक बार प्रयास भी किये। आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि द्वारा सोमेश्वर वन्दन आदि उनके जीवनवृत्त की अनेक घटनाओं पर विचार करने से स्पष्टतः यही प्रतीत होता है कि वे पारस्परिक समन्वय के पक्षधर एवं पोषक थे। हेमचन्द्रसूरि के इस समन्वयकारी व्यवहार का, विचारों का कुमारपाल पर पूरा प्रभाव था अतः उसने आगमिक मान्यताओं के स्थान पर परम्परा को, परम्परागत मान्यताओं को प्रमुख स्थान दिया। ये तथ्य कुमारपाल के जीवनवृत्त की निम्न-लिखित एक दो घटनाओं से पूर्णतः प्रकाश में आते हैं।

एक बार अणहिल्लपुर पट्टण में विद्यमान अनेक गच्छों के आचार्यों और उनके उपासकों में पाक्षिक प्रतिक्रमण के प्रश्न को लेकर बड़ा विवाद उत्पन्न हुआ और वह उग्र रूप धारण कर गया। कतिपय गच्छों के आचार्यों का कथन था कि पाक्षिक प्रतिक्रमण पूर्णिमा को ही होना चाहिए क्योंकि आगमों में पूर्णिमा के दिन प्रतिक्रमण करने का विधान है। आगम सर्वोपरि हैं, इस कारण सभी गच्छों के आचार्यों एवं अनुयायियों को आगम का समादर करते हुए पूर्णिमा को ही प्रतिक्रमण करना चाहिए।

इसके विपरीत अनेक गच्छों ने अपना यह मन्तव्य रक्खा कि पाक्षिक प्रति-क्रमण पूर्णिमा को नहीं, चतुर्दशी को ही रखना चाहिये क्योंकि आर्यकालक सूरि ने विक्रम सम्वत्सर के प्रादुर्भाव से पूर्व ही चतुर्दशी के दिन प्रतिक्रमण करने की परम्परा प्रचलित कर दी थी और वही परम्परा शताब्दियों से जैन संघ में सर्व-सम्मत रूप से चली आ रही है।

इस प्रकार के विवाद ने जब उग्र रूप धारण किया और दोनों पक्षों में से एक भी पक्ष अपनी बात से किंचित्मात्र भी इधर-उधर होने को उद्यत नहीं हुआ तो विवाद पत्तनेश कुमारपाल के पास पहुंचा। दोनों पक्षों की पूरी बात सुनने के पश्चात् धर्म संघ में प्रचलित परम्परा को ही महत्त्व देते हुए "चतुर्दशी के दिन ही सब गच्छों के अनुयायियों द्वारा प्रतिक्रमण किया जाय," इस प्रकार का निर्णय कुमारपाल ने दिया। इस निर्णय के उपरान्त भी पूर्णिमा के पक्षधरों ने इस निर्णय

को स्वीकार नहीं किया तो कुमारपाल ने स्पष्ट शब्दों में राजाज्ञा प्रसारित करवा दी कि जो चतुर्दशी के स्थान पर पूर्णिमा के दिन प्रतिक्रमण करना चाहते हैं, वे अणहिल्लपुर पट्टण छोड़कर चले जायं। उस समय पूर्णिमा पक्ष के आचार्य सम्भवत: श्री देवभद्रसूरि ने अपने पक्ष पर अडिग रहते हुए अपने आन्तरिक उद्‌गार अपने अनुयायियों के समक्ष इस रूप में रक्खे :—

रूसउ कुमर नरिंदो, अहवा रूसंतु लिगिणो सव्वे।
पुन्निम सुद्ध पयट्‌ठा, न हु चत्ता सम्मत्त सूरीहिं ॥३३॥[1]

उपाध्याय धर्म सागर ने प्रवचन परीक्षा में उपर्युक्त गाथा को इस रूप में रखा है :

रूसउ कुमर नरिंदो, अहवा रूसउ हेम सूरिंदो।
रूसउ य वीर जिणिंदो, तहा वि मे पुण्णिमापक्खो ॥

अर्थात् चाहे महाराजा कुमारपाल रुष्ट हो जायं, चाहे हेमचन्द्र सूरीश्वर रुष्ट हो जाएं, केवल यहीं तक नहीं, अपितु स्वयं भगवान् वीर जिनेश्वर भी रुष्ट हो जायं तो भी मैं पूर्णिमा को ही पाक्षिक प्रतिक्रमण करूंगा।

"रूसउ य वीर जिणिंदो" ऐसा तो कोई भी जैन किसी भी दशा में नहीं कह सकता। अपने विरोधी पूर्णिमा गच्छ को लोगों की दृष्टि में नीचे गिराने के लक्ष्य से ही धर्मसागर गणि ने सम्भवत: ऐसा लिख दिया है।

महाराजा कुमारपाल के पास जब पूर्णिमा पक्ष के आचार्य के इस प्रकार के हठाग्रह की बात पहुंची तो वह बड़े प्रकुपित हुए और पूर्णिमा पक्ष के इस आचार्य को कड़ा दण्ड देने के लिए उद्यत हुए। आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने निम्नलिखित उल्लेख के अनुसार कि—

"तत: श्री (हेम) सूरिणा प्रवचनोड्डाहं चेतस्यवधृत्य
रोषादुपशामितेन राज्ञा (कुमारपालेन) निज
राज्याद् अष्टादश देशेभ्यो निष्काशित: पूर्णमीयक:।
प्रवचन परीक्षा, विश्राम ६।"

आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि ने मन में यह विचार कर कि यदि राजा ने पौर्णमीयक गच्छ के आचार्य और उनके श्रमण समूह को किसी प्रकार का कठोर दण्ड दिया तो प्रवचन का उड्डाह होगा, जैन धर्म संघ की प्रतिष्ठा लोक दृष्टि में घटेगी, कुमारपाल को शांत किया। आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि के समझाने पर

१. आगमिक गच्छ पट्टावली (पूर्णिमा गच्छ पट्टावली का अपर नाम)

महाराजा कुमारपाल ने और कोई कठोर दण्ड न देकर पौर्णमीयक गच्छ के आचार्य एवं उनके श्रमण श्रमणी समूह को अपने १८ देशों में विस्तृत राज्य की सीमा से बाहर निष्कासित कर दिया।

कतिपय गच्छों के आचार्य एवं साधु, जो पूर्णिमा के दिन प्रतिक्रमण करने के अपने निश्चय पर अटल रहे, वे सब बिना किसी को कुछ कहे सुने स्वत: ही पाटन से बाहर चले गये।

आगमिक मान्यता के स्थान पर परम्परा को ही कुमारपाल द्वारा प्रश्रय दिये जाने का एक और उदाहरण आचार्यश्री मेरुतुंगसूरि द्वारा रचित 'मेरुतुंगीया अंचलगच्छ पट्टावली' (संस्कृत) में भी उपलब्ध होता है, जिसका सारांश निम्न प्रकार है :—

"एक बार अणहिल्लपुर पट्टण में विभिन्न गच्छों में इस प्रकार का विवाद उत्पन्न हुआ कि संवत्सरी पर्व चौथ को मनाया जाय या पंचमी को। यह विवाद पारस्परिक विद्वेष के कारण उग्र रूप धारण कर गया। यह पर्व चौथ के दिन ही मनाया जाय, न कि पंचमी को। इस पक्ष के समर्थक कतिपय गच्छों के श्रावकों ने राजा कुमारपाल के समक्ष उपस्थित होकर अपने प्रतिपक्षी गच्छों के प्रति ईर्ष्यावशात् इस प्रकार का अभियोग प्रस्तुत किया :—"राजन् आप स्वयं और हम सब सदा से ही चौथ के दिन ही सांवत्सरिक महापर्व मनाते आये हैं। इसके विपरीत कतिपय गच्छों के हठाग्रही ऐसे श्रमण और साधु भी पत्तन में विद्यमान हैं, जो पंचमी के दिन सांवत्सरिक पर्व मनाने पर तुले हुए हैं। पर्वाधिराज संवत्सरी पर्व आने ही वाला है। आप जैसे धर्मनिष्ठ परमार्हत राजाधिराज के राज्य में सांवत्सरिक पर्व के सम्बन्ध में इस प्रकार का धार्मिक मान्यता भेद वस्तुत: महान् जैनधर्म संघ के लिये विघटनकारी सिद्ध होगा। इस प्रकार की स्थिति को देखते हुए इस प्रकार की विघटनकारी प्रवृत्ति को रोकना संघहित में परमावश्यक है। अत: आप जैसा उचित समझें आदेश फरमावें।"

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कुमारपाल अटूट आस्थावान् जैन धर्मावलम्बी राजाधिराज था। वह जैनधर्म के चरमोत्कर्ष के लिये अहर्निश चिन्तनशील रहता था। उसे पर्वाधिराज के सम्बन्ध में इस प्रकार का उग्र विवाद एवं मतभेद बड़ा ही अप्रीतिकर और अनुचित प्रतीत हुआ। दोनों पक्षों की युक्ति-प्रयुक्तियों पर भली-भांति सोच-विचार कर लेने के पश्चात् उसने तत्काल इस प्रकार की राजाज्ञा प्रसारित की :—पंचमी के दिन सांवत्सरिक पर्व का आराधन करने के लिये कृत-संकल्प श्रमण उसके राज्य के पट्टनगर पाटन में किसी भी दशा में पंचमी के दिन पर्वाराधन नहीं कर सकेंगे अत: उन्हें पर्वाराधन से पूर्व ही अन्यत्र चले जाना

चाहिये।" इस प्रकार की राजाज्ञा के प्रसारित होते ही कतिपय उन गच्छों के आचार्य अपने श्रमण श्रमणी समूह के साथ पाटण से विहार कर अन्यत्र चले गये जो कि पंचमी के दिन पर्वाधिराज के आराधन के पक्षधर थे, किन्तु विधि पक्ष अर्थात् अंचल गच्छ के महान् प्रभावक आचार्य जयसिंहसूरि, जो उस समय पाटन में ही विद्यमान थे, उन्होंने पाटन में ही रहकर पंचमी के दिन ही पर्वाराधन करने के उद्देश्य से बड़ी ही सूझ-बूझ से काम लिया। उन्होंने अपने एक अतीव वाक्पटु श्रमणोपासक को चालुक्यराज कुमारपाल के पास भेज कर अपना यह सन्देश पहुंचाया :—

> "राज राजेश्वर ! हमारे गुरु विधिपक्ष के आचार्यश्री जयसिंहसूरि पंचमी के दिन ही सांवत्सरी-पर्व का आराधन करने वाले हैं। कुछ दिन पूर्व उन्हें इस प्रकार की आज्ञा के प्रसारित किये जाने का विश्वास नहीं था कि पंचमी को पर्वाराधन करने वाले पाटन छोड़ कर अन्यत्र चले जायं। इसी कारण उन्होंने कतिपय दिन पूर्व नमस्कार मन्त्र का अनुष्ठान प्रारम्भ कर व्याख्यान में नमस्कार मन्त्र पर विवेचन-विवरण प्रारम्भ कर दिया है। हमारे आचार्यश्री ने आप से पुछवाया है कि वे महामन्त्र नमस्कार मन्त्र के अनुष्ठान को बीच में अधूरा छोड़कर ही पाटन से बाहर चले जायं अथवा उस अनुष्ठान को पूर्ण करने के पश्चात् पाटन से बाहर जावें। पर्वाधिराज आने ही वाले हैं। पर्वाराधन तो गुरुदेव पंचमी को ही करेंगे और नमस्कार मंत्र का अनुष्ठान अभी लम्बी अवधि तक चलेगा। हमारे आचार्य देव ने पुछवाया है कि इस सम्बन्ध में आपका क्या आदेश है ?"

अंचलगच्छ के आचार्य जयसिंह सूरि के सन्देश को सुनते ही महाराज कुमारपाल एक बार तो बड़े क्रुद्ध हुए किन्तु उसी क्षण उन्होंने यह अनुभव किया कि एक ओर तो अनुल्लंघनीय राजाज्ञा की परिपालना का प्रश्न है और दूसरी ओर चौदहपूर्वों के सार महामन्त्र नमस्कार के अनुष्ठानपरक विवेचन-विवरण में भंग का धर्म-संकट। महाराज कुमारपाल तत्काल अपने आराध्य गुरुदेव हेमचन्द्रसूरि की सेवा में उपस्थित हुए और उनके समक्ष अपनी दुविधा प्रस्तुत करते हुए उनसे इसके समाधान की प्रार्थना की। कुछ क्षण विचार कर हेमचन्द्रसूरि ने कहा :—"राजन् ! बड़े-बड़े दिग्गज दिगम्बरवादियों को शास्त्रार्थ में पराजित करने वाले ये विधि पक्ष के आचार्य जयसिंहसूरि बड़े जिनशासन प्रभावक, मन्त्र, तन्त्र, ज्योतिष आदि अनेक विद्याओं के पारंगत विद्वान् हैं। उनके कोप का भाजन बनना किसी के लिये भी श्रेयस्कर नहीं है।"

कुमारपाल हेमचन्द्रसूरि के परामर्शानुसार तत्काल जयसिंह सूरि की सेवा में उपस्थित हुआ और वन्दन-नमन के अनन्तर उनसे निवेदन करने लगा— "महात्मन् ! मेरी यह आन्तरिक इच्छा है कि जैनधर्म संघ में किसी प्रकार का

विघटन न हो और वह एकता के सूत्र में आबद्ध सौहार्दपूर्ण वातावरण में उत्कर्ष की ओर अग्रसर होता रहे। इसी पवित्र उद्देश्य से मैंने इस प्रकार की आज्ञा प्रसारित की थी। मुझे यह ज्ञात नहीं था कि आपने महामन्त्र नमस्कार मन्त्र का अनुष्ठान एवं विवेचन प्रारम्भ कर दिया है। इससे आपको जो कष्ट हुआ है, उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूं।"

जयसिंहसूरि ने कहा—"राजन्! श्रमण का सबसे बड़ा धन समभाव ही है। ऐसी दशा में आप पर क्रुद्ध होने का तो प्रश्न ही नहीं है। किन्तु एक बात मैं आपसे अवश्य कहूंगा कि धर्म की आगमिक मूल मान्यताओं के सम्बन्ध में आपके अन्तर्मन में जो विचार-विपर्यास का उद्भव हुआ है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि अब सुनिश्चित रूपेण आपकी आयु स्वल्प ही अवशिष्ट रह गई है। इस प्रकार की स्थिति में अब धर्म कार्यों के निष्पादन में अहर्निश संलग्न हो जाना ही आपके लिए श्रेयस्कर सिद्ध होगा।"

जयसिंहसूरि के इस प्रकार के उत्तर को सुनकर विचारद्वन्द उत्पन्न हुआ कि राजाज्ञा के प्रति आक्रोश प्रकट करने मात्र के लिए ही सूरिवर ऐसा कह रहे हैं अथवा ज्योतिष शास्त्र के बल से ज्ञात हुई वास्तविकता को ही प्रकट कर रहे हैं। इस प्रकार के विचार द्वन्द्व द्वारा आन्दोलितमना कुमारपाल जयसिंहसूरि को वन्दन कर हेमचन्द्रसूरि के पास लौटा और जयसिंहसूरि के साथ हुई बातचीत का निष्कर्ष अपने गुरु को सुनाया। आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने जयसिंहसूरि के भविष्य कथन पर अपने निमित्त ज्ञान के बल पर विचार किया और उसे अक्षरशः सत्य पाकर कुमारपाल से कहा—"राजन्! अंचलगच्छीय आचार्यश्री जयसिंहसूरि वस्तुतः निमित्तशास्त्र के पारगामी निष्णात विद्वान् हैं। उन्होंने तुम्हारी आयु के अवसान काल के सम्बन्ध में जो तुम्हें सावधान किया है, उनकी वह भविष्यवाणी तुम्हारे ग्रह गोचरों के ध्यानपूर्वक पर्यवेक्षण से सत्य होती प्रतीत हो रही है। इस प्रकार की स्थिति को देखते हुए आपको यथाशक्य अपना अधिकाधिक समय आत्मकल्याण की साधना में ही लगाना चाहिये।"

पट्टावलीकार ने आगे लिखा है—'जयसिंहसूरि द्वारा अपनी आयु के सम्बन्ध में की गई भविष्यवाणी की आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि द्वारा भी पुष्टि हो जाने के अनन्तर अपने आराध्य गुरुदेव में अटूट-अटल आस्था रखने वाले महाराज कुमारपाल को अपनी आयु के आसन्न अवसानकाल के सम्बन्ध में पूरा विश्वास हो गया और उसने अपना पूरा का पूरा समय आत्मसाधना में लगा दिया। इस प्रकार अहर्निश धर्माराधन में संलग्न परमार्हत् महाराज कुमारपाल ने सातवें दिन समाधिपूर्वक इहलीला समाप्त कर परलोक के लिये प्रयाण कर दिया।"

"उपरि लिखित राज्यादेश के परिणामस्वरूप पंचमी के दिन सांवत्सरिक पर्वाराधन करने वाले सभी गच्छों के आचार्य एवं साधु साध्वी समूह पाटन से

विहार कर अन्यत्र चले गये और उन्होंने पाटन से बाहर विभिन्न स्थानों में पंचमी के दिन संवत्सरी पर्व का आराधन किया। केवल विधि पक्ष—अंचल गच्छ के आचार्यश्री जयसिंहसूरि और उनके शिष्य शिष्या वर्ग ने आचार्यश्री जयसिंहसूरि की अद्‌भुत सूझबूझ के बल पर पाटन में ही राजाज्ञा के विपरीत पंचमी के दिन ही महापर्वाधिराज पर्यूषण पर्व का आराधन किया। विधिपक्ष के आचार्य जयसिंहसूरि और उनके गच्छ के अनुयायियों ने अचल रहकर पाटन में ही पर्वाराधन किया, इस कारण उनके गच्छ का दूसरा नाम 'अचल गच्छ' भी लोक में प्रचलित हो गया।[१]

मेरुतुंगीया विधि पक्ष अथवा अंचलगच्छ पट्टावली के उपरिलिखित उल्लेख को इतिहास की कसौटी पर कसा जाय तो यह उल्लेख खरा सिद्ध नहीं होता क्योंकि यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि का स्वर्गवास विक्रम सम्वत् १२२९ में और परमार्हत महाराज कुमारपाल का देहावसान आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि के दिवंगत होने के छः मास पश्चात् विक्रम सम्वत् १२३० में हुआ। इस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक प्रकाश आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि के जीवनवृत्त में डाला जा चुका है। यहां इस स्थान पर तो यही बताना अभीष्ट है कि महाराज कुमारपाल परमार्हत थे। वे सम्पूर्ण जैन संघ को एकता के सूत्र में आबद्ध करना चाहते थे और आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि की समन्वय वादी नीति का अनुसरण करते हुए परम्परागत मान्यता का ही पक्ष लेते थे। परमार्हत महाराज कुमारपाल द्वारा परम्परागत मान्यता को सर्वाधिक महत्त्व दिये जाने का एक और निम्नलिखित उदाहरण जैन वांग्मय में उपलब्ध होता है जो वस्तुतः एक प्रबल रूपेण परिपुष्ट ऐतिहासिक उदाहरण है।

विक्रम सम्वत् १२१३ में किसी समय एक दिन परमार्हत महाराज कुमारपाल आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि को वन्दन करने गये, उसी समय विधि पक्ष का कवडि नामक श्रावक भी आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि को वन्दन करने के लिए उपस्थित हुआ। महाराज कुमारपाल ने अष्टपुटी मुख वस्त्रिका से आचार्यश्री को वन्दन किया और कवडि श्रावक ने उत्तरासंग से वन्दन किया। महाराज कुमारपाल को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि कवडि श्रावक मुंहपति के स्थान पर उत्तरासंग के अंचल से ही आचार्यश्री को वन्दन कर रहा है। राजा ने तत्काल आचार्यश्री से पूछा—"भगवन्! यह नमस्कार करने की कौनसी विधि है? जो यह श्रमणोपासक उत्तरासंग के अंचल से वन्दन कर रहा है।" आचार्य श्री ने कहा—"राजन्! आप जो मुखवस्त्रिका के साथ वन्दन कर रहे हो, यह परम्परागत परम्परा है और यह श्रावक जिस प्रकार वन्दन कर रहा है, वह जिनेश्वर भगवान् के वचनानुसार है। इस

१. देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ का ही "अंचल गच्छ" प्रकरण—

पर महाराज कुमारपाल ने कहा—आचार्य देव ! परम्परागत मार्ग तो वस्तुतः अपना एक पृथक् ही (महत्वपूर्ण) स्थान रखता है।"

इस पर आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि ने (विधि पक्ष-गच्छ पट्टावली के उल्लेखानुसार) विजयचन्द्रसूरि की प्रशंसा करते हुए कहा—"राजन् ! सीमन्धर स्वामी ने अपने समवसरण में विजयचन्द्रसूरि की शुद्ध क्रिया-निष्ठा की प्रशंसा की थी। चक्रेश्वरी देवी के माध्यम से विहरमान तीर्थंकर महाप्रभु सीमन्धर स्वामी से प्राप्त निर्देशों के अनुसार ही विजयचन्द्रसूरि ने विधि-मार्ग को प्रकाशित किया है।"

आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि के मुखारविन्द से इस प्रकार की बात सुनने के उपरान्त भी महाराज कुमारपाल ने विधि-पक्ष को अंचलगच्छ नाम दिया। एतद्विषयक विधि पक्ष-गच्छ पट्टावली की गाथाएं इस प्रकार हैं :

अह अन्नया नरेसो मुहपत्तीए करेइ किइ कम्मं।
विहिपक्खिकवडिसावय उत्तरसंगेण तं वियरइ ।।१०६।।

एवं किमिइ निवेण य, पुट्ठो सिरि हेमसूरि वच्चेइ।
जिणवयणेसा मुद्दा, परम्परा एस तुम्हाणं ।।११०।।

तत्तो भणइ राया, परम्परा मग्गओ य एगत्थं।
कीरइ सूरी वच्चइ, महिमा सिरि विजयचंदस्स ।।१११।।

सीमंधर वयणाओ, चक्केसरी कहण सुद्धकिरियाए।
सिद्धंत सुत्तरत्तो, विहिमग्गं सो पगासेइ ।।११२।।

पच्छा निवेण तस्स वि, अंचलगण नाम सिरिपहेण कयं।
।।११३।।[1]

उपर्युल्लिखित विवरण से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि महाराज कुमारपाल जैनधर्म के अटूट आस्थावान् श्रावक वरेण्य थे। वे जैनधर्म संघ में एकरूपता देखने के उत्कट अभिलषुक थे और परम्परागत मान्यताओं के प्रवल पक्षधर थे। जैनागमों में यत्र-तत्र नरेन्द्र देवेन्द्र एवं श्रावक श्राविकादि का जहां भी प्रभु वन्दन का प्रासंगिक उल्लेख आता है वहाँ प्रायः उत्तरासंग से प्रभु वन्दन का उल्लेख उपलब्ध होता है। यद्यपि विधिपक्ष गच्छ की, उत्तरासंग से वन्दन करने विषयक प्रमुख मान्यता के पक्ष में, आगमिक वचन का उल्लेख अंचलगच्छीय साहित्य में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता तथापि यही अनुमान किया जाता है कि शास्त्रों में स्थान-स्थान पर उत्तरासंग से ही श्रावकों द्वारा प्रभु वन्दन किये जाने के जो उल्लेख हैं, उन्हीं को दृष्टिगत रखते हुए सम्भवतः विधिपक्ष गच्छ

---

१. विधि पक्ष अपर नाम अंचलगच्छ एवं श्री वीरवंश पट्टावली, अप्रकाशित हस्तलिखित प्रति आचार्यश्री विनयचन्द ज्ञान भण्डार, जयपुर में उपलब्ध।

के जन्मदाताओं ने श्रावक-श्राविका वर्ग के लिए उत्तरासंग अथवा अंचल से वन्दन करने का विधान किया हो। विधिपक्ष गच्छ की उपर्युल्लिखित गाथा संख्या ११० में आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि के मुख से—"जिनवयरणेसा मुद्दा परम्परा एस तुम्हाणं" यह जो कहलवाया गया है, इसके पीछे यही भावना है कि जिन वचन से ही अर्थात् जिनेन्द्र प्रभु के कथन के अनुसार ही ये लोग मुखवस्त्रिका के स्थान पर अंचल रखकर मुनि-वन्दन करते हैं। विधिपक्ष गच्छ पट्टावली में—

अह उत्तरसंगेरण य छव्विहमावस्सयं कुणंतो सो।
.... ।।५८।।

तथा अह उत्तरसंगेरणं दुआलसावत्तवंदरणं सड्ढो।
.... ।।६८।।

इन दो गाथार्द्धों में श्रावक के लिये स्पष्टतः यही विधान किया गया है कि वह उत्तरासंग से ही वंदन करे किन्तु इसके पीछे कोई शास्त्रीय प्रमारण नहीं दिया गया है।

इससे भी यही विदित होता है कि शास्त्रों में नरेन्द्र-देवेन्द्रों द्वारा उत्तरासंग से प्रभु वन्दन के उल्लेखों को दृष्टिगत रखते हुए ही सम्भवतः विधि पक्ष गच्छ में उत्तरासंग से ही वन्दन करने का श्रावकों के लिए विधान रखा गया है।

आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि ने कवडि श्रावक द्वारा उन्हें अंचल से वन्दन करने के सम्बन्ध में कुमारपाल के समक्ष विधि पक्ष पट्टावलीकार के अनुसार इस प्रकार स्पष्टीकरण किया :—

"सीमन्धर वयरणाओ, चक्केसरी कहरण सुद्ध किरियाए।
सिद्धंत सुत्तरत्तो विहिमग्गं, सो पयासेइ ।।११२।।

सीमन्धर स्वामी के मुखारविन्द से विजयचन्द्र साधु की (आचार्य की) प्रशंसा सुनकर चक्रेश्वरी देवी ने आचार्य श्री विजयचन्द्रसूरि से शुद्ध क्रिया को पुनः प्रकाश में लाने की प्रार्थना की। तदनुसार आगमों के प्रति निष्ठा रखते हुए विजयचन्द्रसूरि ने विधि मार्ग को प्रकाशित किया।"

इसके उपरान्त भी महाराजा कुमारपाल के गले परम्परागत मान्यता के विरुद्ध वह बात नहीं उतरी और उसने विधिपक्ष गच्छ का नाम अंचलगच्छ रख ही दिया। परमार्हत महाराजा कुमारपाल अष्टपुटी मुखवस्त्रिका से गुरुवन्दन करने की परम्परा का प्रबल पक्षधर था। वह स्वयं मुखवस्त्रिका से ही गुरुवन्दन करता और दूसरों से भी अष्टपुटी मुखवस्त्रिका के द्वारा ही वन्दन करवाता था। अंचलगच्छ के प्रादुर्भाव के अनन्तर तो, जैन वांग्मय में कतिपय उल्लेखों को देखते हुए यह अनुमान

किया जाता है कि उसने श्रावकों के विशाल समूहों को मुखवस्त्रिका के साथ सामूहिक रूप से अपने संग गुरुवन्दन करवाया ।[1]

इन सब उल्लेखों से यह सुनिश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है कि जैनधर्म के प्रति प्रगाढ़ आस्था रखने वाला श्रावक शिरोमणि परमार्हत महाराजा कुमारपाल परम्परागत पुरातन मान्यताओं का प्रबल पक्षधर था और वह जैन संघ को उसी सर्वोच्च प्रतिष्ठित पद पर आसीन करना चाहता था जिस पर कि यह (जैनधर्म संघ) महाराज सम्प्रति के समय में आसीन था । जिन शासन के प्रति महाराज कुमारपाल की इस प्रकार की अटूट आस्था, प्रगाढ़ श्रद्धा और "सब जग करूं जिन शासन रसि" की भावना के परिणामस्वरूप प्रत्येक जैन धर्मावलम्बी के लिये परम श्रद्धा का पात्र बन गया । सोऽहं कुलरत्न पट्टावली–रासकार ने तो कुमारपाल को आगामी चौवीसी के प्रथम तीर्थंकर भगवान् पद्मनाभ का गणधर होने तक का उल्लेख करते हुए निम्नलिखित रूप में उसकी यशोगाथाओं का गान किया है—

पारणा दिन गुरुराज ने रे दीधो शुद्ध आहार ।
ते उग्र पुण्य थी तूं हुओ रे, कुमारपाल नृप सार रे ।।राजन्० १५।।
पूरवभव सुणी थरथर्यो रे, कुमर नृपति मन मांहे ।
फरी पूछे गुरुराज ने रे आगल गति कुण होय रे ।।राजन्० १८।।
सूरि तब मन चिन्तवी रे, देवी फेर बोलाय ।
सीमन्धर को मोकली रे, प्रभुजी सकल सुणाय ।।राजन्० १९।।
देवीइ श्री सूरिराज ने रे, सकल कह्यो अधिकार ।
तेथी गुरु कहे भूप ने रे, सांभल नृप सुविचार रे ।।राजन् २०।।
आवती चौवीसी मांहे रे, पद्मनाभ जिनराय ।
तेहनो गणधर तूं थई रे, लेस्यो शिवसुख दाय रे ।।राजन्० २१।।
मुझ भव संख्याता कह्या रे, सीमंधर भगवान् ।
केवलज्ञानी भाखियो रे, धन-धन केवलज्ञान ।।राजन्० २२।।[2]

इन पदों का सारांश यह है कि आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि को महाराजा कुमारपाल ने प्रार्थना की कि वे उसे कृपा कर बतायें कि पूर्व भव में उसने ऐसा क्या पुण्य कार्य किया था, जिसके प्रताप से वह राजा बना है और अब अगले जन्म में उसका उद्धार कब होगा । आचाश्री ने सूरिमन्त्र की अधिष्ठात्री देवी की आराधना की और उसके उपस्थित होने पर सीमंधर स्वामी से कुमारपाल और स्वयं के पूर्वभव एवं भावीकाल में मुक्त होने के सम्बन्ध में ज्ञात कर उन्हें (हेमचन्द्रसूरि को) अवगत करने का निवेदन किया । सूरिमन्त्र की अधिष्ठात्री देवी ने विहरमान तीर्थंकर

---

१. आ. श्री हस्तीमलजी म. सा. का संग्रह ।
२. पट्टावली समुच्चय, भाग २, पृष्ठ –५०–५१ (मुनि श्री दर्शनविजयजी)

भगवान् सीमंधर स्वामी की सेवा में महाविदेह क्षेत्र में उपस्थित हो कुमारपाल और हेमचन्द्रसूरि के पूर्वभव और आगे के भवों का विवरण पूछा। सीमंधर प्रभु से अभीप्सित पूरा विवरण ज्ञात कर देवी आ० श्री हेमचन्द्रसूरि की सेवा में उपस्थित हुई और कहा—"विहरमान तीर्थंकर भगवान् सीमंधर स्वामी ने फरमाया है कि कुमारपाल अपनी आयु पूर्ण कर भुवनपति देव होगा और देवायु के पूर्ण होने पर जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र की आगामी उत्सर्पिणी काल की चौवीसी के प्रथम तीर्थंकर पद्मनाभ जिनेश्वर का गणधर बनेगा। गणधर-पद में केवल ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् कुमारपाल का जीव अपनी आयु पूर्ण होने पर सिद्ध बुद्ध मुक्त होगा। हेमचन्द्रसूरि संख्यात भव कर अन्त में निर्वाण को प्राप्त करेगा।"

अपने गुरु आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि के प्रति कुमारपाल के मन में इतनी प्रगाढ़ आस्था थी कि पाटण से सैकड़ों कोस की दूरी पर रहने वाला कोई व्यक्ति आचार्यश्री की अकारण ही निन्दा करता और उसकी इस प्रकार की धृष्टता से कुमारपाल अवगत हो जाता तो वह उसे दण्ड दिये बिना शान्ति अनुभव नहीं करता था। इस प्रकार का एक उदाहरण सोहम कुलरत्नपट्टावली—रास में निम्नलिखित रूप में उपलब्ध होता है :—

गुर्जरपति कुमारपाल की बहिन बाघ नरेश्वर को व्याही गई थी। वह प्रतिदिन अपनी रानी के साथ चौपड़ खेलते समय जब भी रानी उसकी सारी को मारती तो यही कहता "हेम मोडे को मार' अर्थात् हेमचन्द्रसूरि को मार। रानी ने अपने पति को बहुत समझाया कि वह महापुरुष के लिये इस प्रकार के अपशब्दों का प्रयोग न करे। किन्तु उसका तो क्रम इसी प्रकार चलता रहा। दुःखी होकर रानी ने अपने भाई चालुक्यराज कुमारपाल को इस सम्बन्ध में लिखा। अपने गुरु के लिये इस प्रकार अपमानजनक भाषा के प्रयोग से कुमारपाल बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने अपने बहनोई पर विशाल सेना लेकर आक्रमण किया और उसे पकड़कर अपने साथ ले आया। कुमारपाल ने बाघ नृपति को पर्याप्त समय तक अपने पास रखा और साम-दाम-दण्ड से उसे निष्ठावान् जैन धर्मावलम्वी बनाकर ससम्मान उसे उसके राज्य में पहुंचा दिया।

भ्रष्ट मुनि को श्रमणश्रेष्ठ बनाने का आदर्श उदाहरण

महाराजा कुमारपाल ने श्रावक के वारह व्रत अंगीकार कर लेने के पश्चात् एक प्रकार से यह पक्का नियम वना लिया था कि वह प्रत्येक साधु को, चाहे वह शिथिलाचारी हो अथवा उत्कृष्ट क्रियानिष्ठ, सवको समान रूप से वन्दन नमन करेगा। एक दिन वह अपनी चतुरंगिणी सेना के मध्य भाग में गजराज पर आरूढ़ हो राजमार्ग पर जा रहा था। मार्ग में उसने देखा कि एक मुंडित श्वेत वस्त्रधारी

जैन मुनि एक वैश्या को उसके द्वार के सम्मुख अपनी दक्षिण बाहु के पार्श्व में आबद्ध किये और हाथ में ताम्बूल लिये खड़ा उससे मधुरालाप कर रहा है। मुनि को इस प्रकार की अवस्था में देखकर हाथी के कपोल द्वय के मध्यभाग में अपना मस्तक टिकाते हुए राजा ने उस मुनि को श्रद्धापूर्वक वहीं से वन्दन किया। राजा को इस प्रकार वन्दन करते देखकर राजा के सेनापतियों, सैनिकों, सामन्तों और स्वयं उस साधु तक को बड़ा आश्चर्य हुआ। महाराज कुमारपाल के पृष्ठभाग में बैठे नाडोल के नृपति ने सस्मित मुद्रा में एक मीठी चुटकी ली। मन्त्री वाग्भट्ट ने आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि की सेवा में उपस्थित हो चालुक्यराज द्वारा एक पतित मुनि को वन्दन करने विषयक वृतान्त सुनाया। जब परमार्हत महाराज कुमारपाल आचार्यश्री की सेवा में वन्दन-नमन हेतु उपस्थित हुआ तो उसके पास आते ही आचार्यश्री ने निम्नलिखित गाथा का उच्चारण किया :—

पासत्थाइ वंदमाणस्य, नेव कित्ती न निज्जरा होइ।
कायकिलेसं एमेव, कुणइ तह कम्मबंधं वा ॥७८१॥
—प्रभावक चरित्र, पृष्ठ २०६

अर्थात् जो व्यक्ति शिथिलाचार-मग्न चरित्रहीन व्यक्ति को वन्दन नमन करता है, न तो उसके कर्मों की निर्जरा होती है और न उसे यशप्राप्ति ही। ऐसे चरित्रहीन साधुवेषधर को वन्दन करने से वह व्यक्ति वृथा ही कायक्लेष करता है और इसके साथ-साथ कर्म बन्ध भी करता है।

कुमारपाल तत्काल समझ गया कि किसी ने आचार्यदेव को उसके द्वारा उस मुनि को वन्दन करने की घटना की जानकारी दे दी है, जो मुनि वैश्या को अपनी भुजपाश में समेटे खड़ा था। कुमारपाल ने प्रगाढ़ श्रद्धापूर्वक आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि को वन्दन करने के पश्चात् निवेदन किया :—

"भगवन् ! मैंने उस साधु को शिक्षा देने और पुनः सुधारने के उद्देश्य से ही ऐसा किया था।"

उधर वह साधु परमार्हत कुमारपाल के नमस्कार से हतप्रभ एवं चमत्कृत हो उठा। उसके अन्तर्मन में विचारों का प्रवाह आन्दोलित हो उठा। उसने मन ही मन सोचा—कुमारपाल जैसे परमार्हत एवं परम जिनशासन भक्त ने मेरे साधुवेष को देखकर मुझे नमस्कार किया है। मैं कितना पतित हूं कि भगवान् तीर्थंकर के वेष को लज्जित कर रहा हूं। वीतराग की आज्ञा का मैंने उल्लंघन किया है। जिन भोगों को मैंने त्याग दिया, उन वमन किये हुए भोगों को मैं पुनः भोग रहा हूं। मुझ जैसे भ्रष्टप्रतिज्ञ को धिक्कार है। इस प्रकार मन में विचार आते ही उसने तत्काल उस वारांगना की कटि में डाले हुए अपने भुजदण्ड को अपनी ओर खींच लिया—हटा लिया। व्रत के लिये कंटक स्वरूप उस ताम्बूल को उसने

फैंक दिया। अपने चरण युगल में पहने हुए उपानहों को उसने तत्काल एक ओर डाल दिया। वह तत्काल बिना किसी की ओर देखे अपने उपाश्रय की ओर चल दिया। अपने गुरु के पास उसने अपने पापों की विशुद्ध मन से आलोचना कर उनके पास उसने पुनः पंच महाव्रतों को अंगीकार किया। उसका रोम-रोम, अन्तर्मन, वैराग्य के प्रगाढ़ रंग में रंग गया। उसने कठोर तपश्चर्याएं करना प्रारम्भ किया। वह घोर तपस्वी अहर्निश स्वाध्याय, ध्यान और गुरु की सुश्रूषा में संलग्न रहने लगा। उस श्रमण के त्याग, विराग और कठोर तपश्चरण की दिग्दिगन्त में कीर्त्ति व्याप्त हो गई। उसकी गणना उस समय के श्रमणोत्तमों में की जाने लगी। परमार्हत कुमारपाल ने जब उस तपस्वी श्रमण की यशो-गाथा सुनी तो वह स्वयं उस तपोपूत महात्मा के दर्शन वन्दन एवं चरण-स्पर्श के लिये अन्तःपुर के साथ उस तपस्वी के उपाश्रय में गया। उस तपस्वी के मुख पर प्रथम दृष्टिनिपात से ही राजा को भली-भांति स्मरण हो आया कि यह वही साधु है, जिसे उसने एक वारांगना के द्वार पर चरित्र-भ्रष्ट देखते हुए भी वन्दन-नमन किया था। महाराज कुमारपाल उस मुनि के गुरु को और अन्य मुनियों को वन्दन करने के पश्चात् उसके चरणों पर अपना भाल रखने के लिये झुका। उस तपोधन मुनि ने कुमारपाल का हाथ पकड़ कर उसे नमन करने से रोका और अतीव कृतज्ञतापूर्ण स्वर में बोला—"राजन् ! इस संसार सागर में डूबते हुए मेरे जैसे अधम को तारने वाले आप मेरे गुरु हैं। वस्तुतः आप विश्ववंद्य हैं। आपका प्रणाम मेरे लिये अजीर्ण एवं दुष्पाच्य ही होगा। नर्क के अन्धकूप में जान बूझकर झम्पापात करने वाले मेरे जैसे जिनाज्ञा विराधक और भ्रष्ट चरित्र वन्दनीय आराधक कैसे हो सकते हैं ? इहलोक और परलोक में दुःखदायी पाप मार्ग से मुझ जैसे अधम को उबारने वाले आप जैसे पितातुल्य उपकारी संसार में विरले ही हैं। नमस्कार के लिये नितान्त अयोग्य मेरे जैसे दुष्चरित्र पातकी को नमस्कार कर आपने मेरे अन्तर्ह्लद में सम, संवेग और निर्वेद की त्रिवेणी प्रवाहित कर दी है।"

कुमारपाल ने श्रद्धासिक्त अति विनम्र स्वर में उन तपोनिष्ठ मुनि से निवेदन किया—"मुनिवर ! आपके समान वन्दनीय और कौन होगा, जिन्होंने एक छोटे से निमित्त को पाकर तत्क्षण अपने आपको सब प्रकार की आसक्ति, सब प्रकार के दोषों और अनन्त काल तक भव भ्रमण कराने वाले व्यामोह को प्रत्येक बुद्ध की भाँति एक क्षण भर में ही विषवत् त्याग दिया—तृण तुल्य ठुकरा दिया। भगवान् तीर्थंकर द्वारा बताये गये साधु स्वरूप को मेरा प्रणाम करना सहज स्वाभाविक ही था। उस छोटी सी वात को मेरा उपकार समझकर आप अपने कृतज्ञ शिरोमणि स्वभाव को ही प्रदर्शित कर रहे हैं।" इस प्रकार कहते हुए महाराज कुमारपाल ने इससे पहले कि मुनि उन्हें रोकें अपना भाल मुनि के चरणों पर रख दिया। उस तपोधन मुनि के अंतःकरण से हठात् ये उद्गार प्रस्फुटित हो उठे—"धन्य है वह देश, पुण्यशालिनी है वह प्रजा, जहां दर्शन मात्र की अमृतवृष्टि से समस्त पापपंक को धो डालने वाले आप जैसे राजा हैं।

महाराज कुमारपाल के जीवन की यह घटना साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका चारों ही वर्गों के लिये सदा सर्वदा प्रदीप स्तम्भ की तरह मार्ग प्रदर्शन करती हुई जन-जन के अन्तर्गत में अभिनव चेतना का संचार करती रहेगी।

दीर्घदर्शी कुमारपाल

महाराजा कुमारपाल ने अपने एक निकट सम्बन्धी आनाक की सेवाओं से सन्तुष्ट हो उसे सामन्त पद प्रदान कर दिया। सामन्त होने के उपरान्त भी आनाक प्रायः कुमारपाल की सेवा में ही रहा करता था। एक दिन मध्याह्न वेला में कुमारपाल अपनी चन्द्रशाला में सुखासन पर विश्राम मुद्रा में बैठा सामन्त आनाक से बातचीत कर रहा था, उस समय सामन्त का सेवक चन्द्रशाला में प्रविष्ट हुआ। उसे देखते ही कुमारपाल ने सामन्त आनाक से प्रश्न किया :—"यह कौन है ?"

"सम्भवतः किसी आवश्यक कार्यवशात् घर से परिचारक आया है," यह कहता हुआ सामन्त अपनें सेवक को साथ ले कुमारपाल के विश्रान्तिकक्ष से बाहर गया और अपने सेवक से प्रश्न किया :—"घर पर सब कुशल-मंगल तो है ?"

हर्षाविरुद्ध कण्ठ स्वर में अपने स्वामी का अभिवादन करते हुए सेवक ने कहा :—"बधाई है महाराज ! आपको पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई है।"

पुत्ररत्न के जन्म का सुखद सम्वाद सुनते ही सामन्त का अंग-प्रत्यंग पुलकित हो उठा, मुख पर हर्ष की लहर लालिमा बरसाने लगी और वह पुनः महाराजा के समक्ष अपने आसन पर बैठ गया। सामन्त आनाक की हर्षोत्फुल्ल मुखमुद्रा को देखकर महाराजा कुमारपाल ने प्रश्न किया :—"घर से क्या सुखद सन्देश आया है सामन्त ?"

"घर पर पुत्र का जन्म हुआ है महाराज !" सामन्त के इस उत्तर को सुनकर कुमारपाल कुछ क्षण चिन्तन की मुद्रा में मन ही मन विचार कर बोला :—"सामन्त ! तुम्हारा यह पुत्र-रत्न महाप्रतापी होगा। इसके जन्म की सूचना देने वाला व्यक्ति इस नवजात शिशु के पुण्य के प्रताप से बिना किसी प्रकार की रोक-टोक एवं बाधा के राजप्रासाद में हमारे कक्ष में आ गया। किसी भी प्रहरी ने तुम्हारे सेवक को टोका तक नहीं। इस प्रकार प्रबल पुण्य को लेकर आया हुआ यह बालक आगे जाकर विशाल गुर्जर प्रदेश का अधिपति होगा। किन्तु इस शिशु के जन्म की शुभ सूचना देने वाले ने तुम्हें इस स्थान से उठाकर सूचना दी अतः वह अणहिल्लपुर पट्टण में और धवलगृह में अपनी राजधानी न रखकर किसी अन्य स्थान में ही रखेगा।"

इस प्रकार एक भविष्यद्रष्टा के रूप में कुमारपाल ने शकुन देखकर जो भविष्यवाणी की वह अक्षरशः चरितार्थ हुई। यही शिशु लवणप्रसाद कालान्तर में

प्रथम तो विशाल गुर्जर राज्य का अभिभावक और तत्पश्चात् प्रतापी राजा हुआ।[1] लवणप्रसाद ने अपनी राजधानी अनहिल्ल पट्टण अथवा व्याघ्रपल्ली में न रख कर धोलका में रखी।[2]

पापभीरु एवं सच्चा आत्मनिरीक्षक

कुमारपाल

एक दिन कुमारपाल ने अपने राजप्रासाद में अपने पास बैठे हुए अपने प्रमुख परामर्शदाता आलिग नामक वयोवृद्ध पुरोहित से प्रश्न किया—"पुरोहितजी महाराज! गुणों की दृष्टि से मैं महाराज सिद्धराज जयसिंह से कम हूं, अथवा समान वा अधिक? यह बताने की कृपा कीजिये।"

राज पुरोहित आलिग ने एक क्षण सोचकर कहा—"राजराजेश्वर! आपने पूछा है तो मैं आपके समक्ष यथातथ्य रूप से तथ्य बात ही निवेदन करूंगा। अपराध क्षमा हो। महाराज सिद्धराज जयसिंह में ९६ गुण और २ दोष थे, इसके विपरीत आप में २ गुण और ९६ दोष हैं।"

राज पुरोहित आलिग गुर्जर राज्य में उस समय सत्यवादी के रूप में विख्यात थे। कुमारपाल भी इस बात को जानता था कि आलिग किसी के समक्ष सच बात कहने में कभी हिचकिचाहट अनुभव नहीं करता। पुरोहित के मुख से अपने ९६ दुर्गुणों की बात सुनकर कुमारपाल को अपने आप से बड़ी घृणा हुई। उसने अपनी कटार को म्यान से बाहर निकाल कर अपने दोनों नेत्र फोड़ने का उपक्रम किया। वृद्ध राजपुरोहित ने विद्युत् वेग से लपक कर महाराज कुमारपाल का दक्षिण हाथ अपने वृद्ध किन्तु सशक्त पंजे से कसकर पकड़ लिया और कहने लगा—"महाराज! आपने मेरी आगे की बात नहीं सुनी। सिद्धराज जयसिंह में ९६ गुण थे लेकिन रणांगण में उद्भट पौरुष का अभाव और स्त्री लम्पटता ये दो महान् दोष उन ९६ गुणों पर पानी फेर देने वाले थे; इसके विपरीत आप में कृपणता आदि ९६ दोष हैं किन्तु आपके रण शौण्डीर्य और 'मातृवत् पर दारेषु'—अपनी स्त्री के अतिरिक्त संसार की समस्त रमणियों को अपनी माता और सहोदरा के तुल्य समझने के जो महान् गुण हैं, उन दो गुणों से आपके वे ९६ दोष पूरी तरह ढंक जाते हैं।"

---

१. श्रीमद्भीमदेव राज्य चिन्ताकारी व्याघ्रपल्ली सङ्केत प्रसिद्धः श्रीमदानाक नन्दनः श्री लवणसाहप्रसादश्चिरं राज्यं चकार।

(प्रबन्ध चिन्तामणि पृष्ठ १६०, १९८८ का नवीन संस्करण)

2. Arnorajas' son Lavanprasad then took charge of the administration on behalf of the chalakye king. He fixed his headquarters at Dholka.

—Struggle for Empire Vol. 5 Page 50.

अपने वृद्ध राज पुरोहित के इस कथन को सुनकर कुमारपाल को सन्तोष हुआ और उसने अपनी कटार म्यान में रख ली।

इस छोटी सी घटना से कुमारपाल के दो आदर्श एवं अनुकरणीय गुणों के साथ-साथ यह स्पष्टतः प्रकट हो जाता है कि वह वस्तुतः पापभीरु, परम आस्तिक और अपने दोषों के लिये प्रायश्चित करने में तत्पर था।

दृढ़ प्रतिज्ञ कुमारपाल

"कुमारपालकारितामारि-प्रवन्ध" (मुनि जिनविजय द्वारा सम्पादित पुरातन प्रवन्ध संग्रह) के अनुसार महाराज कुमारपाल के परम श्रद्धानिष्ठ अहिंसा भक्त बनने और अपने विशाल साम्राज्य में अमारि की घोषणा से कतिपय वर्गों के लोगों को बड़ी ईर्ष्या हुई और उन्होंने सामूहिक रूप से राजा के समक्ष उपस्थित हो निवेदन किया—"कन्टेश्वरी देवी को चिरकाल से बलि दी जाती रही है। अमारि की घोषणा के पश्चात् कन्टेश्वरी देवी को दी जाने वाली बलि भी बन्द कर दी गई है। अब यदि कन्टेश्वरी देवी को पशुओं की बलि नहीं दी गई तो कन्टेश्वरी देवी क्रुद्ध हो जायगी। उसके प्रकोप से गुर्जर राज्य और उसकी प्रजा का महान् अनर्थ हो सकता है। महाराज ! इसी कारण प्रजा में चारों ओर घोर अनर्थ की आशंका का भय व्याप्त हो गया है।"

अहिंसा का पुजारी कुमारपाल अपने निर्णय पर अटल था। तथापि उसने आचार्यश्री हेमचन्द्र की सेवा में उपस्थित हो उन्हें कुछ स्वार्थी लोगों द्वारा उत्पन्न की गई परिस्थिति से अवगत किया।

उन्होंने कुमारपाल से कहा—"राजन् ! इस प्रकार से भयभीत वर्ग को आश्वस्त करने के लिये अच्छे मोटे ताजे पशुओं को देवी के मन्दिर के परकोटे में स्वयं अपने सामने बन्द करवा दो।"

कुमारपाल तत्काल आचार्यश्री के मनोगत विचारों को ताड़ गया और उसने प्रजा वर्ग को सान्त्वना देते हुए कहा—"सबके धार्मिक अधिकारों की रक्षा की जायगी और यथेष्ट व्यवस्था कर दी जायगी।"

महाराज कुमारपाल ने अपने अधिकारियों को देवी की वलि के लिये मोटे ताजे पशु देवी के मन्दिर में पहुंचाने का आदेश दिया और उन्हें अपने समक्ष देवी के मन्दिर के अहाते में पानी व चारे की व्यवस्था कर वन्द करवा दिया। परकोटे के द्वार पर ताला लगाकर कुमारपाल ने चावी अपने पास रक्खी। और द्वार पर निगरानी के लिये अपने सैनिकों को नियुक्त कर दिया।

दूसरे दिन प्रातःकाल कुमारपाल अपने अधिकारियों और प्रमुख प्रजाजनों के साथ कन्टेश्वरी के मन्दिर में पहुंचा। देवी के मन्दिर के द्वार राजा ने अपने समक्ष खुलवाये। सब लोगों ने देखा कि रात में बन्द किये गये सभी पशु निर्भय हो मन्दिर के बाहर प्रांगण में बैठे हैं।

महाराजा कुमारपाल ने उपस्थित प्रजाजनों को सम्बोधित करते हुए गम्भीर स्वर में कहा :—"देवी की बलि के लिये कल सायंकाल इन पशुओं को यहां बन्द कर दिया गया था। ये सब पूर्ण प्रसन्न मुद्रा में यहां बैठे हुए हैं। यदि देवी को पशुओं का मांस प्रिय होता तो यह महाशक्तिशालिनी देवी कंटेश्वरी इन पशुओं का भक्षण किये बिना नहीं रहती। जितने पशु यहां बन्द किये गये थे उनमें से एक भी कम नहीं हुआ है। इससे यही सिद्ध होता है कि देवी कंटेश्वरी को मांस किंचित्-मात्र भी रुचिकर नहीं लगता है। उसे पशुओं के मांस की कोई लालसा नहीं है। मांस भक्षण तो वस्तुतः केवल जिह्वालोलुप रसगृद्ध लोगों को ही रुचिकर लगता है। देव देवियों को नहीं। इसलिये मेरे द्वारा की गई अमारि की घोषणा अटल है, अनुल्लंघ्य है और है पूर्णतः उचित। इसका पूर्णतः पालन किया जाय और देवी को अतीव स्वादिष्ट महार्घ्य षट्रस भोजन—अन्न निर्मित नैवेद्य समर्पित किया जाय।"

इस प्रकार दृढ़ प्रतिज्ञ महाराजा कुमारपाल ने अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहते हुए प्रजावर्ग को भी अपने बुद्धिकौशल से सन्तुष्ट कर दिया।

इस प्रकार परमार्हत महाराजा कुमारपाल ने अपने लगभग तीस वर्ष के शासनकाल में जिनशासन की जो अत्यन्त महत्वपूर्ण सेवाएं कीं, वे जैन इतिहास में ही नहीं अपितु भारत के गौरवशाली इतिहास में भी और विशेषतः गुजरात प्रदेश के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखी जाकर शताब्दियों तक स्मरण की जाती रहेंगी। भारत के इतिहास में सम्प्रति के पश्चात् यद्यपि वीर विक्रमादित्य, गंग राजवंश के प्रायः सभी राजा महाराजा, होइसल राजवंश और राष्ट्रकूट राजवंश के राजाओं ने अपने-अपने समय में जिनशासन की उल्लेखनीय सेवाएं कर जिनशासन के सर्वतोमुखी अभ्युदय एवं उत्कर्ष के लिये उल्लेखनीय प्रयास किये, किन्तु जहां तक अपने सम्पूर्ण राज्य में निरन्तर चौदह वर्ष तक अमारि की घोषणा का पूर्णतः प्रभावपूर्ण ढंग से पालन करवाकर जैनधर्म के आधारभूत अहिंसा सिद्धान्त का मन वचन और कर्म से न केवल लाखों करोड़ों ही अपितु अगणित मूक पशुओं को अभयदान प्रदान किया। इस दृष्टि से तो महाराज कुमारपाल का नाम, श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् हुए जिनशासन-भक्त राजाओं में सम्प्रति के समकक्ष ही स्मरण किया जाता रहेगा।

कलिकाल सर्वज्ञ के विरुद से विभूषित आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि ने विपुल साहित्य का निर्माण कर जो जिनशासन के ज्ञान भण्डार की उल्लेखनीय श्रीवृद्धि

की, उसमें भी प्रमुख योगदान कुमारपाल का ही था। भारत के सुदूरस्थ प्रान्तों, राज्यों एवं विभिन्न ज्ञान भण्डारों से प्राचीन साहित्य को विपुल मात्रा में यदि कुमारपाल आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि को उपलब्ध नहीं करवाते, लेखकों के एक बहुत बड़े समूह को आचार्यश्री की सेवा में प्रस्तुत एवं समुद्यत नहीं करते तो सुनिश्चित ही था कि वे इस प्रकार जिनशासन के साहित्य की श्रीवृद्धि करने में इतने अधिक सफलकाम नहीं हो पाते।

परमार्हत महाराजा कुमारपाल का गुर्जर राज्य के सिंहासन पर आसीन होने से पहले का जीवन बड़ा ही संघर्षमय और संकटों से ओतप्रोत रहा। गुर्जर राज्य का महान् शक्तिशाली राजा सिद्धराज जयसिंह कुमारपाल के प्राणों का प्यासा बन गया था अतः कुमारपाल को अपने प्राणों की रक्षा के लिये देश के विभिन्न भागों में, वनों में वर्षों तक दर-दर की ठोकरें खानी पड़ीं। निरन्तर कई दिनों तक भूखे पेट रह कर उसे लम्बी-लम्बी पदयात्राएँ करनी पड़ीं। संन्यासी के वेष में वर्षों तक इधर-उधर भटकना पड़ा। अनेक बार प्राण संकट की घड़ियां उपस्थित हो जाने पर भी उसने साहस को नहीं छोड़ा, अपने बुद्धि-कौशल से वह सिद्धराज जयसिंह के चंगुल से बचकर निकल भागा। महान् गुर्जर राज्य के राज सिंहासन पर उसे गृह कलह, आन्तरिक विद्रोह और बाहरी शत्रुओं से लोहा लेना पड़ा। इस प्रकार की विकट परिस्थितियों में भी कुमारपाल ने साहस और शौर्य का सम्बल ले अपने शत्रुओं को समाप्त कर अपने शासन को निष्कंटक बनाया। कुमारपाल ने इस प्रकार की सभी भांति प्रतिकूल परिस्थितियों के उपरान्त भी अद्भूत् शौर्य-प्रदर्शन कर अपने राज्य की सीमाएं उत्तर में बाड़मेर मालानी पाली, चित्तौड़, उदयपुर, पूर्व में भेलसा, पश्चिम में काठियावाड़ और दक्षिण में कौंकण तक स्थापित कर गुर्जर राज्य को एक विशाल साम्राज्य का स्वरूप प्रदान किया।

गुर्जर प्रदेश में आज भी कर्त्तव्यनिष्ठा, धर्म के प्रति श्रद्धा, गुणिजनों के प्रति सम्मान, विनय, मृदुभाषिता, दया आदि मानवीय संस्कार दृष्टिगोचर होते हैं। इन संस्कारों का बीजवपन वस्तुतः आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि और परमार्हत महाराजा कुमारपाल के चोली-दामन तुल्य सहकार से ही सम्भव हुआ है।

संकटकाल में परम सहायक, अपने जीवन को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, स्व-दारसन्तोष रूप ब्रह्मचर्य, के साँचे में ढालने वाले, रत्नत्रयी का बोधिबीज वपन करने वाले और जिनशासन के विश्व-बन्धुत्व के महान् सिद्धान्तों पर आरूढ एवं अग्रसर कराने वाले अपने महान् उपकारी गुरु आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि को संलेखना संथारा-पूर्वक स्वर्गारोहण के लिए समुद्यत देख परमार्हत कुमारपाल विचलित हो उठा। अनेक भीषण संग्रामों में अपनी चतुरंगिणी विशाल सेना की अग्रिम पंक्ति पर दुर्दमनीय शत्रुओं से साहसपूर्वक लोहा लेने वाला शूरवीर कुमारपाल अपने गुरु की

आसन्न महाप्रयाण अवस्था को देखकर शोकसागर में निमग्न हो गया। उसके फुल्लारविन्दायत लोचन अश्रुओं के पूर से डबडबा उठे। परमार्हत कुमारपाल को इस प्रकार चिन्तातुर देख आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि ने आश्वस्त करते हुए कहा—"राजन्! संयोग का अन्तिम स्वरूप वियोग एवं जन्म का अन्तिम स्वरूप मरण है। ये दोनों अपरिहार्य एवं ध्रुव हैं। अतः अवश्यम्भावी भाव के लिये चिन्तित होना व्यर्थ है। तुमने अमारि की घोषणा और जिनशासन की श्रद्धापूर्वक अपूर्व सेवा से अपना इहलोक और परलोक सुधारा है। तुम भी थोड़े ही समय में मेरा अनुसरण करने वाले हो इसलिये चिन्ता का पूर्णतः परित्याग कर अपने अवशिष्ट रहे स्वल्प जीवन में जिनशासन की सेवा के कार्यों में निरत हो जाओ। इस प्रकार महाराज कुमारपाल को, अपने शिष्य वर्ग एवं उपासकवृन्द को धर्म में तत्पर रहने का उपदेश दे आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि ने विक्रम सम्वत् १२२९ में समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण किया।

कुमारपाल ने राजकीय सम्मान के साथ आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि के पार्थिव शरीर का अन्तिम संस्कार किया और उनकी चिता की भस्म लेकर अपने भाल पर श्रद्धापूर्वक उससे तिलक किया। राजा का अनुकरण करते हुए सामन्तों ने, मंत्रियों ने और अन्तिम क्रिया में उपस्थित हुए हजारों नागरिकों ने भी चिता ठंडी हो जाने पर तीसरे चौथे दिन से ही चिता की भस्म का अपने भाल पर तिलक करना प्रारम्भ किया। परिणामस्वरूप चितास्थल पर गहरा गड्ढा हो गया और उस गड्ढे को अणहिल्लपुर पट्टण के निवासियों ने हेमखण्ड नाम दिया।

आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि के वियोग में अपने लोचन-युगल से अश्रुधाराएं प्रवाहित करते हुए कुमारपाल को शोक सन्तप्त दशा में देखकर सामन्तों एवं सचिवों ने अपने सान्त्वनापूर्ण वचनों से समझाया। कुमारपाल ने शोकावरुद्ध कण्ठ से कहा—"मुझे चिन्ता केवल इसी बात की है कि राजपिण्ड का सदा परिहार करने वाले मेरे गुरुदेव को अन्न तो दूर मेरे यहां के पानी की एक बूंद तक भी मैं समर्पित नहीं कर सका।"

इस प्रकार अपने परमोपकारी गुरुवर आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि का स्मरण करता हुआ कुमारपाल उनके बताये हुए पथ पर अहर्निश जिनशासन की सेवा में निरत रहने लगा। अन्त में विक्रम सम्वत् १२३० में परमार्हत कुमारपाल ने समाधिपूर्वक अपने सब पापों की आलोचना कर परलोक की ओर प्रयाण किया।



अजयदेव

गुर्जर नरेश परमार्हत महाराजा कुमारपाल के पश्चात् विक्रम संवत् १२३० तदनुसार वीर सम्वत् १७०० में अजयदेव विशाल गुर्जर राज्य के राज सिंहासन पर आसीन हुआ। इसका तीन वर्ष जैसी अल्पावधि का राज्य भी साधारणत: गुर्जर राज्य की सम्पूर्ण प्रजा के लिये और विशेषत: जैन धर्मानुयायियों के लिए बड़ा ही उत्पीड़क सिद्ध हुआ।

अजयदेव ने शासन की वागडोर सम्हालते ही अपने पूर्वजों द्वारा निर्मापित देव मन्दिरों को गिरवाना प्रारम्भ कर दिया। उसके इन धर्म विरोधी विध्वंसक कुकृत्यों को रुकवाने के लिये प्रमुख प्रजाजनों द्वारा किये गये अनेक उपायों के निष्फल हो जाने पर प्रजाजनों के आग्रह पर अभिनय कला में निष्णात सीलरण नामक राजमान्य नाटककार ने राजा को ठीक मार्ग पर लाने का बीड़ा उठाया। उसने राज प्रासाद में महाराजा अजयपाल के समक्ष अपनी आश्चर्यकारिणी नाट्यकला का प्रदर्शन करते हुए एक अद्भुत नाटक का मन्चन किया। उस नाटक में नाट्यकार सीलरण ने इन्द्रजाल जैसी माया के माध्यम से अतीव सुन्दर पांच देव मन्दिरों का निर्माण किया और उन्हें अपने पुत्रों को सम्हलाते हुए कहा—"मेरे प्राणप्रिय आज्ञाकारी पुत्रों ! मेरी मृत्यु के अनन्तर भी तुम लोग इन मन्दिरों की अच्छी तरह देखभाल करते रहना, इनकी सुरक्षा का सावधानीपूर्वक ध्यान रखना।"

तत्पश्चात् सीलरण रुग्ण की भांति इस प्रकार पलंग पर लेट गया मानो वह परलोक की ओर प्रयाण करने वाला ही है। उसी समय सीलरण के कनिष्ठ पुत्र ने उन कृत्रिम देव मन्दिरों को तोड़-फोड़ कर धराशायी कर दिया। अपने पुत्र द्वारा देव मन्दिरों के नष्ट किये जाने की बात सुनते ही सीलरण तत्काल धूलिसात हुई देव कुलिकाओं की ओर दौड़ा और उसने अपने पुत्र की भर्त्सना करते हुए कहा :—"अरे ओ कुपुत्र ! महाराजा अजयदेव ने तो अपने पिता (पूर्वज राजा कुमारपाल) के परलोक की ओर प्रयाण कर चुकने के अनन्तर उनके द्वारा बनवाये गये मन्दिरों को तुड़वाया, पर तू तो सबसे बड़ा ऐसा कुपूत निकला कि मेरी जीवितावस्था में ही तूने मेरे द्वारा बनवाये गये मन्दिरों को तोड़-फोड़ कर धूलिसात् कर अपने आपको अधमाधम सिद्ध कर दिया है।"

नाटक में इस प्रकार के संवाद को सुनकर अजयदेव बड़ा लज्जित हुआ और उसने अधर्मपूर्ण उस विध्वंसक कार्य को त्याग दिया। देव मन्दिरों को भूलुंठित

करने के कार्य से शीलरण द्वारा बड़ी बुद्धिमत्तापूर्वक विरत किये जाने के अनन्तर गुर्जर पति अजयदेव ने दिवंगत महाराजा कुमारपाल और स्वर्गस्थ हेमचन्द्रसूरि के प्रीतिपात्रों को यमधाम पहुंचाने का कार्य अपने हाथ में लिया।

अजयदेव ने परमार्हत कुमारपाल के परम विश्वासपात्र एवं स्वर्गीय आचार्यश्री हेमचन्द्र के परम प्रीतिपात्र लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् कपर्दि नामक मन्त्री को सर्व प्रथम छलछद्मपूर्वक यम का अतिथि बनाने के उद्देश्य से षडयन्त्र रचा। उसने कपर्दि मन्त्री को अपने पास बुलवा कर उसे महामात्यपद ग्रहण करने के लिये आग्रहपूर्ण अनुरोध किया। कपर्दि ने दूसरे दिन शकुन लेने के पश्चात् उत्तर देने का समय मांगा। दूसरे दिन प्रातःकाल कपर्दि मन्त्री शकुन लेने के लिए घर से निकला। दो चार डग आगे बढ़ते ही कपर्दि ने देखा कि एक हृष्ट-पुष्ट वृषभ हुंकार करता हुआ (नर्दन करता हुआ) अपने अग्रिम क्षुराग्रों से पृथ्वी का उत्खनन कर रहा है। इस शकुन को अपने अनुकूल समझकर मन्त्री कपर्दि बड़ा प्रसन्न हुआ। मरुवृद्ध नामक शकुनशास्त्री को बड़े उत्साह के साथ अपना शकुन सुनाते हुए कपर्दि मन्त्री ने कहा :—"देखिये, इससे बढ़कर श्रेष्ठ शकुन क्या हो सकता है ?" शकुनशास्त्री ने कहा :—"मन्त्रिवर ! यह शुभ शकुन नहीं। आपके काल का सूचक बड़ा ही अशुभ शकुन है। इसका आशय यह है कि वृषभ यह बता रहा है कि इस मन्त्री कपर्दि के भस्मीभूत शव की भस्म अपने अंग-प्रत्यंग में रमा मेरे स्वामी भगवान् शंकर शीघ्र ही अपने शरीर की शोभा बढ़ायेंगे, यही सोचकर हर्षोन्मत्त हो वह वृषभ हर्षनाद कर रहा था।"

"मरुवृद्ध ! आज ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारी बुद्धि कहीं घास चरने चली गई है।" इस प्रकार मरुवृद्ध के कथन की अवमानना करता हुआ कपर्दि मन्त्री महाराजा अजयदेव के समक्ष उपस्थित हो निवेदन करने लगा :—

"महाराज ! आपका यह सेवक आपके आदेश को सहर्ष शिरोधार्य करने के लिये समुद्यत है।"

महाराजा अजयदेव ने तत्काल कपर्दि मन्त्री को विशाल गुर्जर राज्य के महामात्य पद पर नियुक्त करते हुए उसे महामात्य पद की मुद्रा प्रदान कर दी। महामात्यपद के कार्य-भार को सम्हाल कर घटिका पर्यन्त महामात्य कपर्दि अजयदेव से मन्त्रणा कर अपने घर लौट गया। वर्द्धापन देने वालों का महामात्य कपर्दि के घर तांता-सा लग गया। दिन बड़े ही आमोद-प्रमोद एवं हर्षोल्लास के साथ व्यतीत हुआ। रात्रि में गुर्जरेश ने अपने महामात्य को मन्त्रणा के व्याज से बुलवा कर बन्दी बना लिया और आग पर खोलते हुए प्रतप्त तेल के कड़ाह के पास उसे खड़ा कर अपने अनुचरों से उसे अपमानित एवं प्रपीड़ित करवाने लगा।

अनेक भीषण युद्धों में अद्भुत शौर्य प्रदर्शित करते हुए सदा विजयश्री का वरण करने वाले महामात्य कपर्दि की मनोदशा उस समय ठीक उसी प्रकार की

हो रही थी, जिस प्रकार कि मदोन्मत्त हाथियों के गंडस्थलों पर पार्ष्णिप्रहार-पूर्वक गजमुक्ताओं को सदा विदलित विकीर्णित करते आ रहे शार्दूल की रुग्णावस्था के कारण शृगालों द्वारा यथेच्छ भक्षण किये जाने पर होती है। शृङ्खलाओं से आबद्ध महामात्य कपर्दि ने अदीन भाव से धैर्य धारण किये अत्याचारी अजयदेव के समक्ष अपने आन्तरिक उद्‌गार अभिव्यक्त करते हुए घनरव गम्भीर स्वर में कहा :—"राजन् ! गरीबों एवं अभ्यर्थियों को मैंने यथेच्छ कोटि-कोटि कांचन मुद्राओं का दान किया है। शास्त्रार्थों में अनेक प्रतिवादियों के मान का मर्दन भी किया है और जिस प्रकार शतरंज के खेल में प्यादियों की उखाड़-पछाड़ की जाती है, ठीक उसी प्रकार मैंने अनेकों राजाओं को सिंहासन-च्युत और अनेकों को सिंहासनासीन भी किया है, अब यदि दुर्भाग्य मेरा अन्त इसी प्रकार करना चाहता है तो उसके लिये भी मैं सहर्ष समुद्यत हूं।"

महामात्य कपर्दि की इस गर्वोक्ति को सुनते ही अजयदेव बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसने अपने अनुचरों को भ्रूभंग के निक्षेप से इंगित किया। अपने स्वामी का इंगित पाते ही अनुचरों ने महामात्य कपर्दि को आग पर खौलते हुए तेल के कड़ाह में डाल दिया। इस प्रकार आर्यधरा के एक महान् सेनानी का प्राणान्त कर दिया गया।

अजयदेव द्वारा जैनाचार्य श्री रामचन्द्र की हत्या

गुर्जराधिपति अजयदेव के सिर पर हत्या आरूढ हो रही थी। महामात्य कपर्दि के प्राणों को लेकर भी उसकी मानव हत्या की भूख शान्त नहीं हुई। उसने आचार्यश्री हेमचन्द्र के पट्टधर, एक सौ प्रवन्धों की रचना करने वाले महान् ग्रन्थकार एवं विद्वान् आचार्य रामचन्द्रसूरि को बुलवाया और उन्हें खैर के जगमगाते हुए अंगारों पर प्रतप्त की जा रही ताम्रपट्टिका पर ढकेल कर उनका प्राणान्त करने की घृणित अभिसन्धि करते हुए उनसे कहा :—"मुने ! इस ताम्रपट्टिका पर खड़े हो जाओ।"

आचार्यश्री रामचन्द्र ने प्रचण्ड अग्नि के ताप से लाल हुई तांवे की विशाल चद्दर को देखते ही विचार किया :—

"सूर्य का रथ प्राची से उदीचि तक पृथ्वी की परिक्रमा करने के अनन्तर भी पृथ्वी का स्पर्श नहीं करता। यह युगादि का नियम चला आ रहा है। मैंने पंच महाव्रत धारण किये हैं। मैंने षड्जीवनिकाय के प्राणियों की सूक्ष्म से सूक्ष्म हिंसा से जीवन-पर्यन्त विरत रहने का व्रत ग्रहण किया है। जब सूर्य का रथ अपने व्रत (नियम) की रक्षा के लिये अस्त होना अंगीकार कर लेता है किन्तु पृथ्वी का स्पर्श नहीं करता तो फिर मैं पंचमहाव्रतधारी होकर अपने प्राणों के रहते इन अग्निकाय के जीवों की विराधना—हिंसा क्यों करूं ?"

एक ही क्षण में इस प्रकार विचार कर उन्होंने अपने वाम हस्त से अपनी जिह्वा को पकड़ कर बाहर खींचा और दक्षिण कर के करतल से अपनी ठुड्डी पर पूरी शक्ति से प्रहार किया। उनकी जिह्वा कट गई। वे पृथ्वी पर गिर पड़े और समाधिपूर्वक उन्होंने स्वर्गारोहण किया।

इस मुनि-हत्या के जघन्य कुकृत्य के उपरान्त भी उस नृपाधम अजयदेव की क्षुधा शान्त नहीं हुई और वह महान् गुजरात का निर्माण करने वाले दिवंगत महामात्य उदयन के महादानी, महामेधावी और महान् शौर्यशाली योद्धा पुत्र आम्रभट्ट को यमधाम पहुंचाने के अवसर को टोह में रहने लगा।

गुर्जराधीश अजयदेव द्वारा आम्रभट्ट की हत्या का उपक्रम

गुजरात के महा यशस्वी महामात्य उदयन का पुत्र आम्रभट्ट अपने समय का एक अप्रतिम योद्धा एवं सेनापति था। गुजरात के महादानियों में उसकी सर्वोपरि गणना की जाती थी। परमार्हत महाराजा कुमारपाल का वह विश्वासपात्र सेनानी था। उसने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त कर गुर्जर राज्य की श्रीवृद्धि एवं सीमावृद्धि की। जिनशासन के प्रति उसकी श्रद्धा प्रगाढ़ एवं स्तुत्य थी। आचार्यश्री हेमचन्द्र एवं कुमारपाल का वह प्रगाढ प्रीतिपात्र था। इसी कारण महाराजा अजयदेव उससे सदा असन्तुष्ट रहता था। एक दिन अजयदेव के चाटुकारों ने अजयदेव से कहा :—"महाराज ! आपके ही अन्न से पलने वाला आम्रभट्ट आपको कभी प्रणाम नहीं करता।" संयोग की बात थी कि कार्यवशात् सेनापति आम्रभट्ट राजसभा में महाराजा अजयदेव के समक्ष उपस्थित हुआ। चाटुकार मन्त्रियों ने सेनापत्ति आम्रभट्ट से कहा :—"सेनापते ! आपके समक्ष गुर्जरेश्वर राजसिंहासन पर विराजमान हैं। इन्हें प्रणाम करो।"

स्वाभिमानी आम्रभट्ट ने तत्काल गम्भीर स्वर में उत्तर दिया :—"यह आम्रभट्ट देव बुद्धि से वीतराग भगवान् को, गुरु के रूप में महर्षि हेमचन्द्राचार्य को और स्वामिभाव से महाराज कुमारपाल को ही इस जन्म में नमस्कार करेगा। अन्य किसी को नहीं।"

आम्रभट्ट की इस साहसपूर्ण स्पष्टोक्ति को सुनते ही अजयदेव के क्रोध का पारावार न रहा। उसने उत्तेजित स्वर में कहा :—"तो फिर हो जाओ युद्ध के लिये तैयार।"

आम्रभट्ट तत्काल विद्युत्वेग से अपने आवास की ओर लौट पड़ा। जिनेश्वरदेव की प्रतिमा को नमन करने के अनन्तर उसने आजीवन अनशन व्रत अंगीकार किया एवं अपने मुट्ठीभर सैनिकों के साथ सन्नद्ध हो राजप्रासाद की ओर लौटा और महाराजा अजयदेव के अंगरक्षकों पर टूट पड़ा। क्षण भर में ही राज-

प्रासाद रणांगण बन गया। अनेक योद्धाओं का संहार कर आम्रभट्ट अपनी आन की रक्षा करता हुआ अन्त में अपने हाथों ही मृत्यु का वरण कर परलोकवासी हो गया।

गुर्जराधीश अजयदेव की हत्या

इस प्रकार अजयदेव के अत्याचारों से गुर्जर राज्य की प्रजा त्रस्त हो उठी लोक में निम्नलिखित नीतिसूक्ति बड़ी लोकप्रिय है :—

त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः।
अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते ।। ३४ ।।

अर्थात् इस मर्त्यलोक में अत्युत्कट भाव से किये गये महान् पुण्य एवं घोर पाप का फल उस प्राणि को तीन वर्ष, तीन मास, तीन पक्ष अथवा तीन दिनों की अवधि में ही यहां इस धरती पर ही मिल जाता है।

इस नीति सूक्ति के अनुरूप अत्याचारी महाराजा अजयदेव के द्वारा किये गये घोर दुष्कृत्यों का फल तीन वर्ष के अन्दर-अन्दर ही उसे मिल गया। अजयदेव के एक वैजलदेव नामक प्रतिहार अथवा अंगरक्षक ने अजयदेव के उदर में छुरा भौंक कर उसका प्राणान्त कर दिया। इस प्रकार अपने तीन वर्ष के अत्याचारी शासन-काल में ही अजयदेव को अपने पापों का फल प्राप्त हो गया।

अपने तीन वर्ष के अत्याचारपूर्ण शासन के समाप्त होते-होते गुर्जराधिपति अजयदेव की हत्या कर दिये जाने के अनन्तर उसके अल्पवयस्क बड़े पुत्र मूलराज (द्वितीय) को अनहिलपुर पत्तन के राजसिंहासन पर आसीन किया गया। अजयदेव की विधवा महारानी राजमाता नायकीदेवी ने विशाल गुर्जर राज्य की संरक्षिका के रूप में शासन की बागडोर अपने हाथों में सम्हाली। नायकीदेवी गोआ के कदम्बवंशी महाराजा परमर्दिन् की पुत्री थी। उसने गुर्जर राज्य की प्रजा को सुशासन देने के साथ-साथ गुर्जर राज्य को एक शक्तिशाली राज्य बनाने के भी प्रयास किये।

वि० सं० १२२५ तदनुसार वीर नि० सं० १७०५ तथा ई० ११७८ में गौर के सुलतान मोहम्मद गौरी ने गुजरात पर आक्रमण किया। गुजरात की राजमाता नाइकीदेवी ने अपने बालवय के पुत्र मूलराज (द्वितीय) को अपनी गोद में बिठा गुर्जर राज्य की सेना का नेतृत्व करते हुए मोहम्मद गौरी के सम्मुख बढ़कर उस पर भीषण आक्रमण किया। आबू पर्वत के अंचल में अवस्थित गाडरारघट्ट नामक घाटे में दोनों सेनाओं के बीच तुमुल युद्ध हुआ। राजमाता नायकीदेवी ने रणांगण की अग्रिम पंक्ति पर शत्रुसेना का संहार करते हुए अद्भुत् साहस और शौर्य के साथ गुर्जर राज्य की सेना का कुशलतापूर्वक संचालन किया। प्रकृति ने भी मुक्तहस्त हो

राजमाता की सहायता की। मूसलाधार वर्षा में युद्ध की अनभ्यस्त शत्रुसेना के रणांगण से पैर उखड़ गये। राजमाता नायकीदेवी ने अपने योद्धाओं का उत्साह बढ़ाते हुए शत्रुसेना पर प्रलयंकर प्रहार किये। गौरी की सेना प्राण बचा उल्टे पांवों भाग खड़ी हुई। शहाबुद्दीन गौरी भी गुर्जर सेना के शस्त्राघातों से घायल हो अपनी बची सेना के साथ गौर की ओर लौट गया।[1]

यहां यह इतिहासरुचि प्रत्येक विज्ञ के लिये विचारणीय है कि जैनधर्म के प्रति शताब्दियों से प्रगाढ़ निष्ठा रखने वाले कदम्ब राजवंश की राजकुमारी और "परमार्हत्" विरुद से विभूषित एवं अहिंसा के सक्रिय परमोपासक गुर्जरेश्वर कुमारपाल की पुत्रवधु नायकीदेवी ने मुहम्मद गौरी जैसे दुर्दान्त विदेशी आततायी को अपने साहस, शौर्य एवं रणकौशल से युद्ध में परास्त तथा घायल कर अहिंसा के गौरवशाली समुन्नत भाल पर कायरता की कलंक-कालिमा की छाया तक न पड़ने दी।

युद्ध में गुर्जरराज्य की जय और मुहम्मद गौरी की पराजय के कुछ ही समय पश्चात् गुजरात के बालक महाराजा मूलराज की उसी वर्ष वि० सं० १२३५ में प्राकृतिक मृत्यु के अनन्तर उसके छोटे भाई भीम (द्वितीय) को गुर्जर राज्य के राजसिंहासन पर आसीन किया गया। राज्यारोहण के समय महाराजा भीम की शैशवावस्था थी। मालवराज सुभटवर्मन ने इसे गुजरात विजय का स्वर्णिम अवसर समझकर एक शक्तिशाली सेना ले गुजरात की ओर प्रयाण किया। चरों के माध्यम से सुभटवर्मन के गुजरात की ओर बढ़ने के समाचार सुनकर महाराज भीम का प्रधानामात्य उसके सम्मुख जा गुजरात की सीमा पर उससे मिला और मेरुतुंगसूरि द्वारा अपनी ऐतिहासिक कृति प्रबन्धचिन्तामणि में किये गये उल्लेख के अनुसार उसने मालवपति सुभटवर्मन से कहा :—

---

१. (क) सं० १२३३ पूर्ववर्ष १ बालमूलराजेन राज्यं कृतमस्य मात्रा नाइकिदेव्या परमर्दिभूपसुतयोत्संगे शिशुं निधाय गाडरारघट्टनामनि घाटे संग्रामं कुर्वत्या म्लेच्छराजा तत्सत्त्वादकालागतजलदपटलसाहाय्येन विजिग्ये।

—प्रबन्धचिन्तामणि, पृष्ठ १५६,—(मेरुतंगसूरिरचित)

(ख) राजपूताने का इतिहास, खण्ड १ (ओझा), पृष्ठ १७६ और २७१

(ग) इलियट, हिस्ट्री आफ इंडिया, वोल्यूम २, पृष्ठ २२६–३०

(घ) In A.D. 1178 Mu'izzudin Muhammad Ghuri attacked the Kingdom of Gujarat. Naikidevi, "taking her son (Mularaja) in her lap" led the chalukya army against the muslims and defeated them at Gadaraghatta near the foot of Mt. Abu.

—The History & Culture of the Indian People. The Struggle for Empire. (Vol. V.) By R.C. Majumdar, Page 78.

प्रतापो राजमार्तण्ड, पूर्वस्यामेव राजते ।
स एव विलयं याति, पश्चिमाशावलम्बिनः ।।

अर्थात्—हे पूर्व दिशा के स्वामिन् सुभटवर्मन ! सूर्य जब तक पूर्व दिशा में रहता है, उसका प्रचण्ड प्रकाश उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है किन्तु मध्यान्ह वेला के अनन्तर जब वह पश्चिम दिशा की ओर उन्मुख होता है तो उसका तेज क्रमशः घटता ही जाता है और अन्ततोगत्वा धरातल ही नहीं अपितु गगन-मण्डल से भी तिरोहित हो जाता है । पूर्व के स्वामी की पश्चिम विजय की आशा वस्तुतः उसके विनाश का कारण बनेगी ।

गुर्जर राज्य के प्रधानामात्य की इस व्याजोक्ति से सुभटवर्मन के मन में अनेक प्रकार के विचार उत्पन्न हुए और सम्भवतः गुजरात की सशक्त सेना के साथ विग्रह में लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक आशंका से सुभटवर्मन बिना युद्ध किये ही अपने राज्य की ओर लौट गया । इस सम्बन्ध में प्रबन्ध चिन्तामणि का निम्नलिखित उल्लेख द्रष्टव्य है :—

"सं० १२३५ पूर्ववर्ष ६३ श्री भीमदेवेन राज्यं कृतमस्मिन् राज्ञि राज्यं कुर्वाणे श्री सोहड़नामा (सुभट का विकृत स्वरूप) मालवभूपतिर्गुर्जरदेशविध्वंसनाय सीमान्तमागतस्तत्प्रधानेन सम्मुखं गत्वेत्यवादि..........

इति विरुद्धां तद्गिरमाकर्ण्य स पश्चान्निववृते ।.........."

इसके विपरीत लब्धप्रतिष्ठ इतिहासज्ञ आर. सी. मजूमदार का अभिमत है कि सुभटवर्मन परमार ने अजयपाल के बाद गुजरात पर आक्रमण किया । उसने बहुत बड़ी संख्या में जैन मन्दिरों को लूटा, जिनमें प्रमुख थे दमोई और खम्भात के जैन मन्दिर । सुभटवर्मन अपनी सेना के साथ सोमनाथ भी पहुंचा । पर उसे गुजरात के राजा भीम के सामन्त श्रीधर ने आगे बढ़ने से रोका । अन्त में गुर्जरपति भीम का सामन्त (अनहिलपत्तन से १० मील दूर व्याघ्रपल्ली का स्वामी) और प्रधानमन्त्री लवण प्रसाद युद्ध में सुभटवर्मन के समक्ष आ डटा और भीषण तुमुल युद्ध के अनन्तर लवण प्रसाद ने सुभटवर्मन को गुजरात से बाहर खदेड़ मालवा की ओर भगा दिया ।

वि० सं० १२३५ से वि० सं० १२९८ तक के अपने ६३ वर्षों के शासनकाल में गुर्जरेश्वर भीम को परमार्हत् महाराजा कुमारपाल के मौसेरे भाई सामन्त आनाक भूप[1] के पुत्र लवणप्रसाद और उसके (लवणप्रसाद के) के पुत्र वीर धवल से, छोटी

१. अथ कदाचिदानाकनामा मातृष्वसीयस्तत्सेवागुण तुष्टेन राज्ञा दत्तसामन्तपदोऽपि तथैव सेवमानः.......... । —प्रबन्धचिन्तामणि, पृष्ठ १५४

राजमाता की सहायता की। मूसलाधार वर्षा में युद्ध की अनभ्यस्त शत्रुसेना के रणांगण से पैर उखड़ गये। राजमाता नायकीदेवी ने अपने योद्धाओं का उत्साह बढ़ाते हुए शत्रुसेना पर प्रलयंकर प्रहार किये। गौरी की सेना प्राण बचा उल्टे पांवों भाग खड़ी हुई। शहाबुद्दीन गौरी भी गुर्जर सेना के शस्त्राघातों से घायल हो अपनी बची सेना के साथ गौर की ओर लौट गया।[1]

यहां यह इतिहासरुचि प्रत्येक विज्ञ के लिये विचारणीय है कि जैनधर्म के प्रति शताब्दियों से प्रगाढ़ निष्ठा रखने वाले कदम्ब राजवंश की राजकुमारी और "परमार्हत्" विरुद से विभूषित एवं अहिंसा के सक्रिय परमोपासक गुर्जरेश्वर कुमारपाल की पुत्रवधु नायकीदेवी ने मुहम्मद गौरी जैसे दुर्दान्त विदेशी आततायी को अपने साहस, शौर्य एवं रणकौशल से युद्ध में परास्त तथा घायल कर अहिंसा के गौरवशाली समुन्नत भाल पर कायरता की कलंक-कालिमा की छाया तक न पड़ने दी।

युद्ध में गुर्जराज्य की जय और मुहम्मद गौरी की पराजय के कुछ ही समय पश्चात् गुजरात के बालक महाराजा मूलराज की उसी वर्ष वि० सं० १२३५ में प्राकृतिक मृत्यु के अनन्तर उसके छोटे भाई भीम (द्वितीय) को गुर्जर राज्य के राजसिंहासन पर आसीन किया गया। राज्यारोहण के समय महाराजा भीम की शैशवावस्था थी। मालवराज सुभटवर्मन ने इसे गुजरात विजय का स्वर्णिम अवसर समझकर एक शक्तिशाली सेना ले गुजरात की ओर प्रयाण किया। चरों के माध्यम से सुभटवर्मन के गुजरात की ओर बढ़ने के समाचार सुनकर महाराज भीम का प्रधानामात्य उसके सम्मुख जा गुजरात की सीमा पर उससे मिला और मेरुतुंगसूरि द्वारा अपनी ऐतिहासिक कृति प्रबन्धचिन्तामणि में किये गये उल्लेख के अनुसार उसने मालवपति सुभटवर्मन से कहा :—

---

१. (क) सं० १२३३ पूर्ववर्षं १ बालमूलराजेन राज्यं कृतमस्य मात्रा नाइकिदेव्या परमर्दिभूपसुतयोत्संगे शिशुं निधाय गाडरारघट्टनामनि घाटे संग्रामं कुर्वत्या म्लेच्छराजा तत्सत्त्वादकालागतजलदपटलसाहाय्येन विजिग्ये।

—प्रबन्धचिन्तामणि, पृष्ठ १५६,—(मेरुतंगसूरिरचित)

(ख) राजपूताने का इतिहास, खण्ड १ (ओझा), पृष्ठ १७६ और २७१

(ग) इलियट, हिस्ट्री आफ इंडिया, वोल्यूम २, पृष्ठ २२६-३०

(घ) In A.D. 1178 Mu'izzudin Muhammad Ghuri attacked the Kingdom of Gujarat. Naikidevi, "taking her son (Mularaja) in her lap" led the chalukya army against the muslims and defeated them at *Gadaraghatta near the foot of Mt. Abu.*

—The History & Culture of the Indian People. The Struggle for Empire. (Vol. V.) By R.C. Majumdar, Page 78.

अथाह जल भरा रहे। तालाब के निर्माण के पश्चात् अर्णोराज ने अपने नाम पर उस विशाल सरोवर का नाम आनासागर रखा, जो आठ-नौ शताब्दियों के व्यतीत हो जाने पर भी अद्यावधि अजमेर में विद्यमान है।

अर्णोराज (आना) के पुत्र बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) ने भी आर्यधरा को विदेशी शासन से मुक्त कराने का अभियान प्रारम्भ रखा। दिल्ली में अवस्थित अशोक के शिलालेख शिवालिक स्तम्भ पर उट्टंकित बीसलदेव के वि० सं० १२२० के निम्नलिखित पद्यों से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि उसे (बीसलदेव को) अपने इस अभियान में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई। वे पद्य इस प्रकार हैं :—

आविंध्यादाहिमाद्रेर्व्विरचित विजयस्तीर्थयात्राप्रसंगा—
दुद्ग्रीवेषु प्रहर्त्ता नृपतिषु विनमत्कन्धरेषु प्रसन्नः।
आर्यावर्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान्म्लेच्छविच्छेदनाभि—
र्देवः शाकंभरीन्द्रो जगति विजयते वीसलक्षोणिपालः॥
ब्रूते संप्रति चाहमानतिलकः शाकंभरीभूपतिः
श्रीमद्विग्रहराज एष विजयी संतानजानात्मनः॥

अर्थात्—जिसने विन्ध्य पर्वत से लेकर हिमालय पर्वतराज पर्यन्त के भू-भाग पर अपनी दिग्विजय यात्रा करते हुए यत्र—तत्र सर्वत्र अपनी विजय वैजयन्ती फहरा कर उद्दण्डों की ग्रीवाओं पर प्रहार और विनम्रभाव से उसके शासन—अनुशासन को स्वीकार करने वालों पर अपने कृपाप्रसाद के रूप में सुख—सम्पादाओं की वर्षा कर आर्यधरा को म्लेच्छविहीन बना सम्पूर्ण आर्यावर्त को पुनः यथार्थ रूप में आर्यावर्त अर्थात् आर्यों की भूमि बना दिया, वह शाकंभरीश्वर, पृथ्वीपाल बीसलदेव सदा-सदा जयवन्त रहें।

चौहान—कुल—तिलक, शाकंभरी के राजाधिराज, विजय श्री विग्रहराज अपने आत्मीय आर्यों को कह रहे हैं।..........

इन विग्रहराज (बीसलदेव चतुर्थ) के राजकवि सोमदेव द्वारा रचित ललित विग्रहराज नाटक में भी उपरिलिखित पद्यों के तथ्यों की पुष्टि की गई है। इस नाटक के कतिपय अंश विशाल शिलाओं पर उट्टंकित हैं, जो अजमेर के राजपूताना म्यूजियम में अद्यावधि सुरक्षित एवं उपलब्ध हैं। ललितविग्रहराज नाटक में स्पष्ट उल्लेख है कि बीसलदेव के शासनकाल में मुसलमानों की सेनाएं वव्वेरा—वर्तमान रूपनगर (किशनगढ़ क्षेत्रान्तर्गत) तक पहुंच गई थीं। वीसलदेव ने उन्हें युद्ध में परास्त कर मुसलमानों को भारत से वाहर निकालने के लक्ष्य से अपनी विजयिनी सेनाओं के साथ उत्तर की ओर प्रयाण किया। इस सैनिक अभियान में वीसलदेव ने दिल्ली और हांसी के इलाके अपने राज्य में सम्मिलित किये और आर्यावर्त के एक वड़े भाग से मुसलमानों को निकाल दिया।

अथवा बड़ी सभी प्रकार की संकट की घड़ियों में बड़ी ही उल्लेखनीय सहायताएं प्राप्त होती रहीं। बाहरी आक्रमणों से इन दोनों पिता-पुत्र ने गुजरात की रक्षा की। लवण प्रसाद भीम के शासन के अन्तिम दस वर्षों को छोड़ वि० सं० १२८८ तक लगभग ५३ वर्ष पर्यन्त चालुक्यराज के प्रशासन का प्रधान बना रहा। वि० सं० १२८८ में उसके सेवा निवृत्त होने पर वीर धवल सम्पूर्ण गुर्जर राज्य का एक प्रकार से राजा तुल्य सर्वोपरि शासक बन गया।[2]

श्रमण भ० महावीर के ५० वें पट्टधर आचार्यश्री विजयऋषि के आचार्य-काल की राजनैतिक स्थिति का संक्षेप में दिग्दर्शन कराते हुए यह बताया जा चुका है कि महमूद गजनवी के देहावसान के अनन्तर उसके पुत्र-पौत्र आदि गजनी की सत्ता हथियाने के प्रयास में परस्पर लड़-भिड़ कर निर्बल बन गये और वि० सं० १०३४ में सुबुक्तगीन गजनवी द्वारा स्थापित गजनी का राज्य विक्रम की १२वीं शताब्दी का अन्त होने से पूर्व ही समाप्त हो गया।

महमूद की मृत्यु के पश्चात् गजनी की लड़खड़ाती सल्तनत की इस कमजोरी का लाभ उठा कर गजनी राज्य के अनेक सामन्त स्वतन्त्र हो गये और उत्तरी भारत के अनेक राजाओं ने सम्मिलित प्रयास के संकल्प के साथ मुसलमानों के शासन को सिन्ध और पंजाब से समाप्त कर देने का निश्चय किया। जैसा कि पहले बताया जा चुका है दिल्ली के तत्कालीन तोमरवंशी राजा ने भारत के पश्चिमी प्रदेश सिन्ध से कुछ समय के लिये इस्लामी हुकूमत को समाप्त भी कर दिया।

उस अवधि में अजमेर बसाने वाले अजयदेव ने मुसलमानों को युद्ध में परास्त किया। तदनन्तर अजयदेव के पुत्र अर्णोराज के शासनकाल में मुसलमानों ने एक सशक्त एवं विशाल सेना ले अजमेर पर आक्रमण किया। पुष्कर को नष्ट करने के पश्चात् पुष्कर की घाटी को लांघ कर मुसलमानों की वह सेना अजमेर के एकदम समीप उस स्थान पर आ पहुंची, जहां इस समय आनासागर विद्यमान है। अर्णोराज ने मुसलमानों की सेना का भीषण रूप से संहार कर उसको बड़ी करारी हार दी। उस ऐतिहासिक युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् अर्णोराज ने यह निश्चय किया कि जिस जिस स्थान पर मुसलमानों का रक्त गिरा है, वह सब भूमि अपवित्र हो गई है। अतः इस अपवित्र हुई भूमि को पवित्र करने के लिये इसकी जल से शुद्धि की जाय। इस प्रकार निश्चय कर अर्णोराज ने उस युद्ध-भूमि में एक विशाल एवं गहरा तालाब खुदवा कर उस पर चूने और पत्थर की सुदृढ़ पाज (पाल) बनवा कर उसे एक ऐसा चिरस्थायी बनवा दिया कि उस भूमि में सदा

---

2. Shortly after A. D. 1231 Lvavanprasad retired and Vir Dhavala became the De facto ruler of Gajarat.
—Struggle for Empire, p. 80 By. R. C. Majumdar

गौरी की सेनाओं के बीच घमासान युद्ध हुआ। इस युद्ध में शहाबुद्दीन गौरी ने पृथ्वीराज चौहान को बन्दी बना लिया और कुछ ही मास पश्चात् उसे मौत के घाट उतार दिया। शहाबुद्दीन गौरी ने पृथ्वीराज के पुत्र गोविन्दराज को अपनी अधीनता स्वीकार करवा अजमेर के राजसिंहासन पर बिठाया। पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने विदेशी आततायी की अधीनता स्वीकार करने वाले अपने भ्रातृज गोविन्दराज से अजमेर का राज्य छीन लिया और स्वयं अजमेर के सिंहासन पर आसीन हुआ। गोविन्दराज रणथम्भौर में जा रहा और वहां राज्य करने लगा।

वि० सं० १२५० (वीर नि० सं० १७२०) में शहाबुद्दीन गौरी के तुर्क जाति के गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक ने अजमेर राज्य के अधीनस्थ भाग—दिल्ली पर अधिकार कर लिया। उसी समय से दिल्ली एक प्रकार से अनौपचारिकरूपेण भारत में मुस्लिम राज्य की राजधानी बन गई। अजमेर के राजा हरिराज ने अपने सेनापति चतरराय को एक बड़ी सेना देकर कुतुबुद्दीन को दिल्ली से भगा देने का आदेश दिया। ऐबक के साथ हुए युद्ध में हरिराज की सेना पराजित हुई और चतरराय अपनी बची शेष सेना के साथ निराश हो अजमेर लौट आया। वि० सं० १२५२ में कुतुबुद्दीन ऐबक ने अजमेर पर आक्रमण कर हरिराज को युद्ध में पराजित कर अजमेर पर अधिकार कर लिया और वहां अपने विश्वासपात्र मुस्लिम अधिकारी को अजमेर का हाकिम नियुक्त कर वह दिल्ली लौट गया। इस प्रकार प्रतापी चौहान राजवंश के राज्य की समाप्ति के साथ ही उस समय उसके अधीनस्थ मेवाड़ राज्य के मांडलगढ़ से पूर्व के पूरे भाग पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। इससे पूर्व ही शहाबुद्दीन गौरी ने गहरवार राजा जयचन्द से कन्नौज और बनारस का राज्य छीन कर उस पर अपना अधिकार कर लिया था।

अजमेर पर अधिकार कर लेने के अनन्तर मुस्लिम राज्य के विस्तार के लिए कुतुबुद्दीन ने वि० सं० १२५२ में गुजरात पर चढ़ाई कर वहां लूट मार करना प्रारम्भ किया। उस समय गुजरात राज्य की आततायियों से रक्षा करने के लिये गुर्जरराज भीम (द्वितीय) के शक्तिशाली सामन्त एवं प्रधानामात्य वाघेला वीर धवल ने अपनी दूरदर्शितापूर्ण अद्भुत् राजनैतिक सूझ-बूझ से काम लिया। वीर धवल ने मेरों को विपुल सैनिक सहायता के साथ-साथ बड़ी धनराशि देकर उनके साथ कुतुबुद्दीन पर और उसके राज्य के अनेक भागों पर आक्रमण किया। इस अप्रत्याशित चहुंमुखी आक्रमण ने कुतुबुद्दीन को आगे बढ़ने के स्थान पर पीछे की ओर हटने एवं अजमेर के गढ़ में शरण लेने के लिये बाध्य कर दिया। मेरों ने उसके अजमेर के गढ़ को भी घेर लिया, जिसके परिणामस्वरूप कुतुबुद्दीन को कई मास तक गढ़ में घिरे रहना पड़ा। अन्ततोगत्वा शहाबुद्दीन गौरी ने गजनी से नई सेना भेज कर घेरा उठवाया।

वि० सं० १२६३ में शहाबुद्दीन गौरी लाहौर से गजनी की ओर लौटते समय धमेक के पास गक्खरों के हाथ से मारा गया और उसका भतीजा गयासुद्दीन

इस प्रकार भारत के राजाओं में कुछ समय के लिये थोड़ी बहुत राजनैतिक चेतना आई किन्तु विदेशी आततायियों के हाथों हुई भारतीय राजाओं एवं भारतीय प्रजा की दयनीय दुर्दशा के उपरान्त भी सार्वभौम सत्ता सम्पन्न राष्ट्रव्यापी सुदृढ़ केन्द्रीय शासन की स्थापना में भारतवासी पूर्णतः असफल ही रहे। सशक्त केन्द्रीय प्रभु सत्ता के अभाव का दुष्परिणाम यह हुआ कि भारत के विभिन्न प्रदेशों के छोटे-बड़े राजा परस्पर लड़-भिड़ कर कमजोर होते गये।

दूसरी ओर आपस में लड़-भिड़ कर अशक्त बनी गजनी की हुकूमत महमूद गजनवी के अन्तिम उत्तराधिकारी बहरामशाह के शासनकाल में जिस समय लड़खड़ा रही थी, उस समय गौर के सुलतान सैफुद्दीन गौरी के भाई अल्लाउद्दीन हुसैन गौरी ने गजनी पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में ले लिया। बहराम गजनी से भाग कर लाहौर में आ रहा। वि० सं १२०६ में बहराम की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र खुसरोशाह लाहोर के राजसिंहासन पर बैठा। खुसरोशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र खुसरो मलिक लाहोर का स्वामी बना और वि० सं० १२३७ में शहाबुद्दीन मुहम्मद गौरी ने खुसरोमलिक को युद्ध में परास्त कर लाहोर पर भी अधिकार कर लिया। इस प्रकार महमूद गजनवी द्वारा संस्थापित गजनवी राज्य का धरातल से नामोनिशान तक उठ गया।

सैफुद्दीन के मरने पर उसका चचेरा भाई गयासुद्दीन मुहम्मद गौरी गोर की सल्तनत का स्वामी बना। उसने अपने छोटे भाई शहाबुद्दीन गौरी को गजनी का प्रशासक नियुक्त किया। गजनी का हाकिम बनते ही शहाबुद्दीन गौरी ने क्रमशः मुलतान और भटिंडे पर आक्रमण कर उन दोनों को अपने अधिकर में ले लिया।

आर्यधरा पर बढ़ते हुए शहाबुद्दीन गौरी को भारत से बाहर निकालने के लक्ष्य से पृथ्वीराज चौहान ने एक बड़ी सेना और अनेक भारतीय राजाओं के साथ अजमेर से प्रयाण कर थाणेश्वर के निकट तराइन में शहाबुद्दीन गौरी की सेनाओं पर वि० सं० १२४८ में भीषण आक्रमण किया। तराइन के युद्ध में पृथ्वीराज चौहान ने शहाबुद्दीन गौरी को बुरी तरह पराजित किया। शहाबुद्दीन गौरी गम्भीर रूप से घायल हो अपनी बची-खुची सेना के साथ रणभूमि छोड़ भाग निकला। लाहौर में अपने घावों की चिकित्सा कराने के पश्चात् शहाबुद्दीन गजनी चला गया।

पृथ्वीराज चौहान ने वि० सं० १२४९ में तवरहिंद—भटिंडे के किले पर आक्रमण कर उसे घेर लिया। भटिंडे के हाकिम जियाउद्दीन ने अपनी सेना के साथ किले में रहते हुए लगभग १३ मास तक किले की रक्षा की किन्तु अन्त में उसे चुपचाप किला खाली कर भाग जाना पड़ा।

वि० सं० १२५० में शहाबुद्दीन गौरी एक विशाल सशक्त सेना ले दूसरी बार भारत पर चढ़ आया। थाणेश्वर के पास पृथ्वीराज चौहान और शहाबुद्दीन

खरतरगच्छ

[वेदाभ्रारुण (१२०४) काल औष्ट्रिक मतो..........]
(वीर निर्वाण सम्वत् १५५० एवं १६७४)

जन संघ में पुरातनकाल से लेकर वर्तमान युग तक समय-समय पर कितने गणों, गच्छों, सम्प्रदायों, छोटे-बड़े संघों, आम्नायों, परम्पराओं आदि के रूप में पृथक्-पृथक् इकाइयों अथवा विभेदों का प्रादुर्भाव हुआ, उन सबका परिचय देने की बात तो दूर, उनकी गणना करना भी वस्तुतः एक अति दुष्कर कार्य है। इस प्रकार की विषम स्थिति को दृष्टिगत रखते हुए वर्तमान काल में जितने गच्छ गतिशील हैं, केवल उनका ही यथाशक्य विशुद्ध रूप से परिचय देकर हमें सन्तोष करना होगा।

श्वेताम्बर परम्परा में आज जितने गच्छ विद्यमान हैं, उनमें सबसे प्राचीन गच्छ कौन-सा है तथा किस गच्छ ने जिनशासन के अभ्युदय-उत्थान में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान दिया, यह वस्तुतः एक गहन शोध का विषय है। इस विषय में नितान्त निष्पक्ष दृष्टि से उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर यह तथ्य प्रकाश में आता है कि वर्तमान में श्वेताम्बर परम्परा के जितने गच्छ गतिशील हैं, उनमें वर्द्धमानसूरि एवं उनके यशस्वी शिष्य जिनेश्वर-सूरि के अद्भुत साहस के परिणामस्वरूप विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रकट हुआ और कालान्तर में 'खरतरगच्छ' के नाम से विख्यात हुआ 'खरा' गच्छ सर्वाधिक प्राचीन गच्छ है। सर्वाधिक प्राचीन होने के साथ-साथ 'खरा गच्छ' ने जिनशासन के अभ्युदय-उत्थान के लिये और बाह्याडम्बरों के घटाटोप से आच्छन्न जैन धर्म के वास्तविक आगमिक स्वरूप को कतिपय अंशों में पुनः प्रकाश में लाने की दिशा में भी ऐसा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, उल्लेखनीय एवं ऐतिहासिक योगदान दिया, जो जैनधर्म के इतिहास में सदा सर्वदा स्वर्णाक्षरों में लिखा जाता रहेगा।

तपागच्छ पट्टावली और उपाध्याय धर्मसागर गणि द्वारा रचित 'प्रवचन परीक्षा' नामक ग्रन्थ में विक्रम सम्वत् १२०४ में खरतरगच्छ की उत्पत्ति के उल्लेख हैं।[1] किन्तु इन उल्लेखों में साम्प्रदायिक पूर्वाभिनिवेश के पुट के साथ गच्छ-व्यामोह की गन्ध का सुस्पष्टरूपेण आभास होता है।

---

१. (क) ....श्री अजितदेवसूरिः तत्समये विक्रम सम्वत् १२०४ खरतरोत्पत्तिः। पट्टावली समुच्चय, भाग १, पृष्ठ ५६ और १५४।

(ख) जिनवल्लभ नामा चित्रकूटे पट्कल्याणक प्ररूपणया अविधिसंघं स्थापितवान्, तत्सम्प्रदायः खरतर व्यवह्रीयते विक्रमात् १२०४ वर्षे जातः। वही पृष्ठ १६६।

(ग) वेदाभ्रारुण(१२०४) काल औष्ट्रिक भवो....। प्रवचन परीक्षा भाग १, पृष्ठ ३२३।

(घ) विक्रम सम्वत् १२०४ वर्षे पत्तने पौषधशालि वनवासिनोर्विवादे............देखो पट्टावली समुच्चय पृष्ठ ५६ का टिप्पण।

महमूद गोर का सुलतान बना। उसी वर्ष विक्रम सम्वत् १२६३ में कुतुबुद्दीन ऐबक ने गोर के नये सुलतान गयासुद्दीन से सभी प्रकार के राजचिन्ह प्राप्त कर लिये और विधिवत् दिल्ली के राजसिंहासन पर बैठकर अपने आपको हिन्दुस्तान का पहला मुसलमान सुलतान घोषित किया। वि० सं० १२६७ में घोड़े से गिर जाने के कारण कुतुबुद्दीन ऐबक लाहौर में मर गया और उसका पुत्र आरामशाह दिल्ली के तख्त पर बैठा। कुछ समय पश्चात् उसी वर्ष में कुतुबुद्दीन के गुलाम शमशुद्दीन अल्तमस ने आरामशाह को दिल्ली के तख्त से च्युत कर दिया और वह स्वयं दिल्ली का सुलतान बन गया।

शमशुद्दीन अल्तमस ने दिल्ली के तख्त पर आसीन होने के अनन्तर अनेक राज्यों पर आक्रमण किये। उसने रणथम्भौर, सांभर, सवालक, मण्डौर और जालौर पर चढ़ाइयां कीं और युद्ध में विजय प्राप्त कर इन राज्यों के राजाओं को अपना वशवर्ती राजा बनाया। उसने मेवाड़ राज्य पर भी आक्रमण किया किन्तु ज्योंही उसने नागदा नगर को ध्वस्त किया, त्योंही मेवाड़ के तत्कालीन राजा जैत्र-सिंह ने उस पर भीषण प्रत्याक्रमण कर उसे युद्ध में बुरी तरह परास्त कर दिया। अपने जन-धन की भीषण क्षति एवं पराजय से प्रपीड़ित हो शमशुद्दीन अल्तमस अपनी बची-खुची सेना के साथ मेवाड़ से भाग खड़ा हुआ। जैत्रसिंह से पराजित होने के पश्चात् शमशुद्दीन अल्तमस ने अपने जीवनकाल में राजपूताने की ओर मुंह तक नहीं किया।



खरतरगच्छ

[वेदाभ्रारुण (१२०४) काल औष्ट्रिक मतो.........]
(वीर निर्वाण सम्वत् १५५० एवं १६७४)

जन संघ में पुरातनकाल से लेकर वर्तमान युग तक समय-समय पर कितने गणों, गच्छों, सम्प्रदायों, छोटे-बड़े संघों, आम्नायों, परम्पराओं आदि के रूप में पृथक्-पृथक् इकाइयों अथवा विभेदों का प्रादुर्भाव हुआ, उन सबका परिचय देने की बात तो दूर, उनकी गणना करना भी वस्तुतः एक अति दुष्कर कार्य है। इस प्रकार की विषम स्थिति को दृष्टिगत रखते हुए वर्तमान काल में जितने गच्छ गतिशील हैं, केवल उनका ही यथाशक्य विशुद्ध रूप से परिचय देकर हमें सन्तोष करना होगा।

श्वेताम्बर परम्परा में आज जितने गच्छ विद्यमान हैं, उनमें सबसे प्राचीन गच्छ कौन-सा है तथा किस गच्छ ने जिनशासन के अभ्युदय-उत्थान में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान दिया, यह वस्तुतः एक गहन शोध का विषय है। इस विषय में नितान्त निष्पक्ष दृष्टि से उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर यह तथ्य प्रकाश में आता है कि वर्तमान में श्वेताम्बर परम्परा के जितने गच्छ गतिशील हैं, उनमें वर्द्धमानसूरि एवं उनके यशस्वी शिष्य जिनेश्वर-सूरि के अद्भुत साहस के परिणामस्वरूप विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रकट हुआ और कालान्तर में 'खरतरगच्छ' के नाम से विख्यात हुआ 'खरा' गच्छ सर्वाधिक प्राचीन गच्छ है। सर्वाधिक प्राचीन होने के साथ-साथ 'खरा गच्छ' ने जिनशासन के अभ्युदय-उत्थान के लिये और बाह्याडम्बरों के घटाटोप से आच्छन्न जैन धर्म के वास्तविक आगमिक स्वरूप को कतिपय अंशों में पुनः प्रकाश में लाने की दिशा में भी ऐसा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, उल्लेखनीय एवं ऐतिहासिक योगदान दिया, जो जैनधर्म के इतिहास में सदा सर्वदा स्वर्णाक्षरों में लिखा जाता रहेगा।

तपागच्छ पट्टावली और उपाध्याय धर्मसागर गणि द्वारा रचित 'प्रवचन परीक्षा' नामक ग्रन्थ में विक्रम सम्वत् १२०४ में खरतरगच्छ की उत्पत्ति के उल्लेख हैं।[१] किन्तु इन उल्लेखों में साम्प्रदायिक पूर्वाभिनिवेश के पुट के साथ गच्छ-व्यामोह की गन्ध का सुस्पष्टरूपेण आभास होता है।

---

१. (क) ....श्री अजितदेवसूरिः तत्समये विक्रम सम्वत् १२०४ खरतरोत्पत्तिः। पट्टावली समुच्चय, भाग १, पृष्ठ ५६ और १५४।

(ख) जिनवल्लभ नामा चित्रकूटे पट्कल्याणक प्ररूपणया अविधिसंघं स्थापितवान्, तत्सम्प्रदायः खरतर व्यवह्रीयते विक्रमात् १२०४ वर्षे जातः। वही पृष्ठ १६६।

(ग) वेदाभ्रारुण(१२०४) काल औष्ट्रिक भवो....। प्रवचन परीक्षा भाग १, पृष्ठ ३२३।

(घ) विक्रम सम्वत् १२०४ वर्ष पत्तने पौषधशालि वनवासिनोर्विवादे............देखो पट्टावली समुच्चय पृष्ठ ५६ का टिप्पण।

साम्प्रतकालीन सक्रिय सभी प्रमुख गच्छों में खरतरगच्छ के सर्वाधिक प्राचीन होने के कारण क्या हैं और खरतरगच्छ ने जिनशासन की किस रूप में उल्लेखनीय एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण सेवा की इन दो तथ्यों अथवा पक्षों पर सर्वप्रथम प्रकाश डालने का यहां प्रयास किया जा रहा है।

यशस्वी खरतरगच्छ के विरुद्ध विष वमन करने वाले उल्लेखों में भले ही इसे "औष्ट्रिक गच्छ[1]", "चामुंडिक गच्छ[2]" और "खरतर गच्छ" अतिशयेन खर (खरतर) इति व्युत्पत्या महान् गर्दभः उग्रतरो वा भण्यते[3] आदि अशोभनीय उपमाओं अथवा संज्ञाओं से अभिहित करते हुए कहा हो कि द्रव्य साधु जिनदत्त (दादा जिनदत्तसूरि) से ही विक्रम सम्वत् १२०४ में खरतरगच्छ प्रचलित हुआ और औष्टिक गच्छ, चामुंडिक गच्छ एवं खरतरगच्छ ये तीनों नाम जिनदत्तसूरि के समय से ही प्रचलित हुए, किन्तु पुष्ट प्रमाणों से परिपुष्ट वास्तविकता यह है कि विक्रम सम्वत् १०८० में जब पाटणपति चालुक्यराज दुर्लभसेन की राज्य सभा में चैत्यवासियों के साथ वर्द्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि का शास्त्रार्थ हुआ था, उस समय जिनेश्वरसूरि की आगमानुरूप युक्तियों और आगम सम्मत विचारों को सुनकर एवं उनके द्वारा चैत्यवासियों को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिये जाने से प्रभावित होकर चालुक्यराज दुर्लभसेन ने वर्द्धमानसूरि, जिनेश्वरसूरि आदि की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा था "ये खरे हैं" तभी से—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते, लोकस्तदनुवर्तते ।।

श्रीमद्भागवद्गीता की इस सूक्ति के अनुसार राजा का अनुकरण करते हुए लोगों ने भी वर्द्धमानसूरि के शिष्य-परिवार साधु, साध्वी समूह के लिये 'ये खरे हैं' 'ये खरे हैं' कहना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार इस साधु–साध्वी समुदाय को लोग प्रारम्भ में खरा शुद्ध, सच्चा, कसौटी पर खरे उतरे सोने के समान खरा विशेपण के साथ सम्वोधित करने लग गये थे। यह कोई विरुद्ध अथवा उपाधिपरक शव्द नहीं अपितु श्लाघात्मक शव्द था। इसी कारण बुद्धिसागरसूरि, जिनचन्द्रसूरि, अभयदेवसूरि, महावीर चरियं के रचनाकार गुणचन्द्र गणि आदि पूर्ववर्त्ती ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों की प्रशस्तियों में वर्द्धमानसूरि के समय में प्रादुर्भूत अथवा प्रचलित साधु साध्वी संगठन (समूह) के लिये कहीं खरा अथवा खरतर विशेपण का प्रयोग नहीं किया है।

---

१. प्रवचन परीक्षा, भाग १, पृष्ठ २६८,

२. (वही) पृष्ठ २६७

३. (वही) पृष्ठ २८६

कालान्तर में चालुक्यराज दुर्लभराज द्वारा पूरी तरह परीक्षण के अनन्तर वर्द्धमानसूरि के पट्टधर शिष्य जिनेश्वरसूरि एवं उनके साधु समूह के लिये प्रशंसा के रूप में प्रयुक्त किया गया "खरा अति खरा" यह शब्द वर्द्धमानसूरि द्वारा प्रारम्भ किये गये गच्छ के लिये "खरतरगच्छ" के रूप में लोक में रूढ हो गया।

वर्द्धमानसूरि द्वारा प्रकट किये गये सुविहित श्रमण परम्परा के गच्छ के लिये उत्तरकालवर्ती जिन-जिन प्रमुख ग्रन्थकारों अथवा लेखकों द्वारा जो खरा अति खरा अथवा खरतर विशेषण अथवा विरुद का प्रयोग किया गया है, उसका विवरण इतिहास में विशिष्ट अभिरुचि रखने वाले पाठकों के लाभार्थ यहां प्रस्तुत किया जा रहा है :

१. वृद्धाचार्य प्रबन्धावलि के जिनेश्वरसूरि प्रबन्ध में एतद्विषयक उल्लेख इस प्रकार है :

"तओ जिणेसरसूरि, गच्छ नायगो विहरमाणो वसुहं अणहिल्लपुर पट्टणे गओ। तत्थचुलसीगच्छवासिणो भट्टारगा दव्वलिंगिणो मढवइणो चेइयवासिणो पासइ। पासित्ता जिण सासणुन्नइकए सिरि दुल्लहराय सभाए वायं कयं। दस सय चउवीसे (१०८०) वच्छरे ते आयरिया मच्छरिणो हारिया। जिणेसरसूरिणा जियं। रन्ना तुट्ठेण खरतर इति विरुदं दिन्नं। तओ परं खरतर गच्छो जाओ।"[1]

२. आचारांगदीपिका की प्रशस्ति में खरतरगच्छ के मूल आचार्य वर्द्धमानसूरि के गुरु अरण्यचारी श्री उद्योतनसूरि का भी खरतरगच्छ के पूर्वाचार्य के रूप में स्मरण करते हुए लिखा है :

गच्छः खरतरस्तेषु, समस्ति स्वस्तिभाजनम्।
यत्राभूवन्गुणजुषो, गुरवो गतकल्मषाः ॥१॥
श्रीमानुद्योतनः सूरिर्वर्द्धमानो जिनेश्वरः।
जिनचन्द्रोऽभयदेवो, नवांगवृत्तिकारकः ॥२॥

३. उपदेश सप्ततिका में श्री रत्नशेखरसूरि के आचार्यकाल में सोमसुन्दरसूरि के प्रशिष्य तथा उपाध्याय चारित्र रत्न के शिष्य पं० सोमधर्म गणि ने खरतरगच्छ की प्रशंसा करते हुए लिखा है :

पुरा श्री पत्तने राज्यं, कुर्वाणे भीम भूपतौ।
अभूवन् भूतलख्याताः, श्री जिनेश्वर सूरयः ॥
श्रीमदभयदेवाख्यास्तेषां पट्टे दिदीपिरे।
येभ्यः प्रतिष्ठामापन्नो, गच्छः खरताभिधः ॥

१. खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली, पृष्ठ ६०

४. आत्म प्रबोध (१४१) में लिखा है : "वैक्रम सम्वत् १०८० श्री पत्तने वादिनो जित्वा "खरतरेत्याख्यं विरुदं प्राप्ते जिनेश्वरसूरिणा प्रवर्तिते गच्छे।"

५. श्री यशो विजयजी द्वारा रचित अष्टक (३२) में जिनेश्वरसूरि को चैत्यवासियों पर शास्त्रार्थ में विजयश्री प्राप्त कर लेने के उपलक्ष में पत्तनपति चालुक्यराज द्वारा "खरतर" विरुद प्रदान किये जाने का उल्लेख इस रूप में किया गया है :

आसीत्तत्पादपंकजैकमधुकृत्,
श्री वर्द्धमानाभिधः,
सूरिस्तस्य जिनेश्वराख्यगणभृ–
ज्जातो विनेयोत्तमः।
यः प्रापत् शिवसिद्धिपंक्ति (सं० १०८०) शरदि,
श्री पत्तने वादिनो,
जित्वा सद्विरुदं कृती खरतरे–
त्याख्यां नृपादेर्मुखात् ॥

६. उपाध्याय श्री क्षमा कल्याण द्वारा विक्रम सम्वत् १८३० में रचित गुर्वावली में श्री दान सागर जैन ज्ञान भण्डार, बीकानेर श्री पूज्यजी का उपासरा, पो० १०, ग्रन्थ १५२, पत्र २० में खरतरगच्छ की स्थापना के सम्बन्ध में निम्नलिखित रूप में उल्लेख उपलब्ध है :

"...........ततः शास्त्राविरुद्धाचारदर्शनेन जिनेश्वरसूरिमुद्दिश्य "अति खरा एते" इति राज्ञा प्रोक्तम्। तत एवं खरतर विरुदं लब्धं। तथा चैत्यवासिनो हि पराजयप्रापणात् कुंवला इति नामधेयं प्राप्ताः। एवं च सुविहित पक्षधारकाः श्री जिनेश्वर सूरयो विक्रमतः १०८० वर्षे खरतर विरुदधारकाः जाताः।"[1]

सुविहित नाम से पूर्व काल में सुविख्यात श्रमण परम्परा के आचार-विचार की परिपोषिका श्री वर्द्धमानसूरि से प्रचलित श्रमण-श्रमणी परम्परा को अणहिल्लपुर पाटण पति महाराजा दुर्लभराज ने खरतर, अतीव खरा, दोष विहीन विरुद से प्रतिपादित करने वाले उपरिवर्णित सभी छहों उल्लेख न केवल जिनेश्वरसूरि के ही उत्तरवर्ती काल के हैं अपितु वस्तुतः उनके पर प्रशिष्य जिनदत्तसूरि दादा साहब से भी पश्चाद्वर्त्ती काल के हैं। इस तथ्य को प्रबल युक्ति संगत प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हुए विक्रम की सत्रहवीं शती के तपागच्छीय विद्वान् ग्रन्थकार उपा-

---

१. गुर्वावली क्षमाकल्याण द्वारा रचित (फोटोस्टेट प्रति आचार्यश्री विनयचन्द्र ज्ञान भंडार, चौड़ा रास्ता, जयपुर में विद्यमान) पृष्ठ १२

ध्याय श्री धर्मसागरगणि ने यह सिद्ध करने का पूरा प्रयास किया है कि चालुक्यराज दुर्लभराज ने जिनेश्वरसूरि अथवा उनके साधु-साध्वी समूह को खरतर विरुद्ध प्रदान नहीं किया। इसके विपरीत जिनदत्तसूरि के अत्युग्र स्वभाव एवं अतिपरुष (कटु-कठोर) संभाषण के परिणामस्वरूप लोगों ने उन्हें "खरतर" सम्बोधन से अभिहित करना प्रारम्भ किया और इस प्रकार कालान्तर में जिनदत्तसूरि का गच्छ "खरतरगच्छ" के नाम से लोगों में रूढ अथवा प्रख्यात हो गया।

अपनी इस मान्यता की पुष्टि में उपाध्याय श्री धर्मसागरगणि ने प्रमुख युक्ति यह दी है कि यदि चालुक्यराज की सभा में जिनेश्वरसूरि को "खरतर" विरुद प्रदान किया गया होता तो प्रभाचन्द्रसूरि ने अपनी ऐतिहासिक कृति प्रभावक चरित्र में एवं जिनचन्द्रसूरि, अभयदेवसूरि, गुणचन्द्रसूरि, जिनवल्लभसूरि और जिनदत्तसूरि ने अपनी-अपनी कृतियों में एतद्विषयक प्रसंग पर अथवा प्रशस्तियों में खरतर विरुद प्रदान का अवश्यमेव उल्लेख किया होता। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। इससे यही सिद्ध होता है कि दुर्लभराज ने जिनेश्वरसूरि को किसी प्रकार का कोई विरुद प्रदान नहीं किया।

उपरिवर्णित पक्ष और विपक्ष के परस्पर विरोधी दो प्रकार के उल्लेखों के आधार पर कोई सर्वसम्मत निर्णय नहीं किया जा सकता। सर्वसम्मत समाधान के लिए तो हमें इस प्रश्न की पृष्ठभूमि में गहराई तक उतरकर निष्पक्ष दृष्टिकोण से विचार करना होगा।

यह तो एक ऐतिहासिक तथ्य है कि विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में वर्द्धमानसूरि ने अपने चैत्यवासी गुरु जिनचन्द्राचार्य से पृथक् हो उनकी चैत्यवासी परम्परा का परित्याग कर एक ऐसी सुविहित श्रमण परम्परा को जन्म दिया जिसने जैन संघ में महान् धर्मक्रान्ति के सूत्रपात के माध्यम से चैत्यवासी परम्परा के वर्चस्व को समाप्त कर कतिपय अंशों में जैनधर्म के मूल स्वरूप की और विशुद्ध श्रमणाचार की रक्षा की। उन्होंने चैत्यवासियों के सर्वोच्च शक्तिशाली एवं दुर्भेद्य सुदृढ़ गढ़ अणहिल्लपुरपट्टण में प्रवेश किया, जहां चैत्यवासियों ने शताब्दियों पूर्व शीलगुणसूरि की चैत्यवासी परम्परा द्वारा सम्मत साधु-साध्वियों के अतिरिक्त अन्य सभी श्रमण परम्पराओं के साधु-साध्वियों के प्रवेश पर राजाज्ञा के माध्यम से प्रतिबन्ध लगवा दिया गया था। प्राचीन जैन वांग्मय में इस वात की साक्षी विद्यमान है कि चैत्यवासियों ने राजाज्ञा के विरुद्ध वर्द्धमानसूरि के अणहिल्लपुर पट्टण में प्रवेश का डटकर विरोध किया। इस प्रकार का विरोध सहज स्वाभाविक भी था।

पाटण के चालुक्य नरेश दुर्लभराज के राजमान्य राजपुरोहित द्वारा वर्द्धमानसूरि का पक्ष लिये जाने पर चैत्यवासियों ने दुर्लभराज के समक्ष न्याय के लिए प्रार्थना प्रस्तुत करते हुए निवेदन किया :—"शत्रुओं द्वारा पंचाश्रय राज्य के

नरेश को युद्ध में मार दिये जाने और राज्य पर अधिकार कर लिये जाने के अनन्तर पंचाश्रय के शिशु राजकुमार वनराज का चैत्यवासी आचार्य शीलगुणसूरि और उनके पट्ट शिष्य देवचन्द्रसूरि ने पालन किया। वनराज को उन्होंने समुचित शिक्षा देकर सुयोग्य बनाया। वनराज ने अपने पैत्रिक राज्य पर अधिकार कर लेने के पश्चात् अपने परमोपकारी चैत्यवासी आचार्य शीलगुणसूरि एवं देवचन्द्रसूरि के प्रति जीवन भर कृतज्ञ रहते हुए चैत्यवासी परम्परा के उत्कर्ष के लिए अनेक कार्य किये। वनराज ने अपने उपकारी गुरु की चैत्यवासी परम्परा के सम्मान को सुदीर्घकाल तक अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए इस प्रकार की एक राजाज्ञा प्रसारित की कि अणहिल्लपुर पट्टण राज्य की सीमा में केवल शीलगुणसूरि की चैत्यवासी परम्परा के तथा उनके द्वारा सम्मत साधु-साध्वी ही विचरण कर सकेंगे। जैन संघ की शेष सभी परम्पराओं के साधु-साध्वी पाटण राज्य की सीमा में प्रवेश तक नहीं कर सकेंगे। एक राजा द्वारा प्रसारित की गई राजाज्ञा का पश्चाद्वर्ती सभी नरेशों द्वारा सम्मान किया जाता है। इस प्रकार की स्थिति में हमारे न्याय प्रिय नरेश्वर से हमारी यही प्रार्थना है कि प्राचीन काल में महाराज वनराज द्वारा प्रसारित की गई राजाज्ञा का अक्षरशः पालन करवाया जाय।"

दुर्लभराज ने ध्यानपूर्वक चैत्यवासियों की बात सुनने के पश्चात् कहा—"हम अपने पूर्व के शासकों द्वारा निर्धारित मर्यादाओं का सम्मान करते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ न लगाया जाय कि हम गुणी महापुरुषों के गुणों की पूजा से विमुख रहें, उनके गुणों की पूजा न करें। वस्तुतः सुशासन तो सभी महापुरुषों से आशीर्वाद प्राप्त करने का अभिलाषी रहता है।"

जैन वांग्मय के अध्ययन-पर्यालोचन से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि एतद्विषयक जितने भी प्राचीन उल्लेख वर्तमान में उपलब्ध हैं, उनमें ऊपर लिखे गये विवरण में तो सामान्यतः मतैक्य है। इससे आगे के घटनाचक्र का जो वर्णन दिया गया है, उसमें थोड़ा अन्तर दृष्टिगोचर होता है। उस अन्तर के पीछे भी एक ऐसा बहुत बड़ा कारण छिपा हुआ प्रतीत होता है, जिस पर प्रकाश डालने का आगे प्रयास किया जायगा।

इस विषय में सर्वाधिक लोक विदित उल्लेख है खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली का। वह सार रूप में इस प्रकार है :

"चैत्यवासी परम्परा के चौरासी मतों के अधिष्ठाता आचार्य जिनचन्द्र के शिष्य वर्द्धमान को शास्त्रों (दशवैकालिक आदि) का अध्ययन करते समय जब आगम प्रतिपादित विशुद्ध श्रमणाचार के सम्बन्ध में थोड़ा बोध हुआ तो वे गुरु को निवेदन कर कतिपय साथी चैत्यवासी साधुओं के साथ चैत्यवासी परम्परा का परित्याग कर विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने

वाले आगम मर्मज्ञ त्यागी तपस्वी सच्चे गुरु की खोज में निकल पड़े। अनेक स्थानों में भ्रमण करने के उपरान्त ढिली अथवा दली (सम्भवतः साम्प्रत-कालीन दिल्ली) के आसपास वनवासी अरण्यचारी परम्परा के उद्योतन-सूरि नामक एक क्रियापात्र त्यागी तपस्वी एवं आगम निष्णात आचार्य मिले।"[1]

अपनी आन्तरिक इच्छा के अनुरूप त्रिवेणी संगम तुल्य ज्ञान क्रिया एवं तपोनिष्ठ श्रमणश्रेष्ठ को पा वर्द्धमानसूरि ने उनका शिष्यत्व स्वीकार करते हुए उनसे उपसम्पदा (विशुद्ध श्रमण धर्म की दीक्षा) ग्रहण की। उद्योतनसूरि से शास्त्रों का तलस्पर्शी ज्ञान और आचार्य पद प्राप्त करने के अनन्तर वर्द्धमानसूरि ने जिनेश्वर, बुद्धि सागर आदि १७ शिष्यों के साथ जैनधर्म का प्रचार करने के दृढ़ संकल्प के साथ गुजरात की ओर विहार किया, जहां नियत-निवासी चैत्यवासी परंपरा के एकाधिपत्यपरक वर्चस्व के कारण आगमसम्मत धर्म का विशुद्ध स्वरूप लुप्त-प्रायः हो चुका था। जहां चैत्यवासी परम्परा के अतिरिक्त अन्य सच्चे श्रमण-श्रमणियों के न केवल विहार अपितु प्रवेश तक को चैत्यवासियों ने राजाज्ञा द्वारा निषिद्ध करवा दिये जाने के परिणामस्वरूप वहां के निवासी सर्वज्ञ-प्रणीत धर्म के सच्चे स्वरूप के साथ-साथ विहरूक क्रियानिष्ठ सच्चे श्रमण के आचार-विचार एवं वेष अथवा स्वरूप तक को भूल गये थे।

पाटण में पहुंचने पर चैत्यवासियों के प्रबल प्रभाव के कारण वर्द्धमानसूरि और उनके शिष्यों को वहां ठहरने तक के लिये कहीं स्थान नहीं मिला। प्रयास करने पर उनके त्याग, तप एवं सर्वतोमुखी प्रकांड पांडित्य से प्रभावित हो वहां के राजपुरोहित ने अपने भव्य भवन के एक भाग में उन्हें ठहराया। चैत्यवासियों को जब ज्ञात हुआ कि नवागन्तुक साधु राज पुरोहित के यहां ठहरे हैं, तो उन्होंने वर्द्धमानसूरि और राज पुरोहित दोनों के विरुद्ध षड्यन्त्र रचा। सम्पूर्ण पाटण नगर और राजप्रासाद तक में इस प्रकार का सनसनी उत्पन्न कर देने वाला समाचार प्रसारित कर दिया कि दुर्लभराज के राज्य के गुप्त भेद प्राप्त करने के लिये किसी शत्रु राजा के गुप्तचर साधुवेष में पाटण में आये हैं और राजमान्य पुरोहित के घर वे ठहरे हुए हैं।

यह सुनकर एक बार तो राजा बड़ा क्रुद्ध हुआ किन्तु उसे अपने राज पुरोहित से पूछने पर वास्तविकता का पता चल गया कि वस्तुतः आगन्तुक महा-पुरुषों के विरुद्ध विरोधियों द्वारा रचा गया षड्यन्त्र मात्र है।

---

१. इन उद्योतनसूरि नामक वनवासी जैनाचार्य को "श्री दानसागर जैन ज्ञान भण्डार" में उपलब्ध उपाध्याय श्री क्षमाकल्याण द्वारा रचित गुर्वावलि में शिष्य सन्ततिविहीन बताने के पश्चात् यह उल्लेख किया गया है कि उन्होंने वर्द्धमानसूरि को अपने पट्टधर शिष्य के रूप में आचार्यपद प्रदान किया। —सम्पादक

अपने इस षड्यन्त्र को निष्फल हुआ देखकर चैत्यवासियों ने नवागन्तुक साधुओं को शास्त्रार्थ में पराजित कर राज्य से बाहर निकलवा देने का निश्चय किया। निश्चित समय और स्थान पर पाटणाधीश दुर्लभराज के समक्ष शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ।

"जो चैत्य में न रहकर वसति में रहते हैं, वे साधु नहीं हैं", इस प्रकार के अपने पक्ष की पुष्टि में चैत्यवासियों ने तीर्थंकर प्रभु के उपदेशों के आधार पर रचित द्वादशांगी एवं द्वादशांगी के आधार पर चतुर्दश पूर्वधरों द्वारा दृब्ध आगमों के स्थान पर चैत्यवासी परम्परा के पूर्वाचार्यों द्वारा अपनी कपोल कल्पना से बनाये गये "निगमों" के पाठों एवं उद्धरणों को प्रस्तुत करने का उपक्रम प्रारम्भ किया।

"व्याधि को उग्र रूप धारण करने से पूर्व ही नष्ट कर दिया जाय" इस सार्वभौम सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए शास्त्रार्थ हेतु वर्द्धमानसूरि से अधिकार प्राप्त जिनेश्वरसूरि ने दुर्लभराज से दूरदर्शितापूर्ण प्रश्न किया :—"राजन्! जिस राजनीति से आप सुचारु-रूपेण शासन चलाते हैं, वह राजनीति आपके द्वारा नवनिर्मित है अथवा आपके पूर्व पुरुषों द्वारा निर्मित एवं निर्धारित?"

दुर्लभराज ने प्रश्न के उत्तर में सहज गुरु गम्भीर स्वर में कहा :— "महाराज! महात्मन्! राजनीति हमारी बनाई हुई नहीं है। यह तो युगादि से महर्षियों, राजर्षियों एवं हमारे न्यायप्रिय पूर्वजों द्वारा निर्मित एवं निर्धारित है।"

तब जिनेश्वरसूरि ने कहा :—"महाराज! ठीक कहते हैं आप। जिस प्रकार आपकी राजनीति में है, उसी प्रकार धर्मनीति में भी हम तीर्थंकर भगवान् के उपदेशों के आधार पर गणधरों द्वारा ग्रथित द्वादशांगी और उस द्वादशांगी के आधार पर चतुर्दश पूर्वधरों द्वारा निर्यूढ आगमों को ही किसी भी तथ्यातथ्य, खरे-खोटे के निर्णय के लिए प्रामाणिक मानते हैं, न कि इनसे भिन्न किसी अन्य आचार्य द्वारा रचित ग्रन्थों को। हमारे प्रतिपक्षी चैत्यवासी आचार्य द्वारा जो ग्रन्थ अपने पक्ष की पुष्टि में प्रस्तुत किये जा रहे हैं, वे गणधरों अथवा चतुर्दश पूर्वधरों द्वारा बनाये हुए नहीं है। अतः ये प्रामाणिकता की कोटि में न आने के कारण किसी भी सत्पथ के पथिक के लिए मान्य नहीं हैं।"

जिनेश्वरसूरि के वे ऐतिहासिक दृष्टि से अतीव महत्त्वपूर्ण शब्द आज भी खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली में निम्नलिखित रूप में विद्यमान हैं :—

"महाराज! अस्माकं मतेऽपि यद्गणधरैश्चतुर्दशपूर्वधरैश्च
यो दर्शितो मार्गः स एव प्रमाणीकर्तुं युज्यते नान्यः।"[1]

---

१. खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली, पृष्ठ ३.

राजा दुर्लभराज ने जिनेश्वरसूरि के इस कथन को सर्वथा युक्तिसंगत ठहराते हुए चैत्यवासी आचार्यों की ओर अभिमुख हो कहा :—"इनका यह कथन पूर्णतः न्यायसंगत एवं युक्तिसंगत है ।"

न्यायप्रिय राजा ने तथ्यातथ्य का निर्णय करने के लिये तत्काल सभ्यों को चैत्यवासियों के मठ में भेजकर वहां से आगमों का गट्ठर मंगवाया । आगमों के बस्ते को खोलते ही सर्व प्रथम जो शास्त्र उसमें से निकला, वह प्रभु महावीर के चतुर्थ पट्टधर चतुर्दश पूर्वधर आचार्य सय्यंभव द्वारा श्रमणाचार के सम्बन्ध में द्वादशांगी में से सार रूप में संग्रहीत-ग्रथित दशवैकालिक शास्त्र था ।

श्रमण जीवन के प्रत्येक पहलू पर मधुकरी, जीवनपर्यन्त सभी प्रकार के सावद्य कार्यों—हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म अर्थात् मैथुन और परिग्रह का त्रिकरण, त्रियोग से पूर्णरूपेण परित्याग, वायु की भांति अप्रतिहत विहार, परीषह सहन आदि पर सूर्य के समान पूर्ण प्रकाश डालने वाले दशवैकालिक शास्त्र में एक भी अक्षर ऐसा नहीं जो चैत्यवासियों के किसी भी पक्ष का पोषक हो, उनकी किसी भी जीवनचर्या-चैत्य में नियत निवास, रुपया, पैसा, चैत्य, मठ आदि परिग्रह का स्वामित्व, गादी, तकिये, मसनद, पालकी, आदि का उपभोग, ताम्बूल चर्वण आदि को साधु के लिए विषवत् त्याज्य अनाचार की कोटि का सिद्ध न करता हो । दशवैकालिक शास्त्र की

अन्नट्ठं पगडं लेणं, भइज्ज सयणासणं ।
उच्चार भूमि संपन्नं, इत्थी पसुविवज्जियं ।।५२।। अ. ८ ।।[1]

इस गाथा ने तो चैत्यवासियों के पूव पक्ष को धुन कर आक की रूई की भांति असीम आकाश में उड़ा कर निरस्त एवं निरवशिष्ट कर दिया ।

राजसभा के विद्वान् निर्णायकों सहित राजा दुर्लभराज ने इस शास्त्रार्थ में चैत्यवासियों को पराजित और जिनेश्वरसूरि को विजयी घोषित किया ।

शास्त्रार्थ में जिनेश्वरसूरि से पराजित हो जाने के उपरान्त भी चैत्वासियों ने वर्द्धमानसूरि एवं उनके साधु समूह को अनहिल्लपुर पट्टण से निष्कासित करवा देने के उद्देश्य से पड्यन्त्र किये किन्तु राजा दुर्लभराज पूर्णतः आश्वस्त हो गया था कि वर्द्धमानसूरि आदि वसतिवासी साधु शास्त्रों की कसौटी पर खरे उतरे हैं और चैत्यवासी कंवले ढीले (खोटे), इसलिये चैत्यवासियों द्वारा वर्द्धमानसूरि और उनके शिष्यमंडल के विरुद्ध रचे गये सभी षड्यन्त्र पूर्ण रूपेण असफल रहे । दुर्लभराज ने अपने राज पुरोहित को वसतिवासी साधुओं के निवास के लिये एक भवन भी वता दिया ।

इस प्रकार वर्द्धमानसूरि ने चैत्यवासियों के दुर्भेद्य गढ़ पाटण नगर के चैत्यवासियों पर विजय प्राप्त कर गुजरात के पट्टनगर पाटण में अनेक शताब्दियों से तिरोहित, वसतिवास का शुभारम्भ किया।

उपरिवर्णित वृत्तान्त श्री जिनपतिसूरि के शिष्य, विक्रम की तेरहवीं चौदहवीं शती के विद्वान् श्री जिनपालोपाध्याय द्वारा विक्रम की १४वीं शताब्दी के प्रथम दशक में लिखा हुआ होने के कारण पर्याप्त रूपेण प्राचीन उल्लेख है।

"राजन्! हमारी भी यह निश्चित मान्यता है कि गणधरों एवं चतुर्दश पूर्वधरों द्वारा ग्रथित, दृब्ध आगम और उनके द्वारा दिखाया गया मार्ग ही प्रामाणिक है, अन्य नहीं" जिनेश्वरसूरि द्वारा दुर्लभराज को कहे गये इस वाक्य का ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत बड़ा महत्व है क्योंकि इस वाक्य से वर्द्धमानसूरि द्वारा की गई महान् धर्मक्रान्ति में निहित मूल भावना पर, तत्कालीन उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण मूलभूत मान्यता पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। जिनेश्वरसूरि ने चैत्यवासियों द्वारा निगमों की रचना के माध्यम से जैनधर्म के विशुद्ध मूल स्वरूप पर डाले गये सघन घनघोर घटा तुल्य बाह्याडम्बर के पर्दों को छिन्न-भिन्न करने के उद्देश्य से जिस समय एक ऐतिहासिक धर्मक्रान्ति का सूत्रपात किया, उस समय उन्होंने स्पष्ट रूप से उद्घोष किया था कि प्रत्येक जैन के लिये गणधरों द्वारा ग्रथित तथा चतुर्दश पूर्वधरों द्वारा दृब्ध निर्यूढ़ आगम ही प्रामाणिक हैं, अन्य अर्थात् निर्युक्ति, भाष्य, टीका और चूर्णि प्रामाणिक नहीं। कालान्तर में सम्भवतः लोक में रूढ चैत्यवासी परम्परा द्वारा प्रचलित की गई कतिपय मान्यताओं को जैनधर्म के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से सुविहित परम्परा के अन्यान्य गच्छों द्वारा मान्य कर लिये जाने के अनन्तर खरतरगच्छ ने भी अपनी उक्त मान्यता में परिवर्तन कर गणधरों, चतुर्दश पूर्वधरों एवं दशपूर्वधरों द्वारा दृब्ध, केवल आगमों के स्थान पर निर्युक्तियों, टीकाओं, भाष्यों और चूर्णियों—इस सम्पूर्ण पंचांगी को ही मानना प्रारम्भ कर दिया हो।

इन सब महत्वपूर्ण तथ्यों के सन्दर्भ में विचार करने पर यही अनुमान किया जाता है कि जिनेश्वरसूरि द्वारा दुर्लभराज के समक्ष प्रकट किये गये आगम मात्र की प्रामाणिकता विषयक उल्लेख खरतरगच्छ द्वारा पंचांगी को मान्य करने से बहुत पहले का है और सम्भवतः जिनेश्वरसूरि के समय का ही हो, जो लिखित रूप में अथवा श्रुत परम्परा से जिनपालोपाध्याय को प्राप्त हुआ हो और उन्होंने यथावत् गुर्वावली में लिख दिया हो।

"वास्तविकता अपने पीछे वस्तुतः कोई न कोई चिह्न छोड़ ही जाती है।" यह उक्ति वास्तव में इस गुर्वावली में समय-समय पर लगी परिवर्तनों की अनेकानेक थपेड़ों के उपरान्त भी अक्षरशः चरितार्थ हो ही गई है।

कालान्तर में जब मान्यताओं ने मोड़ बदले तो उन बदलती हुई मान्यताओं के मोड़ के साथ-साथ उक्त घटनाचक्र के विवरण को भी मोड़ दिया गया। यहीं

कारण है कि दुर्लभराज के समक्ष चैत्यवासियों के साथ हुए जिनेश्वरसूरि के शास्त्रार्थ का विवरण अन्यान्य विभिन्न लेखकों ने एक-दूसरे से भिन्न रूप में दिया है। इस तथ्य का जीता जागता एक बड़ा ही रोचक उदाहरण है प्रभावक चरित्र का एतद्विषयक उल्लेख।

प्रभाचन्द्रसूरि ने अपनी ऐतिहासिक कृति 'प्रभावक चरित्र' में एतद्विषयक घटनाक्रम के वर्णन में संक्षेप शैली का आश्रय लिया है। वर्द्धमानसूरि ने चैत्यवास का परित्याग करने के अनन्तर कहां पर और कौनसे क्रियापात्र आगम मर्मज्ञ श्रमण श्रेष्ठ के पास सच्चे श्रमण धर्म की उपसम्पदा प्राप्त कर आगमों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया आदि अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों पर प्रभाचन्द्राचार्य ने नाममात्र के लिये भी प्रकाश नहीं डाला है। पाटण में वसतिवास की स्थापना विषयक इस ऐतिहासिक घटना का प्रभावक चरित्र में निम्न रूप में चित्रण किया गया है :

"सवालख[1] (सपादलक्ष) राज्य की राजधानी कूर्चपुर (वर्तमान कुचेरा) में महाराणा अल्ल के पौत्र भुवनपाल नामक नृपति के राज्यकाल में वर्द्धमान नामक चैत्यवासी परम्परा के विद्वान् श्रमणाग्रणी ने जैनधर्म के मर्म रूप वास्तविक स्वरूप का बोध हो जाने पर ८४ चैत्यों की मठाधीशता को ठुकरा कर चैत्यवासी परम्परा का परित्याग कर दिया। उन्होंने अपने शिष्यसमूह में से दो महा मेधावी शिष्य जिनेश्वर और बुद्धिसागर को श्रुतसागर का तलस्पर्शी अध्यापन कराने के पश्चात् आचार्यपद प्रदान किया।"

एक दिन वर्द्धमानसूरि ने अपने उन दोनों सूरि शिष्यों से कहा— "चैत्यवासी परम्परा का पाटण राज्य में एकछत्र वर्चस्व है। वहां चैत्यवासी आचार्यों ने राजाज्ञा द्वारा अन्य परम्पराओं के साधु-साध्वियों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगवा रक्खा है। इस कारण सुविहित परम्परा के श्रमणों को पाटण राज्य में प्रविष्ट होने पर उनके समक्ष चैत्यवासियों द्वारा अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाएं उपस्थित की जा सकती हैं। वर्तमान काल में तुम्हारे समान अद्भुत मेधाशक्ति-सम्पन्न बुद्धिमान् अन्य कोई कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। तुम दोनों इस प्रकार के राजकीय प्रतिवन्धात्मक आदेश को निरस्त करवाने में सक्षम हो। मेरी आन्तरिक इच्छा है कि तुम दोनों अपने बुद्धि-बल और कौशल से उस विषेधाज्ञा को निरस्त करवाकर सुविहित परम्परा के श्रमण-श्रमणी वर्ग के लिये पाटण राज्य में विचरण एवं धर्म प्रचार का मार्ग खोल दो।"

"जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि ने अपने गुरु के आदेश को शिरोधार्य कर पाटण की ओर प्रस्थान किया। पाटण में उन्हें चैत्यवासियों

१. प्रभावक चरित्र, अभयदेवसूरि चरित्र।

के प्रचंड प्रभाव के परिणामस्वरूप ठहरने तक का स्थान नहीं मिला। अपने प्रगल्भ पांडित्य से राज पुरोहित सोमेश्वर को प्रभावित कर उसके भवन में उन सूरि द्वय ने अन्ततोगत्वा स्थान प्राप्त किया। बन्धु द्वय के प्रकांड पांडित्य की ख्याति पल भर में ही पाटण में प्रसृत हो गई। श्रुति स्मृति के पारदृष्वा विद्वान्, याज्ञिक, अग्निहोत्री कर्मकांडी आदि सोमेश्वर के भवन की ओर उमड़ पड़े और सूरि द्वय के साथ ज्ञान गोष्ठी करने लगे।"

"चैत्यवासियों को जब यह सब कुछ विदित हुआ तो उन्होंने अपने कर्मचारियों को आदेश दिया कि वे उन नवागन्तुक वसतिवासियों को पाटण से बाहर निकालें। चैत्यवासियों के उन वेतन भोगियों ने राज पुरोहित के आवास पर आकर जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि से कहा—"महात्मन् ! आप शीघ्रातिशीघ्र नगर से बाहर चले जाइये क्योंकि गूर्जरेश की राजाज्ञानुसार चैत्यवासी परम्परा से भिन्न अन्य किसी भी श्रमण परम्परा के श्रमण श्रमणियों के लिये यहां ठहरने का निषेध है।[1]"

"राज पुरोहित सोमेश्वर ने आदेशात्मक गम्भीर स्वर में चैत्यवासियों के उन सेवकों की ओर अभिमुख होकर कहा—"ये श्रमणश्रेष्ठ इस नगर में रहें अथवा नगर से बाहर जायें, इस बात का निर्णय गुर्जरेश्वर की राज्यसभा में ही होगा।"

"चैत्यवासियों के अनुचर निरुत्तर हो तत्काल राज पुरोहित के आवास से बाहर आ चैत्यवासी आचार्य के मठ की ओर लौट गये और राज पुरोहित ने जो कुछ कहा था, वह उन्होंने चैत्यवासी मुख्याचार्य की सेवा में निवेदित कर दिया।"

दूसरे दिन प्रातःकाल चैत्यवासी आचार्य अपने गण्यमान्य प्रमुख प्रतिनिधियों एवं उपासकों के साथ महाराज दुर्लभराज के समक्ष राज-सभा में उपस्थित हुए। उसी समय राज पुरोहित सोमेश्वर भी राजसभा में उपस्थित हुआ और उसने महाराजाधिराज का समुचित अभिवादन करने के अनन्तर निवेदन किया—"महाराज ! दो जैन मुनि बाहर से

---

१. ऊचुश्च ते झटित्येव, गम्यतां नगराद् बहिः ।
अस्मिन्न लभ्यते स्थातुं, चैत्य बाह्य सिताम्बरैः ॥६८॥
प्रभावक चरित्र, अभयदेवसूरि चरितम्,
पृष्ठ १६३ ।

विचरण करते हुए आपके इस प्रख्यात पट्टनगर पत्तनपुर में आये हैं। इनके अपने पक्ष वाले जैन धर्मावलम्बियों से जब इन्हें ठहराने के लिये कोई स्थान प्राप्त नहीं हुआ तो वे दोनों जैन मुनि मेरे घर आये। महाराज! वस्तुतः वे गुणों के आकर और सशरीरी धर्म के समान समदर्शी हैं। इसलिये मैंने गुणग्राहकता के वशीभूत हो उन दोनों श्रमणोत्तमों को अपने आवास का एक भाग उन्हें रहने के लिये देकर वहां ठहराया है। इन चैत्यवासियों ने मेरे घर पर अपने भटों को भेजा। महाराज! इसमें यदि मेरा कहीं किंचित्मात्र भी अपराध हो तो उसके लिये आप जो भी उचित समझें मुझे अपनी इच्छानुसार दण्ड प्रदान करें।"

राज पुरोहित की बात सुनकर महाराज दुर्लभराज ने सस्मित मुद्रा में प्रश्न किया—"हमारे नगर में दूसरे राज्यों, प्रान्तों अथवा प्रदेशों से आने वाले गुणीजनों को रहने से कौन रोकता है। गुणवन्त महापुरुषों के हमारे यहां इस नगर में आने और बसने में किसी को क्या दोष दृष्टिगोचर होता है?"

इस पर चैत्यवासी आचार्य ने कहा—"महाराज! प्राचीन काल में शक्तिशाली गुर्जर राज्य के संस्थापक चापोत्कट वनराज का शैशवावस्था में नागेन्द्र गच्छीय पंचाश्रय नामक स्थान के चैत्यवासी आचार्य देवचन्द्र ने पालन, पोषण, शिक्षा, दीक्षा आदि का प्रबन्ध करवाया। चैत्यवासी आचार्य देवचन्द्र ने यहाँ इस अणहिल्लपुर पट्टण नगर को बसाकर वनराज को उसका राज्य दिया। इसी उपकार के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिये वनराज ने साम्प्रदायिक व्यामोह अथवा विद्वेष के कारण उसके गुरु के गच्छ की कभी किसी प्रकार की हल्की न लगे, कटु आलोचना न हो, इस दृष्टि को सामने रखकर महाराजा वनराज ने राजाज्ञा प्रसारित कर सदा के लिये इस प्रकार की व्यवस्था कर दी कि केवल चैत्यवासियों द्वारा सम्मत श्रमण ही पाटण में रहें। चैत्यवासियों द्वारा असम्मत अन्य किसी भी परम्परा का साधु यहां नगर में नहीं रह सकेगा। राजन्! वही व्यवस्था आज दिन तक चली आ रही है। पूर्ववर्त्ती राजाओं की व्यवस्थाओं का पालन पश्चाद्वर्त्ती राजाओं द्वारा किया जाना चाहिये। वास्तविक स्थिति तो यही है। अब आप जिस प्रकार का आदेश दें, वैसा ही किया जाय।"

लगभग अपने समसामयिक जिनपालोपाध्याय द्वारा खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली में किये गये, चैत्यवासी आचार्यों के साथ जिनेश्वरसूरि के शास्त्रार्थ के उल्लेख के स्थान पर आचार्य प्रभाचन्द्र ने निम्न रूप में अपने ग्रन्थ प्रभावक चरित्र में लिखा है—

"राजा प्राह समाचारं, प्राग्भूपानां वयं दृढम् ।
पालयामः गुणवतां, पूजां तूल्लंघयेम न ।।७८।।
भवादृशां सदाचारनिष्ठानां आशिषः नृपाः ।
एधन्ते युष्मदीयं तद्, राज्यं नात्रास्ति संशयः ।।७६।।
उपरोधेन नो यूयममीषां वसनं पुरे ।
अनुमन्यध्वमेवं च श्रुत्वा तेऽत्र तदा दधुः ।।८०।।[1]

अर्थात् राजा दुर्लभराज ने चैत्यवासी आचार्यों से कहा :—"हम अपने से पूर्ववर्त्ती राजाओं द्वारा स्थापित की गई, मर्यादाओं-व्यवस्थाओं का दृढ़तापूर्वक पालन करते हैं। किन्तु इसके साथ ही साथ गुणी महापुरुषों की पूजा के अपने मानवीय प्राथमिक कर्त्तव्य से विमुख हो अपने उस महत्वपूर्ण प्रमुख कर्त्तव्य की अवहेलना अथवा उल्लंघन भी नहीं कर सकते। राजन्यवर्ग तो सदा से आप जैसे सदाचारनिष्ठ महापुरुषों से आशीर्वाद प्राप्त करते रहने का अभिलाषी रहा है। अतः निस्संदिग्ध रूप से यह राज्य आपका निज का ही है। हम पर अनुग्रह कर आप कृपया बाहर से आये हुए इन गुणी महापुरुषों को इस अणहिल्लपुर पट्टण नगर में रहने की अनुमति प्रदान कर दीजिये।"

"महाराजा दुर्लभराज द्वारा किये गये विनम्र निवेदन को सुनकर चैत्यवासी आचार्यों ने जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि को तत्काल अणहिल्लपुर पट्टण में रहने की स्वीकृति प्रदान कर दी।"

"चैत्यवासियों से इस प्रकार की अनुमति प्राप्त हो जाने के पश्चात् राज पुरोहित सोमेश्वर ने राजाधिराज दुर्लभराज से निवेदन किया—"इन महापुरुषों के रहने के लिये यहां नगर में कोई स्थान नहीं है। अतः कृपा कर आप इस प्रकार के महात्माओं के लिये कोई स्थान प्रदान कर लाभान्वित हों। महाराजा दुर्लभराज ने कहा—"यह तो परमावश्यक है।"

उसी समय शैव धर्म गुरु ज्ञानदेव का राजसभा में आगमन हुआ। दुर्लभराज ने अभ्युत्थान-वन्दन-अर्चन के अनन्तर शैवाचार्य को उच्च आसन पर बिठा कर शैवाचार्य से निवेदन किया : "भगवन्। ये जैन महर्षि बाहर से यहां पधारे हैं। अतः जैन महर्षियों के रहने के लिये कोई स्थान (उपाश्रय) प्रदान कीजिये।"

"शैव धर्मगुरु ने तत्काल जैन उपाश्रय हेतु सभी दृष्टियों से सुखद भूखंड राज पुरोहित को दिया। राज पुरोहित सोमेश्वर ने स्वल्प समय में उस स्थान पर एक भव्य उपाश्रय का निर्माण सम्पन्न करवा दिया।"

---

१. प्रभावक चरित्र, पृष्ठ १६३

प्रभावक चरित्र के उल्लेखानुसार उसी समय विक्रम सम्वत् १०८० से गुजरात के पट्टनगर अणहिल्लपुर पट्टण में वसतिवास की परम्परा प्रचलित हो गई।[1]

इस प्रकार आचार्य प्रभाचन्द्र ने चैत्यवासियों के साथ हुए श्री जिनेश्वरसूरि के धार्मिक संघर्ष की ऐतिहासिक घटना के एक को छोड़ सभी प्रमुख तथ्यों को ऐतिहासिक तथ्यों के रूप में स्वीकार किया है। प्रभावक चरित्र के एतद्विषयक विवरण से खरतरगच्छ की पट्टावलियों में उल्लिखित निम्न तथ्यों की पुष्टि होती है :

१. विक्रम सम्वत् ८०२ में पाटण नगर के निर्माण के साथ ही चैत्यवासी आचार्य के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए वनराज चावड़ा ने राजाज्ञा प्रसारित कर चैत्यवासी परम्परा के श्रमण-श्रमणियों और उनके द्वारा सम्मत साधु-साध्वियों को छोड़कर शेष सभी प्रकार की जैन-धर्म की परम्पराओं के साधु-साध्वियों के पाटण नगर अथवा पाटण राज्य में प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया था।

२. वह निषेधाज्ञा विक्रम सम्वत् ८०२ से विक्रम सम्वत् १०७९ तक प्रभावी रही और १०८० में उसे येन केन प्रकारेण निष्प्रभावी बना दिया गया।

३. जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि के पाटण पहुंचने पर चैत्यवासियों ने उनके पाटण-प्रवेश का विरोध किया और भटों को भेजकर उन्हें तत्काल पाटण से बाहर चले जाने को कहा।

४. चैत्यवासियों द्वारा भेजे गये भट्टपुत्रों के कथन के उपरान्त भी जब जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि के पाटण से बाहर न जाने और राज पुरोहित के "इन महात्माओं के पाटण से चले जाने अथवा पाटण में ही रहने के सम्बन्ध में राजाधिराज द्वारा राजसभा में ही निर्णय किया जायगा", यह कहने पर चैत्यवासी आचार्य महाराज दुर्लभराज की राज-सभा में पहुंचे और उन्होंने राजा से प्रार्थना की कि २७८ वर्ष से चली आ रही राजमर्यादा का सम्मान रखते हुए वसतिवासी साधुओं को पाटण में न रहने दिया जाय।

---

१. ततः प्रभृति संजज्ञे, वसतीनां परम्परा।
महद्भिः स्थापितं वृद्धिमश्नुते नात्र संशयः ॥८१॥
प्रभावक चरित्र, पृष्ठ १६३

ये चारों प्रमुख तथ्य जिस रूप में खरतर गच्छीया पट्टावलियों एवं गुर्वावलियों में उल्लिखित हैं, अधिकांशत: उसी रूप में प्रभावक चरित्र में भी उल्लिखित हैं। केवल अन्तिम निर्णायक तथ्य के सम्बन्ध में प्रभावक चरित्रकार और खरतर गच्छीया गुर्वावली के उल्लेख एक दूसरे से भिन्न प्रकार के हैं।

गुर्वावलीकार के अभिमतानुसार चैत्यवासियों ने वसतिवासी आचार्य वर्द्धमानसूरि और उनके शिष्यों को वाद में पराजित कर पाटण से बाहर निकलवाने का निश्चय किया। शास्त्रार्थ करने का प्रस्ताव भी चैत्यवासियों की ओर से रखा गया। अन्ततोगत्वा शास्त्रार्थ में जिनेश्वरसूरि ने आगम के आधार पर नियतनिवास-चैत्यवास को शास्त्रविरुद्ध और वसतिवास को शास्त्रसम्मत सिद्ध कर चैत्यवासियों को पराजित किया। उस शास्त्रार्थ में जिनेश्वरसूरि ने जन-जन के मन मस्तिष्क और हृदय पर यथार्थता की, तथ्यातथ्य की छाप अंकित कर देने वाली अकाट्य युक्तियों से अपना पक्ष रखा तो चैत्यवासी परम्परा की नींव हिल उठी।

जिनेश्वरसूरि ने अनूठी सूझ बूझ और दूरदर्शिता से ओत प्रोत एक प्रश्न चालुक्येश्वर दुर्लभराज से किया : "राजन्! आप जिस राजनीति के बल पर न्याय नीतिपूर्ण सुशासित ढंग से अपने राज्य का संचालन करते हैं, वह राजनीति आप स्वयं द्वारा बनाई हुई है अथवा आपके पूर्वजों द्वारा निर्द्धारित-निर्मित ?"

जब दुर्लभराज ने जिनेश्वरसूरि के प्रश्न के उत्तर में यह कहा कि वे अपने पूर्व पुरुषों राजर्षियों महर्षियों द्वारा निर्द्धारित निर्मित न्यायपूर्ण राजनीति से ही शासन का संचालन करते हैं, तो जिनेश्वरसूरि ने अनादि सिद्ध अवितथ ऐतिहासिक तथ्य सभ्यों के माध्यम से संसार के समक्ष रखते हुए कहा :—"महाराज! जिस प्रकार आप अपने पूर्वजों द्वारा निर्द्धारित न्यायपूर्ण राजनीति के अनुसार शासन चलाते हैं, ठीक उसी प्रकार हम लोग भी तीर्थंकर भगवान् महावीर के उपदेशों के आधार पर गणधरों द्वारा रचित द्वादशांगी तथा चौदह पूर्वधरों द्वारा द्वादशांगी से निर्यूढ़ आगमों को ही प्रामाणित मानते हैं, उन आगमों से भिन्न अन्य किसी भी ग्रन्थ विशेष को नहीं। जिनेश्वरसूरि का यह कथन सभी दृष्टियों से कसौटी पर खरा उतरता है क्योंकि वस्तुत: जैनधर्म सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग तीर्थंकर पद धारक जिनेश्वरों द्वारा प्रज्ञपित प्रदर्शित अनादि शाश्वत धर्म है, न कि किसी आचार्य विशेष अथवा छद्मस्थ द्वारा प्रज्ञपित अथवा प्रदर्शित धर्म। इस प्रकार की स्थिति में प्रत्येक जैन का प्राथमिक कर्त्तव्य हो जाता है कि वह सब प्रकार के अभिनिवेशों एवं पूर्वाग्रहों से ऊपर उठकर सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट गणधरों द्वारा अथवा चतुर्दश पूर्वधरों द्वारा ग्रथित आगमों को ही सर्वोपरि एवं परम प्रामाणिक माने। प्रत्येक जैन वस्तुत: जिनेश्वर का ही अनुयायी है। किसी आचार्य विशेष का नहीं। वीतराग सर्वज्ञ जिनेश्वर की वाणी के समक्ष किसी छद्मस्थ आचार्य की वाणी का कोई महत्व नहीं। कोई मूल्य नहीं। अगर वह जिनेश्वर देव की वाणी पर आधारित न हो।

जिनेश्वरसूरि की इस अकाट्य युक्ति से चैत्यवासी निरुत्तर हो गये। उनके निगम उनके बस्तों में धरे ही रह गये क्योंकि जिनेश्वरसूरि के इस कथन के अनन्तर सभा, सभ्यों और न्यायवादी राजा दुर्लभराज के समक्ष चैत्यवासी आचार्यों द्वारा रचित निगमों का कोई मूल्य एवं कोई महत्व अवशिष्ट नहीं रह गया था।

यही कारण था कि आगमों को ही परम प्रामाणिक मान कर दशवैकालिक के आधार पर दुर्लभराज की उपस्थिति अथवा अध्यक्षता में शास्त्रार्थ हुआ। चैत्यवासियों के पक्ष के खण्डन और अपने पक्ष के मंडन में जिनेश्वरसूरि ने दशवैकालिक नामक आगम का प्रमाण प्रस्तुत करने के साथ जब यह कहा—"एवं विधायां वसतौ वसन्ति साधवो न देवगृहे" तो गुर्वावलीकार के "राज्ञा भावितं युक्तमुक्तम्" इस उल्लेख के अनुसार दुर्लभराज ने भाव-विभोर होकर पूर्णतः युक्ति-संगत सत्य बात कही है।

गुर्वावलीकार का यह उल्लेख प्रभावक चरित्रान्तर्गत ऊपर उद्धृत किये गये प्रभाचन्द्रसूरि से २९ वर्ष पूर्व का उल्लेख है। जिनपालोपाध्याय विक्रम की तेरहवीं शती के एक समर्थ ग्रन्थकार और लब्धप्रतिष्ठ वादी थे। उन्होंने चर्चरी, उपदेश रसायन रास एवं काल स्वरूप कुलक की टीकाओं की रचना की। वि० सं० १२२५ में उन्होंने श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की। वि० सं० १२६९ में उन्हें वाचनाचार्य पद प्रदान किया गया। वि० सं० १३०५ में, जबकि उनका व्रत पर्याय ८० वर्ष का हो चुका था, उस समय उन्होंने गुर्वावली की रचना की। इस प्रकार के दीर्घ दीक्षा-पर्याय वाले वयोवृद्ध विद्वान् द्वारा खरतरगच्छ की गुर्वावली लिखी गयी। उस समय उनके समक्ष परम्परा से लिखित अथवा कर्ण परम्परा से समागत कोई न कोई प्राचीन पुष्ट प्रमाण रहा ही होगा, ऐसी आशा की जाती है। इस प्रकार की स्थिति में विज्ञजन स्वयं ही निर्णय कर सकते हैं कि जिनपालोपाध्याय द्वारा लिखा गया अपनी परम्परा का ऐतिहासिक विवरण दूसरे किसी विद्वान् द्वारा लिखे गये विवरण की तुलना में कितना प्रामाणिक, कितना विश्वसनीय हो सकता है।

पाटण में वसतिवास प्रचलित करने की घटना का विवरण प्रस्तुत करते हुए प्रभावक चरित्रकार प्रभाचन्द्रसूरि ने जिनपालोपाध्याय के विवरण से भिन्न प्रकार का विवरण दिया है, जिसको पढ़ने से स्पष्टतः प्रकट होता है कि दुर्लभराज की सभा में चैत्यवासियों के साथ जिनेश्वरसूरि का किसी प्रकार का शास्त्रार्थ अथवा वाद-विवाद नहीं हुआ।

आचार्य प्रभाचन्द्रसूरि ने वि० सं० १३३४ में अर्थात् जिनपालोपाध्याय द्वारा लिखित गुर्वावली से २९ वर्ष पश्चात् प्रभावक चरित्र की रचना की।[1]

---

१. वेदानलशिखिशशधर (१३३४) वर्षे चैत्रस्य धवल सप्तम्याम्।
शुक्रे पुनर्वसुदिने, सम्पूर्णं पूर्वऋषिचरितम् ।।२२।।

प्रभावक चरित्र प्रशस्ति, पृष्ठ २१६

आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपनी इस कृति की प्रशस्ति के "दुष्प्रापत्वादमीषां विशकलिततयैकत्र चित्रावदातं" इस पद में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि पूर्वाचार्यों के चरित्र प्रायः दुष्प्राप्य हैं। जो थोड़े बहुत मिलते भी हैं तो वे भी टुकड़ों-टुकड़ों में बिखरे हुए बड़े परिश्रम से खोजपूर्ण प्रयास के बाद मिलते हैं, जिन्हें संकलित करने में भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अनेक श्रुतधरों के पास जाकर उनसे उन पूर्वाचार्यों के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में पूछना एवं श्रवण करना पड़ता है। तदनन्तर आचार्य प्रभाचन्द्र ने इस लेखन के

"अत्र क्षूणं हि यत्किंचित्, सम्प्रदायविभेदतः।
मयि प्रसादमाधाय, तच्छोधयत कोविदाः ॥१८॥

माध्यम से स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि जिन पूर्वाचार्यों के इतिवृत्त प्रस्तुत ग्रन्थ में लिखे गये हैं, उनमें से अनेक आचार्य विभिन्न सम्प्रदायों के थे। इस साम्प्रदायिक विभेद के कारण या परिणामस्वरूप अन्यान्य सभी सम्प्रदायों के सम्बन्ध में अनिवार्यरूपेण अपेक्षित जानकारी न होने के कारण मेरे लेखन में कतिपय त्रुटियां अवश्य रही होंगी। अतः विज्ञ विद्वान् मेरे ऊपर अनुग्रह कर उन त्रुटियों का समुचित शोधन-मार्जन कर लें।

इस प्रकार की स्थिति में कोई भी विज्ञ यह मानने के लिये कदापि उद्यत नहीं होगा कि जिनेश्वरसूरि द्वारा अणहिल्लपुर पट्टण में प्रचलित किये गये वसतिवास के सम्बन्ध में जो कुछ प्रभावक चरित्रकार ने लिखा है, वही अन्तिम रूप से प्रामाणिक है। प्रभावक चरित्रकार ने चैत्यवासी आचार्यों का जिनेश्वरसूरि के साथ शास्त्रार्थ न होने का और महाराजा दुर्लभराज द्वारा ही अपने व्यक्तिगत प्रभाव से वसतिवासी साधुओं को अणहिल्लपुर पट्टण में निवास करने हेतु चैत्यवासियों को समुद्यत कर लेने का जो उल्लेख किया है, इसका खोजने पर भी कोई आधार जैन वाङ्मय में कहीं उपलब्ध नहीं होता। इसके विपरीत प्रभावक चरित्रकार से २९ वर्ष पूर्व गुर्वावली (खरतरगच्छ) का आलेखन करने वाले जिन पालोपाध्याय के अतिरिक्त जिनदत्तसूरि ने गणधर सार्द्ध शतक में स्पष्ट उल्लेख किया है कि दुर्लभराज की सभा में चैत्यवासी आचार्यों के साथ जिनेश्वरसूरि ने विचार विमर्श अथवा शास्त्रार्थ कर गुजरात प्रदेश में वसतिवास की स्थापना की। गणधर सार्द्ध शतक का वह उल्लेख इस प्रकार है :—

"अणहिल्लवाडए नाडइव्व दंसियसुपत्त संदोहे।
पउरपए बहुकविदूसगे य सन्नायगाणुगए ॥६५॥
सड्ढियदुल्लहराए सरसइ अंकोवसोहिए सुहए।
मज्झे रायसहं पविसिऊण लोयागमाणुमयं ॥६६॥
नामायरिएहिं समं करिय वियारं वियाररहिएहिं।
वसईहिं निवासो साहूणं ठविओ ठाविओ अप्पा ॥६७॥

परिहरिय गुरुकमागय वर वत्ताए वि गुज्जरत्ताए ।
वसहि निवासो जेहिं फुडीकश्रो गुज्जरत्ताए ।।६८।।

अर्थात् सरस्वती नदी के तटवर्त्ती अणहिल्लपुर पट्टण नगर की महाराज, दुर्लभराज की राजसभा में जिनेश्वरसूरि ने विचारविहीन नामधारी चैत्यवासी आचार्यों के साथ विचार अर्थात् वाद-विवाद करके वहां वसतिवास की स्थापना की, जहां कि अनेक पीढ़ियों से वसतिवासियों का प्रवेश तक निषिद्ध था ।

गणधर सार्द्ध शतक की रचना, जिनदत्तसूरि ने विक्रम सम्वत् ११६९ में आचार्य पद पर आसीन होने के समय से लेकर विक्रम सम्वत् १२११ में स्वर्गस्थ होने के बीच के किसी समय में की ।

इस प्रकार आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा प्रभावक चरित्र की रचना से लगभग १६४ वर्ष पूर्ववर्त्ती वादिदेवसूरि एवं हेमचन्द्राचार्य के समकालीन वयोवृद्ध जिनदत्त ने गणधर सार्द्ध शतक की रचना करते समय चैत्यवासियों के साथ हुए जिनेश्वरसूरि के शास्त्रार्थ वाद-विवाद अथवा विचार का उल्लेख किया है ।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रभावक चरित्र की रचना करते समय अपने से २९ वर्ष पूर्व के जिनपालोपाध्याय द्वारा और अपने से १६४ वर्ष पूर्व जिनदत्तसूरि द्वारा किये गये उक्त शास्त्रार्थ विषयक उल्लेख की उपेक्षा किस कारण से की यह भी तटस्थ दृष्टि से विचार करने का विषय है ।

जिनदत्तसूरि के गणधर सार्द्ध शतक और जिनपालोपाध्याय की गुर्वावली जैसे लोक प्रसिद्ध ग्रन्थों को प्रभाचन्द्रसूरि ने देखा ही न हो, यह सम्भव प्रतीत नहीं होता । एक-एक स्थविर एक-एक बहुश्रुत आचार्य से मिलकर और अनेक प्राचीन ग्रन्थों का आलोडन कर प्रभावक चरित्र जैसी महत्त्वपूर्ण कृति की रचना करने वाले प्रभाचन्द्रसूरि ने अपने से पूर्ववर्त्ती इन दोनों आचार्यों की कृतियों को सुनिश्चित रूपेण देखा, पढ़ा और उन पर विचार-मन्थन भी किया होगा । इस प्रकार की स्थिति में अपने से पूर्ववर्त्ती लेखकों के उल्लेखों की उपेक्षा करना एवं नवीन ढंग से ही घटनाचक्र का निरूपण करना वस्तुतः विचारणीय है । ऐसा करने के पीछे एक ही कारण समझ में आ सकता है और वह यह है कि गणधरों एवं चतुर्दश पूर्वधरों द्वारा ग्रथित आगमों को ही प्रामाणिक मानने वाले जिनेश्वरसूरि की परम्परा से भिन्न गच्छों के आचार्यों एवं साधु-साध्वियों में उस समय तक चैत्यवासियों के संसर्ग अथवा प्रभाव से निगम, निर्युक्ति, भाष्य, वृत्ति और चूर्णि रूप पंचांगी को प्रामाणिक मानने की धारणा बलवती हो गई हो । ऐसी स्थिति में यदि आचार्य प्रभाचन्द्र चैत्यवासियों के साथ हुए जिनेश्वरसूरि के शास्त्रार्थ का प्रभावक चरित्र में उल्लेख करते तो उन्हें दुर्लभराज के समक्ष जिनेश्वरसूरि द्वारा कही गई उस महत्त्वपूर्ण बात का उल्लेख भी अवश्य करना पड़ता, जिसमें आगमों को ही केवल प्रामाणिक मानने की मान्यता को प्रतिपादित किया गया था और पंचांगी को किसी भी दशा में

आगमों के समकक्ष मानने से स्पष्ट इन्कार किया गया था। इस प्रकार के उल्लेख का उस समय के सुविहित परम्परा के उन विभिन्न गच्छों या अनुयायियों पर, जिनमें कि केवल आगमों के स्थान पर सम्पूर्ण पंचांगी को प्रामाणिक मानने की मान्यता दृढ़ होती चली जा रही थी, कितना घातक प्रभाव होता, इसका प्रत्येक निष्पक्ष विज्ञ सहज ही अनुमान लगा सकता है।

उपर्युल्लिखित तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में तटस्थ दृष्टि से विचार करने पर यही प्रतिफलित होता है कि जिनेश्वरसूरि ने चैत्यवासियों को दुर्लभराज की राज सभा में शास्त्रार्थ में पराजित कर अणहिल्लपुर पट्टण में शताब्दियों से प्रतिबन्धित वसतिवास की परम्परा को प्रतिष्ठापित किया। जिनेश्वरसूरि की शास्त्रार्थ में जो विजय हुई वह केवल एक इसी मान्यता के बल पर हुई कि वे केवल गणधरों और चतुर्दश पूर्वधरों द्वारा ग्रथित आगमों को ही प्रामाणिक मानते थे। आगमों के अतिरिक्त भाष्यों, टीकाओं, चूर्णियों, वृत्तियों आदि पंचांगी के अंगों को प्रामाणिक नहीं मानते थे।

इसके अतिरिक्त उपर्युल्लिखित तथ्यों से यह भी प्रकट होता है कि वर्द्धमानसूरि की परम्परा, जो कालान्तर में खरतरगच्छ के नाम से लोक में प्रसिद्ध हुई, भी प्रारम्भ में केवल आगमों को ही प्रामाणिक मानती थी। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया, चैत्यवासियों के संसर्ग अथवा प्रभाव से सुविहित कहे जाने वाले गच्छों में निर्युक्तियों, भाष्यों, वृत्तियों और चूर्णियों को भी आगमों के समान ही प्रामाणिक मानने की प्रवृत्ति घर करती चली गई। शनैः शनैः उसका प्रभाव समग्र धर्म क्रान्ति के रूप में क्रियोद्धार करने वाले वर्द्धमानसूरि की परम्परा पर भी बढ़ता गया और इस परम्परा के उत्तरकालवर्ती आचार्यों ने भी चैत्यवासियों के समान आगम विरोधी आचार अंगीकार कर लिया। वे भी इस आगम विरोधी विचारधारा में बह गये।

अन्य गच्छों के आचार्यों की भांति खरतरगच्छ के आचार्यों में भी आगमों से विपरीत मान्यताएं बद्धमूल होती गईं और उनका आचार-विचार व्यवहार भी किस प्रकार चैत्यवासियों के ही अनुरूप होता गया, इसके अनेकों उदाहरण समय-समय के जैन वांग्मय में उपलब्ध होते हैं। उदाहरण के रूप में खरतरगच्छ के सत्तरवें पट्टधर आचार्य श्री जिन महेन्द्रसूरि के जीवन से सम्बन्धित एक उद्धरण लब्ध प्रतिष्ठ जैन इतिहासज्ञ पं. श्री कल्याणविजयजी के ग्रन्थ 'पट्टावली पराग संग्रह' में से यहां अविकल रूपेण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

(७०) श्री जिनमहेन्द्रसूरि

"विक्रम सम्वत् १८६७ में जन्म, १८८५ में दीक्षा, सम्वत् १८९२ में जोधपुर महाराजा मानसिंहजी के राज्यकाल में आचार्य [illegible] श्री पाद

लिप्तपुर में तपागच्छीय उपाश्रय के आगे होकर वाजित्र वजाते हुए जिन-मन्दिर में दर्शनार्थ गये ।

श्रीसंघाधिप ने सपरिवार गुरु को अपने निवास स्थान पर बुलाकर स्वर्णमुद्राओं से नवांगपूजा की और दस हजार रुपया और पालकी संघ के समक्ष भेंट की । वाचक, पाठक साधुवर्ग को सुवर्ण रुप्य मुद्राएं तथा महा-वस्त्रादि ज्ञानोपकरण भेंट किये ।

श्री गुरु ने भी ८४ गच्छीय समस्त आचाय तथा सहस्र साधुओं को महावस्त्र और प्रत्येक को दो-दो रुप्य मुद्राएं अर्पण कीं ।........"

"फाल्गुन शुदि दूज दिने सर्वतपागच्छीयादि आचार्य साधूनुपत्यकायां संरोध्य श्री जिनमहेन्द्रसूरयः सर्व संघपतिभिः सार्द्धं श्री मूलनायक जिन-गृहाग्रतो गत्वा विधिना सर्वेषां कंठेषु संघमाला स्थापिता । अन्य गच्छीया-चार्याणां कौशिकानामिव मनोभिलाषं मनस्यैव स्थितं । खरतर गच्छेश्वर सूर्योदय-तेज-प्रकरत्वात्तदनुत्तीर्य गीतगमतुर्यवाद्यमानगजाश्वशिविकेन्द्र-ध्वजादि महध्या पादलिप्तपुरे जिनगृहे दर्शनं विधाय तपागच्छीयाचार्य स्थितोपाश्रयाग्रतो भूत्वा संघावासे अयासिषुः भूयोऽपि तत्रस्थ चतुरशीति-गच्छीय द्वादशशतसाधुवर्गेभ्यो महावस्त्र रुप्यमुद्रायुग्मं प्रत्येकं प्रदत्तानि, तदवसरे श्रीमद् पूज्यैर्बहुतर द्रव्यव्ययं कृतं, तत्सम्वन्धः पूर्ववत् पुनः श्रीमदा-दिजिनकोशकुंचिकायुग्मं श्री खरतरगणश्राद्धैश्तपा श्रद्धालुभ्यःसकाशात् गृहीतं, कुंचिकायुग्मं तत्पार्श्वे रक्षितं ।"

पट्टावली का ऊपर जो पाठ दिया है, इससे अनेक गुप्त बातें ध्वनित होती हैं । फाल्गुन सुदि २ के दिन जिनमहेन्द्रसूरिजी पादलिप्तपुर में उपस्थित संघपतियों को माला पहनाने वाले थे, परन्तु दादा की टूंक में मूल नायकजी के सामने माला पहिनाने के विषय में तपागच्छीय तथा अन्य गच्छीय सभी आचार्य विरुद्ध थे, जिसके परिणामस्वरूप जिनमहेन्द्रसूरिजी ने राजकीय वल द्वारा अन्य सभी गच्छों के आचार्यों तथा साधुओं को ऊपर जाने से रुकवा दिया था, फिर आपने निर्भयता से दादा के सामने संघपतियों को मालाएं पहिनाने का पुरुषार्थ किया था । पट्टावली के कथना-नुसार यह घटना खरतरगच्छ के सूर्योदय के तेज का प्रकाश था, जिसके सामने अन्य-गच्छीय आचार्य रूप उल्लुओं के नेत्र चौंधिया गये थे । ऊपर से उतर कर नगर के मन्दिर में दर्शनार्थ जाने के प्रसंग में तपागच्छ के उपाश्रय के सामने होकर गीत-वादित्रों के साथ जाने का उल्लेख किया गया है । इससे ज्ञात होता है कि विशिष्ट प्रसंगों के सिवाय तपागच्छ के उपाश्रय के आगे होकर गीतवादित्रों के साथ निकलना खतरगच्छीय आचार्यों के लिये वन्द होगा । अन्यथा यहां पर उक्त उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं थी ।

पट्टावली के उपर्युक्त पाठ में संघपति द्वारा अपने निवास स्थान पर जिन-महेन्द्रसूरि को बुलाकर स्वर्णमुद्राओं से नवांग पूजा करने और दस हजार की थैली भेंट करने की बात कही है। ठीक तो है, संघपति जब धनवान् है तो अपने गुरु को धनहीन कैसे रहने देगा। इन बातों से निश्चित होता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के श्री पूज्य नाम से पहिचाने जाते जैन आचार्य और यति के नाम से प्रसिद्ध जैन साधु पूरे परिग्रहधारी बन चुके थे। संघपति ने अपने आचार्य तथा साधुओं को वस्त्र और दो-दो रुपये भेंट किये, यह एक साधारण बात है, परन्तु आचार्य जिनमहेन्द्र सूरि द्वारा प्रत्येक साधु को दो-दो रुपयों के साथ वस्त्र देना हमारी राय में उचित नहीं था। कुछ भी हो, परन्तु खरतरगच्छ के अतिरिक्त अन्य सभी गच्छों के आचार्य तथा साधुओं को ऊपर जाने से रोकने वाले संघपतियों से तथा उनके गुरु श्री जिन-महेन्द्रसूरि से अन्य गच्छ के आचार्यों तथा साधुओं ने वस्त्र तथा मुद्राओं की दक्षिणा ली होगी, इस बात को कौन मान सकता है। जिनके मन में अपनी सम्प्रदाय का और अपनी आत्मा का कुछ भी गौरव होगा तो वे दक्षिणा तो क्या उनकी शक्ल तक देखने को तैयार नहीं होंगे।.... ......"[१]

पट्टावली संख्या २३२९ में उल्लिखित इस प्रकार के विवरण से तो स्पष्टतः यही प्रमाणित होता है कि विक्रम की १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में इस यशस्विनी परम्परा खरतरगच्छ के आचार्यों में शैथिल्य इस सीमा तक बढ़ गया था कि चैत्यवासियों और इस सुविहित कही जाने वाली परम्परा के आचार्यों के आचार-विचार में कोई विशेष अन्तर नहीं रह गया था।

आगमों में प्रतिपादित जैन श्रमण की चर्या की तुलना में जिनमहेन्द्रसूरि जैसे आचार्यों के आचार-विचार व्यवहार पर विचार करने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि शास्त्रों में प्रतिपादित जिनाज्ञा से उस समय के साधुओं का कोई किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रह गया था।

वर्द्धमानसूरि की परम्परा खरतरगच्छ का सामूहिक विरोध

वर्द्धमानसूरि की परम्परा के आचार्यों द्वारा जैनधर्म और जैन श्रमणाचार के आगमिक स्वरूप की पुनः प्रतिष्ठा के लिये जब तक प्रयास किये जाते रहे, तब तक चैत्यवासी परम्परा के अनुयायियों द्वारा इस परम्परा का पग-पग पर विरोध किया जाता रहा।

---

१. पट्टावली पराग संग्रह, पृष्ठ ३७४ से ३७६, पं. श्री कल्याणविजयजी महाराज कृत, जालौर, ईस्वी सन् १९६६ में मुद्रित।

अणहिल्लपुर पट्टण में वसतिवास की स्थापना के अनन्तर यह नगर चैत्यवासियों और वसतिवासी परम्परा के सभी गच्छों का एक प्रमुख कार्यक्षेत्र बन गया। वर्द्धमानसूरि की परम्परा के आचार्यों और चैत्यवासी परम्परा के आचार्यों में परस्पर प्रमुख प्रतिस्पर्द्धा थी । वर्द्धमानसूरि ने चैत्यवासियों की अनागमिक मान्यताओं और अशास्त्रीय आचार-विचार एवं आडम्बरपूर्ण धार्मिक कर्मकांडों, उनके आयोजनों आदि के उन्मूलन के लिये ही एक नवीन धर्मक्रांति का सूत्रपात्र किया । इस कारण चैत्यवासी परम्परा के अनुयायियों का वर्द्धमानसूरि की परम्परा के विरुद्ध होना वस्तुतः स्वाभाविक ही था । किन्तु चैत्यवासी परम्परा की जिन जनप्रिय, जन मनोरंजनकारी एवं चित्ताकर्षक मान्यताओं को सुविहित परम्परा के अन्यान्य गच्छों के विभिन्न आचार्यों ने जिनशासन प्रभावना के नाम पर अपना लिया था, वे गच्छ भी वर्द्धमानसूरि द्वारा प्रचलित की गई क्रान्तिकारी परम्परा के विरोधी बन गये । जिनवल्लभसूरि और जिनदत्तसूरि के जीवन काल में इस प्रकार के विरोधों की झलक जैन वांग्मय से दृष्टिगोचर होती है ।

खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली में "ततो वाचनाचार्या जिनवल्लभ गणि कतिचिद्दिनानि पत्तनभूमौ विहृत्य न तादृशो विशेषेण बोधो विधातुं कस्यापि शक्यते येन सुखमुत्पद्यते मनसि । ततश्च........ भगवद् भणित विधिधर्मोत्पादनाय चित्रकूटदेशादिसु विहृतः ।"

इस उल्लेख से यही आभास होता है कि अणहिल्लपुर पट्टण में चैत्यवासियों के साथ-साथ सुविहित परम्परा के अन्य गच्छों के अनुयायी भी जिनवल्लभसूरि के विरोधी बन गये थे । इस विरोध के परिणामस्वरूप ही सम्भवतः जिनवल्लभसूरि को पाटण छोड़कर चित्तौड़ की ओर विहार करना पड़ा । इस घटना के पश्चात् अपने जीवनकाल में वे कभी पट्टण की ओर लौटकर नहीं आये । अन्य क्षेत्रों में ही विचरण करते रहे । इसी प्रकार जिनवल्लभसूरि के पट्टधर आचार्य जिनदत्तसूरि के जीवन वृत्त से भी यही तथ्य प्रकाश में आता है कि चैत्यवासी परम्परा के आचार्यों के साथ-साथ अन्यान्य तेरह गच्छों के आचार्य भी जिनदत्तसूरि का वड़े उग्र रूप से विरोध करते रहे ।

विक्रम की सतरवीं शताब्दी में जिनराजसूरि तक के आचार्यों के जीवनवृत्त पर प्रकाश डालने वाली खरतरगच्छ की एक अन्य पट्टावली में इस प्रकार के विरोध के स्पष्ट रूपेण दर्शन होते हैं । वे उल्लेख इस प्रकार हैं :

"विणइ दिनी वाहरी गया छै, श्री जिनदत्तसूरि, तिवारइ, जिनशेखर आवी पगै लागऊ, कह्यउ मारु......."

"माहि घातओ, गुरु साथै लेइ आव्या, अने रे आचार्यै कयऊ ए काढयउ हुंतओ तुम्हे अणपूछि किम माहि आण्यो, तिवारइ जिनदत्तसूरि

कह्यो म्हारइ दाइ आणइ मइ घाल्यो, श्री जिनवल्लभसूरि न ओ एगुराही जिनशेखर, समस्त संघ १४ आचार्य मिली कह्यो ए वारउ काढओ नहिंतर थे ही विहार करओ, जिनदत्तसूरि विहार कीधओ, उपवास तीन करि स्मरयो, मूंनहि किसहि अरथि स्मरओ तू हे, कह्यओ मुहूर्त तीन बीजइ मुहूर्ति म्हूं नहिं पाट हुओ, गच्छ सूं विरोध ह्यओं, किसी-किसी दिसि विहार करओ, मारुवाडि मरुस्थलि दिशि विहार करि जे थी तुम्हें स्मरस्यो ते थी हूं जुदऊं।

"खरतरगच्छीया वृहद् गुर्वावली" में भी इस प्रकार के विरोध की झलक दिखाई देती है जैसे कि :

"विज्ञप्तं च देवभद्राचार्यैः-"कतिचिद्दिनानि पत्तनादन्यत्र विहर्तव्यम्।"
जिनदत्तसूरि—"एवं करिष्यामः।"

"अन्यदा जिनशेखरेण व्रत विषये अयुक्तं कृतं किंचित्, ततो देवभद्राचार्येण निस्सारितः...........यदा श्री जिनदत्तसूरयो बहिर्भूमौ गतास्तदा पादयो पतितो भणितवान्—"मदीयो अन्याय क्षन्तव्यो वारमेकम्, न पुनः करिष्यामि।"

कृपोदधयः श्री जिनदत्तसूरयः। प्रवेषितः। पश्चात् आचार्यैः भणितम्—"न सुखावहो भवतां भविष्यति।"

अर्थात् देवभद्राचार्य ने जिनदत्तसूरि को जिनवल्लभसूरि के पट्ट पर आसीन करने के अनन्तर कहा—"अब आप कतिपय दिनों तक अणहिल्लपुर पट्टण से बाहर अन्यत्र ही कहीं विहार करते रहें।"

जिनदत्तसूरि ने कहा—"ऐसा ही करूंगा।"

एक दिन जिनशेखर ने व्रत पालन में किसी प्रकार का अपराध कर दिया। देवभद्राचार्य ने उसे संघ से बहिष्कृत कर दिया। जिनशेखर ने जिनदत्तसूरि के चरणों में गिरकर अपने अपराध के लिए क्षमा चाहते हुए प्रार्थना की कि वे उसे पुनः संघ में सम्मिलित कर लें। करुणानिधि जिनदत्तसूरि ने पुनः उसे संघ में सम्मिलित कर लिया।

इस पर देवभद्राचार्य ने कहा—"यह आपके लिए कदापि सुखावह नहीं होगा।"

समयसुन्दर उपाध्याय ने भी इस विरोध पर पूर्ण रूपेण स्पष्ट प्रकाश डालते हुए लिखा है—"श्री जिनवल्लभसूरि निष्कासित साधु मध्यग्रहणेन त्रयो-

दशाचार्यैं श्री जिनदत्तसूरि गच्छात् बहिष्कृतः ततः पद स्थापना कारकं श्रावकं पृष्ट्वा वर्ष त्रयावधि कृत्वा निर्गतः ।"

अर्थात् जिनवल्लभसूरि द्वारा संघ से निष्कासित साधु (जिनशेखर) को पुनः अपने गच्छ में ले लेने के अपराध में गच्छ के १३ आचार्यों ने श्री जिनदत्तसूरि को गच्छ से बहिष्कृत कर दिया। तब पदस्थापना कारक श्रावक को पूछ कर श्री जिनदत्तसूरि अन्यत्र विहार कर गये ।

अंचलगच्छ की शतपदी नामक समाचारी में भी इस प्रकार का उल्लेख है। यथा :

जिनदत्तक्रियाकोशच्छेदोऽयं यत्कृतस्ततः ।
संघोक्तभीतितस्तेऽभूदारुह्योष्ट्रं पलायनम् ।।
(प्रवचन परीक्षा, ४ विश्राम, पृ० ३६८)

अर्थात् हे जिनदत्त ! तुमने स्त्रियों द्वारा जिनेन्द्र की मूर्ति की पूजा किये जाने का विरोध करके क्रिया के कोषागार पर प्रहार किया है। इसी अपराध में संघ के भय से भयभीत हो तुम्हें ऊंट पर आरूढ़ होकर अणहिल्लपुर पट्टण से पलायन करना पड़ा है ।

चैत्यवासियों तथा सुविहित परम्परा के कतिपय गच्छों द्वारा किये गये खरतरगच्छ के विरोध ने अन्ततोगत्वा सम्भवतः बड़ा उग्र रूप धारण कर लिया होगा। इसका अनुमान हमें जिनदत्तसूरि द्वारा रचित अपभ्रंश भाषा के "उपदेश रसायन रास" नामक ग्रन्थ से भी होता है। यथा :

"विहिचेईहरि अविहिकरेवइ,
करहि उवाय बहुत्ति ति लेवइ ।
जइ विहि जिणहरि अविहि कयट्टइ ।
ता धिउ सत्तुयमज्झि पलुट्टइ ।।२३।।
जइ किर नरवइ कि वि दूसमवस
ताहि वि अप्पहि विहिचेइय दस ।
तह वि न धम्मिय विहि विणु झगडहि
जइ ते सव्वि वि उट्ठहि लगुडिहि ।।२४।।

यदि किल केऽपि नृपतयः केचन निर्विवेकिनो लुब्धा दुःख (प) मावशाद् दुष्टकालमाहात्म्याल्लोभाभिभूतास्तेषामप्यविधिकारिणामर्प्पयन्ति पूजनाय विधि चैत्यानि "दशेति यमकानुरोधेन तेन त्रीणि चत्वारि वेति द्रष्टव्यम् ।" तथापि विधि चैत्यापहारेऽपि धार्मिका विधिं विना मुक्तिमन्तरेण न तैः सह कलहायन्ते। यदि ते विपक्षा सर्वेऽप्युत्तिष्ठन्ते लगुडैः प्रहर्तुं मित्यर्थः ।।२४।।

धम्मिउ धम्मुकज्जु साहंतउ
परु मारइ कीवइ जुज्झंतउ ।
तु वि तसु धम्मु अत्थि न हु नासइ
परमपइ निवसइ सो सासइ ।।२६।।

धार्मिको धर्म्मकार्यं विधिचैत्यग्रहणादिकं साधयन् सन् कदाचित् परं विपक्षं तदुपघाताय प्रवृत्तं कथमपि मर्मप्रहारादिना व्यापादयति युध्यमानस्तेन सह तथापि तस्य निश्चयनयेन धर्मोऽस्त्येव केवलं विधिप्रवर्तनाय विधिचैत्यग्रहणप्रवृत्तेः। न तु नैव तद्व्यापादनेन धर्मो नश्यति । तथा च क्रमेण परमपदे मोक्षे निवसति स शाश्वते । अयमर्थः भावार्थः धार्मिक केवलविधिविधान लालसः सन् अविधि सर्वथा असहमानो अविधि कारकान् "जिणपवयणस्स अहियं सव्वत्थामेण वारेइ" त्ति सिद्धान्तवचनानुस्मरणेन यथा तथा निवारयन् कदाचित् परं हन्यादपि तथाप्यत्यन्त शुद्धमनस्कत्वात् शुद्धचारित्रपरिपालनप्रवृत्तसहसाकारनिपातितद्वीन्द्रियादि महामुनिवन्निष्पाप एव । तथा चोच्यते

उच्चालियम्मि पाए इरियासमियस्स संकमट्ठाए ।
वावज्जिजज्ज कुलिंगी मरिज्ज तं योगमासज्ज ।।
न य तस्स तन्निमित्तो, बंधो सुहुमो वि देसिओ समए ।
अणवज्जोहपओगेण, सव्वभावेण सो जम्हा ।। इत्यर्थः ।।२६।।

अर्थात् यदि विधि द्वारा स्थापित विधि चैत्यगृह में कोई व्यक्ति या समूह अविधि चैत्य जैसी प्रवृत्तियां करता है और उस विधि चैत्य को प्रपंच रचकर अपने अधिकार में कर वहां सभी प्रकार की अविधि चैत्य की गतिविधियों को प्रचलित करता है तो यह भी एक प्रकार से सत्तू में घृत डालने के तुल्य ही है ।

इस पद्य की टीका में लिखा है कि यदि कोई राजा अथवा कोई अविवेकी लोभवश अथवा दुःषमा काल के प्रभाव से उन विधि चैत्यों को अविधि कारियों को पूजा के लिये सौंप देता है तो भी धार्मिक लोग अपने विधि चैत्यों के छिन जाने पर भी कलह नहीं करते । अर्थात् विपक्षी लोग एकत्रित हो डंडों का प्रहार करें तो भी उनके साथ कलह करने को उद्यत नहीं होते ।

इससे आगे के पद्य में जिनदत्तसूरि कहते हैं कि यदि कोई धार्मिक व्यक्ति अपने विधि चैत्य में धार्मिक कार्य कर रहा हो अथवा दूसरों के द्वारा ग्रहण किये गये अपने विधि चैत्य को अपने अधिकार में लेने का प्रयास कर रहा हो और उस अवस्था में विपक्षी लोग उसको मारने के लिए प्रवृत्त होते हों, उस दशा में यदि वह विधि चैत्य का उपासक उन अविधिकारियों के साथ युद्ध करता हुआ किसी अविधिकारी पर मर्म प्रहार कर उसका हनन भी कर देता है तो उस अविधिकारी के हनन से उस विधिचैत्यानुयायी धार्मिक व्यक्ति का धर्म नष्ट नहीं होता ।

वह तो अन्ततोगत्वा परम पद मोक्ष में ही निवास करता है। टीकाकार ने इसको और स्पष्ट करते हुए लिखा है कि विधि विधान के अनुसार विधिचैत्य में विधि सहित उपासना अर्चा करने की लालसा लिये अथवा अपने विधिचैत्य में अविधि कार्यों की प्रवृत्तियों को सहन न कर सकने के कारण "जिन प्रवचन के अहित करने वाले कार्य" को पूरी शक्ति के साथ रोकने का प्रयास करता है।" इस सिद्धान्त वचन के अनुसार यदि वह धार्मिक व्यक्ति जिन प्रवचन का अहित करने वाले लोगों में से किसी को मार भी डालता है तो भी वह शुद्ध अध्यवसाय के कारण विशुद्ध चारित्र की परिपालना में प्रवृत्त उस महा मुनि के समान निष्पाप ही होगा, जिससे विशुद्ध चारित्र के निर्वहनार्थ पूर्ण यतना के साथ गमनागमन करते समय द्वीन्द्रिय आदि किसी प्राणी की सहसा अनजान में हत्या हो गई हो।

उपदेश रसायन रास के इन उल्लेखों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर खरतरगच्छ के विरोध में उग्र रूप धारण की हुई तत्कालीन स्थिति का स्पष्टतः आभास होता है। इन पद्यों से यही ध्वनि प्रकट होती है कि जिनवल्लभसूरि ने अणहिल्लपुर पट्टण में अनेक विधि चैत्यों की स्थापना की। चैत्यवासी परम्परा के वर्चस्वकाल में चैत्यनिर्माण आदि के माध्यम से जैन धर्म संघ में प्रविष्ट हुई विकृतियों को दूर करने के उद्देश्य से खरतरगच्छ द्वारा प्रारम्भ किया गया विधि चैत्य निर्माण का अभियान भी वस्तुतः एक प्रकार की धर्म क्रान्ति अथवा क्रियोद्धार का ही रूप था।

जिनवल्लभसूरि के उपदेशों से निर्मापित विधि चैत्यों पर विरोधियों ने संगठित हो अधिकार कर लिया। खरतरगच्छ के अनुयायियों द्वारा जब अपने विधि चैत्यों पर पुनः अपना अधिकार किये जाने का प्रयास किया गया तो सम्भवतः महाराजा सिद्धराज जयसिंह के राज्यकाल में उन अन्यान्य गच्छानुयायी विरोधियों ने राजाज्ञा द्वारा उन विधि चैत्यों पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त की। अपने एक विधिचैत्य पर अविधि चैत्य के उपासकों द्वारा राजाज्ञा के माध्यम से अधिकार कर लिये जाने पर जिनवल्लभसूरि ने उपदेश देकर दूसरे विधि चैत्य का निर्माण करवाया। उस पर भी विरोधियों ने अधिकार कर लिया। इस प्रकार अपने चार पांच अथवा आठ दस विधि चैत्यों पर विरोधियों द्वारा अधिकार कर लिये जाने पर जिनवल्लभसूरि ने इस प्रकार की स्थिति का और साथ ही साथ चैत्यवासी परम्परा का विरोध प्रारम्भ किया। उस समय तक चैत्यवासी परम्परा ने अवसरानुकूल समन्वयवादी नीति का अवलम्बन लेकर पाटण संघ पर अपना वर्चस्व बनाये रखा था। जिनवल्लभसूरि की इस प्रकार की बहुमत विरोधी गतिविधियों से रुष्ट होकर पाटण संघ ने उन्हें संघ से बहिष्कृत कर दिया।

इस प्रकार की विद्वेषपूर्ण स्थिति में अपने लिये अपनी मान्यता के प्रचार-प्रसार के स्रोतों को अवरुद्ध समझकर जिनवल्लभसूरि को पाटण से विहार करना

पड़ा और वे जीवन भर पाटण राज्य की सीमाओं से बाहर चित्तौड़ आदि स्थानों में विधि चैत्यों की स्थापना के माध्यम से अपनी परम्परा का प्रचार-प्रसार करने में संलग्न रहे।

जिनवल्लभसूरि के पाटण से चले जाने के अनन्तर जिनदत्तसूरि ने अपने अनुयायियों का अपने विधि चैत्यों पर पुनः अधिकार करने का इस प्रकार का उपदेश दिया कि जिसकी झलक ऊपर लिखित पद्यों में सुस्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है।

जिनदत्तसूरि के इस प्रकार के उपदेशों को उत्तेजक और शान्ति भंग करने वाले बताकर विरोधियों ने, जिनमें सुनिश्चित रूप से चैत्यवासी और सुविहित परम्परा के अन्यान्य कतिपय गच्छ भी सम्मिलित थे, राजाज्ञा द्वारा जिनदत्तसूरि को पाटन राज्य से निष्कासित करवा दिया। यही कारण था कि जिनवल्लभसूरि के समान उनके पट्टधर आचार्य जिनदत्तसूरि भी अपने जीवनकाल में पुनः कभी पाटन में लौटकर नहीं आये। जैन वांग्मय में इस प्रकार की साक्षी उपलब्ध होती है कि चालुक्यराज द्वितीय भीमदेव (विक्रम सम्वत् १२३६ से १२९८) के शासनकाल तक पौर्णमिक, खरतरगच्छ आदि कतिपय गच्छों के आचार्यों, साधुओं आदि का पाटन में आना-जाना बन्द था।

जिनवल्लभसूरि और जिनदत्तसूरि के जीवन-काल में विधिचैत्य और अविधि चैत्य का विवाद देश के विभिन्न भागों में फैला। जिस प्रकार आयतन अनायतन का विवाद चैत्यवासियों के ह्रासोन्मुख काल में जैन धर्मानुयायियों के लिये प्रमुख प्रश्न बना हुआ था, उसी प्रकार विधि अविधि चैत्य का विवाद जिनवल्लभसूरि के समय में जैन संघ में उत्पन्न हुआ। इस विवाद ने जिनदत्तसूरि के आचार्यकाल में बड़ा उग्र रूप धारण किया। इस प्रश्न को लेकर विभिन्न गच्छों के आचार्यों में अनेक बार शास्त्रार्थ भी हुए।

विधि चैत्य के सम्बन्ध में यदि विचार किया जाय तो यह तथ्य प्रकाश में आएगा कि विधि चैत्य भी वस्तुतः क्रियोद्धार का ही एक अंग था। चैत्यवासियों के अभ्युदय उत्कर्ष एवं अपकर्ष काल में चैत्यवासी साधु चैत्यों में ही नियत निवास करते थे। वे लोग उन चैत्यों में अशन, पान, शयन, स्नान, नर-नारियों के सामूहिक कीर्त्तन, रात्रि जागरण व नर्त्तकियों के नृत्य-संगीत एवं ताम्बूल चर्वण आदि सभी कार्य-कलाप करते रहते थे। सुविहित परम्परा के अभ्युदय के अनन्तर चैत्यवासियों की इन सब प्रवृत्तियों का प्रारम्भ में घोर विरोध किया गया और सुविहित परम्परा के अनुयायियों द्वारा निर्मापित चैत्यगृहों में साधु साध्वियों का नियत निवास, रात्रि में स्त्रियों का प्रवेश, ताम्बूल चर्वण आदि अनेक कार्य निषिद्ध थे। कालान्तर में शनैः शनैः सुविहित परम्परा के अनुयायियों द्वारा बनवाये गये मन्दिरों में भी रात्रि में स्त्री-

पुरुषों के सामूहिक भजन कीर्त्तन रात्रि जागरण आदि प्रारम्भ हो गये। जिनवल्लभसूरि ने जिन चैत्यों की स्थापना-प्रतिष्ठा की, उनमें उन्होंने इस प्रकार की व्यवस्था की कि उन चैत्यों में उत्सूत्र, सूत्रों-आगमों से विपरीत प्ररूपणा न हो, रात्रि में स्नान आदि कार्य कलाप कदापि न किये जायं, इन मन्दिरों पर किसी भी साधु का स्वामित्व न रहेगा, और न इनके प्रति साधुओं के मन में ममत्व भाव। रात्रि में कोई भी स्त्री इन मन्दिरों में प्रवेश नहीं कर सकेगी, यहां वर्ण, जाति आदि का किसी प्रकार का भेदभाव, कदाग्रह नहीं रखा जायगा और श्रावक श्राविका वर्ग द्वारा इन मन्दिरों में ताम्बूल चर्वण कभी नहीं किया जायगा।

इस प्रकार के नियमों अथवा विधि-विधानों के परिणामस्वरूप जिनवल्लभसूरि ने अपने अनुयायियों द्वारा बनवाये गये अथवा बनवाये जाने वाले चैत्यों को विधि चैत्य की संज्ञा दी।[1]

खरतरगच्छ के विरोधियों द्वारा उत्पन्न की गई इस प्रकार की स्थिति के कारण ही जिनवल्लभसूरि, उनके शिष्य जिनदत्तसूरि द्वारा पाटण छोड़ने के पश्चात् जिनदत्तसूरि के शिष्य जिनचन्द्रसूरि और उनके शिष्य जिनपतिसूरि अपने जीवन काल में कभी पाटण में नहीं आये।

इस प्रकार का साम्प्रदायिक वैमनस्य, पारस्परिक विरोध उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के प्रथम तीन दशकों में तो यह वैमनस्य चरम सीमा तक पहुंच गया।

अपने समय के महान् जिनशासन प्रभावक तपागच्छीय आचार्यश्री हीरविजयसूरि का प्रश्रय प्राप्त कर उपाध्याय धर्मसागर ने अपने गच्छ तपागच्छ को छोड़ शेष सभी गच्छों का खंडन करते हुए एक विशालकाय "कुपथ कौशिक सहस्र किरण" "श्री प्रवचन परीक्षा" नामक ग्रन्थ और अन्य छोटे मोटे अनेक ग्रन्थों की रचनाएं कीं। इन ग्रन्थों में मुख्यतः प्रवचन परीक्षा में उपाध्याय धर्मसागर ने खरतरगच्छ की बड़ी ही सर्वाधिक कटु और तीखी आलोचना की है। उपाध्याय धर्मसागर ने वर्द्धमानसूरि द्वारा प्रारम्भ की गई परम्परा के आचार्य जिनवल्लभसूरि को उनके जीवन के अन्तकाल तक चैत्यवासी परम्परा का ही श्रमण बताया

---

१. अत्रोत्सूत्र जनक्रमो न च न च स्नात्रं रजन्यां सदा।
साधूनां ममताश्रयो न च न च स्त्रीणां प्रवेशो निशि।
जाति ज्ञाति कदाग्रहो न च न च श्राद्धेपु ताम्बूलमि-
त्याज्ञात्रेयमनिश्चिते विधिकृते श्री जैन चैत्यालये॥

(चित्रकूट गढ़ की तलहटी में जिनवल्लभसूरि द्वारा बनवाये गये विधि चैत्य के स्तम्भ पर उत्कीर्ण एवं उट्टंकित प्रशस्ति का श्लोक)

है। इसी प्रकार उपाध्याय धर्मसागर ने जिनदत्तसूरि के लिए अशोभनीय भाषा का प्रयोग करते हुए उन्हें "औष्ट्रिक और उनके गच्छ को औष्ट्रिक गच्छ, चामुंडागच्छ खरतर महान् गर्दभगच्छ तक की संज्ञा दे डाली है, जिन पर कि जिनदत्तसूरि के जीवनवृत्त में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।[1]

इस साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण विरोधियों ने न केवल जिनवल्लभ और जिनदत्तसूरि की ही आलोचना की, अपितु जिन वर्द्धमानसूरि ने महान् धर्म क्रान्ति का सूत्रपात कर जैन धर्म और श्रमणाचार के भूले-बिसरे विशुद्ध स्वरूप को जन-जन के समक्ष प्रकट कर जिनशासन को पुनरुद्योतित किया; उन महान् आचार्य वर्द्धमानसूरि की कटु आलोचना करने में भी किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी।

इस सम्बन्ध में उपाध्याय धर्मसागर द्वारा रचित कुपक्ष कौशिक सहस्र किरणं (प्रवचन परीक्षा) नामक कृति की निम्नलिखित गाथा पठनीय है :

न नु वड्ढमाणसूरी जह तह जिणवल्लहो वि संजाओ।
सेसं जिणवइसुत्तणमिय चे अइसुन्दरं वयणं ।।

ननु भो! यथा श्री वर्द्धमानसूरिश्चैत्यवासं परित्यज्य श्री उद्योतनसूरिमुपसम्पद्य विसंभोगिकः सन्नेव सूरेराज्ञया विजहार तथा जिनवल्लभोऽपि चैत्यवासं परित्यज्य श्री अभयदेव सूरिमेवोपसम्पद्य विसंभोगिक एव सूरेराज्ञया चैत्यवासिनां समुदायं प्रतिबोधयन् विजहार।

इस गाथा और इसकी टीका के माध्यम से उपाध्याय धर्मसागर ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वर्द्धमानसूरि ने चैत्यवास का परित्याग किया। उन्होंने उद्योतनसूरि के पास आकर उपसम्पदा भी ग्रहण की किन्तु उद्योतनसूरि ने उन्हें अपने धर्म संघ में, संभोग आदि श्रमण परिपाटी के माध्यम से सम्मिलित नहीं किया। वर्द्धमानसूरि जीवन भर उद्योतनसूरि की आज्ञा से पृथक् ही विचरण करते रहे।

ठीक इसी प्रकार (वर्द्धमानसूरि की भांति ही) जिनवल्लभ भी चैत्यवास का परित्याग कर नवांगी वृत्तिकार श्री अभयदेवसूरि की सेवा में उपस्थित हुए और उनसे उन्होंने ज्ञानोपसम्पदा ग्रहण की। किन्तु अभयदेवसूरि ने जिनवल्लभसूरि को भी सदा विसंभोगिक ही रखते हुए संभोग आदि प्रक्रिया के माध्यम से उन्हें कभी अपने संघ में सम्मिलित नहीं किया। अभयदेवसूरि की आज्ञा से जिनवल्लभसूरि जीवन भर चैत्यवासी परम्परा के अनुयायियों को प्रतिबोध देते हुए ही विचरण करते रहे।

---

१. प्रवचन परीक्षा पृष्ठ ३०९, गाथा संख्या ७० व ७१

इस प्रकार उपाध्याय धर्मसागर ने न केवल श्री वर्द्धमानसूरि को ही अपितु उनके द्वारा प्रचलित की गई श्रमण परम्परा को मूलतः सुविहित परम्परा से भिन्न अलग-थलग परम्परा ही सिद्ध करने का प्रयास किया है।

निम्नलिखित गाथा में तो उपाध्याय धर्मसागर ने खरतरगच्छ की आलोचना करने में पराकाष्ठा ही पार कर दी है। वह गाथा इस प्रकार है :—

तीए पमाणकरणे, अपमाणं सासणं समग्गं पि ।
कायव्वं विवरीया, जेणं दोण्णं वि दो पंथा ।।

टीका :—खरतरमतमर्यादायाः प्रमाणकरणे समग्रमपि जिनशासनमप्रमाणं कर्त्तव्यमापद्येतेतिगम्यं, येन कारणेन खरतरमर्यादाजैनप्रवचनयोर्द्वयोर्विपरीतौ पंथानौस्त, न हि पूर्वाभिमुखमुद्व्रजन् पश्चिमाभिमुखमुद्व्रजन्तं मिलति, न वा तौ समभिलषितमेकं नगरं प्राप्नुतः इति,..........."

अर्थात् खरतरगच्छ की मर्यादाओं को प्रामाणिक मान लेने पर समग्र जिनशासन को ही अप्रामाणिक मानने जैसी स्थिति उत्पन्न हो जायेगी क्योंकि खरतरगच्छ की मर्यादा और जिन-प्रवचन ये दोनों परस्पर एक-दूसरे से भिन्न और विपरीत दिशाओं में ले जाने वाले हैं। जिस प्रकार एक व्यक्ति पूर्व की ओर मुंह करके चल रहा है और दूसरा पश्चिम की ओर अभिमुख हो तो वे दोनों कभी आपस में नहीं मिल सकते और न ही दोनों एक ही नगर में पहुंच सकते हैं; ठीक इसी प्रकार खरतरगच्छ की मर्यादाएं भी जिन-प्रवचनों से भिन्न और विपरीत दिशा में ले जाने वाली हैं।[1]

खरतरगच्छ की शाखा

वर्द्धमानसूरि से लेकर उनके सातवें पट्टधर जिनपतिसूरि तक कालान्तर में खरतरगच्छ नाम से प्रसिद्ध रही श्री वर्द्धमानसूरि की परम्परा सुगठित एक इकाई के रूप में जिनशासन का प्रचार-प्रसार करती रही।

जिनपतिसूरि के शिष्य द्वितीय जिनेश्वरसूरि के समय में, विक्रम सम्वत् १२८० में खरतरगच्छ को दो पृथक् आचार्यों के नेतृत्व में दो विभागों में विभक्त कर दिया गया। खरतरगच्छ में दो शाखाओं के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में निम्नलिखित विवरण उपलब्ध होता है :—

"जिनपतिसूरि के पट्टधर द्वितीय जिनेश्वरसूरि एक समय पल्लूपुर नामक नगर की अपनी पौषधशाला में बैठे हुए थे। सहसा उनके कर्णरन्ध्रों में 'तड्-

१. प्रवचन परीक्षा पूर्व भाग, पृष्ठ ३०९, ३१० रतलाम से सन् १९३७ में प्रकाशित ।

तड्-तट्' की ध्वनि सुनाई दी । कारण की खोज करने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि एक ओर रक्खा उनका दंड स्वतः ही टूटकर दो टुकड़े हो गया है । उन्होंने विचार कर अपने शिष्यों से कहा :—"अब ऐसा प्रतीत होता है कि हमारा यह यशस्वी खरतरगच्छ दो भागों में विभक्त हो जायगा । ऐसी स्थिति में मैं अपने हाथ से ही इसे दो भागों में विभक्त कर दूं तो अति उत्तम रहेगा ।"

जिनेश्वरसूरि (द्वितीय) के दो प्रमुख शिष्य थे । एक का नाम था जिनसिंहसूरि जो कि जन्मना श्रीमाल जाति के थे । उनके दूसरे शिष्य का नाम जिनप्रबोधसूरि था, जो कि ओसवाल वंश में उत्पन्न हुए थे । अपने इन दोनों शिष्यों को आचार्य पद देकर अपने संघ को दो भागों में विभक्त करनें का जिस समय जिनेश्वरसूरि विचार कर रहे थे, उसी समय श्रीमाल संघ अपने प्रदेश में विचरण करने के लिये किसी विद्वान् श्रमण को भेजने की प्रार्थना लेकर जिनेश्वरसूरि के समक्ष उपस्थित हुआ । विभिन्न नगरों एवं ग्रामों से आये हुए श्रीमाल जाति के प्रतिनिधियों ने जिनेश्वरसूरि को वन्दन-नमन के पश्चात् निवेदन किया—"स्वामिन् ! हमारे प्रदेश में धर्म गुरुओं का आगमन नहीं होता । धर्म गुरुओं, साधु-साध्वियों का हमारे क्षेत्र में विचरण न होने के कारण हम लोगों का धर्माराधन नियमित रूप से भली-भांति नहीं होता । साधुओं के अभाव की स्थिति में हम लोग क्या करें ? अतः आपसे प्रार्थना है कि आप कोई ऐसी व्यवस्था करें कि जिससे हमारे क्षेत्र में भी साधु-साध्वियों का विचरण नियमित रूप से होता रहे और हम लोग धर्माराधन कर अपनें जीवन को सार्थक कर सकें ।"

श्रीमाल संघ की प्रार्थना सुनकर आचार्यश्री जिनेश्वरसूरि द्वितीय ने उन्हें अपने शिष्य जिनसिंहसूरि की ओर इंगित करते हुए कहा—"आज से आप लोगों के गुरु ये जिनसिंह हैं ।" उन्होंने श्रीमाल वंशोत्पन्न जिनसिंहसूरि को अपने पट्ट पर अपने पट्टधर आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित किया और उनका नाम जयसिंहसूरि रक्खा । जिनेश्वरसूरि ने अपने शिष्य जयसिंहसूरि से कहा—"वत्स ! ये समग्र श्रावक-श्राविका समूह तुम्हें सौंपता हूं । तुम अपने श्रमण-श्रमणी संघ के साथ इनके क्षेत्र में विचरण करते हुए जिनशासन का प्रचार-प्रसार करो ।"

श्री जिनसिंहसूरि ने गुरु आज्ञा को शिरोधार्य कर अपने उन प्रमुख श्रावकों के साथ संघ सहित श्रीमाल क्षेत्र की ओर विहार किया । जिनसिंहसूरि के श्रीमाल क्षेत्र में पहुंचते ही ग्राम-ग्राम और नगर-नगर से श्रीमाल जैनों के विशाल समूह अपने धर्मगुरु के दर्शनों के लिये उपस्थित होने लगे । विभिन्न नगरों एवं ग्रामों से आये हुए उन श्रीमाल संघों ने जिनसिंहसूरि के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति प्रकट करते हुए समवेत स्वरों में यह घोषणा की—"आज से ये श्रद्धेय जिनसिंहसूरि हमारे धर्माचार्य हैं ।"

जिनेश्वरसूरि ने अपने दूसरे शिष्य जिन-प्रबोध को भी अपना पट्टधर एवं आचार्य पद प्रदान किया।

इस प्रकार विक्रम सम्वत् १२८० में खरतरगच्छ में दो शाखाओं का प्रादुर्भाव हुआ और दोनों ही शाखाएं अपने-अपने आचार्य के नियन्त्रण में रहती हुई स्व-पर-कल्याण में निरत रहीं।

श्री जिनसिंहसूरि की परम्परा में विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में श्री जिनप्रभसूरि नामक एक महान् जिनशासन प्रभावक एवं यशस्वी ग्रन्थकार आचार्य हुए। उन्होंने बादशाह तुगलक मोहम्मदशाह को प्रतिबोध देकर अनेक अमारियां घोषित करवाई। तुगलक मोहम्मदशाह ने इन्हें अपने दरबार में विशिष्ट सम्मान प्रदान किया। जिस प्रकार विक्रम की सौलहवीं सत्रहवीं शताब्दी में बादशाह अकबर हीर विजयसूरि का सम्मान करते थे, उसी प्रकार विक्रम की चौदहवीं शती में तुगलक मोहम्मद शाह श्री जिनप्रभसूरि का सम्मान करते थे।

श्री जिनप्रभसूरि विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के न केवल जिनशासन प्रभावक ही अपितु महान् ग्रन्थकार आचार्य हुए हैं। उन्होंने विक्रम सम्वत् १३५२ में साहित्य सृजन का कार्य प्रारम्भ किया जो विक्रम सम्वत् १३९० के पश्चात् तक अनवरत रूप से चलता रहा। आपने २७ ग्रन्थों और ७३ स्तोत्रों की रचना की।

श्री जिनप्रभसूरि ने विक्रम सम्वत् १३६३ में अयोध्या नगरी में 'विधि प्रपा' नामक एक विशाल ग्रन्थ की और विक्रम सम्वत् १३९० में 'विविध तीर्थकल्प' नामक बड़े ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की, जो आज भी जैन समाज के बहुसंख्यक वर्ग में इतिहास और धर्म दोनों ही दृष्टियों से बहुमान्य ग्रन्थरत्न हैं। इस ग्रन्थ के निदिध्यासन से प्रत्येक पाठक के हृदय पर श्री जिनप्रभसूरि द्वारा किये गये अथक् प्रयास की छाप अंकित हो जाती है। वस्तुतः श्री जिनप्रभसूरि ने भारत के इस तट से उस तट तक और इस छोर से उस छोर तक वर्षों तक भ्रमण कर अनेक ऐतिहासिक स्थलों के प्रत्यक्ष दर्शन करने के पश्चात् इस ग्रन्थरत्न की रचना की है।

श्री जिनप्रभसूरि की लेखनी में बड़ा चमत्कार एवं अद्भुत् ओज था। साम्प्रदायिक विद्वेष के युग में जिस समय तपागच्छ के विद्वान् लेखकों द्वारा अन्य गच्छों की और मुख्यतः खरतरगच्छ की कटुतर आलोचना की जा रही थी, उस समय श्री जिनप्रभसूरि ने 'तपोटमत-कुट्टन' नामक ग्रन्थ निर्मित किया। उन्होंने उस ग्रन्थ में—

"हिनस्ति जन्मन्येकत्र, शाकिनी मुद्गलग्रहः।
तपोटकुग्रहस्त्वेष, प्रणिहन्ति भवे-भवे॥"

इस प्रकार के श्लोकों की रचना कर आपने-अपने विरोधियों के मुख बन्द कर दिये।

श्री जिनप्रभसूरि द्वारा इस प्रकार की अति कटु भाषा में की गई आलोचना से यह तथ्य स्पष्टतः प्रकाश में आता है कि विक्रम सम्वत् १६२९ में अपनी प्रवचन परीक्षा आदि खंडनात्मक कृतियों के माध्यम से जैन संघ में पारस्परिक विद्वेषाग्नि को अति प्रचंड रूप में उद्दीप्त करने वाले तपागच्छीय उपाध्याय धर्मसागरजी से लगभग २५० वर्ष पूर्व विक्रम सम्वत् १३६३ में विधि प्रपा के रचनाकार आचार्य-श्री जिनप्रभसूरि के समय में भी जैन धर्म संघ पारस्परिक कलह अर्थात् साम्प्रदायिक विद्वेष की अग्नि में विदग्ध हो रहा था।

खरतरगच्छ की प्रशाखाएं

खरतरगच्छ में समय-समय पर जो शाखा-प्रशाखाएं उत्पन्न हुईं, संक्षेप में उनका विवरण इस प्रकार है—

१. विक्रम सम्वत् १२०४ में श्री जिनशेखराचार्य से रुद्रपल्लीय खरतर शाखा का प्रादुर्भाव हुआ।

२. वि० सं० १२०५ में श्री जिनदत्तसूरि के जीवन के सन्ध्या-काल में मधुकर खरतर शाखा का उद्भव हुआ।

३. वि० सं० १२२२ में जिनेश्वरसूरि के समय बेगड खरतर शाखा का उद्गम हुआ।

४. वि० सं० १२८० में जिनेश्वरसूरि 'द्वितीय' ने जिन प्रबोध और जिनसिंह नामक अपने दो प्रमुख शिष्यों को अपने दो उत्तराधिकारी आचार्यों के रूप में पट्टधर नियुक्त कर अपने खरतरगच्छ में वृहत् खरतरगण और लघु खरतरगण नामक दो शाखाओं की स्थापना की।

५. वि० सं० १४६१ में श्री वर्द्धमानसूरि ने पिप्पलिया खरतरगच्छ की स्थापना की। समय सुन्दर कृत पट्टावली में वि० सं० १४६१ में श्री जिनवर्द्धनसूरि से पिप्पलिया खरतरगच्छ के उत्पन्न होने का उल्लेख है।

६. वि० सं० १५६० में श्री शान्तिसागर आचार्य ने 'आचार्या' नामक खरतरगच्छ की नई शाखा का प्रचलन किया।

७. वि० सं० १६१२ में भावहर्ष गणि ने खरतरगच्छ में अपने नाम पर भाव हर्षीया शाखा को जन्म दिया।

८. वि० सं० १६७५ में श्री रंगविजयसूरि ने खरतरगच्छ में अपने नाम पर रंगविजया शाखा की स्थापना की।

६. वि० सं० १६७५ में ही खरतरगच्छ में श्री सारजी से श्री सारगच्छ नामक शाखा की उत्पत्ति हुई ।

१०. वि० सं० १६८७ में श्री जिनसागरसूरि ने लघु आचार्या नामक एक नवीन शाखा का खरतरगच्छ में प्रचलन किया ।

उपरिवर्णित सभी विवरणों के सन्दर्भ में तटस्थ दृष्टिकोण से विचार करने पर निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट रूप से प्रकाश में आते हैं —

विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में श्री वर्द्धमानसूरि नामक चैत्यवासी विद्वान् श्रमण ने प्रारम्भिक आगमिक अध्ययन से प्रबुद्ध हो तत्कालीन जैन संघ में आमूलचूल समग्र क्रान्ति करने का दृढ़-संकल्प किया । अपने चैत्यवासी गुरु द्वारा दिये गये सभी प्रकार के प्रलोभनों को ठुकराकर उन्होंने समान विचार वाले अपने कतिपय चैत्यवासी श्रमणों के साथ अपने गुरु से अन्तिम विदा ले चैत्यवास का परित्याग किया ।

चैत्यवासी परम्परा के शताब्दियों से चले आ रहे अखंड एवं सार्वभौम वर्चस्व के कारण उस समय सर्वज्ञ प्रणीत विशुद्ध जैन धर्म के स्वरूप को अपने श्रमण जीवन में ढालकर उसका यथातथ्य रूप से उपदेश करने वाले और आगमों में निर्दिष्ट विशुद्ध श्रमण चर्या का निर्दोष रूप से पालन करने वाले श्रमणों की संख्या नितान्त स्वल्पातिस्वल्प मात्रा में अवशिष्ट रह गई थी । वर्द्धमानसूरि ने जैन धर्मसंघ में सम्पूर्ण क्रान्ति का सूत्रपात करने से पूर्व आगमों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्यरूपेण आवश्यक समझा क्योंकि आगमों के गहन अध्ययन के बिना प्रभु महावीर द्वारा तीर्थ प्रवर्तन के समय संसार के समक्ष रखे गये जैन धर्म के अध्यात्म प्रधान विशुद्ध स्वरूप का और विशुद्ध श्रमण चर्या का बोध होना नितान्त दुष्कर था । अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे आगमों में निर्दिष्ट आध्यात्मिक पथ पर निरन्तर अग्रसर होने वाले आगम मर्मज्ञ गुरु की खोज में एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में अप्रतिहत विहार करने लगे ।

पर्याप्त प्रयास के पश्चात् दिल्ली के आसपास अपनी कल्पना के अनुरूप सच्चे गुरु के होने की सूचना उन्हें मिली । वर्द्धमानसूरि खोज करते हुए उनकी सेवा में उपस्थित हुए । वे श्रमण श्रेष्ठ वनवासी (अरण्यचारी) परम्परा के विरल सन्त थे । उनका नाम था उद्योतनसूरि । शिष्य परम्परा के नाम पर उनके पास एक भी शिष्य अवशिष्ट नहीं रह गया था ।

वर्द्धमानसूरि ने उन श्रमणोत्तम उद्योतनसूरि को वन्दन नमन के पश्चात् अपना परिचय दिया । जब उद्योतनसूरि को यह विदित हुआ कि यह साहसी श्रमण विशुद्ध जैन धर्म और श्रमणाचार के विशुद्ध स्वरूप पर शिथिलाचारी आडम्बर

प्रधान चैत्यवासी नामक द्रव्य परम्परा द्वारा छा दी गई भौतिकता प्रधान ग्राडम्बर पूर्ण काली घटाओं को छिन्न-भिन्न कर संसार के भव्य प्राणियों के समक्ष, जन-जन के समक्ष विशुद्ध जैन धर्म और आगमिक विशुद्ध श्रमणाचार के स्वरूप को उद्भासित करना चाहता है, तो उन्हें निस्सीम प्रसन्नता का अनुभव हुआ।

वर्द्धमानसूरि को उद्योतनसूरि के कुछ ही क्षणों के सहवास से यह दृढ़ विश्वास हो गया कि जिन आगम मर्मज्ञ विशुद्ध श्रमणाचार के प्रतिपालक गुरु की खोज में वे थे, उनकी आशा के पूर्णतः अनुरूप गुरु उन्हें मिल गये हैं। वर्द्धमानसूरि ने तत्काल उद्योतनसूरि को अपना धर्मगुरु स्वीकार करते हुए उनके पास उपसम्पदा अर्थात् आगम विधि के अनुसार अभिनव रूप से निर्ग्रन्थ श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण की। उद्योतनसूरि ने अपने परम जिज्ञासु नये शिष्य वर्द्धमानसूरि को अनुपम उदारता और तत्परता के साथ आगमों का तलस्पर्शी ज्ञान देना प्रारम्भ किया। क्रमशः उद्योतनसूरि ने अपना तलस्पर्शी आगमों का ज्ञान वर्द्धमानसूरि के अन्तर्हृद में उंडेल दिया। उत्कट अध्यवसाय, प्रगाढ़ आस्था, अटूट श्रद्धा और विनय के साथ अहर्निश अभ्यास में निरत रहते हुए कुशाग्र बुद्धि वर्द्धमानसूरि ने कुछ ही समय में आगमों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर लिया। उद्योतनसूरि ने सर्वज्ञ प्रणीत विशुद्ध जैन धर्म के प्रचार-प्रसार की दिशा में वर्द्धमानसूरि को समीचीन रूप से मार्ग-दर्शन करते हुए यही मूलमन्त्र दिया कि चरम तीर्थंकर प्रभु महावीर द्वारा तीर्थ प्रवर्तन के समय दिये गये उपदेशों के आधार पर गणधरों द्वारा ग्रंथित द्वादशांगी और द्वादशांगी के आधार पर चतुर्दश पूर्वधरों द्वारा निर्यूढ़ (सार रूप में संकलित) केवल आगमों में निर्दिष्ट पथ ही प्रत्येक मुमुक्षु के लिये अनुकरणीय व श्रेयस्कर तथा अन्तिम रूप से मान्य है।

अपनी आयु का अन्तिम समय समीप आया जानकर वनवासी उद्योतनसूरि ने अपने शिष्य वर्द्धमान मुनि को सभी भांति सुयोग्य समझ कर अपना पट्टधर नियुक्त किया और आलोचना संलेखनापूर्वक पूर्ण समाधि के साथ स्वर्गारोहण किया।

अपने गुरु के स्वर्गारोहण के अनन्तर वर्द्धमानसूरि देश के विभिन्न भागों में विचरण करते हुए विशुद्ध श्रमणाचार का और धर्म के वास्तविक स्वरूप का बोध जन-जन को कराने लगे।

उज्जयिनी की ओर विहार काल में वर्द्धमानसूरि को अतीव कुशाग्र बुद्धि और वेद-वेदांगों के उद्भट विद्वान् जिनेश्वर और बुद्धिसागर नामक दो शिष्य-रत्न प्राप्त हुए। सुयोग्य शिष्यों को पाकर वर्द्धमानसूरि ने उन्हें जैन आगमों का अध्ययन करवाया और स्वल्प काल में ही वे दोनों सहोदर मुनि जैनागमों के प्रकांड विद्वान् बन गये।

धर्म के विशुद्ध स्वरूप को जन-जन के समक्ष प्रकट करने हेतु समग्र धर्म क्रान्ति करने के अपने गुरु के चिरभिलषित लक्ष्य से पूर्ण रूपेण अवगत होने के

अनन्तर जिनेश्वरसूरि एवं बुद्धिसागरसूरि ने अपने गुरु वर्द्धमानसूरि से निवेदन किया—"भगवन् ! गुजरात प्रदेश में चैत्यवासी परम्परा का पूर्ण वर्चस्व है और पाटन उन चैत्यवासियों का एक सुदृढ़ गढ़ है । विशुद्ध आगमिक धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये हमें चैत्यवासियों के प्रमुख गढ़ अणहिल्लपुर पट्टण में ही सर्वप्रथम धर्म क्रान्ति का शंखनाद पूरना चाहिये । ऐसा करने से धर्म क्रान्ति बड़ी तीव्र गति से समग्र देश में व्याप्त हो जायेगी और अगणित भव्यों को धर्म के विशुद्ध स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होगा । इससे आपके चिर अभिलषित लक्ष्य की पूर्ति में अपेक्षित सफलता प्राप्त होगी ।"

वर्द्धमानसूरि ने अपने शिष्यों से कहा—"वत्सों ! तुम्हारा विचार तो बिल्कुल ठीक है । किन्तु वहां चैत्यवासियों का ऐसा प्रबल प्रभाव है कि हमारे मार्ग में पग-पग पर उनके द्वारा अनेक बाधाएं उपस्थित की जाएंगी और हमारे समक्ष अनेक प्रकार के घोर उपसर्ग प्रस्तुत किये जाएंगे ।"

जिनेश्वर और बुद्धिसागर दोनों ने सविनय निवेदन किया—"भगवन् ! यूकाओं के डर से वस्त्रों को फैंका नहीं जा सकता । जिनशासन की सेवा हेतु हम घोरातिघोर उपसर्ग भी सहन करने के लिये सहर्ष कटिबद्ध हैं । आपकी कृपा से विरोधियों द्वारा हमारे समक्ष उपस्थित की गई सभी प्रकार की बाधाएं स्वतः ही शान्त हो जावेंगीं ।"

वर्द्धमानसूरि ने अपने शिष्यों की यह अभ्यर्थना स्वीकार कर अणहिल्लपुर पट्टण की ओर विहार किया ।

अणहिल्लपुर पट्टण में अपने शिष्यों के साथ पहुंच कर वर्द्धमानसूरि ने वहां कुछ समय तक निवास के लिये स्थान प्राप्त करने का प्रयास किया । किन्तु चैत्यवासियों के प्रबल प्रभाव के कारण उन्हें रहने के लिये कोई स्थान प्राप्त नहीं हुआ । अन्ततोगत्वा जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि ने गुरु आज्ञा लेकर राजमान्य राज पुरोहित के भवन की ओर प्रयाण किया । उन दोनों बन्धुओं ने अपने अगाध ज्ञान के बल पर राज पुरोहित को प्रभावित किया । राज पुरोहित सोमेश्वर ने अपने भवन में ही उन्हें रहने के लिये एक ओर का स्थान दिया ।

चैत्यवासियों को जब यह विदित हुआ कि चैत्यवासी परम्परा से भिन्न किसी श्रमण परम्परा के साधु पट्टण में आये हैं और राज पुरोहित ने उन्हें अपने भवन के एक कक्ष में रहने के लिये स्थान दिया है, तो वे बड़े रुष्ट हुए । चैत्यवासियों ने राजाज्ञा से अपनी सेवा में रहने वाले भटों (राज कर्मचारियों) को यह निर्देश देकर राज पुरोहित के भवन की ओर भेजा कि वे नवागन्तुक श्वेताम्बर साधुओं को अणहिल्लपुर पट्टण छोड़कर बाहर जाने के लिये बाध्य करें ।

भटों ने चैत्यवासी मुख्याचार्य के निर्देशानुसार सोमेश्वर राज पुरोहित के घर पहुंच कर वर्द्धमानसूरि और उनके शिष्यों से कहा कि वे तत्काल अणहिल्लपुर पट्टण से बाहर चले जायं।

राज पुरोहित सोमेश्वर ने चैत्यवासियों द्वारा प्रेषित भटों को बीच में ही टोकते हुए कहा :—"ये महापुरुष पट्टण में ही रहें अथवा पट्टण छोड़ कर अन्यत्र विहार कर जायं, इस बात का निर्णय राज राजेश्वर महाराज दुर्लभराज के द्वारा उनकी राज सभा में ही होगा।"

भटों ने चैत्यवासी मुख्याचार्य को राज पुरोहित की बात सुनाई, जिसे सुनकर चैत्यवासी आचार्य स्तब्ध रह गये। उन्होंने चैत्यवासी अन्य आचार्यों और प्रमुख चैत्यवासी उपासकों के साथ विचार-विमर्श कर निश्चय किया कि इस व्याधि को शीघ्र ही मूलतः नष्ट कर दिया जाय। येन-केन प्रकारेण इन वसतिवासियों को शीघ्रातिशीघ्र पट्टण राज्य की सीमाओं से बाहर निकालने का उपाय किया जाय। चैत्यवासियों ने वर्द्धमानसूरि आदि के विरुद्ध एक षड्यन्त्र की रचना की। अपने विश्वासपात्र अनुयायियों के माध्यम से उन्होंने सम्पूर्ण पट्टण नगर में यह अफवाह फैला दी कि चालुक्यराज दुर्लभराज के राज्य को हड़पने के लिये किसी शत्रु राजा ने पट्टण नगर में अपने गुप्तचर भेजे हैं और वे गुप्तचर राज पुरोहित सोमेश्वर के घर पर ठहरे हुए हैं।

राजा के कानों तक भी यह अफवाह पहुंची किन्तु तत्काल ही सोमेश्वर ने राजा के समक्ष उपस्थित होकर उन्हें वास्तविक स्थिति से अवगत करा दिया—राजन्! मेरे घर में जो ठहरे हुए हैं, वे किसी शत्रुराजा के गुप्तचर नहीं, अपितु वेद-वेदांगादि सभी धर्म शास्त्रों के पारगामी महापुरुष हैं। वे जैनाचार्य हैं एवं उनके साथ उनके विद्वान् शिष्य हैं। वे जन-जन के कल्याण के लिये, जन-जन को सच्चे धर्म का बोध कराने के लिये आपके राज्य के पट्ट नगर अणहिल्लपुर पट्टण में आये हैं।"

इस प्रकार चैत्यवासियों द्वारा रचा गया घोर षड्यन्त्र विफल हो गया। किन्तु उन चैत्यवासियों ने दुर्लभराज से निवेदन किया—"महाराज ! प्राचीन काल में वनराज चावड़ा का, उसकी असहाय शैशवावस्था में हमारे पूर्वाचार्य शीलगुणसूरि और उनके शिष्य देवचन्द्रसूरि ने लालन-पालन एवं शिक्षण-दीक्षण किया। वनराज को सुयोग्य बनाया और अन्ततोगत्वा शीलगुणसूरि के कृपा प्रसाद से ही वे विशाल राज्य के स्वामी बने। हमारे पूर्वाचार्य शीलगुणसूरि की सहायता से ही उन्होंने इस अणहिल्लपुर पट्टण नगर को बसाया। अपने गुरु के महान् उपकारों से उऋण होने के लिए कृतज्ञ वनराज चावड़ा ने इस प्रकार की राजाज्ञा प्रसारित की कि अणहिल्लपुर पट्टण राज्य में चैत्यवासी परम्परा के और चैत्यवासी परम्परा द्वारा सम्मत साधु-साध्वी ही विचरण कर सकेंगे। जैन धर्म की शेष किसी भी परम्परा के साधु-साध्वी पट्टण राज्य में विचरण नहीं कर सकेंगे।

चैत्यवासियों ने दुर्लभराज से निवेदन किया—"राजन् ! शताब्दियों से इसी प्रकार की व्यवस्था पट्टण राज्य में चली आ रही है। अपने पूर्ववर्त्ती राजाओं द्वारा निर्धारित की गई मर्यादा का शासक सदा से सम्मान करते आये हैं।"

दुर्लभराज ने कहा—"अपने पूर्ववर्त्ती राजाओं द्वारा प्रचलित की गई मर्यादाओं का हम भी सम्मान करते हैं किन्तु गुणी महापुरुषों की पूजा करना भी हमारा परम कर्त्तव्य है। अपने इस कर्त्तव्य से भी हम किसी प्रकार विमुख नहीं रह सकते।"

अपने लक्ष्य की प्राप्ति में अपने आपको असफल होते देख चैत्यवासी आचार्य ने कहा—"राजन् ! ये लोग नामधारी जैन श्रमण हैं। वस्तुतः देखा जाय तो ये जैन संघ बाह्य ही नहीं, अपितु षड्दर्शन बाह्य भी हैं।"

दुर्लभराज ने पूछा—"इसका निर्णय कैसे किया जाय ?"

चैत्यवासी आचार्य ने कहा—"शास्त्रार्थ से। राजन् ! शास्त्रार्थ से हम यह सिद्ध कर देंगे कि वस्तुतः हम लोग चैत्यवासी परम्परा के श्रमण ही सच्चे जैन श्रमण हैं। न कि ये सित्पट वसतिवासी।"

विचार-विमर्श के अनन्तर शास्त्रार्थ के लिये दिन व समय निश्चित किया गया। निश्चित समय पर शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। वर्द्धमानसूरि ने अपने विद्वान् शिष्य जिनेश्वरसूरि को अपनी ओर से शास्त्रार्थ करने का अधिकार दिया।

शास्त्रार्थ के प्रारम्भ में चैत्यवासियों के मुख्याचार्य सूराचार्य ने अपना पूर्व पक्ष रखा कि श्वेतपटधारी वसतिवासी साधु वस्तुतः जैन श्रमण नहीं हैं। वे षड्दर्शन बाह्य हैं। अपने इस पक्ष की पुष्टि हेतु आगमिक प्रमाण प्रस्तुत करने के लिये सूराचार्य ने अपनी परम्परा के पूर्वाचार्यों द्वारा रचित निगम कहे जाने वाले ग्रन्थों में से एक ग्रन्थ उठाया और उसका कोई उद्धरण प्रस्तुत करने का उपक्रम किया।

दूरदर्शी जिनेश्वरसूरि ने जिज्ञासापूर्ण मुद्रा में दुर्लभराज से प्रश्न किया—"महाराज ! आपका यह सुशासन आपके द्वारा निर्मित राजनीति के आधार पर चलाया जाता है, अथवा आपके पूर्वपुरुषों द्वारा निर्मित राजनीति के आधार पर ?"

दुर्लभराज ने तत्काल उत्तर दिया—"महात्मन् ! हम अपने पूर्व-पुरुषों, राजर्षियों और ब्रह्मर्षियों द्वारा निर्धारित राजनीति के आधार पर ही शासन-प्रशासन तन्त्र को चलाते हैं, न कि स्वयं द्वारा नवनिर्मित किसी राजनीति के आधार पर।"

जिनेश्वरसूरि ने अपने विरोधियों को किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में डालते हुए कहा—"महाराज ! हम लोग भी भगवान् महावीर के उपदेशों के आधार

पर गणधरों द्वारा रचित और चतुर्दश पूर्वधरों द्वारा सार रूप में संकलित आगमों को ही सर्वथा प्रामाणिक मानते हैं। हमारी धर्मनीति भी आपकी राजनीति की भांति ही उन महापुरुषों द्वारा निर्मित आगमों के आधार पर ही चलती है।"

महाराज दुर्लभराज ने जिनेश्वरसूरि की बात पर अपनी पूर्ण सहमति प्रकट करते हुए कहा—"यह तो सर्वथा उचित ही है।"

जिनेश्वरसूरि ने कहा—"महाराज ! हम सुदूरस्थ प्रदेश से विचरण करते हुए यहाँ आये हैं। इस कारण हमारे पास यहां आगम नहीं हैं। इन चैत्यवासी आचार्यों के मठों में हैं। वहाँ से जैनागमों का बस्ता मंगवा लिया जाय। उनसे सहज ही सिद्ध हो जायगा कि कौन खरा है और कौन खोटा।"

दुर्लभराज ने अपने अधिकारियों को मठ में भेजकर वहां से आगमों का बंडल मंगवा लिया।

उस बंडल में से जिनेश्वरसूरि ने चतुर्दश पूर्वधर आचार्य शय्यंभवसूरि द्वारा द्वादशांगी में से सार रूप में संकलित ग्रथित आगम ग्रन्थ दशवैकालिक सूत्र छांट कर निकाला और उसके आधार पर सच्चे साधु के स्वरूप को बड़ी कुशलतापूर्वक सभा के समक्ष रखा, जिससे प्रत्येक सभासद् को भली-भांति विश्वास हो गया कि चैत्यवासी श्रमणों का आचार-विचार शास्त्रों से पूर्णतः प्रतिकूल और वसतिवासियों का आचार-विचार-व्यवहार शास्त्रों में बताये गये श्रमणों के स्वरूप के पूर्णतः अनुरूप है। जिनेश्वरसूरि द्वारा शास्त्रार्थ के समय राजसभा में रखे गये शास्त्रीय उद्धरणों से प्रत्येक सभ्य ने यह अनुभव किया कि चैत्यों में नियत निवास सर्वज्ञ प्रणीत आगमों में प्रदर्शित श्रमण जीवन के लिये सर्वथा निषिद्ध है। मधुकरी, अप्रतिहत विहार, स्व-पर-कल्याण हेतु आगमों का अध्ययन-अध्यापन, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच महाव्रतों का जीवन पर्यन्त त्रिकरण त्रियोग से निर्दोष रूप से परिपालन ही आगमों के उल्लेखों के अनुसार एक सच्चे श्रमण की विशुद्ध श्रमणाचर्या है।

महाराजा दुर्लभराज शास्त्रार्थ में जिनेश्वरसूरि द्वारा आगमिक प्रमाणों के साथ रखी गई युक्तियों से बड़े प्रभावित हुए। उनके मुख से सहसा यह उद्‌गार प्रकट हुए—"ये खरे हैं" अर्थात् आगम की कसौटी पर सौ टंच सोने की भांति ये खरे उतरे हैं।

अन्ततोगत्वा शास्त्रार्थ में जिनेश्वरसूरि को विजयी घोषित किया गया और अणहिल्लपुर पट्टण में वसतिवास की परम्परा ने जैन धर्म के सच्चे स्वरूप का प्रचार-प्रसार करना प्रारम्भ किया।

"ये खरे हैं।" राजा के मुख से निकले हुए ये उद्‌गार जन-जन के मुख से प्रतिध्वनित होने लगे। वस्तुतः यह कोई उपाधि या विरुद के रूप में राजा की

ओर से दिया गया पद नहीं था। यह तो वास्तविक सत्य-तथ्य से प्रभावित न्यायनिष्ठ राजा के अन्तःकरण से प्रकट हुए प्रशंसात्मक उद्‌गार थे। यही कारण है कि अभयदेवसूरि आदि इस परम्परा के आचार्यों ने अपनी कृतियों की प्रशस्तियों में खरा अथवा खरतर इन शब्दों का अपनी परम्परा के विरुद के रूप में प्रयोग नहीं किया।

दुर्लभराज द्वारा खरे के रूप में प्रशंसित परम्परा कालान्तर में खरतरगच्छ (न केवल खरे ही अपितु खरे से भी उच्चतर कोटि के खरे) के नाम से लोक में प्रसिद्ध हुई।

वर्द्धमानसूरि द्वारा प्रचलित की गई परम्परा, चाहे उसे खरागच्छ अथवा खरतरगच्छ के नाम से अभिहित किया जाय, वस्तुतः जिन प्ररूपित धर्म और विशुद्ध श्रमण धर्म के खरे स्वरूप को जन-जन के समक्ष प्रकट करने में सफल सिद्ध हुई।

आज भारत के विभिन्न प्रदेशों में जैन धर्म और श्रमणाचार का विशुद्ध स्वरूप कहीं अधिक कहीं कम दृष्टिगोचर हो रहा है वस्तुतः वह वर्द्धमानसूरि जैसे आचार्यों की ही देन है। यदि वर्द्धमानसूरि ने चैत्यवासी परम्परा के विरुद्ध समग्र धार्मिक क्रान्ति का शंखनाद नहीं पूरा होता तो आज आगमों के, जैनधर्म के सच्चे स्वरूप के और सच्चे श्रमणों के दर्शन तक दुर्लभ हो जाते।

वर्द्धमानसूरि ने आमूलचूल क्रियोद्धार अथवा महान् धर्म क्रान्ति का सूत्रपात करते समय प्रत्येक जैन धर्मावलम्बी को एक यही आधारभूत मूलमन्त्र दिया कि प्रत्येक जैन के लिये जिनेश्वर प्रभु द्वारा प्रणीत केवल आगम ही सर्वोच्च सर्वमान्य और सर्वोपरि प्रामाणिक हैं, न कि किसी आचार्य के द्वारा बनाये गये कोई ग्रन्थ। क्योंकि जैन धर्म जिनेश्वर द्वारा संस्थापित है, न कि किसी आचार्य के द्वारा। प्रत्येक जैन के लिये किसी भी आचार्य का केवल वही निर्देश मान्य हो सकता है जो शत प्रतिशत आगम वचन के अनुरूप अर्थात् आगम पर आधारित हो।

कालान्तर में इस महान् क्रान्तिकारिणी श्रमण परम्परा पर भी काल प्रभाव से चैत्यवासियों तथा लोकैषणा से अभिभूत गच्छों अथवा धर्मसंघों के सम्पर्कसंसर्ग का प्रभाव पड़ा और यह परम्परा भी केवल आगमों के स्थान पर पंचांगी अर्थात् आगम, निर्युक्ति, वृत्ति, भाष्य और चूर्णि को प्रामाणिक मानने लगी। वस्तुतः यही जैन धर्मसंघ में विचारभेद, मान्यताभेद, मतभेद, साम्प्रदायिक विभेद, विद्वेष, वैमनस्य आदि का मूल कारण है। आज यदि प्रत्येक जैन धर्मानुयायी पंचांगी के ऊहापोह में न पड़कर केवल आगमों को ही अन्तिम रूप से परम प्रामाणिक मानने लग जाय तो जैन धर्मसंघ में सभी प्रकार के मतभेद सम्प्रदायभेद गच्छभेद सदासर्वदा के लिए स्वतः ही समाप्त हो जायें।

कालान्तर में एकमात्र जिनवाणी अर्थात् आगमों को ही प्रामाणिक मानने के स्थान पर निर्युक्तियों, वृत्तियों, भाष्यों और चूर्णियों को भी आगम तुल्य ही परम प्रामाणिक मानने की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप इस महान् क्रान्तिकारी खरतरगच्छ में भी शनैः शनैः चैत्यवासियों द्वारा धर्मसंघ में आविष्कृत-प्रविष्ट एवं जैन समाज के बहुसंख्यक विशाल जन-समूह में शताब्दियों से रूढ़ की गई विकृतियां पनपने पल्लवित एवं पुष्पित होने लगीं। शनैः शनैः प्रारम्भ में भट्टारक और कालान्तर में श्री पूज्य के विरुद से विभूषित खरतरगच्छ के आचार्यों ने भी छत्र, चामर, छड़ी आदि राजाधिराजाओं के राजचिह्नों को धारण करना, विपुल परिग्रह रखना और पालकियों में बैठकर आवागमन करना प्रारम्भ कर दिया।

जिस महान् क्रान्तिकारी परम्परा के प्रवर्त्तक वर्द्धमानसूरि ने घोषणा की थी कि वे गणधरों द्वारा ग्रथित और चतुर्दश पूर्वधरों द्वारा निर्यूढ़ आगमों के अतिरिक्त और किसी भी धर्मग्रन्थ को प्रामाणिक नहीं मानते, कालान्तर में उन्हीं के पट्टधरों ने चैत्यवासी परम्परा द्वारा स्वनिर्मित निगमों के आधार पर प्रचलित की गई परिपाटियों पर चलना प्रारम्भ कर दिया। न केवल खरतरगच्छ ही अपितु सुविहित कही जाने वाली अनेक परम्पराओं की पट्टावलियां इस प्रकार के उदाहरणों से भरी पड़ी हैं। नमूने के रूप में खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली में वर्णित आचार्य जिनचन्द्रसूरि की जीवनचर्या से सम्बन्धित गद्य के कुछ सारांश यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं।[1] यथा :

विक्रम सम्वत् १३७५, माघ शुक्ला बारस के दिन नागपुर (नागौर) में महोत्सव करवाया। उसमें कतिपय साधु-साध्वियों की दीक्षाएं हुई। तदनन्तर श्रावक समुदाय के साथ श्री जिनचन्द्रसूरि (द्वितीय) ने फलौदी जाकर श्री पार्श्वनाथ की तीसरी बार यात्रा की। इस अवसर पर भगवान् पार्श्वनाथ के भांडागार में तीस हजार जैथल की आय हुई। तत्पश्चात् श्री पूज्यजी संघ के साथ पुनः नागौर लौटे। विक्रम सम्वत् १३७५ की वैषाख कृष्णा आठम के दिन ठक्कर अचल सुश्रावक ने सुल्तान कुतुबुद्दीन से आज्ञा निकलवा कर अनेक नगरों के विशाल जन-समुदाय के साथ हस्तिनापुर मथुरा, आदि महातीर्थों की यात्रा के लिये संघ निकलवाया। श्री पूज्य जिनचन्द्रसूरि (द्वितीय) अपने जयवल्लभगणि आदि आठ साधु और जयर्द्धि महत्तरा आदि अनेक साध्वियों एवं विशाल संघ के साथ

---

१. खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली पृष्ठ ६५ व ६६।

"..........ततः विक्रम सम्वत् १३७५ माघ शुक्ल द्वादश्यां
..........कार्यमाणेषु महाप्रेक्षणीयेषु, नृत्यमानेषु युवति
जनेषु दीयमानेषु तालारासेषु..........श्री पूज्यै..........
श्री व्रतग्रहणमालारोपणादि नन्दिमहामहोत्सवश्चक्रे..........
८७। ततः सम्वत् १३७५..........

नागौर से यात्रार्थ प्रस्थित हुए। क्रमशः श्री नर भट में पार्श्वनाथ की तीर्थ यात्रा कर संघ कन्यानयन नामक तीर्थ नगर पहुंचा। वहां आठ दिन तक उत्सव करने के पश्चात् ४०० घोड़ों, ५०० शकटों, ७०० बैलों, और यात्रियों के विशाल संघ के साथ यमुना महानदी को नावों से पार किया और वे हस्तिनापुर पहुंचे।

श्री पूज्य जिनचन्द्रसूरि (द्वितीय) ने संघ के साथ शान्तिनाथ, अरनाथ, कुंथुनाथ देवों की यात्रा की। संघ ने इन्द्र पदादि के चढावे बोल कर अपने द्रव्य का सदुपयोग किया। ठक्कर देवसिंह श्रावक ने बीस हजार जैथल बोलकर इन्द्र पद ग्रहण किया। वहां देव भण्डार में चढावों से एक लाख पचास हजार जैथल की आय हुई।

तत्पश्चात् संघ मथुरा तीर्थ की यात्रा करता हुआ दिल्ली के निकट पहुंचा। वर्षाकाल लग चुका था, अतः श्री पूज्यजी ने संघ को विसर्जित किया और अचलादि श्रावकों के साथ खंड सराय में चातुर्मासावास के लिये ठहरे। सुलतान के कहने और संघ के आग्रह से "रायाभिओगेणं गणाभिओगेणं" आदि आगम वचनों का अनुसरण करते हुए श्री पूज्यजी चातुर्मासावास काल में ही बागड़देश के श्रावक समुदाय के साथ मथुरा गये और उन्होंने सुपार्श्वनाथ तथा महावीर तीर्थंकरों के मन्दिरों की यात्रा की। यात्रा के पश्चात् चातुर्मासावधि में ही वे पुनः दिल्ली लौटे और शेष चातुर्मास काल खंड सराय में व्यतीत किया।

उन्होंने उस चातुर्मास काल में दो बार स्व० जिनचन्द्रसूरि (प्रथम) के स्तूप की विशाल जनमेदिनी के साथ यात्रा की।

चातुर्मासावधि में ही विहार व तीर्थयात्राएं करने के औचित्य के सम्बन्ध में स्वर्गीय पंन्यास श्री कल्याणविजयजी महाराज ने अपने विचार इस रूप में प्रकट किये—

> "आचार्य जिनचन्द्रसूरि के द्वारा दूसरी वार जिनाज्ञा भंग करने का यह प्रसंग है। पहले आपने शत्रुंजय गिरनार के संघ के साथ वापस भीमपल्ली आते हुए वायड महास्थान में आषाढ़ी चौदस की और वाद में वहां से श्रावण वदी में भीमपल्ली आकर चातुर्मास्य पूरा किया था। इस प्रसंग पर तो लगभग तीर्थों में जाने आने में ही खासा चातुर्मास्य व्यतीत किया। पट्टावली लेखक कहता है सुरत्राण के उपरोध से और संघ के अत्याग्रह से आप मथुरा के लिये निकले थे, जो सरासर झूठा वचाव है। सुरत्राण को तो कोई मतलब ही नहीं था और संघ का भी इन्होंने विसर्जन कर दिया था, कतिपय बागड़ के श्रावकों के साथ आप खंडसराय चातुर्मास्य व्यतीत करने के लिये ठहरे थे। फिर मथुरा जाने का तात्कालिक क्या कारण उपस्थित हुआ कि जिससे वाध्य होकर आपको मथुरा जाना-आना पड़ा।

हमारी राय में दोनों स्थानों पर जिनचन्द्रसूरि ने गफलत की है। प्रथम तो इस प्रकार साधुओं को तीर्थ यात्रा के निमित्त भ्रमण करना निष्कारण भ्रमण बताया है और निष्कारण भ्रमण करने पर शास्त्रकार ने प्रायश्चित विधान किया है। तब चातुर्मास्य में दिल्ली से मथुरा जाकर चौमासे में ही वापस दिल्ली आना कितना बुरा दृष्टान्त है, इसका जिनचन्द्रसूरिजी ने कतई विचार नहीं किया। साधुओं के लिये संयम यात्रा ही मुख्य यात्रा है। तीर्थ यात्रा दर्शन शुद्धि का कारण होने से श्रावकों के लिये खास उपयोगी है। साधुओं के लिये नहीं। चारित्र में विराधना लगाकर तीर्थ यात्रा के लिये अपने भक्तों का समुदाय इकट्ठा करके इधर-उधर घूमते रहना यह खरतर-गच्छ के आचार्यों का प्रचार-मात्र है। जिनेश्वरसूरि, अभयदेवसूरि, जिन-वल्लभसूरि आदि को तीर्थ यात्रा निकाल कर तीर्थों में ले जाने वाला कोई नहीं मिला था क्या? खरी बात तो यह है कि वे साधु का कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य समझते थे। चन्द्रावती में जिनपतिसूरि के साथ वार्तालाप करते हुए पौर्णमिक गच्छीय आचार्यश्री अकलंकदेवसूरि ने संघ के साथ साधु को जाने के लिये जो आपत्तियां उठाई हैं और जिनपतिसूरि ने उनका जो समाधान किया है, उसके पढ़ने से पाठक-गण अच्छी तरह समझ सकते हैं कि जिनचन्द्रसूरि की उक्त गफलत ही नहीं किन्तु निष्कारण अपवाद का सेवन है।"[१]

श्री जिनचन्द्रसूरि के ही समान उनके शिष्य श्री जिनकुशलसूरिजी द्वारा भी चातुर्मासावधि में यात्रार्थ भ्रमण करने आदि के सम्बन्ध में भी स्व० पंन्यास श्री कल्याणविजयजी महाराज ने टिप्पणी करते हुए आगे लिखा है :—

"जिनचन्द्रसूरि ने यात्रा निमित्त दो वार चातुर्मास में भ्रमण करने के जो अपवाद सेवन किये थे, उन पर टिप्पण करते हुए हम लिख आये हैं कि चातुर्मास्य में इधर-उधर होने की अनागमिक रीति योग्य नहीं है, हमारे उस कथन के अनुसार ही परिणाम आया, जिनचन्द्रसूरि दो बार इधर-उधर हुए थे तब उनके पट्टधर श्री जिनकुशलसूरि ने भी चातुर्मास्य में दो वार यात्रार्थ भ्रमण किया। प्रथम योगिनीपुर निवासी सा. रयपति के संघ के साथ सौराष्ट्र तीर्थ की यात्रा के लिये जाकर वापस भाद्रपद वदि ११ को पाटन पहुंचे थे और चातुर्मास्य वहां पर पूरा किया था।

दूसरी वार भीमपल्लि निवासी सा. वीरदेव के संघ के साथ उन्हीं तीर्थों की यात्रा करने गये और श्रावण शुक्ला ११ को वापस भीमपल्लि में प्रवेश किया था।"

---

१. पट्टावलि पराग संग्रह, पृष्ठ ३३१–३३२

"इसी प्रकार खरतरगच्छ के आचार्यों ने नाममात्र का निमित्त पाकर चौमासे में इधर-उधर जाने में पाप नहीं समझा और खूबी यह है कि इनके पिछले गुर्वावलीकार लेखक रायाभिओगेणं इस आगार को आगे कर इस अनुचित प्रवृत्ति का बचाव करते हैं। उनको समझ लेना चाहिये कि इन बातों में राजाभियोग, गणाभियोग लागू ही नहीं होता। राजा साधुओं को वर्षाकाल में इधर-इधर होने की आज्ञा क्यों देगा राजनीति तो साधु नट नर्तक आदि घुमक्कड़ जातियों को वर्षाकाल में एक स्थान पर रहने की आज्ञा देती है, तब खरतरगच्छ के आचार्यों को वह वर्षाकाल में घूमने की आज्ञा क्यों देगी ? युग प्रधान श्री जिनचन्द्रसूरिजी वर्षाकाल में बादशाह अकबर के पास जाने को रवाना हुए और जालौर तक पहुंचने के बाद उनको बादशाह की तरफ से समाचार पहुंचे कि वर्षा काल में चलते हुए आने की कोई आवश्यकता नहीं है, तब आपने शेष वर्षाकाल जालौर में बिताया। जहां तक हम समझ पाये हैं वह यह है कि श्री जिनदत्तसूरि से ही खरतरगच्छ के अनुयायियों को गुरु पारतन्त्र्य का उपदेश मिलना प्रारम्भ हो गया था, उसके ही परिणामस्वरूप खरतरगच्छ में यह बात एक सिद्धान्त बन गयी है कि आगम से आचार्य परम्परा अधिक बलवती है। किसी प्रसंग पर आचरणा के विपरीत आगम की बात होगी तो आगमिक नियम को छोड़कर आचरणा की बात को प्रमाण माना जावेगा, शास्त्र विरुद्ध यात्रार्थ भ्रमण और वर्षाकाल तक की उपेक्षा करना उसका कारण एक ही है कि इस प्रकार की प्रवृत्तियों के विरुद्ध कुछ भी कह नहीं सकते थे, ठीक है, गुरु पारतन्त्र्य में रहना चाहिये परन्तु पारतन्त्र्य का अर्थ यह तो नहीं होना चाहिये कि शास्त्र विरुद्ध अथवा लोक प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में भी गुरुओं को कुछ नहीं कहा जाय, आंखें मूंदकर गुरुओं की प्रवृत्तियों को निभाने का परिणाम यह होगा कि धीरे-धीरे गुरु और गच्छ दुनिया से विदा हो जाएंगे।"

उपरिवर्णित तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर यह स्थिति स्पष्ट हो जाती है कि यदि वर्द्धमानसूरि एवं जिनेश्वरसूरि द्वारा चालुक्यराज और उनकी राजसभा के समक्ष की गई घोषणा के अनुसार उनकी परम्परा के पट्टधर पंचांगी में से एकमात्र आगमों को ही सर्वोपरि और परम प्रामाणिक मानते रहकर पंचांगी के शेष भाग निर्युक्ति, भाष्य, वृत्ति और चूर्णियों को आगमों की कोटि में अर्थात् आगमों के समान ही निर्णायक अथवा परम मान्य नहीं मानते तो भगवान् महावीर के धर्मसंघ में न शिथिलाचार ही पनपता, न विकृतियां ही उत्पन्न होतीं, और न समय-समय पर महापुरुषों को क्रियोद्धार के रूप में धर्म-क्रान्तियां ही करनी पड़तीं।

आगमों के गहन अर्थ को समझने-समझाने में निर्युक्तियां, वृत्तियां, भाष्य और चूर्णियां बड़ी सहायक हैं, इसमें कोई दो मत नहीं, किन्तु कोई भी एक सैद्धान्तिक

हमारी राय में दोनों स्थानों पर जिनचन्द्रसूरि ने गफलत की है। प्रथम तो इस प्रकार साधुओं को तीर्थ यात्रा के निमित्त भ्रमण करना निष्कारण भ्रमण बताया है और निष्कारण भ्रमण करने पर शास्त्रकार ने प्रायश्चित विधान किया है। तब चातुर्मास्य में दिल्ली से मथुरा जाकर चौमासे में ही वापस दिल्ली आना कितना बुरा दृष्टान्त है, इसका जिनचन्द्रसूरिजी ने कतई विचार नहीं किया। साधुओं के लिये संयम यात्रा ही मुख्य यात्रा है। तीर्थ यात्रा दर्शन शुद्धि का कारण होने से श्रावकों के लिये खास उपयोगी है। साधुओं के लिये नहीं। चारित्र में विराधना लगाकर तीर्थ यात्रा के लिये अपने भक्तों का समुदाय इकट्ठा करके इधर-उधर घूमते रहना यह खरतर-गच्छ के आचार्यों का प्रचार-मात्र है। जिनेश्वरसूरि, अभयदेवसूरि, जिन-वल्लभसूरि आदि को तीर्थ यात्रा निकाल कर तीर्थों में ले जाने वाला कोई नहीं मिला था क्या? खरी बात तो यह है कि वे साधु का कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य समझते थे। चन्द्रावती में जिनपतिसूरि के साथ वार्तालाप करते हुए पौर्णमिक गच्छीय आचार्यश्री अकलंकदेवसूरि ने संघ के साथ साधु को जाने के लिये जो आपत्तियां उठाई हैं और जिनपतिसूरि ने उनका जो समाधान किया है, उसके पढ़ने से पाठक-गण अच्छी तरह समझ सकते हैं कि जिनचन्द्रसूरि की उक्त गफलत ही नहीं किन्तु निष्कारण अपवाद का सेवन है।"[1]

श्री जिनचन्द्रसूरि के ही समान उनके शिष्य श्री जिनकुशलसूरिजी द्वारा भी चातुर्मासावधि में यात्रार्थ भ्रमण करने आदि के सम्बन्ध में भी स्व० पंन्यास श्री कल्याणविजयजी महाराज ने टिप्पणी करते हुए आगे लिखा है :—

"जिनचन्द्रसूरि ने यात्रा निमित्त दो बार चातुर्मास में भ्रमण करने के जो अपवाद सेवन किये थे, उन पर टिप्पण करते हुए हम लिख आये हैं कि चातुर्मास्य में इधर-उधर होने की अनागमिक रीति योग्य नहीं है, हमारे उस कथन के अनुसार ही परिणाम आया, जिनचन्द्रसूरि दो बार इधर-उधर हुए थे तब उनके पट्टधर श्री जिनकुशलसूरि ने भी चातुर्मास्य में दो बार यात्रार्थ भ्रमण किया। प्रथम योगिनीपुर निवासी सा. रयपति के संघ के साथ सौराष्ट्र तीर्थ की यात्रा के लिये जाकर वापस भाद्रपद वदि ११ को पाटन पहुंचे थे और चातुर्मास्य वहां पर पूरा किया था।

दूसरी बार भीमपल्लि निवासी सा. वीरदेव के संघ के साथ उन्हीं तीर्थों की यात्रा करने गये और श्रावण शुक्ला ११ को वापस भीमपल्लि में प्रवेश किया था।"

---

१. पट्टावलि पराग संग्रह, पृष्ठ ३३१–३३२

३. प्रभव स्वामी
४. शय्यंभवसूरि
५. यशोभद्रसूरि
६. संभूत विजय
७. भद्रबाहु स्वामी
८. स्थूलभद्र
९. आर्य महागिरि
१०. आर्य सुहस्ती
११. सुस्थितसूरि : इनसे कोटिकगच्छ निकला ।
१२. इन्द्रदिन्नसूरि
१३. दिन्नसूरि
१४. सिंहगिरि
१५. वज्र स्वामी
१६. व्रज सेनाचार्य (नागेन्द्र, चन्द्र, निर्वृत्ति और विद्याधर इन चार शिष्यों से चार कुलों की उत्पत्ति ।)
१७. चन्द्रसूरि
१८. समन्तभद्रसूरि (वनवासी)
१९. वृद्धदेवसूरि
२०. प्रद्योतनसूरि
२१. मानदेवसूरि
२२. मानतुंगसूरि (भक्तामर स्तोत्र कर्ता)
२३. वीरसूरि (इसी अवधि में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने वल्लभी में वीर निर्वाण सम्वत् ९८० से आगमों का लेखन प्रारम्भ करवाया। वीर निर्वाण सम्वत् ९९३ में भाद्रपद शुक्ला पंचमी के स्थान पर चौथ को पर्युषण पर्व मनाया ।)
२४. जयदेवसूरि
२५. देवानन्दसूरि
२६. विक्रमसूरि
२७. नरसिंहसूरि
२८. समुद्रसूरि
२९. मानदेवसूरि
३०. विबुधप्रभसूरि
३१. जयानन्दसूरि
३२. रविप्रभसूरि
३३. यशोप्रभसूरि
३४. विमलचन्द्रसूरि

बात का मूलागम में कोई उल्लेख नहीं, कोई इंगित तक नहीं, वह बात निर्युक्ति, भाष्य ,वृत्ति और चूर्णि में विस्तार से उल्लिखित हो और जैनधर्म के आधारभूत सिद्धान्तों अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के विपरीत हो, आगमों की भावना के प्रतिकूल हो तो उस स्थिति में आगमों की उपेक्षा कर निर्युक्तियों आदि को सर्वोपरि प्रामाणिक मान लेना सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र की परिभाषा में नहीं आ सकता । जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है संघ भेद, सम्प्रदाय भेद, मान्यता भेद आदि सभी भेदों, बिखरावों का मूल उद्गम स्थल अथवा मूल कारण पंचांगी को आगमों के समान ही प्रामाणिक मानने, न मानने की भावना ही रही है ।

खरतरगच्छ की पट्टावली

खरतरगच्छ की विभिन्न समय में लिखी गई अनेकों पट्टावलियां उपलब्ध होती हैं । उनमें कतिपय पट्टधरों के क्रम और नामों के सम्बन्ध में विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है । उन सब पट्टावलियों को यहां उद्धृत करना और उनमें उल्लिखित पट्टधरों के नामों एवं नाम क्रम सम्बन्धी विभेदों के औचित्यानौचित्य पर विचार करना सम्भव नहीं । क्योंकि इसमें अनावश्यक रूपेण ग्रन्थ का कलेवर बड़ा हो जायगा और प्रत्येक विभेद के सम्बन्ध में ठोस प्रमाणों के अभाव के कारण सत्यान्वेषी पाठकों को कोई विशेष लाभ भी नहीं मिलेगा ।

इस प्रकार की स्थिति में खरतरगच्छ के सित्तरवें आचार्य जिनमहेन्द्रसूरि के आचार्य काल में विक्रम की १९वीं बीसवीं शताब्दी के संधिकाल में बनाई गई पट्टावली के केवल पट्टक्रम को ही शोधार्थियों के लिये उपयोगी कतिपय उल्लेखों के साथ यहां प्रस्तुत करना पर्याप्त समझा जा रहा है । यह पट्टावली खरतरगच्छ की अन्यान्य अधिकांश पट्टावलियों के साथ पर्याप्त अंशों में मिलती-जुलती है, इससे विश्वास किया जाता है कि इस पट्टावली के रचनाकार ने अपने से पूर्व के अनेक पट्टावलीकारों को अपने सम्मुख रखते हुए इस पट्टावली की रचना की होगी । इस बात को ध्यान में रखते हुए भी आचार्यश्री जिनमहेन्द्रसूरि के समय में निर्मित इस पट्टावली को यहां उद्धृत करना पर्याप्त समझा गया है । २६ पत्रों की यह पट्टावली संस्कृत भाषा में लिखी गई है । लेखक ने प्रारम्भिक शीर्षक में इसका नाम पट्टावली के स्थान पर गुर्वावली लिखा है । इसमें उल्लिखित निर्वाण सम्वत् १ से लेकर विक्रम सम्वत् १८९२ में इस परम्परा के ७०वें पट्टपर आसीन श्री जिनमहेन्द्रसूरि तक भगवान् महावीर के पट्टधरों का पट्टक्रम दिया है, जो इस प्रकार है :—

१. सुधर्मा स्वामी
२. जम्बू स्वामी

५४. जिनराजसूरि
५५. जिनभद्रसूरि (इसी गच्छ के सागर चन्द्राचार्य ने विक्रम सम्वत् १४६१ में जिनवर्द्धनसूरि को अधिष्ठित किया था। जिनवर्द्धनसूरि पर चौथे व्रत (ब्रह्मचर्य व्रत) के भंग का दोष लगाया गया और उनके स्थान पर जिनभद्रसूरि को पट्टधर बनाया गया। इन्हीं के समय में जिनवर्द्धनसूरि से खरतरगच्छ में एक नई पिप्पलक शाखा का उद्भव हुआ)।
५६. जिनचन्द्रसूरि (इन्होंने अनेक विद्वान् मुनियों को आचार्यपद पर अधिष्ठित किया। इनके समय में विक्रम सम्वत् १५०८ में अहमदाबाद में लौंका नामक लेखक ने प्रतिमा पूजा का विरोध किया और वि० सं० १५२४ में लौंका के नाम से मत प्रचलित हुआ।)
५७. जिनसमुद्रसूरि
५८. जिनहंससूरि (इनके समय में आचार्य शान्ति सागर ने खरतरगच्छ में आचार्यिया शाखा का प्रचलन किया।)
५९. जिन माणिक्यसूरि (इनके समय में खरतरगच्छ में शिथिलाचार का प्राबल्य बढ़ा। इन्होंने क्रियोद्धार का दृढ़ संकल्प कर अजमेर की ओर विहार करने का निश्चय किया किन्तु देराउल से जैसलमेर लौटते समय वि० सं० १६१२ आषाढ़ शुक्ला पंचमी को आपका स्वर्गवास हो गया और इस प्रकार आपका क्रियोद्धार करने का स्वप्न अधूरा ही रह गया।)
६०. जिनचन्द्रसूरि (इन्होंने विक्रम सम्वत् १६१२ में क्रियोद्धार किया। वि० सं० १६२१ में आपके आचार्य काल में भाव हर्षोपाध्याय ने भाव हर्षीया खरतर शाखा को जन्म दिया। आपने अनेक चमत्कारिक कार्य किये और वि० सं० १६७० में आपका स्वर्गवास हो गया।)
६१. जिनसिंहसूरि
६२. जिनराजसूरि (आपके समय में आपके शिष्य जिनसागरसूरि ने वि० सं० १६८६ में लघ्वाचार्य खरतर शाखा को जन्म दिया। आपने नैषध काव्य पर जैनराजीय नाम की एक टीका की रचना की। वि० सं० १६९९ में आपके स्वर्गवास के कुछ ही समय पश्चात् वि० सं० १७०० में रंग विजय गणि ने रंग विजया शाखा को जन्म दिया और कुछ ही समय पश्चात् श्री सार उपाध्याय ने खरतरगच्छ में श्री सारीय शाखा प्रचलित की।)
६३. जिनरत्नसूरि
६४. जिनचन्द्रसूरि
६५. जिनसुखसूरि
६६. जिनभक्तिसूरि

३५. श्री देवसूरि (इनके सुविहित मार्गाचरण में सुविधि गच्छ के नाम से भी खरतरगच्छ की प्रसिद्धि हुई ।)
३६. श्री नेमिचन्द्रसूरि
३७. श्री उद्योतनसूरि (इनसे ८४ गच्छों की उत्पत्ति हुई ।)
३८. वर्द्धमानसूरि
३९. जिनेश्वरसूरि बुद्धिसागरसूरि "जिनेश्वरसूरिमुद्दिश्य खरा एते इति राज्ञा प्रोक्तं । ततः एव खरतर विरुदं लब्धं, तथा चैत्यवासिनां हि पराजय प्रापणात् कंवला इति नामधेयं प्राप्ता । एवं च सुविहित पक्ष-धारका जिनेश्वर सूरयो विक्रमतः १०८० वर्षैः खरतर विरुद धारका जाताः ।"
४०. जिनचन्द्रसूरि
४१. अभयदेवसूरि
४२. जिनवल्लभसूरि
४३. जिनदत्तसूरि (इनके समय में जिनशेखराचार्य से रुद्रपल्लीय शाखा निकली । जिनदत्तसूरि से सम्बन्धित उल्लेखों के अनन्तर अनुष्टुप् छन्द में निम्नलिखित ६ चरण लिखे हुए हैं :

श्री जिनदत्तसूरीणां, गुरुणां गुणवर्णनम् ।
मया क्षमादिकल्याण, मुनिना लेशतः कृतम् ।।
सुविस्तरेण तत्कर्तुं, सुराचार्योऽपि न क्षमः ।।१।।

इस डेड श्लोक के उल्लेख से प्रारम्भ में किये गये हमारे इस अनुमान की पुष्टि होती है कि इस पट्टावली के रचनाकार ने अन्य पट्टावलियों को अपने समक्ष रखकर इस पट्टावली की रचना की होगी ।)

४४. श्री जिनचन्द्रसूरि
४५. श्री जिनपतिसूरि
४६. जिनेश्वरसूरि (द्वितीय)
४७. जिनप्रबोधसूरि
४८. जिनचन्द्रसूरि (इनके समय में खरतरगच्छ की राजगच्छ के नाम से भी प्रसिद्धि हुई ।)
४९. जिनकुशलसूरि
५०. जिनपद्मसूरि
५१. जिनलब्धिसूरि
५२. श्री जिनचन्द्रसूरि
५३. जिनोदयसूरि (इनके समय में विक्रम सम्वत १४२२ में वेगड खरतर शाखा निकली ।)

५४. जिनराजसूरि

५५. जिनभद्रसूरि (इसी गच्छ के सागर चन्द्राचार्य ने विक्रम सम्वत् १४६१ में जिनवर्द्धनसूरि को अधिष्ठित किया था। जिनवर्द्धनसूरि पर चौथे व्रत (ब्रह्मचर्य व्रत) के भंग का दोष लगाया गया और उनके स्थान पर जिनभद्रसूरि को पट्टधर बनाया गया। इन्हीं के समय में जिनवर्द्धनसूरि से खरतरगच्छ में एक नई पिप्पलक शाखा का उद्भव हुआ)।

५६. जिनचन्द्रसूरि (इन्होंने अनेक विद्वान् मुनियों को आचार्यपद पर अधिष्ठित किया। इनके समय में विक्रम सम्वत् १५०८ में अहमदाबाद में लौंका नामक लेखक ने प्रतिमा पूजा का विरोध किया और वि० सं० १५२४ में लौंका के नाम से मत प्रचलित हुआ।)

५७. जिनसमुद्रसूरि

५८. जिनहंससूरि (इनके समय में आचार्य शान्ति सागर ने खरतरगच्छ में आचार्यिया शाखा का प्रचलन किया।)

५९. जिन माणिक्यसूरि (इनके समय में खरतरगच्छ में शिथिलाचार का प्राबल्य बढ़ा। इन्होंने क्रियोद्धार का दृढ़ संकल्प कर अजमेर की ओर विहार करने का निश्चय किया किन्तु देराउल से जैसलमेर लौटते समय वि० सं० १६१२ आषाढ़ शुक्ला पंचमी को आपका स्वर्गवास हो गया और इस प्रकार आपका क्रियोद्धार करने का स्वप्न अधूरा ही रह गया।)

६०. जिनचन्द्रसूरि (इन्होंने विक्रम सम्वत् १६१२ में क्रियोद्धार किया। वि० सं० १६२१ में आपके आचार्य काल में भाव हर्षोपाध्याय ने भाव हर्षीया खरतर शाखा को जन्म दिया। आपने अनेक चमत्कारिक कार्य किये और वि० सं० १६७० में आपका स्वर्गवास हो गया।)

६१. जिनसिंहसूरि

६२. जिनराजसूरि (आपके समय में आपके शिष्य जिनसागरसूरि ने वि० सं० १६८६ में लघ्वाचार्य खरतर शाखा को जन्म दिया। आपने नैषध काव्य पर जैनराजीय नाम की एक टीका की रचना की। वि० सं० १६९९ में आपके स्वर्गवास के कुछ ही समय पश्चात् वि० सं० १७०० में रंग विजय गणि ने रंग विजया शाखा को जन्म दिया और कुछ ही समय पश्चात् श्री सार उपाध्याय ने खरतरगच्छ में श्री सारीय शाखा प्रचलित की।)

६३. जिनरत्नसूरि

६४. जिनचन्द्रसूरि

६५. जिनसुखसूरि

६६. जिनभक्तिसूरि

६७. जिनलाभसूरि
६८. जिनचन्द्रसूरि
६९. जिनहर्षसूरि
७०. जिनमहेन्द्रसूरि (आपके समय में शिथिलाचार और साम्प्रदायिक विद्वेष अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया था। इस सम्बन्ध में इसी प्रकरण में पहले पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। आपका जन्म विक्रम सम्वत् १८६७ में और आचार्यपद वि० सं० १८९२ में जोधपुर नगर में मरुधर नरेश महाराजा मानसिंह जी के राज्य काल में हुआ।)

—: ० :—

उपकेशगच्छ

उपकेशगच्छ के सम्बन्ध में "उपकेशगच्छ पट्टावली" और "भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास"[1] (भाग १ और २) नामक वृहदाकार ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक इस गच्छ के प्रथम आचार्य से लेकर ८५वें आचार्य देव गुप्तसूरि के समय अर्थात् विक्रम की बीसवीं शताब्दी के अन्त तक का इतिहास उपलब्ध होता है।

यद्यपि भगवती सूत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि श्रमण भगवान् महावीर द्वारा धर्मतीर्थ की स्थापना के अनन्तर पार्श्वनाथ सन्तानीय आचार्य केशि श्रमण आदि सभी श्रमणों ने चातुर्याम धर्म का परित्याग कर प्रभु महावीर द्वारा प्रदर्शित पंच महाव्रत स्वरूप श्रमण धर्म को अंगीकार किया तथापि पट्टावलीकार ने उपकेशगच्छ को २३वें तीर्थंकर पुरुषादानीय भगवान् पार्श्वनाथ की अविच्छिन्न परम्परा का मूल अंग बताते हुए इसे श्रमण भगवान् महावीर के धर्म संघ से पृथक् स्वतन्त्र धर्म संघ बताने का प्रयास किया है। यह वस्तुतः एक ऐसा आश्चर्यकारी प्रयास है, जिस पर गहन चिन्तन-मनन के उपरान्त भी विश्वास नहीं किया जा सकता।

उत्तरवर्त्ती तीर्थंकर के धर्म शासन के साथ-साथ किसी पूर्ववर्त्ती तीर्थंकर का भी धर्म शासन चला हो इस प्रकार का एक भी उदाहरण शास्त्रों में उपलब्ध नहीं होता। पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा के परिणामस्वरूप विभिन्न गच्छों में उत्पन्न हुए कलह, विद्वेष एवं अहंभाव के वातावरण में किसी समय उपकेशगच्छ को सर्वाधिक प्राचीन, यहां तक कि भगवान् महावीर से भी पूर्व का गच्छ सिद्ध करने के व्यामोहाभिभूत किसी उपकेशगच्छीय आचार्य के मस्तिष्क की यह वस्तुतः कपोल कल्पना मात्र ही सिद्ध होती है। तथापि किसी गच्छ विशेष की स्वतन्त्र भावना को ठेस न पहुँचे इसी दृष्टि से उपकेशगच्छ का पूर्ण परिचय इस ग्रन्थमाला में दिया जा रहा है।

---

१. उपकेशगच्छ के ८५वें आचार्य देवगुप्तसूरि द्वारा निर्मित भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास। देवगुप्तसूरि ने विक्रम सम्वत् १९६३ की फाल्गुन कृष्णा छठ के दिन स्थानकवासी आचार्य श्री श्रीलालजी महाराज के पास दीक्षा ली। कुछ वर्ष पश्चात् ही वे गृहस्थ बन गये और विक्रम सम्वत् १९७२ में उन्होंने रत्नविजयजी के पास संवेगी दीक्षा ग्रहण कर ली और कुछ समय पश्चात् आपको उपकेशगच्छ के आचार्य पद पर अधिष्ठित किया गया। मारवाड़ के वीसलपुर नामक ग्राम में श्रेष्ठिवर श्री नवलमलजी की धर्म परायणा धर्मपत्नी रूपांदेवी की कुक्षी से आपका विक्रम सम्वत् १९३८ की आश्विन शुक्ला दशमी को जन्म हुआ। आपका जन्मनाम घेवरचन्द रखा गया।

भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण के अनन्तर क्रमशः हुए उनके चार पट्टधरों-प्रथम पट्टधर गणधर शुभदत्त, द्वितीय आचार्य हरिदत्त, तृतीय आचार्य समुद्रसूरि और चतुर्थ पट्टधर आचार्य केशी श्रमण का यत्किंचित् जीवन परिचय प्रस्तुत ग्रन्थ-माला के प्रथम भाग में[1] और छठे आचार्य रत्नप्रभसूरि का परिचय द्वितीय भाग में[2] यथास्थान दिया जा चुका है।

अब यहां उपकेशगच्छ के पांचवें आचार्य स्वयंप्रभ और सातवें आचार्य से ७२वें आचार्य तक का इस गच्छ की पट्टावली में यथोपलब्ध क्रमिक परिचय यहां दिया जा रहा है :—

५. आचार्य स्वयंप्रभसूरि—आपका जन्म विद्याधर वंश में हुआ था। आचार्य केशिकुमार के पास आपने श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की। अपने आचार्य काल में देश के सुदूरस्थ प्रदेशों में विहार कर आपने अनेकों अजैनों को जैन धर्मावलम्बी बनाया। भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर सुधर्मा स्वामी और द्वितीय पट्टधर जम्बू स्वामी के समय में आपका अस्तित्व माना जाता है। आचार्य स्वयंप्रभ उपकेश गच्छीया पट्टावली के अनुसार वीर निर्वाण सम्वत् ५२ में स्वर्गवासी हुए।

६. आचार्य रत्नप्रभसूरि—आपका परिचय जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग २ में, पृष्ठ ३७६-३८० पर दिया जा चुका है।

पूर्वोल्लेखानुसार आपने ओसियां के मृत प्रायः जामाता का विषापहार कर उसे पूर्ण स्वस्थ किया और उससे प्रभावित हो ओसियां निवासी सवा लाख क्षत्रियों ने जैन धर्म स्वीकार किया। उसी चमत्कार पूर्ण घटना की स्मृतिस्वरूप पार्श्वनाथ परम्परा का नाम उपकेशनगर (ओसियां) के नाम पर उपकेशगच्छ के नाम से लोक में प्रसिद्ध होना अनुमानित किया जाता है। आपने अपने एक शिष्य कनकप्रभ को कोरंटक में आचार्य पद देकर कोरंटकगच्छ की भी स्थापना की।

७. आचार्य यक्षदेवसूरि—उपकेशगच्छ के छठे महान् प्रभावक आचार्य रत्नप्रभ के पश्चात् उनके पट्ट पर सातवें आचार्य यक्षदेवसूरि वीर निर्वाण सम्वत् ८४ में आचार्य पद पर आसीन हुए।

८. कक्कसूरि।
९. आचार्य देवगुप्त।
१०. सिद्धसूरि।
११. आचार्य रत्नप्रभ (द्वितीय)
१२. आचार्य रत्नप्रभ (तृतीय)

---

१. जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग १, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३२७-३२८
२. जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग २, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३७६-८०

१३. यक्षदेवसूरि (द्वितीय)
१४. देवगुप्तसूरि (द्वितीय)
१५. आचार्यसिद्ध (द्वितीय)
१६. आचार्य रत्न प्रभ (चतुर्थ)
१७. आचार्य यक्षदेव (तृतीय)

इस आचार्य को पांच सौ साधुओं और अनेकों श्रावकों के साथ म्लेच्छों द्वारा महुआ की लूट के समय बन्दी बना लिया गया था। एक म्लेच्छ बने हुए श्रावक ने इन आचार्य को किसी तरह बचा कर निकाला। श्रमणों के अभाव में कहीं गच्छ का उच्छेद नहीं हो जाय इस आशंका से श्रावकों ने अपने ११ पुत्र इनके चरणों में साधु बनाने के लिये प्रस्तुत किये, जिन्हें आपने दीक्षित किया और आहड़ नगर में पहुंचे। यह घटना विक्रम सम्वत् १०० के पश्चात् की बताई जाती है।

इन्होंने नागेन्द्र, चन्द्र, निर्वृत्ति और विद्याधर नाम के चार गच्छ स्थापित किये।

१८. कर्कसूरि (तृतीय)
१९. आचार्य देवगुप्त (तृतीय)
२०. सिद्धसूरि (तृतीय)

इन्होंने अपने शिष्यों में से किसी को आचार्य पद न देकर केवल "महत्तर" की पदवी दी।

२१. महत्तर रत्नप्रभसूरि (पंचम)
२२. महत्तर यक्षदेवसूरि (चतुर्थ)

इन्होंने समन्तभद्र सन्तानीय नाना मुनि को कोरंटक गच्छ का आचार्य बनाया। नन्नाचार्य के बाद उनके एक मुनि यक्षदेवसूरि ने कृष्णाचार्य को अनेक आचार्य परम्परा वाले सूरिपद हीन इस गच्छ का सूरि बना कर अपना उत्तराधिकारी घोषित किया।

२३. आचार्य कक्क (चतुर्थ)। वही कृष्ण ऋषि आचार्य कक्क (चतुर्थ) के नाम से विख्यात हुए।
२४. आचार्य देवगुप्त (चतुर्थ)।
२५. आचार्य जयसिंह।
२६. आचार्य वीरदेव।

इन्होंने अपने जीवन काल में ही सत्तावीसवें आचार्य को बनाया। पर आज्ञा-वर्त्ती न रहने के कारण उन्हें हटाकर कक्कसूरि (पंचम) को आचार्य बनाया। पर

ये भी गुरु आज्ञा में अधिक दिन नहीं रहे अतः २८वें पट्ट पर कक्क सूरि (षष्टम) को आचार्य पद पर नियुक्त किया ।

२९. देवगुप्तसूरि (पंचम)

३०. सिद्धसूरि (पंचम)

३१. रत्नप्रभ सूरि (सप्तम) । इनके एक शिष्य उदयवर्द्धन से 'द्विवन्दनीक गच्छ' और तपागच्छ के साथ इसके सम्मेलन से तपारत्न शाखा निकली ।

३२. आचार्य यक्षदेव (षष्टम)

३३. कक्कसूरि (षष्टम) ये बड़े ही समर्थ आचार्य हुए । इन्होंने अपने गच्छ की नवीन व्यवस्थाएं कीं । इन्होंने यह निर्णय किया कि आचार्य रत्नप्रभ और आचार्य यक्षदेव जैसे आचार्य अब आगे के समय में नहीं होंगे । अतः अब भविष्य में किसी आचार्य का नाम रत्नप्रभ या यक्षदेव नहीं रखा जाकर केवल कक्कसूरि, देवगुप्तसूरि और सिद्धसूरि इन तीन ही नामों में से कोई एक नाम रखा जाय ।

इन्होंने नागेन्द्र और चन्द्रगच्छ के सम्बन्ध में भी सुधार किया । इनके समय में पार्श्वनाथ सन्तानीय सन्त समुदाय चन्द्रगच्छ में सम्मिलित हुआ । आचार्य उदयवर्द्धन का समुदाय भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर दोनों ही की श्रमण परम्पराओं को मानने लगा और "द्विवन्दनीक गच्छ" के नाम से प्रसिद्ध हुआ और अन्त में तपागच्छ के साथ मिल गया । तपागच्छ और द्विवन्दनीक गच्छ का सम्मिलित स्वरूप तपारत्नगच्छ के नाम से प्रचलित हुआ ।

आपने उपकेश गच्छ की सुन्दर, प्रभ, कनक, मेरु, सार, चन्द्र, सागर, हंस, तिलक आदि २२ शाखाएं स्थापित कीं ।

३४. आचार्य देवगुप्त (षष्टम)

३५. आचार्य सिद्ध (षष्टम)

३६. आचार्य कक्क (सप्तम)

३७. आचार्य देवगुप्त

३८. सिद्धसूरि (सप्तम)

३९. आचार्य कक्क (अष्टम)

४०. आचार्य देवगुप्त (अष्टम) । आपका जन्म विक्रम सम्वत् ९९५ में क्षत्रिय कुल में हुआ । इनको वीणा वजाने का वड़ा रस था । ये किसी तरह वीणा वजाना नहीं छोड़ सके । अतः संघ के दवाव से दूसरे मुनि को आचार्य पद दे वे लाट प्रदेश में चले गये । आपकी इस क्रिया शिथिलता के कारण संघ ने यह निर्णय किया कि भविष्य में उपकेश गच्छ में विशुद्ध जैन मातृकुल एवं पितृकुल वाले मुनि को ही संघ का अधिनायक वनाया जाय ।

४१. आचार्य सिद्ध (अष्टम)

४२. आचार्य कक्क (नवम)
४३. देवगुप्तसूरि (नवम)
४४. सिद्धसूरि (नवम)
४५. कक्कसूरि (दशम)
४६. देवगुप्तसूरि (दशम)

४७. सिद्धसूरि (दशम) : आपके शिष्य जम्बूनाग ने लोद्रवा के राजा तनु का वर्षफल निकाल कर यह भविष्यवाणी की कि यवन मुमुचि (मुहम्मद गजनवी) द्वारा आक्रमण किया जायगा और वह हार जायगा।

आपके आचार्यकाल में कोरंट गच्छ के आचार्य नन्न द्वारा अनेक वंशों को जैन वंश में सम्मिलित किया गया।

४८. कक्कसूरि (एकादशम)
४९. देवगुप्तसूरि (एकादशम)
५०. सिद्धसूरि (एकादशम)

५१. आचार्य कक्क : ये आचार्य घोर तपस्वी माने गये हैं। विक्रम सम्वत् ११५५ में ये आचार्य पद पर आसीन हुए और जीवन भर एकान्तर उपवास और पारणे के दिन आयम्बिल करते रहे। इनका आचार्य हेमचन्द्र बड़ा सम्मान करते थे। इन्होंने शिथिलाचार को मिटाने के लिये अनेक साधु-साध्वियों को त्याग कर क्रियोद्धार किया और तब से यह गच्छ ककुदाचार्य गच्छ के नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। आप ५७ वर्ष तक आचार्य पद पर रहे और विक्रम सम्वत् १२१२ में आपका स्वर्गवास हुआ।

५२. देवगुप्तसूरि (बारहवें) : उपकेशगच्छ के ५१वें आचार्य कक्कसूरि द्वारा क्रियोद्धार और ककुदाचार्य गच्छ की स्थापना के पश्चात् देवगुप्तसूरि आचार्य पद पर आसीन हुए और लगभग ६७ वर्ष तक आचार्य पद पर रहे। आपका समय लगभग ११६५ से १२३२ का बताया जाता है।

५३. सिद्धसूरि : आपके समय में अणहिल्लपुर पट्टण में यशोदेव धनदेव ने ९।। हजार ग्रन्थाग्रन्थ प्रमाण नवपद टीका की रचना की।

५४. आचार्य कक्क।

५५. देवगुप्तसूरि : आपका समय विक्रम सम्वत १२५२ का बताया गया है।

५६. सिद्धसूरि।
५७. कक्कसूरि।
५८. देवगुप्तसूरि।

५९. सिद्धसूरि : आपके समय में विक्रम सम्वत् १२५२ में शाहबुद्दीन गौरी द्वारा ओसियां पर आक्रमण हुआ।

६० आचार्य कक्क।

६१. आचार्य देवगुप्त : ये बड़े विद्वान् आचार्य थे।

६२. आचार्य सिद्ध।

६३. आचार्य कक्क।

६४. देवगुप्तसूरि।

६५. सिद्धसूरि : आपका समय विक्रमीय १३३० का बताया जाता है।

६६. कक्कसूरि : सम्वत् १३७१ में शाह शहजागर ने आपका पद महोत्सव किया।

६७. आचार्य देवगुप्त।

६८. श्री सिद्धसूरि।

६९. आचार्य कक्क।

७०. आचार्य देवगुप्त।

७१. आचार्य सिद्ध : सम्वत् १५६५ में मन्त्री लोलागर ने मेड़ता में आपका पद महोत्सव किया। आपके देव कल्लोल नामक उपाध्याय ने 'कालिकाचार्य कथा' की सम्वत् १५६६ में रचना की।

७२. आचार्य कक्क : आपको विक्रम सम्वत् १५९९ में जोधपुर में आचार्य पद पर आसीन किया गया। आपके समय में कोरंटगच्छ और तपागच्छा एक-दूसरे में मिल गये और "कोरंटा तपागच्छ" का जन्म हुआ।[1]

—: ० :—

१. प्रस्तुत इतिहास ग्रन्थमाला के इस चतुर्थ भाग में वीर निर्वाण सम्वत् २००० तक के आसपास का ही इतिहास दिया जा रहा है। अतः उपकेश गच्छ पट्टावली में उल्लिखित आचार्यों का भी इसी काल तक का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

—सम्पादक

अंचलगच्छ

हुण्डावसर्पिणी काल के प्रभाव से उदित हुई द्रव्य परम्पराओं द्वारा विकृत एवं धूमिल कर दिये गये जैनधर्म के स्वरूप को लोक में, जन-जन में पुनः आगमानुसारी विशुद्ध मूल रूप में संस्थापित अथवा प्रतिष्ठापित करने की दिशा में समय-समय पर जिन यशस्वी गच्छों के आचार्यों ने उत्कट त्याग एवं तपश्चर्या के माध्यम से शासन हितकारी प्रशस्त एवं प्रबल प्रयास किये, उनमें अंचलगच्छ का नाम भी जैन इतिहास में सदा अग्रणी एवं उल्लेखनीय रहेगा।

अंचलगच्छ की संस्थापना से लेकर आज तक उसकी सब से बड़ी विशेषता यह रही है कि इस गच्छ के आचार्यों तथा श्रमणों ने पारस्परिक वैमनस्योत्पादक खण्डन-मण्डनात्मक प्रपंचों से कोसों दूर रह कर एक मात्र अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होते रहने की सृजनात्मक नीति को ही अपनाये रखा।

मध्ययुगीन जैन वांग्मय के अध्ययन से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि अपने गच्छ के अतिरिक्त शेष सभी गच्छों को हीन से हीनतर शब्दों अथवा सम्बोधनों से सम्बोधित करने वाले गच्छविशेष के प्रतिष्ठित पद पर आसीन आलोचक श्रमणों ने अंचलगच्छ के आचार्यों, साधु-साध्वियों एवं अनुयायियों को "स्तनिक" (स्तनों को ढंकने वाली साड़ी, लूगड़ी अथवा ओढ़नी के अंचल-पल्ले का उपयोग करने वाले) जैसे हल्के शब्द से सम्बोधित किया[1], जैनाभास, उत्सूत्रप्ररूपक, जमाली (प्रथम निह्नव) के वंशज अथवा अनुयायी तक लिख डाला, किन्तु अंचलगच्छीय किसी श्रमण, उपाध्याय अथवा आचार्य ने उफ तक नहीं किया। सब ने बड़े संयम के साथ समभाव रखते हुए उस गरल का अमृतवत् पान कर लिया। केवल

---

१. (क) शतपदीवचनात्-महेन्द्रसूरिकृत शतपदीनाम्नः स्तनिकमत समाचारी ग्रन्थात पूर्व आंचलिकमतप्रवृत्तिकाले.......... ।

—प्रवचनपरीक्षा, पूर्वभाग, वि० ५ पृ० ४३६

(ख) येन कारणेन तीर्थात् वहिर्भवने स्तनिकस्य महत् चिह्नं तेन कारणेनेह मुखवस्त्रिका-स्थापनप्रकरणं पूर्णिमापक्षस्थितोऽपि च श्री वर्द्धमानाचार्य अकार्षीत्....

—वही—पृ० ४५०

(ग) तीर्थवाह्यो राकारक्तोऽपि निजसमुदायात् वहिर्भूतस्तनिक प्रतिवोधाय मुखवस्त्रिका-व्यवस्थापकं प्रकरणं कृतवान्।

—वही—पृ० ४५०

अपने गच्छ को ही दूध का धुला स्वच्छ-अच्छ-निर्मल एवं सच्चा सिद्ध करने के प्रयास में अन्य गच्छ के अनुयायियों के लिये कठोर, कटु एवं हल्के विशेषणों का प्रयोग करने वाले तपागच्छ के विद्वान् लेखकों को खरतरगच्छीय लघु शाखा के आचार्य जिनप्रभ ने उसी सिक्के में उत्तर दे कर इस प्रकार के लेखकों का मुंह बन्द कर दिया।[1] किन्तु अंचलगच्छ के विद्वान् लेखकों ने अपने संघ पर कीचड़ उछालने वाले लेखकों के और उनके गच्छ के विरुद्ध कभी कहीं एक शब्द तक नहीं लिखा।

खरतरगच्छ के समान अंचलगच्छ की उत्पत्ति भी वस्तुतः शिथिलाचार के गहन दलदल में धंसे जिनशासन-संघरथ के उद्धार हेतु किये गये क्रियोद्धार के परिणामस्वरूप ही हुई। अन्तर केवल इतना है कि खरतरगच्छ के मूल पुरुष वर्द्धमानसूरि ने चैत्यवासी परम्परा का परित्याग करके आमूलचूल क्रियोद्धार अथवा समग्र धर्मक्रान्ति का सूत्रपात किया था और अंचलगच्छ के पूर्व पुरुष विजयचन्द्रसूरि ने चैत्यवासी परम्परा जैसी किसी भिन्न परम्परा से नहीं वरन् शिथिलाचार में निमग्न सुविहित परम्परा से ही निकल कर क्रियोद्धार का शंखनाद बजाया था। विजयचन्द्रसूरि ने जिस समय अपने गुरु और अपनी सुविहित परम्परा से पृथक् होकर क्रियौद्धार किया, उस समय चतुर्विध संघ में चारों ओर व्याप्त शिथिलाचार के परिणामस्वरूप निर्दोष एषणीय अशन-पान का मिलना भी एक प्रकार से असंभव सा हो गया था। इस कारण क्रियोद्धार के अपने लक्ष्य की पूर्ति हेतु विजयचन्द्रसूरि ने अपने तीन साथी साधुओं के साथ अपने प्राणों की भी बाजी लगा दी।

अंचलगच्छ के उद्भव की पृष्ठभूमि

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंचलगच्छ के आचार्य भावसागरसूरि द्वारा रचित—"श्री वीरवंशपट्टावलि" अपर नाम "विधिपक्ष-गच्छ पट्टावलि" में श्री विजयचन्द्रसूरि द्वारा किये गये महान् क्रियोद्धार का जो विवरण उल्लिखित है, उसका अतिसंक्षिप्त सारांश इस प्रकार है :—

> "देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर दुस्सह्य दुःषम काल के प्रभाव से एक सहस्र वर्ष तक एकता के सूत्र में आबद्ध चला आ रहा जैनधर्मसंघ शाखाप्रशाखाओं, कुलों, गणों, गच्छों आदि में विभक्त हो गया। विद्या और क्रिया का जहां तक प्रश्न है श्रमण-श्रमणी समूह विद्या और क्रिया—दोनों ही दृष्टियों से वस्तुतः दुर्बल हो गया था। इस प्रकार भ. महावीर का विश्वकल्याणकारी यशस्वी धर्म शासन वास्तव में सूत्र रहित

---

१. शाकिनीमुद्गलात्तानां, दृश्यतेऽद्याप्युपक्रमः।
तपोटेनार्दितानां तु, चिकित्सास्याद्दरा भृशम्॥
—तपोटमतकुट्टन (जिनप्रभसूरि)

अर्थात् तीर्थ संचालन की प्रक्रिया में एकता के सूत्र से विहीन अथवा धर्मपथ का मार्गदर्शन करने वाले सर्वज्ञ-प्रणीत सूत्रों से रहित हो गया था ।

आर्यरक्षितसूरि द्वारा किये गये क्रियोद्धार के समय संघ में व्याप्त घोर शिथिलाचार के और धर्मसंघ की दयनीय स्थिति के सम्बन्ध में जो विवरण आचार्य भावसागरसूरि ने श्री वीरवंश पट्टावलि में प्रस्तुत किया है, उसकी पुष्टि करने वाले अनेकानेक उल्लेख जैन वांग्मय में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते है । मेरुतुंगसूरि की प्रसिद्ध रचना मेरुतुंगीया पट्टावलि में चारों ओर व्याप्त शिथिलाचार के सम्बन्ध में जो मार्मिक बातों का उल्लेख किया गया है, वह वस्तुतः ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है । मेरुतुंगीया पट्टावलि में आर्य रक्षितसूरि के वंश, माता, पिता, जाति आदि का परिचय देते हुए लिखा गया है—"आबू पर्वत के पास दंत्राणी नामक एक ग्राम में पोरवाड़ जाति के द्रोण नामक एक प्रतिष्ठित व्यापारी रहते थे । उनकी धर्मपत्नी का नाम देढ़ी था । वह दम्पति बड़ा धर्मनिष्ठ एवं उच्च कोटि के विचारों वाला था । द्रोण और देढ़ी दोनों का ही यौवन ढलने लगा तब तक उनको कोई सन्तान नहीं हुई । इसलिये देढ़ी विशेष रूप से चिन्तित रहती थी । एक समय जयसिंह नामक आचार्य सुखपाल (पालकी) में बैठ कर बड़े ही आडम्बर के साथ विचरण करते हुए दंत्राणी ग्राम में आये । उनके इस प्रकार के शिथिलाचार को देखकर श्रेष्ठि द्रोण और उनकी पत्नी देढ़ी दोनों ही उनको वन्दन-नमन करने के लिये उपाश्रय में नहीं गये । यह बात आचार्य जयसिंहसूरि के मन में घर कर गई । रात्रि में इसी चिन्ता में निमग्न आचार्य को बड़ी देर तक नींद नहीं आई । रात्रि के अन्तिम प्रहर में उन्होंने एक स्वप्न देखा । स्वप्न में शासनदेवी ने उनसे कहा कि आज से सातवें दिन एक पुण्यशाली जीव स्वर्ग से चल कर श्रेष्ठि-पत्नी देढ़ी के गर्भ में आवेगा । वह बाल्यावस्था में ही दीक्षित होगा और विशुद्ध विधिमार्ग की स्थापना कर जिनशासन की महती प्रभावना करेगा । तुम देढ़ी को यह भविष्यवाणी सुना कर उससे उस के उस पुत्र की याचना कर लेना ।

जयसिंहसूरि को बड़ी प्रसन्नता हुई । दूसरे दिन प्रातःकाल उन्होंने श्रेष्ठि दम्पति द्रोण और देढ़ी को अपने पास उपाश्रय में बुलवाया । उन दोनों ने लोकव्यवहार का निर्वहन करते हुए उपाश्रय में जाकर जयसिंहसूरि को वन्दन नमन किया । तदनन्तर आचार्य जयसिंहसूरि ने द्रोण से प्रश्न किया—"तुम दोनों धर्मनिष्ठ होते हुए भी मुझे वन्दन करने के लिये कल किस कारण से नहीं आये ?"

श्रेष्ठि द्रोण तो मौन रहा, किन्तु स्पष्टवादिनी देढ़ी ने निर्भीकतापूर्वक उत्तर दिया—"आचार्य देव ! वर्तमान में आप जिनशासन के नायक हैं । आप

शास्त्रों के मर्मज्ञ भी हैं। यह सब कुछ होते हुए भी आप आडम्बरपूर्ण छत्र, चामर आदि परिग्रह रखते हुए सुखपाल में बैठ कर विचरण क्यों करते हैं? श्रमण भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थ श्रमण-श्रमणियों के लिये जिस कठोर श्रमण धर्म का उपदेश दिया है, उससे विमुख हो आप शिथिलाचार के दलदल में क्यों डूबे जा रहे हैं?"

देढ़ी के मुख से कटु किन्तु आगम सम्मत शाश्वत सत्य को सुनकर लज्जानुभूति के साथ गहन विचार में निमग्न हो आचार्य जयसिंह ने शान्त स्वर में कहा— "भद्रे! तुमने जो उपालम्भ दिया है, वह वास्तव में अक्षरशः उपयुक्त एवं पूर्णतः समुचित ही है। पंचमकाल के कुप्रभाव से हम लोगों की इस प्रकार की वृत्ति बन गई है, जिसके लिये वस्तुतः हम स्वयं भी अन्तर्मन में खेद एवं लज्जा का अनुभव करते हैं। हमारी आन्तरिक कामना यही है कि कोई क्रान्तिकारी महापुरुष साहस के साथ आगे आये और शिथिलाचार के दलदल में धंसे संघरथ का इस दुरवस्था से उद्धार कर इसे आगमानुसारी विशुद्ध प्रशस्त पथ पर अग्रसर करे।"

तत्पश्चात् विजयसिंहसूरि ने श्रेष्ठिदम्पति को आश्वस्त करते हुए कहा— "संघरथ का शिथिलाचार के दलदल से उद्धार करने वाले इसी प्रकार के एक भावी महापुरुष के सम्बन्ध में शुभ सूचना देने हेतु मैंने तुम दोनों को यहां बुलाया है। हे श्राविकोत्तमे! आज से सातवें दिन एक महान् प्रतापी जीव तुम्हारी कुक्षि में आयेगा। वह कालान्तर में जिनशासन का महान् प्रभावक आचार्य और विधिमार्ग अर्थात् आगमानुसारी मार्ग का संस्थापक होगा। जिनशासन के हित को दृष्टि में रखते हुए मैं अभी से तुम्हारे उस भावी पुत्र की, तुम दोनों से याचना करता हूं।"

श्रेष्ठि-दम्पति ने हर्षविभोर हो उत्तर दिया—"भगवन्! यदि हमारे पुत्र के हाथों जिनशासन की महती प्रभावना होने वाली है, तो यह हमारे लिये सबसे बड़े सौभाग्य की बात है। हम सहर्ष यह वचन देते हैं कि जब भी आप कहेंगे हम अपने उस भावी पुत्र को आपके चरणों में तत्काल ही समर्पित कर देंगे।"

इस प्रकार की प्रतिज्ञा कर द्रोण श्रेष्ठि और उसकी पत्नी देढ़ी आचार्यश्री को वन्दन करने के अनन्तर अपने आवास की ओर लौट गये। उसी रात्रि में देढ़ी ने भी स्वप्न देखा कि जिनशासनसेविका देवी उसे कह रही है—"कल्याणि! तुम्हारा प्रथम पुत्र जिस समय ५ वर्ष का हो, उस समय उसे गुरुचरणों में समर्पित कर देना। उस पुत्र के पश्चात् समय पर तुम अपने दूसरे पुत्र को जन्म दोगी, जिससे कि तुम्हारे वंश की वृद्धि होगी।"

देवी द्वारा की गई भविष्यवाणी के अनुसार श्रेष्ठि पत्नी देढ़ी ने सातवें दिन रात्रि के समय स्वप्न में गाय का दूध पीया और उसके गर्भ में एक महान् पुण्यशाली

आत्मा अवतरित हुई। अपना अधिकांश समय धर्माराधन में व्यतीत करती हुई देढ़ी पूर्ण संयम और सावधानीपूर्वक अपने गर्भस्थ शिशु का संवर्द्धन करने लगी। गर्भकाल पूर्ण होने पर श्रेष्ठिपत्नी देढ़ी ने एक तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया। गर्भाधानकाल में देढ़ी ने गोदुग्धपान का स्वप्न देखा था इस कारण माता-पिता ने पुत्र का नाम गोदुहकुमार रखा।

मेरुतुंगीया पट्टावली के इस उल्लेख से दो तथ्य स्पष्ट रूप से प्रकाश में आते हैं। पहला तो यह कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण के पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर के चतुर्विध धर्मसंघ में शिथिलाचार का प्रसार प्रारम्भ हुआ और ज्यों-ज्यों काल बीतता गया, त्यों-त्यों वह उत्तरोत्तर बढ़ता गया। दूसरा तथ्य यह प्रकाश में आता है कि चतुर्विध धर्मसंघ में व्याप्त शिथिलाचार के चरम सीमा पर पहुंच जाने के समय भी आगमानुसार विशुद्ध धर्म के मर्मज्ञ और उसके अनुरूप आचरण करने वाले भव्य प्राणी न केवल श्रमण-श्रमणी समूह में ही अपितु श्रावक-श्राविका वर्ग में भी विद्यमान रहे। सद्धर्म का आचरण करने वाले और आगमानुसारी सद्धर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा-विश्वास और आस्था रखने वालों का नितान्त अभाव प्रारम्भ से लेकर अद्यावधि कभी नहीं रहा।

भावसागरसूरि ने देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के पश्चात् हुए आचार्यों के नाम एवं क्रम देते हुए उद्योतनसूरि द्वारा बड़गच्छ की स्थापना का उल्लेख किया है। तदनन्तर उद्योतनसूरि के पट्टधर सर्वदेवसूरि और सर्वदेवसूरि के पश्चात् क्रमशः पद्मदेवसूरि, उदयप्रभसूरि, प्रभानन्दसूरि, धर्मचन्दसूरि, सुविनयचन्द्रसूरि, विजयप्रभसूरि, नरचन्द्रसूरि, वीरचन्द्रसूरि और जयसिंहसूरि तक बड़गच्छ के आचार्यों के नाम दिये हैं। तदनन्तर जयसिंहसूरि के पट्टशिष्य विजयचन्द्र का परिचय देते हुए लिखा हैं :—

"आबू पर्वत के पास दन्ताणी नामक ग्राम में प्राग्वाट्वंशाभरण द्रोण नामक मंत्री रहता था। उस द्रोण मंत्री की देढ़ी नाम की धर्मपत्नी की कुक्षि से विजयचन्द्र का जन्म हुआ। विजयचन्द्र ने संसार से विरक्त हो बड़े हर्षोल्लास के साथ संयम ग्रहण किया। अतीव तीक्ष्ण बुद्धि साधु विजयचन्द्र ने अपने गुरु के पास बड़ी निष्ठा एवं लगन से आगमों का अध्ययन प्रारम्भ किया और स्वल्पकाल में ही आगम मर्मज्ञ विद्वान् बन गये। आगमों के अध्ययनकाल में आगमवचनों पर चिन्तन मनन करते समय साधु विजयचन्द्र ने स्पष्ट देखा कि आगमों में धर्म का और श्रमणों के आचार का जिस प्रकार का स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है, उस प्रकार का श्रमणाचार आज कहीं दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है एवं दुःषमकाल के प्रभाव से अनेषणीय अशन-पान ग्रहण करने वाले और सावद्य कार्यों में मन, वचन एवं कर्म से प्रवृत्ति करने वाले श्रमण-श्रमणीवर्ग की क्रियाएं वस्तुतः आगमों से विपरीत एवं अति शिथिल हो गई हैं।"

इन सब बातों पर विचार कर साधु विजयचन्द्र ने अपने गुरु जयसिंहसूरि से निवेदन किया—"भगवन् ! आज का श्रमण श्रमणीवर्ग आगमों में उल्लिखित सर्वज्ञ वाणी से विपरीत आचरण कर उन्मार्गगामी क्यों हो रहा है ?"[1]

जयसिंहसूरि ने उत्तर दिया—"वत्स ! आज के लोगों में प्रमाद का बाहुल्य हो गया है। इसके लिये किया ही क्या जा सकता है ? अपने गच्छ में सदा स्थिर बनाये रखने के लिये जयसिंहसूरि ने अपने शिष्य विजयचन्द्र को उपाध्याय पद प्रदान कर दिया। किन्तु पापभीरु आत्मार्थी विजयचन्द्र को उस प्रकार के शिथिलाचार वाले गच्छ में रहना किंचित्मात्र भी रुचिकर नहीं लगा। वह अपने तीन साथी साधुओं के साथ क्रियोद्धार करने का दृढ़ संकल्प लिये वड़गच्छ और अपने गुरु से पृथक् हो कर वहां से किसी अन्य स्थान के लिये विहार कर गया। पांच समिति, तीन गुप्ति के साथ अप्रमत्त भाव से त्रिकरण, त्रियोग से विशुद्ध क्रिया का पालन करता हुआ साधु विजयचन्द्र विहारक्रम से लाट देश में पहुंचा। मध्याह्नवेला में वे साधु मधुकरी के लिये गृहस्थों के घरों की ओर बढ़े। अनेक गृहस्थों के घरों में भिक्षार्थ भ्रमण करने के अनन्तर भी उन साधुओं को कहीं किसी भी गृहस्थ के यहां से किंचित्मात्र भी निर्दोष आहारपानीय प्राप्त नहीं हुआ। वे साधु बिना किसी प्रकार की निराशा अथवा उद्वेग के समभावपूर्वक पावागिरि के शिखर की ओर बढ़े। शिखर पर बने जिनमन्दिर में उन्होंने जिनेन्द्र प्रभु को वन्दन-नमन के पश्चात् संलेखना की आकांक्षा से एक मास के निर्जल-निराहार तप का प्रत्याख्यान कर लिया इस प्रकार घोर तपश्चरण के साथ आत्मचिन्तन में लीन रहते हुए विजयचन्द्रमुनि और उनके साथी साधुओं को लगभग एक मास का समय व्यतीत होने आया।

पट्टावलीकार ने आगे लिखा है :—उधर विदेह क्षेत्र के पुष्कलावती विजय में श्री सीमंधर स्वामी ग्रामानुग्राम विचरण कर रहे थे। सीमा नगरी में देवों ने समवसरण की रचना की। समवसरण में एकत्रित चतुर्विध धर्मसंघ एवं श्रद्धालु ससुरासुर-नरेन्द्रादि की सुविशाल धर्म परिषद् के समक्ष श्री सीमंधरस्वामी ने साधु विजयचन्द्र की कठोर निरतिचार श्रमणचर्या, क्रियापात्रता और धर्म के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा आदि उनके गुणों की प्रशंसा करते हुए फरमाया :—"आज जम्बूद्वीपस्थ

---

१. दुःसह कालवसेण य, अणेसणिज्जेण असणपाणेण ।
सावज्जकुणंताणं, साहूणं कुव्वरा किरिया ।।४०।।
तं दट्ठुं सोऽप्पभणइ, समहिज्जंतोवि सुत्तमायारं ।
भयवं ! किं विवरीयं, दीसइ उम्मग्ग करणाओ ।।४१।।

—श्री वीरवंशपट्टावलि अपर नाम विधिपक्ष गच्छ पट्टावली—(हस्तलिखित प्रति आचार्यश्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार जयपुर में इतिहास सामग्री की जिल्द सं० १ में विद्यमान है।)

भरत क्षेत्र के आर्यावर्त में मुनि विजयचन्द्र ने क्रियोद्धार किया है।" प्रभु के मुखारविन्द से यह सुन कर चक्रेश्वरी देवी हर्षविभोर हो उठी। प्रभु की देशना के पश्चात् प्रभु को वन्दन-नमन कर वह साधु विजयचन्द्र की सेवा में पावागिरी के शिखर पर उपस्थित हुई। उसने साधु विजयचन्द्र को भक्तिसहित वन्दन कर कहा—"भगवन्! इतना बड़ा साहस मत कीजिये। अभी संलेखना-आमरण अनशन करने की आवश्यकता नहीं है। भालिज्यनगर से यशोधन नामक एक श्रेष्ठी संघ के साथ कल प्रातःकाल यहां भगवान् महावीर के मन्दिर की यात्रा के लिये आ रहा है। विशुद्ध धर्म के स्वरूप पर प्रकाश डालने वाले आपके उपदेश से प्रबुद्ध हो वह आप लोगों को निर्दोष अशनपान से मास-तप का पारण करवायेगा।" इस प्रकार प्रार्थना करने के अनन्तर चक्रेश्वरी देवी अन्तर्धान हो गई।

दूसरे दिन प्रातःकाल देवी द्वारा की गई भविष्यवाणी के अनुसार संघपति यशोधन विशाल संघ के साथ पावागिरि के शिखर पर यात्रार्थ पहुंचा। घोर तपस्वी मुनि विजयचन्द्र को देख कर संघपति ने अपने संघ के साथ बड़ी श्रद्धा-भक्ति से उन्हें और उनके साथी साधुओं को वन्दन नमन किया। संघपति और संघ की प्रार्थना स्वीकार कर मुनि विजयचन्द्र ने उन्हें वीतराग वाणी का रसास्वादन करवाते हुए धर्म के वास्तविक स्वरूप पर हृदयस्पर्शी प्रकाश डाला। जन्म-जरा-मृत्यु के घोरातिघोर दारुण दुःखों से सदा-सर्वदा के लिये मुक्ति दिलाने वाले वीतराग सर्वज्ञ-प्रणीत धर्म के स्वरूप को सुन कर संघपति और संघ के अनेक सदस्यों ने सम्यक्त्व की प्राप्ति की। धर्मोपदेश श्रवण के पश्चात् प्रबुद्ध संघपति यशोधन ने मुनि श्री विजयचन्द्र और उनके साधुओं को अशन-पान ग्रहण करने की प्रार्थना की। संघपति और संघ के सदस्यों के विश्रामस्थलों (खेमों) में ४२ दोष-रहित एषणीय आहार-पानीय हेतु मधुकरी करते समय भिक्षा में उन मुनियों को जो विशुद्ध अशन-पान प्राप्त हुआ उससे महामुनि विजयचन्द्र और उनके साथी साधुओं ने एक मास की निर्जल-निराहार कठोर तपश्चर्या का समभावपूर्वक पारण किया।

संघ के सभी सदस्यों के भोजनादि से निवृत्त हो जाने के पश्चात् श्रेष्ठि यशोधन अपने संघ के सदस्यों के साथ मुनिश्री विजयचन्द्र की सेवा में उपस्थित हुआ और उनसे निवेदन किया—"भगवन्! सर्वज्ञ-प्रणीत जिनागमों के आधार पर जैनधर्म के विश्वकल्याणकारी, यथेप्सित फलप्रदायी स्वरूप पर सार रूप में प्रकाश डाल कर आपने हमें कृत-कृत्य किया। अब कृपा कर श्रावक-श्राविकाधर्म एवं श्रावक श्राविका वर्ग के कर्त्तव्यों पर विशद प्रकाश डालते हुए हमें ऐसा मार्ग-दर्शन कीजिये, जिससे कि आरम्भ-समारम्भपूर्ण गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी हम लोग अपने मानव-जन्म को सफल कर सकें। करुणासागर महात्मन्! हमारा समुचित मार्गदर्शन कर इस ओर-छोरविहीन भवसागर में डूबते हुए हम जैसे लोगों का भवसागर से उद्धार कीजिये।"

संघपति एवं संघ की प्रार्थना स्वीकार कर मुनिश्री विजयचन्द्र ने सर्वज्ञ-प्रणीत श्रावक धर्म पर हृदयस्पर्शी एवं अन्तर्चक्षुओं को उन्मीलित कर देने वाला प्रकाश डालते हुए श्रावक के अथ से लेकर इति तक के समस्त कर्त्तव्यों का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया। मुनि विजयचन्द्र ने श्रावक के षडावश्यकों, जिनपूजा, साधु-वन्दन आदि की विधि बताते हुए श्रावकवर्ग के लिए उत्तरासंग से यह सब धार्मिक कर्त्तव्य (कार्य) करने का उपदेश दिया। इस सम्बन्ध में वीरवंश पट्टावली, अपर नाम विधिपक्ष पट्टावली में निम्नलिखित गाथाएं द्रष्टव्य एवं मननीय हैं :—

अह उत्तरसंगेण य, छव्वीहमावस्सयं कुणंतो सो।
सामाइयगुट्ठाणं, साचवइ सुत्तमुवउत्तं ॥५८॥
अह उत्तरसंगेणं, दुवालसावत्तवंदणं सद्धो।
वीय वंदणे गुरुणं, पयलग्गे एव सो कुणइ ॥६८॥

मुनि विजयचन्द्र के उपदेश से संघपति श्रेष्ठि यशोधन ने धर्म के विशुद्ध स्वरूप को भलीभांति हृदयंगम किया और तत्काल उसने श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किये।

पावागिरि से संघ सहित अपने नगर की ओर लौटते समय यशोधन ने मुनिश्री विजयचन्द्र और उनके साधुओं को भी अपने साथ लिया। अपने नगर भालिज्यपुर में पहुंचने के पश्चात् यशोधन ने एक अतिसुन्दर सुरम्य जिनभवन का निर्माण करवा कर उसमें ब्रह्मचर्यव्रतधारी श्रावकों से विधिपूर्वक भगवान् ऋषभदेव के बिम्ब की प्रतिष्ठा करवाई।[1] चक्रेश्वरी देवी के वचन से मुनि विजयचन्द्र विधि-पक्ष के आचार्य बने।

श्रावकाग्रणी श्रेष्ठि यशोधन ने मुक्तहस्त हो विपुल धनराशि व्यय कर बड़े ठाट-बाट एवं हर्षोल्लास के साथ रक्षितसूरि (मुनिश्री विजयचन्द्र) का पट्टमहोत्सव किया। आचार्यपद पर आसीन होते ही रक्षितसूरि ने उस समय के श्रमण-श्रमणी-वर्ग में व्याप्त घोर शिथिलाचार का उन्मूलन करने के साथ-साथ विशुद्ध चारित्र के अभाव को दूर किया। उन्होंने आगम-प्रणीत विशुद्ध श्रमणाचार की पुनः प्रतिष्ठापना करने के उद्देश्य से विधि मार्ग की प्रतिष्ठापना की। रक्षितसूरि (मुनि विजयचन्द्र) ने विधिमार्ग की संस्थापना के साथ ही अपने गच्छ की एक ऐसी समाचारी उद्घोषित की, जो उनकी मान्यतानुसार आगमवचनों के अनुरूप थी। आचार्यश्री रक्षितसूरि द्वारा उद्घोषित उस समाचारी के प्रमुख नियम निम्न-लिखित रूप में उपलब्ध होते हैं :—

---

१. विहिपुव्वं सुपइट्ठा, बम्भव्वयसावएहिं कारविया।
ठवियं च रिसहबिंबं, महा महा सहरिसा जाया ॥८३॥
—वीरवंशपट्टावली, हस्तलिखित प्रति, लालभवन, जयपुर।

१. साधु जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा न करवाये ।

२. दीप-पूजा, फल-पूजा, बीज-पूजा तथा बलि-पूजा (जिनप्रतिमा की) न की जाय ।

३. तन्दुल-पूजा अथवा पत्र-पूजा की जा सकती है ।

४. श्रावक-श्राविकावर्ग वस्त्र के अंचल से षडावश्यक आदि धार्मिक क्रियाएं करें ।

५. पौषध वस्तुतः पर्व के दिन करें ।

६. सामायिक श्रावकवर्ग सायंकाल एवं प्रातःकाल दोनों समय दो-दो घड़ी की करे ।

७. उपधान-मालारोपण न किये जायें ।

८. शक्रस्तव से तीन बार स्तुति की जाय ।

९. मुनि को वन्दन करते समय एक खमासमण दिया जा सकता है ।

१०. स्त्रियां मुनियों को खड़ी रह कर ही वन्दन करें ।

११. कल्याणकों को न मनाया जाय ।

१२. नमोत्थुणं के पाठ में—"दीवोत्ताणं, सरणगइपइट्ठा" इत्यादि पाठ नहीं बोला जाय ।

१३. नमस्कारमंत्र में "पढ़मं हवइ मंगलं" के स्थान पर "पढ़मं होइ मंगलं" कहना चाहिए ।

१४. चौमासी पाक्षिक पूर्णिमा को की जाय ।

१५. सम्वत्सरी आषाढ़ मास की पूनम से ५०वें दिन की जाय और अभिवर्द्धित मास वाले वर्ष में बीसवें दिन सम्वत्सरी की जाय । अधिक मास पोस अथवा आषाढ़ में ही होता है ।

इस समाचारी को अंचलगच्छ के आचार्य एवं अनुयायी एतद्विषयक आगमिक निर्देशों के निचोड़ अथवा सार रूप में मानते हैं और उनकी यह सुनिश्चित दृढ़ धारणा है कि यह कोई नया पन्थ अथवा मत नहीं अपितु शाश्वत जैन धर्म का परम्परागत विशुद्ध एवं वास्तविक स्वरूप है । समाज के रोम-रोम में व्याप्त शिथिलाचार को मिटाने के उद्देश्य से शाश्वत आगमिक मान्यताओं की पुनः प्रतिष्ठापना हेतु प्रशस्त प्रयास ही था ।

इस प्रकार आगमानुरूप विधिमार्ग की संस्थापना के अनन्तर विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले श्री विजयचन्द्रसूरि (जिन्हें आचार्यपद पर अधिष्ठित करते समय रक्षितसूरि के नाम से अभिहित किया जाने लगा) अनेक क्षेत्रों में धर्म का प्रचार करते हुए विउणप नगर में पधारे । वहां उस समय का

सुविख्यात ऋद्धिशाली कपर्दि अर्थात् कपर्दि नाम से विख्यात कोटिपति अथवा कोडियों का व्यापारी विजयचन्द्रसूरि के उपदेश को सुनकर प्रबुद्ध हुआ और वह अपने पारिवारिक-जनों के साथ उनका श्रद्धालु श्रावक बन गया। समयश्री नाम की उसकी पुत्री ने एक करोड़ टंक मूल्य के अलंकारों एवं विपुल सम्पदा तथा गृह-द्वार-परिजन आदि का परित्याग कर अपनी २५ सखियों के साथ विजयचन्द्रसूरि से श्रमणी-धर्म की दीक्षा ग्रहण की। विजयचन्द्रसूरि के परम प्रेरणाप्रदायी उपदेशों से अनुप्राणित हो विउणपनगर के निवासी अनेक भव्यों ने पंच महाव्रतों की भागवती दीक्षाएं ग्रहण कीं और बहुत बड़ी संख्या में वहां के निवासियों ने श्रावक-धर्म अंगीकार किया।

इस प्रकार (आचार्यपद पर अधिष्ठित होने के अनन्तर रक्षितसूरि के नाम से विख्यात) विजयचन्द्रसूरि विभिन्न प्रदेशों के ग्राम, नगर, पुर, पत्तन आदि में धर्म का प्रचार करते हुए विचरण करने लगे। उनके प्रभावपूर्ण उपदेशों से साधु, साध्वियों, श्रावकों एवं श्राविकाओं की संख्या में बड़ी ही उत्साहवर्द्धक अभि-वृद्धि हुई।

अपने विशाल शिष्यपरिवार के साथ विभिन्न क्षेत्रों में धर्मप्रचार करते हुए विजयचन्द्रसूरि एक समय स्थिरपद्र नगर में पधारे। वहां के निवासियों की अनुनय-विनयपूर्ण प्रार्थना सुनकर उन्होंने वहीं वर्षावास किया। उन दिनों कोंकण प्रदेश के सोपारक नामक नगर में दाहड़ नाम का एक समृद्धिशाली श्रेष्ठि रहता था। उसकी धर्मनिष्ठा पतिपरायणा पत्नी नेटी ने एक रात्रि में पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र के स्वप्न-दर्शन के साथ गर्भधारण किया। गर्भकाल की परिसमाप्ति के पश्चात् श्रेष्ठिपत्नी 'नेटी' ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया। उस शिशु का नाम जासिग (जयसिंह) रखा गया। जासिग ने विद्याध्ययन पूर्ण होते-होते किशोर वय को पार कर युवावस्था में पदार्पण किया। शैशव काल से ही बालक जासिग अपनी धर्मपरायणा माता के साथ साधु-साध्वियों के दर्शन-वन्दन एवं प्रवचन श्रवण के लिये जाया करता था। एक दिन उसने गुरुमुख से जम्बूस्वामी का चरित्र सुना। आर्य जम्बूस्वामी के उत्कृष्ट त्याग से ओतप्रोत प्रेरणाप्रदायी परम पावन जीवनवृत्त को सुनते ही जासिग का मन वैराग्य से ओतप्रोत हो गया। प्रबुद्ध किशोर जासिग ने येन-केन प्रकारेण माता-पिता की अनुमति प्राप्त कर सुखदत्त नामक अपने एक मित्र के साथ अनहिल्लपुरपत्तन की ओर प्रस्थान किया। वहां चालुक्य नरेश जयसिंह से उसकी भेंट हुई। वैराग्य के प्रगाढ़ रंग में रंगे जासिग के विचारों से अवगत हो राजा-धिराज जयसिंह ने उसे स्थिरपद्रपुर में विराजमान विजयचन्द्रसूरि की सेवा में उपस्थित होने का परामर्श दिया। तदनुसार जासिग स्थिरपद्रपुर में आचार्यश्री विजयचन्द्रसूरि के उपाश्रय में पहुंचा। जिस समय जासिग अथवा जैसिग उपाश्रय में पहुंचा, उस समय उपाश्रय में कोई भी श्रमण नहीं था। अतः उसने सूरिवर के सिंहासन पर रखे दशवैकालिक सूत्र को देख उसे पढ़ना प्रारम्भ कर

दिया। पूर्वजन्मोपार्जित पुण्य के प्रताप से प्राप्त 'एकसन्धि-लब्धि' के प्रभाव से, एक बार के पढ़ने मात्र से ही जासिग को सम्पूर्ण दशवैकालिक सूत्र कण्ठस्थ हो गया।

चैत्यवन्दन के अनन्तर विजयचन्द्रसूरि जब उपाश्रय में लौटे तो जासिग ने विनयावनत हो प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति के साथ सूरीश्वर को वन्दन-नमन किया। सूरिवर के पूछने पर अपने परिचय के साथ ही जासिग ने श्रमण धर्म में दीक्षित होने की अपनी आन्तरिक इच्छा प्रकट की।

शुभ मुहूर्त्त में जासिग ने विजयचन्द्रसूरि से पंच महाव्रत रूप निर्ग्रन्थ श्रमण-धर्म की दीक्षा ग्रहण की। अतीव मेधावी, सुयोग्य एवं सुपात्र शिष्य को गुरु ने व्याकरण, तर्क, साहित्य, छन्द, अलंकार आदि के साथ-साथ आगमों का अध्ययन कराना प्रारम्भ किया। अथक् परिश्रम, पूर्ण विनय एवं गुरु के कृपाप्रसाद से मुनि जासिग पांच वर्षों में ही श्रुतसागर के पारगामी विद्वान् बन गये। सभी गुणों और शुभ लक्षणों से सम्पन्न अपने शिष्य जासिग मुनि को आचार्यपद के भारवहन में सर्वथा सुयोग्य समझ कर विजयचन्द्रसूरि ने उन्हें बड़े ठाट-बाट के साथ "विउणप्प-नगर" में सूरि पद पर अधिष्ठित किया। सूरि पद प्रदान करते समय विजयचन्द्र मुनि ने मुनि जासिग का नाम जयसिंहसूरि रख दिया।

भावसागरसूरि द्वारा "श्री वीरवंश-पट्टावली" में जो निम्नलिखित तीन गाथाएं निबद्ध की गई हैं, वे इस तथ्य पर स्पष्टतः प्रकाश डालती हैं कि जयसिंह-सूरि के गुरु विजयचन्द्रसूरि का ही अपर नाम रक्षितसूरि था। सत्यान्वेशी शोधरुचि विज्ञों को निर्विवाद निर्णय पर पहुंचने में वे तीन गाथाएं बड़ी ही सहायक सिद्ध होंगी, अतः उन गाथाओं को यहां उद्धृत किया जा रहा है :—

वागरण-तक्क-साहिच्च-छन्दऽलंकार-आगमाईणं ।
सुयसागराण पारगो जाओ सो पंच वरिसेहिं ।।९९।।
महया डम्बरजुत्तं सूरिपयं तस्स विउणपे जायं ।
जयसिंहसूरि नामो जाओ भूमीय सिंगारो ।।१००।।
सूरिपए संठविया नियगुरु सिरि अज्ज रक्खियभिहाणा ।
तप्पट्टि उदयगिरि रवि सिरि जयसिंहो जयउ सूरी ।।१०१।।

अर्थात् व्याकरण, तर्क, साहित्य, छन्द, अलंकार और एकादशांगी आदि आगमों का निरन्तर पांच वर्षों तक विजयचन्द्रसूरि के पास अध्ययन करते हुए जयसिंह मुनि निखिल श्रुतसागर के पारगामी विद्वान् बन गये। तदनन्तर उनके गुरु (विजयचन्द्रसूरि) ने उन्हें (मुनि जयसिंह को) विउणप्प नगर में बड़े ही आडम्बर अर्थात् ठाट-बाट से महोत्सव के साथ सूरि पद अर्थात् आचार्यपद पर अधिष्ठित किया। इस प्रकार जयसिंहसूरि नामक ये आचार्य वसुंधरा के शृंगार बन गये। श्री जयसिंह को उनके श्री आर्य रक्षित नामक गुरु ने सूरिपद पर अधिष्ठित किया।

आचार्य आर्य रक्षितसूरि के उदयाचल रोहणगिरि तुल्य पट्ट पर आरूढ़ जयसिंहसूरि सदा जयवन्त हों।

इन गाथाओं से यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि विजयचन्द्रसूरि का ही दूसरा नाम आर्य रक्षित रखा गया था। शिथिलाचार के गहन दलदल में निमग्न श्रमण धर्म की विजयचन्द्रसूरि ने "विधि पक्ष—अंचलगच्छ" स्थापित कर रक्षा की। सम्भवतः इसी ऐतिहासिक घटनाचक्र को अमर—चिरस्थायी स्वरूप प्रदान करने के अभिप्राय से श्रद्धालु भक्तों ने उनका नाम आर्य रक्षित रखा हो। गाथा सं० १०१ में स्पष्टतः उल्लेख है कि जासिग को उनके गुरु आर्य रक्षित ने सूरि पद पर अधिष्ठित किया और उन आर्य रक्षित के पट्ट रूपी उदयाचल पर आरूढ़ सूर्य के समान जयसिंहसूरि जयवन्त हो। इसी पट्टावली की गाथा संख्या ५८ एवं ६८ में जैसा कि पिछले पृष्ठों में बताया जा चुका है, विजयचन्द्रसूरि ने अपने धर्मोपदेश से प्रबुद्ध श्रावक यशोधन को उत्तरासंग से षडावश्यक और द्वादश आवर्तपूर्वक गुरु को वन्दन करने का आदेश दिया। पूर्व में उल्लिखित इन गाथाओं पर विचार करने पर भी इस बात की पुष्टि होती है कि विजयचन्द्रसूरि ही आर्य रक्षित के नाम से प्रसिद्ध हुए।

किसी भी श्रमणोपासक द्वारा उत्तरासंग से गुरु वन्दन का उल्लेख आगमों को छोड़ अंचलगच्छ के विद्वानों द्वारा किये गये इस उल्लेख के अतिरिक्त जैनवांग्मय में अन्यत्र कहीं खोजने पर भी उपलब्ध नहीं होता।

इन सब उल्लेखों को दृष्टिगत रखते हुए तटस्थ रूप से विचार करने पर इस बात में किसी भी प्रकार की शंका नहीं रह जाती कि आचार्यश्री विजयचन्द्रसूरि ने अंचलगच्छ की स्थापना की और उन विजयचन्द्रसूरि का ही दूसरा नाम आर्य रक्षितसूरि था।

प्रसिद्ध इतिहासविद् प्रोफेसर पीटर्सन ने भी गहन शोध के अनन्तर आर्य रक्षित को ही विधि पक्ष (अपर नाम अंचलगच्छ) का संस्थापक मानते हुए लिखा है :—

Arya Rakshita

Founder of the Anchal and Vidhi Paksha Gachchha Guru of Jaisingha, who was Guru of Dharmaghosha. (8 App, P. 219.) This Dharmaghosha wrote in Samvat 1263, Sankhya. (1 App. P. 12.)

In Merutunga's Shatpadi Saroddhar (Nos. 1340. 1, of this report collection). It is stated that this Arya Rakshit was born in samvat 1136, in the village Dantani (दंताणी), that he took vrat in samvat 1142 and

that died at the age of 91 in samvat 1226. He was called Goduha (गोदुह) by his father, Vijaichandra by his guru and Arya Rakshita by his Suri. In the Pattavali of Anchal Gachchha (Bombay Ed. 1889) it is stated that Arya Rakshit founded the Gachchha in samvat 1169.

डा० क्लाट ने प्रोफेसर पीटर्सन से अपना कुछ अंशों में भिन्न अभिमत व्यक्त करते हुए लिखा है :—

"Arya Rakshita Suri, born samvat 1136 in Danta Nagaram (दन्त नगरम्) मेरुतुंग P. 11 Dantani (दंताणी), मूल नाम Goduha (गोदुह) Merutung (Merutunga), Son of the Vyavaharin (व्यवहारिन), Drona (द्रोण) of the Pragwat Jnati (प्राग्वाट जाति) दीक्षा सम्वत् ११४६ (Merutunga ११४१, शतपदी समुद्धार ११४२) obtained from the guru the name Arya Rakshit Suri (आर्य रक्षित सूरि) died in samvat 1236 at the age of 100 (Merutunga's Shatpadi 1226 at the age of 91)"

मन्त्री बान्धव कुँवरपाल सोनपाल द्वारा आगरा में निर्मापित जिनमन्दिर के सम्वत् १६७१ के शिलालेख में भी आर्य रक्षितसूरि को महावीर का ४८वां पट्टधर बताते हुए उन्हें अंचलगच्छ का संस्थापक बताया गया है। वह शिलालेख इस प्रकार है :—

"श्री अंचलगच्छे श्रीवीरादष्टचत्वारिंशत्तमे पट्टे श्री पावकगिरौ श्री सीमन्धर जिनवचसा श्री चक्रेश्वरीदत्तवरा सिद्धान्तोक्तमार्गप्ररूपका श्री विधिपक्षगच्छ-संस्थापका श्री आर्य रक्षित सूरयः ।।१।।"

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आर्य रक्षितसूरि अपर नाम विजय-चन्द्रसूरि ने श्राद्धवर्ग को उत्तरासंग से षडावश्यक एवं साधुवन्दन करने की परिपाटी प्रचलित करने वाले विधिसंघ की स्थापना किस समय की ? अनेक पट्टा-वलियों तथा विद्वानों की कृतियों में अंचलगच्छ की स्थापना का समय वि० सं० १२१३ बताया गया है।[1] किन्तु वीरवंश पट्टावली के उल्लेखों से यह प्रकट होता है कि विजयचन्द्रसूरि अपर नाम आर्य रक्षितसूरि ने वि० सं० ११६९ में ही आचार्य-

---

१. (क) तथा वि० सं० त्रयोदशाधिके द्वादशशत (१२१३) वर्षे आंचलिक मतोत्पत्ति। (पट्टावली समुच्चय, पृष्ठ ५६)

(ख) वेदाभ्रारुणकाल (१२०४) औष्ट्रिकभवो विश्वार्क (१२१३) वालञ्चलः।

—शतपदी

पद पर आसीन होने के साथ-साथ "विधिपक्ष अपर नाम अंचलगच्छ" की स्थापना की ।[1] एतद्विषयक इसी पट्टावली की निम्नलिखित गाथाएं मननीय हैं :—

एगारस छत्तीसे (वि० सं० ११३६) जम्मण बायाल (११४२) चरण-सिरिवरिया अउणुत्तरिए (११६९) वरिसे विहिपक्ख गणो य संठविओ ।।११४।।

बारस छत्तीसंमि (१२३६) य, सयवरिसं पालिऊंण परिपुण्णं ।
सिरि अज्जरक्खिय गुरु, गओ दिवं तिमिर नयरम्मि ।।११५।।
तप्पट्टपउम हंसो, गणाहिवो सूरिराय जयसिंहो ।।११६।।

अर्थात्—आर्य रक्षितसूरि (विजयचन्द्रसूरि) का जन्म वि० सं० ११३६ में हुआ । उन्होंने वि० सं० ११४२ में, ६ वर्ष की आयु में ही श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण की । वि० सं० ११६९ में श्रेष्ठिवर श्रावकाग्रणी यशोधन ने बड़े ठाट-बाट के साथ उनका सूरिपद महोत्सव किया और उसी समय विधिपक्ष गण (गच्छ) की स्थापना की । वि० सं० १२३६ में अपनी १०० वर्ष की आयु पूर्ण कर आर्य रक्षित-सूरि (विजयचन्द्रसूरि का ही अपर नाम) तिमिर नगर में स्वर्गस्थ हुए । उनके पट्टधर गच्छाधिप जयसिंह सूरिवर हुए । डा० क्लाट भी इस अभिमत से अपनी सहमति प्रकट करते हुए लिखते हैं :—

Under him the Gachchha having a vision of Chakreshwari Devi received Samvat 1169 the name Vidhi Paksha Gachchha.[2]

इन उपरिलिखित गाथाओं के मनन के पश्चात् इस बात में तो किसी प्रकार का संशय नहीं रह जाता कि आर्य रक्षितसूरि ने वि० सं० ११६९ में विधि-पक्षगच्छ की स्थापना की और अपनी परम्परा के श्रावकों को उत्तरासंग से षडाव-श्यक और साधुवन्दन का निर्देश दिया । किन्तु यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस विधिपक्ष का नाम अंचलगच्छ कब और किस प्रकार पड़ा । इस सम्बन्ध में जैन वांग्मय के आलोडन से दो प्रकार की विचारधाराएं प्रकाश में आती हैं :—

पहली विचारधारा भावसागरसूरि द्वारा रचित श्री वीरवंश पट्टावलि से ही प्रकट होती है । इस पट्टावलि में उल्लेख है कि रक्षितसूरि द्वारा उनके शिष्य जयसिंहसूरि को आचार्यपद प्रदान करने के समय रक्षितसूरि के श्रमण-श्रमणी परिवार की संख्या निम्नलिखित रूप में थी :—

---

१. प्रो. पीटर्सन ने मेरुतुंगसूरि द्वारा रचित शतपदीसारोद्धार के आधार पर आर्य रक्षित-सूरि का देहावसानकाल वि० सं० १२२६ माना है, जबकि डा० क्लाट ने अन्य आधारों पर आर्य रक्षितसूरि का देहावसान वि० सं० १२३६ से १०० वर्ष की आयु में होना माना है । —सम्पादक

२. देखें Bhan R.E.P. १८८३—८४, पृष्ठ १३०, ४४२, वोल्यूम १ ।

"२१२० साधु, ११३० साध्वियां, १२ आचार्य, २० उपाध्याय-वाचनाचार्य, १७३ पण्डित, १ महत्तरा (कपर्दि श्रेष्ठि की पुत्री) समयश्री और ८२ प्रवर्तिनियां।"

अपने इस विशाल श्रमण-श्रमणी परिवार के साथ जयसिंहसूरि विहारक्रम से अणहिल्लपुर पत्तन में पहुंचे। वहां उस समय महाराजा कुमारपाल शासन कर रहे थे। आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि के उपदेश से प्रबुद्ध चालुक्यराज महाराज कुमारपाल जिनशासन के प्रगाढ़ श्रद्धानिष्ठ भक्त एवं श्रावकाग्रणी बन गये। कुमारपाल ने अपने समस्त राज्य में अमारि की घोषणा करवा दी और वे सब जीवों पर बड़ी तत्परता से दयाभाव रखते हुए देशविरति अर्थात् श्रावकधर्म का पालन करते थे। एक समय महाराजा कुमारपाल मुंहपत्ति (मुखवस्त्रिका) से आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि को वन्दन कर रहे थे। उसी समय विधिपक्ष का श्रावकाग्रणी कपर्दि भी आचार्यश्री हेमचन्द्र की सेवा में उपस्थित हुआ और उत्तरासंग से उन्हें वन्दन करने लगा। उत्तरासंग से वन्दन करते हुए कपर्दि श्रावक को देख कर महाराजा कुमारपाल को बड़ा आश्चर्य हुआ। राजा ने हेमचन्द्रसूरि से प्रश्न किया :—"भगवन्! गुरुवन्दन का यह आश्चर्यकारी नया रूप कैसा?"

आचार्यश्री हेमचन्द्र ने उत्तर में कहा—"राजन्! जिनेश्वर भगवान् के वचन के अनुरूप यह गुरुवन्दन की मुद्रा है और तुम्हारी गुरुवन्दन की यह मुद्रा परम्परागत मुद्रा है।"[1]

राजा के प्रश्न का उत्तर देने के पश्चात् आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि ने विजयचन्द्रसूरि की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए महाविदेह क्षेत्र की सीमा नगरी के समवसरण में सीमन्धर जिनेश्वर द्वारा की गई विजयचन्द्रसूरि की प्रशंसा की तथा चक्रेश्वरी देवी द्वारा उन्हें (विजयचन्द्र मुनि को) समवसरण में घटित उस घटना से अवगत कराने तथा विशुद्ध धर्म की पुनः प्रतिष्ठापना के सम्बन्ध में प्रेरणा दिये जाने आदि की बात सुनाई और अन्त में कहा—"आगमों में प्रदर्शित पथ पर चलने के दृढ़ संकल्प के साथ विजयचन्द्रसूरि ने विधिमार्ग की स्थापना की है।"

यह सब वृत्तान्त सुनाने के अनन्तर महाराजा कुमारपाल ने 'विधिपक्ष' का नाम अंचलगच्छ अथवा अंचलगण रखा।[2]

---

१. अह अन्नया नरेशो, मुहपत्तीए करेइ कीइकम्मं।
विहिपक्ख कवडिसावय, उत्तरसंगेण तं वियरइ ॥१०६॥
एवं किमिइ निवेणय पुट्ठो सिरि हेमसूरि वच्चेइ।
जिणवयणेसा मुद्दा, परम्परा एस तुम्हाणं ॥११०॥

—श्री वीरवंशपट्टावली।

२. पच्छा निवेण तस्स वि, अंचलगण नाम सिरिपहेण कयं ॥११३॥

— श्री वीरवंश पट्टावली

इसके पश्चात् महाराजा कुमारपाल रक्षितसूरि (विजयचन्द्रसूरि) के दर्शनों की अभिलाषा से तिमिरपुर गये और उन्होंने वहां बड़े भक्तिभाव के साथ रक्षितसूरि को वन्दन-नमन किया।

वीरवंशावली अपर नाम विधिपक्ष गच्छ पट्टावली में उल्लिखित इस विवरण से यह प्रकट होता है कि आचार्यश्री रक्षितसूरि की विद्यमानता में ही महाराजा कुमारपाल ने विधिपक्ष का नाम अंचलगच्छ भी रख दिया।

विधिपक्ष की स्थापना के कुछ समय पश्चात् इस गच्छ का नाम अंचलगच्छ रखा गया होगा, इस बात की पुष्टि 'विधिपक्ष पट्टावली' में उल्लिखित तथ्यों से भी होती है। उदाहरण के रूप में, विधिपक्ष की स्थापना के अनन्तर विजयचन्द्रसूरि अनेक क्षेत्रों में विचरण करते हुए कालान्तर में विउणप्पनगर में पधारे। वहां श्रेष्ठि कर्पादि उनके उपदेशों से प्रबुद्ध हुआ और उसने श्रावक धर्म अंगीकार किया। इस उल्लेख के सन्दर्भ में अंचलगच्छ नामकरण के सम्बन्ध में विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि विधिपक्ष की स्थापना हो जाने के पश्चात् ही कर्पादि श्रेष्ठि ने श्रावक धर्म अंगीकार किया और श्रावक धर्म अंगीकार करने के पर्याप्त समय पश्चात् उसने पाटण में महाराजा कुमारपाल के समक्ष हेमचन्द्राचार्य को उत्तरासंग से वन्दन-नमन किया। कुमारपाल को यह देख कर आश्चर्य हुआ। उसने गुरु से इसका कारण पूछा और गुरु द्वारा समीचीनतया समाधान कर दिये जाने पर उसने विधिपक्ष का नाम अंचलगच्छ रखा। विधिपक्ष पट्टावली में इस बात का तो स्पष्ट उल्लेख है कि विधिपक्ष का नामकरण अंचलगच्छ करने के पश्चात् कुमारपाल विधिपक्ष के संस्थापक आचार्य रक्षितसूरि के दर्शनों के लिये तिमिरपुर गया, किन्तु पट्टावली में इस प्रकार का कहीं कोई उल्लेख नहीं है कि कुमारपाल किस सम्वत् में रक्षितसूरि के दर्शनार्थ तिमिरपुर गया। इस प्रकार की प्रमाणाभाव की स्थिति में आधिकारिक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि परमार्हत् महाराज कुमारपाल आर्य रक्षितसूरि के दर्शन हेतु किस सम्वत् में तिमिरपुर गये और उन्होंने किस सम्वत् में विधिपक्ष का नाम अंचलगच्छ रखा। ऐसी दशा में, अन्य पट्टावलियों में उल्लिखित अंचलगच्छ की स्थापना के सम्वत १२१३ की संगति विठाने के लिये यदि यह कहा जाय कि वि० सं० १२१३ में कर्पादि श्रावक को उत्तरासंग से वन्दन-नमन करते हुए देख कर कुमारपाल ने विधिपक्ष गच्छ का नाम अंचलगच्छ रखा तो यह कथन सम्भवतया अनुमानित किया जा सकता है किन्तु किसी ठोस आधार के बिना इसे प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। सम्भव तो इसलिये कहा जा सकता है कि विधिपक्ष के संस्थापक आर्य रक्षितसूरि वि० सं० १२३६ में और आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि वि० सं० १२२६ में स्वर्गस्थ हुए तथा महाराज कुमारपाल का देहावसान वि० सं० १२३० में हुआ।[1] इस प्रकार की स्थिति में यह संभव तो

१. (क) श्री वीरवंशपट्टावली, गाथा सं० ११५।
(ख) अपभ्रंश काव्यत्रयी पृष्ठ सं० ६४ पर मानचित्र।

हो सकता है कि वि० सं० १२१३ में विधिपक्ष का दूसरा नाम अंचलगच्छ रखने के अनन्तर राजा कुमारपाल रक्षितसूरि के दर्शन एवं वन्दन-नमन के लिये तिमिरपुर गये हों।

अंचलगच्छ के प्रादुर्भावकाल के सम्बन्ध में दूसरी विचारधारा विक्रम की १७वीं शताब्दी के तपागच्छीय विद्वान् ग्रन्थकार उपाध्याय श्री धर्मसागर द्वारा रचित 'प्रवचन परीक्षा' नामक खण्डन-मण्डनात्मक ग्रन्थ से प्रकाश में आती है। उपाध्याय धर्मसागर ने अंचलगच्छ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है—

अह अंचलिअं कुमयं, लोअपसिद्धं पि किंचि दंसेमि।
तेरुत्तर बारसए, विक्कमओ अहमकम्मुदया ।।१।।
पुण्णिमिओ नरसिंहो, नामेणंएगनयण दुव्वयणों।
केणवि अवराहेणं, तेहि वि बाहिंकओ आसी ।।२।।
सो पुण कमेण छउणयगामे, पत्तो अ तत्थ तम्मइया।
लोअणरहिआ नाढीति सड्ढी वि महिड्ढिआ वुड्ढा ।।३।।
तीए वंदणदाणावसरे मुहपत्तिआ वि णे पत्ता।
देहंचलेण वंदण मिअ, मणिअं तेण पावेण ।।४।।
सा पुण पुव्वं पुण्णिम गुरूण केणावि दूमिआ आसी।
नरसिंहस्स वि भइणी, दोहिंवि पयडीकयं कुमयं ।।५।।
तीए सूरिपयं वि अ, दवाविअं अट्ठसहस दविणेणं।
तस्सज्ज रक्खिएणं, नामेणं चिइनिवासीहिं ।।६।।

अर्थात्—आंचलिक (अंचलगच्छ) नामक कुमत यद्यपि लोक-प्रसिद्ध है तथापि मैं इसके सम्बन्ध में प्रकाश डाल रहा हूं।

वि० सं० १२१३ में अधमकर्म (हीन कर्म) के उदय से पौर्णिमिक गच्छ के एक आंख के धनी (काणें) और कटुभाषी नरसिंह नामक एक साधु ने अंचलगच्छ की स्थापना की। उसे किसी अपराध के कारण पौर्णिमिक गच्छ से बहिष्कृत कर दिया गया था। गच्छ से बहिष्कृत नरसिंह नामक वह साधु विविध क्षेत्रों में विचरण करता हुआ 'छउणय' नामक ग्राम में पहुंचा। उस ग्राम में पौर्णिमिक गच्छ की श्रमणोपासिका नाढ़ी नाम की एक अतीव वृद्ध अन्धी एवं अपार ऋद्धि की स्वामिनी महिला रहती थी। नरसिंह मुनि के आगमन का समाचार सुन कर वह वृद्धा महिला नाढ़ी उन्हें वन्दन करने के लिये उपाश्रय में पहुंची। वन्दन का उपक्रम करते समय नाढ़ी ने अनुभव किया कि वह अपनी मुखवस्त्रिका घर पर ही भूल आई है।

मुखवस्त्रिका न होने के कारण नाढ़ी नाम की वह श्राविका मुनि नरसिंह के समक्ष बिना वन्दन किये ही चुपचाप खड़ी रही।

यह देख कर उस पापी मुनि नरसिंह ने कहा—"बहिन ! ओढ़नी के अंचल से ही वन्दन कर लो।"

इस प्रकार के निर्देश के प्राप्त होते ही नाढ़ी ने ओढ़नी के अंचल को मुख के आगे रखते हुए नरसिंह मुनि को वन्दन-नमन किया।

उस समृद्धिशालिनी, अन्धी एवं वयोवृद्धा महिला नाढ़ी के अहं को किसी पौर्णिमीयक आचार्य ने कुछ समय पूर्व ठेस पहुंचाई थी। इस कारण वह उस आचार्य के प्रति द्वेषभाव रखने लगी। वह घटना इस प्रकार घटित हुई कि पूर्णिमा गच्छ के एक आचार्य 'छउणय' ग्राम में आये। उन्होंने श्रद्धालु भक्तों से पूछा—"आप लोगों के धार्मिक कार्यों का निर्वहन तो भलीभांति हो रहा है न ?"

भक्त समूह ने उत्तर दिया - "नाढ़ी की कृपा से बड़ी अच्छी तरह चलता है।"

आचार्य ने कहा—"यह क्यों कहते हो ? कैसी नाढ़ी ? यह क्यों नहीं कहते कि देव और गुरु के प्रसाद से सब कुछ सानन्द चल रहा है।"

एक दिन उस ग्राम का श्रावक-श्राविकावर्ग उन आचार्य को वन्दन करने के लिये उपाश्रय में एकत्रित हुआ। किन्तु उस समृद्धा, वृद्धा श्राविका नाढ़ी को किसी कारणवश समय पर पहुंचने में विलम्ब हो गया। इस कारण नाढ़ी के आने की प्रतीक्षा में आबाल वृद्ध नर-नारी बड़ी देर तक चुपचाप खड़े रहे। उपस्थित जन-समूह में से एक व्यक्ति ने कहा—"जब तक नाढ़ी न आ जाय, तब तक उसकी प्रतीक्षा की जाय। उसके यहां आ जाने के पश्चात् ही वन्दन किया जाय।"

आचार्य ने नाढ़ी (नाथी) की अवहेलना करते हुए कहा—"उसकी प्रतीक्षा में आप लोग व्यर्थ ही कब तक खड़े रहोगे ? आप लोग ही वन्दन कर लो।"

श्राद्ध वर्ग ने आचार्य के कथनानुसार श्रमणोपासिका नाढ़ी की बिना और अधिक प्रतीक्षा किये ही वन्दन कर लिया और वन्दनानन्तर सब लोग अपने-अपने घर की ओर लौट गये।

नाढ़ी ने जब यह सब वृत्तान्त सुना तो वह बड़ी रुष्ट हुई और उसने कहा—"आचार्य ने जान-बूझ कर मेरा अपमान किया है, मेरे सम्मान को ठेस पहुंचाई है।"

पूर्णिमागच्छ के उन आचार्य के प्रति नाढ़ी के इस प्रकार के द्वेषभाव का वृत्तान्त मुनि नरसिंह को विदित हो गया था। अतः वह उग्र विहारक्रम से छउणय

ग्राम में पहुंचा। उसने नाढ़ी से कहा—"बहिन ! तेरे सम्मान को ठेस पहुंचाने वाले आचार्य के श्रावक-श्राविका समुदाय से मुखवस्त्रिका का त्याग करवा कर मैं तेरे उस अपमान का बदला लूंगा। शास्त्रों में श्राद्धवर्ग अथवा श्रावक-श्राविकावर्ग के लिए मुखवस्त्रिका का कहीं विधान अथवा निर्देश तक नहीं है।"

यह सुनकर नाढ़ी (नाथी) बड़ी प्रसन्न हुई और उसने अपने समस्त पारिवारिक जनों के साथ सामूहिक रूप से मुखाग्र पर केवल अंचल रखते हुए ही वन्दन किया।

इस प्रकार एक आंख के धनी (काणें) नरसिंह मुनि और दोनों आंखों से अन्धी नाढ़ी ने आंचलिक कुमत को प्रकट किया। उस नाढ़ी ने नटीपद्रीय चैत्यवासी आचार्य रक्षितसूरि के हाथों अपने गुरु नरसिंह को बड़े आडम्बर के साथ आचार्यपद प्रदान करवाया। नाढ़ी ने इस पट्टमहोत्सव में आठ हजार मुद्राएं व्यय कीं।"

उपाध्याय धर्मसागर ने आगे लिखा है—"इस प्रकार अंचलगच्छ की स्थापना के पश्चात् उस नरसिंहाचार्य ने अपने गच्छ की वृद्धि की लालसा से इकवीस उपवास कर कालिका नाम की एक मिथ्यादृष्टि देवी की आराधना की। उस नरसिंहाचार्य ने लोगों के समक्ष इस प्रकार का झूठा प्रचार किया कि चक्रेश्वरी देवी उस पर प्रसन्न हुई है।

नरसिंहाचार्य ने जो मत प्रकट किया, उसकी उत्सूत्रता (आगम विरोधिता) तो सर्वजन विदित ही है कि उसने श्रावक-श्राविकावर्ग के लिये सर्वप्रथम मुखवस्त्रिका का और तत्पश्चात् सामायिक का भी निषेध किया।"

इस प्रकार आंचलिक मत के प्रादुर्भाव एवं उद्भव काल के सम्बन्ध में ये दो प्रकार के मुख्य उल्लेख जैन वांग्मय में उपलब्ध होते हैं। अपने विरोधियों अथवा अपने से भिन्न गच्छ के अनुयायियों के प्रति अति कर्कश, कठोर और नितान्त अशोभनीय शब्दों के प्रयोग उपाध्याय धर्मसागर की 'प्रवचन परीक्षा' नामक कृति में यत्र-तत्र प्रचुर मात्रा में दृष्टिगोचर होते हैं। उपाध्याय धर्मसागर द्वारा अंचलगच्छ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दिये गये उपरिलिखित विवरण के मुख्य पात्र नरसिंहाचार्य और नाढ़ी (नाथी) का नामोल्लेख तक अंचलगच्छ की पट्टावलियों अथवा एतद्विषयक समग्र जैन साहित्य में अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता।

उपाध्याय धर्मसागर ने चैत्यवासी आचार्य रक्षित द्वारा मुनि नरसिंह को आचार्यपद प्रदान किये जाने का जो उल्लेख किया है, वह भी जैन वांग्मय में अद्यावधि अन्यत्र कहीं भी प्रकाश में नहीं आया है। यहां प्रत्येक तथ्यान्वेषी निष्पक्ष विज्ञ विचारक के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचारणीय तथ्य यह है कि उपाध्याय श्री धर्मसागर ने अंचलगच्छ के संस्थापक के रूप में जो मुनि नरसिंह का नामोल्लेख

किया है, वस्तुतः इस नाम के मुनि अथवा आचार्य का नाम अंचलगच्छ की पट्टावलियों में खोजने पर भी कहीं उपलब्ध नहीं होता। इस प्रकार की स्थिति में उपाध्याय धर्मसागर द्वारा किये गये इस उल्लेख एवं उक्त सम्पूर्ण कथानक की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विज्ञ पाठक स्वतः सहज ही निर्णय कर सकते हैं।

मेरुतुंगसूरि के उल्लेखानुसार वस्तुस्थिति इससे पूर्णतः विपरीत एवं भिन्न ही प्रतीत होती है, जो इस प्रकार है :—

"मेरुतुंगसूरि ने अपनी रचना "लघु शतपदी" में उल्लेख किया है कि नाणकगच्छ के सर्वदेवसूरि से बड़गच्छ प्रचलित हुआ। बड़गच्छ में अनुक्रमशः जयसिंहसूरि नामक एक पट्टधर हुए। जयसिंहसूरि के शिष्य विजयचन्द्र ने संघ में व्याप्त शिथिलाचार से चिन्तित हो क्रियोद्धार का निश्चय किया। जयसिंहसूरि ने विजयचन्द्र मुनि को उपाध्याय पद प्रदान किया किन्तु उन्होंने (विजयचन्द्र मुनि ने) क्रियोद्धार करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। इसलिये अपने गुरु एवं गच्छ का परित्याग कर वे अपने तीन साथी मुनियों के साथ स्वतन्त्र रूप से पृथक् ही विचरण करने लगे। एक दिन विहारक्रम से विजयचन्द्र मुनि अपने मामा शीलगुणसूरि के पास पहुंचे, जो पौर्णिमिक गच्छ के आचार्य थे। विजयचन्द्र मुनि ने अपने मामा आचार्य शीलगुणसूरि की निश्रा में रहते हुए आगमों का अध्ययन किया। अध्ययन सम्पन्न होने के अनन्तर आगमों में निष्णात अपने भागिनेय विजयचन्द्र मुनि को शीलगुणसूरि ने पौर्णिमिक गच्छ के आचार्यपद पर अधिष्ठित करने का विजयचन्द्र के समक्ष प्रस्ताव रखा। भवभीरु मुनि विजयचन्द्र ने इस डर से कि आचार्यपद पर अधिष्ठित होने के अनन्तर मालारोपण आदि सावद्य कार्यों में लिप्त होना पड़ेगा, अपने मामा के प्रस्ताव को तत्काल स्पष्ट रूप से अस्वीकार करते हुए कहा—"मैं तो उपाध्याय पद पर ही ठीक हूं।"

"इस घटना के कतिपय दिनों पश्चात् विजयचन्द्र मुनि ने अपने तीन साथी साधुओं के साथ अन्यत्र विहार कर दिया और वे पूर्ववत् विभिन्न क्षेत्रों में स्वतन्त्र रूप से विचरण करने लगे। तत्पश्चात् मुनि विजयचन्द्र ने नवीन ७० बोलों के साथ आगमानुसारी अपनी समाचारी की घोषणापूर्वक विधिपक्ष (अंचलगच्छ) की स्थापना की।"

इस सबके अतिरिक्त बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि आर्य रक्षितसूरि नामक किसी चैत्यवासी आचार्य द्वारा नरसिंह मुनि को अंचलगच्छ के आचार्यपद पर अधिष्ठित किये जाने की जो बात उपाध्याय धर्मसागर ने अपने ग्रन्थ प्रवचन परीक्षा में, अंचलगच्छ की उत्पत्ति विषयक प्रकरण की गाथा संख्या ६ में लिखी है, उसका नाम-मात्र के लिये भी न तो कोई आधार सम्पूर्ण जैन वांग्मय में अन्यत्र उपलब्ध होता है और न कहीं चैत्यवासी परम्परा के यत्किंचित् उपलब्ध साहित्य में

आचार्य रक्षितसूरि के होने का ही कोई संकेत दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार की आधारहीन स्थिति में विक्रम की १७वीं शताब्दी में हुए विद्वान् लेखक उपाध्याय धर्मसागर द्वारा स्वयं के उल्लेखानुसार वि० सम्वत् १२१३ में अंचलगच्छ के नाम से अभिहित किये गये गच्छ के सम्बन्ध में कही गई बात का एक निराधार किवदन्ती से अधिक महत्व नहीं हो सकता।

उपाध्याय धर्मसागर की रचनाओं की न केवल तत्कालीन अन्यान्य सभी गच्छों ने ही अपितु उनके अपने स्वयं के गच्छ, तपागच्छ के आचार्यों एवं विद्वानों ने भी कटु आलोचना की है। उपाध्याय धर्मसागर के सम्बन्ध में अंचलगच्छ के शोधप्रिय इतिहासविद् पासवीर वीरजी दुल्ला "पार्श्व" ने लिखा है :—"धर्मसागरजीए अंचलगच्छ नु खण्डन करवा मां अने अनुचित आक्षेपों करवा मां सत्य ने नेवेज मूकी दीधु छे। एमना खण्डनात्मक लखाण थी सर्व मतो खलभली उठ्या अने तेनु जो समाधान न थाय तो आखा जैन समाज मां दावानल अग्नि प्रकटे। आथी तपागच्छाचार्य विजयदानसूरीए उपर्युक्त (प्रवचन परीक्षा) ग्रन्थ ने पाणी मां बोलावी दीधो (जल में डुबो दिया) अने तेने अप्रमाण ठहराव्यो। धर्मसागरजी ने जिनशासन मांथी बहिष्कृत करवा मां पण आव्या। एमणे एमना बेजवाबदार लखाण माटे संघ नी समक्ष क्षमा पण याची (मांगी)। धर्मसागरजी ना खण्डनात्मक वलण ने लीधे खुद तपागच्छ मां पण भंगाण पड्यु। तपागच्छ 'देवसूर' अने "आणन्दसूर" एम बे पक्षो मां विभक्त थयो। हीरविजयसूरिए प्रथम सात बोल अने पाछल थी १२ बोल ए नामे आज्ञाओ जाहिर करी अथड़ामण ओछी करवा प्रयासो कर्या। परस्पर गच्छो मां अगाऊ नी माफक प्रेम जलवाई रहे, अने उत्सूत्र प्ररूपणा नी वृद्धि न थाय एटला माटे दसवां बोल मां हीरविजयसूरिए जणाव्यु के —"तथा श्री विजयदानसूरि बहुजन समक्ष जलशरण जे कीधूं उत्सूत्र कन्दकुद्दाल ग्रन्थ—ते मांहिलु जे असम्मत अर्थ बीजा कोई ग्रन्थ मांहि आण्यउ हुवई तउ ते तिहां अर्थ अप्रमाण जाणिवहुं।"[1]

खरतरगच्छ की ही भांति क्रियोद्धार करने वाले प्रायः सभी गच्छों का विरोधी गच्छों द्वारा डट कर विरोध किया गया। आंचलिक गच्छ भी इस प्रकार के विरोध से अछूता न रहा। ज्यों-ज्यों यह लोकप्रिय होता गया, त्यों-त्यों इसका विरोध भी जोर पकड़ता गया। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्व० पंन्यास श्री कल्याणविजयजी महाराज ने अपना अभिमत इस सम्बन्ध में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है :— "......................और कुमारपाल के राज्यकाल में तो केवल जिनदत्त तथा उनके अनुयायियों का ही नहीं, पौर्णमिक, आंचलिक विधिमार्ग-प्रवर्तक आदि नये-नये गच्छ वालों का पाटण में आना बन्द हो गया था।.......कुमारपाल के राज्य

---

१. अंचलगच्छ दिग्दर्शन—श्री मुलुण्ड अंचलगच्छ जैन समाज, मुलुण्ड, बम्बई-८०, प्रकाशन सन् १९६७ ईस्वी, पृ० ५५

तक ही नहीं, उसके बाद द्वितीय भीमदेव के राज्य तक उक्त पौर्णमिक, खरतर आदि गच्छों का पाटन में आना जाना बन्द था ।[1]......खरतरगच्छ वालों के लिये तो १३वीं शती के मध्य भाग में ही मार्ग खुल गया था परन्तु पौर्णमिक, आंचलिक गच्छ वाले तो जब तक पाटन में राजपूतों का राज्य रहा, तब तक पाटन से दूर-दूर ही फिरते थे । जब पुराने पाटन का मुसलमानों के आक्रमण से भंग हुआ और मुसलमानों ने वहां अपना राज्य जमा कर नया पाटन बसाया, तब से पौर्णमिक आदि पाटन में प्रवेश कर पाये थे ।[2]"

मेरूतुंगीया पट्टावली के उल्लेखों से भी यही बात प्रकट होती है कि उस समय पाटन में साम्प्रदायिक असहिष्णुता बड़े तीव्र वेग से प्रसृत हो रही थी । अनेक गच्छ अपने प्रतिपक्षी गच्छों को लोकदृष्टि में नीचा दिखाने के प्रयास में संलग्न थे । उन्होंने अपने प्रतिपक्षी गच्छों के विरुद्ध कुमारपाल को भड़काया और कहा—"आप और हम सब चौथ के दिन सांवत्सरिक पर्व मनाते हैं किन्तु कतिपय गच्छों के अनुयायी पंचमी को सांवत्सरिक पर्वाराधन करते हैं । आपकी विद्यमानता में इस प्रकार का संघभेद, भ० महावीर के धर्मसंघ की फूट का द्योतक मान्यताभेद वस्तुतः समुचित नहीं ।"

मेरुतुंगीया पट्टावली में इस प्रकार का उल्लेख है कि महाराजा कुमारपाल ने राजाज्ञा प्रसारित कर उन सभी गच्छों को पाटन से बाहर चले जाने का आदेश दिया, जो पंचमी के दिन सांवत्सरिक पर्व मनाने के पक्ष में थे ।[3] इस उल्लेख से यह एक नया तथ्य भी प्रकाश में आता है कि परमार्हत् के विशिष्ट सम्मानार्ह पद अथवा विरुद से विभूषित चालुक्यराज कुमारपाल जैन संघ में एकरूपता स्थापित करने के लिये कितने प्रयत्नशील एवं चिन्तनशील थे ।

जैन वांग्मय में इस बात के भी प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि साम्प्रदायिक विभेद के परिणामस्वरूप जैनसंघ में बढ़ती हुई खींचातानी, तीव्र होते हुए मनोमालिन्य और पारस्परिक विद्वेष से वस्तुतः अनेक प्रबुद्ध आचार्य एवं चतुर्विध धर्मतीर्थ के प्रबुद्ध सदस्य बड़े चिन्तित थे । उन्होंने इस प्रकार की दयनीय स्थिति को समाप्त करने और पारस्परिक सद्भाव का वातावरण उत्पन्न करने की उत्कट लालसा से सम्पूर्ण जैनसंघ में एकरूपता लाने के प्रयास भी किये । लघु शतपदी में आचार्य मेरुतुंग ने इस प्रकार के एक प्रयास का उल्लेख किया है । लघु शतपदी के उल्लेखानुसार 'वाहकगणी' की प्रेरणा से हेमचन्द्राचार्य ने जयसिंहसूरि को कहा कि वे सभी गच्छों के लिये एक सर्वमान्य समाचारी तैयार करने हेतु 'विउणप' तट से

१. पट्टावली परागसंग्रह, पृ० ३०३
२. पट्टावली परागसंग्रह, पृष्ठ ३०४
३. मेरुतुंगीया पट्टावली (अंचलगच्छ दिग्दर्शन, पृष्ठ ७१)

संघ को आमन्त्रित करें। इस पर जयसिंहसूरि ने हेमचन्द्राचार्य से कहा कि यदि सभी गच्छ वाले आचार्य मिल कर मुझे एक समाचारी बनाने का कहें तो मैं उसके लिये सहर्ष समुद्यत हूं।

वाहक गणि ने जयसिंहसूरि के इस उत्तर का यह अर्थ लगाया कि सभी गच्छों के आचार्यों के समक्ष एक ही प्रकार की समाचारी निर्धारित करने के लिये कहना वस्तुतः सोते सांप को जगाने के तुल्य होगा। इस प्रकार के प्रयास से तो सम्पूर्ण जैन समाज में अन्दर ही अन्दर कलह भड़क उठेगा।

लघु शतपदी के उल्लेखानुसार वाहकगणी ने जयसिंहसूरि को मरवा डालने के लिये कतिपय सशस्त्र लोगों को भेजा। किन्तु वे सभी आक्रमणकारी जयसिंहसूरि के तप और तेज के प्रभाव से स्तम्भित हो पाषाण की तरह निश्चल हो गये।

जयसिंहसूरि को मरवा डालने के लिये किये गये दो षड्यन्त्रों का उल्लेख भावसागरसूरि ने वीरवंश-पट्टावली में भी किया है, जो इस प्रकार है :—

तप्पटपउमहंसो, गणाहिवो सूरिराय जयसिंहो।
कत्थ वि गाम दुगंतर, गच्छइ परिकरेण जुओ ॥११६॥
केहिं पि गुरुं घाउं, संपेसिया भड़सई करे सत्था।
जाव समेया तत्थ वि, थंभियभूया तया सव्वा ॥११७॥
पिय-माय-बंधवेहिं, गुरुपासे आगएहिं भत्तीए।
तइय दिणे पगधोवण, छंटणओ मुक्कला जाया ॥११८॥
अन्नय पासत्थेण वि, गुरुहणणत्थं च पेसिया सुहड़ा।
विउणप्पि वसइ दुवारे, परुप्परं जुज्झिया वलिया ॥११९॥
तस्स य उयरे वेयण—, संजाया अइवहूपगारेहिं।
न समइ तत्तो तप्पय, धोयण-पाणउ उवसमिया ॥१२०॥

अर्थात्—वि० सं० १२३६ में सौ वर्ष की आयु पूर्ण कर तिमिर नामक नगर में रक्षितसूरि के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर उनके पट्टधर जयसिंहसूरि विहार-क्रम से एक दिन किसी गांव की ओर जा रहे थे। किन्हीं लोगों (विरोधियों) ने जयसिंहसूरि को मरवा डालने के लिये कतिपय सशस्त्र आक्रमणकारियों को भेजा। जयसिंह गुरु पर प्रहार करने हेतु वे शस्त्रधारी जब गुरु की ओर बढ़े तो वे सभी स्तम्भित हो पत्थर की मूर्तियों की भांति निश्चल-निश्चेष्ट खड़े के खड़े ही रह गये। जयसिंहसूरि निर्भीक हो अपने लक्ष्यस्थल पर पहुँच गये। विरोधियों द्वारा भेजे गये वे सशस्त्र भट निरन्तर तीन दिन और तीन रात तक विकट वन में उसी भांति स्तम्भित रहे। अन्त में जब उन भटों के माता-पिता आदि पारिवारिक जनों को इस घटना का पता चला तो वे सब मिलकर जयसिंहसूरि की सेवा में पहुंचे और सूरिवर से पुनः पुनः क्षमायाचना करने लगे। उन लोगों ने आचार्यश्री जयसिंहसूरि

के चरणों का प्रक्षालन कर उस चरणोदक को उन स्तम्भित भटों पर छिड़का। जयसिंहसूरि के चरणोदक के छींटों से वे सभी भट तत्काल स्तम्भन से मुक्त हुए और अपने परिजनों के साथ अपने-अपने घरों को लौट गये।

कालान्तर में किसी एक पार्श्वस्थ (किसी गच्छ विशेष के अग्रणी) ने भी जयसिंहसूरि का प्राणान्त करवाने के लिए कतिपय सशस्त्र भटों को भेजा। वे सुभट भी "विउणप्प" नगर के द्वार पर पहुंचते-पहुंचते परस्पर ही लड़ पड़े और जिस कार्य को करने के लिये वे आये थे, उस कार्य को ही भूल गये। उधर जिस विरोधी ने उन सुभटों को जयसिंहसूरि का प्राणान्त करने के लिये भेजा था, उसके उदर में अति भीषण असह्य पीड़ा उत्पन्न हुई और अन्ततोगत्वा वह भी जयसिंहसूरि के चरणोदक के पान से ही पीड़ा-मुक्त हो पाया।

इस प्रकार के उल्लेख इस बात के साक्षी हैं कि एकमात्र आगमों के आधार पर सर्वांगपूर्ण आमूलचूल क्रियोद्धार के अभाव एवं खण्डशः अपूर्ण छुटपुट क्रियोद्धारों के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए अनेकानेक नये-नये गच्छों के कारण जैन संघ विक्रम की तेरहवीं शती में ही वस्तुतः शत्रुभावपूर्ण पारस्परिक कलह का केन्द्र बन विद्वेषाग्नि में बुरी तरह झुलसने लग गया था। इस प्रकार की कलहपूर्ण स्थिति से तत्कालीन समाज के बहुजनपूजित प्रबुद्ध आचार्य चिन्तित भी थे किन्तु उन्हें इस बात का भय था कि जैन समाज के अंग-प्रत्यंग एवं अस्थि-मज्जा तक में व्याप्त विद्वेषाग्नि एवं कलह की ज्वालाओं को शान्त करने के लक्ष्य से सम्पूर्ण संघ में एकरूपता लाने हेतु यदि किसी भी प्रकार का प्रयास किया जायगा तो वह धुक-धुकाती अग्नि-ज्वालाओं में घृत उंडेलने तुल्य अति भयावह होगा। उस प्रकार के प्रयास से समाज में व्याप्त विद्वेषाग्नि और भी अधिक प्रचण्ड वेग से भड़क उठेगी। यही कारण था कि कलिकाल-सर्वज्ञ के विरुद से विभूषित हेमचन्द्रसूरि जैसे महान् प्रभावक आचार्य को भी मेरुतुंगसूरि द्वारा किये गये उपर्युल्लिखित तथ्यानुसार इस विषय में मौन-साधना का ही आश्रय लेना पड़ा।

क्रियोद्धार एक अति दुष्कर कार्य

आचार्य रक्षितसूरि (मुनि विजयचन्द्र) ने जैन धर्म और श्रमणाचार के विशुद्ध स्वरूप को जन-जन के समक्ष पुनः प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से वि० सं० ११६९ में एक प्रकार की धर्मक्रान्ति का सूत्रपात किया था। उनसे लगभग ८० वर्ष पूर्व विक्रम की ११वीं शताब्दी के सर्वप्रथम क्रियोद्धारक एवं खरतरगच्छ के नाम से कालान्तर में प्रसिद्ध हुई परम्परा के आद्याचार्य श्री वर्द्धमानसूरि और उनके शिष्य जिनेश्वरसूरि ने जिनधर्म के वास्तविक स्वरूप को यथावत् पुनः प्रतिष्ठापित करने के उद्देश्य से धर्मक्रान्ति का सूत्रपात किया था। आचार्य रक्षितसूरि से लगभग २० वर्ष पूर्व (वि० सं० ११४९ में) पौर्णमिक गच्छ के संस्थापक आचार्य चन्द्रप्रभ ने

भी जैनसंघ में प्रविष्ट हुई विकृतियों को दूर करने के उद्देश्य से धर्मचेतना और जागृति का शंखनाद पूरा था तथा लगभग १० वर्ष तक अपने विरोधी गच्छों द्वारा चारों ओर से प्रस्तुत किये गये विरोध के परिणामस्वरूप उनके साथ संघर्षरत रहने के पश्चात् वि० सं० ११५९ में अन्ततोगत्वा विधिवत् पौर्णमिक गच्छ की स्थापना की। वर्द्धमानसूरि, रक्षितसूरि, चन्द्रप्रभसूरि आदि इन सभी शासनहितैषी आचार्यों का प्रारम्भ में एक सर्वांगपूर्ण समग्र धर्मक्रान्ति करने का ही उद्देश्य रहा, किन्तु चतुर्विध संघ में विकृतियों की जड़ इतनी अधिक गहरी पहुंच गई थी कि विकृतियों का मूलोच्छेदन कर उनमें आमूलचूल परिवर्तन के साथ एकरूपता लाना असम्भव सा हो चुका था। अतः धर्म के वास्तविक स्वरूप को पुनः प्रतिष्ठापित करने का उन आचार्यों का स्वप्न साकार नहीं हो पाया और उनके द्वारा की गई धर्मक्रान्तियां एक परिधि तक ही सीमित रह गई।

विधिपक्ष (अंचलगच्छ) के जन्मदाता रक्षितसूरि ने भी एकमात्र आगमों के ही आधार पर समग्र धर्मक्रान्ति के दृढ़ संकल्प के साथ विधिपक्ष (आगमानुसारी पक्ष) की स्थापना की थी। किन्तु वे भी इस धर्मक्रान्ति में अपने लक्ष्य के अनुरूप आगे नहीं बढ़ सके। इसका कारण यह था कि वीर निर्वाण की एक सहस्राब्दि के पश्चात् पनपी चैत्यवास और शिथिलाचार की परम्परा उस समय तक जन-जन के जीवन में घुल-मिल सी गई थी। वस्तुतः इस प्रकार के क्रियोद्धारों के माध्यम से की गई धर्मक्रान्तियां तत्कालीन धर्मसंघ में सर्वत्र व्याप्त शिथिलाचार के विरुद्ध थीं और उस शिथिलाचार की जननी, सूत्रधार अथवा प्रतीक थी चैत्यवासी परम्परा। इस दृष्टिकोण से इस प्रकार के क्रियोद्धारों अथवा धर्मक्रान्तियों को चैत्यवासी वस्तुतः अपने विरुद्ध प्रबल अभियान समझते थे। शिथिलाचार को जन्म देने वाली, श्रमणाचार के मूल स्वरूप को सर्वांगीण रूपेण तथा धर्म के मूल रूप को विकृत करने वाली चैत्यवासी परम्परा का प्रभाव सम्पूर्ण गुजरात, सौराष्ट्र, मेवाड़, मारवाड़, मालवा आदि प्रदेशों में सर्वत्र घर कर चुका था। इन प्रदेशों में राज्याश्रय प्राप्त हो जाने के परिणामस्वरूप चैत्यवासियों का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।

पाटण के विशाल साम्राज्य के संस्थापक वनराज चावड़ा और उसके उत्तराधिकारी ७ चापोत्कटवंशीय राजाओं ने वि० सं० ८०२ से वि० सं० ९९८ पर्यन्त कुल मिला कर १९६ वर्ष तक चैत्यवासियों को अपना धर्मगुरु-राजगुरु मान कर उन्हें सर्वाधिक सम्मान प्रदान किया। अपने धर्मगुरु के संघ—चैत्यवासी संघ को दृढ़ से दृढ़तम बनाने हेतु चैत्यवासी संघ को सभी प्रकार की सुविधाएं प्रदान करने के साथ-साथ वनराज चावड़ा ने अपने सम्पूर्ण राज्य में इस प्रकार की राजाज्ञा प्रसारित करवा दी कि चैत्यवासी आचार्य की अनुमति के बिना उनके राज्य की सीमाओं में अन्य किसी भी परम्परा के जैन श्रमण-श्रमणीवर्ग विचरण तो दूर प्रवेश तक न कर पायें।

वि० सं० ६६८ में पाटण पर चालुक्य राजवंश का प्रभुत्व हो जाने के अनन्तर भी उस वंश के प्रथम महाराजा मूलराज के शासन काल से लेकर उस वंश के चौथे महाराजा दुर्लभ सेन अथवा दुर्लभराज के राज्यकाल के अन्तिम वर्ष से पूर्व विक्रम सं० १०७६–८० तक चैत्यवासियों को पाटण राज्य में एकाधिकार के रूप में वे सभी प्रकार की सुविधाएं यथावत् प्राप्त होती रहीं। इस प्रकार वि० सं० ८०२ से लेकर वि० सं० १०८० तक चैत्यवासियों का विशाल गुर्जर राज्य में कुल मिला कर २७८ वर्ष पर्यन्त पूर्ण वर्चस्व रहा। वनराज चावड़ा द्वारा प्रसारित की गई राजाज्ञा के माध्यम से संस्थापित वह मर्यादा पाटण के विशाल राज्य में पौने तीन शताब्दी से भी अधिक समय तक अक्षुण्ण रूप से चलती रही, जिसके अनुसार चैत्यवासियों के अतिरिक्त किसी भी जैन परम्परा के साधु-साध्वियों के लिये पाटण राज्य में प्रवेश तक निषिद्ध था। निरन्तर २७८ वर्ष तक प्राप्त इस सुविधा के कारण चैत्यवासी संघ एक अतीव शक्तिशाली संघ के रूप में जन-जन के मन और मस्तिष्क पर छा गया था। चैत्यवासियों द्वारा प्रचलित किये गये भौतिक आडम्बरों से ओत-प्रोत धार्मिक विधिविधान अत्यन्त लोकप्रिय बन चुके थे। अपने दैनिक जीवन में आबाल-वृद्ध सभी जैनधर्मानुयायी चैत्यवासियों द्वारा प्रचलित किये गये आचार-विचार, विधि-विधान, रीति-नीति आदि के पूर्ण-रूपेण अभ्यस्त हो चुके थे। धर्म के विशुद्ध आगमिक मूल स्वरूप को, आगमों में प्रतिपादित श्रमणाचर्या को गुजरात आदि उन सभी राज्यों के लोग भूल चुके थे, जहां पर कि सुदीर्घ काल तक चैत्यवासियों का धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में एकाधिपत्यपूर्ण वर्चस्व रहा। इस सबके परिणामस्वरूप जनजीवन में रूढ़ हुई विकृतिपूर्ण मान्यताओं एवं अनागमिक आचार-विचार, विधि-विधान आदि को समाप्त करना, उनका समूलोन्मूलन करना एक अति दुष्कर ही नहीं अपितु असाध्य कार्य बन गया था।

इस सब के अतिरिक्त विधि पक्ष की स्थापना से लगभग ६० वर्ष पूर्व वर्द्धमानसूरि और जिनेश्वरसूरि द्वारा की गई धर्मक्रान्ति से चैत्यवासी पूर्णतः चौकन्ने, सजग अथवा सावधान हो चुके थे। अपनी परम्परा के विरुद्ध उठे छोटे-बड़े किसी भी प्रकार के विरोध को अंकुरित होने से पूर्व ही कुचल डालने के लिये वे सदा कटिबद्ध रहने लग गये थे। चैत्यवासियों के अतिरिक्त अन्यान्य गच्छों के विरोध एवं प्रकोप का भाजन भी नवोदित परम्परा को बनना पड़ता था।

ऐसी स्थिति में पूर्णतः आगमों के अनुरूप धर्म के स्वरूप और श्रमणाचार की पुनः प्रतिष्ठापना हेतु सम्पूर्ण धर्मक्रान्ति का लक्ष्य होते हुए भी रक्षितसूरि आदि क्रियोद्धारकों को अपनी धर्मक्रान्ति तथा क्रियोद्धार को कतिपय अंशों में ही सीमित करना पड़ा। यही कारण था कि आगमों में प्रतिपादित जैन धर्म की मूल मान्यताओं को धर्मसंघ में यथार्थरूपेण पुनः प्रतिष्ठापित करने की आन्तरिक अभिलाषा के होते हुए भी प्रायः वे सभी क्रियोद्धार करने वाले महापुरुष सम्पूर्ण क्रान्ति का अपनी इच्छा के अनुरूप क्रियान्वयन करने में एक प्रकार से अन्ततोगत्वा असफल ही

रहे। उनकी असफलता के दो और भी बड़े कारण थे। एक बहुत बड़ा कारण यह था कि चैत्यवासियों ने जन-जन के मन-मस्तिष्क में इस प्रकार की भावना भर दी कि बिना निगमों (ब्राह्मण परम्परा के वेदों की परिपाटी के अनुरूप चैत्यवासियों द्वारा रचित ग्रन्थों) और उपनिषदों का सहारा लिये बदलती हुई धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों में जैन-धर्म अपना अस्तित्व बनाये नहीं रख सकता। लोगों के मन-मस्तिष्क में चैत्यवासियों द्वारा बद्धमूल कर दी गई इस भावना के कारण चैत्यवासियों के पूर्ण वर्चस्व में आया हुआ विशाल जैन जन-समुदाय निगमों एवं उपनिषदों में प्रतिपादित किसी एक भी परिपाटी का परित्याग करने के लिये उद्यत नहीं था। क्रियोद्धारों के, आशानुरूप सफल न होने का दूसरा बड़ा कारण यह भी था कि चैत्यवासी आचार्यों ने त्यागी वर्ग के लिये शास्त्रों में "दुरणुचरो धम्मो वीराणं" की संज्ञा से अभिहित किये गये कठोर श्रमण धर्म की चर्या में भी सुविधाजनक परिवर्तन कर इस प्रकार की सुविधाएं उपलब्ध करा दी थीं कि जिनसे श्रमण-श्रमणीवर्ग बिना किसी प्रकार के कष्ट अथवा परीषह-सहन के ही जीवन भर अपने अनुयायियों का परम पूज्य एवं उपास्य बना रह सके। त्यागी वर्ग के लिये चैत्यवासियों द्वारा श्रमणचर्या में उपलब्ध करवाई गई अथवा निर्द्धारित की गई सुविधाएं निम्न रूप में थीं :—

(१) जीवन भर एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरण करते रहने के मूल श्रमणाचार का परित्याग कर जीवन भर एक ही स्थान पर अपने चैत्य में अथवा मठ में नियत निवास करें।

(२) मधुकरी (भिक्षाचरी) जैसे कठोर श्रमणाचार को तिलांजलि देकर अपने चैत्यों अथवा मठों में निरंजन–निराकार जिनेन्द्र प्रभु को भोग लगाने के लिये वहां की पाकशालाओं में निर्मित किये गये यथेष्ट अशन-पानादि से सुखपूर्वक अपने जीवन का निर्वाह करें।

(३) मन्दिरों अथवा मठों में श्रद्धालु भक्तों द्वारा जो धन जिनेन्द्र प्रभु के चरणों में भेंट किया जाय, उसका उपयोग वे अपनी सुविधा एवं इच्छानुसार करें।

(४) अपने भक्तों को सभी प्रकार के सांसारिक कार्यकलापों के मुहूर्त निकाल कर दें। निमित्तशास्त्र से उनके भावी जीवन से सम्बन्धित भविष्य-कथन करें।

(५) सुगन्ध से सुवासित सुन्दर रंगीन वस्त्र यथेष्ट धारण करें।

(६) यथेष्ट धन संचय करें।

(७) केशलुंचन जैसी कठोर श्रमणचर्या का परित्याग करें।

(८) मुखशुद्धि हेतु ताम्बूलचर्वण करें।

(९) घी, दूध, फल, फूल आदि का यथेष्ट सेवन करें।

(१०) सचित्त ठंडे जल को पीने आदि के काम में लें।

(११) गमनागमन आदि के लिये वाहन (सुखपाल) आदि रखें।

(१२) वस्त्र, पात्र आदि का संग्रह करें।

(१३) शय्या पर सोयें।

(१४) तेल, अभ्यंग (पीठी) आदि का अपने अंग-प्रत्यंग पर मर्दन करें।

(१५) छोटे-छोटे बालकों के माता-पिता को धन देकर अपने शिष्य परिवार को बढ़ाने के लिये बालकों का क्रय करें।

(१६) चिकित्सा, मन्त्र-तन्त्र आदि के माध्यम से अपने जीवन को सुखी बनाने के लिये धनार्जन करें।

(१७) जिनेन्द्र प्रभु की पूजा करते समय आरती स्वयं करें एवं बलिकर्म (हवन) करें।

(१८) अपनी इच्छानुसार जिनमन्दिरों, पौषधशालाओं और व्याख्यान भवनों का निर्माण करवायें।

(१९) महिलाओं से संसर्ग-सम्पर्क रखें, उनके समक्ष व्याख्यान दें, भजन-कीर्तन आदि करें।

(२०) स्वर्गस्थ हुए अपने गुरुओं के दाहसंस्कार-स्थलों पर पीठ (चबूतरे) आदि बनवायें।

(२१) उपवास आदि कठोर तपश्चरण की कोई विशेष आवश्यकता नहीं।[१]

इस प्रकार चैत्यवासियों ने—

जे य कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठी कुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ।।

आदि गाथाओं के माध्यम से आगमों में प्रतिपादित, जीवन भर तलवार की तीक्ष्ण धार पर चलने तुल्य, शाश्वत शिवसुखप्रदायी अति दुश्चर श्रमण जीवन को चैत्यवासी परम्परा के कर्णधारों ने एक गृहस्थ के जीवन के समान सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण बना दिया।

---

१. (क) "अंचलगच्छ दिग्दर्शन"—पृष्ठ २४ प्राक्कथन।
(ख) "जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग ३", पृष्ठ ५७ से ६३

इस प्रकार की स्थिति में आगमानुसार जैनधर्म के आध्यात्मिक विशुद्ध स्वरूप एवं दुश्चर-कठोर श्रमणाचार को आमूलचूल क्रियोद्धार के माध्यम से पुनः प्रतिष्ठापित करने के अति पावन कार्य में वर्द्धमानसूरि आदि उन क्रियोद्धारक महान् आचार्यों को किस-किस प्रकार की कठिनाइयों से जूझना पड़ा, इसकी कल्पना प्रत्येक प्रबुद्ध पाठक सहज ही कर सकता है।

जैन संघ की इस प्रकार की तत्कालीन स्थिति का "अंचलगच्छ-दिग्दर्शन" में बड़े ही मार्मिक शब्दों में चित्रण किया गया है। जिज्ञासु पाठकों की जानकारी के लिये, उसके कतिपय अंश यहां उद्धृत किये जा रहे हैं :—

"गुजरात, मेवाड़, मारवाड़, बढ़ियार, सौराष्ट्र इत्यादि प्रदेशों मां चैत्यवासी साधुओं ने राज्याश्रय मलता-मलतां तेवो अमर्याद बनी बधता गया। पाटण मां जैनाचार्य शीलगुणसूरि अने देवचन्द्रसूरि ना वासक्षेप थी वि० सम्वत् ८२१ (वि० सं० ८०२) मां वनराज चावड़ा नो राज्याभिषेक थयो होई ने वनराज चावड़ा ए ए बन्ने आचार्यों ने शिष्य-परम्परा ना हक्क मां ताम्रपत्र पर फरमान लखी आप्युं के आ आचार्यो ने माननारा चैत्यवासी यतियो ने सम्मत मुनिराजो ज पाटण मां रही शके, बीजाओ रही शकसे नहीं। चावड़ाओ ना राज्य प्रदेश मां पण आ फरमान नी असर पड़ी। परिणामे संवेगी साधुओ भाटे तो पाटण ना द्वार बन्धज रह्यां, परन्तु एमना राज्य प्रदेश मां पण चैत्यवासियो नी इच्छाओ ने अधीन एमने रहेवुं पड़तुं। एटले हद सुधी बात पहुंची के उद्योतनसूरि ना शिष्यो ने कोई ग्राम के नगर मां सूरिपदे स्थापवा भाटे पण मुश्केल बनेलुं, परिणामे आबू ऊपर टेली नाम नां ग्राम नी नजीक वट वृक्ष नी नीचे छाण ना वासक्षेप थी सर्वदेवसूरि तथा अन्य शिष्यों ने आचार्य पदे स्थापवा मां आवेला। आवी रीते चावड़ाओ ना राज्य प्रदेश मां चैत्यवासियो विना अन्य साधुओं ने आववानो पण राज्य तरफ थी प्रतिबन्ध हतो।

(६७)....वनराज (वि० सं० ८०२), योगराज, क्षेमराज थी ते ठेठ सामन्त सिंह सुधीना चावड़ा राजाओ चैत्यवासी साधुओं ने धर्मगुरु अने राजगुरु तरीके मानता हता। चैत्यवासी आचार्यो आथी ए राजाओ ना धार्मिक संस्कारों नी क्रिया पण करता हता। केटलाक नो एवो मत पण छे के चैत्यवासी आचार्यो राजा ना धार्मिक पुरोहितो नुं धार्मिक कार्य करता हता। ते थी जैनो ना जैन वेद ना प्रचार थी राजकीय धर्म तरीके जैन धर्म प्रवर्तती हतो। आ थी चावड़ाओ ना शासन मां

छे। भरत राजाए जैन निगमो प्रवर्ताव्यां हतां, ते सर्व तीर्थंकरो ना समय मां कायम हतां, अने ते प्रमाणे सोल संस्कारो वगैरेनी क्रिया पण थती हती। दरेक तीर्थंकरों ना समय मां जैनागमो नवां हतां, अर्थात् द्वादशांगी जुदी रचाती हती। महावीर प्रभु ना समय मां जैन निगमो जैन वेदो अने उपनिषदो कायम रह्यां हतां। चैत्यवासियो ना वर्चस्व दरमियांन जैन वेदो अने जैन उपनिषदो लोको मां खूबज प्रचलित रह्यां। चैत्यवासियो नुं प्रभुत्व हटतां पण तेओ मां थी निगम प्रभावक गच्छ तरीके एक गच्छ कायम रह्यो।

(६६)....चैत्यवासियो मां पण अनेक महान् आचार्यो थई गया छे, जेमणे शासन नी सारी सेवा करी छे। द्रोणाचार्य, सूराचार्य, गोविन्दाचार्य वगैरे नुं चरित्र तपासिये तो स्पष्ट थाय छे के, तेओ विद्वान्, शास्त्रज्ञ, अनेकान्त ना यथार्थ व्यवस्थापक, विवेकी, परस्पर स्नेहभाव दर्शावनार अने धर्म रक्षा मां सदा उद्यमशील हता। उत्सव होय, यात्रा होय, के प्रतिष्ठा होय तो सौ मली ने धर्म भावना करता हता। तेओ मां आचार शुद्धि हती, विचारशुद्धि पण रहेती, एक मात्र व्यवहारशुद्धि न हती—एटले के तेओ शिथिल हता। ए तेमनी मोटी उणप हती, जेने दूर करवानी अनिवार्य आवश्यकता हती।"

इन सब कठिन परिस्थितियों में उन सभी क्रियोद्धारकों को कार्य करना पड़ा। यद्यपि वर्द्धमानसूरि ने विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के अष्टम दशक के समाप्त होते-होते धर्म के आगमिक स्वरूप की पुनः प्रतिष्ठापना के लिए जो धर्मक्रान्ति का सूत्रपात किया था, उससे रक्षितसूरि को अपने अभिनवरूपेण संस्थापित अथवा पुनः प्रतिष्ठापित विधिमार्ग के प्रचार-प्रसार के लिए पर्याप्तरूपेण प्रशस्त पथ मिला, तथापि उन्हें अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिये अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, चैत्यवासियों के सर्वव्यापी वर्चस्व के कारण रक्षितसूरि और उनके साधुओं को निर्दोष आहार पानीय तक नहीं मिला और इस प्रकार की स्थिति में उन्हें आजीवन अनशन के रूप में अपने प्राणों की बाजी तक लगाने का विचार करना पड़ा। रक्षितसूरि (विजयचन्द्रसूरि) के त्याग तप पूर्ण जीवन एवं परीषह सहन से जनमानस उनकी ओर आकर्षित हुआ। रक्षितसूरि ने अप्रतिहत विहारक्रम से आगमिक धर्म का प्रचार-प्रसार किया और उनके जीवनकाल में ही विधिमार्ग (अंचलगच्छ अथवा अचल गच्छ) एक सुदृढ़ एवं सशक्त धार्मिक संघ के रूप में लोकप्रिय बन गया। उनके पट्टधर जयसिंहसूरि ने वि० सं० १२३६ से वि० सं० १२५८ तक के अपने आचार्यकाल में विधिसंघ गच्छ की उल्लेखनीय आशातीत वृद्धि की। वे अपने समय के महान् वादी थे। उन्होंने दिगम्बर परम्परा के अजेय वादी कुमुदचन्द्र को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिग्दिगन्तव्यापिनी कीर्ति अर्जित की। जयसिंहसूरि ने अनेक क्षत्रिय वंशों को जैनधर्मावलम्बी

बना कर विधिपक्ष के अनुयायियों की संख्या में भी उल्लेखनीय अभिवृद्धि की। जयसिंहसूरि द्वारा की गई जिनशासन-सेवा का विशिष्ट उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थ में यथा स्थान किया जायगा।

जयसिंहसूरि के पश्चात् उनके विशिष्ट एवं विधिपक्ष गच्छ के तृतीय पट्टधर धर्मघोषसूरि, उनके पश्चात् विधिपक्ष के चौथे पट्टधर महेन्द्रसिंहसूरि और उनके पश्चात् विधिपक्षगच्छ के पांचवें पट्टधर आचार्यसिंह प्रभ भी महान् प्रभावक आचार्य हुए।

विधिपक्ष के पंचम पट्टधर सिंहप्रभसूरि ने सिंह के समान पराक्रम प्रकट करते हुए घर-द्वार-परिवार एवं सांसारिक प्रपंचों एवं मोह-ममत्व का परित्याग कर श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी। वि० सं० १३०६ में उन्हें विधिसंघ के पांचवें पट्टधर आचार्य के रूप में आचार्य पद पर अधिष्ठित किया गया।

सिंहप्रभसूरि अपने समय के लब्धप्रतिष्ठ महान् वादी थे। उन्होंने अनेक शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त कर विधि मार्ग (अंचलगच्छ) की प्रतिष्ठा में उल्लेखनीय अभिवृद्धि की। शत्रुंजय पर्वत पर उपलब्ध वि० सं० १६८३ के एक शिलालेख में उट्टंकित :—

"आसंस्ततः सकलसूरिशिरोऽवतंसाः,
सिंहप्रभाभिधसुसाधु-गुणप्रसिद्धाः ॥"

इस पद्य में सिंहप्रभसूरि को उनके समकालीन सभी आचार्यों में मुकुट के समान बताया गया है। इनके आचार्य पद पर आसीन होते ही 'वल्लभी शाखा" पूर्णतः विधिपक्ष में विलीन हो गई और उसके परिणामस्वरूप विधिपक्ष की सर्वतोमुखी प्रगति एवं ख्याति में अभूतपूर्व अभिवृद्धि हुई।

'मेरुतुंगीया लघुशतपदी' तथा 'मेरुतुंगीया पट्टावली' में इस प्रकार का भी उल्लेख पाया जाता है कि इतने बड़े विद्वान्, महावादी, प्रभावक एवं प्रतापशाली होते हुए भी सिंहप्रभसूरि शनैः शनैः शिथिलाचार की ओर उन्मुख होते-होते अन्ततोगत्वा एक प्रकार से चैत्यवासियों के समान नियतनिवासी बन गये। मेरुतुंगीया पट्टावली का वह उल्लेख इस प्रकार है :—

"क्रमेण १३०६ सम्वत्सरे स्तम्भतीर्थे संघेन सूरिपदार्पणपूर्वकं श्री महेन्द्र सूरिपट्टे स्थापिताः। ततस्ते यौवनाधिकारादिमदावलिप्ताः संयमगुणं विस्मृत्य चैत्यवासं विधाय परिग्रहमूर्च्छिताऽभवन्।"

यद्यपि भावसागरसूरि तक "श्री वीरवंशपट्टावली" में श्री सिंहप्रभसूरि के चैत्यवासी हो जाने अथवा घोर शिथिलाचार में लिप्त हो जाने का कोई उल्लेख

नहीं है तथापि इनके पट्टधर अजितसिंहसूरि के चैत्यवासियों के समान ही शिथिलाचारपूर्ण आचार अपना लेने विषयक उल्लेखों को देखने पर यही विश्वास किया जाता है कि शिथिलाचार की ओर उत्तरोत्तर आकृष्ट हुए अपने गुरु के पदचिन्हों पर चलकर विधिसंघ के छठे आचार्य अजितसिंहसूरि ने शिथिलाचार में चैत्यवासी परम्परा के आचार्यों को भी अपने पीछे छोड़ दिया था। इस सम्बन्ध में मेरुतुंगीया पट्टावली का एक उल्लेख प्रत्येक विज्ञ पाठक को चौंका देने वाला है। वह उल्लेख इस प्रकार है :—

"ततः क्रमेणाधीतशास्त्रास्ते श्री अजितसिंह यतयोऽपि पत्तने समायाताः तत्र तेऽपि चैत्यवासं विधाय श्री सिंहप्रभ सूरिभिः सह स्थिताः। तत्र निवासिनः सर्वेऽपि तन्तुवायकास्तेषामतीव भक्ति चक्रुः। तत्र क्रमेण श्री सिंहप्रभसूरीणां स्वर्गगमनानन्तरं ते श्री अजितसिंह यतयः सूरिपदार्पणपूर्वकस्तैस्तंतुवायकादिश्राद्धैस्तेषां पट्टे स्थापिताः। अथैकदा पूर्णचन्द्राभिधेनैकेन धनवता तत्रत्य तन्तुवायकेन तेषामुपदेशतः संघसहित श्री शत्रुंजयतीर्थयात्राकरणार्थं मनोरथः कृतः। ततस्तत्प्रार्थनया श्री अजितसिंह सूरयोऽपि तेन संघेन सह महताडम्बरेण स्वर्णमिश्रितरूप्यसुखपालस्था उपरिध्रियमाण सुपरिकर्मितरक्तकौशेयच्छत्राः पार्श्वद्वयोश्चामरैर्वीज्यमाना अग्रचलद्दंडधरादिपंचविंशतिसशस्त्रसुभटयुता श्रावकश्राविकागणैर्जयजयारावैर्वर्द्धाप्यमाना सौवर्णतानपरिकर्मितसहस्रटंकमूल्योपेत श्वेतोत्तरपटाच्छादितदेहाश्चेलुः।"[1]

अजितसिंहसूरि के इस चौदहवीं विक्रमीय शती के शिथिलाचार में और विधिपक्ष के संस्थापक रक्षितसूरि के परदादा गुरु वीरचन्द्रसूरि के विक्रम की ग्यारहवीं शती के शिथिलाचार में कितना साम्य है, इस पर तुलनात्मक दृष्टि से विज्ञों के विचारार्थ वल्लभी शाखा के नवमें आचार्य सोमप्रभसूरि (वि० सं० १०५१ में सूरिपद) और इनके समकालीन अंचलगच्छीय पट्टावलीकार के अनुसार श्रमण भ० महावीर के पैंतालीसवें पट्टधर वीरचन्द्रगणि का एक उल्लेख "अंचलगच्छ दिग्दर्शन" नामक ग्रन्थ से यहाँ यथावत्रूपेण उद्धृत कर रहे हैं :

"अथैकदा ते श्री वीरचन्द्रसूरयो विहरंतो निजपरिवारयुता प्रह्लादपुरे समायाताः। तदा वल्लभी शाखायाः सोमप्रभसूरयोऽपि विहरंतो निजपरिवारयुतास्तत्रैव समेताः। शंखेश्वरगच्छीयानां च तत्रैक एवोपाश्रयोऽभूत्। तत इमौ द्वावपि सूरीन्द्रौ निज निज परिवारयुतौ तत्रैकस्मिन्नेवोपाश्रये स्थितिं चक्रतुः। पंचमार्कप्रभावतः परस्परं वन्दननिमित्तस्तयोः परिवारे कलहो बभूव। गच्छश्रावका अपि द्विभागी भूताः। परस्परं स्पर्द्धां चक्रुः। समुद्राख्येनैकेन श्रेष्ठिना च श्री वीरचन्द्रसूरयस्ततो निजवाटके समानीताः। परिवारयुताश्च तेऽपि तत्र चतुर्मासीं

१. (क) मेरुतुंगीया (संस्कृत) पट्टावली।
(ख) देखिये अंचलगच्छ दिग्दर्शन, पृष्ठ १३७, १३८।

स्थिताः । ततस्तेन भक्तिमता श्रेष्ठिना सूरिभ्यस्तेभ्यो रूप्यनिर्मितः सुखपालश्छत्र-चामरयुतः प्राभृतीकृतः मोहाविर्भूतदृष्टिरागतः सूरिभिरपि तत्प्राभृतं स्वीकृतं । ततः समुद्रश्रावकोपरोधतस्ते वृद्धा वीरचन्द्र सूरयस्तत्सुखपालस्था एव जिनमंदिरादिषु गमनं चक्रुः । तत्स्पर्द्धया चैकेन सामन्ताख्येन धनवता श्रावकेण सोमप्रभसूरिभ्योऽपि स्वर्णरूप्यनिर्मितः सुखपालश्च्छत्रचामरयुतस्तथैव प्राभृतीकृतः कालानुभावतस्तेऽपि संयमाचारं विस्मृत्य सुखपालस्था एव गमनागमनं चक्रुः । एवं क्रमेण तयोर्महतोरपि सूरयो परिवारयतयोऽप्याहारादि शुद्धिमगवेषयन्तः शिथिलाचारं प्रतिपेदिरे श्रावका अपि दृष्टिरागमोहिताः परस्परं स्पर्द्धयाधाकर्मादिदोषोपपेताहारादिभिस्तान् प्रति-लाभयामासुः । एवमेक सामाचारीयुतयोरपि द्वयोः सूरयो परिवारे चारित्रशैथिल्यं प्रकटीबभूव । परस्परं च महती स्पर्द्धा संजाता ।"[1]

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण के अनन्तर भगवान् महावीर के धर्मसंघ में द्रव्य पूजा की परमोपासिका परम्पराओं ने जो विकृतियां उत्पन्न कीं, जो शिथिलाचार प्रारम्भ कर उसे पराकाष्ठा तक पहुँचाया उन विकृतियों और शिथिलाचार के उन्मूलन हेतु साहसी श्रमणोत्तमों ने समय-समय पर क्रियोद्धार के माध्यम से अभिनव धर्मक्रान्ति का बिगुल बजाया । उन्हीं साहसी श्रमणोत्तमों में से एक श्रमणोत्तम थे प्रातःस्मरणीय आर्य रक्षितसूरि । उन्होंने अपने लक्ष्य में उल्लेखनीय सिद्धि भी प्राप्त की । उनके पश्चात् उनके शिष्य जयसिंहसूरि, प्रशिष्य धर्मघोषसूरि एवं प्रप्रशिष्य महेन्द्रसूरि ने उनके द्वारा बताये हुए त्याग-तप-अपरिग्रह एवं विराग के पथ पर अग्रसर होते हुए विधिपक्ष गच्छ की प्रतिष्ठा में निरन्तर वृद्धि की । किन्तु क्रान्ति के सूत्रधार इस विधिपक्ष, अंचलगच्छ में भी रक्षितसूरि द्वारा किये गये क्रियोद्धार से पूर्व की शिथिलाचाराभिमुखी प्रवृत्ति पूरे वेग के साथ इसके ही पंचम पट्टधर से पुनः पल्लवित और प्रसरित होती ही गई ।

सुविहित कहे जाने वाले अधिकांश गच्छ भी शनैः शनैः चैत्यवासी परम्परा द्वारा आविष्कृत विकृतियों, विकारों एवं शिथिलाचार से भरपूर आगम विरोधी पथ के पथिक बनने लगे । इस सम्वन्ध में 'अंचलगच्छ दिग्दर्शन' में जो बड़े ही हृदयस्पर्शी उद्गार अभिव्यक्त किये गये हैं उन्हें अविकल रूप से तटस्थ विचारकों के लाभार्थ यहां प्रस्तुत किया जा रहा है :—

"१०२ । चैत्यवासीओ ना दुर्गुणोना असर थी पण सुविहित साधुओ अप्रभावित रही शक्या नहीं, ए अंगेना अनेक उदाहरणो इतिहास ने पाने नौंधाया छै । निःशंक रीते आ बधुं चैत्यवासियो ना जीवन व्यवहार नुं असरनोज प्रत्यक्ष फल हतुं ।

१. अंचलगच्छ दिग्दर्शन, पृष्ठ १३०

.......एवीज रीते अन्य सुविहित गच्छो मा पण चैत्यवासिओ ना केटलाक शिथिलाचारो प्रविष्ट थई वृद्धिगत थता जता हता।"[1]

सुविहित कही जाने वाली विविध गच्छीय अनेक श्रमण परम्पराओं पर चैत्यवासियों के आचार-विचार, व्यवहार, कार्यकलापों, परिपाटियों, मान्यताओं एवं कार्य प्रणालियों का व्यापक रूप से शनैः शनैः गहरा प्रभाव पड़ता गया, इस तथ्य के न केवल मौखिक ही अपितु लिखित पुष्ट प्रमाण भी आज जैन वाङ्मय में विपुल मात्रा में उपलब्ध होते हैं। इस विषय में एक अंचलगच्छीय विद्वान् द्वारा गहन शोध के पश्चात् प्रकट किये गये उद्गार प्रत्येक सत्यान्वेषी के लिए पठनीय, चिन्तनीय और मननीय हैं। अतः उन्हें यहां अक्षरशः उद्धृत किया जा रहा है।[2] यथा :—

"१०१. चैत्यवासीओ शिथिलाचारी हता, छतां एम ना मां अमुक उच्च गुणो जणावाया हता ऐ आपणे जोयुं। एम ना उच्च गुणो नुं अनुसरण करवा मां संवेगी पक्षो ए आनाकानी करी नथी, ए पण नोंधनीय छे। शतपदी मां आपण ने जणाववा मां आवे छे के अभयदेवसूरि जेवा समर्थ आचार्ये पण चैत्यवासीओ नी निंदा करी नथी, एटलुंज नहीं, परन्तु चैत्यवासी द्रोणाचार्य पासे पोता ना ग्रंथो नुं संशोधन पण कराव्युं छे। वर्द्धमानसूरि पहेलां चैत्यवासी हता। तेमणे चोर्यासी चैत्यो नी मालिकी छोडी त्यारे आगमवाद नुं वर्चस्व बध्युं। जैन निगमो मां थी आगमवादीओ ने ग्रहण करवा योग्य धार्मिक संस्कारो ना मंत्रो ने वर्द्धमानसूरिए "आचार दिनकर" ग्रन्थ बनावी ने ते मां गोठव्या तेमज अन्य आगमवादी आचार्यो ए निगमो मांथी सार भाग ने ग्रही अन्य ग्रन्थो रच्या ऐवी केटलाक नी मान्यता छे। शत्रुंजय रास ना कर्त्ता धनेश्वरसूरि चैत्यवासी हता एम पण कहेवाय छे।"

यही नहीं, जैन वाङ्मय में आज जितने भी प्रतिष्ठा कल्प उपलब्ध हैं, उनके पठन-चिन्तन एवं निदिध्यासन से प्रत्येक पूर्वाभिनिवेष-विमुक्त, क्षीर नीर विवेक बुद्धि, तटस्थ विज्ञ को हस्तामलकवत् स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो जाता है कि इन प्रतिष्ठा कल्पों पर चैत्यवासियों की ऐसी अमिट छाप अंकित है, जो समय-समय पर क्रान्तिकारी क्रियोद्धारकों द्वारा शताब्दियों तक किये गये अथक् प्रयासों के उपरान्त भी अद्यावधि नहीं मिट पायी है, नहीं धुल पाई है। उदाहरण के रूप में प्राचीन प्रभावक आचार्य पादलिप्तसूरि की निर्वाण कलिकान्तर्गत प्रतिष्ठा पद्धति को ही ले लिया जाय। उसमें प्रतिष्ठाचार्य की योग्यता, वेष-भूषा, आचार्यपद पर अभिषेक की विधि का विधान करते हुए लिखा है :—[3]

---

१. अंचलगच्छ दिग्दर्शन, पृष्ठ २६

२. अंचलगच्छ दिग्दर्शन, पृष्ठ २५, २६

३. निवन्ध निचय, पृष्ठ २०५ व २०६

प्रतिष्ठाचार्य की योग्यता

सूरिश्चार्यदेश समुत्पन्नः, क्षीणप्रायकर्ममलश्च, ब्रह्मचर्यादि गुणगणालंकृतः, पंचविधाचारयुतः, राजादीनामद्रोहकारी, श्रुताध्ययन संपन्नः, तत्वज्ञः, भूमि गृह वास्तु लक्षणानां ज्ञाता, दीक्षा कर्मणि प्रवीणः, निपुणः सूत्रपातादि विज्ञाने, स्रष्टा सर्वतो भद्रादिमंडलानाम्, असमः प्रभावे, आलस्य वर्जितः, प्रियंवदः, दीनानाथ वत्सलः, सरल स्वभावो, वा सर्व गुणान्वितश्चेति ।"

अर्थात् प्रतिष्ठाचार्य आर्यदेशजात, लघुकर्मा, ब्रह्मचर्यादि गुणोपपेत, पंचाचार सम्पन्न, राजादि सत्ताधारियों का अविरोधी, श्रुताभ्यासी, तत्वज्ञानी, भूमिलक्षण गृहवास्तुलक्षणादि का ज्ञाता, दीक्षाकर्म में प्रवीण, सूत्रपातादि के विज्ञान में विचक्षण, सर्वतोभद्रादि चक्रों का निर्माता, अतुल प्रभाववान्, आलस्य विहीन, प्रिय वक्ता, दीनानाथ वत्सल, सरल स्वभावी, अथवा मानवोचित सर्वगुण सम्पन्न हो ।"

आचार्य की वेश-भूषा के सम्बन्ध में इसी में आगे लिखा है कि प्रतिष्ठा के दिन :—

> "वासुकि निर्मोकलधुनी प्रत्यग्रवाससीदधानः करांगुलीविन्यस्त कांचनमुद्रिकः, प्रकोष्ठदेशनियोजित कनककंकणः, तपसा विशुद्ध देहो वेदिकायामुदङ्मुखमुपविश्य"[1]
>
> (निर्वाणकलिका १२ । १)

> अर्थात् बहुत महीन, श्वेत और कीमती नये दो वस्त्रधारक, हाथ की अंगुली में सुवर्ण मुद्रिका और मणिवन्ध में सुवर्ण का कंकण धारण किये हुए, उपवास से विशुद्ध शरीर वाला प्रतिष्ठाचार्य वेदिका पर उत्तराभिमुख बैठकर....

उपरोक्त महान् गुणों से विभूषित, कंचन-कामिनी के त्यागी श्रमणोत्तम के लिये सुवर्ण मुद्रिका को करांगुली में और कर में स्वर्ण कंकण धारण करने का विधान केवल हठाग्रही को छोड़कर अन्य कोई विज्ञ शास्त्रानुकूल सिद्ध नहीं कर सकता ।

प्रतिष्ठा विधि के इस उल्लेख पर क्षीर नीर विवेकपूर्ण दृष्टि से प्रकाश डालते हुए स्व० पंन्यास श्री कल्याणविजयजी महाराज ने लिखा है :—

> "............पादलिप्तसूरि ने जिस मुद्रा कंकण परिधान का उल्लेख किया है वह तत्कालीन चैत्यवासियों की प्रवृत्ति का प्रतिबिम्ब है । पादलिप्त

---

१. प्रबन्ध निचय, पृष्ठ २०७

वेसा, बहूहिं सीलव्वय गुणवेरमण पच्चक्खाण पोसहोववासेहिं चाउद्दसट्ठ-मुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुन्नं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असण पाण खाइम साइमेणं वत्थ पडिग्गह कंबल पाय-पुंछणेणपीढफलगसेज्जा संथारएणं ओसहभेसज्जेण य पडिलाभेमाणा अहापडिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ।।१०६।।"

स्वर्गीय पंन्यास श्री कल्याण विजयजी महाराज ने प्रतिमाधिकार के लेखक द्वारा दिये गये पाठ के सम्बन्ध में अपना अभिमत प्रकट करते हुए लिखा है :—

"प्रतिमाधिकार के लेखक ने ऊपर जो तुंगियानगरी के श्रावकों का वर्णन किया है, वह कहां का पाठ है यह कुछ नहीं लिखा । इसका कारण यही है कि सूत्र का नाम देने से सूत्र के पाठ के साथ इस पाठ का मिलान करके पाठकगण पोल खोल देते । दोनों पाठों का मिलान करके पाठकगण देखें कि लेखक ने तुंगियानगरी के श्रावकों के वर्णन में अपने घर का कितना मसाला डाला है ।"[1]

इस प्रकार के पाठों को देखकर इस प्रकार की आशंका उत्पन्न होती है कि चैत्यवासियों द्वारा रचित निगम नामक साहित्य जो वर्तमान काल में कहीं उपलब्ध नहीं होता, उन निगमों में से ही चैत्यवासियों से प्रभावित सुविहित कहे जाने वाले गच्छों के विद्वानों ने कुछ अंश या अधिकांश अथवा सारांश लेकर सुविहित परम्परा के कतिपय ग्रन्थों का निर्माण तो कहीं नहीं कर दिया ।

इसी प्रकार वन्दन प्रकीर्णक (वन्दण पइण्णय), पूजा परिण्णय, धर्म परीक्षा, विवाह चूलिया, बंग चूलिया आदि अनेक ग्रन्थों को देखने से स्पष्टतः यही प्रतीत होता है कि चैत्यवासियों के प्रभाव में आकर ही सुविहित परम्परा के विद्वानों ने इस प्रकार के अनेक नये ग्रन्थों का प्रणयन संकलन किया । इनमें से कतिपय ने तो इन अत्यन्त अर्वाचीन कृतियों को चतुर्दश पूर्वधर यशोभद्रसूरि द्वारा भद्रबाहु के शिष्य अग्निदत्त के समय २२ समुदाय के आदि पुरुषों की कल्पित उत्पत्ति का वर्णन करवाया है । विक्रम की बीसवीं शती की पूजा पयन्ना को चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु के नाम चढाकर लेखक ने पुरातन आचार्यों का वस्तुतः एक प्रकार से बड़ा अपमान किया है । इस प्रकार के कृत्रिम बनावटी अथवा नकली ग्रन्थों की सम्प्रदाय व्यामोह से रचना कर मध्ययुगीन विद्वानों, आचार्यों एवं साधुओं ने जैन वांङ्मय को एक प्रकार से विकृत कर सत्य के उपासकों को झमेले में डाल दिया, दिग्भ्रमित कर दिया ।

यदि समय-समय पर जन-जन के समक्ष जैनधर्म के आगमिक स्वरूप को प्रकाशित करने के लिये साहसी क्रियोद्धारकों ने क्रियोद्धार का अभियान नहीं

१. निबन्ध निचय, पृष्ठ ११४ व ११५

चलाया होता तो सम्भवतः आज आगमों में प्रतिपादित जैनधर्म का विशुद्ध स्वरूप विकृतियों के प्रचुर आवरणों से ठीक उसी प्रकार आच्छन्न दृष्टिगोचर होता जिस प्रकार कि सावन भादवा की काली घटाओं में सूर्य ।

इन सब तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर प्रत्येक मुमुक्षु विज्ञ सहज ही यह अनुभव करने लगेगा कि क्रियोद्धार करने वाले महापुरुषों का जैन धर्मानुयायियों पर असीम उपकार है ।

नवांगी वृत्तिकार अभयदेवसूरि के शिष्य श्री जिनवल्लभसूरि ने खरतरगच्छ में भगवान् महावीर के पंचकल्याणकों में गर्भापहार को भी कल्याणक में सम्मिलित कर षड्कल्याणक मनाने की मान्यता चित्तौड़ नगर में प्रचलित की ।

इस मान्यता को लेकर जैनधर्म संघ में वड़ा विवाद चला और तपागच्छीय उपाध्याय धर्मसागर ने तो जिनवल्लभसूरि को उत्सूत्र प्ररूपक, संघबाह्य, तीर्थ बाह्य, आदि उपाधियों से अलंकृत कर दिया ।

खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलि में उल्लिखित श्री जिनवल्लभसूरि के जीवन वृत्त के पर्यालोचन से यह स्पष्टतः विदित होता है कि उन्होंने विक्रम सम्वत् ११६७ की अषाढ सुदि छठ के दिन चित्तौड़ में श्री अभयदेवसूरि के पट्टधर पद पर अधिष्ठित किये जाने से पर्याप्त समय पूर्व ही भगवान् महावीर के षट्कल्याणक मनाने की परिपाटी प्रचलित कर दी थी । इस विषय में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिस समय जिन वल्लभसूरि ने षट्कल्याणक की प्ररूपणा के साथ भगवान् महावीर का गर्भापहार कल्याणक मनाने हेतु चित्तौड़ के जिन मन्दिर में जाने का प्रयास किया तो उन्हें मन्दिर में प्रविष्ट तक न होने दिया गया । अन्ततोगत्वा एक गृहस्थ के घर के ऊपरी खंड में चौवीस तीर्थंकरों का चित्रपट्टक रखकर जिनवल्लभ सूरि ने अपने भक्तों के साथ भगवान् महावीर का गर्भापहार नामक छठा कल्याणक मनाया ।

इसके विपरीत उन्हें अभयदेवसूरि के पट्ट पर अधिष्ठित करने का जो पट्ट महोत्सव किया गया वह चित्तौड़ दुर्ग की तलहटी में जिनवल्लभसूरि के उपदेश से उनके भक्तों द्वारा निर्मापित करवाये गये वीर विधि चैत्य में किया गया ।[1]

अंचलगच्छीया पट्टावली

श्रमण भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर सुधर्मा स्वामी से लेकर चौतीसवें पट्टधर तक खरतरगच्छ, तपागच्छ, अंचलगच्छ, आदि (उपकेशगच्छ को छोड़कर)

---

१. इदानीं श्री देवभद्रसूरिभिः श्रीमदभयदेवसूरिपट्टे श्री जिनवल्लभ गणिर्निवेशितः, सम्वत् ११६७ आषाढ़ शुदि ६, चित्रकूटे वीर विधि चैत्ये ।

—खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलि, पृष्ठ [illegible]

प्राय: सभी गच्छों की पट्टावलियों में क्रम संख्या एवं नामों में साधारण अथवा नगण्य अन्तर के अतिरिक्त पूर्णत: साम्यता दृष्टिगोचर होती है।

इससे आगे की अंचलगच्छ की पट्टावलि निम्नलिखित रूप में उपलब्ध होती है। यथा :—

३५. उद्योतनसूरि—इनसे बड़गच्छ का प्रादुर्भाव हुआ।
३६. सर्वदेवसूरि
३७. पद्मदेवसूरि
३८. उदयप्रभसूरि
३९. प्रभानन्दसूरि
४०. धर्मचन्द्रसूरि
४१. विनयचन्द्रसूरि
४२. गुणसागरसूरि
४३. विजयप्रभसूरि
४४. नरचन्द्रसूरि
४५. वीरचन्द्रसूरि
४६. जयसिंहसूरि
४७. आर्य रक्षितसूरि (अपर नाम विजयचन्द्रसूरि) अंचलगच्छ की सभी पट्टावलियों के अनुसार इन्हीं से विधि पक्ष, जो आगे चलकर अंचलगच्छ के नाम से विख्यात हुआ, की उत्पत्ति हुई।
४८. जयसिंहसूरि—इनके आचार्य काल में विधि पक्ष के श्रमण श्रमणी परिवार में अद्भुत वृद्धि हुई, जो इस प्रकार है, साधु २१२०, साध्वियां ११३०, आचार्य १२, वाचनाचार्य उपाध्याय २०, पंडित १७३, महत्तरा १ और प्रवर्त्तिनियां ८२ हुए।[1]
४९. धर्मघोषसूरि
५०. महेन्द्रसूरि—इन्होंने तीर्थमाला, शतपदी विवरण और गुरु गुणषट्-त्रिंशिका की रचना की।
५१. सिंहप्रभसूरि
५२. अजितसिंहसूरि—विक्रम सम्वत् १३१६ में आचार्य पद और १३३९ में स्वर्गवास।

---

१. श्री वीरवंश—विधि पक्ष पट्टावली, गाथा १०३ से १०५।

५३. देवेन्द्रसिंहसूरि

५४. धर्मप्रभसूरि

५५. सिंह तिलकसूरि

५६. महेन्द्रप्रभसूरि

५७. मेरुतुंगसूरि–इन्होंने विचार श्रेणि आदि अनेक ग्रन्थों की रचनाएं कीं। आपकी दीक्षा विक्रम सम्वत् १४१८ में, सूरिपद विक्रम सम्वत् १४२६ में तथा स्वर्गवास विक्रम सम्वत् १४७३ में हुआ।

५८. जयकीर्त्तिसूरि—आपने उत्तराध्ययन टीका, क्षेत्र समास टीका, संग्रहणी टीका आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की।

५९. जय केसरीसूरि

६०. सिद्धान्त सागरसूरि

६१. भावसागरसूरि—आपको विक्रम सम्वत् १५६० में आचार्यपद पर आसीन किया गया। २३१ गाथात्मका "श्री वीरवंश विधि पक्ष पट्टावलि" नामक आपकी कृति ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण कृति है।

६२. गुणनिधानसूरि

६३. धर्ममूर्त्तिसूरि

६४. कल्याणसागरसूरि

६५. अमरसागरसूरि

६६. विद्यासागरसूरि

६७. उदयसागरसूरि—आपकी आज्ञा से अंचलगच्छ की एक पट्टावली की अनुसन्धानपूर्वक रचना की गई।

६८. कीर्तिसागरसूरि

६९. पुण्यसागरसूरि

७०. राजेन्द्रसागरसूरि

७१. मुक्तिसागरसूरि

७२. रत्नसागरसूरि

७३. विवेकसागरसूरि—विक्रम सम्वत् १९२८ में आचार्यपद और १९४८ में स्वर्गवास।

७४. जिनेन्द्रसागरसूरि

अंचलगच्छ का अपर नाम अचल गच्छ

अंचलगच्छ को कतिपय शताब्दियों पूर्व से ही 'अचल गच्छ' के नाम से भी अभिहित किया जाता रहा है। विधि पक्ष अपर नाम अंचलगच्छ को चालुक्यराज कुमारपाल के शासन काल के अन्तिम दिनों में अचल गच्छ के नाम से भी लोक में अभिहित किया जाने लगा। इस सम्बन्ध में मेरुतुंगिया पट्टावली में एक बड़ा ही रोचक उल्लेख उपलब्ध होता है। मेरुतुंगिया (संस्कृत) पट्टावली में एतद् विषयक उल्लेख का सारांश इस प्रकार है—

"अणहिल्लपुर पट्टनाधीश चालुक्यराज कुमारपाल की आयु के अवसान से लगभग एक सप्ताह पूर्व विभिन्न गच्छों के श्रावकों ने, जो कि चौथ के दिन सांवत्सरिक पर्व मनाने के पक्षधर थे, कुमारपाल के समक्ष उपस्थित होकर कतिपय अन्य गच्छों के प्रति ईर्ष्यावशात् निवेदन किया—"राजन्! आप स्वयं और हम सब चतुर्थी के दिन सांवत्सरिक पर्व मनाते आये हैं। आपके राज्य में अन्यान्य गच्छों के कतिपय ऐसे साधु भी विद्यमान हैं जो पंचमी के दिन सांवत्सरिक पर्व मनाने के पक्षधर हैं। पर्वाधिराज सांवत्सरिक पर्व आने ही वाला है। आप जैसे परमार्हत धर्मनिष्ठ राजा के राज्य में सांवत्सरिक पर्व के सम्बन्ध में इस प्रकार का धार्मिक मान्यता भेद वस्तुतः शोभास्पद नहीं है।"

"महाराजा कुमारपाल एक अटूट आस्थावान् जैन धर्मावलम्बी था। उसे भी पर्वाराधन विषयक मतभेद अनुचित प्रतीत हुआ। भलीभांति सोच-विचार के पश्चात् महाराजा कुमारपाल ने तत्काल एक राजाज्ञा प्रसारित की कि पंचमी के दिन सांवत्सरिक पर्व का आराधन करने वाले साधु आज से ही मेरे राज्य के पट्टनगर पाटण में निवास नहीं कर सकेंगे। अतः आज ही वे पाटण से बाहर अन्यत्र चले जांय।"

"इस प्रकार की राजाज्ञा के प्रसारण के प्रश्चात् पंचमी के दिन सांवत्सरिक पर्व का आराधन करने वाले विभिन्न गच्छों के साधु पाटण से विहार कर अन्यत्र चले गये।"

"विधिपक्ष (अंचलगच्छ) के महान् प्रभावक आचार्य जयसिंहसूरि भी उस समय पाटण में ही विद्यमान थे। उन्होंने पाटण में ही रहकर पंचमी के दिन सांवत्सरिक पर्व के आराधन के उद्देश्य से बड़ी ही सूझ-बूझ से काम लिया। उन्होंने अपने एक वाक्पटु एवं वाचाल श्रावक को महाराजा कुमारपाल के पास भेजकर यह सन्देश पहुंचाया—"हमारे गुरु पंचमी के दिन ही सांवत्सरिक पर्व का आराधन करने वाले हैं। कुछ ही दिनों पूर्व उन्होंने आवश्यक सूत्र पर व्याख्यान देना प्रारम्भ कर दिया था। व्याख्यान

में वे सर्व प्रथम नमस्कार मंत्र पर विवेचन करते हैं। आपकी आज्ञा प्रसारित हुई है कि पंचमी को पर्वाराधन करने वाले साधु पाटण से विहार कर अन्यत्र चले जांय। हमारे गुरुदेव ने आप से ही पुछवाया है कि वे नमस्कार मन्त्र पर विवेचन विवरण पूर्णतः सम्पन्न करने के पश्चात् पाटण से विहार करें अथवा नमस्कार मन्त्र के विवरण-विवेचन को अधूरा छोड़कर ही पाटण से बाहर चले जांय।"

"यह सब कुछ सुनकर कुमारपाल सहसा क्रुद्ध हुआ। किन्तु उसी क्षण वह बड़ी दुविधा में फंस गया। एक ओर तो राजाज्ञा की परिपालना का प्रश्न और दूसरी ओर महामन्त्र नमस्कार मन्त्र के अनुष्ठानपरक विवेचन में भंग का धर्म संकट। अपनी इस दुविधा के समुचित समाधान के लिये कुमारपाल अपने आराध्य गुरुदेव आचार्य हेमचन्द्र की सेवा में उपस्थित हुआ। उसने राज्यादेश एवं जयसिंहसूरि के संदेश विषयक विवरण प्रस्तुत करने के पश्चात् हेमचन्द्रसूरि से निर्देश प्रदान करने की प्रार्थना की कि इस प्रकार की दुविधाजनक स्थिति में वह क्या करे।"

"बड़े ध्यान से राजा की बात सुनने के पश्चात् आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि ने कहा—"राजन् ! विधिपक्ष के आचार्य जयसिंहसूरि वस्तुतः बड़े-बड़े दिग्गज तुल्य दिगाकर वादियों को पराजित करने वाले जिनशासन प्रभावक मंत्र तन्त्र आदि विधाओं में निष्णात उद्भट विद्वान् हैं। अतः उनका कोपभाजन बनना किसी के लिये किंचित्मात्र भी श्रेयस्कर नहीं है।"

"आचार्य हेमचन्द्र की बात सुनकर महाराजा कुमारपाल तत्काल जयसिंहसूरि के पास उपाश्रय में उपस्थित हुआ। उसने राजादेश सम्बन्धी वस्तु स्थिति रखते हुये जयसिंहसूरि से क्षमा याचना की। जयसिंहसूरि ने कुमारपाल से कहा—"राजन् ! समभाव ही सच्चे श्रमण का सबसे बड़ा धन है। आप पर क्रुद्ध होने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। किन्तु धर्म की आगमिक मूल मान्यताओं के सम्बन्ध में आपके अन्तर में जो विचार विपर्यास उत्पन्न हुआ है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि अब सुनिश्चित रूप से आपकी आयु स्वल्प ही अवशिष्ट रह गई है। ऐसी स्थिति में अब तुम्हें धर्म कार्यों में विशेष रूप से संलग्न हो जाना चाहिये।"

"जयसिंहसूरि की इस भविष्यवाणी को सुनकर महाराजा कुमारपाल तत्काल हेमचन्द्राचार्य की सेवा में लौटा और जयसिंहसूरि के साथ हुई वातचीत का पूरा विवरण कह सुनाया। निमित्त शास्त्र के विद्वान् आचार्य हेमचन्द्र ने भी जयसिंहसूरि के भविष्य कथन पर विचार किया और उसे अक्षरशः सत्य पाया। इन्होंने कुमारपाल से कहा—"राजन् ! जयसिंहसूरि

वस्तुतः ज्योतिष शास्त्र के पारदृष्वा विद्वान् हैं। उन्होंने जो कुछ कहा है वह सत्य है। अब आपको वस्तुतः आत्म कल्याण हेतु अहर्निश धर्म की आराधना करनी चाहिये।"

"तदनन्तर राजा धर्माराधन में संलग्न हो गया और इस प्रकार आत्म साधना करते-करते सातवें दिन परलोकवासी बन गया।"

"इस प्रकार पंचमी के दिन सांवत्सरिक पर्वाराधन के पक्षधर कतिपय गच्छों के साधु तो पाटण से विहार कर अन्यत्र चले गये। किन्तु विधि पक्ष के आचार्य जयसिंहसूरि अपनी अद्भुत सूझबूझ के बल पर पाटण में ही अचल बने रहे। इस कारण उनके विधि पक्ष गच्छ का नाम 'अचल-गच्छ' भी लोक में प्रचलित हो गया।"

इतिहास की कसौटी पर कसने के अनन्तर राजा कुमारपाल का आचार्य हेमचन्द्र से पूर्व परलोकवासी होना खरा सिद्ध नहीं होता। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि विक्रम सम्वत् १२२६ में हेमचन्द्राचार्य स्वर्गस्थ हुए और राजा कुमार-पाल का देहावसान उनके दिवंगत होने के ६ माह पश्चात् वि० सं० १२३० में हुआ। इसके अतिरिक्त इस मेरुतुंगीया पट्टावली के अतिरिक्त अन्य किसी पट्टावली में अचलगच्छ नामाभिधान विषयक इस घटना का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। केवल भीमसी माणेक गुरु पट्टावली में थोड़े हेरफेर के साथ इस घटना का उल्लेख मिलता है। इसके उपरान्त भी जैसा कि पहले खरतरगच्छ के परिचय में बताया जा चुका है, कुमारपाल के राज्यकाल में पौर्णमिक व खरतर आदि कतिपय गच्छों के आचार्यों के पाटण में प्रवेश को राजाज्ञा द्वारा निषिद्ध कर दिया गया था, तद-नुसार सम्भव है कि इस प्रकार की राजाज्ञा के उपरान्त भी जयसिंहसूरि अपने बुद्धि कौशल से पाटण में ही अवस्थित रहे हों और उनके इस प्रकार अचल रहने के परिणामस्वरूप उनके विधि पक्ष गच्छ का अपर नाम 'अचलगच्छ' भी प्रचलित हो गया हो।

—: :—

आगमिकगच्छ

आगमिक गच्छ की उत्पत्ति भी क्रियोद्धार के लिये किये गये एक प्रयास के रूप में हुई। बारहवीं शताब्दी के अन्त और तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ काल में जिस समय चन्द्र गच्छ में शिथिलाचार एवं अनागमिक मान्यताओं का प्राबल्य बढ़ गया उस समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के द्वितीय दशक के प्रारम्भ में मुनि श्री शीलगणसूरि ने क्रियोद्धार कर विधिपक्ष अपर नाम आगमिक गच्छ की स्थापना की। आगमिक गच्छ की स्थापना करने के परिणामस्वरूप श्री शीलगणसूरि को आगमिक गच्छ का प्रथम आचार्य माना गया है।

आगमिक गच्छ चन्द्रकुल अथवा चन्द्र गच्छ की ही एक शाखा है। यह तथ्य आगमिक गच्छ की पट्टावलि के निम्न श्लोकों से प्रकट होता है।

श्रीमद्वीर जिनेन्द्र पट्टकमलालंकारहार: स्फुरन्,
सूत्रोद्भूतगुणावली परिगत: स्वामी सुधर्माजनि।
तद्वंशे शत संख्य सूर्यमुकुटश्चन्द्रो मुनीन्द्रोऽभवत्,
यस्माद् भूरिगुणा: मुनीश्वरगणाकीर्णा जयन्ति क्षितौ ।१।
चान्द्रेकुले सुविमले महिमानिधान सूरिर्बभूव,
भुविशीलगणाभिधान।
यो दु:षमा विषम पंकनिमग्नमुच्चै,
जैनागमोक्त विधिरत्नमिहोद्दधार ।।२।।

अर्थात् श्रमण भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर गणधर सुधर्मा स्वामी की परम्परा में महामुनि चन्द्र हुए। उन चन्द्र मुनि से चन्द्रकुल प्रचलित हुआ और उसमें अनेक आचार्यों के अनेक गण हुए जो वर्तमान में विद्यमान हैं।

उसी विमल चन्द्रकुल में शीलगण नामक एक महा महिमाशाली आचार्य हुए उन शीलगणसूरि ने दुषमा नामक पंचम आरक के प्रभाव से शिथिलाचार एवं विकृतियों के दलदल में फंसे हुए आगमोक्त विधि मार्ग का उद्धार किया।

(१) **शीलगणसूरि :** चन्द्रकुल से उत्पन्न हुए आगमिक गच्छ के संस्थापक शीलगणसूरि का जीवन परिचय निम्नलिखित रूप में उपलब्ध होता है :—

"भारत के पूर्वांचल में कन्नौज नामक राज्य के अधिपति महाराजा भट्टा-निक के कुमार नामक एक राजपुत्र था। कुमार राजकुमारों के योग्य लक्षण,

साहित्य, छन्द, अलंकार, धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त कर एक समय आखेट के लिए जंगल में गया। शिकार की खोज में घूमते-घूमते कुमार की दृष्टि एक हरिणी पर पड़ी। उसने शर सन्धान कर हरिणी को लक्ष्य कर बाण चलाया। बाण के प्रहार से हरिणी पृथ्वी पर गिर पड़ी। हरिणी गर्भवती थी और उसका प्रसवकाल सन्निकट था। तीर के प्रहार से नीचे गिरते ही उसने एक बच्चे को जन्म दिया और वह अपने नवजात शिशु को छटपटाता छोड़कर पंचत्व को प्राप्त हो गई।

दृश्य बड़ा ही करुण था। कुमार ने देखा कि हरिणी तड़प रही है। अपने सद्यः प्रसूत शिशु की ओर मुग्ध दृष्टि से देखती हुई और कभी उसकी (कुमार की) ओर कातर दृष्टि से देखती हुई आंखों से अश्रुओं की गंगा यमुना प्रवाहित कर रही है। उधर उसी क्षण उत्पन्न हुआ छोटा सा निरीह मृग शावक भी छटपटा रहा है। इस हृदयद्रावक करुण दृश्य को देखकर राजकुमार की आंखों के सम्मुख अन्धेरा छा गया। उसके अन्तर्मन में पश्चात्ताप की भीषण ज्वालाएं जल उठीं। उसके कण्ठों से हठात् ही हृदय के उद्‌गार प्रस्फुटित हो उठे—"धिक्कार है मुझे जो मैंने इन दो निरीह प्राणियों की एक ही तीर में हत्या कर दी। मैं इस घोर अति चिक्कण दुष्कर्म के पाप से कैसे विमुक्त हो सकता हूं।" इस प्रकार मन ही मन इस घोर पाप का प्रायश्चित्त करने हेतु तीर्थ यात्रा का दृढ़ संकल्प कर म्लान मना राजकुमार राजप्रासाद में लौटा। उसने बिलखते हुए अपने पाप की सारी घटना अपने पिता के सम्मुख रक्खी। महाराज भट्टानिक ने कुमार को सान्त्वना देते हुए तत्काल हरिणी और हरिणी के बच्चे की सोने की मूर्तियां बनवाईं और ब्राह्मणों को बुलवा कर कुमार के उस पाप के प्रायश्चित्त स्वरूप उन दोनों स्वर्ण मूर्तियों के टुकड़े-टुकड़े कर वह सोना ब्राह्मणों में बांट दिया। इस प्रकार के प्रायश्चित्त के उपरान्त भी कुमार के अन्तर्मन में किंचित्मात्र भी सन्तोष नहीं हुआ। वह अर्द्ध रात्रि में वेष बदल कर किसी को किसी भी प्रकार की बात न कहकर चुपचाप नंगे पांवों राजप्रासाद से बाहर निकल निर्जन वन की ओर प्रस्थित हो गया।

इस प्रकार वह कई दिनों तक निरुद्देश्य निरन्तर चलता ही रहा। एक दिन वह राजकुमार स्थलवती भूभाग के 'कोडम घूर्टक' नामक नगर में पहुंचा। वहां भगवान् महावीर के मन्दिर में भगवान् की स्तुति करते हुए एक श्रावक को उसने देखा। राजकुमार ने उस श्रावक से उसके द्वारा बोली गई स्तुति का अर्थ पूछा। जब वह श्रावक कुमार को उस स्तुति का भली-भांति अर्थ न समझा सका तो उसने कहा—"हमारे गुरु देव बड़े विद्वान् हैं। वे यहीं पास में हैं। वे आपको इसका अर्थ अच्छी तरह से समझा देंगे। यदि आपकी इच्छा हो तो उनके पास चलिये।"

कुमार उस श्रावक के साथ हो लिया और सिद्ध सिंह नामक आचार्य के पास पहुंचा। आचार्य को नमस्कार करने के अनन्तर कुमार ने उस स्तुति का उनसे अर्थ पूछा। कुमार की सौम्य आकृति से आचार्य सिद्ध सिंह ने तत्काल समझ लिया

कि यह कोई पुण्यशाली भव्य प्राणी है। आचार्यश्री ने उस स्तुति का अर्थ समझाने के पश्चात् कुमार को सच्चे धर्म का उपदेश दिया। भगवान् महावीर की स्तुति का अर्थ एवं धर्मोपदेश को सुनकर राजकुमार को प्रतिबोध प्राप्त हुआ और उनके पास श्रमण धर्म में दीक्षित हो गया। दीक्षित होने के पश्चात् कुमार ने बड़ी ही निष्ठा और लगन के साथ अपने आचार्यदेव के पास आगमों का अध्ययन किया। मुनि कुमार बड़ा ही कुशाग्र बुद्धि एवं अध्यवसायी था। उसने आगमों के अध्ययन के साथ-साथ अनेक विद्याओं में स्वल्प काल में ही पारीणता प्राप्त की और उसकी गणना उच्च कोटि के आगमज्ञ विद्वानों में की जाने लगी।

एक दिन कुमार मुनि ने अपने गुरु सिद्धसिंहसूरि की सेवा में उपस्थित हो अति विनम्र शब्दों में जिज्ञासापूर्ण निवेदन किया :—"भगवन्! सर्वज्ञ प्रणीत आगमों में जो श्रमणाचार का वर्णन किया गया है उसके अनुरूप आज श्रमण वर्ग में निर्दोष विशुद्ध श्रमणाचार दृष्टिगोचर नहीं होता इसका क्या कारण है?"

अपने शुद्ध एवं सरलमना आत्मार्थी तथा उद्भट विद्वान् शिष्य के मुख से इस प्रकार के प्रश्न को सुनकर आचार्य श्री सिद्धसिंह सहसा चौंक उठे। तदनन्तर प्रकृतस्थ हो उन्होंने कहा—"वत्स! दुःषमा काल के प्रभाव से साम्प्रत काल में जिस प्रकार का श्रमणाचार पूर्व की पट्ट परम्परा से चला आ रहा है उसी प्रकार के श्रमणाचार का पालन किया जा रहा है। आगम में जिस प्रकार की क्रिया का श्रमण के लिये उल्लेख है उस प्रकार की क्रिया का पालन वर्तमान काल में नहीं होता।"

कुमार मुनि ने प्रश्न किया :—"आचार्यदेव! जब आज के समय में शास्त्र सम्मत विशुद्ध श्रमणाचार का एवं साधु के लिये परमावश्यक निर्दोष निरतिचार क्रियाओं का पालन साधुओं द्वारा नहीं किया जा रहा है तो इस प्रकार की शिथिल और सदोष साधुक्रियाओं का पालन करने वाले श्रमण आराधक हैं अथवा विराधक?"

आचार्यश्री सिद्धसिंह ने कहा :—"वत्स! वास्तविकता तो यह है कि जो श्रमण-श्रमणी वर्ग आगमोक्त क्रिया करने वाले और निरतिचार संयम का पालन करने वाले हैं वे आराधक हैं और इसके विपरीत जो आगमों में प्रतिपादित विशुद्ध श्रमणाचार का पालन नहीं करते, "सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं"—इस प्रकार की प्रतिज्ञा सिद्ध अरिहन्त आदि पंच परमेष्ठि एवं चतुर्विध संघ के समक्ष करके भी आगम वचन की अवहेलना कर अपने श्रमण जीवन में अतिचार लगाते हैं, वे वस्तुतः विराधक ही हैं।"

अपने आचार्य देव के मुख से आराधक और विराधक की आगम प्रतिपादित व्याख्या सुनकर कुमार मुनि ने उन्हें सांजलि शीश झुकाते हुए वन्दन किया

और अति विनम्र शब्दों में अपने आन्तरिक उद्‌गार अभिव्यक्त करते हुए कहा :— "भगवन् ! मैं आगम प्रतिपादित विशुद्ध श्रमणाचार का निरतिचार पालन करते हुए शासन नायक के आराधक श्रमण रूप में अपना जीवन व्यतीत करना चाहता हूं। आप मुझे आज्ञा के साथ आशीर्वाद दीजिये कि मैं आराधक के रूप में अपने जीवन को सफल बनाने में सक्षम हो सकूं।"

आचार्यश्री सिद्धसिंह ने मुनि कुमार को उसकी इच्छा के अनुरूप आज्ञा प्रदान करते हुए कहा :—"वत्स ! तुम एक सफल आराधक के रूप में अपना जीवन व्यतीत करते हुए आगम प्रतिपादित श्रमण मर्यादाओं की पुनः प्रतिष्ठापना करो।"

अपने गुरु की आज्ञा प्राप्त कर कुमार मुनि ने अडसठ अक्षरों वाले मन्त्र की आराधना, जीयभयाणं तक शक्रस्तव का पाठ, तीन स्तुति पूर्वक देववन्दन, पाक्षिक, चातुर्मासिक, पर्यूषण पर्व, आगमोक्त प्रमाण से करने, श्रावक सामायिक करते समय ईर्या पथिक का प्रथम उच्चारण करे इत्यादि प्रतिज्ञाएं कर श्रेणि, प्रतर, वर्ग, महाभद्र, सर्वतोभद्र आदि जो आगमोक्त विधान हैं, उनके अनुरूप आचरण एवं उपदेश करने की प्रतिज्ञा कर अपने गुरु के उपाश्रय से विहार किया। वे अप्रतिहत विहार करते हुए स्वयं विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने लगे। उन्होंने विहार क्रम से स्थान-स्थान पर घूम कर आगमोक्त विधि से उपदेश देते हुए जिन शासन का प्रचार-प्रसार करना प्रारम्भ किया।

उन्हीं दिनों पूर्णिमा गच्छ के आचार्य श्री देवभद्रसूरि के उपदेश से यशोदेव नामक एक भव्य प्राणी प्रतिबुद्ध हुआ। उसने माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर सम्वत् ११९६ में देवभद्रसूरि के पास दीक्षा ग्रहण की। अपने गुरु के पास शास्त्रों के अध्ययन पूर्वक सभी विद्याओं में यशोदेव मुनि ने निष्णातता प्राप्त की। शास्त्रों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर लेने पर मुनि यशोदेव ने भी अपने गुरु देवभद्रसूरि से कुमार मुनि की ही भांति प्रश्न किया :—"भगवन् ! आज सर्वत्र आगम के विपरीत आचरण क्यों हो रहा है ?" उत्तर में देवभद्रसूरि ने कहा :—"वत्स ! काल प्रभाव के परिणामस्वरूप इस प्रकार के आचरण करने वालों का बाहुल्य होने से ही श्रमणाचार में शैथिल्य का प्राचुर्य है। इस समय आगमोक्त विधि से श्रमणाचार का पालन करना कठिन है।"

अपने गुरु की इस प्रकार की बात सुनकर यशोदेव मुनि ने भी एक सच्चे आराधक के रूप में आगमोक्त विधि से अपने जीवन को सफल करने का निश्चय कर लिया और विक्रम सम्वत् १२१२ में अपने गुरु से आचार्य पद प्राप्त कर पृथकशः विचरण करना प्रारम्भ कर दिया। आचार्य यशोदेव ने विक्रम सम्वत् १२१४ में आगम पक्ष की स्थापना की।[1] इस प्रकार आगमिक पक्ष का प्रचार-

१. आगमिक गच्छ पट्टावली, श्लोक संख्या २

प्रसार करते हुए आचार्य यशोदेव स्थान-स्थान पर भव्यों को आगमिक मार्ग पर आरूढ़ करने लगे।

एक दिन एक स्थान पर कुमारगणि से उनका मिलन हुआ। कुमारगणि और यशोदेव के बीच आगमोक्त विधि-विधानों के सम्बन्ध में परस्पर सौहार्दपूर्ण वार्तालाप हुआ। आचार्य यशोदेव कुमारगणि के तपोपूत जीवन और आगमों के तलस्पर्शी ज्ञान से बड़े ही प्रभावित हुए। कुमारगणि आचार्य यशोदेव से श्रमण पर्याय में श्रेष्ठ थे। अतः उन्होंने कुमारगणि को आचार्यपद पर अधिष्ठित किया और उनका नाम शीलगणसूरि रक्खा। तदनन्तर शीलगणसूरि और यशोदेव दोनों साथ-साथ विचरण करते हुए अनेक भव्यों को आगम विधि में स्थापित कर आगमिक पक्ष की अभिवृद्धि करने लगे।

इसके बाद इस पट्टावली में बताया गया है कि एक दिन शीलगणसूरि और यशोदेव विचरण करते हुए अणहिल्लपुर पट्टण में पहुंचे।[1] वे वहां भगवान् अरिष्टनेमि के प्रासाद में देव वन्दन हेतु गये। उस समय उस मन्दिर में हेमचन्द्रसूरि के साथ महाराज कुमारपाल भी आये हुए थे। महाराज कुमारपाल ने शीलगणसूरि और यशोदेव गणि को तीन स्तुति से देव वन्दन करते देख कर आचार्य श्री हेमचन्द्र से साश्चर्य प्रश्न किया—'प्रभो! यह किस प्रकार की देव वन्दना है? क्या यह विधिपूर्वक है?"

इस पर हेमचन्द्रसूरि ने उत्तर दिया—"राजन्! यह आगमिक विधि है अर्थात् आगम सम्मत विधि है।"

उसी समय से शीलगणसूरि और यशोदेव गणि के विधि पक्ष की ख्याति लोक में आगमिक पक्ष के रूप में प्रचलित हो गई। इस घटना से प्रकट होता है कि कुमारपाल भूपाल के समक्ष हेमचन्द्रसूरि द्वारा शीलगणसूरि की वन्दन विधि को आगमिक विधि बताये जाने के परिणामस्वरूप इनके गच्छ की ख्याति आगमिक गच्छ के नाम से हुई।

शीलगणसूरि ने अपने जीवनकाल में आगमिक पक्ष का देश के विभिन्न भागों में विचरण कर प्रचार-प्रसार किया और चिरकाल तक विशुद्ध संयम का पालन कर वे समाधिपूर्वक स्वर्गस्थ हुए।

यहां एक बात विचारणीय है—इस पट्टावली में यशोदेवसूरि द्वारा सम्वत् १२१४ में आगम पक्ष की स्थापना का उल्लेख है और यह भी उल्लेख है कि जिस

---

१. आगमिक गच्छ की पट्टावली में शीलगणसूरि और यशोदेव के स्थान पर देवभद्र का नामोल्लेख है, पर यह लिपिक की गलती हो सकती है क्योंकि देवभद्र पूर्णिमागच्छ के आचार्य थे।

समय अणहिल्लपुर पट्टण नगर में स्थित भगवान् अरिष्टनेमि के मन्दिर में आचार्य श्री हेमचन्द्र और परमार्हत महाराज कुमारपाल देव वन्दन के लिये आये हुए थे उसी समय शीलगणसूरि और यशोदेव भी वन्दन करने के लिये पहुंचे। उन दोनों ने तीन स्तुति से देव वन्दन किया। इस पर महाराज कुमारपाल ने हेमचन्द्रसूरि से प्रश्न किया कि वन्दन की यह कौन-सी विधि है। इस पर आचार्यश्री हेमचन्द्र ने कुमारपाल से कहा कि यह जो देव वन्दन किया जा रहा है यह आगमिक विधि से किया जा रहा है। हेमचन्द्रसूरि के मुख से आगमिक विधि का देव वन्दन है यह सुनने के पश्चात् उसी दिन से शीलगणसूरि के गच्छ को लोग आगमिक गच्छ के नाम से अभिहित करनें लगे। इसके विपरीत अन्यान्य सभी पट्टावलियों में अनेक स्थानों पर इस प्रकार का उल्लेख है कि आगमिक गच्छ की स्थापना विक्रम सम्वत् १२५० में हुई।

इस प्रकार की स्थिति में यदि महाराज कुमारपाल और आचार्य हेमचन्द्र के पारस्परिक प्रश्नोत्तर से शीलगणसूरि के गच्छ का नाम आगमिक गच्छ पड़ा हो तो उस दशा में अन्य गच्छीय विभिन्न पट्टावलियों के उल्लेख की असंगतता स्वतः ही सिद्ध हो जाती है क्योंकि आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरि का स्वर्गारोहण विक्रम सम्वत् १२२९ में और परमार्हत कुमारपाल का देहावसान विक्रम सम्वत् १२३० में ही हो गया था।

इस प्रकार की स्थिति में आगमिक गच्छ की स्थापना विक्रम सम्वत् १२१४ में हुई अथवा उसके पश्चात् विक्रम सम्वत् १२५० में यह प्रश्न भी अग्रेतर शोध का विषय बन जाता है। आशा है इस पर शोधार्थी विद्वान् अग्रेतर खोज कर प्रमाण पुरस्सर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

इस पट्टावली के उल्लेख के सम्बन्ध में दूसरी विचारणीय बात यह है कि इसमें देवभद्रसूरि का उल्लेख करते हुए यह बताया गया है कि एक दिन जिस समय हेमचन्द्रसूरि और परमार्हत कुमारपाल पत्तन नगरस्थ भगवान् अरिष्टनेमि के मन्दिर में देववन्दन के लिये आये हुए थे उस समय देवभद्रसूरि भी उसी मन्दिर में देव वन्दन के लिये पहुंचे और उन्होंने तीन स्तुतिपूर्वक भगवान् अरिष्टनेमि का वन्दन किया। कुमारपाल द्वारा हेमचन्द्रसूरि से यह प्रश्न किये जाने पर कि ये (देवभद्रसूरि) वन्दन कर रहे हैं यह किस प्रकार का देववन्दन है, हेमचन्द्रसूरि ने उत्तर में कहा—"यह वन्दन आगमिक विधि से किया जा रहा है।" बस उसी दिन से इस गच्छ का नाम लोक में आगमिक गच्छ के नाम से प्रख्यात हो गया। इस सम्बन्ध में जैसा कि पहले बताया जा चुका है किसी लिपिक द्वारा त्रुटि हो गई है और सम्भवतः उसने शीलगणसूरि अथवा यशोदेव के नाम के स्थान पर देवभद्रसूरि का नामोल्लेख कर दिया है। इस सम्बन्ध में यह भी विचारणीय है कि शीलगणसूरि के पश्चात्

उनके शिष्य आगमिक गच्छ के दूसरे आचार्य देवभद्रसूरि हुए। सम्भवतः उन्हीं देवभद्रसूरि का उल्लेख यहां किया गया हो और इस प्रकार की स्थिति में पट्टावलीकार ने जो देवभद्रसूरि का देव वन्दन के सम्बन्ध में उल्लेख किया है वे सम्भव है शीलगणसूरि के पट्टधर आगमिक पक्ष के द्वितीय आचार्य देवभद्रसूरि हों। किन्तु इस सम्बन्ध में ठोस प्रमाण के अभाव में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि पट्टावली में शीलगणसूरि के स्वर्गारोहण का और उनके पट्टधर देवभद्रसूरि के आचार्यपद पर आसीन होने का समय उल्लिखित नहीं है।

शीलगणसूरि के स्वर्गारोहण के अनन्तर आगमिक गच्छ के दूसरे आचार्य श्री देवभद्रसूरि हुए।

२. श्री देवभद्रसूरि :—आगमिक गच्छ के द्वितीय आचार्य देवभद्रसूरि के सम्बन्ध में आगमिक गच्छ की इस पट्टावली में निम्नलिखित उल्लेख है :—

श्री आगमोक्त विधिवर्त्मनि दुर्गमेऽत्र,
यस्यैककस्य चलतोऽजनि यः सहायी।
सारागमार्थ विधिवत् घटनापटीयान्,
श्री देवभद्रगुरुरभ्युदयाय तस्मात् ॥३॥

अर्थात् सर्वज्ञप्रणीत आगमों में प्रतिपादित विधिमार्ग के पथ पर चलने में शीलगणसूरि के जो प्रबल सहायक हुए वे सकल आगमों के मर्म के ज्ञाता और विधि मार्ग को संसार के समक्ष प्रकट करने में अतीव निपुण देवभद्रसूरि इस आगमिक गच्छ के द्वितीय आचार्य हुए।

आगमिक गच्छ के इन द्वितीय आचार्य देवभद्रसूरि के जीवन के विषय में न तो पट्टावली में ही और न अन्यत्र ही इससे अधिक परिचय उपलब्ध होता है कि वे विधि मार्ग अथवा आगमिक गच्छ के द्वितीय आचार्य थे। इसी कारण इनके गृहस्थ पर्याय, मुनि पर्याय, आचार्यपद पर्याय एवं स्वर्गारोहण काल के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इस श्लोक के तृतीय चरण में इन्हें सकल आगमों का मर्मज्ञ और विधिमार्ग का प्रचार करने में परम निष्णात बताया है। इससे यह कहा जा सकता है कि वे अपने समय के प्रमुख विद्वान् एवं जिनशासन के प्रभावक आचार्य थे। देवभद्रसूरि के स्वर्गारोहण के पश्चात् आगमिक गच्छ के तीसरे आचार्य धर्मघोषसूरि हुए।

३. श्री धर्मघोषसूरि :—आगमिक गच्छ के तृतीय पट्टधर धर्मघोषसूरि के सम्बन्ध में आगमिक गच्छीया पट्टावली में निम्नलिखित उल्लेख है :—

ततः श्रुताम्भोनिधिशीतभानु—
गोभिर्विभिन्दन् नितरां तमांसि।

निरस्तदोष कृतपुण्यपोष,
श्री धर्मघोष स्वगणं पुपोष ।।४।।

अर्थात् आगम रूपी अथाह समुद्र को अपनी चन्द्रमा के समान अमृत वर्षिणी शीतल किरणों द्वारा उत्ताल तरंगों से तरंगित कर देने वाले, आगमिक रहस्यों से ओत-प्रोत अपनी तत्वप्रकाशिनी वाणी से जन-जन के अन्तर्मन में घर किये अज्ञानान्धकार को छिन्न-भिन्न कर उनके पाप-पुंज को प्रक्षालित कर देने वाले, एवं चारों ओर पुण्य ही पुण्य का धरातल पर प्रसार एवं पोषण करने वाले आचार्यश्री धर्मघोष ने आगमिक गच्छ के तृतीय पट्टधर आचार्य के रूप में अपने आगमिक गच्छ को जन-जन के लिए अनुकरणीय एवं लोकप्रिय बना दिया ।

आचार्यश्री धर्मघोषसूरि एकदा आंतरउल्लि नामक ग्राम में रात्रि के समय जब उपाश्रय में सोये हुए थे उस समय एक काले विषधर ने उन्हें डस लिया । सर्प विष को बड़ी तीव्र गति से अपने शरीर में व्याप्त होते देख धर्मघोषसूरि ने सूरि मन्त्र का जाप किया । सूरि मन्त्र के जाप से विष का आवेग तत्काल अवरुद्ध हो गया । सूर्योदय होते ही दर्शनार्थ आये हुए श्रद्धालु श्रावकों को जब यह विदित हुआ कि काले सर्प ने काट लिया है तो वे तत्काल दौड़े हुए देवी के मठ में गये और मठपति से प्रार्थना करने लगे कि वे शीघ्रतापूर्वक चल कर उनके गुरु धर्मघोषसूरि के सर्पविष का निवारण करें । मठपति ने श्रावकों से कहा :—"यदि तुम्हें अपने गुरु को सर्प के विष से विमुक्त करना है तो उन्हें तुम मेरे यहां मठ में ले आओ । मैं वहां नहीं चलूंगा ।" श्रावक हताश हो धर्मघोषसूरि के पास आये । इधर श्रावकों का आना हुआ और उधर देवभद्रसूरि विहारक्रम से विचरण करते हुए वहां पहुंचे । चिन्तामग्न श्रावकों के मुख से जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि रात्रि में धर्मघोषसूरि को काले सर्प ने डस लिया है तो देवभद्रसूरि ने तत्काल धर्मघोषसूरि के शरीर के विष को निकाल दूर किया । घोर तपस्वी देवभद्रसूरि के कर-स्पर्श मात्र से धर्मघोषसूरि पूर्णतः निर्विष एवं स्वस्थ हो गये । धर्मघोषसूरि ने अपने आचार्यकाल में जिनशासन की महती प्रभावना के साथ-साथ आगमिकगच्छ को एक सशक्त धर्मसंघ का स्वरूप प्रदान किया ।

४. यशोभद्रसूरि :—आचार्यश्री धर्मघोषसूरि के स्वर्गस्थ होने पर श्री यशोभद्रसूरि आगमिकगच्छ के चतुर्थ पट्टधर के रूप में आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किये गये । उनके सम्बन्ध में पट्टावलीकार ने निम्नलिखित श्लोक के माध्यम से उनका परिचय दिया है ।

तस्माद्यशोराशिविभासिताशः,
श्रीमान् यशोभद्रमुनीन्दुरासीत् ।
रत्नत्रयी मूर्त्तिमतीवसम्यग्,
सूरित्रयीयस्यवभूव पट्टे ।।५।।

अर्थात् आचार्यश्री धर्मघोष के दिवंगत होने के अनन्तर उनके पट्ट पर यशोभद्रसूरि को प्रतिष्ठित किया गया। वे महान् यशस्वी और आगमिकगच्छ को समुन्नत एवं सशक्त बनाने वाले आचार्य सिद्ध हुए। अनुक्रम से उन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र रूपी रत्नत्रयी के मूर्त्त स्वरूप तीन आचार्यों को अपने पट्ट पर मनोनीत किया।

५. सर्वानन्दसूरि : अभयदेवसूरि एवं वज्रसेनसूरि :—आचार्यश्री यशोभद्रसूरि के स्वर्गारोहण के पश्चात् उनके पट्ट पर ज्ञान, दर्शन और चारित्र के मूर्त्त स्वरूप तीन श्रमणोत्तमों को एक साथ अभिषिक्त किया गया, जिनके नाम हैं सर्वानन्दसूरि, अभयदेवसूरि और वज्रसेनसूरि। पट्टावलीकार ने निम्नलिखित तीन श्लोकों में इन तीनों आचार्यों का परिचय दिया है :—

आद्यस्तत्र प्रोच्यदानन्दकन्द,
श्रीमान् सर्वानन्दसूरिर्विरेजे।
यः सार्व्वीयं वाक्यसर्वस्वमुर्व्या–
माज्ञारूपं सर्वदा विश्रुकारम् ॥६॥
तदनु मनुजदैवैर्वन्द्यपादारविन्दो,
विदलित कुमतौघश्चारुचारित्रपात्रम्।
सुगुरुरभयदेवो गौतमाकारधारी,
गुणगणमणिखानि सत्तपा ब्रह्मचारी ॥७॥
श्री वज्रसेनसूरिस्तार्तीयीकरस्ततस्त्रिरत्नाढ्यः।
श्री सिद्धान्तविचारं, निकषा निकषायितं येन ॥८॥

अर्थात् यशोभद्रसूरि के पट्ट पर जो एक साथ तीन आचार्य आसीन हुए उनमें से पहले का नाम सर्वानन्दसूरि था। सच्चिदानन्द घन स्वरूप प्रभु के चिन्तन में लीन वे सदा आनन्दमग्न रहते थे। उनके मुख कमल के दर्शन मात्र से ही दर्शक आनन्द-विभोर हो उठता था। वे अपने समय में 'वचनसिद्ध' आचार्य के रूप में सर्वत्र विख्यात हुए।

दूसरे आचार्य का नाम था 'अभयदेव'। वे नर, नरेन्द्र, देवादि द्वारा वन्दित, समस्त पाप पुंज के विनाश में अहर्निश निरत परम क्रियानिष्ठ आचार्य थे। वे सभी गुणों की खान, तपस्वी और घोर ब्रह्मचारी थे।

तीसरे आचार्य का नाम था 'वज्रसेनसूरि'। वे रत्नत्रयी की समृद्धि से समृद्ध थे। उनका आगमों का तलस्पर्शी ज्ञान सदा ही कसौटी पर खरा उतरता था।

पट्टावलीकार ने अभयदेवसूरि के सम्बन्ध में लिखा है कि विहार-क्रम से वे एक दिन आरासन नगर में गये। आपने उस क्षेत्र की अधिष्ठात्री अम्बा देवी को

प्रतिबोध देकर उससे जीवहिंसा का त्याग करवाया। देवी आचार्यश्री के उपदेश से अतीव सन्तुष्ट हुई और उसने पृथ्वीतल में छिपे पड़े स्वर्ण तथा रजत के भण्डार उन्हें बताते हुए प्रार्थना की :—"महात्मन् ! आप यह सब स्वीकार कीजिये।"

आचार्यश्री ने उन्हें अस्वीकार करते हुए कहा :—"देवी ! हम पंच महाव्रतधारी निर्ग्रन्थ श्रमण हैं। हमें सोने और चांदी से कोई मोह नहीं है और न हमें इनकी आवश्यकता ही है। तुम्हें जो यह स्वर्ण और रजत दृष्टि गोचर हो रहा है वह सब हमारे लिये मिट्टी के ढेले के समान है। सभी प्रकार की हिंसा का त्याग कर तुम अहिंसक तो बन ही चुकी हो, हां, मुझे इस बात से बड़ी प्रसन्नता होगी यदि तुम अब सच्चे देव, गुरु और धर्म में श्रद्धा रखने वाली सम्यग्दृष्टि देवी बन जाओ।"

आचार्यश्री अभयदेवसूरि की आज्ञा को शिरोधार्य कर वह जैनधर्म के प्रति श्रद्धा रखने वाली सम्यग्दृष्टि देवी बन गई।

६. श्री जिनचन्द्रसूरि :—उपरिलिखित तीन आचार्यों के दीर्घ कालीन आचार्यकाल के पश्चात् आगमिकगच्छ के छट्ठे पट्टधर आचार्य जिनचन्द्रसूरि हुए। आचार्यश्री जिनचन्द्र का परिचय देते हुए पट्टावलीकार ने लिखा है :—

श्री सर्वानन्दगुरूणां, पट्टांबरभूषणो नभोरत्नम्।
षट्तर्के सार्वभोमस्ततोऽभवत् सूरि जिनचन्द्रः ।।६।।

अर्थात्—आगमिकगच्छ के पट्टक्रम में सर्वानन्दसूरि के पश्चात् सूर्य के समान तेजस्वी तार्किक चक्रवर्ती षड्भाषा कवि सार्वभौम वाग्मीन्द्र श्री जिनचन्द्रसूरि आचार्य हुए। आपको अनेक राजाओं महाराजाओं ने सन्मान दिया।

आगमिक गच्छ की पट्टावली के अनुसार एक समय गुहिलवाड राज्य की राजधानी लोलियाणक नगर के १२२० बीसा श्रीमाली श्रावकों ने अपने श्रीसंघ की ओर से जिनचन्द्रसूरि के समक्ष आग्रहभरी विनती की कि वे लोलियाणक नगर में चातुर्मासावास करें। संघ की विनती को स्वीकार कर आचार्यश्री ने लोलियाणक नगर में चातुर्मास किया और वहाँ पर वे नेमि चरित्र पर व्याख्यान देने लगे। भगवान् श्री नेमिनाथ के चरित्र पर व्याख्यान करते समय एक दिन श्रीकृष्ण एवं जरासंघ के युद्ध का प्रसंग आया उस प्रसंग में आचार्यश्री जिनचन्द्रसूरि ने जब वीर रस का अपनी ओजस्वी भाषा में वर्णन किया तो वहाँ श्रोतागण में उपस्थित गुहिलवाड के मोखरा नामक राजा ने अपने एक सौ सुभटों के साथ नंगी तलवारें हाथ में लिए वीररस से ओत-प्रोत हो 'मारो-मारो' के घोष करना प्रारम्भ किया। इस युद्ध जैसे दृश्य को देखकर परिषद् भय-विह्वल हो उठी। यह सब कुछ वीर रस के समुचित रूपेण वर्णन का ही प्रतिफल है यह समझते हुए आचार्यश्री जिनचन्द्र ने शान्तरस से ओत-प्रोत उपदेश देना प्रारम्भ किया। आचार्यश्री के शान्तरस पूर्ण

व्याख्यान को सुन कर राजा मोखरा और उसके सैनिक शान्त हो अपनी-अपनी तलवारों को म्यान में रख शान्त मुद्रा में पुनः अपने स्थान पर बैठ गये और आचार्यश्री का व्याख्यान दत्तचित्त हो सुनने लगे। शान्तरस के वर्णन के अनन्तर आचार्यश्री ने करुण रस से ओत-प्रोत उपदेश देना प्रारम्भ किया। आचार्यश्री की करुणा रस से सिक्त वाणी को सुनकर वह गुहिलपति मोखरा उपस्थित श्रावकों के साथ करुणार्द्र हो रो पड़ा। तदनन्तर व्याख्यान में प्रसंग आने पर आचार्यश्री ने हास्य रस भरे कथानक पर प्रवचन देना प्रारम्भ किया। आचार्यश्री की व्याख्यान शैली में ऐसा चमत्कार था कि हास्यरस से ओत-प्रोत उस कथानक को सुनकर सभी श्रोतागण हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये।

आचार्यश्री जिनचन्द्र की इस प्रकार की चमत्कारपूर्ण व्याख्यान शैली पर मुग्ध होकर गुहलपति मोखरा ने उनकी वाणी को 'नव रसावतार तरंगिणी' के विरुद से विभूषित किया। महाराजा मोखरा आचार्यश्री की विद्वत्ता, उनके तपोपूत जीवन, एवं उनकी व्याख्यान शैली पर ऐसा मुग्ध हुआ कि प्रतिदिन व्याख्यान के समय सबसे पहले आकर आचार्यश्री के पट्ट के पास, पट्ट की ओर मुँह किये बैठ जाता। वह प्रारम्भ से लेकर अन्त तक आचार्यश्री के व्याख्यान को बड़ी उत्कण्ठा के साथ सुनता।

सम्भवतः जंघाबल के क्षीण हो जाने के कारण आचार्यश्री जिनचन्द्रसूरि लम्बे समय तक लोलियाणक नगर में रहे। उन पर सरस्वती की पूर्ण कृपा थी। अतः दर्शनार्थियों का उनके यहाँ तांता-सा लगा रहता। राजा और प्रजा सभी उनके प्रति असीम आदरभाव रखते थे।

एक समय उस नगर में दामोदर नामक एक पण्डित अन्य आठ याज्ञिक पण्डितों को साथ लेकर आया। उसने लोलियाणक नगर में वाजपेयी यज्ञ का आयोजन किया जिसमें कि एक लाख रजत मुद्राओं के लगभग द्रव्य के व्यय का अनुमान लगाया गया था। यज्ञ के लिए अनेक प्रकार की बहुमूल्य सामग्री के साथ-साथ वाजपेयी यज्ञ में बलि चढ़ाने के लिए ३२ बकरों को भी यज्ञ-स्थल पर लाया गया। वाजपेयी यज्ञ में बकरों की बलि दी जायेगी इस संवाद के फैलते ही अहिंसा प्रेमी प्रजा में एक हलचल सी पैदा हो गई। पूर्णिमा पक्ष के श्री कनकाचार्य ने अपने शिष्य समूह के साथ आचार्यश्री जिनचन्द्रसूरि की सेवा में उपस्थित हो निवेदन किया :—"आचार्यप्रवर ! आप जैसे तार्किक शिरोमणि वादी चक्रवर्ती परम पूज्य महापुरुष की विद्यमानता में याज्ञिक निरीह पशुओं का वध कर हवन करें इससे बड़ी दुःख की बात और क्या हो सकती है ?"

कनकाचार्य की बात को सुनते ही उन्होंने अपने कतिपय शिष्यों के साथ कनकाचार्य को यज्ञ के मण्डप में भेजा और दामोदर पण्डित को यह सन्देश

कहलवाया कि वह वाजपेयी यज्ञ में निर्दोष बकरों की बलि न चढ़ावे। याज्ञिक पण्डित दामोदर इस पर भी जब अपने निश्चय से न डिगा तो आचार्यश्री ने राजा के समक्ष निवेदन करके यह राजाज्ञा प्रसारित करवाई कि याज्ञिकों और आचार्यश्री जिनदत्तसूरि के बीच यज्ञ में पशुओं की बलि को लेकर शास्त्रार्थ हो। शास्त्रार्थ में जो पक्ष विजयी होगा उसी की इच्छानुसार यज्ञ में पशुओं के होमने न होमने के सम्बन्ध में निर्णय किया जायगा। राजाज्ञा से तत्काल यज्ञ बन्द कर दिया गया और निश्चित समय पर गुहिलराज मोखरा की राज्यसभा में दोनों पक्षों के बीच शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। शास्त्रार्थ के समय राजसभा में स्वयं गुहिलराज अपने सभासदों के साथ पूरे समय विद्यमान रहता। शास्त्रार्थ को सुनने के लिए दर्शकों एवं श्रोताओं के समूह चारों ओर से उमड़ पड़े। निरन्तर अठारह दिनों तक वह शास्त्रार्थ चला। अठारहवें दिन शास्त्रार्थ के नियत समय के समाप्त होने के पूर्व ही आचार्यश्री जिनचन्द्रसूरि ने पण्डित दामोदर और उसके आठों साथी पण्डितों को शास्त्रार्थ में निरुत्तर कर पराजित कर दिया। राजा ने शास्त्रार्थ का निर्णय सुनाते हुए आचार्यश्री जिनचन्द्र को जयपत्र दिया। जयपत्र देने के साथ-साथ बत्तीसों बकरों को अभयदान प्रदान किया। कनकाचार्य ने उसी समय राजसभा में खड़े होकर आचार्यश्री जिनचन्द्रसूरि की निम्नलिखित रूप से स्तुति की :—

> साहित्ये सुहितः पदे परिणताभ्यासः प्रमायां पटु—
> र्निष्णातो गणितागमेष्वपि भृशं सिद्धान्तशुद्धान्तरः।
> छंदोभेद विशारदः कविकुलाकेलीगृहं सद्यशः,
> श्री सूरि जिनचन्द्र एव जयतात् भूभृत्सभाभूषणम् ॥१०॥

अर्थात् साहित्य निर्माण के क्षेत्र में सदा साधिकार रूप से तत्पर एवं पूर्णरूपेण अभ्यस्त, शास्त्रार्थ में सदा विजयी रहने वाले, गणित आगम और सभी दर्शनों के सिद्धान्तों के पारदृश्वा प्रकाण्ड पण्डित, छन्द शास्त्र के मर्मज्ञ, कविचक्रवर्ती एवं राजाओं की राजसभाओं के भूषण, महान् यशस्वी सूरिवर जिनचन्द्र सदा-सर्वत्र जयवन्त रहें।

इस प्रकार आगमिक गच्छ के छठे आचार्यश्री जिनचन्द्रसूरि ने अपने आचार्यकाल में जिन शासन की महती प्रभावना की।

७. विजयसिंहसूरि : आचार्य श्री जिनचन्द्र सूरि के स्वर्गारोहण के अनन्तर उनके पट्ट पर विजयसिंहसूरि आसीन हुए। वे आगमों के मर्मज्ञ विद्वान थे।

८. अभयसिंहसूरि—आचार्यश्री विजयसिंहसूरि के पश्चात् श्री अभयसिंह आचार्यपद पर आसीन हुए।

९. श्री अमरसिंहसूरि :—श्री अभयसिंहसूरि के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर उनके पट्ट पर श्री अमरसिंहसूरि हुए।

इन तीनों आचार्यों के सम्बन्ध में पट्टावलीकार ने निम्नलिखित दो श्लोकों में इनका नाममात्र का परिचय दिया है :—

तत्पदे विजयसिंह सूरयो विश्रुता श्रुतविचारभूरयः ।
वाग्मिनो विजयिनोऽथ तत्पदे भेजिरे चाभयसिंह सूरयः ।।११।।
श्रीमदागमिक मुख्यवंशजा सूरयः समभवन्निमे सने ।
संति तत्पदकृपोपजीविनः श्रीयुता अमरसिंह सूरयः ।।१२।।

अर्थात् श्री जिनचन्द्रसूरि के पट्ट पर विजयसिंहसूरि आसीन हुए, जो बड़े ही विख्यात एवं आगम मर्मज्ञ थे। उनके पश्चात् अभयसिंहसूरि उनके पट्ट पर आसीन हुए। वे बड़े वाद निष्णात थे और सदा शास्त्रार्थ में विजयी रहे। अमरसिंहसूरि के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर उनके पट्ट पर अभयसिंहसूरि विराजमान हुए। ये आगमिकगच्छ के मुख्य प्रभावक आचार्य हुए। इस समय उनके कृपाकांक्षी अमरसिंहसूरि हैं।

आगमिकगच्छ की पट्टावली के उपसंहार के रूप में पट्टावलीकार ने निम्नलिखित अन्तिम श्लोक दिया है :—

श्री अभयदेव सूरेः श्री सूरे वज्रसेन नाम्नोऽपि ।
कलिविलसितेन सम्प्रति, जाते शाखे असत्प्राये ।।१३।।

अर्थात् आगमिकगच्छ के पांचवें पट्टधर आचार्यश्री सर्वानन्द के समय में अभयदेवसूरि और वज्रसेनसूरि नामक जो दो आचार्य हुए थे उन दोनों आचार्यों की शाखाएं कलिकाल के प्रभाव से आज नाममात्र के लिये लुप्तप्रायः सी विद्यमान हैं।

इस तेरहवें श्लोक के साथ ही आगमिकगच्छ की यह पट्टावली समाप्त हो जाती है।[1] इस पट्टावली में कतिपय सूचनाएं बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु इसमें एक आचार्य को छोड़ शेष किसी का समय उल्लिखित नहीं होने के कारण इसका ऐतिहासिक महत्व कम हो जाता है। इस पट्टावली में केवल यशोदेवसूरि के दीक्षित होने का समय विक्रम सम्वत् ११९६, इनके आचार्यपद पर आसीन होने का समय विक्रम सम्वत् १२१२ तथा इनके द्वारा आगम पक्ष की स्थापना का समय विक्रम सम्वत् १२१४ ही दिया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी आचार्य के गृहस्थ पर्याय, दीक्षा काल, आचार्यकाल आदि का कहीं कोई उल्लेख नहीं है।

---

१. श्री कान्तिविजयजी के भण्डार की प्रति से प्राप्त हुई प्रतिलिपि के आधार पर इस पट्टावली के श्लोक और कुछ अंश यहां उद्धृत किये गये हैं।

—सम्पादक

इस पट्टावली में इसके लेखन काल का भी कोई उल्लेख नहीं है और न अमरसिंहसूरि के पश्चात् किसी आचार्य का नामोल्लेख ही। इससे यही तथ्य प्रकाश में आता है कि इस पट्टावली का आलेखन अमरसिंहसूरि के आचार्यकाल में किया गया। बारहवें श्लोक के तृतीय चरण में "सन्ति"—इस शब्द को देखने से यह स्वतः ही सिद्ध हो जाता है कि अमरसिंहसूरि की विद्यमानता में ही इस पट्टावली की रचना की गई। उपरिवर्णित नौ आचार्यों में से केवल आचार्यश्री अमरसिंह को छोड़ किसी के न तो प्रतिमा लेख उपलब्ध होते हैं और न प्रशस्तिपरक लेख ही। इस प्रकार की स्थिति में शीलगणसूरि से लेकर अभयसिंहसूरि के समय के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

अमरसिंहसूरि के कुल मिलाकर ६ प्रतिमा लेख उपलब्ध होते हैं जो विक्रम सम्वत् १४५१ और १४७८ की अवधि के बीच के हैं। इससे यह अनुमान किया जाता है कि इस पट्टावली का लेखन विक्रम सम्वत् १४७८ के आस-पास किया गया हो।

इन प्रतिमा लेखों से और आचार्यश्री यशोदेव के दीक्षा काल, आचार्यपद प्रदान काल और उनके द्वारा विक्रम सम्वत् १२१४ में आगम पक्ष की स्थापना सम्बन्धी इसी पट्टावली के पूर्व चर्चित उल्लेख से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आगमिकगच्छ के प्रथम आचार्य शीलगणसूरि से लेकर आठवें आचार्य अभयसिंह तक आठ आचार्यों का काल विक्रम सम्वत् १२१४ से लेकर १४५०-५१ के बीच का २३७ वर्ष का रहा।

अमरसिंहसूरि के पश्चात् उनके पट्टधर हेमरत्नसूरि हुए। यह प्रतिमा लेखों से ज्ञात होता है। आगमिकगच्छ के दसवें आचार्य इन हेमरत्नसूरि से सम्बन्धित लगभग पन्द्रह प्रतिमा लेख 'शिलालेख संग्रह' में उपलब्ध होते हैं जो विक्रम सम्वत् १४८४ से १५२१ तक की ३७ वर्ष की अवधि के हैं। प्रतिमा लेखों से एवं ग्रन्थों की पुष्पिकाओं से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि हेमरत्नसूरि के पश्चात् और उनके समय में आगमिकगच्छ में धंधुकिया शाखा, बिडालम्बिया शाखा, आदि इस गच्छ की शाखाओं के आचार्यों एवं मुनियों से सम्बन्धित प्रतिमा लेख विक्रम सम्वत् १५४६ तक के और पुष्पिका लेख विक्रम सम्वत् १६७८ तक के उपलब्ध होते हैं।

आगमिकगच्छ के आचार्यों से सम्बन्धित इन प्रतिमा लेखों को देखने और उन पर शोध परक दृष्टि से विचार करने पर एक बड़ा ही आश्चर्यकारी तथ्य प्रकाश में आता है कि इस गच्छ की उपरिलिखित पट्टावली के अन्त में जिन अमरसिंहसूरि का नाम दिया गया है उनसे पहले के आठ आचार्यों के समय का एक भी प्रतिमा लेख अभी तक कहीं देखने में नहीं आया है। इस स्थिति में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या अमरसिंहसूरि से पूर्ववर्ती आचार्यों के तत्वावधान में एक

भी प्रतिमा की प्रतिष्ठा नहीं करवाई गई ? आगमिकगच्छ इस नाम से ही यह अर्थ प्रकट होता है कि केवल आगमों में प्रतिपादित सिद्धान्तों, नियमों और श्रमणाचार का पालन करने वाला गच्छ अथवा श्रमण समूह। तो ऐसी दशा में क्या आगमिकगच्छ की स्थापना के समय से अर्थात् विक्रम सम्वत् १२१४ से लेकर विक्रम सम्वत् १४५१ तक की २३७ वर्षों की अवधि में प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करवाना आगमिकगच्छ के आचार्य अथवा साधु आगमसम्मत नहीं मानते थे ? यह एक ऐसा महत्वपूर्ण प्रश्न है जिसके सम्बन्ध में गहन खोज की आवश्यकता है। आशा है शोधार्थी विद्वान् इस प्रश्न पर प्रकाश डालने का कष्ट करेंगे।



श्रमण भ. महावीर के ५३वें पट्टधर
आचार्यश्री महासूरसेन

जन्म	वीर नि. सं.	१६२६
दीक्षा	,, ,, ,,	१६५४
आचार्यपद	,, ,, ,,	१७०८
स्वर्गारोहण	,, ,, ,,	१७३८
गृहवास पर्याय		२५ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय		५४ वर्ष
आचार्य पर्याय		३० वर्ष
पूर्ण संयम पर्याय		८४ वर्ष
पूर्ण आयु		१०९ वर्ष

वी. नि. सं. १७०८ में आचार्यश्री सूरसेन के स्वर्गस्थ हो जाने पर चतुर्विध संघ ने वयोवृद्ध, आगम-मर्मज्ञ मुनि श्री महासूरसेन को श्रमण भ. महावीर के ५३वें पट्टधर आचार्यपद पर अधिष्ठित किया।

आपने अपनी ८४ वर्ष की पूर्ण संयम पर्याय में श्र. भ. महावीर के धर्मसंघ के प्रबल प्रहरी के रूप में सजग रहकर ईसा पूर्व ५५७ में श्रमण भ. महावीर ने तीर्थ-प्रवर्तन करते हुए विश्व के कल्याण की भावना से अहिंसा मूलक धर्म की जो महती (महनीया) सरिता प्रवाहित की थी, उसके प्रवाह को आपने अक्षुण्ण बनाये रखा। आपने वी. नि. सं. १७३८ में १०९ वर्ष की आयु पूर्ण कर समाधि-पूर्वक स्वर्गारोहण किया।

आपकी ८४ वर्ष जैसी सुदीर्घावधि की साधना की यह विशेषता रही कि आपने चैत्यवास और शिथिलाचार के प्रभाव से चतुर्विध संघ को बचाये रखकर बिना आडम्बर के अपनी साधना पूर्ण की।

—००—

श्रमण भ. महावीर के ५४वें पट्टधर
आचार्यश्री महासेन

जन्म	वीर नि. सं.	१६५१
दीक्षा	,, ,, ,,	१६६२
आचार्यपद	,, ,, ,,	१७३८
स्वर्गारोहण	,, ,, ,,	१७५८
गृहवास पर्याय		११ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय		७६ वर्ष
आचार्य पर्याय		२० वर्ष
पूर्ण संयम पर्याय		९६ वर्ष
पूर्ण आयु		१०७ वर्ष

वी. नि. सं. १७३८ में विशुद्ध मूल परम्परा के ५३वें पट्टधर आचार्य-श्री महासूरसेन के स्वर्गस्थ हो जाने पर चतुर्विध संघ ने वयोवृद्ध अनुभवी श्रमणोत्तम श्री महासेनमुनि को भ. महावीर के ५४वें पट्टधर के रूप में आचार्यपद पर आसीन किया।

जिस समय आपको आचार्यपद पर आसीन किया उस समय आपकी अवस्था ८७ वर्ष की थी। वयोवृद्ध होते हुए भी आचार्यश्री महासेन ने २० वर्ष तक संघ का सुचारु रूपेण संचालन किया। अन्त में १०७ वर्ष की आयु पूर्ण कर आपने वी. नि. सं. १७५८ में समाधिस्थ होकर स्वर्गारोहण किया।

इस प्रकार के महर्षियों के त्याग-तप और अटूट आस्था के परिणामस्वरूप ही श्रमण भगवान महावीर की विशुद्ध मूल-परम्परा घोरातिघोर संकटपूर्ण संक्रान्ति काल में भी अपनी मन्थर गति से अन्तर्वाहिनी नदी की तरह प्रवाहित होती रही।

—०—

चालीसवें (४०) युगप्रधानाचार्य श्री शीलमित्र

जन्म	वीर निर्वाण सम्वत् १६५२
दीक्षा	वीर निर्वाण सम्वत् १६६३
सामान्य साधु पर्याय	वीर निर्वाण सम्वत् १६६३ से १६८३
युगप्रधानाचार्य काल	वीर निर्वाण सम्वत् १६८३ से १७६२
गृहस्थ पर्याय	ग्यारह (११) वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	२० वर्ष
युगप्रधानाचार्य पर्याय	७९ वर्ष
स्वर्ग	वीर निर्वाण सम्वत् १७६२
सर्वायु	११० वर्ष सात माह और सात दिन

९९ वर्ष जैसे सुदीर्घावधि के अपने साधनाकाल में ७९ वर्ष तक युगप्रधानाचार्य पद पर रहते हुए युगप्रधानाचार्य श्री शीलमित्र ने जिनशासन की महती सेवा की। इससे अधिक आपका कोई विशेष परिचय जैन वाङ्मय में उपलब्ध नहीं होता।



तपागच्छ

अन्यान्य गच्छों की भांति तपागच्छ की उत्पत्ति भी क्रियोद्धार के परिणाम-स्वरूप ही हुई। वृहद्गच्छ (बड़गच्छ) के श्रमण समुदाय में काल प्रभाव से शिथिलाचार उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। तपागच्छ पट्टावली के अनुसार भगवान् महावीर के ४२वें पट्टधर श्री विजयसिंहसूरि ने सोमप्रभसूरि और मणिरत्नसूरि नामक अपने दो गुरु भ्राताओं को अपने पट्ट पर आसीन किया। तदनन्तर इन दोनों आचार्यों ने कालान्तर में जगच्चन्द्रसूरि को अपना उत्तराधिकारी घोषित करते हुए उन्हें आचार्यपद प्रदान किया।

इस प्रकार तपागच्छ पट्टावली के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर के ४४वें पट्टधर श्री जगच्चन्द्रसूरि हुए।

जगच्चन्द्रसूरि बड़े ही भवभीरु एवं आगमों में प्रतिपादित विशुद्ध श्रमणाचार का प्रतिपालन करने वाले श्रमणोत्तम थे। अपने गच्छ में सर्वत्र व्याप्त शिथिलाचार को देखकर उन्हें बड़ा दु:ख हुआ। संघ नायक आचार्य होने के कारण उन्होंने अपने श्रमण-श्रमणी परिवार में व्याप्त घोर शिथिलाचार को दूर करने के अनेक प्रयास किये। किन्तु उन प्रयासों का कोई सन्तोषप्रद परिणाम नहीं निकला। अन्ततोगत्वा जगच्चन्द्रसूरि ने चित्रवालगच्छ के परम क्रियानिष्ठ देवभद्र उपाध्याय की सहायता से क्रियोद्धार किया। उन्होंने आगमोक्त शुद्ध श्रमणाचार का पालन करते हुए जिनशासन का प्रचार-प्रसार करना प्रारम्भ किया।

आपके असाधारण त्याग के प्रभाव से अनेक श्रमण-श्रमणियों एवं मुमुक्षुओं ने प्रेरणा लेकर निरतिचार विशुद्ध श्रमण धर्म का पालन करना प्रारम्भ किया।

जगच्चन्द्रसूरि ने क्रियोद्धार के पथ पर अग्रसर होते समय आजीवन आचाम्ल तप करते रहने की प्रतिज्ञा की। वे देवभद्र उपाध्याय के साथ मेवाड़ में स्थान-स्थान पर विहार कर धर्म का प्रचार करने लगे। उनके कठोर तपश्चरण से प्रभावित हो मेवाड़ के सभी वर्गों के लोग वहुत वड़ी संख्या में उनके श्रद्धालु उपासक बन गये। विशुद्ध क्रियापात्र होने के साथ-साथ जगच्चन्द्रसूरि न्याय शास्त्र के उद्भट विद्वान् एवं महावादी थे। उन्होंने आघाटपुर (आहड़) में दिगम्बर आचार्यों के साथ शास्त्रार्थ कर विजयश्री प्राप्त की। आचार्यश्री की इस विजय से प्रभावित हो मेवाड़ के महाराणा जैत्रसिंह ने आपको 'हीरला जगच्चन्द्र' सूरि के विरुद से विभूषित किया।

चालीसवें (४०) युगप्रधानाचार्य श्री शीलमित्र

जन्म	वीर निर्वाण सम्वत् १६५२
दीक्षा	वीर निर्वाण सम्वत् १६६३
सामान्य साधु पर्याय	वीर निर्वाण सम्वत् १६६३ से १६८३
युगप्रधानाचार्य काल	वीर निर्वाण सम्वत् १६८३ से १७६२
गृहस्थ पर्याय	ग्यारह (११) वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	२० वर्ष
युगप्रधानाचार्य पर्याय	७९ वर्ष
स्वर्ग	वीर निर्वाण सम्वत् १७६२
सर्वायु	११० वर्ष सात माह और सात दिन

९९ वर्ष जैसे सुदीर्घावधि के अपने साधनाकाल में ७९ वर्ष तक युगप्रधानाचार्य पद पर रहते हुए युगप्रधानाचार्य श्री शीलमित्र ने जिनशासन की महती सेवा की। इससे अधिक आपका कोई विशेष परिचय जैन वाङ्मय में उपलब्ध नहीं होता।



कालान्तर में वृद्ध पौषालिक के आचार्य विजयचन्द्र सूरि शनैः शनैः शिथिलाचार की ओर प्रवृत्त होने लगे।

चैत्यवासियों के सुदीर्घकालीन संसर्ग एवं वर्चस्व आदि के परिणामस्वरूप वस्तुतः शिथिलाचार श्रमण समूह में इतनी गहराई तक घर कर गया था कि क्रियोद्धार के माध्यम से नवगठित श्रमण परम्पराओं में भी स्वल्प काल के पश्चात् ही शिथिलाचार के बीज अंकुरित हो उठते और चारों ओर शिथिलाचार का बोल-बाला हो जाता। इस सबका परिणाम यह होता था कि जिन विकृतियों एवं बुराइयों को निर्मूल करने के लिये क्रियोद्धार का क्रान्तिकारी कदम उठाकर कोई श्रमणश्रेष्ठ आगमानुसारिणी एवं विशुद्ध परम्परा को जन्म देते, उस परम्परा में ही स्वल्प काल में वे सभी विकृतियां पूर्वापेक्षया इतने प्रवल वेग से अभिवृद्ध हो उठतीं कि पुनः किसी महापुरुष को क्रियोद्धार करने के लिए अग्रसर होना पड़ता। यह क्रम सतत चलता रहा।

आचार्य जगच्चन्द्रसूरि ने वि. सं. १२८३ में चित्रवाल गच्छ के उपाध्याय देवभद्र की सहायता से क्रियोद्धार किया। किन्तु उनके पट्टधर वृद्ध पौषालिक शाखा के आचार्य विजयचन्द्रसूरि ने न केवल स्वयं को ही अपितु अपने आज्ञानुवर्त्ती श्रमण-श्रमणी संघ को भी शिथिलाचार की ओर प्रवृत्त करते हुए साधु के लिये वस्त्रों की गठड़ी रखने, नित्य घृत, दूध आदि विकृतियां ग्रहण करने, यथेच्छ वस्त्र प्रक्षालन, फल-शाक ग्रहण करने आदि दोषपूर्ण निम्नलिखित ग्यारह बातों की खुली छूट प्रदान करदी :—

१. साधुए वस्त्रनी पोटलिओ राखवी।
२. हमेश विगय वापरवानी छूट।
३. वस्त्र धोवानी छूट।
४. गोचरी मां फल—शाक ग्रहण करवानी छूट।
५. साधु-साध्वियों ने नीवी नां पच्चखाण मां घृत वापरवा नी छूट।
६. साध्वीए वहोरी लावेल आहार साधु ने स्वीकारवानी छूट।
७. हमेश बे प्रकार ना पच्चखाण नी छूट।
८. गृहस्थों ने राजी राखवा तेमनी साथे प्रतिक्रमण करवानी छूट।
९. संविभाग ने दिवसे तेने घेर वहोरवा जवानी छूट।
१०. लेप नी सन्निधि राखवा नी छूट।
११. तरतनूंज ऊनूं पाणी वहोरवानी छूट, विगेरे विगेरे।

—तपागच्छ पट्टावली पं० श्री कल्याण विजयजी महाराज द्वारा लिखित पृष्ठ १५८

शनैः शनैः स्थिति यहां तक पहुँच गई कि वि. सं. १२८३ में क्रियोद्धार के माध्यम से संस्थापित इस यशस्विनी क्रियानिष्ठ तपागच्छ परम्परा में भी इसके प्रादुर्भाव के १७४ वर्ष पश्चात्, वि. सं. १४५७ के आसपास, तपागच्छ के पचासवें

आपके कठोर तपश्चरण की दिग्दिगन्त में व्याप्त कीर्त्ति से प्रभावित हो महाराणा जैत्रसिंह ने आपको विक्रम सम्वत् १२८५ में तपा के विरुद से विभूषित किया।

इस प्रकार आचार्य जगच्चन्द्रसूरि और चैत्रवालगच्छ के उपाध्याय देवभद्र का सम्मिलित श्रमण-श्रमणी समूह लोक में 'तपागच्छ' के नाम से विक्रम सम्वत् १२८५ में प्रसिद्ध हुआ।

मेवाड़ में जिनशासन का प्रचार करने के पश्चात् आचार्य जगच्चन्द्रसूरि ने गुजरात की ओर विहार किया। आप द्वारा किये गये क्रियोद्धार एवं आपके कठोर तपश्चरण की कीर्त्ति दूर-दूर तक व्याप्त हो गई थी। गुजरात में प्रवेश करते ही आपकी श्रेष्ठिवर वस्तुपाल ने बड़े सम्मान के साथ अगवाणी की। श्रेष्ठि वस्तुपाल ने आचार्य जगच्चन्द्रसूरि को सम्पूर्ण गुजरात में धर्म प्रचार कार्य में बड़ी ही महत्व-पूर्ण सहायता प्रदान की।

आचार्य जगच्चन्द्रसूरि के त्याग, तप, विद्वत्ता एवं शुद्ध आगमविहित श्रमणाचार आदि गुणों तथा मन्त्री वस्तुपाल के सभी भांति के समीचीन सहयोग से स्वल्पकाल में ही तपागच्छ गुजरात का एक शक्तिशाली एवं लोकप्रिय गच्छ वन गया।

गुर्जर प्रदेश में धर्म प्रचार के परिणामस्वरूप जगच्चन्द्रसूरि के साधु-साध्वी समूह की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हुई।

मंत्री वस्तुपाल के प्रीति-पात्र दफ्तरी (महता) विजयचन्द्र ने भी जगच्चन्द्र-सूरि के पास बड़े वैराग्य भाव से श्रमणधर्म की दीक्षा अंगीकार की। उन्हीं दिनों देवेन्द्र नामक तीव्र बुद्धि किशोर भी जगच्चन्द्रसूरि के पास दीक्षित हुआ। इन दोनों ने जगच्चन्द्रसूरि के पास आगमों और सभी विद्याओं का अध्ययन किया।

शाखा-भेद

कालान्तर में विजयचन्द्र से 'वृद्ध पौषालिक तपागच्छ' और देवेन्द्रसूरि से 'लघु पौषालिक तपागच्छ' इन दो शाखाओं का जन्म हुआ।

उपाध्याय धर्म सागरजी द्वारा रचित एवं पंन्यास श्री कल्याण विजयजी द्वारा सम्पादित तपागच्छ पट्टावली के उल्लेखानुसार खम्भात के कुमारपाल-विहार नामक जिनमन्दिर में १८०० मुखवस्त्रिका वाले भक्त श्रावकों से परिवृत्त मन्त्री वस्तुपाल ने श्री देवेन्द्रसूरि को वन्दन नमन कर उनका सम्मान किया।[1]

१. स्तंभ तीर्थे च चतुष्पथ स्थित कुमारपाल विहारे धर्मदेशनायामष्टादशशत (१८००) मुखवस्त्रिकाभिर्मंत्रि वस्तुपालः चतुर्वेदादि निर्णय दातृत्वेन स्वसमय परसमय विदां श्री देवेन्द्रसूरीणां वंदनकदानेन वहुमानं चकार ॥

—पट्टावली-समुच्चयः तपागच्छ पट्टावली-पृष्ठ ५८

कालान्तर में वृद्ध पौषालिक के आचार्य विजयचन्द्र सूरि शनैः शनैः शिथिलाचार की ओर प्रवृत्त होने लगे।

चैत्यवासियों के सुदीर्घकालीन संसर्ग एवं वर्चस्व आदि के परिणामस्वरूप वस्तुतः शिथिलाचार श्रमण समूह में इतनी गहराई तक घर कर गया था कि क्रियोद्धार के माध्यम से नवगठित श्रमण परम्पराओं में भी स्वल्प काल के पश्चात् ही शिथिलाचार के बीज अंकुरित हो उठते और चारों ओर शिथिलाचार का बोल-बाला हो जाता। इस सबका परिणाम यह होता था कि जिन विकृतियों एवं बुराइयों को निर्मूल करने के लिये क्रियोद्धार का क्रान्तिकारी कदम उठाकर कोई श्रमणश्रेष्ठ आगमानुसारिणी एवं विशुद्ध परम्परा को जन्म देते, उस परम्परा में ही स्वल्प काल में वे सभी विकृतियां पूर्वापेक्षया इतने प्रबल वेग से अभिवृद्ध हो उठतीं कि पुनः किसी महापुरुष को क्रियोद्धार करने के लिए अग्रसर होना पड़ता। यह क्रम सतत चलता रहा।

आचार्य जगच्चन्द्रसूरि ने वि. सं. १२८३ में चित्रवाल गच्छ के उपाध्याय देवभद्र की सहायता से क्रियोद्धार किया। किन्तु उनके पट्टधर वृद्ध पौषालिक शाखा के आचार्य विजयचन्द्रसूरि ने न केवल स्वयं को ही अपितु अपने आज्ञानुवर्त्ती श्रमण-श्रमणी संघ को भी शिथिलाचार की ओर प्रवृत्त करते हुए साधु के लिये वस्त्रों की गठड़ी रखने, नित्य घृत, दूध आदि विकृतियां ग्रहण करने, यथेच्छ वस्त्र प्रक्षालन, फल-शाक ग्रहण करने आदि दोषपूर्ण निम्नलिखित ग्यारह बातों की खुली छूट प्रदान करदी :—

१. साधुए वस्त्रनी पोटलिओ राखवी।
२. हमेश विगय वापरवानी छूट।
३. वस्त्र धोवानी छूट।
४. गोचरी मां फल—शाक ग्रहण करवानी छूट।
५. साधु-साध्वियों ने नीवी नां पच्चखाण मां घृत वापरवा नी छूट।
६. साध्वीए बहोरी लावेल आहार साधु ने स्वीकारवानी छूट।
७. हमेश बे प्रकार ना पच्चखाण नी छूट।
८. गृहस्थों ने राजी राखवा तेमनी साथे प्रतिक्रमण करवानी छूट।
९. संविभाग ने दिवसे तेने घेर वहोरवा जवानी छूट।
१०. लेप नी सन्निधि राखवा नी छूट।
११. तरतनूंज ऊनूं पाणी वहोरवानी छूट, विगेरे विगेरे।

—तपागच्छ पट्टावली पं० श्री कल्याण विजयजी महाराज द्वारा लिखित पृष्ठ १६८

शनैः शनैः स्थिति यहां तक पहुँच गई कि वि. सं. १२८३ में क्रियोद्धार के माध्यम से संस्थापित इस यशस्विनी क्रियानिष्ठ तपागच्छ परम्परा में भी इसके प्रादुर्भाव के १७४ वर्ष पश्चात्, वि. सं. १४५७ के आसपास, तपागच्छ के [illegible]

पट्टधर सोमसुन्दरसूरि को क्रियोद्धारपरक कठोर कदम उठाकर अपने श्रमण-श्रमणी वर्ग में व्याप्त शिथिलाचार को दूर करने के लिये निम्नलिखित ३६ नये बोलों (आगमानुसारी नियमों अथवा सुधारों) की घोषणा करनी पड़ी :—

नियमो

१. ज्ञान आराधन हेतु मारे हमेशा ५ गाथा मोढ़े करवी अने क्रमवार ५ गाथा नो अर्थ गुरु समीपे ग्रहण करवो।

२. बीजा ने भणवा माटे हमेशा पांच गाथा मारे लखवी अने भणनाराओ ने क्रमवार पांच-पांच गाथा मारे भणाववी।

३. वर्षा ऋतु मां मारे ५०० गाथा नूं, शिशिर ऋतु मां ८०० गाथा नूं अने ग्रीष्म ऋतु मां ३०० गाथा नूं, सज्झाय-ध्यान करवु ं।

४. नव पद नवकार मन्त्रनु ं एक सौ वार सदा रटण करू ं (करवु ं)।

५. पांच शक्रस्तव वड़े हमेशा एक वक्त देववन्दन करू ं अथवा बे वगत, त्रण वगत के पोहरे-पोहरे यथाशक्ति आलसरहित देववन्दन करववु ं।

६. दरेक अष्टमी चतुर्दशी ने दिवसे सघलां देरासरो जुहारवा, तेमज सघला मुनिजनो ने वांदवा। बाकी नां दिवसे एक देरासरे तो अवश्य जवूं।

७. हमेशा वडील साधु ने निश्चै त्रिकाल वन्दन करू ं, अने बीजा ग्लान तेमज वृद्धादिक मुनिजनोनु ं वैयावच्च यथाशक्ति करू ं।

८. ईरियासमिति पालवा माटे स्थंडिल मात्रु ं करवा जतां अथवा आहार-पाणी बहोरवा जतां रस्ता मां वार्तालाप विगेरे करवानु ं छोडी दऊं।

९. यथाकाल पूंज्यां-प्रमार्ज्यां वगैर चाल्या जवाय तो, अंग-पड़िलेहणा प्रमुख संडासा पाड़िलेह्यां वगर वेसी जवाय तो, अने कटासणा (कांवली) वगर वेसी जवाय तो पांच खमासमण देवा अथवा पांच नवकार मन्त्र नो जाप करवो।

१०. भाषासमिति पालवा माटे उघाड़े मुखे वोलूंज नहीं, तेम छतां गफलत थी जेटली वार उघाड़े मुखे बोलि जाऊं तेटली वार ईरियावही पूर्वक एक लोगस्सनो काउसग्ग करू ं।

११. आहार-पाणी करतां तेमज प्रतिक्रमण करतां अने उपधि नी पड़िलेहणां करतां कोई महत्वना कार्य वगर कोई ने कदापि कांई कहूं नहीं (बोलू नहीं)।

१२. अइसणासमिति पालवा माटे निर्दोप प्राशुक जल मलतु ं होय तिहां सुधी पोता ने खप छतां धोवण वालु ं जल अणगल (अचित्त) जल अने जरवाणी (झरेलु ं पाणी) लवु ं नहि।

१३. आदाननिक्षेपरणा समिति पालवा माटे पोतानी उपधि प्रमुख पूंजी-प्रमार्जी ने भूमि पर स्थापन करूं, तेमज भूमि ऊपर थी लऊं। पूंजवा-प्रमार्जवा मां गफलत थाय तो त्यांज नवकार गणुं।

१४. डांडो प्रमुख पोतानी उपधि ज्यां त्यां मुकी देवाय ता ते बदल एक आयंवल करूं, अथवा ऊभा ऊभा काउसग्ग मुद्राए रही एक सौ गाथा नुँ सज्भाय— ध्यान करूं।

१५. पारिठावणिया समिति पालवा माटे स्थंडिल, मात्रुं के खेलादिक (श्लेष्मादिक) नुं भाजन परठवतां कोई जीव नो विनाश थाय तो नीवी करूं अने सदोष आहारपाणी प्रमुख वहोरी ने परठवतां आयंबिल करूं।

१६. स्थंडिल, मात्रुं विगेरे करवाना के परठववाना स्थाने "अणुजाणह जस्सुग्गहो" प्रथम कहुं अने परठविया पछी त्रण बार "वोसिरे" कहुं।

१७. मनगुप्ति, वचनगुप्ति पालवा माटे मन अने वचन रागाकुल थाय तो हुं एकेक नीवी करूं अने काय कुचेष्टा थाय तो उपवास के आयंविल करूं।

१८. अहिंसा व्रते प्रमादाचरण थी मारा थी बेइन्द्रिय प्रमुख जीवनी विराधना थई जाय तो तेनी इन्द्रियो जेटली निवी करूं। सत्य व्रते क्रोध, लोभ, भय अने हास्यादिक ने वश थइ भूठूं बोली जाऊं तो आयंबिल करूं।

१९. अस्तेय व्रते पहेली भिक्षा मां आवेला जे घृतादिक पदार्थो गुरु महाराज ने देखाड्या विना ना होय ते वापरूं नहीं अने डांडो, तर्पणी विगेरे वीजा नी रजा वगर लऊं के वापरूं नहीं अने लऊं के वापरूं तो आयंविल करूं।

२०. ब्रह्मव्रते एकली स्त्री साथे वार्तालाप न करूं अने स्त्रीओ ने स्वतन्त्र भणावुं नहीं। परिग्रह विरमण व्रते एक वर्ष चाले एटली उपधि राखुं, पण तेथी वधारे राखुं नहीं। पात्रा काचलां प्रमुख पन्दर उपरान्त नज राखुं। रात्रिभोजनविरमण व्रते अशन, पान, खादिम, स्वादिम नी लेशमात्र सन्निधि रोगादिक कारणे पण करूं नहीं।

२१. महान् रोग थयो होय तो पण कवाथ नो उकालो न पीऊं, तेमज रात्रे पाणी पीऊं नहीं। सांभे छेली वे घड़ी मां जलपान न करूं।

२२. सूर्य निश्चे देखाते छतेज उचित अवसरे सदा जलपान करी लऊं अने सूर्यास्त पहेलां ज सर्व आहार ना पचक्खाण करी लऊं अने अणाहारी औषध नी सन्निधि पण उपाश्रय मां राखुं—रखावुं नहीं।

२३. तपाचार यथाशक्ति पालुं एटले छट्ठादिक तप करियो होय तेमज योगवहन करतो होऊं, ते विना अवग्रहित भिक्षा लऊं नहि।

२४. लाग लागां वे आयंविल के त्रण नीवी कर्या वगर हुं विगय (दूध, दही, घी प्रमुख) वापरूं नहीं अने विगय वापरूं ते दिवसे खांड प्रमुख साथे मेलवी ने नहीं खावानो नियम जावज्जीव पालुं।

२५. त्रण निवि लागोलाग थाय ते दर्म्यान तेमज विगय वापरवानां दिवसे निवियातां ग्रहण न करूं, तेमज बे दिवस लागट कोई तेवा पुष्ट कारण विना विगय वापरूं नहिं ।

२६. दरेक आठम चउदश ने दहाडे शक्ति होय तो उपवास करूं, नहि तो ते बदल बे आयंबिल के त्रण निवि करि आपूं ।

२७. दर रोज द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव गत अभिग्रह धारण करूं, केम के तेम न करूं तो प्रायश्चित आवे तेम जीतकल्प मां कह्युं छे ।

२८. वीर्याचार यथाशक्ति पालूं एटले हमेशां पांच गाथादिक ना अर्थ ग्रहण करि मनन करूं ।

२९. आखा दिवस मां संयम मार्ग मां प्रसाद करनाराओ ने हुं पांच बार हित-शिक्षा आपूं अने सर्व साधुओने एक मात्रक परठवी आपूं ।

३०. दर रोज कर्मक्षय अर्थे चौवीस के वीस लोगस्स नो काउस्सग्ग करूं अथवा तेटला प्रमाणनुं सज्झाय-ध्यान काउस्सग्ग मां रही स्थिरताथी करूं ।

३१. निद्रादिक प्रमाद वड़े मण्डली मां बराबर वखते हाजर न थइ शकाय तो एक आयंबिल करूं ने सर्व साधुओनी वैयावच्च करूं ।

३२. संघाड़ादिक नो कसो सम्बन्ध न होय तो पण बाल के ग्लान साधु प्रमुखनुं पड़िलेहण करि आपूं, तेमज तेमना खेल प्रमुख मल नीं कुण्डी परठववा विगेरे काम पण यथाशक्ति करि आपूं ।

३३. उपाश्रय मां पेसतां "निस्सिहि" अने निकलतां "आवस्सहि" कहेवी भूली जाऊं तो तेमज गाम मां पेसतां-निसरतां पग पूंजवा विसरि जाऊं तो याद आवे तेज स्थले नवकार मन्त्र गणुं ।

३४. और ३५. कार्य प्रसंगे वृद्ध साधुओ ने 'हे भगवन् ! पसाय करि' अने लघु साधु ने 'ईच्छकार' एटले तेमनी इच्छानुसारे करवानुं कहेवुं भूली जाऊं तो तेमज सर्वत्र ज्यारे ज्यारे भूल पड़े, त्यारे त्यारे "मिच्छामि दुक्कडं" एम कहेवुं जोईए ते विसरी जाऊं तो ज्यारे संभारि आवे अथवा कोई हितस्वी संभारि आपे त्यारे तत्काल नवकार मन्त्र गणुं ।

३६. वडील ने पूछ्यां वगर विशेप वस्तु लऊं दऊं नहीं अने वडील ने पूछीनेज सर्व कार्य करूं पण पूछ्यां वगर करूं नहि । विगेरे विगेरे ।

—पंन्यास श्री कल्याण विजयश्री लिखित तपागच्छ पट्टावली—पृष्ठ सं. १९०–१९३ ।

सोमसुन्दरसूरि ने अपने गच्छ में शिथिलाचार के उन्मूलन के लिये अनेक प्रकार के कठोर कदम उठाये । इसके उपरान्त भी जो श्रमण शिथिलाचार के वशीभूत रहे उन्हें उन्होंने संघ से निष्कासित भी किया । सोमसुन्दरसूरि के विशुद्ध श्रमणाचार की कीर्त्ति चारों ओर प्रसृत हो गई । शिथिलाचारियों के प्रति लोगों

के मन में सम्मान घटने लगा। इससे शिथिलाचारी एवं यति वर्ग के मन में सोमसुन्दरसूरि के प्रति विद्वेषाग्नि प्रज्वलित हुई। यति वर्ग ने अपने विश्वस्त उपासक से एक हिंस्र प्रकृति के पुरुष को ५००) टके (रुपये) का लालच देकर रात्रि के समय सोमसुन्दरसूरि का प्राणान्त कर देने के लिये भेजा। सोमसुन्दरसूरि की हत्या के लिये यतियों द्वारा प्रतिबद्ध किया गया वह व्यक्ति रात्रि के समय उपाश्रय में प्रविष्ट हुआ। वह पुरुष एकान्त में सोये हुए सूरिवर्य पर शस्त्र का प्रहार करने के लिये उद्यत हुआ कि उसी समय सूरिवर्य ने करवट बदलते समय प्रमार्जनी (रजोहरण पूँजणी) से अपने शरीर का प्रमार्जन किया। चन्द्रमा के प्रकाश में यह देखते ही वह पुरुष स्तब्ध रह गया। उसके मन में सहसा विचार आया—

> "जो महापुरुष निद्रितावस्था में भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीव-जन्तुओं पर करुणा करके उन्हें रजोहरण से बचाने का प्रयास करता है, इस प्रकार के दया सागर दीनबन्धु महासन्त का वध कर मैं निश्चित रूप से रसातल में जाकर अनन्त काल तक घोरातिघोर दारुण दुःख भोगता रहूंगा। धिक्कार है मुझे!"

यह कहते हुए वह पुरुष आचार्यश्री सोमसुन्दरसूरि के चरणों पर अपना मस्तक रख बारम्बार उनसे क्षमा-याचना करने लगा। उसने पूरा वृत्तांत सोमसुन्दर-सूरि से निवेदन किया। सूरिवर्य ने शान्त, मधुर शब्दों में उस पुरुष को आश्वस्त करते हुए उसे सम्यक्त्व का बोध दिया।

इस घटना से उस समय की विकट स्थिति का आभास होता है कि उस समय का साधुवर्ग किस दयनीय दशा तक पहुँच चुका था। वह स्वयं तो शिथिलाचार को छोड़ने के लिये किंचित्मात्र भी उद्यत नहीं था और यदि कोई मुमुक्षु महापुरुष शिथिलाचार के उन्मूलन हेतु प्रयत्नशील होता तो उस महापुरुष के प्राणों का अन्त कर देने तक के लिए कृत-संकल्प हो जाता था।

जैन मध्ययुगीन वाङ्मय इस प्रकार के उदाहरणों से भरा पड़ा है कि समय-समय पर अनेक महापुरुषों ने क्रियोद्धार किये। कुछ समय तक विशुद्ध श्रमणाचार का समीचीनतया परिपालन भी क्रियोद्धार के माध्यम से नवोदित श्रमण परम्पराओं में होता रहा, किन्तु "छिद्रेष्वनर्थाः बहुली भवन्ति" इस नीति-सूक्ति के अनुसार एक बार स्खलना हो जाने के अनन्तर स्खलनाओं का अनवरत क्रम चलता ही रहा। तपागच्छ के ५२वें पट्टधर रत्नशेखरसूरि के समय से ही श्रमण-श्रमणी वर्ग में शिथिलाचार उत्तरोत्तर अभिवृद्ध होने लगा।

"सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव जीवाए तिविहं तिविहेणं।" इस शास्त्रीय पाठ से जीवन-पर्यन्त पंच महाव्रतों को चतुर्विध संघ की साक्षी से अंगीकार

करने वाले उस समय के साधुवर्ग में श्रमणाचर्या की अथ से इति तक के छोटे-बड़े सभी प्रकार के नियमों को एक प्रकार से ताक में रखकर विपुल परिग्रह युक्त भोगोपभोगों में आसक्त रहना, सर्व साधन सम्पन्न सुसमृद्ध गृहस्थ की भांति ऐश्वर्यपूर्ण जीवन-यापन करना प्रारम्भ कर दिया था।

चतुर्विध संघ में इस प्रकार की दुर्लक्ष्यपूर्ण स्थिति से एक प्रकार की खलबली-सी उत्पन्न हो गई। संघरथ शिथिलाचार के घोर दलदल में धंसता ही चला गया। ऐसे विकट समय में आवश्यकता थी एक ऐसे महारथी महापुरुष की, जो शिथिलाचार के अथाह दलदल में आधुर फंसे संघरथ को बाहर निकाल कर आगमानुसारी श्रमणाचर्या के प्रशस्त पथ पर जनता को आरूढ़ कर सके।

आवश्यकता आविष्कार की जननी है। तत्कालीन इस अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति हेतु लौंकाशाह नामक महापुरुष ने जिनशासन के संघरथ को विकारों से ओतप्रोत शिथिलाचार के दलदल से बाहर निकालने का बीड़ा उठाया।

लौंकाशाह ने भी वर्द्धमानसूरि-जिनेश्वरसूरि जैसे महान् क्रियोद्धारकों की भांति एकमात्र सर्वज्ञ प्रणीत, गणधर-ग्रथित एवं चतुर्दश पूर्वधरों द्वारा निर्यूढ आगमों को ही सर्वोपरि प्रामाणिक मानते हुए उन आगमों के आधार पर एक सर्वांगपूर्ण धर्मक्रान्ति का सूत्रपात किया।

श्रमण भगवान् महावीर के धर्मसंघ में शिथिलाचार, आडम्बर, विकार एवं आगम विरुद्ध मान्यताओं का लवलेश तक अवशिष्ट न रहे इस अटल निश्चय के साथ लौंकाशाह ने लोक के समक्ष यह उद्घोष किया कि जैन धर्म वीतराग जिनेन्द्र तीर्थंकर प्रभु द्वारा प्रदर्शित धर्म है, न कि किसी आचार्य द्वारा प्रदर्शित। अतः प्रत्येक जैन धर्मानुयायी के लिए जिनप्रणीत आगम ही सर्वोपरि मान्य एवं परम प्रामाणिक हो सकते हैं, न कि आचार्यों द्वारा रचित निर्युक्तियां, भाष्य, वृत्तियाँ और चूर्णियाँ आदि पंचांगी।

लौंकाशाह ने यह अनुभव किया कि धर्म के आगमिक स्वरूप और तीर्थ स्थापना के समय से चले आ रहे विशुद्ध मूल श्रमणाचार में चैत्यवासी परम्परा द्वारा उत्पन्न की गई विकृतियों के उन्मूलन के लिए समय-समय पर महापुरुषों द्वारा जितने भी क्रियोद्धार किये गये हैं, वे वस्तुतः स्तुत्य होते हुए भी सर्वांगपूर्ण क्रियोद्धार की कोटि में नहीं आ पाये और उनकी सफलता के लिए चतुर्विध संघ से अपेक्षित सहयोग नहीं मिला। उन क्रियोद्धारों का सूत्रपात करते समय यदि धर्मसंघ में बुराइयों के प्रविष्ट होने के द्वारों को ही बन्द कर दिया जाता, केवल आगमों को ही सर्वोपरि प्रामाणिक मानकर निर्युक्तियों, भाष्यों, वृत्तियों एवं चूर्णियों को आगमों के समकक्ष ही प्रामाणिक न मानकर शिथिलाचार के समस्त प्रवेश-द्वारों को एक बार में ही अवरुद्ध कर दिया जाता तो उस समग्र क्रान्ति के पश्चात् बारबार के क्रियोद्धार की आवश्यकता ही नहीं रहती।

लौंकाशाह द्वारा किये गये आमूलचूल परिवर्तनकारिणी सर्वांगपूर्ण समग्र धर्मक्रान्ति के सूत्रपात के पीछे यह एक बहुत बड़ा कारण था, और थी एक हृदय-द्राविणी पृष्ठभूमि ।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है वर्द्धमानसूरि-जिनेश्वरसूरि, आर्यरक्षित-सूरि, जगच्चन्द्रसूरि और सोमसुन्दरसूरि आदि महापुरुषों द्वारा प्रारम्भ किये गये क्रियोद्धार के पूर्णरूपेण सफल न होने के परिणामस्वरूप श्रमण भगवान् महावीर का धर्मसंघ शिथिलाचार, विकृतियों और विकारों के दल-दल में उत्तरोत्तर गहरा धंसता ही चला गया ।

तपागच्छ पट्टावली के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर के ५५वें पट्टधर श्री हेमविमलसूरि के आचार्यकाल में तो शिथिलाचार पराकाष्ठा तक पहुँच चुका था तथा उनके उत्तराधिकारी एवं श्रमण भगवान् महावीर के ५६वें पट्टधर आनन्द विमलसूरि के समय में तो न केवल शिथिलाचार ही, अपितु धर्म और श्रमणाचार के विशुद्ध स्वरूप में पनपे हुए विकार वस्तुतः विकृति की पराकाष्ठा को भी पार कर चुके थे । इस सम्बन्ध में विशेष कहने की आवश्यकता नहीं, केवल आनन्द विमल-सूरि के मुख से प्रकट किये हुए तत्कालीन दयनीय परिस्थिति विषयक निम्नलिखित उद्गारों का उल्लेख मात्र ही पर्याप्त होगा :—

"..........आनन्द विमलसूरि ने श्री राजविजयसूरि को कहा—"तुम विद्वान् हो इसलिए हम तुम्हारे पास आये हैं, लुंकामति जिनशासन का लोप कर रहे हैं, मेरा आयुष्य तो अब परिमित है, परन्तु तुम दोनों योग्य हो, विद्वान् हो और परिग्रह सम्बन्धी मोह छोड़कर वहीवट की वटियां जल में घोल दी हैं, सवा मन सोने की मूर्त्ति अन्ध कूप में डाल दी, सवा पाव सेर मोतियों का चूरा करवा कर फेंक दिया है, दूसरा भी सभी प्रकार का परिग्रह छोड़ दिया है ।.........."[1]

अपने समय के एक महान् क्रियोद्धारक, घोर तपस्वी महापुरुष के उद्गारों से दो निर्विवाद तथ्य प्रकाश में आते हैं । पहला तो यह कि लौंकाशाह द्वारा की गई ऐतिहासिक समग्र धर्म क्रान्ति से पूर्व श्रमण भगवान् महावीर के धर्म संघ का श्रमण वर्ग शास्त्रों में उल्लिखित श्रमण जीवन की सभी मर्यादाओं को ताक में रखकर शिथिलाचार में पूर्ण रूपेण प्रलिप्त और विपुल परिग्रह का स्वामी बन चुका था । दूसरा तथ्य यह प्रकाश में आता है कि लौंकाशाह द्वारा पूरे गये समग्र धर्म क्रान्ति के शंखनाद ने तत्कालीन श्रमण वर्ग की मोह निद्रा को भंग कर उसमें नवीन स्फूर्ति एवं चेतना का संचार किया ।

---

१. पट्टावली पराग संग्रह, द्वितीय परिच्छेद, पृष्ठ १८८–१८९ ।

करने वाले उस समय के साधुवर्ग में श्रमणाचर्या की अथ से इति तक के छोटे-बड़े सभी प्रकार के नियमों को एक प्रकार से ताक में रखकर विपुल परिग्रह युक्त भोगोपभोगों में आसक्त रहना, सर्व साधन सम्पन्न सुसमृद्ध गृहस्थ की भांति ऐश्वर्यपूर्ण जीवन-यापन करना प्रारम्भ कर दिया था।

चतुर्विध संघ में इस प्रकार की दुर्लक्ष्यपूर्ण स्थिति से एक प्रकार की खलबली-सी उत्पन्न हो गई। संघरथ शिथिलाचार के घोर दलदल में धंसता ही चला गया। ऐसे विकट समय में आवश्यकता थी एक ऐसे महारथी महापुरुष की, जो शिथिलाचार के अथाह दलदल में आधुर फंसे संघरथ को बाहर निकाल कर आगमानुसारी श्रमणाचर्या के प्रशस्त पथ पर जनता को आरूढ़ कर सके।

आवश्यकता आविष्कार की जननी है। तत्कालीन इस अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति हेतु लौंकाशाह नामक महापुरुष ने जिनशासन के संघरथ को विकारों से ओतप्रोत शिथिलाचार के दलदल से बाहर निकालने का बीड़ा उठाया।

लौंकाशाह ने भी वर्द्धमानसूरि-जिनेश्वरसूरि जैसे महान् क्रियोद्धारकों की भांति एकमात्र सर्वज्ञ प्रणीत, गणधर-ग्रथित एवं चतुर्दश पूर्वधरों द्वारा निर्यूढ आगमों को ही सर्वोपरि प्रामाणिक मानते हुए उन आगमों के आधार पर एक सर्वांगपूर्ण धर्मक्रान्ति का सूत्रपात किया।

श्रमण भगवान् महावीर के धर्मसंघ में शिथिलाचार, आडम्बर, विकार एवं आगम विरुद्ध मान्यताओं का लवलेश तक अवशिष्ट न रहे इस अटल निश्चय के साथ लौंकाशाह ने लोक के समक्ष यह उद्‌घोष किया कि जैन धर्म वीतराग जिनेन्द्र तीर्थंकर प्रभु द्वारा प्रदर्शित धर्म है, न कि किसी आचार्य द्वारा प्रदर्शित। अतः प्रत्येक जैन धर्मानुयायी के लिए जिनप्रणीत आगम ही सर्वोपरि मान्य एवं परम प्रामाणिक हो सकते हैं, न कि आचार्यों द्वारा रचित निर्युक्तियां, भाष्य, वृत्तियाँ और चूर्णियाँ आदि पंचांगी।

लौंकाशाह ने यह अनुभव किया कि धर्म के आगमिक स्वरूप और तीर्थ स्थापना के समय से चले आ रहे विशुद्ध मूल श्रमणाचार में चैत्यवासी परम्परा द्वारा उत्पन्न की गई विकृतियों के उन्मूलन के लिए समय-समय पर महापुरुषों द्वारा जितने भी क्रियोद्धार किये गये हैं, वे वस्तुतः स्तुत्य होते हुए भी सर्वांगपूर्ण क्रियोद्धार की कोटि में नहीं आ पाये और उनकी सफलता के लिए चतुर्विध संघ से अपेक्षित सहयोग नहीं मिला। उन क्रियोद्धारों का सूत्रपात करते समय यदि धर्मसंघ में बुराइयों के प्रविष्ट होने के द्वारों को ही बन्द कर दिया जाता, केवल आगमों को ही सर्वोपरि प्रामाणिक मानकर निर्युक्तियों, भाष्यों, वृत्तियों एवं चूर्णियों को आगमों के समकक्ष ही प्रामाणिक न मानकर शिथिलाचार के समस्त प्रवेश-द्वारों को एक बार में ही अवरुद्ध कर दिया जाता तो उस समग्र क्रान्ति के पश्चात् बारबार के क्रियोद्धार की आवश्यकता ही नहीं रहती।

६. गुरु महाराज यदि दूर हों तो पत्र के माध्यम से चातुर्मासावास की आज्ञा गुरुदेव से प्राप्त की जाय।
७. किसी साधु को अकेले (एकाकी) विहार नहीं करने दिया जाय।
८. यदि कोई साधु एकाकी ही विहार करता हुआ आए तो उसे मांडले-पट्ट पर न बिठाया जाय।
९. दोज, पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा— इस प्रकार एक मास में १२ दिन तक भिक्षा, गोचरी में विकृतियां (विगय) न वहरी जाए एवं इन तिथियों के दिन उपवास, आचाम्ल, नीवी आदि की यथाशक्ति तपस्या की जाय।
१०. तिथि वृद्धि की अवस्था में एक दिन विगय ग्रहण न की जाय।
११. पात्रों पर रंग रोगन न किया जाय।
१२. पात्रों को काला-कलूटा रक्खा जाय। उन्हें आकर्षक अथवा चमकीला न रखा जाय।
१३. योगोद्वहन के बिना आगमों का वाचन न किया जाय।
१४. एक समाचारी वाले साधु यदि किसी समय दूसरे उपाश्रय में रहें तो गीतार्थ के पास उपस्थित हो उन्हें वन्दना करने के पश्चात् शय्यान्तर का घर पूछ कर भिक्षाचरी करनी चाहिये।
१५. एक दिन में आठ थुई (स्तुति) वाले देव का एक वार वन्दन किया जाय।
१६. दिन में ढाई हजार (श्लोक प्रमाण) स्वाध्याय-ध्यान करना चाहिये। यदि इतना न बन पड़े तो कम से कम सौ श्लोक प्रमाण स्वाध्याय-ध्यान अवश्यमेव किया जाय।
१७. वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि उपकरण साधु स्वयं वहन करे। किसी भी गृहस्थ से उनका वहन न करवाए।
१८. वर्ष भर में एक वार ही वस्त्र प्रक्षालन किया जाय, दूसरी बार नहीं।
१९. पौशाल में कोई भी साधु न जाय।
२०. पौशाल में पढ़ने के लिए भी न जाय।
२१. किसी लेखक के पास से एक हजार श्लोक प्रमाण से अधिक का आलेखन न करवाया जाय।
२२. द्रव्य देकर किसी भट्ट (ब्राह्मण) के पास कोई (साधु) न पढ़े।
२३. जिस गांव में चातुर्मासावास किया वहां चातुर्मासावसान के अनन्तर वस्त्र ग्रहण करना साधु के लिए कल्पनीय नहीं।

लौंकाशाह से पूर्व समय-समय पर जितने भी क्रियोद्धार किये गये उनमें यदि प्रमुख एवं अटल नियम अनिवार्य रूपेण सम्मिलित कर लिये जाते कि जिनेश्वर भगवान् के अनुयायी प्रत्येक जैन के लिये जिन प्ररूपित एक मात्र आगम ही सर्वोपरि प्रामाणिक होंगे और निर्युक्तियां, भाष्य, वृत्तियां एवं चूर्णियां आगमों के समकक्ष किसी भी दशा में नहीं मानी जावेंगी, तो उस दशा में शिथिलाचारोन्मुख श्रमण-श्रमणी वर्ग को पंचांगी का सहारा लेकर शिथिलाचार की ओर उन्मुख होने का अवकाश ही नहीं रहता, उसका रास्ता ही खुला नहीं रहता।

लौंकाशाह ने वि० सं० १५०८ में महान् धर्म क्रान्ति का सूत्रपात्र किया। स्वयं लौंकाशाह ने, उनके अनुयायियों ने तथा धर्म क्रान्ति के परिणामस्वरूप आगमों में प्रदर्शित विशुद्ध श्रमण पथ पर अग्रसर हुए जिनमती (जिन्हें विरोधी और अन्य लोग लूंकामती के सम्बोधन से सम्बोधित करने लगे) श्रमण-श्रमणी वर्ग ने धर्म के विशुद्ध आगमिक स्वरूप का प्रचार-प्रसार करना प्रारम्भ किया। स्वल्प काल में ही लौंकाशाह द्वारा पुनरुद्घाटित धर्म के विशुद्ध स्वरूप के अनुयायियों की संख्या आशातीत रूप से अभिवृद्ध होती गई। देश के विभिन्न भागों में लौंकाशाह की कीर्ति-पताका फहराने लगी।

लौंकाशाह द्वारा की गई धर्म क्रान्ति के परिणामस्वरूप विशुद्ध आगमिक पथ के अनुयायियों की देश के प्रायः सभी भागों में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई संख्या को देखकर अन्य गच्छों ने अनुभव किया कि लुंका के अनुयायियों के प्रचार-प्रसार से उनके अस्तित्व पर संकट के बादल मंडराने लगे हैं। इस आशंका से प्रेरित होकर तपागच्छ के ५६वें पट्टधर आनन्द विमलसूरि ने वि० सं० १५८२ में क्रियोद्धार किया। क्रियोद्धार के पश्चात् वि० सं० १५८३ में घोर तपश्चरण के साथ निम्नलिखित ३५ बोलों अथवा नियमों की घोषणा की—

१. गुरु की आज्ञा से ही विहार करना।
२. केवल वणिक् जाति के विरक्तों को ही श्रमण-श्रमणी धर्म में दीक्षित करना। अन्य जाति के लोगों को नहीं।
३. गीतार्थ की निश्रा में महासति (साध्वी) को दीक्षा दी जाय।
४. गुरुदेव दूर हों तथा अन्य कोई गीतार्थ मुनि पास में हों और उनके पास यदि कोई विरक्त दीक्षा लेने के लिए आये तो उसकी पूरी परीक्षा लेने के पश्चात् वेष परिवर्तन करवाया जाय और विधिपूर्वक दीक्षा गुरुदेव के पास ही दिलवाकर उसको योगोद्वहन करवाया जाय।
५. पाटन में गीतार्थों का समूह रहे। चातुर्मासावधि में दूसरे नगरों में ६-६ ठाणा (संख्या) एवं गांवों में ३-३ ठाणा (संख्या) से चातुर्मासावास किया जाय।

६. गुरु महाराज यदि दूर हों तो पत्र के माध्यम से चातुर्मासावास की आज्ञा गुरुदेव से प्राप्त की जाय।

७. किसी साधु को अकेले (एकाकी) विहार नहीं करने दिया जाय।

८. यदि कोई साधु एकाकी ही विहार करता हुआ आए तो उसे मांडले-पट्ट पर न बिठाया जाय।

९. दोज, पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा—इस प्रकार एक मास में १२ दिन तक भिक्षा, गोचरी में विकृतियां (विगय) न बहरी जाए एवं इन तिथियों के दिन उपवास, आचाम्ल, नीवी आदि की यथाशक्ति तपस्या की जाय।

१०. तिथि वृद्धि की अवस्था में एक दिन विगय ग्रहण न की जाय।

११. पात्रों पर रंग रोगन न किया जाय।

१२. पात्रों को काला-कलूटा रक्खा जाय। उन्हें आकर्षक अथवा चमकीला न रखा जाय।

१३. योगोद्वहन के बिना आगमों का वाचन न किया जाय।

१४. एक समाचारी वाले साधु यदि किसी समय दूसरे उपाश्रय में रहें तो गीतार्थ के पास उपस्थित हो उन्हें वन्दना करने के पश्चात् शय्यान्तर का घर पूछ कर भिक्षाचरी करनी चाहिये।

१५. एक दिन में आठ थुई (स्तुति) वाले देव का एक वार वन्दन किया जाय।

१६. दिन में ढाई हजार (श्लोक प्रमाण) स्वाध्याय-ध्यान करना चाहिये। यदि इतना न बन पड़े तो कम से कम सौ श्लोक प्रमाण स्वाध्याय-ध्यान अवश्यमेव किया जाय।

१७. वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि उपकरण साधु स्वयं वहन करे। किसी भी गृहस्थ से उनका वहन न करवाए।

१८. वर्ष भर में एक बार ही वस्त्र प्रक्षालन किया जाय, दूसरी बार नहीं।

१९. पौशाल में कोई भी साधु न जाय।

२०. पौशाल में पढ़ने के लिए भी न जाय।

२१. किसी लेखक के पास से एक हजार श्लोक प्रमाण से अधिक का आलेखन न करवाया जाय।

२२. द्रव्य देकर किसी भट्ट (ब्राह्मण) के पास कोई (साधु) न पढ़े।

२३. जिस गांव में चातुर्मासावास किया वहां चातुर्मासावसान के अनन्तर वस्त्र ग्रहण करना साधु के लिए कल्पनीय नहीं।

२४. अकाल में सज्झाय करने पर आचाम्ल किया जाय।

२५. सदा (बारहों मास) एकाशन किया जाय।

२६. बेले आदि के पारणे पर गुरुदेव की आज्ञानुसार तपश्चरण किया जाय।

२७. 'परिट्ठावणियागारेणं' न किया जाय।

२८. अष्टमी, चतुर्दशी और शुक्ल पक्ष की पंचमी इन पांच तिथियों में उपवास रक्खा जाय।

२९. अष्टमी और चतुर्दशी के दिन विहार न किया जाय।

३०. नीवी में एक (**निवियातां थी (?)**) नीवी से अधिक न लिया जाय।

३१. ८४ गच्छों के साधुओं में से किसी भी साधु को गुरु की आज्ञा के बिना अपने पास न रक्खा जाय।

३२. गुरु को बिना पूछे कोई नई प्ररूपणा, किसी नई समाचारी का उपदेश प्रारम्भ न किया जाय।

३३. सद्यः निर्मापित स्थान में न रहा जाय।
(नवो निवासस्थान न धारवो)

३४. कोरपाण वाला वस्त्र न लिया जाय।

३५. कोरे वस्त्र में सलवट डाले जाएं, एक दम नवीन (नया नटंग) अबोट वस्त्र गीतार्थ मुनि को छोड़ अन्य कोई साधु अपने काम में न ले।

इस प्रकार ३५ बोलों की घोषणा के पश्चात् 'आनन्द विमलसूरि' ने विभिन्न क्षेत्रों में घूम-घूम कर लौंकागच्छ, खरतरगच्छ, कड़वामत, बीजामत आदि कतिपय गच्छों के विरुद्ध प्रचार करते हुए तपागच्छ को सुदृढ़ शक्तिशाली एवं लोकप्रिय बनाने का अभियान प्रारम्भ किया। क्रियोद्धार के पश्चात् आनन्द विमलसूरि ने १४ वर्ष जैसी सुदीर्घावधि तक बेले-बेले की तपस्या की।

आनन्द विमलसूरि के इस कठोर तपश्चरण, उग्र विहार और स्थान-स्थान पर धर्म प्रचार के परिणामस्वरूप तपागच्छ एक शक्तिशाली बहुजनमान्य लोकप्रिय संघ के रूप में उदित हुआ।

तपागच्छ पट्टावली के उल्लेखानुसार आनन्द विमलसूरि की आज्ञा में विचरण करने वाले साधुओं की संख्या १८०० तक पहुँच गई थी।[1] इसके विपरीत

१. तपागच्छ पट्टावली पृष्ठ २११
पं. कल्याण विजयजी द्वारा सम्पादित

गच्छों में पारस्परिक विद्वेष की अग्नि प्रबल वेग से भड़क उठी थी और उस विद्वेषाग्नि में आत्मीयता और स्नेह के सुदृढ़ बन्धन भी टूट रहे थे।

विविध पट्टावलियों के उल्लेखों से यह आभास होता है कि आनन्द विमलसूरि के आचार्य काल में भी साम्प्रदायिक विद्वेष बड़ा उग्र रूप धारण कर गया था और वह उपाध्याय धर्म सागर के समय के साम्प्रदायिक विद्वेष की अपेक्षा भी अधिक घातक था। इस सम्बन्ध में तपागच्छ पट्टावली का निम्नलिखित उल्लेख वस्तुतः मननीय हैं :—

"दिवसे दिवसे गच्छ ममत्व बधतुँ जतुँ हतुँ। खरतर तेमज तपागच्छना साधु वच्चे कदाग्रह वधी पड्यो हतो अने येन केन प्रकारेण एक बीजा अन्य गच्छीय साधुओनो पराभव करवा मां रत रहेता। कहेवाय छे के आ ममत्वे एवु जोर पकड्यु के तेना मद मां कार्याकार्य नु पण भान न रह्यु। खरतरगच्छीय साधु ए भैरव नी आराधना करी तेनां द्वारा तपागच्छीय लगभग ५०० **साधुओ नो संहार कराव्यो।** आ निर्दय समाचार सांभलतां ज आनन्द विमलसूरि नुँ मन खिन्न वण्यु। तपागच्छनी सार सम्भालनो बोझो पोता ने सिर होवा थी आवा कृत्यो नी उपेक्षा करी शकाय तेम न हतु। पोते पोता नो पालनपुर तरफ विहार लम्बावी मगरवाड़ा नी झाड़ी मां वास कर्यो। रात्रिए ध्यानस्थ अवस्था समये मणिभद्र देव तेम नी समक्ष प्रकट थयो अने आज्ञा फरमाववां जणाव्यु। गुरु महाराजे खरतरगच्छीय यतियो नां ज़ुलमो नी वात कही वतावी। तेवा सितमो नु निवारण करवा नु कह्यु। मणिभद्रे शासन भक्ति ने अंगे ते कथन स्वीकार्यु पण साथो साथ मांगणी करी के तपागच्छ ना देरासरो तेमज उपाश्रयो मां मारी मूर्त्ति नी स्थापना करवामां आवे। गुरु ए तेनु वचन स्वीकार्यु ने ते वात नी साक्षी रूपे अत्यारे पण केटलाक स्थलो ए मणिभद्र नी मूर्त्ति नी स्थापना जोवा मां आवे छे।"[1]

भैरव की साधना कर तपागच्छ के ५०० साधुओं की हत्या करवा दिये जाने विषयक यह उल्लेख वस्तुतः विज्ञों के लिए विचारणीय है। ज्ञान सम्बन्धर और अप्पर की प्रेरणा से पाण्ड्य राज एवं पल्लवराज द्वारा ५००-५०० जैन साधुओं की सामूहिक हत्या करवाये जाने के उल्लेख तो उपलब्ध होते हैं किन्तु दैवी शक्ति के माध्यम से तपागच्छ के ५०० साधुओं की हत्या करवा दिये जाने का इस प्रकार का उल्लेख जैन इतिहास में अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता।

इस सन्दर्भ में शास्त्रों में वर्णित आनन्द कामदेव चुलणी पिया, शतक आदि दस श्रावकों के साधनावृत्त, देवों द्वारा उनके समक्ष उपस्थित किये गये घोर

---

१. तपागच्छ पट्टावली पृष्ठ २०९ से २१०
पं. कल्याण विजयजी द्वारा सम्पादित

उपसर्गों के उपरान्त भी उनकी एकमात्र जिनेन्द्रदेव के प्रति अटूट आस्था के साथ-साथ वीर निर्वाण सं० २०५२ से लेकर वीर नि० सं० २०६६ के बीच की अवधि में श्रमण भगवान् महावीर के ५६वें पट्टधर तपागच्छीय आचार्य आनन्द विमलसूरि द्वारा देरासरों एवं उपाश्रयों में मणिभद्र व्यन्तर की मूर्त्तियों की स्थापना सम्बन्धी स्वीकृति की घटना का तुलनात्मक अध्ययन सत्य के जिज्ञासुओं के लिए बड़ा ही रोचक सिद्ध होगा।

उपरिवर्णित साम्प्रदायिक विद्वेष के युग में भी पारस्परिक सद्भाव के कुछ उदाहरण भी जैन वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं। एतद्विषयक तपागच्छ पट्टावली का निम्नलिखित उल्लेख द्रष्टव्य है :—

"..........दान आपतां आपतां एक तुर्की शख्स साथे कुंवरजी सेठनी बोलाचाली थई। तुर्की सिपाहीए सूरिजी ने पुनः फंसाववाना इरादा थी आठ दिवस बाद कोतवाल पासे जइ कान भमेर्या। कोतवाले सिताब खान ने बात करी। खाने गुस्से थइ सुरिजी ने पकड़वा सिपाहिओ मोकल्या। सिपाहिओ ए झवेरीवाड़ा में आवी सूरिजी ने पकड्या। सिपाहिओ सूरिजी ने ज्यारे लेइ जावा लाग्या त्यारे राघव नाम नो गन्धर्व अने श्री सोमसागर वच्चे पड्या। छेवटे हीर विजयसूरि ने छोड़ाव्या अने सूरिजी उघाड़े शरीरे त्यांथी नासी छूट्या। आ समये देवजी नाम ना लौंका ए तेमने आश्रय आप्यो हतो। केटलाक दिवसो बाद आ धमाल शान्त पड़ी अने सूरिजी पुनः प्रकट पणे विहार करवा लाग्या।[1]..........."

तपागच्छ की पट्टावली के अनुसार भगवान् महावीर के ५८वें पट्टधर यही हीरविजयसूरि महान् जिनशासन प्रभावक आचार्य हुए।

हीरविजयसूरि की परम भक्त एक चांपा नाम की श्राविका ने छः मास के उपवास का फतहपुर सीकरी में उग्र तप किया। संघ ने श्राविका चांपा की इस तपश्चर्या की प्रभावना के उपलक्ष्य में विविध वाद्य-यन्त्रों के साथ शोभा-यात्रा (वर-घोड़ा) निकाली। बादशाह अकबर ने अपने महलों से उस विशाल शोभा-यात्रा के सुन्दर दृश्य को देखकर अपने अनुचरों से उस आयोजन के सम्बन्ध में पूछताछ की। जब उसे विदित हुआ कि एक महिला ने छः मास की निराहार तपस्या की है तो बादशाह अकबर ने बड़े सम्मान के साथ तपस्विनी चांपा को राजभवन में बुलवा कर उसकी उस आश्चर्यकारिणी तपस्या के सम्बन्ध में पूछा कि वह इस प्रकार की अद्भुत तपश्चर्या कैसे कर पाई ? जब चांपा ने उत्तर में यह कहा कि यह सब मेरे पूज्य गुरुदेव हीरविजयसूरि का ही प्रताप है, तो बादशाह के अन्तःकरण में हीर-

१. तपागच्छ पट्टावली, पं. कल्याण विजयजी द्वारा सम्पादित पृष्ठ संख्या २२७

विजयसूरि के दर्शनों की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई। बादशाह ने गुजरात के प्रशासक शिताब खान के नाम फरमान और हीरविजयसूरि के पास विनन्तिपत्र भेजकर हीरविजयसूरि के दर्शनों की अपनी आन्तरिक इच्छा प्रकट की।

बादशाह के फरमान को देखते ही गुजरात का सूबेदार शिताब खान सिहर उठा। हीरविजयसूरि के साथ उसने जो अनेक बार दुर्व्यवहार किये थे, उसके लिए उसने सूरिजी से पुनः पुनः क्षमायाचना की। हीरविजयसूरि गुजरात से विहार कर फतहपुर सीकरी पहुंचे। अकबर ने उन्हें अपने दरबार में बड़े सम्मान के साथ आमन्त्रित किया। हीरविजयसूरि के उपदेशों को सुनकर अकबर बड़ा प्रसन्न हुआ। सूरिजी के परामर्श को मानकर उसने खाने के लिए एकत्र किये गये अनेक जाति के हजारों पक्षियों को पिंजरों से मुक्त कर दिया। सूरिजी के उपदेश से अकबर ने जजिया कर और तीर्थ-स्थानों में यात्रियों से वसूल किया जाने वाला 'मूंडका' कर बन्द कर दिया। सूरिजी के उपदेश से प्रभावित होकर अकबर ने अपने सुविशाल साम्राज्य में अनेक बार अमारियों (अभयदान) की भी घोषणाएं करवाईं। हिन्दवा सूर्य के विरुद से विभूषित महाराणा प्रताप ने भी वि० सं० १६३५ की आश्विन शुक्ला पंचमी गुरुवार के दिन हीरविजयसूरि की सेवा में एक पत्र भेजकर उन्हें उदयपुर पधारने की प्रार्थना की।

तत्कालीन मेवाड़ी भाषा में महाराणा द्वारा हीरविजयसूरि को लिखवाये गये उस पत्र की प्रतिलिपि निम्न प्रकार है :—

"स्वस्ति श्री मगसुदा नग्र महाशुभस्थानै सरव औपमा लाअंक भट्टारकजी महाराज श्री हीरविजयसूरि जी चरण कमलां अणे स्वस्त श्री वजेकटक चाउंड रा डेरा सुथाने महाराजाधिराज श्री राणा प्रतापसिंह जी की पगे लागणो वंचसी। अठारा समाचार भला है आपरा सदा भला छाइजे। आप वड़ा है, पूजनीक है, सदा करपा राखे जीसु ससह (श्रेष्ठ) रखावेगा अप्रं आपरो पत्र अणा दना म्हे आया नहीं सो करपा कर लखावेगा। श्री वड़ा हजूर री वगत पदारवो हुवो जीमें अठासूं पाछा पदारता पातसा अकब्रजी ने जेना वाद म्हे ग्रानरा प्रतिवोद दीदो जीरो चमत्कार मोटो बताया जीवहंसा छरकली (चिड़िया) तथा नाम पखेरु (पक्षी) वेती सो माफ कराइ जीरो मोटो उपगार किदो सो श्री जैन रा धर्म में आप अना-हीज अदोतकारी अवार की सै (समय) देखतां आप जू फेरवे न्हीं आवी पूरब ही हीदुसस्थान अत्रवेद गुजरात सुदा चारु हसा म्हे धर्म रो वड़ो अदोतकार देखाणो, जठा पछे आपरो पदारणो हुवो न्हीं सो कारण कही वेगा पदारसी आगे सु पटा प्रवाना कारण रा दस्तुर माफक आप्रे हे जी माफक तोलमुरजाद सामो आवो सा वतरेगा श्री वड़ा हजुर री वखत आप्री मुरजाद सामो आवा री कसर पड़ी सुणी सो काम कारण लेखे भूल रही वेगा जीरो अंदेसो नहीं जाणेगा। आगेनु श्री हेमा आचारजी ने श्री राम्हे मान्या हे जीरो पटो कर देवाणो जि माफक अरो पगरा भटारक गादी

प्र आवेगा तो पटा माफक मान्या जावेगा। श्री हेमाचारजी पेलां ही वडगच्छ रा भट्टारखजी ने वड़ा कारण सु श्री राज म्हे मान्यां जि माफक आपने आपरा पगरा गादी प्रपाटहवी तपगच्छ रा ने मान्या जावेगारी सुवाये देश म्हे आप्रे गच्छ रो देवरो तथा उपासरो वेगा जीरो मुरजाद श्री राजसु वा दुजा गच्छरा भट्टारख आवेगा सो राखेगा। श्री समगोरो समत १६३५ रा वर्ष आसोज सुद ५ गुरुवार।"

—तपागच्छ पट्टावली कल्याण विजयजी महाराज लिखित, पृष्ठ सं. २३४।

हीरविजयसूरि वस्तुतः बड़े मृदुभाषी गुणग्राही और अपने समय के महान् प्रभावक आचार्य थे। तपागच्छ पट्टावली के उल्लेखानुसार इनके उपदेशों से प्रभावित होकर लौंकागच्छ के मेघजी ऋषि ने अपने तीस साथी साधुओं के साथ लौंकागच्छ का त्याग कर वि० सं० १६२८ में तपागच्छ की आम्नाय स्वीकार की। हीरविजयसूरि ने इनका नाम उद्योतविजय रक्खा। बादशाह अकबर के सान्निध्य में रहने वाले नागौर निवासी जैताशाह नामक जैन गृहस्थ ने भी हीरविजयसूरि के उपदेशों से प्रबुद्ध हो उनके पास श्रमण धर्म की दीक्षा अंगीकार की। हीरविजयसूरि ने उनका नाम जीतविजय रक्खा किन्तु लोग उन्हें बादशाही यति के नाम से ही अभिहित किया करते थे। जैताशाह को श्रमण धर्म में दीक्षित करने की घटना से हीरविजयसूरि का प्रभाव दूर-दूर तक फैला।

हीरविजयसूरि के आचार्यकाल में उनके आज्ञानुवर्त्ती साधुओं की संख्या लगभग २ हजार और साध्वियों की संख्या ३००० होने का उल्लेख उपलब्ध होता है।[१]

यह वस्तुतः तपागच्छ का स्वर्णकाल था। तपागच्छ की निम्नलिखित १८ शाखाओं का उल्लेख एक पद्य में इस रूप में उपलब्ध होता है :—

विजै १, विमल २, रुचि ३, सार ४, हर्ष ५, सुन्दर ६, सौभागी ७।
कीरत ८, धरम ९, उदार १०, कुशल प्रभ ११, हंस १२, सुरागी १३॥
नन्द १४, सागर १५, चन्द १६, सोम १७, वर्द्धन १८ अधिकाई।
तपगच्छ साख अठारह, ए ऋप सब ही भाई॥१॥

---

१. श्री तपागच्छ पट्टावली पंन्यास कल्याण विजयजी द्वारा सम्पादित, पृष्ठ संख्या २३५–२३६।

श्रमण भ. महावीर के ५५वें पट्टधर
आ. श्री जीवराज जी महाराज

जन्म	वीर नि० सं० १७०६
दीक्षा	,, १७२२
आचार्यपद	,, १७५८
स्वर्गारोहण	,, १७७६
गृहवास पर्याय	१३ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	३६ वर्ष
आचार्य पर्याय	२१ वर्ष
पूर्ण संयम पर्याय	५७ वर्ष
पूर्ण आयु	७० वर्ष

आचार्यश्री महासेन के स्वर्गस्थ हो जाने पर वीर नि० सं० १७५८ में चतुर्विध संघ ने मुनिश्री जीवराज जी को आचार्यपद के सर्वथा सुयोग्य समझकर श्रमण भगवान महावीर की विशुद्ध मूल परम्परा के ५५वें पट्टधर के रूप में आचार्य पद पर आसीन किया।

आपने अपने २१ वर्ष की आचार्य-पर्याय और ५७ वर्ष की पूर्ण संयम पर्याय में धर्म के वास्तविक मूल स्वरूप को यथावस्थित रूप में अक्षुण्ण बनाये रक्खा। आपके समय में चारों ओर शिथिलाचार का प्राबल्य होते हुए भी आपने अपने अनुयायी साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका वर्ग को बाह्याडम्बर विहीन आगम सम्मत, विशुद्ध मूल पथ पर गतिशील बनाये रक्खा। अन्ततोगत्वा आपने वीर नि. सं. १७७६ में विशुद्ध भाव से आलोचना-संलेखना-संथारापूर्वक समाधिस्थ हो ७० वर्ष की आयु पूर्ण कर स्वर्गारोहण किया।



श्रमण भ. महावीर के ५६वें पट्टधर
आ. श्री गजसेन

जन्म	वीर नि० सं० १७२१
दीक्षा	„ १७४४
आचार्यपद	„ १७७९
स्वर्गारोहण	„ १८०६
गृहवास पर्याय	२३ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	३५ वर्ष
आचार्य पर्याय	२७ वर्ष
पूर्ण संयम पर्याय	६२ वर्ष
पूर्ण आयु	८५ वर्ष

श्रमण भगवान् महावीर की मूल परम्परा के ५५वें आचार्यश्री जीवराज जी के समाधिपूर्वक वीर नि. सं. १७७९ में स्वर्गस्थ हो जाने के अनन्तर चतुर्विध धर्म संघ ने श्रमणश्रेष्ठ आगममर्मज्ञ श्री गजसेन मुनि को भगवान महावीर के ५६वें पट्टधर आचार्यपद पर अधिष्ठित किया।

आपने अपने ३५ वर्ष की सामान्य साधु पर्याय में आगमों का तलस्पर्शी अध्ययन करते हुए, विशुद्ध श्रमणाचार के पालन के साथ-साथ श्रमण भगवान महावीर की मूल (परम्परा) अध्यात्म परायणा भाव परम्परा का विभिन्न क्षेत्रों में प्रचार-प्रसार किया।

वीर नि. सं. १७७९ में आचार्यपद पर आसीन होने के पश्चात् आपने अपने श्रमण-श्रमणी वर्ग को शास्त्रों का तलस्पर्शी ज्ञान करवाया और श्रावक-श्राविका संघ को व्रत-नियम-प्रत्याख्यान, स्वाध्याय, सुपात्र-दान, अभय-दान आदि की प्रेरणा देकर जिनशासन की महिमा को बढ़ाया। ८५ वर्ष की आयु पूर्ण कर आपने वीर नि. सं. १८०६ में समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण किया।

—:०:—

इकतालीसवें युगप्रधानाचार्य रेवतीमित्र

जन्म	वीर नि० सं०	१७३७
दीक्षा	,,	१७४६
सामान्य साधु पर्याय	,,	१७४६ से १७६२
युगप्रधानाचार्य काल	,,	१७६२ से १८४०
गृहस्थ पर्याय		६ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय		१६ वर्ष
युगप्रधानाचार्य पर्याय		७८ वर्ष
स्वर्ग	वीर नि० सं०	१८४०
सर्वायु		१०३ वर्ष

चालीसवें युगप्रधानाचार्य श्री शीलमित्र के स्वर्गस्थ होने पर श्रमणोत्तम रेवतीमित्र को उनकी २५ वर्ष जैसी युवा वय में युगप्रधानाचार्य के महामहिम पद पर अधिष्ठित किया गया। आपने ७८ वर्ष तक जिनशासन की महती सेवा की और वीर नि० सं० १८४० में आपने समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण किया।

—:०:—

भ० महावीर के ५६वें पट्टधर आचार्य श्री गजसेन के आचार्यकाल का
महान् जिनशासन–प्रभावक श्रावक
जगड़ूशाह

श्रमण भगवान् महावीर के ५६ वें पट्टधर आचार्य गजसेन (वीर नि० सं० १७७९–१८०६) के आचार्यकाल एवं ४१वें युग प्रधानाचार्य रेवति मित्र (वीर नि० सं० १७६२–१८४०) के युगप्रधानाचार्यकाल में जगड़ूशाह नामक एक महादानी एवं जिनशासन प्रभावक श्रेष्ठि शिरोमणी श्रावक हुआ, जिसने विक्रम सम्वत् १३१५–१७, तदनुसार वीर नि० सं० १७८५–८७ में पड़े देशव्यापी भीषण त्रि-वार्षिक दुष्काल के समय देश के विभिन्न भागों में ११२ सत्रागार (भोजनशालाएं) खोल कर तथा अपने विशाल धान्यागारों को अकालग्रस्त जन-साधारण के लिए दान कर मानवता की अभूतपूर्व सेवा की। महादानी एवं महान् जिनशासन प्रभावक मानव सेवी जगड़ूशाह की यशोगाथाएं आज भी देश के कोने-कोने में गाई जाती हैं।

महादानी जगड़ूशाह ने अपने जीवनकाल में मानवता की जो उल्लेखनीय महती सेवा की, उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

पांचाल प्रदेश के शृंगार स्वरूप भद्रेश्वर नामक ग्राम में शाह सोला-सालग नामक एक श्रीमाली जातीय प्रमुख व्यापारी रहता था। वह जिनशासन के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा रखने वाला श्रद्धालु श्रमणोपासक था। शाह सोला के जगड़ू नामक एक पुत्र था। जगड़ूशाह की गणना प्रमुख श्रावकों में की जाती थी। अपने व्यवसाय में व्यस्त होने के उपरान्त भी जगड़ूशाह प्रतिदिन नियमित रूप से सामायिक प्रतिक्रमण आदि धर्म साधना किया करता था। एक दिन एक जैनाचार्य अपने शिष्यों के साथ भद्रेश्वर में आये। शाह जगड़ू ने बड़ी ही श्रद्धा-निष्ठा के साथ श्रमण वर्ग की सेवा-उपासना की। उसने उपाश्रय में श्रमणों की सेवा में उपस्थित हो किसी पर्व तिथि के दिन पौषध व्रत किया।

रात्रि में प्रतिक्रमण आदि आवश्यक धार्मिक क्रियाओं से निवृत्त होने के अनन्तर मौन धारण किया हुआ जगड़ूशाह उपाश्रय में एक ओर बैठ कर पंच परमेष्ठि नमस्कार मन्त्र का स्मरण करने लगा।

एक प्रहर रात्रि के व्यतीत होने पर उपाश्रय में बैठे हुए एक श्रमण की दृष्टि अनायास ही आकाश में ग्रह-नक्षत्रों की ओर पड़ी। उसने देखा कि चन्द्रमा

रोहिणी-शकट का भेदन कर रहा है। उसने दूसरे साधुओं को भी यह दृश्य दिखाया। उन साधुओं को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने अपने गुरु की सेवा में उपस्थित हो निवेदन किया—"भगवन्! आज इस समय चन्द्र रोहिणी-शकट का भेदन कर रहा है।"

शिष्यों की इस सूचना पर गुरु ने भी देखा कि वस्तुतः चन्द्र रोहिणी-शकट का भेदन कर रहा था। गुरु ने अपने शिष्यों से पूछा—"यहां अपने आस-पास तुम लोगों के अतिरिक्त अन्य कोई तो उपस्थित नहीं है?"

इधर-उधर देखकर शिष्यों ने उत्तर दिया—"नहीं, भगवन्! यहां अपने पास अन्य कोई उपस्थित नहीं है।" उपाश्रय में व्याप्त अन्धकार के कारण वे साधु पास ही एक स्तम्भ की ओट में बैठे जगड़ूशाह को नहीं देख पाये थे।

शिष्यगण के उत्तर से आश्वस्त हो गुरु ने कहा—"चन्द्र द्वारा रोहिणी-शकट का भेदन इस अनिष्ट की पूर्व सूचना दे रहा है कि सम्वत् (वि० सं०) १३१५ में देश-व्यापी एक अति भीषण त्रि-वार्षिक दुर्भिक्ष पड़ेगा।"

शिष्यगण ने पूछा—"भगवन्! उस भावी संक्रान्तिकाल में लोगों का उद्धार करने वाला कोई है कि नहीं?"

गुरु ने अपने शिष्यों को आश्वस्त करते हुए कहा—"अदृश्य शक्ति ने हमें पहले ही बता दिया है कि जगड़ूशाह उस देशव्यापी भीषण संकट के समय देशवासियों का उद्धार करेगा, दीन दुःखी जीवों की प्राणरक्षा करेगा।"

शिष्यवर्ग ने सशंक स्वर में प्रश्न किया—"भगवन्! जगड़ूशाह के पास इतना धन कहां है, जिससे कि वह दुष्काल पीड़ित कोटि-कोटि लोगों की जठराग्नि को शान्त कर उनकी प्राणरक्षा करने में सक्षम होगा?"

गुरु ने कहा—"जगड़ू के घर के पीछे वाड़ा है। वाड़े में एक आक का पेड़ है। उस आक के नीचे तीन करोड़ स्वर्ण मुद्राएं गड़ी पड़ी हैं।

गुरु शिष्यों के बीच हुए इस वार्तालाप को सुन कर जगड़ूशाह ने मन ही मन चिन्तन किया—"अहो! मेरा बड़ा सौभाग्य है कि गुरु के मुखारविन्द से मैं अपने सम्बन्ध में इस प्रकार की बातें सुन रहा हूं।" वह रात भर मौन धारण किये, उपाश्रय में धर्माराधन करता रहा। प्रातःकाल वह अपने घर आया। उपवास के पारण के अनन्तर स्वयं उसने आक के नीचे भूमि को खोदा तो रात्रि में गुरुमुख से जैसा सुना था, वह पूर्णतः सत्य सिद्ध हुआ। तीन करोड़ स्वर्ण मुद्राएं प्राप्त हो जाने पर जगड़ूशाह के अन्तर्मन में प्रचुर मात्रा में धान्य के क्रय एवं संग्रह करने की तीव्र आकांक्षा उत्पन्न हुई। अपने संकल्प के अनुसार उसने देश के विभिन्न भागों की मण्डियों में धान्य का क्रय एवं संग्रह करना प्रारम्भ कर दिया।

इधर मलावार में जगड़ूशाह के मुनीमों ने जहां अनाज का गोदाम वनाया वहां धान्य के अन्य व्यापारियों के भी गोदाम थे। जगड़ूशाह के वखार अर्थात् गोदाम और एक अन्य व्यापारी के गोदाम के वीच में एक पाषाण शिला पड़ी हुई थी। उस शिला पर उन दोनों गोदामों के मुनीम प्रातःकाल बैठ कर दांतुन किया करते थे। एक दिन प्रातःकाल ऐसा संयोग बना कि दोनों गोदामों के मुनीम दातुन करने के लिए उस शिला के पास एक साथ ही पहुंचे। वह शिला इतनी ही वड़ी थी कि उस पर केवल एक आदमी ही बैठकर दांतुन कर सकता था, दो आदमी एक साथ नहीं। शिला के पास पहुंचते ही वे दोनों मुनीम एक दूसरे से कहने लगे—"मैं पहले इस शिला पर वैठ कर दांतुन करूंगा।" इस प्रकार, "पहले मैं, पहले मैं" कहते-कहते जगड़ूशाह के मुनीम और दूसरे व्यापारी के मुनीम में परस्पर विवाद उग्र रूप धारण कर गया। राजकर्मचारियों ने उन्हें समझाने का प्रयास किया पर उन दोनों में से कोई भी अपने हठ को छोड़ने के लिए राजी नहीं हुआ।

दोनों मुनीमों को हठ पर डटा देख राज्याधिकारी ने कहा—"आप दोनों में से जो व्यक्ति राजा को ६०० स्पर्द्धक (प्राचीन काल में प्रचलित एक प्रकार का सिक्का जो द्रम्म से वड़ा होता था) देगा, वही इस शिला पर पहले वैठ कर दांतुन करेगा। राज्याधिकारी द्वारा रखी गई शर्त को सुनते ही दोनों मुनीम ६०० स्पर्द्धक देने के लिये तत्काल तैयार हो गये। दूसरे व्यापारी के मुनीम ने कहा—"मैं ७०० स्पर्द्धक दूंगा।" जगड़ूशाह के मुनीम ने कहा—"मैं ८०० स्पर्द्धक दूंगा।"

अव तो दोनों व्यापारियों के मुनीमों में परस्पर होड़ सी वद गई, दोनों ही एक दूसरे से वढ़-वढ़ कर धनराशि देने की वात कहने लगे। दोनों ही मुनीम अपने-अपने श्रेष्ठि के वड़प्पन की वात लोगों के मानस में जमाने पर तुले हुए थे। अड़ोस-पड़ोस के व्यापारियों के मुनीमों एवं कर्मचारियों का जमघट-सा वहां लग गया। दोनों मुनीम अपने-अपने श्रेष्ठि की हीनता प्रकट नहीं होने देना चाहते थे। वे निरन्तर एक दूसरे से वढ़ कर धनराशि देने की वद-वद कर वड़े गर्व के साथ उच्च एवं उग्र स्वर में घोषणा करने लगे। अन्ततोगत्वा जगड़ूशाह के मुनीम ने धनराशि को एकदम वढ़ाते हुए घोषणा की कि वह राजा को २५०० स्पर्द्धक देगा। दूसरे व्यापारी के मुनीम को अव इससे आगे धनराशि देने का साहस नहीं हुआ और राज्याधिकारियों ने २५०० स्पर्द्धक जगड़ूशाह के मुनीम से लेकर तत्काल वह शिला सदा के लिए जगड़ूशाह के स्वामित्व में—अधिकार में मुनीम को सम्हलाते हुए उस पर जगड़ूशाह का अधिकार घोषित कर दिया। जगड़ूशाह के मुनीम ने उपस्थित जनसमूह के समक्ष उस शिला पर उसी समय वैठ कर गर्वानुभूति करते हुए दांतुन किया।

जगड़ूशाह के आने पर मुनीम ने उसे शिला सम्बन्धी पूरा विवरण सुनाया। उससे जगड़ूशाह वड़ा प्रसन्न हुआ और उसने अपने मुनीम की पीठ थपथपा कर

सराहना करते हुए कहा—"धन्यवाद ! तुमने बहुत अच्छा किया, जो इस क्षेत्र में मेरे हितों की रक्षा की । उसी क्षण जगड़ू शाह ने उस पाषाणशिला को उठवा कर अपने निवास स्थान पर रखवा दिया और प्रतिदिन प्रातःकाल उस शिला पर बैठ कर दतौन करने लगा ।

एक दिन मध्याह्न वेला में जगड़ू शाह भोजन करने के लिए बैठा ही था कि एक योगी उसके द्वार पर आया । शाह ने अपनी भार्या से कहा—"धर्मिष्ठे ! एक पुरुष पूर्णतः तृप्त हो जाय, उतनी जलेबी इन योगिराज को दे दो ।" शाहपत्नी जलेबी से परिपूर्ण थाल लेकर द्वार पर उपस्थित योगी के समक्ष गई और उससे वह जलेबी भरा थाल लेने के लिए अभ्यर्थना करने लगी किन्तु योगी ने वे जलेबियां नहीं लीं और द्वार पर पूर्ववत् खड़ा रहा । गृहस्वामिनी ने जगड़ू शाह से निवेदन किया कि ये योगिराज जलेबियां नहीं ले रहे हैं । इस पर जगड़ू शाह ने पत्नी से कहा—"अच्छा तो सरले ! इन्हें इमरती (वर्तु लिका) से भरा चांदी का थाल दो ।"

शाहपत्नी ने तत्काल अपने पति के आदेश का पालन करते हुए एक भारी भरकम चांदी का थाल इमरतियों से भर कर उस योगी को सादर प्रदान किया । इससे योगी पूर्णतः सन्तुष्ट हुआ और बोला—"हे महादानी ! मैं तुम्हारी परीक्षा के लिए ही पृथ्वी पर भिक्षार्थ भ्रमण करने आया हूं । सच्चे दानी को देखने की अभिलाषा से मैं विगत ६ महीनों से भिक्षार्थ भ्रमण कर रहा हूं किन्तु मुझे अन्य कोई दानी दृष्टिगत नहीं हुआ । संसार का उद्धार करने में सक्षम तुम्हें आज देख कर मुझे परम सन्तोष हुआ है । वस्तुतः तुम सच्चे दानी हो और अभावग्रस्त संसार का उद्धार करने में सक्षम हो ।"

जगड़ू शाह ने योगी की ओर जिज्ञासा भरी दृष्टि डालते हुए कहा—"योगिन् ! मेरे पास इतना धन कहां है ?"

"श्रेष्ठिवर ! तुम्हारे पास जो यह पाषाणशिला है, यह वस्तुतः अक्षय द्रव्यमयी है ।" यह कह कर योगी मौनस्थ हो उस पाषाणशिला की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखता रहा ।"

योगी को देने योग्य वस्त्रादि लेने जगड़ू शाह शीघ्रतापूर्वक अपने घर के एक कक्ष में गया और कतिपय वस्तुएं लेकर तत्काल द्वार की ओर लौटा परन्तु उसने देखा कि वह योगी द्वार के आस-पास कहीं नहीं है । योगी की तत्काल चारों ओर दूर-दूर तक तलाश करवाई गई, किन्तु वह कहीं नहीं मिला । जगड़ू शाह ने समझ लिया कि वह कोई योगी नहीं अपितु उसका पूर्व जन्म का कोई स्नेही स्वजन था, जो उसे पुण्य एवं यश के उपार्जन का उपाय बताने अथवा अवसर प्रदान करने आया था ।

तदनन्तर जगड़ूशाह ने उस पाषाणशिला को बड़े ध्यान से देखना प्रारम्भ किया। बड़ी देर तक सूक्ष्म दृष्टि से देखते रहने के पश्चात् उसे शिला में एक स्थान पर संधि की आशंका हुई। शंकास्पद स्थान पर पानी डालने से उसे प्रतीत हुआ कि उस शिला में एक स्थान पर बड़े ही कलापूर्ण ढंग से ऐसी कारी लगाई हुई है, जिसको सहज ही कोई ज्ञात नहीं कर सकता। शाह जगड़ू ने सावधानीपूर्वक बड़े ही कौशल के साथ शिला में लगी उस कारी को बड़ी कठिनाई से खोला तो यह देखकर उसके आश्चर्य और आनन्द का पारावार न रहा कि उस शिला के अन्दर न केवल एक अपितु पांच स्पर्श-पाषाण अर्थात् पारस रखे हुए हैं, जिनके स्पर्श मात्र से लोहा स्वर्ण हो जाता है। जगड़ूशाह ने परीक्षा के लिये पास ही रखे अनाज तोलने के एक भारी से भारी लोह के वाट का पारस से स्पर्श किया तो तत्काल वह मणों भार का लौह-वाट विशुद्धतम स्वर्ण का हो गया। अब तो जगड़ूशाह को दृढ़ विश्वास हो गया कि उसके गुरुदेव ने उसके पौषध की रात्रि में उसके सम्बन्ध में और दुर्भिक्ष के सम्बन्ध में अपने शिष्यों से जो कुछ कहा था, वह अक्षरशः सत्य सिद्ध होगा। जगड़ूशाह ने तत्काल भावी भीषण दुर्भिक्ष से सम्पूर्ण देशवासियों की रक्षा करने हेतु प्रचुरतम मात्रा में धान्य संग्रह करने का दृढ़ संकल्प किया।

तदनन्तर अपने संकल्प को कार्यरूप में परिणत करते हुए जगड़ूशाह ने सहस्रों की संख्या में मुनीमों और कर्मचारियों को देश के विभिन्न स्थानों में अधिकाधिक धान्य संग्रह के लिये नियुक्त कर सर्वत्र विशाल अनाज भण्डारों का संग्रह करना प्रारम्भ कर दिया। मानव सेवा की उत्कट भावना से ओत-प्रोत जगड़ूशाह ने अपने दृढ़ संकल्प को पूर्ण करने का अहर्निश प्रयास करते-करते दुर्भिक्ष के प्रारम्भ होने से एक वर्ष पूर्व ही आशंका से भी अधिक दीर्घकालीन दुर्भिक्ष की स्थिति में भी भूख के कारण किसी मनुष्य की मृत्यु न होने पावे, इतने धान्य भण्डारों का संग्रह कर लिया।

जैसीकि चन्द्र द्वारा रोहिणी-शकट-भंजन से आशंका की गई थी, वि० सं० १३१५ में सम्पूर्ण देश में बड़ा ही भीषण दुष्काल पड़ा। देशवासियों की दुर्भिक्ष से रक्षा करने हेतु शाह जगड़ू ने दिल्ली, स्तम्भनपुर, धवलक्क, अनहिल्लपुर-पत्तन आदि अनेक नगरों में ११२ सत्रागार मानवमात्र के लिये तत्काल प्रारम्भ करवा दिये। उन सत्रागारों में विना किसी प्रकार के भेद-भाव के सभी लोगों को घृतयुक्त यथेप्सित सुस्वादु भोजन दिया जाने लगा। उद्वेलित सागर के जलौघों के समान लोगों के विशाल समूह उन दानशालाओं, भोजनशालाओं की ओर उमड़ पड़े और उन भोजनशालाओं में आकर दुर्भिक्षकाल में अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करने लगे। सुदीर्घावधि के उस दुर्भिक्षकाल में प्रतिदिन प्रातः सायं यही क्रम निरन्तर चलता रहा। इन भोजनशालाओं के अतिरिक्त जगड़ूशाह ने सुरत्राण (सम्भवतः अलाउद्दीन खिलजी) को २१ हजार मूढक अर्थात् २१ लाख मण (१०० मन का एक मूढक), महाराजा वीसलदेव को ८ हजार मूढक अर्थात्

८ लाख मन, महाराजा हम्मीर को १२ हजार मूढक अर्थात् १२ लाख मन[1] और अन्यान्य राजाओं को उनकी प्रजा एवं सेना आदि के जीवन-निर्वाह के लिए अगणित मूढक अनाज के भण्डार प्रदान किये।

एक भी देशवासी भूखा न रहे, इसके लिये इस प्रकार की समुचित व्यवस्था कर देने के उपरान्त भी सुदूरस्थ प्रदेशों के राजाओं, श्रेष्ठियों, जनसेवियों आदि ने अपने यहां के लोगों के लिये समय-समय पर जितने अनाज की मांग की जगड़ूशाह ने उनकी मांग के अनुसार प्रचुर मात्रा में धान्यराशियां प्रदान कीं। पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण, सम्पूर्ण देश के इस छोर से उस छोर तक प्रातः सायं—दोनों समय भर-पेट सरस भोजन पाकर कोटि-कोटि कण्ठ अहर्निश जगड़ूशाह की यशोगाथाएं गाने लगे। प्रतिदिन दोनों समय घृतयुक्त सरस-स्वादु भोजन से तृप्त हुई करोड़ों लोगों की आर्तें जगड़ूशाह को अनेकानेक आशीषें देतीं।

इस प्रकार भूखों को भोजन देने की समुचित व्यवस्था कर देने के साथ-साथ जगड़ूशाह ने एक विशिष्ट प्रकार की दानशाला में दान देना भी प्रारम्भ कर दिया। प्रतिष्ठित परिवारों और सम्भ्रांत कुलों में उत्पन्न जो लोग जगड़ूशाह द्वारा नित्य नियमित रूप से चलाये जाने वाले सत्रागारों में जाने और वहां भोजन करने में लज्जा का अनुभव करते थे, उन लोगों को भी दुर्भिक्षकाल में किसी प्रकार का कष्ट न हो, इस अभिलाषा से जगड़ूशाह ने उस दानशाला में पर्दे के पीछे बैठकर प्रतिदिन प्रातःकाल दान देना प्रारम्भ किया। कुलीन और प्रजा के प्रतिष्ठित वर्गों के लोग उस दानशाला में आते और पर्दे के अन्दर अपना हाथ पसारते। पर्दे के अन्दर बैठा जगड़ूशाह हाथ को देखते ही उस पर उसके भाग्यानुसार स्वर्ण अथवा रजत की पर्याप्त मुद्राएं रख देता।

इस अनूठे गुप्तदान की महिमा सुनकर अणहिल्लपुर पट्टणपति गुर्जरराज बीसलदेव ने मन ही मन जगड़ूशाह की परीक्षा लेने की ठानी। एक दिन प्रातःकाल बीसलदेव वेष बदलकर जगड़ूशाह की दानशाला में पहुंचा और उसने पर्दे के अन्दर अपना दक्षिण हाथ डालकर पसार दिया।

तपाये हुए ताम्र के समान वर्ण वाले कठोर हाथ में अनुपम भाग्य, लक्ष्मी विद्या, कीर्ति, सुख, समृद्धि, ऐश्वर्य आदि की सूचक हस्तरेखाओं एवं शुभ लक्षणों पर दृष्टि पड़ते ही जगड़ूशाह ने समझ लिया कि यह कोई न कोई राजा है और किसी कारणवश इस प्रकार की अवस्था को प्राप्त हो गया है। "इसको ऐसी मूल्यवान्

---

१. अट्ठय मूड सहस्सा बीसलदेवस्स बार हम्मीरे।
इगवीस य सुरत्ताणे, दुब्भिक्खे जगडू साहुणा दिण्णा।।

—उपदेश तरंगिणी

तदनन्तर जगड़ूशाह ने उस पाषाणशिला को बड़े ध्यान से देखना प्रारम्भ किया। बड़ी देर तक सूक्ष्म दृष्टि से देखते रहने के पश्चात् उसे शिला में एक स्थान पर संधि की आशंका हुई। शंकास्पद स्थान पर पानी डालने से उसे प्रतीत हुआ कि उस शिला में एक स्थान पर बड़े ही कलापूर्ण ढंग से ऐसी कारी लगाई हुई है, जिसको सहज ही कोई ज्ञात नहीं कर सकता। शाह जगड़ू ने सावधानीपूर्वक बड़े ही कौशल के साथ शिला में लगी उस कारी को बड़ी कठिनाई से खोला तो यह देखकर उसके आश्चर्य और आनन्द का पारावार न रहा कि उस शिला के अन्दर न केवल एक अपितु पांच स्पर्श-पाषाण अर्थात् पारस रखे हुए हैं, जिनके स्पर्श मात्र से लोहा स्वर्ण हो जाता है। जगड़ूशाह ने परीक्षा के लिये पास ही रखे अनाज तोलने के एक भारी से भारी लोह के बाट का पारस से स्पर्श किया तो तत्काल वह मणों भार का लौह-बाट विशुद्धतम स्वर्ण का हो गया। अब तो जगड़ूशाह को दृढ़ विश्वास हो गया कि उसके गुरुदेव ने उसके पौषध की रात्रि में उसके सम्बन्ध में और दुर्भिक्ष के सम्बन्ध में अपने शिष्यों से जो कुछ कहा था, वह अक्षरशः सत्य सिद्ध होगा। जगड़ूशाह ने तत्काल भावी भीषण दुर्भिक्ष से सम्पूर्ण देशवासियों की रक्षा करने हेतु प्रचुरतम मात्रा में धान्य संग्रह करने का दृढ़ संकल्प किया।

तदनन्तर अपने संकल्प को कार्यरूप में परिणत करते हुए जगड़ूशाह ने सहस्रों की संख्या में मुनीमों और कर्मचारियों को देश के विभिन्न स्थानों में अधिकाधिक धान्य संग्रह के लिये नियुक्त कर सर्वत्र विशाल अनाज भण्डारों का संग्रह करना प्रारम्भ कर दिया। मानव सेवा की उत्कट भावना से ओत-प्रोत जगड़ूशाह ने अपने दृढ़ संकल्प को पूर्ण करने का अहर्निश प्रयास करते-करते दुर्भिक्ष के प्रारम्भ होने से एक वर्ष पूर्व ही आशंका से भी अधिक दीर्घकालीन दुर्भिक्ष की स्थिति में भी भूख के कारण किसी मनुष्य की मृत्यु न होने पावे, इतने धान्य भण्डारों का संग्रह कर लिया।

जैसीकि चन्द्र द्वारा रोहिणी-शकट-भंजन से आशंका की गई थी, वि० सं० १३१५ में सम्पूर्ण देश में बड़ा ही भीषण दुष्काल पड़ा। देशवासियों की दुर्भिक्ष से रक्षा करने हेतु शाह जगड़ू ने दिल्ली, स्तम्भनपुर, धवलक्क, अनहिल्लपुर-पत्तन आदि अनेक नगरों में ११२ सत्रागार मानवमात्र के लिये तत्काल प्रारम्भ करवा दिये। उन सत्रागारों में बिना किसी प्रकार के भेद-भाव के सभी लोगों को घृतयुक्त यथेप्सित सुस्वादु भोजन दिया जाने लगा। उद्वेलित सागर के जलौघों के समान लोगों के विशाल समूह उन दानशालाओं, भोजनशालाओं की ओर उमड़ पड़े और उन भोजनशालाओं में आकर दुर्भिक्षकाल में अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करने लगे। सुदीर्घावधि के उस दुर्भिक्षकाल में प्रतिदिन प्रातः सायं यही क्रम निरन्तर चलता रहा। इन भोजनशालाओं के अतिरिक्त जगड़ूशाह ने सुरत्राण (सम्भवतः अलाउद्दीन खिलजी) को २१ हजार मूडक अर्थात् २१ लाख मण (१०० मन का एक मूडक), महाराजा वीसलदेव को ८ हजार मूडक अर्थात्

बड़गच्छ (वृहद्गच्छ)

तपागच्छ पट्टावली के उल्लेखानुसार श्रमण भ० महावीर के ३५वें पट्टधर उद्योतनसूरि पूर्वी भारत से अर्बुदाचल की यात्रार्थ विहार करते हुए वीर नि० सं० १४६४ में एक दिन अर्बुदाचल की तलहटी में अवस्थित टेलीग्राम की सीमा में पहुंचे। दिवस का अवसान होने ही वाला था अतः वे वन में ही अपने शिष्य परिवार के साथ एक अति विस्तीर्ण एवं विशाल वट-वृक्ष के नीचे ठहर गये। रात्रि-कालीन प्रतिक्रमण, ध्यान, स्वाध्याय आदि आवश्यक धार्मिक क्रियाओं से निवृत्त होने के अनन्तर मध्य-रात्रि में उद्योतनसूरि ने देखा कि आकाश में रोहिणी शकट के मध्य में वृहस्पति प्रवेश कर रहा है। उन्होंने अपने शिष्यों को नक्षत्रों की इस प्रकार की गति का बोध कराते हुए कहा :—"यह ऐसा शुभ मुहूर्त्त है कि इस समय यदि किसी के मस्तक पर हाथ रखकर उसका किसी पद पर अभिषेक कर दिया जाय तो वह दिग्दिगन्त में चिरस्थायिनी कीर्त्ति का भागी बने।"

यह सुनते ही उनके शिष्यों ने कहा :—"भगवन्! आप हम पर ही कृपा कीजिये। हम सब आपके चरण चंचरीक दास हैं।"

उद्योतनसूरि ने तत्काल सर्वदेव मुनि आदि आठ शिष्यों को अपना उत्तराधिकारी बना उन्हें आचार्य पद पर अभिषिक्त किया। एक मान्यता यह भी है कि उद्योतनसूरि ने उस समय केवल अपने पट्ट शिष्य सर्वदेवसूरि को आचार्यपद प्रदान किया।

वट-वृक्ष के नीचे अपने शिष्यों को सूरिपद प्रदान किया गया था इस कारण उस गच्छ का नाम "वटगच्छ" के नाम से लोक में प्रसिद्ध हो गया।

इस गच्छ में उद्योतनसूरि के असाधारण प्रतिभा सम्पन्न एवं ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों को विशेष रूप से धारण करने वाली शिष्य सन्तति के कारण तथा इस गच्छ के अति विशाल रूप धर लेने के परिणामस्वरूप इस गच्छ को 'वृहद्गच्छ' के नाम से भी अभिहित किया जाने लगा।

इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर के धर्म संघ का पांचवां नाम वटगच्छ अथवा वृहद्गच्छ, विक्रम सम्वत् ९९४ तदनुसार वीर निर्वाण सम्वत् १४६४ में, लोक में प्रसिद्ध हुआ। भगवान् महावीर के धर्म संघ के वीर निर्वाण सम्वत् १ से लेकर वीर निर्वाण सम्वत् १४६४ तक एक हजार चार सौ चौंसठ वर्ष तक की अवधि में जिन-जिन आचार्यों के काल में जिस-जिस समय ये पांच नाम लोक विश्रुत हुए उसका लेखा-जोखा निम्न प्रकार है :—

वस्तु दूँ, जिससे यह जीवन भर सुखी रहे, ऐश्वर्य के साथ अपना जीवन बिताये"— मन में इस प्रकार विचार कर जगड़ूशाह ने अपनी अंगुली की बहुमूल्य रत्नजटित स्वर्णमुद्रिका उतार कर वीसलदेव के करतल पर रख दी। अलभ्य, अद्भुत् एवं अनमोल रत्न को देखते ही वीसलदेव के आश्चर्य का पारावार न रहा। क्षरण भर स्तब्ध रह कुतूहलवशात् तत्क्षरण उसने अपना वाम हस्त भी पर्दे के अन्दर शाह के समक्ष पसार दिया। जगड़ूशाह ने तत्क्षरण अपनी उसी प्रकार की दूसरी हीरक-मुद्रिका भी उतार कर अपने समक्ष पसारे गये उसके वाम करतल पर रख दी।

दोनों रत्नजटित मुद्रिकाएं लेकर वीसलदेव अपने राजप्रासाद की ओर लौट गया। दूसरे दिन वीसलदेव ने जगड़ूशाह को पूरे सम्मान के साथ राज्यसभा में आमन्त्रित कर उसका बड़ा सम्मान किया। राजा वीसलदेव ने राजसभा के सभासदों के समक्ष जगड़ूशाह की दानवीरता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हुए कहा—"शाह! वस्तुतः तुम मां वसुन्धरा के शृंगार और सबके सम्माननीय-वन्दनीय हो, अतः भविष्य में कभी प्रजाजनों के समान तुम मुझे नमन न करोगे। तदनन्तर महाराजा वीसलदेव ने हठपूर्वक उसकी दोनों अंगुलियों में वे दोनों रत्नजटित स्वर्णमुद्रिकाएं पहना दीं और हाथी के हौदे पर बिठा कर उसे उसके घर को विदा किया।

जगड़ूशाह ने दुर्भिक्षकाल में स्थान-स्थान पर भोजन की ऐसी समुचित व्यवस्था की कि सम्पूर्ण देश में एक भी व्यक्ति को दुर्भिक्ष के कारण भूख की पीड़ा का अनुभव नहीं हुआ। दुर्भिक्ष के समाप्त होने के उपरान्त भी जगड़ूशाह जीवन भर तन, मन और धन से जनकल्याणकारी कार्यों में प्रगाढ़ अभिरुचि लेता रहा। इस प्रकार जगड़ूशाह श्रमणोपासक ने जिनशासन की महती प्रभावना कर जैन समाज की प्रतिष्ठा में चार-चांद लगा दिये।

—: ० :—

५. जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है वीर निर्वाण सम्वत् १४६४ में उद्योतनसूरि के पट्ट शिष्य श्री सर्वदेवसूरि के समय में श्रमण भगवान् महावीर के धर्मसंघ का नाम वटगच्छ-वटगण अथवा वृहद् गच्छ के नाम से लोक में प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ ।

श्री उद्योतनसूरि के सम्वन्ध में एक मान्यता यह भी प्रचलित है कि वे वनवासी गच्छ के शिष्य सन्ततिविहीन किन्तु अपने समय के उच्च कोटि के आगम निष्णात आचार्य थे । विभिन्न ८३ गच्छों के आचार्यों (जो सम्भवतः चैत्यवासी परम्परा के आचार्य हो सकते हैं) ने अपने-अपने एक-एक शिष्य को आगमों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त करने के लिए वनवासी गच्छ के आचार्य श्री उद्योतनसूरि के पास भेजा । उसी समय चैत्यवासी परम्परा के अबोहर चैत्य के मठाधीश जिनचन्द्र-सूरि के शिष्य वर्द्धमानसूरि ने क्रियोद्धार कर चैत्यवासी परम्परा का परित्याग कर दिया और वह किसी महान् त्यागी विशुद्ध चारित्रनिष्ठ आगम मर्मज्ञ गुरु की खोज में अनेक प्रदेशों में भ्रमण करता हुआ उद्योतनसूरि के पास आया । उद्योतनसूरि को आगमानुसारी विशुद्ध श्रमणाचार के प्रति पूर्णनिष्ठ कर्मठ एवं आगमों में निष्णात देखकर वर्द्धमान मुनि उनका शिष्य वन गया और अन्य विभिन्न ८३ गच्छों के मुनियों के साथ वह भी आचार्य उद्योतनसूरि से आगमों का ज्ञान प्राप्त करने लगा । विहार क्रम से अपने ८४ शिक्षार्थियों के साथ अनेक क्षेत्रों में भ्रमण करते हुए वनवासी आचार्य उद्योतनसूरि टेली ग्राम की सीमा में पहुँचे । दिन का अवसान सन्निकट देख उन्होंने एक अति विशाल एवं विस्तीर्ण वट-वृक्ष के नीचे वैठ कर धर्माराधन करना प्रारम्भ कर दिया । मध्यरात्रि में उन्होंने देखा कि वृहस्पति रोहिणी शकट के मध्य में प्रवेश कर रहा है । उन्होंने अपने विद्यार्थियों से कहा— "यह एक ऐसा शुभ मुहूर्त्त है कि इसमें यदि किसी की किसी पद पर स्थापना कर दी जाय तो उसकी यशोकीर्त्ति एवं सन्तति अप्रत्याशित वृद्धि को प्राप्त हो एवं चिरकाल तक यशस्वी रहे ।"

सभी शिष्यों ने एवं शिक्षार्थी मुनियों ने कहा :—"स्वामिन् ! हम आपके शिष्य हैं । कृपा कर आप हमारे मस्तक पर अपना वरदहस्त रख दीजिये और पदस्थापना कर दीजिये ।"

उद्योतनसूरि ने कहा :—"वासक्षेप के लिये वासचूर्ण लाओ ।"

इस पर उन ८४ ही शिक्षार्थी मुनियों ने गली हुई लकड़ियां और गूंगे को एकत्रित कर उनका चूर्ण वनाया और गुरु को दिया । उस चूर्ण को अभिमन्त्रित कर उद्योतनसूरि ने विभिन्न गच्छों के उन ८३ शिष्यों के मस्तकों पर वासक्षेप कर उन्हें आचार्यपद प्रदान किया ।

१. वीर निर्वाण सम्वत् २१९ की अवधि तक अर्थात् भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मास्वामी से लेकर दसवें पट्टधर आचार्य सुहस्ति के आचार्यकाल तक जैनसंघ का नाम निर्ग्रन्थ अथवा अरणगारगच्छ के नाम से लोक में प्रचलित रहा ।

२. आर्य सुहस्ति के वीर-निर्वाण सम्वत् २९१ में स्वर्गस्थ हो जाने पर उनके पट्टधर आर्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध (गणाचार्य) के आचार्यकाल में भगवान् महावीर के धर्म संघ का नाम कौटिकगण के नाम से लोक विश्रुत हुआ । इन दोनों आचार्यों ने एक करोड़ बार सूरि मन्त्र का जाप किया था । इस कारण कहा जाता है कि एक कोटि बार सूरि मन्त्र के जाप के परिणामस्वरूप उनके गण का नाम कौटिक गण प्रसिद्ध हुआ ।

इस सम्बन्ध में दूसरी मान्यता यह भी है कि आर्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध क्रमशः कौटिक और काकन्दिक नगरी में उत्पन्न हुए थे और सुस्थित अपने सहयोगी आचार्य सुप्रतिबुद्ध से आयु एवं दीक्षा में बड़े थे, अतः आर्य सुस्थित के गृहस्थ जीवन के निवास स्थान कौटिक नगर के नाम पर भगवान् महावीर के धर्म संघ का नाम कौटिकसंघ–कौटिकगण अथवा कौटिकगच्छ लोक में प्रचलित हुआ । यह दूसरा नाम कौटिक वीर निर्वाण सम्वत् २९१ से लेकर वीर निर्वाण सम्वत् ६११ तक लोक में प्रचलित रहा ।

३. वीर निर्वाण सम्वत् ६११ में चन्द्रसूरि के नाम पर भगवान् महावीर का धर्मसंघ चन्द्रगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

४. वीर निर्वाण सम्वत् ६४३ में आचार्य चन्द्रसूरि के पट्टधर सामन्तभद्र के समय में भगवान् महावीर के धर्मसंघ का नाम वनवासीगच्छ प्रसिद्ध हुआ । आचार्य चन्द्रसूरि के पट्टधर आचार्य सामन्तभद्रसूरि का अन्तर्मन वस्तुतः पूर्ण विरक्ति के प्रगाढ रंग में रंगा हुआ था । वे शून्य देवायतनों, मठों एवं वनों में ही निवास करते थे इस कारण इनके गच्छ का नाम वनवासी के नाम से लोकप्रिय हुआ । इस सम्बन्ध में तपागच्छ पट्टावली का निम्नलिखित उल्लेख द्रष्टव्य है :—

> "१६. सामन्तभद्रवृत्ति, श्रीचन्द्रसूरि पट्टे षोडशः श्री सामन्तभद्रसूरिः । स च पूर्वगतश्रुतविशारदो वैराग्यनिर्विनिर्ममतया देवकुलवनादिस्वप्यवस्थानात् लोके वनवासीत्युक्तस्तस्माच्चतुर्थं नाम वनवासीति प्रादुर्भूतम् ।"

इस प्रकार वीर निर्वाण सम्वत् ६४३ से वीर निर्वाण सम्वत् १४६४ तक श्रमण भगवान् महावीर के धर्मसंघ का नाम वनवासी संघ गण अथवा गच्छ के नाम से लोक में प्रसिद्ध रहा ।

श्रमण भगवान महावीर के ५७वें पट्टधर
आचार्य श्री मन्त्रसेन

जन्म	वी. नि. सं.	१७५४
दीक्षा	" " "	१७७६
आचार्यपद	" " "	१८०६
स्वर्गारोहण	" " "	१८४२
गृहवासपर्याय		२२ वर्ष
सामान्य साधुपर्याय		३० वर्ष
आचार्यपर्याय		३६ वर्ष
पूर्ण संयमपर्याय		६६ वर्ष
पूर्ण आयु		८८ वर्ष

वी. नि. सं. १८०६ में मूल श्रमण परम्परा के ५६वें पट्टधर आचार्यश्री गजसेन के स्वर्गस्थ हो जाने पर, चतुर्विध धर्म संघ ने, उस समय के श्रमणों में सर्वश्रेष्ठ आगम मर्मज्ञ, मुनि श्री मन्त्रसेन को श्रमण भगवान महावीर की मूल परम्परा के ५७वें पट्टधर आचार्यपद पर अधिष्ठित किया।

जिस समय मुनिश्री मन्त्रसेन आचार्यपद पर आसीन किये गये, उस समय उनकी अवस्था ५२ वर्ष की थी। अपनी ३० वर्ष की सामान्य साधुपर्याय के अनुभवों के बल पर जिनशासन का संचालन भली-भांति कर श्रमण-श्रमणी संघ को शिथिलाचार परक तत्कालीन वातावरण से अछूता रखा और अपने अनुयायी श्रावक-श्राविका वर्ग में एकान्ततः अध्यात्मपरक भावार्चना के भाव भर-भर कर भाव परम्परा को बलवती बनाने का प्रयास किया।

३० वर्ष की सामान्य श्रमणपर्याय और ३६ वर्ष की आचार्यपर्याय इस प्रकार कुल मिलाकर ६६ वर्ष की निरतिचार संयमपर्याय का पालन करते हुए आपने वी. नि. सं. १८४२ में ८८ वर्ष की आयु पूर्ण कर समाधि अवस्था में स्वर्गारोहण किया।

—:०:—

दूसरे दिन प्रभात वेला में उद्योतनसूरि ने अपना अन्त समय समीप समझ कर अनशन किया और समाधिपूर्वक वे स्वर्गस्थ हुए।

तदनन्तर विभिन्न ८३ गच्छों के उन आचार्यपद प्राप्त शिष्यों ने पृथक्-पृथक् क्षेत्रों की ओर विहार किया और वर्द्धमानसूरि एवं उद्योतनसूरि के पट्टधर आचार्य बने।[1]

इस सम्बन्ध में विस्तृत विवरण प्रस्तुत ग्रंथ में ही "उद्योतनसूरि" के जीवन-वृत्त में द्रष्टव्य किया गया है।



१. श्री दानसागर जैन ज्ञान भंडार, बीकानेर की ३८ पृष्ठों की गुर्वावली, पो० १० ग्रन्थ १५२, पत्र ५। इसकी एक फोटोस्टेट कापी आचार्यश्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, जयपुर में है।

श्रमण भगवान महावीर के ५७वें पट्टधर आचार्य श्री मन्त्रसेन

जन्म	वी. नि. सं.	१७५४
दीक्षा	,, ,, ,,	१७७६
आचार्यपद	,, ,, ,,	१८०६
स्वर्गारोहण	,, ,, ,,	१८४२
गृहवासपर्याय		२२ वर्ष
सामान्य साधुपर्याय		३० वर्ष
आचार्यपर्याय		३६ वर्ष
पूर्ण संयमपर्याय		६६ वर्ष
पूर्ण आयु		८८ वर्ष

वी. नि. सं. १८०६ में मूल श्रमण परम्परा के ५६वें पट्टधर आचार्यश्री गजसेन के स्वर्गस्थ हो जाने पर, चतुर्विध धर्म संघ ने, उस समय के श्रमणों में सर्वश्रेष्ठ आगम मर्मज्ञ, मुनि श्री मन्त्रसेन को श्रमण भगवान महावीर की मूल परम्परा के ५७वें पट्टधर आचार्यपद पर अधिष्ठित किया।

जिस समय मुनिश्री मन्त्रसेन आचार्यपद पर आसीन किये गये, उस समय उनकी अवस्था ५२ वर्ष की थी। अपनी ३० वर्ष की सामान्य साधुपर्याय के अनुभवों के बल पर जिनशासन का संचालन भली-भांति कर श्रमण-श्रमणी संघ को शिथिलाचार परक तत्कालीन वातावरण से अछूता रक्खा और अपने अनुयायी श्रावक-श्राविका वर्ग में एकान्ततः अध्यात्मपरक भावार्चना के भाव भर-भर कर भाव परम्परा को बलवती बनाने का प्रयास किया।

३० वर्ष की सामान्य श्रमणपर्याय और ३६ वर्ष की आचार्यपर्याय इस प्रकार कुल मिलाकर ६६ वर्ष की निरतिचार संयमपर्याय का पालन करते हुए आपने वी. नि. सं. १८४२ में ८८ वर्ष की आयु पूर्ण कर समाधि अवस्था में स्वर्गारोहण किया।

—:o:—

श्रमण भगवान महावीर के ५८वें पट्टधर
आचार्य श्री विजयसिंह

जन्म	वी. नि. सं.	१८१२
दीक्षा	,, ,, ,,	१८३२
आचार्यपद	,, ,, ,,	१८४२
स्वर्गारोहण	,, ,, ,,	१९१३
गृहवासपर्याय		२० वर्ष
सामान्य साधुपर्याय		१० वर्ष
आचार्यपर्याय		७१ वर्ष
पूर्ण संयमपर्याय		८१ वर्ष
पूर्ण आयु		१०१ वर्ष

मूल श्रमण परम्परा के ५७वें पट्टधर आचार्यश्री मन्त्रसेन के वीर नि. सं. १८४२ में स्वर्गस्थ हो जाने पर श्री विजयसिंह नामक क्रियानिष्ठ एवं आगम मर्मज्ञ श्रमण वर को मूल श्रमण परम्परा के ५८वें पट्टधर आचार्य के रूप में आचार्यपद पर आसीन किया गया। आपने १० वर्ष की सामान्य साधुपर्याय और ७१ वर्ष की आचार्यपदपर्याय में जिनशासन की महती सेवा की।

—: ० :—

४२वें (बयालीसवें) युगप्रधानाचार्य श्री सुमिरण मित्र

जन्म	वीर निर्वाण सम्वत् १८१०
दीक्षा	वीर निर्वाण सम्वत् १८२२
सामान्य साधुपर्याय	वीर निर्वाण सम्वत् १८२२ से १८४०
युगप्रधानाचार्य काल	वीर निर्वाण सम्वत् १८४० से १९१८
गृहस्थ पर्याय	बारह (१२) वर्ष
सामान्य साधुपर्याय	अठारह वर्ष
युग प्रधानाचार्यपर्याय	७८ वर्ष
स्वर्ग	वीर निर्वाण सम्वत् १९१८
सर्वायु	१०८ वर्ष

४१वें युग प्रधानाचार्य रेवतीमित्र के स्वर्गस्थ हो जाने पर श्री सुमिरणमित्र नामक श्रमणवर को ४२वें युगप्रधानाचार्य के रूप में पट्ट पर आसीन किया गया। 'दुस्समा समणसंघ थयं' के 'यन्त्रानुसार' आपका स्वर्गवास वीर नि० सं० १९१८ में, १०८ वर्ष की आयु पूर्ण करने के अनन्तर हुआ।

'तित्थोगाली पइण्णाय' में 'सूत्र कृताङ्ग' के ह्रास अथवा विच्छेद के सम्बन्ध में निम्नलिखित गाथा उपलब्ध होती है :—

> भारद्दायसगोत्ते, सूयगडंगं महासमणनामे ।
> अगुणव्वीससतेहिं, जाही वरिसाण वोच्छित्ति ।।८१९।।

इस गाथा में यह बताया गया है कि वीर नि० सं० १९०० में महासमण (महा सुमिण) नाम से विख्यात श्रमण के स्वर्गस्थ हो जाने पर सूत्रकृतांग का व्यवछेद अर्थात् ह्रास हो जायगा।

युगप्रधानाचार्य पट्टावली के अनुसार श्रमणोत्तम श्री सुमिणमित्र वीर नि० सम्वत् १८४० से १९१८ तक युगप्रधान पद पर रहे। इस प्रकार की स्थिति में यह एक शोध का विषय है कि इन दोनों प्रामाणिक एवं प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित सुमिणमित्र और महासमण (महासुमिण) नामक मुनि दो भिन्न-भिन्न श्रमणवर थे अथवा एक ही। इन दोनों श्रमणोत्तमों के स्वर्गस्थ होने के समय का जहां तक सम्बन्ध है १८ वर्ष का अन्तर लिपिक के दोष से भी सम्भव है। पूर्ण प्रयास के उपरान्त भी एतद्विषयक कोई प्रमाण न मिलने के कारण, सुनिश्चित रूप से कुछ भी कहने की स्थिति में हम अपने आपको नहीं पाते।

—: o :—

श्रमण भगवान महावीर के ५९वें पट्टधर
आचार्यश्री शिवराज जी

जन्म	वी० नि० सं० १८८२
दीक्षा	वी० नि० सं० १९००
आचार्यपद	वी० नि० सं० १९१३
स्वर्गारोहण	वी० नि० सं० १९५७
गृहस्थपर्याय	१८ वर्ष
सामान्य साधुपर्याय	१३ वर्ष
आचार्यपर्याय	४४ वर्ष
पूर्ण संयमपर्याय	५७ वर्ष
पूर्ण आयु	७५ वर्ष

श्रमण भ० महावीर की मूल विशुद्ध परम्परा के ५९वें आचार्य श्री शिवराज जी ने वीर नि० सं० १९१३ से १९५७ तक ४४ वर्ष पर्यन्त चतुर्विध संघ को निराडम्बरपूर्ण आध्यात्मिक साधना पथ पर अग्रसर करते हुए जिनशासन की महती सेवा की। ७५ वर्ष की आयु पूर्ण कर आचार्यश्री शिवराजजी ने वीर नि० सं० १९५७ में स्वर्गारोहण किया।

इससे अधिक आपका परिचय उपलब्ध नहीं होता।

—: ० :—

तयालीसवें (४३) युगप्रधानाचार्य श्री हरिमित्र

जन्म	वीर निर्वाण सम्वत् १८८२
दीक्षा	वीर निर्वाण सम्वत् १९०२
सामान्य साधुपर्याय	वीर निर्वाण सम्वत् १९०२ से १९१८
युगप्रधानाचार्य काल	वीर निर्वाण सम्वत् १९१८ से १९६३
गृहस्थपर्याय	बीस वर्ष
सामान्य साधुपर्याय	सोलह (१६) वर्ष
युगप्रधानाचार्यपर्याय	पैंतालीस (४५) वर्ष
स्वर्ग	वीर निर्वाण सम्वत् १९६३
सर्वायु	८१ वर्ष

४२वें युगप्रधानाचार्य श्री सुमिणमित्र के स्वर्गस्थ हो जाने पर श्रमण श्रेष्ठ श्री हरिमित्र को युगप्रधानाचार्य पद पर आसीन किया गया। वीर नि० सं० १९१८ से १९६३ तक ४५ वर्ष पर्यन्त युगप्रधानाचार्य पद के कर्त्तव्यों का पूर्ण योग्यता के साथ सुचारुरूपेण निर्वहन करते हुए ८१ वर्ष की आयु पूर्ण कर आपने वीर निर्वाण सं० १९६३ में स्वर्गारोहण किया।

—: ० :—

श्रमण भगवान महावीर के ५६वें पट्टधर
आचार्यश्री शिवराज जी

जन्म	वी० नि० सं० १८८२
दीक्षा	वी० नि० सं० १६००
आचार्यपद	वी० नि० सं० १६१३
स्वर्गारोहण	वी० नि० सं० १६५७
गृहस्थपर्याय	१८ वर्ष
सामान्य साधुपर्याय	१३ वर्ष
आचार्यपर्याय	४४ वर्ष
पूर्ण संयमपर्याय	५७ वर्ष
पूर्ण आयु	७५ वर्ष

श्रमण भ० महावीर की मूल विशुद्ध परम्परा के ५६वें आचार्य श्री शिवराज जी ने वीर नि० सं० १६१३ से १६५७ तक ४४ वर्ष पर्यन्त चतुर्विध संघ को निराडम्बरपूर्ण आध्यात्मिक साधना पथ पर अग्रसर करते हुए जिनशासन की महती सेवा की। ७५ वर्ष की आयु पूर्ण कर आचार्यश्री शिवराजजी ने वीर नि० सं० १६५७ में स्वर्गारोहण किया।

इससे अधिक आपका परिचय उपलब्ध नहीं होता।

—: ० :—

सोमसुन्दरसूरि

श्रमण भगवान् महावीर के ५९वें पट्टधर आचार्यश्री शिवराजजी के आचार्यकाल में तपागच्छ के ५०वें आचार्यश्री **सोमसुन्दरसूरि** ने अपने गच्छ के श्रमण श्रमणीवर्ग के श्रमणाचार में किसी प्रकार का शिथिलाचार प्रविष्ट न हो जाय, इस लक्ष्य से ३६ नियमों की अपने गच्छ की समाचारी के अंग के रूप में घोषणा करते हुए अपने गच्छ के सभी साधुओं एवं साध्वियों को आज्ञा प्रदान की कि वे सब इन ३६ नियमों का कड़ाई के साथ पालन करें।

श्री सोमसुन्दरसूरि द्वारा इस प्रकार के नियमों का प्रसारण किया जाना वस्तुतः उस समय श्रमण-श्रमणी वर्ग में बढ़ते शिथिलाचार पर अंकुश लगाने तुल्य बड़ा ही महत्वपूर्ण एवं क्रान्तिकारी निर्णय था।

तपागच्छ पट्टावली के उल्लेखानुसार सोमसुन्दरसूरि का जन्म वि० सं० १४३०, पंच महाव्रतधारण वि० सं० १४३७, वाचक पद वि० सं० १४५०, आचार्य-पद वि० सं० १४५७ और स्वर्गारोहण वि० सं० १४९९ में हुआ।

"सोम सौभाग्य काव्य" में सोमसुन्दरसूरि के १४ पट्टधरों के अतिरिक्त वाचकों एवं शिष्यों की एक लम्बी सूची दी हुई है। तपागच्छ पट्टावली सूत्र के उल्लेखानुसार आपके साधु परिवार में १८०० साधु थे।[1]

श्री सोमसुन्दरसूरि ने अपने श्रमण वर्ग को शिथिलाचार के दलदल से बचाये रखने के लिए जो ३६ नियम बनाये, वे इसी ग्रन्थ के पृष्ठ संख्या ५७६ पर छप चुके हैं। ये ३६ नियम विनयचन्द ज्ञान भण्डार, लाल भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर में इसके संग्रहालय एवं पुस्तकालय के पट्टावली संग्रह नं० १४, क्रम संख्या ७ पर तथा पं० कल्याणविजयजी द्वारा लिखित तपागच्छ पट्टावली के पृष्ठ संख्या १९० से १९३ पर भी उल्लिखित हैं।

—०—

१. पट्टावली समुच्चय, भाग १, पृष्ठ ३९ और ४० (सोम सौभाग्य पट्टावली)

भगवान महावीर के ५८वें पट्टधर श्री विजयसिंह के आचार्यकाल के अन्यगच्छीय आचार्य जिनप्रभसूरि

भगवान् महावीर के ५८वें पट्टधर आचार्यश्री विजयसिंहजी के आचार्यकाल में खरतरगच्छ की द्वितीय शाखा के आचार्य जिनप्रभसूरि एक लब्ध-प्रतिष्ठ ग्रन्थकार एवं महान् प्रभावक आचार्य हुए हैं। आपका जीवन परिचय 'खरतरगच्छ' के परिचय के साथ दिया गया है। श्री जिनप्रभसूरि खरतरगच्छ के यशस्वी आचार्य जिनेश्वरसूरि (द्वितीय) के शिष्य थे। उन्होंने यह अटल नियम धारण कर रखा था कि वे प्रतिदिन एक नवीन स्तोत्र की रचना करने के अनन्तर ही आहार ग्रहण करेंगे। उनका यह नियम वर्षों तक निरन्तर चलता रहा और इस प्रकार उन्होंने एक हजार के लगभग नवीन स्तोत्रों की रचना की।

आपके समय में तपागच्छ उत्कर्ष की ओर अग्रसर हो रहा था। आपके शिष्य आदिगुप्त द्वारा रचित आपकी कृति "सिद्धान्तस्तव" की अवचूरिण के उल्लेखानुसार पद्मावती देवी ने आपको स्वप्न में निर्देश दिया कि अब तपागच्छ का उत्कर्ष होने वाला है अतः आप अपने स्तव तपागच्छ के आचार्य सोमतिलकसूरि को दे दो। जिनप्रभसूरि ने स्वरचित ९०० स्तोत्र सोमतिलकसूरि को अर्पित कर दिये। एक ओर तो इतना प्रेम और दूसरी ओर जिनप्रभसूरि ने 'तपोट मत कुट्टन' नामक ग्रन्थ की रचना कर तपागच्छ के कर्णधारों और अनुयायियों को डाकिनी, शाकिनी म्लेच्छ, वधिकों की अपेक्षा भी अधिक घातक बताते हुए लिखा है—

शाकिनी मुद्गलात्तानां, दृश्यतेऽप्याप्युपक्रमः।
तपोटेनार्दितानां तु, चिकित्सा स्याद्दरा मृशम् ॥५॥

अर्थात्—शाकिनी डाकिनी मुद्गल द्वारा खाये हुए का तो उपचार हो जाता है किन्तु तपोटे अर्थात् तपागच्छ का अनुयायी यदि किसी को अपने जाल में फंसा ले तो फिर उसकी रक्षा किसी भी भांति नहीं की जा सकती।

इस प्रकार जिनप्रभसूरि के स्वभाव में विरोध और सौहार्द्रभाव सद्भाव का अद्भुत समन्वय सम्मिश्रण था।

—: o :—

से विभूषित हैं, उन परम पूज्य श्री विशाख गणी नामक आचार्य की निश्रा में इसे (निशीथ सूत्र को) लिखा गया ।[1]

पुस्तक लेखन, लिपिकर्त्ता द्वारा आलेखन की समाप्ति पर प्रशस्ति लेखन आदि तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में तित्थोगाली द्वारा आचार्यश्री विशाख गणी के वीर निर्वाण से २००० में स्वर्गस्थ होने के उल्लेख पर विचार करने से यह अनुमान वास्तविकता की परिधि में आ जाता है कि तित्थोगाली पइन्नय में वर्णित विशाख मुनि की निश्रा में ही निशीथ की कतिपय प्रतियों का आलेखन किया गया और महत्तर पदवी भूषित ४४वें युग प्रधान विशाख गणी अतुल ज्ञान के भण्डार विशुद्ध श्रमणाचार के प्रतीक और धर्म धुरा के कुशल धुरीण थे ।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वीर निर्वाण सम्वत् २००० अर्थात् वि० सं० १५३० तक विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाली युगप्रधान परम्परा भले ही क्षीण से क्षीणतर अवस्था में ही क्यों न रही हो, पर वह वस्तुतः विद्यमान अवश्य रही है ।

यहां प्रत्येक विज्ञ के मन में यह शंका सहज ही उत्पन्न हो सकती है कि वि० सं० १५०८ में ही महान् धर्मोद्धारक लौंकाशाह का अभ्युदय हो चुका था और वि० सं० १५३१ में तो भाणजी आदि ४५ मुमुक्षुओं ने लौंकाशाह के उपदेशों से प्रबुद्ध हो लौंकाशाह द्वारा प्रकाश में लाये गये अहिंसा दया मूलक विशुद्ध जिनमत में श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी, ऐसी स्थिति में यदि उस समय वि० सं० १५९३ से १५३० की अवधि में विशाख गणी की विद्यमानता रही होती तो कहीं न कहीं उनका, उनकी परम्परा का उल्लेख तो मिलना चाहिये, लौंकाशाह से भी उनका साक्षात्कार होना चाहिये ।

जहां तक विशाख गणी अथवा उनकी परम्परा के उल्लेख का प्रश्न है वस्तुतः इस प्रकार के दो उल्लेख आज भी विद्यमान हैं । पहला तित्थोगाली पइन्नय का और दूसरा हस्तलिखित निशीथ की कतिपय प्रतियों की प्रशस्ति का, जिनका कि उल्लेख ऊपर किया जा चुका है ।

---

१. हमें खेद है कि द्वितीय भाग के आलेखन के समय उसके पृष्ठ संख्या ६८ के अन्तिम पैराग्राफ में स्खलना वश यह लिख दिया गया है कि—"........तो विशाख नाम के आचार्य ने प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु के आचार नामक बीसवें प्राभृत से सारभूत अंशों को उद्धृत कर "आचार प्रकल्प" अर्थात् "निशीथ" का निष्पादन किया और उसे छेद सूत्र के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया ।" वस्तुतः उपरिलिखित गाथाओं से यही सिद्ध होता है कि विशाख गणी की निश्रा में निशीथ का आलेखन किया गया, न कि निशीथ का निष्पादन अथवा प्रतिष्ठापन ।

—सम्पादक

चवालीसवें (४४) युगप्रधान श्री विशाखगरिग

तित्थोगालि पइण्णय के अध्ययन एवं मनन से इन ४४वें युगप्रधान के नाम का पता चलता है। युगप्रधानाचार्य श्री विशाख गरिग का जीवन परिचय आज के उपलब्ध साहित्य में केवल इतना ही मिलता है कि वीर निर्वाण सम्वत् २००० (विक्रम सम्वत् १५३०) में उनके स्वर्गस्थ हो जाने पर कतिपय अंग शास्त्रों का वोछेदो (वि-अवछेद:-व्यवछेद:) अर्थात् ह्रास हो गया। अब तक अन्धकार में रहे इस तथ्य पर प्रकाश डालने वाली वह तित्थोगाली पइन्नय की गाथा इस प्रकार है—

वरिस सहस्सेहिं इहं दोहिं, विसाहे मुरिणम्मि वोच्छेदो।
वीर जिरणधम्म तित्थे, दोहिं तिन्नि सहस्स निद्दिट्ठो ।।८२०।।

इस तथ्य के प्रकाश में आने से यह अनुमान किया जाता है कि वीर निर्वाण सम्वत् १९१८ से वीर निर्वाण सम्वत् १९६३ तक युग प्रधान पद पर रहे आचार्य हरिमित्र के स्वर्गस्थ होने पर वीर निर्वाण सम्वत् १९६३ में आचार्य हरिमित्र के पट्टधर चवालीसवें युगप्रधानाचार्य के पद पर विशाख मुनि को अधिष्ठित किया गया हो और तित्थोगाली पइन्नय में विशाख मुनि का स्वर्गारोहण वीर निर्वाण सम्वत् २००० में बताया गया है, तदनुसार वे वीर निर्वाण सम्वत् १९६३ से २००० तक अर्थात् ३७ वर्ष तक युगप्रधानाचार्य रहे हों। विशाख नामक एक महान् आचार्य हुए हैं। इस तथ्य का प्रमारण भी आज उपलब्ध है।

निशीथ की कतिपय हस्तलिखित प्रतियों में निम्नलिखित प्रशस्ति उपलब्ध होती है:

दंसरण चरित्तजुत्तो गुत्तो गुत्तीसु (परि) संभरणहिए।
नामेरण विसाह गरणी, महत्तरओ रणारणमंजुसी ।।
तस्स लिहियं निस्साहि धम्मधुरावरण पवर पुज्जस्स।

अर्थात् जो धर्म रूपी महान् रथ की धुरी को धारण करने में परम प्रवीण सर्वथा समर्थ अथवा पूर्णत: कुशल, ज्ञान, दर्शन, चारित्र से संयुत, तीन प्रकार की गुप्तियों से गुप्त, ज्ञान मंजूषा अर्थात् ज्ञान के अक्षय भण्डार तथा महत्तर की उपाधि

से विभूषित हैं, उन परम पूज्य श्री विशाख गणी नामक आचार्य की निश्रा में इसे (निशीथ सूत्र को) लिखा गया।[1]

पुस्तक लेखन, लिपिकर्त्ता द्वारा आलेखन की समाप्ति पर प्रशस्ति लेखन आदि तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में तित्थोगाली द्वारा आचार्यश्री विशाख गणी के वीर निर्वाण से २००० में स्वर्गस्थ होने के उल्लेख पर विचार करने से यह अनुमान वास्तविकता की परिधि में आ जाता है कि तित्थोगाली पइन्नय में वर्णित विशाख मुनि की निश्रा में ही निशीथ की कतिपय प्रतियों का आलेखन किया गया और महत्तर पदवी भूषित ४४वें युग प्रधान विशाख गणी अतुल ज्ञान के भण्डार विशुद्ध श्रमणाचार के प्रतीक और धर्म धुरा के कुशल धुरीण थे।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वीर निर्वाण सम्वत् २००० अर्थात् वि० सं० १५३० तक विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाली युगप्रधान परम्परा भले ही क्षीण से क्षीणतर अवस्था में ही क्यों न रही हो, पर वह वस्तुतः विद्यमान अवश्य रही है।

यहां प्रत्येक विज्ञ के मन में यह शंका सहज ही उत्पन्न हो सकती है कि वि० सं० १५०८ में ही महान् धर्मोद्धारक लौंकाशाह का अभ्युदय हो चुका था और वि० सं० १५३१ में तो भाणजी आदि ४५ मुमुक्षुओं ने लौंकाशाह के उपदेशों से प्रबुद्ध हो लौंकाशाह द्वारा प्रकाश में लाये गये अहिंसा दया मूलक विशुद्ध जिनमत में श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी, ऐसी स्थिति में यदि उस समय वि० सं० १५९३ से १५३० की अवधि में विशाख गणी की विद्यमानता रही होती तो कहीं न कहीं उनका, उनकी परम्परा का उल्लेख तो मिलना चाहिये, लौंकाशाह से भी उनका साक्षात्कार होना चाहिये।

जहां तक विशाख गणी अथवा उनकी परम्परा के उल्लेख का प्रश्न है वस्तुतः इस प्रकार के दो उल्लेख आज भी विद्यमान हैं। पहला तित्थोगाली पइन्नय का और दूसरा हस्तलिखित निशीथ की कतिपय प्रतियों की प्रशस्ति का, जिनका कि उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

---

१. हमें खेद है कि द्वितीय भाग के आलेखन के समय उसके पृष्ठ संख्या ६८ के अन्तिम पैराग्राफ में स्खलना वश यह लिख दिया गया है कि—"........तो विशाख नाम के आचार्य ने प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु के आचार नामक बीसवें प्राभृत से महत्त्वपूर्ण अंशों को उद्धृत कर "आचार प्रकल्प" अर्थात् "निशीथ" का निष्पादन किया और उसे छेद सूत्र के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया।" वस्तुतः उपरिलिखित गाथाओं से यही सिद्ध होता है कि विशाख गणी की निश्रा में निशीथ का आलेखन किया गया, न कि निशीथ का निष्पादन अथवा प्रतिष्ठापन।

वि० सं० १४६३ से १५३० तक युग प्रधानाचार्य पद पर रहे, तब तो लौंकाशाह का भी उनसे साक्षात्कार होना चाहिये था—इस शंका के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि स्वयं लौंकाशाह के जन्म, जन्म-स्थान, माता पिता का नाम, उनकी कृतियां, उनकी जीवन-चर्या, स्वर्गारोहण काल आदि उनके जीवन के अधिकांश महत्वपूर्ण तथ्य अभी तक प्रामाणिक रूप से प्रकाश में नहीं आये हैं। इस प्रकार की धूमिल स्थिति में कोई निश्चित रूप से यह कह सकने में सक्षम नहीं है कि लौंकाशाह का महत्तर विशाख गणी के साथ साक्षात्कार हुआ अथवा नहीं। तित्थोगाली पइन्नय और निशीथ की प्रशस्ति से यह तो निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि वीर निर्वाण सम्वत् २००० तदनुसार वि० सं० १५३० तक विशाख गणि विद्यमान थे।

तित्थोगाली पइन्नय में उल्लिखित विशाख मुनि के आचार्य काल (विक्रम सम्वत् १४६३–१५३०) और निशीथ में उपर्युद्धृत प्रशस्ति के साथ-साथ लौंकाशाह की विद्यमानता के सम्बन्ध में लौंकाशाह के प्रतिपक्षियों एवं अनुयायियों द्वारा किये गये उल्लेखों पर विचार करने पर सहज ही यह आशंका बड़े प्रबल वेग से प्रत्येक शोधार्थी के मानस में तरंगित होती है कि सम्भवतः विशाखगणी के युग प्रधानाचार्य काल में ही लौंकाशाह हुए हों। पर इस आशंका अथवा अनुमान को वास्तविकता का परिधान पहनाने वाला कोई प्रमाण उपलब्ध साहित्य में अद्यावधि दृष्टिगोचर नहीं होता। "तित्थोगाली पइण्णय" जैसे प्राचीन ग्रन्थ में स्पष्ट उल्लेख है कि वीर निर्वाण सम्वत् २००० में विशाख मुनि का स्वर्गवास हुआ। 'तित्थोगाली पइण्णय' के इस उल्लेख की पुष्टि निशीथ की उपरि चर्चित प्रशस्ति से होती है कि पुस्तकों के लेखन काल के आरम्भ होने से लेकर विक्रम सम्वत् १५३० के बीच के समय में महत्तर विशाखगणी नामक श्रुतज्ञान के भण्डार एवं विशुद्ध क्रियानिष्ठ महान् आचार्य हुए। अन्य उल्लेखों के अभाव में भी इन दो उल्लेखों को दृष्टिगत रखते हुए भी यह न मानने का तो कोई कारण ही नहीं रह जाता कि वीर निर्वाण सम्वत् २००० के पूर्ववर्त्ती चार दशकों में विशाखगणी नामक आचार्य हुए। निशीथ की प्रशस्ति से केवल यही प्रमाणित होता है कि महत्तर विशाखगणी नामक महान् श्रुतनिधि आचार्य हुए। किस समय में हुए इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं है। विशाखगणि के अस्तित्व का उल्लेख उपलब्ध हो जाने पर मुख्य प्रश्न यही रह जाता है कि वे कब हुए। इस प्रश्न का उत्तर खोजते समय हमारी दृष्टि वीर निर्वाण सम्वत् २००० से पूर्व से लेकर चिर अतीत में हुए श्रमण भगवान् महावीर की परम्परा के सभी गणों एवं गच्छों में हुए आचार्यों के नामों का विहंगावलोकन करते हुए पुनः पुनः उड़ानें भरती हैं।

श्वेताम्बर परम्परा की उपलब्ध पट्टावलियों में तो कहीं विशाखगणी अथवा विशाख मुनि का नामोल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। हां, दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थों हरिवंश पुराण, धवला, तिलोयपण्णत्ती, उत्तरपुराण, जम्बूद्वीप पण्णत्ती,

इन्द्रनन्दी कृत श्रुतावतार, ब्रह्म हेमचन्द्र कृत श्रुतस्कन्ध आदि में इनके आधार पर बनी दिगम्बर परम्परा की पट्टावलियों में एवं तथाकथित 'नन्दी आम्नाय की पट्टावली' में चतुर्दश पूर्वधर अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के पट्टधर के रूप में विशाख नामक आचार्य का उल्लेख उपलब्ध होता है जिन्हें कि प्रथम दशपूर्वधर बताया गया है। इन विशाखाचार्य के अतिरिक्त अन्य किसी विशाखाचार्य के होने का उल्लेख दिगम्बर परम्परा की पट्टावलियों में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। इन विशाखाचार्य के पट्टधर पद पर आसीन होने का समय दिगम्बर परम्परा के प्रायः सभी उपर्युल्लिखित ग्रन्थों में वीर निर्वाण सं० १६३ बताया गया है। वीर निर्वाण सम्वत् १६३ से कब तक वे आचार्यपद पर आसीन रहे इस सम्बन्ध में ये सभी ग्रन्थ मौन हैं। इनमें केवल इतना ही उल्लेख है कि "वीर निर्वाण सम्वत् १६३ से वीर निर्वाण सम्वत् ३४५ तक की समुच्चय रूपेण १८३ वर्ष की कालावधि में विशाख आदि ११ (ग्यारह) आचार्य दशपूर्वधर हुए।" नन्दी आम्नाय की 'पट्टावली' में विशाखाचार्य का आचार्यकाल दस वर्ष बताया गया है। इससे यही फलित होता है कि विशाख मुनि का आचार्यकाल वीर निर्वाण सम्वत् १६३ से १७३ तक अर्थात् दस वर्ष का रहा।

तो अब प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या वीर निर्वाण सम्वत् १६३ से १७३ तक आचार्यपद पर रहे दस पूर्वधर विशाखाचार्य ही निशीथ की प्रशस्ति में उल्लिखित विशाखगणी हैं?

अनेक ठोस तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार वीर निर्वाण सम्वत् १६३ से १७३ तक आचार्यपद पर रहे हुए विशाखाचार्य किसी भी दशा में उक्त प्रशस्ति द्वारा अभिप्रेत विशाखगणी नहीं हो सकते।

(१) पहला ठोस प्रमाण यह है कि दिगम्बर परम्परा के किसी भी आचार्य के नाम से पहले महत्तर विशेषण लगाने की कोई परम्परा ही नहीं रही है। दिगम्बर परम्परा के उपलब्ध साहित्य में किसी भी आचार्य के नाम से पहले महत्तर शब्द का उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता।

(२) आचार्य के नाम से पहले महत्तर विशेषण का प्रयोग वीर निर्वाण की बारहवीं शताब्दी के पूर्व कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता।

(३) निशीथ की चूर्णि के कर्त्ता संघदास गणी महत्तर हैं, जिनका कि समय विक्रम की सातवीं शती के अन्तिम चरण से आठवीं शती का पूर्वार्द्ध है। यह तो एक निर्विवाद ऐतिहासिक तथ्य है। निशीथ भाष्य के रचनाकार जिनभद्र क्षमाश्रमण के शिष्य सिद्धसेन क्षमाश्रमण (सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न एवं उत्तरवर्ती) हैं, यह भी एक निर्विवाद

तथ्य है क्योंकि निशीथ चूर्णीकार ने अनेक स्थानों पर "अस्यैवार्थस्य स्पष्टतरं व्याख्यानं सिद्धसेनाचार्यः करोति"—(गाथा ३०३ का उत्थान) "एतस्स चिरंतन गाहांपायस्स सिद्धसेनाचार्यः स्पष्टेनाभिधानेनार्थमभिधत्ते" (गाथा २५० की चूर्णी) "एसेबइत्थो सिद्धसेन-खमासमणेण फुडतरो भन्नति"—(गाथा ४०६८), "एइए अतिदेसे कराबि सिद्धसेण खमासमणो पुव्वद्धस्स भणियं अतिदेसं बक्खाणेति" —(गाथा ६१३९) आदि-आदि निर्देशात्मक वचनों द्वारा सिद्धसेन क्षमा-श्रमण को निशीथ **भाष्यकार** बताया है। तो इस प्रकार की स्पष्ट स्थिति में निशीथ भाष्य भी विशाखाचार्य की कृति किसी भी दशा में नहीं मानी जा सकती। **निर्युक्ति** भी विक्रम की छठी शताब्दी में (वीर निर्वाण सम्वत् १०३२ के आस-पास) हुए भद्रबाहु की कृति है, यह प्रमाण पुरस्सर सिद्ध किया जा चुका है।[१] अब शेष रह जाता है निशीथ **सूत्र**। निशीथ सूत्र के रचनाकार के रूप में तो विशाखाचार्य का नाम लिये जाने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। आज **निर्युक्तियां** जिस रूप में विद्यमान हैं उनके कर्त्ता तो निश्चित रूप से विक्रम की छठी शताब्दी में हुए नैमित्तिक भद्रबाहु हैं तथापि इन निर्युक्तियों की कतिपय पुरातन गाथाओं को श्रुतकेवली भद्रबाहु के द्वारा **रचित** मान लिया जाय तो भी विशाखाचार्य तो निशीथ के **रचनाकार** नहीं हो सकते क्योंकि वे श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य एवं पट्टधर माने गये हैं। शिष्य **मूलसूत्र** की रचना करे और गुरु उसकी **निर्युक्ति** की रचना करे इस प्रकार की कल्पना करना भी हास्यास्पद ही कहा जायगा। उन विशाखाचार्य की निश्रा में, उनके समय में अथवा स्वयं उनके द्वारा निशीथ आदि के लिखे जाने की बात तो कोई भी विज्ञ नहीं कर सकता।

इस प्रकार निशीथ सूत्र, निशीथ निर्युक्ति, निशीथ भाष्य और निशीथ चूर्णि इन चारों से उन विशाखाचार्य का किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रह जाता जो कि श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के शिष्य थे। भगवान् महावीर के शासन की विभिन्न परम्पराओं में उक्त विशाखाचार्य के पश्चात् जितने भी आचार्य हुए हैं, उनमें से कुछ परम्पराओं की जो थोड़ी बहुत पट्टावलियां उपलब्ध हैं, उनमें विशाखाचार्य का नाम निशीथ की प्रशस्ति और 'तित्थोगाली पइण्णय' को छोड़कर अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता।

---

१. (क) बृहत्कल्प भाष्य, भाग ६, प्रस्तावना
(ख) जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग २ पृष्ठ ३७४

इन सब तथ्यों के सन्दर्भ में विचार करने पर हमारी दृष्टि 'निशीथ प्रशस्ति' तथा तित्थोगाली पइण्णय' में वरिणत विशाखाचार्य पर केन्द्रित होती है और हम ऊहापोह करने लगते हैं कि वीर निर्वाण की बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सम्भवतः विशाख नामक आचार्य हुए हों जो कि युगप्रधानाचार्य परम्परा के चवालीसवें युगप्रधानाचार्य हुए हों। 'तित्थोगाली पइण्णय' में वरिणत इनके स्वर्गारोहण काल के साथ 'निशीथ प्रशस्ति' के आधार पर पुस्तक लेखन काल में हुए विशाख गणी के सत्ताकाल की तुलना करने पर हमारा यह ऊहापोह अनुमान की संज्ञा धारण कर लेता है। जब तक इस सम्बन्ध में अन्य ठोस प्रमाण नहीं मिल जाते तब तक हमारा यह अनुमान केवल अनुमान की कोटि में ही रहेगा एवं हम अपनी सुनिश्चित मान्यता अभिव्यक्त करने की स्थिति में नहीं रहेंगे। अभी इस सम्बन्ध में खोज की आवश्यकता है।

एक अत्यद्भुत अन्य कारण से भी इतिहासविदों के लिये यह तथ्य गहन शोध का विषय बन जाता है। गवेषकों को चौंका देने वाले उस तथ्य का उद्घाटन करने से पूर्व यह बताना आवश्यक है कि पाटण के भण्डार में विद्यमान 'तित्थोगाली पइण्णय' की ताडपत्रीय प्रति का आलेखन विक्रम सम्वत् १४५२ में किया गया पर इसमें द्वादशांगी के व्यवच्छेद (ह्रास) काल का विवरण देते हुए वीर निर्वाण सम्वत् १७० में स्वर्गस्थ होने वाले अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु से लेकर वीर निर्वाण सम्वत् २१००० में प्रवर्तमान दुष्षम नामक पंचम आरक की कुछ ही घड़ियां शेष रहते-रहते स्वर्गस्थ होने वाले दुःप्रसह आचार्य के अन्तिम समय तक द्वादशांगी के भावी ह्रास का समुल्लेख किया गया है। वीर निर्वाण पश्चात् किस-किस अंग का किस-किस वर्ष में ह्रास हुआ अथवा होगा इस विवरण के साथ-साथ उन अंगों को सम्पूर्ण रूपेण धारण करने वाले अन्तिम श्रमण के नाम का भी उल्लेख किया गया है। उस विवरण का सार इस प्रकार है :—

१. प्रथम दश पूर्वधर आचार्य स्थूलभद्र हुए।

२. अन्तिम दश पूर्वधर आचार्य सत्यमित्र हुए।

३. वीर निर्वाण सम्वत् १००० में उत्तर वाचक वृषभ (देवर्द्धि क्षमाश्रमण) के साथ पूर्वगत ज्ञान नष्ट हो जायगा।

४. वीर निर्वाण सम्वत् १२५० में दिन्न गणी पुष्यमित्र के स्वर्गस्थ होने पर चौरासी हजार पदों वाला अति विशाल व्याख्या प्रज्ञप्ति अंग सहसा अंचित (संकुचित) हो जायगा और इसके साथ ही छः अंगों का ह्रास होगा।

५. वीर निर्वाण सम्वत् १३०० में माढर गोत्रीय आचार्य सम्भूति के स्वर्गस्थ होने पर समवायांग का ह्रास होगा।

६. वीर निर्वाण सम्वत् १३५० (१३६०) में आचार्य आर्जव यति (संभूति) के स्वर्गस्थ होने पर स्थानांग का व्यवच्छेद होगा।

७. वीर निर्वाण सम्वत् १४०० में काश्यप गोत्रीय ज्येष्ठ भूति (ज्येष्ठांग गणि) के निधन पर कल्प व्यवहार सूत्र का ह्रास हो जायगा।

८. वीर निर्वाण सम्वत् १५०० (१५२०) में गौतम गोत्रीय महा सत्व-शाली आचार्य फल्गुमित्र के स्वर्गस्थ होने पर दशाश्रुत स्कन्ध का व्यवच्छेद हो जायगा।

९. वीर निर्वाण सम्वत् १९०० में भारद्वाज गोत्रीय महा सुमिण (सुमिणमित्र अथवा स्वप्नमित्र) नामक आचार्य के स्वर्गवासानन्तर सूत्रकृतांग का ह्रास अथवा व्यवच्छेद हो जायगा।

१०. वीर निर्वाण सम्वत् २००० में विशाख मुनि के स्वर्गस्थ होने पर वीर निर्वाण सम्वत् २००० से ३००० के बीच की अवधि में कतिपय अंगों का ज्ञान व्यवच्छिन्न हो जायगा।

११. वीर निर्वाण सम्वत् २०,००० (बीस हजार) में हारित गोत्रीय विष्णु मुनि के स्वर्गस्थ होने पर आचारांग का व्यवच्छेद हो जायगा।

१२. वीर निर्वाण सम्वत् २१,००० (इक्कीस हजार) की कुछ ही घड़ियां शेष रहते-रहते अन्तिम आचारांगधर दुःप्रसह आचार्य के स्वर्गस्थ हो जाने पर चारित्र सहित आचारांग पूर्णतः नष्ट हो जायगा।

इस प्रकार 'तित्थोगाली पइण्णय' में वीर निर्वाण सम्वत् ६४ में आर्य जम्बू के मुक्त होने पर केवलज्ञान आदि दश प्रकृष्ट आध्यात्मिक शक्तियों के विच्छेद सहित वीर निर्वाण सम्वत् १७० से वीर निर्वाण सम्वत् २१,००० (इक्कीस हजार) तक द्वादशांगी के ह्रास विनाश का अति संक्षिप्त विवरण उपलब्ध है। वर्तमान काल में उपलब्ध इस 'तित्थोगाली पइण्णय' की रचना किसने की और कब की, इस प्रश्न का उत्तर किसी ठोस निर्णायक प्रमाण के अभाव में हम नहीं दे सकते। पर अज्ञातनामा ग्रन्थकार के कथन के आधार पर यह तो कह सकते हैं कि स्वयं भगवान् महावीर के उपदेश के आधार पर गणधरों द्वारा गुम्फित एक लाख श्लोक प्रमाण तित्थोगाली पइण्णय नामक पूर्वकाल में विद्यमान विशाल ग्रन्थ के आधार पर

इस कृषकाय तित्थोगाली पइण्णय की रचना की गई[1] और ताड़पत्रों पर विक्रम सम्वत् १४५२ में लिखित इसकी एक प्रति पाटण के भण्डार में उपलब्ध है।

इसमें उल्लिखित अनेक तथ्यों में से एक तथ्य ऐसा है, जो अतीत के इतिहास की गहन खोज करने वाले समस्त शोधार्थी समाज को चमत्कृत कर देने वाला है। वह तथ्य यह है कि वीर निर्वाण सम्वत् २००० तदनुसार विक्रम सम्वत् १५३० में विशाख मुनि के स्वर्गस्थ होने पर कतिपय आगमों का ज्ञान विच्छिन्न हो जायगा। विक्रम सम्वत् १४५२ में आलेखित इस ग्रन्थ में आलेखन काल से ७८ वर्ष पश्चात् घटित घटना का उल्लेख देखकर प्रत्येक विचारक को निश्चित रूप से बड़ा आश्चर्य होगा। भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा से लेकर प्रभु के आठवें पट्टधर आर्य स्थूल भद्र (वीर निर्वाण सम्वत् १ से २१५) तक की घटनाओं के पश्चात् वीर निर्वाण सम्वत् १००० से २००० तक की अंग ह्रास विषयक घटनाओं का उस-उस समय में हुए आचार्यों के नामोल्लेख के साथ इस तित्थोगाली पइण्णय में उल्लेख है। विशाख मुनि के पूर्ववर्ती आचार्यों की जो नामावली इस ग्रन्थ में दी हुई है, वह 'दुस्समा समरण संघ थयं', 'युग प्रधान पट्टावली' आदि ग्रन्थों में भी उपलब्ध है। इन ग्रन्थों से इस बात की पुष्टि होती है कि 'तित्थोगाली पइण्णय' में जिन आचार्यों का उल्लेख है वे सब ऐतिहासिक महापुरुष हैं। इस प्रकार की स्थिति में हमें यह भी मानना होगा कि वीर निर्वाण सम्वत् २००० अर्थात् विक्रम सम्वत् १५३० में स्वर्गस्थ हुए 'विशाख मुनि' भी ऐतिहासिक महापुरुष हुए हैं। त्रिकालदर्शी भगवान् महावीर के उपदेशों के आधार पर गणधरों द्वारा ग्रथित आगमों में और उनके आधार पर पश्चाद्वर्ती आचार्यों द्वारा ग्रथित ग्रन्थों में भावी घटनाओं के उल्लेख को देखकर किसी को आशंकित अथवा आश्चर्याभिभूत नहीं होना चाहिये।

—o—

१. रायगिहे गुणसिलए, भणिया वीरेण गणहराणं तु।
पय सय सहस्समेयं, वित्थरओ लोगनाहेणं ॥५॥
अइ संखेवं मोत्तुं, मोत्तूण पवित्थरं अहं भणिमो।
अप्पक्खरं महत्थं, जह भणियं लोगनाहेण ॥६॥
—तित्थोगाली पइण्णय, मुनिश्री कल्याणविजयजी एवं श्री [illegible] द्वारा सम्पादित।

श्रमण भ. महावीर के ६०वें पट्टधर
आचार्य श्री लालजी स्वामी

जन्म	वी. नि. सं. १६००
दीक्षा	,, ,, ,, १६३८
आचार्यपद	,, ,, ,, १६५७
स्वर्गारोहण	,, ,, ,, १६८७
गृहवासपर्याय	३८ वर्ष
सामान्य साधुपर्याय	१६ वर्ष
आचार्यपर्याय	३० वर्ष
पूर्ण संयमपर्याय	४६ वर्ष
पूर्ण आयु	८७ वर्ष

श्रमण भ० महावीर के ५६वें पट्टधर आचार्यश्री शिवराजजी के वीर नि. सं. १६५७ में स्वर्गस्थ हो जाने पर श्री लालजी स्वामी को प्रभु के ६०वें पट्टधर के रूप में आचार्यपद पर चतुर्विध संघ द्वारा अधिष्ठित किया गया। आपने वीर नि. सं. १६५७ से १६८७ पर्यन्त तीस वर्ष तक चतुर्विध संघ को धर्म के विशुद्ध आध्यात्मिक मूल मार्ग पर अग्रसर करते हुए जिनशासन की महती सेवा की। अन्त में ८७ वर्ष की आयु पूर्ण कर वीर नि. सं. १६८७ में आपने समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण किया।

—०—

श्रमण भ. महावीर के ६१वें पट्टधर आचार्यश्री ज्ञानऋषि

जन्म	वीर नि. सं.	१६२७
दीक्षा	,, ,, ,,	१६४३
आचार्यपद	,, ,, ,,	१६८७
स्वर्गारोहण	,, ,, ,,	२००७
गृहवासपर्याय		१६ वर्ष
सामान्य साधुपर्याय		४४ वर्ष
आचार्यपर्याय		२० वर्ष
पूर्ण संयमपर्याय		६४ वर्ष
पूर्ण आयु		८० वर्ष

श्री लालजी स्वामी के स्वर्गस्थ हो जाने पर वीर नि. सं. १६८७ में चतुर्विध संघ ने श्री ज्ञानऋषि को श्रमण भ० महावीर की मूल परम्परा के ६१वें पट्टधर के रूप में आचार्यपद पर अधिष्ठित किया। ४४ वर्ष की सामान्य श्रमणपद पर्याय और २० वर्ष की आचार्यपद पर्याय में कुल मिलाकर ६४ वर्ष पर्यन्त आपने श्रमण भ. महावीर के चतुर्विध धर्म संघ की महती सेवा की। वीर नि. सं. २००७ में आपने ८० वर्ष की आयु पूर्ण कर समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण किया।

श्री लालजी स्वामी के आचार्यकाल में वीर नि० सं० १६७८, तदनुसार वि० सं० १५०८ में अर्थात् आचार्यश्री ज्ञान ऋषि के आचार्यपद पर आसीन होने से ६ वर्ष पूर्व लौंकाशाह ने शास्त्रों के आधार पर धर्म के विशुद्ध स्वरूप एवं श्रमण-श्रमणीवर्ग के शास्त्र प्रतिपादित श्रमणाचार पर प्रकाश डालते हुए धर्म क्रान्ति का सूत्रपात किया।

—०—

श्रमण भ. महावीर के ६२वें पट्टधर
आचार्यश्री नानगजी स्वामी

जन्म	वीर नि. सं.	१६४४
दीक्षा	,, ,, ,,	१६७०
आचार्यपद	,, ,, ,,	२००७
स्वर्गारोहण	,, ,, ,,	२०३२
गृहवासपर्याय		२६ वर्ष
सामान्य साधुपर्याय		३७ वर्ष
आचार्यपर्याय		२५ वर्ष
पूर्ण संयमपर्याय		६२ वर्ष
पूर्ण आयु		८८ वर्ष

श्रमण भ. महावीर के ६१वें पट्टधर श्री ज्ञानजी ऋषि के स्वर्गस्थ हो जाने पर वीर नि. सं. २००७ में नानगजी स्वामी को मूल परम्परा के ६२वें पट्टधर के रूप में आचार्यपद पर अधिष्ठित किया गया। आपने २५ वर्ष तक आचार्यपद पर रहते हुए चतुर्विध धर्म तीर्थ की महती सेवा की और वीर नि. सं. २०३२ में ८८ वर्ष की आयु पूर्ण कर आपने स्वर्गारोहण किया।

—००—

श्रमण भ. महावीर के ६३वें पट्टधर
आ. श्री रूपजी स्वामी

जन्म	वीर नि० सं०	१९७२
दीक्षा	,,	२००४
आचार्यपद	,,	२०३२
स्वर्गारोहण	,,	२०५२
गृहवासपर्याय		३२ वर्ष
सामान्य साधुपर्याय		२८ वर्ष
आचार्यपर्याय		२० वर्ष
पूर्ण संयमपर्याय		४८ वर्ष
पूर्ण आयु		८० वर्ष

वीर नि० सं० २०३२ में नानगजी स्वामी के स्वर्गारोहण के पश्चात् श्री रूपजी स्वामी को प्रभु के ६३वें पट्टधर के रूप में चतुर्विध संघ द्वारा आचार्यपद पर आसीन किया गया। आपने २० वर्ष पर्यन्त आचार्यपद के कर्त्तव्यों का सुचारु-रूपेण निर्वहन करते हुए जिनशासन की महती सेवा की। आपने वीर नि. सं. २०५२ में ८० वर्ष की आयु पूर्ण कर समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण किया।

—o—

लौंकाशाह से पूर्व जैन संघ की स्थिति

सर्वज्ञ सर्वदर्शी श्रमण भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट, गणधरों द्वारा ग्रथित, चतुर्दश पूर्वधरों अथवा कम से कम दस पूर्वधर आचार्यों द्वारा द्वादशांगी में से निर्यूढ़ एकमात्र आगमों को ही सर्वोपरि, सर्वश्रेष्ठ एवं परम प्रामाणिक मानकर उनमें प्रतिपादित सिद्धान्तों, मान्यताओं, विधि-विधानों के आधार पर भगवान् महावीर के धर्म संघ में चैत्यवासी आदि द्रव्य परम्पराओं द्वारा प्रविष्ट की गई विकृतियों के समूलोन्मूलन के साथ यदि पूर्ण क्रियोद्धार प्रारंभ में ही किये जाते तो न तो भगवान् महावीर का एक सूत्रता में आबद्ध विशाल धर्म संघ विभिन्न छोटी-छोटी सैकड़ों इकाइयों में विभक्त होता और न धर्म संघ उपरिवर्णित पारस्परिक कलह विद्वेष एवं धर्मोन्माद की रंगस्थली ही बनता।

गणनातीत गच्छों में से कतिपय गच्छों का परिचय ऊपर दिया जा चुका है। उसमें, 'मित्ती मे सव्व भूएसु वेरं मज्झं न केणइ' के सस्वर घोष से नित्य प्रति गगनमंडल को गुंजरित कर देने वाले गच्छों, गच्छाधिपतियों, गच्छानुयायियों में शताब्दियों तक किस प्रकार का विनाशकारी विपाक्त वातावरण व्याप्त रहा, पारस्परिक विद्वेष कलह का तांडव नृत्य, अथवा गच्छ विद्वेष आदि विश्व-बन्धु, वीतराग, हितंकर तीर्थंकर प्रभु महावीर के ये धर्म संघ करते रहे, उस दयनीय दशा का थोड़ा सा चित्रण गच्छों के परिचय में किया गया है।

उसी दयनीय दशा का दिग्दर्शन लोकभाषा में एक कवि ने 'सुधर्मगच्छ परीक्षा' नामक अपनी कृति में किया है। उसका लेश मात्र यहां प्रस्तुत किया जा रहा है :—

युग प्रधान कालिक सूरिने, केहि तेह न विचारें मने।
कालक सूरि कवरणगच्छ थयो, कवरणाचार तिन थापियो ॥८७॥

कालक गच्छ भावट हरो नहि, पच्चखाण वन्दन लेने नहीं।
पहलो पडिकमे इरियावहि, सामायिक विधि पछे कहि ॥८८॥

पाखी चौमासी चउदसे, करे पजूसण चउथे रसें।
करे प्रतिष्ठा केमी वार, माने नांदि विशेष तेवार ॥८९॥

पहरे कंकरण ने मुद्रणि, बाजूबन्द बहिरखी जडी ।
स्नान करें बन्धे नव ग्रहि, सदश जुअलु पहरे सहि ।।६०।।[1]
करे विलेपण रूडा गात्र, संघ संघाते करे जलजात्र ।
माला रोपरण ने उपधान, ते तो माने दोष निदान ।।६१।।
महानिशीथ न ते सद्दहे, श्रावक ने चरवलुं नवि कहै ।
दिन प्रति देवी नी थुई चार, ओघे दसि प्रलम्वे विचार ।।६२।।
युगप्रधान कालिक गुरु तरणो, काउसग्ग करे चिहुं लोगस्स तरणो ।
अन्तर पडिक्कमणे पुरण जोय, एवा बोल घरणा तिहां होय ।।६३।।
वीर थकी वरसे चउदसे, चउसठ[2] अधिको जारणो रसे ।।१०३।।
वड हेठे वडगच्छ थापिया, चौरासी आचारण किया ।
ते चौरासी गच्छा जारणवा, वड गच्छा न **मन आणवा**[3] ।।१०४।।
तेहनी समाचारि एक, तेह मांहि नव भेद अनेक ।
वड पीपल सिद्धान्ती जोय, बोकडिया जाखडिया होय ।।१०५।।
हारे जा जीराउल नाम, एवमादि चउरासी ठाम ।
एक उपाध्याय अलगो हतो, काले गुरु पासे पुह हतो ।।१०६।।
तेह परण आचारज कियो, पंचासीमो गच्छ थापियो ।
तेथी केटले काले जोय, राजसभा मां चरचा होय ।।१०७।।
कंस पात्र **गाथी**[4] नीकली, खरतर नाम ठव्यो तिहां वलि ।
चिहुंतर अधिक वरस सहसोल (१६७४), कीधो आचरण दंदोल[5] ।।१०८।।
बोल एक सौ चोवीस, फेरे जिनवल्लभ सूरीश ।
वलि अनेरागच्छ ओसवाल, कोरंटा साडेंरावाल ।।१०९।।
धर्मभूष नारणा पल्लीवाल, वे वन्दनिक चित्रावाल ।
चित्रावाल अने ब्रह्मारिणया, मलधारा आदिक जारणीया ।।११०।।

---

१. यच्चोक्तं, कनक कनक मुद्रिका परिधानं न युक्तम्-तदप्ययुक्तं, यतस्तावन्मात्रकालं परिधीयमानं भूषणं न विभूषरण हेतुः न वा परिग्रह, तथा परिणामाभावात् ।
– प्रवचन परीक्षा पृष्ठ १७१, उपाध्याय धर्मसागर तपागच्छीय (श्री हीरविजयसूरि के सहपाठी एवं कृपापात्र)
आचार्य के सभी गुणों से सम्पन्न श्रमण श्रेष्ठ आचार्य को प्रतिष्ठाचार्य के पद पर अधिष्ठित करते समय स्वर्ण कंकरण, स्वर्ण मुद्रिका, बहुमूल्य उत्तमोत्तम वस्त्र धारण करवाना तपागच्छीय उपाध्याय धर्मसागर ने उचित बताया है ।
– सम्पादक

२. वीर निर्वाण सम्वत् १४६४

३ मन आणवा=मनमाने, ४. गाथी=धनराशि । ५. दंदोल=उथल-पुथल ।

वरस सोलह सें ओगणात्रीस (१६२६), पूनमगच्छ थापना जगीश ।
चौरासि अधिक सोलसें (१६८४) वरसें अंचलगच्छ मति वसैं ।।१११।।

घणा बोलना अन्तर कर्या, ते पण घणे जणे आदर्या,
रजोहरण ने मुंहपत्ती, श्रावक ने नवि थापे छती ।।११३।।

श्रावक ने पडक्कमण न कहे, छ आवश्यक नवि द्दिहे ।
पाखी आठम गणत्री करे, इम अन्तर अति घणा आचरे ।।११४।।

वरस सत्तर से वीसे ठाम (१७२०), आगमगच्छ धराव्यो नाम ।
त्रण हुइ गणत्रिए पर्व, पडिक्कमणे अन्तर छे सर्व ।।११५।।

पोसह मांहि अन्तर घणो, अधिक मासे पजूसण तणो ।
योग विधि नान्दि फेरघणा, **मन विमास**[1] जुओ तेह तणा ।।११६।।

चित्रावल थकी नीकल्या, तपागच्छ नामे सांभल्या ।।११७।।

तिणे गच्छ आचरणा विज्ञान, नहिं मालारोपण उपधान ।
श्रावक ने पण नहिं चरवलो, इत्यादिक अन्तर सांभलो ।।११८।।

तसु समाचारी नवि करे, सूत्र पंथ पण ढीलो धरै ।
परम्परामुख थापे घणीं, न जाणीये ते किण ही करि ।।११६।।

सूत्र अर्थ ने कूडो देखी, जो कोई पूछे सविशेखी ।
परम्परा नु लेई नाम, लोक तणुं मन आणे ठाम ।।१२०।।

लोक न जाणे ते परे इसी, परम्परा दाखे छै किसी ।
परम्परा तो तेहज खरी, जे जिणवर गणधर आदरि ।।१२१।।

पण जे थापे आपापणी.[2] **तेह ने माथे कोई न धणी**[3] ।
ते तो डाह्या[4] माने कैम, सूत्र विचारी जुओ श्रेम ।।१२२।।

सम्वत् पन्द्र पचासीए (१५८५) क्रियातणिमति आणि हिए ।
थया रिसीसर क्रियावन्त, वैरागी देखीता सन्त ।।१२३।।

ते मत सांचो कहे आपणो, दूजा न उत्थापे घणो ।
घणा पाट देखाडे भणी, परम्परा थापे आपणी ।।१२४।।

न कहे साधुपणा नी विगत, पाट नाम नी थापे जुगत ।
पण जे जाण हुए ते जोय, साधुपणा विण पाट न होय ।।१२५।।

गुरु चोर्या पापी सहु कहे, तो कां छोटी अलगा रहे ।
सहु नु माथा सिर पोमाल, ते छांडी कां पड्या जंजाल ।।१२६।।

जो कहे ते आचारे हीरण, तो पाट नाम कां थापो लीरण ।
जो गुरु तो निन्दो कांई तास, सेवो तेहनो गुरुकुल वास ।।१२७।।

साधु तरणाँ विरण दाखे पाट, ते जिम जाणो सुंधी वांट ।
जो ते सुधां गुरु जारिणया, तो लोपी कां अलगा थया ।।१२८।।

गुरु लोपंता पातक बहु, इम मुख लोक छे सहु ।
इम तो प्रत्यनीक परणुं थाय, तो केम जिरणमत आराधाय ।।१२९।।

सूत्र समाचारी जे रहे, तेहने निगुरा निगुरा कहे ।
ते ऊपर सांभलो विचार, मन माणो आमला लगार ।।१३०।।

जे माने जिनवर ना वयरण, तेहना बिहु परे निरमल नयरण ।
सघली परे ते सगुरा सहि, जगगुरु नी जिणै आरणा वही ।।१३१।।

जे कोई हवरणां ने समय, क्रिया मारग रूढे रमे ।
तिमने आपरणा गुरु नो संग, लोप्यां दीसे छे वहु भंग ।।१३२।।

ते गुरु ने वन्दे परण नहीं, जे वन्दे तसु वारे सहि ।
पासत्था ओसन्नाकहि, तसु अवगुरण बोले उमहि ।।१३३।।

तेह नि दीक्षा व्रत उच्चार, वलि करावे वीजी वार ।
वलि प्रतिष्ठे प्रतिमा जारण, नवि माने आदेश प्रमारण ।।१३४।।

तेह तरणी न करे थापना, नवि आणे गुरु नी भावना ।
श्रावक जे समभाव्या तेणे, तेह ने परण स्वामी नव गणे ।।१३५।।

तसु मांडलि न करावे क्रिया, तो ते कहो केम गुरु जारिणया ।
मारी मात तो वन्ध्या केम, ए ऊखाणो जोवो जेम ।।१३६।।

विभिन्न गच्छों के उपरि प्रदत्त परिचय में वीतराग प्रभु के धर्म संघ का देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमरण से उत्तरवर्त्ती काल का जैसा दर्दनाक-दयनीय चित्र इतिहास के दर्परण में दृष्टिगोचर होता है, वह वस्तुतः प्रत्येक धर्मनिष्ठ विज्ञ व्यक्ति के हृदय को विदीर्ण कर देने वाला है ।

सभी प्रकार के अभिनिवेशों से मन, मस्तिष्क एवं हृदय को पूर्णरूपेण विमुक्त कर, साम्प्रदायिक व्यामोहों से ऊपर उठकर यदि इन सब तथ्यों के सन्दर्भ में तलस्पर्शी सूक्ष्म दृष्टि से विश्व वन्धु भगवान् महावीर के विश्व कल्याणकारी धर्मसंघ की देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमरण से उत्तरवर्त्ती कालीन दयनीय दारुण दशा और उसके मूल काररणों पर शान्त मन से विचार किया जाय तो इस सब का एक मात्र तथ्यपूर्ण काररण यही प्रकाश में आवेगा कि धर्म संघ मे न केवल अधिकांश धुराधौरेय कर्णधारों ने ही अपितु चतुर्विध धर्म संघ के प्रत्येक सदस्य ने—"प्रत्येक जैन के लिये जिनेश्वर द्वारा प्ररूपित आगम ही परम प्रामाणिक, परमाधार एवं सर्वोपरि है" इस प्रकार के तीर्थ प्रवर्त्तन काल से एक सहस्र शताब्दि तक चले आ

रहे धर्मसंघ के शाश्वत अटल नियम के प्रति सजगता नहीं दिखाई। इस अटल अमर सिद्धान्त की उपेक्षा अवहेलना कर अनागमिक मान्यताओं को धर्म संघ में अंकुरित होने का, प्रसृत होने का अवसर प्रदान किया गया। आगमों की इस प्रकार की अवेहलना अवमानना के दुष्परिणामस्वरूप द्रव्य परम्पराओं ने अनागमिक एवं आगम विरुद्ध मान्यताओं को चतुर्विध धर्मसंघ की धार्मिक दैनन्दिनी में प्रविष्ट कर धर्म के मूल स्वरूप को विकृत कर दिया, सुधर्म गच्छ परीक्षाकार के शब्दों में चतुर्विध धर्मसंघ के आचार को ही दन्दोल डाला—उथल-पुथल, उलट-पलट कर डाला। धर्मसंघ की इस प्रकार की विकृत अवस्था को देखकर सर्वप्रथम महामनीषि अतुल साहसी, श्री वर्द्धमानसूरि ने विकृति की ओर प्रवृत्त हुए धर्मसंघ के उद्धार के लिये क्रियोद्धार का शंखनाद पूरा। उन्होंने धर्मसंघ में प्रथमतः उत्पन्न की गई और तदनन्तर उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्ररूढ़ कर दी गई विकृतियों के समूलोन्मूलन के लिये आमूल-चूल धर्मक्रांति का सूत्रपात करते हुए कहा : "हम केवल जिनेश्वर द्वारा उपदिष्ट गणधरों अथवा चतुर्दश पूर्वधरों द्वारा ग्रथित अथवा चतुर्दश पूर्वधरों द्वारा निर्यूढ़ आगमों को ही सर्वोपरि एवं परम प्रामाणिक मानते हैं, आगमों से इतर अन्य (ग्रन्थ) हमें मान्य नहीं है।"

इस प्रकार के सम्पूर्ण क्रियोद्धार अथवा समग्र कान्ति के उद्घोष के उपरांत भी कालान्तर में सम्भवतः एक दो पीढ़ी बाद ही उनके इस क्रांति नाद की चतुर्विध संघ द्वारा उपेक्षा कर दी गई। तदनन्तर वर्द्धमानसूरि के उत्तरवर्त्ती काल के जिन-जिन महापुरुषों ने श्रमण भगवान् महावीर के धर्मसंघ में प्रविष्ट हुई विकृतियों के समूलोन्मूलन के लिये क्रियोद्धार किये वस्तुतः उन्हें पूर्ण क्रियोद्धार की अथवा समग्र धर्मक्रान्ति की संज्ञा नहीं दी जा सकती। वस्तुतः उन्होंने वर्द्धमानसूरि की भांति एक-मात्र आगमों को ही सर्वोपरि एवं परम प्रामाणिक मानने का उद्घोष न कर सम्पूर्ण क्रियोद्धार के स्थान पर आंशिक क्रियोद्धार किये। "आगमिकगच्छ"—इस नाम से प्रत्येक विज्ञ व्यक्ति को यही आभास होता है कि आगमिकगच्छ के संस्थापक महा-पुरुष ने क्रियोद्धार करते समय एक मात्र आगमों को ही प्रामाणिक और सर्वोपरि मानने का उद्घोष किया होगा। किन्तु इस गच्छ के कार्य-कलापों, इस गच्छ की लम्बे काल की रीति-नीतियों के पर्यवेक्षण से इस प्रकार का कोई आभास नहीं मिलता कि इस गच्छ के कर्णधारों ने आगम से भिन्न निर्युक्तियों-वृत्तियों-भाष्यों और चूर्णियों को आगम तुल्य प्रामाणिक न मानने का कोई उद्घोष किया हो। इन सब तथ्यों पर विचार करने के पश्चात् यही निष्कर्ष निकलता है कि वर्द्धमानसूरि आदि जितने भी धर्मोद्धारकों द्वारा क्रियोद्धार किये गये वे वस्तुतः सर्वांगपूर्ण नहीं, आंशिक क्रियोद्धार ही थे। नीम-हकीमों की कहावत के अनुसार इन अधूरे-अपूर्ण क्रियोद्धारों के कारण भगवान् महावीर के धर्म संघ को बड़ी हानि उठानी पड़ी। जिन-जिन छोटी-बड़ी कतिपय मान्यताओं को लेकर उन महापुरुषों ने समय-समय पर जो क्रियोद्धार किये उनके कारण धर्मसंघ में गच्छों की बाढ़-सी आ गई।

संघ छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त होकर एक क्षीण अथवा दुर्वल धर्मसंघ के रूप में अवशिष्ट रह गया। इससे न केवल जैन धर्म संघ अशक्त ही हुआ बल्कि भिन्न-भिन्न गच्छों की भिन्न-भिन्न मान्यताओं के कारण महान् धर्म संघ कलह ईर्ष्या द्वेष का गढ़-सा बन गया। इसकी दशा दयनीय-सी हो गई।

उपरिवर्णित विभिन्न गच्छों के परिचय में एवं "सुधर्म गच्छ परीक्षा" में भगवान् महावीर के छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त धर्म संघ की जिस दारुण दशा का चित्रण किया गया है, उसी प्रकार की दशा सैकड़ों शिलालेखों से भी प्रतिध्वनित होती है। उन शिलालेखों से साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति भी सहज ही में अनुमान लगा सकता है कि एक ही प्रदेश में कितनी बड़ी संख्या में गच्छ सक्रिय थे एवं अपने अस्तित्व को सर्वाधिक सशक्त बनाने के लिये प्रयत्नशील थे। इस प्रकार की विखराव की स्थिति का द्योतक एक उदाहरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है :—

"प्रतिष्ठा लेख संग्रह" नामक ग्रन्थ में कुल मिलाकर १२०० (बारह सौ) प्रतिष्ठा लेखों का उल्लेख किया गया है। उन बारह सौ प्रतिष्ठा लेखों में किस-किस गच्छ के कितने-कितने प्रतिष्ठा लेख हैं इस सम्बन्ध में यहां विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

गच्छ का नाम		लेख संख्या
१.	अंचलगच्छ	३७
२.	आगमगच्छ	७
३.	उपकेशकगच्छ	५८
४.	कडवा मति	२
५.	कृष्णर्षिगच्छ	४
६.	कृष्णर्षि तपापक्ष	५
७.	कोमलगच्छ	१
८.	खडायथगच्छ	१
९.	खरतरगच्छ	१८४
१०.	खरतर मधुकरगच्छ	१
११.	कोरंटगच्छ	१६
१२.	चित्रापल्लीयगच्छ	१
१३.	चित्रावालगच्छ	५
१४.	चित्रावाल थारापद्रीय	१
१५.	चैत्रगच्छ	१५
१६.	छहितरागच्छ	१

१७.	जाखडिया गच्छ	१
१८.	जालोहरीय गच्छ	१
१९.	जीराउला गच्छ	२
२०.	जीरापल्ली गच्छ	१
२१.	तपागच्छ	२३९
२२.	डेकात्रीय गच्छ	१
२३.	दीवन्दनीक गच्छ	३
२४.	धारा गच्छ	१
२५.	धर्मघोष गच्छ	४९
२६.	नागरगच्छ	१
२७.	नागेन्द्रकुल गच्छ	१०
२८.	नागोरी तपागच्छ	२
२९.	नाणकीय (ज्ञानकीय) गच्छ	१५
३०.	नाणावाल गच्छ	७
३१.	निवृत्ति गच्छ	२
३२.	पल्ली गच्छ	११
३३.	पल्लीवाल गच्छ	५
३४.	पार्श्वद्रह गच्छ	१
३५.	पीपलगच्छ	३
३६.	पिप्पलगच्छे तलाजीय	१
३७.	पिप्पलगच्छे त्रिभविया	३
३८.	पूर्णिमापक्षीय गच्छ	२८
३९.	पूर्णिमापक्षे कच्छोलीवाल	४
४०.	पूर्णिमापक्षे भीमपल्लीय	२
४१.	पूर्णिमापक्षे वटपद्रीय	१
४२.	ब्रह्माण गच्छ	१९
४३.	वृहद्गच्छ	३७
४४.	वृहद्गच्छे जीरावटंके	१
४५.	वृहद्गच्छे जीरापल्लीगच्छ	१
४६.	वृहद्तपा वृद्धतपागच्छ	१६
४७.	बोंकडियागच्छ	४
४८.	बोंकडिया वृहद्गच्छ	१
४९.	भावडा गच्छ	१३
५०.	भावदेवाचार्य गच्छ	१
५१.	भीनमाल गच्छ	१
५२.	मंडाहड गच्छ	७

५३.	मंडाहड रत्नपुरीय गच्छ	३
५४.	मल्लधारगच्छ	२६
५५.	राजगच्छ	३
५६.	रामसेनीय गच्छ	१
५७.	रुद्रपल्लीय गच्छ	१२
५८.	वायट गच्छ	२
५९.	विजयगच्छ	४
६०.	विद्याधर गच्छ	१
६१.	वीरागच्छ	१
६२.	वृत्राणगच्छ	१
६३.	वृद्ध थारापद्रीय गच्छ	२
६४.	सति शालिगच्छ	१
६५.	साधु सार्द्ध पूर्णिमागच्छ	५
६६.	सिद्धान्तीगच्छ	१
६७.	सीतरगच्छ	१
६८.	सुविहित पक्षगच्छ	१
६९.	सौधर्मगच्छ	१
७०.	संडेर गच्छ	३७
७१.	हर्षपुरीय गच्छ	१
७२.	हारीजगच्छ	१

दिगम्वर संघों के लेखों की सूची :

१.	काष्ठा संघ	१०
२.	नन्दितट गण	२
३.	देवसेन संघ	२
४.	वलात्कारगण	३
५.	वागडगच्छ	२
६.	माथुर संघ	३
७.	मूल संघ	२६
८.	लाडवागड संघ	२
९.	सरस्वतीगच्छ	५

इस प्रकार एक ही पुस्तक में श्वेताम्बर परम्परा के बहत्तर (७२) और दिगम्वर परम्परा के ९ (नौ) प्रतिष्ठालेखों का कुल मिलाकर ८१ गच्छों, गणों एवं संघों का उल्लेख है। इनमें चैत्यवासी परम्परा के चौरासी गच्छों को सम्मिलित कर दिया जाय तो इन गणों-गच्छों की संख्या १६५ हो जाती है। मथुरा के कंकाली

टीले की खुदाई में उपलब्ध श्वेताम्बर परम्परा के विभिन्न गणों एवं गच्छों के शिलालेखों तथा दक्षिणापथ में उपलब्ध दिगम्बर श्वेताम्बर यापनीय और कूर्चक संघों के गणों एवं गच्छों से सम्बन्धित शिलालेखों में जिन गणनातीत संघों, गणों एवं गच्छों आदि के उल्लेख उपलब्ध होते हैं उन सबको उपर्युल्लिखित १६५ (एक सौ पैंसठ) गणों-गच्छों की संख्या में सम्मिलित किये जाने पर तो एक बृहदाकार सूची तैयार की जा सकती है। शिलालेखों में जिन गणों, गच्छों, मतों आदि का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता तथा जो गण, गच्छ, संघ, मत, आम्नाय आदि इस धरा से तिरोहित हो चुके हैं उनके विषय में गहन खोज के साथ गणों, गच्छों आदि की संख्या को यदि उस बृहदाकार सूची में सम्मिलित किया जाना सम्भव हो सके तो वह गणों, गच्छों, मतों आदि की सूची कितनी बृहदाकार होगी, इसका आज कोई अनुमान तक नहीं लगा सकता।

इन सब पुरातात्विक उपलब्ध सामग्रियों से एक बड़ा आश्चर्यकारी तथ्य यह प्रकाश में आता है कि वीर निर्वाण की एक सहस्राब्दि के अनन्तर श्रमण भगवान् महावीर का धर्मसंघ सैकड़ों गणों, गच्छों, मतों, संघों और विभिन्न प्रकार के भेद-प्रभेदों में विभक्त होकर परस्पर एक-दूसरे की आलोचना में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझने लग गया था।

जहां तक विशुद्ध श्रमणाचार का प्रश्न है, उसकी दशा तो प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों के पर्यवेक्षण से और भी दयनीय दृष्टिगोचर होती है। इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से कुछ नहीं कहकर खरतरगच्छीय आचार्य जिनवल्लभसूरि द्वारा विरचित संघपट्टक की प्रस्तावना के शब्दों को ही यहां प्रस्तुत कर देना पर्याप्त समझते हैं। प्रस्तावनाकार ने लिखा है—"......................पर चैत्यवास शुरु थतां तेम ने स्वगच्छ ना बखाण अने परगच्छ नी हीलना करवा मांडी। एटले परस्परविरोधी गच्छो ऊभा थया।"

"गच्छ शब्द नो मूल अर्थ ए छे के गच्छ अथवा गण—एटले साधुओं नुं टोलुं माटे गच्छ शब्द कांई खराब नथी, पण गच्छ माटे अहंकार ममत्व के कदाग्रह करवो तेज खराब छे। छतां चैत्यवास मां तेवो कदाग्रह वधवा मांड्यो। आ ऊपर थी तेओ मां कुसम्प वध्यो, ऐक्य त्रुट्युं। हवे एक गच्छ मां थी चोरासी गच्छ थई पड्या। तेओ एकमेक ने तोडवा मांड्या अने आ रीते समाधिमय धर्म ना स्थाने कलह कंकासमय अधर्म ना बीज रोपायां।

पांचवां आरा रूप अवसर्पिणी काल एटले पडतो काल तो हमेशा आव्या करे पण अगाऊ कांई आ जैनधर्म मां आवी धांधल ऊभी थई नथी पण हमणां नो पडतो काल साधारण रीते पडता काल ना करतां कईक जुदी तरह नो होवा थी ते हुंड एटले अतिशय भूंडो होवाथी तेने हुंडाव-

सर्पिणी काल कहेवा मां आव्यो छे। आवो काल अनन्ती अवसर्पिणियो बीततां ज आवे छे। तेवो आ चालू काल थयो छे। ते साथे वीर प्रभु ना निर्वाण वगते बे हजार वर्ष नो भस्म ग्रह बेठेलो ते साथे मल्यो, तेम ज तेनी साथे असंयति पूजा रूप दसमो अछेरो पोता नु जोर वताव्या लाग्यो। एम चारों संयोगो भेगा थवा थी आ चैत्यवास रूप कुमार्ग जैन धर्म ना नामे चोमेर फेलावा मांड्यो। गुरुओ स्वार्थी थई योग्यायोग्य नो विचार पडतो मूकी जो हाथ मां आव्यो ते ने मूंडी ने पोता ना वाडा वधारवा मांड्या। अने छेवटे वेचाता चेला लई विना वेराग्ये तेम ने पोता ना वारस तरीके नींववा मांड्या।

हवे कहेवत छई के यथा गुरुस्तथा शिष्यो, यथा राजा तथा प्रजा। ते प्रमाणे गुरुओ शिथिल थतां तेमने तथा नीचे ना यतियो तेमना करतां पण वधु शिथिल थया। तेओ दवा दारु, डोरा धागा वगैर करीने लोको ने वश मां राखवा लाग्या। वेपार करवा लाग्या तथा खेती वाडी सुद्धां करवा तत्पर थया। तेम छतां तेओ पोता ने महावीर प्रभु ना वारिस चेलाओ तरीके ओलखावी पोता नु भान सांचववा मांड्या।

आणी मेर तेमना रागी श्रावको आंधा वणी तेमना पंजा मां संपडाई तेओ जे कांई **एंरूध चतु** समझावे ते वधु वगैर विचारे अने वगैर तकरारे हां जी हां जी करी स्वीकारवा लाग्या। कारण के लोको नु मुख्य भाग हमेशा भोलो रहे। तेथी तेवा भोलाओ ने, कपटीवेशधारी चैत्य-वासियो अनेक वाहना ऊभा करी ने ठगवा मांड्या...........।

आ मामलो एटले लग वध्यो के निर्ग्रन्थ मार्ग विरल थई पड्यो। निर्ग्रन्थ प्रवचन पर तालां देवाया। अने कपोल कल्पित ग्रन्थो तेम नी जग्या ए ऊभा करवा मां आव्या। एटलु ज नहीं पण...........।

अपूर्ण एवं आंशिक क्रियोद्धारों के परिणामस्वरूप विभिन्न गच्छों की उत्पत्ति, गच्छों में व्याप्त पारस्परिक क्लेष, द्वेष, वैमनस्य कलह के परिणामस्वरूप श्रमण वर्ग में शिथिलाचार किस दयनीय स्थिति में पहुंच चुका था इस सम्बन्ध में तपापक्षीय राजविजयसूरि गच्छ की पट्टावली का निम्नलिखित उल्लेख प्रत्येक सच्चे जैन के लिये चिन्तनीय एवं मननीय है :—

"५८वें पाट पर श्री आनन्द विमलसूरि हुए। एक समय आबू पर यात्रार्थ गये। सूरि जी चतुर्मुख चैत्य में दर्शन कर विमल वसही के दर्शनार्थ गये। गभारा के बाहर खड़े दर्शन कर रहे थे, उस समय अर्बुदा देवी श्राविका के रूप में आचार्य के दृष्टि-गोचर हुई। आचार्य श्री ने उसे पहचान लिया और कहा—"देवी ! तुम शासन भक्त के होते हुए लुंगा के अनुयायी जिन मन्दिर

और जिन प्रतिमाओं का विरोध करते हुए लोगों को जैन मार्ग से श्रद्धाहीन बना रहे हैं, तुम्हारे जैसों को तो ऐसे मतों को मूल से उखाड़ डालना चाहिये।" यह सुनकर देवी बोली—"पूज्य ! मैं आपको सहस्रौषधि का चूर्ण देती हूं। वह जिसके सिर पर आप डालेंगे वह आपका श्रावक बन जायेगा और आपकी आज्ञानुसार चलेगा।" इसके बाद अर्बुदा देवी आचार्यश्री को योग्य भलामरण देकर अदृष्य हो गई। बाद में आचार्य वहां से विहार करते हुए विरल (विसल) नगर पहुंचे, वहीं श्री विजयदानसूरि चातुर्मास्य रहे हुए थे, वहीं आकर आनन्द विमलसूरिजी ने देवी प्रश्नादिक सब बातें विजयदानसूरिजी को सुनायी, जिससे वे भी इस काम के लिए तैयार हुए, वहां से आनन्द विमलसूरि और विजयदानसूरि अहमदाबाद के पास गांव बारेजा में राजसूरिजी के पास आए और कहा—"हम दोनों लुंका मत का प्रसार रोकने के कार्यार्थ तत्पर हैं, तुम भी इस काम के लिए तैयार हो जाओ।" यह कहकर श्री आनन्द विमलसूरि जी ने कहा—मेरे पट्टधर विजयदानसूरि हैं ही और विजयदानसूरि के उत्तराधिकारी श्री राजविजय-सूरि को नियत करके अपन तीनों आचार्य तपागच्छ के मार्ग की मर्यादा निश्चित करके अपने उद्देश्य के लिये प्रवृत्त हो जाएं। आनन्दविमलसूरिजी ने श्री राजविजयसूरि को कहा—तुम विद्वान् हो इसलिये हम तुम्हारे पास आये हैं, **लुंकामति जिनशासन का लोप कर रहे हैं**, मेरा आयुष्य तो अब परिमित है, परन्तु तुम दोनों योग्य हो, विद्वान् हो और परिग्रह सम्बन्धी मोह छोड़कर वहीवट की बटियां जल में घोल दी हैं, सवा मन सोने की मूर्ति अन्धकूप में डाल दी, सवा पाव सेर मोतियों का चूरा करवा के फेंक दिया है दूसरा भी सभी प्रकार का परिग्रह छोड़ दिया है।

श्री राजविजय सूरि ने सम्वत् १५८२ में क्रियोद्धार करने वाले लघु-शालिक आचार्यश्री आनन्द विमलसूरि के पास योगोद्वहन करके श्री राज-विजयसूरि नाम रखा, बाद में तीनों आचार्यों ने अपने-अपने परिवार के साथ भिन्न-भिन्न देशों में विहार किया।"[1]

श्री तपागच्छ पट्टावली सूत्र की गाथा संख्या १८ की व्याख्या में लिखा है :—

"आनन्दविमलसूरि के समय में साधुओं में शिथिलता अधिक बढ़ गई थी, उधर प्रतिमा विरोधी तथा साधु विरोधी लुंपक तथा कटुक मत के अनुयायियों का प्रचार प्रतिदिन बढ़ रहा था। इस परिस्थिति को देखकर आनन्दविमलसूरि जी ने अपने पट्टगुरु आचार्य की आज्ञा से शिथिलाचार

---

१. पट्टावली पराग संग्रह पृष्ठ १८८-१८९

का परित्याग रूप क्रियोद्धार किया। आपके इस क्रियोद्धार में कतिपय संविग्न साधुओं ने साथ दिया, यह क्रियोद्धार आपने १५८२ के वर्ष में किया। आपकी इस त्यागवृत्ति से प्रभावित होकर अनेक गृहस्थों ने 'लुंका-मत' तथा 'कडुआमत' का त्याग किया और कई कुटुम्ब आदि का मोह छोड़कर दीक्षित भी हुये।..........

क्रियोद्धार करने के बाद श्री आनन्दविमलसूरि जी ने १४ वर्ष तक कम से कम षष्ठतप करने का अभिग्रह रखा। आपने उपवास तथा छट्ठ से २० स्थानक तप का आराधन किया, इसके अतिरिक्त अनेक विकृष्ट तप करके अन्त में (वि. सं.) १५९६ में चैत्र सुदि में आलोचनापूर्वक अनशन करके नव उपवास के अन्त में अहमदाबाद नगर में स्वर्गवासी हुए।"[1]

उपर्यु ल्लिखित तथ्य इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि चैत्यवासियों द्वारा श्रमणाचार में जो घोर शिथिलाचार प्रविष्ट किया गया, उसका प्रभाव विक्रम संवत् १०८० की अवधि से लेकर विक्रम संवत् १५८२ तक की अवधि के बीच किये गये अनेक क्रियोद्धारों के उपरान्त भी जैन धर्म संघ पर न्यूनाधिक रूप में बना ही रहा।

चैत्यवासी परम्परा और सुविहित कही जाने वाली परम्पराओं के प्राचीन उल्लेखों एवं घटना-क्रमों के तुलनात्मक पर्यवेक्षण से यह एक बड़ा ही विस्मयकारी तथ्य प्रकाश में आता है कि चैत्यवासी परम्परा द्वारा आविष्कृत अनेक मान्यताओं का प्रभाव सुविहित परम्पराओं पर अनेक प्रकार के क्रियोद्धारों के उपरान्त भी बना रहा। इस सम्बन्ध में एक विस्मयकारी तथ्य यहां प्रस्तुत किया जा रहा है —

चैत्यवासी परम्परा के सूत्रधारों व कर्णधारों ने सर्वज्ञ प्रणीत आगमों की अपेक्षा भी अपनी कपोल कल्पना को, अपने मस्तिष्क व बुद्धि की उपज को अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये सर्वोपरि प्रामाणिक मानते हुए चैत्यवासी साधुओं के लिये जो दस नियम बनाये थे, उनमें आगमों के विरुद्ध एक प्रकार से खुला विद्रोह घोषित करने वाला नवमां नियम इस प्रकार है :—

"साधु इस प्रकार की क्रियाओं का स्वयं आचरण करें तथा उन क्रियाओं के विधि-विधानों का उपदेश एवं प्रचार-प्रसार कर लोगों से उन क्रियाओं का पालन करवाएं जो शनैः शनैः मोक्ष-मार्ग की ओर ले जाने वाली हैं। यदि इस प्रकार की क्रियाओं का, बातों का, विधि-विधानों का आगमों में उल्लेख नहीं है, तो आगमों की उपेक्षा करें। आगमों में यदि उन क्रियाओं का निषेध है तो आगम वचन का अनादर करके भी उन

---

१. पट्टावली पराग संग्रह पृष्ठ १५३-१५८

और जिन प्रतिमाओं का विरोध करते हुए लोगों को जैन मार्ग से श्रद्धाहीन बना रहे हैं, तुम्हारे जैसों को तो ऐसे मतों को मूल से उखाड़ डालना चाहिये।" यह सुनकर देवी बोली—"पूज्य ! मैं आपको सहस्रौषधि का चूर्ण देती हूं। वह जिसके सिर पर आप डालेंगे वह आपका श्रावक बन जायेगा और आपकी आज्ञानुसार चलेगा।" इसके बाद अर्बुदा देवी आचार्यश्री को योग्य भलामण देकर अदृष्य हो गई। बाद में आचार्य वहां से विहार करते हुए विरल (विसल) नगर पहुंचे, वहीं श्री विजयदानसूरि चातुर्मास्य रहे हुए थे, वहीं आकर आनन्द विमलसूरिजी ने देवी प्रश्नादिक सब बातें विजयदानसूरिजी को सुनायी, जिससे वे भी इस काम के लिए तैयार हुए, वहां से आनन्द विमलसूरि और विजयदानसूरि अहमदाबाद के पास गांव बारेजा में राजसूरिजी के पास आए और कहा—"हम दोनों लुंका मत का प्रसार रोकने के कार्यार्थ तत्पर हैं, तुम भी इस काम के लिए तैयार हो जाओ।" यह कहकर श्री आनन्द विमलसूरि जी ने कहा—मेरे पट्टधर विजयदानसूरि हैं ही और विजयदानसूरि के उत्तराधिकारी श्री राजविजयसूरि को नियत करके अपन तीनों आचार्य तपागच्छ के मार्ग की मर्यादा निश्चित करके अपने उद्देश्य के लिये प्रवृत्त हो जाएं। आनन्दविमलसूरिजी ने श्री राजविजयसूरि को कहा—तुम विद्वान् हो इसलिये हम तुम्हारे पास आये हैं, **लुंकामति जिनशासन का लोप कर रहे हैं,** मेरा आयुष्य तो अब परिमित है, परन्तु तुम दोनों योग्य हो, विद्वान् हो और परिग्रह सम्बन्धी मोह छोड़कर वहीवट की बटियां जल में घोल दी हैं, सवा मन सोने की मूर्ति अन्धकूप में डाल दी, सवा पाव सेर मोतियों का चूरा करवा के फेंक दिया है दूसरा भी सभी प्रकार का परिग्रह छोड़ दिया है।

श्री राजविजय सूरि ने सम्वत् १५८२ में क्रियोद्धार करने वाले लघुशालिक आचार्यश्री आनन्द विमलसूरि के पास योगोद्वहन करके श्री राजविजयसूरि नाम रखा, बाद में तीनों आचार्यों ने अपने-अपने परिवार के साथ भिन्न-भिन्न देशों में विहार किया।"[1]

श्री तपागच्छ पट्टावली सूत्र की गाथा संख्या १८ की व्याख्या में लिखा है :—

"आनन्दविमलसूरि के समय में साधुओं में शिथिलता अधिक बढ़ गई थी, उधर प्रतिमा विरोधी तथा साधु विरोधी लुंपक तथा कटुक मत के अनुयायियों का प्रचार प्रतिदिन बढ़ रहा था। इस परिस्थिति को देखकर आनन्दविमलसूरि जी ने अपने पट्टगुरु आचार्य की आज्ञा से शिथिलाचार

१. पट्टावली पराग संग्रह पृष्ठ १८८-१८९

धर्मोद्धारक सद्धर्ममार्तण्ड श्री लोंकाशाह का आर्यधरा पर आविर्भाव

यदा-यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।

गीता के माध्यम से संसार के समक्ष सार्थक अमोघ सूक्ति के रूप में किया गया यह घोष वीर निर्वाण की बीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में अन्ततोगत्वा चरितार्थ हुआ ।

जैसा कि बताया जा चुका है, जिस समय जैन संघ सातशीलत्वपरक हठाग्रहपूर्ण अगणित विभेदों में विभक्त एवं क्षीण हो पारस्परिक कलह, विद्वेष एवं असहिष्णुताजन्य धार्मिक संघर्ष की क्रीड़ास्थली बन चुका था, शिथिलाचार के घने कोहरे में विशुद्ध श्रमणाचार एक प्रकार से ओझल सा हो गया था, बाह्याडम्बरों के घनघोर घटाटोप में सद्धर्म का मूल आध्यात्मिक स्वरूप अदृश्य प्रायः हो चुका था, मुक्तिपथप्रदर्शक साधु-साध्वी वर्ग सातशीलत्ववशात् जैनधर्म के मूल सिद्धान्तों अथवा आगमिक आदेशों से एक प्रकार से नितान्त विमुख हो स्वयं श्रमणों के लिए एकान्ततः अनादेय—अनाचरणीय भविष्यकथन, औषधोपचार, यन्त्र-तन्त्र-मन्त्र आदि के माध्यम से परिग्रह तथा प्रभावार्जन की दौड़ में दत्तचित्त हो सर्वात्मना—सर्वभावेन अग्रसर हो रहा था, शिथिलाचार में आकण्ठ निमग्न हो गया था, शास्त्रोक्त विशुद्ध श्रमणाचार का त्रिविध योग त्रिविध करण से परिपालन करने वाले श्रमण-श्रमणियों के दर्शन तक दुर्लभ हो चुके थे, धर्म का विशुद्ध स्वरूप जिस समय भौतिक कार्यकलापों से ओत-प्रोत बाह्याडम्बर के गहडम्बर घटाटोप में लुप्त सा गया था, उस समय सद्धर्ममार्तण्ड, धर्मप्राण लोंकाशाह का एकमात्र धर्मोद्धार के लक्ष्य से आर्यधरा पर आविर्भाव हुआ । जन्म-जन्मान्तरों की आध्यात्मिक साधना और पूर्वोपार्जित पुण्य के प्रताप के परिणामस्वरूप लोंकाशाह अपने शैशवकाल अथवा बाल्यकाल से ही प्रबुद्ध एवं धर्म के प्रति, अपने कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक थे । प्राणिमात्र के सही अर्थों में त्राता, जगदेकबन्धु श्रमण भगवान् महावीर के धर्मसंघ में अपने समय में व्याप्त अन्तर्द्वन्द्व, पारस्परिक कलह, आगम विरुद्ध आचार-विचार, साम्प्रदायिक व्यामोह, जैनधर्म के मुक्तिप्रदायी आध्यात्मिक पथ से प्रतिकूल दिशा में भौतिकता की आडम्बरपूर्ण दौड़ की ओर चतुर्विध संघ की सार्वत्रिक सक्रिय अभिरुचि एवं सर्व सावद्य कार्यकलापों से जीवन-पर्यन्त विरत रहने की दृढ़ प्रतिज्ञा के साथ पंच महाव्रतों को धारण करने वाले श्रमण-श्रमणी वर्ग की आत्मसाधना-

क्रियाओं को स्वयं करता रहे तथा दूसरों से उन क्रियाओं का आचरण करवाता रहे, क्योंकि भगवान् का सिद्धान्त अनेकान्तमय है। अमुक कार्य एकान्ततः करना ही चाहिये और अमुक कार्य एकान्ततः नहीं करना चाहिये ऐसा कोई निर्देश जैन सिद्धान्त में नहीं है। अनेक अकरणीय कार्यों के करने और अनेक करने योग्य कार्यों के न करने का उल्लेख आगमों में अनेक स्थानों पर है।"

इस प्रकार के नियम के बन जाने से चैत्यवासियों को आगम विरुद्ध आचार-विचार, मान्यता, रीति-रिवाज आदि को अपने संघ में प्रचलित करने कराने तथा शिथिलाचार का अवलम्बन लेने का खुला अवसर प्राप्त हो गया।

ठीक इसी प्रकार प्रथम क्रियोद्धारक आचार्य वर्द्धमानसूरि द्वारा यद्यपि पाटन की राज्य सभा में इस प्रकार की स्पष्ट रूप से घोषणा की गई थी कि हमें केवल गणधरों एवं चतुर्दश पूर्वधरों द्वारा ग्रथित आगम ही मान्य हैं, न कि कोई इतर ग्रन्थ, तथापि आगे चलकर न केवल वर्द्धमानसूरि द्वारा संस्थापित श्रमण परम्परा में ही अपितु सुविहित कही जाने वाली प्रायः सभी परम्पराओं में पंचांगी को अर्थात् आगम और आगम के समान ही निर्युक्ति भाष्य चूर्णि और टीका को भी परम प्रामाणिक मानना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर के नितान्त अध्यात्म परक धर्म संघ में अनेक प्रकार की अनागमिक मान्यताओं, आडम्बरपूर्ण विधि-विधानों को प्रविष्ट होने का प्रवेशद्वार सदा-सदा के लिये खोल दिया।

इस सबका घोर दुष्परिणाम यह हुआ कि सुविहित कही जाने वाली परम्पराओं के श्रमणवर्ग भी शिथिलाचार और परिग्रह संग्रह आदि में चैत्यवासी परम्परा के साधुओं की बराबरी करने लगे। अन्ततोगत्वा अपरिपूर्ण क्रियोद्धारों और आंशिक धर्मक्रांतियों के परिणामस्वरूप जैन संघ में गच्छों की बाढ़ के साथ-साथ जो पारस्परिक विद्वेष की आग भड़की उस कलह एवं विद्वेष की आग ने यति परम्परा को जन्म दिया। पारस्परिक विद्वेष, कलह एवं एक-दूसरे को नीचा दिखाने की, हीन सिद्ध करने की, सर्मव्यापी वृत्ति से ऊबकर शिथिलाचारग्रस्त कतिपय श्रमणों ने यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र, निमित्तज्ञान, मुहूर्त्त आदि लौकिक विज्ञान का आश्रय ले अपने जीवन-निर्वाह के लिये धन संचय करना, परिग्रह बटोरना, प्रारम्भ किया।

श्रमण भगवान् महावीर के विश्वकल्याणकारी धर्मसंघ की इस प्रकार की दयनीय परिस्थिति से द्रवित होकर लोंकाशाह ने एकमात्र आगम को ही सर्वोपरि एवं परम प्रामाणिक मानने के उद्घोष के साथ सम्पूर्ण धर्मक्रांतिरूप पूर्ण क्रियोद्धार का शंखनाद पूरा।

पर गणधरों द्वारा ग्रथित आगमों के निचोड़-निष्कर्ष रूप में स्वयं द्वारा उस समय की लोकभाषा में लिखे गये बोलों, प्रश्नों आदि के माध्यम से जन-जन के मन, मस्तिष्क एवं हृदय में इस प्रकार की अटूट आस्था उत्पन्न कर दी कि अहिंसामूलक, दयाप्रधान जैनधर्म में छोटी-बड़ी किसी भी प्रकार की हिंसा के लिये कोई स्थान नहीं है, अणुमात्र भी अवकाश नहीं है, अध्यात्मपरक जैनधर्म में द्रव्यार्चन-द्रव्यपूजा आदि के रूप में मूर्तिपूजा एवं बाह्याडम्बर के लिए कहीं कोई किंचित्मात्र भी स्थान नहीं है। लोंकाशाह ने—

"धम्मो मंगलमुकिट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।" के अनादि शाश्वत आगमिक उद्घोष के साथ सद्धर्म का दिव्यघोष गुंजरित कर आर्यधरा के इस छोर से उस छोर तक जन-जन के मानस में धर्म-क्रान्ति की कभी न टूटने वाली अक्षय अमर लहर तरंगित कर दी।

लोंकाशाह की लेखिनी और वाणी के माध्यम से पंच महाव्रतधारी श्रमणों के श्रमणाचार के विशुद्ध मूल शास्त्रीय स्वरूप को, विश्वबन्धुत्व का पाठ पढ़ाने वाले विश्वधर्म जैन धर्म के सर्वज्ञप्रदर्शित विशुद्ध आगमिक स्वरूप को सुन कर तो लोग तत्कालीन श्रमण-श्रमणी वर्ग में व्याप्त परिग्रह, आरम्भ-समारम्भप्रधान शिथिलाचार के विरुद्ध खुला विद्रोह करने के लिये कटिबद्ध हो गये। परिग्रह के पंक में आकण्ठ निमग्न साधु नामधारी यतिवर्ग के खेमे में लोंकाशाह के शास्त्रसम्मत शंखनाद से भयंकर भूकम्प सा आ गया। नामधारी श्रमणों के अनेकानेक विभिन्न गच्छों के आचार्यों, मठाधीशों एवं श्रीपूज्यों को वहीवट (उपासक गृहस्थ वर्ग के नामों की सूचियों वाली बहियों) से स्वर्ण, रजत, मोती, स्वर्ण तथा रजत से निर्मित पालकियों, छड़ी, छत्र, चामरों की भेंट आदि के रूप में जो विपुल द्रव्य की बारहों मास अनवरत आय होती थी, उस आय के स्रोत अवरुद्ध होने लगे, शनैः शनैः बन्द होने लगे। अपनी अजस्र आय एवं सुख-सुविधाओं में इस प्रकार की अप्रत्याशित क्षति से वे लोग तिलमिला उठे। वे सब मिल कर एकजुट हो शाम-दाम-दण्ड-भेद आदि की यथेच्छ नीतियां अपनाकर बड़ी ही तत्परता से लोंकाशाह का विरोध करने लगे। वे अहर्निश लोंकाशाह के विरुद्ध छल-प्रपंचपूर्ण षड्यन्त्रों की रचना में निमग्न रहने लगे।

शिथिलाचारग्रस्त द्रव्य परम्पराओं के आचार्यों, साधु-साध्वियों एवं श्रावक-श्राविकाओं द्वारा किये गये घोर विरोध, उपसर्गों एवं विघ्न-बाधाओं से लोंकाशाह किंचित्मात्र भी विचलित नहीं हुए। सर्वांगपूर्ण समग्र क्रान्ति के क्रान्तिकारी प्रशस्त पथ पर उनके चरण आगमिक उद्धरणों के उद्घोषों के साथ उत्तरोत्तर शत-शत गुणित वेग से आगे की ओर ही बढ़ते चले गये। एकमात्र आगमों पर आधारित उनके उपदेशों में, विरोधियों से, प्रभु वीर द्वारा प्रदर्शित प्रशस्त पथ से भटके लोगों से, शिथिलाचार में निमग्न त्यागी वर्ग से उनके द्वारा पूछे गये प्रश्नों में एवं सम्पूर्ण

रम्भपूर्ण कार्यों में सर्वोपरि विशिष्ट सक्रिय अभिरुचि आदि आगम-विरुद्ध प्रवृत्तियों को देखकर लोंकाशाह का अन्तर्मन आन्दोलित हो तड़प उठा । उन्होंने सर्वज्ञप्रणीत आगमों एवं आगमों के प्रणयन के लगभग ग्यारह सौ से लेकर बारह सौ-तेरह सौ वर्ष पश्चात् तक समय-समय पर अनेक आचार्यों द्वारा निर्मित निर्युक्तियों, वृत्तियों, चूर्णियों एवं भाष्यों आदि आगमिक साहित्य का अध्ययन, निदिध्यासन, अवगाहन आलोडन-विलोडन तथा अन्तर्निरीक्षण किया । आगमों के निदिध्यासन, चिन्तन-मनन से लोंकाशाह ने अनुभव किया कि न केवल श्रावक-श्राविका वर्ग का ही अपितु श्रमण-श्रमणी वर्ग का प्रवाह भी सर्वज्ञप्रणीत आगमों में निर्दिष्ट मुक्तिप्रद अध्यात्मपथ से नितान्त प्रतिकूल दिशा की ओर प्रवाहित हो रहा है । पंच महाव्रतों की दीक्षा ग्रहण करने वाला एक प्रकार से पूरा का पूरा साधुवर्ग सातशीलत्व के वशीभूत हो उत्तरोत्तर अधिकाधिक शिथिलाचार के गहन पंकिल गर्त में डूबता चला जा रहा है, परिग्रह के अम्बार में आनखशिख निमग्न हो रहा है । शिथिलाचार के दास बने साधु-साध्वी वर्ग ने आगम-विरोधी आडम्बरपूर्ण भौतिक प्रवृत्तियां चतुर्विध संघ के मानस में प्रचलित-प्रवाहित कर न केवल श्रमणाचार को ही अपितु अहिंसा-प्रधान-दयाप्राण एवं अध्यात्मपरक जैन धर्म के आगमानुसारी विशुद्ध मूल स्वरूप को भी आमूल-चूलतः परिवर्तित कर विकृत बना दिया है । धर्मधुराधौरेय बने इन द्रव्य-परम्पराओं के शिथिलाचारोन्मुखी आचार्यों एवं श्रमण-श्रमणियों के वर्गों ने विश्व के प्राणिमात्र के हितंकर तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित-प्रदर्शित कोटि-कोटि सूर्य सम प्रभ जैन धर्म के मूल स्वरूप की ठीक उसी प्रकार की दशा कर दी है, जिस प्रकार की कि काली-काली सघन घनघटाओं के आटोप की ओट में छुपे सूर्य की ।

विश्वकल्याणकारी जैन धर्म के मूल स्वरूप पर छाये बाह्याडम्बर भौतिक कर्मकाण्ड एवं शिथिलाचार के घने काले बादल तुल्य घटाटोप को छिन्न-भिन्न करने का दृढ़ संकल्प लिये लोंकाशाह ने अदम्य साहस एवं शौर्य के साथ वि० सं० १५०८ में आगमानुसारिणी सर्वांगपूर्ण धर्मक्रान्ति का सूत्रपात किया । एक युगप्रवर्तक महापुरुष में जितने उत्तम गुण अनिवार्यरूपेण आवश्यक अथवा अपेक्षित होते हैं, वे सब गुण अपने समय के अनुपम आत्मबली लोंकाशाह में परिस्फुटित एवं विद्युत वेग से विकसित हो चुके थे । उनकी वाणी में अमित ओज एवं अमृतोपम माधुर्य के साथ-साथ प्रबल प्रभाव प्रचुर मात्रा में विद्यमान था । उनकी लेखिनी में अवितथ तथ्य को यथार्थ में यथातथ्यरूपेण प्रकट करने, प्रतिपादित करने अथवा प्रस्तुत करने की अद्भुत् क्षमता थी । उन्होंने वाणी के साथ-साथ लेखिनी के माध्यम से सर्वज्ञ-प्ररूपित, सर्वदर्शी द्वारा प्रदर्शित सद्धर्म के आगमानुसारी मूल स्वरूप को जन-जन के समक्ष प्रकट, प्रस्तुत एवं प्रकाशित करना प्रारम्भ किया । उन्होंने एकादशांगी के प्रमुख एवं प्रथम अंग आचारांग तथा सूत्रकृतांग आदि आगमों के आधार पर अपने उपदेशों एवं सर्वज्ञ-सर्वदर्शी श्रमण भगवान् महावीर के अमोघ उपदेशों के आधार

के प्रकट होने के अनन्तर भवताप से संत्रस्त-संतप्त संसारी प्राणियों की दारुण दुःखपूर्ण दयनीय दशा पर द्रवित हो प्रत्येक तीर्थंकर ने प्राणिमात्र के हित के लिये दया कर प्रवचन फरमाये। उन प्रवचनों में प्रत्येक तीर्थंकर ने जन्म, जरा, आधि, व्याधि आदि दुःखों से सदा-सर्वदा के लिये मुक्ति प्राप्त करने के सभी उपायों पर प्रकाश डाल कर संसारी प्राणियों को मुक्ति का प्रशस्त पथ प्रदर्शित किया। समय-समय पर हुए प्रत्येक तीर्थंकर के गणधरों ने अपने तीर्थेश्वर के उन प्रवचनों के आधार पर द्वादशांगी अपर नाम गणिपिटक की रचना की। भवपाश को काट कर शुद्ध-बुद्ध-मुक्त होने के जितने भी उपाय, साधन, भाव अथवा कार्य हो सकते हैं, उन सब पर प्रत्येक सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तीर्थंकर ने अपने-अपने धर्मतीर्थ की स्थापना के समय पूर्ण प्रकाश डाला और उनके गणधरों ने उन सब भावों, उपायों, साधनों अथवा कार्यों को विशद रूप से द्वादशांगी में दृब्ध कर सहस्रों सहस्र भावी पीढ़ियों के लिये मुक्ति के प्रशस्त पथ को प्रकाशमान रखने का अमर कार्य सम्पन्न किया। किस-किस प्रकार की साधना द्वारा, किन-किन उपायों एवं कार्यों अथवा साधनों द्वारा भवभ्रमण से, भवताप से छुटकारा, संसार के सभी प्रकार के दुःखों का मूलतः अन्त कर अनन्त-अक्षय-अव्याबाध-शाश्वत शिवसुख प्राप्त किया जा सकता है, उन सब उपायों को द्वादशांगी में समाविष्ट किया गया है, उन उपायों में से किसी एक भी उपाय को द्वादशांगी में छोड़ा नहीं गया है।"

"अनादि अतीत के तीर्थंकरों की ही भांति श्रमण भगवान् महावीर ने भी केवल्योपलब्धि के अनन्तर"—"सव्व जग-जीव रक्खण-दयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं" द्वादशांगी के दशम अंग प्रश्नव्याकरणसूत्र (द्वितीय भाग, प्रथम संवर द्वार) के इस आगम वचन के अनुसार भवतापसंतप्त संसारी प्राणियों पर दया कर उनकी रक्षा के लिये, अथाह दुःखसागर संसार से उनका उद्धार करने के लिये धर्मतीर्थ की स्थापना करते हुए प्रवचन फरमाये (कहे), जिनमें मुक्ति प्राप्ति के सभी उपायों, कार्यों, भावों अथवा साधनों पर प्रभु ने पूर्ण रूप से प्रकाश डाला। प्रभु महावीर के उन प्रवचनों के आधार पर गौतम आदि ग्यारह गणधरों ने "गणि-पिटक के नाम से अभिहित की जाने वाली द्वादशांगी को दृब्ध किया।"

"सभी तीर्थंकरों के प्रवचनों में जीवादि मूल भावों की समानता एवं एकरूपता रहती है, इसी कारण—इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाइ नासी, न कयाई न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ, भुविं च भवइ य भविस्सइ य, धुवे, नियए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए निच्चे"—द्वादशांगी के चतुर्थ अंग समवायांग (सूत्र १८५) के इस सूत्र के अनुसार द्वादशांगी को अनाद्यनन्त-शाश्वत माना गया है। "इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं वुच्छित्तिनयट्ठाए साइयं सपज्जवसियं, अवुच्छित्तिनयट्ठाए अणाइयं अपज्जवसियं"—नन्दीसूत्र (सूत्र [illegible]) के इस उल्लेखानुसार पांच भरत तथा पांच एरवत इन दश क्षेत्रों में समय-समय पर तीर्थंकरों के [illegible] और तीर्थंकरकाल में इनकी रचना के कारण सादि सपर्यवसित तथा [illegible]

आगम साहित्य के अवगाहनानन्तर निष्कर्ष अथवा निचोड़ के रूप में निर्मित और जन-जन के समक्ष प्रस्तुत किये गये सारगर्भित "बोलों" में ऐसा सद्यःप्रभावकारी जादू था कि मुमुक्षुजन उद्वेलित सागर की भांति लोंकाशाह के आगमिक उपदेशों को सुनने के लिये चारों ओर से उमड़ने और जैनधर्म के सर्वज्ञप्रणीत आगमिक विशुद्ध स्वरूप के प्रगाढ़ निष्ठावान् अनुयायी बनकर लोंकाशाह द्वारा सूत्रित समग्र धर्मक्रान्ति को सशक्त बनाने में सक्रिय सहयोग देने लगे। लोंकाशाह ने शिथिलाचार का और धर्म के नाम पर शिथिलाचारियों द्वारा जैन संघ में प्रचलित किये गये बाह्याडम्बरपूर्ण कर्मकाण्डों एवं भौतिक विधि-विधानों का स्पष्ट शब्दों में डंके की चोट डट कर विरोध करते हुए धर्म के विशुद्ध आगमिक स्वरूप को सुनने-समझने के लिये प्रतिदिन उपस्थित होने वाले जनसमूह को सार रूप में समझाना प्रारम्भ किया कि जिनेश्वर प्रभु द्वारा आगमों में प्रदर्शित मुक्तिप्रदायी धर्मपथ पर चलने वाला मुमुक्षु ही वस्तुतः सच्चा जैन है। जिनेश्वर भ० महावीर के उपदेशों के आधार पर गणधरों द्वारा दृब्ध अथवा निर्मित आगम ही वस्तुतः प्रत्येक जैन के लिये सर्वोपरि मान्य एवं परम प्रामाणिक है। जिनवाणी में, सर्वज्ञप्रणीत आगमों में जिनमन्दिर-निर्माण, प्रतिभा-प्रतिष्ठा, जिनेश्वरों की प्रतिमाओं में प्राणप्रतिष्ठा करने की विधि, जिनप्रतिमाओं में प्राणप्रतिष्ठा का विधान, मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा और अपनी-अपनी बाड़ेबन्दी के उद्देश्य से स्वधर्मीवात्सल्य (सामीवच्छल) के नाम पर, प्रतिष्ठा आदि महोत्सवों के प्रसंग में एकत्रित लोगों को दीनारें आदि बहुमूल्य वस्तुएं प्रीतिदान के रूप में देने का न तो कहीं कोई विधान ही है और न नाममात्र के लिये भी उल्लेख तक ही। आगमों के मूल उद्धरण जिज्ञासु श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत करते हुए लोंकाशाह ने उन्हें बताया कि तीर्थप्रवर्तनकाल में आर्यावर्त के किसी भी नगर, ग्राम अथवा स्थान में कहीं भी जिनमन्दिरों का, जिनचैत्यों एवं जिनप्रतिमाओं का अस्तित्व तक नहीं था। यदि भ० महावीर के समय में जिनेश्वरों के चैत्य-जिनमन्दिर होते तो प्रभु महावीर यक्षों के चैत्यों-यक्षायतनों की ही भांति अथवा यक्षायतनों के स्थान पर कभी न कभी किसी न किसी जिनमन्दिर में भी ठहरते और साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूपी चतुर्विध संघ को प्रतिमावन्दन, गृहस्थ वर्ग को चैत्य-जिनमन्दिर-जिनप्रासाद, उनमें प्रतिमाओं की प्रतिस्थापना, निरंजन-निराकार, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त जिनेश्वरों की मूर्तियों में अक्षय-अव्याबाध-अव्यय-अनन्त-शाश्वत सुखधाम शिवधाम में विराजमान जिनेश्वरों के प्राणों की प्रतिष्ठा करने के मन्त्र-तन्त्र, विधि-विधान 'जिनप्रतिमा जिनसारखी' बनाने की विधि एवं उनकी इस प्रकार प्राणप्रतिष्ठित प्रतिमाओं की पत्र, पुष्प, फल, तोय, धूप, दीप, नैवेद्य आदि से द्रव्यार्चन, द्रव्यपूजा आदि का स्पष्ट शब्दों में प्रभु महावीर अवश्यमेव उपदेश देते।

इस सम्बन्ध में आगमिक शाश्वत सत्य पर प्रकाश डालते हुए धर्मोद्धारक लोंकाशाह ने अपने उपदेशों में जन-जन के समक्ष कहा—"केवलज्ञान केवलदर्शन

आदि के माध्यम से आगमों के अनेकानेक उद्धरणों-प्रमाणों को प्रस्तुत कर जन-जन के समक्ष एतद्विषयक वास्तविकता को प्रकट करते हुए कहा—"वस्तुस्थिति यह है कि आगमों में इस प्रकार का कहीं कोई किंचित्मात्र भी उल्लेख नहीं है। नितान्त अध्यात्मवादी जैनधर्म में बाह्याडम्बरपूर्ण भौतिक विधिविधानों, चैत्यनिर्माण, प्रतिमापूजा, तीर्थयात्रा आदि का समावेश वीर निर्वाण के अनन्तर अनेक शताब्दियों पश्चात् नियतनिवासी-चैत्यवासी मठाधीशों द्वारा किया गया है। अपनी कपोल कल्पना के आधार पर जैन धर्मसंघ में धर्म के नाम पर प्रविष्ट किये गये आडम्बर-पूर्ण भौतिक विधि-विधानों को परम्परागत सिद्ध करने के उद्देश्य से चैत्यवासियों द्वारा निगमोपनिषदों की रचनाएं की गईं। उन निगमोपनिषदों की गहरी छाप निर्युक्तियों, वृत्तियों, चूर्णियों एवं भाष्यों पर स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। इसी कारण किसी भी सच्चे जैन के लिये निगमोपनिषदों की भांति निर्युक्तियां, वृत्तियां, चूर्णियां और भाष्य अक्षरशः मान्य नहीं हैं। जैन मात्र के लिये जिनोपदिष्ट केवल आगम ही मान्य हैं, न कि सम्पूर्ण पंचांगी।

लोंकाशाह के अथाह आगमज्ञान ने एवं आगमों के आधार पर दिये गये उनके उपदेशों ने लोगों को प्रभावित किया और लाखों की संख्या में जैन धर्मावलम्बी प्रबुद्ध हो अपने शिथिलाचारी कुलगुरुओं, आगमविरुद्ध आचरण करने वाले परिग्रही आचार्यों एवं मठाधीशों से अपना दामन छुड़ा लोंकाशाह द्वारा प्रदर्शित विशुद्ध आगमिक पथ के पथिक बन गये। सम्पूर्ण गुजरात, मारवाड़, मेवाड़, ढूंढाड़ और उत्तरप्रदेश में आगरा तक के नगरों एवं ग्रामों के जैन धर्मावलम्बी सत्पथप्रदर्शक धर्मप्राण लोंकाशाह को मसीहा तुल्य अपना सच्चा हितैषी मानते हुए उनके द्वारा प्रदर्शित आगमिक मूल जैन धर्म के अनुयायी बन गये। अर्थलोलुप, परिग्रही यतीवर्ग और शिथिलाचार में आकण्ठ निमग्न साधु नामधारी वर्ग को लोंकाशाह द्वारा प्रारम्भ की गई धर्मक्रान्ति से सभी भांति की अपूरणीय क्षति हुई। उनकी पूजा, प्रतिष्ठा और आय बड़ी तीव्र गति से उत्तरोत्तर घटते ही गये। इस प्रकार वह वर्ग लोंकाशाह का भयंकर शत्रु बन गया। इस निहितस्वार्थ वाले शिथिलाचारी वर्ग ने अपनी एड़ी से चोटी तक की शक्ति लगाकर लोंकाशाह के विरुद्ध अनेक प्रकार के षड्यन्त्र किये, लोंकाशाह की ओर उमड़े जन-मानस के प्रवाह को उनके विरुद्ध प्रवाहित करने के कुत्सित-दूषित उद्देश्य से उनकी विशुद्ध आगमिक मान्यताओं के सम्बन्ध में अपनी कपोलकल्पना का आश्रय ले अनेक प्रकार की लावणियां, छन्द आदि बना कर अन्धाधुन्ध बेसिरपैर का प्रचार-प्रसार करना प्रारम्भ किया। किन्तु विरोधियों के इस प्रकार के मिथ्या अभियान के उपरान्त भी लोंकाशाह द्वारा पुनः प्रकाश में लाये गये धर्म के विशुद्ध रूप स्वरूप को अंगीकार करने वालों की संख्या उत्तरोत्तर अभिवृद्ध होती ही गई। विक्रम संवत् १५३० से पर्याप्त समय पूर्व ही गुजरात से लेकर आगरा तक का क्षेत्र लोंकाशाह के प्रभाव में आ चुका था और वहां लोंकाशाह के अनुयायी बहुसंख्यक की कोटि में आ चुके थे। केवल यही नहीं, [illegible]

क्षेत्रों में शाश्वत रूप से विद्यमान रहने के कारण अनादि अपर्यवसित माना गया है।"

लोंकाशाह ने जैनधर्मावलम्बियों के समक्ष इस तथ्य को रखा कि आगमों में इस प्रकार अनादि एवं अनन्त मानी गयी द्वादशांगी में जिनमन्दिर के निर्माण, जिनेश्वरों की मूर्ति की प्रतिष्ठा-अर्चा-पूजा, तीर्थयात्रा आदि का कहीं नाम-मात्र के लिये भी उल्लेख नहीं है। अतीत की अनन्त चौवीसियों एवं प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल की चौवीसी के किसी भी तीर्थंकर प्रभु ने अपने प्रवचनों में कभी इस प्रकार का उपदेश नहीं दिया कि जिनमन्दिर निर्माण, जिनप्रतिमापूजा, जिनप्रतिमाप्रतिष्ठा अथवा जिनप्रतिमा के वन्दन से प्राणी को मोक्ष की प्राप्ति होती है। वर्तमान में उपलब्ध एकादशांगी में एक भी इस प्रकार का उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता, जिसमें गणधर, श्रमण अथवा श्रमणीवर्ग के लिये जिनप्रतिमा के वन्दन का, आनन्द आदि किसी भी श्रावकोत्तम एवं श्रावक-श्राविका आदि गृहस्थ वर्ग के लिये जिनमन्दिर निर्माण, जिनप्रतिमा-प्रतिष्ठा, जिनप्रतिमापूजा का विधान अथवा उपदेश किया गया हो, किसी भी साधक वा श्रावकोत्तम ने चैत्य-निर्माण, प्रतिमानिर्माण, प्रतिमा पूजा आदि में से किसी एक भी कार्य का निष्पादन किया हो।"

श्रीमद्भगवद्गीता में तो स्पष्ट रूप से कहा गया है —

पत्रं पुष्पं फलं तोयं, यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६ अ० ९॥

यदि जैन धर्म में जल, फल, पत्र पुष्पादि से प्रतिमा के पूजन, प्रतिमा की प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा, तीर्थवन्दन, चैत्यनिर्माण आदि के लिये मुक्ति के साधन के रूप में स्थान होता तो कहीं न कहीं प्रभु महावीर अपने प्रवचनों में तथा गणधर जगद्गुरु श्रमण भ० महावीर के प्रवचनों के आधार पर निर्मित द्वादशांगी के किसी भी अंगशास्त्र में निर्देश अथवा उल्लेख अवश्यमेव करते। गणिपिटक में इस प्रकार के उल्लेख के अभाव से यही सिद्ध होता है कि अनादि अनन्त-शाश्वत गणिपिटक में, जिनेश्वर द्वारा प्रतिष्ठापित धर्मतीर्थ के विधि-विधानों में द्रव्यपूजा, द्रव्यार्चना, मन्दिर-मूर्तिनिर्माण आदि के लिये कोई लवलेश मात्र भी स्थान नहीं है।"

"त्रिकालवर्ती भावों को हस्तामलकवत् युगपद् जानने देखने वाले जगत्त्राता जिनेश्वरों से यह आत्यन्तिक महत्व का तथ्य छुपा रह गया हो कि जिनमन्दिरों के निर्माण, प्रतिमापूजा, जिनप्रतिमा-वन्दन आदि के माध्यम से भी प्राणी सब दुःखों का अन्त कर मुक्ति प्राप्त कर सकता है और इस तथ्य को पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने विलुप्त चतुर्दश पूर्वों में से खोज कर चूर्णियों, निर्युक्तियों, भाष्यों, वृत्तियों अथवा प्रतिष्ठा-विधियों में प्रकट किया हो, इस प्रकार की कल्पना तो नितान्त मिथ्याभिनिवेशाभिभूत प्रवचनोड्डाहक ही कर सकता है।" लोंकाशाह ने अपने उपदेशों, बोलों, प्रश्नों

अनन्त जीव पहुंता निरवाणि, साहमी वच्छल तणइ प्रमाणि ।
सामायिक प्रमुखि इं इम सही, एय वात सिरि आगमि कही ।।३।।
इम जाणि सुश्रावक संत, यथा शक्ति केता पुण्यवन्त ।
पुण्यकाज ए सवि आचरइ, लाधउ जनम ते सफलु करइं ।।४।।
हरष कीरति पणि जि पण्यास, तेह नइ फडीउ वड्ड वरांस ।
धंधूंकीया कहाविइं मूलि, धंधूंकूं धुरि कीधुं धुलि ।।५।।
संवत् पनरह तीस वासि, तिहां ठाई तेणई चुमासि ।
त्रिण्णि चारि तिहां लागट रहइ, धर्म विचारतु इच्छां कहइ ।।६।।
गुरू नु मानइ न वि आदेस, वलावतां मनि आणइ रेस ।
केता करइं तेहनुं पखउं, तिणइं हऊउं अति खरखुं ।।७।।
गुरु सरिसी तिणइं मंडी वेढि, गच्छ मांहि पणि को नहीं मेढि ।
तिणि ते हऊउ अति उदंप, न वि मानइ ते केहनी चंप ।।८।।
जिण पूजा जिणहर जिण विंव, ऊ थापइ नइ करइं विडंव ।
न वि मानइ तीरथ नी जात्र, नवि मानइ तीरथ पात्र ।।९।।
साहमी वच्छल नहीं न वि दान, रात्री भोजन रात्री ध्यान ।
सामाइक नु नहीं उच्चार, ए हवा मांडिया तेणि विचार ।।१०।।
लुंका मानी थापइ रीति, ते नवि वइसइ डाहां वींति ।
घणे जणे ते धंधो ली उ, तिहां हुं तुं वाहिरि घोलीउ ।।११।।
ऊदाली लीधु परिवार, सघलु साधु करइ इकसार ।
मन भितरि आणइ विषवाद, तु ऊत रीउ तेहनु नाद ।।१२।।
पाटणि पुहुंतु माया करइ, माधव मुख्य अनइ अनुसरइ ।
जिन पूजा नइ मानइ दान, पणि पामे व अन्नह पान ।।१३।।
वांदिउ धर्मलाभ नवि कहइ, पच्चक्खाण तु न वि सद्दहइ ।
ए नवि मानइ भावह यती, दीस इ पूरु लुंकामती ।।१४।।
जां लग दुप्पसह आयरीअ, तां लगइ होसिइ दीक्षा खरी ।
तां लगइ पंच विधू आचार, तां लगइ चउविह संघ विचार ।।१५।।
जिनवाणी ए मनि मं नवि धरइ, नव नव पाषंड मुनि उच्चरइ ।
तेह नइ लागुएहवु वेव, दीक्षा देतां करइ निषेध ।।१६।।
केता श्रावक एहवा जांण, तो ही तेह नुं करइ वखाण ।
चारित्री नी निंदा करइ, तीणइं पापिइं पोतुं भरइ ।।१७।।
भाग्य योगि लाभइ जिति धर्म्म, तेह नणु नवि जाणइ मर्म ।
तरतम योगि अछइ यतिवारा, के के संजम के के नारा ।।१८।।
यथा योगि जांणी ते नमउ, भूल्या भूलनि कां नवि भमु ।
हित बुद्धिइं ए दीजइ सीख, ते हु मानउ निनि पुनीख ।।१९।।

द्रव्य परम्पराओं के अनेक साधु भी लोंकाशाह के आगमिक उपदेशों से, लोंकाशाह के अथाह आगमिक ज्ञान तथा आगमों के अवगाहन के अनन्तर उनके द्वारा किये गये ५८ बोलों, ३४ बोलों, १३ प्रश्नों एवं परम्परा विषयक सारगर्भित प्रश्नों से प्रभावित हो लोंकाशाह के अनुयायी बन गये और लोंकाशाह द्वारा सूत्रित धर्मक्रान्ति का खुलकर स्थान-स्थान पर डंके की चोट से प्रचार-प्रसार करने तथा लोगों को अधिकाधिक संख्या में लोंकाशाह का अनुयायी बनाने लगे। लोंकाशाह द्वारा प्रारम्भ की गई धर्मक्रान्ति पर पूर्ण प्रकाश डालने वाला अधिकांश साहित्य यद्यपि निहितस्वार्थ वाली द्रव्य-परम्पराओं के अनुयायियों द्वारा नष्ट कर दिया गया तथापि लोंकाशाह के विरोधीद्वारा वि० सं० १५३० में निर्मित एक ऐतिहासिक कृति आज भी उपलब्ध है। लोंकाशाह द्वारा जिस अभिनव धर्मक्रान्ति का वि० सं० १५०८ में सूत्रपात किया गया वह विक्रम संवत् १५३० से पूर्व ही सफल हो चुकी थी और भारतवर्ष के एक सुविशाल भाग में लोंकाशाह के अनुयायियों की संख्या उल्लेखनीय रूप में अभिवृद्ध हो चुकी थी। इन सब तथ्यों पर प्रकाश डालने वाली वह वि० सं० १५३० की ऐतिहासिक कृति "लुंकामत प्रतिबोध कुलक" है।

तदनन्तर लोंकाशाह के ३४ बोल, लोंकाशाह के ५८ बोल और लोंकाशाह द्वारा शिथिलाचारियों अथवा द्रव्यपरम्पराओं के कर्णधारों से पूछे गये १३ प्रश्नों को भी यहां यथा स्थान यथावत् रूपेण उद्धृत किया जा रहा है।

महान् धर्मोद्धारक लोंकाशाह ने आगमों के अनुसार सर्वज्ञप्रणीत जैन धर्म के वास्तविक स्वरूप का उपदेश देकर जिनमती के नाम से जिस परम्परा का प्रचार-प्रसार किया था वह विक्रम सम्वत् १५३० से पूर्व ही दूर-दूर के प्रदेशों में बहुजन सम्मत एवं लोकप्रिय हो गई थी। इस बात का प्रमाण भी विक्रम सम्वत् १५३० की "लुंका मत प्रतिबोध कुलक" नाम की इस प्रति से मिलता है।

'लुंकामत प्रतिबोध कुलक' सम्वत् १५३० विक्रमीय की रचना हैं, जिसकी हस्तलिखित प्रतिलिपि लालभाई दलपतभाई इण्डियोलोजिकल इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद के पास प्रति संख्या ५८३७ पर विद्यमान है। इसे यहां यथावत् प्रस्तुत किया जा रहा है :—

अथ लुंकामत प्रतिबोध कुलक
"।।८०।। ओं नमः सिद्धं ।।

गोयम गणहर पहिलुं नमी, राग रोस दोइ हरिइं दमी।
कुवासना निवारण हेतु, केता केता कहूं संकेत ।।१।।
अनन्त जीव जिन भवन करावि, अनन्त जीव जिन विंव भरावि।
अनन्त जीव जिनवर पूजे वि, अनन्त जीव जिन जात्र करे वि ।।२।।

अनन्त जीव पहुंता निरवाणि, साहमी वच्छल तणइ प्रमाणि ।
सामायिक प्रमुखि इं इम सही, एय वात सिरि आगमि कही ।।३।।
इम जाणि सुश्रावक संत, यथा शक्ति केता पुण्यवन्त ।
पुण्यकाज ए सवि आचरइ, लाधउ जनम ते सफलु करइं ।।४।।
हरष कीरति पणि जि पणयास, तेह नइ फडीउ वडु वरांस ।
धंधूंलीया कहाविइं मूलि, धंधूकूं धुरि कीधुं धुलि ।।५।।
संवत् पनरह तीस वारि, तिहां ठाई तेणई चुमासि ।
त्रिणणि चारि तिहां लागट रहइ, धर्म विचारतु इच्छां कहइ ।।६।।
गुरु नु मानइ न वि आदेस, वलावतां मनि आणइ रेस ।
केता करइं तेहनुं पखडं, तिणइं हऊउं अति रखरखुं ।।७।।
गुरु सरिसी तिणइं मंडी वेढि, गच्छ मांहि पणि को नहीं मेढि ।
तिणि ते हऊउ अति उदंप, न वि मानइ ते केहनी चंप ।।८।।
जिण पूजा जिणहर जिण विंव, ऊथापइ नइ करइं विडंव ।
न वि मानइ तीरथ नी जात्र, नवि मानइ तीरथ पात्र ।।९।।
साहमी वच्छल नहीं न वि दान, रात्री भोजन रात्री ध्यान ।
सामाइक नु नहीं उच्चार, ए हवा मांडिया तेणि विचार ।।१०।।
लुंका मानी थापइ रीति, ते नवि वइसइ डाहां वींति ।
घणे जणे ते धंधो लो उ, तिहां हुं तुं बाहिरि घोलीउ ।।११।।
ऊदाली लीधु परिवार, सघलु साधु करइ ·इकसार ।
मन भितरि आणइ विषवाद, तु ऊत रीउ तेहनु नाद ।।१२।।
पाटणि पुहुंतुं माया करइ, माधव मुख्य अनइ अनुसरइ ।
जिन पूजा नइ मानइ दान, पणि पामे व अन्नह पान ।।१३।।
वांदिउ धर्मलाभ नवि कहइ, पच्चक्खाण तु न वि सद्दहइ ।
ए नवि मानइ भावह यती, दीस इ पूरू लुंकामती ।।१४।।
जां लग दुप्पसह आयरीअ, तां लगइ होसिइ दीक्षा खरी ।
तां लगइ पंच विधू आचार, तां लगइ चउविह संघ विचार ।।१५।।
जिनवाणी ए मनि मं नवि धरइ, नव नव पाषंड मुखि उचरइ ।
तेह नइ लागुएहवु वेध, दीक्षा देतां करइ निषेध ।।१६।।
केता श्रावक एहवा जांण, तो ही तेह नुं करइ बखाण ।
चारित्री नी निंदा करइ, तीणइं पापिइं पोतुं भरइ ।।१७।।
भाग्य योगि लाभइ जिति धर्म्म, तेह तणु नवि जाणइ मर्म ।
तरतम योगि अछइ यतिवारा, के के भंभल के के खरा ।।१८।।
यथा योगि जांणी ते नमउ, भूल्या भूतलि कां तम्हि भमु ।
हित बुद्धिइं ए दीजइ सीख, ते हू मानइ चित्ति कुसीष ।।१९।।

करम विवर जां लगइ नवि होइ, तां लगइ हीया सरिसिऊं जोइ ।
भला भलेरा भूला घणु, वचन न मानिउं डाहा तणु ॥२०॥
इक जम्मालि बीजू गोसाल, त्रीजु माहिल अति चुसाल ।
विशेष विचार करंतां पडया, निविड कर्मि ते गाढा नड्या ॥२१॥
केती बात अनेरा तणीं, शीष न मांनी जिणवर तणीं ।
निविड कर्म नु ए अहिनांण, जाति वाड्या न वि मूंकइ माण ॥२२॥
कूलबालु रिषि मानिइं रलिउ, मागधि का गणिका नइ मिलिउ ।
थूलिभद्र नु स्पर्धा कारि, मान अंगइ कौशा घर बारि ॥२३॥
मान अछइ ए मोटउ दोष, तेइ थिकी उपज्जइ रोष ।
रोषइं जीव हुइ अति भ्रांत, **हरख कीरति नवलु दृष्टान्त** ॥२४॥
मान त्यजी जे गुरु अनुसरइ, तेहनी शिक्ष्या दीधो करइ ।
ते सुसाधु सुश्रावक जाणि, निश्चिइं निरमल गुण नी षाणि ॥२५॥
भद्रबाहु गुरु य गुणधार, चवदह पूरब ना भंडार ।
श्रुत केवलि जे कहीया सही, एय बात तु एतइ रही ॥२६॥
तेहनु वचन न मानइ रती, अक्षर खंड्या लुंकामती ।
तेह नुं कीजइ किसिउं वखाण, हेया सरि खिउं जोउ जाण ॥२७॥
श्री सिद्धान्त जाण इम कहंइं, धन्य हं धुरि ते आसण लहइं ।
जिणवर वाणी जे आचरइं, पूरब मुनिवर सवि ऊ धर इ ॥२८॥
बीजा धन्य तु ते पणि जाणि, भणिया जिण वाणी जाणी रुण जुणिया ।
कारणि लगइ ते न सकइ करी, उपदेसइ पणि जाणी खरी ॥२९॥
त्रीजा धन्य तु ते वख्याणि, जिणवर वाणी सांची जाणि ।
करतां नइ जे दिइं बहुमान, किसिउ न आणइ मनि अभिमान ॥३०॥
चउथय धन्य तु त्रिण्णिकि चियारि, हीया सरसिंउं जोइ विचारि ।
करतां नु नवि बोलइ दोष, मनि मानइ गाढउ संतोष ॥३१॥
धन्य तणां ए चियारि प्रकार, कहिया आगमि जाणे सार ।
हरख कीरति न वि एक इ छबइ, कंहु कवीसर केतु कवइ ॥३२॥
जीव अछइ अनादि अनंत, आंबा लींब तणु दृष्टांत ।
इम जाणीं ए संगति त्यजु, सुगुरु तणा पय भवि-भवि भजउ ॥३३॥

इति लुंका मत प्रतिबोध कुलकं ॥

अपनी वि० सं० १५३० की कृति "लुंका मत प्रति बोध कुलक" में कुलककार ने अपनी आंखों देखे लोंकागच्छ के सर्वव्यापी वर्चस्व पर अपने आन्तरिक शोकोद्‌गार अभिव्यक्त करते हुए जो लिखा है, उसका सारांश इस प्रकार है :—

"जिन भवनों का निर्माण, जिन बिम्बों की प्रतिष्ठाएं, जिनेश्वरों की प्रतिमाओं की पूजा और जिनेश्वरों के मन्दिरों से मंडित तीर्थ-स्थलों की यात्राएं कर तथा स्वधर्मी वात्सल्य के प्रभावनाकारी कार्य कर अनन्तानन्त जीव निर्वाण को प्राप्त हो गये किन्तु हर्षकीर्त्ति नामक पंन्यास को ऐसी कुमति उपजी कि उसने धुन्धुकिया नामक नगर में चातुर्मासावास कर उस धुन्धुकू नगर की कीर्त्ति को धूलि में मिला दिया। वि० सं० १५३० में उसने धुन्धुकिया नगर में चातुर्मास किया। उसको वहां उसके पक्षधर तीन चार प्रमुख व्यक्ति मिल गये जो उसकी प्रत्येक बात का समर्थन करने में तत्पर रहते थे। वह हर्षकीर्त्ति न तो गुरु को मानता है और न गुरु के आदेश को ही। यदि कोई उसे सच्ची बात कहता है तो वह उस पर क्रुद्ध हो जाता है। इस कारण अधिकांश लोग उसी के पक्ष का समर्थन करते हैं। यद्यपि वह किसी भी गच्छ की मर्यादा का पालन नहीं करता तथापि उसने वहां एक महान् धर्माचार्य जैसा अपना प्रभाव जमा लिया। इस कारण वह अपनी इच्छानुसार उपदेश देने लगा और उसे किसी से किसी प्रकार की शंका न रही। वह जिनपूजा का डटकर विरोध करने में किसी भी प्रकार की कमी नहीं रखता। न तो वह तीर्थ यात्रा को मानता है और न तीर्थ को ही। उसका स्वधर्मी वात्सल्य में, दान में, कोई विश्वास नहीं है। रात्रि भोजन का विरोध नहीं करता। रात्रि में ध्यान करने का अथवा सामायिक करने का कोई उपदेश नहीं देता। इस प्रकार उसने लुंकामत की सभी मान्यताओं की पूरी तरह से इस नगर में प्रतिष्ठापना कर दी है। उसने समस्त जनमत को अपनी ओर आकर्षित कर लिया है। उसने बहुत बड़ी संख्या में लोगों की आस्थाओं को धंघोल डाला है—हिला डाला है—झकझोर डाला है। इस प्रकार उसने अपने चारों ओर अपने अनुयायियों का परिवार बढ़ा लिया है। धंधुका में बैठे-बैठे ही उसने बाहर के लोगों के मानस में भी लुंकामत की मान्यताओं को घोल दिया है। चातुर्मास समाप्त करने के पश्चात् वह पाटन नगर में पहुंचा। वहां भी उससे अपना माया जाल फैलाया। वहां के अनेक संघ प्रमुखों को अपना अनुयायी बना लिया। बड़े आश्चर्य की बात है कि वह जिनेश्वर भगवान् की पूजा का और दान का डट कर विरोध करता है, फिर भी उसे मधुकरी में आहार और पानी यथेप्सित मिल जाता है। वन्दन करने वाले को वह धर्म लाभ नहीं कहता। प्रत्याख्यान में भी उसकी कोई श्रद्धा नहीं है। वह भाव यतियों को नहीं मानता। केवल पूर्णरूपेण लुंकामति दृष्टिगोचर होता है।"

"प्रबल पुण्योदय से ही भव्य प्राणी को श्रमण धर्म की प्राप्ति होती है। पर यह हर्षकीर्त्ति इस मर्म को नहीं जानता। साधुओं में भी चारित्र का व श्रमणाचार का न्यूनाधिक तारतम्य होना स्वाभाविक ही है, किन्तु यह तो प्रत्येक चारित्री की निन्दा करता है और अपने पाप का घड़ा भरता है। साधुओं में अनेक कठोर चारित्र का पालन करने वाले, तो अनेक उनसे कुछ न्यून भी होते हैं। पर उन्हें यथा-योग्य समझकर नमन करना प्रत्येक भव्य का कर्त्तव्य है। किन्तु इस प्रकार की

उसे कोई शिक्षा दे तो इस शिक्षा को भी वह कुशिक्षा मानता है। जब तक दुष्कर्म का प्रभाव रहता है अच्छी शिक्षा भी बुरी प्रतीत होती है। जमालि, गोशालक और गोष्ठा माहिल को ही देख लिया जाय। दुष्कर्म के प्रभाव से उन्होंने भगवान् महावीर की शिक्षा को भी नहीं माना। यह हर्षकीर्त्ति उनका नव्य दृष्टान्त है। इन लुंकामतियों की कहां तक बात कही जाय। इन्होंने तो चतुर्दश पूर्वधर श्रुतकेवली भद्रबाहु के वचनों को भी खंडित कर दिया। जो जिनेश्वर की वाणी का अक्षरशः पालन करते हैं वे प्रथम श्रेणी के धन्य प्राणी हैं। दूसरी श्रेणी के धन्य वे लोग हैं जो कारणवश वीतराग की वाणी का अक्षरशः तो पालन नहीं कर सकते किन्तु उसे अवितथ समझकर उसी के अनुसार उपदेश करते हैं। धन्य भव्यों की तीसरी श्रेणी में वे लोग आते हैं जो जिनेश्वर की वाणी को अक्षरशः सत्य समझते हुए स्वयं उसका पालन न कर सकने के अनन्तर भी उसका पालन करने वाले महा-पुरुषों के प्रति सम्मान प्रकट करते हैं और पुरुषों की चौथी श्रेणी में वे लोग आते हैं जो जिनेश्वर की वाणी का, जिनेश्वर के आदेश का पालन करने वाले पुरुषों को किसी प्रकार का दोष नहीं देते। आगम में इन चार प्रकार के प्राणियों को धन्य माना गया है किन्तु यह लोंकामत का उपदेश करने वाला हर्षकीर्ति तो इन चारों में से किसी भी श्रेणी में नहीं आता। जो पानी आम्र वृक्ष को दिया जाता है वही पानी नीम वृक्ष को भी मिलता है। किन्तु आम मीठा और निम्बोली कड़वी होती है। इस दृष्टान्त को ध्यान में रखते हुए हर्षकीर्त्ति की भांति के लोंकामतियों की संगति त्यागो और सद्गुरुओं की सेवा करो।"

इस कुलक में उल्लिखित विवरणों से निम्नलिखित तथ्य प्रकाश में आते हैं :—

१. विक्रम सम्वत् १५३० में लोंकाशाह द्वारा प्रकाश में लाया हुआ जैन धर्म का मूल स्वरूप धुन्धुका एवं पाटन आदि क्षेत्रों में अत्यधिक लोकप्रिय हो चुका था। दूर-दूर तक प्रसृत हो गया था।

२. इसमें उल्लिखित हर्षकीर्त्ति द्वारा किये गये लोंकामत के प्रचार के विवरण से यह प्रकट होता है कि तत्कालीन विभिन्न परम्पराओं के श्रमण भी जैन धर्म संघ में शताब्दियों से घर की हुई विकृतियों, वाह्याडम्वरों एवं अनागमिक मान्यताओं का विरोध करने और लोंकाशाह द्वारा प्रकाशित सत्य मार्ग का अनुसरण करने के लिए कटिवद्ध हो गये थे।

३. लोंकाशाह द्वारा प्रकाश में लाये हुए विशुद्ध आगमिक धर्म की ओर जनमत इतना अधिक आकर्षित हो चुका था कि द्रव्य परम्पराओं के साधुओं की वात तक सुनने के लिए कोई तैयार नहीं था।

लोंकाशाह नये मत के नहीं किन्तु धर्मोद्धारक क्रान्ति के प्रवर्तक

महान् धर्मोद्धारक लोंकाशाह ने श्रमण भगवान् महावीर के धर्म संघ में व्याप्त विकृतियों, बाह्याडम्बरों, अनागमिक मान्यताओं एवं शिथिलाचार के विरुद्ध क्रान्ति का उद्घोष कर विक्रम सम्वत् १५०८ में सर्वज्ञप्रणीत आगमों के अनुसार जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया था। यह तथ्य तो सर्वमान्य है। तपागच्छ पट्टावली में इस तथ्य की निम्नलिखित वाक्य से पुष्टि की गई है :—

"तदानीं च लुंकाख्याल्लेखकात् वि. अष्टाधिक पंचदशशत् १५०८ वर्षे जिनप्रतिमोत्थापनपरं लुंकामतं प्रवृत्तम्।"[1]

पट्टावली सारोद्धार में भी "तदानीं लुंकाख्यात् लेखकात् सम्वत् १५०८ वर्षे श्री जिनप्रतिमोत्थापनपरं लुंकामतं प्रवृत्तम्।"[2] के उल्लेख से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि विक्रम सम्वत् १५०८ में लोंकाशाह ने लुंकामत का प्रचार करना प्रारम्भ किया।

शताब्दियों से जैन धर्मावलम्बियों के न केवल मानस में ही अपितु रोम-रोम में घर की हुई अनागमिक मान्यताओं के विरोध में आगम प्रतिपादित मूल मान्यताओं का प्रचार करने वाला एवं उपदेश देने वाला व्यक्ति कितना साहसी, कैसा विशिष्ट प्रतिभाओं का धनी और आगम मर्मज्ञ होगा इसका अनुमान साधारण से साधारण पूर्वाभिनिवेष विमुक्त तटस्थ व्यक्ति सहज ही लगा सकता है। इस अनुमान से यही निष्कर्ष निकलता है कि विक्रम सम्वत् १५०८ में जैन धर्म के आगमिक स्वरूप का उपदेश करने वाले महान् धर्मोद्धारक लोंकाशाह ने न केवल आगमों का ही अपितु अनागमिक मान्यताओं के मूल स्रोत सम्पूर्ण जैन वांग्मय का भी तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर लिया था। बिना सभी आगमों का, निर्युक्तियों, भाष्यों, चूर्णियों, अवचूर्णियों एवं टीकाओं आदि का तलस्पर्शी अध्ययन किये लोंकाशाह न तो विशुद्ध आगमिक धर्म का उपदेश करने का साहस कर पाते, न कोई उनकी बात सुनता और न वे द्रव्य परम्पराओं के प्रकांड पंडित सूरियों के समक्ष एक क्षण भी टिक ही पाते। इससे यही प्रकट होता है कि लोंकाशाह द्वारा विक्रम सम्वत् १५०८ में जिस धर्म क्रान्ति का सूत्रपात किया गया, वह शब्द की गति से भारत के विभिन्न सुदूरस्थ प्रदेशों में व्याप्त हो गई, लोंकाशाह के आगमपरक उपदेशों को सुनने के लिये धर्म-निष्ठ व्यक्ति उद्वेलित सागर की तरह उमड़ पड़े और स्वल्प काल में ही लोंकाशाह द्वारा शताब्दियों के अनन्तर प्रकाश में लाया हुआ जैन धर्म

---

१. पट्टावली समुच्चय, प्रथम भाग, पृष्ठ ६७

२. — वही — पृष्ठ १५७

का विशुद्ध स्वरूप न केवल लोकप्रिय ही हो गया अपितु जन-जन के लिये अनुकरणीय एवं श्रद्धा का केन्द्र बिन्दु भी बन गया।

यह केवल कल्पना की उड़ान ही नहीं है अपितु एक अवितथ तथ्य है। इसकी साक्षी है लोंकाशाह द्वारा विक्रम सम्वत् १५०८ में जन-जन के समक्ष और द्रव्य परम्पराओं के उद्भट विद्वानों एवं आचार्यों के समक्ष रखे गये लोंकाशाह के ऐतिहासिक चौतीस बोल, जो विज्ञों के विचारार्थ यहां प्रस्तुत हैं :—

लोंकाशाह के चौंतीस बोल

।।६०।। श्री सर्वज्ञाय नमः। जे इम कहइ छइं अम्हारइ निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, वृत्ति, प्रकरण सर्व प्रमाण, तेहाइं एतला बोल सहूं प्रमाण करवा पडसी ते प्रीछयो– निशीथ सूत्र नी चूर्णि मध्ये इम छइ जे कोई एक आचार्य घणां परिवार सूं अटवी मांहीं गयु तहां घणां व्याघ्रादि देखी आचार्य इं कह्यु—गच्छनइ राखवु स्वापदादि निवारवो, तिवारइ एकइं साधइं कहिउं किम निवारीइ ? तिवारइं सूरि कह्यु—पहिलउ अविराध्य अवइ पछइ न रहै तउ विराध्यां पणि दोष नहीं। पछइ तेणइ ३ सिंह मार्या। पछइ गुरु पइं जई नइं पूछ्यु, पछइ गुरु कहइ तु शुद्ध। एवं आयरियादि कारणेसु वावादिंतो सुद्धो। सुद्ध शब्द नो अर्थ ए जे—अप्रायश्चित्तीत्यर्थः ।।१।।

आगम निष्णात धर्म प्राण लोंकाशाह ने निर्युक्तियों, भाष्यों, एवं टीकाओं के तलस्पर्शी अवगाहन के अनन्तर निशीथ चूर्णी के जिस उल्लेख की ओर इस प्रथम बोल में संकेत किया है वह निशीथ चूर्णि का मूल पाठ निम्न रूप में है :—

संसत्तपोग्गलादी, पिउडे पोमे तहेव चंमे य।
आयरिते गच्छंमी, वोहियतेणे य कोंकणए ।।२८६।।

गाथा के तृतीय और चतुष्चरण की व्याख्या करते हुए चूर्णिकार ने लिखा है :—

एगो आयरिओ वहुसिस्सपरिवारो उ संज्झकाल समये वहुसावयं अडविं पवण्णो। तंमि य गच्छे एगो दढसंघयणी कोंकणगसाहू अत्थि। गुरुणा य भणियं—"कहं अज्जो ! जं एत्थ दुट्ठसावयं किं वि गच्छं अभिभवति तं णिवारेयव्वं, ण उवेहा कायव्वा।" ततो तेण कोंकणगसाहूणा भणियं—"कहं ? विराहितेहिं अविराहितेहिं णिवारेयव्वं ?" गुरुणा भणियं—"जइ सक्कइ तो अविराहितेहिं पच्छा विराहितेहिं वि ण दोसो।" ततो तेण कोंकणगेण लवियं—"सुवय वीसत्था, अहं भे रक्खिस्सामि।" तो साहवो

सव्वे सुत्ता। सो एगागी जागरमाणो पासति सीहं आगच्छमाणं। तेण हुडि त्ति जंपियं, ण गतो, ततो पच्छा उद्धाइऊण सणियं लगुडेण आहतो, गओ परिताविओ। पुणो आगतं पेच्छति, तेण चिंतियं ण सुट्ठु परिताविओ, तेण पुणो आगओ, पुणो गाढयरं आहतो। पुणो वि ततियवारा एवं चेव, णवरं सव्वायामेण आहतो, गता राती। खेमेण पच्चूसे गच्छंता पेच्छंति सीहं अणुपंथे मयं, पुणो अदूरे पेच्छंति वितियं, पुणो अदूरंते ततियं। जो सो दूरे सो पढमं सणियं आहओ, जोवि मज्झे सो वितिओ, जो णियडे सो चरिमो गाढं आहतो मतो। तेण कोंकणएण आलोइयमारियाणं, सुद्धो। एवं आयरियादीकारणेसु वावादितो सुद्धो। गता पाणातिवायस्स दप्पिया कप्पिया पडिसेवणा। गतो पाणातिवातो ॥२८६॥[1]

अर्थात् एक समय एक आचार्य अपने विशाल शिष्य परिवार के साथ धर्म प्रचारार्थ विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करते हुए एक ऐसे विकट वन में पहुंचे, जहां सिंह आदि अनेक प्रकार के हिंस्र वन्य पशुओं का बाहुल्य था। (वसति दूर थी और सूर्यास्त होने ही वाला था।) अतः वे अपने शिष्य समूह के साथ वन में ही एक वृक्ष के नीचे रात्रि वास के लिये रुक गये। उनके शिष्यों में कोंकण प्रदेश का एक सुदृढ़ संहनन का धनी सशक्त साधु था। आचार्य ने उस बलिष्ठ शिष्य से कहा—"वत्स! रात्रि में यदि कोई हिंस्र जन्तु हम लोगों को कष्ट पहुंचाने के लिये आ जाय तो उससे हम सबकी तुम रक्षा करना।" शिष्य ने गुरु के आदेश को शिरोधार्य करते हुए सविनय प्रश्न किया :—"भगवन्! आने वाले वन्य हिंसक जन्तु को बिना किसी प्रकार का कष्ट पहुंचाये ही भगाने का प्रयास करूं अथवा कष्ट पहुंचा कर भी?"

आचार्य ने उसे समझाते हुए आदेश दिया :—"प्रयास तो यथासम्भव उसे बिना किसी प्रकार की विराधना पहुंचाये ही भगाने का करना। इस पर भी अगर वह नहीं जाय तो उसकी विराधना करने में भी कोई दोष नहीं है।"

इस पर उस कोंकण प्रदेशीय साधु ने कहा :—"भगवन्। आप सब आश्वस्त होकर सोइये। मैं आप सबकी रक्षा करूंगा।"

रात्रि में सब साधु सो गये और वह जागता रहा। कुछ ही समय पश्चात् उसने देखा कि एक सिंह सोये हुए साधुओं की ओर आगे बढ़ रहा है। उस साधु ने कर्कश स्वर में धकालते हुए उस सिंह को भगाने का प्रयास किया। किन्तु वह सिंह भागा नहीं। इस पर वह साधु हाथ में एक डण्डा लिए सिंह की ओर झपटा और उस पर अपनी थोड़ी सी शक्ति का प्रयोग कर लगुड प्रहार किया। लगुड प्रहार से

---

१. सभाष्य चूर्णिक निशीथ सूत्र, प्रथम भाग, गाथा २८६, पृष्ठ १००–१०१
—आगम प्रतिष्ठान, सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा।

संत्रस्त हो सिंह तत्काल लौट गया। अर्द्ध रात्रि में उस हृष्ट-पुष्ट कोंकणीय साधु ने देखा कि दूसरा सिंह उसकी ओर बढ़ रहा है। उसने फिर घनरव गम्भीर स्वर में हकाल की पर सिंह सोते हुए साधुओं की ओर बढ़ता ही गया। कोंकण प्रदेशीय उस साधु ने सिंह की ओर झपट कर पहले की अपेक्षा अधिक शक्ति लगाकर अपने हाथ के लगुड से सिंह पर प्रहार किया। वह सिंह भी जिस ओर से आया था उसी ओर भाग गया। ब्रह्म मुहूर्त्त में उस जागृत साधु ने देखा कि एक और तीसरा विकराल केशरी द्रुत गति से छलांगें मारता हुआ उन सोते हुए साधुओं की ओर बढ़ रहा है तो उसने पुनः बड़े वेग से शार्दूल को ललकारा। इस पर भी जब शेर उनकी ओर बढ़ता ही गया तो उसने विद्युत् वेग से सिंह की ओर झपटते हुए अपनी पूरी शक्ति लगाकर सिंह के कपोल पर लगुड का भरपूर वार किया। सिंह उस एक ही भीषण प्रहार से वहीं छटपटाता हुआ पृथ्वी पर गिर कर पंचत्व को प्राप्त हो गया। इस प्रकार रात्रि व्यतीत हुई। सूर्योदय के अनन्तर आचार्यश्री ने अपनी शिष्य मण्डली के साथ उस वन में आगे की ओर विहार किया। प्रस्थित होते ही रात्रि विश्राम-स्थल के पास ही उन्होंने एक सिंह को मरा पड़ा देखा। कुछ दूर आगे बढ़ने पर उन्होंने दूसरे सिंह को और उससे कुछ आगे चलने पर उन्होंने तीसरे सिंह को मरा पड़ा देखा। वस्तुस्थिति यह थी कि जिस सिंह पर कोंकणीय मुनि ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर लगुड का प्रहार किया था वह सिंह तत्काल उसी स्थान पर मर गया, जिस सिंह पर अपनी आधी शक्ति लगाकर प्रहार किया था वह थोड़ी दूर चलकर निष्प्राण हो पृथ्वी पर गिर पड़ा और जिस पहले आये हुए सिंह पर अपनी शक्ति के चतुर्थांश से लगुड प्रहार किया था वह मुनियों के रात्रि विश्राम स्थल से कोसार्द्ध दूरी पर पहुंचते ही पंचत्व को प्राप्त हो गया। कोंकण प्रदेशीय मुनि ने अपने आचार्यदेव से उन तीन सिंहों के निष्प्राण कर देने के अपराध के लिए प्रायश्चित्त देने की प्रार्थना की। आचार्य ने कहा :—"तुम आलोचना मात्र से ही शुद्ध हो गये हो। इस प्रकार आचार्यादिक की रक्षा हेतु हिंसा करने पर भी हिंसा करने वाला शुद्ध होता है। (पाप का भागी नहीं होता)।" इस प्रकार प्राणातिपात के सकारण सेवन की कल्पितता के सम्वन्ध में विवेचन समाप्त हुआ।

धर्मप्राण लोंकाशाह ने पंचेन्द्रिय प्राणी की हत्या करने वाले पंच महाव्रत-धारी को पंचेन्द्रिय प्राणी की हत्या के पाप का भागी न वता पूर्णतः शुद्ध वताने वाले पाठ को सम्पूर्ण पंचांगी जिन्हें आगम तुल्य मान्य है उन आचार्यों (श्रमणों, श्रमणियों, श्रमणोपासकों एवं श्रमणोपासिकाओं) के समक्ष रखते हुए यह स्पष्ट किया है कि एकमात्र आगमों को ही सर्वोपरि एवं परम प्रामाणिक मानने के स्थान पर यदि पूर्ण पंचांगी को आगम तुल्य प्रामाणिक मान लिया गया तो उस दशा में पंचेन्द्रिय प्राणियों की हत्या साधु सकारण कर सकता है इस सिद्धान्त या मान्यता को भी मानना होगा। "सव्वं सावज्जं जोगं जावज्जीवाए पच्चक्खामि तिविहं तिविहेणं" के आगमिक पाठ के उच्चारणकर्त्ता पंच महाव्रतधारी के लिए यह कहां तक उपयुक्त होगा इस पर विज्ञजन विचार करें।

इस सन्दर्भ में आगमरुचि विज्ञों के लिए यह विचारणीय है कि महान् धर्मोद्धारक लोंकाशाह ने विक्रम सम्वत् १५०८ के आसपास आज से लगभग ५३५ वर्ष पूर्व जैन धर्मसंघ के समक्ष यह बात रखी थी कि तथाकारणइं झूंठूं बोल वुं कहिउ छइ तथा कारणइ चोरी करवी—ते करइ तउ शुद्ध। तथा वशीकरण मन्त्र चूर्णादि करी वस्तु लेवी तथा ताला उघाडी औषधादि अदत्त लेवा कहिया छइ ।।२।।

तथा कारणें परीग्रह राखवो कह्यो छइ, हिरण्य, द्रव्य, घटित अघटित मार्गइं चालतो ल्यइ (लेवे) ।।३।।

तथा उदार हिरण्य सुवर्णइं करी ते दुर्लभ द्रव्य मोल लीयइ ।।४।।

तथा दुर्लभ द्रव्य नइ अर्थइ सचित्त काई प्रवालादिक तेणइं सचित्त पृथिव्यादिकइं करी ते दुर्लभ द्रव्य मोल लियइ, इम कहियउ छइ ।।५।।

तथा अर्थ उपार्जवा नइं अर्थई धातनी माटी आणि नइं सोनुं, रूपुं, तांबूं, सीसूं, तरुण्यादिक उपजाववुं कह्युं छइ ।।६।।

तथा कारणइं रात्रि भोजन कहिउं छइ। गिलान नइं कारणइं रात्रि भोजन करइ, तथा मारगइं चालवुं, रात्रइ जिमवुं तथा दुर्लभ द्रव्य नइ अर्थइं रात्रि जीमइ तथा संथारूं कर्युं होइ—अनइ रही न सकइ तउ रात्रि जीमवुं तथा दुकालैं गच्छ नी अनुकम्पा नह हेतइ—राती भत्ताणुण्णा—रात्रि भोजन नी आज्ञा छइ—इत्यादि घणा प्रकार विरुद्ध छइ ।।७।।

तथा दंसण प्रभावक शास्त्र तेह नी सिद्ध नइ अर्थे निर्णइ नै हेतइं अणासरति अकल्पनीक हेतु शुद्धः—अप्रायश्चित्ती भवतीत्यर्थः ।।८।।

तथा तपस्वी नइ अर्थि उष्ण पेज्जादि (पेयादि) रंधावी लेवी, ताढुं तवस्वी नइ सहइ नहीं ते भणी आधाकर्म्म लेतां दोष नहीं ।।९।।

इम ज्ञान चारित्र नइ अर्थइ अकल्पनीक ले तु (तो) शुद्ध ।।१०।।

तथा प्रवचननां हित नईं अर्थि पडिसेवंतो शुद्ध, विष्णु कुमार नीं परिं। तथा जिम कोई राजाइं कहिउं—तुम्हो ब्राह्मणां नईं वांपु, पछइ सर्व संघ एकठो थइ कहिवा लागउ जेह नइ क्ति सावद्य—निरवद्य हुइं ते प्रजुंझउं। तिवारइं एकइं साधइं कह्युं—हूं प्रजूंझूं। सर्व ब्राह्मण एकठा कराव्या, तेणइं साधइं कणवीर नी कांवडी मन्त्री, सर्व ब्राह्मण एकठा थया हता, तेहनां मस्तक उतार्या पछइ राजा उपरि रूठो, पछई राजा बीहतो पगे लागो। तथा अनेरा आचार्य इम कहइ छइ—ते राजा पणि तिहां चूर्ण कीधु। इम प्रवचन संघ—ते हनइ अर्थइ सेवइ तो शुद्ध—अप्रायश्चित्ती, इत्यादि विरुद्ध अघटता चूर्णि मांहइ घणा छइ ।।११।।

संत्रस्त हो सिंह तत्काल लौट गया। अर्द्ध रात्रि में उस हृष्ट-पुष्ट कोंकणीय साधु ने देखा कि दूसरा सिंह उसकी ओर बढ़ रहा है। उसने फिर घनरव गम्भीर स्वर में हकाल की पर सिंह सोते हुए साधुओं की ओर बढ़ता ही गया। कोंकण प्रदेशीय उस साधु ने सिंह की ओर झपट कर पहले की अपेक्षा अधिक शक्ति लगाकर अपने हाथ के लगुड से सिंह पर प्रहार किया। वह सिंह भी जिस ओर से आया था उसी ओर भाग गया। ब्रह्म मुहूर्त्त में उस जागृत साधु ने देखा कि एक और तीसरा विकराल केशरी द्रुत गति से छलांगें मारता हुआ उन सोते हुए साधुओं की ओर बढ़ रहा है तो उसने पुनः बड़े वेग से शार्दूल को ललकारा। इस पर भी जब शेर उनकी ओर बढ़ता ही गया तो उसने विद्युत् वेग से सिंह की ओर झपटते हुए अपनी पूरी शक्ति लगाकर सिंह के कपोल पर लगुड का भरपूर वार किया। सिंह उस एक ही भीषण प्रहार से वहीं छटपटाता हुआ पृथ्वी पर गिर कर पंचत्व को प्राप्त हो गया। इस प्रकार रात्रि व्यतीत हुई। सूर्योदय के अनन्तर आचार्यश्री ने अपनी शिष्य मण्डली के साथ उस वन में आगे की ओर विहार किया। प्रस्थित होते ही रात्रि विश्राम-स्थल के पास ही उन्होंने एक सिंह को मरा पड़ा देखा। कुछ दूर आगे बढ़ने पर उन्होंने दूसरे सिंह को और उससे कुछ आगे चलने पर उन्होंने तीसरे सिंह को मरा पड़ा देखा। वस्तुस्थिति यह थी कि जिस सिंह पर कोंकणीय मुनि ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर लगुड का प्रहार किया था वह सिंह तत्काल उसी स्थान पर मर गया, जिस सिंह पर अपनी आधी शक्ति लगाकर प्रहार किया था वह थोड़ी दूर चलकर निष्प्राण हो पृथ्वी पर गिर पड़ा और जिस पहले आये हुए सिंह पर अपनी शक्ति के चतुर्थांश से लगुड प्रहार किया था वह मुनियों के रात्रि विश्राम स्थल से कोसार्द्ध दूरी पर पहुंचते ही पंचत्व को प्राप्त हो गया। कोंकण प्रदेशीय मुनि ने अपने आचार्यदेव से उन तीन सिंहों के निष्प्राण कर देने के अपराध के लिए प्रायश्चित्त देने की प्रार्थना की। आचार्य ने कहा :—"तुम आलोचना मात्र से ही शुद्ध हो गये हो। इस प्रकार आचार्यादिक की रक्षा हेतु हिंसा करने पर भी हिंसा करने वाला शुद्ध होता है। (पाप का भागी नहीं होता)।" इस प्रकार प्राणातिपात के सकारण सेवन की कल्पितता के सम्बन्ध में विवेचन समाप्त हुआ।

धर्मप्राण लोंकाशाह ने पंचेन्द्रिय प्राणी की हत्या करने वाले पंच महाव्रतधारी को पंचेन्द्रिय प्राणी की हत्या के पाप का भागी न बता पूर्णतः शुद्ध बताने वाले पाठ को सम्पूर्ण पंचांगी जिन्हें आगम तुल्य मान्य है उन आचार्यों (श्रमणों, श्रमणियों, श्रमणोपासकों एवं श्रमणोपासिकाओं) के समक्ष रखते हुए यह स्पष्ट किया है कि एकमात्र आगमों को ही सर्वोपरि एवं परम प्रामाणिक मानने के स्थान पर यदि पूर्ण पंचांगी को आगम तुल्य प्रामाणिक मान लिया गया तो उस दशा में पंचेन्द्रिय प्राणियों की हत्या साधु सकारण कर सकता है इस सिद्धान्त या मान्यता को भी मानना होगा। "सव्वं सावज्जं जोगं जावज्जीवाए पच्चक्खामि तिविहं तिविहेणं" के आगमिक पाठ के उच्चारणकर्त्ता पंच महाव्रतधारी के लिए यह कहां तक उपयुक्त होगा इस पर विज्ञजन विचार करें।

इस सन्दर्भ में आगममर्मज्ञ विज्ञों के लिए यह विचारणीय है कि महान् धर्मोद्धारक लोंकाशाह ने विक्रम सम्वत् १५०८ के आसपास आज से लगभग ५३५ वर्ष पूर्व जैन धर्मसंघ के समक्ष यह बात रक्खी थी कि तथाकारणइं झूंठूं बोल वुं कहिउ छइ तथा कारणइ चोरी करवी—ते करइ तउ शुद्ध । तथा वशीकरण मन्त्र चूर्णादि करी वस्तु लेवी तथा ताला उघाडी औषधादि अदत्त लेवा कहिया छइ ।।२।।

तथा कारणें परीग्रह राखवो कह्यो छइ, हिरण्य, द्रव्य, घटित अघटित मार्गइ चालतो ल्यइ (लेवे) ।।३।।

तथा उदार हिरण्य सुवर्णइं करी ते दुर्लभ द्रव्य मोल लीयइ ।।४।।

तथा दुर्लभ द्रव्य नइ अर्थइ सचित्त काई प्रवालादिक तेणइं सचित्त पृथिव्यादिकइं करी ते दुर्लभ द्रव्य मोल लियइ, इम कहियउ छइ ।।५।।

तथा अर्थ उपार्जवा नइं अर्थई धातनी माटी आणि नइं सोनुं, रूपुं, तांबूं, सीसूं, तरुण्यादिक उपजाववुं कह्युं छइ ।।६।।

तथा कारणइं रात्रि भोजन कहिउं छइ । गिलान नइं कारणइं रात्रि भोजन करइ, तथा मारगइं चालवुं, रात्रइ जिमवुं तथा दुर्लभ द्रव्य नइ अर्थइं रात्रि जीमइ तथा संथारूं कर्युं होइ—अनइ रही न सकइ तउ रात्रि जीमवुं तथा दुकालैं गच्छ नी अनुकम्पा नह हेतइ—राती भत्ताणुण्णा—रात्रि भोजन नी आज्ञा छइ—इत्यादि घणा प्रकार विरुद्ध छइ ।।७।।

तथा दंसण प्रभावक शास्त्र तेह नी सिद्ध नइ अर्थे निर्णइ नै हेतइं अणासरति अकलपनीक हेतु शुद्धः—अप्रायश्चित्ती भवतीत्यर्थः ।।८।।

तथा तपस्वी नइ अर्थि उष्ण पेज्जादि (पेयादि) रंधावी लेवी, ताढुं तवस्वी नइ सहइ नहीं ते भणी आधाकर्म्म लेतां दोष नहीं ।।९।।

इम ज्ञान चारित्र नइ अर्थइ अकलपनीक ले तु (तो) शुद्ध ।।१०।।

तथा प्रवचननां हित नई अर्थि पडिसेवंतो शुद्ध, विष्णु कुमार नीं परिं । तथा जिम कोई राजाइं कहिउं—तुम्हो ब्राह्मणां नई वांपु, पछइ सर्व संघ एकठो थइ कहिवा लागउ जेह नइ कित सावद्य—निरवद्य हुइं ते प्रजुंभउं । तिवारइं एकइं साधइं कह्युं—हूं प्रजूंभूं । सर्व ब्राह्मण एक्ठा कराव्या, तेणइं साधइं कणवीर नी कांवडी मन्त्री, सर्व ब्राह्मण एक्ठा थया हता, तेहनां मस्तक उतार्या पछइ राजा उपरि रूठो, पछई राजा बीहतो पगे लागो । तथा अनेरा आचार्य इम कहइ छइ—ते राजा परिण तिहां चूर्ण कीधु । इम प्रवचन संघ—ते हनइ अर्थइ सेवइ तो शुद्ध—अप्रायश्चित्ती, इत्यादि विरुद्ध अघटता चूर्णि मांहइ घणा छइ ।।११।।

तथा कांमरण, उच्चाटरण, वशीकरणादि सूत्रइ निषेध्या छइ, अनइ इहां करवा बोल्या छइ ।।१२।।

तथा सूत्रइं काचां फल, कांचु जल निषेध्यउं छइ, अनइं चूरिंग मध्ये लेवुं कह्युं छइ, ते लेतां दोष नथी । वली इम कह्युं छइ–गीत गायवा भणीं पाकुं तांवूल पत्र खात तउ निर्दोष कह्युं–ए विचारवुं । इत्यादि घणां विरुद्ध छइ, डाहो होइ ते विचारइ । ए पूर्वइं सर्व अधिकार लिख्या छइं, ते निशीथ चूर्णि मध्ये धुरि पीठिका मांहिं छइ ।।१३।।

तथा निशीथ सूत्र नां प्रथम उद्देशक मध्ये सूत्र मांहिं मैथुन एकांति निषेध्युं छइं अने तेहनी चूर्णि मध्ये चउथा व्रत नइ पणि अपवादइं सेववा नां प्रकार कह्या छइ । डाहो हुयइ ते विचारयो (ज्यो) । एहवा चूरिंग मध्ये घणां विरुद्ध छइ ।।१४।।

तथा साध्वी नइ पणि अपवादि चउथा व्रत आश्री सेववानी घरणी फजेती कही छइ, डाह्यो होइ ते एहवी फजेती किम सद्दहइ ।।१५।।

तथा सूत्र मध्ये सचित्त फूल फल निषेध्या कह्या छइ, चूरिंग मध्ये सचित्त फूल सूँघवा कह्या छइ ।।१६।।

तथा सूत्र मध्ये छः काय विराधना करवी निषेधी छइ, अनइ ईहां चूरिंग मध्ये उपाश्रयइ पारणी नउ मार्ग करइ तिहां छः काय नी विराधना लागइ तउ पणि शुद्ध, ए न करइ तउ दोष इम कहिजे छइ ।।१७।।

तथा उद्देशा २ नी चूरिंग मध्ये दुक्कालि भत्तादिक अदत्ता लेवउ कहउ छइ, अनइ सूत्र मध्ये अदत्त निषेध्युं छइ । डाहो होई ते विचारयो ।।१८।।

तथा सूत्र मध्ये स्नान सर्वथा निषेध्युं छंई, इहां चूरिंग मध्ये स्नान करतां लाभ देखाड्यो छइ ।।१९।।

तथा सूत्र मध्ये खासडां पहिरवां चारित्रियां नई निषेध्या छइ, चूरिंग मध्ये पहिरवां वोल्या छइ, लोक देखइ तिहारइं उतारि गांम मांहिं पइसइ ।।२०।।

तथा चतुर्थोद्देशके सूत्र मध्ये आखा करण निषेध्या छइ, ऐहनी चूरिंग मध्ये अपवादि लेवा–वैद्य नइ उपदेशइं गिलारण भोगवइ, भात अरणलाधइ मार्गे आखा करण भोगवइ तथा दुक्कालिं–"कसिरणोसही गहरणं करेज्ज" एहवा विरुद्ध डाह्यो होइ तो किम सद्दहइ ।।२१।।

अथ पंचमोद्देशकइं सूत्रइं अनन्तकाय लेवो निषेधी छइ, एहनी चूरिंग मध्ये "सावयभयनिवारणट्ठ" उपधि सरीर वहवानई अर्थइं तेरणइं प्रतिनीक श्वानादि

निवारवानइ अर्थें पहिलु अचित्त डंडउ लीयइ, पछइ परित्र, पछइ अनन्तकाय नु डंडू लीइ—डाहु हुइ ते विचारज्यो ।।२२।।

तथा षष्ठोद्देशके सूत्र मध्ये एकांति मैथुन निषेध छइ, एहनी चूर्णि मध्ये कहिउं छइं—अपवादि साधु नइं मैथुन नु उदय थयु, तिहारि अनुपशमति आचार्य नइ कहिवुं, अनइ न कहइ आचार्य नइ, तउ तेह नइ चउ गुरु प्रायश्चित्त, अनइ कह्या पछी आचार्य तेहनी चिंता न करइ, तउ आचार्य नइ चउगुरु प्रायश्चित्त इम मोहनीय उदयइं नीवीयादिक करावइ। इम करावतां न रहइ तउ मुक्तभोगी थिवर संघातइं वेश्यादिक नइ पाडइ जइ शब्द सुणावइ, इम न रहइ तउ आलिंगनइ, इम न रहइ तु निजंचणी संघाति ३ वार, पछइ मूई मनुष्यणी संघाति ३ वार, इम करतां न रहइ तउ स्वलिंगइं परलिंगइ स्यु सेवतउ गण थकी उवभुत्त थिवर संघातइं अनेरी वसति थापीइ अंधारइ किट्टिसढ्ढीए मेलिज्जइ एवं तिणिवार न जति (यदि) उवसमइ तु सुन्दर उवस्स चउ गुरु। इम चौथा व्रत नउ अपवाद चूर्णि मध्ये छइ। तेह (जेह) नइ परलोक नउ अरथ हुइ ते एहवा सूत्र विरुद्ध किम मानइ ? एहवा अघटताना करणहार नइ प्रायश्चित्त चउगुरु उपवास मांहि, डाहृ हुइ ते विचार्यो ।।२३।।

अथ दशमोद्देशकें सूत्रइं अनन्तकाय खावी निषेध्यो छइ। अनि एहनी चूर्णि मध्ये कारणइ भोगवइ, असिवादि जाहे मिश्र न लाभइ ताहे परित्तकाय संमिस्संमि गण्हइ, जाहे ते न लाभइ ताहे मिश्र न लाभइ ताहे अनन्तकाय मिश्र गहइ। इहां चूर्णि मध्ये कारणइ अनन्तकाय खावी कही छइ, डाहु हुइ ते विचारज्यो ।।२४।।

अथ द्वादशमोद्देशकें सूत्र मध्ये सचित्त रूंखइ चढवु निषेध्यु छइ, अनइ एहवी चूर्णि मध्ये कारणइं गिलान्न औषध नइ अर्थे चढइ, मार्गि अणसरतइ फल नइ अर्थे दुरूहइ, उदग नइं अर्थइं पूरइ आयुधट्ठा उपधि शरीर चोर राय भय स्वापद भय नइ विषइ तिहां पहिलु सचित्त वृक्षइं चढइ, पछइ मिश्रइं, पछइ परित्त सचित्त, पछइं अनन्तकाय नइ सचित्त वृक्षइं चढइं एवं कारणे जयणाए न दोषो। इहां चूर्णि मध्ये कारणे वृक्ष एहवइ अनन्तकाय नइ चढतां दोष नहीं। एहवा निशीथ चूर्णि सर्व किम प्रमाण करइ ।।२५।।

तथा उत्तराध्ययन छट्ठा नी वृत्ति मध्ये चारित्रिउ चक्रवर्ती नु कटक चूर्ण करइ ते अधिकार लिखीइ छई—लब्धिपुलाक जेह नइ देवेन्द्र ऋषि सरीखो ऋद्धि हुइ ते संघादिक कार्य उपनि चक्रवर्त्तिस्स वलवाहन चूर्ण करवा समर्थ—डाहु हुइ ते विचारज्यो ।।२६।।

तथा व्यवहार नी प्रथमोद्देशके—"परिहार कप्पट्ठिते भिक्खू"—इत्यादि ए शब्द नी वर्त्ति मध्ये वृत्ति नल दाम कौली नी कथा छइ, ते लिखीइ छइ-एकइं राजा कहिउं—मुझ संघातइं विवाद करउ, तिवारि ते राजा नइ अनक्य नगनइं [illegible]

बोधिइ। तेइ नइ कहइ—तुम्हो ए पृथिवीपति, तुम्ह संघाति विवाद न कीजइ। इम करतां न रहइ तउ तेहनां सजन नई प्रति बोधइ। तेह नुं वायुं न करइ तउ विद्यादिकइ वश्य करइ। इम न रहइ तउ चारित्र मुंकी गृहस्थ पणुं अंगीकार करी नइं तिम करवुं जिम ते राजा न भवति। इम करइ तउ पणि प्रवचन नीं अर्थि शुद्ध तिम ते राजा उपाउवुं। तेह नइ विषइ चाणक्य नल दाम नुं दृष्टान्त—चाणक्यइं नंद नइं उथापी चन्द्रगुप्त नइ राजाथापइ। नंद ना जे गोठी, ते चोरी करइ। कोट-वाल संघाति मिलि नइं पछइ चाणक्यइ नगर मांहि फिरतइ। नलदाम नुं पुत्र कोंडइ खाधुं, ते बाप पासइ आव्युं। पछइ नलदाम इं मकोडा सर्व मार्या, बिल खणी जे अंडा दीठां ते मार्या, अग्नि ते ऊपरि बालिनइ। तेहनइं पूछ्यूं। पछइ ते कोटवाल थाप्युं। पछइ तेहनइ चौर मल्या। तेणि वेमासी नइ सर्व नइं पुत्र सहित जीमावी नइ मार्या। एहवुं मस करी नइं जिम यथा चाणक्येन नन्दोत्पाटितः, यथा च नलदामइं मंकोडा अनइ चोर समूलं उच्छेद्या तिम प्रवचन द्वेषी राजा नइ मूल थी विणासवुं। तिहां जे उत्पाटइ, जे तेहनइं साहिज्य द्यइ, जे तेहनइं अनुमोदइ—ते सर्व शुद्धाः। प्रवचन उपघात राखवा नइ काजइं ते भणी न निःकेवल शुद्धिमात्रं किन्तु अचिरान्मोक्ष गमनं होइ। इहां दृष्टांत विष्णुकुमार नुं जोवु नइ श्री सिद्धांतइं इम कह्युं जे राजा नइ मारइ तेह नइ महा मोहनीय कर्म बंधाइ। अनि वृत्ति मध्ये इम कह्युं—जउ कारण इ परिवार सहित राजान नइं मारइ ते शुद्ध अनइ थोड़ा काल मांहि मोक्ष—ते भणी डाहु हुइ ते विचारज्यो ।।२७।।

तथा आवश्यक निर्युक्ति मध्ये "परिठावणिया समिति" मांहि कहिउं छइ ते यती नइ उतावलुं कार्य पडइ तिवारि सचित्त पृथिवी अदत्त पणि ग्रहइ ।।२८।।

तथा कार्य शीघ्र हुइ तिवारइ सचित्त जल अदत्त पणि लेवु—एहवा अघ-टता छै अनइ सिद्धान्ते सचित्त जल निषेध्यां छै—ते भणी डाहु हुई ते विचारज्यो ।।२९।।

तथा कार्य पड़इ तिवारि दीवु अणवु, कार्य पूरा थयां पछइ वाटि निचोवी ।।३०।।

इम वायु नुं पणि आरम्भ कहइ—मसक वायु भरी लीयइ ।।३१।।

तथा कारणइं ग्लानादिक नइं सचित्त कंदादि अदत्त लीइ जे आवश्यक निर्युक्ति मांहि एहवा अयुक्ता बोल छइ, ते चउद पूर्वी नी कीधी किम मानीइ ।।३२।।

तथा वली कह्युं छइ—कारणइ नपुंसक नइ दीक्षा देवी अनइ अनेरा पाठ भणाववुं, अनइ ते भणइ तिवारि बीजा साधु तेह प्रति भूंठूं बोलइ—कहि—अमे पण इमज भण्युं हतुं, इम चोरी राखी नइ तिवारि इम भूंठूं बोलइ साधु, पछइ कार्य पूरइ थयइ, बाहिर काढवुं। पछइ ते दीवांणइ जाइ, तिवारि भूंठूं बोलवुं कह्युं —

"अम्हो एह नइं दीक्षा दीधी नथी, एह नइं माथइ चोटी, एह नइं पाठ अनेरू आवइ छइ"—एहवा कपट करवा कह्या छइ, तु ते सर्व प्रमाण किम कीजइ ।।३३।।

तथा बीजा बोल केतला एक विघटंता छइ, ते भणी निर्युक्ति चउद पूर्वधर नी भाषी किम सद्दहीइ ? ते भणी डाहइ मनुष्य इ सिद्धान्त ऊपरि रुचि करवी, जिम इह लोकइं—परलोकइं सुख उपजइ सही ।।३४।। छः

अनइ पन्नवणां नी वृत्ति नइ करणहारइ "आउत" शब्द नु ं अर्थ कारण—फलाव्यु ं छइ ने मोट इ कारण इं झूंठू बोलवु ं जिम निशीथ चूर्णि मध्ये पंच महाव्रत ना कारण कह्यां छइ, ते महाव्रत प्रार्थवा नां कारण ।। इति ए सर्व लु ंकामती नी युक्ति लिखी छइ ।।

प्रतिमा मानइ तेहनइ तो पंचांगी प्रमाण इ—सर्व युक्ति प्रमाण छइ। जाणवा ने हेतइं लिख्यु ं छइ ।।[1]

श्री लोंकाशाह ना अट्ठावन बोल

१. पहिलु बोल :—

श्री सिद्धान्त मांहि मोक्षमार्ग नु ं मूल कारण श्री सम्यक्त्व छइ। जेहनइ सम्यक्त्व तेहना तप नियम सर्व प्रमाण। ते सम्यक्त्व श्री आचारांग नइ चउथइ श्री सम्यक्त्व अध्ययनइ लाभइ। ते अध्ययन लिखिइ छइ :—

"से वेमि जे अ अतीता जे अ पडुपन्ना जे अ आगमिस्सा अरहंता भगवंता ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं सव्वे परूवेंति। अव्वे पाण भूआ, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हंतव्वा न अज्झावेअव्वा, न परिघेतव्वा, ण परितावेअव्वा, ण उद्दवेअव्वा, एस धम्मे सुद्धे, णितिए सासए, समेच्च लोअं खेयन्नेहिं पवेइए, तं जहा :- उट्ठिएसु वा, अणुट्ठिएसु वा उवट्ठिएसु वा अणवट्ठिएसु वा, उवरयदंडेसु वा अणवरदंडेसु वा, सोवहिएसु वा अणोवहिएसु वा, संजोगरएसु वा, असंजोगरएसु वा, तव्वंतं, तहावेतं, अस्सिंवेतं पवुच्चइ। तं आइन्नु ण णिहे ण णिक्खेवे। जाणित्तु धम्मं जथा तथा दिट्ठीहिं णिचैअं गणेज्जा। णो लोगस्सेसणं चरे। जस्स णत्थि इमा णाती अन्ना तस्स कओ सिआ। दिट्ठ ं सुतं मयं विन्नायं जं एयं परिकहिज्जइ। समेमाणा पलेमाणा पुणो-पुणो जातिं पकप्पेंति। अहो अ राओ अ जयमाणे, धीरे सया आगयपन्नाणे, पमत्ते वहिआ पास अपमत्ते सया परिक्कमिज्जासि त्ति वेमि।"

---

१. एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति की फोटो कापी से उद्धृत।

एणइं उद्देसइं एहवुं कह्युं जो सव प्राण, भूत, जीव, सत्त्व न हणिवा। ए धर्म सूधउ। एतलइ दयाइं धर्म ते सूधउ। अनइ हिंसाइं धर्म ते अशुद्धउ जाणिवउं। एह पहिलु बोल।

२. बीजु बोल :—

हवइ बीजु बोल लिखीइ छइ। तथा सम्यक्त्व अध्ययनइं बीजइ उद्देसइ एहवुं कह्युँ छे के जो श्रमण माहण हिंसाइं धर्म प्ररूपइं अनइ वली एहवुं कहइ धर्मनइं काजिइं हिंसा करतां दोष नथी, ते तीर्थंकरे अनार्य वचन कह्युँ। एतलइ एहवा वचनना बोलणहार अनार्य जाणिवा। ते अधिकार लिखीइ छइ :—

"आवंती के आवंती लोअंसि समणा य माहणा य पुढो विवादं वयंति, से दिट्ठं च णे, सुअं च णे, मयं च णे, विण्णायं च णे, उड्ढं अहो तिरिअदिसासु सव्वतो सुपडिलेहिअं च णे, सव्वे पाणा सव्जे जीवा सव्वे भूआ सव्वे सत्ता हंतव्वा, अज्झावेअव्वा, परिघेतव्वा, उद्दवेअव्वा, एत्थं पि जाणह णत्थित्थ दोसो, अणारियवयणमेअं, तत्थ जे ते आयरिया ते एवं वयासी—सेदुद्दिट्ठं च भे, दुस्सुअं च भे, दुमयं च भे, दुविन्नायं च भे। उड्ढं अहं तिरिअं दिसासु सव्वतो द्दुप्पड़िलेहिअं च भे। जएणं तुब्भे एवं आइक्खह, एवं भासह, एवं परूवेह, एवं पण्णवेह–सव्वेपाण सव्वे भूआ सव्वे जीवा सव्वे सत्ता हंतव्वा अज्झावेअव्वा परितावेअव्वा, परिघेतव्वा, उद्दवेअव्वा, एत्थवि जाणह नत्थित्थ दोसो। अणारियवयणमेअं। वयं पुण एवमाइक्खामो, एवं भासेमो, एवं परूवेमो, एवं पन्नवेमो—सव्वे पाण सव्वे भूआ सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्झावेअव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परियावेअव्वा, ण उद्दवेअव्वा, एत्थं पि जाणह नत्थित्थ दोसो। आरियवयणमेअं पुव्वनिकायसमयं, पत्तिअं। पुच्छिस्सामो हं भे पावाहुवाया किं सायं दुक्खं उदाहु असायं समिता पडिवन्नेया वि एवं बूआ। सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूआणं, सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसिं सत्ताणं अस्सायं अपरिणिव्वाणं महब्भयं दुक्खं त्ति वेमि।"

३. त्रीजु बोल :—

हवइं त्रीजु बोल लिखीइ छइ। तथा जे सम्यक्त्व अध्ययनना बीजा उद्देसा नइं धुरि कहिउं छइ—"जे आसवा ते परिसवा" ए आदिइं च्यारि बोल तेहनु अर्थ लिखीइ छइ। जे आसवा कहितां जे स्त्री आदिक कर्मबन्ध नां कारण तेह ज वैराग्य नइ आणवइ करी परिसवा कहितां ते निर्जरा ना ठाम थाइ। तथा जे परिसवा ते आसवा—कहितां जे परिश्रवा ते साधु (नइ) निर्जरा ना ठाम ते दुष्ट अध्यवसाइं करी आश्रव–कर्म-बन्ध ना ठाम थाइ। तथा "जे अणासवा" कहितां जे अनाश्रव व्रत-विशेष ते शुभ अध्यवसाइं करी 'अपरिसवा' कहितां ते निर्जरा ना ठाम थाइं। कुंडरीक परिइं। तथा 'जे अपरिसवा ते अणासवा' कहितां जे अपरिश्रवा—अविरतिनां ठाम

तेहज अविरति न ठाम हियइपाडुआं जाणी वैराग्यइं करी अध्यवसायविशेषिइं अविरतिनइ छांडवइ करी अनाश्रव नां काम थाइ, एतलाइ कर्मबंध ना ठाम न थाइं।

तथा को (इ) एक एहना अर्थ फेरवी नइ कहइ छइ—'जे आसवा' कहितां जे धर्मनइं कारणइं हिंसा करीइ तिहां निर्जरा थाइ।

तथा वली केतलाएक इम कहइं छइं—जे धर्मनइं काजइं हिंसा कीजइ ते हिंसा न कहीइ।

तु हवइ डाहा हुइ ते विचारी जोज्यो, जउ धर्मनइं काजइं हिंसा करतां निर्जरा थाइ, अनइ जउ धर्मनइं काजइं हिंसा कीजइ ते हिंसा न कहीइ तु रेवतीनु पाक श्री महावीरइ सिं न लीधु ?

तथा कोई एक धर्मनइं काजइं आधाकर्मी आहार करी साधुनइं दिइ ते साधु न लिइ ते स्या भणी तथा वखाण करतां मुहडइ छेहडु (छेड़ो) तथा हाथ दिइ स्या भणी ?

तथा धर्मनइं काजइं हिंसा परूपइं तेहनइं वीतरागे अनार्यवचनना बोलणहारा कां कह्यां ?

तथा जे श्रमण माहण हिंसा परूपइ तेहनइं "बहुदंडणाणं, मुंडणाणं जाव तमाई मरणाणं, पीआमरणाणं" इत्यादि बोल कां कह्या ?

विवेकी हुइ ते विचारी जोज्यो। अनइ वली जु धर्मनइ कीधइ आश्रव नहीं तु साधु ईर्याइं चालइ ते स्या भणी ? पणि जाणज्यो जे सूत्रविरुद्ध कहइ छइं। एह त्रीजु बोल।"

४. **चउथउ बोल :—**

"हवइ चउथउ बोल लिखीइ छइ। तथा श्री वीतराग देवइं श्री सूयगडांग अध्ययन १७ मइं एहवुं कहिउं—जे पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिणनइ विषइ एणिं परइं मोक्ष पामइ ते अधिकार लिखीइ छइ।"

सूयगडांग सूत्रना पुंडरीक नामना सत्तरमा अध्ययननो पाठ नीचे मुजब छे:—

"से बेमि पाईणं वा जाव एवं से परिन्नायकम्मे एवंसि विवेअकम्मे, एवंसि वि अंतकारएभवतीतिमक्खायं, तत्थ खलु भगवता छज्जीवनिकायहेउ पन्नत्ता तं जहा—पुढ़वीकाइए जाव तसकाइए से जहानामए मम अस्सायं दंडेण वा, अट्ठीण वा, मुट्ठीण वा, लेढूण वा, कवालेण वा आउट्टिज्जमाणस्स वा हम्ममाणस्स वा,

तज्जिज्जमाणस्स वा, ताडिज्जमाणस्स वा परियाविज्जमाणस्स वा, किलामिज्ज-माणस्स वा, उद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खण विहिं साकारगं दुक्खं भयं पड़िसंमुवेदेमि, इच्चेवं जाव णं सव्वे पाणा, जाव सव्वे सत्ता, दंडेण वा जाव कवालेण वा आउट्टिज्जमाणा वा हम्ममाणा वा, तज्जिज्जमाणा वा, तालिज्जमाणा वा, परिताविज्जमाणा वा, उद्दविज्जमाणा वा, जाव लोमुक्खणणमायमविहिं साकारगं दुक्खं भयं पड़िसंवेदेति । एवं नच्चा, सव्वे पाणा जाव सत्ता ण हंतव्वा ण अज्झावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा । से बेमि, जे अतीता, जे अ पडुप्पन्ना, जे अ आगमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पन्नवेंति सव्वे पाणा जाव सत्ता, ण हंतव्वा ण अज्झावेअव्वा ण परिघेतव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्दवेयव्वा । एस धम्मे ध्रुवे णीतिए सासए समेच्च लोगं खेअण्णेहिं पवेदिते ।"

इहां श्री वीतरागइ एकांत दयाइ मोक्ष कहीं । पणि किहांई हिंसाइ मोक्ष नथी । ए चउथउ बोल ।

५. पांचमु बोल :—

हवइ पांचमु बोल लिखीइ छइ । तथा श्री सूयगडांगनइ १८ मइ अध्ययनइं एहुं कहिउं—जे श्रमण माहण हिंसा परूपइ, ते संसार मांहि रलइ, गाढ़ा दुखीआ थाईं, वली जन्म मरण करईं, दरिद्री दुर्भागी थाइं, हाथ पग आदि शरीर ननु छेद पामईं । अनइ जे श्रमण माहण दया प्ररूपइ ते संसारकांतार मांहि रलइ नहीं, ते दुखीआ न थाइं, तेहना हाथपगादि छेद न पामइ । ते सीझइ बुज्झइ सर्व दुखनु अंत करइ, ते आलावउ लिखीइ छइ :—

"एस तुलाए सप्पमाणा एस संमोसरणा पत्तेअं तुला पत्तेअं पमाणा पत्तेअं समोसरणा । तत्थ णं जे ते समणमाहणा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति सव्वे पाणा जाव सत्ता हंतव्वा, अज्झावेअव्वा, परिघेतव्वा, परितावेयव्वा, किलामियव्वा, उद्दवेयव्वा, ते आगंतुच्छेआए, ते आगंतु भेआए जाव ते आगंतु जाइजरामरण-जोणिजम्मणसंसारपुणब्भवगब्भवासभवपवंचकलंकालीभागिणो भविस्संति, ते वहूणं दंडणाणं, वहूणं मुंडणाणं, तज्जणाणं तालणाणं, अदुवंधणाणं, जाव घोलणाणं माइमरणाणं पितिमरणाणं भगिणीमरणाणं, भज्जापुत्तधूतसुण्हामरणाणं, दारिदाणं, दोहग्गाणं, अप्पियसंवासाणं पिअविप्पओगाणं वहूणं दुक्खदोमणसाणं आभोगिणो भविस्संति, अणातीअं च णं अणवट्टग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं भुज्जो अणुपरियट्टिस्संति । ते णो सिज्झिस्संति णो वुज्झिस्संति, जाव णो सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति । एस तुला, एस पमाणे, एस समोसरणे, पत्तेअं तुले, पत्तेअं पमाणे, पत्तेअं समोसरणे तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता ण हंतव्वा जाव ण उद्दवेअव्वा, ते णो आगंतु छेआए, ते णो

आगंतु भेआए, जाव जाइजरामरणजोणिजम्मणसंसारपुणब्भवगब्भवासभवपवंच-कलंकलि भागिणे णे भविस्संति। ते णो वहूणं दंडणाणं जाव णो वहूणं दुक्खदोमणसाणं णो आभोगिणो भविस्संति। अणातीअं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंत-संसारकंतारं भुज्जो णो अणुपरियट्टिसंति, ते सिज्झिस्संति जाव सव्व दुक्खाणं अंते करिस्संति।"

ए आलावानइं मेलइं जे श्री वीतराग नां संतानीआ एकांत दयाइं धर्म प्ररूपइं, एणइं कहिवइं हिंसाइं धर्म न प्ररूपइं, एह पांचमु बोल।

६. छट्ठु बोल :—

हवइ छट्ठु बोल लिखीइ छई। तथा केतलाएक इम कहइं छइं—जु दयाइं धर्म, तु तारिओड नदी कांइं उतरई ? तेहनउ उत्तर प्रछ्यो—जइ नदी उतरइ धर्म हुइ, तउ वहू वहू सिं न उतरइ। श्री वीतरागे तु नदी उतरवा नी संख्या बोली। तथा श्री समवायांगनइं एकवीसमें समवाये, तथा दशाश्रुत मध्ये एहवा कह्या जे 'अंतोमासस्स तउ तदकलेवे कारमाणे सवले।' इहां तउ इम कह्यं—जे महीनाना मध्ये त्रिणि लेप लगाड़इ ते सवलउ। वरसदीसमाही दस लेप लगाड़इ ते सवलु। तो हवइ जुओनइं नदी उतरइं धर्म, तु श्री वीतरागे जिका अधिकी नदी उतरइ तेहनइ सवलउ कां नहीं कहइ ? तथा जे धर्म कर्त्तव्य छइ ते वहु-वहु कीजइ, अनइ वल करीनइ अनुमोदीइ, अनइ नदी तु वहु उतरवी नहीं। अनइ उतरिया पछइ अनुमोदइ पणि नहीं। जे विराधना हुई ते निंदइ गर्हई तथा साधुनइं विहार करतइं केहइक वरिसइं, तथा केहइकइ मासई तथा केहइं कइं दिवसि क्षेत्रविशेषइं तथा देशविशेपइं नदी, नावी तथा न उतरिउनु कांइं साधु नदी अणउतरिआनउ पश्चात्ताप तउ न करइ। पणि प्रतिमानउ पूजणहार केहइ कइ मासि केहइ कइं दिवसि कारणविशेषइं प्रतिमा पूजी न सकइ, तु पश्चात्ताप करइ, इम चींतवइ 'जे माहरइ पोतइ पाप जे मइं प्रतिमा न पूजाणी।' पणि साधु नदी अणउतरइ इम न चींतवइ जे—माहरइ पोतइ पाप जे मइ नदी न उतराणी।" जिको प्रतिमा ऊपरि नदीनुं दृष्टान्त मांडइ छइ ते सूत्र विरुद्ध दीसइ छइ। ते एतला भणी जे प्रतिमाना पूजनहारनइं प्रतिमा नी पूजा अनुमोदणनइं खातइ छइ। अनइ साधुनइं नदीनुं उतार निंदवानइ खातइ छइ तथा हवइं जेणइं खातइ नदी छइ ते प्रीछ्या। नदी अशक्य-परिहार छइ, अनइ अनाकुटि छइ ते अनाकुटि श्री समवायांग मध्ये एकवीसमइ समवायइ छइ। विवेकी हइ ते विचारी जोज्यो। एह छट्ठुं बोल।

७. सातमु बोल :

हवइ सातमु वोल लिखीइ छइ। तथा सिद्धान्त मांहि तुंगिया नगरी ना तथा आलंभिआ नगरी नां तथा सावत्थी नगरी ना प्रमुख श्रावक गाढ़ा घणां ना अधिकार दीखइ छई, तथा कुणई श्रावकइं प्रतिमा घड़ावी तथा भरावी तथा प्रति-

तज्जिज्जमाणस्स वा, ताडिज्जमाणस्स वा परियाविज्जमाणस्स वा, किलामिज्ज-माणस्स वा, उद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खण विहिं साकारगं दुक्खं भयं पड़िसंमु-वेदेमि, इच्चेवं जाव णं सव्वे पाणा, जाव सव्वे सत्ता, दंडेण वा जाव कवालेण वा आउट्टिज्जमाणा वा हम्ममाणा वा, तज्जिज्जमाणा वा, तालिज्जमाणा वा, परिता-विज्जमाणा वा, उद्दविज्जमाणा वा, जाव लोमुक्खणणमायमविहिं साकारगं दुक्खं भयं पड़िसंवेदेति । एवं नच्चा, सव्वे पाणा जाव सत्ता ण हंतव्वा ण अज्झावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा । से बेमि, जे अतीता, जे अ पडुप्पन्ना, जे अ आगमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पन्नवेंति सव्वे पाणा जाव सत्ता, ण हंतव्वा ण अज्झावेअव्वा ण परिघेतव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्दवेयव्वा । एस धम्मे ध्रुवे णीतिए सासए समेच्च लोगं खेअण्णेहिं पवेदिते ।"

इहां श्री वीतरागइ एकांत दयाइ मोक्ष कहीं । पणि किहांई हिंसाइ मोक्ष नथी । ए चउथउ बोल ।

५. पांचमु बोल :—

हवइ पांचमु बोल लिखीइ छइ । तथा श्री सूयगडांगनइ १८ मइ अध्ययनइं एहुं कहिउं—जे श्रमण माहण हिंसा परूपइ, ते संसार मांहिं रलइ, गाढ़ा दुखीआ थाईं, वली जन्म मरण करईं, दरिद्री दुर्भागी थाइं, हाथ पग आदि शरीर ननु छेद पामई । अनइ जे श्रमण माहण दया प्ररूपइ ते संसारकांतार मांहि रलइ नहीं, ते दुखीआ न थाइं, तेहना हाथपगादि छेद न पामइ । ते सीझइ बुज्झइ सर्व दुखनु अंत करइ, ते आलावउ लिखीइ छइ :—

"एस तुलाए सप्पमाणा एस संमोसरणा पत्तेअं तुला पत्तेअं पमाणा पत्तेअं समोसरणा । तत्थ णं जे ते समणमाहणा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति सव्वे पाणा जाव सत्ता हंतव्वा, अज्झावेअव्वा, परिघेतव्वा, परितावेयव्वा, किलामियव्वा, उद्दवेयव्वा, ते आगंतुच्छेआए, ते आगंतु भेआए जाव ते आगंतु जाइजरामरण-जोणिजम्मणसंसारपुणब्भवगब्भवासभवपवंचकलंकालीभागिणो भविस्संति, ते बहूणं दंडणाणं, बहूणं मुंडणाणं, तज्जणाणं तालणाणं, अदुबंधणाणं, जाव घोलणाणं माइमरणाणं पितिमरणाणं भगिणीमरणाणं, भज्जापुत्तधूतसुण्हामरणाणं, दारिदाणं, दोहग्गाणं, अप्पियसंवासाणं पिअविप्पओगाणं बहूणं दुक्खदोमणसाणं आभोगिणो भविस्संति, अणातीअं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं भुज्जो अणुपरियट्टिस्संति । ते णो सिज्झिस्संति णो बुज्झिस्संति, जाव णो सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति । एस तुला, एस पमाणे, एस समोसरणे, पत्तेअं तुले, पत्तेअं पमाणे, पत्तेअं समोसरणे तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता ण हंतव्वा जाव ण उद्दवेअव्वा, ते णो आगंतु छेआए, ते णो

तथा केतलाएक इम कहइ छइ, सम्यग्दृष्टी टाली कोई 'नमोत्थुणं' इत्यादि न भणइ। ते श्री अनुयोगद्वार मांहि इम कह्युं–'जे इमे समणगुणमुक्कजोगी छक्कायणिरणुकंपा हया इव उद्दामा, गया इव निरंकुसा, घट्टा मट्टा तुप्पोट्टा, पंडुरपट्टपाउरणा, जिणाणं अणाणाए सच्छंद विहरिऊणं उभओकालमा वस्सगस्सउ वरसगस्स उवट्ठति', तु जोइइ लोकोत्तर द्रव्यावश्यक ना करणहार दिन प्रतिइं वार वि आवश्यक करइं तेह मांहि "नमोत्थुणं" कहइ, अनइ ते वीतरागइं समकितदृष्टी न कहिया। तउ जोउ नइं, जि कोइ इम कहइ छइ जो 'सम्यग्दृष्टी टाली नमोत्थुणं को न कहइ' ते वात सूत्रविरुद्ध दीसइ छइ। तथा श्री नंदिसूत्र मांहिं इम कह्युं–जे चउद पूर्व ना भणणहार नइं मति समी हुइ, जाव दस पूर्व ना भणनहारनइं पणि मति समी हुई, अनइ नव पूर्व ना भणनहारनइं पणि मति समी हुइ, अनइ मिथ्या पणि हुइ।" एतलइ णमोत्थुणं आदिइं देइनइ ग्रंथ घणुइ भणइ, पणि मति मिथ्याइ हुइ, अनइ समी पणि हुइ। तु इणइं मेलइं जोतां जे इम कहइ छइ जे सम्यग्दृष्टी टाली अनेरा 'नमोत्थुणं' न कहइ–ए वात शास्त्रस्युं विरुद्ध दीसइ छइ। तथा प्रत्यक्ष पमणा प्रमुख घणाइं 'नमोत्थुणं' कहइं छइं, ते कांइं समकितदृष्टि जाण्या नथी जे डाहु हुई ते विचारी जोज्यो।

तथा केतलाएक इम कहइं छइं जे गणधरे इ कां कह्युं जे "जिणघरे" "जिणपड़िमा" तथा "धूवं दाऊण जिणवराणं?" तेहना उत्तर प्रीछउ–जे जगमांहिं जेहना नाम जेहवां प्रवर्त्ततां हुए गणधर पणि तेहनुं अधिकार आविई तेहनइं तेहवइ नामइ कहइ। जिम श्री ठाणांग मध्ये त्रीजइ ठाणाइ गणधरे इक कह्युं जे 'भरहे वासे तओ तित्था पण्णत्ता–मागहे, वरदामे पभासे' तो जोउ तइ जिम गणधरे तीर्थ कह्यां, तिम इ म न कहिउं जे "तओ कुतित्था पण्णत्ता" जु गणधरे ते तीर्थ कह्यां तु कांई आपणपे तीर्थ करी आराध्या नहीं। एतलइ गणधर जेहनुं जेहवुं नाम हुइ तेहनइं तेहवु नाम कहइ। ते ते नाम कह्या माटि इ कांइ आराध्य न थाइ। श्री वीतरागइ तु ज्ञान दर्शन चारित्र आराध्या त्रीजइ ठाणइ बोल्या "तिविहा आसाहणा पण्णत्ता तं जहा नाणाराहणा दंसणाराहणा चारित्ताराहणा" तथा गणधरे आपणे मुखइं इम कह्युं–पूर्णभद्र यक्षनइं–"जे दिव्वे सच्चे" ए यक्ष साचउ, जु गणधरे इम कह्युं–जे ए यक्ष साचउं तु कांई आपणइं आराधवउ नहीं। तथा गणधरे इम कहयुं-जे गोशाला ना श्रावक एहवा छइं, जे 'अरिहंतदेवतागा अम्मापिउ सस्सुसगा।' गणधर इम कह्युं जे गोशालाना श्रावकनइं गोशालो अरिहंत देव छइं पणि गणधरे इम सिंइं न कह्युं-'जे गोशालाना श्रावकनइं गोशालो कुदेव छइ।' एतलइ इम जाणज्यो, जे लोक मांहि जे पदार्थ जेहवां प्रवर्तइ छइ, ते गणधरपणि तिम ज कहइं।

तथा द्रुपदी ना आलावा नी वृत्ति मांहिं इम कहिउं छइ—जे "एक वाचनाइ एहवुं छइ, जे "जिणपड़िमाणं, अच्चणं करेति।" एतावदेवं दृश्यते—"जिन प्रतिमा

नी अर्चा कीधीं" एतलु ज दीसइ छइ, पणि 'जिणघरे' इत्यादिक बोल कह्या नथी। हवड़ां जे प्रति प्रवर्त्तइ छइ, अनइ ते प्रतिविचालइ आंतरां घाढ़ा घणां दीसइ छइं डाहु हुइ ते विचारी जोज्यो।

तथा केतलाएक इम कहइं छइं—जे द्रुपदी इं नारदनइं इम कहिउं जे "असंजयअविरए" इत्यादि। अे बोल सम्यग्दृष्टी विवेक कुण जाणइ। ते बोल मिथ्यात्वीइ, गौतमस्वामीनइं पणि इम कहिआ छइ। ते लिखीइ छइ—"तएणं ते अन्नउत्थिआ जेणेव भगवं गौअमे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता भगवं गोअमं एवं वयासी—"तुब्भे णं अज्जो तिविहं तिविहेणं असंजय अविरय—पडिहय पच्चखाय-पावकम्मे सकिरिए, असंवुड़े एगंतदंडे एगंतबाले आवि भवह।" एहवा बोल कह्या छइं। श्री भगवतीसूत्रनइ अढारमा शतकनइ आठमइं उद्देसइं छइ। तथा स्थविरनइ पणि मिथ्यात्वीइं एहवा बोल कह्या छइं। "तए णं ते अन्नऊत्थिआ जेणेव थेरा भगवंता, तेणेव उवागच्छंति। ते थेरे भगवंते एवं वदासि—तुब्भे णं अज्जो तिविहं तिविहेणं असंजय अविरय पड़हय इत्यादि जहा सत्तमसए जाव एगंतबाले आवि भवह।" श्री भगवती सूत्रनइ आठमा शतकनइ सातमइ उद्देसइ छइ। तु जोउनइ मिथ्यात्वी "असंजए अविरए" इत्यादि बोल जाणइ छइ। एह सातमु बोल।

८. आठमु बोल :

हवइ आठमु बोल लिखीइ छइ। तथा श्री वीतरागदेवइं सिद्धान्त मांहि साधु चारित्रियानइ श्री ठाणांग मध्ये पंच महाव्रतनां पाल्या ना फल तथा श्री उत्तराध्ययन चउवीसमा मध्ये पांच समिति त्रिणि गुप्तिनां फल, तथा अध्ययन २६ मइ दश विध सामाचारी नां फल, फासुक आहार दीधानां फल, श्री भगवती मध्ये बारे भेदे तप कीधा ना फल त्रीसमइ अध्ययनइ, दशविध वेआवच्च नां फल बोल्या श्री ठाणांग मध्ये, तथा विनय कीधां नां फल, अध्ययन पहिलइ तथा अध्ययन ३१ मइ चारित्र पाल्या नां फल, तथा ओगुणत्रीसमइ अध्ययनइ बोल घणां ना फल बोल्यां, तथा श्रावकनइं बार व्रत पाल्या नां फल श्री उववाइ उपांग तथा सामाइय चउवी-सत्थओ इत्यादि आवश्यकनां फल अनुयोगद्वार मध्ये, तथा श्रावकनइं जु साधु चारित्रीआ वंदनीक छइं तु साधुनइ वांद्या नां फल, तथा साधु नी पर्युपास्ति कीधानां फल तथा अन्न पाणी दीधांनां फल तथा उपाश्रय दीधानां फल, तथा वस्त्र पात्र दीधानां फल इत्यादि। जउ तीर्थंकरदेव गणधर आचार्य उपाध्याय साधु जउ आराध्य छइ तु तेहना घणी-घणी परि नां फल श्री सिद्धान्त मांहिं कह्यां छइं अनइ जउ प्रतिमा मोक्षमार्गमांहि आराध्य नथी तु किहां सिद्धान्त मांहि प्रासाद करा-व्याना, प्रतिमा घड़ाव्यानां, प्रतिमा भराव्याना, तथा प्रतिमा पूज्यांना तथा प्रतिमा प्रतिष्ठ्याना, तथा प्रतिमा वांद्या नां तथा प्रतिमा आगलि ढोयानां फल तथा प्रतिमा आगलि भावना भाव्याना फल इत्यादि—घणां बानां लोक प्रतिमा आगलि करइ छइ पणि ते एकइ बलिना फल सूत्रइ श्री वीतराग देवे नथी कह्या। तउ जोउनइ

मोक्ष नां फल पापई जिकां वंदना पूजना करइ छइ, तेहनइ मोक्ष नु लाभ किम हुसिइ ? छाहु हुई ते विचारी जोज्यो । एह आठमु बोल ।

६. नवमु बोल :

हवइ नवमु बोल लिखीइ छइ । तथा जीवाभिगम उपांगमध्ये लवण समुद्र ना अधिकार कह्या छइं । तिहां श्री गौतमस्वामिइं पूछया छइ जु "पाणी एवड़उ उच्छलइ तु जंबूद्वीप नइं एकोदक सिइं नथी करतु ? तिहां वलतु श्री वीतरागे इम कह्युं कइ" जति णं भंते लवण समुद्दे दो जोअणसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं, पण्णरस जोअणसहस्साइं सत्तचउआलं किंचि—पिसेसुणे परिक्खेपेणं, एगं जोअण-सहस्सं उव्वेहेणं, सोलस जोयणसहस्साइं उस्सेहेणं, सत्तरस जोअणसहस्साइं सव्वग्गेणं पण्णत्ते, कम्हा णं भंते लवणसमुद्दे जंवुदीवं दीवं नो उवीलेति, नो उप्पीलेति, णो चेव णं एक्कोदगं करेति ?" गोअमा ! जंवुदीवे णं दीवे भरहेरवतेसु वासेसु अरहंत चक्कवट्टि वलदेव वासुदेवा चारण विज्जाहरा, समण समणी, सावयसावियाओ, मणुआ पगतिभद्दया पगतिविणीया पगति उवसंता पगतिपयणुकोहकोहमाणमाया-लोभा मिउमद्दवसंपण्णा अल्लीणा भद्दगा विणीया तेसिं णं पणिहाय लवणसमुद्दे जंवुदीवं दीवं नो उवीलेति, नो उप्पीलेति, णो चेव णं एक्कोदगं करेति । गंगासिन्धु-रत्तारत्तवईसु सलिलासु देवयाओ, महिड्ढियाओ, जाव पलिओवमठितीयाओ परि-वसंति, तासि णं पणिहाय लवणसमुद्दे जाव णो चेव णं एक्कोदगं करिंति । चुल्लहि-मवंतसिहरिसु वासधरपव्वतेसु देवा महिड्ढ़या, तेसिं णं पणिहाय हेमवयरण्णवएसु वासेसु मणुआ पगतिभद्दया, रोहितारोहितंसासुवण्णकुलारुप्पकुलासु सलिलासु देव-याओ महिड्ढियाओ, तासिं पणि सद्दावति विअडावति वट्टवेअड्ढ़पव्वएसु देवा महिड्ढिआ जाव पलिओवमठितिआ पण्णत्ता । महाहिमवंतरुप्पासु वासहरपव्वएसु देवा महिड्ढिआ जाव पलिओवमठितिआ हरिवासरम्मगवासेसु मणुआ पगतिभद्दगा गंधावतिमालवंतपरियाएसु वट्टवेअड्ढपव्वएसु देवा महिड्ढियाणिसढणीलवंतेसु वासहरपव्वएसु देवा महिड्ढिया । सव्वाओ उदहिदेवताओ भाणियव्वाओ पउमद्द-हाओ तेगिच्छिकेसरिद्दहाओ वासीणीओ देवयाओ महिड्ढियाओ तासिं पणिहाय पुव्वविदेहअवरविदेहेसु वासेसु अरहंतचक्कवट्टि—वलदेववासुदेवचारणविज्जाहरा, समणाओ समणीओ, सावगाओ साविगाओ, मणुया पगतिभद्दगा तेसिं पणिहाय लवणे (जाव णे चेव णं एक्कोदगं करेति) सीता सीतोदगासु सलिलासु देवया महिड्ढिया, देवकुरु उत्तरकुरु मणुआ पगतिभद्दगा, मंदरे पव्वते देवया महिड्ढिया जंबुद्दीवेणं सुदंसणा जंबुदीवाहिवती अणाढए णामा देवे महिड्ढिए जाव पलिओवमठितीए परिवसति, तेसि णं पणिहाय लवणसमुद्दे णो उवीलेति, नो उप्पीलेति, नो चेव णं एगोदगं करेति, छ ।

तु जोहनइं श्री वीतरागे अरिहंत चक्रवर्ति वलदेव, वासुदेव चारण विद्याधर साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका, प्रकृतिभद्रक मनुष्य, गंगा सिन्धु देवी इत्या-

दिक जे जेणइं थानकइं जेहना प्रभाव छइ, तेहना प्रभाव कह्या, अनइ जेणइ जेणइ पर्वतइं शाश्वती प्रतिमा छइं तेणइं-तेणइं डुंगरि जे जे देवता बसइं छइं, तेहना प्रभाव वीतरागे कह्या, पणि प्रतिमा ना प्रभाव न कहिया। अनइ हवड़ां तु लोक प्रतिमाना गाढ़ा घणां प्रभाव कहइं छ इं, पणि श्री वीतरागे कांइं प्रभाव न कह्या। जु कांइं प्रतिमाना प्रभाव हु तउ इहांई प्रभाव कहत। जूओनइ! जो कोई प्रकृतिभद्रक मनुष्य, तेहनु प्रभाव कह्युं, तउ प्रतिमानउ प्रभाव स्यइं न कहिउ? डाहु हुइ ते विचारी जोज्यो। एह नवमु बोल।

१०. दसमु बोल :—

हवइ दसमु बोल लिखीइ छइ। तथा श्री सिद्धान्त मांहिं श्री वीतराग देवइं साधुनइं श्रावकनइं सम्यग्दृष्टी नइं केहिइ प्रतिमा आराध्य न कही। अनइ जि वारई प्रतिमाना थापक कन्हइं पूछीइ तिवारइं सूरिआभिदेवताना आलापा देखाड़इ। ते सूरिआभिदेवताइं पणि मोक्षनइ खातइ प्रतिमा नथी पूजी, ते अधिका अधिकार लिखीइ छइ। जिहां सूरिआभदेवता इं श्री वीतराग वांद्या तिहां एहवुं कहिउं—"एअं मे पेच्चा हिताते सुहाए, खमाए, णिस्सेसाए, आणुगामित्ताए भविस्सइ।" तु जुओनइं, जिहां वीतराग वांद्या तिहां पेच्चा कहितां परभवे 'हिआए सुहाए' कहिउं। अनइ जिहां प्रतिमा पूजी तिहां 'पुव्विं पच्छा' कहिउं, पणि परभवे न कहिउं। सिद्धान्त मांहिं जिहां देवताए अथवा मनुष्यइ श्री वीतराग वांद्या, तिहां 'पेच्चा हियाए' अथवा 'इहभवे परभवे हिआए' कहिउं पणि किह्यांइ "पुव्विं पच्छा हिआए सुहाए" न कहिउं। अनइ जिहां प्रतिमा पूजी तिहां—"पुव्विं पच्छा हिआए सुहाए" कहिउं। पणि किहांइ "पेच्चा" अथवा "परभवे हिआए" न कहिउं। पण ईं कारणइ प्रतिमा मोक्षनइ खातइ नथी। जिम भगवती सूत्र मध्ये बीजे शतके खंदक नइ आलावइ वेहू अधिकार जूआजूआ कह्या छइं, ते लिखीइ छइं—"जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छिता समणं भगवं महावीरं तिखुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेंति। करेइत्ता जाव नमंसित्ता एवं वयासी—"आलित्तेणं भंते लोए, पलित्ते णं भंते लोए आलित्तपलित्ते णं भंते लोए, जरा—मरणेण य से जहानामए केइ गाहावइ आगारंसि झूयायमाणंसि से जे तत्थ भंडे भवइ अप्पसारे मोल्लगुरुए तं गहाय आयासे एगंतमंतं अवक्कमति एस मे नित्थारिए समाणे पच्छा पुराए हिआए सुहाए खमाए निस्सेसाए आणुगामित्ताए भविस्सइ, एवमेव देवाणुप्पिआ मज्झ वि आया एगे भंडे, इट्ठे कंते पिए मणुण्णे मणामे थेज्जे विस्सासिए संमए बहुमए अणुमए भंडकरंडसमाणे, मा णं सीअं, मा णं उण्हं, मा णं खुहा, मा णं पिवासा, मा णं चोरा, मा णं वाला, मा णं दंसा, मा णं मसगा मा णं वाइअपित्तिअसंभिअसन्निवाइय विविहा रोगायंका परीसहोवसग्गा फुसंतु त्ति कट्टु एस नित्थारिए समाणे समाणे परलोअस्स हिआए सुहाए खमाए, नीसेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ।" इहांइ खंदकइं श्री महावीर नइं इम कहिउं। जिम एक को एक गृहस्थनइ घरि आगि लागु हुइ ते घर नुं धणी

सार वस्तु काढ़इ अनइ इम कहइ—"ए सार भंडार काढयुं हुंतु मुझनइ पच्छा पुरा हिग्राए सुहाए इत्यादि हुसिइ। अनइ हुं जे चारित्र लेऊं छुं ते मुझनइं परलोगस्स हियाए सुहाए इत्यादि हुसिइ।" हवइं जुओ नइं लक्ष्मी काढयाना अनइ चारित्र लीधाना शब्द ना केतला फेर छइं ? "हिग्राए सुहाए जाव आणुगामीए" ए शब्द तु बेहु अधिकारइं कह्या छइं, पणि लक्ष्मी काढी तिहां इम कह्युं पच्छा पुरा अनइ चारित्र लीधूं तिहां इम कह्युं—"परलोगस्स" तु जोउनइ जिम इहांइ एवड़ा फेर शब्दना छइं, तिम सूरिआभनइं पणि आलावइ जिहां प्रतिमा पूजी तिहां "पुव्विंपच्छा", अनइ जिहां वीतराग वांद्या तिहां "पेच्चा" इम कहउं। एवड़ा शब्द ना फेर छइ ए आलावानइं मेलइं सूरिआभदेवताइं प्रतिमा पूजी। अनइ प्रतिमा आगलि नमोत्थुणं कह्युं ते जूइ खातइ। अनइ श्री वीतराग वांद्या ते जूइ खातइ। तथा जिम प्रतिमानइं पुव्विं पच्छा कहिउं छइ तिम दाढ़ नी पूजामइं पणि पुव्विं पच्छा कहिउं छइ। ए बेहू अधिकार एक वाजउइं।

तथा केतलाएक इम कहइं छइं—जे सुधर्मासभाइं तीर्थंकर नी दाढ़ छइ, तिहां देवता मैथुन न सेवइ। तेह भणी दाढ़ सम्यक्त्वनइ खातइ। तओ जोओनइ—सम्यक्त्वनइ खातइ हुइ तओ पुव्विं पच्छा कां कहइ ? अनइ धम्मिअं ववसाइयं पणि कां कहइ ?

तथा श्री ठाणांग मध्ये त्रीजइ ठाणइ व्यवसाय त्रीणि कह्यां, ते लिखीइ छइ छ—"तिविहे ववसाए पण्णत्ते तं जहा धम्मिए ववसाए, अधम्मिए ववसाए, धम्मिअधम्मिए, ववसाए"—ते धर्म व्यवसाय साधुनउ धर्माधर्म व्यवसाय श्रावकनउ, वाकी वावीस दंडक अधर्मव्यवसाय कह्या तओ जुओनइं—"देवता श्री वीतरागे अधर्मव्यवसाय कह्या, अनइ जिहां सूरिआभदेवता प्रतिमा तथा द्रह वावि इत्यादि पूजवा आप्यु तिहां इम कहिउं जे धम्मिअं ववसाइअं गिण्हिज्जा।" अनइ ठाणांग मध्ये दसमइ ठाणइ धर्म तउ दस कह्यां—"दसविहे धम्मे पन्नते, तं जहा—गामधम्मे (१), नगरधम्मे (२), रठ्ठधम्मे (३), पासंडधम्मे (४), कुलधम्मे (५), गणधम्मे (६), संघधम्मे (७), सुअधम्मे (८), चारित्तधम्मे (९), अत्थिकायधम्मे (१०)। ए दस धर्म कह्यां। ते मांहिं जे "धम्मिअं ववसाइअं गिण्हिज्जा"—कहिउं ते तु कुलधर्म मांहि आवइ छइ। अनइ केतलाएक इम कहइं छइं, जे "धम्मिअं ववसाइअं" कहतां श्रुतधर्म कहीइ। तउ डाहु हुइ ते विचारी जोज्यो—जे सूरिआभइं तउ प्रतिमा, द्रह, वावि, हथीयार इत्यादि घणां वानां पूज्यां छइं। अनइ धम्मिअं ववसाइअं तु समुच्चय-पदइं कहिऊं छइ। जु धम्मिअं ववसाइअं श्रुतधर्म तु द्रह, वावि, हथीयार जेतलां वानां ते सहू श्रुतधर्म थाइ अनइ तिहां तउ इम न कहिउं—जे प्रतिमा नी पूजा तथा नमोत्थुणं ते श्रुतधर्म अनइ द्रह वावि हथीयार इत्यादिक ते कुलधर्म। तिहां तु समुच्चयपदइं धम्मिअं ववसाइअं कह्युं छइ। प्रतिमा नमोत्थुणं द्रह वावी हथीयार प्रमुख सहूनइं कहिउं छइ। डाहु हुइ ते विचारी जोज्यो।

तथा वली प्रीछ्छउ—धम्मिग्रं ववसाइग्रं कहिउं—ते पुस्तक वांच्या पछी कहिउं। ग्रनइ ते ते पुस्तक नइं एह ज सूत्र मांहिं इम कह्युं तइ। एतलइ ते पुस्तक जे धर्मशास्त्र ग्रनइ ग्राचारांगादिक जे सम्यक्शास्त्र छइ ते तउ ते न हुई। तउ जोउनइ ते कूण धर्म शास्त्र छइ ? जउ श्रुतधर्मशास्त्र हुइ तउ तेहमांहिं द्रह वावी, हथीयार प्रमुख जे वांनां पूज्यां ते पूजवा न कल्पइ। एणइं कारणइं ते श्रुतधर्मशास्त्र न हुइ। डाहु हुइ ते विचारी **जोज्यो**। इति सूरिग्राभाधिकार, एह दसमु बोल।

११. इग्यारमु बोल :—

हवइं इग्यारिमु बोल लिखीइ छइ—तथा केतलाएक इम कहइ छइं—जे साधु चारित्रीग्रानइं विद्याचारण जंघाचारण लब्धि उपजइ छइ, ते लब्धनइ प्रमाणइं जे मानुषोत्तरपर्वतइं चेत्य शब्दइं प्रतिमा वंदही तेहना पडूत्तर प्रीछ्छउ। श्री वीतरागइं सिद्धान्त मांहि मानुषोत्तरपर्वतइं च्यारि कूट कह्यां, पणि सिद्धायतन कूट न कहिउं। ग्रनइ ग्रनेरे पर्वते जिहां सिद्धायतन कूट छइ तिहां कूट नी वर्णवना करतां सिद्धायतन कूट पणि माहइं कह्या छइं। ग्रनइ जउ एणइं पर्वतइं सिद्धायतन कूट नथी तउ जिहां ए पर्वत ना कूट कह्यां, तिहां सिद्धायतन कूट न कहिउं। हवइ श्री ठाणांग मांहिं मानुषोत्तरकूट कह्यां ते लिखीइ छइ—"माणुसुत्तरस्स पव्वयस्स चउदिसिं चत्तारि कूटा पन्नत्ता तं जहा—रयणे १, रयणुव्वते २, सव्वरयणायरे ३, रयणसंचए ४, ।" तु जोउनइ इहांइ शाश्वती प्रतिमा नथी। तु चेइशब्दइं स्युं वांद्युं ? ग्रनइ श्री ग्ररिहंत तु जिहां रह्या वांदीइ, तिहां थी वंदाइ।

ग्रनइ चेइ शब्दइं ग्ररिहंत तु घणे ठामि कह्या छइं, ते ठाम लिखीइ छइ—"तं गच्छामो णं देवाणुप्पिग्रा समणं भगवं महावीरं वंदामो णमुंसामो सक्कारेमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइग्रं पज्जुवासामो। एयं णं पेच्चभवे इहभविय हिग्राए सुहाए खमाए णिस्सेसाए ग्राणुगामित्ताए भविस्सतीति" कहु, श्री उववाइ मध्ये ए ग्ररिहंत विद्यमानना चैत्य १ "तं गच्छामो णं देवाणुप्पिग्रा समणं भगवं महावीरं वंदामो णमुंसामो, जाव पज्जुवासामो। एयं णं इहभविय परभविय, हिग्राए सुहाए खमाए णिस्सेसाए ग्राणुगामियत्ताए भविस्सतीति।" श्री भगवती मध्ये शतक ६— "तं गच्छामि णं देवाणुप्पिग्रा समणं भगवं महावीरं वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि, कल्लाणं मंगलं देवयं चेइग्रं पज्जुवासामि।" रायपसेणी मध्ये ए ग्ररिहंत विद्यमानना चैत्य-२—"ग्रम्हे णं भंते सूरिग्राभस्स देवस्स ग्राभियोगा देवाणुप्पिग्राणं वंदामो णमंसामो, सक्कारेमो सम्माणेमो, कल्लाणं, मंगलं, देवयं चेइग्रं पज्जुवासामो।" रायपसेणी उपांग मध्ये—ए ग्ररिहंत विद्यमान तेहना चैत्य—३ "ग्रहण्णं भंते सूरिग्राभे देवे देवाणुप्पिग्रं वंदामि णमंसामि जाव पज्जुवासामि।" रायपसेणी उपांग मध्ये ए ग्ररिहंत विद्यमान तेहनां चैत्य—४, "इह महामाहणे, उप्पण्णणाणदंसण—धरे ग्रतीय पडुपण्णणागय जाणए, ग्ररहा जिणे केवली,

सव्वण्णू सव्वदरिसि तेलोक्कमहितपूजिते सदेवणरासुरस्स लोगस्स अच्चणिज्जे वंदणिज्जे पूअणिज्जे, सक्कारणिज्जे सम्माणणिज्जे, कल्लाणं मंगलं देवयं चेइअं पज्जुवासणिज्जे ।" श्री उपासकदशांग मध्ये अध्ययन ७, ए अरिहंत विद्यमानना चैत्य ५, इत्यादिक घणे ठामइं चेइशब्दइं अरिहंत कह्या छइं । जउ मानुषोत्तरपर्वतइं रह्या अरिहंत वांद्या तु इम जाणज्यो, जे सघलइ अरिहंत वांद्या । डाहु हुइ ते विचारी जोज्यो ।

तथा कोई इम कहसिइ—नंदीसरवरइं चेइशब्दइं स्यु वांद्यु । तेहना उत्तर प्रीछउ, जउ मानुषोत्तरइं चेइशब्दइं अरिहंत वांद्या, तउ नंदीसरवरप्रमुख सघलइ चेइ शब्दइं अरिहंतज वांद्या । मानुषोत्तरइं अनइ नंदीसरवरइं शब्द ना फेर कांइ छइ नहीं । बेहू ठामइं सरिखा शब्द छइं । तथा रुचकद्वीपइं पणि शाश्वती प्रतिमा सूत्रइ किहांइ नथी कहिउं । तथा जंघाचारणनइ आलावइ बीजा घणा प्रत्युत्तर छईं, पणि जउ मानुषोत्तरइं शाश्वती प्रतिमा नथी, तउ बीजा प्रत्युत्तर नउं स्युं काम ? डाहु हुइ ते विचारी जोज्यो । छ । एह इग्यारमु बोल ।

१२. बारमु बोल :

हवइ बारमु बोल लिखीइ छइ । तथा श्री भगवती सूत्र मध्ये चमरेन्द्रनइं अधिकारइं एहवा शब्द छई—"णण्णत्थ अरहंते वा, अरहंत चेतियाणि वा अणगारे भावियप्पमाणो निस्साए उड्ढं उप्पयंति ।" तिहां केतलाएक इम कहई छई जे अरहंत-चेइयाणि वा 'कहतां जिनप्रतिमानी निश्राई जाई ।' तेहना प्रत्युत्तर लिखीइ छई । जउ प्रतिमानी निश्रा हुइ तउ चमरेन्द्र भरतखंड लगइं स्या माटइं आवइ । शाश्वती प्रतिमा तु चमरेन्द्रनइं ढूकड़ी हती । अनइ जउ तेणई गरज सरइ तउ भरतखंड लगई सिहानई आवइ । तथा सौधर्मेन्द्रइं वज्र मुंक्यु, तिवारई चमरेन्द्र भयभ्रान्त हुंतु भरतखंड लगइं सिहानइ आव्यउ । जउ प्रतिमाई गरज सरइ तु तिहां शाश्वती प्रतिमा ढूकड़ी हती, अनइ तेहनई शरण जाउत । पणि जेहनई शरणई छूटीइ तेहनइं शरणई आव्यउ दीसइ छइ । तथा सौधर्मेन्द्रइं पणि वज्र मुंकी एहवु चिंतव्यु जे "चमरेन्द्रनई एतली शक्ति नथी, जे आपणी निश्राई इहां लगइ आवइ । पणि अरि-हंत चैत्य अणगार तेहनी निश्राई आवई । अनइ मइं तु वज्र मुक्यु छइ । तउ ते अरिहंत भगवंत अणगार नी आशातनाई मुझनई महादुःख हुई ।" एतलइ जोउनइं अरिहंत भगवंत अणगारनी आशातना कही । पणि कांई प्रतिमानी आशातना न कही । एतलई सौधर्मेन्द्रइं अरिहंत अनइ चैत्यशब्दई भगवंत कह्या । पणि प्रतिमा कांई न कही । एतलइ अरिहंत चैत्य ए शब्द ना अर्थ इहां भगवंत कह्या दीसई छई । अनइ वृत्ति मांहिं पणि अरिहंत फलाव्या छई । पणि प्रतिमा नथी फलावी । डाहु हुइ ते विचारी जोज्यो । ए बारमु बोल ।

१३. तेरमु बोल :

हवइ तेरमु बोल लिखीइ छइ, तथा श्री उववाई उपांग मध्ये अंबड़ श्रावक नइं अधिकारइं एहवा शब्द छइं जे "नन्नत्थ अरहंते वा, अरिहंत चेइयाणि वा।" तिहां केतलाएक इम कहइं छइं जे 'अरिहंत चेइशब्दइं प्रतिमा।' तेहना प्रत्युत्तर लिखीइ छइ। "अरिहंत चेइयाणि वा" ए बेहू शब्दइं अरिहंत ज जाणिवा। केतला एक इम कहस्यइं जे अरिहंतनइं बिहू शब्दइं कां कहीइ ? वा शब्दइं तु विकल्प हुइ। "तउ जोउनइं सिद्धान्त मांहि ठामि-ठामि इम कहिउं जे "समणं वा माहणं वां" एक साधुनइं बेहू नाम कह्यां। तथा वा शब्द पणि कह्युं। तथा श्री सूअगडांग अध्ययन सत्तरमइ एक साधु ना तेरे नाम कह्यां छईं अनइ तेरे नामइ वा शब्द पणि कहिउ छइ। ते लिखीइ छइ—"समणेति वा, माहणेति वा, खंतेति वा, दंतेति वा, गुत्तेति वा, मुत्तेति वा, ईसीति वा, मुणीति वा, किइति वा, विदूति वा, भिक्खूति वा, लूहेति वा, तीरड्ढीति वा।" इम वली एक वस्तु नां घणां घणां नाम आइं छइं। तथा वली वृत्तिकारइं पणि "अरिहंते वा, अरिहंतचेइयाणि वा"—तिहां अरिहंतज फलाव्या छइं।

तथा चेइ शब्दइं सूत्रमांहिं घणइ ठामइं अरिहंत कह्या छइं—"तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया समणं भगवं महावीरं वंदामो" इत्यादि। बीजा आलावइ, तथा केतलाएक इम कहइं छइं, जे वृत्तिकारइं उघाड़ा माटइं न फलाव्या। तउं-तउं जोउनइ चेइ शब्द उघाडउ के अरिहंत शब्द उघाड़उ ? जड उखाड़उ शब्द न फलावई, तउ इहाइं अरिहन्त शब्द फलाव्यउ जोइइ, नहीं। डाहा हुइ ते विचारी जोज्यो। एह तेरमु बोल।

१४. चउदमु बोल :

हवइ चउदमु बोल लिखीइ छइ। तथा श्री उपासकदशांगमध्ये आणंद श्रावकनइं अधिकारइं केतलाएक इम कहइं छइं जे प्रतिमा आराध्या छइं। तेहना प्रत्युत्तर प्रीछउ—"नो कप्पइ" कहिउं ते मांहि तउ आपणनइं सम्बन्ध कांइं नथी। आपणनइं तु संबंध कप्पइ माहिं छइ, अनइ कप्पइ मांहि तु प्रतिमा न कही। तथा नो कप्पइ मांहि केतला एक इम कहइं छइं जे 'अन्यतीर्थीपरिगृहीत' चैत्य न कल्पइ। तउ अणपरिगृहीत कल्पइ। तेहना प्रत्युत्तर प्रीछउ—इहां प्रतिमानउ स्यु अधिकार छइ ? इहां तउ इम कह्युं जे "जां लगइ ए न बोलावई हूं पूर्विइं न बोलुं तथा अन्नपानादिक न देउं" तउ जूओनइं प्रतिमा कांइं बोलइ ? किं वा अन्नादि प्रतिमानइं काजइं आवइ ? डाहु हुइ ते विचारी जोज्यो। एह चउदमु बोल।

१५. पनरमु बोल :

हवइ पनरमु बोल लिखीइ छइ—तथा श्री प्रश्नव्याकरण मध्ये त्रीजइं संवरद्वारइं "चेइअट्ठं निज्जरट्ठं" जे एहवा शब्द छइं, तिहां केतलाएक इम कहइं

छइं जे—"साधु चरित्रीउ प्रतिमानुं वेयावच्च करइ।" तेहना प्रत्युत्तर प्रीछउ—तिहां तउ एहवा अधिकार छइं—जे साधु चरित्रीउ गृहस्थना घर थकी उपधि पाणी भात आणइ, अनइ आणीनइ अनेरा साधुनइं आपइ, ते प्रीछउ जे 'चेइअट्ठे'—चित्यर्थो ज्ञानार्थो एतलइ ज्ञाननइं अर्थइं, तथा निर्जरार्थइं आपइ, तथा एहजि सूत्र मध्ये घणुं विस्तार छइ जे—'अप्रीतिकारियां घर मांहि न पइसइ, अप्रीतिकारियानुं भात पाणी उपधि न लीइ।' वली इम कह्युं जे "पीढ फलग सिज्जा संथारग वत्थ पाय कंबल दंडग रजोहरण निशिज्जा चोलपट्टय मुहपोत्तीय पायपुंछणादि भायण भंडोवहि उवगरण", एतला वानां माहिलुं प्रतिमानई स्युं काजइ आवई ? अनइ साधुनइं तु ए सघला वानां काजइ आपइ। इहांइ तउ दत्त नउ अधिकार छइ, जे दातारनुं दीधुं लेवुं। डाहु हुइ ते विचारी जोज्यो। एह पनरमु बोल।

१६. सोलमु बोल :

हवइ सोलमुं बोल लिखीइ छइ। तथा प्रश्नव्याकरण मांहिं पहिलइ आश्रव—द्वारइं पृथ्वीकायनइं अधिकारइं—"गढ़ पाटणी आवाश घर हाट, प्रतिमा प्रासाद सभा इत्यादिकनइं कारणइं पृथ्वीनइं हणइ"—ते श्री वीतरागईं अधर्मद्वार मांहिं घाल्युं। इहां तउ प्रतिमाना नीचोड़कर्या दीसइ छइं। डाहु हुइ ते विचारी जोज्यो।

तथा केतलाएक एम कहइं छइं जे इहांइ तु इम कह्युं—"जे पुव्वाहिं संति ते मंदबुद्धिया", मंदबुद्धी शव्दइं मिथ्यात्वी कहीइ। ए अर्थ सूत्रस्युं मिलइ नहीं। ते एतला भणी जे, पांचमां अधर्मद्वार मांहिं परिग्रहनइ अधिकारइं चक्रवत्ति बलदेव वासुदेव अनुत्तरविमानवासी देवता इत्यादि धणां कहीनइ आगलि कह्युं जे "मंद-बुद्धि हुंता परिग्रहनउ संचउ करइं" तउ जोउनइं जिको कहई छइं—'मंदबुद्धी शव्दइं मिथ्यात्वी' ते अर्थ जूठा, सूत्रविरुद्ध दीसइ छइं। डाहु हुइ ते विचारी जोज्यो। एह सोलमु बोल।

१७. सत्तरमुं बोल :

हवइ सत्तरमुं बोल लिखीइ छइ। तथा केतलाएक इम कहइंछइं जे "आज्ञाइं धर्म कहीइ, पणि दयाइं धर्म न कहिइ" दयाइं धर्म कहिउ छइ ते लिखीइ छइ।

तुलिआविसेसमादाय दयाधम्मस्स खंतिए।
विप्पसीइज्ज मेहावी तहाभूएण अप्पणा ।।१।।

इति श्री उत्तराध्ययन पंचमाध्ययने गाथा ३०। तथा—

दयावरं धम्म दुगंछमाणे वहावहं धम्म पसंसमाणे।
एगंतजं भोययति असीलं णिवोणिसंजाति कओ सुरेहिं ।।

इति श्री सूअगडांग अध्ययन बावीसमां मध्ये गाथा ४५।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ।।१।।

इति श्री दशवैकालिक प्रथम अध्ययन मध्ये। तथा "से बेमि जे अतीता जे अ पडुप्पण्णा जे अ आगमिस्सा अरिहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति एवं परूवेंति सव्वे पाण सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा न अज्जावेयव्वा, न परिघेत्तव्वा, न परितावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे"—इति श्री आचारांग चउथइ अध्ययनइ।

तथा श्री वीतरागे दयाइं करी मोक्ष कह्य ुं ते लिखीइ छइ :—

सगरोवि सागरन्तं भरहवासं नराहिवो।
इस्सरियं केवलं हिच्चा दयाए परिनिव्वुओ ।।

इति श्री उत्तराध्ययन अढारमा मध्ये गाथा ३५।
तथा श्री वीतरागे कुशीलिया दयारहित कह्या, ते लिखीइ छइ—

न तं अरि कंठछित्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।
से णाहिइ मच्चुमुहं तु पत्ते, पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ।।

इति श्री उत्तराध्ययन २० मध्ये गाथा ४८। तथा आज्ञा दयामइ छइ—"तमेव धम्मं दुविहं आइक्खंति तं जहा अगारधम्मं च अणगारधम्मं च। इह खलु सव्वओ सम्मत्ताए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारित्तं पव्वति तस्स सव्वतो पाणातिवायातो वेरमणं, मुसावाय, अदत्तदाण, मेहुण, परिग्गह, राइभोअणाते वेरमणं, अयमाउसो अणगार सामाइए धम्मे पण्णत्ते। एयस्स सिक्खाए उवट्ठिए णिग्गंथे वा, णिग्गंथी वा विहरमाणे, आणाए आराहए भवति।

अगारधम्मं दुवालसविहं आइक्खइ, तं जहा—पंचाणुव्वयाइं, तिण्णि गुणव्वयाइं, चत्तारि सिक्खावयाइं। पंच अणुव्वयाइं, तं जहा—थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, थूलाओ अदिण्णा दाणाओ वेरमणं, सदारसंतोषे, इच्छापरिमाणे। तिण्णि गुणव्वयाइं तं जहा—अणत्थदंडवेरमणं, दिसिव्वयं, उवभोग-परिभोगपरिमाणं। चत्तारि सिक्खा—वयाइं तं जहा—सामाइअं, देसावगासिअं, पोसहोववासो, अतिहिसंविभागो, अपच्छिममरणंतिआ संलेहणा जूसणाराहणा। अयमाउसो, अगारसामाइए धम्मे पण्णत्ते, एसस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिओ समणोवासओ वा समणोवासिआ वा विहरमाणा आणाए आराहए भवंति।" इहाइं पंच महाव्रत अनइ बार व्रत आज्ञा कही, एह मांहिं तउ हिंसा कांइ नथी। इति श्री उववाइ उवांग तथा—

तत्थिमा तइया भासा, जं वदित्ताऽणुतप्पती ।
जं छन्नं तं न वत्तव्वं, एसा आणा णिग्गंठिआ ।।

इति श्री सूअगडांग अध्ययन नवमा मध्ये गाथा २६ । इम घणाइ अधिकार छइ, दयाइं धम्मं सूत्रे घणइ ठामि कह्या छइं ।

तथा केतलाएक इम कहइं छइं, जे धर्म आज्ञाइं कहीइ । अम्हारइ आज्ञा गाढ़ी प्रमाण । डाह्य हुइ ते विचारी जोज्यो—जे श्री वीतराग नी आज्ञा ते तउ पंच महाव्रत अनइ वार व्रत तथा वार भिक्षुप्रतिमा । इग्यार श्रावक नी प्रतिमा इत्यादिक बोलनुं पालवउं ते श्री वीतराग नी आज्ञा । ते तु एकांत दयामई छइ । पणि तेह मांहि कांई हिंसा नथी ।

तथा कोइ एक इम कहइस्यइ जे साधुनइं आहार नीहार करतां कांइ कांइ सावद्य लागइ छइ । तेहना उत्तर प्रीछउ । ते तउ अशक्य-परिहार, अनाकुटि छइ । अनइ ते पणि अशक्य परिहारइं अनइ अनाकुटिइं जे कांई सावद्य लागइ, ते सर्व आलोइ निंदइ । एतावता श्री सिद्धान्त मांहि प्रांत आलावी, निंदवी छइ । पणि श्री सिद्धांत मांहि हिंसा किहां अनुमोदवी नथी ।

तथा श्री वीतरागइं प्रश्नव्याकरण मांहिं श्री जीवदयाइं सम्यक्त्व नी आराधना कही तथा वोधि कही, तथा निर्मली दृष्टि कही, तथा पूजा कही । एहवा घणां घणां बोल तथा घणा उदाहरण कह्या छइं । ते अधिकार लिखीइ छइ— "तत्थ पढ़मं अहिंसा जा सा सदेवमणुआसुरस्स लोगस्स भवति । दीपो ताणं सरणं गति पइट्ठा, निव्वाणं नेव्वुइं समाहि संती, कित्ती कंती रइ अ विरती सुअंगतित्ती, दयाविमुत्ती खंती सम्मत्ताराहणा, महती बोही बुद्धा धिति, समिद्धी रिधी विधी तिती पुट्ठी नंदी भद्दा, विरुद्धी, लद्धी विसुद्ध दिट्ठी, कल्लाणं मंगलं पासाउ विभूति, खासिद्धावासो, अणासवो केवलीण ठाणं सिव समि असील, संजमोत्ति अ सीलधरो, संपरे अ गुत्ती, ववसाउअस्स तोयजणो, आयतणजयणमप्पमाओ, आसासो विसासो अभउ सव्वस्स य वियमाधाओ चोखपवित्तासुती, पूआ, विमलपभासाय, निम्मलरत्ति, एवमादीणि निययगुणनिम्मियाइं पज्जवनामाणि होंति अहिंसाभगवतीए ।" ए भगवंतइं प्ररूपी । "सा भगवती अहिंसा । जा सा भीयाणं पि वसणा, पक्खोणं पिव गयणं तिसियाणं पिव सलिलं, खुहिआणं पिव असणं, समुद्दमज्जे पोतवहणं चउप्पयाणं व आसमपयं दुहट्ठियाणं व ओसहिवलं, अटवीमज्जे व सत्थगमणं, एत्तो विसिट्ठतरिगा अहिंसा । जा सा पुढविजलअगणिमारुअवणप्फति-वीज—हरिय जलचर थलचर-तसथावर-सव्वभूअखेमकारी । एसा भगवती अहिंसा ।" एहवी जीवदया श्री वीतरागइं सार प्रधान कही । एहवी जीवदया श्री वीतरागना मार्गनइं विषइ छइ । पणि अनेरे ठामि नथी । जेहनी मिथ्यामति छइ, तेहनइं कहण छइ, पणि रहण नथी । एह सतरमु बोल ।

१८. अढारमु बोल :—

हवइ अढारमु बोल लिखीइ छइ—तथा श्री ठाणांग मांहिं इम कहिउं—"चउव्विहे सच्चे पंन्नते, तं जहा—नाम सच्चे, दव्वसच्चे, ठवणसच्चे, भावसच्चे।" इहां केतलाएक इम कइहं छइं—जउ वीतरागे स्थापनासत्य कही। तउ स्थापना आराध्य नथी ? तेहना प्रत्युत्तर ग्रीछउ, ए च्यार सत्य कह्यां, ते भाषा उपरि छइं, पणि आराध्य उपरि नथी। एह ठाणांग मध्ये दसमइ ठाणइ दस सत्य कह्यां छइ, तउ ते कांइ दसइ स्यु आराध्य छइं ? ते तउ भाषा उपरि छइं। ते लिखीए छइ—"दसविहे सच्चे पंन्नत्ते, तं जहा—जणवयसच्चे, संमयसच्चे, ठावणासच्चे, नामसच्चे, रूवसच्चे, पहुच्चसच्चे, विवहारसच्चे, भावसच्चे, भोगसच्चे, उवम्मसच्चे।" तथा श्री पन्नवणा मध्ये दसविहे सच्चे भाषापद मध्ये कह्यां छइं। तउ जोउनइ ते मध्ये ठवणसच्चे कहिउं, ते भाषासत्य कहीइ, पणि आराध्य नहीं। डाहु हुइ ते विचारी जोज्यो।

इहांइ सच्चे शब्द कहिउ ते एतला भणी, जे जेहनउं जेहवु नाम हुइ तेहनइं तेहवइं नामिइं बोलावतां जूठू नहीं। जिम को एक नु नाम कुलवर्द्धन हुइं, अनइ तेह जण्यां पछी कुलक्षय थयु हुइ, तेहू पणि तेहनइं कुलवर्द्धन कही बोलावतां जूठूं नहीं। तथा घी नु घडु हुइ, अनइ तेह माहिं थी घी ठालव्यु हुइ, अनइ तेह घड़ानइं घी नु घडु कहीइ। तउ तेहनइं (घी नु घडु) कहतां जूठूं नहीं। इत्यादिक भाषा उपरि छइ। इहां आराध्यविशेष कांइ नथी। डाहा हुइ ते विचारी जोज्यो। एह अढारमु बोल।

१९. ओगणीसमु बोल : —

हवइ ओगणीसमु बोल लिखीइ छइ—तथा श्री अनुयोगद्वार मध्ये आवश्यकना च्यारि निक्षेपा कह्या छइं। तिहां केतला एक कहइ छइं—इहां आवश्यक करतां थापना करी मांडवी कही छइ। ते कहण गाढ़ा विरुद्ध दीसइ छइं। ते ग्रीछउ, इहां तउ आवश्यकना च्यारी निक्खेवा कह्या छइं, ते इम कह्या छइं। नाम आवश्यक ते कहीइं जे कांई जीव अथवा अजीवनु नाम आवश्यक दीधुं हुइ। तथा स्थापनावश्यक ते कहीइ, जे साधु अथवा साध्वी अथवा श्रावक अथवा श्राविका जिम आवश्यक करइ। तेहवु आकार को एक करइ, अथवा असद्भाव काष्ठादिकनइं कहइ जे ए आवश्यक ते स्थापना द्रव्यावश्यक कहीइ। तथा द्रव्यावश्यकना घणां एकक भेद कह्या छइं। जाणगसरीर, भविअसरीर इत्यादि। तथा लोकविहाणा माहिं उठी मुख धोइ लूगडां पहिरइ, तंबोल वावरइं, इत्यादिक द्रव्यावश्यक कहीइ। तथा "समणगुणमुक्कजोगी, जाव आवस्सयं चिठ्ठइ" एह पणि द्रव्यावश्यक कहीइ। इत्यादि घणां बोल कह्या छइं एह माहिं आपणइ कांइ आराध्य नथी। आपणइ तउ लोकोत्तर भावावश्यक आराध्य छइ। डाहु हुइ ते विचारी जोज्यो।

इहां सूत्र माहिं आवश्यक करतां स्थापना करवी कही नथी। तथा इहांइ सूत्र ना पणि च्यारि निक्खेवा कह्या छइं। तथा बंध आदि देइ घणां बोल ना

निक्खेवा कह्या छइं । एकला आवश्यक उपरि तउ निक्खेवा कह्या नथी । डाहु हुइ ते विचारी जोज्यो । एह ओगणीसमु बोल ।

२०. वीसमु बोल :

हवइ वीसमु बोल लिखीइ छइ । तथा केतला एक इम कहइं छइं जे—'राजान वांदवा गया ते स्युं ? घोड़ा हाथी लेइ गया ते स्युं ? नगर फूटरा कराव्या ते स्युं ? तथा मल्लिनाथइं मोहणघर कराव्युं ते स्युं ? तथा सुबुद्धि महतइं फरस्या द्रह नुं पाणी आणव्युं ते स्युं ? इत्यादि घणां बोल कहइं छइं । तेहना प्रत्युत्तर प्रीछउ । श्री सूअगडांग मध्ये अढारमइं अध्ययनइं किरियाठाणइ श्री वीतरागइं त्रिणि पक्ष कह्या । तिहां धर्म पक्ष ते सर्वइ सर्वविरति कही । अनइ बीजउ अधर्मपक्ष ते सर्वइ सर्वअविरति कही । अनइ त्रीजउ मिश्रपक्ष ते कांइ विरति कांइ अविरति कही । इम त्रिण पक्ष कहीइ । शरवालइ बे थोक कीधा । एक धर्म बीजउ अधर्म, श्रावकनी जेतली विरति तेतली धर्ममाहिं घाली, अनइ जेतली अविरति ते अधर्म माहिं घाली । हवइं जोउनइं जे नाह्या, घोड़ा हाथी लेइ गया इत्यादि सर्व ते तेहनी अविरति छइ, अनइ अविरति तउ श्री वीतरागे अधर्म माहिं कही । अनइ विरति ते धर्म माहिं कही । जु साधुनइं विरति छइ तु साधु नाहइ नहीं, घोड़इं हाथीइं चढ़इ नहीं, तथा श्रावकनइं जु पोसह माहिं विरति छइ, तउ पोसह लीधइ नाहइ नही, घोड़इं हाथीइं चढ़इ नही । डाहु हुइ ते विचारी जोज्यो । एह वीसमु बोल ।

२१. एकवीसमु बोल :

हवइ एकवीसमु बोल लिखीइ छइ । तथा श्री भगवती मध्ये शतक पहिलइ, उद्देसक नवमइ एहवुं कहिउं—जे श्रमण निर्ग्रन्थ आधाकर्मी आहार भोगवइं तेह कन्हइं छः कायनी दया न हुइ । तु जोउनइं जेह कन्हइं छः कायनी दया नुहि ते सूधउ धर्म किम कहीई ? डाहु हुइ ते विचारी जोज्यो ।

ते आलावउ लिखीइ छइ—"अहाकम्मे णं भुंजमाणे समणे निग्गंथे किं बंधइ ? किं पकरेइ ? किं चिणइ ? किं उवचिणइ ? गोयमा ! आउअ—वज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ सिढिलबंधणबंधाओ पकरेइ, जाव अणुपरियट्टइ । से केणट्ठेणं जाव अहाकम्मे णं भुंजमाणे अणुपरियट्टइ ? गोअमा ! अहाकम्मे णं भुंजमाणे आयाए धम्मं अइक्कममाणे पुढविकाए णावकंखइ, जाव तसकाय णावकंखइ, जेसिं पिय णं जीवाणं सरीरेहि आहारमाहरेइ, ते वि जीवे नावकंखइ तेणट्ठेणं गोअमा एवं वुच्चइ, आहाकम्मे णं भुंजमाणे आउअवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ जाव अणुपरियट्टइ । फासुएसणिज्जं भंते भुंजमाणे समणे निग्गंथे किं बंधइ जाव णो उवचिणाइ । गोअमा ! फासुएसणिज्जं भुंजमाणे समणे णिग्गंथे आउअ—वज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ घणिअबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ । हंहा संवुड़ेणं नवरं आउअ च णं कम्मं सिअ बंधेइ सिअ नो बंधेइ सेसं तहेव जाव

वीयावेयति । से केणट्ठेणं जाव वीइवयइ ? गोश्रमा ! फासुएसणिज्जं भुंजमाणे समणे णिग्गंथे श्रायाए धम्मं नाइक्कमइ, श्रायाए धम्मं श्रणइक्कममाणे पुढविकायं श्रवकंखति, जाव तस कायं श्रवकंखति, जेसिं पिय णं जीवाणं सरीराइ आहारेंति, ते वि जीवे श्रवकंखति । से तेणट्ठेणं जाव वीयावयइ ।" एह एकवीसमु बोल ।

२२. बावीसमु बोल :

हवइ बावीसमु बोल लिखीइ छइ । तथा श्री जीवाभिगम मध्ये नंदीसरवरनइ श्रधिकारइं तीर्थंकर ना कल्याणकादि कनइं कारणइं घणा एक देवता एकठा मिलइ, मिल्या हुंता क्रीड़ा करइं । इम श्रष्टाह्निका महोत्सव करइं । एतली देवतानी स्थिति दीसइ छइ । तथा मागध वरदाभ प्रभास १०२ तीर्थोदक, तीर्थनी माटी ल्यावइ छइ । तथा गंगा सिंधु श्रादि देइ नदीनइ विषय जइ जलइ ल्यावइं छइ । तथा द्रह नु उदक ल्यावइ छइ । ए आदि देइ नइ देवतानी गाढ़ी घणी सूत्रे स्थिति दीसइ छइ । केतली एक लिखीइ । जोउनइं गंगानां गंगोदक, गंगानी माटी, द्रह ना उदक आण्या माटइ, कांइं गंगा अथवा दह अथवा एह तीर्थ मोक्षनइ न खातइ न थयां । इम देवतानी स्थिति घणीइ छइ । डाहु हुइ ते विचारी जोज्यो । एह बावीसमु बोल ।

२३. त्रेवीसमु बोल :

हवइ त्रेवीसमु बोल लिखीइ छइ । तथा प्रतिमा ना थापक कहइ पूछीइ छइ जे,—"प्रतिमा केही अवस्था नी करी मांडी छइ ? श्री महावीर तउ पहिलुं ३० वरस गृहस्थपणइ हता, पछइ वरस ४२ चारित्रीआ हता । ते हवइ पूछीइ छइ—"जिको श्री महावीर नी प्रतिमा करी मांडइ छइ, ते केही अवस्था नी करी मांडइ ?" जउ इम कहइ जे "अम्हो गृहीनी अवस्था करी मांडऊं छऊं ।" तउ चारित्रीया नइ वंदनीक टलइ, गृहीनइं तउ चारित्रीओ वांदइ नहीं । अनइजे इम कहइ जे "अम्हो चारित्रीया नी अवस्था करी मांडऊं छऊं ।" तउ जोउनइं ए प्रतिमा माहिं चारित्रीयानुं स्युं लक्षण छइ । चारित्रीयानइं तउ फूल पाणी आभरण एकु न कल्पइ । अनइ प्रतिमा तउ फूल पाणी आभरण इत्यादि घणां वानां सहित दीसइ छइ । डाहा हूइ ते विचारी जोज्यो ।

जेहनइं वंदना कीजइ तेहनइं विणओलखिइ किम वांदीइ ? मोक्षमार्गइं तु आराध्य गुण छइ । पणि मोक्षमार्गइं श्राकार आराध्य नथी । जिम चारित्रीओ गुणवंत हुइ, अनइ सहू श्रावकादिक ते चारित्रीआ गुणवंतनइं वांदइ । कदाचित् कर्मयोगिइ चारित्र मग्न थयुं हुंतउं, सीतोदक सचित्तादिक सेवइ, अनइ लिंग हुइ । तउ हुइ, पणि तेहनइं कां डाहु हुइ ते वांदइ नहीं । एतला भणी जे गुणहीण थयु । तउ जोउनइं "जेह माहिं ज्ञान, दर्शन, चारित्र नु एकु गुण नहीं तेहनइं किम

वांदीइ ?" सिद्धान्त मांहि मोक्षमार्गइं वंदनीक गुण छइं। विवेकी हुई ते विचारी जोज्यो। एह त्रेवीसमुं बोल।

२४. चउवीसमो बोल :

हवइ चउवीसमु बोल लिखीइ छइ। तथा श्री वीतरागइं सिद्धान्त माहिं प्रतिमा आराध्य न कही, अनइ जिको प्रतिमा आराध्य कहइ छइ, तेह कन्हइ एहवा एहवा बोल पूछीइ छइ। ते बोल लिखीइ छइ—"प्रतिमा स्याह्नी कराववी कही छइ? चन्द्रकांत नी? सूर्यकांतनी? वैडूर्यनी? पाषाणनी? सप्त धातनी? काष्ठनी? लेपनी? चीतारानी? सिद्धान्त माहिं केह्वी कही छइ?" एह चउवीसमु बोल।

२५. पंचवीसमु बोल :

हवइ पंचवीसमु बोल लिखीइ छइ। प्रतिमानी चउरासी आशाता किहां कही छइ, जु चउरासी आशातना हसिइ, तु प्रतिमा आराध्य हसिइ, अनइ जउ आशातना चउरासी नहीं हुइ, तउ प्रतिमा आराध्य नथी। सही जाणज्यो। तथा सिद्धान्त माहिं गुरु आचार्य उपाध्याय कहिया छइ, ठामि ठामि जु आचार्य उपाध्याय कहिया छइं, तउ आशातना ३३ कही छइ, अनइ सिद्धान्त माहिं प्रतिमा केही आराध्य नथी कही, तु चउरासी आशातना नथी कही, अनइ जु सिद्धान्त माहिं हुइ तउ देखाड़उ। एह पंचवीसमु बोल।

२६. छवीसमु बोल :

हवइ छवीसमु बोल लिखइ छइ। प्रतिमानी, प्रासादनी, दंडनी, ध्वजनी प्रतिष्ठा किहां कही छइ? प्रतिष्ठा श्रावक करइ के साधु करइ? आंचलीआ कहइ छइं—"श्रावक करइ", बीजा गच्छ कहइं छइं—"महात्मा करइ" सिद्धान्त माहिं किम कहिउं छइ? एह छवीसमु बोल।

२७. सत्तावीसमु बोल :

हवइ सत्तावीसमु बोल लिखइ छइ। दिगम्बर खमण कहइं—"प्रतिमा नग्न कीजइ, श्वेताम्बर कहइं—"नग्न न कीजइ" सिद्धान्त माहिं किम कहिउं छइ? ते देखाडु, एह सत्तावीसमु बोल।

२८. अठावीसमु बोल :

हवइं अठावीसमु बोल लिखीइ छइ। तीर्थंकर जि वारइ मोक्ष पुहुता तिवारइ अणसण (नासण कीधां, पालठी वाली पर्यंकासन, ऊभा काउसग्गि,

निसिज्जा आसण, हवइं एकमांहि प्रतिमा केणइं प्रकारइं कीजइ ?) सिद्धान्त माहिं किम कहिउं छइ ? ते देखाड़उ, एह अठावीसमु बोल ।

२९. ओगणत्रीसमु बोल :

हवइं ओगणत्रीसमु बोल लिखीइ छइ । प्रतिमा त्रिणि कालमांहिं केहइ कालि पूजीइ ? सिद्धान्त माहिं किम कहिउं छइ ? एह ओगुणत्रीसमु बोल ।

३०. त्रीसमु बोल :

हवइ त्रीसमु बोल लिखइ छइ । प्रतिमा पूजतां किहां फूल चढइ, अनइ वली प्रतिमानइं शुचि करीनइं वस्त्र धोयां पहिरीनइं, सोनाना नख करीनइं आपणइ हाथइं फूल चुंटीइ, किं वा माली पाइं अणावीइ, अनइ आगमिआ इम कहइ छइं— "सचित्त फूले प्रतिमा न पूजीइ ।" ए त्रिहुं प्रकार मांहिं सिद्धान्त माहिं किहु प्रकार कह्युं छइ ? एह त्रीसमुं बोल ।

३१. एकत्रीसमु बोल :

हवइ एकत्रीसमुं बोल लिखीइ छइ । प्रतिमा चउवीस माहिं केही प्रतिमा मूलनायक कीजइ, केही वड़ी केही लुढी ? मूलनायक नी आभरण सूकडि भोग फूल घणां चढइ अनइ बीजी प्रतिमानइं थोड़ा चढ़इ, मूलनायकनी प्रतिमा ठाकरथइ बैठी, बीजी प्रतिमा पाखती बइठी, मूल नायक नी प्रतिमा उंचइ आसणि बइसारीइ । तीर्थंकर सधला सरखा तु एवडु अन्तर कांइ करइ ? एह एकत्रीसमु बोल ।

३२. बत्रीसमु बोल :

हवइ बत्रीसमु बोल लिखीइ छइ । तीर्थंकरनुं शरीर ऊंचउं, जघन्यइ सात हाथ प्रमाण, उत्कृष्टउ पांच सइ (५००) धनुष प्रमाण एह प्रमाण माहिं प्रतिमा केहइ प्रमाणइं करावीइ ? किम कहिउं छइ ? एह बत्रीसमुं बोल ।

३३. तेत्रीसमो बोल :

हवइ तेत्रीसमु बोल लिखीइ छइ । प्रतिमा अणप्रतिष्ठी पूजतां स्युं हुइ ? अनइ प्रतिष्ठ्यां पूठइ पूजतां स्युं हुई ? प्रतिष्ठी प्रतिमा माहिं कीहा गुण आव्या ज्ञान ना, दर्शनना, चारित्रना, तपना ? पूजनीक तउ गुण बोल्या छइं । प्रतिमा प्रतिष्ठ्यां पूठइं केहा गुण आव्या ? जेहवी अणप्रतिष्ठी हती तेहवी दीसइ छइ । एह तेत्रीसमु बोल ।

३४. चउत्रीसमु बोल :

हवइ चउत्रीसमु बोल लिखीइ छइ । प्रतिमा आगलि ढोइ छइ—धान, फूल, वस्त्र, सोनां, रूपा, बलि बाकुला पकवान, तेह मालीनइ आपीइ, के नापीइ ? तेह

द्रव्य स्युं कीजइ ? व्याजइं दीजइ ? के व्यवसाय कीजइ ? किम करी वधारीइ ? सिद्धान्त माहिं किम कहिउं छइ ? एह चउत्रीसमु बोल ।

३५. पांत्रीसमु बोल :

हवइ पांत्रीसमु बोल लिखीइ छइ । अट्टोत्तरी सनाथनी विधि, आरती मंगलेपु, पहिरामणी नी विधि, जेह लूण सचित्त अगनिमाहिं होमीइ छइ, तेह सघली विधि किहां सिद्धान्तमाहिं कही छइ ? ते काढ़ि देखाड़उ । सिद्धान्त माहिं श्रावकनइं इग्यारमी प्रतिमा आराधवी कही छइ । तिहां कांइं पूजा करवी कही नथी, अनइ हमणां पहिली प्रतिमाहिं त्रीकाल पूजा करावइं छइं, ते केहा सिद्धान्त माहिं कही छइ ? एह पांत्रीसमु बोल ।

३६. छत्रीसमु बोल :

हवइ छत्रीसमु बोल लिखीइ छइ । श्री महावीरइं सिद्धान्त माहिं तीर्थ बोलियां छइं । चतुर्विधसंघ तीर्थ—महात्मा, महासती, श्रावक, श्राविका । अनइ वलि परदर्शनिनां तीर्थ सिद्धान्त माहिं कहियां छइं, मागध तीर्थ १, वरदाम तीर्थ २, प्रभास तीर्थ ३, वीतरागि सिद्धान्त माहिं परदर्शनिना तीर्थ बोल्यां, अनइ सेत्तुंज गिरिनार आबू अष्टापद जोराउलउ—एह तीर्थ सिद्धान्त माहिं किहाइं न बोलियां, तु इम जाणिवउं एह तीर्थ न हुई । एह छत्रीसमु बोल ।

३७. सांत्रीसमुं बोल :

हवइ सांत्रीसमु बोल लिखीइ छइ । ठवणाहारि लाकड़ानुं, सूर्यकान्तिनु अकिखनु वराड़नु—एहनी प्रतिष्ठा करीनइ थापनाचार्य करी थापइ छइ । आचार्य ना गुण छत्रीस, अथवा वली ज्ञान दर्शन चारित्र तप । एहनु तु एकइ गुण ठवणहारि माहिं दीसतो नथी । जि वारइं न हतु प्रतिष्ठयउ तिवारइ जेहवुं हतु अनइ प्रतिष्ठिउ पणि तेहवु दीसइ छइ । ठवण हारि माहिं पहिलुं अनइ पछइ गुण दीसता नथी । थापनाचार्य थापीनइ तेह आगलि अनुष्ठान करइ छइ, खमासमण देइनइ वांछइ छइ, अनइ वली तेह जि ठवणहारीनइं पूठि देइनइ बइसइ छइं, तु ते आशातना नथी हती, तेहनइं पूठि देइनइं किम बइसइ ? एह तु विपरीत उपराहु दीसइ छइ । एह सांत्रीसमु बोल ।

३८. अठत्रीसमु बोल :

हवइ अठत्रीसमु बोल लिखीइ छइ । श्री अरिष्टनेमिनइ वारइ पांच पांडव हुआ इम कहइं छइं । पांडवइ शत्तुंजा ऊपरि उद्धार कराव्युं, प्रासाद प्रतिमा करावी, अनइ तेणइ जि वारइं—श्री थावच्चापुत्त अणगार १००० परिवार संघातिइं, शुक अणगार १००० परिवार संघातिइं, सेलग राजर्षि अणगार ५०० संघातिइं, अनइ

पांच पांडवना कुमर चारित्र लेइनइ सेत्रुंजा ऊपरि अरणसरण कीधां। भावपूजा न कीधी प्रतिमा आगलि तउ इम जाणीइ छइ—तेणइं वारइं प्रतिमा प्रासाद नुहता। अनइ वली इम कहइं छइं—"श्री आदिनाथ सेत्रुंजा ऊपरि पूर्व नवाणुं वार चडया।" तेह कीहा सिद्धान्त माहिं कहिआ छइं, ते देखाड़उ। एह अठत्रीसमु बोल।

३९. ओगुणच्चालीसमु बोल :

हवइ ओगुणच्चालीसमु बोल लिखीइ छइ। तथा इम कहइं छइं—"सेत्रुंजा ऊपरि घणा सीधा, तेह भणी तीर्थ कहीइ।" अनइ घणा सीधा भणी तीर्थ कहीइ तु अढ़ाइ द्वीप पीस्तालीस लाख योजणमाहिं तेह ठाम नथी, जेह वालाग्र ठाम थकी अनंता सीधा नथी। "जत्थ एगो सिद्धो, तत्थ अनंता सिद्धा। इम तु अढाइ द्वीप सवलुं तीर्थ जाणिवुं। सेत्रुंजउ तीर्थ किहां नथी कहिउ। एह ओगुणच्चालीसमु बोल।

४०. च्यालीसमु बोल :

हवइ च्यालीसमु बोल लिखीइ छइ। श्री भगवती माहिं श्री महावीरनइं श्री गौतमइं पूछिउं छइं—सनत्कुमार इन्द्र त्रीजा देवलोकनु "सणंकुमारे णं भंते देविन्दे देवराया किं भवसिद्धीए, अभवसिद्धीए, सम्मदिट्ठी, मिच्छदिट्ठी, परित्त-संसारी, अणंतसंसारी, सुलहबोही, दुलहबोही, आराहए, विराहए, चरिमे, अचरिमे?" गोयमा! सणंकुमारे भवसिद्धि, सम्मदिट्ठी, परित्तसंसारी, सुलहबोही, आराहए, चरमे। से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ? "गोयमा सणंकुमारे बहूणं समणाणं, बहूणं समणीणं, बहूणं सावयाणं, बहूणं सावियाणं हियकामए सुहकामए पत्थकामए आणु-कंपिए णिस्सेयसिए हियसुह अणुकंपिए णिस्सेसकामए, से तेणट्ठेणं गोयमा! सम्मदिट्ठी, भवसिद्धि, परित्तसंसारी, सुलहबोही, आराहए, चरमे।" श्री वीतरागे इम न कहिउं जे "प्रतिमा पूजतां जीव समकित लहइ।" अथवा केणइं लाधं हुइ तउ देखाड़। साधु चरित्रीयानां रूप देखी घणे जीवे समकित लाधां, अथवा पूर्वभवनां सम्यक्त्व उदय आव्यां परित्तसंसार कीधां, अथवा वली जीवना अनुकंपा थकी परित्तसंसार कीधां, ते जघन्यइं तउ अंतर्मुहूर्त्तमाहिं सीझइ। ते उत्कृष्टउ तउ अर्द्ध पुद्गल (परावर्त) माहिं सीझइ। हवइ प्रतिमा पूजतां कोणइं जीवइं सम्यक्त्व लाधउं, अथवा परित्तसंसार कीधु हुई, ते सिद्धान्तमाहिं देखाड़उ। एह च्यालीसमु बोल।

४१. एकतालीसमु बोल :

हवइ एकतालीसमु बोल लिखीइ छइ। श्री आचारांग मूलसूत्र माहिं साधु चारित्रीयानइं पांच महाव्रत कह्या छइं। एकेका व्रत नी पांच भावना बोली छइं। जिम आचारांग मांहि तिम श्री प्रश्नव्याकरण माहिं व्रताव्रतनी पांच भावना वोली छइं। अनइ श्री आचारांग निर्युक्ति अनइ वृत्तिमाहिं कहिउं जे "समकितनी भावना

भावीइ तेह भावना लिखीइ छइ—तीर्थकरनी जन्मभूमि चारित्रभूमि, ज्ञान उपजवानी भूमि निर्वाण मोक्ष गयानी भूमि, तथा वली देवलोक, तथा मेरु पर्वत तथा नंदीसरवरद्वीपादी, तथा शाश्वती प्रतिमा, तथा वली अष्टापद शत्रुंज गिरीनारि, तथा अहिछतायां श्री पार्श्वनाथनइं धरणेन्द्रनउ महिमा, एवं तथा पर्वतइं वयरस्वामिनां पगलां, श्री वर्द्धमाननी चमरेन्द्रइं निश्रा कीधी तेह ठामइं तीर्थ कह्यां, एतलां सघला तीर्थनी भावना भाविइ।" निर्युक्त माहिं वृत्तिमाहिं कहिउ, अनइ श्री आचारांगमाहिं नथी, तु श्री आचारांगनी निर्युक्ति वृत्तिमाहिं किहां थकी आव्यां ? इम कहइं छइं। निर्युक्ति—वृत्तिइं सूत्रना अर्थ कह्या छइं। आचारांगमाहिं एक कीहा आलावानउ अर्थ तेहमाहिं एतलां ठाम वंदनीक कहियां, अनइ श्री वीतरागइं गणधरइं तु न कहियां, जे जे प्रतिमा प्रासादना ठाम ते मूलसूत्रमाहिं किहां दीसता नथी। विवेकी हुइ ते विचारी जोज्यो। एह एकतालीसमु बोल।

४२. बइतालीसमु बोल :

हवइ बइतालीसमु बोल लिखीइ छइ। हवड़ांना श्रावकनइं परिग्रहप्रमाण दिई छई, तिहां एहवा नीम दिइं छइं—"प्रतिमा वांद्या पूज्या पाखइ जिमुं तु नीम भंगइं एकासणुं करूं। अथवा वली प्रतिमानइं वरस १ प्रतिइं आंगलूहणां ४ च्यारि, सूकाडि सेर ४ च्यारि, सोपारी सेर ४ च्यारि, दीवेल सेर १० दस, फूल लाख १, नवुं धान, नवुं फूल मुंडइ तु घालुं, जो प्रतिमा आगलि ढोयुं होइ।" एहवा नीम श्रावकनइं दिई छइं। अनइ श्री आणंद श्रावकतइं परिग्रहप्रमाणमाहिं प्रतिमानइ विहरइ एहवा नीम नहीं। तेह स्युं कारण ? तु इम जाणीइ छइ प्रतिमा वीतरागनइं मार्गइं नथी। जु श्री वीतरागनइं मार्गइं प्रतिमा हुइ तु आणंद श्रावकनइं एहवा नीम जोइइ। एह बइतालीसमु बोल।

४३. त्रेतालीसमु बोल :

हवइ त्रेतालीसमु बोल लिखीइ छइ। हवइं श्री भगवतीमाहि श्रावक कहिया छइं घणा, तेह श्रावकनइं स्या स्या आचारनुं करिवउं कहिउं छइ। तेह आलावओ लिखीइ छइ—"तेणं कालेणं तेणं समएणं तुंगिया णामं णयरी होत्था, वण्णओ, तीसे णं तुंगियाए नयरीए उत्तरपुरच्छिमे दिसिभागे पुप्फवइए णामं चेइए होत्था, वण्णओ, तत्थ णं तुंगियाए णयरीए बहवे समणेवासया परिवसंति, अड्ढा दित्ता, वित्थिण्णा, विपुलभवणसयणासणजाणवाहणाईण बहुधणबहुजातरूवरयता, आउगपउगसंपउत्ता, विच्छडिअविपुलभत्तपाणबहुदासीदास—गोमहिसगवेलयप्पभूता, बहुजणस्स अपरिभूता, अभिगतजीवाजीवा, उवलद्धपुण्णपावा आसवसंवरनिज्जरकिरियाहिकरणबंधमोक्खकुसला, असहेज्जदेवासुरणागपुवण्ण जक्खरक्खसकिंनरकिंपुरिसगरुलगंधवमहोरगादिएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणतिकमणिज्जा, णिग्गंथे पावयणे णिस्संकिया, णिक्कंखिया, णिव्वितिगिच्छा, लद्धट्ठा,

पांच पांडवना कुमर चारित्र लेइनइ सेत्रुंजा ऊपरि अणसण कीधां। भावपूजा न कीधी प्रतिमा आगलि तउ इम जाणीइ छइ—तेणइं वारइं प्रतिमा प्रासाद नुहता। अनइ वली इम कहइं छइं—"श्री आदिनाथ सेत्रुंजा ऊपरि पूर्व नवाणुं वार चडया।" तेह कीहा सिद्धान्त माहिं कहिआ छइं, ते देखाड़उ। एह अठत्रीसमु बोल।

३९. ओगुणच्चालीसमु बोल :

हवइ ओगुणच्चालीसमु बोल लिखीइ छइ। तथा इम कहइं छइं—"सेत्रुंजा ऊपरि घणा सीधा, तेह भणी तीर्थ कहीइ।" अनइ घणा सीधा भणी तीर्थ कहीइ तु अढ़ाइ द्वीप पीस्तालीस लाख योजणमाहिं तेह ठाम नथी, जेह वालाग्र ठाम थकी अनंता सीधा नथी। "जत्थ एगो सिद्धो, तत्थ अनंता सिद्धा। इम तु अढाइ द्वीप सघलुं तीर्थ जाणिवुं। सेत्रुंजउ तीर्थ किहां नथी कहिउ। एह ओगुणच्चालीसमु बोल।

४०. च्यालीसमु बोल :

हवइ च्यालीसमु बोल लिखीइ छइ। श्री भगवती माहिं श्री महावीरनइं श्री गौतमइं पूछिउं छइं—सनत्कुमार इन्द्र त्रीजा देवलोकनु "सणंकुमारे णं भंते देविन्दे देवराया किं भवसिद्धीए, अभवसिद्धीए, सम्मदिट्ठी, मिच्छदिट्ठी, परित्तसंसारी, अणंतसंसारी, सुलहबोही, दुलहबोही, आराहए, विराहए, चरिमे, अचरिमे?" गोयमा! सणंकुमारे भवसिद्धि, सम्मदिट्ठी, परित्तसंसारी, सुलहबोही, आराहए, चरमे। से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ? "गोयमा सणंकुमारे बहूणं समणाणं, बहूणं समणीणं, बहूणं सावयाणं, बहूणं सावियाणं हियकामए सुहकामए पत्थकामए आणुकंपिए णिस्सेयसिए हियसुह अणुकंपिए णिस्सेसकामए, से तेणट्ठेणं गोयमा! सम्मदिट्ठी, भवसिद्धि, परित्तसंसारी, सुलहबोही, आराहए, चरमे।" श्री वीतरागे इम न कहिउं जे "प्रतिमा पूजतां जीव समकित लहइ।" अथवा केणइं लाधं हुइ तउ देखाड़। साधु चरित्रीयानां रूप देखी घणे जीवे समकित लाधां, अथवा पूर्वभवनां सम्यक्त्व उदय आव्यां परित्तसंसार कीधां, अथवा वली जीवना अनुकंपा थकी परित्तसंसार कीधां, ते जघन्यइं तउ अंतर्मुहूर्त्तमाहिं सीझइ। ते उत्कृष्टउ तउ अर्द्ध पुद्गल (परावर्त) माहिं सीझइ। हवइ प्रतिमा पूजतां कोणइं जीवइं सम्यक्त्व लाधउं, अथवा परित्तसंसार कीधु हुई, ते सिद्धान्तमाहिं देखाड़उ। एह च्यालीसमु बोल।

४१. एकतालीसमु बोल :

हवइ एकतालीसमु बोल लिखीइ छइ। श्री आचारांग मूलसूत्र माहिं साधु चारित्रीयानइं पांच महाव्रत कह्या छइं। एकेका व्रत नी पांच भावना बोली छइं। जिम आचारांग मांहि तिम श्री प्रश्नव्याकरण माहिं व्रताव्रतनी पांच भावना बोली छइं। अनइ श्री आचारांग निर्युक्ति अनइ वृत्तिमाहिं कहिउं जे "समकितनी भावना

करइ छइ, अनइ साधु चारित्रीओ एणइं हिंसा करइ नहीं, करावइ नहीं, अनुमोदइ नहीं।" तु जोउनइं आवड़ी हिंसा लोक मोक्षनइं कारणइं कहइं छइं, ते केहनी देखाड़ी करइं छइं ? साधु तु देखाडइ नहीं। डाहा हुइ ते विचारी जोज्यो, एह पिस्तालीसमु बोल।

४६. छइतालीसमु बोल :

हवइ छइतालीसमु बोल लिखीइ छइ। तथा श्री आचारांग माहिं अध्ययन छठानइ उद्देसइ पांचमइ साधुनइ श्री वीतरागे इम कहिउं जे 'श्रोतारनइं एहवु उपदेश देजे', ते अधिकार लिखीइ छइ—"पाईणं पडीणं दाहिणं उदीचीनं, आइखे विभायदिके वेदवी से उट्ठिएसु अणुट्ठिएसु वा ससमाणे सुपवदेए संतिं विरतिं उवसमं णिव्वाणं सोयवियं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणइवत्तियं सव्वेसिं पाणीणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खेज्जा, अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खमाणे णो अत्ताए ण आसादेज्जा नो अन्नाइं पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं आसादेज्जा। "ए आलावानइं मेलइं साधु चारित्रीओ जिहां जाइ तिहां एकान्त दयामइ उपदेश दिइ। पणि हिंसानु उपदेश न दिइ। एह छइतालीसमु बोल।

४७. सत्तालीसमु बोल :

हवइ सत्तालीसमु बोल लिखीइ छइ। तथा श्री सिद्धान्त माहिं ठामि ठामि श्री जीवदया गाढ़ी सार प्रधान कही छइ, ते अधिकार लिखीइ छइ :—

एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया।
असंकियाइ संकंति, संकियाइ असंकिणे॥
धम्मपन्नवणा जा सा तं तु संकंति मूढ़गा।
आरंभाईण संकेंति, अवियत्ता अकोविया॥

—श्री सूयगडांगे, प्रथमाध्ययने द्वितीयोद्देसे।

जेवी रीते मृग पाश मां पड़े छे तेवी रीते केटलाक अनार्य मिथ्यादृष्टी श्रमण अशंकित जे धर्म ना अनुष्ठान, तेमां शंका करे छे अने हिंसादिक जे शंका ना स्थानो छे तेमां जरा पण शंका करता नथी। केटलाक मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमणो अज्ञान-वादी शंकावादी छे तेओ न शंका करवा योग्य वस्तुओ मां शंका करे छे अने शंका करवा योग्य वातो (मां) अशंकित रहे छे। आ मुग्ध विवेकविकल तथा अपंडित दशविध जतिधर्मनी प्ररूपणा करवा मां शंका करे छे अने आरम्भ आदि पाप ना कारण मां शंका करता नथी।

एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचणं।
अहिंसा समयं चेव, एतावंतं वियाणिया॥

गहिअट्ठा, पुच्छितट्ठा, अभिगतट्ठा, विणिच्छिअट्ठा, अट्ठिमिंजपेमाणरागरत्ता, अयमाउसो, निग्गंथे पावयणे अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे, उसियफलिहा अवगंतेउरपरिघप्पवेसा, बहूहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णिमासिणीसुपडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा, समणे णिग्गंथे फासुएसणिज्जेणं, असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपादपुंछणेणं, पीढ़फलगसिज्जासंथारएणं, ओसहभेसज्जेणं पड़िलाभेमाणा, अहापरिग्गहं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।" हवइ एह आलावामाहिं श्रावकनइं समकित कह्यं, व्रत कह्यां, पोसह लेता कह्या, साधुनइं आहारादिक देता कह्या, तु इहांइ श्रावकनइं श्री वीतरागइं इम कां न कहिउं जेह "प्रासाद कराव्या, अनइ प्रतिमा भरावी, अनइ प्रतिमा पूजी।" तु इम जाणज्यो जे वीतरागइं गणधरनइ वचनइं तु प्रासाद प्रतिमा नथी। जु हुती तु एह श्रावकना आलावामाहिं कहुत। एह त्रेतालीसमु बोल।

४४. च्युमालीसमु बोल :

हवइं च्युमालीसमु बोल लिखीइ छइ। हवइं श्रावकनइं एहवी मनसा करवी कही छइ, ठाणांग मध्ये, ते आलावु लिखीइ छइ—"तिहिं ठाणेहिं समणोवासए महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवति। तं जहा—कया णं अप्पं वा बहुं वा परिग्गहं परिच्चइस्सामि? कया णं अहं मुंडेभवित्ता आगाराओ अणगारिअं पव्वइस्सामि? कया णं अहं अपच्छिममारणंतियसंलेहणा झूसणाजूसित्तभत्तपाणपडियाइक्खिते पाओवगए कालं अणवकंखमाणे विहरिस्सामि? एवं समणसा सवयसा सकायसा जागरमाणे समणोवासए महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवति।" श्रावकनइं श्री वीतरागइं एहवी मनसा श्री ठाणांगमाहिं कहीं। पणि इम न कहिउं—"प्रासाद प्रतिमा सेत्तुंज गिरिनार यात्रा करवी"—एहवी मनसा किहां सूत्रमाहिं करवी न कही। एह च्युमालीसमु बोल।

४५. पिस्तालीसमु बोल :

हवइ पिस्तालीसमु बोल लिखइ छइ। श्री आचारांग ना बीजा अध्ययनइं बीजइ उद्देसइ श्री वीतरागे इम कहिउं, जे लोकइ एतलइ कारणइं आरम्भ करइ, अनइ साधु चारित्रीउ तु एतलइ कारणइं आरंभ करइ नहीं, करावइ नहीं, अनुमोदइ नहीं, ते अधिकार लिखीइ छइ—"एत्थ सत्थे पुणो पुणो से आयबले से नायबले से मित्तबले से पेच्चबले से देवबले से रायबले से चोरबले से अतिथिबले से किविणबले से समणबले—इच्चेइएहिं तिहिं विरूवरूवकज्जेहिं दंडसमायाणं सपेहाए भया कज्जति पावमोक्खोत्ति मन्नमाणे, अदुवा आसंसाए। तं परिन्नाय मेहावी णेव सयं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभेज्जा, णेव अन्नं च एतेहिं एतेहिं कज्जेहिं दंडं समारंभावेज्जा, एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभंतेवि ण च अण्णे समणुजाणेज्जा। एस मग्गे आयरिएहिं पवेदिते, जहेत्थ कुसले णो वा लुप्पिज्जासित्ति बेमि।" ए आलावा माहिं इम कह्यं जे—"लोक संसारनइं हेतुइं हिंसा करइ छइ, अनइ मोक्षनइं हेतुइं पणि हिंसा

जुवाणगा–मज्झिम–थेरगा य,
चयंति ते आउखए पलीणा ।।

— श्री सूयगडांग सातमइ अध्ययनइ ।

पुढ़वि आउ अगणि वाउ, तणरुक्खस्स बीअगा,
अंडया पोयया जराउ, रससंसेतउब्भिआ ।
एएहिं छहिं काएहिं, तविज्जं परिजाणिया,
मणसा कायवक्केणं, णारंभी ण परिग्गही ।।
तत्थिमा तत्तिआ भासा जं वदित्ताणुतप्पति,
जं छन्नं तं न वत्तव्वं, एसा आणा नियंठिया ।।

— श्री सूयगडांगे नूमइ अध्ययनइं ।

पुढवी जीवा पुढ़ो सत्ता, आउजीवा तहाएगणी ।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खस्स बीयगा ।।
अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया ।
इत्तावए व जीवकाए, नावरे विज्जइ काए ।।
सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मयमं पड़िलेहिया ।
सव्वे अक्कंतदुक्खायं, अतो सव्वे अहिंसया ।।
उड्ढं अहे अ तिरिअं य, जे केइ तसथावरा ।
सव्वत्थ वि तहिं कुज्जा, संतिनिव्वाणमीहियं ।।
हणंतं नाणुजाणेज्जा, आयगुत्ते जिइंदिए ।
ठाणाइ संति सड्ढीणं, गामेसु नगरेसु वा ।।
तहा गिरं समारब्भ, अत्थि पुण्णंति णो वए ।
अहवा नत्थि पुण्णंति, एवमेयं महब्भयं ।।
दाणट्ठयाय जे पाणा, हम्मंति तसथावरा ।
तेसिं सारक्खणट्ठाए तम्हा अत्थित्ति नो वए ।।
जेसि तं उवकप्पंति, अन्नपाणं तहाविहं ।
तेसिं लाभंतरायंति तम्हा णत्थित्ति नो वए ।।
जे अ दाणं पसंसंति, वहमिच्छंति पाणिणं ।
जे अ णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेअं करंति ते ।।
दुहओ वि ते ण भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ।
आयं रयस्स हेव्वाणं, निव्वाणं पाउणंति ते ।।

— श्री सूयगडांग इग्यारमा अध्ययन मध्ये ।

— श्री सूयगडांग मध्ये प्रथमाध्ययने चतुर्थोद्देशके ।

पाणाइवाए वट्टंता, मुसावाए असंजया,
अदिन्नादाणे वट्टंता, मेहुणे य परिग्गहे ।
एवमेगे उ पासत्था, पन्नवंति अणारिया,
इत्थीवसं गया बाला, जिणसासण परंमुहा ।।

— श्री सूयगडांगे तृतीयाध्ययने चतुर्थोद्देशके ।

एताणि सोच्चा णरगाणि धीरे,
न हिंसए किंचण सव्वलोए ।
एगंतदिट्टी अपरिग्गहे उ,
बुज्झेज्ज लोगस्स वसं न गच्छे ।।

— श्री सूयगडांगे निरयविभत्ती बीउद्देसए ।

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं,
सव्वेसु वा अणवज्जं वयंति ।
तवेसु वा उत्तम बंभचेरं,
लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते ।।

— श्री सूयगडांगे छकइ अध्ययने ।

पुढ़वी य आऊ अगणीय वाउ,
तण रुक्ख बीआ य तसा य पाणा ।
जे अंडया जे अ जरा उपाणा,
संसेयया जे अ सयाभिहाणा ।।
एयाइं कायाइं पवेदियाइं,
एआसु जाणे पडिलेह सायं ।
एएण काएण य आयदंडे,
एएसु आविप्परियामुविंति ।।
जातिं च वुड्ढिं च विणसयंते,
वीयाइं अस्संजय आयदंडे ।
अहाउसे लोए अणज्जधम्मे,
बीयाय जे हिंसति आयसाते ।।

— श्री सूयगडांग अध्ययन ७ मध्ये ।

गब्भाइ भिज्जंति बुआ बुवाणा,
णरा परे पंचसिहा कुमारा ।

अत्ताए कम्मं पकरेंति । तिहिं ठाणेहिं जीवा सुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति, तं जहा—णो पाणे अइवाइत्ता, णो मुसं वइत्ता भवति, तहारूवं समणं वा माहणं वा वंदित्ता, नमंसित्ता, सक्कारित्ता, सम्माणित्ता कल्लाणं मंगलं देवयं चेइअं पज्जुवासेत्ता मणुन्नेणं पीतिकरेणं, असणं वा पाणं वा खाइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता भवति । इच्चेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा सुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति । इति श्री ठाणांग त्रीजइ ठाणइ, एह ओगुणपंचासमु बोल ।

५०. पंचासमु बोल :—

हवइ पंचासमु बोल लिखीइ छइ । तथा जीव शातावेदनी अशातावेदनी बांधइ, ते उपरि लिखीइ छइ—"अत्थि णं भंते जीवाणं सातावेदणिज्जा कम्मा कज्जंति । हंता अत्थि, कहएणं भंते जीवाणं सातावेदणिज्जा कम्मा कज्जंति । गोयमा ! पाणाणुकंपयाए, भूताणुकंपयाए, जीवाणुकंपयाए, सत्ताणुकंपयाए, बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए, असोययणयाए, अजुरणयाए, अतिप्पणयाए, अपिट्टणताए, अपरितावणेताए, एवं खलु गोयमा जीवाणं सातावेयणिज्जाणं, कम्मा कज्जंति । एवं णेरतियाणं वि, एवं जाव वेमाणियाणं । अत्थि णं भंते जीवाणं असातावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति । हंता अत्थि । कहएणं भंते जीवा असायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति । गोयमा ! परदुक्खणयाए, परसोयणयाए, परझूरणियाए, परतिप्पणताए, परपिट्टणताए, परपरितावणताए, बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खणयाए, भोयणताए, जाव परितावणयाए । एवं खलु गोयमा ! जीवाणं अस्सायावेयणिज्जाणं कम्मा कज्जंति । एवं णेरइयाणं वि, एवं जाव वेमाणियाणं ।" इति श्री भगवती शतक सातमइ । एह पंचासमु बोल ।

५१. एकावन्नमु बोल :—

हवइ एकावन्नमु बोल लिखीइ छइ । तथा जीवनाद तथा भोगोपभोगादि जीव वेऐ पणि अजीव न वेए, ते उपरि लिखीइ छइ—"रूवी भंते कामा, अरूवी कामा । गोयमा ! रूवी कामा णो अरूवी कामा । सचित्ता णं कामा । गोयमा ! सचित्ता वि कामा अचिता वि कामा । जीवा भंते कामा, अजीवा भंते कामा ? गोयमा ! जीवा वि कामा, अजीवा वि कामा । जीवाणं कामा ! अजीवाणं कामा, णो अजीवाणं कामा । कतिविहाणं भंते कामा पन्नत्ता ? गोयमा ! दुविहा कामा पण्णत्ता, तं जहा—सद्दा य रूवा य । रूवि भंते भोगा, अरूवि भोगा ? गोयमा ! रूवि भोगा णो अरूवि भोगा । सच्चित्ता भंते भोगा, अच्चित्ता भोगा ? गोयमा ! सच्चिता वि भोगा, अच्चिता वि भोगा । जीवा भंते भोगा, अजीवा भोगा ? गोयमा ! जीवा वि भोगा, अजीवा वि भोगा । जीवाणं भंते भोगा, अजीवाणं भोगा ? गोयमा ! जीवाणं भोगा, णो अजीवाणं भोगा । कतिविहा णं भंते भोगा पण्णत्ता ? गोयमा ! तिविहा भोगा पन्नत्ता, तं जहा—गंधा, रसा, फासा । कतिविहा णं भंते कामभोगा

ते णेव कुव्वंति ण कारवंति भूताहिंसं काए दुगंछमाणो ।
सया जणा विप्पणमंतिधीरा, विनत्ति धीरा य हवंति एगे ।।

डहरे य पाणे वड्ढे अ पाणे, ते आयउ पासंति सव्वलोए ।
उवहेती लोगमिणं महंतं, बुद्धप्पमत्तेसु परिव्वएज्जा ।।

— श्री सूयगडांग अध्ययन बारमइ ।

छटउं अहे अ तिरिअं दिसासु, तसा य जे (थावरा) अ पाणा ।
सदा जए तेसु परिव्वएज्जा, मणप्पओसं अविकंपमाणे ।।

— श्री सूयगडांग अध्ययन चउदमइ ।

भूएहिं न विरुब्भेज्जा, एस धम्मे बुसीमउ ।
साहू जगपरिन्नाय अस्सिं जीवितभावणा ।।

— श्री सूयगडांग अध्ययन पनरमइ ।

एह सत्तालीसमु बोल ।

४८. अडतालीसमु बोल :

हवइ अडतालीसमु बोल लिखीइ । तथा आरंभ अनइ परिग्रह निरता न जाणइं, एतावता पाडुआ जाणइ, तिहां लगइ धर्म न लहइ—ते लिखीइ छइ—"दो ठाणाइं अपरियाणित्ता आया णो केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, तं जहा—आरंभे चेव परिग्गहे चेव । दो ठाणाइं अपरियाणित्ता आया णो केवलबोधिं छुब्भेजा—आरंभे चेव परिग्गहे चेव ।" इति श्री ठाणांगे बीजइ ठाणइ । एह अड़तालीसमु बोल ।

४९. ओगुणपंचासमु बोल :

हवइ ओगुणपंचासमु बोल लिखीइ छइ । तथा एहइं अल्प आउखुं बांधइ, तथा दीर्घ आउखुं बांधइ—"तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउत्ताए कम्मं पकरेंति । तं जहा—पाणे अइवाइत्ता, मुसं वइत्ता, तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेत्ती भवंति । इच्चेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउअत्ताए कम्मं पकरेंति । तिहिं ठाणेहिं जीवा दीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति, तण्णो पाणे अइवाइत्ता भवंति, णो मुसं वइत्ता भवंति, तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभित्ता भवति । तेहिं ठाणेहिं जीवा दीहाउअत्ताए कम्मं पकरेंति । तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभदीहाउअत्ताए कम्मं पकरेंति, तं जहा—पाणे अइवाइत्ता भवति, मुसं वइत्ता भवति, तहारूवं समणं वा माहणं वा हीलित्ता निंदित्ता, खिसित्ता, गरहित्ता, अवमण्णित्ता, अन्नयरेणं अमणन्नेणं अप्पीति कारणेणं असणं वा पडिलाभित्ता भवति इच्चेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभदीहाउ-

श्री महावीरइं सोमिल ब्राह्मणनइं जे यात्रा कही ते लिखीइ छइ—"कहएणं भंते ! जत्ता ? सोमिला ! जं मे तवनियमसंजमसज्झायजूसणावस्सगसमाहीएसु जोगेसु जयणा, से त्तं जत्ता ।" इति श्री भगवतीशतक १८ उद्देसु दसमु ।

श्री थावच्चापुत्त अणगारइं जे यात्रा कही, ते लिखोइ छइ—"तएणं से सुए थावच्चापुत्तं एवं वयासी—किं भंते जत्ता ? सुआ ! जएणं मम नाणदंसणचरित्त-तवसंजममाइएहिं जोएहिं जयणा से तं जत्ता ।" इति श्री ज्ञाताधर्मकथांगे अध्ययन पांचमइ । एह त्रेपनमु बोल ।

५४. चउपनमु बोल :

हवइ चउपनमु बोल लिखीइ छइ । तथा फूल माहिं जे जीव श्री वीतरागे कहिआ ते लिखीइ छइ :—

पुप्फा जल्या य थलया, वेंटवद्धा य णालवद्धा य ।
संखेज्जमसंखेज्जा, बोधव्वणंतजीवा य ।।
जे केइ नालिआवद्धा, पुप्फा संखेज्जजीवआ भणिआ ।
निहुआ अणंत जीवा, जे अ वणे तहापिहा ।।
पुप्फफलं कालिगं, तुंबं तंत सेलवालुकं ।
धोसालयं पंडोल, लिडूअं चेव तेरूसं ।।
बिटं मंसं कड़ाए, एयाइं हवंति एगजीवस्स ।
पत्तेअं पत्तीइस, केसर सरमकमिजा ।।

एह चउपनमु बोल । (सारांश—आगम के इन उल्लेखों के अनुसार फूल में जीव हैं अतः फूलों से निरंजन निराकार जिनेन्द्र देव की पूजा करने से पाप लगता है।)

५५. पंचावनमु बोल :

हवइ पंचावनमु बोल लिखीइ छइ । तथा केतला एक इम कहइं छइं—धर्म कर्त्तव्य कीधुं घटइ नहीं, ते ऊपर लिखीइ छइ—"तएणं थावच्चापुत्ते सुदंसणं एव वयासी—तुज्झ एणं सुदंसणा ! किं मूलए धम्मे पण्णत्ते ?" अम्हाणं देवाणुप्पिआ सोअमूल धम्मे पण्णत्ते, जाव सग्गं गच्छंति ।" तए णं थावच्चापुत्ते सुदंसणं तं एवं वयासी—"सुदंसणा ! से जहाणामए केइ पुरिसे एगं मह रुहिरकयं वत्थं रुहिरेण चेव धोवेज्जा, तए णं सुदंसणा ! तस्स रुहिरकयस्स वत्थस्स रुहिरेण चेव पक्खालिज्ज-माणस्स अत्थि कायसोही ?" "णो तिणट्ठे समट्ठे ।" "एवमेव सुदंसणा ! तुज्झं पि पाणातिवाएणं जाव मिच्छादंसणसल्लेणं नत्थि सोही । जहा तस्स रुहिरकयस्स वत्थस्स रुहिरेण चेव पक्खालिज्जमाणस्स णत्थि सोही ।" इति श्रीज्ञाताधर्मकथांगे पंचमाध्ययने ।

पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा कामभोगा पन्नत्ता, तं जहा—सद्दा, रूवा, रसा, गंधा, फासा।" इति श्री भगवती सातमा शतकनउ सातमु उद्देसउ। एह एकावन्नमु बोल।[1]

५२. बावन्नमु बोल :

हवइ बावन्नमु बोल लिखीइ छइ। तथा केवली जेहवी भाषा बोलइ, ते लिखीइ छइ—"रायगिहे जाव एवं वदासि, अन्नउत्थियाणं भंते एवं श्राइक्खंति, जाव परूवेंति, एवं खलु केवली जक्खाएसेणं आतिक्खति, एवं खलु केवलीजक्खाएसेणं आतिट्ठे समाणे आहच्च दो भासाओ भासति, तं० मोसं वा सच्चामोसं वा। से कहमेग्रं भंते ? एवं गोयमा ! जएणं ते अण्णउत्थिया जाव जे ते एवमाहंसु मिच्छं ते एवमाहंसु। ग्रहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि—नो खलु केवली जक्खाएसेणं आदिस्संति, नो खलु केवली जक्खाएसेणं आतिट्ठे समाणे आहच्च दो भासाओ भासंति। तं. मोसं वा, सच्चामोसं वा। केवली णं ग्रसावज्जाओ अपरोवधाइआओ आहच्च दो भासाओ भासंति, सच्चं वा असच्चाहमोसं वा।" इति श्री भगवती अढारमा शतकनुं सातमा उद्देसानइ विषइ। एह बावनमुं बोल।

(सारांश—केवली भगवान् ऐसी निष्पाप और निरवद्य भाषा बोलते हैं, जिससे किसी भी प्राणी का उपघात न हो। इस प्रकार की दशा में निरवद्य उपदेश देने वाले वीतराग देव प्रतिमा, प्रासाद, पूजा जैसे पापकारी उपदेश दें, इस प्रकार की कभी कल्पना तक नहीं की जा सकती।)

५३. त्रेपनमु बोल :

हवइ त्रेपनमु बोल लिखीइ छइ। तथा श्री वीतरागइं जे तीर्थ कहिउं, तथा जे आलम्बन कहिया तथा यात्रा कही ते लिखीइ छइ—"तित्थं भंति ! तित्थं, तित्थंकरे तित्थं।" गोयमा ! अरहा ताव निअमा तित्थंकरे, तित्थं पुण चाउवण्णो संघो, तं जहा—समणाग्रो, समणीओ, सावयाओ सावियाग्रो।" इति श्री भगवती वीसमा शतक मां ग्राठमा उद्देशानइ विषइ।"

धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पन्नत्ता, तं जहा—वायणा, पड़िपुच्छणा, परियट्टणा, धम्मकहा। इति श्री भगवती शतक २५, उद्देसु सातमु ते विषइ।

---

१. (लोंकाशाह का इस बोल से अभिप्राय यह है कि जीव भोगी होता है, न कि अजीव। यह आगम वचन भगवती सूत्र में स्पष्टतः प्रतिपादित है। इस प्रकार की दशा में प्रतिमा क्यों कि ग्रजीव है ग्रतः उसको उद्दिष्ट कर जो भोग धरे जाते हैं, वह भोग धरने की प्रक्रिया शास्त्रविरुद्ध है)।

तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियग्गामं नयरे होत्था। तस्स जं वाणियग्गाम-नगरस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए दूतिपलासे णामं उज्जाणे होत्था। तस्स णं दूइपलासे सुहम्मस्स जक्खस्स जक्खाययणे होत्था।" इति श्रीविपाके द्वितीयाध्ययने।

तेणं कालेणं तेणं समएणं पुरिमताले णामं णगरे होत्था, जाव पच्छिम दिसी एत्थ णं अम्हेहिं दंसी उज्जाणे, तत्थ अम्हाहि दंसिस्स जक्खाययणे होत्था॥" इति श्री विपाके तृतीयाध्ययने।

तेणं कालेणं तेणं समएणं साहंजणी णामं णयरे होत्था। रिद्धित्थिमिता। तीसे णं साहंजणी वहिग्रा उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए देवरमणे णामं उज्जाणे होत्था। तत्थ णं आमाहत्थस्स जक्खस्स जक्खाययणे होत्था।" इति श्री विपाके चतुर्थाध्ययने।

"तेणं कालेणं तेणं समएणं कोसंबी णाम णयरी होत्था, रिद्धित्थिमिता बाहिं चंदोत्तरणा सितभद्दे जक्खे। तत्थ णं कोसंबीणयरीए।" इति श्री विपाके पंचमाध्ययने।

तेणं कालेणं तेणं समएणं महुरा णगरी भंडीरे उज्जाणे, सुदरिसणे जक्खे।" इति श्री विपाके षष्ठाध्ययने।

"तेणं कालेणं तेणं समएणं पाडलिणाम णगरे वणसंड उज्जाणे, उंबर जक्खे।" इति श्रीविपाके सप्तमाध्ययने।

"तेणं कालेणं तेणं समएणं सोरियपुरं णगरं। सोरियवडसंगउज्जाणं सोरिअ जक्खो।" इति श्री विपाके अष्टमाध्ययने।

"तेणं कालेणं तेणं समएणं रोहिए णामं णगरे होत्था। रिद्धित्थिमिता। पुढवीवडीसए उज्जाणे, धरणजक्खो।" इति श्रीविपाके नवमाध्ययने।

"तेणं कालेणं तेणं समएणं वद्धमाणपुरं णगरं होत्था, विजयवद्धमाणे उज्जाणे, पुण्णभद्दो जक्खो।" इति श्री विपाके दशमाध्ययने। "तस्स णं हत्थी-सासगस्स बहिआ उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए पुप्फकरंडए णामं उज्जाणे होत्था। तत्थ णं करंतवणमालपियस्स जक्खाययणे होत्था।" इति श्री विपाकमध्ये, श्रुतस्कन्ध २, अध्ययन १।

"तेणं कालेणं तेणं समएणं उसभणगरे थूभकरंडगे उज्जाणे धरणो जक्खो।" इति श्री विपाके प्रथमाध्ययने। सोगंधिग्रा णगरी, नीलासोग उज्जाणे, सुकोसलो जक्खो।" इति श्री विपाक मध्ये।

"तए णं मल्ली वि चोक्खं परिव्वाइयं एवं वयासी—"तुब्भए णं चोक्खि ! किं मूल धम्मे पण्णत्ते ?" तए णं सा चोक्खि परिव्वाइआ मल्लिं वि एवं वयासी "अम्हाणं, देवाणुप्पिए ! सोअमूलधम्मे पन्नत्ते । जए णं अम्हं किंचि असुइ भवइ, तए णं उदगेण मट्टियाए जाव अविग्घेणं सिग्धं गच्छामो ।" तए णं मल्ली वि चोक्खं परिवायगं एवं वयासी—"चोक्खं ! से जहाणामए केइ पुरिसे रुहिरकय वत्थं रुहिरेण चेव धोवेज्जा । अत्थि णं चोक्खी ! तस्स रुहिरकयस्स वत्थस्स रुहिरेण धोवमाणस्स काइ सोही ?" "णो इणट्ठे समट्ठे ।" एवमेव चोक्खी ! तुब्भएणं पाणाइवाएणं जाव मिच्छादंसणसल्लेणं णत्थि काय सोहि ।" इति श्री ज्ञाताधर्मकथांगे, अध्ययन आठमइ । एह पंचावनमु बोल ।

५६. छप्पनमु बोल :

हवइ छप्पनमु बोल लिखीइ छइ । तथा श्री सिद्धान्त माहिं घणे ठामइ यक्षनां देहरां दीसइ छइ । तेह माहिं केतलाएक लिखीइ छइ—"तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा णाम नगरी होत्था । वण्णओ, तीसे चंपाए णगरीए बहिआ उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए पुण्णभद्दे णामं चेइए होत्था, चिरातीए, पुव्वपुरिस पण्णत्ते, पोराणे, सद्दिए, वित्तिए णाए, सच्छत्ते, सज्झए सघंटे, सपडागाइपडागमंडिते, सलोमहत्थए, कयवेयड्ढए, लाउल्लोइयमहिते, गोसीसरसरत्तचंदणदद्दरदिएणपंचंगुलितले, उवचिअवंदणकलसे चंदणघडसुकयतोरेणे, पड़िदुवार देसभागे, आसत्तोंसत्तविउलवट्टवग्घारिअमल्लदामकलावे, पंचविहसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिते, कालागरुपवरकुंदुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुआभिरामे, सुगंधवरगंधगंधिए, गंधवट्टिभूते, णडनट्टगजल्लमल्लमट्ठिअवेलंबकपवगकहलासकआइक्खकलंबमंखतूणइल्लतुंबवीणिअभुअगमागरुपरिगते, बहुजणवणस्सविसयकित्तीए. बहुजणस्सलंआहंस्सआहुणिज्जे, अवणिज्जे, वंदणिज्जे, पूअणिज्जे, सक्कारणिज्जे, संमाणणिज्जे, कल्लाणं, मंगलं, देवयं चेइअं विणएणं पज्जुवासणिज्जे, दिव्वे सव्वे सव्वोवाए, अणिहिअवा डिहेरे आगसहस्सभागपडिच्छिए बहुजणो अच्छेइ ।" इति श्री उववाइ उपांगे ।

"रायगिहे णामं णगरे होत्था, वण्णओ, तस्स णं रायगिहस्स णगरस्स बहिआ उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए गुणसिलए चेइए होत्था ।" इति श्री भगवती मध्ये ।

"तस्स णं उज्जाणस्स बहुमज्झदेसभाए सुरप्पिए णामं जक्खायणे होत्था, दिव्वे, वण्णओ, तत्थ णं बारवतीए णयरीए ।" इति श्री ज्ञाताधर्म कथांगे ५ अध्ययने ।

"तेणं कालेणं तेणं समएणं मियागामे णामं णयरे होत्था, वण्णओ, तस्स मियागामस्स मियागामणगरस्स बहिआ उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए चंदपादवे णामं उज्जाणे होत्था, सव्वो अ वण्णओ । तस्म णं सुहम्मस्स जक्खस्स जक्खायणे होत्था । चिरातीए जहा पुण्णभद्दे ।" इति श्री विपाक प्रथमाध्ययने ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियग्गामं नयरे होत्था । तस्स जं वाणियग्राम-नगरस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए दूतिपलासे णामं उज्जाणे होत्था । तस्स णं दूइपलासे सुहम्मस्स जक्खस्स जक्खाययणे होत्था ।" इति श्रीविपाके द्वितीयाध्ययने ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं पुरिमताले णामं णगरे होत्था, जाव पच्छिम दिसी एत्थ णं अम्हेहिं दंसी उज्जाणे, तत्थ अम्हाहि दंसिस्स जक्खाययणे होत्था ।।" इति श्री विपाके तृतीयाध्ययने ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं साहंजणी णामं णयरे होत्था । रिद्धित्थिमिता । तीसे णं साहंजणी बहिआ उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए देवरमणे णामं उज्जाणे होत्था । तत्थ णं आमाहत्थस्स जक्खस्स जक्खाययणे होत्था ।" इति श्री विपाके चतुर्थाध्ययने ।

"तेणं कालेणं तेणं समएणं कोसंवी णाम णयरी होत्था, रिद्धित्थिमिता बाहिं चंदोत्तरणा सितभद्दे जक्खे । तत्थ णं कोसंबीणयरीए ।" इति श्री विपाके पंचमाध्ययने ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं महुरा णगरी भंडीरे उज्जाणे, सुदरिसणे जक्खे ।" इति श्री विपाके षष्ठाध्ययने ।

"तेणं कालेणं तेणं समएणं पाडलिणाम णगरे वणसंड उज्जाणे, उंबर जक्खे ।" इति श्रीविपाके सप्तमाध्ययने ।

"तेणं कालेणं तेणं समएणं सोरियपुरं णगरं । सोरियवडसंगउज्जाणं सोरिअ जक्खो ।" इति श्री विपाके अष्टमाध्ययने ।

"तेणं कालेणं तेणं समएणं रोहिए णामं णगरे होत्था । रिद्धित्थिमिता । पुढवीवडीसए उज्जाणे, धरणजक्खो ।" इति श्रीविपाके नवमाध्ययने ।

"तेणं कालेणं तेणं समएणं वद्धमाणपुरं णगरं होत्था, विजयवद्धमाणे उज्जाणे, पुण्णभद्दो जक्खो ।" इति श्री विपाके दशमाध्ययने । "तस्स णं हत्थीसासगस्स बहिआ उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए पुप्फकरंडए णामं उज्जाणे होत्था । तत्थ णं करंतवणमालपियस्स जक्खाययणे होत्था ।" इति श्री विपाकमध्ये, श्रुतस्कन्ध २, अध्ययन १ ।

"तेणं कालेणं तेणं समएणं उसभणगरे थूभकरंडगे उज्जाणे धरणो जक्खो ।" इति श्री विपाके प्रथमाध्ययने । सोगंधिआ णगरी, नीलासोग उज्जाणे, सुकोसलो जक्खो ।" इति श्री विपाक मध्ये ।

"तेणं कालेणं तेणं समएणं कणगपुरं णगरं, सेताउग्र उज्जाणे, वीरभद्दो जक्खो।" इति श्री विपाक मध्ये।

"सुघोसं णगरं, देवरमणं उज्जाणं, वीरसेणो जक्खो।" इति श्री विपाक मध्ये "तेणं कालेणं तेणं समएणं साएयं (साकेतं) णगरे होत्था, उत्तरकुरु उज्जाणे पासमिग्र (पार्श्वमृग) जक्खो।" इति श्री विपाक मध्ये।

एह छप्पनमु बोल। (सारांश—आगमों में स्थान-स्थान पर विभिन्न नगरों के भिन्न-भिन्न यक्षायतनों का उल्लेख है, जिनमें श्रमण भ० महावीर विराजे। इसके विपरीत किसी भी आगम में किसी एक भी जिनमन्दिर का उल्लेख नहीं है। इससे यह शाश्वत सत्य के समान, सूर्य चन्द्र के समान परम प्रामाणिक एवं निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में आर्यधरा में कहीं किसी भी स्थान पर तीर्थंकरों के मन्दिरों का अस्तित्व तक नहीं था। यदि एक भी जिनमन्दिर का भ० महावीर के समय में अस्तित्व होता तो प्रभु वीर उसमें अवश्य विराजमान होते और आगम में यक्षायतनों के समान ही जिनमन्दिरों का भी विस्तारपूर्वक स्पष्टतः स्थान-स्थान पर उल्लेख होता।)

५७. सतावनमु बोल :

हवइ सत्तावनमु बोल लिखीइ छइ। तथा केतला एक इम कहइं छइं जे—"अम्हारइं वृत्ति, टीका, चूर्णि, निर्युक्ति भाष्य सहू प्रमाण।" ते डाहु हुई ते विचारी जोज्यो। जे श्रीसिद्धान्तनइं मिलइ, ते प्रमाण। अनइ जे सिद्धान्त विरुद्ध हुइ ते किम प्रमाण थाइ? वृत्ति टीका मांहि एहवा अधिकार छइं, ते लिखीइ छइं जे—"साधु चरित्रीओ चक्रवर्ति नां कटक चूर्ण करइ।" उत्तराध्ययन नी वृत्ति चूर्णि मध्ये।

"तथा चारित्रीओ पंचक मांहिं काल करइ तु डाभना पूतलां करवां कह्या छइं, ते लिखीइ छइ—"दुन्नि अ दिवड्ढखित्ते दब्भमया पुत्तला या कायव्वा। समखित्तंमि अ इक्को, अवड्ढ अभिइ न कायव्वो।" आवश्यकनिर्युक्ति परिठावणिया समिति मांहिं तथा वृहत्कल्प नी वृत्ति मध्ये पणि पूत्तलां करवां कह्या।

"तथा देहरामाहिं थी कोलीआवडां ना घर, मिथा भमरभमरी ना घर साधु चारित्रीउ आपणा हाथइ परिहार करइ। न करइ तु तेह साधुनइं प्रायश्चित्त आवई।" वृहत्कल्प मध्ये।

"तथा चूर्णि वृत्ति मध्ये कुसील सेववा साधुनइं कह्या छइं। तथा साधुनइ षासड़ा (जूते) पहिरवां तथा पान खावां तथा फल केला आदि देइनइ वृक्ष थी चुंटी खावां वोल्यां छइ। तथा चारित्रीआ नइं रात्रि आहार लेवुं कहिउं छइ, ते लिखीइ छइ—"इयाणि कप्पिआ भणत्ति, अणाभोग दारगाहा—अणाभोगेण वा राइभत्तं भुंजेज्जा, गिलाणकारणेण वा, अद्धापड़िसेवणेण वा दुल्लभदव्व **वा ठता** (?) वा

उत्तमट्ठंपडिवण्णो राइभत्तं भुंजेज्जा। ऊसकालं वा गच्छाणुकंपयाए वा राइभत्ताणुन्ना, सुत्तत्थविसारए वा राइभत्ताणुन्नाए संखेवत्थो।" इदानीं एकैकस्य द्वारस्य विस्तरेण व्याख्या क्रियते।...." निशीथचूर्णि मध्ये।

तथा अनंतकायनुं डांडउ लेवउ कहिउ छइ, ते अधिकार लिखीइ छइ—"गिलाणो वालो व उवही वा, अद्धाणे तुब्भंति, सावयभए निवारणट्ठा घेप्पंति उवहिं सरीराणं वहणट्ठा, पडिणीयगसाणमादीणणिवारणट्ठा पुव्विं अचित्तं, पच्छा मीसं से परित्ताणं, पुष्पं पुव्वं परितं जाव पच्छा अनंत....।" तथा एतला बोल आदइं देइ घणां वोल वृत्ति चूर्णि माहिं सूत्रविरुद्ध दीसइं छइं, ते वृत्ति चूर्णि किम माइ? डाहु हुइ ते विचारी जो ज्यो, एह सत्तावनमु बोल।

५८. अट्ठावनमु बोल :

हवइ अट्ठावनमु बोल लिखीइ छइ। तथा जे अनंता मोक्ष पुहता, वर्तमान कालइ जे मोक्ष पुहचइं छइं अनइ अनागत कालइं अनंता मोक्ष पुहचस्यइं ते श्री वीतरागइं इणी परिइं मोक्ष कही, ते लिखीइ छइ :—

अतविंसु वि भिक्खवो, आएसा वि भवंति सुवत्ताए।
एयाइं गुणाइं आहुतेका, सा तवस्स अणधम्मयारिणो।।

तिविहेण वि पाण माहणे, आयहिए अनियाण संवुडे।
एवं सिद्धा अणंतसो, संपइ जे अणागयावरे।।

इति श्री सूअगडांग, बीजा अध्ययननी विषइ त्रीजा उद्देशउ, तेहनी विषइ। जीवदयाइं करी मोक्ष पुहता। एह अट्ठावनमु बोल।

इति लुंका ना सद्दहिआ अनइ लुकाना करिया अट्ठावन बोलो अनइ तेहनु विचार लिखीउ छइ, शुभं भवतु समणसंघाय, श्री।

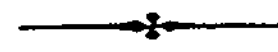
परम्परा

हवे परम्परा लखीए छीए। केटलाक एम कहे छे के वीर प्रभुए आ रीते परंपरा कही छे। श्री लोंकाशाह प्रश्न करे छे के आ परम्परा कयां शास्त्रो मां कही छे ते बतावो।

१. घरि प्रतिमा घड़ावी मंडावइ छइ ते केहनी परम्परा थइ?
२. नान्हा छोकरनइं दीक्षा दिइ छइ, ते केहनी परम्परा थइ?
३. नाम (दीक्षा काले) फेरवइ छइ, ते केहनी परम्परा छइ?
४. कान वधारइ छइ, ते केहनी परम्परा छइ?
५. खमासमासणु विहरइ छइ ते केहनी परम्परा छइ?

६. गृहस्थ नी घरइ बइसि विहरइ छइ, ते केहनी परम्परा छइ ?
७. दीहाड़ी दीहाड़ी (प्रतिदिन) तेणइ (उसी एक) घरिं विहरइ ते केहनी परम्परा छइ ?
८. अंधोल (स्नान) कहइ (कोई) करइ, ते केहनी परम्परा छइ ?
९. ज्योतिषनइ मर्म प्रजुंजइ छइ, ते केहनी परम्परा छइ ?
१०. कलवाणी करी आपइ छइ, ते केहनी परम्परा ?
११. नगर माहिं पइसता पइं सारु साहमुं करावइ छइ, ते केहनी परम्परा छइ।
१२. लाडूआ प्रतिष्ठइ छइ, ते केहनी परम्परा छइ ?
१३. पोथी पूजावइ छइ, ते केहनी परम्परा छइ ?
१४. संघपूजा करवइ, ते केहनी परम्परा ?
१५. प्रतिष्ठा करइ छइ, ते केहनी परम्परा छइ ?
१६. पजूसणइं पोथी आपइ छइ, ते केहनी परम्परा ?
१७. तथा यात्रा वेचइ छइ, ते केहनी परम्परा छइ ?
१८. तथा मात्र आपइ छइ, ते केहनी परम्परा छइ ?
१९. तथा घाटड़ी दोनुं तोरण (वनस्पति के तोरण) वांधइ छइ, ते केहनी परम्परा ?
२०. आधाकर्म पोसालिं रहइ छइ, ते केहनी परम्परा ?
२१. सिद्धान्त प्रभावना पाषइ न वांचइ, ते केहनी परम्परा छइ ?
२२. मांडवी करावइ छइ, ते केहनी परम्परा छइ ?
२३. गौतम पड़घो करावइ छइ, ते केहनी परम्परा ?
२४. संसारतारण करावइ छइ, ते केहनी परम्परा ?
२५. चंदनबालानुं तप करावइ छइ, ते केहनी परम्परा ?
२६. सोना रूपानी नीसरणी करावइ छइ, ते केहनी परम्परा ?
२७. लाखापड़वि करावइ छइ, ते केहनी परम्परा ?
२८. ऊंजमणा ढोवरावइ छइ, ते केहनी परम्परा ?
२९. पूज पूढाइ छइ, ते केहनी परम्परा ?
३०. आसोवृक्ष भरावइ छइ, ते केहनी परम्परा ?
३१. अट्ठोत्तरी सनात्र करावि छइ, ते केहनी परम्परा ?
३२. नवा धान नवा फल प्रतिमा आगलि ढोइ छइ, ते केहनी परम्परा ?
३३. श्रावक-श्राविकानइ माथइ वास घालइ छइ, ते केहनी परम्परा ?

३४. परिग्रह ढूंढमां बांधइ छइ, ते केहनी परम्परा छइ ?
३५. श्रावक पाई मूंडकुं अपावी डूंगर चढावइ छइ, ते केहनी परम्परा ?
३६. मालारोपण करइ छइ, ते केहनी परम्परा छइ ?
३७. पदीक श्रावक श्राविकासुं भेली जाइं छइं, ते केहनी परम्परा ?
३८. नांदि मंडावइ छइ, ते केहनी परम्परा छइ ?
३९. पदीक चांक वांधइ छइ, ते केहनी परम्परा छइ ?
४०. पाणिमाहिं भूंका मुकइ छइ, ते केहनी परम्परा छइ ?
४१. वांदणा दिरावइ छइ, ते केहनी परम्परा छइ ?
४२. ओघा फेरवइ छइ, ते केहनी परम्परा छइ ?
४३. देवद्रव्य राखइ छइ, ते केहनी परम्परा ?
४४. पगइ लागइ नीची पछेड़ी ओढइ छइ, ते केहनी परम्परा छइ ?
४५. सूरिमंत्र लेइई छइ, ते केहनी परम्परा ?
४६ दीहाड़ी सूरिमंत्र गणइ छइ, ते केहनी परम्परा ?
४७. कलपड़ा थटइ छइं, ते केहनी परम्परा छइ ऊजला ?
४८. पजूसणमाहिं बइरकन्हइ तप करावइ छइ, ते केहनी परम्परा ?
४९. घड़ूला करावइ छइ, ते केहनी परम्परा ?
५०. आंबिल नी ओली सिद्धचक्र नी करावइ छइ, ते केहनी परम्परा ?
५१. महात्मा काल करा पछी ते ऊठमणुं करइ छइ, ते केहनी परम्परा ?
५२. प्रतिमा भूलणं करावइ छइ, ते केहनी परम्परा छइ ?
५३. पदीक आगलि ऊंबणी मांडइ छइ, ते केहनी परम्परा ?
५४. पजूसण पर्वनइ चउथनइं पड़िकमइ छइं, ते केहनी परम्परा ?[1]



---

१. (क) श्री दलसुख भाई मालवणिया का "श्री लोंकाशाहनी एक कृति" शीर्षक लेख, "स्वाध्याय" त्रैमासिक. दीपोत्सवी, वि. सं. २०२० के अंक में प्रकाशित ।
(ख) "धर्म प्राण श्री लोंकाशाहना अट्ठावन बोल" विवेचन श्री भगवानजी रतनशी वारीआ, बी. ए. एल-एल. बी , निवृत्त डिस्ट्रिक्ट एण्ड सेशन्स जज ।
प्रकाशक—भगवानजी रतनसी वारीआ, लालबाग, जामनगर ।

"लूंकाए पूछेल १३ प्रश्न अने तेना उत्तरो"[1]

।।६०।। "ओऽम् नमो अरिहंताणं" श्री वीतराग, श्री गणधर, श्री साधु चारित्रिया संसार मांहि सार पदार्थ छइ। एहज वीतरागादिक गृहवासि हुइं अनइ षट्काय नइ आरंभि वर्त्तइं तिवारइं वंदनीय नहीं तउ प्रतिमा अजीव—अचेतन अनई तिहां षट्काय नइ आरंभ वर्त्तइ छइ, ते वंदनीय किम हुई ? (प्रश्न सं० १)

तथा तीर्थंकर, गणधर, साधु एहनी भक्ति आरंभि न थाई तउ अजीव नी भक्ति किम थाई ? (प्रश्न सं० २)

तथा गुण वंदनीक के आकार वन्दनीक ? जइ गुण वन्दनीक तउ प्रतिमां मांहि केहवउं गुण छइ, अनइ जइ आकार वंदनीक तउ आवड़ा पुरुष आकारवंत छइ, ते वंदनीक किम नहीं ? (प्रश्न सं० ३)

प्रतिमां मांहि केही अवस्था छइ, जइ गृही नी तउ साधु नइ वंदनीय नहीं, अनइ यति नी तउ यती नउ चिन्ह दीसतउ नथी, जइ यती नी जाणउ तउ फूल, पाणी, दीवा इम का करउ ? (प्रश्न सं० ४)

तथा देव मोटा के गुरु मोटा ? जइ देव नइं फूल चढ़इ तउ गुरु नइं स्युइ न चढ़ावउ ? जइ जाणउ गुरु महाव्रती तउ देव स्यउं अविरती छइ ? (प्रश्न सं० ५)

तथा केतला एक श्रावक पाहिइं प्रतिमा पुजावइ छइं पूजणार धर्म जाणी पूजइ छइ, यति स्युइ न पूजइ, धर्म तउ यतीइं पुण करिवउ ? तउ केतला एक कहिस्यइं—जे यती विरती छइं पण जो वउनइं (उसे) पाप करिवानउ नीम छइ पणि कर्क करवानउ नीम नथी, डीलइ स्युइ नहीं पूजइ ? (प्रश्न सं० ७)

तथा प्रतिमा ना वांदणार प्रतिमा नइ वांदइ तिवारइं वंदना केहनइ करइ छइ ? जइ इम कहइ जे वे प्रतिमानइ वांदउं छउं, तउ वीतराग अलगा रह्या, वंदाणा नहीं, अनइ इम कहइ जे ए वंदना वीतराग नइं तउ प्रतिमा अलगी रही। अनइ जइ इम कहइ एहज वीतराग—जू जूआ नहीं (दोनों जुदा अर्थात् पृथक् नहीं) तउ अजीव सन्ना थाइ अनइं जीव एक समइ बि (बे) किरिया तउ न देयइ। (प्रश्न सं० ८)

तथा एतला एक ना देव-गुरु-धर्म सारंभी, सपरिग्रही छइ, अनइ केतला एक ना देव-गुरु-धर्म्म निरारम्भी, निःपरिग्रही छइं विचारी जोज्यो जी ।। (प्रश्न सं० ९)

तथा केतला एक इम कहइ छइं जो अवनउ नइं (उन्हें अथवा किसी को) पूतली दीखइ—राग उपजइ, तउ प्रतिमा दीठइ विराग स्युइ न उपजइ ? तेहना उत्तर—को एक अनार्य पुरुष नइ प्रहार मूंकइ तउ पाप लागइ तउ तेहनइं वांद्यइ धर्म्म स्युइ न लागइ ? तथा वेटा वोसिराव्या न हुइं तउ तेहनउं कीधउ पाप वाप

1. पासचन्द गच्छ के संस्थापक श्री मड्डाहडपुरीय तपागच्छाधिराज श्री पार्श्वचन्द्र सूरीन्द्रेण विरचिता चर्चा।

नइ लागइ पणि बेटा नउ कीधउ धर्म स्युइ न लागइ। तथा केतला एक इम कहइ छांण नउ स्याहीस (श्याह अहीश—काला सांप) कीधउ होइ अनइं भांजियइ तउ पाप, तउ तेहनइं वांद्यइ तथा दूध पायइ तथा वीसामण कीधइ धर्म्म स्युइ नहीं ? (प्रश्न सं० १०)

तथा केतला एक इम कहइ छइं अम्हारइ प्रतिमां नइं पूजतां हिंसा ते अहिंसा। तउ रेवती नउ पाक श्री वीतरागइं स्युइ नीं लीधउ, आधाकर्मिक आहार स्युइ न ल्यइ ? जे फूल, पाणी नी भक्ति ते वाह्य वस्तु छइ अनइ लाडूआ जलेबी आदि देइं श्री वीतराग, गणधर, साधुनइ काजइं करइ तउ एतउ अंतरंग भक्ति छइ, आगलि वली धर्म नी वृद्धि घणी थाइ, विचारीजो ज्यो जी। (प्रश्न सं० ११)

तथा वली कोई एक गछी नां वांणिज नउ नीम (नियम) नव भंगीइं ल्यइ अनइ गछी ना वणिज नउ लाभ बीजानइ देखाड़इ तउ तेहना नीम भाजइ, तउ जो अउनइं जेणइं पंच महाव्रत ऊचर्या होइ ते सावद्य करणी मांहि लाभ देखाड़इ तउ तेहना व्रत ठामि किम रहई ? विचरी जो ज्यो जी। (प्रश्न सं० १२)

तया श्री अरिहंत नी स्थापनां मांहि श्री अरिहंत ना गुण नथी, अनइ गुरु नी स्थापना मांहि गुरु ना गुण नथी। केतला एक इम कहइं छइं—जे गुण तउ स्थापना मांहि नहीं पणि आपणउ भाव भेलियउइ तउ वंदनीय थाइ तउ हवइ जो वउनइं (उसे) गुण विना देव नी गुरु नी स्थापना मांहि आपणइं भावि घाल्यइ गरज सरइ तउ बाप नीमानी (बीय नीमानी—अन्य नियमों की) तथा रूपा, सोना, जवाहर, गुल, खांड, साकर प्रमुख आपणइ भावि घाल्यइ गरज स्युइ न सरइं ? आगिली वस्तु मांहि पितादिक (पीतादिकए) नउ गुण नथी अनइ आपणइ भावि भेल्यइ गरज स्युइ नस्सरइ ? डाह्या होइ तउ विचारीजो ज्यो जी—तउ देव नी, गुरु नी गरज किम सरइ ? एतावता गुण विना गरज न सरइ। वंदनीक ज्ञान, दर्शन, चारित्र सही जाणो। (प्रश्न सं० १३)

इन १३ प्रश्नों के लेखन के पश्चात् इनके उत्तर लिखे गये हैं और अन्त में प्रशस्ति के रूप में जो उल्लेख है, वह निम्न प्रकार है :—

"प्रश्न १३ लूंके पूछ्या, तेहना उत्तर सूत्र साखिइं श्री पासचंदि सूरिइं दीधा छइं, छः शुभं भवतु, श्रीमद्दहीपुरीय (नागोरी) वृहत्तपागच्छाधिराज श्रो पार्श्वचंद्र सूरीन्द्रेण विरचिता चर्चा समाप्ता छः। यह प्रति कुल १० पत्रों की है, जिसके १९ पृष्ठों में यह लिखी गई है, प्रथम मुख पृष्ठ पर केवल इतना ही लिखा है : "लूंकाए" पूछेल १३ प्रश्न न उत्तरो।"

लालभाई दलपतभाई इण्डियोलोजिकल इन्स्टीट्यूट, अहमदावाद के पुस्तक भण्डार में यह प्रति पुस्तक संख्या २४४६६ पर विद्यमान है। उसकी फोटोस्टेट कापी—"आचार्यश्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, लालभवन, जयपुर में विद्यमान है।



अनागमिक मान्यताओं के प्रति चतुर्विध संघ की आस्थाएं हिल उठीं

आगमों के आधार पर लोंकाशाह ने जो इस प्रकार की अभिनव धर्मक्रान्ति का सूत्रपात किया था वह स्वल्पकाल में ही लोकप्रिय हो गई। लोंकाशाह के उपदेशों को सुनने के लिए मुमुक्षु भव्य जैनधर्मावलम्बियों के विशाल समूह उद्वेलित सागर की भांति दिशाओं-विदिशाओं से उमड़ने लगे। धर्म के विशुद्ध स्वरूप पर एकादशांगी के मूल पाठों, उद्धरणों के साथ पूर्ण प्रकाश डालने वाले लोंकाशाह के उपदेशों को सुनकर श्रोताओं के अन्तर्चक्षु उन्मीलित हो उठे। उनके मन, मस्तिष्क एवं हृदयपटल पर शिथिलाचारग्रस्त द्रव्य परम्पराओं के कर्णधारों द्वारा अपनी-अपनी कपोलकल्पनाओं द्वारा प्रचलित—प्रसारित अनागमिक आडम्बरपूर्ण भांति-भांति की भौतिक मान्यताओं का जो घना कोहरा छा दिया गया था, वह लोंकाशाह द्वारा आगमिक ज्ञान से उद्योतित कोटि-कोटि सूर्य समप्रभ आध्यात्मिक आलोक के प्रसृत होते ही कर्पूरवत् उड़ने लगा। आगमों के अवगाहनानन्तर लोंकाशाह द्वारा प्रचारित एवं प्रसारित किये गये जैनागमों के निचोड़—निष्कर्ष के रूप में जैन धर्म और श्रमणाचार के विशुद्ध स्वरूप पर पूर्ण प्रकाश डालने वाले १३ प्रश्नों, ५८ बोलों, ३४ बोलों तथा "केहनी परम्परा" के शीर्ष वाले प्रश्नों आदि साहित्य का तो जैनधर्मावलम्बी जन-जन पर ऐसा चमत्कारी प्रभाव पड़ा कि न केवल श्रावक-श्राविका वर्ग ने ही अपितु हर्षकीर्ति जैसे आत्मार्थी श्रमणों तक ने विपुल परिग्रह संचित करने में अहर्निश निरत द्रव्य परम्पराओं के शिथिलाचारी कर्णधारों के विरुद्ध, उनकी अनागमिक मान्यताओं के विरुद्ध खुला विरोध करना और अपनी उन शिथिलाचारी परम्पराओं का परित्याग कर महान् धर्मक्रान्ति के सूत्रधार लोंकाशाह द्वारा प्रकाश में लाये गये विशुद्ध आगमिक मुक्तिपथ का डंके की चोट की भांति प्रचार-प्रसार करना प्रारम्भ कर दिया।

इस प्रकार लोंकाशाह द्वारा प्रारम्भ की गई आगमानुसारिणी अभिनव धर्मक्रान्ति का ऐसा, चमत्कारकारी प्रभाव पड़ा कि द्रव्य परम्पराओं के शताब्दियों से सुदृढ़ एवं सशक्त बने गढ़ ढहने लगे, श्रमणाचार एवं धर्म के विशुद्ध स्वरूप पर शिथिलाचारग्रस्त द्रव्य परम्पराओं के नायकों द्वारा डाले गये, आच्छादित किये गये अनागमिक आडम्बरपूर्ण आवरणों के अम्बार प्रबल-प्रचण्ड झंझावात में उड़ती हुई आक की रूई के समान ओर-छोर-विहीन अन्तरिक्ष में उड़ने लगे। वहीवटों, आडम्बरपूर्ण विधि-विधानों, अनागमिक कर्मकाण्डों, मन्त्र-तन्त्र-मुहूर्तकथन, भविष्यकथन, औषधोपचार के माध्यम से द्रव्य परम्पराओं को जो विपुल अर्थ की आय होती थी, वे आय के स्रोत अवरुद्ध होने लगे। शिथिलाचार में ग्रस्त द्रव्यपरम्पराओं के नामधारी श्रमणों के प्रति शनैः शनैः श्रावक-श्राविका वर्ग की श्रद्धा-आस्था घटने एवं अनास्था बढ़ने लगी। अभिनव धर्मक्रान्ति के सूत्रधार लोंकाशाह के उपदेशों, प्रश्नों, आगमिक

बोलों आदि साहित्य के कारण ही अपनी पूजा-प्रतिष्ठा एवं आय पर वज्राघात हुआ है और उत्तरोत्तर होता ही चला जा रहा है, इस विचार से द्रव्य परम्पराओं के कर्णधार तिलमिला उठे और लोंकाशाह को वे अपने प्राणापहारी शत्रु से भी अति भयंकर शत्रु समझकर लोंकाशाह के विरुद्ध अनेक प्रकार के षड्यन्त्र रचने लगे। लोंकाशाह के विरुद्ध अनर्गल प्रलाप, प्रचार-प्रसार करने में शिथिलाचारियों ने किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी। तत्कालीन द्रव्य परम्पराओं के आचार्यों एवं श्रमणों द्वारा लोंकाशाह के विरुद्ध जो साहित्य निर्मित किया गया, उसको यदि एकत्र किया जाय तो एक बड़ा अम्बार लग सकता है। लोंकाशाह की आलोचनार्थ निर्मित किये गये तत्कालीन द्रव्य परम्पराओं के अग्रगण्य विद्वानों के साहित्य की भाषा के स्तर को देखकर—पढ़कर तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह भाषा किसी जैन की नहीं अपितु किसी हीनतम म्लेच्छ की ही होगी। लोंकाशाह की आलोचना में प्रयुक्त की गई इस प्रकार की हीन स्तर की भाषा के अगणित शर्मनाक उदाहरणों में से एक उदाहरण यहां "ढुंढकरास" नामक कृति के सारांश के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है :—

ढूंढकरास (असत् कल्पना)

७ दोहों का सार :—म्लेच्छ देश में किसी कुलगांव में निर्धन लोग रहते थे। सब दरिद्र, उनमें दरिद्रों का एक सरदार रहता था। उसकी व्यभिचारिणी स्त्री की कूंख (कुक्षि) में कोई अपुण्य उत्पन्न हुआ। मां ने रात्रि में स्वप्न देखे, जो आगे बताये जाते हैं।

ढाल १ का सार : प्रथम स्वप्न—गधा नयन में लूंण (नमक) डाले देखा। दूसरे स्वप्न में बिल्ली, तीसरे स्वप्न में कुत्ता, चतुर्थ स्वप्न में जरख पर बैठी डाकण (डाकिनी), पांचवें स्वप्न में बल्लरमाला, छठे में फूटा हुआ कुंड, सातवें में खयुओ (खद्योत) उड़ता-पड़ता, आठवें स्वप्न में लटकती हुई लंगोट, नौवें स्वप्न में राख से भरा फूटा गागर, दसवें स्वप्न में अलेख कादव (कर्दम) वाला नाड, ग्यारहवें स्वप्न में लूंण का आगर, बारहवें स्वप्न में नारकी का मन्दिर, तेरहवें स्वप्न में कांकरा अगणित और चौदहवें स्वप्न में धुंआं रो गोट। ये चौदह स्वप्न देखकर धणी (पति) से बोली। पाठक बुलाये, थावरिया (शनिश्चर का पुजारी) आया और बोला—"तुम्हारे बेटा होगा पर धटा (धृष्ट) और सब को अनिष्टकारी होगा। कपटी, क्रोधी होगा। सुनकर चिंतित हुए। पाठक को बिना दान, दिये अपमान कर निकाल दिया। दोहले में राख के ढिगले........।

ढाल दो से चार तक का सारांश—सं० १६८७ के अधिक मास की अमावश को चित्रा नक्षत्र और थावर वार में जन्म हुआ। पड़े हुए ढूंढे में जन्मने से ढूंढा नाम दिया। बड़ा हुआ, घर-घर भीख मांगने को जावे पर कोई कुक्कस भी नहीं देता। तब

चिंतित हो माथ मुंडाने की सोची, नाई के घर जा माथा मुंडाया। कुम्हार के यहां गया और झोली पात्र लेकर वहां से फिरने लगा। एक दिन गांव के मन्दिर में गया। ५ रात वहां रहा। एक दिन बाधा–पीड़ा से पीड़ित हुआ, वमन करने को उठा, बाहर जाकर वमन किया, जरा साता हुई। पीछे आते समय थांबे से माथा टकराया। इससे ढूंढे का मन क्रोधित हुआ। जिनवर के वैर से वह नास्तिक हो गया। लोगों को उपदेश देता कि देहरा न मानो, देहरा जाना पाप है, आदि। धर्म चलाने को वह गुरु के पास गया, पगे लगा और खड़ा रहा। गुरु के पूछने पर कुमति बोला—"वीर के पट्टधर श्री सुधर्मा के शिष्य जम्बू जैसे हम जग में हैं, हमारे जैसा कोई नहीं परन्तु धर्म का मूल हम नहीं जानते। इस युग में तुम ज्ञानी हो, इस वास्ते धर्म बताओ, मैं इसीलिये आया हूं।"

गुरु बोले—"जिनपूजा, सद्गुरु की सेवा और जिन-आगम शुद्ध अर्थ, यही धर्म का मूल है। यह सुन कर कुमति के मन झाल-झाल उठ गई। उल्लू रवितेज को न सहे, वैसे ही कुमति जिनप्रतिमा को नहीं सहे। कुमति बोला—"गुरु! पत्थर-पूजन से क्या सिद्धि होगी ? पत्थर-दल एकेन्द्रिय है, उसको पूजे कौन मुक्ति गया ? सुन कर गुरु ने शिर धुना। मधुर वचन से बोले—"अजाण! प्रतिमा क्यों नहीं मानता ? जिनदर्शन विना सब क्रिया व्यर्थ है। "गुरु ने समझाया पर कुमति ने वैर नहीं छोड़ा।..........."

श्रमण भ० महावीर ने तीर्थप्रवर्तन काल में अपने प्रवचनों में और उनके प्रमुख शिष्य गणधरों ने प्रभु के प्रवचनों के आधार पर गुम्फित—दृब्ध द्वादशांगी प्रभृति पवित्र आगमों में धर्म और श्रमणाचार का किस प्रकार का स्वरूप संसार के प्राणिमात्र के कल्याण के लिये प्रकट–प्ररूपित अथवा प्रदर्शित किया, केवल एक इसी तथ्य को लोंकाशाह ने अपने उपदेशों एवं ५८ बोलों आदि साहित्य में, मुमुक्षुओं के समक्ष रखा। द्रव्य परम्पराओं के कर्णधारों की दृष्टि में इस प्रकार का तथ्य प्रकाशन लोंकाशाह का अक्षम्य घोर अपराध था। लोंकाशाह द्वारा किये गये इस प्रकार के तथ्य प्रकटन से निहितस्वर्थ स्वेच्छाचारी शिथिलाचारपरायण अनागमिक द्रव्य परम्पराओं के कर्णधारों के आय के स्रोत अवरुद्ध हो गये और द्रव्य परम्पराओं के उन कर्णधारों अथवा अनुयायियों ने लोंकाशाह को अपना प्राणापहारी शत्रु समझ करके न केवल लोंकाशाह के विरुद्ध ही अपितु उनके माता-पिता के विरुद्ध भी उपरिलिखित रूप में अनर्गल प्रलाप कर विषवमन करना प्रारम्भ कर दिया। लोंकाशाह की आलोचना एवं निन्दा के लक्ष्य से समय-समय पर निर्मित अपनी शताधिक रचनाओं में शिथिलाचारोन्मुखी अनागमिक द्रव्य परम्पराओं के नायकों ने लोंकाशाह के एकमात्र आगमनिष्ठ पवित्र जीवन को, उनके आगमों पर आधारित पुनीत उपदेशों और आगमों में प्रतिपादित तथ्यों को प्रकाश में लाने वाली उनकी रचनाओं को विवादास्पद बनाने और विकृत स्वरूप प्रदान करने के अनेक प्रयास किये। इस प्रकार के कलुषित लक्ष्य से निर्मित उन द्रव्य परम्पराओं के विद्वानों अथवा

रचनाकारों की रचनाओं में से कतिपय रचनाओं में "ढुंढकरास" में प्रयुक्त अशिष्ट–असभ्य गर्हास्पद भाषा से भी अत्यधिक निकृष्ट अनार्योचित भाषा का प्रयोग किया गया है। सबसे बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि उन द्रव्य परम्पराओं के विद्वानों द्वारा निर्मित साहित्य में यह स्पष्ट उल्लेख है कि विक्रम की १५वीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी के नौवें दशक के प्रारम्भकाल तक साधु समुदाय में शिथिलाचार घर किये रहा। यथा

"५५–पणवण्णोत्ति, श्रीसुमतिसाधुसूरिपट्टे पंचपंचाशत्तमः श्री हेमविमलसूरि, यः क्रियाशिथिलसमुदाये वर्तमानोऽपि साध्वाचारानतिक्रान्त...........।

न च तेषां क्रियाशिथिलसाधुसमुदायावस्थाने चारित्रं न संभवतीति शंकनीयं, एवं सत्यपि गणाधिपतेश्चारित्रसंभवात् ।"[1]

"५६–तत्पट्टे श्री आणंदविमलसूरिः .... ।

"तथा यो भगवान् क्रियाशिथिलवहुयतिजनपरिकरितोऽपि संवेगरंगभावितमातः.... ....।"[2]

"आनन्दविमलसूरि ने श्री राजविजयसूरि को कहा—तुम विद्वान् हो इसलिये हम तुम्हारे पास आये हैं, लुंकामति जिनशासन का लोप कर रहे हैं, मेरा आयुष्य तो अब परिमित है, परन्तु तुम दोनों योग्य हो, विद्वान् हो और परिग्रह सम्बन्धी मोह छोड़ कर वहीवट की वहियां जल में घोल दी हैं, सवा मन सोने की मूर्ति अन्धकूप में डाल दी है, सवा पाव सेर मोतियों का चूरा करवा के फेंक दिया है, दूसरा भी सभी प्रकार का परिग्रह छोड़ दिया है।"[3]

इस प्रकार उस समय शिथिलाचार के गहन गर्त में फंसी परम्पराओं के विद्वानों ने तत्कालीन साधुसमुदाय में व्याप्त जिस शिथिलाचार का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है, उसी शिथिलाचार के सम्बन्ध में जनमत को जागृत करने, शिथिलाचार को समाप्त कर विशुद्ध श्रमणाचार की पुनः प्रतिष्ठापना करने और धर्म के विशुद्ध आगमिक स्वरूप को पुनः प्रकाश में लाने के उद्देश्य से लोंकाशाह ने आगमों के आधार पर उपदेश देना, अभिनव धर्मक्रान्ति का सूत्रपात करना प्रारम्भ किया तो द्रव्य परम्पराएं चौंकीं। तपागच्छ के ही एक विद्वान् पट्टावलीकार द्वारा तपागच्छ के ५६वें पट्टधर श्री आनन्दविमलसूरि के समय में एक प्रकार से सम्पूर्ण श्रमण वर्ग में व्याप्त घोर शिथिलाचार और प्रायः सभी परम्पराओं के आचार्यों–श्रमणों द्वारा वही वट के माध्यम से, अपने-अपने श्रमणोपासकों के घर से प्रतिवर्ष एवं पुत्रजन्म, विवाह

१. पट्टावली समुच्चय भाग १, मुनि दर्शनविजयजी, पृ० ६८
२. वही ....पृ० ६६
३. पट्टावली परागसंग्रह, पृष्ठ १८२, ८३ (पं० श्री कल्याणविजयजी)

आदि गृहस्थ जीवन के प्रत्येक हर्षप्रद प्रसंग पर निर्धारित धनराशि उगाहने अथवा भेंट स्वरूप स्वीकार करने आदि श्रमण जीवन के लिये अक्षम्य अपराध स्वरूप दूषित हीनाचार का स्पष्ट शब्दों में विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है :—

"५६ तत्पट्टे श्री आणंदविमलसूरि सम्वत् १५७० वर्षे सूरिपदं। प्रथम शथलाचारी—पाटन मध्ये सर्व गच्छ शथलाचारी वीयावट्ट आजीविका करे, पाटन मध्ये पंच गच्छ आचार्य, ते समें श्रावकें विनती करी—गच्छ त्यागो (वोसरावो), क्रिया उद्धार करो। ते समये लुंको श्रावक अरटवाड़ा नो ते आनन्दविमलसूरि (एकपातरियागच्छ की पट्टावली के अनुसार पूनमियांगच्छ के आनन्दविमलसूरि) पासे अठावीस सूत्र भण्यो। पछें पोतानी मेलें दीक्षा लीधी। सर्व देशे लुंकागच्छ प्रवर्ताव्यो। जिनबिम्ब जल, पृथ्वी मय भंडार्या, सर्व ढुंढक थयो। तिवारे पाटण ने श्रावकें, आनन्दविमलसूरियें क्रिया उद्धार कीधो।........गुरुभाई ने वीयावट नव (६) कुल दीधां। बीजां कुल पूनमियां, खरतरा सर्वे जांच्या, तेहने दीधां। बीजा सर्व जल मध्ये घोल्यां। ....पछें आगरा मध्ये श्रावक, ३६०० (छत्तीस सैं) घर लुंका कीधा। इग्यारसें देहरा, जिनप्रतिमा भुय (भंवारा) मध्ये भंडारी छें। हलाबोल ढुंढक थयो। पछें श्री पूज्य आगरें गया। छट्ठ अट्ठम पारणें। एक बडेरो श्रावक लुंके दीक्षा लीधी, हानऋख्य, वानऋख्य ३०० ठाणां संघाते रहे छें। ....श्रीपूज्य छट्ठ ने पारणें तेहने घरें, राख डोसीइं वोहरावी, छास मध्ये भेली पारणों कीधुं।"

साम्प्रदायिक व्यामोह एवं विद्वेष के वशीभूत हो उस समय के साधु अपने से भिन्न सम्प्रदाय अथवा गच्छ के साधुओं की हत्या करवा देने जैसे अमानवीय जघन्य दुष्कृत्यों को करने में भी तत्पर रहते थे, इस प्रकार का उल्लेख करते हुए तपागच्छ के विद्वान् पट्टावलीकार ने इसी पट्टावली में आगे लिखा है :—

"पछें श्रीपूज्य विहार करता देस प्रतिबोधतां त्रम्बावती नगरी पधार्या। तिहां खरतरगच्छें श्रीपूज्य नीं महिमा देखी रगतियो मूक्युं। दिन प्रतें साधु मरण पामें। ठाणुं डेढ़ सौ मरण पाम्यां।........"[1]

खरतरगच्छ के किसी कर्णधार द्वारा ५०० तपागच्छीय साधुओं की हत्या करवा दिये जाने का उल्लेख पंन्यास श्री कल्याणविजयजी महाराज द्वारा संपादित, ई० सन् १९४० में प्रकाशित तपागच्छ पट्टावली की पृष्ठ सं २०९ पर भी विद्यमान है, जो इस प्रकार है :—

"दिवसे-दिवसे गच्छ-ममत्व वधतुं जतुं हतुं। खरतर तेमज तपागच्छना साधुओ वच्चे कदाग्रह वधी पड्यो हतो अने येन केन प्रकारेण एक वीजा अन्य

१. तपागच्छ की हस्तलिखित पट्टावली, जिसकी फोटोप्रति आचार्यश्री विनयचन्द्र ज्ञान भंडार में हस्तलिखित पत्रों की क्रम सं० ४०० पर विद्यमान है।

गच्छीय साधुओनो पराभव करवामां रत रहेता। कहेवाय छे के आ ममत्वे एवुं जोर पकड्युं के तेना मदमां कार्याकार्यनुं पण भान न रह्यु। खरतरगच्छीय साधुओए भैरवनी आराधना करी तेना द्वारा तपागच्छीय लगभग ५०० साधुओनो संहार कराव्यो। आ निर्दय समाचार सांभलतांज आणंदविमलसूरिजीनुं मन खिन्न बन्युं।"[१]

इस प्रकार उस समय शिथिलाचार के गहन गर्त में फंसी-धंसी परम्पराओं के विद्वानों ने तत्कालीन साधु समुदाय में व्याप्त जिस घोर शिथिलाचार का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है, उसी शिथिलाचार के उन्मूलन हेतु जनमत को जागृत करने, विशुद्ध श्रमणाचार की पुनः प्रतिष्ठापना करने और धर्म के विशुद्ध आगमिक स्वरूप को पुनः उजागर कर प्रकाश में लाने के सदुद्देश्य से लोंकाशाह ने आगमों के आधार पर उपदेश देना, गहन-गम्भीर आगमिक तथ्यों से ओतप्रोत ५८ बोलों, प्रश्नों आदि सत्साहित्य के माध्यम से अभिनव धर्मक्रान्ति का सूत्रपात कर उसे सफल एवं देशव्यापी बनाने का अभियान प्रारम्भ किया तो द्रव्य परम्पराओं के तन-मन में उनके प्रति विद्वेषाग्नि भड़क उठी और उन परम्पराओं के कर्णधारों एवं विद्वानों ने कर्त्तव्याकर्त्तव्य के भान को भुला लोंकाशाह के विरुद्ध उपर्यु ल्लिखित रूप में विषवमन करना प्रारम्भ कर दिया। लोंकाशाह के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न मनमाने कपोलकल्पित उल्लेख कर लोंकाशाह के जीवनवृत्त को विवादास्पद बनाने के प्रयास में किसी भी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी। उन्होंने लोंकाशाह की आगमिक मान्यताओं के सम्बन्ध में भी अनेक प्रकार की भ्रान्तियां उत्पन्न करने के कलुषित उद्देश्य से स्वेच्छानुसार साहित्यिक कृतियों की रचनाएं कीं।

शिथिलाचारग्रस्त द्रव्य परम्पराओं के विद्वानों द्वारा लोंकाशाह के व्यक्तित्व, जीवन और कृतित्व के सम्बन्ध में प्रचलित की गई विभिन्न प्रकार की भ्रान्त धारणाओं को दृष्टिगत रखते हुए यहां यह परमावश्यक समझा जा रहा है कि लोंकाशाह के जीवनवृत्त पर प्रकाश डालने से पहले लोंकाशाह के सम्बन्ध में जो भिन्न-भिन्न प्रकार की मान्यताएं जैन वांग्मय में अद्यावधि उपलब्ध हुई हैं, उन्हें इतिहासप्रेमियों के विचारार्थ यथावत् रूप में प्रस्तुत किया जाय।

---

१. उस समय कतिपय यति ही शिथिलाचारी नहीं हुए थे, अपितु सारा समुदाय ही शिथिल हो चुका था। गच्छपति और उनके निकटवर्त्ती कतिपय गीतार्थ अवश्य ही मूलगुणों को बचाये हुए थे, परन्तु अधिकांश यति वर्ग की स्थिति यहां तक विगड़ चुकी थी कि क्रियोद्धार के विना विशुद्ध जैन श्रमण मार्ग का अस्तित्व रहना मुश्किल था।

— निवन्ध निचय पृष्ठ २२४।

श्री कल्याणविजयजी महाराज, जालोर कृत।

आदि गृहस्थ जीवन के प्रत्येक हर्षप्रद प्रसंग पर निर्धारित धनराशि उगाहने अथवा भेंट स्वरूप स्वीकार करने आदि श्रमण जीवन के लिये अक्षम्य अपराध स्वरूप दूषित हीनाचार का स्पष्ट शब्दों में विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है :—

"५६ तत्पट्टे श्री आणंदविमलसूरि सम्वत् १५७० वर्षे सूरिपदं। प्रथम शथलाचारी—पाटन मध्ये सर्व गच्छ शथलाचारी वीयावट्ट आजीविका करे, पाटन मध्ये पंच गच्छ आचार्य, ते समें श्रावकें विनती करी—गच्छ त्यागो (वोसरावो), क्रिया उद्धार करो। ते समये लुंको श्रावक अरटवाड़ा नो ते आनन्दविमलसूरि (एकपातरियागच्छ की पट्टावली के अनुसार पूनमियांगच्छ के आनन्दविमलसूरि) पासे अठावीस सूत्र भण्यो। पछें पोतानी मेलें दीक्षा लीधी। सर्व देशे लुंकागच्छ प्रवर्ताव्यो। जिनबिम्ब जल, पृथ्वी मय भंडार्या, सर्व ढुंढक थयो। तिवारे पाटण ने श्रावकें, आनन्दविमलसूरियें क्रिया उद्धार कीधो।........गुरुभाई ने वीयावट नव (९) कुल दीधां। बीजां कुल पूनमियां, खरतरा सर्वे जांच्या, तेहने दीधां। बीजा सर्व जल मध्ये घोल्यां। ....पछें आगरा मध्ये श्रावक, ३६०० (छत्तीस सैं) घर लुंका कीधा। इग्यारसें देहरा, जिनप्रतिमा भुय (भंवारा) मध्ये भंडारी छें। हलाबोल ढुंढक थयो। पछें श्री पूज्य आगरें गया। छट्ठ अट्ठम पारणें। एक बडेरो श्रावक लुंके दीक्षा लीधी, हानऋख्य, वानऋख्य ३०० ठाणां संघाते रहे छें। ....श्रीपूज्य छट्ठ ने पारणें तेहने घरें, राख डोसीइं वोहरावी, छास मध्ये भेली पारणों कीधुं।"

साम्प्रदायिक व्यामोह एवं विद्वेष के वशीभूत हो उस समय के साधु अपने से भिन्न सम्प्रदाय अथवा गच्छ के साधुओं की हत्या करवा देने जैसे अमानवीय जघन्य दुष्कृत्यों को करने में भी तत्पर रहते थे, इस प्रकार का उल्लेख करते हुए तपागच्छ के विद्वान् पट्टावलीकार ने इसी पट्टावली में आगे लिखा है :—

"पछें श्रीपूज्य विहार करता देस प्रतिबोधतां त्रम्बावती नगरी पधार्या। तिहां खरतरगच्छें श्रीपूज्य नीं महिमा देखी रगतियो मूक्युं। दिन प्रतें साधु मरण पामें। ठाणुं डेढ़ सौ मरण पाम्यां।........"[1]

खरतरगच्छ के किसी कर्णधार द्वारा ५०० तपागच्छीय साधुओं की हत्या करवा दिये जाने का उल्लेख पंन्यास श्री कल्याणविजयजी महाराज द्वारा संपादित, ई० सन् १९४० में प्रकाशित तपागच्छ पट्टावली की पृष्ठ सं २०९ पर भी विद्यमान है, जो इस प्रकार है :—

"दिवसे-दिवसे गच्छ-ममत्व वधतुं जतुं हतुं। खरतर तेमज तपागच्छना साधुओ वच्चे कदाग्रह वधी पड्यो हतो अने येन केन प्रकारेण एक बीजा अन्य

---

१. तपागच्छ की हस्तलिखित पट्टावली, जिसकी फोटोप्रति आचार्यश्री विनयचन्द्र ज्ञान भंडार में हस्तलिखित पत्रों की क्रम सं० ४०० पर विद्यमान है।

४. आचार्य क्षितीन्द्र मोहन सेन के कथनानुसार लोंकाशाह का जन्म विक्रम सम्वत् १४८६ के अनन्तर हुआ।

५. तपागच्छीय यति श्री कांति विजय (सत्ताकाल विक्रम सम्वत् १६३६) के अभिमतानुसार 'लोंकाशाह नुं जीवन प्रभु वीर पट्टावली' के पृष्ठ १६१ में लिखा है :

"आ महात्मा नुं जन्म अरहटवाडा ना ओसवाल गृहस्थ चौधरी अटक ना सेठ हेमाभाई नी पतिव्रत परायणा भार्या गंगाबाई नी कुक्षी नो हतो। सम्वत् १४८२ ना कार्तिक शुद पूनम ने दिवसे (जन्म) थयो।"

६. दिगम्बर आचार्य रत्ननन्दी ने विक्रम सम्वत् १६२५ की अपनी रचना 'भद्रबाहु चरित्र' में लोंकाशाह का जन्म विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में.......पाटन के दशा पोरवाल कुल में होना बताया है। (भद्रबाहु चरित्र, पृष्ठ ६०)

७. मुनि लावण्यसमयजी ने अपनी 'सिद्धान्त चौपाई' नामक रचना में लोंकाशाह के जन्मकाल पर प्रकाश डालते हुए लिखा है :—

"सई उगणीस वरस थया, पणयालीस प्रसिद्ध।
त्यारे पछी लूंको हुई, असमंजस तिणई किद्ध ।।३।।

अर्थात् वीर निर्वाण सम्वत् १९४५ तदनुसार विक्रम सम्वत् १४७५ में लोंका शाह का जन्म हुआ और उन्होंने बड़ी असमंजसपूर्ण स्थिति उत्पन्न कर दी।

लोंकाशाह का जन्म-स्थान
कुल और जाति

१. उपर्युल्लिखित क्रम-संख्या (१) के अनुसार मुनिश्री बीका ने लोंकाशाह को बीसा प्राग्वाट कुल का बताया है। आपने लोंकाशाह के जन्म-स्थान का कोई उल्लेख नहीं किया है।

२. उपर्युल्लिखित क्रम-संख्या (५) के अनुसार तपागच्छीय यति कान्तिविजयजी ने लोंकाशाह का जन्म-स्थान अरहटवाडा बताते हुए इनका जन्म ओसवाल जाति में होना बताया है।

३. उपर्युल्लिखित क्रम-संख्या (६) के अनुसार दिगम्बर आचार्य रत्ननन्दी ने लोंकाशाह का जन्म दशा पोरवाल कुल में बताया है।

लोंकाशाह का जन्म व जन्म-स्थान आदि

जिस प्रकार बौद्ध धर्म प्रवर्त्तक भगवान् बुद्ध के जन्म, दीक्षा एवं निर्वाण काल के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की विभिन्न मान्यताएं इतिहासविदों में अद्यावधि विवाद का विषय बने हुए हैं, ठीक उसी प्रकार महान् धर्मोद्धारक वीर लोंकाशाह के जन्म, जन्म-स्थान, जाति, व्यवसाय एवं उनके द्वारा धर्मक्रान्ति का सूत्रपात किये जाने के समय के सम्वन्ध में भी विभिन्न प्रकार की मान्यताएं जैन एवं जैनेतर साहित्य में उपलब्ध होती हैं। अतः लोंकाशाह के जीवन का परिचय देने से पूर्व उन सभी मान्यताओं पर विचार करना परमावश्यक है। इससे इतिहासप्रेमियों को किसी निष्कर्ष पर पहुंचने में सहायता मिलेगी—इसी उद्देश्य से भिन्न-भिन्न काल के विभिन्न विद्वानों द्वारा अभिव्यक्त की गई मान्यताओं का यहां उल्लेख किया जा रहा है।

लोंकाशाह के जन्मकाल के विषय में विभिन्न मान्यताएं

१. मुनिश्री बीका ने लिखा है :

वीर जिनेसर मुक्ति गया, सइ ओगणीस वर्स जब थया।
पणयालीस अधिक मा जनई, प्रागवाट पहिलई सा जनई ।।

अर्थात् श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण के अनन्तर १९४५ वर्ष व्यतीत हो गये तब विक्रम सम्वत् १४७५ में पोरवाल कुल की पहली अर्थात् बड़ी शाखा में आपका जन्म हुआ।

२. लोंका यति भानुचन्द्र ने विक्रम सम्वत् १५७८ की अपनी रचना 'दयाधर्म चौपाई' में लिखा है :

चौदसय व्यासी वइसाखई, वद चौदस नाम लुंको राखई।
अर्थात् विक्रम सम्वत् १४८२ की वैसाख कृष्णा चौदस के दिन आपका जन्म हुआ और आपका नाम लुंका अथवा लोंका रक्खा गया।

३. लोंकागच्छ यति केशवजी ने अपने "चौवीस कड़ी के सिल्लोके" में लिखा है :

पुनम गच्छइ गुरु सेवन थी, शैयद ना आशिष वचन थी,
पुत्र सगुण थयो लखु हरीष, शत चउद सत सित्तर वर्षि।

अर्थात् पूर्णिमा गच्छ के गुरु की सेवा करने और शैयद के आशीर्वाद से विक्रम सम्वत् १४७७ में लोंकाशाह का जन्म हुआ।

रूपचन्दजी कह्यो—वचन देवो। तिवारै लूंकै साह कह्यो थे पिण वचन देवो। तिवारै रूपचन्दजी कह्यो म्है काई वचन देवां ? तिवारै लुंकै साह कह्यो हूं जाणूं छूं थांहरै घर में इसी तो रिद्धि छै, आ थांह री अवस्था छई, पिण थांह रा धरम रा परिणाम देखी जाणूं छूं के थैं क्रिया उद्धार करस्यो, सु मांह रो पिण नाम राखो तोहूं थां ने सिद्धान्त लिख देऊं। एहवा लुंकै शाह रा वचन सुणी रूपचन्दजी कह्यो—म्हा रो वचन छै म्ह क्रिया उद्धार कीयो तो नागौरी गच्छ मां पिण थांहरो मांह रो दोनूं रो नाम राखसां। हिवै लूंके शहर जालौर थकी सर्व आगम लिखी रूपचन्दजी ने मेल्या। और देशां ने पिण मेल्या। हिवै रूपचन्दजी सिंचेजी कने सूत्र सिद्धान्त सुणै भणै। एकदा समे सिंचेजी रूपचन्दजी ने कह्यो—थैं क्रिया उद्धार करो तो बडो जगत में नाम हुवे, घणी धर्म री महिमा हुवे। थां री वाणी सुणी ने घणा जीव समझै। चतुर्विध संघ री स्थापना हुवे। तिवा रे रूपचन्दजी कह्यो स्त्री ने समझावी, पिता माता री आज्ञा लेइ दीक्षा लेसूं। वलि रूपचन्दजी कह्यो जियां लगे हूं दीक्षा री अनुमति पामूं नहीं तिहां लगे शुद्ध श्रावक रो आचार पालसूं। इम कही ने घरे आव्यां। हिवे रूपचन्दजी तत्काल रा कराया सरस भोजन करता, पान बीडा चाबता, अत्तर फुलैल लगावता, गुलाबजल सूं स्नान करता, केसर रो तिलक करता, ते सर्व त्याग दीना छै।…………"

इससे पूर्व इसी पट्टावली में रूपचन्दजी के गृहस्थवास के समय का एक लेख है जो इस प्रकार है—

"पछै रेणुजी आपरे वल पडती जमी (बीकानेर में) ले ने सम्वत् १५७८ आसोज सुद १० श्री महावीरजी रे देहरे री नींव रो पायो भर्यो। तथा पछे ताकीद सूं **रूपचन्दजी**, कमोजी, नगोजी, देहरे रो काम …रावे छै।"

वचन अथ… …तज्ञा के आदान-प्रदान के अनन्तर रूपचन्दजी …त् का … करते हुए नागौरी लोंकागच्छ पट्टावलीकार

अवसरै … वचने करी दोय हजार वर्ष गया भस्म ग्रह …र स … …क्रम सम्वत् १५८० (वीर निर्वाण सम्वत् शुक्ला … …व रे दिन दीक्षा रो शुभ मुहूर्त आयां थकां …त्स … …ह सहसकरणजी, श्री करणजी, सहसवीरजी … …ी पंचायइणजी रो महोत्सव शाह रेणुजी

४. एक पातरिया (पोतिया बन्ध) गच्छ के आचार्य रायचन्द ने विक्रम सम्वत् १७३६ की अपनी रचना 'एक पातरिया गच्छ पट्टावली' में लोंकाशाह को लखमसी के नाम से अभिहित करते हुए उनका जन्म-स्थान मारवाड़ के खरंटियावास नामक शहर में होना और उनकी जाति महता, शाख बीसा श्रीमाली होना बताया है। इस सम्बन्ध में इस पट्टावली के निम्नलिखित पद्य वस्तुतः इतिहासप्रेमियों के लिये मननीय हैं :—

> वलता लखमसी इम बोलिया, बीसा श्रीमाली अमारी साख ।५।
> जिणधरमी गच्छ खडतरा, महता हमारी जात ।
> मारुदेश ए मैं रहऊं, शहर खरंटिया बास ।६।

अर्थात् लखमसी (लौंका महता) ने कहा कि मेरी शाख बीसा श्रीमाली, मेरी जाति महता और मेरा गच्छ खरतर है। मैं जैनधर्म का उपासक हूं। मारवाड में खरंटिया नामक शहर का मैं रहने वाला हूं।

इस प्रकार एक पातरिया पट्टावलीकार ने लखमसी अर्थात् लोंकाशाह की जाति, शाख (कुल) और उनके जन्म स्थान का परिचय तो उनके मुख से करवाया है किन्तु इनके माता पिता एवं जन्म समय का इस वृहदाकार पट्टावली में कहीं पर भी उल्लेख नहीं किया है।

५ नागौरी लौंकागच्छीय पट्टावली कार ने लौंकाशाह को जालौर नगर का निवासी बताते हुए इस पट्टावली में लिखा है :—

> "इक पोसालिया तिणां सिद्धान्त रा पुस्तक भूहरा मांहि पड्यां ने उदेही लागी, गल गया जाणी जालौर रो वासी महा प्रवीण साह लूंको लेखक तिण नेबुलावीछानो राखी पुस्तक लिखण रो दूहो दीनो। अबे लुंकई साह पुस्तक लिखतां थकां साधु को आचार देखी ने अरथ रो विचार पामी रोम-रोम विकस्या। मन में विचार्यो धन्य जिन शासन रा साधु, इस गुणों करी विराजमान हुए तिके। उणां रा चरणां री रज सूं पाप झडे। इसो विचारी और (दूसरा) पाना करी ने जत्यां सूं छाने आपरै पण सिद्धान्त लिखै। इम करतां सर्व ग्रन्थ लिखी ने गुरांजी ने दिया, आप रे पिण लिखी। कने राख्या। गुरुजी कने घरे जावणा री सीख मांगी तिण अवसरे रूपचन्दजी ने खबर पडी।
>
> तिवारे रूपचन्दजी लूंके शाह ने कह्यो मांहने सिद्धान्त देखालो और लिख देवो। तिवारे लुंकइ साह कह्यो, अठे तो लिख्यां जती लडे, सू घरे जाय ने हूं थाने सरव सिद्धान्त लिख मेलसूं। तिवारे

रूपचन्दजी कह्यो—वचन देवो। तिवारै लूंकै साह कह्यो थे पिण वचन देवो। तिवारै रूपचन्दजी कह्यो म्है काई वचन देवां ? तिवारै लुंकै साह कह्यो हूं जाणूं छूं थांहरै घर में इसी तो रिद्धि छै, आ थांह री अवस्था छई, पिण थांह रा धरम रा परिणाम देखी जाणूं छूं के थैं क्रिया उद्धार करस्यो, सु मांह रो पिण नाम राखो तोहूं थां ने सिद्धान्त लिख देऊं। एहवा लुंकै शाह रा वचन सुणी रूपचन्दजी कह्यो—म्हा रो वचन छै म्ह क्रिया उद्धार कीयो तो नागौरी गच्छ मां पिण थांहरो मांह रो दोनूं रो नाम राखसां। हिवै लूंके शहर जालौर थकी सर्व आगम लिखी रूपचन्दजी ने मेल्या। और देशां ने पिण मेल्या। हिवै रूपचन्दजी सिंचेजी कने सूत्र सिद्धान्त सुणै भणै। एकदा समे सिंचेजी रूपचन्दजी ने कह्यो—थैं क्रिया उद्धार करो तो बडो जगत में नाम हुवे, घणी धर्म री महिमा हुवे। थां री वाणी सुणी ने घणा जीव समझे। चतुर्विध संघ री स्थापना हुवे। तिवा रे रूपचन्दजी कह्यो स्त्री ने समझावी, पिता माता री आज्ञा लेइ दीक्षा लेसूं। वलि रूपचन्दजी कह्यो जियां लगे हूं दीक्षा री अनुमति पामूं नहीं तिहां लगे शुद्ध श्रावक रो आचार पालसूं। इम कही ने घरे आव्यां। हिवे रूपचन्दजी तत्काल रा कराया सरस भोजन करता, पान बीडा चाबता, अत्तर फुलैल लगावता, गुलाबजल सूं स्नान करता, केसर रो तिलक करता, ते सर्व त्याग दीना छै।............"

इससे पूर्व इसी पट्टावली में रूपचन्दजी के गृहस्थवास के समय का एक उल्लेख है जो इस प्रकार है—

"पछै रेणुजी आपरे वल पडती जमी (बीकानेर में) ले ने सम्वत् १५७८ आसोज सुद १० श्री महावीरजी रे देहरे री नींव रो पायो भर्यो। तथा पछे ताकीद सूं **रूपचन्दजी**, कमोजी, नगोजी, देहरे रो काम करावे छै।"

लोंकाशाह से वचन अथवा प्रतिज्ञा के आदान-प्रदान के अनन्तर रूपचन्दजी आदि की दीक्षा के सम्वत् का उल्लेख करते हुए नागौरी लोंकागच्छ पट्टावलीकार ने लिखा है—

"एहवे अवसरै सिद्धान्त वचने करी दोय हजार वर्ष गया भस्म ग्रह पिण ऊतर्यो, तिण समा योगे विक्रम सम्वत् १५८० (वीर निर्वाण सम्वत् २०५०) ज्येष्ठ शुक्ला एकम पडवा रे दिन दीक्षा रो शुभ मुहूर्त आयां थकां हीरागरजी रो महोत्सव गांधी शाह सहसकरणजी, श्री करणजी, सहसवीरजी शिवदत्तजी मांड्यो छै। **रूपचन्दजी** पंचायइणजी रो महोत्सव शाह रेणुजी

४. एक पातरिया (पोतिया बन्ध) गच्छ के आचार्य रायचन्द ने विक्रम सम्वत् १७३६ की अपनी रचना 'एक पातरिया गच्छ पट्टावली' में लोंकाशाह को लखमसी के नाम से अभिहित करते हुए उनका जन्म-स्थान मारवाड़ के खरंटियावास नामक शहर में होना और उनकी जाति महता, शाख बीसा श्रीमाली होना बताया है। इस सम्बन्ध में इस पट्टावली के निम्नलिखित पद्य वस्तुतः इतिहासप्रेमियों के लिये मननीय हैं :—

वलता लखमसी इम बोलिया, बीसा श्रीमाली अमारी साख ।५।
जिणधरमी गच्छ खडतरा, महता हमारी जात ।
मारुदेश ए मैं रहऊं, शहर खरंटिया बास ।६।

अर्थात् लखमसी (लौंका महता) ने कहा कि मेरी शाख बीसा श्रीमाली, मेरी जाति महता और मेरा गच्छ खरतर है। मैं जैनधर्म का उपासक हूं। मारवाड में खरंटिया नामक शहर का मैं रहने वाला हूं।

इस प्रकार एक पातरिया पट्टावलीकार ने लखमसी अर्थात् लोंकाशाह की जाति, शाख (कुल) और उनके जन्म स्थान का परिचय तो उनके मुख से करवाया है किन्तु इनके माता पिता एवं जन्म समय का इस वृहदाकार पट्टावली में कहीं पर भी उल्लेख नहीं किया है।

५ नागौरी लौंकागच्छीय पट्टावली कार ने लौंकाशाह को जालौर नगर का निवासी बताते हुए इस पट्टावली में लिखा है :—

"इक पोसालिया तिणां सिद्धान्त रा पुस्तक भूहरा मांहि पड्यां ने उदेही लागी, गल गया जाणी जालौर रो वासी महा प्रवीण साह लूंको लेखक तिण नेबुलावीछानो राखी पुस्तक लिखण रो दूहो दीनो। अबे लुंकई साह पुस्तक लिखतां थकां साधु को आचार देखी ने अरथ रो विचार पामी रोम-रोम विकस्या। मन में विचार्यो धन्य जिन शासन रा साधु, इस गुणों करी विराजमान हुए तिके। उणां रा चरणां री रज सूं पाप झडे। इसो विचारी और (दूसरा) पाना करी ने जत्यां सूं छाने आपरै पण सिद्धान्त लिखै। इम करतां सर्व ग्रन्थ लिखी ने गुरांजी ने दिया, आप रे पिण लिखी। कने राख्या। गुरुजी कने घरे जावणा री सीख मांगी तिण अवसरे रूपचन्दजी ने खवर पडी।

तिवारे रूपचन्दजी लूंके शाह ने कह्यो मांहने सिद्धान्त देखालो और लिख देवो। तिवारे लुंकइ साह कह्यो, अठे तो लिख्यां जती लडे, सू घरे जाय ने हूं थाने सरव सिद्धान्त लिख मेलसूं। तिवारे

रूपचन्दजी कह्यो—वचन देवो। तिवारै लूंकै साह कह्यो थे पिण वचन देवो। तिवारै रूपचन्दजी कह्यो म्है काई वचन देवां ? तिवारै लुंकै साह कह्यो हूं जाणूं छूं थांहरै घर में इसी तो रिद्धि छै, आ थांह री अवस्था छई, पिण थांह रा धरम रा परिणाम देखी जाणूं छूं के थैं क्रिया उद्धार करस्यो, सु मांह रो पिण नाम राखो तोहूं थां ने सिद्धान्त लिख देऊं। एहवा लुंकै शाह रा वचन सुणी रूपचन्दजी कह्यो—म्हा रो वचन छै म्ह क्रिया उद्धार कीयो तो नागौरी गच्छ मां पिण थांहरो मांह रो दोनूं रो नाम राखसां। हिवै लूंके शहर जालौर थकी सर्व आगम लिखी रूपचन्दजी ने मेल्या। और देशां ने पिण मेल्या। हिवै रूपचन्दजी सिंचेजी कने सूत्र सिद्धान्त सुणै भणै। एकदा समे सिंचेजी रूपचन्दजी ने कह्यो—थैं क्रिया उद्धार करो तो बडो जगत में नाम हुवे, घणी धर्म री महिमा हुवे। थां री वाणी सुणी ने घणा जीव समझै। चतुर्विध संघ री स्थापना हुवे। तिवा रे रूपचन्दजी कह्यो स्त्री ने समझावी, पिता माता री आज्ञा लेइ दीक्षा लेसूं। वलि रूपचन्दजी कह्यो जियां लगे हूं दीक्षा री अनुमति पामूं नहीं तिहां लगे शुद्ध श्रावक रो आचार पालसूं। इम कही ने घरे आव्यां। हिवे रूपचन्दजी तत्काल रा कराया सरस भोजन करता, पान बीडा चाबता, अत्तर फुलैल लगावता, गुलाबजल सूं स्नान करता, केसर रो तिलक करता, ते सर्व त्याग दीना छै।..........."

इससे पूर्व इसी पट्टावली में रूपचन्दजी के गृहस्थवास के समय का एक उल्लेख है जो इस प्रकार है—

"पछै रेणुजी आपरे वल पडती जमी (बीकानेर में) ले ने सम्वत् १५७८ आसोज सुद १० श्री महावीरजी रे देहरे री नींव रो पायो भर्यो। तथा पछे ताकीद सूं **रूपचन्दजी**, कमोजी, नगोजी, देहरे रो काम करावे छै।"

लोंकाशाह से वचन अथवा प्रतिज्ञा के आदान-प्रदान के अनन्तर रूपचन्दजी आदि की दीक्षा के सम्वत् का उल्लेख करते हुए नागौरी लोंकागच्छ पट्टावलीकार ने लिखा है—

"एहवे अवसरै सिद्धान्त वचने करी दोय हजार वर्ष गया भस्म ग्रह पिण ऊतर्यो, तिण समा योगे विक्रम सम्वत् १५८० (वीर निर्वाण सम्वत् २०५०) ज्येष्ठ शुक्ला एकम पडवा रे दिन दीक्षा रो शुभ मुहूर्त आयां थकां हीरागरजी रो महोत्सव गांधी शाह सहसकरणजी, श्री करणजी, सहसवीरजी शिवदत्तजी मांड्यो छै। **रूपचन्दजी** पंचायइणजी रो महोत्सव शाह रेणुजी

मांड्यो छै।………… ….” पीरोजी खान पातशाह आप रो किशन मन्त्रीसर ने उत्साह (उत्सव) करण ने मेल्यो। हिवे तीनूं जणां तीनपालखियां रे विषे बेसी ने गणा जै जै शब्द हूतां……श्री सिद्धार्थ राजा ना पुत्र परै घणां दान देता थकां……सयरससाहरी नी सराय ने विषे तीनूं जणां पालख्यां सूं नीचे उतर्या। उतरी ने प्रथम आलावो मुख सूं उच्चरी ने आभरण समस्त उतार्या। उतारी ने पूर्व सामां तीनूं बैठा। बेसी ने स्व हस्त सूं लोच करी ने अरिहन्त सिद्ध साहू ने नमस्कार करी ने पंच महाव्रत रूप सामायिक चारित्र आदर्यो, आदरी ने घणा लोग धन्य-धन्य शब्द करतां थकां श्री चन्द्राप्रभुजी रे देहरे में आय ने रह्या। हिवे सिकदार, सेठ साहूकार सर्व आय ने श्री हीरागरजी रूपचन्दजी ने आचार्यपद दीनो। लूंके शाह रो वचन पालियो ने 'नागौरी लूंका' कहाणा।” “रूप ऋषि भास” में भी हीरागरजी के वि० सं० १५८० में दीक्षित होने का उल्लेख है यथा—

लूंका नागौरी पनरसे असीई जुदा थया नागोर मझारी।
हीरो आचार्य थयो तेणि, चौदस पाखी मां निवारी।।

पट्टावली के उपरिलिखित उल्लेख से तो स्पष्टत: यही प्रकट होता है कि विक्रम संवत् १५७८ से १५८० के बीच रूपचन्दजी और लोंकाशाह का मिलन हुआ और उन दोनों के बीच इस शर्त के साथ प्रतिज्ञा हुई कि रूपचन्दजी क्रियोद्धार के समय अपने गच्छ का नाम लोंकागच्छ रक्खेंगे और लोंकाशाह रूपचन्दजी को शीघ्र ही सब शास्त्रों की प्रतियां लिखकर दे देंगे।

पट्टावली में यह स्पष्ट उल्लेख है कि लोंकाशाह जालौर के निवासी थे और उन्होंने विक्रम संवत् १५७८ और विक्रम संवत् १५८० के बीच की अवधि में अथवा इससे कुछ ही वर्ष पूर्व शास्त्र लिखकर दिये थे। नागौरी लोंकागच्छ पट्टावली के इस प्रकार के उल्लेख वस्तुत: जैन वांग्मय के अन्य सभी उल्लेखों को दृष्टिगत रखते हुए किसी भी दशा में विश्वसनीय नहीं गिने जा सकते। लोंकाशाह जैसे महान् क्रियोद्धारक, एकान्तत: जिनशासन के उद्धार की उत्कट आकांक्षा वाले महापुरुष अपने नाम पर किसी गच्छ की स्थापना करने की बात कहें। इसका किसी भी विज्ञ को विश्वास नहीं हो सकता। अस्तु वीर लोंकाशाह को विक्रम की सोलहवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध के द्वितीय शतक तक का बताने वाला उल्लेख भी एक गच्छ विशेष की पट्टावली में विद्यमान है। इस बात से इतिहासप्रेमियों, शोधरुचि विद्वानों और पाठकों को अवगत कराने की दृष्टि से नागौरी लोंकागच्छ पट्टावली के उद्धरणों को यहां प्रस्तुत किया गया है।

“रूप ऋषि भास” के उपरिलिखित पद्य से स्पष्टत: प्रकट होता है कि वि० सं० १५८० में लोंकागच्छ के नागोर निवासी उपासकों अथवा अनुयायियों ने

लोंकागच्छ से सम्बन्ध तोड़कर 'नागोरी लूंकागच्छ' नामक एक पृथक गच्छ की स्थापना की। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि नागोरी लूंकागच्छ पट्टावली में लूंकागच्छ उत्पत्ति और लोंकाशाह सम्बन्धी जितने भी विवरण हैं वे केवल कल्पना या किंवदन्ती रूप हैं।

नागौरी लूंकागच्छ पट्टावली का उपर्युक्त उल्लेख जिसमें लोंकाशाह के जालौर निवासी होने और वि० सं० १५७८ से १५८० के बीच की अवधि में रूपचन्दजी से मिलने और उनके साथ प्रतिज्ञा के आदान-प्रदान का कथन अन्य गच्छीय एवं पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों द्वारा एतद्विषयक लिखे गये विवरणों से भी अविश्वसनीय अथवा अप्रामाणिक सिद्ध होता है। तपागच्छीय उपाध्याय धर्मसागर द्वारा वि० सं० १६२३ में रचित प्रवचन परीक्षा नामक ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है कि लूंका गच्छीय जगमाल ऋषि के पास रूपचन्द्र सुराणा ने वि० सं० १५८० में स्वयंमेव दीक्षा ग्रहण की और उसी समय से अर्थात् वि० सं० १५८० से नागपुरीय (नागौरी) लूंका गच्छ नाम से लूंकागच्छ की शाखा प्रचलित हुई।[1]

न केवल लोंकागच्छ की पट्टावलियां और समस्त लोकागच्छीय वाङ्मय ही अपितु लोंकाशाह तथा लोंकागच्छ का अति कटु भाषा में खण्डन करने वाले इसके विरोधी गच्छों के विद्वान् लेखकों ने अपनी कृतियों में स्थान-स्थान पर स्पष्ट रूप से यही उल्लेख किया है कि लोंकाशाह ने वि० सं० १५०८ में जिनमूर्ति उत्थापक मत की प्ररूपणा की और उनकी उस प्ररूपणा के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आये लोंकागच्छ में सर्वप्रथम वि० सं० १५३१ में प्रथम वेषधर ऋषि भाणा श्रमण धर्म में प्रव्रजित हुए, इस प्रकार की स्थिति में समवेत स्वरों में, समान शब्दों में प्रकट की गई मान्यताओं के जैन वांड्मय में उपलब्ध होते हुए नागौरी लोंकागच्छीया पट्टावली के उपरि वर्णित उल्लेख पर कोई भी विज्ञ कैसे विश्वास कर सकता है कि लोंकाशाह ने वि० सं० १५७८ एव १५८० की अवधि के बीच सर्वप्रथम आगमों का लेखन कार्य कर नागौरी लोंकागच्छ के संस्थापक रूपचन्द्रजी को आगमों की प्रतियां दीं और वि० सं० १५०८ में नहीं अपितु वि० सं० १५८० में लोंकागच्छ सर्वप्रथम अस्तित्व में आया तथा केवल इसीलिए इसका नागौरी लोंकागच्छ नामकरण किया गया कि लोंकाशाह ने रूपचन्दजी को आगमों की प्रतियां लिखकर दी थीं।

बड़ौदा यूनीवर्सिटी में उपलब्ध विविध गच्छोत्पत्ति आदि की नौंध नामक पत्रों में लोंकागच्छ की नागौरी लोंकागच्छ के समान ही एक दूसरी शाखा के उद्भव का उल्लेख करते हुए लिखा गया है :—

---

१. प्रवचन परीक्षा, भाग २ विश्राम सं० ८ पत्र सं० २९–३०।

"पछी सम्वत् १६०८ वर्षे ऋषि सर्वा नो शिष्य ऋषि सदारंग जुदो थयो। तेह थी उत्तराधी लुंका थया।"

इस उल्लेख से यही सिद्ध होता है कि वि० सं० १६८० में ज्येष्ठ शुक्ला एकम के दिन हीरागरजी, रूपचन्दजी और पंचायणजी ने नागौर में श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर जिस प्रकार नागौरी लुंकागच्छ की स्थापना कर लोंकागच्छ की दूसरी शाखा प्रचलित की, ठीक उसी प्रकार वि० सं० १६०८ में सदारंगजी ने उत्तराधि लूंकागच्छ के नाम से लोंकागच्छ की एक दूसरी शाखा प्रचलित की हो।

जहां तक लोंकाशाह का निवास स्थान जालौर होने का प्रश्न है श्री वाडीलाल मोतीलाल शाह को उपलब्ध हुए कुछ पन्नों के अतिरिक्त लोंकागच्छीय अथवा लोंकागच्छ के प्रतिपक्षियों के साहित्य में अथवा किसी भी पट्टावली में कहीं भी इस प्रकार का उल्लेख नहीं पाया जाता कि लोंकाशाह जालौर के निवासी थे। यह सम्भव हो सकता है कि लोंकाशाह युवावस्था में कभी जालौर गये हों और वहां भी कुछ समय तक श्रुतलेखन के रूप में उन्होंने श्रुतसेवा का कार्य किया हो और उस स्वल्पकालीन जालौर के सम्भावित निवास के कारण किसी लेखक ने उन्हें जालौर का निवासी लिख दिया हो। किन्तु इस अनुमान के समर्थन में भी कहीं कोई ठोस प्रमाण अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुआ है। अतः धर्म प्राण लोंकाशाह का जालौर निवास स्थान होना मान्य नहीं हो सकता।

६. लोंकागच्छीय यति भानुचन्द्रजी ने लोंकाशाह के जन्म स्थान, उनकी जाति और माता पिता के नाम का उल्लेख करते हुए दयाधर्म चौपाई नाम की अपनी वि० सं० १५७८ की कृति में लिखा है :—

सोरठ देश लीमडी ग्रामे इ, दशा श्रीमाली डूंगर नाम इ।
घरणी चूडा हि चित्त उदारी, डीकरो जायो हरख अपारी ॥३॥

अर्थात् सोरठ देश के लीमडी नामक ग्राम में दशा श्रीमाली जातीय डूंगर नामक जैन धर्मानुयायी की पत्नी चूडा ने लोंकाशाह को जन्म दिया और चारों ओर अपार हर्ष की लहर दौड़ गई।

७. स्थानकवासी साधु नागेन्द्र चन्द्र जी के पास उपलब्ध पट्टावली में श्री वाडीलाल मोतीलाल शाह को लोंकाशाह के निवास स्थान के सम्बन्ध में निम्नलिखित पद्य प्राप्त हुए :—

एह अवसर पोसालिया, गढ जालौर मझार।
ताडपत्र जीरण थयां, कुलगुरु करे विचार ॥४०॥

लुंको मेहतो तिहां वसै, अक्षर सुन्दर तास।
आगम लिखवा सूंपिया, लिखे शुद्ध सुविलास ॥४१॥
—ऐतिहासिक नौंध पृ० ११६।

८. स्थानकवासी साधु जेठमलजी ने अपनी वि० सं० १८६५ की 'समकित सार' नामक कृति में लोंकाशाह के निवासस्थान के सम्बन्ध में लिखा है :—

"सम्वत् १५३१ में श्री गुजरात देश के अहमदाबाद नगर में ओसवाल वंश में पैदा होकर शाह लोंका रहते थे। जो सर्राफ का धन्धा करते थे।

चौपाई

पन्द्रह सौ इकतीस मझार, जनमत भो इकमती सरदार।
अहमदाबाद नगर मझार, लोंकाशाह बसे सुविचार।
देखत जो जो ऋषि आचार, उनकी गाथन करे उचार।
ग्रन्थ अर्थ वे उनका करे, लेखन उद्यम नित ही धरै।
—समकित सार पृष्ठ ६।

९. दिगम्बर परम्परा में तारणपन्थ के संस्थापक दिगम्बर महात्मा तारण स्वामी ने अपनी कृति 'तरण तारण श्रावकाचार' में लोंकाशाह के जन्म स्थान एवं समय के विषय में जो उल्लेख किया है उसका भाषान्तर इस प्रकार है :—

"उस समय अहमदाबाद में श्वेताम्बर जैनियों के अन्दर लोंकाशाह हुए, उन्होंने भी विक्रम सम्वत् १५०८ में अपने नये पन्थ की स्थापना की जो मूर्त्ति को नहीं पूजते हैं।"

१०. लोंकागच्छीय यति केशवजी ने अपनी कृति 'चौवीस कड़ी का शिलोका' में लोंकाशाह के जन्म स्थान के बारे में लिखा है :—

"इण कालई सौराष्ट्र धरा मंई नागवेष तटिनी तटगांवई।
हरिचन्द्र श्रेष्ठि तिहां बसई मउंधी वाई धरणी शील लसई ॥१०॥

अर्थात् सौराष्ट्र की धरा में नदी के किनारे पर नागवेष नामक ग्राम के रहने वाले श्रेष्ठिवर हरिचन्द की शीलसम्पन्ना पत्नी मउंधी वाई की कुक्षि से लोंकाशाह का जन्म हुआ।

लोंकाशाह द्वारा शास्त्र लिखे जाने का समय

१. बड़ौदा यूनीवर्सिटी की पुस्तक संख्या १७४२८ के अन्त में लोंकाशाह द्वारा शास्त्रों के आधार पर की गई प्ररूपणा का काल निर्देश करते हुए लिखा गया है :—

"सम्वत् २००० (वीर निर्वाण) वर्षे लोकेशाह जिनमती सत्य प्ररूपणा ना करणहार हुया । ६ ।"

२. बड़ौदा यूनीवर्सिटी की पुस्तक संख्या २०८३ में लोंकाशाह द्वारा शास्त्रों के लेखन काल पर प्रकाश डालते हुए उल्लेख किया गया है :—

"अथ लुंका री उत्पत्ति कहे छै । सम्वत् १५२८ रा पनरे से अट्ठावीसा वर्षे श्री अनहल्लपुरे पाटण मध्ये मुहता लक्का सुबुद्धि ए **श्री सूत्र सिद्धान्त लखता थका** सूत्रार्थ विचारी ने मन में विचारते–साधु, श्रावक बारव्रत धारी ने प्रतिमा पूजवी न कही, प्रासाद नो अधिकार नहीं । हवे बीजा यति आचार्य ने धणाइक तो पौशाल प्रतिमाधारी थया । शुद्ध दयाधर्म री प्ररूपणा कर ने गच्छ काढ्यो । अन्य दर्शनिये लुंकामती नाम कही ने बोलाव्या, तिहां थकी लुंकागच्छ री थापणा थई । शुभ बेला ए, शुभ दिने, शुभ पक्षे, शुभ नक्षत्रे, शुभ योगे आव्ये थके लुंका गच्छ री थापना थई । प्रथम भाणा ऋषिए श्री अहमदाबाद मध्ये सम्वत् १५३१ वर्षे जात पोरवाल अरहटवाड़ा ना वासी स्वयमेव दीक्षा लीधी (६२) ते ऋषि मोटे वैरागे संसार असारजाणी ने एक लाख रुपया मूकी ने दीक्षा लीधी (६२)

३. उपाध्याय कमलसिहजी ने अपनी विक्रम सम्वत् १५४४ की ग्रन्थ रचना में लिखा है :—

"सम्वत् पनर अठोतर ऊ जाणिसं लुकुं लेहउ मूलि निसाणी" अर्थात् विक्रम सम्वत् १५०८ में अहमदाबाद में लुंका ने शास्त्र लेखन का कार्य किया ।

४. मुनिश्री नागेन्द्र चन्द्रजी ने अपनी पट्टावली में लिखा है :

लोंको महतो तिहां वसे अक्षर सुन्दर तास ।
आगम लिखवा सूंपिया, लिखे शुद्ध सुविलास ।।

इस प्रकार आपने विना काल निर्देश के लोंकाशाह द्वारा शास्त लेखन के कार्य का उल्लेख किया है ।

५. विजयानन्दसूरि ने लोंकाशाह द्वारा आजीविकोपार्जन के लिये आगम लेखन करने का उल्लेख करते हुए लिखा है :—

"अहमदाबाद में लोंका नामक लिखारी यतियों के उपासरा में पुस्तक लिख के आजीविका चलाता था, एक दिन उसके दिल में बेईमानी आई और एक पुस्तक के सात पन्ने बीच में से लिखना छोड़ दिया ।

जब पुस्तक के मालिक ने पुस्तक अधूरी देखी तो लूंका लिखारी का तिरस्कार कर उपासरे से निकाल दिया और दूसरे (शास्त्र) भी उससे लिखवाना बन्द कर दिया।"

६. एक अज्ञात लेखक की हस्तलिखित पट्टावली में भी शास्त्र के पन्ने उदई द्वारा खाये जाने से यति द्वारा लोंकाशाह को शास्त्र लिखने को देने का निम्नलिखित उल्लेख है :—

"पुस्तक भण्डार मांहि हुंता ते पाना उदई खादा। ते पाना जोवा ने बाहिर काढ्या हुता, तिवारे लूँको मुहतो श्रावक कारकून दफ्तरी हुतो, एकदा प्रस्तावे उपासरे जती पासे आव्यो हुतो तिवारे जतियां कह्यो ए जिनधर्म नो काम छै। तिवारे कह्यु स्यूं काम छै। तिवारे तिणे कह्यु जो सिद्धान्त ना पाना उदई खादा छै ते अमने नवा लिखी आपो तो किल्याण नो कारण छै।"

७. जैसलमेर भण्डार से प्राप्त हुई पट्टावली में भी लोंकाशाह द्वारा शास्त्रों के लिखे जाने का विस्तारपूर्वक उल्लेख है। जो इस प्रकार है :—

"सम्वत् १५२५ से मुहतो लूंको, आणन्द सुत, जात, ना बीसा श्री माली, भीनमाल ना, कालूपुर मध्ये कारकुन अहमदाबाद मध्ये बसे छै। ते नाणावाट नो व्यापार करे। एकदा जवन आयो। तेणे महमूदी एक ना दोकड़ा दीधा। ते लूंके साहे दीधा। तेणे तेहीज दोकड़ा नी चिड़ीमार पासे थी चिड़ी बेचाती लीधी, हणवा माटे। घरे लेई चाल्यो। एहवो व्यापार अनर्थ नो मूल जाणी, बात प्रत्यक्ष देखी वैराग पाम्यो। संवेग भाव मन आणी नाणा ना व्यापार नो सम करी पोता ना घर आयो। पछे उपासरे आवे छै। तिवारे पछे एहवे अवसरे ते भंडारा मांहिला पाना हुंता। ते उदई खादा। ते भण्डारा थी पुस्तक बारे काढ्या। ते पाना उदही खादा दीठा। तिवारे विचार्यो—पाना लिखिये तो वारु। इम विचारे। एहवे लुंको मुहतो उपासरे आव्यो। तिवारे लिंगधारी बोल्या। एक जैनमार्ग नो काम छै। तिवारे लुंको कहे स्यूं काम छै? तिवारे लिंगधारी बोल्या सिद्धान्त ना पाना उदही खादा छै। सो अमने नवा लिखी आपो तो कल्याण नो कारण छै। घणो लाभ थासी। इम कह्यां मुहतो वचन प्रमाण कीधो। तिवारे यति लूंका मुहता ने एक दशवैकालिक नी प्रत दीनी।............

ते भणी सगली प्रतां बेवड़ी उतारी। एकीक आप राखी। एकीक तेह ने दीधी।"

लोंकाशाह द्वारा उपदेश दिये जाने का सम्वत्

१. तपागच्छीय उपाध्याय धर्मसागर ने लोंकाशाह द्वारा मूर्ति-पूजा विरोधी प्रवचन दिये जाने के समय का उल्लेख करते हुए अपनी विक्रम सम्वत् १६२६ की 'प्रवचन परीक्षा' नामक कृति में लिखा है :—

> श्री विक्रम सम्वत्सरात् अष्टोत्तरपंचदशशतैः
> विक्कमओ अट्ठुत्तरपन्नरससएहि पावउवएसो ।
> लुंपगविहुगोमूलं तस्सवि तस्सेवमुप्पती ।।२।। प्र० परीक्षा भाग २ ।।
> तस्स वि एगो मंती, नामेण लखमसीति सम्मिलिओ ।
> दोवि उपएसमित्ता, कडुउव्व पव्वट्टिया पाव ।।८।। प्र० परीक्षा ।

अर्थात् विक्रम सम्वत् १५०८ में लुंपक नामक लेखक ने पापपूर्ण उपदेश देना प्रारम्भ किया और उसके इस प्रकार के उपदेश से लुंपक मत की उत्पत्ति हुई। लखमसी नामक उसका एक मित्र उससे आ मिला और दोनों ने मिलकर कडुआ मत की भांति पापपूर्ण धर्म का प्रवर्तन किया।

२. संक्षिप्त लोंकागच्छ पट्टावली (सम्वत् १८२७ ज्येष्ठ कृष्णा १३ बुधवार) में लिखा है :

> "प्रथम सम्वत् १५२५ वर्ष मध्ये साह लूंको आनन्द सुत जाति ना वीसा श्रीमाली भीनमाल ना वासी अने कालूपुर ना शाह लक्ष्मसी थी दया धर्म प्रकट हुवो।

(पट्टावली लूंका)

३. वड़ौदा यूनीवर्सिटी की लूंकागच्छ पट्टावली पुस्तक संख्या २०८३ में उल्लेख है कि लोंकाशाह ने विक्रम सम्वत् १५२८ में शुद्ध दयाधर्म की प्ररूपणा कर गच्छ प्रचलित किया। यथा :—

> "सम्वत् १५२८ वर्षे श्री अणहिल्लपुरे पाटण मध्ये मुहता लक्का सुवुद्धिए श्री सूत्र सिद्धान्त लखता थका........शुद्ध दयाधर्म नी प्ररूपणा करने गच्छ काढ्यो।"

४. वड़ौदा यूनीवर्सिटी की पुस्तक संख्या १७४२८ में लोंकाशाह की प्ररूपणा के विषय में लिखा है :—

> "सं० २००० (महावीर निर्वाण सम्वत्) वर्षे लोकेशाह जिनमती सत्य प्ररूपणा ना करणहार हुआ।"

५. सतीचन्द नामक मुनि द्वारा रचित लोंकागच्छ के आचार्य दामोदरजी की स्तुति रूपक दामोदर छन्द में लोंकाशाह द्वारा विक्रम सम्वत् १५२८ में दयाधर्म की प्ररूपणा करने का अथवा आगम-वाचन का और विक्रम सम्वत् १५३१ में लोंकागच्छ के प्रथम मुनि भाणजी के दीक्षित होने का उल्लेख किया है। यथा :

वीर जिन भस्मग्रह थिर गति, दोय हजार वरीस।
विक्रम सम्वत् वेत सुत पनरसे अठावीस ।।२।।

लूंके पुस्तक वांची करी, जाण्यो श्री जिनधर्म।
जीवदया चित में बसी, टाल्यो मोह भ्रम ।।३।।

लूंका गच्छ जग में प्रकट पनरसे इकतीस।
भाणे संजम आदर्यो, पहुंती मन जगीस ।।४।।

६. आचार्य श्री तेजसिंहजी ने अपनी रचना 'गुरु गुण माला भास' में लोंकाशाह द्वारा शास्त्रों के लेखन, पठन, दयाधर्म का प्ररूपण एवं लोंकागच्छ की स्थापना के समय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है :—

लूंके जिन वचन नी लबध ते पाई,
पोरवाड़ सिद्ध **पाटन** में लका नामे लुँका कहाई, लके जिन वचन नी लबध ते पाई ।।१।।

संवत् **पनर अट्ठावीसे बड़गच्छ, सूत्र सिद्धान्त लिखाई।**
लिखी परति दोय एक आप राखी, एक दिये गुरु ने ले जाई ।।२।।

दोय बरस सूत्र अरथ सर्व समझी, धर्म विध संघ में बताई।
लूंके मूल मिथ्यात उथापि, **देव गुरु धर्म समझाई ।।३।।**

वीर राशिग्रह भस्म उतरतां, **जिम वीर कह्यो तिम थाइ।**
उदे उदे पूजा जिन शासन नी, ति दयाधर्म दीपाई।

इगत्रीसे भाणजी ए संजम लेइ, **लूंकागच्छे आदि जति थाई।**
लूंकागच्छ नी उत्पत्ति इण विधे कहे तेजसिंध समझाइ ।।५।।

इति गच्छ सम्बन्ध भास

—मुनिश्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ पृ० २४८।

७. बड़ौदा यूनिवर्सिटी में उपलब्ध 'विविध गच्छोत्पत्ति आदि की नोंध' में लोंकाशाह की जाति, जन्म स्थान, उनके द्वारा आगमों का लेखन, उनके द्वारा प्ररूपणा एवं शुद्ध साधु मार्ग प्रवर्तित करने के सम्बन्ध में जो सम्वत् सहित उल्लेख किया गया है, वह इस प्रकार है :—

"सम्वत् १५२२ वर्षे मूहतो लूंको, जात पोरवाड पाटन नगर मांहि हुम्रो । ग्यारह अंग बारह उपांग एवं ३१ आगम सिद्धान्त नो जाण थयो । तेणे श्रावक व्रत मांहे थकां पूजा नो आरम्भ अज्ञान मिथ्यात उथापी ने शुद्ध साधु मार्ग प्रवर्तायो । लूंका नाम साध स्थापना हुई ।"

इस उल्लेख से दो पंक्ति ऊपर जो उल्लेख है वह इस प्रकार है :—

"सम्वत् १५३१ स्वयमेव लूंका जती दो हुआ, भाणा भीदा दीक्षा लीधी ।"

—: ० :—

लोंकाशाह द्वारा शुद्ध साधु मार्ग प्रवर्तन विषयक उल्लेख

१. जैसलमेर भण्डार से प्राप्त पट्टावली, जिसकी जैतारण आदि विभिन्न भण्डारों से भी प्रतियां उपलब्ध होती हैं, उसमें लोंकाशाह द्वारा शुद्ध साधु मार्ग प्रवर्तित किये जाने के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रकार का उल्लेख है :—

"अने सम्वत् १५३१ से भस्मग्रह नी थिति उतरी । साधकाल प्रवर्ते छै । तिवारे लुंका मुहता नी वाणी घणा लोक सांभलवा लागा छै ।

चौपाई

सम्वत् पन्द्रह इकतीसो गयो । एक सुमत मत तिहां थी थयो ।
अहमदावाद नगर मझार । लूंको शाह बसे सुविचार ।।१।।

जे जे पेखे ऋष आचार । ते गाथा नो करे उच्चार ।
ग्रन्थ अर्थ में ले ते घणो । उद्यम मांडे लिखवा तणो ।।२।।

तेह वे तेह ने मिल्यो लिखमसी । तिण विहूं वात विचारी इसी ।
(कि आज के ये साधु)
सूत्तर वोल्यो जे आचार । ते ए पासे नहीं लिगार ।।३।।

भणे ग्रन्थ ने राखे वेश । थापे नित कूडो उपदेश ।
लोक प्रवाहे जाणे नहीं । गुरु जाणी वांदे छै सही ।।४।।

सूत्रे तो गुरु जो भाखिया । सांचे जे पाले रिख क्रिया ।
साध तणो तो नाम निर्ग्रन्थ । ए तो दाखी तास ग्रन्थ ।।५।।

साधु भाषा छै निरवद्य । ए तो वोले छै सावद्य ।
ज्योतिप निमित्त प्रकासे घणां । वेदक करे पाप करम तणां ।।६।।

एहवो जाणि साह लूंके । ते द्रव्यलिंगिया नी संगत मूकी पोते सिद्धान्त वांचे । घणां जीवां प्रते सम्यक्त्व पमाडता हुआ । तिण काले अरहटवाडो सिरोही नो—तेह ना शाह संघ काडी ने यात्रा निकल्या छै । तिहां वाट में मावटो हुवो । तेवारे संघ नो पडाव थयो । सिंघवी बात सुणी के लूंको महतो सिद्धान्त वांचे । ते अपूर्व वाणी छै । इम जाणी घणां लोकां संघाते सिंघवी सांभलवा आयो । दया धर्म, साधु श्रावक नो धर्म, सांभली ने अत्यन्त हर्ष पायो । मार्ग रुचियो । घणा दिन जातां जाणी संघ में लिंग-धारी हता ते बोल्या—साहजी संघ आगे चलावो । लोक खर्च खाते दुखी थया छै । तिवारे पछे संघवी बोल्यो वाट में गजरी प्रमुख जीव घणा थया छै । अजयणा थासे, सो सुस्तावो । जदी गुरु बोल्या साह जी ! स्वर्ग कामे हिंसा गणीये नहीं । तिवारे संघवी विचार्यो, जेहवा हमें लुंका महता पासे सुणिया तेवा हीज वेषधारी अणाचारी छ काय जीवा नी अनुकम्पा दया रहित दीसे छै । तिवारे यति पाछा गया । पछे ते संघवी ने सिद्धांत सांभलतां वैराग ऊपनो । तिवारे सम्वत् पन्द्रह इकतीसे (वि० सं० १५३१) वर्षे सिरोही ना अरटवाडा ना वासी साह भाणा, जाति पोरवाड अहमदाबाद मध्ये स्वयमेव दीक्षा लीधी । ते पासे सिरोही ना वासी भीदा आदि पैंतालीस जणां दीक्षा लीधी । घणां साधु मिली दया धर्म परूपवा लागा । तिवारे घणा हलुकरमी जीवां ने दया धर्म रुचवा लागो । घणां घणी-घणी रिद्धी छोड ने मोक्षार्थे दीक्षा लीधी । घणां श्रावक थया । घणो जिन मार्ग नो उद्योत कीधो । लोकां लुंका एहवो नाम दीधो ।"

२. उपाध्याय श्री धर्मसागर गणि द्वारा रचित श्री तपागच्छ पट्टावली सूत्रम् सोपज्ञ वृत्ति समलंकृतम् में लोंकाशाह द्वारा प्रवर्तित किये गये शुद्ध साधु मार्ग के सम्बन्ध में निम्नलिखित उल्लेख है :—

"तदानीं च लुंकाख्याल्लेखकात् विक्रम अष्टाधिक पंचदशशत वर्षे (१५०८) जिन प्रतिमोत्थापन-परं लूंकामतं प्रवृत्तम् । तन्मते वेषधरास्तु वि० सं० त्रयस्त्रिंशदधिक पंचदशशत (१५३३) वर्षे जाताः । तत्र प्रथमो वेषधारी भाणाख्योऽभूदिति ।।१६।।

—पट्टावली समुच्चय, पृष्ठ ६७ ।

अर्थात् बावनवें पट्टधर श्री रत्नशेखरसूरि के आचार्यकाल (वि० सं० १५०२ से १५१७) में लुंका नामक लेखक से वि० सं० १५०८ में जिन प्रतिमा का उत्थापक अथवा लोपक लुंकामत प्रचलित हुआ । इस लुंकामत में वेषधारी वि० सं० १५३३ में हुए । लुंकामत में पहला वेषधारी भाणा नामक हुआ ।

३. अज्ञातकर्तृक 'श्री गुरु पट्टवली' में एतद्विषयक निम्नलिखित उल्लेख है :—

"तदा लुंपकाख्यलेखकात् विक्रमतः पन्द्रह सौ आठ (१५०८) वर्षे लुंकामतं प्रवृत्तम्, तन्मत-वेषधरास्तु १५३३ वर्षे जाताः।"

अर्थात् लुंपक नामक लेखक से वि० सं० १५०८ में लुंकामत प्रचलित हुआ। उस मत के वेषधारी वि० सं० १५३३ में हुए।

४. उपाध्याय श्री रविवर्द्धनगणि द्वारा रचित 'पट्टावली सारोद्धार' में भी एतद्विषयक निम्नलिखित उल्लेख है :—

"तदानीं लुंकाख्यातो लेखकात् सम्वत् १५०८ वर्षे श्री जिन प्रतिमोत्थापनपरं लुंका मतं प्रवृत्तम्, तद् वेषधरस्तु सम्वत् १५३८ वर्षे जातः, तत्प्रथमो वेष धारी ऋषि भाणाख्योऽभूदिति।"

—पट्टावली समुच्चय पृष्ठ १५७।

अर्थात् रत्नशेखरसूरि के आचार्य काल में उनके स्वर्गस्थ होने से नव वर्ष पूर्व वि० सं० १५०८ में लुंका नामक लेखक से जिन प्रतिमा की उत्थापना करने वाला लुंकामत प्रचलित हुआ। उस मत में वि० सं० १५३८ में पहला वेषधारी ऋषि भाणा हुआ।

५. दी हार्ट आफ जैनिज्म के लेखक के अभिमतानुसार लोंकामत ईसवी सन् १४५२ तदनुसार वि० सं० १५०९ में प्रचलित हुआ।

६. वडौदा यूनीवर्सिटी में उपलब्ध पुस्तक संख्या २३३२३ में लोंकागच्छ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित उल्लेख है :—

"सम्वत् १५०८ लुंपाक मतोत्पत्तिः लक्कउ इति नाम्नः लेखकात्। सम्वत् १५३३ लुंपाक मते प्रथम भाणियो नाम वेषधारी जातः। इति लुंका।"

अर्थात् वि० सं० १५०८ में लक्कउ नामक लेखक से लुंपाक मत की उत्पत्ति हुई। इस मत में सम्वत् १५३३ में पहला वेषधारी भाणियो नामक हुआ।

७. वडौदा यूनीवर्सिटी में उपलव्व यति हेमचन्द्र की 'पट्टावली' में वि. सं. १४२८ में लोंकागच्छ की स्थापना का उल्लेख है। इस सम्वन्व में पूरा विवरण—"लोंकाशाह के दीक्षित होने अथवा न होने विपयक अभिमत" नामक अवोलिखित शीर्षक के नीचे दिया जा रहा है।

लोंकाशाह के दीक्षित होने अथवा न होने विषयक अभिमत

(१) बड़ौदा यूनीवर्सिटी में उपलब्ध यति श्री हेमचन्द्र की पट्टावली में लोंकाशाह के स्वयं विक्रम सम्वत् १४२८ में एक सौ बावन (१५२) पुरुषों के साथ दीक्षित होने, तीन माह की दीक्षा पर्याय के अनन्तर आयु पूर्ण कर देवलोक में देव रूप से उत्पन्न होने तथा अपने १५२ साधुओं को, देवलोक से आकर, सूरि मन्त्र वेने का उल्लेख है, जो इस प्रकार है—

"संघ १५२ (पन्द्रह) शाह माहा पाटण मां आव्या। वर्षा रथे नील फूल ऊगी। सम्वत् १४२८ मां, पाटण मां देरा देख स्थान जोई रिहिया। तए दिवस नीर्गमे नहीं, तरा लको लहियो सिद्धान्त बत्तीस लखी बाची और परूपणा करे छै। ते पासे १५२ संघवी जेने बत्तीस सूत्र सांभल्या, तरे संघवी एक सौ बावन ने पुछ्यु—के हे लका ! लहिया ! भगवन्त ने एक लाख उनसठ हजार श्रावक थयां। ते मां मोटा बारा व्रतधारी दस, ते एकावतारी, ते नुं सूत्र रचु, ते णे केणे संघ न काढो। देहरू न कराव्यू, प्रतिमा न पूजी। ते नो (संघ निकालने, देहरा करवाने और प्रतिमा पूजने का) पाठ उपासगदसांग मां केम न आव्यो ? ते प्रतिमा तो झूठी, माटे अमारा पैसा संघ काडा ना खराब कर्या। गाडा ना पेडा हेठे अनेक जीव मर्या। माटे आजीवक मत एह धिगस्तु संसार द्रव्य छै। छोकरा.......... पड़ता मूकी ने १५२ साधु थया। पुस्तक लुंका लहिया कने थी लई। लुंके दीक्षा लीधी। १५३ ठाणुं विहार करी वन मां जाई रीया। अने पन्नवणा ए महापन्नवणा ए—महापन्नवणा मां पाठ मां कह्युं छै जे भगवन्त ने इन्द्रे विनती कीधी अन्त समय—"हे प्रभु भस्म ग्रह बेसे छै। ते जो वे घड़ी आउखो बधारो तो तमारी दृष्टि ने जोगे दो हजार नी दो घड़ी मां उतरी जासे।" प्रभु कहे—"ए अर्थ न समर्थ, तीर्थंकर बल न फोडवे। त ए रा (इन्द्र) ने पूछा प्रभु ! पाछो जीव दया मूल धर्म क्यां थी दीपसे ? त ए रे प्रभु ए कह्युं :—"जे जीवा रूपा दो जीव भविस्सइ। त्यां थी जीवदया मूल धर्म दीपसे।" पछे लुंके तीन दिन अनशन करी चव्यो (स्वर्गस्थ हुआ)। मध्य रात्रे देव आकाशे आवी १५२ साधु ने सूरिमन्त्र दीधो। ते साधु ए सवारे कागले उतार्यो, कह्युं जे (मैं) लको ऋषि देवलोके गयो छूं, अो लोकागच्छ सत्य छै। हवे त्यां थी लोकागच्छ नी पेढी सम्वत् १४२८ थी लखाणी।"

(आचार्य)

(१) रिख लकाजी (लोंका) पाटन रा रेवासी, जात वीसा ओसवाल, गोत्र लकड (लूंकड), दीक्षा मास तीन नी सर्वायु वर्ष ५७।

(२) ऋष भाणोजी। गांव अरहटवाडा ना। बीसा ओसवाल गोत्र लोढा। सम्वत् १४३८ (१४२८) मां दीक्षा अहमदाबाद मां।

(३) रिख भीदाजी। सिरोही ना रेवासी। बीसा ओसवाल। साघरिया गोत्री। जणा ४५ साथे दीक्षा लीधी। पाटण मां।

इस प्रकार लोंकाशाह सहित इक्कीस पाट की अर्थात् पट्टधरों की सूची इस पट्टावली में दी गई है। इसका सारांश इस प्रकार है :—

"जिस समय लोंकाशाह बत्तीसों शास्त्रों का लेखन कर चुकने के अनन्तर पाटण में शास्त्रों का उपदेश कर रहे थे उस समय एक सौ बावन संघ आये। उन संघों के माहा आदि १५२ संघवी थे। वर्षा हो जाने के कारण मार्ग में सर्वत्र नीलण फूलण जीव जन्तु आदि उत्पन्न हो गये थे। इस कारण उन १५२ संघवियों ने सम्वत् १४२८ में पाटण में ही अच्छा स्थान देखकर डेरे डाले। विना काम दिन बिताना बड़ा कठिन हो गया। उस समय उन संघवियों ने लोगों के मुख से सुना कि लोंकाशाह ने बत्तीस आगम लिखे हैं और उनकी प्ररूपणा करते हैं। यह सुनकर वे संघवी और संघ के लोग लोंकाशाह के पास आगमों की वाचना सुनने जाने लगे बत्तीस सूत्रों की वाचना सुन लेने के पश्चात् उन १५२ संघवियों ने लोंकाशाह से पूछा—"हे लोंका लेखक ! भगवान् महावीर के एक लाख उनसठ हजार श्रावक हुए। उनमें बारह व्रतधारी, दस प्रमुख श्रावक और एक भवावतारी थे। उनका सूत्रों में विस्तारपूर्वक वर्णन है, पर उस वर्णन के अनुसार उन एकाभवावतारी श्रावकों में से किसी एक ने भी न तो कभी कोई एक भी संघ निकाला, न किसी ने कोई मन्दिर ही बनवाया और न किसी ने किसी प्रतिमा की पूजा ही की। यदि उन्होंने संघ निकाला होता, जिन मन्दिर बनवाये होते एवं प्रतिमाओं की पूजा की होती तो उसका पाठ उपासक दशांग में अवश्यमेव आता। इस प्रकार का पाठ उपासक दशांग में नहीं है। वस्तुतः इस कारण प्रतिमाएं सही नहीं हैं। हमने व्यर्थ ही संघ निकाल कर अपना पैसा वर्बाद किया है। गाडों के पहियों के नीचे आकर न मालूम कितने जीव मरे हैं। धिक्कार है इस प्रकार का संघ आदि निकालने का उपदेश करने वाले उदरपोपकों को। इस प्रकार अपने उद्गार अभिव्यक्त कर उन १५२ संघवियों ने सब प्रकार के सांसारिक बन्धनों को तोड़ कर श्रमणत्व अंगीकार कर लिया। लोंका ने भी दीक्षा ले ली और लोंका से उन १५२ साधुओं ने शास्त्र ग्रहण किये। तदनन्तर उन १५३ साधुओं ने विहार कर वन में निवास प्रारम्भ किया और वे धर्म का प्रचार करने लगे। महापन्नवणा में इस प्रकार का पाठ आता है कि जिस समय श्रमण भगवान् महावीर मोक्ष के लिए महाप्रयाण

करने लगे, उस समय इन्द्र ने उनके समक्ष उपस्थित हो प्रार्थना की—हे भगवन् ! आपके जन्म नक्षत्र पर भस्म ग्रह लगा हुआ है। अतः इस समय यदि आप दो घड़ी का अपना आयुष्य और बढ़ा लें तो आपके संघ पर जो दो हजार वर्ष तक भस्मग्रह के प्रभाव से अनिष्ट प्रभाव पड़ने वाला है, वह दो घडी आयुष्य बढ़ाने से पूरी तरह टल जावेगा।" इस पर प्रभु महावीर ने इन्द्र से कहा—"हे शक्र ! यह कदापि सम्भव नहीं है क्योंकि तीर्थंकर कभी अपने बल को नहीं फोडते अर्थात् अपने अनन्त बल का उपयोग नहीं करते।" इस पर इन्द्र ने प्रभु से पूछा—"हे प्रभो ! यह जीवदयामूलक-धर्म पुनः कब से अभ्युदित हो उद्योतित होगा।" प्रभु महावीर ने फरमाया :—"जीवा और रूपा (जीवा ऋषि और रूपजी ऋषि) ये दो भव्य होंगे। उनसे जीव दयामूलक धर्म पुनः उद्योतित होगा।"

तदनन्तर (तीन मास पश्चात्) ऋषि लोंका ने अनशन किया और तीन दिन के अनशन से वे स्वर्गस्थ हुए। वे स्वर्ग में देवरूप से उत्पन्न हुए। उसी मध्य रात्रि में देव रूप से उत्पन्न हुए लोंका ऋषि के जीव ने आकाश में आकर उन १५२ साधुओं को सूरिमन्त्र दिया और उनसे कहा—'मैं लोंका ऋषि का जीव हूं। देवलोक में देव रूप से उत्पन्न हो गया हूं। वस्तुतः यह लोंकागच्छ सत्य है।" यह कहकर देव तिरोहित हो गया और उन १५२ साधुओं ने प्रातःकाल होते ही सूरिमन्त्र को पत्रों पर लिख लिया।

इस प्रकार के उल्लेख के अनन्तर लोंकाशाह को लोंकागच्छ का प्रथम पट्टधर बताते हुए उनके पश्चात् हुए इक्कीस पट्टधरों के दीक्षाकाल, आचार्यकाल आदि पर प्रकाश डालते हुए उनका संक्षेप में परिचय दिया गया है।

इस पट्टावली में लोंकागच्छ के प्रथम आचार्य लोंकाशाह से लेकर बावीसवें पट्टधर खूबचन्दजीसूरि ((सम्वत् १९२४) से लेकर (१९८२)) तक का जो परिचय दिया गया है उसमें सबसे महत्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या लोंकागच्छ के प्रवर्तक लोंकाशाह ने विक्रम सम्वत् १४२८ में ही लोंकागच्छ का प्रवर्तन कर १५२ संघवियों के साथ दीक्षा लेली थी। जब कि इसके अतिरिक्त जैन वाङ्मय में जितने भी उल्लेख हैं वे सब विक्रम सम्वत् १५०८, विक्रम सम्वत् १५३१ और विक्रम संवत् १५३३ से लोंकागच्छ के प्रारम्भ होने की बात कहते हैं। यह अस्सी से लगभग एक सौ वर्ष का अन्तर वस्तुतः विचारणीय है। पट्टावली के उपर्युल्लिखित उल्लेख में विक्रम सम्वत् के स्थान पर केवल सम्वत् का ही उल्लेख किया गया है। इससे सहज ही मन में यह आशंका उत्पन्न होती है कि यह विक्रम की अपेक्षा कोई अन्य सम्वत् तो नहीं है। मध्य युग में भारत के विभिन्न प्रान्तों में और मुख्यतः गुर्जर प्रदेश में शक संवत्सर भी प्रचलित था किन्तु इस पट्टावली में

उल्लिखित सम्वत् १४२८ शक सम्वत्सर भी नहीं हो सकता क्योंकि शक सम्वत्सर विक्रम संवत्सर से १३५ वर्ष पश्चात् प्रचलित हुआ। और इस दृष्टि से इस पट्टावली में उल्लिखित सम्वत् १४२८ को शक सम्वत्सर मान लिया जाय तो लोंकाशाह के अस्तित्व और लोंकागच्छ के प्रादुर्भाव का समय विक्रम सम्वत् १५६३ तक का आ पहुंचता है जो लोंकाशाह और लोंकागच्छ विषयक आज तक उपलब्ध हुए उल्लेखों को दृष्टिगत रखते हुए किसी भी दशा में किंचित्मात्र भी संगत प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार की स्थिति को देखते हुए ऐसा लगता है कि सम्वत् के उल्लेख में किसी लिपि कार के प्रमाद से ५ के स्थान पर चार लिखने की त्रुटि हो गई है। तथापि इस आशंका के लिये अवकाश रह जाता है कि इस पट्टावली में उल्लिखित सम्वत् शक संवत्सर और विक्रम सम्वत्सर से भिन्न कोई दूसरा सम्वत्सर तो नहीं है। इस प्रश्न को हम संवत्सर का निर्णय करने में निष्णात शोधार्थियों पर छोड़कर केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि इस पट्टावली में उल्लिखित जो सम्वत् है वह विक्रम सम्वत् १५२८ होना चाहिये। वस्तुतः लिपिकार ने पांच के अंक को चार भ्रांति से लिखने जैसी अथवा अन्य कोई त्रुटि कर दी है।

बड़ौदा यूनीवर्सिटी में उपलब्ध यति हेमचन्द्रजी की पट्टावली में लोंकाशाह की १५२ संघवियों के साथ दीक्षित होने की बात का समर्थन शास्त्रोद्धारक श्री अमोलक ऋषिजी महाराज ने भी अपनी कृति 'शास्त्रोद्धार मीमांसा' में किया है। जो इस प्रकार है :—

"उस समय वहां अहमदाबाद शहर में राजमान्य श्रीमान् धर्मात्मा पुण्य प्रभाविक प्रभावशाली दृढ़धर्मी धर्म धुरन्धर कार्यदक्ष और अर्द्ध मागधी भाषा के ज्ञाता तथा शीघ्रता से सुन्दर व शुद्ध लिपि लिखने वाले लोकाजी नामक श्रावक रहते थे। वे साधु दर्शन के प्रेमी होने से प्रातः काल में यतियों के दर्शनार्थ उस उपाश्रय में आये, लोंकाजी को देख यतियों को वहुत खुशी हुई। खुश होकर मानपूर्वक वचनों से वे कहने लगे कि :— "अहो शाहजी! आपके योग्य एक महा कार्य है। यदि आप उस कार्य को करेंगे तो जैन धर्म को चिर स्थायी वनाने के लाभ के सद्भागी वनोगे। जैन समाज पर आपका वड़ा भारी उपकार होगा। इसमें आपको परिश्रम तो जरूर होगा परन्तु आप सिवाय अन्य कोई भी इस कार्य को करने की योग्यता रखने वाला नहीं है। इसलिये आपको ही चेताया है। उक्त प्रकार से यतियों के वचन श्रवण करके लोकाजी आश्चर्यचकित वने और नम्रता पूर्वक कहने लगे कि कहिये महाराज! मेरे लायक ऐसा कौनसा काम है। उसे मैं भी यथाशक्ति करना चाहता हूं। तव उन यतियों ने जीर्ण पर्याय प्राप्त हुए शास्त्र लोकाजी को वताये और कहने लगे कि इनकी पुनरावृत्ति लिखकर जीर्णोद्धार करने की परम आवश्यकता है। क्योंकि इस पंचम आरे में जिन प्रणीत धर्म को चिर स्थायी रखने का यह एक ही उपाय है।

इस समय तीर्थंकर, केवलज्ञानी, श्रुत-केवली, पूर्वधर प्रमुख धर्माधिकारियों को तो साफ विच्छेद हुआ है। अब तो जो कुछ ज्ञान दान दाता धर्मात्मा को परमाश्रयदाता, महा उपकार कर्त्ता और पूर्ण विश्वसनीय यह जिनेश्वर जैसे जिनेश्वर के वचन ही रहे हैं। आगे जैनधर्म इन शास्त्रों के आधार से ही चलेगा। इसलिये यह महा उपकारी काम आपको जरूर करना चाहिये।

उक्त प्रकार का आग्रह पूर्वक मुनियों के वचन लोंकाजी श्रवण कर जीर्ण शास्त्रों का अवलोकन कर शास्त्रोद्धार कार्य अपने व अन्य अनेकों की आत्मा के परोपकार का कार्य जानकर उस कार्य करने स्वात्म शक्ति का भान कर महालाभ वाले कार्य को अपने हाथ से करने के लिए उत्साही बने। और कहने लगे कि इन सब शास्त्रों में से प्रथम कोई छोटा शास्त्र दीजिये। उसकी पुनरावृत्ति करके आपको दिखला दूं। आपको जिससे यह मालूम होवे कि यह कार्य यथायोग्य हुआ है तो आगे अन्य शास्त्र लिखना प्रारम्भ करूंगा। इस प्रकार लोंकाजी के वचन सुनकर उन यतिवर्य ने बहुत प्रसन्नतापूर्वक छोटा सूत्र दशवैकालिक निकालकर लोंकाजी को दिया। लोंकाजी उसे अपने घर ले गये। उसे दत्तचित्त से आद्यन्त पठन कर बड़े ही आनन्दाश्चर्य में गरकाव बने। जिनेन्द्र पद का अपूर्व पदार्थ उनको मालूम हुआ। वर्तमान साधुओं के आचार और शास्त्र कथित आचार में महदाकाशी अन्तर दिखा। परन्तु अपनी ज्ञानान्तराय के क्षयार्थ मौन रहे और अपने को सदा ज्ञान लाभ मिलता रहे, इस बुद्धि से उसकी दो प्रति लिखने लगे। पूर्ण प्रति लिखने के बाद दो प्रतियां यतियों को ले जाकर बताई। यतिजी के पूछने पर कहा कि एक आपके लिये लिखी, और एक मेरे लिये लिखी है। यह सुनकर वे सरल स्वभावी और ज्ञानप्रेमी यतिजी खुश होकर बोले अच्छा आप भी पढ़ना और हमारे शिष्यों को भी पढ़ाना। यों कह और भी शास्त्र निकाल कर लोंकाजी को दे दिये। इस प्रकार यतियों की आज्ञा से प्रत्येक शास्त्र की दो-दो प्रतियां लिखने लगे। एक-एक उन्हें देते गये और एक-एक अपने पास रखी। इस प्रकार लोंकाजी के पास जैन शास्त्र का भण्डार हो गया।

लोंकाजी शास्त्रों का जीर्णोद्धार कर रहे हैं ऐसा जानकर बहुत अन्य भव्य ज्ञानार्थी लोंकाजी के पास आने लगे। शास्त्रार्थ पूछने लगे। लोंकाजी भी उनको जिन प्रणीत और गणधर रचित शास्त्रों का श्रवण कराकर सन्तोषित करने लगे। इस प्रकार जिनप्रणीत, गणधर रचित शास्त्रों की अपूर्व वाणी श्रवण करने से भव्य जनों का चित्त आकर्षित होने लगा। प्रतिदिन श्रोताओं की संख्या वृद्धि पाने लगी। परिषदा में अपूर्व आनन्द प्राप्त होने लगा। सच्चे अखण्डित साधु समाचारी का लोगों को भान

होने लगा। उक्त प्रकार लोंकाजी की महिमा लोगों के मुख से सुनकर यतियों को द्वेष उत्पन्न होने लगा और लोंकाजी को आगे से शास्त्र देना बन्द कर दिया। जितने शास्त्र लोंकाजी के हाथ लगे उतने का ही उद्धार हुआ और शेष शास्त्र भण्डार में रह गये जो दीमक वगैरह जन्तुओं के भोग बन गये।

उक्त प्रकार लोंकाजी द्वारा ३२ (बत्तीस) शास्त्रों का भण्डार अपने अधीन कर अरिहन्त प्रणीत सत्य शास्त्र का स्वरूप दर्शाने के लिए स्वेच्छा से आये हुए लोगों को सत्यधर्म का उपदेश करने लगे और शंकाशील पुरुषों की शंका का निवारण भी करने लगे। लोंकाजी का सद्बोध लोगों को बड़ा ही वैराग्य उत्पादक हुआ। एक वक्त यतियों के उपदेश से यात्रा को जाते हुए चार संघ अहमदाबाद में एकत्रित हुए। वे लोंकाजी का सद्बोध सुनकर सच्चे वीतराग प्रणीत धर्म के श्रद्धालु बने। उनमें से १५२ पुरुषों को वैराग्य प्राप्त हुआ। वे बोले कि जो आप शास्त्रानुसार दीक्षा धारो तो हम भी आपके शिष्य होने को तैयार हैं। यह सुनकर लोंकाजी परमानन्दी बने और प्रथम मुखपति मुखकर बांध कर पंच परमेष्ठी को वन्दना की और स्वयं दीक्षा धारण की। फिर एक सौ बावन (१५२) पुरुषों को दीक्षा दी। लोंकाजी को अपना परमोपकारी जान गच्छ का नाम लोंका-गच्छ दिया।

उन साधुओं के साथ आर्यमण्डल में बहुत समय तक विचरण कर सत्यधर्म का प्रसार किया। फिर आलोचना, निन्दा युक्त १५ दिन के संथारे पूर्वक आत्मोद्धार किया। तत्पश्चात् भाणजी नामक सद्गृहस्थ ने ४५ महापुरुषों के साथ मुख पर मुखवस्त्रिका बांधकर दीक्षा धारण की। लोंकागच्छ शास्त्रानुसार शुद्धाचार का पालन करते हुए कितनेक काल बाद शिथिलाचारियों की संगति से शिथिलाचारी बन गया।

—o—

लोंकाशाह के जीवन के कतिपय तथ्यों पर प्रकाश डालने वाले उल्लेख

१. भानुचन्द्र यति द्वारा रचित "दयाधर्म चौपाई—कड़ी संख्या २५" में लोंकाशाह के जीवन के कतिपय तथ्यों पर प्रकाश डालने वाले निम्नलिखित पद मननीय हैं :—

"वीर जिणेसर पणमि पाय, सुगुरु तणु लह्यो सुपसाय।
भस्मग्रह नो रोष अपारु जईन धरम पडियो अन्धकार ।।१।।
चौदसय बयासी वैसाखई, वद चौदस नाम लुंको राखई।
आठ वरिस नो लुंको थयो, सा डूंगर परलोकै गयो ।।४।।
दयाधर्म जलहलती जोत, सा लूंके कीधुं उद्योत।
पनर सय बत्तीसौ प्रमाण, सा लुंको पाम्यो निर्वाण ।।१४।।
पनर सय अठ्योत्तर जाणऊ, माघ शुद्धि सातम प्रमाणऊ।
भानुचन्द्र यति मति उल्लसऊ, दया धर्म लुंके विलसऊ ।।२५।।

२. मरुधर केशरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज ने लोंकाशाह के जन्मादि के सम्बन्ध में निम्न प्रकार से उल्लेख किया है :—

"अरहटवाडा के शाह हेमाजी ओसवंशीय के आप सुपुत्र थे। दफ्तरी आपका गोत्र था। माता का नाम गंगादेवी था। उस सुयोग्य दम्पति युगल से कार्तिक पूर्णिमा को वि० सं० १४७२ में आपका जन्म हुआ। आप एक होनहार पुत्र थे, आपका नाम लोकचन्द्र रखा गया। वि० सं० १४८७ में आप व्यापार व्यवसाय में लगे। आपके पिता सिरोही दरबार **चन्द्रावती** (?) के प्रधान दीवान थे। दरबार से किसी कारण विरोध हो जाने से आप अपने प्रिय पुत्र को लेकर अहमदाबाद पहुंचे। अहमदाबाद में लोंकाशाह जवाहरात का धन्धा करने लगे। यहां सन्त समागम से आप धार्मिक शास्त्रों का अध्ययन भी करने लगे। वि० सं० १५३० में आपने (आपको) शास्त्रों का अध्ययन करते हुए (समय) ज्ञानज़ी यति के द्वारा दशवैकालिक सूत्र प्रतिलिपि करने को मिला। इसको पढ़कर आपने धर्म और साधु जीवन के आचार को समझा और शुद्ध धर्म का निरूपण करने लगे। इससे अणहिल्लपुर पाटण के निवासी लखमसी आदि ४५ व्यक्तियों ने संयम ग्रहण किया।"

३. प्राग्वाट इतिहास में आपके जीवन के सम्बन्ध में कतिपय नवीन तथ्यों पर प्रकाश डाला है :—

४. वाडीलाल मोतीलाल शाह ने ऐतिहासिक नौंध में लोंकाशाह के जीवन के सम्बन्ध में कतिपय तथ्यों पर प्रकाश डाला है, जो इस प्रकार है :—

"१. लोंकाशाह यतियों के उपाश्रय में गये....उतारने के लिए दिये हुए शास्त्रों से एक-एक नकल यतियों के लिये और एक-एक घरू उपयोग के लिये लिखी। इसी तरह लोंकाशाह के पास एक अरसे में अच्छा जैन साहित्य इकट्ठा हो गया।" (ऐतिहासिक नौंध, पृष्ठ ६७)

२. लोंकाशाह की दीक्षा के सम्बन्ध में शाह वाडीलाल मोतीलाल ने लोंकाशाह के मुंह से कहाया है—"मैं इस समय बिल्कुल बूढ़ा और अपंग हूं, ऐसे शरीर से साधु की कठिन क्रियाओं का साधन होना अशक्य है। मेरे जैसा मनुष्य दीक्षा लेकर जितना उपकार कर सके, उससे ज्यादा उपकार संसार में रहकर कर सकता है।"

—ऐतिहासिक नौंध पृष्ठ ७४, ७५।

५. स्वामी मणिलालजी महाराज साहब ने अपनी रचना 'प्रभु वीर पट्टावली' के पृष्ठ १७० पर लोंकाशाह के जीवन से सम्बन्धित घटना पर प्रकाश डालते हुए लिखा है :—

"संघ ना श्रद्धालु तत्काल झवेरीवाड़ा ना उपाश्रय (जिहां लोंकाशाह उपदेश आपता हथा) आव्या अने लोंकाशाह ने संघ नी मालकी नो मकान खाली करवा धमकी आपी। लोंकाशाहे आवेल श्रावकों ने समझावा नी कोशिश करी पण यतियों नी सज्जड उष्केरणी ने कारणे यतिभक्तो ए कांई दाद न दीधी। एटलुंज नहीं, पण तेमां ना केटलाक स्वच्छन्दी श्रावको आगल आवी श्रीमान् ने बलजबरी थी उपासरा नी बाहर कहाडवा नुं प्रयत्न करवा लाग्या, एटले लोंकाशाह स्वयं (पोते) तरतज उपाश्रय थी निकली गया।........"

(६) जैन साहित्य संशोधक वर्ष ३-३-४८ में गुजराती भाषा में प्रकाशित वीर वंशावली में लोंकाशाह के जीवन की घटना के सम्बन्ध में जो प्रकाश डाला गया है, उसका हिन्दी रूपान्तर निम्न प्रकार है—

"............लोंकाशाह यतियों के उपाश्रय में लिखाई का काम करते थे। उनकी मजदूरी के पैसे श्रावक लोग ज्ञानखातों में से दिया करते थे। एक बार एक पुस्तक की लिखाई का पारिश्रमिक दे देने पर केवल साढ़े सत्तर दोकडे देने शेष रह गये और इसीलिये लोंकाशाह और श्रावकों के बीच परस्पर तकरार हो गई। लोंकाशाह यतियों के पास आया। यतियों ने कहा—"लूंका! हम तो पैसे रखते नहीं हैं। तुम श्रावकों से अपना हिसाब ले लो। यह सुन लोंका को क्रोध आया और वह साधुओं की निन्दा करता हुआ बाजार में एक हाट पर आकार बैठ गया। इधर एक मुसलमान लिखारा (लेखक) जो मुसलमानों की पुस्तकें लिखता था और लोंकशाह

में विकार उत्पन्न हुआ। तद्नन्तर उसने सैयद की संगति से जैन धर्म की सब क्रियाओं का नास्तिकपना (लोप-निषेध अथवा विरोध) कर अपना नया मत निकाला।"

(७) जैन प्रकाश दिनांक १८-८-३५ के पृष्ठ ४७५ पर प्रकाशित 'धर्म प्राण लोंकाशाह' शीर्षक लेख में सन्तबालजी ने लोंकाशाह के जीवन पर प्रकाश डालते हुए निम्नलिखित रूप में अपना अभिमत प्रकट किया है—

"लोंकाशाह खुद गृहस्थ पणां मां रह्या अने ४५ मनुष्यों ने दीक्षा लेवा नी अनुमति आपी।"........(इसके आगे आप फुट नोट में लिखते हैं कि)—कई-कई स्थले एहवो पण मले छै कि लोंकाशाह पोते पण दीक्षित थया हता, अने तेथीज तेमनो अनुयायी वर्ग लोकामत तरीके पाछल नथी। आ वक्ते लोंकाशाह नी वय खूबज वृद्ध थई गई हती। अने आ ४५ दीक्षा थया पछी टुंकज वगत मां तेम नो देहान्त थयो छै। एटले तेओ नी त्याग दशा उत्कृष्ट होवा छतां, गृहस्थ छतां पण सन्यास एवा रह्या, दीक्षा लई शक्या नथी।........"

(८) साधु विनयर्षिजी ने दिनांक ४-४-३६ के बम्बई समाचार नामक पत्र में प्रकाशित अपने लेख में लिखा है—

"श्रीमान् धर्म प्राण लोंकाशाह नी उमर ए समये मोटी हती, तेओ गृहस्थवास मां साधु जीवन गालता हता।"

(९) स्वामी मणिलालजी ने अपनी कृति 'प्रभुवीर पट्टावली' के पृष्ठ १७० पर लिखा है—

लोंकाशाह अकेले पाटन यति सुमतिविजयजी के पास गये और उनसे दीक्षा ग्रहण कर अपना नाम लक्ष्मीविजय रक्खा। यह दीक्षा भी चातुर्मास में अर्थात् विक्रम सम्वत् (१५०९) १५०९ श्रावण शुक्ला ग्यारस को ली थी।"

(१०) खम्भात के संघवी पोल भण्डार से उपलब्ध हुई पट्टावली के साथ संलग्न "सात इन्च लम्बे, तीन इन्च चौड़े दो जीर्णपत्रों की फोटो प्रति में भी "चौरासी गच्छ महात्मा" शीर्षक के नीचे क्रम संस्था ८ पर लोंकाशाह के स्वयं दीक्षित होने का उल्लेख है जो इस प्रकार है —

(क्रमसंख्या ८) "सम्वत् १५३१ जती स्वयमेव लूंकोशाह लूंको हुओ।"

अर्थात् विक्रम सम्वत् १५३१ में लोंकाशाह ने दीक्षा ग्रहण की और वे यति अर्थात् श्रमण हुए। दीक्षा उन्होंने स्वयमेव ग्रहण की थी।

लोंकागच्छ परम्परा का मूल नाम 'जिनमती'

जिस प्रकार वड़ौदा यूनिवर्सिटी में उपलब्ध गच्छाचार विधि नामक तीन पत्रों की छोटी-सी पुस्तिका के पृष्ठ पांच और छः पर सम्वत्वार ऐतिहासिक घटनाओं के उल्लेख में क्रम संख्या १७ पर उल्लेख है कि "वीर निर्वाण सम्वत् २००० वर्षे लोंका (लोके का) जिनमती सत्य प्ररूपणा ना करणहार हुआ ।।६।।, ठीक इसी प्रकार खम्भात की सिंघवी पोल भण्डार से प्राप्त सम्वत् १८३४ में लिखित पांच पत्र की पट्टावली के दसवें पृष्ठ पर यह उल्लिखित है कि 'वीर पछे दो हजार (२०००)........' २३ वर्षे जिनमती हुआ । परवादी ई 'लोंका' कह्या ।"

इस प्रकार के ये उल्लेख प्रत्येक जैन धर्मावलम्वी विज्ञ और मुख्यतः इतिहास के विद्वानों एवं शोधार्थियों के लिये बड़ा ही चिन्तनीय एवं मननीय है। विशेषकर उस स्थिति में जवकि साधुमार्गी परम्पराओं के साधुओं अथवा आचार्यों की सेवा में किसी क्षेत्र विशेष के श्रावकों द्वारा अपने क्षेत्र में चातुर्मास करने हेतु जो विनन्तिपत्र शताब्दि दो शताब्दि पूर्व के अतीत काल में भेजे गये, उनमें उन आचार्यों अथवा साधुओं के नाम के पूर्व 'जिनमति' विशेषण लगे पत्र अद्यावधि कहीं-कहीं उपलब्ध होते हैं। आचार्यश्री विनयचन्द ज्ञान भण्डार, जयपुर में इस प्रकार का एक 'विनतीपत्र' आज भी सुरक्षित है जिसे प्रत्येक जिज्ञासु देख सकता है।

इन उल्लेखों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर प्रत्येक विज्ञ के अन्तर्मन में इस प्रकार के विचार का उत्पन्न होना सहज ही सम्भव है कि वीर निर्वाण सं० २००१ में धर्मप्राण वीर लोंकाशाह ने धर्मोद्धार कर आगमों पर आधारित विशुद्ध साधुमार्गी परम्परा का पुनरुद्धार किया। उस समय चैत्यवासियों, यतियों एवं शिथिलाचारग्रस्त अन्यान्य परम्पराओं से इस विशुद्ध साधुमार्गी परम्परा की पृथक् पहचान के लिये वस्तुतः इसका कोई न कोई नाम तो अवश्यमेव रक्खा होगा और वह नामकरण भी इस परम्परा के प्रादुर्भाव के साथ ही स्वयं लोंकाशाह द्वारा अथवा लोंकाशाह की विद्यमानता में इस विशुद्ध परम्परा के अनुयायियों द्वारा ही रक्खा गया होगा। समस्त जैन वांग्मय के आलोडन के उपरान्त भी अद्यावधि उपलब्ध जैन साहित्य में इस परम्परा के—लोंकागच्छ, लूंपकगच्छ, लूंपाकगच्छ और जिनमती—इन चार नामों के अतिरिक्त और कोई नाम उपलब्ध नहीं होता। जहां तक लोंकागच्छ नामकरण का प्रश्न है, लोंकाशाह जैसे आदर्श, त्यागी और जिनशासन प्रेमी महापुरुष अपनी विद्यमानता में किसी भी दशा में प्रभु महावीर के महान् धर्म संघ का नाम अपने नाम पर "लोंकागच्छ" रखने के लिये सहमत नहीं हो सकते थे। 'लूंपकगच्छ' और 'लूंपाकगच्छ' इन दो नामों से इस विशुद्ध परम्परा का नामकरण किये जाने का जहां तक प्रश्न है 'लूंपक' और 'लूंपाक' इन दोनों

शब्दों का अर्थ है 'चोर, लुटेरा अथवा डाकू'। इस प्रकार की स्थिति में कोई भी सभ्य संघ अपने आपको चोर लुटेरे और डाकुओं का गच्छ अथवा समूह इस नाम से अभिहित किया जाना कभी स्वेच्छा से स्वीकार नहीं कर सकता। इसके साथ ही इस विशुद्ध साधु परम्परा के विरोधी, प्रतिपक्षी अनेक गच्छों ने अपनी पट्टावलियों, कविताओं, चौपाइयों, भासों आदि में इस परम्परा के लिए 'लूंकागच्छ', 'लूंपकगच्छ' अथा 'लूंपाकमत' इन अशिष्ट एवं अभद्र शब्दों का प्रयोग किया है। इस प्रकार के अभद्र शब्दों का इस विशुद्ध श्रमण परम्परा के लिए प्रयोग आज भी प्रतिपक्षी गच्छों के साहित्य में यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है। इसके साथ ही लोंकागच्छ की अनेकानेक पट्टावलियों में यह स्पष्ट उल्लेख है कि लोंकाशाह द्वारा किये गये धर्मोद्धार के परिणामस्वरूप जो विशुद्ध साधुमार्ग अथवा दयामार्ग की परम्परा प्रचलित हुई, उसका नाम विरोधियों ने विद्वेषाभिभूत हो लूंकागच्छ अथवा लोंकागच्छ रक्खा।

अब शेष रहा एक ही नामकरण, और वह है जिनमती। बड़ौदा यूनीवर्सिटी में उपलब्ध गच्छाचार विधि और खम्भात सिंघवी पोल भण्डार से प्राप्त पट्टावली के उपरिलिखित उल्लेखों पर निष्पक्ष एवं गम्भीर दृष्टि से विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि पूर्व काल में शताब्दियों तक सुविहित परम्परा के नाम से पहिचानी जाती रही अथवा लोक में प्रसिद्ध रही परम्परा को आगमों के परिवेष में जन-जन के समक्ष प्रकाश में लाते हुए लोंकाशाह ने उस समय इस शास्त्रीय विशुद्ध श्रमणाचार की परम्परा को जिनमत के नाम से अभिहित किया था। इसी कारण उपरोक्त दो पत्रावलियों में इस परम्परा की जिनमती के नाम से पहिचान कराई गई है। लोंकाशाह ने आगमों पर आधारित इस विशुद्ध परम्परा का नाम जिनमती रखा था, इसकी पुष्टि श्रावकों द्वारा श्रमणोत्तमों की सेवा में प्रस्तुत किये गये विनती पत्रों में उनके नाम के आगे अथवा पीछे 'जिनमती' शब्द के प्रयोग से भी होती है। उपरिलिखित तथ्यों से तो निस्सन्देह रूप से यही सिद्ध होता है कि इस लोंकागच्छ परम्परा का नाम सर्वप्रथम 'जिनमती' रक्खा गया था। जिनेश्वर प्रभु श्रमण भगवान् महावीर द्वारा चतुर्विध तीर्थ के रूप में स्थापित की गई त्रिश्व-कल्याणकारिणी धर्म परम्परा को लोंकाशाह द्वारा जिनमती नाम की संज्ञा देना सभी भांति समुचित प्रतीत होता है।

आशा है इतिहास के विद्वान् एवं शोधरुचि विज्ञ इस सम्बन्ध में गहन शोध कर और अधिक प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

पोतियागच्छ के नाम से प्रसिद्ध एकपातरिया गच्छ के राजकवि श्री रायचन्द मुनि द्वारा वि० सं० १७३६ की भाद्रपद शुक्ला पंचमी, सोमवार के दिन इन्दौर नगर में रचित एक पातरिया गच्छ पट्टावली में महान् धर्मोद्धारक, दया-धर्म प्रचारक वीर लोंकाशाह का विस्तार के साथ परिचय दिया है, जो इस प्रकार है :—

"लोंकागच्छ किस प्रकार और कब प्रचलित हुआ इस सम्बन्ध में ध्यान देकर सुनिये। मरुधरा (मारुमण्डल अथवा मारवाड़) में खेरंटिया नामक एक (नगर) ग्राम था। वहां पर (वि० सं० १५१५ में जोधपुर नामक नगर बसाने वाले) मरुधराधीश राव जोधा के पुत्र रतनसिंह के पुत्र दुर्जनसिंह का शासन था जिसका कि १६०० गांवों पर आधिपत्य था। दुर्जनसिंह के कोषागार धन से परिपूर्ण थे। उसके द्वारा शासित प्रदेश में इभ्य (श्रीमन्तों में अग्रगण्य) श्रेष्ठिवरों के वड़ी भारी संख्या में घर थे। दुर्जनसिंह के महता जाति के कामदार के दो पुत्र थे। एक का नाम था जीवराज और दूसरे का नाम था लखमसी। वे दोनों दुर्जनसिंह के हाकिम (प्रशासक) एवं खरतरगच्छ के जीवाजीवादि तत्वों के ज्ञाता श्रावक थे। वे दोनों भाई राज्य भर में अग्रगण्य माने जाते थे।

एक दिन खरंटिया के शासक दुर्जनसिंह ने मेहता जीवराज और लखमसी पर किसी अपराध का आरोप लगा उनके घर पर अधिकार कर उनका सर्वस्व लूट अपने अधिकार में कर लिया। सर्वस्वापहरण के परिणामस्वरूप जीवराज और लखमसी नितान्त निराधार एवं निर्धन हो गये। आजीविकोपार्जन के लिए उन दोनों भाइयों को अपनी जन्मभूमि मरुधरा को छोड़ने के लिए वाध्य होना पड़ा और वे गुजरात की ओर प्रस्थित हो क्रमशः अनहिलपुर पत्तन पहुंचे। वहां वे पूनमियां गच्छ के पोसालधारी आचार्य आनन्दविमल की पोसाल में गये। श्री आनन्दविमल के ७३० शिष्यों का परिवार था। वहां शिथिलाचार का साम्राज्य देख उन दोनों मेहता वन्धुओं को दुःख के साथ-साथ ही धर्म के सम्बन्ध में वड़ी चिन्ता हुई। श्री आनन्दविमल के मुनि खेमसी नामक एक शिष्य को कुछ लिखते हुए देखकर वे दोनों भाई मुनि के पास गये और उन्हें नमन करने के पश्चात् पूछा—"महाराज आप यह क्या लिख रहे हैं ?"[1]

---

१. लोंकागच्छ ते जाणिये रे, निकल्यां नो अधिकार ।८।

मारुमण्डल जाणिये रे शहर खरंटियो तिहां ।
तेह नगर नो राजवी रे, योधावत नरनाह ।९।

दुर्जनसिंह ये जाणिये रे, रतनसिंह का पूत ।
सोलह से ग्राम तेहने घरे रे, दुर्जनसिंह नरिन्द ।
तेहना हाकम जाणिये रे, महता जीवराज लखमिद ।।१६।।

कोई अन्याय ज नांख ने रे, कामदार गृह सविशेप ।
घर सर्व लूटि लियो रे, किया निर्धन एह जी ।।१८।।

एकपातरियागच्छ पट्टावली (अप्रकाशित)

आचार्य आनन्दविमल के शिष्य खेमसी मुनि ने उत्तर दिया—"श्रावकजी ! मैं दशवैकालिक सूत्र लिख रहा हूं।" मेहता लखमसी ने "धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो"—इस गाथा को पढ़ा तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। संभवतः मुनिश्री की धीमी लेखनगति अथवा अपेक्षित अक्षर—सौन्दर्य न देखकर मेहता लखमसी ने मुनिजी से कहा—"मुझे दीजिये महाराज ! मैं लिखता हूं।"

मेहता लखमसी ने तीव्र गति से इस प्रकार लिखना प्रारम्भ किया मानो पत्रों पर मोतियों की लड़ियां बिछा रहे हों। मेहता लखमसी के अतीव सुन्दर अदृष्टपूर्व अद्भुत् लेखन को देखकर मुनि खेमसी के आश्चर्य का पारावार न रहा। उसने तत्काल लखमसी द्वारा लिखे गये पत्र को अपने गुरु आनन्द विमलसूरि के पास ले जाकर कहा—"आचार्यदेव ! देखिये मोती के समान कितने सुन्दर, कितने स्वच्छ अक्षर हैं ?"

आचार्य आनन्दविमलसूरि ने अपलक उन अक्षरों की ओर गौर से देखते हुए अपने शिष्य से पूछा—"वत्स ! ये किसके अक्षर हैं, मोती तुल्य ?" मुनि खेमसी ने तत्काल उन दोनों बन्धुओं को अपने गुरु के समक्ष उपस्थित करते हुए कहा—"भगवन् ! इन मेहता लखमसी के समान सुन्दर अक्षर लिखने वाला मैंने आज तक न तो कहीं देखा है और न कानों सुना ही है।" दोनों ने आचार्यश्री को वन्दन किया।

उन दोनों भव्य एवं सौम्य आकृति के युवकों को देखकर आचार्य आनन्दविमल बड़े हर्षित हुए। उन्होंने उन दोनों बन्धुओं से पूछा—"आप कहां के रहने वाले हो ?" उनके मुख से उनका पूर्ण परिचय सुनकर आचार्यश्री आनन्दविमलसूरि ने कहा—"अब तुम हमारे पास ही रहो और शास्त्रों के लेखन का कार्य करो।"

मेहता लखमसी ने तत्काल आगमों के लेखन का कार्य सहर्ष अपने हाथ में लिया और दत्तचित्त हो आगमों को लिखना प्रारम्भ किया। उन्होंने वि० सं० १५२१ की चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन प्रभात के प्रथम प्रहर में श्रेष्ठ मुहूर्त में दशवैकालिक सूत्र का आलेखन सम्पन्न किया। इस सूत्र को पढ़ने एवं लिखने से उनके अन्तर्चक्षु उन्मीलित हो गये। उन्होंने देखा और अनुभव किया कि आगमों में तो जिनेश्वर महावीर ने दयामूलक अहिंसा धर्म को ही सच्चा धर्म बताया है। इस सूत्र में जो दशविध यतिधर्म बताया गया है, उससे आज के श्रमण-श्रमणी वर्ग का आचार-विचार नितान्त विपरीत एवं पूर्णतः भिन्न दृष्टिगोचर हो रहा है। यत्र-तत्र-सर्वत्र जहां भी देखो चारों ओर मुख्यतः शिथिलाचार का, आगमविरुद्ध आस्था-आचार-विचार और व्यवहार का आधिपत्य दृष्टिगोचर हो रहा है। इन आगमों के बिना इनमें प्रतिपादित-प्ररूपित किया गया सच्चा धर्म मार्ग मुमुक्षुओं-भव्य प्राणियों को कैसे बताया जा सकेगा। उन्होंने चिन्तामग्न हो मन ही मन सोचा—"ये जो आगम मैं लिखता हूं, ये तो सबके सब ही पोशालधारी आचार्यश्री आनन्दविमल-

सूरिजी ले लेते हैं। इस प्रकार की स्थिति में किस प्रकार इन आगमों की और अधिक प्रतियां लिखवाई जायं तथा किस प्रकार अथाह संसार सागर से उद्धार करने वाले इस सच्चे दयाधर्म का प्रचार किया जाय। शास्त्र प्ररूपित सच्चे धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये इन शास्त्रों की अनेक प्रतियों का होना अनिवार्य रूपेण आवश्यक है। यह कार्य किसी उदारमना धर्मनिष्ठ श्रीमन्त की सहायता के बिना नहीं हो सकता।[1]

इस प्रकार विचार कर मेहता लखमसी अनहिलपुरपत्तन नगर में श्रेष्ठियों की वसति की ओर प्रस्थित हुए। नगर में स्वधर्मी बन्धुओं से बातचीत करते समय उन्हें ज्ञात हुआ कि पाटण का नगरश्रेष्ठि रूपसी बड़ा ही उदारमना एवं धर्मनिष्ठ महादानी है। मेहता लखमसी नगरश्रेष्ठि रूपसी से मिले। आतिथ्य सत्कार के अनन्तर रूपसी ने मेहता लखमसी से पूछा—"बन्धुवर ! आप यहां किस स्थान पर रहते हैं, आपका मूल निवास स्थान कहां है, आप किस धर्म के उपासक हैं तथा आपकी साख (वंश शाखा) और जाति क्या है ?"

लखमसी बोला—"श्रेष्ठिवर ! मेरा नाम लखमसी, धर्म–जैन धर्म, मेरी शाख वीसा श्रीमाली और जाति महता है। मैं खरतरगच्छ का उपासक हूं। मैं मरुधरदेश के खरन्टियावास नामक नगर का रहने वाला हूं।"

इस पर रूपसी ने प्रश्न किया—"आप मेरे पास किस उद्देश्य से आये हैं ? व्यापार सम्बन्धी किसी कार्य से आये हैं अथवा अन्य किसी कार्य से ?"

लखमसी ने उत्तर दिया—"मैं आपके पास धर्म-कार्य से सम्बन्धित समस्या को लेकर आया हूं। तीर्थंकर भगवान् महावीर ने चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करते समय अहिंसा, संयम और तप स्वरूप दयाधर्म की प्ररूपणा की थी, यह हमारे धर्मशास्त्रों से कोटि-कोटि सूर्यों के प्रकाश की भांति स्पष्टतः प्रकट होता है। किन्तु कालान्तर में (अन्तिम पूर्वधर आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के वीर नि० सं० १००० में स्वर्गस्थ हो जाने के अनन्तर) शिथिलाचारी, परीषहभीरु श्रमणों ने आगमों में प्रतिपादित एवं श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रदर्शित मूल एवं शुद्ध

---

१. तव त्यां लखमसी चिन्तवे, केम कर पुस्तक लखाय।
इतो लखूं छूं एहना, ते तो सर्व ले जाय॥
दयाधर्म किम चालसे, केम तरवा नो उपाय॥१॥
मन में एहवो चिन्तवी, पहुंता नगर मझार।
एहवो कोई श्रीमन्तछे, दया धर्म चलाय॥२॥
—एक पातरिया गच्छ पट्टावली–हस्तलिखित
(आ० श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, जयपुर)

धर्मपथ से भ्रष्ट होकर हिंसापूर्ण धर्म प्रचलित किया। सच्चा धर्म शास्त्रों में प्रतिपादित है किन्तु हमारे सब शास्त्र शिथिलाचारियों के अधिकार में हैं। मुझे वे आगम पोशालधारी आचार्य आनन्दविमलसूरि ने लिखने के लिए दिये हैं। बिना द्रव्य व्यय किये उन शास्त्रों की आवश्यकतानुसार प्रतियां नहीं लिखाई जा सकतीं। मेरे द्वारा लिखी गई प्रतियां आनन्दविमलसूरि ले लेते हैं। उन शास्त्रों की एक से अधिक प्रतियां लिखवाये बिना दयाधर्म को प्रकाश में नहीं लाया जा सकता, उसका लोगों में प्रचार-प्रसार नहीं किया जा सकता। उन शास्त्रों की प्रतियां लिखवाने के धार्मिक उद्देश्य से ही मैं आपके पास आया हूं।"[1]

तदनन्तर मेहता लखमसी ने रूपसी को दशवैकालिक सूत्र में प्रतिपादित अहिंसामूलक विशुद्ध धर्म, श्रमणों के निर्दोष आहार-पानीय मधुकरी के रूप में ग्रहण करने एवं शुद्ध श्रमणाचार के सम्बन्ध में सार रूप में समझाया। लखमसी द्वारा प्रस्तुत किये गये अहिंसामूलक धर्म एवं श्रमणाचार विषयक आगमिक विवेचन को सुनकर रूपसी को वास्तविक धर्म के साथ बोधिबीज सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। उन्होंने लखमसी से दृढ़ सम्यक्त्व धारण किया। अपनी आन्तरिक अभिलाषा को रूपसी के समक्ष अभिव्यक्त करते हुए लखमसी ने कहा—"यदि मेरे पास द्रव्य हो तो वह सब कुछ व्यय कर सर्वप्रथम इन आगमों का लेखन करवाऊं।"

लखमसी की बात सुनकर नगरश्रेष्ठि रूपसी ने तत्काल विपुल द्रव्य मेहता लखमसी को अर्पित करते हुए कहा—"यह द्रव्य लीजिये और इस उत्तम कार्य को सुचारुरूपेण यथाशीघ्र सम्पन्न कीजिये।"

---

१. जोतां जोतां शाह रूपसी, अणहिलपुर ने मांयं।
नगरसेठ तिहां बसे, शाह रूपसी सुजाण ॥३॥

लखमसी जाई तेहने मल्या, बोल्या देखी सेठ।
किहां बसो छो तुम्हें इहां, कौन तुम्हारो धर्म ने ठाम ॥४॥

कुण तुम्हारी साख छे, कुण तुम्हारी जात।
वलता लखमसी इम बोलिया, बीसा श्रीमाली अमारी साख ॥५॥

जिणधरमी गच्छ खड़तरा, महता अमारी जात।
मारुदेश ए मैं रहऊं, शहर खरन्टियावास ॥६॥

कुण कारज आविया इहां, कोय वेपार ने काम।
वलता लखमसी एम वीनवे, अमारे धर्म नो काम ॥७॥

दयाधर्म जिन भाखियो, तो श्री जिन वर्द्धमान।
ते धर्म सर्व उथापने, हिंसा धर्म चलाय ॥८॥

—एक पातरिया गच्छ, पोतिया बन्धगच्छ पट्टावली, हस्तलिखित।

मेहता लखमसी ने रूपसी से लेखन हेतु आवश्यक धनराशि ली और अपने स्थान पर आकर आगमों के लिखने एवं लिखवाने का कार्य प्रारम्भ किया। उन्होंने अहर्निश अथक् परिश्रम कर बड़ी ही तन्मयता के साथ बत्तीसों आगमों को लिखा और उनकी अनेक प्रतियां तैयार करवाईं। लेखन कार्य के सम्पन्न होते ही बत्तीसों आगमों की एक-एक प्रति एवं मूल उन्होंने आनन्दविमलसूरि को उनकी पोशाल में समर्पित कीं और ३२ आगमों की शेष सभी प्रतियां नगरश्रेष्ठि रूपसी के समक्ष प्रस्तुत कीं। बत्तीसों सूत्रों की उन प्रतियों को देखकर रूपसी ने मेहता लखमसी से कहा—"हे भव्यात्मन्! और भी कोई आगम लिखना अवशिष्ट हो तो उसे आप लिखिये।"

मेहता लखमसी ने उत्तर दिया "श्रेष्ठिवर! अब और कोई आगम लिखना अवशिष्ट नहीं रहा है। इन ३२ आगमों में ही दयाधर्म प्रतिपादित किया गया है। इन बत्तीसों ही आगमों की प्रतियां लिख लीं एवं लिखवा ली गई हैं। सच कहता हूं, अब मुझे लाभ ही लाभ दृष्टिगोचर हो रहा है।"

यह सुन कर रूपसी ने लखमसी से कहा—"मेहताजी! आगम शास्त्र तो सब लिख लिये लेकिन इन आगमों के अर्थ से हम अभी भली-भांति भिज्ञ नहीं हैं अतः हमें सबसे पहले आगमों का भली-भांति अध्ययन करना चाहिये।" इस प्रकार विचार कर नगरश्रेष्ठि रूपसी अपने साथ मेहता लखमसी को लेकर आनन्द-विमलसूरि के पास गये। रूपसी ने आनन्दविमलसूरि से आगमों का अर्थ बताने को कहा। रूपसी की प्रार्थना पर आनन्दविमलसूरि ने एकान्त में बैठकर उन दोनों को आगमों का अर्थ बताना प्रारम्भ किया। मेहता लखमसी और श्रेष्ठि रूपसी ने अनुक्रमशः बत्तीसों आगमों का अध्ययन कर लिया। सूत्रों का अर्थ सुन कर वे दोनों विचार करने लगे कि आगमानुसारी धर्म की स्थापना किस प्रकार की जाय। विचार-विनिमय के अनन्तर मेहता लखमसी ने त्रिपोलिया पर बैठकर भव्य जीवों को धर्म का उपदेश देना प्रारम्भ किया। मेहता लखमसी के प्रथम उपदेश से ही पाटण नगर के ७०० घर शास्त्रों में सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित शुद्ध दया धर्म के अनुयायी बने और उन्होंने शुद्ध सम्यक्त्व धारण किया।[1]

---

१. एम सुणी ने बूझ्या रूपसी, धार्यो समकित दृढ्ढ।.......
द्रव्य दीधो बहु रूपसी, करो तमे उत्तम काम।.......
द्रव्य लही महतो लखमसी, बेहठा लखवा काज।
दे दसमीकालक आदे दई, सूत्र बत्तीसे उतार ॥१३॥
सूत्र लही आनन्दविमल ना, पाछा तेहने दीध।
आप लख्या मेहते लखमसी, सेठ रूपसी ने दीध।

(शेष पृष्ठ ७३३ पर)

इस प्रकार मेहता लखमसी प्रतिदिन आगमों का उपदेश देने लगे। उनके उपदेशों से अनेक भव्यों को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी प्रभु महावीर द्वारा संसार के कल्याण के लिए प्रकाशित जिनधर्म के वास्तविक सच्चे स्वरूप का प्रतिदिन बहुत बड़ी संख्या में उपदेश श्रवणार्थ आये हुए लोगों को बोध होने लगा और प्रतिदिन विशाल नर-नारी समूह शास्त्र में निर्दिष्ट दया-धर्म के अनुयायी बनने लगे। जिनधर्म का चारों ओर उद्योत होने लगा।

इस प्रकार लोंकाशाह के उपदेशों से जैनधर्म के सच्चे स्वरूप का जिन दिनों प्रचार-प्रसार हो रहा था, उन्हीं दिनों दिल्ली से एक संघ अनेक तीर्थस्थानों की यात्रा करता हुआ अनहिलपुरपत्तन नगर में आया। उस संघ के अग्रणी और खजान्ची शाह भामा, भारमल, खेतसी, शाह जगरूप, शाह डूंगर और शाह मेघराज लोक में विश्रुत मेहता लखमसी (मेहता लोंकाशाह) की सच्चे धर्म के उपदेशक के रूप में प्रसिद्धि सुनकर उनके पास आये। मेहता लखमसी ने उन्हें आगमों के आधार पर आगमिक गाथाओं के उल्लेखपूर्वक मुक्तिप्रदायी धर्म का उपदेश दिया। तीर्थाटन के लिये निकले हुए उन संघ मुख्यों को मुक्तिप्रदायी दयामूलक सच्चे धर्म का बोध हुआ। उन्होंने लखमसी मेहता (लोंका मेहता) के पास सम्यक्त्व ग्रहण कर उसे दृढ़ किया। शाह भामा और शाह भारमल ने अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह स्वरूप पंच महाव्रतों की दीक्षा ग्रहण करने का संकल्प किया। वे संघ मुख्य तीर्थयात्रा का विचार छोड़ मेहता लखमसी के पास शास्त्रों का ज्ञान अर्जन करने लगे।

उन्हीं दिनों सूरत का एक विशाल संघ अनहिलपुरपत्तन में आया। उसमें अश्व, गज, उष्ट्र, शकट, पोठिये (प्रतिदिन आवश्यक जीवनोपयोगी सामग्री को ढोने वाले बैल, परिचारक, पाचक, रजक आदि संभवतः सभी मिला कर) चार लाख का साथ था। संघपति शाह जीवराज ने इस विशाल संघ का डेरा पाटन नगर के बाहर एक विशाल मैदान में डाला। संघवी शाह जीवराज ने संघ के सदस्यों के

(टिप्पणी पृष्ठ ७३२ से आगे)

रूपसी लखम साथे लई, गया आनन्द विमल ने पास।
दसमीकालक आदे दई, अर्थ पाठ कहिय।
केम धर्म को रे थापिये, बोले रूपसी पास....।।२०।।

त्रिपोलिया पर बैस ने, करे उपदेश अपार।
प्रथम वाणी भाखी तिहां, सात सैं घर श्रावक धार।।२१।।

—एकपातरिया (पोतियाबन्ध) पट्टावली—हस्तलिखित।

साथ सर्वप्रथम पंचासरा पार्श्वनाथ के दर्शन किये और तदनन्तर उन्होंने बड़े ही हर्षोल्लास के साथ पोशालधारी आचार्यश्री आनन्दविमलसूरि को वन्दन नमन किया।[1]

देवाधिदेव प्रभु पार्श्वनाथ और गुरु आनन्दविमलसूरि को वन्दन नमन कर चुकने के पश्चात् संघपति जीवराज को लोंकागच्छ के कतिपय श्रावक मिले। कुशल-क्षेम की पृच्छा कर लोंकागच्छ के श्रावकों ने संघपति श्री जीवराज से पूछा—"आपने यहां किस देव की पूजा की और किस गुरु को वन्दन किया?" संघपति ने भगवान् पार्श्वनाथ की पूजा-अर्चा और आनन्दविमलसूरि को वन्दन-नमन की बात कही। इस पर लोंकागच्छ के श्रावकों ने कहा—"संघवी जी! बड़े आश्चर्य की बात है कि जिस महापुरुष को देखना था, उन्हें तो आपने देखा ही नहीं। हमारे इस नगर में मेहता लखमसी सच्चे शुद्ध धर्म का उपदेश देते हैं, उनके उपदेश आप अवश्य सुनिये।"

संघपति जीवराज ने व्यग्रता भरी उत्कट अभिलाषा व्यक्त करते हुए कहा—"बन्धुवरों! मेहता लखमसी को तो मुझे अवश्य दिखाओ।" संघपति जीवराज की प्रबल उत्कण्ठा देख लोंकागच्छीय श्रावक तत्काल उन्हें मेहता लखमसी के पास ले गये। आगमिक आधार पर मेहता लखमसी के उपदेश को सुनकर संघवी

---

१. एम करि धर्म परूपियो, बूझा केई नरनार।
एहवा अवसर में प्रकटऊ, दिल्ली संघ गुर्जर मझार।
अणियलपुर पाटण विषे, निकल्या मारग सार ॥२३॥त०॥

लखमसी साह ने त्यां मल्या, दयाधर्म सुणेह ॥२५॥

सांभली वयण लखमसी तणां, समकित सहु सुध कीध।
प्रथम भामोसा भारमल्ल, सुणिय लखमसी वेण ॥२६॥त०॥

संजम सुं मन आणियूं, दयाधर्म प्रसिद्ध।
सुध समकित दृढ़ त्यां थई, करता उत्तम काम।
एहवा अवसर ने विषे, सूरत संघ तव आय ॥२८॥त०॥

संघपति साथे सही, साह जीवराज ए नाम।
चारलाख संघ साथ सूं, आव्यो पाटण सहर ॥२९॥

संघपति बाहरे उतर्या, साथे मनुष्य अपार।
देव गुरु ने पूजवा, गया शहर मझार ॥३०॥त०॥

प्रथम जात्रा तेणे करी, पंचासरियो पारसनाथ।
आनन्दविमलने वांदवा, चाल्या तिह मन उल्लास ॥३१॥त०॥

—एकपातरिया (पोतिया बन्ध) गच्छ-पट्टावली (हस्तलिखित)

श्री जीवराज को अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति हुई। उन्होंने अहिंसामूल-दया-परक धर्म के सच्चे स्वरूप को समझकर मेहता लखमसी के समक्ष शुद्ध सम्यक्त्व ग्रहण किया। अति विनम्र स्वर में उन्होंने मेहता लखमसी से कहा—"महात्मन्! मेरे अन्तर्मन में संसार से विरक्ति उत्पन्न हो गई है। मेरी आन्तरिक इच्छा है कि मैं शीघ्रातिशीघ्र संयम ग्रहण कर लूं किन्तु इतने विशाल संघ को लेकर आया हूं। यदि संघ को पूरी यात्रा कराये बिना बीच ही में छोड़ दूंगा तो लोग मन-मानी बातें घड़ कर मेरी अकीर्ति फैलायेंगे। कोई कहेगा खर्चे से डर गया, कोई कहेगा—"मैं तो पहले ही कहता था कि यह महा मूंजी है, यह क्या संघ को आखिर तक निबाहेगा।" इस भांति लोग मुझे अनेक प्रकार से बुरा बता कर कोसेंगे। इस कारण मैं संघ की यात्रा पूर्ण करवाने के पश्चात् अपने घर जा स्वजनों की अनुमति प्राप्त कर पुनः यहां उपस्थित हो संयम ग्रहण करूंगा।"

तदनन्तर संघ के पूर्व निश्चयानुसार यात्रा पूर्ण कर संघवी जीवराज संघ के साथ सूरत लौटे। वहां हरिपुरा के अपने आवास में पहुंच कर उन्होंने संघ को सप्रेम विदा दी।[1]

संघ को विदा करने के पश्चात् जीवराजजी ने अपने घर में जाकर स्त्री-पुत्र आदि परिवार को एकत्रित कर उनसे कहा—"मैं अब इस क्षणभंगुर असार संसार के बन्धनों को तोड़कर श्रमण धर्म अंगीकार करूंगा। मेरा यह दृढ़ संकल्प है। मुझे अपने इस संकल्प से संसार की कोई शक्ति रंचमात्र भी विचलित नहीं कर

---

१. देव गुरु ने वांद ने जी संघ ने, मांहे तब तांस।
लोकागच्छ श्रावक मल्या, शाह जीवराज ने पास ।।३२।।त०।।

कोईक कोतक तुम्हें सांभलो, अणियलपुर ने मांहि।
मेहतो लखमसी इहां बसे, सुद्ध धरम से धीर रे ।।३५।।त०।।

एहवा वचन श्रावक तणां, सुण ने साह जीवराज।
वलतो श्रावक ने कहे ए पुरुष मुझ ने देखाड़।
श्रावक लोंकागच्छ नो, लेई ने संघ ने साथ।
लखमसी मेहता पासे गया, सीझ्या वंछित काज ।।३७।।

संघपति जीवराज ने, दया धरम सुणाय।
एहवा वचन सांभली, हर्षित हुवो अपार ।।३८।।त०।।

समकित तां तेणे आदर्यो, संजम लेहवा नो भाव।
इहां जो दीक्षा हूं लऊं, तो मोहे ठुगे लोग ।।३९।।त०।।

—एकपातरिया (पोतियाबन्ध) गच्छ पट्टावली—(हस्तलिखित)।

सकती। इसलिये आप सब सहर्ष मुझे दीक्षित होने की अनुमति प्रदान कर दीजिये।"

इस प्रकार अपने परिवार की अनुज्ञा प्राप्त कर श्रेष्ठिवर जीवराजजी ने अपनी सात पत्नियों और देवकुमारों के समान परम सुन्दर आज्ञाकारी पांच पुत्रों के मोह को क्षण भर में ही एक ओर झटक कर पाटण की ओर प्रयाण किया। अनहिलपुर पत्तन में वे शाह रूपसी के पास पहुंचे। जीवराजजी और रूपसी में परस्पर साले बहनोई का सम्बन्ध था। जीवराजजी बहनोई थे और शाह रूपसी उनके साले। जीवराजजी ने अपने साले रूपसी से कहा—"मैं आपकी बहिन और आपके भानजों आदि अपने सब परिवार की अनुज्ञा प्राप्त कर श्रमण धर्म में दीक्षित होने के उद्देश्य से यहां आया हूं।" अपने बहनोई शाह जीवराजजी के दृढ़ संकल्प को सुनकर शाह रूपसी ने उनसे कहा—"मैंने भी आपके साथ ही दीक्षित होने का निश्चय कर लिया है।"

मेहता लखमसी के व्याख्यान का समय होने वाला है, यह विचार कर शाह जीवराजजी और शाह रूपसी तत्काल व्याख्यान स्थल पर पहुंचे। मेहता लखमसी का व्याख्यान सुनने के लिये व्याख्यान स्थल पर विशाल जनसमूह एकत्रित था। शाह जीवराजजी और शाह रूपसी भी मेहता लखमसी के क्रान्तिकारी उपदेशों को सुनने के लिये व्याख्यानस्थल पर यथास्थान बैठ गये। मेहता लखमसी ने सर्वज्ञ-प्रणीत शास्त्रों के मूल सूत्रों की विशद व्याख्या करते हुए व्याख्यान प्रारम्भ किया। "जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक, अनिष्ट संयोग, इष्टवियोग आदि अपार दारुण दुःखों से ओत-प्रोत संसार सागर में डूबते हुए प्राणियों को केवल सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् द्वारा प्ररूपित "अहिंसा, संयम, तप स्वरूप दया धर्म ही भवसागर से पार उतारने वाला है"—इस आध्यात्मिक विषय पर मेहता लखमसी के मर्मस्पर्शी व्याख्यान को सुनकर (शाह जीवराजजी) शाह रूपसी, शाह भामा, शाह भारमल आदि ४५ मुमुक्षुओं ने वैराग्य के प्रगाढ़ रंग में रंगित हो पंच महाव्रत स्वरूप श्रमण धर्म की दीक्षा अंगीकार की। इन ४५ मुमुक्षु आत्माओं ने विक्रम संवत् १५३१ की वैशाख शुक्ला एकादशी गुरुवार के दिन द्वितीय प्रहर में अनुराधा नक्षत्र का योग होने पर अष्टम शुभ मुहूर्त में श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार पांच समिति, तीन गुप्ति, नव बाड़ युक्त ब्रह्मचर्य, दशविध यतिधर्म, पांच संवर और ३६ गुणों से सुशोभित पांच महाव्रतधारी ४५ मुनि अठारह पापों, शल्य, मिथ्यात्व और पांच प्रकार के आस्रवों से विनिर्मुक्त हो विभिन्न क्षेत्रों के अनेक ग्रामों और नगरों में अप्रतिहत विहार क्रम से धर्म का उद्योत एवं धर्मतीर्थ का अभ्युदयोत्कर्ष करते हुए विचरण करने लगे। रूपसी को लोंकागच्छ के प्रथम पट्टधर आचार्य के पद पर अधिष्ठित किया गया। मुनिश्री भारमल और भुजराज (भोजराज वा भामाजी) को स्थविर पद पर अधिष्ठित किया गया। भारमलजी के दो शिष्य हुए केशवजी और धनराजजी। लोंकागच्छ के पहले पट्टधर श्री रूपसीजी

के जसवन्त मुनि, खेमसी और तेजसी ये तीन शिष्य हुए। इस प्रकार लोंकागच्छ प्रकट हुआ और उसका विस्तार होने लगा।[1]

लोंकाशाह के जीवन एव लोकागच्छ से सम्बन्धित एक पातरिया गच्छ की पट्टावली के पद्य इतिहासरुचि पाठकों एवं शोधार्थियों के हितार्थ यहां यथावत् प्रस्तुत किये जा रहे हैं :—

एक पातरिया (पोतिया बन्ध) गच्छ की पट्टावली

ओम् नमः सिद्धाः। अथ पट्टावली लिख्यते। दोहा।
सकलचन्द्र मुनिवर नमूं, वर्द्धमान श्री वीर।
पूरण वंछित ते करे, सुन्दर गोयम धीर ॥१॥

---

१. सम्वत् पन्द्रह नर सुजाण, बरस एकत्रीसो भलो ए।
मास वैसाख सुजाण, सुकलपक्ष ऊजलो ए ॥२॥
दिन इग्यारस जांण, गुरुवार नक्षत्र अनुराधा ए।
पोहर वीजो तस, नाम मोहरत अष्टमो ए ॥३॥
शुभ लगन शुभ वार, संजम मुनि आदर्यो ए।
साह रूपसी आदि दई, पस्तालीस जणां ए ॥४॥
पंच महाव्रत सार, सुमिति गुपति पारताए।
नव विध धार ब्रह्मचर्य, जति धर्म दस विध ए ॥५॥
टाले पाप अठार, सल्य मिथ्यात ने एह।
पंच हि आस्रव छांड, संवर पंच आदर्यो ए ॥६॥
गुण सरब छत्रीसे उदारके, मुनि शोभता ए।
गाम नगर परिवार, मुनिसर विचरता ए ॥७॥
करता धर्मोद्योत, तीरथ थाप्यो तिहां ए।
स्थविर पदवी भारमल्ल, भुजराज (भामाजी) मुनि जाणि ए ॥८॥
तेह तणा शिष्य दोय, केशव धनराजजी ए।
पाट पहले शाह रूपसी, ए लोकागच्छ सरदार ॥९॥
जुगन्धर जाणिये शिष्य तेहना, वलि तीन जसवन्त मुनि खेमसी ए।
तीजा तेजसी धार, बन्दर खम्भात ना ए ॥१०॥
एतादिक विस्तार लोकागच्छ नीकल्यो ए।........

—एकपातरिया (पोतियाबन्ध) गच्छ पट्टावली, अप्रकाशित।

पूरवधारी मुनि नमूं, लब्धि अठावीस धार ।
श्री गौतम आदे देई, चौदह सहसज अरणगार ।।२।।
चन्दनबाला आदि दइ, साध्वी सहस छत्तीस ।
सात सहस्र मुनिवर नमूं, श्री गौतम धर शीश ।।३।।
साध्वी शत चउदे कही, केवलधर नर ईश ।
ते मांहे मोटा नमूं, श्री गौतम धर शीश ।।४।।
वांदि वीर जिरणन्द ने, पूछे जिन अधिकार ।
तुम शासन केटला लगे, चालसी पंचम काल ।।५।।
वलतां वीर जिरणन्द कहे, सुरण गौतम अधिकार ।
मुझ शासन आरे पंचमे, सहस्र इक्कीस निरधार ।।६।।
प्रथम पाट निज वीर नो, विप्र सुधर्मा स्वाम ।
ते पाटे प्रणमूं सदा, जम्बूदिक अरणगार ।।७।।
पाट तीसरे जारिणये, प्रभव स्वामि जुग इन्द्र ।
सय्यंभव यशभद्रादिक्, भद्रबाहु चन्द्रगुप्त ।।८।।
देवभद्र स्थूलभद्र के, आर्ज सुहस्त गिरन्त ।
वर्ष वे सौ पन्द्रह हुआ, स्थूलभद्र निर्ग्रन्थ ।।९।।
चउ शत चोपन वर्ष गये, निकल्यो दिगम्बर गच्छ ।
नव सौ वर्ष चोरासिये, देवड्ढि गुरु स्वच्छ ।।१०।।
पूरव ज्ञान विच्छेद गयो, द्रव्य सूत्र दरसात ।
इत्यादिक मुनिवर नमूं, दोय सहस्र लक्ष·चार ।।११।।
पाट श्री विरधमान ने, वे हजार ने चार ।
एक भव अवतारी मुनि, ग्यारह सोल हजार ।।१२।।
सुधर्मादिक दुप्रसह मुनि, यूं हजार वे चार ।
ई शासन वर्द्धमान नो, तेनो कहूं विचार ।।१३।।
वर्ष गया नव से सही, वलि चौरासी सार ।
द्रव्य सूत्र लखिया तिहां, पूरव ज्ञान विच्छेद ।।१४।।
वरस बारह से पन्द्रह गया, वीरसेन अरणगार ।
अनशन गिर वैभार में, दस सहस्र मुनि सार ।।१५।।
मास एक अरणसरण हुओ, चिन्तव्यो सिख तिहि वार ।
संजम किम निरवाह से, पलसे साध्वाचार ।।१६।।
एक शिष्य खंदक मुनि, कर्यो सुगाल विहार ।
मेहेला सुरसेन देश में, पाट चौतीसमो वार ।।१७।।
मेघदत्त मुनि गुरु कने, कियो संथारो सार ।
अभयदेवसूरि हुवो, थाप्यो हिंसा धर्म अधिकार ।।१८।।

दोहा । ढाल

कपूर होय अति उज्वलो रे ।।ए देशी।।
सकल मनोरथ पूरवो रे, चौवीसमो जिनराज ।
तेह तणा परसाद थी रे, गासूं गच्छ पट्टावली आज ।।
जिनेश्वर तू मारे सरताज ।।१।।

वीर जिणन्द ने पाटवी रे, सुधर्मा स्वामी धार ।
ते पाटे जम्बू नमूं रे, एम दोय हजार ने चार ।।२।।जिने०

दोय सहस्र वरसे लगे रे, बैठो मध्यम काल ।
बार वरसी काल तिहां पड्या रे, निकल्या दुष्टि आचार ।।३।। जिने०

एम करतां अनुक्रम सूं रे, सम्वत् पन्दरे इकतीस ।
चैत्र बुद्ध नवमीं जिने रे, प्रथम पहोर जगीश ।।४।। जिने०

नक्षत्र विशाखा जाणिये रे, दूजो मुहुरत सीह ।
भस्मग्रह त्यां रे ऊतरो रे, प्रगट्यो धर्म अबीह ।।५।। जिने०

पुण्यमया गच्छ जाणिये रे, अणिहलपुर रे मांय ।
आनन्द विमल तिहां बसे रे, पोसालधारी जती नाह ।।६।। जिने०

शिष्य तेहनो मुनि खेमसी रे, दसमी काल लिखन्त ।
धम्मो मंगल प्रथम सही रे, अध्ययन प्रथम भणन्त ।।७।। जिने०

एम करतां मुनिवर तिहां रे, खेमसी शिष्य अणगार ।
पुस्तक त्यां लिखिया सही रे, आगम त्यां व्यवहार ।
लोंकागच्छ ते जाणिये रे, निकल्या नौ अधिकार ।।८।। जिने०

मारु मण्डल जाणिये रे, शहर खरन्टियो तिहां ।
तेह नगर नो राजवी रे, योधावत नर नाह ।।९।। जिने०

दुरजनसिंह ये जाणिये रे, रतनसिंह का पूत ।
सात लाख तेने घर में रे, इभ्य ना घर भरपूर ।।१०।। जिने०

नगरी तो वरणन अछेरे, जहां उवाइ मांय ।
राजगृही नगरी कही रे, श्रेणिक नामा राय ।।११।। जिने०

एवी नगरी इहां सही रे, प्रत्यक्ष पंचमे काल ।
धन्ना सालभद्र सारखा रे, वसे छे तिहां धनपाल ।।१२।। जिने०

रात दिवस जाणे नहीं रे, क्यां ऊगे क्यां अस्त ।
जगत विलास तिहां करे रे, जिम कोसां थुलभद्र ।।१३।। जिने०

खरतर गच्छ तिहां जाणिये रे, आचारजीया सोय ।
तेनां श्रावक त्यां छे घणा रे, महता जीवराज लखमसी जोय ।।१४।। जिने०

जीव अजीव जाण सही रे, इत्यादिक नवतत्व ।
देसमुखी ते जाणिये रे, कामदार ना सूत ।।१५।। जिने०

सोलह से ग्राम तेहने घरे, दुरजनसिंह नरिन्द ।
तेहना हाकम जाणिये रे, महता जीवराज लखमिन्द ।।१६।। जिने०

एहवा अवसर ने विखे रे, राजभव ए असुवसेस ।
तेम करने पांथी वेहू जणा रे, आवे गुरजर देस ।।१७।। जिने०

कोई अन्याय ज नाख ने रे, कामदार ने अहे सविसेस ।
घर सर्वे लूटि लियो रे, किया निर्धन एह जी ।।१८।। जिने०

वेहू जणा बेसी तिहां रे, करे बन्धव विचार ।
आपण जासां कै दिसे रे, करवा वणज व्योपार ।।१६।। जिने०

इत्यादिक सर्व जाणिये रे, प्रथम ढाल ए विशेष ।
रिख रायचन्द जम्पे, जे इस्यो रे, केम होसे धर्म उद्योत जी ।।२०।। जिने०

हां रे मारा गणेश पियारा जिन जी० ।।ढाल १।।

सुविध जिनेश्वर स्वामी, म्हूं तो वांदूं छूं सिरनामी रे ।
म्हारा सुविध जिनेश्वर जनजी० ।ए देशी।
लाख जोयण जम्बू प्रमाणे, तेमां भरत क्षेत्र प्रधान रे ।

म्हारा सुगुण सनेही सुणीज्यो ।।१।।
वत्तीस सहस्र रे देसो, ते मे गूर्जर खण्ड विसेस रे ।।२।। म्हा०
अणहिलपुर एहवे नामे, तिहां वसे छे पुनमिया ठामे रे ।।३।। म्हा०
आणन्दविमल एहवे नामे, वे तो पोसालधारी त्यां ही रे ।।४।। म्हा०
शिष्य साथ में वहुतेरा, ते तो सात सेह तीसनी जोडी रे ।।५।। म्हा०
हेमचन्द्र मुनिराया, सूत्र दसमीकालक लिखो छे रे ।।६।। म्हा०
एहवा रे अवसर मांही, देस मारुमण्डल साही रे ।।७।। म्हा०
करंटकपुरा एहवे नामे, जीवराज लखमसी त्याहीं रे ।।८।। म्हा०
राज नो भय एह अति मोटो, आपणे केम भरसां तनपेटो रे ।।६।। म्हा०
एहवा भयना मारिया, आव्या अणहिलपुर वे हू भाई रे ।।१०।।
सेहर नी रचना देखी, ऊ तो मन में विचारे एहवो रे ।।११।। म्हा०
सेहर भणो वहू मोटो, दीसे वणज व्यापारी ने सेठो रे ।।१२।। म्हा०
फिरता वे हू वन्धव अनुक्रमे, आव्या पूनमिया गच्छ नी पोसाले रे ।।१३।।
शिथिलचारी तिहां देखी, वे हू वान्धव करे धर्म विवेकी रे ।।१४।। म्हा०
शिष्य पासे त्यां जाई ते वे हू वन्दणा करे, सिर नमाई रे ।।१५।। म्हा०
प्रश्न पूछे वे हू भाई स्वामी सूय, लख्यो छो इहां ई रे ।।१६।। म्हा०
सेमर्सी मुनि प्रकासे, आ तो दसमी कालक लिखां मे रे ।।१७।। म्हा०

कियो अध्ययन ज स्वामी, बोले धम्मो मंगल एह वे नामी रे ।।१८।। म्हा०
जोऊं स्वामी एह गाथा, त्यां रे पुस्तक ले हाथ आप्या रे ।।१९।। म्हा०
गाथा वांची महते जीवराजे, ऊ तो अट लखी ने आपे रे ।।२०।। म्हा०
शिष्य रे अक्षर दीठा जाय, आनन्दविमल ने दीधा रे ।।२१।। म्हा०
गुरु देखी रे अक्षर तेहना, गुरु पूछे ऐह अक्षर केहना रे ।।२२।। म्हा०
वलता शिष्य एम बोले, नहीं कोई लखमसी तोले रे ।।२३।। म्हा०
ई अक्षर लखमसी केरा, रहे मारुदेस मां तेह ना रे ।।२४।। म्हा०
आचारज कहे तुमे, इहां श्रावक ने लाओ हम कने रे ।।२५।। म्हा०
सिख जाय लखमसी पासे, तुम्हें गुरुजी बोलावे उल्हासे रे ।।२६।। म्हा०
बन्धव जाए बे हु गुरु पासे, वान्दे मन खुलासे रे ।।२७।। म्हा०
गुरु देखी त्यां पूछे हरकिया, तुम्हां किहां बसो छो परदेसी रे ।।२८।। म्हा०
वन्धव बे हु एम बोले, अमे मारुमण्डल सोभे रे ।।२९।। म्हा०
खेरंटिया नामे छे एक शहर, अमे बसां छां तिहां गेहेरे ।।३०।। म्हा०
एक सुणी गुरु भासे, तुम पुस्तक लखो अम पासे रे ।।३१।। म्हा०
पुस्तक लखवा दीधा त्यां आप ही हाथ में लीधा रे ।।३२।। म्हा०
सम्वत् पन्दरह एकत्रीसे, चैत्र मास नमीं बुद्ध दिवसे रे ।।३३।। म्हा०
उगन्ते प्रहे प्रभाते, उत्तम मुहुर्त्त विजयसिंह साथे रे ।।३४।। म्हा०
नक्षत्र मृगा तेने जोगे, दसमीकालक लखो तेणी योगे रे ।।३५।। म्हा०
धम्मो मंगल एहवे नामे, ते तो लखे छे तेने ठामे रे ।।३६।। म्हा०
सूत्र नी वली बातां वांची, दीसे दयामार्ग एमां सांची रे ।।३७।। म्हा०
अहिंसा धर्मज जो दीसे, दस विध जति इसे रे ।।३८।। म्हा०
एहवो रे मन में जाणी, महतो लखमसी एम बखाणी रे ।।३९।। म्हा०
रिख रायचन्द एम बोले, नहिं कोय लखमसी तोले रे ।।४०।। म्हा०
बीजी ढाल एम भाखी, ऊ तो दयाधर्म छे साखी रे ।।४१।। म्हा०

दूहा : श्री जिन पाय प्रणमी ने बोले, इम श्रव वैन ।
केम कर धर्म उद्योतसे, श्री लोकागच्छ एन ।।१।।

सासननायक रूप रिख, जीव रिख प्रसिद्ध ।
तस्य पाय प्रणमी करी, तीजी ढाल करन्त ।।२।।

रे जीव ! मान न कीजिये ।। ए देशी राग मल्हार ।।

तब त्यां लखमसी चिन्तवे, केम कर पुस्तक लखाय ।

इतो लखू छूं एह ना, ते तो सर्व ले जाय ।।
दयाधर्म किम चालसे, केम तरवा नो उपाय ।।१।। त०

मन में एहवो चिन्तवी, पहुंता नगरमभार ।
एहवो कोई श्रीमन्त छे, दया धर्म चलाय ।।२।। त०

जोतां जोतां साह रूपसी अणहिल्लपुर ने मांय ।
नगर सेठ तिहां वसे, साह रूपसी सुजाण ।।३।। त०

लखमसी जाई तेम ने मल्या, बोल्या देखी सेठ ।
किहां वसो छो तुम्हें इहां, कौन तुम्हारो धर्म ने ठाम ।।४।। त०

कुण तुम्हारी साख छे, कुण तुम्हारी जात ।
वलता लखमसी इम बोलिया, बीसा श्रीमाली अमारी साख ।।५।। त०

जिणधरमी गच्छ खडतरा, महता अमारी जात ।
मारुदेश ए मैं रहऊं, सहर खरन्टियावास ।।६।। त०

किण कारज आविया इहां, कोय वेपार ने काम ।
वलता लखमसी एम वीनवे, अमारे धर्म नो काम ।।७।। त०

धर्मकार्य किसो कहो, पूछे रूपसी एम ।
वलता लखमसी इम कहे, एह तो धर्म नूं काम ।।८।। त०

दयाधर्म जिन भाखियो, तो श्री जिन वर्द्धमान ।
ते धर्म सर्व उथापने, हिंस्या धर्म चलाय ।।९।। त०

एम सुणी ने वूझ्या रूपसी, धार्यो समकित दृढ ।
लखमसी एम त्यां बोलिया, पुस्तक ने द्रव्य बहु दिध ।।१०।। त०

धर्म कारज पुस्तक तणूं, भाखे लखमसी एम ।
मुझ पासे जो द्रव्य होवे, पुस्तक सर्व लखाय ।।११।। त०

द्रव्य दीधो बहु रूपसी, करो तमे उत्तम काम ।
को तो बहु तुम साथे देऊं, ते तो लखवा ने काम ।।१२।। त०

द्रव्य लही महतो लखमसी, बेहठा लखवा काज ।
ये दसमीकालक आदे दई, सूत्र बत्तीसे उतार ।।१३।। त०

सूत्र लखी आनन्द विमल ना, पाछा तेह ने दीध ।
आप लख्या मेहते लखमसी, सेठ रूपसी ने दीध ।।१४।। त०

रूपसी त्यां देखी करी, पूछे लखमसी ने एम ।
अबे कोई अधूरो जो हुवे, तो तम लखो भव जीव ।।१५।। त०

हवे नो पाछे को नहीं, सूत्र बत्तीस छे एह ।
दयाधर्म एह मांहे, [illegible] मो नाह ।।१६।। त०

सुण ने सेठ तिहां [illegible] [illegible] एम ।
सूत्र लख्या मेहतो [illegible] [illegible] नो गम ।।[illegible]

रूपसी लखम साथे लई, गया आणन्द विमल ने पास ।
जाये एकान्ते पूछे तिहां, सूत्र अर्थ सुणाव ।।१८।। त०
जाय एकान्त बैठा ति हूं, आणन्द विमल प्रसिद्ध ।
दसमी कालक आदे दई, अर्थ पाठ कहिय ।।१९।। त०
अर्थ पाठ सुणि-सुणि ने तिहां, बे हु करे विचार ।
केम धर्म को रे थापिये, बोले रूपसी पास ।।२०।। त०
त्रिपोलिया पर बेस ने, करे उपदेश अपार ।
प्रथम वाणी भाखी तिहां, सात सै घर श्रावक धार ।।२१।। त०
एम करि धर्म परूपियो, बूझा केई नर नारि ।
एहवा अवसर में प्रगटऊ दिल्ली संघ गुर्जर मझार ।।२२।। त०
....

अणियलपुर पाटण विषे, निकल्या मारग सार ।।२३।। त०
तेह तणां खजानची, (खजानथी) भामो ने भारमल्ल ।
खेतसी जगरूप जाणिये, डूंगर ने मेघराज ।।२४।। त०
पहले दलि थकी ते नीसर्या, आव्या अणियलपुर मांहि ।
लखमसि साह ने त्यां मल्या, दया धर्म सुणेह ।।२५।। त०
सांभली वयण लखमसि तणां, समकित सहु सुध कीध ।
प्रथम भामोसा भारमल्ल, सुणिय लखमसि वैण ।।२६।। त०
संजम सुं मन आणियूं, दया धर्म प्रसिद्ध ।
सुध समकित दृढ़ त्यां थई, करता उत्तम काम ।।२७।।
....

एहवा अवसर ने विषे, सूरत संघ तव आय ।।२८।। त०
संघपति साथे सहि, साह जीवराज ए नाम ।
चार लाख संघ साथ सूं, आव्यो पाटण सहर ।।२९।। त०
संघपति बाहरे उतर्या, साथे मनुष्य अपार ।
देव गुरु ने पूजवा, गया शहर मझार ।।३०।। त०
प्रथम जात्रा तेणे करी, पंचासरियो पारसनाथ ।
आनन्द विमल ने वांदवा, चाल्या तिह मन उल्हास ।।३१।। त०
देव गुरु ने बांदने जी, संघ ने मांहे तव तांस ।
लोकागच्छ श्रावक मल्या, साह जीवराज ने पास ।।३२।। त०
लोकागच्छ ना श्रावका, संघपति ने पास ।
तें एणी गांव में केहने पूजिया, कुण वांद्या गुरुदेव ।।३३।। त०
वली संघपति कहे, वो पूज्या पारसनाथ ।
आनन्द विमल ने वांदिया, सीझ्या मन वांछित काज ।।३४।। त०

दूहा :

वाणी सुणी साह लखमसी, जणा पस्तालीस साथ ।
भामोसा आदे केई जणे, लीधो संजम भार ॥१॥

बात अबे एक ए छ, प्रत्यक्ष पंचमे काल ।
श्री महावीर जिणन्द ना, पाट चौतीस मझार ॥२॥

ढाल धना श्री । शत्रुंजा ऊपर राजा भरत नी देसी ॥
नगरी वनिता नो राय, भरत नृप जाणिये ।
भामो ने भारमल्ल के, संजम आदरे एह ॥
मनवांछित सुखकार सफल फली मुझ आसडिये ॥१॥

सम्वत् पन्द्रा नर सुजाण, बरस एकत्रीसो भलो ए ।
मास वैसाख सुजाण, सुकल पक्ष ऊजलो ए ॥२॥

दिन इग्यारस जाण, गुरुवार नक्षत्र अनुराधा ए ।
पोहर बीजो तस, नाम मोहरत अष्टमो ए ॥३॥

शुभ लगन शुभ वार संजम मुनि आदर्या ए ।
साह रूपसी आदि दइ, पस्तालीस जणा ए ॥४॥

पंच महाव्रत सार, सुमत गुपत पारता ए ॥
नव विध धार ब्रह्मचर्य, जति धर्म दस विध ए ॥५॥

टाले पाप अठार, सल्य मिथ्यात ने एह ।
पंच हि आस्रव छांड, संवर पंच आदर्या ए ॥६॥

गुण सरव छत्रीसे उदारके, मुनि शोभता ए ।
गाम नगर परिवार, मुनिसर विचरता ए ॥७॥

करता धर्मोद्योत, तीरथ थाप्यो तिहां ए ।
स्थविर पदवी भारमल्ल, भुजराज भामाजी मुनि जाणि ए ॥८॥

तेह तणा शिष्य दोय, केशव धनराजजी ए ।
पाट पहले शाह रूपसी, ए लोकागच्छ सरदार ॥९॥

जुगन्धर जाणिये शिष्य तेह ना, वलि तीन जसवन्त मुनि खेमसी ए ।
तीजा तेजसी धार, बन्दर खम्भात ना ए ॥१०॥

एतादिक विस्तार लोकागच्छ नीकल्यो ए ।
मुनि धनराज जोगेन्द्र, मालव देशे गया ए ॥११॥

शहर बुरहाणपुरी जाण, अगरवाल वाणिया ए ।
सेठ मुहनचन्द्र पुत्र रामजी शाह छे ए ॥१२॥

सम्वत् १५३६ में, तेह ने बुझ्य व्या ए ।
सूत्र दशाश्रुतखन्धजाण, अध्ययन ते पंचमे ए ॥१३॥

कोईक कोतक तुम्हें सांभलो, अणियलपुर ने मांहि ।
मेहतो लखमसी इहां बसे, सुद्ध धरम से धीर रे ।।३५।। त०

एहवा वचन श्रावक तणां, सुण ने साह जीवराज ।
वलतो श्रावक ने कहे, ए पुरुष मुझ ने देखाड़ ।।३६।। त०

श्रावक लोंकागच्छ नो, लेई ने संघ ने साथ ।
लखमसी मेहता पासे गया, सीझ्या वंछित काज ।।३७।। त०

संघपति जीवराज ने, दया धरम सुणाय ।
एहवा वचन सांभली, हर्षित हुवो अपार ।।३८।। त०

समकित तां तेणे आदर्यो, संजम लेहवा नो भाव ।
इहां जो दीक्षा हूं लऊं, तो मोहे ठुउगे लोग ।।३९।।

संघ जातरा सर्व करी, जाये आपण गेह ।
आज्ञा मांगी कुटुम्ब नी, लेसूं संजम योग ।।४०।। त०

संघजातरा करी घणी, आव्या सूरत मांहि ।
हरिपुरो त्यां जाणिये, साह जीवराज ना त्यां मोहोल ।।४१।। त०

शाह जीवराज आव्या तिहां, दी सर्व संघ ने सीख ।
स्त्री पुत्र ने एम कहे, लेस्यूं संजम भार ।।४२।। त०

लाख बत्तीस सोवन तज्यो, अस्त्री सात सहि सुविशेष ।
पंच पुत्र ते जाणिये, प्रत्यक्ष देवकुमार ।।४३।। त०

ए इत्यादिक सर्व ऋद्ध ने, तजतां न लागी वार ।
आज्ञा मांगी सर्व नी, आव्या पाटण मांहिं ।।४४।। त०

जीवराज सेठ रूपसी, मलिया एकठ त्यांह ।
रूपसी साह ना बहनोई हुवे, साह जीवराज धार ।।४५।। त०

धर्म चर्चा त्यां बहू करे, मुझ ने संजम नो भाव ।
आज्ञा माँगी सर्व नी, हूं आव्यो तम पास ।।४६।। त०

एम कहे शाह रूपसी, हूं संजम सूं अब मन लाग ।
जणिये सैंतालीस जाणिये, साह भामो ने भारमल्ल ।।४७।। त०

तेर वखाण वंचिया, साह लखमसी जाण ।
सूत्र उपदेश तिहां सुणी, बूझ्या जण पस्तालीस ।।४८।। त०

ढालदेसी त्रीजी भणी, मुनि रायचन्द सुजाण ।
दया धर्म कैसे ही चालसी, तेह ना करूं रे वखाण ।।४९।। त०

दूहा :

वाणी सुणी साह लखमसी, जणा पस्तालीस साथ ।
भामोसा आदे केई जणे, लीधो संजम भार ॥१॥

बात अवे एक ए छ, प्रत्यक्ष पंचमे काल ।
श्री महावीर जिणन्द ना, पाट चौतीस मझार ॥२॥

ढाल धना श्री । शत्रुंजा ऊपर राजा भरत नी देसी ॥
नगरी वनिता नो राय, भरत नृप जाणिये ।
भामो ने भारमल्ल के, संजम आदरे एह ॥
मनवांछित सुखकार सफल फली मुझ आसडिये ॥१॥

सम्वत् पन्द्रा नर सुजाण, बरस एकत्रीसो भलो ए ।
मास वैसाख सुजाण, सुकल पक्ष ऊजलो ए ॥२॥

दिन इग्यारस जाण, गुरुवार नक्षत्र अनुराधा ए ।
पोहर बीजो तस, नाम मोहरत अष्टमो ए ॥३॥

शुभ लगन शुभ वार संजम मुनि आदर्या ए ।
साह रूपसी आदि दइ, पस्तालीस जणा ए ॥४॥

पंच महाव्रत सार, सुमत गुपत पारता ए ॥
नव विध धार ब्रह्मचर्य, जति धर्म दस विध ए ॥५॥

टाले पाप अठार, सल्य मिथ्यात ने एह ।
पंच हि आस्रव छांड, संवर पंच आदर्या ए ॥६॥

गुण सरव छत्रीसे उदारके, मुनि शोभता ए ।
गाम नगर परिवार, मुनिसर विचरता ए ॥७॥

करता धर्मोद्योत, तीरथ थाप्यो तिहां ए ।
स्थविर पदवी भारमल्ल, भुजराज भामाजी मुनि जाणि ए ॥८॥

तेह तणा शिष्य दोय, केशव धनराजजी ए ।
पाट पहले शाह रूपसी, ए लोकागच्छ सरदार ॥९॥

जुगन्धर जाणिये शिष्य तेह ना, वलि तीन जसवन्त मुनि खेमसी ए ।
तीजा तेजसी धार, वन्दर खम्भात ना ए ॥१०॥

एतादिक विस्तार लोकागच्छ नीकल्यो ए ।
मुनि धनराज जोगेन्द्र, मालव देशे गया ए ॥११॥

शहर बुरहाणपुरी जाण, अगरवाल वाणिया ए ।
सेठ मुहनचन्द्र पुत्र रामजी शाह छे ए ॥१२॥

सम्वत् १५३६ में, तेह ने वुझ्य व्या ए ।
सूत्र दशाश्रुतखन्धजाण, अध्ययन ते पंचमे ए ॥१३॥

श्री मुनिवर धनराज, क सेठ रामजी ने बूझव्या ए ।
सम्वत् पनरा छत्तीस, मास फागण बुदी ए ।।१४।।

सप्तमी दिन परधान के, वार सोम जाणिये ।
प्रथम पहर उगन्ते, मुहूर्त्त तीसरो ए ।।१५।।

हरणी नक्षत्र योग २, संजय मुनि आदर्यो ए ।
लाख सोवन व तीन, पुत्र पंचु तज्या ए ।।१६।।

अस्त्री बेसुकुमाल, अपछरा सारखी ए ।
तजी इत्यादिक रिद्ध, संजम मुनि आदर्यो ए ।।१७।।

सूत्र सिद्धान्त अनेक, गुरु पासे भणी ए ।
ले आज्ञा गुरु पास, जुया मुनि विचरतां ए ।।१८।।

अनुक्रमे मुनिराय, मारुदेश आविया ए ।
कविराय चन्द सुजाण, तवन तेहनो करे ए ।।१९।।

ढाल चौथी नी ए देशी, प्रथम मुनि ए कहीए ।।२०।।

दूहा

शिष्य मुनिवर धनराज ना, जेम गौतम जिनवीर ।
ते इम लोंकागच्छ मांही, छे श्री धनराज प्रसिद्ध ।।१।।

प्रथम पाट धनराजजी, तस्य शिष्य रामजी जाण ।
पाट मुनि धनराज नो, ई बीजो अवधार ।।२।।

प्रथम गणधर ज्ञान के, क्रिया करी भरपूर ।
पंच महाव्रत पालता, सुमत गुपत भरपूर ।।३।।

पंच सुमिति गुप्ति तिहुं, नव विध ब्रह्मचार ।
इत्यादिक आदे दइ, गुण सत्तावीस सार ।।४।।

सकल गुणे करी शोभता, जेम धनो मेघकुमार ।
तेणे संजम पाल्यो, तिस्यो ए मुनि पंचमे काल ।।५।।

देशी आस्याउरी तर्ज फाग ।।

अनुक्रमे मुनिवर विचरता, मारुदेश मझार रे ।
श्री एकपुर नामे नगर, मां फुल्यवाड़ी उद्यान रे ।।
अनुक्रमे मुनिवर विचरता ।।१।।
सम्वत् पनरे वरस जाणिये अडतालीसो सत सार रे ।
चैत्र मास शक्ल पक्ष में, एकादशी दिन सार रे ।।२।। अ०

इत्यादिक शुभ योग सूं, श्राव्या मुनीन्द्र तिहिं ठौर ।
हर दियो तहां, ये समोसरण ठायो रे ।।३।। अ०

आवी समोसरण तिहां कियो, सुणियो नगर में नर नरीन्द ।
संघ मली ने जाय वांदवा, तहां सुणिऊ महता वर्द्धमान रे ।।४।। अ०

तेह नगर नो राजवी, कूपावत जात राठोडो रे ।
उदयसिंह नृप जाणिये रे, महता श्री वर्द्धमानो रे ।।५।। अ०

तेणी समे बैठो गोख में, एकण दिसे लोक बहु जावे रे ।
ती ई कस्यो कारण इहां, कोई देव वांदण ने जावे रे ।।६।। अ०

पूछै तिहां राजा सही, महता वर्द्धमान पासे रे ।
इतना मनुष्य जावे किहां, ते एकण दिश नर नारियो रे ।।७।। अ०

महतो वर्द्धमान बोलियो, कोई दीसे छै उत्तम कामो रे ।
राज मुझ ने खबर तो को नहीं, जाऊं हूं तेह नी पासे रे ।।८।। अ०

राजा ने मुजरो करी, तिहां महतो वर्द्धमान जी सिधाया रे ।
अधिक सेना आडम्बर करी सेना चार प्रकार नी साथे रे ।।९।। अ०

ए हय गय रथ साथे लही, जिम जावे श्रेणिक राजा रे ।
वीर वांदण ने जावे तिहां तिम महता वर्द्धमानो रे ।।१०।। अ०

फूलबाड़ी उद्यान में रिख रामजी त्यां दीख्या रे ।
हय थकी हेठा ऊतरी, पंच अभिगम ने सांचवी बांधा मुनिवर
त्यांही रे ।।११।। अ०

मुनिवर परखदा जोई करी, उत्तराध्ययन उगणीसमों अध्यायो रे ।
मृगापुत्र एहवे नामे सही, संभलाव्यो मुनि त्यां ही रे ।।१२।। अ०

सांभली महतो वर्द्धमानजी, तेने जाण्यो अथिर संसारो रे ।
गुरु ने वांदी बोले तिहां, सामी मुझ ने संजम आदराओ रे ।।१३।। अ०

गुरु ना चरण कमल नमी महतो गयो नगर मझारो रे ।
राजेन्द्र ने जाय वोनवे, ए तो ऋषि रामजी मुनिरायो रे ।।१४।। अ०

एहवा वचन नृप सांभली मन हुयो हर्ष अपारो रे ।
राजेन्द्र वांदवा जाइये, ए मुनि मुक्ति दातारो रे ।।१५।। अ०

जो कूणिक नृप जाणिये एम गया राजेन्द्र त्यां हो रे ।
चार प्रकार सेन्या सजी, रिख रामजी वांदवा कामो रे ।।१६।। अ०

एतादिक सर्व जाणिये, राय गया वंदण ने त्यां ही रे ।
पंच अभिगमन सांचवी, जे महतो वर्द्धमानो रे ।।१७।। अ०

गुरु ना चरण कमल नमी, संभलाव्यो मुनि ए उत्तराध्ययनो ए ।
अध्ययन अठारमो जाणिये, संजति राय ऋषि नो रे ।।१८।। अ०

गुरु उपदेश त्यां सांभली बार व्रत श्रावक ना लीधा रे ।
राजेन्द्र नगर विषे गया, पोंहता आप महल ठामो रे ।।१९।। अ०
ऋषि रायचन्द्र एम वीनवे, तीजी देशी असाउरी फागे रे ।
चौथी देशी भवी सांभलो, आगल भाव रसालो रे ।।२०।। अ०

दूहा

प्रथम देश मारू विषे, शहर सिरियारी मांहे ।
धर्म उद्योत तिहां कर्यो, महतो श्री वर्द्धमान ।।१।।
लोंकागच्छ जग प्रकट्यो, रिख रामजी गुणवन्त ।
धर्मोद्योत तिहां करे, देसी चौथी प्रसिद्ध ।।२।।
जिम नेमनाथ राजुल तजी, इम महतो वर्द्धमान ।
अस्त्री आठ परणी हती, नवमी परणवा काम ।।३।।
लगन दियो छे सासरे, केसर दे सुकुमाल ।
ते नव दिन छे थाकता, परणवा महता काज ।।४।।
कोतक आरे पंच जिस दीसे सालीकुमार ।
एक-एक दिन-दिन तजे, इम त्यागी तुरत काल ।।५।।
अधिक विस्तार छे तेहनो, चौथी ढाल मझार ।
मुनिरायचन्द जंपे इसो, केम लेसे संजम भार ।।६।।

ढाल चौथी देशी

तिहुं कह्यो अधिवृणाम चौथी देशी मांही छे ते सुणजो नर नारी ।।
ढाल चार ।
देशी टीटोडी टिहुका करे ए देशी ।
महतो श्री वर्द्धमानजी से, करके सासर वासो सुविचारी रे ।
संजम सुमन भावऊ रे लाल ।।१।।
आभूषण बहु भांत ना रे, कनक सुन्दर चूड़ा सार ।
सूविचारी रे संजय ए आंकणी ।
पाय झांझर वहु भांत ना रे, नथ ने हार अनेक ।।सु० स० १।।
केसर बाई ने लेवा चालिया रे लाल, महतोश्री वर्धमान ।।सु० स० २।।
सासूजी काणे सुणी रे, आव्या वात करण ने त्यांह ।
घूंघटा ने आघो करी रे लाल, ऊभी ज्यां महतो वर्द्धमान ।।सु० स० ३।।
कोण कारण आव्या तुम्हें रे, लाज नहीं एणे ठाम ।
वोल्यां त्यां महतो वर्धमानजी रे लाल, अमे लेसूं संजम भार ।।सु०स० ४।।

सासर वासो करवा भणी रे, अमे आव्या एणे ठाम ।
घणा जवाब कीधा तिहां रे लाल, तजियो सासरवास ।।सू०स०५।।

लोंकाशाह के सम्बन्ध में दिगम्बराचार्य रत्ननन्दि के विचार

दिगम्बराचार्य रत्ननन्दि ने वि० सं० १६२५ की अपनी "भद्रबाहु चरित्र" नामक कृति में अपनी कल्पना के बल पर अति कटु आलोचना के साथ अर्द्धफालक अथवा यापनीय[1] एवं श्वेताम्बर संघ[2] की उत्पत्ति का विवरण प्रस्तुत करने के पश्चात् लोंकाशाह के वंश, जन्मस्थान, उनकी मान्यताओं एवं उनसे लुंकामत की उत्पत्ति पर अति संक्षेप में निम्नलिखित रूप में अपना अभिमत प्रकट किया है :—

श्वेतांशुकमतादेव, मतभेदाः शुभातिगाः ।
अहंकृतिवशात्केचित्केचित्स्वाचरणाश्रयात् ।।१५५।।

स्वस्वाश्रयभिदा केचित्केचिद्दुष्कर्मपाकतः ।
ततो बभूवुर्भूयांसो, मिथ्यामोहमलीमसात् ।।१५६।।

मृते विक्रमभूपाले, सप्तविंशतिसंयुते ।
दशपंचशतेऽब्दानामतीते श्रुणुतापरम् ।।१५७।।

लुंकामतमभूदेकं, लोपकं धर्मकर्मणः ।
देशेऽत्र गौर्जरे ख्याते, विद्वत्ताजितनिर्जरे ।।१५८।।

अणहिल्लपत्तने रम्ये, प्राग्वाटकुलजोऽभवत् ।
लुंकाभिधो महामानी, श्वेतांशुकमताश्रयी ।।१५९।।

दुष्टात्मा दुष्टभावेन, कुपितः पापमण्डितः ।
तीव्रमिथ्यात्वपाकेन, लुंकामतमकल्पयत् ।।१६०।।

---

१. तदातिवेलं भूपाद्यैः, पूजिता मानिताश्च तैः ।
धृतं दिग्वाससां रूपमाचारः सितवाससाम् ।।१५३।।

गुरुशिक्षातिगं लिंगं, नटवद् भण्डिमास्पदम् ।
ततो यापनसंघोऽभूत्तेषां कापथवर्तिनाम् ।।१५४।।

२. धृतानि श्वेतवासांसि, तद्दिनात्समजायत ।
श्वेताम्बरमतं ख्यातं, ततोऽर्द्धफालकमतात् ।।५४।।

मृते विक्रमभूपाले, षट्त्रिंशदधिके शते ।
गतेऽब्दानामभूल्लोके, मतं श्वेताम्बराभिधम् ।।५५।।

—भद्रबाहुचरित्र, आ० रत्ननन्दि, परिच्छेद ४

सुरेन्द्रार्चां जिनेन्द्रार्चां, तत्पूजादानमुत्तमम् ।
समुत्थाप्य स पापात्मा, प्रतीपो जिनसूत्रतः ।।१६१।।
तन्मतेऽपि च भूयांसो, मतभेदा समाश्रिताः ।
कलिकालबलं प्राप्य, दुष्टाः किं किं न कुर्वतः ।।१६२।।
बहुधा दुर्मतैरेवं, मोहान्धतमसावृतः ।
जिनोक्त मूलमार्गोऽसौ, निर्मलः समलीकृतः ।।१६३।।

अर्थात्– नटतुल्य हास्यास्पद अर्द्धफालक वेषधर यापनीय मत से श्वेताम्बर मत का प्रादुर्भाव हुआ । मिथ्यात्व–मोहनीय के मल से मलिन श्वेताम्बर मत से भी कुछ तो अहंकार, कुछ अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् समाचारी, कतिपय अपने-अपने हठपूर्ण मताग्रह और कतिपय पूर्वोपार्जित घोर दुष्कर्म के प्रभाव के कारण, अनेक प्रकार के विघटनकारी भेदप्रभेदपरक मत उत्पन्न हुए ।

तदनन्तर वि० सं० १५२७ में धर्मकार्यों को विलुप्त कर देने वाला लुंकामत के नाम से एक मत प्रकट हुआ । विद्वत्ता के लिये विख्यात गुर्जर प्रदेश के अनहिल्लपुर पत्तन नामक सुन्दर नगर में श्वेताम्बर मतावलम्बी लुंका नामक एक महाभिमानी का प्राग्वाट (पोरवाल) वंश में जन्म हुआ । पापपुंज उस दुष्टात्मा लुंका ने तीव्र मिथ्यात्व के उदय से कोपाभिभूत हो दुष्टतापूर्ण भावना के साथ लुंकामत को जन्म दिया । देवों के राजा इन्द्र और जिनेश्वर भगवान् की अर्चा-पूजा और उत्तम दान की उत्थापना कर वह पापी जैन सूत्रों–जैनागमों का विरोधी बन गया । उस लुंका के लुंकामत में भी आगे चलकर अनेक प्रकार के मतभेद उत्पन्न हुए । कलिकाल के बल को पाकर दुष्ट लोग क्या-क्या अनर्थ नहीं कर बैठते ।

इस प्रकार मोहजन्य प्रगाढ़ अज्ञानान्धकार से आच्छन्न दुर्बुद्धि वाले उन लोगों ने जिनेन्द्र प्रभु द्वारा प्रदर्शित जैनधर्म के निर्मल–विशुद्ध मूल मार्ग को मलिन–विकृत कर दिया ।

इन उद्धरणों से यहां हमें यह बताना अभिप्रेत नहीं कि आचार्य जैसे महनीय महत्वपूर्ण पद पर अधिष्ठित विद्वान ग्रन्थकार द्वारा अपने विरोधियों के विरुद्ध प्रयुक्त की गई भाषा इस बात का स्वतःसिद्ध अकाट्य प्रमाण है कि विक्रम की सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में जैन संघ पारस्परिक कलह, वैमनस्य, दुर्भाव, मताग्रह और धार्मिक असहिष्णुता की क्रीड़ास्थली बन गया था । यहां तो केवल इतना ही बताना अभिप्रेत है कि आचार्यश्री रत्ननन्दि के अभिमतानुसार लोंकाशाह का जन्म अनहिलपुरपत्तन के प्राग्वाट वंश में हुआ और लोंकाशाह ने लुंकामत को प्रचलित करते हुए मूर्तिपूजा और उत्तम दान का विरोध किया । लोंकाशाह ने सामायिक, प्रतिक्रमण पौषध आदि का विरोध किया हो, इस प्रकार का कोई उल्लेख आ० श्री रत्ननन्दि ने अपनी उपरि नामांकित कृति में कहीं नहीं किया है ।

जहां तक मूर्तिपूजा का प्रश्न है, लोंकाशाह के १३ प्रश्नों एवं ५८ बोलों आदि से सूर्य के प्रकाश के समान यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि उन्होंने सर्वज्ञ-प्रणीत आगमों एवं आगमोत्तरकालीन निर्युक्ति, वृत्ति, भाष्य, चूर्णि आदि के समीचीनतया आलोडन विलोडन के अनन्तर आगमिक उद्धरणों के प्रस्तुतिकरण के साथ मूर्तिपूजा को अनागमिक–अशास्त्रीय सिद्ध करते हुए मूर्तिपूजा का डट कर विरोध किया। किन्तु लोंकाशाह के ५८ बोलों एवं १३ प्रश्नों आदि में कहीं कोई एक भी ऐसा शब्द नहीं, जिससे कोई यह कहने का दुस्साहस कर सके कि लोंकाशाह ने सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, दान आदि सत्कार्यों का कभी कहीं नाममात्र के लिए भी विरोध किया हो। आचार्य रत्ननन्दि ने उपर्युद्धृत श्लोक सं० १६१ में लिखा है कि लुंका ने जिनेन्द्र प्रभु की अर्चा के साथ-साथ सुरेन्द्र–अर्थात् देवताओं के इन्द्र की अर्चा का भी विरोध किया। जैनागमों में, जैन संस्कृति में इन्द्र की पूजा के लिए तो कहीं कोई स्थान ही नहीं होने के कारण लोंकाशाह ने सुरेन्द्रार्चा के सम्बन्ध में एक भी शब्द नहीं कहा है। इससे यह भी तथ्य प्रकाश में आता है कि विरोधियों का खण्डन करते समय पूर्वकालीन आचार्यों द्वारा भी केवल विरोध के नाम पर आधारहीन बातों का भी उल्लेख कर दिया जाता था। लोंकाशाह के विरोध में लिखने वाले विद्वानों के द्वारा किये गये उल्लेखों में स्थान-स्थान पर इस प्रकार के तथ्यों की अनदेखी दृष्टिगोचर होती है।

लोंकाशाह के जीवन के कतिपय विवादास्पद पहलुओं पर पर्याप्तरूपेण विशद प्रकाश डालने वाले दो प्राचीन पत्र आज से लगभग पचपन-छप्पन वर्ष पूर्व लींबड़ी मोटा उपाश्रय सम्प्रदाय के मंगलजी स्वामी के शिष्य मुनिश्री कृष्णजी स्वामी को कच्छ में नानी पक्ष के यति गोरजी श्री सुन्दरजी के पास देखने को मिले। वे दो पत्र कल्पसूत्र की एक प्राचीन विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के प्रथम चरण की प्रति के अन्त में संलग्न थे। तपागच्छीय यति नायकविजय के शिष्य कांतिविजय द्वारा वे दो पत्र पाटण नगर में सम्वत् १६३६ की वसन्त पंचमी के दिन लिखे गये थे। इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख उन दोनों पत्रों के अन्त में स्वयं लिपिकर्त्ता द्वारा किया गया था। यति श्री सुन्दरजी की अनुमति प्राप्त कर श्रीकृष्णजी स्वामी ने उन दोनों पत्रों की प्रतिलिपि तैयार कर अपने पास रखली।

कालान्तर में उन दोनों पत्रों की प्रतिलिपि "जैन धर्म नो प्राचीन संक्षिप्त इतिहास" नामक ऐतिहासिक कृति के लेखक मुनिश्री मणिलालजी को श्रीकृष्णजी स्वामी ने प्रेषित की। उन दोनों पत्रों की प्रतिलिपि का उपयोग एवं अक्षरशः उल्लेख लींबड़ी संघवी उपाश्रय के पूज्य श्री मोहनलालजी स्वामी के शिष्य मुनिश्री मणिलालजी महाराज ने अपनी उक्त ऐतिहासिक कृति में किया है।

लोंकाशाह के जीवन पर नवीन एवं महत्वपूर्ण प्रकाश डालने वाले उन दो प्राचीन पत्रों की प्रतिलिपि इस प्रकार है :—

"अथ लोंकाशाह नुं जीवन

आ महात्मा नो जन्म अरहटवाड़ा ना ओसवाल गृहस्थ चोधरी अटकना शेठ हेमाभाई नी पवित्र पतिव्रतपरायणा भार्या गंगाबाई की कुक्षि थी सम्वत् चौदव्यासी (वि० सं० १४७२ होना चाहिए) ना कार्तिकशुदी पूनम ने दिवसे थयो हतो। अने पंदरमें वर्षे सम्वत् १४६७ (सं० १४८७ होना चाहिये) ना माघ मास मां यौवन प्राप्त थये माता पिताए शीरोही शहेरना शाह ओधवजी नी पुत्री बाई सुदर्शना साथे तेमनो विवाह कर्यो हतो। तेमने एक पुत्र पूनमचन्द नामे थयो हतो। लोंकाशाह नी वर्तणुंक नीतिवाली हती। व्यसन रहित हता। माता पिता नी आज्ञा गमे तेवी काठिन्य होय तो पण तत्काल उठावता हता। वैराग्यवाला पुस्तको वांचता हता। दररोज तेओ समाधि मां ध्यान धरता हता। धार्मिक कार्यो करवा मां उत्साह धरावता हता। परण्यां पछी पण घणी वखत एकान्त मां विचारता के हे जीव ! संसारना पदार्थो स्थिर नथी। क्षण क्षण मां अनेक रूपे फर्या करे छे। पर्यायो बदलाया करे छे। अरे चैतन्य ! तारा देखतां आ संसारे पशु पक्षीओ अने मनुष्यो वगैरे ना फेरफार पामतो वारंवार जोवामां आवे छे। आ मां तारू कोण छे, तूं कोनो छे, अने तारी साथे शुं आवशे तेनो स्वयमेव थी विचार कर। विषय कषाय नी ज्वाला मां वलता आत्मा ने बचाववा माटे एक वीतरागप्रणीत धर्मज छे। लोंकाशाह नी बुद्धि घणी निर्मली हती। तेमना अक्षरो घणांज सुन्दर हता। पोताना वतन मां थी अमदाबाद मां आवी नाणावटी नो धंधो करता हता। तेमां एक दिवस महंमदशाह बादशाह थी ओलखाण थतां महंमदशाहे जाण्युं के आ लोंकाशाह तो पक्षपात रहित छे। तेथी तेने पाटण ना तेजेरीदारनी जग्याए निमवा लायक धारी नीमी दीधा। बादशाह पोताना मित्र तरीके गणता हता। जेथी तेने पाछा संवत् पन्नर एक मां अमदाबाद मां तेजुरीदार नी जग्या उपर पाटण थी बोलावी लीधा। राज दरबार मां तेनुं घणुं मान हतुं। दरम्यान पंदर सें ने सात नी साल मां जे वखते महंमद शाहे डरी ने दीव बंदर नासी जवानुं नक्की कर्युं ते वात तेमना दीकरा जमालखां नां जाणवा मां आवतां भेर अपावी पोताना बाप ने मारी नखाव्यो अने पोतानुं नाम बदली कुतुबदीन शाह नाम थी तख्त ऊपर बेठो। आ अनर्थ जांणी लोंकाशाह ने विशेष वैराग्य वध्यो। आ संसार मां शरीरादि संयोग सर्व क्षणिक छे। पण देखवा मां जाहिर दृष्टि थी सुन्दर लागे छे। परन्तु अन्तर मां अत्यंत दुःखदायक छे। पुत्र, पुत्री के कलत्र उपर मोह राखवो ए केवल अज्ञान छे। आवा विचारो करी पोतानां संबंधी वर्ग नी अनुमति मेलवी पाटण आवी संवत् पंदर नव नां श्रावण शुदि अगीयारस ने शुक्रवारे शुभ योग शुभ नक्षत्र मां प्रथम प्रहरे द्वितीय चौघड़ीये यतिश्रीजी सुमतिविजयजी महाराज नी पासे यतिपणां नी दीक्षा स्वीकारी अने गुरु महाराजे श्री लक्ष्मीविजयजी नाम आप्युं पण जगतवासी लोको तेमने लोंकाशाह ना नाम थी बोलावता हता। ए समय मां यति वर्ग नी प्रनालीका मर्यादा शास्त्रोक्त विरुद्धपणे प्रवर्तती हती। श्री सुमति विजय यतिजी ना वखत मां

ठेर ठेर श्रीपुज्यो छड़ी, चामर, छत्र साथे पालखी म्यानादि वाहनो मां बेसी मोज-मजा माणता हता। श्रावक ना घरे घर पगला करावता हता, नवांगी पूजा पण करावता हता अने पैसा पण लेता हता। राजा महाराजाओ ने ज्योतिष, वैदक, मंत्रादि करी आपी रंजन करी छड़ी छत्रादि लेता हता। राजकचेरी मां बेसता पण हता वली पैसा आपे ते लइ लेता हता। पोताना नामना उपाश्रय बंधावी कलम तोड़ी मांही रहता हता। लोंकाशाह यतिजी थयां पछी सिद्धान्त नु अवलोकन करवा लाग्या। तेमने सूत्रज्ञान घणु विशाल थयु। तेमनी निर्मल मति श्री वीर परमात्मा नी वाणी नां पवित्र आशय ने पामी गई। पोता नां ज्ञान चक्षु उघड्या, श्री वीर भाषित अणगार धर्म अने आ समय ना यतिवर्ग नी प्रवृत्तिए बने वच्चे जमीन आसमान जेटलु अन्तर जणायु। यति लोको उत्सूत्र नी प्ररूपणां करता हता वली दिगम्बर ने श्वेताम्बर आ बंने नी मूर्ति मां तफावत अने प्रभु ना नामे थतो आरम्भ आखो जैनसमाज नो गतिप्रवाह उलटी दिशा मां वहेतो जोई तेमनु अंत:करण जगत नां जीवो उपर दयात्मक भाव थी जोवा लाग्यु। तेमनां हृदय मां प्रबल प्रेरणा थई। तेथी लोंकाशाह नीडरपणे जाहेर मां उपदेश आपवा लाग्या। सत्य मां खास भाविक रीते रहेला अद्भुत् आकर्षण शक्ति ना प्रभाव थी तेमनां भक्तो नीं संख्या प्रतिदिन बधवा लागी। सिद्धपुर पाटण वगैरे मां विचरी लाखों जीवों नो उद्धार कर्यो। एक वखत संवत् पन्नर एकतीस मां केटलाएक यतियो सहित श्री अमदाबाद झवेरीवाड़ मां चातुरमास रह्या। तेमना सदुपदेश नी असर थी केटला एक यतिपणुं मुकी ने जैन शास्त्रानुसार अणगार पणां नी तत्परता बतावी। ते थी लोकाशाहजी पण पुनः चारित्र धारण करी अणगार ने गृहस्थ नां बंने धर्मो समझाववा लाग्या। इति लखीतं तप गच्छ ना यति नायकविजय ना शिष्य कांतिविजय। पाटण नगरे संवत् १६३६ नी वसंत पंचमी ए। ऐम लखेलुं हतुं ते प्रमाणे उतारो कर्यो छे।[१]"

लोंकाशाह ने श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी और वे ही लोंकागच्छ अपर नाम "जिनमती" गच्छ के प्रथम आचार्य थे, इस सम्बन्ध में प्राचीन तथा अर्वाचीन पट्टावलियों एवं पत्रों में जो कतिपय उल्लेख जैन वांग्मय के आलोडन से प्रकाश में आये हैं, वे इस प्रकार हैं :—

१. समत पनरे ने अड़तांस (अड़तीस) री साल मीगसर सुद पांचम ने दिने अमदाबाद वाला लूकाजी दफतरी पीण दीष्या लीधी। पांच चेला लूंकाजी ने हुवा। लुंका नाम थपीया।

---

१. जैन धर्म नो प्राचीन संक्षिप्त इतिहास अने प्रभु वीर पट्टावली (लेखक मुनि श्री मणिलालजी महाराज) पृष्ठ १६१, १६२।

तिरारी याद–लुंकाजी दीष्या लीनी तिरारो परिपार घराो बधियो। तिरा रो लुंका नाम थपीयो छै और लुंकाजी गुजरात, मारवार और दिल्ली तक पधारिया। और दिल्ली मांहें पातशाह आगल चरचा थपी। श्रीपूजजी सूं लूंकाजी रे चरचा हुई करी ने घणो मीथ्यात हटावी ने घणां श्रावकां ने प्रतिबोध दीधो। एनी साख सूरत ना सेठजी कल्याणजी भंसाली ना भण्डारमां पट्टावली संस्कृत मां छै। तेमां लूंकाजी नी दीष्या नी हकीकत छे। तथा ज्ञानसागर जती नी जोड़ नो ग्रंथ नाटक तेमां पण लूंकाजीए दीष्या लीधी नो लष्यूं छै। दया धर्म नो उदीयोत घराो थयो। देस-देस में गांव नगर में दया धर्म नी परूपराां घराी बधी। घराां ना मोह मीथ्यात काढ़िया। घराां ने दया धर्म मां ग्राणिया। ऐसी जैन मारग नी महिमा देषी ने पनरेसेह बत्तीसे नी साल मां साधुग्रां नी महिमा आगले जतीयो नो जोर बहु कम परीयो। तीवारे जतियां विचार करियो के ग्रापणो मत चालसी नहीं।...........।" [१]

२. ....संघ १५२ सा माटा पाटरा मां ग्राव्या, वर्षारथे नील फुल उगी, सम्वत् १४२८ (१५२८ होना चाहिये) मां पाटरा मां देरा देख स्थान जोई रीह्या त ए दीवसनी गमे नहीं तरा लुंको लह्यो सिद्धान्त ३२ लखी बेची और पूर्णा करे छे ते पासे १५२ संधवी जैने ३२ सूत्र सांभल्या, तरे संधवी १५२ ने पुछु के हे लका लह्या! भगवन्त ने १ लाख ५९ हजार श्रावक थया, तेमां मोटा १२ व्रतधारी १० ते एकावतारी, तेनु सूत्र रचुं तेणे केणे, संघ न काढो, देरु न कराव्यु, प्रतिमा न पूजी। तेनो पाठ उपासकदशांग मां केम नाव्यो। ते प्रतिमा तो जुठी माटे, ग्रमारा पैसा संघ काढा ना खराव कर्या, गाड़ां ना पैड़ा हेठे ग्रनेक जीव मरा माटे, ग्राजीवक मत हो धीगस्तु। संसार ने, द्रव्य, छया, छोकरा...........पड़तां मुकी ने १५२ साधु थया। पुस्तक लका लया कने थी नै नके (लुंके) दीक्षा लीधी। १५३ ठाणुं वीहार करी वन जई रीह्या। ग्रने पनवणाए महापनवणा ऐ, महापनवरा मां पाठ मां कहूं छे जे भगवंत ने इन्द्रे वीनती कीधी। ग्रंत शमे हे प्रभु भस्मग्रह वेशे छे, जो बे घड़ी ग्राउखो बधारो तो तमारी द्रष्टी ने जोगे दो हजार नी दो घड़ी मा उतरी जासे, प्रभु के, ए ग्रर्थ न समर्थ, तीर्थंकर बल न फोरवे। तरा, प्रभु पाछो जीव–दया मूल धर्म कयांथी दीपसे। तरे प्रभुए कह्युं–जे जीवा रूपादी जीव भवीस्सई, त्यांथी जीवदया मूल धर्म दीपसे। पछे लूंके ३ दिन ग्रणसरा करी चवा। मध्ये रात्रे देव ग्राकाशे ग्रावी १५२ साधु ने सूरी मन्त्र दीधो। ते साधुए सवारे कागले उतार्यो। कह्यूं—जे हूं लुंको ऋषि देवलोके गयो छूं। ग्रा लोको गच्छ सत्य छे।

हवे त्याथी लोंकागच्छ नी पेढ़ी सं० १४२८ (?) थी लखाराी

१. मरुधर पट्टावली, पट्टावली प्रबन्ध संग्रह, पृष्ठ २५५-५६, प्रकाशक—जैन इतिहास निर्माण समिति, जयपुर। सन् १९६८

१. ऋ० लकाजी, पाटण ना रेवासी, जात बीसा उशवाल, गोत्रे लकड़, दीक्षा मास ३ नी सर्व आयु वर्ष ५७ ।........... ।[1]

३. "आठ कोटि दरियापुरी जैन सम्प्रदाय वृक्ष" में श्रमण भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर सुधर्मास्वामी के पाटानुपाट २७ वें पट्टधर देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण और उनके उत्तरवर्ती पट्टधर आचार्यों का क्रमशः उल्लेख करते हुए बताया गया है कि भ० महावीर के ४८वें पट्टधर श्री सुमति आचार्य हुए। इसके पश्चात् लोंकाशाह के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है :—

"४९वें (पट्टधर) श्री लोंकाशाह आचार्य
सम्वत् विक्रमीय १५३१ मां भस्मग्रह उतर्यो।
विक्रम संवत् १५३१ मां साधु धर्म चलाव्यो। (लोंकागच्छ प्रारम्भ)

अरटवाड़ा ग्राम मां वणिक् ओसवाल—पिता हेमचन्द्र, माता गंगा वाई। तेमणे ४५ जणां ने साधुमार्ग दीक्षा अपावी। केटलाक कहे छे के लोंकाशाहे सम्वत् १५०९ मां पाटण मां सुमतिविजय पासे दीक्षा लीधी अने लक्ष्मीविजय नाम धारण करी ४५ जणां ने दीक्षा ग्रहण करावी अने केटलाक कहे छे के दीक्षा ग्रहण करी नथी, अने संसार मां रही ने ४५ जणां ने दीक्षा अपावी।

५० (वें आचार्य) श्री भाणजी स्वामी वि० सं० १५३१
५१ श्री भीदाजी स्वामी ,, ,, १५४०
.... ।"

४. "दरियापुरी सम्प्रदाय
....
४८. श्री सुमति आचार्य
४९. श्री लोंकाशाह आचार्य

वि० सं० १५३१ मां भस्मग्रह उतर्यो। वि० सं० १५३१ मां साधु मार्ग लोंकागच्छ प्रारम्भ।

अरटवाड़ा ग्राम मां वणिक् ओसवाल पिता हेमचन्द्र, माता गंगावाई। तेमणे ४५ जणाह साधुमार्ग दीक्षा अपावी।

केटलाक कहे छे के लोंकाशाहए सं० १५०० मां पाटण मां सुमति विजय पासे दीक्षा लीधी ने लक्ष्मीविजय नाम धारण करी ४५ जणा ने दीक्षा ग्रहण

१. लोंकागच्छीय पट्टावली (सं० १४२८ से १९८२ तक की) देखिये—पट्टावली प्रबन्ध संग्रह, पृष्ठ १०२—३।

करावी । अने केटलाक कहे छे के दीक्षा ग्रहण करी नथी अने संसार मां रही ने ४५ जणां ने दीक्षा आपावी ।[1]

५. श्री सुधर्मा स्वामी नी पाटानुपाटे

४६. (वां) पट्टधर लोकाचार्य (लक्ष्मीविजयजी) जन्म सं० १४७२ ना कार्तिक सुद १५, दीक्षा सं० १५०६ ना श्रावण सुद ११। स्वर्गवास ६६ वर्ष नी ऊंमरे ईस्वी सन् १४८५ वि० सं० १५४१ मां ।[2]

श्री सुधर्मा स्वामी नी पाटानुपाटे ४६वें पट्टधर लोकाचार्य—(लक्ष्मी-विजयजी–लोकचन्द्रजी स्वामी) मूल सुधर्मा गच्छ मांथी लोकागच्छ नी स्थापना वीर नि० सं० २००१, वि० सं० १५३१ मां करी ।

लोकागच्छ की प्राचीन अथवा अर्वाचीन पट्टावलियों के उपर्युल्लिखित उल्लेखों के अतिरिक्त लोंकागच्छ के न केवल प्रतिपक्षी ही अपितु कट्टर विरोधी एवं मूर्तिपूजा के प्रबल समर्थक एक गच्छ की पट्टावली में भी लोंकाशाह के दीक्षित होने के उल्लेख के साथ-साथ इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख है कि लोंकाशाह के द्वारा जिस धर्मक्रान्ति का सूत्रपात किया गया उस धर्मक्रान्ति के प्रचण्ड वेग से शिथिलाचार का घटाटोप स्वल्प समय में ही किस प्रकार छिन्न-भिन्न हो उठा। उस उल्लेख के आवश्यक अंशों की प्रतिलिपि यहां अक्षरशः प्रस्तुत की जा रही है :—

श्री विनयचन्द ज्ञान भण्डार, जयपुर के हस्तलिखित पत्रों में क्रम संख्या ४०० पट्टावली, लोंकामत उत्पत्ति, (दीक्षा सूत्र पठन के वृत्तान्त सहित) पत्र १५ फोटोकापी २६ की प्रतिलिपि ।

नोट : इसमें पत्र संख्या १५ के दूसरी तरफ की पत्र की फोटोप्रति नहीं है । पत्र संख्या १३, १४ और १५ को यहां उद्धृत कर रहे हैं—

........सम्वत् १५०३ श्री मुनि सूरि स्वर्ग पहुंता, बावनवें पट्टे श्री रत्नशेखर सूरि थया ।

सम्वत् १५३३ लूंका थया । लूंकागच्छ उत्पत्ति लिख्यते ।

सम्वत् १५०८ वर्षे अहमदावाद नगरे लूंको लहइं भंडार लखतो हतो । इम करतां पांच अथवा सात मांड्यो । तेह थकी माहात्माइं दुहव्यूं । तिहा थिकी

१. दरियापुरी सम्प्रदाय की इस पट्टावली की प्रति आचार्यश्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, लाल भवन, जयपुर में है ।

२. गुजराती लोंकागच्छ की इस पट्टावली की प्रतिलिपि आचार्यश्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, लाल भवन, जयपुर में रजिस्टर सं० ५, कापी सं० ३, क्रम सं० १ के पृष्ठ ८ से २० पर उपलब्ध है ।

महात्मा नु ं नन्दक हुवो। तेणे महात्मा नां अपवाद बोलव्या मांडिया। तेह ने लखमसी शिष्य मल्यु ं। ते लखमसी मिथ्यात्वी। महात्मा कन्हुं ने भणु ं। पछे कही मु ंह ने सिद्धान्त भणावु ं। महात्मा इं न भणावियु ं। तिहां थकी रीसाणो लू ंका लेह नु ं शिष्य थयु ं। तीणे पछे प्रतिमा प्रसाद उथाप्या। वासक्षेप उथाप्या। गु ंहली उथापी। पिस्तालीस सूत्र मध्ये अठ्ठावीस राख्या। जिन प्रतिमा ना सूत्र पूजा उपगरण उथाप्या। निर्यु क्ति उथापी। चूर्ण टीका श्री भद्रबाहु स्वामीइं टीका चूर्ण कीधा ते उथाप्या। चौरासी पयन्नो उथाप्या। ते लखमसी ना प्रतिबोध कीधी। सम्वत् १५३० वर्षे भिक्षाचर हुवो। न महात्मा मांही न महासती मांही न श्रावक मांही न श्राविका मांही। एतला कारण भणी संघ बाह्य कहिवराइं। हवि जिन प्रतिमा उथावीवानी काजी तेणे लूंके तेहवो बोल लीघुं। किहां पूजा नथी कही। लोक कन्हें पूछें। हिंसाइं धर्म के दयाई धर्म। बायडा लोक ने उत्तर ऊपजे नहीं। सहू कहें दयाइं धर्म। तु ं जोउन दयाइं धर्म नु ं देवपूजा करतां केवडी हिंसा उपजे छेइं ते तुमें काइ करो। एहवुं कही लोक ने मिथ्यात्वी पाडिवा लागा। इम अनेक लोक संसा मां पाडी श्रावक ने संशय पाडी जिन प्रतिमा उथापी। चार निक्षेपा उथाप्या। पहलो नाम निखेपो १। बीजो थापना निखेपो २। तीजो द्रव्य निखेपो ते जिनद्रव्य थांसे ते उथाप्या ३। चौथो भाव निखेपो ४। एवं उथाप्या। गुजरात मारुआड दल्ली प्रवर्ती श्री रत्नशेखरसूरि ने पाटे श्री लक्ष्मीसागर सूरि थया। ५३। श्री सुमति साधु सूरि थया ५४। ५५ तत्पट्टे श्री हेमविमलसूरि युग प्रधान। गौतम सरखा। ५६ तत्पट्टे श्री आणंदविमलसूरि सम्वत् १५७० वर्षे सूरिपदं। प्रथम शथलाचारी पाटन मध्ये सर्वगच्छ शथलाचारी वीयावट्ट आजीविका करे। पाटन मध्ये पंच गच्छ आचार्य ते समें श्रावकें विनती करी गच्छ त्याग्यो (वोसराव्यो) क्रिया उद्धार करो। ते समये लूंको श्रावक अरटवाडा नो ते आनन्दविमलसूरि पासे **अठावीस सूत्र भण्यो। पछें पोतानो मेलें दीक्षा लीधी। सर्वदेशे लू ंका-गच्छ प्रवर्ताव्यो।** जिन बिम्ब जल पृथ्वी मय भंडायी। सर्व ढुंढक थयो। तिवारे पाटण ने श्रावकें आणन्दविमलसूरियें क्रिया उद्धार कीधो। उपाध्याय श्री विद्यासागर पंडित श्री पति पंडित गणपति पंच संगाते क्रिया उद्धार। गुरुभाई ने बीयावट नव कुल दीधां। बीजा कुल पुनमिया खरतरा सरवे जांच्यां तेहने दीवां। बीजा सर्व जलमध्ये बोल्यां। क्रिया उद्धार करी ज्ञानसागर उपाध्यायें संघाते एवं ठाणु ं ग्यारह संघातें विहार कीधो। आवुयें अर्बु दाभवानीयें अट्ठम करी, माता नो वर लेइ हेठे उतर्या। श्रावकें आचार्य पद ओच्छव कीधो। मार्ग जातां भीलडी ने रूपें माता मली तुष्टमान थई। वासक्षेप मन्त्री दीधो। श्रावक ने माथें घालीस। तेतला ताह रा श्रावक थास्यें। वीस्तार वड जिम विस्तरस्यें। आगे जातां सामी मलस्यें। ते पदमकनाडी देस्यें। ते ओघा मध्ये राखयो। ते थकी झाडे रोग भूत-प्रेत वींतर सर्व जांस्यें। माता अलोप थई। पछं मरुधर मध्यें जोधपुर किशनगढ़ सर्व देसें ओच्छव कीधो। जिन थापना निखेपा चार मनाव्या। **पछें आगरा मध्ये श्रावक ३६०० सें घर लु ंका कीधा। ई ग्यारसें देहरा जिन प्रतिमा भुय मध्ये भंडारी छें।**

हलाबोल ढूँढक थयो। पछें श्री पूज्य आगरें गया। छट्ठ अट्ठम पारणें। एक बडेरो श्रावक लुंके दीक्षा लीधी, **हानऋख्य, वानऋख्य ३०० ठाणा संघो रहे छें।** ते वडेरा श्रावक नें उसरियें उतर्या। श्री पूज्य छठ ने पारणें तेह नें घरें राख डोसीई वोहरावी छास मध्ये भेली करी पारणो कीधुं। वहुए सात लाडूआ आप्या, न लीधां। पछे रात्रे डोसीइं काकडा करी कानमध्ये तीन वार खेप्यां। तो ही न चल्या। प्रभाते सात दीकरां ने तेडी कहे गौतम सुधर्मा स्वामी आव्या छें। सर्व वात कही, देसना सांभली प्रतिबोध पाम्यां। सर्व लोकें श्री पूज्य जी नों ओच्छव कीधो। सर्व जिन प्रतिमा चार निखेपा मनाव्या। **आनऋख्य वानऋख्य तीन सें ने** चेला श्री **पूज्ये कीधां।** कई श्रावकें दीक्षा लीधी। सात सौ साधु समवाय करी भव्य जीव ने प्रतिबोध देइ सब देशें जिन मनावीं चौमासूं मेडते रही ठामो ठाम साधु मोकला आदेशें-पछें श्री पूज्य विहार करता देस प्रतिवोधता त्रम्बावतीनगरी पधार्या। तिहां खरतर-गच्छें श्री पूज्य नीं महिमा देखी रगतियो मुक्युं। दिन प्रतें साधु मरण पामें। ठाणुं डेड सौ मरण पाम्या। श्री पूज्य उपद्रव्य देखी अर्बुदा भवानीयें पाछा आव्या। मातायें कह्युं मरण नहीं साधु पामें। रगतियो तो मुझ थी मनें नहीं थाय। जाओ घान धार मध्ये तिहां तुमनें सुख थास्यें। दिन प्रत्यें रगतियो आवें। लोही शरीर ना सोसी लें। साधु मांहु थाय। दुख पामें। मरे कोई नहीं। इम करतां घानधार मध्ये आवे। हवें ते समयं उज्जैन नो वाणियों माणकशा नव हजार रुपया लेई शत्रुंजय श्री पूज्यजी नें वांदवा आवे छै। वे ब्राह्मण संघातें। धाणधार मध्ये आव्यो। कोलियें माणकशा ने मार्यो। शत्रुंजा ने थान्ये। वेंतर बत्तीसनीय काय मां वडेरो इन्द्र थयो। ब्राह्मण ने कहें नव हजार रुपीया छै। ते मध्य थी पांच हजार शत्रुंजय मूंकजो। पांच सें पांच सें तुम्हें लेज्यो। त्रण हजार रुपया माहरा गुर श्री पूज्यजी ने उच्छव मां खरचयो। श्रावक ने आपज्यो। नहीं खरच्या तो तुम ने दुख देईश। इम कही रात पडे त्यां रें। बावन वीर संघाते मगरवाडा पासें मसाण भूमें रात्रें खेले। जग्या सुद्ध करे। इम करतां मास डोड थयो। एहवें समयें श्री पूज्य विहार करता तिहां आव्या। जग्या सुद्ध निरमल देखी तिहां पडलेइ संथार्यों आदरियौ। सर्व साधु पोरभणी सर्व सूता। मध्य रात्रे बावनवीर आव्या। ते मध्ये श्रीमणिभद्र हाथी ऊपर चढ्यो तलाव पासें आव्या। श्रीमणिभद्रजी कहें—माहरी जग्या इं कुण उतर्या छें। तिवारे एकला मणिभद्रजी आया। देखे तो श्री पूज्यजी वैठा छै। पछै श्री मणिभद्रजी श्रावक नो वेष लेइ उत्तरासन वाली प्रदक्षणा देइ पगे लागां। श्री पूज्यजी ने कहें—मुझ ने ओलखो छो ? हूं उज्जैन नो वाणियो माणकसा। हूं तुमने वांदवा आवतां मुझ ने इहां भीलें हण्यौ। श्री शत्रुंजां ने ध्याने मरी वत्रीस व्यंतर मांहि त्रिणिनिकाये इन्द्र हुं थयो छुं। श्री गुरु सान्निध्यें। एहवे समयें रगतियो आव्यो। सर्व साधु ने शरीर घमघमावें, शरीर ना लोही सोसी नें। एहवुं देखि मणिभद्रजी इं रगतिया नें पकड़ी दूर कर्यो। आज पछी दुख देईस मा। श्री पूज्यजी ने कहें—हवे हूं जैन शासन ने विषे तुम्हारा साहु साध्वी श्रावक-श्राविका ने साज्य कष्ट निवारस्युं। जे तुमारें पाटें वैसें तेह ने नाम थापना मांहि माहरा नाम अक्षर

घाली नाम थापज्यो। पछे गोरियो वीर थाप्या तेह ने सिन्दूरिया कूं तेल नैवेद्य छत्र चढावयो। पाटे वैसें तें पधारियो। सूरमन्त्र गण्यो। दिन-दिन प्रतें चतुर्विध संघ बधसे। इहवुं कही त्रिजि निकायें गया। श्री पूज्यजी ए विहार कर्यो। भव्य जीव ने प्रतिबोध देइ जिहां-जिहां लुंका तेहने उत्थापी जिन बैंब थापना करी। पूजा प्रभावना दिन-दिन प्रतें उन्नत थइ। लूंका ना मनना सन्देह भाजी, तो वली कुमति बोल्या देवता नो पूजवानी स्थित छै। पुण्य नी के पाप नी। ते विचारी जोजो। संसार मांहि ते सर्व स्थिति छैं। साधु ने पांच महाव्रत पालवा नी स्थितिज छैं तो पुण्य न उपार्जीइं—मोक्ष न पामीइं। कुमति बोल्या जिन प्रतिमा नो पूजनार केहि गति जनइ ? तीर्थंकर..........

लोंकाशाह के विरुद्ध विषैला भ्रान्तिपूर्ण प्रचार

नगीनदास गिरधरलाल शेठ ने वि० सं० २०२१ में प्रकाशित "लोंकाशाह अने धर्मचर्चा" नामक अपनी एक लघु कृति में महान् धर्मोद्धारक लोंकाशाह को अधर्म का प्ररूपक और उनकी सर्वज्ञप्रणीत आगमों का अक्षरशः शत-प्रतिशत अनुसरण करने वाली शास्त्रीय मान्यताओं को नितान्त धर्मविरुद्ध बताते हुए अपनी निम्नलिखित मिथ्या एवं निराधार मान्यताओं को, वस्तुतः वास्तविक तथ्यों की अनदेखी करते हुए, अपनी निम्नलिखित पूर्वाभिनिवेशपूर्ण मिथ्या एवं नितान्त निराधार मान्यताओं को सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है :—

"१. लोंकाशाहना मृत्यु सुधी लखमसी, भाणजी अने लींवड़ी ना थोड़ाक श्रावको-एटलाज तेमना अनुयायी हता। (पृष्ठ ४३)"

इन पंक्तियों को लिखते समय श्री नगीनदास गिरधरलाल शेठ ने इस बात का लवलेशमात्र भी विचार नहीं किया कि इन पंक्तियों को लिखकर वे अपने पूर्वाचार्यों, अपनी परम्परा के विद्वान् लेखकों और अपनी परम्परा की प्रायः सभी पट्टावलियों को नितान्त असत्य अथवा अक्षरशः झूठा सिद्ध करने का दुस्साहस कर रहे हैं। तपागच्छ पट्टावली आदि मूर्तिपूजक गच्छों की प्रायः सभी पट्टावलियां पुकार-पुकार कर कह रही हैं—"तदानीं च लुंकाख्याल्लेखकात् वि० अष्टाधिक पंच दशशत १५०८ वर्षे जिनप्रतिमोत्थापनपरं लुंकामतं प्रवृत्तं।" तपागच्छ के ५२वें से ५६वें पट्टधर रत्नशेखरसूरि, लक्ष्मीसागरसूरि, सुमतिसाधुसूरि हेमविमलसूरि और आनन्दविमलसूरि के संघनायकत्व काल में लुंकागच्छ उत्तरोत्तर फलता-फूलता एवं फैलता ही गया और उस समय के प्रायः सभी गच्छों के नायक एवं साधु परिग्रह बटोरने एवं शिथिलाचार में प्रलिप्त रहे। "आगरा मध्ये श्रावक ३६०० सें घर लुंका कीधा, इग्यारसें देहरा, जिनप्रतिमा भुंयमध्ये भण्डारी छें, हलावोल ढुंढक थयो।" "पाटन मध्ये पंच गच्छ आचार्य, ते समें श्रावकें

विनती करी–"गच्छ त्यागो (वोसरावो) क्रिया उद्धार करो"। "आनन्दविमलसूरि ने (देवी से) कहा—देवी ! तुम से शासनभक्त होते हुए लुंगा (लुंका) के अनुयायी जिन-मन्दिर और जिनप्रतिमाओं का विरोध करते हुए लोगों को जिनमार्ग से श्रद्धाहीन बना रहे हैं, तुम्हारे जैसों को तो ऐसे मतों को मूल से उखाड़ डालना चाहिये।" ....आनन्दविमलसूरि और विजयदानसूरि....राजसूरिजी के पास आये और कहा—"हम दोनों लुंकामत का प्रसार रोकने के कार्यार्थ तत्पर हैं तुम भी इस काम के लिए तैयार हो जाओ।........(मैंने) परिग्रह सम्बन्धी मोह छोड़ कर वहीवट की बहियां जल में घोल दी हैं, सवा मन सोने की मूर्ति अन्धकूप में डाल दी, सवा पाव सेर मोतियों का चूरा करवा के फेंक दिया है, दूसरा भी सभी प्रकार का परिग्रह छोड़ दिया है।" वि० सं० १५८२ से १५९६ तक गुजरात से लेकर आगरा तक के सुविशाल क्षेत्र के गांव-गांव, नगर-नगर में घोर तपश्चरणपूर्वक उग्रविहार कर आनन्दविमलसूरि ने प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की, अनेक जिनबिम्ब भरवाए और इस प्रकार लोंकाशाह द्वारा सूत्रित और देश के कोने-कोने में प्रसृत धर्मक्रान्ति के तीव्र प्रवाह को मन्द किया। आनन्दविमलसूरि के ही अथक प्रयासों से—"सं० १५९६ तक वहुत से लुंका के अनुयायी गृहस्थ तथा वेषधारक उपदेशक मूर्ति मानने वाले हुए"—अर्थात् श्री आनन्दविमलसूरि के अथक प्रयासों से लोंकाशाह की आगमिक मूल मान्यता से नितान्त विरुद्ध मान्यता वाले मूर्तिपूजक लुंकागच्छ का जन्म हुआ।

इन सब उल्लेखों की ओर "लोंकाशाह अने धर्म चर्चा" के विद्वान् लेखक ने किंचित्मात्र भी ध्यान नहीं दिया। शेठ श्री नगीनदास भाई ने "लुंकामत प्रतिबोध कुलक" के इस उल्लेख की ओर भी दृष्टिनिपात तक करना संभवतः उचित नहीं समझा कि वि० सं १५३० में पंन्यास हर्षकीर्ति ने सम्पूर्ण धुंधुका क्षेत्र को लुंकागच्छ का अनुयायी वना कर गुर्जर राज्य के पट्टनगर अनहिलपुर पत्तन में भी लोंकागच्छ का वर्चस्व स्थापित कर दिया था।

लोंकाशाह के स्वर्गस्थ होने से बहुत समय पूर्व ही लोंकाशाह द्वारा प्रकाश में लाया हुआ धर्म का विशुद्ध आगमिक स्वरूप भारत के सुविशाल भाग के जैनधर्मावलम्बियों के मन, मस्तिष्क, अन्तस्तल एवं हृदयपटल पर श्रद्धाविन्दु के रूप में अंकित हो चुका था और लोंकाशाह के अनुयायियों की संख्या लाखों की गिनती को भी लांघ चुकी थी।

यह तो महान् धर्मोद्धारक, धर्मप्राण लोंकाशाह द्वारा अनुपम साहस के साथ अभिसूत्रित की गई धर्मक्रान्ति का, लोंकाशाह के आगमिक प्रमाणों से परिपुष्ट उपदेशों एवं ५८ बोल, ३४ बोल, १३ प्रश्न आदि उनके सत्साहित्य का ही प्रताप था कि विपुल परिग्रह, अपार धन-सम्पत्ति वटोरने में अहर्निश संलग्न-संलिप्त सभी गच्छों, सभी श्रमण-परम्पराओं के आचार्यों, साधुवर्ग और यतियों को क्रियोद्धार के लिए वाध्य होना पड़ा। विक्रम की सोलहवीं शताब्दी का समग्र जैनवांग्मय, प्रायः सभी पट्टावलियां इस निर्विवाद तथ्य को पुकार-पुकार कर प्रकट कर रही हैं कि

लोंकाशाह के उपदेशों के परिणामस्वरूप जैनधर्म में शताब्दियों से प्रविष्ट हुई विकृतियों, शिथिलाचार, आगमविरुद्ध बाह्याडम्बरपूर्ण तथाकथित कर्मकाण्डों-विधि विधानों के विरुद्ध उमड़े हुए लोकप्रवाह से अपनी परम्पराओं, अपने गच्छों की रक्षा के लिए उस समय के प्रायः सभी चैत्यवासी गच्छों के कर्णधारों को परिग्रह के परित्याग के साथ-साथ संगठित रूप से अपनी पूरी सामूहिक शक्ति लगानी पड़ी।

इन सब तथ्यों के तत्कालीन जैन वांग्मय में विशद रूप से विद्यमान होते हुए भी यदि कोई साम्प्रदायिक व्यामोहाभिभूत व्यक्ति यह कहे कि लोंकाशाह के स्वर्गगमन के समय तक उनके अनुयायियों की संख्या बहुत थोड़ी अथवा अंगुलियों पर गिनी जा सके जितनी थी और वह भी केवल लीमड़ी नगर में ही थी, तो इस प्रकार की निराधार बे-सिर-पैर की बात कहने वाले हठाग्रहग्रस्त ज्ञानलवदुर्विदग्ध व्यक्ति को तो स्वयं ब्रह्मा तक अथक प्रयास के उपरान्त भी वास्तविक तथ्य समझाने में सक्षम नहीं होंगे।

अपनी इसी छोटी सी कृति में श्री नगीनदास गिरधरलाल शेठ ने लोंकाशाह के ५८ बोलों को लोंकाशाह के स्थान पर धर्मसिंहजी की कृति होने का अनुमान प्रकट करते हुए लिखा है :—

"(२) लुंका ना ५८ बोल नी कृति लोंकाशाहनी नथी, ते ऊपरथी बताव्युं पण ते कृति मुनि श्री धर्मसिंहजीनी ज होई शके तेना कारणो नीचे प्रमाणे छे।"

५८ बोल लोंकाशाह की ही कृति है, इस तथ्य की पुष्टि में श्री दलसुखभाई मालवणियां ने जो ग्यारह प्रमाण अथवा युक्तियां दी हैं, उनके उत्तर में शेठ श्री नगीनदास ने १० युक्तियां देने के पश्चात् लिखा है :—

"मुनि श्री धर्मसिंहजी, लवजी ऋषि तथा धर्मदासजी ना अनुयायियो पहेलां ढुंढिया कहेवातां हता। पछी स्थानकवासी कहेवाया। हालना स्थानकवासीओ आ ५८ बोल प्रमाणेनी ज मान्यता धरावे छे ते पण पूरवार करे छे के आ ५८ बोल नी कृति मुनि श्री धर्मसिंहजीनी ज होइ शके।"

लेखनकलानिष्णात विद्वान् श्री नगीनदास गिरधरलाल शेठ ने ऐतिहासिक तथ्यों से नितान्त विपरीत आधारहीन उल्लेख कर न केवल "पल्लवग्राही पाण्डित्यम्" की कहावत को ही सत्य सिद्ध किया है अपितु "सौंठ का एक गांठिया पा कर चूहा अपने आपको बड़ा पंसारी समझ बैठा"—इस लोकोक्ति को भी अक्षरशः चरितार्थ कर दिया है। उन्होंने तत्कालीन साहित्य का सरसरी निगाह से विहंगमावलोकन तो किया किन्तु अवगाहन, अन्तःनिरीक्षण, आलोडन-विलोडन नहीं किया। आचार्यश्री धर्मसिंहजी से लगभग सवा सौ वर्ष पूर्व के एतद्विषयक साहित्य को सम्माननीय शेठ ने सम्भवतः पढ़ा ही नहीं अथवा पढ़कर भी सम्भवतः

नजरंदाज कर दिया, जिस साहित्य से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि ५८ बोल वस्तुत: महान् धर्मोद्धारक-धर्मप्राण लोंकाशाह के ही हैं, किसी अन्य के नहीं ।

पासचन्दगच्छ के संस्थापक, श्रीमदहीपुरीय तपागच्छाधिराज श्री पार्श्वचन्द्रसूरीन्द्रेण विरचिता चर्चा—"लूंकाए पूछेला १३ प्रश्न अने तेना उत्तरो" नामक ऐतिहासिक कृति की केवल हस्तलिखित प्रतियां ही, लालभाई दलपतभाई इण्डियोलोजिकल इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद आदि इने, गिने शोध संस्थानों अथवा ज्ञान भण्डारों में विद्यमान हैं । ऐसी दशा में बहुत संभव है कि आचार्य श्री पार्श्वचन्द्र की यह वि० सं० १५७४ से पूर्व की ऐतिहासिक कृति विद्वान् सेठ श्री के देखने-पढ़ने में न आई हो किन्तु पार्श्वचन्द्रसूरि की "स्थापना पंचाशिका" नामक कृति तो शेठ श्री द्वारा महान् युगप्रवर्तक लोंकाशाह पर लेखिनी उठाने से २५ वर्ष पूर्व ही प्रकाशित हो चुकी थी । शेठ श्री यदि आचार्य श्री पार्श्वचन्द्रसूरि द्वारा निर्मित "लूंकाए पूछेला १३ प्रश्न अने तेना उत्तरो" एवं "स्थापना पंचाशिका प्रकरण" नामक दोनों कृतियों को और इनके निर्माण के सम्बन्ध में उनके द्वारा प्रकट किये गये उद्देश्य को पढ़ लेते तो सुनिश्चित रूपेण वे महान् धर्मोद्धारक लोंकाशाह के सम्बन्ध में निम्नलिखित अनर्गल एवं निराधार विचार अपनी कृति लोंकाशाह अने धर्म चर्चा में प्रकट कर अपनी लेखिनी को कलुषित नहीं करते :—

१. "बीजुं लोंकाशाहे धर्म नो उद्धार मुद्दल ज कर्यो न होतो परन्तु खरूं कहीए तो अधर्मनुंज प्रतिपादन कर्युं हतुं ।" (पृ० २७)

२. "लोंकाशाहे एक पण सूत्र लख्युं न होतुं । तेमनी पासे एक पण सूत्र हतुं नहि तेमज तेमने अर्धमागधी भाषानुं ज्ञान पण न होतुं । एटले लोंकाशाह बत्रीस सूत्रोनी मान्यता चलावी नहोती ।" (पृ० २५, लोंकाशाह अने धर्म चर्चा)

३. "लोंकाशाहे फकत क्रोधथी, द्वेषथी सूत्र, धर्मक्रिया, दान पूजा वगैरेनो वहिष्कार कर्यो हतो अने स्थानकवासीओए सूत्रना खोटा अर्थ करी मूर्ति नो निषेध कर्यो छे एटले तेमना कार्यो मां धर्म नो उद्योत तो छे ज नहि पण ते धर्मनी हानिनुं ज कार्य छे अने ते असंयति पूजा नामना अच्छेरा मां गणाय ।" (पृ० २६)

४. "लोंकाशाहनी मान्यता तो सदंतर धर्मविरुद्धनी ज हती । एटले खरूं कहीए तो आजे लोंकाशाहनो तो कोई अनुयायी छेज नहि ।" (पृ० ४६)

५. "अधर्म नी प्ररूपणा करनार अने जैन समाज मां धर्म विरुद्धनी वातों के धर्मविरुद्ध नां सिद्धान्तो फेलावनार व्यक्ति ने पोताना आद्य पुरुष तरीके मानवा ऐ सांचा जैनधर्मी माटे मिथ्यात्व अपनाववा जेवुं कार्य गणाय ।"

६. "(वि०) सं० १६८५ मां धर्मसिंहजीए मूर्तिपूजक लोंकागच्छ मां थी छूटा पड़ी फरी थी मूर्ति नो विरोध उठाव्यो हतो । अने ते पछी तुरतमां एटले

सं० १६९२ मां मुनिश्री लवजी ऋषिए विरोध उठाव्यो हतो। आ बन्ने महात्माओ अने तेमना शिष्योए दक्षिण सुधीना हिंदना बधी प्रदेशो मां फरी वली (विहारकरी) प्रचण्ड प्रचार कर्यो हतो। अने ते थी मूर्तिपूजकोमां ते वखते प्रचण्ड ऊहापोह थाय ते स्वाभाविक हतुं। ते थी ते वखते तेमना मन्तव्योनी नोंध-नकल करवानी जरूरियात उभी थवाथी तेमणे (मूर्तिपूजके) उक्त नकल करी लीधी। (२) मुनिश्री धर्मसिंहजी सूत्रना ज्ञाता हता अने तेमणे सूत्रो ना टव्बा पण लख्या हता। एटले सूत्रों, निर्युक्तिओं, चूर्णि वगैरेना सूत्र पाठ वाला ते (५८) बोल मुनि श्री धर्मसिंहजी ज लखी शके तेम हता। (३) लुंकाना ५८ बोलमां ना बधा मन्तव्यो मुनि श्री धर्मसिंहजीना प्रमाणेना ज छे। एटले ते कृति मुनि श्री धर्मसिंहजीनीज होवानो पूरो संभव छे।" (पृ० ५४)

अधर्म का समूलोन्मूलन करने के परम पुनीत एवं सुदृढ़ संकल्प के साथ सफल धर्मक्रान्ति का सूत्रपात करने वाले महान् धर्मोद्धारक महापुरुष लोंकाशाह के शशिकलासमुज्ज्वल पावन जीवनवृत्त पर अपनी मिथ्याभिनिवेशाभिभूता भावना के साथ अपनी लेखिनी से श्याही बिखेरने से पूर्व श्री नगीनदास गिरधरलाल शेठ को पार्श्वचन्द्रगच्छ के प्रवर्तक, मूर्तिपूजा के प्रबल पक्षपाती श्री पार्श्वचन्द्रसूरि द्वारा रचित "लुंकाए पूछेल १३ प्रश्न अने तेना उत्तरो" तथा "श्री स्थापना पंचाशिका प्रकरण" नामक दो कृतियों को और इनके निर्माण के पीछे रही उनकी भावना को भी भली-भांति ध्यान में ले लेना चाहिये था।

"स्थापनापंचाशिका" के निर्माण के पीछे रहे पार्श्वचन्द्रसूरि के लक्ष्य पर प्रकाश डालते हुए आचार्य श्री भ्रातृचन्द्रसूरीश्वर के शिष्य श्री सागरचन्द्रसूरि ने श्री सप्तपदीशास्त्र की भूमिका में लिखा है :—

"बीजो ग्रन्थ" श्री स्थापनापंचाशिकाप्रकरण "जेमां स्थापना सम्बन्धी विना सूत्र—सिद्धान्तना पुरावा वताववापूर्वक जणायेल छे—"जिनप्रतिमा जिन सारखी" ए वस्तु शास्त्रानुसारे सिद्ध करी लोंकाना मत ने अनुसरनाराओ ने शुद्ध श्रद्धा वाला करवा अने युक्तिपुरस्सर समझाववा माटे आचार्यवर्य आ ग्रन्थनी रचना करी छे।.... सम्वत् १५७४ वर्षे ज्येष्ठ मासे, चतुर्थी तिथौ शनिवासरे लिखिता सूरि पार्श्वचन्द्रेण सा० नाडुपुत्र सा० संधारण पठनार्थ।" [1]

स्थापनापंचाशिका की पुष्पिका में श्री पार्श्वचन्द्रसूरि ने लिखा है :— "वेदमुणितिहिसुवरिसे (सं० १५७४), पंडियसिरिसाहुरयणसीसेण पासचंदेण विहिया, ठवणा पंचासिया एसा ॥५३॥"[2]

---

१. श्री सप्तपदी शास्त्र, पार्श्वचन्द्रसूरि लिखित प्रकाशक :—व्होरा मोहनलाल जीवराज मांडलसंघ की ओर से मांडल, प्रस्तावना पृष्ठ १०।

२. ——वही—— पृष्ठ १८३

इन ग्रन्थों की रचना के प्रयोजन पर पुनः प्रकाश डालते हुए प्रस्तावनाकार सागरचन्द्रसूरि ने लिखा है :—

"आ ग्रन्थो रचवानो प्रयोजन—ते वखते जैनोमां वातावरण घणोज कलुषित थएल परस्पर द्वेष, ईर्ष्या, सत्य वस्तु ने ढांकनारा, साधुमुनिओने न छाजे तेवी बाह्य धर्माधर्म—आडम्बर ने सेवनारा वेषधारीओनी प्रबलता बधि गएल हती, तेमज सत्य वस्तु ने ओलखनारा प्रगट थया हता। कारण के सोलसेनी सदीमां जैन वेषधारीओनी अंदर शिथिलता, क्वचित् क्रियाजड़ता, केटलाएकनी सावद्य क्रियाओ मां प्रवृत्ति अने केटलाएकमां आगम प्रतिपादित वस्तुस्वरूप मां अनादरता फेलाएल हती। एज टाइममां सूत्र आणा ओलंघी स्वच्छन्दपणे लोंकामती, विजयामती अने कड़ुवामती विगेरे प्रगट थइ पोतानी मान्यता फेलावी रह्या हता। तेवा समय मां..........आत्मार्थी आ परमपूज्य आचार्य महाराजे मुनिमार्ग नी शुद्ध देशना निर्भय पणे करवा मांडी।"[1]

मूर्तिपूजक आम्नाय की प्रतिष्ठा को बढ़ाने वाले विद्वान् आचार्य पार्श्वचन्द्र सूरि ही नहीं अपितु मूर्तिपूजक परम्परा के प्रायः सभी गच्छों की पट्टावलियां समवेत स्वरों में यह प्रकट कर रही हैं कि विक्रम की पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में जैनों में, जैन संघ में वातावरण अत्यधिक कलुषित हो गया था, पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, कलह, सावद्य क्रियाओं में प्रवृत्ति, आगमों में प्रतिपादित सिद्धान्तों, निर्देशों, मान्यताओं, धर्म-श्रमणाचार एवं श्रावकाचार के प्रति अनादर, अनास्था, उपेक्षा भाव, शिथिलाचार और सागरचन्द्रसूरि के उपरिलिखित शब्दों के अनुसार "साधु-मुनियों ने न छाजे तेवी बाह्य धर्माधर्म आडंबर ने सेवनारा वेषधारिओनी प्रबलता बधि गयेल हती, अर्थात् एक प्रकार से चरम सीमा को भी लांघ चुकी थी। नवांगीवृत्तिकार अभयदेवसूरि (वि० सं० १०८८-११३५) की यह गाथा—

देवड्ढि खमासमणजा परंपरं भावओ वियाणेमि।
सिढ़िलायारे ठविया, दव्वओ परम्परा बहुहा॥

जिनदत्तसूरि (वि० सं० ११६९ सूरिपद) की निम्नलिखित गाथाएं :—

गड्डरिपवाहओ जो, पइनयरं दीसए बहुजणेहिं।
जिणगिह कारवणाई, सुत्तविरुद्धो असुद्धो य॥
सो होई दव्वधम्मो, अप्पहाणो नेव निव्वुइ जणइ।
सुद्धो धम्मो बीओ, गहिओ पडिसोयगामीहिं॥

भावसागरसूरि (वि० सं० १५६० में सूरिपद) की निम्नलिखित गाथा :—

दुस्सह दूसमवसओ, साहपसाहाहिं कुलगणाईहिं।
विज्जा किरिया भट्ठा, सासणमिह सुत्तरहिअं च॥

---

१. श्री सप्तपदी शास्त्र प्रस्तावना पृष्ठ ११

चैत्यों में नियतनिवास करने वाले शिथिलाचारी चैत्यवासी श्रमणों द्वारा जिन्हें सावद्याचार्य के नाम से अभिहित किया उन कुवलय प्रभ के :—"..................... जहां भो भो पियंवए ! जइ वि जिणालए तहावि सावज्जमिणं णाह वायामित्तेणं पि एयं आयरिज्जा ।"

ये शब्द सत्य के उपासक मुमुक्षु प्रत्येक जिनशासनप्रेमी के कर्णरन्ध्रों में अहर्निश गुंजरित हो रहे थे और प्रत्येक सच्चा जैन प्रभु महावीर के धर्मसंघ की इस प्रकार की दयनीय दशा देख कर दुखित हो रात-दिन चिन्ता कर रहा था कि शिथिलाचार के गहरे दलदल में धंसे—बाह्याडम्बर के भीषण भंवरजाल में फंसे संघ रथ का, धर्म रथ का अनागमिक अधर्म के पथ से उद्धार कर इसे पुरातन पुनीत प्रशस्त पथ पर कौन अग्रसर करेगा, कौन गतिशील करेगा ? उस समय धीर-वीर धर्मप्राण लोंकाशाह ने धर्म के नाम पर किये जा रहे अनागमिक अर्थात् अधर्मपूर्ण ताण्डवनृत्य को समाप्त कर संघ रथ को प्रशस्त आगमिक पथ पर अग्रसर करने के संकल्प के साथ आगमों का अक्षरशः अनुसरण करने वाली अभिनव धर्मक्रान्ति का सूत्रपात किया । उन्होंने वस्तुतः न तो कोई नया मत चलाया, न किसी अभिनव मान्यता के ग्रन्थ का निर्माण किया और न कोई नया उपदेश ही दिया । एकमात्र आगमिक तथ्यों, मान्यताओं एवं सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से लोंकाशाह द्वारा लोकभाषा में निर्मित प्रश्नों एवं बोलों आदि में एक भी शब्द ऐसा नहीं, जिसके आधार पर कोई भी मिथ्याभिनिवेशविमुक्त सत्योपासक व्यक्ति यह कह सके कि लोंकाशाह ने नये मत को चलाया, आगमिक सिद्धान्तों से भिन्न कोई उपदेश दिया अथवा एक शब्द तक भी कहा । उन्होंने तो परीषहभीरु एवं शिथिलाचार के पंक में आकण्ठ निमग्न महापरिग्रही नामधारी आचार्यों, मठाधीशों, श्रीपूज्यों अथवा जैनसंघ के कर्णधार होने का दम्भ भरने वाले तथाकथित युगप्रधानाचार्यों द्वारा जैनधर्म के परमपवित्र सर्वज्ञभाषित शाश्वत आगमिक आध्यात्मिक स्वरूप में, श्रमणाचार एवं श्रावकाचार में अपनी स्वार्थसिद्धि हेतु धर्म के नाम पर प्रविष्ट की गई विकृतियों, धर्म के नाम पर प्रचलित एवं अन्ततोगत्वा रूढ़ की गई अनागमिक एवं आगमविरुद्ध होने के कारण अधार्मिक मान्यताओं, प्रवृत्तियों, विधिविधानों, परिपाटियों एवं अधिकाधिक द्रव्योपार्जन के लक्ष्य से भोले उपासकवृन्द के दैनिक जीवन में ठूंस-ठूंस कर भर दी गई बाह्याडम्बरपूर्ण कुरूढ़ियों के घटाटोप को सदा-सदा के लिये समाप्त कर देने का दृढ़ संकल्प लिये सर्वज्ञभाषित-गणधरग्रथित आगम में प्रतिपादित धर्म के सर्वांगीण विशुद्ध स्वरूप को आगमों के मूल पाठों के उद्धरणों के साथ जन-जन के समक्ष प्रस्तुत किया । श्रमण भगवान् महावीर द्वारा तीर्थप्रवर्तन-काल में प्ररूपित प्रदर्शित धर्म के विशुद्ध स्वरूप पर प्रकाश डालने हेतु लोंकाशाह ने आगमों का अवगाहन कर, देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के उत्तरवर्ती काल में हुए आचार्यों द्वारा रचित, निर्युक्तियों, भाष्यों, चूर्णियों, वृत्तियों आदि साहित्य का अन्तःनिरीक्षण कर उस समय की लोकभाषा में आगमसारगर्भित १३ प्रश्नों, ५८

बोलों, ३४ बोलों एवं परम्परा विषयक ५४ प्रश्नों आदि की रचना कर चतुर्विध संघ के समक्ष रखा। आग्रह से नितान्त निर्विमुक्त विनम्र भाषा में उन्होंने चतुर्विध संघ के प्रत्येक सम्माननीय सदस्य से प्रत्येक बोल, प्रत्येक प्रश्न के अन्त में यही निवेदन किया—"डाह्या होइ विचारि जोज्यो जी।"

सूर्य के प्रकाश के समान इस प्रकार की सुस्पष्ट स्थिति में भी "तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणा, क्षारं जलं कापुरुषाः पिवन्ति।" इस नीतिसूक्ति को चरितार्थ करते हुए "लोंकाशाह अने धर्मचर्चा" नाम्नी लघ्वी कृति के रचनाकार अपनी परम्परा के पूर्वाभिनिवेशग्रस्त पूर्वपुरुषों से भी दश डग आगे बढ़ कर कहते हैं, लिखते हैं :—"बीजुं लोंकाशाहे धर्मनो उद्धार मुद्दल ज कर्यो न होतो परन्तु खरूं कहीए तो अधर्मनुं ज प्रतिपादन कर्युं हतुं। कारण के जैनशास्त्रों–सूत्रों ने लोंकाशाह मानता न होता, सामायिक वगेरे धार्मिक क्रियानो तथा दान नो लोंकाशाह निषेध करता हता। एटले लोंकाशाह नो मत ए धर्म नो उद्धार न होतो पण धर्मनुं पतन हतुं, अथवा अधर्मनो प्रचार ज हतो।"

आगमों के प्रति अगाध आस्था, प्रगाढ़ श्रद्धा से ओतप्रोत लोंकाशाह का प्रत्येक बोल, प्रत्येक प्रश्न का एक-एक अक्षर इस तथ्य को सुस्पष्ट रूप से प्रकट कर रहा है कि लोंकाशाह आगमों के अनन्य उपासक थे, वे केवल आगमों को ही सर्वोपरि और परम प्रामाणिक मानते थे। आगमों की पूर्वधरकालीन प्रतिष्ठा को पुनः प्रतिष्ठापित एवं अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये लोंकाशाह ने जीवन भर संघर्ष किया। आगम-विरोधी विधाओं, विधिविधानों, मान्यताओं एवं परस्पर विरोधी बातों से ओतप्रोत निर्युक्तियों, चूर्णियों वृत्तियों एवं भाष्यों को आगमों के समकक्ष मान्यता प्रदान कर आगमों की अवहेलना करने वाले द्रव्य परम्पराओं के कर्णधारों का लोंकाशाह ने जीवन भर डट कर विरोध किया। वि० सं० १०८० के आस-पास वर्द्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि ने सर्वज्ञभाषित आगमों के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा से ओतप्रोत जिस दिव्य घोष को गुंजरित कर अनागमिक चैत्यवासी परम्परा के गढ़ों को ढहा दिया था, ठीक उसी प्रकार—"सर्वज्ञ भाषित-गणधरों अथवा चतुर्दश पूर्वधरों द्वारा ग्रथित आगम ही जैनमात्र के लिये सर्वोपरि एवं परम प्रामाणिक हैं, न कि निर्युक्ति, चूर्णि, वृत्ति एवं भाष्य सहित पंचांगी। क्योंकि भाष्य आदि में आगम विरुद्ध अनेक मान्यताएं एवं बातें भी उल्लिखित हैं।" इस दिव्य घोष को जैनजगत् में गुंजरित कर जैन-धर्म के सर्वज्ञप्रणीत स्वरूप में अनागमिक आडम्बरपूर्ण कुरूढ़ियां, विकृतियां प्रविष्ट कर देने वाली द्रव्य परम्पराओं के खेमों में, गढ़ों में लोंकाशाह ने भूकम्प सा उत्पन्न कर उन्हें जड़ों से झकझोर दिया।

एकमात्र आगमों के आधार पर, आगमिक उद्धरणों के साथ जैनधर्म के शास्त्रोक्त स्वरूप को अन्धकार से उजाले में लाकर उसका प्रचार-प्रसार करने वाले महापुरुष को अधर्म का प्रतिपादक बताने वाला व्यक्ति अथवा लेखक कितना

विश्वसनीय, कितना प्रामाणिक है, इसका निर्णय कोई भी विज्ञ विचारक सहज ही कर सकता है ।

लोंकाशाह ने अपने ५८ बोलों में द्वादशांगी के प्रथम–प्रमुख अंग आचारांग सूत्र के चतुर्थाध्ययन के प्रथमोद्देशक में भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल की अनन्तानन्त चौबीसियों के तीर्थंकरों द्वारा संसार के समक्ष प्रकाशित धर्म के शाश्वत, त्रिकालसत्य, ध्रुव, नित्य, शुद्ध स्वरूप—"सव्वे पाणा सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हंतव्वा........न उद्वेयव्वा । एस धम्मे सुद्धे, निइए सासए......." पर प्रकाश डालते हुए आचारांग सूत्र के ही —"तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण माणण, पूयणाए, जाइ मरण मोयणाए, दुक्खपड़िग्घाय हेउं से सयमेव वणस्सइसत्थं समारंभइ.... समारंभमाणे समणुजाणइ । तं से अहियाए, तं से अबोहिए ।" इस विश्वबन्धुत्व के भावों से ओतप्रोत "मा हिंस्यात् सर्व-भूतानि", तथा "आत्मवत् सर्वभूतेषु, यः पश्यति स पश्यति" का संसार के समक्ष उद्घोष करने वाले सर्वज्ञ वीतराग के वचन पर आधारित अपने उपदेशों में कहा— "कोई भी मुमुक्षु अपने जीवन को बनाये रखने के लिये, अपने मान-सम्मान–अपनी पूजा आदि के लिये और यहां तक कि **जन्म मरण से मुक्ति पाने अर्थात् सब प्रकार के सांसारिक दुःखों से सदा सर्वदा** छुटकारा दिलाने वाली **मुक्ति की प्राप्ति** तक के **लिये भी षड्जीवनिकाय** के किसी भी प्राणी की कभी किसी भी दशा में हिंसा न करें । क्योंकि प्राणिहिंसा प्रत्येक प्राणी के लिये अहित कर है, बोधिबीज की घोर शत्रु और अनन्त काल तक अनन्त दुःखों से ओतप्रोत दुःख सागर रूप संसार में भटकाने वाली भवभ्रमण कराने वाली है ।" तथा

"बुड्ढं जज्जर थेरं, जो घायइ जमल मुट्ठिणा तरुणो ।
जारिसी तस्स वेयणा, एगिंदी संघट्टणे तारिसी ।।"

इस आप्तवचन की ओर चतुर्विध जैन संघ के प्रत्येक आबाल वृद्ध सदस्य का ध्यान आकर्षित करते हुए लोंकाशाह ने कहा—"एक प्रबल पराक्रमी पूर्ण युवा-वस्था को प्राप्त युवक किसी जराजर्जरित अत्यन्त अशक्त अतिवृद्ध व्यक्ति के वक्ष-स्थल पर अपनी पूरी शक्ति के साथ मुष्टि प्रहार करे और उस भीषण मुष्टिप्रहार से जिस प्रकार की भयावहा वेदना उस जीर्ण-शीर्ण वृद्ध पुरुष को होती है, ठीक उसी प्रकार की भीषण वेदना पृथ्वी, अप, तेज, वायु और वनस्पति के एकेन्द्रिय प्राणी को, उसका संघट्टा अर्थात् स्पर्शमात्र करने से होती है । संघट्ट अर्थात् स्पर्श मात्र से जब इस प्रकार की वेदना होती है तो एकेन्द्रिय प्राणी की हिंसा करने से उस प्राणी को कितनी दुस्सह्य दारुण वेदना होती होगी इसका अनुमान तो प्रत्येक विज्ञ सहज ही कर सकता है ।"

लोंकाशाह ने और भी कहा—"अहिंसा परमोधर्मः" "मा हिंस्यात् सर्व भूतानि"—इन वैदिक उद्घोषों में कुछ छूट का प्रावधान प्रस्तुत करते हुए कतिपय

पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने कहा—"वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति।" बड़े ही युक्ति-संगत एवं हृदयस्पर्शी शब्दों में किसी महामनीषी ने कहा—

यूपं छित्वा, पशून्हत्वा, कृत्वा रुधिरकर्दमं।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे, नरके केन गम्यते ? ॥

जैनधर्म में, जैन संस्कृति में भी धर्म के नाम पर, मुक्ति के नाम पर, स्वर्ग के नाम पर छोटी बड़ी किसी भी प्रकार की हिंसा का प्रवेश कभी कोई निहितस्वार्थ व्यक्ति न कर बठे, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, विश्वेश्वर विश्वबन्धु सभी तीर्थेश्वरों ने और जम्बूद्वीपस्थ भरतक्षेत्र की प्रवर्तमान अवसर्पिणी के चरम तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर ने जैन धर्म में, अपने-अपने धर्मतीर्थं में सभी प्रकार की हिंसा के द्वार सदा-सदा के लिए बन्द करते हुए फरमाया—"अपने जीवन की रक्षा, मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा और यहां तक कि सभी प्रकार के सांसारिक दुःखों से सदा सर्वदा के लिए छुटकारा दिला देने वाली मुक्ति की प्राप्ति के लिए भी कोई मुमुक्षु किसी प्रकार की हिंसा न करे, जिन पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु एवं वनस्पति के एकेन्द्रिय स्थावर जीवों को उनके संघट्ट—स्पर्श मात्र से मरणान्तिकी वेदना होती है उन जीवों की कभी हिंसा न करे। क्योंकि इस प्रकार के स्थावर एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा भी हिंसा करने वाले व्यक्ति के लिए अहितकर एवं अनन्तकाल तक, असह्य दारुण दुःखों से ओतप्रोत संसार में, भयावह भवाटवी में भटकाने वाली है।"

अनन्तानन्त चौबीसियों के तीर्थंकरों के इस प्रकार के स्पष्ट उद्घोष के उपरान्त भी यदि कोई व्यक्ति, आठों कर्मों से पूर्णतः विनिर्मुक्त, अजरामर, निरंजन निराकार एवं अक्षय-अव्याबाध-अव्यय-अनन्त शाश्वत शिवसुख में विराजमान विमुक्तात्माओं, प्राणिमात्र के माता-पिता वीतराग-विश्वैकबन्धु तीर्थेश्वरों को रिझाने और इस प्रकार उन्हें प्रसन्न कर ऐहिक, पारलौकिक अथवा शाश्वत शिव-सुख की प्राप्ति के लिए इन पांचों स्थावर निकायों का घोर आरम्भ समारम्भ कर इन पांचों एकेन्द्रिय निकायों एवं इनके आश्रित अगणित, असंख्य एवं अनन्त जीवों की हिंसा करता है, हिंसा करवाता है, इस प्रकार की हिंसा का अनुमोदन करता है, वह व्यक्ति द्वादशांगी के प्रथम अंग, आचारांग में वर्तमान, अतीत एवं अनागत के अनन्त तीर्थंकरों द्वारा प्रकट किये गये शाश्वत धर्म का शाश्वत सत्य का आराधक कहा जायगा अथवा विराधक, यह प्रश्न लोंकाशाह ने प्रत्येक मुमुक्षु जैनधर्मावलम्वी से पूछा। उस प्रश्न में भी कोई आग्रह नहीं, अति विनम्र शब्दों में केवल यही कहा—"डाह्या होइ विचारी जोज्यो।" लोंकाशाह अने धर्मचर्चा नामक पुस्तक के लेखक महोदय को और उनसे पूर्व के आचार्यों, उपाध्यायों, विद्वानों एवं लेखकों को लोंकाशाह के इन शास्त्रीय प्रश्नों में, आगम पर आधारित उपदेशों में कौनसे अधर्म की गन्ध आती है, इसका निर्णय तो वे पूर्वाभिनिवेश अथवा हठाग्रहपूर्ण साम्प्रदायिक व्यामोह के मुखौटे को दूर फेंक कर स्वयं ही कर सकते हैं।

उपरिचर्चित एक पट्टावली में प्रयुक्त—"हलाबोल ढुंढक थयो" इन शब्दों से यही प्रकट होता है कि लोंकाशाह द्वारा निर्मित बोलों, पूछे गये प्रश्नों के समान ही उनके उपदेशों में भी कोई अचिन्त्य चमत्कार था। लोंकाशाह के लिए लुंपक (लुटेरा-चोर), लुंगा (लुच्चा-दुराचारी), ढुंढक (भग्नावशिष्ट टूटे-फूटे शून्य गृहों—ढूंढों में रहने वाला) आदि आक्रोशपूर्ण हीन शब्दों के प्रयोग तत्कालीन पट्टावलियों एवं रचनाओं में जो दृष्टिगोचर होते हैं, उनसे स्पष्टतः यही आभास होता है कि लोंकाशाह के बोलों, प्रश्नों और उपदेशों के चमत्कारकारी प्रभाव से जो नामधारी मठाधीश, आचार्य अथवा श्रमण शिथिलाचार में आकण्ठ निमग्न हो अपनी सुख-सुविधा के लिये अहर्निश परिग्रह बटोरने में, बहिवटों के माध्यम से धन संचय में ही संलग्न थे, उनकी आय और प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुंचा, इससे किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो धर्म के नाम पर धन बटोरने वाले उन धर्म के धोरियों ने "खिसियानी बिल्ली खम्भा नोंचे" वाली कहावत को चरितार्थ करते हुए इस प्रकार के हीन, ओछे और हल्के-फुल्के असाधुजनोचित शब्दों का प्रयोग लोंकाशाह के विरुद्ध किया। क्योंकि आगम में उल्लिखित तीर्थंकरों के उक्त अवितथ वचन को अन्यथा सिद्ध करने का उन मठाधीशों के पास कोई उपाय ही नहीं था।

जन-जन के मन, मस्तिष्क एवं हृदयपटल पर आगम प्रतिपादित धर्म के विशुद्ध स्वरूप और निरतिचार श्रमणधर्म की मर्यादाओं को लोंकाशाह ने अति स्वल्प समय में ही किस प्रकार अंकित कर दिया, उनके किस प्रकार के युक्ति संगत आगमपरिपुष्ट उपदेशों से उनके द्वारा प्रारम्भ की गई धर्मक्रान्ति सफलता के कीर्तिमान को स्पर्श करने लगी, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि लोंकाशाह के जिन उपदेशों से जिन तत्कालीन धर्म-धोरियों की आय के स्रोत अवरुद्ध हो गये, जिनकी पूजा-प्रतिष्ठा मान-सम्मान एवं सुख-सुविधाओं पर धराशायी कर देने वाला घातक आघात पहुंचा, उन लोगों ने लोंकाशाह के उपदेशों को, आगमों पर आधारित तथा जनसाधारण के सहज ही समझ में आ जाने वाली लोक-भाषा में निबद्ध कृतियों को और यहां तक कि उनके जीवनवृत्त से सम्बन्वित साहित्य तक को नष्ट भ्रष्ट करने में किसी भी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी।

इस सबके उपरान्त भी गहन खोज-शोध के परिणामस्वरूप शनैः शनैः प्रकाश में आने वाली—"लुंकाए पूछेला १३ प्रश्नों" "लोंकाशाह ना कहिया अने सद्दहिया ५८ बोल" आदि कृतियों से और ई० सन् १९८४ में अहमदाबाद से प्राप्त, शाह रामा कर्णवेधी द्वारा वि० सं० १५९२ में रचित ३२६ पत्रों (६५६ फुलस्केप साइज पृष्ठों) की "लुम्पक वृद्ध हुण्डी" नामक वृहदाकार ग्रन्थ से लोंकाशाह के शास्त्रसम्मत उपदेशों, शास्त्रों के आधार पर उनके द्वारा निर्मित साहित्य एवं उनकी मान्यताओं के सम्बन्ध में अभिनव प्रकाश पड़ता है। "लुम्पक वृद्ध हुण्डी" के अन्त में, नीचे की ओर एक वाक्य उल्लिखित है—"बोल ५७४ नो जबाप उत्तर कहूला

मतीनो कर्यो ग्रन्थ छे।" इससे अनुमान किया जाता है कि लोंकाशाह ने आगमों में प्रतिपादित धर्म के विशुद्ध मूल स्वरूप को जन-जन के समक्ष रखते समय विपुल साहित्य का लोकभाषा में निर्माण किया था। द्रव्य परम्पराओं के शिथिलाचारग्रस्त कर्णधारों ने जिन अगणित अशास्त्रीय मान्यताओं, परिपाटियों, विधि-विधानों, धार्मिक कर्मकाण्डों, अथवा दैनिक परमावश्यक धार्मिक क्रियाओं को धर्म के नाम पर चतुर्विध संघ में प्रचलित कर धर्म के और श्रमणाचार के स्वरूप को विकृत किया था और जिसे लोंकाशाह ने अनागमिक, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थेश्वर श्रमण भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित-प्रदर्शित अध्यात्मप्रधान जैनधर्म और श्रमणाचार से नितान्त विपरीत सिद्ध करने हेतु आगमों के उद्धरणों के साथ अपनी कृतियों प्रश्नों एवं बोलों के रूप में जिस विपुल साहित्य का लोकभाषा में सृजन किया था, उसीमें से लोंकाशाह द्वारा उठाये गये, जन-जन के समक्ष रखे गये लगभग ५७४ मुद्दों अथवा तथ्यों का कडुआमती शास्त्रज्ञ विद्वान् शाह रामा कर्णवेधी ने अपनी उक्त कृति "लुम्पक वृद्ध हुंडी" में विस्तारपूर्वक उत्तर देने का प्रयास किया है।

लोंकाशाह की मान्यताओं का विरोध करने के लक्ष्य से कडुआमती विद्वान् रामाकर्णवेधी द्वारा इस प्रकार के विशाल ग्रन्थ की रचना से और तत्कालीन गच्छों की पट्टावलियों में उपलब्ध "हलाबोल ढुंढक थयो" —अर्थात् जिधर देखो उधर ही चारों ओर लोंकाशाह के ही अनुयायी दृष्टिगोचर होने लग गये थे—प्रभृति उल्लेखों से यही प्रकट होता है कि लोंकाशाह के उपदेशों में कोई अतीव अद्भुत चमत्कारी प्रभाव था एवं उनकी युक्तियां लोकमत को शास्त्रों में प्रतिपादित धर्म के विशुद्ध स्वरूप एवं निरतिचार श्रमण धर्म की ओर आकर्षित करने में अतीव सक्षम थीं। लोंकाशाह ने सर्वज्ञ प्ररूपित शुद्ध जैन सिद्धान्तों पर आधारित अपने उपदेशों में जीवहिंसा को जैनसंघ से, जैन धर्मावलम्बियों के धार्मिक कार्यकलापों अथवा विधिविधानों से सदा–सर्वदा के लिये पूर्णरूपेण समाप्त कर देने के लक्ष्य से आचारांग आदि सर्वज्ञ भाषित एवं गणधरों द्वारा गुम्फित आगमों के उद्धरणों को जन-जन के समक्ष विशद व्याख्या सहित प्रस्तुत करते हुए साहस के साथ स्पष्ट शब्दों में यह सिद्ध कर दिया था कि जैनधर्म में षड्जीवनिकाय के किसी एक भी प्राणी की हिंसा के लिये किंचित्मात्र भी अवकाश किसी भी दशा में नहीं रखा गया है। प्राणिमात्र की जीवन रक्षा को, जीवदया को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। सर्वज्ञ–सर्वदर्शी वीतराग प्रभु श्रमण भ० महावीर ने तीर्थप्रवर्तन काल में सर्वप्रथम यही उपदेश दिया था कि अपने जीवन की रक्षा की बात तो दूर, मोक्ष की प्राप्ति के लिये भी, जन्म, जरा, आधि, व्याधि एवं मृत्यु से छुटकारा प्राप्त करने के लिये भी षड्जीवनिकाय के किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं की जाय। जो ऐसा करता है, वह अनन्तकाल तक भवभ्रमण करता हुआ दुस्सह्य दारुण दुःखों का भागी बनता है। चतुर्विध धर्म तीर्थ की स्थापना करते समय प्रभु महावीर द्वारा संसार के समक्ष प्रकट किये गये इस अवितथ शाश्वत सत्य की पुष्टि के लिये

यद्यपि किसी भी अन्य प्रकार की युक्ति प्रस्तुत करने की कोई आवश्यकता अवशिष्ट नहीं रह जाती किन्तु 'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति" के समान ही "चैत्यवासी आदि द्रव्य परम्पराओं के कर्णधारों द्वारा शताब्दियों पूर्व अधिकांश जैन धर्मियों में रूढ़ कर दी गई—"धार्मिक हिंसा, हिंसा न भवति"—इस आगमविरुद्ध मान्यता को—रूढ़ि को निरस्त करने तथा पूर्वाग्रहाभिभूत लोगों को आगमप्रतिपादित सत्पथ पर लाने के लिये लोंकाशाह को जीवन भर जूझना पड़ा। अनेक प्रकार की युक्तियों प्रयुक्तियों के द्वारा जन-जन को आगमप्रतिपादित त्रिकाल सत्य तथ्य से अवगत कराना पड़ा।

यद्यपि लोंकाशाह की अकाट्य युक्तियों का, लोंकाशाह के तत्काल प्रभावोत्पादक चमत्कारपूर्ण उपदेशों का, उनके द्वारा लोकभाषा में प्रकट किये गये आगमिक तथ्यों का सार उनकी ५८ बोल, ३४ बोल, १३ प्रश्नों और "केहनी परम्परा"—इन कृतियों में, "गागर में सागर वत्" छलक-छलक करता हुआ झलक रहा है, तथापि लगभग एक सहस्राब्दि से जैनसंघ में चली आ रही अनागमिक मान्यताओं से विमुख हो जैन लोग जिस विद्युत्वेग से लोंकाशाह द्वारा प्रकाश में लाई गई आगमिक मान्यताओं की ओर उद्वेलित सागर की भांति उमड़ पड़ा, इससे यही अनुमान किया जाता है कि जन-जन के मन को अमित गति से आन्दोलित कर देने वाला लोंकाशाह का हृदयहारी औपदेशिक साहित्य अति विशाल था, अति विशद था और उस औपदेशिक साहित्य में प्रस्तुत की गई द्रव्य परम्पराओं की जड़ों तक को झकझोर डालने वाली युक्तियां अतीव प्रबल एवं अद्भुत प्रभावोत्पादिनी थीं। इस प्रकार के अनुमान की पुष्टि, कडुआमत के संस्थापक शाह कडुआ के शिष्य रामा कर्णवेधि द्वारा वि० सं० १५९२ में रचित ३२९ (फुलस्केप साइज के) पत्रों की "लुम्पक वृद्ध हुण्डी" के अन्त में उल्लिखित निम्न दो वाक्यों से भी होती है :—

"ए हुण्डी शाह श्री कडुआ ना सीष सा रामा कर्णवेधी नी कीवी छि, प्रमाण छि, जेहनो कीधो वीर नो विवाहलो।"

"बोल ५७४ नो जवाप उत्तर, कडुआमती नो कर्यो ग्रन्थ छे।"

लोंकाशाह के उपदेशों का वह विशाल साहित्य आज उपलब्ध नहीं है। तथापि लोंकाशाह एवं उनके द्वारा अभिसूत्रित की गई धर्मक्रान्ति के विरुद्ध और लोंकाशाह द्वारा प्रकाश में लाई गई आगमिक मान्यताओं के विरुद्ध द्रव्य परम्पराओं के कर्णधारों द्वारा किस प्रकार के हृदयद्रावी भयंकर षड्यन्त्र किये गये, उन षड्यन्त्रों के चिह्न आज भी तत्कालीन साहित्य के कतिपय पृष्ठों पर स्पष्टतः परिलक्षित हो ही जाते हैं।

लोंकाशाह द्वारा अभिसूत्रित क्रान्ति के दिग्दिगन्त व्यापी प्रचार-प्रसार को रोकने और उस धर्म क्रान्ति के परिणामस्वरूप जिनेन्द्र प्रभु द्वारा प्रदर्शित एवं आगमों में प्रतिपादित विशुद्ध मूल धर्मपथ पर अग्रसर होने वाले नवोदित धर्म संघ को छिन्न-भिन्न करने तथा उस संगठन में आन्तरिक विस्फोट करने के लक्ष्य से उस समय की प्रायः सभी द्रव्य परम्पराओं ने सुसंगठित एवं एकमत हो साम, दाम, दण्ड और भेद—इन चारों प्रकार की नीतियों का सामूहिक प्रयोग करने में किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी। मान-सम्मान के प्रलोभन तक देकर लोंकाशाह के अनुयायियों को डिगाने के द्रव्य परम्पराओं ने अथक-अनवरत प्रयास किये, इस तथ्य की पुष्टि विभिन्न पट्टावलियों के निम्नलिखित उल्लेखों से होती है :—

"श्री राजविजयसूरि ने सं० १५८२ में क्रियोद्धार करने वाले लघुशालिक आचार्य श्री आनन्दविमलसूरि के पास योगोद्वहन करके श्री राजविजयसूरि नाम रक्खा, बाद में तीनों आचार्यों ने अपने-अपने परिवार के साथ भिन्न-भिन्न तीनों देशों में विहार किया। श्री आनन्दविमलसूरिजी ने सर्वत्र फिर कर श्रावकों को स्थिर किया है, कई गांवों में प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की, नये जिनबिम्ब भरवाये, जैन शासन की महिमा बढ़ायी, सं० १५९६ तक बहुत से लुंका के अनुयायी गृहस्थ तथा वेषधारक उपदेशक मूर्ति मानने वाले हुए,............।"[1]

"तथाऽहमदाबाद नगरे लुङ्कामताधिपति श्री मेघजी नामा स्वकीयमताधिपत्यं "दुर्गतिहेतु" रिति मत्वा रज इव परित्यज्य पञ्चविंशति २५ मुनिभिः सह सकल राजाधिराज पातिसाहि श्री अकब्बर राजाज्ञापूर्वकं तदीयाऽऽतोद्यवादवादिना महामह पुरस्सरं प्रव्रज्य यदीय पादाम्भोजसेवापरायणो जातः। एतादृशं च न कस्याप्याचार्यस्य श्रुतपूर्वम्।"[2]

अर्थात्—अहमदाबाद नगर में लुंकामत के आचार्य मेघजी ने अपने मत को दुर्गति का कारण मानकर धूलि की भांति उसका परित्याग कर मुगल सम्राट् अकबर की आज्ञा से प्रदान किये गये बेण्डबाजा वाद्ययन्त्रों के घोष के बीच अपने अनुयायी अथवा शिष्य २५ मुनियों[3] के साथ शुद्ध संवेगी दीक्षा अंगीकार कर श्री हीरविजयसूरि के चरणों का उपासक बन गया। इस प्रकार की महती प्रभावकारी घटना पूर्व के किसी भी आचार्य के सम्बन्ध में कभी कर्णगोचर नहीं हुई।

---

१. राजविजयसूरि गच्छ की पट्टावली, श्री पट्टावली पराग संग्रह—पं० श्री कल्याण विजयजी महाराज, पृष्ठ १८९

२. पट्टावली समुच्चयः, पृ. ७२

३. पन्यास श्री कल्याणविजयजी द्वारा सम्पादित "श्री तपागच्छ पट्टावली" में पृष्ठ सं० २३५ पर "लोंकामतना मेघजी ऋषिए त्रीस साधुओंनी साथे तपागच्छनी आम्नाय वि० सं० १६२८ मां स्वीकारी।" इस प्रकार का भी उल्लेख है।

तपागच्छ पट्टावलीकार के शब्दों में भारत के तत्कालीन सम्राट से इस प्रकार के अभूतपूर्व सम्मान को प्राप्त करने के लोभ का संवरण तो कोई विरला अध्यात्म योगी ही कर सकता है। लोंकागच्छ के तथाकथित आचार्य लुंकामताधिपति मेघजी ऋषि इस प्रकार के अभूतपूर्व राजकीय सम्मान को, जो उन्हें राजमान्य हीरविजयसूरि के कृपा प्रसाद से मिला, प्राप्त करने के लोभ का संवरण नहीं कर सके और अपने २५ अथवा ३० साधुओं के साथ लोंकागच्छ का परित्याग कर तपागच्छ में सम्मिलित हो गये, यह कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं। प्राचीन पट्टावलियां इस बात की साक्षी हैं कि द्रव्य परम्पराओं के अधिकांश अनगिनत गच्छों का आविर्भाव मान-सम्मान-पूजा-प्रतिष्ठा एवं 'अहं' की तुष्टि के पुट के परिणामस्वरूप हुआ।

इस प्रकार का घटना चक्र इस तथ्य का साक्षी है कि लोंकाशाह द्वारा बाह्याडम्बर एवं धर्म के स्वरूप में प्रविष्ट विकृतियों के समूलोच्छेदन के लिए अभिसूत्रित सर्वहारा धर्मक्रान्ति के प्रभाव-प्रवाह को क्षीण, अशक्त अथवा निरस्त करने के अभिप्राय से विपुल परिग्रह का त्याग कर आनन्दविमलसूरि आदि तीन आचार्यों ने शाम-दाम-दण्ड और भेद नीति का आश्रय लेकर जो अभियान चलाया वह निरन्तर पट्टानुपट्ट क्रम से चलता ही रहा। इसी प्रकार के प्रलोभनात्मक शाम-दाम-दण्ड-भेद परक अभियान के परिणामस्वरूप अन्ततोगत्वा लोंकाशाह के विरोधियों को लोंकागच्छ में भयंकर आन्तरिक विस्फोट करने में एक ऐतिहासिक महत्त्व की सफलता प्राप्त हुई। लोंकागच्छ में आन्तरिक विस्फोट करने के लक्ष्य से जिन लोगों को लोंकागच्छ में दीक्षित करवाया गया था वे लोग लोंकागच्छ पर छा गये और उन्होंने लोंकाशाह द्वारा सूत्रित धर्म क्रांति के मूल मन्त्र से नितान्त विपरीत द्रव्य परम्पराओं की मान्यता "मूर्तिपूजा" को अंगीकार कर अपने आपको लोंकाशाह का अनुयायी और लोंकागच्छीय बताते हुए जन-जन के समक्ष यह प्रकट कर दिया कि लोंकागच्छ मूर्तिपूजा की मान्यता को अंगीकार करता है। लोंकाशाह द्वारा प्रारम्भ की गई सर्वहारा धर्म क्रान्ति के विरोधियों की यह सबसे बड़ी सफलता थी। अपने क्रमागत अभियान में इस प्रकार की अभूतपूर्व सफलता से उन्होंने संतोष की सांस ली कि अब लोंकागच्छ सदा के लिए समाप्त हो गया। किन्तु लोंकागच्छ में किये गये इस आन्तरिक विस्फोट के अनन्तर भी लोंकाशाह द्वारा प्रदीप्त धर्म क्रान्ति की दिव्य-ज्योति उत्तरोत्तर अधिकाधिक विस्तार पाती हुई जगमगाती ही रही। लोंकागच्छ में किये गये उस आन्तरिक विस्फोट को प्रतिक्रियास्वरूप तत्काल उत्तरार्द्ध लोंकागच्छ का आविर्भाव हुआ, लवजी आदि अनेक महापुरुषों ने लोंकाशाह द्वारा प्रदीप्त की गई विशुद्ध आगमिक धर्म की मशाल को देश के कोने-कोने में शतगुणित उत्साह से प्रदीप्त करते हुए उस अभिनव धर्म क्रान्ति के प्रभाव एवं प्रवाह में उत्तरोत्तर अभिवृद्धि ही की।

लोंकाशाह और उनकी धर्मक्रान्ति के विरुद्ध तत्कालीन धर्माध्यक्षों द्वारा रचे गये षड्यन्त्रों के जाल की यहीं इतिश्री नहीं हो गई। सभी प्रकार के सावद्य (पापपूर्ण) योगों (कार्यों) का तिविहं तिविहेणं (तीनों करण और तीनों योगों से) जीवन पर्यन्त त्याग करने के शास्त्रीय पाठ के उच्चारण के साथ पंच महाव्रतों की दीक्षा ग्रहण कर लेने के अनन्तर भी विभिन्न गच्छों के जो आचार्य, जो धर्माध्यक्ष अध्यात्म प्रधान जैन धर्म के विशुद्ध स्वरूप में अपने पूर्वाचार्यों द्वारा प्रविष्ट कराई गई विकृतियों के माध्यम से पूजा, प्रतिष्ठा, प्रतिमा विवाह, चन्दन बाला के तपव्याज के उपलक्ष्य में सोने चांदी के सूप (छाजला), सोने चांदी के उड़द, सोने चांदी की वेड़िया-हथकड़ियां आदि बनवाकर भेंट स्वरूप प्राप्त करने में, खीर से स्वर्ण रौप्य निर्मित पात्र भरवा कर और उस पायस (खीर) में सोने-चांदी के मोटे-मोटे पत्रों की थरकण तिरवा कर दान स्वरूप ग्रहण करने में, बहीवट के माध्यम से अथवा विविध आडम्बरपूर्ण असाधुजनोचित अनागमिक विधि-विधानों के माध्यम से विपुल धन व अपरिमित परिग्रह बटोरने में अहर्निश निरत रहते थे, उन की आय लोंकाशाह की धर्मक्रान्ति के फलस्वरूप अवरुद्ध हो गई थी। इससे कुपित होकर उन धर्माध्यक्षों ने, उनके आश्रितों ने लोंकाशाह की अनार्योचित असभ्य भाषा में कटु से कटुतम आलोचना निन्दा-गर्हा करने में किसी तरह की कोर-कसर नहीं रखी। इस प्रकार के निहित स्वार्थ लोगों द्वारा लोंकाशाह की निन्दार्थ निर्मित अनेक ऐसी रचनाएं आज भी उपलब्ध होती हैं, जिनको प्रकाश में लाने में लेखिनी भी शर्माती है।

विश्वबन्धु श्रमण भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित-प्रदर्शित लोक कल्याणकारी धर्म में द्रव्य परम्पराओं के सूत्रधारों द्वारा किस-किस प्रकार की विकृतियां—किस-किस प्रकार के असाधुजनोचित विकारपूर्ण विधि-विधान घुसेड़ दिये गये—ठूंस-ठूंस कर ठसाठस भर दिये गये—उनका उल्लेख प्रसंगवशात् यहां सत्यान्वेषी पाठकों की जानकारी के लिए आगम मर्मज्ञ पार्श्वचन्द्रसूरि के शब्दों में किया जा रहा है। द्रव्यार्जन में संलग्न विभिन्न गच्छों के धर्माध्यक्ष जिस प्रकार लोंकाशाह के भयंकर शत्रु बन गये, उसी प्रकार कहीं मेरे (पार्श्वचन्द्रसूरि के) भी कट्टर शत्रु—कटु आलोचक न बन जायं इस डर से बहीवट आदि अनेक विकृतियों का नामोल्लेख तक न करते हुए धर्मसंघ की अस्थि-मज्जा में प्रविष्ट कतिपय विकृतियों का विवरण वि० सं० १५७५ की कार्तिक शुक्ला द्वितीया के दिन पट्टन में विराजमान अनेक गच्छाधिपतियों एवं पत्तन श्री संघ को लिखे गये—"उत्सूत्र तिरस्कारनामा-विचार पटः" शीर्षक पत्र के अन्त में प्रस्तुत किया है। उस पत्र की अविकल प्रतिलिपि निम्नलिखित रूप में हैं :—

"तथा केतलउं एक सूत्रविरुद्ध असमंजस दीसइ छइ। गच्छे-गच्छे पुण परस्पर विरुद्ध एक मानइ एक न मानइ। ते केटलाएक बोल लिखियेइ छइ। गीतार्थ कहइ तिम प्रमाण। पूछी-पूछी करवउ। छः। छः। श्रीः ॥

१. तीर्थंकर सउं गृहस्थवइं जोड़ावउ मेलवउ ।
२. गृहे वीर, नेमि, मल्लि, पार्श्व प्रतिमा अपूजनीय कथनं ।
३. स्वगच्छनिश्रानामलिखनेन परिग्रहणं प्रतिमायाः ।
४. १०८ कूपोदक, १०८ पात्री साधु कथन मीलनं ।
५. प्रतिमानां विवाह वधूपचार करणं । मीडहल जवाली मउली बन्धनं ।
६. रात्रौ जिनगृहमध्ये प्रतिष्ठार्थं साधु निवासः ।
७. अस्नातसाधुभिः शलाकासंचारणाय स्पर्शकरणं । करे कंकणमुद्रिका परिधानं, जवारककरणं, वेदिकायानवेष्टकाभिः कृतिः । स्वहस्तेन तिलकुट्टीवत् फूलादि विकिरणं, लांगलीफलसुखाशिकादीनां ग्रहणं, आधार्कमिकादिवस्त्राशनपान ग्रहणं । प्रतिमानां वर्णपूर कंकणच्छोट-नादि सर्व विवाहविधि करणं, अनेक दाडिम सदाफलेक्षूदक कोमल-फल कोमलफलिका पक्वान्नं सर्व्वधान्य—सर्व तेमन जेमन पूपाघृतादि समस्त वस्तुढौकनं श्री अर्हतां पुरतः कस्योपदेशात् ।

अनेक तपसामुद्यापनानि ।

तंदुलैः पर्वतप्रासादाकारकरणं, तदुपरि कलशध्वजारोपः । पार्श्वे-पार्श्वे अनेक नवीन घटित कलश वर्त्तुलिका तथा सचित्तफलादि मोचनं कस्य साधोरुपदेशात् चन्दनबाला तपः कारणेन सुवर्ण रूप्यमय सूर्प कुल्माषकारण पादयोः पट्ट सूत्रादिकक्षेपणं पायसेन पात्रभरणं । दुग्धघृत भाजने रूप्यमय बेड़ातारणं । चैत्राश्वयुग्मासतपसि सर्वांगीण सुवर्ण रूप्यमय तरुकरण ढौकनं च ।

माघमासे घृतमय मेरु चूलिका प्रासादाकारकरणं तत्क्षण-विभंगश्च । स्नात्रपंचाशके दिनद्वयं यावत् प्रदीपाखण्ड ज्वालनं कस्योपदेशात् ।

स्थानात् स्थानात् लेख प्रतिप्रेषणेन श्रावकाणामाचाम्लाष्टाह्निका-भोगदीपकरणादेशः कस्य साधोरनुसारी ।

साधुभिः समीपे जिनप्रतिमारक्षणं । पुटादीनां च कर्पूर वासक्षेप धूपा-दिकरणेन द्रव्यार्चन विधानं मुग्धलोकरंजनार्थं स्मरणमिषेण तदंतिकात् कर्पूर—मृगमदागुर्व्वादीनां ग्रहणं । प्रत्यहं प्रतिक्रमणावसरे पादप्रक्षालनं तद्विधिस्थापनं च स्वश्रावकनिश्राकरणं स्व स्वनिश्रया नित्यपिण्डग्रहणं इत्यादि कुतः । छः ।

स्वस्वगच्छनिश्रित—प्रासादे ममकरणं ।

मृते नरेऽनेकवस्तुढौकनं पूजानामकरणं मृतस्य च पट्त्रिसंख्ययामंगल-करणं च शालामध्ये साधुजिनप्रतिमानां स्थितिः । साधुभिस्तस्य संभालादि-

विधानं चातुर्मासिक प्रारम्भे प्रसभं पंचाशत्स्नात्रलेखनं साधुभिः श्रावकाणाम् । पर्युषणापर्वणि स्वहस्तेन पुस्तकदानं जागरणकरणं च । चैत्रशुक्लत्रयोदशीजातस्य श्री वीरस्य भाद्रपदशुक्लप्रतिपदापराह्ने जन्मोत्सवकारणं । अनेक गोधूम चूर्णसूपदालिकाघृतगुड़जीरकसुंठीप्रमुख वर्षवारजुगमुसलादिवस्तु समानयनं । तद्‌वृद्धिविधापनं च । अजितशान्तिस्तव कथने तैलस्य वृद्धि कारणं ।

मालारोपणे सुवर्णरूप्यप्रवालमुक्ताफलसूत्रपट्ट सूत्रमाला कारणं कस्योपदेशात् ।

क्षुत्करणे पर्वणि तालककुट्टनं पादप्रहारदानं यः करोति स लिप्यते इत्यादि दुर्वचनकथनं प्रायश्चित्तदानं ।

देवगृहे धूपदीपदानं कस्यायमुपदेशः ।

सम्यक्त्वमोदककारणे प्रतिष्ठा वासक्षेपश्च वस्त्रादिग्रहणं कोऽयमुपदेशः कस्मिन्सूत्रे मिलति ।

अष्टोत्तरीस्नात्रकारणेनोपद्रवोपशान्तिप्ररूपणं ।

गुरूणा स्वयं मन्त्रादिजापे श्रावकाणां समीपात् पृथक् फलादीनां प्रतिमापुरतो मोचनं ।

मासजातस्य वालस्य तिलककरणं वासक्षेपनामस्थापनं ।

पुस्तिकावेष्टन द्रव्यादिग्रहणं ।

पंचम्यादितपसामुद्यापने पंचादिवस्तुमोचनं । पर्व्वादि दिवसेषु गुरूणां पुरतः कुंकुमेन गुहलिकाकरणं उपरि द्रव्यमोचनं स्त्रिभिः स्वहस्तैस्तंदुलैर्गुरूणां न्युंछनकरणं तंदुलोच्छालनं स्पर्शश्च ।

......इत्यादि विरुद्धता परस्परं गच्छे-गच्छे तेषां मध्ये के सत्यवादिनः सूत्रानुसारिणः केऽसत्यवादिन उत्सूत्रानुसारिण इति निर्णयः कार्यो यदि पत्तननिवासिनः संघमुख्या धर्माथिनः सन्ति । नोचेद् दृष्टिरागिणो मिथ्यात्वोपहताः पक्षरहितद्वेपिणः सपक्षभीरवः शास्त्रज्ञैर्न प्रमाणी कर्त्तव्याः । यतः

.........मुहसीलाउ सच्छंदचारिणो, वेरिणो सिवपहस्स ।
आणाभट्ठा वहु जाणह, मा भणह संघुत्ति ।........."

आचार्यश्री पार्श्वचन्दसूरि द्वारा अपने पत्र में आज से लगभग ४६८ वर्ष पूर्व जैन धर्म संघ में रूढ़ बने विकारों एवं धर्म की मूल आत्मा, मूल भावना से कोसों दूर ले जाने वाले विविध विधि-विधानों के विवरणों को पढ़कर प्रत्येक मुमुक्षु पाठक के नेत्र युगल आश्चर्याभिभूत हो खुले के खुले रह जायेंगे और हठात् उसे दुःख भरी दीर्घ निच्छ्वास छोड़ने के लिये विवश होना पड़ेगा। प्रत्येक सच्चा सत्यान्वेषी चिन्तक तत्कालीन चतुर्विध संघ के दैनिक जीवन में घुले मिले इन आगम विरुद्ध विधि-विधानों एवं धार्मिक कहे जाने वाले कार्यकलापों के विवरणों को पढ़कर यही सोचेगा कि उस समय के श्रमणों ने और विभिन्न गच्छों के गच्छाधिपति आचार्यों ने आगम प्रतिपादित श्रमणाचार को अनन्त अलोकाकाश में उड़ा कर लोक रंजन के माध्यम से अपरिमित परिग्रह बटोरने में ही श्रमण धर्म की इतिश्री समझ ली थी।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी श्रमण भ० महावीर द्वारा प्ररूपित, परम पावन आगमों में प्रतिपादित एवं शार्दूलोपम पराक्रमशाली शूरवीरों द्वारा परिपालित दुश्चर श्रमण धर्म की तथा चतुर्विध संघ की इस प्रकार की दयनीय दशा से द्रवित हो धर्मोद्धारक लोंकाशाह को, इन सब विकारों के समूलोन्मूलन के लक्ष्य से धर्मक्रान्ति का शंखनाद पूरना पड़ा। लोंकाशाह द्वारा पुनः २ उद्घोषित अभिनव धर्मक्रान्ति के गगन-भेदी, उद्घोष से बड़े-बड़े आचार्यों, मठाधीशों, श्रीपूज्यों अथवा गच्छाधिपतियों की मोहतन्द्रा खुली, उनींदी आंखें शनैःशनैः उन्मीलित होने लगीं। किन्तु आचार्यों को अवकाश कहां था शिथिलाचार के गहन दल-दल में धंसे फंसे संघरथ को बाहर निकालने का। वि० सं० १५०८ से लोंकाशाह ने संघरथ को शिथिलाचार के गहरे कीचड़ से निकालने का दृढ़ लक्ष्य लिये क्रान्ति का उद्घोष किया और संयोग की बात है कि उसी वर्ष (वि० सं० १५०८ में) तपागच्छ के ५२ वें गच्छनायक रत्नशेखरसूरि ने अपने उत्तराधिकारी लक्ष्मीसागरजी को सूरिपद प्रदान किया। लोंकाशाह द्वारा धर्मक्रान्ति का सूत्रपात किये जाने के अनन्तर लगभग ९ वर्ष तक रत्नशेखरसूरि गच्छनायक पद पर रहे और वि० सं० १५१७ में स्वर्गस्थ हुए। रत्नशेखरसूरि ने किसी प्रकार का क्रियोद्धार नहीं किया। उनके पश्चात् लक्ष्मीसागरसूरि तपागच्छ के ५३वें गच्छनायक पद पर आसीन हुए। उन्होंने भी क्रियोद्धार की ओर ध्यान नहीं दिया। लक्ष्मीसागरसूरि के स्वर्गारोहणानन्तर तपागच्छ के ५४वें गच्छाधिपति श्री सुमति साधुसूरि हुए। उन्होंने भी अपने आचार्य काल में शिथिलाचार में निमग्न अपने साधु वर्ग को शिथिलाचार से ऊपर उठाने का कोई प्रयास नहीं किया। तपागच्छ के ५४वें गच्छनायक सुमति साधुसूरि के पश्चात् ५५वें गच्छनायक श्री हेमविमलसूरि हुए। उन्होंने लोंकामत के ऋषि दाना, ऋषि श्री पनि, ऋषि गणपति प्रमुख कतिपय साधुओं को लुंका गच्छ से खींच कर तपागच्छ के श्रमणाचार की दीक्षा तो दी, किन्तु शिथिलाचार में निमग्न अपने साधुवर्ग को विशुद्ध श्रमण धर्म की परिपालना के लिये कटिबद्ध करने का कोई प्रभावकारी प्रयास किया हो, ऐसा तपागच्छ की पट्टावलियों से प्रतीत नहीं होता। तपागच्छ पट्टावली के

उल्लेखानुसार जिस प्रकार कीचड़ में होते हुए भी कमल कीचड़ से निर्लिप्त रहता है ठीक उसी प्रकार श्री हेमविमलसूरि ने भी क्रिया शिथिल साधु समुदाय के बीच रहते हुए भी श्रमणाचार की परिपालना में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं आने दी।[१] तपागच्छ के ५५ वें पट्टधर आचार्य हेमविमलसूरि के पश्चात् वि० सं० १५७० में श्री आनंदविमलसूरि तपागच्छ के ५६ वें अधिनायक बने। गच्छाधिपति पद पर आसीन होने के उपरान्त भी उन्होंने लगभग ११ वर्ष पर्यन्त क्रियोद्धार नहीं किया। वि० सं० १५८२ में उन्होंने सवामन सोने की मूर्ति अन्धकूप में डाल पावभर महा मूल्यवान मोतियों का चूर्ण अथवा बुरादा बना मिट्टी में मिला कतिपय वहिवट वहियों को कतिपय गच्छों के आचार्यों में बांट कर तथा शेष वहियों को जलशरण करने के अनन्तर और भी सव प्रकार के परिग्रह का परित्याग कर लोंकाशाह द्वारा १५०८ में प्रारम्भ की गई धर्मक्रान्ति के प्रचण्ड वेग से मूर्ति पूजा की रक्षा करने के उद्देश्य से दो अन्य आचार्यों के साथ क्रियोद्धार किया। इस प्रकार लोंकाशाह द्वारा धर्मक्रान्ति का शंखनाद पूरे जाने के ठीक ७४ (चोहत्तर) वर्ष पश्चात् तपागच्छ की चार पीढियां वीत जाने के अनन्तर तपागच्छ तथा अन्यान्य गच्छ, के साधुओं में व्याप्त शिथिलाचार को दूर करने के लिये गच्छनायक पद की दृष्टि से पांचवीं पीढ़ी में आनन्द विमलसूरि ने वि० सं० १५८२ में क्रियोद्धार किया और अपनी वृद्धावस्था के उपरान्त भी घोर तपश्चरण और अतीव श्लाघनीय साहस के साथ सुदूरस्थ क्षेत्रों में विहार एवं धर्म प्रचार कर लोंकाशाह द्वारा वि० सं० १५०८ में प्रवाहित क्रान्ति के प्रचण्ड प्रवाह से मूर्तिपूजा की रक्षा करने में सफलता प्राप्त की।

लोंकाशाह द्वारा किये गये धर्मक्रान्ति के सूत्रपात्र से लगभग ५६ वर्ष पश्चात् पार्श्वचन्द्रसूरि ने वि० सं० १५६४ में क्रिया उद्धार कर जैन धर्म संघ में व्याप्त विकारों एवं आगम विरोधी मान्यताओं का डट कर विरोध करना प्रारम्भ किया। जैसा कि ऊपर वताया जा चुका है, उन्होंने वि० सं० १५७५ में पाटण संघ और वहां विराजित अनेक गच्छों के आचार्यों को पत्र लिखकर तत्कालीन श्रमणों की श्रमणाचार से एकान्ततः विपरीत, आगमों से पूर्णतः प्रतिकूल असाधु-जनोचित प्रवृत्तियों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हुए उस समय के चतुर्विध संघ की दयनीय दशा को वड़े ही हृदयद्रावी शव्दों में चित्रित किया है। कठोर श्रमणाचार के संवंध में स्पष्ट निर्देश है :—

जत्थित्थि करफरिसं, अंतरिय कारणे विउप्पन्ने ।
अरहावि करेज्ज सयं, तं गच्छं मूल गुण मुक्कं ॥

---

१. यः क्रियाशिथिलसाधुसमुदाये वर्तमानोऽपि साध्वाचारात्रतिक्रान्तः ....न च तेषां क्रियाशिथिलसाधु समुदायावस्थाने चारित्रं न संभवतीति शंकनीयं, एवं सत्यपि गणाधिपतेश्चारित्र-संभवात्। यदागमः—साके नाम एगे एरण्डपरिवारे त्ति।

—पट्टावली समुच्चयः, प्रथम भाग, पृष्ठ ६८

किन्तु पार्श्वचन्द्रसूरि के उपर्युक्त पत्र के इस उल्लेख से "पर्व्वादि दिवसेषु गुरूणां पुरतः कुंकुमेन गुहलिकाकरणं, उपरिद्रव्य मोचनं, स्त्रिभिः स्वहस्तैर्तंदुलैर्गुरूणा न्यूछन करणं तंदुलोच्छालनं स्पर्शश्च[1]" स्पष्ट है कि स्त्रियां आचार्यों एवं साधुओं के चरणों का स्पर्श करती थीं। पार्श्वचन्द्रसूरि के उपर्युद्धृत पत्रांश से स्पष्टतः प्रकट होता है कि उस समय के प्रायः सभी गच्छों के गच्छाधिपतियों एवं श्रमणों में घोर शिथिलाचार, जिसे शास्त्रों में प्रतिपादित श्रमणाचार को दृष्टिगत रखते हुए अनाचार की संज्ञा प्रदान की जा सकती है—व्याप्त था। उस समय का श्रमण वर्ग अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह–इन तीनों महाव्रतों की अवहेलना के साथ-साथ जिनाज्ञा का, शास्त्रीय निर्देशों का अमर्यादित रूप से उल्लंघन कर डाभ से कच्चे जल के आलोडन पुष्पों के विकिरण, फलों के स्पर्श ढोकन, स्त्रियों से संघट्ट संस्पर्शन करवाने तथा चन्दनबाला-तप आदि अशास्त्रीय, असाधुजनोचित विधि-विधानों के बहाने से विपुल सम्पत्ति, अपरिमित परिग्रह बटोरने में संलग्न था। उस समय के श्रमणों में व्याप्त इस प्रकार के आगम विरुद्ध शिथिलाचार अथवा हीनाचार से खिन्न क्षुब्ध एवं हताश हो कतिपय आगमज्ञ आत्मार्थी एवं वयोवृद्ध विद्वान साधुओं तक ने दीक्षार्थी विरक्तात्माओं को यह कहना प्रारम्भ कर दिया था कि आचारांग आदि सूत्रों में जो साधु आचार लिखा है, वह आज के साधुओं में देखा नहीं जाता, अतः तुम तो श्रावक के वेश में संवरी होकर रहो।

वि० सं० १५०८ में लोंकाशाह द्वारा किये गये धर्मक्रान्ति के उद्घोष से अनेक आत्मार्थी विद्वान, वयोवृद्ध साधुओं के अन्तर्चक्षु उद्घाटित हुए। उसके १२ वर्ष पश्चात् की, वि० सं० १५२० की इस संबंध में एक बड़ी ही रोचक घटना है, उसे यहां प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे सत्य के जिज्ञासुओं को यह भली-भांति विदित हो जाये कि किन विकट परिस्थितियों में संघरथ को शिथिलाचार के दल-दल से निकालने के दृढ़ संकल्प के साथ धर्मोद्धारक लोंकाशाह को धर्मक्रान्ति का उद्घोष करना पड़ा, एक प्रकार से अपने आप में सर्वांग पूर्ण क्रान्ति का शंखनाद पूरना पड़ा।

वि० सं० १५२० के आस-पास की वह घटना इस प्रकार है :—

"दीक्षा लेने की धुन में कडुवा अनेक साधुओं का परिचय करता हुआ अहमदाबाद पहुंचा। वहां रूपपुरा में आगमिक पंन्यास हरिकीर्ति शुद्ध प्ररूपक संवेग पक्ष के साधु थे। वे अपनी शक्ति के अनुसार क्रिया-कलाप करते थे। गुणी साधुओं को वन्दन करते थे। परन्तु आप किसी से वन्दन नहीं करवाते, कहते—मैं वन्दन योग्य नहीं हूं, मुझसे शास्त्रोक्त साधु का आचार नहीं पलता। हरिकीर्ति रूपपुरे की एक शून्य शाला में रहते थे। कडुवा ने उनका व्यवहार देखा और उसको पसन्द आया। उसने हरिकीर्तिजी के सामने अपना परिचय देते हुए कहा—"मेरी इच्छा

1. सप्तपदी शास्त्र, प्रस्तावना, पृष्ठ १८

संसार छोड़कर साधु होने की है, मुझे दीक्षा दीजिये।" हरिकीर्ति ने सोचा—मैं अगर इसको योग्य मार्ग न दिखाऊंगा तो यह किसी कपटी कुगुरु के जाल में फंस जायगा, उन्होंने कडुवा से कहा—प्रथम दशवैकालिक के चार अध्ययन पढ़ो। उसने स्वीकार किया और हरिकीर्ति के पास दशवैकालिक के चार अध्ययन अर्थ के साथ पढ़े। अध्ययन पढ़ने के बाद कडुवा ने उनसे पूछा—पूज्य! सिद्धान्त मार्ग तो इस प्रकार है, तब आजकल साधु इस मार्ग के अनुसार क्यों नहीं चलते? हरिकीर्ति ने कहा—अभी तुम पढ़ो और सुनो, बाद में सिद्धान्त की चर्चा में उतरना। महता कडुवा ने पंन्यास के पास सारस्वत व्याकरण, काव्यशास्त्र, छन्दशास्त्र चिन्तामणि प्रमुख वाद शास्त्र पढ़े और आचारांग आदि सूत्रों के अर्थ सुन कर प्रवीण हुआ। बाद में पन्यास हरिकीर्ति ने कडुवा से कहा—हे वत्स! आचारांग आदि सूत्रों में जो साधु का आचार लिखा है, वह आज के साधुओं में देखने में नहीं आता। आज के सर्व यति पूजा प्रतिष्ठा, कल्पित दान आदि कार्यों में लगे हुए हैं, जिन-मन्दिरों के रक्षक बने हुए हैं, क्योंकि वर्तमान काल में दसवां अच्छेरा (आश्चर्य) चल रहा है। यह कह कर उसने "ठाणांग सूत्र" की आश्चर्य प्रतिपादक गाथाएं, "संघपट्टक की" गाथाएं और "षष्टिशतक प्रकरण" की गाथाएं सुनाकर वर्तमान कालीन साधुओं की आचार-हीनता का वर्णन किया और उसकी श्रद्धा कुण्ठित करने के लिये हरिकीर्ति ने पिछले समय में जैन श्रमणों में होने वाली धडाबन्दियों का विवरण सुनाया। उन्होंने कहा—११५९ में पौर्णमिक, १२०४ में खरतर, १२१३ में अंचल, १२३६ में सार्द्धपौर्णमिक, १२५० में त्रिस्तुतिक, १२८५ में तपा अपने-अपने आग्रह से उत्पन्न हुए। १५०८ में लुंका ने अपना मत चलाया। अब तुम ही कहो तो इन नये गच्छ प्रवर्तकों में से किस को युगप्रधान कहना और किसको नहीं। इस समय शास्त्रोक्त चतुष्पर्वी की आम्नाय दिखती नहीं। जहां युगप्रधान होगा, वहां उक्त सभी बातें एक रूप में होगी। इसलिये तुम तो युगप्रधानों का ध्यान करते हुए श्रावक के वेश में "संवरी" बनकर रहो, जिससे तुम्हारी आत्मा का कल्याण हो।

शाह कडुवा ने जैन सिद्धांतों की बातें सुनी थीं, उसको हरिकीर्ति की बात ठीक जंची, वह साधुता की भावना वाला प्रासुक जल पीता, अचित्त आहार करता, अपने निमित्त नहीं बनाया हुआ विशुद्ध आहार श्रावक के घर से लेता था। ब्रह्मचर्य का पालन करता, १२ व्रत धारण करता हुआ, किसी पर ममता न रखता हुआ पृथ्वी पर विचरने लगा।[1]

विक्रम की १५वीं १६वीं शती के जैन श्रमणों में शिथिलाचार की पराकाष्ठा के परिणामस्वरूप ही महान् विरक्त द्विजोत्तम कडुवाशाह ने श्रमणधर्म

---

१. कडुवा मत गच्छ की पट्टावली, पट्टावली पराग संग्रह (पं० कल्याण विजयजी) पृष्ठ ४८१–८२

में दीक्षित होने की आन्तरिक उत्कट अभिलाषा होने के उपरान्त भी पंच महाव्रतों की दीक्षा नहीं ली और उन्होंने वि० सं० १५२५ में श्रावक वेश में संवरी रहते हुए अपने मत का प्रचार-प्रसार प्रारम्भ कर दिया। कडुवाशाह ने "कडुवागच्छ" की स्थापना कडुवागच्छ की पट्टावली के अनुसार[1] वि० सं० १५२५ में और तपागच्छ पट्टावली के उल्लेखानुसार वि० सं० १५६२ में की। इस संबंध में तपागच्छ पट्टावली का उल्लेख इस प्रकार है :—

"तदानीं वि० द्वाषष्ठ्यधिक पंचदशशत १५६२ वर्षे "सम्प्रति साधवो न दृग्पथमायान्तीत्यादिप्ररूपणापरक कटुकनाम्नी गृहस्थात् त्रिस्तुतिकमतवासितो कटुक नाम्ना मतोत्पत्ति।"

जैन धर्मसंघ में व्याप्त अनागमिक आडम्बर पूर्ण प्रवृत्तियों, मान्यताओं विधि-विधानों, थोथे कर्मकाण्डों, विकारों, श्रमणाचार में व्याप्त सार्वत्रिक घोर शिथिलाचार, आगमिक सिद्धान्तों के प्रति उपेक्षापूर्ण अवहेलनात्मक अवस्था का समूलोन्मूलन कर विशुद्ध आगमिक मान्यताओं की पुनः प्रतिष्ठापना के एक मात्र सदुद्देश्य से लोंकाशाह द्वारा प्रारम्भ की गई धर्मक्रान्ति का ही प्रभाव था कि विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के प्रथम दशक में सर्वज्ञ प्रणीत विश्वकल्याणकारी जैन धर्म के विशुद्ध स्वरूप के प्रति सजगता—जागरूकता से ओत-प्रोत एक अभिनव जागरण की एक अदम्य अमित लहर जैन-जगत के जन मानस में तरंगित हो उठी। क्रान्ति के उस शंखनाद से सुदीर्घकालीन प्रगाढ़ मोह निद्रा में सोये जैन जगत् को विदित हुआ कि आगम प्रतिपादित धर्म के स्वरूप में श्रमणाचार में और उनके तत्कालीन धर्माध्यक्षों, धर्मगुरुओं अथवा जिन शासन के कर्णधारों के आचार-विचार अथवा आचरण में आकाश पाताल का अन्तर है, दोनों एक दूसरे से अमित-अपरिमेय कोसों दूर हैं। लोकप्रवाह सातशीलत्व, आरम्भ, समारम्भ एवं परिग्रह आदि शिथिलाचार में आनखशिखनिमग्न अपने तथाकथित श्रमणवेशधारी धर्मगुरुओं से मुख मोड़ लोंकाशाह द्वारा अनावृत प्रकटित आध्यात्मिक एवं विशुद्ध आगमिक आलोक की ओर उमड़ पड़ा। वही वटों में अंकित अपने पीढ़ी प्रपीढ़ियों के भक्तों की अपने प्रति बढ़ती हुई प्रगाढ़ अनास्था के परिणामस्वरूप अपनी सुख सुविधा की पूरक आय के स्रोतों के अवरुद्ध अथवा मन्द हो जाने पर उस काल में धर्मगुरुओं की भी अंततोगत्वा आंखें खुलीं। अवशावस्था में अनेक गच्छनायकों को परिग्रह का मोह त्यागने के लिये बाध्य होना पड़ा। सवा सवा मन सोने की अपने परिग्रह में संजोयी हुई मूर्तियों को अन्धकूपों में डाल कर और महार्घ्य मुक्ताफलों आदि विपुल परिग्रह का परित्याग कर कतिपय आचार्यों ने क्रियोद्वार किये। किन्तु उनके द्वारा किये गये क्रियोद्धार सर्वांगपूर्ण क्रियोद्धार का स्वरूप धारण न कर पाने के कारण अधूरे ही

१. वही, पृष्ठ ४८३

रहे। पार्श्वचन्द्रसूरि ने तत्कालीन श्रमण समूह के श्रमणाचार में व्यापक रूप से रूढ़ बुराइयों का अपने क्रियोद्धार काल वि० सं० १५६४ से लेकर जीवन पर्यन्त वि० सं० १६१२ तक साहित्य सृजन और उपदेशों के माध्यम से भी डटकर विरोध किया।

पार्श्वचन्द्रसूरि द्वारा किये गये क्रियोद्धार के १८ वर्ष पश्चात् तपागच्छ के नायक श्री आनन्द विमलसूरि ने वि० सं० १५८२ में क्रियोद्धार किया। उन्होंने १५८३ में अपने गच्छ के श्रमण श्रमणीवर्ग के श्रमणाचार को निर्दोष एवं सुदृढ़ बनाये रखने के सदुद्देश्य से ३५ बोलों की घोषणा भी की किन्तु पार्श्वचन्द्रसूरि की भांति चतुर्विध संघ में रूढ हुई विकृतियों के विरुद्ध कोई सार्थक आवाज नहीं उठाई। उनका और उनके क्रियोद्धार का प्रमुख लक्ष्य रहा लोंकाशाह द्वारा प्रारम्भ की गई धर्मक्रान्ति के बढ़ते हुए प्रभाव व प्रवाह को नष्ट करना। श्री आनन्द विमलसूरि और उनके सहयोगी अन्यान्य गच्छों के आचार्यों के लोंकाशाह विरोधी सामूहिक सशक्त अभियान और धुंआंधार लिखित एवं दूरगामी शाम-दाम-दण्ड-भेद नीति परक मौखिक प्रचार-प्रसार के परिणामस्वरूप अन्ततोगत्वा लोंकागच्छ में आन्तरिक विस्फोट हुए। लोंकागच्छ की प्रबल वेग से बढ़ती हुई सर्वहारा शक्ति क्षीण हुई। कालान्तर में लोंकागच्छ के मनीषी आचार्यों ने उस धर्मक्रान्ति के वेग को तीव्र गति प्रदान करने के प्रबल प्रयास भी किये, उस क्रान्ति के मन्द बने प्रवाह में गति भी आई किन्तु लोंकाशाह की आकांक्षा के अनुरूप वह क्रान्ति जैन धर्म संघ में व्याप्त एवं रूढ़ हुई विकृतियों का, बुराइयों का समूलोन्मूलन करने में पूर्णतः सफल नहीं हो सकी। यदि लोंकाशाह द्वारा प्रारम्भ की गई एकमात्र आगमों पर आधारित धर्म क्रान्ति के विरुद्ध छल प्रपन्च पूर्ण मिथ्या प्रचार के सुनियोजित, सुगठित एवं सामूहिक कुचक्र न चलाये जाते तो वह क्रान्ति आश्चर्यकारी शत-प्रतिशत रूप से अवश्यमेव सफल होती और भ० महावीर के धर्म संघ में द्रव्य परम्पराओं द्वारा बलात् हठात् प्रविष्ठ की गई विकृतियों में से अधिकांश बड़ी-बड़ी विकृतियों के नष्ट हो जाने के उपरान्त भी जो अनेक विकार शेष रह गये थे, अवशिष्ट रह गये थे, उनका भी नामोनिशां तक आज दृष्टिगोचर नहीं होता।

अब सबसे बड़ा तथ्य यहाँ यह प्रकट होता है कि लोंकाशाह ने न तो कोई नया मत ही चलाया और न कोई नई बात ही कही। उन्होंने तो केवल सर्वज्ञ भाषित आगमों के मूल पाठ प्रस्तुत करते हुए अतिविनम्र शब्दों में यही कहा कि क्षीर नीर विवेकपूर्ण निष्पक्ष दृष्टि से भगवान महावीर के इन वचनों पर डाह्या बन कर चतुराई पूर्वक विचार करो। उन्होंने तो केवल विचार करने और जो उचित लगे वैसा करने का परामर्श दिया। अपनी नहीं केवल सर्वज्ञ वीतराग जगद्धितंकर तीर्थंकर की वाणी पर विचार करने के लिये जन-जन को निवेदन किया। उस वीत राग वाणी को भी मानने-मनवाने का लोंकाशाह ने कहीं लेशमात्र

भी हठाग्रह नहीं किया । उदाहरणस्वरूप लिया जाय तो आचारांग सूत्र के चौथे अध्ययन के प्रथम उद्देशक के एक सूत्र को जिसे जैन धर्म की आत्मा अथवा आधार शिला की संज्ञा दी जाती है–जन-जन के समक्ष प्रस्तुत करते हुए अपने ५८ बोलों में से एक बोल में उस ओर इंगित भर किया कि–"षड्जीव निकाय के किसी भी जीव की किसी भी कारण से निज की स्वार्थ सिद्धि के लिए और यहां तक कि मोक्ष की प्राप्ति के लिये भी हिंसा न की जाय—किसी जीव को किसी भी प्रकार का किंचित्मात्र भी कष्ट न पहुंचाया जाय यह मैं (श्रमण भगवान महावीर) कहता हूं। अनादि अतीत के सभी तीर्थंकरों ने यही कहा है। वर्तमान में जितने तीर्थंकर हैं वे भी यही कहते हैं और अनागत अनन्त काल में जो अन्य तीर्थंकर होने वाले हैं वे भी यही कहेंगे। यही शुद्ध–सत्य शाश्वत आर्य धर्म है।"

लोंकाशाह ने अपनी ओर से एक भी शब्द नहीं जोड़ा। लोंकाशाह से ५६ वर्ष पश्चात् हुए आगम मर्मज्ञ, आगमों पर टब्बों को रचना करने वाले पार्श्व-चन्द्रसूरि ने भी अपनी "उत्सूत्र तिरस्कार नामा-विचार पट:" नामक कृति में केवल इस सूत्र का ही उल्लेख नहीं किया है, अपितु लोंकाशाह से वहुत आगे वढ़ कर इस सम्बन्ध में तो यहां तक लिखा है कि :—

बुड्ढं जज्जर थेरं, जो घायइ जमल मुट्ठिणा तरुणो ।
जारिसी तस्स वेयणा, एगिंदी संघट्टणे तारिसी ।।

अर्थात्–जराजर्जरित अति जीर्ण-शीर्ण अतिवृद्ध पुरुष के वक्षस्थल पर यदि कोई विशिष्ट बलशाली यवा पुरुष अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर मुष्टि का प्रहार करे तो उस मुष्टि प्रहार से जिस प्रकार की दुस्सह दारुण पीड़ा उस जराजर्जरित वृद्ध व्यक्ति को होती है, ठीक उसी प्रकार की भीषण वेदना स्थावर काय के एकेन्द्रिय जीव को, उसके संघट्ट मात्र से—स्पर्श मात्र से होती है।

किसी भी एकेन्द्रियादि जीव की हिंसा करते समय में उसे किस प्रकार की पीड़ा होती है, इसका आगम में स्पष्ट वर्णन मिलता है कि जिस प्रकार एक जन्मजात गूंगे, बहरे, हलन-चलन में नितान्त अक्षम व्यक्ति को भाले की तीक्ष्ण नोंक से छेदा या भेदा जाय तो वह वोल नहीं सकेगा, चीख पुकार नहीं कर सकेगा, हिल-डुल नहीं सकेगा तथापि उसे छेदन भेदन की क्रिया से पीड़ा तो उसी प्रकार की दुस्सह्य और दारुणतम होगी जिस प्रकार की कि एक सर्वेन्द्रिय सम्पन्न स्वस्थ व्यक्ति को इस प्रकार की क्रिया से होती है। इस भांति की वेदना एकेन्द्रिय जीव को भी छेदन भेदन आदि दुःख-दायिनी क्रिया से होती है। द्वादशांगी के प्रथमांग आचारांग सूत्र के जीव हिंसा निषेधार्थक सूत्रों के सन्दर्भ में "वुड्ढं जज्जर थेरं" इस गाथा का अर्थ किया जाय तो इससे भी यही भाव प्रकट होता है कि केवल संघट्ट मात्र से स्थावर काय के एकेन्द्रिय जीव को दुस्सह्य दारुण वेदना होती है

अतः उस एकेन्द्रिय जीव की किसी भी प्रयोजन से यहां तक कि स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति की आकांक्षा से भी कभी न तो हिंसा की जाय, न करवाई जाय, न इस प्रकार की हिंसा करने वाले का अनुमोदन किया जाये और न इस प्रकार की हिंसा को भला ही कहा जाय।

यहां यह बात भी प्रत्येक तटस्थ व्यक्ति के लिए विचारणीय है कि विश्व के किसी भी सुसभ्य देश में दण्ड संहिता अथवा कानून का निर्माण करने वाले छद्मस्थ व्यक्ति भी सोच-विचार कर यदि उस कानून की किसी भी धारा में किसी प्रकार की छूट की आवश्यकता अनुभव करते हैं तो उस दशा में उस धारा के साथ अपवाद रूप में दी जाने वाली छूट के प्रावधान का स्पष्ट उल्लेख वे करते हैं ठीक इसी तरह मूर्तिपूजा आदि धार्मिक विधि-विधानों के लिये एकेन्द्रियादि जीवों की हिंसा करना आवश्यक समझा जाता तो आचारांग में इस छूट का प्रावधान अवश्य होता।

कानून बनाते समय छद्मस्थ होते हुए भी कानून बनाने वाले जब इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि कानून में किसी प्रकार की भूल न रह जाय। तो इस प्रकार की स्थिति में त्रिकालदर्शी तीर्थंकर भगवान से तीर्थ-प्रवर्तन काल में संसार के समक्ष धर्म का स्वरूप प्रकट करते समय प्रथम देशना देते समय किसी प्रकार की भूल रह गयी हो, इस प्रकार की कल्पना तो केवल एकान्ततः मिथ्यात्वी अभव्यात्मा ही कर सकती है।

अतीतानागत वर्तमान इन तीनों काल के समग्र भावों को हस्तामलक वत् देखने जानने वाले तीर्थेश्वर से इस प्रकार की भूल की अंश मात्र भी अपेक्षा कोई आस्तिक भव्य नहीं कर सकता। इस प्रकार सूर्य के प्रकाश की भांति पूर्णतः स्पष्ट स्थिति में तीर्थेश्वर भगवान महावीर ने जिस समय यह फरमाया—

"से वेमि जे य अईया जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंता ते सव्वे एवमाइक्खंति एवं भासंति एवं पण्णवेंति एवं परुवेंति सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा न अज्जावेयव्वा न परिवेतव्वा न परितावेयव्वा न उद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे निइए सासए समिच्च लोयं खेयण्णेहि पवेइए, तंजहा-उट्ठिएसुवा अणुट्ठिएसुवा, उवट्ठिएसुवा अणुवट्ठिएसुवा उवरय दंडेसुवा अणुवरय दंडेसुवा सोवहिएसुवा अणुवहिएसुवा संजोगरएसुवा असंजोगरएसुवा, तच्चंचेयं, तहाचेयं अस्सिंचेयं पवुच्चइ।"

(आचारांग, अ० ४, उ० १)

इसी प्रकार श्रमण भगवान महावीर ने पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु और वनस्पति काय के जीवों की हिंसा अथवा आरम्भ समारम्भ को अबोधि अहित एवं अनन्त काल तक भयावहा भवाटवी में भटकने का हेतु अथवा कारण बताते हुए फरमाया—

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स वरिवंदण माणण पूयणाए, जाइमरण मोयणाए दुक्खपडिग्घाय हेउं से सयमेव वणस्सइसत्थं समारंभई अण्णेहिंवा वणस्सइसत्थं समारंभावेइ अण्णे वा वणस्सई सत्थं समारंभमाणे समणुजाणई, तं से अहियाए, तं से अबोहीए.......एस खलु गंथे, एस खलु मोहे एस खलु मारे एस खलु णरए....... । (आचारांग सूत्र अ. १, उ. ५) ।

यदि पृथ्वी अप, तेजस्, वायु और वनस्पति काय के जीवों की हिंसा मोक्ष प्राप्ति में लवलेश मात्र भी किसी व्रती अथवा अव्रती के लिए सहायक होती तो संसार के अनन्त दारुण-दुःखों से संत्रस्त संसारी प्राणियों के दुःखों से द्रवित हो उन पर दया कर उन्हें मुक्ति का मार्ग बताने के लिए धर्मतीर्थ की स्थापना करते समय स्पष्ट शब्दों में अपवाद के रूप में फरमा देते कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए पांच स्थावर काय के जीवों की हिंसा की जा सकती है—उसमें कोई पाप नहीं कोई दोष नहीं। किन्तु "सव्व जग–जीव रक्खण-दयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं" प्रश्न व्याकरण सूत्र द्वितीय भाग, प्रथम संवर द्वार के इस परम पावन वचन के अनुसार मुक्ति प्रदायी धर्म तीर्थ की स्थापना करते समय इस प्रकार की कोई बात न कह कर स्पष्ट शब्दों में यही फरमाया कि पृथ्वी काय आदि पांच स्थावर मात्र के एकेन्द्रिय जीवों की किसी भी प्रयोजन के लिए यहां तक कि मोक्ष की प्राप्ति तक के लिए भी हिंसा न की जाय क्योंकि जीव हिंसा अनन्त काल तक जन्म, जरा, मृत्यु, आधिव्याधि आदि दुस्सह्य दारुण दुःखों से ओत-प्रोत संसार में भटकाने वाली है।

पार्श्वचन्द्रसूरि ने तो लोंकाशाह से दो डग आगे चढ़ कर आचारांग सूत्र के अध्ययन १ उद्देशक ५ के उपरिलिखित पाठ के उल्लेख के पश्चात् स्पष्ट शब्दों में लिखा है—

"सूत्र मतिइं उत्सर्गे नई व्यवहारि नथी दीसती।"

अर्थात् सूत्र की मूल भावना में उत्सर्ग एवं अपवाद की कोई वात दृष्टि-गोचर नहीं होती।

इस प्रकार लोंकाशाह ने आगमों में प्रतिपादित जिन शाश्वत सत्य तथ्यों पर प्रकाश डाला है उन्हीं आगमिक तथ्यों को श्री पार्श्वचन्द्रसूरि ने भी पाटण श्री संघ, पाटण में विराजमान सभी गच्छों के आचार्यो एवं तत्कालीन जैन जगत के समक्ष रखा। पार्श्वचन्द्रसूरि ने तो लोंकाशाह से अनेक डग आगे बढ़कर तत्कालीन श्रमणों के जीवन में घर की हुई ऐसी बुराइयों को खुले पत्र में चतुर्विध संघ के समक्ष रखा है जो बुराइयां साधु के पांच महाव्रतों में से प्रथम अहिंसा, महाव्रत, चतुर्थ नव वाड़ विशुद्ध ब्रह्मचर्य व्रत और पंचम अपरिग्रह महाव्रत इन तीनों महाव्रतों

को मूलतः नष्ट करने वाली थीं। इतना सब कुछ होते हुए भी यह बड़े आश्चर्य की बात रही कि उस समय के प्रायः सभी गच्छों ने एकजुट हो जिस प्रकार का घोर विरोध, जिस प्रकार का मिथ्या प्रचार लोंकाशाह के विरुद्ध किया, उसका शतांश भी पार्श्वचन्द्रसूरि के विरुद्ध नहीं किया। तत्कालीन आचार्यों और उनके उत्तरवर्ती पीढ़ी-प्रपीढ़ी के आचार्यों ने लोंकाशाह के विरुद्ध विषैला मिथ्या प्रचार करने में किसी प्रकार की कोई कसर नहीं रखी।

लोंकागच्छ में भानुचन्द्र नाम का कोई यति विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में नहीं हुआ, तदुपरान्त भी उसके नाम से एक कृति प्रकाशित करवाकर लोंकाशाह के विरुद्ध इस प्रकार का बेसिर-पैर का झूठा प्रचार किया गया कि लोंकाशाह सूत्रों को नहीं मानते थे, उन्होंने सामायिक, पौषध और दान का विरोध किया। तत्कालीन अन्य गच्छों के विद्वानों ने भी चौपाई आदि कृतियों की रचना कर लोंकाशाह के विरुद्ध विषवमन में किसी प्रकार की कमी नहीं रखी।

किसी एक बात को कहने वाला व्यक्ति यदि निर्बुद्धि हो तो सुनने वालों को तो अपनी बुद्धिमत्ता का उपयोग करना ही चाहिये। यदि किसी बुद्धिहीन अथवा साम्प्रदायिक व्यामोहाभिभूत व्यक्ति ने बिना आगा-पीछा सोचे कह दिया कि लोंकाशाह शास्त्रों को नहीं मानते थे, वे सामायिक पौषध और दान का विरोध करते थे तो सुनने वाले को अथवा पढ़ने वाले को तो सोचना चाहिये था कि सामायिक, पौषध, व्रत, नियम, प्रत्याख्यान शास्त्र स्वाध्याय और दान के निषेध के पश्चात् भी क्या कोई धर्म नाम की वस्तु अवशिष्ट रह जाती है? नहीं। तो फिर उस दशा में सामायिक पौषध, दान और शास्त्रों का विरोध करने वाला व्यक्ति अपनी ओर उद्वेलित सागर की भांति अधिकाधिक संख्या में उमड़ते आ रहे लोक समूह को किस बात का उपदेश देता और किसी भी शास्त्र को न मानने की दशा में किस धर्मशास्त्र एवं किस धर्मग्रन्थ के आधार पर उपदेश देता। क्या चार्वाक के इस सिद्धांत पर उपदेश देता कि :—

यावज्जीवं सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः ।।

जहां तक आगमों को मानने न मानने का प्रश्न है, लोंकाशाह के ५८ बोलों, १३ प्रश्नों, ३४ बोलों तथा परम्परा विषयक ५४ प्रश्नों से निर्विवादरूपेण यह सिद्ध हो जाता है कि लोंकाशाह की आगमों के प्रति अतीव प्रगाढ़ आस्था एवं उस समय के सभी गच्छों की अपेक्षा कहीं अधिक अनन्य आस्था थी। आगमों, निर्युक्तियों, चूर्णियों, वृत्तियों एवं आगमों के भाष्यों के गहन एवं तलस्पर्शी अध्ययन के अनन्तर जब उन्हें पूर्णरूपेण विश्वास हो गया कि उनमें अनेकानेक परम्पर

विरोधी एवं मूल आगमों से नितान्त विपरीत मान्यताएं प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं तो उन्होंने सर्वज्ञ सर्वदर्शी श्रमण भ० महावीर द्वारा प्ररूपित, गणधरों द्वारा ग्रथित एवं चतुर्दश पूर्वधरों तथा दशपूर्वधरों द्वारा द्वादशांगी से निर्यूढ़ आगमों को ही सर्वोच्च प्रामाणिक एवं परम मान्य स्वीकार करने के साथ-साथ पूर्वों के विच्छेद अथवा अन्तिम पूर्वधर आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण के वीर नि० सं० १००० के उत्तरवर्ती काल में हुए आचार्यों की कृतियां होने के कारण निर्युक्तियों, वृत्तियों, चूर्णियों एवं भाष्यों को अमान्य घोषित किया। निष्पक्ष दृष्टि से श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के प्राचीन ग्रंथों के उल्लेखों पर विचार किया जाय तो गणधरों, चतुर्दश पूर्वधरों और कम से कम १० पूर्वधरों द्वारा तीर्थंकर के उपदेशों के आधार पर गुम्फित आगमों को अंग के नाम से अभिहित किया जा सकता है। आगमों में गणिपिटक को द्वादशांगी की संज्ञा से अभिहित किया गया है। वीर निर्वाण सं० १००० से उत्तरवर्ती आचार्यों की कृतियों को अंग की संज्ञा देकर उन्हें आगमों के तुल्य महत्व देना और आगमों के साथ रखकर उन्हें पंचांगी की संज्ञा देना वस्तुतः सर्वज्ञ भाषित परम पवित्र आगमों की आशातना करने तुल्य अपराध है। द्रव्य परम्पराओं द्वारा धर्म के वास्तविक मूल आगमिक स्वरूप में प्रविष्ट की गई विकृतियों को आगम वचन तुल्य ही सर्वमान्य एवं प्रामाणिक ठहराने के लक्ष्य से द्रव्य परम्पराओं के सूत्रधारों ने निर्युक्तियों, भाष्यों, वृत्तियों एवं चूर्णियों को आगमों के समकक्ष प्रामाणिक सिद्ध करने के उद्देश्य से पंचांगी की कल्पना की है। आगमों में द्वादशांगी, एकादशांगी का उल्लेख तो दृष्टिगोचर होता है किन्तु पंचांगी के नाम का कोई संकेत तक भी उपलब्ध नहीं होता।

लोंकाशाह ने निर्युक्तियों, भाष्यों, वृत्तियों और चूर्णियों को अमान्य घोषित करने के साथ-साथ पंचांगी नाम को भी अमान्य घोषित किया। द्रव्य परम्पराओं का अस्तित्व तो वस्तुतः पंचांगी पर ही निर्भर करता है। निर्युक्तियां आदि तो उन्हें आगमों से भी अधिक प्रिय हैं, इसी कारण उन्होंने जान-बूझकर लोंकाशाह के विरुद्ध यह निराधार मिथ्या प्रचार किया कि लुंका शास्त्रों को नहीं मानता।

जहां तक दान को मानने न मानने का प्रश्न है लोंकाशाह ने द्रव्य परम्पराओं द्वारा अपनी बाड़ेबन्दी के दुर्लक्ष्य से प्रतिष्ठा पद महोत्सवादि अवसरों पर प्रभावना के नाम पर स्वर्ण मुद्राएं, रौप्य मुद्राएं आदि लोगों को दान में देना अथवा बांटना प्रारम्भ किया तो इस प्रकार के दान का लोंकाशाह ने विरोध किया।

जहां तक सामायिक और पौषध का प्रश्न है लोंकाशाह ने कभी कहीं इनका निषेध नहीं किया। लोंकाशाह के लगभग समसामयिक कडुवाशाह ने "वि० सं० १५३९ में, नाइलाई (नाडोलाई) नामक नगर में लोंकाशाह के अनुयायी लोंका-

गच्छीय आचार्य ऋषि भाणा के साथ वाद किया और शास्त्रानुसार प्रतिमा को प्रमाणित किया और लुंकों के १५० घर अपने मत (कडुवामत) में किये।"[1] इस प्रकार का उल्लेख कडुवा मत की पट्टावली में उपलब्ध है। कडुवाशाह सामायिक और पौषध के प्रबल समर्थक थे। यदि लोंकाशाह ने कभी कहीं सामायिक पौषध का किंचित्मात्र भी विरोध किया होता तो कडुवाशाह इस विषय पर भी ऋषि भाणा से शास्त्रार्थ करते और उस संबंध में उनकी पट्टावली में एतद्विषयक उल्लेख अवश्यमेव होता।

कडुवाशाह के विद्वान् शिष्य रामाकर्णवेधी ने ३२९ पत्रों (६५७ पृष्ठों) के "लुम्पक वृद्ध हुंडी" नामक वृहदाकार ग्रन्थ की रचना की। उसमें लोंकाशाह की मूर्तिपूजा विषयक मान्यता का वड़े विस्तार के साथ वर्णन है। किन्तु उस पूरे ग्रंथ में एक भी ऐसा शब्द नहीं है जिससे इस बात का संकेत तक भी मिलता हो कि लोंकाशाह ने कभी सामायिक प्रतिक्रमण और पौषध जैसी पवित्र धर्म क्रिया का विरोध किया हो।

तपागच्छ आदि अनेक गच्छों की पट्टावलियों में भी केवल यही उल्लेख है "तदानीं च लुंकाख्याल्लेखकात् वि० अष्टाधिक पंचदशशत् १५०८ वर्षे जिन प्रतिमोत्थापनपरं लुंकामतं प्रवृत्तम्।[2] इन उल्लेखों से भी यही प्रमाणित होता है कि लोंकाशाह ने सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध और दान का कभी विरोध नहीं किया। लोंकाशाह की लोकप्रियता से क्षुब्ध एवं खिन्न-नितान्त अनुत्तरदायी लेखकों ने धर्मप्राण लोंकाशाह के प्रति धर्मनिष्ठ लोगों की प्रगाढ़ श्रद्धा को ठेस पहुंचाने की दुर्भावना से ही लोंकाशाह के विरुद्ध इस प्रकार का निराधार एवं एकदम झूठा प्रचार किया है।

"लोंकाशाह अने धर्म चर्चा" नामक लघीयसी कृति के लेखक ने विना किसी प्रकार की खोज अथवा छानवीन के ही इस लोक की तीन महती विडम्वनाओं में से "खण्ड खण्डेनु पाण्डित्यम्" इस प्रथम विडम्वना का आश्रय लेकर लिख दिया है कि—५८ वोल लोंकाशाह की रचना नहीं अपितु धर्मसिंहजी की रचना है। उन्हें विक्रम सं० १५६४ में क्रियोद्धार करने वाले पार्श्वचन्द्रसूरि की कृति "लुंका ना पूछेला तेर प्रश्न अने तेना उत्तरो" के पश्चात् उन्हीं के द्वारा वि० सं० १५७४ में निर्मित "स्थापना पंचाशिका" और वि० सं० १५७५ में पाटण संघ और सभी गच्छों को लिखे गये "उत्सूत्र तिरस्कार नामा—विचार पटः" शीर्षक वाले उनके वृहत् पत्र को पढ़ना चाहिए। ऐसा करने पर उन्हें स्वतः ही अपनी शंका का पूर्णतः समाधान प्राप्त हो जायगा। उन्हें पार्श्वचन्द्रसूरि द्वारा लिखित

---

१. कडुवामत-गच्छ की पट्टावली, पट्टावली पराग संग्रह, पृष्ठ ४८३
२. पट्टावली समुच्चय, भाग १, पृष्ठ ६७

"उत्सूत्र तिरस्कार नामा-विचार पट:" को पढ़कर तो वस्तुत: बड़ा ही आश्चर्य होगा कि उसमें तत्कालीन श्रमणवर्ग द्वारा प्रतिदिन अपने आचरण में लाई गई अनागमिक एवं श्रमणत्व का समूलोच्छेद करने वाली दुष्प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में संघाध्यक्षों एवं गच्छाधिपतियों से जो प्रश्न किये हैं, उनकी शैली भी लोंकाशाह की ५८ बोल आदि ऐतिहासिक कृतियों की शैली के ही अनुरूप है।

इस प्रकार महान् धर्मोद्धारक एवं अभिनव धर्मक्रांति के सूत्रधार धर्मप्राण लोंकाशाह के विरुद्ध अनेक प्रकार के मिथ्या प्रचार एवं अनेक प्रकार के षड्यन्त्र किये गये किन्तु किसी प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियों में भी "सूर्य लम्बे समय तक बादलों में छुपा नहीं रह सकता" इस लोकोक्ति को चरितार्थ करती हुई उनके द्वारा अभिसूत्रित क्रान्ति का तीव्र प्रवाह जैन धर्म संघ में व्याप्त विभिन्न प्रकार की विकृतियों को साफ करता हुआ आगे की ओर बढ़ता ही गया। जिसके लिए जैन धर्मावलम्बी लोंकाशाह के प्रति सदा-सदा कृतज्ञ रहेंगे।

—०—

लोंकाशाह का जीवन परिचय

आध्यात्मिक जीवन

लोंकाशाह के, लोकमान्य महान् विभूतियों, अनुपम अध्यात्मयोगी महान् आत्माओं के तुल्य नितान्त निर्भीक, अमित ओजस्वी, शरद् पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्र की दुग्ध-धवला चन्द्रिका के समान शीतल-स्वच्छ-अच्छ उदात्त जीवन-चरित्र पर चिन्तन करते समय ऐसा आभास होता है कि जिस अदृष्ट-अमूर्त-दिव्य शक्ति को अपने अन्तःकरण में अवस्थित कर मुमुक्षु जन युगादि से ही प्रार्थना करते आ रहे हैं—"असतो मां सद्गमय, तमसो मां ज्योतिर्गमयः", वही अदृष्ट-अमूर्त-दिव्य शक्ति मूर्त रूप धारण कर लोंकाशाह में प्रकट हो गई थी। अनेक जन्म-जन्मान्तरों की अथक अनवरत साधना के अनन्तर जो अचिन्त्य अमित-अदृष्ट-अमूर्त दिव्य शक्ति लोंकाशाह में मूर्त रूप से प्रकट हुई उसी का प्रभाव और परिणाम था कि लोंकाशाह ने लगभग एक सहस्राब्दि से घोर असत् एवं अज्ञानान्ध तम के निविड़तम अन्धकार की ओर प्रवृत्त-उन्मुख आर्यधरा के जैन जगत् को श्रवण भगवान् द्वारा प्रदर्शित प्रकाश और सत्पथ की ओर अग्रसर किया। चतुर्विध जैन धर्म संघ में रूढ "गड्डरी-प्रवाह" को शार्दूलविक्रीडित में परिवर्तित एवं प्रवृत्त किया। लोंकाशाह ने तत्कालीन चतुर्विध जैन धर्म संघ की अस्थि-मज्जा और रोम-रोम में रची-पची, घुली-मिली एवं नस-नस में रमी हुई अनागमिक आडम्बरपूर्ण मिथ्या मान्यताओं—विविध विकृतियों-बुराइयों, श्रमण-श्रमणीवर्ग में व्याप्त सार्वत्रिक शिथिलाचार तथा असाधुजनोचित प्रवृत्तियों और धर्म के मूल आगमिक विशुद्ध स्वरूप में समय-समय पर स्वार्थलोलुप द्रव्य परम्पराओं के सूत्रधारों द्वारा प्रविष्ट कराई गई विकृतियों को मूलतः विनिष्ट कर देने के सदुद्देश्य से, धर्मोद्धार के पुनीत लक्ष्य से एक सशक्त धर्मक्रान्ति का सूत्रपात्र किया। अध्यात्म प्रधान धर्म के विशुद्ध स्वरूप पर निहित स्वार्थ द्रव्य परम्पराओं के जन्मदाताओं द्वारा छा दिये गये बाह्याडम्बर एवं अधर्मपूर्ण भौतिकता प्रधान कर्मकाण्डों, विधि-विधानों के घटाटोप तुल्य आवरण-अम्बारों को धर्मक्रान्ति के प्रचण्ड पवन से उड़ाकर छिन्न-भिन्न कर धर्मोद्धारक लोंकाशाह ने जैन जगत् के जन-जन को जिन प्ररूपित जैन धर्म के वास्तविक स्वरूप का दर्शन कराया। उन्होंने बिना किसी प्रकार के नये मत का सूत्रपात किये, अपनी ओर से एक भी नयी बात अथवा नया शब्द न कह कर केवल सर्वज्ञ-सर्वदर्शी श्रमण भगवान् महावीर द्वारा विश्व के प्राणिमात्र के कल्याणार्थ संसार के समक्ष प्रकट किये गये धर्म के विशुद्ध स्वरूप का गणधरों द्वारा ग्रथित तथा चतुर्दशपूर्वधरों

अथवा दशपूर्वधरों द्वारा द्वादशांगी से निर्यूढ़ आगमों के मूल पाठ के माध्यम से जन-जन को दिग्दर्शन कराया। आगमों में प्रतिपादित विश्वकल्याण के, स्व तथा पर के लिए सर्वथा निश्रेयसकारी मुक्ति के पथ से भटके हुए जैन धर्मावलम्बियों को, तत्कालीन जैन संघ के कर्णधार बने धर्माध्यक्षों को, सूत्रों के मूल पाठ उनके समक्ष प्रस्तुत करते हुए विनम्र शब्दों में यही कहा कि धर्मतीर्थ के प्रवर्तक श्रमण भगवान महावीर ने तो आत्मकल्याण का, स्व-पर कल्याण का, भयावहा भवाटवी से बाहर निकलने का, अनन्तानन्त दारुण दुःखों से ओतप्रोत संसार-सागर को पार करने का इस सूत्र में यह पथ प्रदर्शित किया है, यह मार्ग बताया है। चतुर्विध संघ के आप सदस्यगण सर्वज्ञ-सर्वदर्शी प्रभु द्वारा प्रदर्शित पथ से भिन्न पथ पर विपरीत दिशा में उन्मार्ग पर चल कर कहां पहुंचने का प्रयास कर रहे हैं ? आज आप जिस पथ पर अग्रसर हो रहे हो त्वरित गति से बढ़े चले जा रहे हो, वह मार्ग तो पाताल में गिराने वाला—रसातल में पहुंचाने वाला है। "डाह्या होइ विचारी जोज्यो" अर्थात् विवेक का उपयोग कर सावधान हो विचारो-देखो और तत्पश्चात् निर्णय करो कि आपको जगद् के बन्धु विश्व हितंकर तीर्थंकर प्रभु द्वारा प्रदर्शित विश्वकल्याणकारी-स्व-पर हितकारी पथ पर अग्रसर होना है अथवा सातशीलत्व के वशीभूत स्वार्थान्ध बने शिथिलाचारी द्रव्योपार्जनरत द्रव्य परम्पराओं के कर्णधारों के चरण-चिन्हों का अनुगमन करते हुए घोर अन्धकारपूर्ण रसातल में पहुंचाने वाले मार्ग पर; **इन दोनों मार्गों में से एक मार्ग, चतुर बन कर चुनो** बस यही तो कहा लोंकाशाह ने। इससे अधिक कुछ कहा हो, हठाग्रह किया हो, किसी का हाथ पकड़ कर उसे कुपथ पर न बढ़ने के लिए वर्ष, मास, दिवस की बात तो दूर निमेशार्द्ध के लिए भी रोक रखा हो तो, कोई एक उदाहरण ही बता दीजिए। बस इसके लिए लोंकाशाह को—लुम्पक, लुंगा, धर्म लोपक आदि अशोभनीय सम्बोधनों से सम्बोधित किया गया और लोंकाशाह के माता-पिता तक पर कीचड़ उछाल कर संसार के समक्ष अपना नितान्त निम्नस्तरीय चित्र प्रकट कर दिया।

कृष्ण द्वैपायन वेद व्यास ने भी तो अनेक सहस्र वर्ष पूर्व यही कहा था :—

अष्टादश पुराणेषु, व्यासस्य वचनं द्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय पर पीड़नम् ।।

श्री वेदव्यास ने तो स्वयं द्वारा निर्मित १८ पुराणों का सार प्रकट करते हुए उपर्युक्त श्लोक के माध्यम से संसार के समक्ष अपना यह अभिमत प्रकट किया था कि यदि कोई व्यक्ति जन्म-मरण के महापाश से विमुक्त हो सच्चिदानन्दघन स्वरूप को, "यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धामं परमं मम," उस परमधाम मोक्षधाम को प्राप्त करना चाहता है तो दूसरों का भला करे, संसार के प्राणिमात्र के प्राणों की रक्षा करे और इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति अनन्त-अनन्तकाल तक भयावहा भवाटवी में, नरक पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि योनियों में भटकते रहने का इच्छुक

है तो वह संसारी जीवों को पीड़ा पहुंचाकर, प्राणियों की हिंसा कर उस घोर पाप का अर्जन करे जो दारुण दुःखों की निधान विविध योनियों में प्राणी को भटकाने वाला है ।

पर लोंकाशाह ने तो पवित्र जैनागमों में गणधरों द्वारा निबद्ध वीतराग वाणी को ही अक्षरशः दोहराते हुए जैन जगत् के जन-जन के समक्ष सर्वज्ञ-सर्वदर्शी श्रमण भगवान महावीर के संदेश को रखा—"किसी भी प्राणी की, किसी भी जीव की, किसी भी दशा में कभी हिंसा न की जाय, उसे किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुंचाया जाय, यही सच्चा, शुद्ध और शाश्वत धर्म है । यदि कोई व्यक्ति स्वयं के अथवा अपने आश्रितों के परिपोषण के लिये, मान-सम्मान, प्रतिष्ठा के लिए और यहां तक कि जन्म-जरा-मृत्यु से छुटकारा पाने स्वरूप मोक्ष पद की प्राप्ति के लिए भी पृथ्वी, अप, तेज, वायु और वनस्पति इन पांच स्थावरकाय के एकेन्दिय जीव की भी हिंसा करता है, उसे किसी प्रकार का कष्ट पहुंचाता है तो वहपाप उसके लिये अहितकर है, वह कभी वोधि (सम्यक्त्व-सम्यग् ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग् चारित्र रूपी रत्नत्रयी) प्राप्त नहीं कर सकता और उस पाप के परिणामस्वरूप अनन्त-काल तक दुस्सह्य दारुण दुःखों को भोगता हुआ संसार में भटकता रहता है । सुस्पष्ट शब्दों में इस प्रकार फरमाते समय श्रमण भगवान महावीर ने सम्पूर्ण आगमों में कहीं पर भी यह नहीं कहा कि यदि धर्म कार्य के निष्पादन के लिए पंच स्थावरकाय में से किसी भी प्राणी की हिंसा की जाय तो उस प्रकार की हिंसा "हिंसा" की गणना अथवा कोटि में नहीं आवेगी ।"

इसी प्रकार के धर्म के सच्चे स्वरूप को प्रकट करने वाले और विश्व-कल्याणकारी जैन धर्म के शाश्वत सत्य विशुद्ध स्वरूप में किसी भी प्रकार के विकार के प्रवेश का कोई भी अवकाश अवशिष्ट न रखने वाले, तीर्थंकर प्रभु महावीर के आगमों में निवद्ध प्राणिमात्र के लिये हितकारी वहुत से संदेशों को चतुर्विध जैन संघ के सभी सदस्यों के समक्ष वर्तमान में उपलब्ध १३ आगमिक प्रश्नों, ३४ वोलों, ५८ वोलों और परम्परा विपयक ५४ प्रश्नों तथा साम्प्रत काल में अनुपलब्ध किन्तु रामा कर्ण वेधी को ३२६ पृष्ठों की वृहदाकार "लुम्पक वृहद् हुण्डी" नामक रचना में संकेत रूपेण सूचित अपनी संभावित अन्यान्य कृतियों एवं अनुमानित अमित उपदेशों के माध्यम से लोंकाशाह ने रखा ।

तपागच्छ आदि अनेक गच्छों की पट्टावलियों में उपलब्ध प्रतिमोत्थापक मत की स्थापना विपयक उल्लेखों से यह तो निर्विवाद रूपेण सिद्ध हो जाता है कि लोंकाशाह ने जैन धर्म के मूल विशुद्ध आगमिक स्वरूप में शताब्दियों पूर्व प्रविष्ट कराये गये विकारों को दूर करने के लक्ष्य से विक्रम संवत् १५०८ में एक अभियान प्रारम्भ कर दिया था, धर्मोद्धार हेतु एक शीत क्रांति का सूत्रपात कर दिया था । इसी ग्रन्थमाला में प्रस्तुत किये जा रहे चतुर्थ भाग के ६४२ से ६४६ पृष्ठों पर छपे

"लुँकामत प्रतिबोध कुलक" से यह तथ्य भी प्रकाश में आता है कि वि० सं० १५३० तक अथवा इससे पूर्व ही पंन्यास पद विभूषित हर्ष-कीर्ति जैसे विद्वान् श्रमणाग्रणी भी अपने शिष्य परिवार के साथ अपनी-अपनी शिथिलाचार परायण श्रमण परम्पराओं का अथवा गच्छों का परित्याग कर लोंकाशाह द्वारा पुनः प्रकाश में लाये गये विशुद्ध आगमिक पथ के पथिक बन गये थे और लोंकाशाह द्वारा अभिसूत्रित की गई अभिनव शीत धर्मक्रान्ति के अग्रदूत अथवा संदेशवाहक के रूप में लोंकाशाह के अभिनव आगमिक संदेश को जन-जन तक पहुंचाने में सर्वात्मना-सर्वभावेन संलग्न हो चुके थे।

कडुवामत-गच्छ की पट्टावली इस सम्बन्ध में एक बड़े ही आश्चर्यकारी नवीन तथ्य का उद्घाटन करती है। कडुवामत पट्टावली के उल्लेखानुसार कडुवाशाह नामक एक किशोर आगमिक पंन्यास हरिकीर्ति के पास रूपपुरा-अहमदावाद की एक शून्य शाला में पहुँचा। पं० हरिकीर्ति शुद्ध प्ररूपक संवेग पक्षीय साधु थे। कडुवाशाह ने पं० हरिकीर्ति को अपना परिचय देते हुए प्रार्थना की कि कृपा कर वे उसे श्रमण धर्म की दीक्षा प्रदान करें। पं० हरिकीर्ति ने सोचा--मैं अगर इसको योग्य मार्ग न दिखाऊँगा तो यह किसी कपटी कुगुरु के जाल में फंस जायेगा, उन्होंने कडुवा से कहा—"प्रथम, दशवैकालिक के ४ अध्ययन पढ़ने से ही दीक्षा पाली जा सकती है, इस वास्ते तुम दशवैकालिक के ४ अध्ययन पढ़ो।" उसने स्वीकार किया और पं० हरिकीर्ति के पास दशवैकालिक के चार अध्ययन अर्थ के साथ पढ़े। चार अध्ययन पढ़ने के बाद कडुआ ने उन्हें पूछा—"पूज्य ! सिद्धान्त मार्ग तो इस प्रकार का है, तब आजकल साधु इस मार्ग के अनुसार क्यों नहीं चलते ? हरिकीर्ति ने कहा—"अभी तुम पढ़ो और सुनो, बाद में सिद्धान्त की चर्चा में उतरना।" महता कडुवा ने पंन्यास के पास सारस्वत व्याकरण, काव्य शास्त्र, छन्द शास्त्र, चिन्तामणि प्रमुख वादशास्त्र पढ़े और आचारांग आदि सूत्रों के अर्थ सुनकर वे प्रवीण हुए। बाद में पंन्यास हरिकीर्ति ने कडुवा को कहा—"हे वत्स ! आचारांग आदि सूत्रों में जो साधु का आचार लिखा है वह आज के साधुओं में देखा नहीं जाता, आज के सर्व यति पूजा-प्रतिष्ठा कल्पित दान आदि कार्यों में लगे हुये हैं, जिन मन्दिरों के रक्षक बने हुए हैं, क्योंकि वर्तमान में दसवां अच्छेरा (आश्चर्य) चल रहा है, यह कह कर उसने "ठाणांग" सूत्र की आश्चर्य प्रतिपादक गाथाएं, संघ पट्टक की गाथाएं और "षष्टिशतक प्रकरण" की गाथाएं सुनाकर वर्तमानकालीन साधुओं की आचार हीनता का वर्णन किया और उसकी श्रद्धा कुण्ठित करने के लिये हरिकीर्ति ने पिछले समय में जैन श्रमणों में होने वाली धड़ाबन्दियों का विवरण सुनाया। उन्होंने कहा—"११५९ में पौर्णमिक, १२०४ में खरतर, १२१३ में अचल, १२३६ में सार्द्ध पौर्णमिक, १२५० में त्रिस्तुतिक, १२८५ में तपा अपने-अपने आग्रह से उत्पन्न हुए। १५०८ में लुंका ने अपने आग्रह से मत चलाया। अब तुम ही कहो कि इन नये गच्छ प्रवर्तकों में से किसको युगप्रधान कहना और किसको

नहीं। इस समय शास्त्रोक्त चतुष्पर्वी की आम्नाय भी दिखती नहीं। जहां युग प्रधान होगा, वहां उक्त सभी बातें एक रूप में ही होंगी। इसलिये तुम श्री युग प्रधान का ध्यान करते हुए श्रावक के वेश में "संवरी" बन कर रहो, जिससे तुम्हारी आत्मा का कल्याण हो।"

"शाह कडुवा ने जैन सिद्धान्तों की बातें सुनी थीं, उसको हरिकीर्ति की बात ठीक जंची। वह साधुता की भावना वाला प्रासुक जल पीता, अचित आहार करता, अपने निमित्त नहीं बनाया हुआ विशुद्ध आहार श्रावक के घर से लेता। ब्रह्मचर्य का पालन करता, १२ व्रत धारण करता, किसी पर ममता न रखता हुआ पृथ्वी पर विचरने लगा।"

"कडुवाशाह ने सर्वप्रथम पाटण में लीम्बा महता को प्रतिबोध दिया। संवत् १५२४ में शाह मेहता लीम्बा ने शाह कडुवा को विरागी जानकर अपने घर भोजनार्थ बुलाया..........। लीम्बा जैन धर्म का श्रद्धालु बन गया"[1]

"संवत् १५२५ में वीरम गांव में ३०० घर अपने मत में लिये, संवत् १५२६ में संलक्खपुर में चातुर्मास्य कर....१५० घर अपने मत में लिये। सं० १५२६ में अहमदाबाद में....७०० घर अपने मत में किये। सं० १५२६ में खम्भात में....५०० घर, सं० १५३० में माडल में........५०० घर,........सं० १५३३ में चांपानेर में ३०० ....तथा कराद में ६०० घर अपने मत में लिये। सं० १५३६ से १५३८ तक क्रमशः राधनपुर, मोरवाड़ा में चातुर्मास कर सोदू गांव आदि में अपना मत फैलाया तथा सं० १५३८ में सर्वत्र विहार किया। सं० १५३६ में नाडोलाई में ऋषि भाणा (लोंकामती) के साथ वाद किया और शास्त्रानुसार प्रतिमा को प्रमाणित किया और लुंका के १५० घर अपने मत में लिये। सं० १५४० में पाटन में चातुर्मास किया और ६०० घर कडुवा के समवाय में हुए।"[2]

शाह श्री कडुवा १६ वर्ष गृहस्थ रूप में रहे, १० वर्ष सामान्य संवरी के रूप में रहे, ४० वर्ष तक (वि० सं० १५२४ से १५६४ तक) अपने समवाय के पट्टधर के रूप में रहकर ६६ वर्ष की उम्र में (वि० सं० १५६४ में) परलोकवासी हुए।[3]

यद्यपि कडुवा मत पट्टावली में यह तो स्पष्ट उल्लेख है कि कडुवा शाह ने सारस्वत व्याकरण से लेकर आगमों और वाद शास्त्रों का अध्ययन पं० हरिकीर्ति के पास अहमदाबाद के रूपपुरा मोहल्ला की शून्य शाला में रहकर किया किन्तु इस प्रकार का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि उन्होंने किस संवत् में पंन्यास हरि-

---

१. कड़वा-मत गच्छ की पट्टावली, पट्टावली पराग संग्रह, पृष्ठ–४८२

२. कडुवा–मत गच्छ पट्टावली, पट्टावली पराग संग्रह, पृ० ४८३

३. वही, पृष्ठ ४८३

कीर्ति के पास पढ़ना प्रारम्भ किया और किस सम्वत् में पंन्यास हरिकीर्ति ने उनसे यह प्रश्न किया कि लोंकाशाह आदि में से किसको युगप्रधान माना जाय। इसके उपरान्त भी पट्टावली में उल्लिखित कडुवाशाह के जन्म, गृहस्थवास, सामान्य संवरीकाल, पट्टधर काल और उनके परलोक गमन की तिथि आदि तथ्यों से सहज ही यह निर्णय किया जा सकता है कि वे किस संवत् से किस संवत तक पंन्यास हरिकीर्ति के पास व्याकरण, छन्द शास्त्र, वाद शास्त्र और आगमों का अध्ययन करते रहे और किस संवत् में पंन्यास हरिकीर्ति ने उनसे यह प्रश्न करने के पश्चात् कि लोंकाशाह आदि में से किसको युगप्रधान माना जाय, उन्हें श्रावक के वेश में "संवरी" बने रह कर आत्म कल्याण करते रहने का परामर्श दिया गया।

कडुवाशाह का जन्म नाडोलाई गांव में बीसा नागर जातीय ब्राह्मण कानजी महता की धर्मपत्नी की कुक्षि से वि० सं० १४९५ में हुआ। आठ वर्ष की वय होते ही बालक कडुवा मेहता हरिहर के पद बनाने लग गया था।[1] संयोगवशात् अंचल गच्छ के एक श्रावक के माध्यम से बालक कडुवाशाह अंचल गच्छ के श्रमणों के सम्पर्क में आया। कडुवा जैन धर्म के विश्वकल्याणकारी सिद्धान्तों की ओर आकर्षित हुआ और पूर्व जन्म के संस्कारों के परिणामस्वरूप वह संसार से विरक्त हो गया। उसने माता-पिता से अनुरोध किया कि वे उसे श्रमण धर्म में दीक्षित होने की आज्ञा प्रदान करें।

अपने पुत्र के इस प्रस्ताव से ब्राह्मण दम्पत्ति बड़े खिन्न एवं रुष्ट हुए। सतत् अनुरोध के उपरान्त भी बालक कडुवा को श्रमण धर्म में दीक्षित होने की अपने माता-पिता से अनुज्ञा नहीं मिली तो दीक्षा ग्रहण करने की धुन में वह एक दिन घर छोड़कर इधर-उधर घूमता हुआ अहमदाबाद पहुँचा और रूपपुरा की शून्यशाला में उपस्थित हुआ। उस समय बालक कडुवाशाह की आयु लगभग १३ वर्ष की अनुमानित की जा सकती है। इस अनुमान के आधार पर यह कहना युक्ति संगत ही होगा कि कडुवाशाह ने वि. सं. १५०७ से १५०८ के बीच किसी समय पंन्यास हरिकीर्ति के पास उपस्थित होकर व्याकरण, छन्द शास्त्र न्याय एवं आगमों का अध्ययन प्रारम्भ किया। इन सब विद्याओं एवं आगमों का ज्ञानोपार्जन कर पारंगत होने में सुतीक्ष्ण बुद्धिशाली एवं प्रतिभासम्पन्न कडुवाशाह को कम से कम ६–७ वर्ष का समय तो अवश्य ही लगा होगा। इस प्रकार विक्रम संवत् १५१४ के आस-पास अपना अध्ययन सम्पन्न हो जाने के पश्चात् अपने गुरु पंन्यास हरिकीर्ति से पंचमहाव्रतों की श्रमण दीक्षा प्रदान करने की प्रार्थना की होगी। उसी समय वि. सं. १५१४ में पंन्यास हरिकीर्ति ने कडुवाशाह से प्रश्न किया होगा कि पौर्णमिक, खरतर, अंचल, सार्द्ध पौर्णमिक त्रिस्तुतिक तथा तपागच्छ के आचार्यों और वि. सं. १५०८ में अपने आग्रह से नया मत चलाने वाले लोंकाशाह में से किस को

---

१. कडुवा-मत गच्छ पट्टावली, पट्टावली पराग संग्रह, पृ० ४८० ।

युग प्रधान माना जाय। १५१४ से १५२४ तक कडुवा सामान्य संवरी रहा और १५२४ से सं. १५६४ तक कडुवा मत का आचार्य रहा।

ऐतिहासिक दृष्टि से कडुवा मत की पट्टावली का यह उल्लेख बड़ा ही महत्वपूर्ण है। इससे निर्विवाद रूपेण यह सिद्ध हो जाता है कि वि. सं. १५१४ से पहले ही लोंकाशाह द्वारा प्रारम्भ की गई शान्त धर्मक्रान्ति सफल हो चुकी थी। लोंकाशाह द्वारा पुनः प्रकाश में लाये गये जैनागमों में प्रतिपादित जैन धर्म के मूल स्वरूप को मानने वालों की संख्या इतनी बढ़ चुकी थी अथवा इतनी द्रुतगति से बढ़ती चली जा रही थी कि उसके बढ़ते हुए वेग को देखकर प्रायः अन्यान्य सभी गच्छों के अधिनायक अपने-अपने गच्छ के अस्तित्व को संकटापन्न स्थिति में अनुभव करने लग गये थे।

"पौर्णमिक आदि उपर्युक्त पांच गच्छों के आचार्यों और लुंका में से अर्थात् इन लुंका आदि छः में से किसको युगप्रधानाचार्य माना जाय ?" पंन्यास हरिकीर्ति द्वारा कडुवाशाह से किया गया यह प्रश्न जहां एक ओर लोंकाशाह और उनके अनुयायियों की लोकप्रिय संगठित शक्ति की ओर संकेत करता है, वहीं दूसरी ओर सत्यान्वेषी शोधप्रिय विद्वानों का इस दिशा में गहन खोज के लिए भी आह्वान करता है कि क्या वि. सं. १५१४ से पहले वे श्रमण धर्म में दीक्षित भी हो चुके थे। क्योंकि हरिकीर्ति के प्रश्न में प्रयुक्त "युग प्रधान" शब्द परोक्षापरोक्ष रूप से उनके मुनि होने का संकेत इस दृष्टिकोण से करता है। जैन परम्परा में युग प्रधान पद के लिये केवल श्रमण धर्म में दीक्षित विद्वान का नाम ही लिया जा सकता है। आशा है शोधप्रिय विद्वान इस विषय में गहन खोज का प्रयास करेंगे।

पंन्यास हरिकीर्ति अपने समय के विश्रुत आगम मर्मज्ञ, वयोवृद्ध एवं बड़े ही निस्पृह श्रमणोत्तम थे। उन्होंने कडुवाशाह जैसे प्रतिभा सम्पन्न मेधावी विरक्तात्मा सर्वथा सुयोग्य शिक्षार्थी को, उसके द्वारा किये गये अनुरोध के उपरान्त भी शिष्यलोभ का संवरण कर, पढ़ा-लिखा कर अधिकारिक विद्वान् बना देने के अनन्तर भी, शिष्य के रूप में श्रमण धर्म में दीक्षित नहीं किया। उसे जीवनभर श्रावक के वेश में संवरी बने रहने का ही परामर्श दिया। इससे उनकी महानता प्रकट होती है। इस प्रकार की स्थिति में पंन्यास हरिकीर्ति के इस कथन में किसी प्रकार के संशय के लिए कोई किंचित्मात्र भी अवकाश नहीं रह जाता कि विक्रम सं० १५१४ में लोंकाशाह द्वारा पुनः प्रकाश में लाये गये विशुद्ध मूल जैन धर्म के अनुयायियों का संगठन एक बड़ा ही शक्तिशाली संगठन बन गया था, जिसे कि लोंकाशाह के जीवनकाल में विरोधियों ने द्वेषवश लुम्पक मत, लुंगा गच्छ और कालान्तर में सम्भवतः उनके स्वर्ग गमन के पश्चात् उनके अनुयायियों ने ही लोंकाशाह की स्मृति को चिरस्थायी बनाये रखने के लिये लोंकागच्छ नाम प्रदान किया।

कडुवामत की पट्टावली के उपर्युद्धृत उल्लेख से, लुंकामत कुलक में निहित विवरण से और तपागच्छ लोंकागच्छ आदि अनेक पट्टावलियों के इस प्रकार के उल्लेखों से कि वि० सं० १५०८ में लुंका लोंकाशाह से लुंकामत प्रचलित हुआ, उन सभी पट्टावलियों और विद्वानों की कृतियों के वे विवरण नितान्त निराधार एवं असत्य सिद्ध होते हैं, जिनमें उल्लेख है कि वि० सं० १५२७, १५२८ अथवा १५३० में लोंकाशाह ने शास्त्रों का लेखन प्रारम्भ किया और वि० सं० १५३१ में लुंकामत प्रचलित हुआ। वस्तुतः इस प्रकार का उल्लेख करने वाले लोंकागच्छीय पट्टावली-कारों के सिर पर भस्मग्रह का भूत सवार रहा। लुंकागच्छ के विद्वानों से भिन्न अन्य विद्वानों के पास इस प्रकार का उल्लेख करने के पीछे अन्धानुकरण के अतिरिक्त अन्य कोई आधार नहीं था। इस प्रकार की सुस्पष्ट स्थिति में भविष्य में लोंकाशाह के जीवन-चरित्र पर और लोंकागच्छ के परिचय पर लेखनी चलाते समय इस बात का ध्यान रखना परमावश्यक हो जायगा कि वे इस प्रकार के तथ्य-विहीन निराधार उल्लेखों को किसी प्रकार का महत्व न दें।

लोंकाशाह ने वि० स० १५०८ में एकमात्र इसी उद्देश्य से परम शान्त धर्मक्रान्ति का सूत्रपात किया कि विश्वकल्याणकारी जैन धर्म के मूल स्वरूप में वीर निर्वाण सं० १००० के पश्चात् जो बुराइयां प्रविष्ट करा दी गईं थीं चतुर्विध धर्म संघ में धर्म के नाम पर दोषपूर्ण प्रवृत्तियों, आडम्बरपूर्ण ऐसे अनुष्ठानों का प्रचलन हो गया था जिनसे पृथ्वी, अप, तेजस, वायु और वनस्पतिकाय के एकेन्द्रिय (स्थावर) प्राणियों की और इन पांचों स्थावरकाय के आरम्भ समारम्भ से स्थावरकाय के आश्रित त्रसजीवों की हिंसा, विराधना, अवश्यम्भावी है, इस प्रकार की बुराइयों को सदोष प्रवृत्तियों को समाप्त किया जाय। लोंकाशाह द्वारा प्रारम्भ की गई वह धर्म क्रांति स्वल्पकाल में ही सफल हुई। लोंकाशाह द्वारा प्रदर्शित उस विशुद्ध एवं मूल आगमिक प्रशस्त पथ के अनुयायियों की संख्या लाखों से ऊपर पहुंच गई किन्तु लोंकाशाह ने किसी गच्छ अथवा मत की स्थापना नहीं की। उन्हें विश्वास था कि उस शान्त धर्मक्रान्ति से सम्पूर्ण चतुर्विध संघ के मानस में एक व्यापक परिवर्तन आयेगा। उस मानसिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप एक न एक दिन सम्पूर्ण जैन संघ साम्प्रदायिक अभिनिवेश, गच्छव्यामोह से पूर्णतः विमुक्त हो तीर्थ प्रवर्तनकाल में श्रमण भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित और गणधरों द्वारा आगमों में प्रतिपादित धर्म के विशुद्ध स्वरूप को मानने लग जायगा। उनकी आशा के अनुरूप हर्षकीर्ति प्रमुख पंन्यास पद विभूषित विद्वान् श्रमणोत्तम, अनेक अज्ञात नामा श्रमण तथा लाखों श्रावक-श्राविकागण दोषपूर्ण प्रवृत्तियों का, अपने-अपने परिग्रह लोलुप शिथिलाचारोन्मुखी गच्छों का परित्याग कर आगम प्रतिपादित विशुद्ध-निर्दोष विकृति-विहीन धर्म पथ के पथिक बन गये। किसी नये गच्छ की, नये संगठन की स्थापना करना वस्तुतः पहले से ही बहुत बड़ी संख्या में विद्यमान गच्छों की संख्या में वृद्धि करने और संघ में व्याप्त विभेद को और बढ़ाने तुल्य होगा, इसी विचार

से लोंकाशाह ने लोगों के पूछने पर स्वयं को और अपने आप को जैन अथवा जिनमती की संज्ञा से ही अभिहित किया। जिन शिथिलाचारपरायण लोगों के द्रव्यार्जन में, परिग्रह बढ़ाने में इस शान्त दान्त धर्मक्रान्ति के व्यापक प्रसार के परिणामस्वरूप बाधा पहुंची थी, उन लोगों ने लोंकाशाह द्वारा विशुद्ध आगमिक धर्म पथ पर आरूढ़ किये गये उन जिनमती जैनों के समूह को लुंपक गच्छ अथवा लुंकागच्छ के नाम से अभिहित करना प्रारम्भ किया।

लोंकाशाह का एवं लोंकाशाह द्वारा शुभाशय से आरब्ध शान्तिपूर्ण क्रान्ति का जैन धर्म के महान् सिद्धान्तों के प्रति, जिनेश्वर के प्रति और जिनेश्वर द्वारा प्रदर्शित एवं गणधरों द्वारा आगमों में निबद्ध विश्वहितैषी जैन धर्म के प्रति प्रगाढ़ आस्था रखने वाले प्रत्येक जैन ने अगाध आह्लादपूर्ण अन्तर्मन से स्वागत किया। षड्जीव निकाय के जीवों ने विशेषत: पांच स्थावर निकाय के जीवों ने, जिनका कि शताब्दियों से धर्म के नाम पर अन्धाधुन्ध संहार होता चला आ रहा था और जिसे समाप्त करने के उद्देश्य से लोंकाशाह ने दयाद्रवित हो धर्मक्रान्ति का सूत्रपात किया था, लोंकाशाह के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हुए उन्हें मूक मुद्रा में अनेकानेक शुभाशीर्वाद दिये। जिन शिथिलाचारपरायण और परिग्रह के अम्बार में आनख शिख धंसे नामधारी श्रमणों की सुख-सुविधा में, पूजा-प्रतिष्ठा में लोंकाशाह के उपदेशों से कमी आई, उन्होंने लोंकाशाह को पानी पी-पीकर कोसा, उन पर असभ्यतापूर्ण अपशब्दों की झड़ी सी लगा दी। लोंकाशाह के विरुद्ध विविध प्रकार के षड़यन्त्र किये। किन्तु अमित आत्मबली साहसपुञ्ज लोंकाशाह इससे कभी किंचित्मात्र भी विचलित नहीं हुए। वे तो गीता में वर्णित—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्ट:, स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

दु:खेष्वनुद्विग्नमना, सुखेषु विगत स्पृह:।
वीतरागभय: क्रोध:, स्थितधिर्मुनिरुच्यते ॥

य: सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता: ॥

स्थित प्रज्ञता को अपने अन्तर्मन में संजाये धर्मप्राण लोंकाशाह
कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा, ते संङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

इस वचन के अनुसार नितान्त निर्लिप्त-निस्संग भाव से महान् कर्मयोगी बने हुए विशुद्ध मूल आगमिक जिन प्ररूपित जैनधर्म के पथ पर जन-जन को आरूढ एवं अग्रसर करने में जीवनभर अहर्निश निरत रहे। "मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केणइ," यह जैनत्व का प्रतीक विश्वबन्धुत्व का भाव तो लोंकाशाह की

अस्थि-मज्जा में, रोम-रोम में ओत-प्रोत था। लोंकाशाह ने अपने अनुयायियों को भी अन्तिम श्वास तक बिना शत्रु मित्र का भेद किये जैनत्व के प्रतीक स्वरूप इस भाव पर अड़े रहने का, डटे रहने का उपदेश दिया। लोंकाशाह द्वारा अपने अनुयायियों के अन्तर्मन में ढाले गये इन विश्वबन्धुत्व के भावों का ही प्रतिफल था—अमिट प्रभाव था कि लोंकाशाह के स्वर्गस्थ हो चुकने के लगभग ६५ वर्ष पश्चात् भी वि० सं० १६३६ में लोंकाशाह के देवजी नामक अनुयायी ने तत्कालीन जिन शासन प्रभावक तपा गच्छ के ५८ वें गच्छाधिपति श्री हीरविजयसूरि को अपने यहां आश्रय देकर मुगलों से उनकी रक्षा की।[1]

ये सब तथ्य इस बात के द्योतक हैं कि लोंकाशाह का आध्यात्मिक जीवन अथाह सागर तुल्य गाम्भीर्य से ओतप्रोत और लोकाकाश की ऊंचाई तुल्य उच्च था। उनका स्थान देवर्द्धिगरिणक्षमाश्रमरण के स्वर्गारोहणान्तर जितने भी क्रियोद्धारक, धर्मोद्धारक हुए, उनमें सर्वोच्च था। लोंकाशाह ने विकट से विकट परिस्थितियों में भी सर्वज्ञ प्रणीत शाश्वत सत्य सिद्धान्तों को बलिवेदी पर चढ़ाकर असत्य के पक्षधरों के साथ समझौता नहीं किया। शाश्वत सत्य सिद्धान्तों की रक्षा के लिये निर्भीकता और साहस के साथ निरंतर जूझते रहने वाले सुदीर्घ अतीत में हुए कुवलय प्रभ नामक महान आचार्य से भी लोंकाशाह बहुत आगे बढ़ गये। अति पुरातन हुण्डावसर्पिणी काल में कुवलयप्रभ नाम के एक महान् क्रियानिष्ठ आचार्य हुए हैं। उनका आख्यान महा निशीथ में विद्यमान है। उनके समय में असंयत पूजा नामक दशम आश्चर्य के प्रबल प्रभाव के कारण चारों ओर शिथिलाचारी चैत्यवासियों का दौर दौरा था, प्राबल्य था। वे केवल नाम मात्र से ही श्रमण कहलाते थे। उनका आचार विचार शास्त्रों में प्रतिपादित श्रमणाचार से पूर्णतः प्रतिकूल था। वे चैत्य निर्माण, द्रव्य पूजा और आडम्बर पूर्ण अनुष्ठानों को ही मोक्ष प्रदायी वास्तविक धर्म मानते थे। भाव पूजा में उनका कोई विश्वास नहीं था। वे चैत्यों में नियत निवास करते, आरम्भ, समारम्भ में निरत रहते आधाकर्मी आहार करते और अपने पास द्रव्य रखते थे।

अप्रतिहत विहार करते हुए आचार्य कुवलयप्रभ एक समय उन चैत्यवासियों के बीच जा पहुँचे। उनकी तपोपूत शान्त मुख मुद्रा पर और तत्वविवेचन की हृदयहारिणी प्रवचन शैली पर चैत्यवासी मुग्ध हो उनसे प्रार्थना करने लगे—"आचार्य प्रवर! हम पर कृपा कर इस बार का चातुर्मासावास हमारे यहीं कीजिये। आपके परम प्रभावोत्पादक उपदेशों से हमारे नगर के प्रत्येक भाग में, हर गली में गगन चुम्बी विशाल चैत्यों के निर्माण हो जायेंगे।"

---

१. तपागच्छ पट्टावली (पं० कल्याण विजय जी द्वारा सम्पादित) पृष्ठ-[illegible] और प्रस्तुत ग्रंथ (जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग-४) पृष्ठ ५८६

आचार्य कुवलयप्रभ ने उन चैत्यवासियों के आगम विरुद्ध आचार-विचार से अवगत होते हुए भी बड़े साहस के साथ कहा—"भो भो पियंवए ! जई वि जिणालए तहावि सावज्जमिणं णाहं वायामित्तेणं पि एयं आयरिज्जा ।"

यह सुनकर उन उन्मार्गगामी चैत्यवासियों ने कुवलय प्रभ आचार्य को "सावद्याचार्य" के नाम से सम्बोधित करना प्रारम्भ कर दिया । उनका यह असम्मानजनक नाम चारों ओर प्रसिद्ध हो गया ।

कालान्तर में उन्हीं चैत्यवासियों के संघ ने अपने समक्ष उपस्थित हुई चैत्यालय में जीर्णोद्धार का कार्य साधु द्वारा किये अथवा न किये जाने विषयक समस्या को सुलझाने के लिये उन्हीं सावद्याचार्य के नाम से लोक विश्रुत कुवलय प्रभ आचार्य को आग्रहपूर्ण प्रार्थना कर अपने नगर में बुलाया । जिस समय वे आचार्य उस नगर में पहुंचे उनकी अगवानी के लिये सामने पहुंचे हुए चैत्यवासी श्रमण श्रमणियों में से एक श्रमणी ने उनके तपोपूत तीर्थंकरोपम भव्य व्यक्तित्व के प्रभाव से सुधबुध खो सहसा उनके चरणों पर अपना भाल रख दिया । स्वयं कुवलय प्रभ और सभी चैत्यवासी श्रमण आदि आश्चर्याभिभूत एवं अवाक् हो उसे देखते ही रह गये । किसी के मुख से कोई शब्द नहीं निकला ।

एक दिन कुवलय प्रभ आचार्य ने चैत्यवासियों के समक्ष महानिशीथ का वाचन प्रारम्भ किया । व्याख्यान देते समय निम्नलिखित गाथा कुवलय प्रभ आचार्य के सम्मुख आई—

> जत्थित्थिकरफरिसं, अंतरियंकारणे वि उप्पन्ने ।
> अरहा वि करेज्ज सयं, तं गच्छं मूलगुण मुक्कं ।

इस गाथा को देखते ही आचार्य कुवलयप्रभ दुविधा में पड़ गये । चैत्यवासियों ने उनकी कठिनाई को ताड़ लिया और इस गाथा पर व्याख्यान देने के लिए वारम्वार वल देने लगे । और कोई उपाय न देख कर आचार्य कुवलयप्रभ ने गाथा का अर्थ सुनाया । गाथा का अर्थ सुनते ही चैत्यवासी उन पर हावी हो कहने लगे—"स्मरण है आपको ? उस दिन श्रमणी ने आपके चरणों पर अपना मस्तक रख कर आपका स्पर्श किया था । कहां रहा आपका मूल गुण ?"

आचार्य कुवलयप्रभ ने मन ही मन सोचा—"पहली वार आया था तव तो इन्होंने मुझे "सावद्याचार्य" जैसा अपमानजनक पद प्रदान किया, अव इस वार न मालूम मेरा किस प्रकार का असह्य अपमान करेंगे" अपनी रक्षा का अन्य कोई मार्ग न देखकर अन्त में उन्होंने उत्सर्ग एवं अपवाद दोनों मार्गों को श्रमण-श्रमणी वर्ग के लिये स्वीकार करते हुए कहा—

"...... उस्सग्गाववाएहिं आगमे ठिओ तुज्झेण याणह। एगंते मिच्छत्थं, जिणाणमाणा अणेगन्ता।"

उन्मार्गगामी चैत्यवासी तो उनके मुंह से यही कहलवाना चाहते थे, जिससे कि अपवाद मार्ग का अवलम्बन ले अपने अनागमिक शिथिलाचार को वे उचित बता सकें। वे चैत्यवासी तो कुवलयप्रभाचार्य के मुख से यह सुन कर आनन्दातिरेक से उन्मत्त हो अट्टहास करने लगे किन्तु आगम विरुद्ध बात कहकर कुवलय प्रभाचार्य ने सुदीर्घकाल तक भव भ्रमण कराने वाली पाप प्रकृतियों का बन्ध कर लिया।

शिथिलाचारियों के सर्वातिशायी सर्वोच्च वर्चस्व, धर्म के नाम पर अधर्मपूर्ण प्रवृत्तियों का प्राबल्य एवं बाहुल्य, हठाग्रह, पारस्परिक विद्वेष एवं पूर्व के ज्ञान सेविहीन आचार्यों की कृतियों को आगमों के समकक्ष प्रामाणिकता प्रदान कर एकादशांगी की भाँति ही पंचांगी के कपोलकल्पित नाम से उनकी अंगरूप में मान्यता आदि जिस प्रकार की नितांत प्रतिकूल परिस्थितियां आचार्य कुवलय प्रभ के समक्ष थीं, ठीक उसी प्रकार की विपरीत परिस्थितियां लोंकाशाह के समक्ष भी थीं। आचार्य कुवलयप्रभ, उन्हें उन्मार्गगामी चैत्यवासियों द्वारा दिये गये "सावद्याचार्य" के विशेषण से विचलित हो गये और अन्ततोगत्वा उन्मार्गगामियों से डर कर जिन प्ररूपित शाश्वत सत्य सिद्धान्त को असत्य की बलिवेदी पर चढ़ा दिया। किन्तु अतुल आध्यात्मिक बल के धनी लोंकाशाह विरोधियों द्वारा दी गई—"लुम्पक" "लोपक" "लुंगा" आदि अशिष्ट एवं असभ्यतापूर्ण नाना प्रकार की गालियों और उन्हीं विरोधियों द्वारा उन्हें सत्पथ से विचलित करने के लक्ष्य से उनके विरुद्ध रचे गये अनेक प्रकार के षड्यन्त्रों एवं कुचक्रों के उपरान्त भी तिल मात्र भी सत्पथ से विचलित नहीं हुए।

ऐसा आदरणीय एवं आदर्श आध्यात्मिक जीवन था लोंकाशाह का। यदि लोंकाशाह ने निर्भीक हो साहस के साथ चतुर्विध संघ में व्याप्त विकृतियों को दूर करने के लिये शान्त धर्म क्रान्ति का सूत्रपात नहीं किया होता तो वे विकार, वे बुराइयां वस्तुतः बुराई की पराकाष्ठा को पार कर परे की ओर कहां तक बढ़ जातीं इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। उस दशा में आगम प्रतिपादित आध्यात्मिक आचार-विचार कहीं दृष्टिगोचर तक नहीं होता, क्रियानिष्ठ तपोपूत सन्त-सतियों के दर्शन तक आज दुर्लभ हो जाते। आज चतुर्विध संघ में जो विशुद्ध आगमिक आचार-विचार, शम-दम, त्याग-तपस्या निखिल भूत संघ के प्रति दया-करुणा-मैत्री आदि जैनधर्म के प्राणस्वरूप-मूलभूत सिद्धान्तों के प्रति आस्था परि-लक्षित होती है, वह वस्तुतः लोंकाशाह द्वारा शान्त क्रान्ति के माध्यम से प्रत्येक जैन धर्मावलम्बी के मानस में तरंगित की गई—उत्पन्न की गई अभिनव जागरण की नव-जीवन की अमिट लहर का ही प्रताप है। धर्मोद्धारक लोंकाशाह द्वारा देशव्यापी सर्वांगीण शान्त धर्मक्रान्ति का सूत्रपात किये जाने से पूर्व—

१. किसी भी प्रतिष्ठाचार्य को प्रतिष्ठा कार्य में प्रवृत्त होने से पूर्व सुहागिन स्त्रियां निर्वाणकलिका में निर्दिष्ट प्रतिष्ठा विधि के अनुसार उबटन आदि अभ्यंग मर्दनानन्तर नहलाती थीं। प्रतिष्ठाचार्य को बहु-मूल्य वस्त्रों से सुसज्जित कर उनके कर में स्वर्ण कंकण और अंगुली में स्वर्ण मुद्रिका धारण करवायी जाती थी।

२. चन्दन बाला के उदाहरणीय-आदर्श अनुपम तप की अविस्मरणीय स्मृति अथवा उसके उद्यापन के प्रसंग पर स्वर्ण के सूप में स्वर्ण निर्मित मास (उड़द) बाकले भरकर स्वर्ण की बेड़ियां बनवाकर, रजत पात्र में केसर बादाम, पिश्ते, किसमिस आदि मेवों से मिश्रित पायस (खीर) भर कर, उसके उपरिदल पर छाई हुई गाढी मलाई पर स्वर्ण और रजत निर्मित पत्रों को रख कर, सम्पूर्ण महार्घ्य सामग्री पंच महाव्रतधारी गुरुओं को मोक्षदायक सुपात्रदान समझकर दान की जाती थी और गुरुजन "अहोदानं ! अहोदानं !" के गगनभेदी घोषों के बीच उस महार्घ्य दान को दया द्रवित हो ग्रहण करते थे।

३. सोने और चांदी से निर्मित ठोस भारी भरकम मूर्तियां, अनबिंधे अनमोल मोती आदि प्रचुर परिग्रह बड़े-बड़े आचार्य पंच महाव्रतधारी साधु अपने स्वामित्व में रखते थे।

४. पंच महाव्रतधारी गुरुओं के उपाश्रयों आवासों में बही वट के नाम से विख्यात बड़ी-बड़ी बहियों के अम्बार लगे रहते थे, जिनमें देश के कोने-कोने में फैले हुए भक्त गृहस्थों की, उनके परिवार के सदस्यों की नामावलियां, उनसे प्रति वर्ष प्रत्येक पावन एवं हर्षप्रद प्रसंग के उपलक्ष्य में आने वाली अथवा अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझकर अनिवार्य रूपेण वसूल की जाने वाली राशि का तिथि सहित लेखा जोखा रहता था। वे गुरुजन अपने उन गृहस्थों को अपने परम श्रद्धालु भक्त समझते थे। यदि उन चेलों में से कोई किसी दूसरे साधु अथवा गुरु से निश्चित धनराशि भेंट करने के पश्चात् किसी पारिवारिक अथवा धार्मिक विधि विधान का कृत्य या किसी भी कारणवशात् कोई अनुष्ठान करवा लेता तो परम्परागत गुरुओं द्वारा बड़ा बवंडर खड़ा कर दिया जाता था।

श्रमण भ० महावीर द्वारा चतुर्विध धर्मतीर्थ की स्थापना किये जाने से पूर्व आर्यधरा पर यत्र-तत्र-सर्वत्र धर्म के नाम पर भौतिक कर्मकाण्डों का प्रचुर प्राबल्य अथवा बोलबाला था। प्रभु महावीर ने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते समय उन सभी थोथे बाह्य कर्मकाण्डों को निपट निस्सार एवं नितान्त निरर्थक बताने के साथ-साथ

उनके लिये जन-जन के धर्म—जैन धर्म में—साधु-साध्वी, श्रावक एवं श्राविका वर्ग रूप चतुर्विध धर्मतीर्थ के समस्त सदस्यों के जीवन में कहीं नाम मात्र का भी अवकाश न रखते हुए प्रत्येक साधकवर्ग के लिये उन भौतिक कर्मकाण्डों को हेय, अनाचरणीय एवं अहितकर बताया।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकर भ० महावीर द्वारा न केवल जैन ही अपितु जन-जन के लिये हेय एवं अनाचरणीय बताये गये उन निस्सार भौतिक कर्मकाण्डों को द्रव्य परम्पराओं के सूत्रधारों ने ब्राह्मणिक कर्मकाण्डियों का अनुसरण एवं "विश्वकर्मा-प्रकाश", "शिल्पदीपक", आदि शिल्पविषयक विभिन्न ग्रन्थों का अनुकरण करते हुए, वीर निर्वाण की प्रथम सहस्राब्दि के पूर्ण होने से पूर्व ही अपना लिया। अपनाया भी ऐसी प्रबल पकड़ के साथ कि उन भौतिक आडम्बरपूर्ण बाह्य कर्मकाण्डों को आमूलचूल अध्यात्मप्रधान जैनधर्म के धार्मिक अनुष्ठानों का अभिन्न अंग ही बना लिया।

द्रव्य परम्पराओं की आदि जननी चैत्यवासी परम्परा के उन सूत्रधारों ने इतर परम्पराओं के कर्मकाण्डों का अन्धानुकरण कर जैनधर्म के विशुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप को किस-किस प्रकार विकृत किया, इसका पर्याप्त परिज्ञान "निर्वाणकलिका" नाम की एक अति प्राचीन कही जाने वाली पुस्तक से अनायास ही प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिये कोई विशेष श्रम की आवश्यकता नहीं। क्योंकि—

"निर्वाणकलिका" की प्रत्येक पंक्ति, उसका एक-एक शब्द, एक-एक अक्षर पाठक को पुकार-पुकार कर कह रहा है कि जिनेन्द्र नामांकित परिधान अथवा साटिका के अतिरिक्त उसका सर्वज्ञ-सर्वदर्शी वीतराग प्रभु श्रमण भ० महावीर द्वारा संस्थापित चतुर्विध धर्मसंघ से किसी प्रकार का कोई दूरातिदूर का भी सम्बन्ध नहीं है। निर्वाण कलिका में स्थान-स्थान पर ब्रह्मा, ब्रह्माणी, इन्द्र, वरुण, कुबेर, यमराज, नागमुख्य, भल्लाट, सोम, दिति, अदिति, मरीचि, सविता, सावित्र, विवस्वान्, रुद्र, रुद्रदास, कुमुद, अन्जन, चमर, पुष्पदन्त आदि देवी-देवियों की पंच महाव्रतधारी प्रतिष्ठाचार्य द्वारा (जिसे इसी कृति के शब्दों में संसार के सर्वोत्कृष्ट महिमास्पद पद आचार्य पद पर अभिषिक्त कर गौतमादि गणधरों तुल्य महनीय बताया गया है)[1] नमस्कारानन्तर की गई पूजा अर्चा और न केवल इन देव-देवियों को ही अपितु यक्ष, राक्षस, तम्बुरु, पिशाच, डाकिनी आदि तक को बलि समर्पित किये जाने तथा

---

१. षड्त्रिशंदुज्ज्वलमहागुणरत्नघुर्यैरेतत्पदं प्रथितगोतममुख्य पुंभि।
आसेवितं सकलदुःखविमोक्षणाय, निर्वाहणीयमशठं तवतापि नित्यम् ॥१॥
नास्मात्पलाज्जगति साम्प्रतमस्ति किंचिदन्यत्पदं शुभतरं परमं नराणाम्।
—निर्वाण कलिका, पत्र ६ (१ और २)

१. किसी भी प्रतिष्ठाचार्य को प्रतिष्ठा कार्य में प्रवृत्त होने से पूर्व सुहागिन स्त्रियां निर्वाणकलिका में निर्दिष्ट प्रतिष्ठा विधि के अनुसार उबटन आदि अभ्यंग मर्दनानन्तर नहलाती थीं। प्रतिष्ठाचार्य को बहुमूल्य वस्त्रों से सुसज्जित कर उनके कर में स्वर्ण कंकण और अंगुली में स्वर्ण मुद्रिका धारण करवायी जाती थी।

२. चन्दन बाला के उदाहरणीय-आदर्श अनुपम तप की अविस्मरणीय स्मृति अथवा उसके उद्यापन के प्रसंग पर स्वर्ण के सूप में स्वर्ण निर्मित मास (उड़द) बाकले भरकर स्वर्ण की बेड़ियां बनवाकर, रजत पात्र में केसर बादाम, पिश्ते, किसमिस आदि मेवों से मिश्रित पायस (खीर) भर कर, उसके उपरिदल पर छाई हुई गाढी मलाई पर स्वर्ण और रजत निर्मित पत्रों को रख कर, सम्पूर्ण महार्घ्य सामग्री पंच महाव्रतधारी गुरुओं को मोक्षदायक सुपात्रदान समझकर दान की जाती थी और गुरुजन "अहोदानं ! अहोदानं !" के गगनभेदी घोषों के बीच उस महार्घ्य दान को दया द्रवित हो ग्रहण करते थे।

३. सोने और चांदी से निर्मित ठोस भारी भरकम मूर्तियां, अनबिंधे अनमोल मोती आदि प्रचुर परिग्रह बड़े-बड़े आचार्य पंच महाव्रतधारी साधु अपने स्वामित्व में रखते थे।

४. पंच महाव्रतधारी गुरुओं के उपाश्रयों आवासों में बही वट के नाम से विख्यात वड़ी-बड़ी बहियों के अम्बार लगे रहते थे, जिनमें देश के कोने-कोने में फैले हुए भक्त गृहस्थों की, उनके परिवार के सदस्यों की नामावलियां, उनसे प्रति वर्ष प्रत्येक पावन एवं हर्षप्रद प्रसंग के उपलक्ष्य में आने वाली अथवा अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझकर अनिवार्य रूपेण वसूल की जाने वाली राशि का तिथि सहित लेखा जोखा रहता था। वे गुरुजन अपने उन गृहस्थों को अपने परम श्रद्धालु भक्त समझते थे। यदि उन चेलों में से कोई किसी दूसरे साधु अथवा गुरु से निश्चित धनराशि भेंट करने के पश्चात् किसी पारिवारिक अथवा धार्मिक विधि विधान का कृत्य या किसी भी कारणवशात् कोई अनुष्ठान करवा लेता तो परम्परागत गुरुओं द्वारा वड़ा ववंडर खड़ा कर दिया जाता था।

श्रमण भ० महावीर द्वारा चतुर्विध धर्मतीर्थ की स्थापना किये जाने से पूर्व आर्यधरा पर यत्र-तत्र-सर्वत्र धर्म के नाम पर भौतिक कर्मकाण्डों का प्रचुर प्राबल्य अथवा बोलबाला था। प्रभु महावीर ने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते समय उन सभी थोथे बाह्य कर्मकाण्डों को निपट निस्सार एवं नितान्त निरर्थक बताने के साथ-साथ

व्रतों में लवलेश मात्र भी दोष न लगे, इस दृष्टि से जैनागमों में बड़े कठोर नियमों का विधान किया गया है, इस तथ्य से तो प्रत्येक जैनधर्मावलम्बी भली-भांति अवगत ही है। प्रत्येक श्रमण के लिये नवबाड़ विशुद्ध ब्रह्मचर्य का तथा षड्जीव निकाय के प्राणियों की रक्षा अर्थात् अहिंसा का जिस प्रकार का विशद् एवं सूक्ष्म निर्देश एवं विवरण जैनागमों से निहित है, उस प्रकार का सर्वांगपूर्ण निर्देश अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। महानिशीथ की—

जत्थित्थि करफरिसं, अंतरियं कारणे वि उप्पन्ने।
अरहा वि करेज्ज सयं, तं गच्छं मूल गुण मुक्कं।।

यह गाथा और इस पर जो हृदयद्रावक विवरण महानिशीथ में उल्लिखित है, इन सब से "निर्वाणकलिका" के रचनाकार अनभिज्ञ रहे हों, यह तो किसी भी दशा में विश्वास नहीं किया जा सकता। जैन जगत् में प्राचीन काल से ही आचार्य कुवलयप्रभ का आख्यान प्रसिद्ध रहा है कि चैत्यवासियों ने चैत्यनिर्माण का उपदेश करने विषयक अपनी प्रार्थना के ठुकरा दिये जाने से किस प्रकार आचार्य कुवलयप्रभ का नाम सावद्याचार्य रख दिया, चैत्यवासियों ने अपने आन्तरिक विवाद का समाधान करने के लिये कालान्तर में जिस समय सावद्याचार्य को अपने यहां बुलाया उस समय एक आर्या ने उनके तपोपूत अलौकिक व्यक्तित्व से प्रभावित हो हठात् किस प्रकार उनके चरणों पर अपना मस्तक रख दिया, तदनन्तर चैत्यवासियों के समक्ष महानिशीथ पर प्रवचन देते समय आचार्य कुवलयप्रभ के समक्ष उपरिलिखित गाथा आई तो आर्या द्वारा अपने चरणों का स्पर्श किये जाने की बात का स्मरण आते ही किस प्रकार वे असमंजस में पड़ गये और इस संकटापन्न स्थिति से उबरने के लिये—"एगंते मिच्छत्थं, जिणाणमाणा अणेगन्ता" इस प्रकार की बात कह कर किस प्रकार उन्होंने असंख्यात काल तक भव-भ्रमण करवाने वाले घोर कर्मों का बन्ध कर लिया, इन सब बातों का विस्तृत विवरण महानिशीथ में विद्यमान है।[1] पंच महाव्रतों की निरतिचार रूपेण अनिवार्यतः परिपालना विषयक आगमिक अतीव सुस्पष्ट उल्लेखों और मध्यकाल में अधिकांश गच्छों, सम्प्रदायों अथवा परम्पराओं में पर्याप्तरूपेण लोकप्रिय रहे महानिशीथ के सावद्याचार्य (कुवलयप्रभ) विषयक आख्यान के उपरान्त भी "निर्वाण कलिकाकार" ने पंच महाव्रतधारी प्रतिष्ठाचार्य को आचार्याभिषेक के समय सधवा स्त्रियों द्वारा तैलाभ्यंग, मर्दन स्नान आदि करवाने, स्वर्ण कंकण, स्वर्ण मुद्रिका धारण करवाने, ब्रह्मा, यम, इन्द्र आदि देवों को नमनपूर्वक वलि समर्पित करने, धूप, दीप जलाने, अपने हाथों पुष्प-फलादि समर्पित करने, इन्द्र को अपने हाथों तीर्थों एवं महानदियों के जल

१. विस्तृत विवरण के लिये देखिये—जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग ३, पृ० ४६ से ५४ और ३५८ से पृष्ठ ३६३।

उन्हें शिवंकर, शान्तिकर एवं सभी भांति से सहायक अथवा रक्षक बने रहने की प्रार्थना किये जाने के उल्लेखों को देख कर तो यही आभास होता है कि किसी भी जैनेतर परम्परा के कर्मकाण्ड विषयक ग्रन्थों से चुन-चुन कर, छांट-छांट कर अथवा टीप-टीप कर इस "निर्वाणकलिका" नाम्नी कृति का संकलनात्मक निर्माण किया गया है और इसे पादलिप्त आचार्य के नाम पर चढ़ा दिया गया है।

इतरेतर परम्पराओं के कर्मकाण्डियों तथा शाक्त भैरव आदि परम्पराओं के तान्त्रिकों का अन्धानुकरण करते समय 'निर्वाण कलिका' के जन्मदाता ने संभवत: —"नकल में आकिल को भी अक्ल का इस्तेमाल करने की क्या जरूरत है" इस लोकोक्ति को चरितार्थ करते हुए यह नहीं सोचा कि नर-नरेन्द्रों, देव-देवेन्द्रों द्वारा वन्दनीय-पूजनीय जगद्वन्द्य आचार्य पद पर अधिष्ठित पंच महाव्रतधारी श्रमण-शिरोमणि प्रतिष्ठाचार्य के शरीर पर, अंग-प्रत्यंग पर सुहागिन स्त्रियों के हाथों से तैलमर्दन, अभ्यंग आदि करवाने, प्रतिष्ठाचार्य के कर में स्वर्णकंकण तथा करांगुलि में स्वर्णमुद्रिका धारण करवाने, उनके (प्रतिष्ठाचार्य के) हाथों धूप, दीप करवाने, पुष्पफल चढ़ाने, तीर्थों, गंगा आदि पवित्र नदियों के जल से भरे कलश से इन्द्र को स्नान करवाने, उन प्रतिष्ठाचार्य को छत्र, चामर, हस्ति, अश्व, शिबिका आदि राजचिह्न, योगपट्टक, खटिका, पुस्तक, अक्षसूत्र आदि विपुल परिग्रह का स्वामी बनाने तथा जगद्वन्द्य आचार्य पद पर अधिष्ठित प्रतिष्ठाचार्य के मुख से ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम, रुद्र, भैरव आदि देवों के लिये "नमः" शब्द का उच्चारण करवाने आदि से कहीं सम्पूर्ण श्रमण संस्कृति को ही पलीता लगाने तुल्य प्रयास तो वे नहीं कर रहे हैं ? शाक्त, भैरव आदि तान्त्रिक परम्पराओं में किसी सन्यासी का चारुहासिनी, चन्द्रमुखी, मृगलोचनी सुहागिन स्त्रियों द्वारा तैल, अभ्यंग मर्दन स्नान आदि का उल्लेख केवल उन परम्पराओं के कल्पों में ही मिल सकता है, अन्यत्र नहीं। भर्तृहरि ने तो, घोरातिघोर दुश्चर तपश्चरण द्वारा अपने तन को सुखाकर कंकालमात्रावशिष्ट कर देने वाले योगियों, मुनियों एवं सन्यासियों के लिये स्त्री सम्पर्क को हलाहल विषतुल्य बताते हुए कहा है :—

विश्वामित्र परासरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशिना:,
तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहंगता।
शाल्यन्नं दधिमिश्रितं घृतयुतं भुंजन्ति ये मानवा:,
तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेत् विन्ध्यस्तरेत् सागरम्॥

जैन संस्कृति में किसी भी छोटे से लेकर बड़े से बड़े श्रमणोत्तम के लिये स्त्रियों के हाथों से तैलाभ्यंगमर्दन, स्नान आदि की बात तो बहुत दूर, किसी भी दशा में स्त्री जाति का स्पर्श तक और तैलाभ्यंग स्नान आदि विषवत् वर्ज्य बताया गया है। किसी भी श्रमण के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच महा-

व्रतों में लवलेश मात्र भी दोष न लगे, इस दृष्टि से जैनागमों में बड़े कठोर नियमों का विधान किया गया है, इस तथ्य से तो प्रत्येक जैनधर्मावलम्बी भली-भांति अवगत ही है। प्रत्येक श्रमण के लिये नवबाड़ विशुद्ध ब्रह्मचर्य का तथा षड्जीव निकाय के प्राणियों की रक्षा अर्थात् अहिंसा का जिस प्रकार का विशद् एवं सूक्ष्म निर्देश एवं विवरण जैनागमों से निहित है, उस प्रकार का सर्वांगपूर्ण निर्देश अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। महानिशीथ की—

जत्थित्थि करफरिसं, अंतरियं कारणे वि उप्पन्ने।
अरहा वि करेज्ज सयं, तं गच्छं मूल गुण मुक्कं॥

यह गाथा और इस पर जो हृदयद्रावक विवरण महानिशीथ में उल्लिखित है, इन सब से "निर्वाणकलिका" के रचनाकार अनभिज्ञ रहे हों, यह तो किसी भी दशा में विश्वास नहीं किया जा सकता। जैन जगत् में प्राचीन काल से ही आचार्य कुवलयप्रभ का आख्यान प्रसिद्ध रहा है कि चैत्यवासियों ने चैत्यनिर्माण का उपदेश करने विषयक अपनी प्रार्थना के ठुकरा दिये जाने से किस प्रकार आचार्य कुवलयप्रभ का नाम सावद्याचार्य रख दिया, चैत्यवासियों ने अपने आन्तरिक विवाद का समाधान करने के लिये कालान्तर में जिस समय सावद्याचार्य को अपने यहां बुलाया उस समय एक आर्या ने उनके तपोपूत अलौकिक व्यक्तित्व से प्रभावित हो हठात् किस प्रकार उनके चरणों पर अपना मस्तक रख दिया, तदनन्तर चैत्यवासियों के समक्ष महानिशीथ पर प्रवचन देते समय आचार्य कुवलयप्रभ के समक्ष उपरिलिखित गाथा आई तो आर्या द्वारा अपने चरणों का स्पर्श किये जाने की बात का स्मरण आते ही किस प्रकार वे असमंजस में पड़ गये और इस संकटापन्न स्थिति से उबरने के लिये—"एगंते मिच्छत्थं, जिणाणमाणा अणेगन्ता" इस प्रकार की बात कह कर किस प्रकार उन्होंने असंख्यात काल तक भव-भ्रमण करवाने वाले घोर कर्मों का बन्ध कर लिया, इन सब बातों का विस्तृत विवरण महानिशीथ में विद्यमान है।[1] पंच महाव्रतों की निरतिचार रूपेण अनिवार्यतः परिपालना विषयक आगमिक अतीव सुस्पष्ट उल्लेखों और मध्यकाल में अधिकांश गच्छों, सम्प्रदायों अथवा परम्पराओं में पर्याप्तरूपेण लोकप्रिय रहे महानिशीथ के सावद्याचार्य (कुवलयप्रभ) विषयक आख्यान के उपरान्त भी "निर्वाण कलिकाकार" ने पंच महाव्रतधारी प्रतिष्ठाचार्य को आचार्याभिषेक के समय सधवा स्त्रियों द्वारा तैलअभ्यंग, मर्दन स्नान आदि करवाने, स्वर्ण कंकण, स्वर्ण मुद्रिका धारण करवाने, ब्रह्मा, यम, इन्द्र आदि देवों को नमनपूर्वक बलि समर्पित करने, धूप, दीप जलाने, अपने हाथों पुष्प-फलादि समर्पित करने, इन्द्र को अपने हाथों तीर्थों एवं महानदियों के जल

---

१. विस्तृत विवरण के लिये देखिये—जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग ३, पृ० ४६ से ५४ और ३५८ से पृष्ठ ३६३।

से स्नान करवाने आदि का विधान कर वस्तुतः सर्वज्ञ प्रणीत आगमों के प्रति अपनी अनास्था-अवमानना प्रकट करने के साथ-साथ एक प्रकार से उत्सूत्र प्ररूपणा ही की है।

आचार्य कुवलयप्रभ (सावद्याचार्य) विषयक, महानिशीथ में उल्लिखित आख्यान के सन्दर्भ में निर्वाणकलिकाकार द्वारा किये गये आचार्याभिषेक एवं प्रतिष्ठा आदि करने आचार्य के अंग-प्रत्यंगों का सुहागिन स्त्रियों द्वारा तैलाभ्यंग मर्दन करने, आचार्य को स्वर्णकंकण, स्वर्णमुद्रिका श्रेष्ठतम वस्त्र धारण करवाने, आचार्य द्वारा ब्रह्मा, यम, इन्द्र, वरुणादि देवों को नमस्कार करने, उन्हें फल, धूप नैवेद्य चढ़ाने, पवित्र तीर्थों एवं महानदियों के जल से इन्द्र को स्नान कराने, यक्ष, राक्षस, पिशाच डाकिनी शाकिनी आदि तक को बलि समर्पित करने आदि के विधानों पर विचार करने पर प्रत्येक विज्ञ के मन में इस प्रकार का विचार उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि जब आचार्य कुवलयप्रभ को जिस अतिचार, दोष अथवा शास्त्रविरुद्ध प्ररूपणा के कारण असंख्यात काल तक भव भ्रमण करना पड़ा, तो उनके (कुवलयप्रभ के) उस अशास्त्रीय प्ररूपण से निर्वाणकलिकाकार के प्ररूपण अथवा अशास्त्रीय विधान कितने अधिक घोर, कितने अधिक गम्भीर एवं कितने अधिक भव-भ्रमण करवाने वाले हैं।

आचार्य कुवलयप्रभ के चरणों पर एक भावुका आर्या ने भावावेश में हठात् अपना सिर रख दिया। आचार्य कुवलयप्रभ को इस स्त्रीस्पर्श की आशंका तक भी नहीं होगी किन्तु उन्होंने आत्मशुद्ध्यर्थ उस अप्रत्याशित दोष के लिए मन ही मन प्रायश्चित्त अवश्य किया होगा "जत्थित्थि करफरिसं"—इस गाथा पर व्याख्यान देते समय कुवलयप्रभ को स्मरण हो आया कि इन सब चैत्यवासी श्रोताओं के समक्ष एक आर्या ने उनके चरणों का अपने मस्तक से स्पर्श किया था। इस प्रकार की स्थिति में यदि वे इस गाथा का यथावत् शास्त्रानुकूल विवेचन करेंगे तो ये वक्र प्रकृति के चैत्यवासी उन्हें पूर्व की ही भांति 'सावद्याचार्य' से भी अधिक अपमानजनक विशेषण से अभिहित करने लग जायेंगे। वे घोर अपमान की आशंका से अभिभूत हो असमंजस में पड़ गये। चैत्यवासियों को तो मानो अपूर्व अवसर प्राप्त हो गया था। वे पुनः पुनः आचार्य कुवलयप्रभ पर कर्कश स्वर में दवाव डालने लगे कि उस गाथा की व्याख्या की जाय।

दुष्टों के हाथों होने वाले सम्भावित अपमान से बचने का और कोई उपाय न देख कुवलयप्रभ ने उस गाथा की यथार्थतः व्याख्या करते हुए अन्त में कहा—"एगंते मिच्छत्तं, जिणाणमाणा अणेगंता।"

आचार्य कुवलयप्रभ ने उन चैत्यवासियों के समक्ष उपर्युक्त गाथा की व्याख्या करते हुए कहा—"यह एक अनुल्लंघनीय एवं अपरिहार्य आगमिक आदेश है, जिनेश्वर

की आज्ञा है कि यदि किसी गच्छ का आचार्य, चाहे वह स्वयं अरिहन्त ही क्यों न हो, किसी भी कारण से स्त्री का स्पर्श करता है तो न केवल वह आचार्य ही अपितु उसका सम्पूर्ण गच्छ भी श्रमण-धर्म के मूल गुण से रहित है।" तदुपरान्त अपना बचाव करने के लक्ष्य से आचार्य कुवलयप्रभ ने कहा—"इतना सब कुछ होते हुए भी किसी बात को एकान्ततः पकड़ कर अड़े रहना मिथ्यात्व की गणना में आ जाता है क्योंकि जिनेश्वर की आज्ञा, जिनेश्वर का आदेश नितान्त एकान्तता को लिये हुए नहीं अपितु अनेकान्तता से गर्भित है। वस्तुतः जिनेश्वर की आज्ञा में उत्सर्गमार्ग और अपवाद मार्ग—इन दोनों मार्गों के लिए स्थान रहता है, अवकाश रहता है।"

इसे थोड़ा स्पष्ट करते हुए आचार्य कुवलयप्रभ ने कहा—"उत्सर्ग मार्ग की दृष्टि से यदि किसी गच्छ के आचार्य ने, चाहे वह कितना ही बड़े से बड़ा और यहां तक कि अर्हत् ही क्यों न हो, किसी स्त्री का स्पर्श कर लिया हो तो न केवल वह आचार्य ही अपितु उसका सम्पूर्ण गच्छ श्रमण के ब्रह्मचर्य नामक चतुर्थ मूल गुण से रहित माना जायगा किन्तु अपवाद मार्ग की दृष्टि से यदि किसी आर्या ने श्रद्धातिरेक से भावावेशवशात् किसी आचार्य का अथवा किसी श्रमण का स्पर्श कर लिया हो तो वह क्षम्य होगा, न वह आचार्य मूल गुण से रहित माना जायगा और न उसके गच्छ का श्रमण-श्रमणी समूह ही।"

श्रमणाचार से नितान्त विपरीत, विशाल चैत्यों के स्वामित्व, चैत्यों में नियतनिवास, आधाकर्मी आहार, आरम्भ-समारम्भ, परिग्रह मोह आदि घोर शिथिलाचार में आपाद-चूड़ निमग्न चैत्यवासी अपवाद मार्ग की दृष्टि से अपने नितान्त शिथिलाचारपूर्ण श्रमणाचार को समयोचित ठहराने की उत्कट अभिलाषा लिये वस्तुतः परमक्रियानिष्ठ आचार्य कुवलयप्रभ के मुख से "एगंते मिच्छत्तं, जिणाणमाणा अणेगंता" इस वचन के अन्तर्गत यही कहलवाना चाहते थे कि जिनेश्वर ने धर्मतीर्थ की स्थापना के समय उत्सर्ग और अपवाद इन दोनों मार्गों का प्ररूपण किया था। उन चैत्यवासियों ने आचार्य कुवलयप्रभ के उपर्युक्त कथन से अपनी मनोकामना को फलीभूत समझ कर उनके जयघोषों से गगन को गुंजरित कर दिया।

चैत्यवासी तो पूर्ण रूपेण प्रसन्न एवं संतुष्ट हो गये किन्तु महानिशीथ के उल्लेखानुसार इस प्रकार के अशास्त्रीय विवेचन के परिणामस्वरूप आचार्य कुवलयप्रभ ने ऐसे घोर दुःखानुबन्धी दुष्कर्मों का बन्ध कर लिया जिनके कारण उन्हें असंख्यात काल तक प्रगाढ़ दुःखपूर्ण नरक, तिर्यन्च आदि योनियों में भटक-भटक कर दुस्सह दारुण दुःखों का पात्र बनना पड़ा।

आचार्य कुवलयप्रभ ने तो "एगंते मिच्छत्तं, जिणाणमाणा अणेगंता" इस वचन के माध्यम से केवल यही प्ररूपणा की कि यदि किसी भावातिरेकाभिभूता

आर्या ने किसी आचार्य का अथवा श्रमण का स्पर्श कर लिया है तो वह आचार्य अथवा साधु अपवाद मार्ग की दृष्टि से मूलगुण विहीन नहीं माना जायगा। किन्तु "निर्वाण कलिका" के रचनाकार ने तो सदा-सदा के लिये प्रत्येक प्रतिष्ठाचार्य को सधवा स्त्रियों द्वारा, तैलअभ्यंग मर्दन एवं स्नान करवाने, आचार्य को स्वर्ण कंकण, स्वर्ण मुद्रिका धारण करने, हस्ती, अश्व शिबिका आदि परिग्रह ग्रहण करने, नितान्त अविरत देवों को नमन करने, इन्द्र को महानदियों एवं तीर्थों के पवित्रोदकपूर्ण कलश से स्नान करवाने आदि-आदि अनेक प्रकार के शास्त्र विरुद्ध, जिनाज्ञाप्रतिकूल, एवं श्रमणसंस्कृति की पवित्र स्वच्छ-अच्छ-समुज्ज्वल छटा पर प्रगाढ़ कालिमा पोतने वाले विधानों का विधान कर आगम अवहेलना अथवा उत्सूत्र प्ररूपणा की पराकाष्ठा से भी किस प्रकार बहुत आगे अपने कदम बढ़ा दिये हैं, यह प्रत्येक आगमनिष्ठ तटस्थ मनीषी के लिये मध्ययुग में भी एवं आज भी बड़ा ही चिन्ता का विषय रहा है। उसी चिन्ताजनक विचारमन्थन के परिणामस्वरूप पौर्णमिक गच्छ के संस्थापक चन्द्रप्रभसूरि ने वि० सं० ११४९ में क्रियोद्धार करते समय "निर्वाण कलिका" में उल्लिखित श्रमणसंस्कृति की पवित्रता को नष्ट करने वाले विधानों का कड़ा विरोध कर किसी पंच महाव्रतधारी श्रमण के स्थान पर श्रावक के द्वारा प्रतिष्ठा करवाने की परिपाटी प्रचलित की। चन्द्रप्रभसूरि द्वारा किये गये इस प्रकार के क्रियोद्धार के अनन्तर तो अनेक क्रियोद्धारकों ने पंचमहाव्रतधारी साधु के द्वारा प्रतिष्ठा किये जाने को पूर्णतः आगमविरुद्ध सिद्ध करते हुए अनेक प्रकार की अभिनव प्रतिष्ठा विधियों अथवा पद्धतियों का निर्माण किया। उन प्रतिष्ठा विधियों के निर्माण के अनन्तर तो "निर्वाण कलिका" बहुजनअसम्मत एवं उपेक्षित कृति के रूप में अवशिष्ट रह गई।

"निर्वाणकलिका" के रचनाकार ने तो अपनी इस कृति के प्रारम्भ में विना किसी आगम, पूर्व, पूर्ववस्तु अथवा प्राभृत का नामोल्लेख करते हुए केवल इतना ही लिखा है :—

वर्धमानं जिनं नत्वा, समुद्धृत्य जिनागमात्।
नित्यकर्म तथा दीक्षां, प्रतिष्ठां च प्रचक्ष्महे ।।१।।
प्रतिष्ठापद्धतिश्चैषा, श्रीमत्पालिप्तसूरिणा।
भव्यानामुपकाराय, स्पष्टार्थाऽऽख्यायतेऽधुना ।।२।।

किसी भी विज्ञ जिनोपासक से यह तथ्य छिपा नहीं है कि वर्तमान में उपलब्ध किसी भी आगम में निर्वाणकलिका में प्रतिपादित प्रतिष्ठा पद्धति की बात तो दूर, कहीं प्रतिष्ठाविधान का नामोल्लेख तक नहीं है। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए निर्वाणकलिका के पृष्ठपोषकों अथवा पक्षधरों ने अपना यह आधारविहीन अभिमत व्यक्त किया है कि विलुप्त पूर्वज्ञान के किसी प्राभृत से और संभवतः प्रतिष्ठाप्राभृत से सर्वप्रथम आर्य वज्रसूरि ने और तदनन्तर पादलिप्तसूरि

ने मूल मन्त्रों तथा प्रतिष्ठा आदि विधानों का चयन कर "निर्वाणकलिका" का निर्माण किया ।[1]

साम्प्रत काल में न तो पूर्वज्ञान का अस्तित्व रहा है और न प्रतिष्ठा प्राभृत आदि प्राभृतों का ही । केवल यही नहीं उपलब्ध एकादशांगी सहित, श्वेताम्बर परम्परा द्वारा प्रामाणिक माने जाने वाले आगमों में भी कहीं प्रतिष्ठा विषयक विधि-विधानों और यहां तक कि प्रतिष्ठा विधि का नामोल्लेख तक उपलब्ध नहीं होता । इसके साथ ही साथ यह भी एक निर्विवाद एवं सर्वसम्मत शाश्वत सत्य है कि तीर्थंकरों के वचन सभी अवस्थाओं तथा तीनों काल में अवितथ सत्य-तथ्य से ओत-प्रोत होते हैं, उनमें कभी किसी भी दशा में परस्पर विरोध की, विरोधाभास की गन्ध तक नहीं आ सकती, उनके अवितथ वचनों को संसार की कोई उच्च से उच्चतम शक्ति भी अन्यथा सिद्ध नहीं कर सकती । इस प्रकार की स्थिति में एकादशांगी के माध्यम से प्रत्येक पंचमहाव्रतधारी को जीवन पर्यन्त पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पांच स्थावरनिकाय के जीवों तथा त्रस निकाय के प्राणियों की न केवल हिंसा ही अपितु परितापना-किलामना तक से बचे रहने का, किसी भी स्त्री का किसी भी दशा में स्पर्श तक न करने का, पंचमहाव्रतधारी के अतिरिक्त किसी भी देशविरत एवं अविरत को कभी किसी भी दशा में नमन न करने और हस्ती, अश्व, शिबिका, करकंकण, मुद्रिका आदि स्वर्णाभूषणों का ही नहीं अपितु कांणी कोड़ी तक का किसी भी प्रकार का कोई किंचित्मात्र भी परिग्रह न रखने का विश्वकल्याणकारी उपदेश करने वाले तीर्थंकर प्रभु श्रमण भगवान् महावीर क्या दृष्टिवाद में, चतुर्दश पूर्वों में अथवा प्राभृतों में किसी भी आचार्य के लिये, किसी भी श्रमण के लिये इस प्रकार का उपदेश दे सकते हैं कि वह प्रतिष्ठा करवाने से पहले सुहागिन स्त्रियों के कर-कमलों से अपने अंग प्रत्यंगों में तैलमर्दन करवाये, उबटन लगवाये, स्नान करे, स्वर्ण कंकण एवं स्वर्णमुद्रिका तथा उत्तमोत्तम बहुमूल्य वस्त्र धारण करे, छत्र, चामर, हस्ती, अश्व, शिविका आदि राजराजेश्वरोपभोग्य परिग्रह को भेंट स्वरूप में स्वीकार करे, ब्रह्मा, यम, वरुण, कुबेर आदि देवों को अनुक्रमश: नम: शब्द के उच्चारण के साथ उन सबको और यक्ष, राक्षस, पिशाच, शाकिनी आदि को भी बलि समर्पित करता हुआ उनसे प्रार्थना करे कि वे जिनप्रतिमा की रक्षा करें, 'तुट्ठिकरा भवंतु सिवंकरा भवंतु' आदि तरह-तरह की प्रार्थना करे, दीप जलाये, धूप दे, पुष्प-फल चढ़ाये और अपने हाथों से पवित्रोदकपूर्ण कलश को भृंगार के साथ पुन: पुन: घुमा कर यह कहता हुआ—"भो भो: शक्र यथा स्वर्यां

---

१. "निर्वाणकलिका" जैनशिल्पज्योतिपविद्यामहोदधि पू० जैनाचार्य श्रीमज्जयसूरि के उपदेश से इन्दौरनिवासी शेठ नथमलजी कन्हैयालाल रांका द्वारा ई० सन् १९२६ में प्रकाशित—की भूमिका (रमापतिमिश्र:), और मोहनलाल भगवानदास झवेरी—सोलिसिटर द्वारा लिखित इन्ट्रोडक्शन ।

दिशि विघ्नप्रशान्तये सावधानेन स्नानान्तं यावद्भवितव्यमिति"—इन्द्र को स्नान करवाये ?

विश्वैकबन्धु त्रिलोकपूज्य सर्वज्ञ-सर्वदर्शी वीतराग प्रभु महावीर के श्री मुख से इस प्रकार के परस्पर विरोधी एवं सावद्य उपदेशों की कल्पना तो किसी ग्रहग्रस्त व्यक्ति के अतिरिक्त कोई सच्चा जैन नहीं कर सकता ।

इस प्रकार के शास्त्रविरुद्ध सावद्य विधि-विधानों से वस्तुतः आदि से लेकर अन्त तक "निर्वाणकलिका" ओत-प्रोत है । इस प्रकार के विधि-विधानों का प्रावधान पादलिप्तसूरि जैसे महान् जिनशासन प्रभावक आचार्य कभी नहीं कर सकते । यदि "निर्वाण कलिका" के पक्षधरों की इस बात को किसी भी दशा में मान लिया जाय कि यह आचार्य पादलिप्तसूरि की कृति है तो भी चतुर्विध तीर्थ में इस प्रकार की कृति को किसी भी दशा में मान्य नहीं किया जा सकता क्योंकि चतुर्विध जैन धर्मतीर्थ के संस्थापक श्रमण भ० महावीर हैं न कि पादलिप्तसूरि अथवा अन्य कोई भी बड़े से बड़ा सूरि । जिस प्रकार स्वर्णनिर्मित कटारी को अपने पेट में नहीं भोंका जा सकता ठीक उसी प्रकार सर्वज्ञप्ररूपित आगमों से नितान्त विपरीत-पूर्णतः प्रतिकूल तथा श्रमणसंस्कृति के प्राणस्वरूप सिद्धान्तों को जलांजलि देने वाले विधि-विधानों को प्रचलित करने वाली कृति किसी सच्चे जैन के द्वारा मान्य नहीं की जा सकती, चाहे उस कृति का रचनाकार कितना ही बड़े से बड़ा आचार्य क्यों न रहा हो । विक्रम की बारहवीं शताब्दी में पौर्णमिक गच्छ की स्थापना करते समय क्रियोद्धारक आचार्य चन्द्रप्रभसूरि ने किस प्रकार के कटुतर शब्दों में इसकी आलोचना की होगी इसका अनुमान इसी एक ऐतिहासिक तथ्य से लगाया जा सकता है कि उन्होंने श्रमण संस्कृति की आधारशिला को ही मूल से हिला देने वाली कृति "निर्वाणकलिका" को चतुर्विध धर्मसंघ के समक्ष इस उद्घोषणा के साथ अमान्य सिद्ध कर दिया कि—प्रतिष्ठा द्रव्य स्तव होने के कारण साधु के लिये कर्त्तव्य नहीं है ।

आचार्य चन्द्रप्रभसूरि की उक्त घोषणा का प्रभाव चतुर्विध धर्मसंघ पर उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में आगमिक गच्छ के आचार्यश्री तिलकसूरि ने नव्य प्रतिष्ठाकल्प की रचना कर उसमें प्रतिष्ठा विषयक सभी कर्त्तव्य केवल सुयोग्य श्रावक के द्वारा ही करवाये जायं, न कि किसी आचार्य अथवा श्रमण के द्वारा—इस प्रकार का विधान कर, चन्द्रप्रभसूरि द्वारा किये गये प्रतिष्ठाविधि विषयक क्रियोद्धार को एक प्रकार से व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया ।

"निर्वाणकलिका" में उल्लिखित प्रतिष्ठा विषयक विधि-विधानों के सम्बन्ध में प्रतिष्ठा, ज्योतिष, इतिहास आदि अनेक विषयों के उद्भट विद्वान् स्व० पंन्यास

श्री कल्याणविजयजी महाराज ने अपनी ई० सन् १९६५ में प्रकाशित कृति में लिखा है :—

"............ निर्वाणकलिका में इसके सम्बन्ध में नीचे लिखे अनुसार विधान किया है :—

वासुकिनिर्मोकलघुनी, प्रत्यग्रवाससी दधानः करांगुलि—विन्यस्त-कांचनमुद्रिकः, प्रकोष्ठदेशनियोजितकनककंकरणः, तपसा विशुद्धदेहो वेदिकायामुदङ्मुखमुपविश्य............(नि० क० १२–१)

अर्थात् बहुत महीन श्वेत और कीमती नये दो वस्त्र धारक, हाथ की अंगुलीमें सुवर्ण-मुद्रिका (वींटी) और मणिबन्ध में सुवर्ण का कंकण धारण किये हुए उपवास से विशुद्ध शरीर वाला प्रतिष्ठाचार्य वेदिका पर उत्तराभिमुख बैठ कर ....।

श्री पादलिप्तसूरिजी के उक्त शब्दों का अनुसरण करते हुए आचार्यश्रीचन्द्रसूरि, श्री जिनप्रभसूरि, श्री वर्द्धमानसूरि ने भी अपनी-अपनी प्रतिष्ठा-पद्धतियों में "ततः सूरिः कंकणमुद्रिकाहस्तः सदशवस्त्रपरिधानः" इन शब्दों में प्रतिष्ठाचार्य की वेश-भूषा का सूचन किया है।

जैन साधु के आचार से परिचित कोई भी मनुष्य यहां पूछ सकता है कि जैन आचार्य जो निर्ग्रन्थ साधुओं में मुख्य माने जाते हैं, उनके लिये सुवर्णमुद्रिका और सुवर्ण कंकरण का धारण करना कहां तक उचित गिना जा सकता है ? स्वच्छ नवीन वस्त्र तो ठीक पर सुवर्णमुद्रा कंकरण धारण तो प्रतिष्ठाचार्य के लिये अनुचित ही दिखता है। क्या सुवर्णमुद्रा-कंकण पहिने विना अंजनशलाका हो ही नहीं सकती ?

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर यह है—**प्रतिष्ठाचार्य के लिये मुद्रा कंकरण धारण करना अनिवार्य नहीं है। श्री पादलिप्तसूरिजी ने जिन मूल गाथाओं को अपनी प्रतिष्ठापद्धति का मूलाधार माना है और अनेक स्थानों में "यदागमः" इत्यादि शब्दप्रयोगों द्वारा जिसका आदर किया है, उस मूल प्रतिष्ठागम में सुवर्णमुद्रा अथवा सुवर्णकंकण धारण करने का सूचन तक नहीं है। पादलिप्तसूरि ने जिस मुद्रा—कंकण—परिधान का उल्लेख किया है, वह तत्कालीन चैत्यवासियों की प्रवृत्ति का प्रतिविम्व है। पादलिप्तसूरिजी आप (स्वयं) चैत्यवासी थे या नहीं, इस चर्चा में उतरने का यह उपयुक्त स्थल नहीं है, परन्तु इन्होंने आचार्याभिषेक विधि में तथा प्रतिष्ठा विधि में जो कतिपय बातें लिखी हैं, वे चैत्यवासियों की पौषधशालाओं में रहने वाले शिथिलाचारी साधुओं की हैं, इसमें तो कुछ शंका नहीं है। जैन**

सिद्धान्त के साथ इन बातों का कोई सम्बन्ध नहीं है। आचार्याभिषेक के प्रसंग में इन्होंने भावी आचार्य को तैलादि विधिपूर्वक अविधवा स्त्रियों द्वारा वर्णक (पीठी) करने तक का विधान किया है। यह सब देखते तो यही लगता है कि श्री पादलिप्तसूरि स्वयं चैत्यवासी होने चाहिये। कदाचित ऐसा मानने में कोई आपत्ति हो तो न मानें फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि पादलिप्तसूरि का समय चैत्यवासियों के प्राबल्य का था। इससे इनकी प्रतिष्ठा-पद्धति आदि कृतियों पर चैत्यवासियों की अनेक प्रवृत्तियों की अनिवार्य छाप है। साधु को सचित्त जल, पुष्पादि द्रव्यों द्वारा जिन-पूजा करने का विधान जैसे चैत्यवासियों की आचरणा है, उसी प्रकार से सुवर्णमुद्रा, कंकणधारणादि विधान ठेठ चैत्यवासियों के घर का है, सुविहितों का नहीं।

श्रीचन्द्र, जिनप्रभ, वर्द्धमानसूरि स्वयं चैत्यवासी नहीं थे, फिर भी वे उनके साम्राज्यकाल में विद्यमान अवश्य थे। इन्होंने प्रतिष्ठाचार्य के लिये मुद्रा, कंकणधारण का विधान किया इसका कारण श्रीचन्द्रसूरिजी आदि की प्रतिष्ठा पद्धतियां चैत्यवासियों की प्रतिष्ठा विधियों के आधार से बनी हुई हैं, इस कारण से इनमें चैत्यवासियों की आचरणाओं का आना स्वाभाविक है। उपर्युक्त आचार्यों के समय में चैत्यवासियों के किले टूटने लगे थे फिर भी वे सुविहितों द्वारा सर नहीं हुए थे। चैत्यवासियों के मुकाबिले में हमारे सुविहित आचार्य बहुत कम थे। उनमें कतिपय अच्छे विद्वान् और ग्रन्थकार भी थे, तथापि उनके ग्रन्थों का निर्माण चैत्यवासियों के ग्रन्थों के आधार से होता था। प्रतिष्ठाविधि जैसे विषयों में तो पूर्वग्रन्थों का सहारा लिये बिना चलता ही नहीं था। इस विषय में "आचार दिनकर" ग्रन्थ स्वयं साक्षी है। इसमें जो कुछ संग्रह किया है, वह सब चैत्यवासियों और दिगम्बर भट्टारकों का है, वर्द्धमानसूरि का अपना कुछ भी नहीं है।"

"प्रतिष्ठा-विधियों में क्रान्ति का प्रारम्भ

प्रतिष्ठाविधियों में लगभग चौदहवीं शती से क्रान्ति आरम्भ हो गई थी। बारहवीं शती तक प्रत्येक प्रतिष्ठाचार्य विधिकार्य में सचित्त जल, पुष्पादि का स्पर्श और सुवर्ण मुद्रादि धारण अनिवार्य गिनते थे, परन्तु तेरहवीं शती और उसके बाद में कतिपय सुविहित आचार्यों ने प्रतिष्ठा-विषयक कितनी ही बातों के सम्बन्ध में ऊहापोह किया और त्यागी गुरु को प्रतिष्ठा में कौन-कौन से कार्य करने चाहिए, इसका निर्णय कर नीचे मुजब घोषणा की :—

थुइदाण, मंतनासो, आहवणं तह जिणाणं दिसिबंधो।
नित्तुम्मीलण, देसण, गुरु अहिगारा इहं कप्पे ॥

अर्थात्—स्तुतिदान याने देववन्दन करना, स्तुतियां बोलना १, मन्त्र-न्यास अर्थात् प्रतिष्ठाप्य प्रतिमा पर सौभाग्यादि मन्त्रों का न्यास करना २, जिन का प्रतिमा में आह्वान करना ३, मन्त्र द्वारा दिग्बन्ध करना ४, नेत्रोन्मीलन यानि प्रतिमा के नेत्रों में सुवर्णशलाका से अंजन करना ५, प्रतिष्ठा-फल प्रतिपादक देशना (उपदेश) करना ६। प्रतिष्ठाकल्प में उक्त छः कार्य गुरु को करने चाहिये।

अर्थात्—इनके अतिरिक्त सभी कार्य श्रावक के अधिकार के हैं। यह व्याख्या निश्चित होने के बाद सचित्त पुष्पादि के स्पर्श वाले कार्य त्यागियों ने छोड़ दिये और गृहस्थों के हाथ से होने शुरू हुए। परन्तु पन्द्रहवीं शती तक इस विषय में दो मत तो चलते ही रहे, कोई आचार्य विधिविहित अनुष्ठान गिन के सचित्त जल, पुष्पादि का स्पर्श तथा स्वर्ण मुद्रिकादि धारण निर्दोष गिनते थे, तब कतिपय सुविहित आचार्य उक्त कार्यों को सावद्य गिन के निषेध करते थे। इस वस्तुस्थिति का निर्देश आचारदिनकर में नीचे लिखे अनुसार मिलता है :—

"ततो गुरुर्नवजिनविम्बस्याग्रतः मध्यमांगुलीद्वयोर्ध्वीकरणेन रौद्र-दृष्ट्या तर्जनीमुद्रां दर्शयति। ततो वामकरेण जलं गृहीत्वा रौद्रदृष्ट्या बिम्बमाछोटयति। केषांचिन्मते स्नात्रकारा वामहस्तोदकेन प्रतिमामा-छोटयन्ति। (आचारदिनकर, २५२)।"[1]

पंन्यास श्री कल्याणविजयजी ने मध्ययुगीन इतिवृत्त के आधार पर 'निर्वाणकलिका" के विषय में जो महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है, उससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि निर्वाणकलिका का वस्तुतः श्रमण भ० महावीर द्वारा प्रवर्तित धर्मतीर्थ से, सर्वज्ञप्ररूपित आगमों से और यहां तक कि जैन संस्कृति से किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं, यह तो जैनेतर कर्मकाण्डियों के पदचिह्नों पर चलने वाले किसी चैत्यवासी आचार्य अथवा विद्वान् की कृति है। इस तथ्य से तो प्रत्येक विज्ञ जैनधर्मावलम्बी भली-भांति अवगत ही है कि शिथिलाचार में एड़ी से चोटी तक निमग्न चैत्यवासी परम्परा ने ही जैन धर्म के वास्तविक मूल विशुद्ध स्वरूप में अनेक प्रकार की विकृतियां एवं अशास्त्रीय परिपाटियां प्रचलित कीं, जिनकी कि छाप अद्यावधि जैनसंघ पर विविध विधाओं के माध्यम से विद्यमान है।

यह बड़े आश्चर्य और दुःख की बात है कि निर्वाणकलिका जैसी नितान्त आगम विरुद्ध एवं श्रमणाचार से पूर्णतः प्रतिकूल कृति शताब्दियों से विक्रम की

१. निबन्ध-निचय, पं. श्री कल्याणविजयजी गणि, निबन्ध सं. २२ श्री कल्याणविजय शास्त्रसंग्रह समिति, जालोर द्वारा ई. सन् १९६५ में प्रकाशित, पृष्ठ सं. २०७ से २१० ।

१२वीं शताब्दी तक श्रमरण भगवान महावीर के चतुर्विध धर्मसंघ का गले का हार कैसे बनी रही। विक्रम की बारहवीं शताब्दी में पौर्णमिक गच्छ के संस्थापक आचार्य श्री चन्द्रप्रभसूरि द्वारा किये गये क्रियोद्धार के अनन्तर अनेक गच्छों ने निर्वाणकलिका की उपेक्षा करना प्रारम्भ किया। पौर्णमिक गच्छ की भांति ही आगमिक गच्छ, अंचल गच्छ, तपागच्छ आदि अनेक गच्छों ने निर्वाणकलिका का बहिष्कार कर नवीन प्रतिष्ठा पद्धतियों का निर्माण किया। प्रतिष्ठा को द्रव्यस्तव घोषित करते हुए पौर्णमिक गच्छ ने तो अन्तिम निर्णय के साथ इस प्रकार का विधान कर दिया कि प्रतिष्ठा केवल श्रावक ही करे। पंच महाव्रतधारी साधु के लिए प्रतिष्ठा का कार्य करना श्रमणाचार के विरुद्ध है अतः कोई भी साधु प्रतिष्ठा कार्य न करे। तपागच्छ के आचार्य जगच्चन्द्रसूरि ने भी उनके समय में प्रचलित प्रतिष्ठापद्धतियों में सुधार करके एक नवीन प्रतिष्ठाकल्प का प्रारूप तैयार किया जिसे कालान्तर में तपागच्छ के आचार्य गुणरत्नसूरि और उनके शिष्य श्री विशालराज ने व्यवस्थित कर प्रतिष्ठाकल्प को अन्तिम रूप दिया। उसमें गुणरत्नसूरि ने स्तुति-दान, मंत्रन्यास, प्रतिमा में जिनेश्वर का आह्वान, मन्त्र द्वारा दिग्बन्ध, नेत्रोन्मीलन (प्रतिमा के नेत्रों में स्वर्णशलाका से अंजन करना) और देशना अर्थात् प्रतिष्ठाफल प्रतिपादक उपदेश करना—इन छः कार्यों का पंच महाव्रतधारी श्रमण अथवा आचार्य के कर्त्तव्य के रूप में और प्रतिष्ठा सम्बन्धी शेष सभी कार्यों का श्रावक के कर्त्तव्यों के रूप में विधान करते हुए उपर्युल्लिखित गाथा के अनन्तर निम्नलिखित रूप में व्यवस्था की।

"एतानि गुरुकृत्यानि, शेषाणि तु श्राद्धकृत्यानि इति तपागच्छ—समाचारी वचनात् सावद्यानि कृत्यानि गुरोः कृत्यतयाऽत्र नोक्तानि।"

खरतरगच्छीय लघु शाखा के आचार्य जिनप्रभसूरि ने तो अपनी कृति विधि-प्रपा (पृ० ९८) में प्रतिष्ठा विषयक इस प्रकार का विधान किया :—

"तदनन्तरमाचार्येण मध्यमांगुलीद्वयोर्ध्वी करणेन बिम्बस्य तर्जनीमुद्रा रौद्रदृष्ट्या देया। तदनन्तरं वामकरे जलं गृहीत्वा आचार्येण प्रतिमा आच्छोटनीया। ततश्चन्दनतिलकं, पुष्पपूजनं च प्रतिमायाः।"

किन्तु कालान्तर में आचार्य जिनप्रभसूरि द्वारा निर्मित विधि-प्रपान्तर्गत प्रतिष्ठा पद्धति के आधार पर लिखी गई खरतरगच्छीय प्रतिष्ठा पद्धति में, मूर्ति पर सचित्त जलाच्छोटन, प्रतिमा के चन्दन का तिलक लगाने और पुष्पों से पूजन करने आदि सभी प्रकार के सावद्य कार्य श्रावक के द्वारा ही निष्पन्न किये जाने का विधान करते हुए सुधार किया है :—

"पछइ श्रावक डावइ हाथिइं प्रतिमा पाणिइं छांटइ।"

इतना सब कुछ हो जाने के उपरान्त भी विक्रम की १५वीं शताब्दी तक जैन संघ में प्रतिष्ठा करवाना "साधु का ही कर्त्तव्य है अथवा श्रावक का ही" इस प्रश्न को

लेकर दो मत चलते ही रहे। कतिपय आचार्य प्रतिष्ठा करवाते समय स्वर्णकंकरण, स्वर्णमुद्रिका धारण, सचित्त जल पुष्पों का स्पर्श आदि को विधिविहित अनुष्ठान मान कर कतिपय अंशों में "निर्वाणकलिका" का ही अनुसरण करते रहे। किन्तु वि० सं० १५०८ में लोंकाशाह द्वारा समग्र धर्मक्रान्ति का सूत्रपात किये जाने के परिणामस्वरूप निर्वाणकलिका में उल्लिखित प्रतिष्ठाविषयक अशास्त्रीय एवं श्रमणाचार के नितान्त प्रतिकूल सधवा स्त्रियों द्वारा, भावी प्रतिष्ठाचार्य के शरीर पर तेलमर्दन, पीठी लगाने जैसे विधान शनैः शनैः लुप्तप्रायः ही होते गये।

"निर्वाणकलिका" में उल्लिखित विधान वस्तुतः एकादशांगी से अक्षरशः विपरीत एवं श्रमण संस्कृति पर घातक प्रहार करने वाले हैं अथवा नहीं—इसका निर्णय, क्षीर-नीर-विवेक के धनी, शास्त्रमर्मज्ञ, सत्य के उपासक और सभी विज्ञ पाठक स्वयं कर सकें, इसी अभिप्राय से निर्वाणकलिका के कतिपय अंशों को यहां मूल रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है :—

"अथाचार्याभिषेकः—आभिषेकिकनक्षत्रे स्वानुकूले सतारे चन्द्रे षड्त्रिंशद्-गुणालंकृतस्य श्रुतशीलगुणाचारसम्पन्नस्य कुर्यात्। तत्र दिक्पालानां वलिं दत्वा शुभेऽह्नि मंगलपूर्वकमविधवानारीभिस्तैलादिकर्मविधिना वर्णकं समारोप्य द्वादशाहं दशाहं वा क्षीरान्नभोजिनं पंचनमस्कारजपनिरतं शिष्यं विधाय आसन्नलग्नदिने संध्यायां व्याघाताद्येकतमं कालं संशोध्य प्रातरुत्थाय शुद्धकालं प्रवेद्य स्वाध्यायं प्रस्थाप्य ततश्चैशान्यां मण्डपवेदिकायां चतुर्हस्तं रजोभिश्च पंचवर्णैरुपशोभितं मध्य-लिखितद्वात्रिंशदंगुलं शुक्लपद्मं द्वात्रिंशदंगुलायामं षोडशांगुलं विस्तृतावाहनीयद्वारा-भिमुखसर्वरजोमुक्तपादपीठसहितं बाह्यचित्रवल्लीद्वारमक्षकोणस्थकन्दुकाद्युपशोभितं स्वस्वदिक्स्थावाहनीयद्वारपूर्व-दिग्वाहितद्वारं वा मण्डलमालिखेत्। तत्र वीथ्यन्तर्गतान् पूर्वादिक्रमेण शुक्लरजसाऽष्टौ शंखान् आनन्द-सुनन्द-नन्दि-नन्दिवर्धन-श्रीमुख-विजय-तार-सुतार-संज्ञान् सुभद्र-विजयभद्र-सुदन्त-पुष्पदन्त-जय-विजय-कुम्भ-पूर्णकुम्भ-संज्ञांश्च तथाविधान् कुम्भानालिखेत्। मण्डलस्योपरि धवलं विचित्रं वा किंकिणी-घण्टायुक्तं मुक्ताजालगवाक्षकोपेतं मणिदामोपशोभितं सच्चामरवस्त्रोपेतं लम्वमान-प्रतिसरकन्दुकाद्यलंकृतं वितानकं विदधीत। मण्डपस्याभ्यंतरं क्वचित्पद्मिनीपत्र-संछन्नमन्तरालेषु बहिश्च गौरसर्षपलाजाखण्डतण्डुलयव-दूर्वाकाण्डरजोभिश्च विचित्रं कुर्यात्। तोरणं चास्य ध्वजांकुशचीरमण्डितं चन्दन-मालायुक्तं पूर्वस्यां न्यग्रोधं, दक्षिणस्यामौदुम्बरं, पश्चिमायामाश्वत्थं, उत्तरस्यां प्लाक्षं विनिवेश्य त्रिदिक्षु प्रशस्तद्रुमजातानि च निवेशयेत्। शंखान् कलशांश्च मूर्तिमतो गोरोचनारचित-स्वस्तिकाष्टकार्चितकण्ठान् सर्वरत्नैः सर्वबीजैः सर्वौषधिगन्धैरद्भिश्च पूरितान् चन्दन-स्रक्दामकण्ठान् चन्दनोपलेपितान् शतकृत्वोऽभिमन्त्रितान् पीठिकाया बहिर्दिक्षु विदिक्षु च स्थापयेत्। तत्रायत आनन्दः। नात्यायतः सुनन्दः। महाकुक्षिर्नन्दी। सुनाभिर्नन्दिवर्धनः। ह्रस्वनाभि श्रीमुखः। नाभिमण्डली विजयः। सुनिर्घोषस्तारः। उच्चस्वनः सुतारश्चेति। कलशाश्च मन्थर-सुभद्रः। किंचिदुन्नतो विभद्रः। प्र-

लोष्ठः सुदन्तः। ह्रस्वोष्ठः पुष्पदन्तः। मन्थरग्रीवो जयः। शोभनग्रीवो विजयः इति मण्डलस्योत्तरे दुःस्वरं सदशाहतसितवस्त्रच्छन्नं भद्रासनं विन्यस्य तस्मिन् शिष्यं शंखतूर्यवीणावेणुस्वस्तिपुण्याहमंगल-ध्वनिभिः कृतमंगलं पूर्वद्वाराभिमुखं समुपवेश्य जातवीजशरावैश्चित्रमुखैर्गु णैरंजलिकारकैर्नागैरभिन्नपुटकोकाभिर्निमृ श्य वल्मीकाग्र-पर्वताग्र-नदीतीर-महानदीसंगम-कुशविल्वमूल-चतुष्पथ-दन्तिदन्त-गोशृंग-एकवृक्षगृहीताभिर्मृ द्भिः प्रथमं, तदनु पंचामृतेन, ततो वासचन्दनपंचपल्लव-कपायैः सर्वगन्धैश्च संस्नाप्य प्रदक्षिणोपनीतैः पूर्वविन्यस्तकुम्भैराचार्यमन्त्रमनुस्मरन्नभिषिंचेत्। ततः स्नानवस्त्रं परित्यज्य शुक्ले वाससी परिधाय्याखण्डतण्डुलैः स्नापयेत्। तैश्चप्रवृद्धैः प्रवृद्धां, समैः समां, हीनैश्च हीनामुन्नतिं जानीयात्। तदनु मूलमण्डपवेदिकायां पंचवर्णेन रजसा रत्नकांचनरजतमयप्रारत्रयोपेतं गोपुर-चतुष्का-लंकृतं तोरण-ध्वज-पुष्करिणीपुष्प-प्राकारोपशोभितं समवसरणमालिख्य मध्ये च पद्मरागादिभिर्निर्मिते मृगाधिपासने चतुर्मु खमष्टप्रातिहार्योपेतं भगवन्तं संस्थाप्य वेदीयवारकवितानकपुष्पगृहादिकं पूर्ववत्कृत्वा शिष्यं तत्रानीय सकलिकां विधाय मन्त्रैरालभ्य मुक्तपुष्पैः सम्पूज्यालंकारैरलंकृत्याक्षतानाचार्यमन्त्रेणाभिमयानुयोग-गणानुज्ञार्थं चैत्यवंदनं श्रुतादिदेवतानां च कायोत्सर्गाणि कृत्वा पंच-नमस्कारपूर्वकं नन्दिसूत्रमावर्तयेत्। शिष्योऽपि मुखवस्त्रिकया स्थगितमुखकमलः शृणुयात्। अनन्तरमाचार्यो भगवत्पादयुगे वासान् प्रक्षिप्य गोमयशालिपुष्पादिचूर्णमयान् संघ भट्टारकस्य वासान् दत्वा एवं ब्रूयात्—"अहमस्य साधोरनुयोगमुक्तलक्षणमनुजानामि क्षमाश्रमणानां हस्तेन द्रव्यगुणपर्यायैर्व्याख्यांगरूपैरेषोऽनुज्ञातः" इत्यत्रान्तरे वन्दित्वा शिष्यः 'संदिशत यूयं किं भणामि' इत्यादि वर्णजातं यथैव सामायिकैः तथात्रैव द्रष्टव्यमिति। तदनुवासक्षेपपूर्वकं प्रदक्षिणात्रयं कारयित्वाऽनुयोगानुज्ञां दद्यात्। तदर्थं कायोत्सर्ग कृत्वा निपद्यायामुपविश्य आत्मनो दक्षिणभागे शिष्यमुपवेश्य लग्नवेलायां कुम्भकयोगेनाचार्यपरम्परागतं पुस्तकादिषु लिखितमाचार्यमन्त्रं निवेदयेत्। ततो गन्धपुष्पाक्षतान्वितं मुष्टित्रयमक्षाणां दत्वा तदनु छत्र-चामर-हस्त्यश्व-शिविका-राजांगानि योगपट्टक-खटिका-पुस्तकाक्षसूत्र-पादुकादिकं च दद्यात्। स्वशाखानुगतं च नाम दत्वा स्वगच्छेन सह द्वादशावर्तवन्दनकं दत्वा गणं समर्प्याज्ञां श्रावयेत्—"अद्यप्रभृति दीक्षाप्रतिष्ठाव्याख्यादिकं ज्ञात्वा परीक्ष्य च त्वया विधेयम्" इति। ततश्च 'व्याख्यानं कुरु' इत्यनुज्ञातोनन्द्यादि व्याख्यानं यथाशक्त्या करोत्यभिनवाचार्यः। तदनु मूलाचार्यो निपद्यायां समुपविश्य—

षट्त्रिंशदुज्ज्वलमहागुणरत्नधुर्यै
रेतत्पदं प्रथितगोतममुख्यपुंभिः।
आसेवितं सकलदुःखविमोक्षणाय,
निर्वाहणीयमशठं भवतापि नित्यम् ॥१॥

आरोप्यते पदमिदं वहुपुण्यभाजो,
निर्वाहियन्ति च निरन्तरपुण्यभाजः ।
आराध्य शुद्धविधिना घनमेकमेकं,
संप्राप्नुवन्ति शनकैः शिवधामसौख्यम् ।।२।।

नास्मात्पदाज्जगति साम्प्रतमस्ति किंचि–
दन्यत्पदं शुभतरं परमं नराणाम् ।
येनात्र पंचपरमेष्ठिपदेषु मध्येऽ–
तिक्रान्तमाद्ययुगलं खलु कालदोषात् ।।३।।

इत्यादि वाक्यैराचार्योऽनुशास्तिं दद्यात् । तदनु भगवते निवेद्य "आचार्योऽयं त्वदनुज्ञातो मया कृतो भवत्प्रसादादधिकारं निर्विघ्नेन करोतु" इति विज्ञापयेत् । पुनर्भगवते प्रणिपातं कारयित्वा भगवन्तं क्षमापयेत् । स च लब्धाधिकारो गुरुपारम्पर्यागतमधिकारं कुर्यादिति ।। एवमनेन विधिना राज्यकामस्य भ्रष्टराज्यस्य पुत्रकामसौभाग्यकामयोश्चाभिषेकं कुर्यादिति । अत्र शंखादीनां मन्त्राः । ॐ आं ईं उं आनन्दात्मने नमः । एवं शेषा अपि पूर्वोत्तरान्ता विज्ञेयाः । ॐ आं इं ऊं सर्वरत्नेभ्यो विश्वात्मकेभ्यो नामरक्षामन्त्रः । सर्वबीजेभ्यः इन्द्रात्मकेभ्यो नमः । बीजमन्त्रः । सर्वोषधिभ्यः सोमात्मिकाभ्यो नमः । औषधिमन्त्रः । सर्वगन्धेभ्यः पार्थिवात्मकेभ्यो नमः । गन्धमन्त्रः । सर्वमृद्भ्यः पृथिव्यात्मिकाभ्यो नमः । मृत्तिकामन्त्रः । न्यग्रोधात्मने सुराधिपतोरणाय नमः ।१। पलाशात्मने तेजोधिपतोरणाय नमः ।२। उदुम्बरात्मने धर्मराजतोरणाय नमः ।३। सिद्धकात्मने रक्षाधिपतोरणाय नमः ।४। अश्वत्थात्मने सलिलाधिपतोरणाय नमः ।५। मधुकात्मने पवनाधिपतोरणाय नमः ।६। प्लक्षात्मने यक्षाधिपतोरणाय नमः ।७। बिल्वात्मने विद्याधिपतोरणाय नमः ।८। तोरणमन्त्रः ।। इति आचार्याभिषेकः ।। (निर्वाणकलिका, पत्र ७ (२) से ९) ।

'आचार्याभिषेक' के पश्चात् पत्र संख्या १० (१ और २) में "भूपरीक्षा", पत्र संख्या ११ (१) में शिलान्यास विधि उल्लिखित है । इन दोनों को विज्ञ पाठक देखना चाहें तो मूल प्रति से देख सकते हैं ।

पत्र सं० ११ (२), १२ और १३ पर प्रतिष्ठाविधि उल्लिखित है, जो इस प्रकार है :—

।। अथ प्रतिष्ठाविधि ।।

तत्र स्थाप्यस्य जिनविम्वादेर्भद्रपीठादौ विधिना न्यसनं प्रतिष्ठा । तस्याश्च स्थापकत्रयं शिल्पी १, इन्द्रः २, आचार्य ३ श्चेति । तत्राद्यः सर्वांगवयवरमणीयः क्षान्तिमार्दवार्जवसत्यशौचसम्पन्नः मद्यमांसादिभोगरहितः कृतज्ञो विनीतः शिल्पी सिद्धान्तवान् विचक्षणः धृतिमान् विमलात्मा शिल्पिनां प्रधानो जितारिषड्वर्गः

कृतकर्मा निराकुल इति १। इन्द्रोऽपि विशिष्टजातिकुलान्वितो युवा कान्तशरीरः कृतज्ञो रूपलावण्यादिगुणाधार सकलजननयनानन्दकारी सर्वलक्षणोपेतो देवतागुरुभक्तः सम्यक्‌रत्नालंकृतः व्यसनासंगपराङ्मुखः शीलवान् पंचाणुव्रतादिगुणयुतो गम्भीरः सितदुकूलपरिधानः कृतचन्दनांगरागो मालतीरचितशेखरः कनककुण्डलादिभूषित-शरीरस्तारहार विराजितवक्षस्थलः स्थपतिगुणान्वितश्चेति २। सूरिश्चार्यदेश-समुत्पन्नः क्षीणप्रायकर्ममलो ब्रह्मचर्यादिगुणगणालंकृतः पंचविधाचारयुतो राजादीना-मद्रोहकारी श्रुताध्ययनसम्पन्नः तत्वज्ञो भूमिगृहवास्तुलक्षणानां ज्ञाता दीक्षाकर्मणि प्रवीणो निपुणः सूत्रपातादिविज्ञाने स्रष्टा सर्वतोभद्रादि मण्डलानामसमः प्रभावे आलस्यवर्जितः प्रियंवदो दीनानाथवत्सलः सरलस्वभावो वा सर्वगुणान्वितश्चेति। स च षष्ठाष्टमादितपोविशेषं विधाय कारापकानुकूले लग्ने हस्तादारभ्य नवहस्ता-न्तानां प्रतिमानामाद्यासु तिसृषु अष्टनवदशहस्तं इतरासु चतुर्हस्तादि—प्रतिमासु हस्तद्वयवृद्ध्या, यद्वा एकहस्तादिक्रमेणैव द्वादशद्विहस्तवृद्ध्या प्रागेव मण्डपं प्रासाद-स्याग्रतः कारयित्वा तस्य प्राच्यामीशान्यां वा स्नानमण्डपमधिवासनामण्डपार्धेन निवेश्य लघुप्रतिमासु पंचषट्सप्तहस्तानि तोरणानि इतरासु च वसुवेदांगुलाग्रणि न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षद्रुमसमुद्भवानि पूर्वादारभ्य शान्तिभूतिबलारोग्यसंज्ञकानि तोरणान्यस्त्र—शुद्धानि वर्मावगुण्ठितानि प्रणवेन विन्यस्य हृन्मन्त्रैः स्वनामभिरभ्यर्च्य तच्छाखयोर्मेघमहामेघौ कालनीलौ जलाजलौ अचलभूलितौ प्रणवादिस्वाहान्तैः स्व-नामभिः सम्पूज्य, ततो द्वारेषु कमलश्वेतइन्द्रप्रायरक्तकृष्णनीलमेघपीतपद्मवर्णाः पताकाश्च दत्वा मध्ये श्वेतचित्रे वा ध्वजे सम्पूज्य पाश्चात्यद्वारेण प्रविशेत्। ततः पश्चिमायां पूर्वाभिमुखो वा मण्डपनिरीक्षणप्रेक्षणताडनाभ्युक्षणावकिरणपूरण समी-करणसेवनाकुट्टनसन्मार्जनोपलेपनाचक्रीकरणान्तैः कर्मभिः स्वस्वमन्त्रोपेतैः संस्कृत्य चन्दनच्छटाभिः सम्प्रोक्ष्योज्ज्वलस्वच्छभतान्विचिन्तयन् विनिक्षिप्य पुनस्तान् दर्भ-कूर्चिकया समाहृत्य मण्डपस्य मध्ये यवारकोपशोभितां छत्रचामर—भृंगारकलशध्वज-दर्पणव्यजनसुप्रतीकाष्टमंगलकान्वितां वेदीं संस्थाप्य ततो वासुकि—निर्मोकलधुनी प्रत्यग्रवाससी दधानः करांगुलीविन्यस्तकांचनमुद्रिकः प्रकोष्ठदेश—नियोजितकनक-कंकणः तपसा विशुद्धदेहो वेदिकायामुदङ्मुखमुपविश्य भूतशुद्धिं विधाय सकलीकर-णार्घपात्रं कृत्वा इन्द्रादीनां कवचं विधाय सत्पुष्पाक्षतगन्धधूप—पक्वान्नमनोहरं सर्व-विघ्नशान्तये स्वयमाचार्य इन्द्रादिमूर्तिधरैः सह सर्वासु दिक्षु बलिं प्रक्षिप्य क्षेत्राधिपं पुष्पधूपाक्षतनैवेद्यदीपादिना सम्पूज्य हस्तौ पादौ च प्रक्षाल्य कृताचमनो वेदिकाया-मुपविश्य पंचवर्णेन रजसा स्वर्णवाहनायुधालंकृतान् लोकपालान् संलिख्य दधिदूर्वा-क्षतादिभिर्वाहनायुधसमन्वितान् सम्पूज्य अनन्तरं मण्डपाद्बहिः कुमुदांजनचमर-पुष्पदन्ताभिधानान् क्षेत्रपालान् पूजयेत्। ततो हेमाद्येकतमं कुम्भमानीय गालिता-म्भसा प्रपूर्य संहृतविकारेष्वासनं दत्वा तत्र मूर्तिरूपं कुम्भं विन्यस्य साङ्गं जिनेशं सम्पूज्य पूर्वद्वारि प्रशान्तशिशिरौ। दक्षिणे पर्जन्या—शोकौ। पश्चिमे भूतसंजीवना-मृतौ। उत्तरे धनेशश्रीकुम्भौ सवस्त्रौ स्रवसूत्रकण्ठौ सहिरण्यौ चूताश्वत्थदलभूषित-वक्त्रौ बीजपूरादिफलसहितौ नन्द्यादिद्वाराधिष्ठितौ सम्पूज्य यथाक्रमं स्वस्वदिक्षु

इन्द्रादिधरणेन्द्रान्तं लोकपालाधिष्ठितं कुम्भदशकं ततो खण्डधारया भृंगारेण सह कुम्भमाभ्राम्य भो भोः शक्र यथा स्वस्यां दिशि विघ्नप्रशान्तये सावधानेन स्नानान्तं यावद्भवितव्यमिति ।

अनेन क्रमेण लोकपालान् सम्बोध्य । ततः स्नानमण्डपं दुग्धदधिसर्पिश्चन्दनं कुंकुमं सुमनसो धूपं तथा रत्नानि मृत्तिकाः कषायादिकं प्रतिष्ठोपयोगकारकव्रातं तथा रत्न—फलसस्यौषधीअष्टवर्गादिसंज्ञकान् कुम्भान्विन्यस्य अस्त्रप्रोक्षितान् कवचावगुण्ठितान् स्वसंज्ञाभिरभ्यर्च्य क्षीरदधिसर्पिरिक्षुसमुद्ररूपान् परिकल्प्य बहिरन्यानपि कुम्भान् संस्थाप्य लोकपालायुधांकितं शिलानवकं पंचकं वा तासु कलशोपेतं समानीय स्नानमुपक्रमेत् ।

सप्तधान्येन रत्नसमूहेनमृद्भिः कषायवर्गेण मूलिकाभिरष्टवर्गेणोदकान्तर-चन्दनेन तीर्थाम्भोभिः पंचगव्यादिना संस्नाप्य रक्तवस्त्रैराच्छाद्य मण्डपं प्रदक्षिणीकृत्य पाश्चात्यद्वारेण प्रवेश्य वेदिकायां संस्थाप्य अधिवासनामन्त्रेणाधिवास्य पुष्पवास-धूपादिभिः सम्पूज्य मुद्रान्यासं कृत्वा धर्माभिजप्तवाससा संच्छाद्य नैवेद्यं दत्वा अर्ह-दादीनि पंचतत्वानि विन्यस्यक्ष्माप्तेजोवाताकाशगन्धरसरूपस्पर्शशब्दोपस्थपायुपादपा-णिवाक्नासिकाजिह्वाचक्षुस्त्वक्श्रोत्रमनोऽहंकारबुद्धय इति निष्ठुरया संनिरोध्य शिलां पूजयेत् । पूर्वादिशिलासु च तत्वानि सर्वाणि विन्यस्य निरोध्य पूजयेत् ।।

अथ शिलाकुम्भनामानि—नन्दाभद्रा जया रिक्ता चेति हस्तप्रमाणा अष्टां-गुलोच्छ्रिताः स्वस्तिकाङ्किताः शैलमये शैलमयाः इष्टिकामये तन्मयाः पद्म-महापद्म—शंख—मरकत—समुद्राख्याः कुम्भा इति पंच-मूर्तिपक्षः । नवपक्षे तु सुभद्र—विभद्र—सुदन्त—जय—विजय—पूर्व—उत्तर—संज्ञकाः शिलाः । सुनन्दा भद्रा जया पूर्णा अजिता विजया मंगला धरणीसंज्ञकाः मध्यस्था ब्रह्मरूपिणीनि ।

ततः शिलां कुम्भांश्चादाय प्रासादस्थानमागत्य गर्तासु ॐ अर्हं जिनाय नमः इति मध्यम गर्तायां कुम्भं विन्यस्य लग्नकाले सिद्धशक्ति विन्यस्य संचिन्त्य ॐ ह्रां जिनाय स्वाहेति मन्त्रमुच्चार्य नमस्कारेण शिलां निवेशयेत् ।

ततः पूर्वादिगर्तासु सिद्धानां शक्ति विन्यस्य तदनन्तरं । ॐ लूं इन्द्राय नमः । ॐ रूं अग्नये नमः । ॐ सूं यमाय नमः ॐ षूं नैर्ऋतये नमः । ॐ वूं वरुणाय नमः । ॐ गूं वायवे नमः । ॐ यूं कुबेराय नमः । ॐ हूं ईशानाय नमः । ॐ नागाय नमः । ॐ ब्रह्मणे नमः इति लोकेशमन्त्रैस्ताम्रमयकुम्भान् घृतमधुपूरितान् कृतस्रक्सूत्रकण्ठान् विन्यस्य तेषामुपरि शिलाः संस्थाप्य धर्मादिचतुष्कं अधर्मादिचतुष्कं च शिलाना-मधिष्ठायकत्वेन विन्यस्य विशेषतः पूजां विधाय ततः संघादिकं पूजयेदिति ।

पादकास्ते तु संकल्पाः, प्रासादस्य तु देशिकः ।
सिद्धशक्ति तु संयोज्य, व्योमप्रासादमध्यगाम् ।।

इति पादप्रतिष्ठा प्रथमा ।

।। अथ द्वारप्रतिष्ठाविधिः ।।

तत्र पूर्ववद्द्रव्यव्रातमाहृत्य द्वारपालपूजादिकं कर्क कृत्वा द्वारांगानि कषायादिभिः संस्नाप्य रक्तयुगयासंछाद्य मण्डपमध्ये वेदिकायामारोप्य अथ औदुम्बर आयान्तं क्ष्माप्तेजोवाताकाशगन्धरसस्पर्शशब्दोपस्थपायुपादपाणिवाक्घ्राण जिह्वाचक्षुस्त्वक्श्रोत्रमनोऽहंकारबुद्धिरागविद्याकलानियतिकालमायेति तत्र व्रातमारोप्य गन्धपुष्पाक्षतादिभिः सम्पूज्य स्वमन्त्रेणाधिवास्य द्वारदेशे वास्तुं सम्पूज्य रत्नादिपंचकं विन्यस्य प्रणवासनं दत्वा सूरिः स्वमन्त्रेण लग्नवेलायां द्वारं विन्यस्य यवसिद्धार्थकक्रान्ताऋद्धिवृद्ध्यमृतमोहनागोशृंगमृद्वरोत्पलकुष्ठतिलाभिषवलक्ष्मणारोचनासहदेवीदधिदूर्वेति द्रव्यसमूहं विचित्रकार्पटे बद्ध्वा ऊर्ध्वोदुम्बरे यक्षेशश्रियं चात्मनो दक्षिणवामशाखयोः कालगंगे महाकालयमुने विन्यस्येदिति देवताषट्कं जिनाज्ञया संनिरोध्य दूर्वादध्यक्षतादिभिः सम्पूजयेत् ।

पूर्ववत् शान्तिबलिं दत्वा भगवन्तं सम्पूज्य संघं प्रपूजयेत् । इति द्वारप्रतिष्ठा द्वितीया ।।

।। अथ बिम्बप्रतिष्ठाविधिः ।।

तत्र पूर्ववत् मण्डपद्वयं कृत्वा कारकसमूहमाहरेत् । सुवर्णरजतताम्रमयं मृन्मयं वा स्नानार्थं कलशाष्टकम् ।

आद्यकुम्भचतुष्कम् । वारकाणामष्टोत्तरशतं चतुरंगो वेदी मल्लकानां पंचाशत् वेणुयववारकान् शरावप्ररूपंश्च स्थपतिकुम्भं यवव्रीहिगोधूमतिलमाषमुद्गवल्लचणकमसूरतुवरीवणबीजनीवारश्यामकादिधान्यवर्गः ।।१।। वज्रसूर्यकान्तनीलमहानीलमौक्तिकपुष्परागपद्मरागवैडूर्यादिरत्नवर्गः ।।२।। हेमरजतताम्रकृष्णलोहत्रपुरितिकाकांस्यसीसकादिलोहवर्गः ।।३।। न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थचम्पकाशोककदम्बाम्रजम्बूबकुलार्जुनपाटलावेतसकिंशुकादि कषायवर्गः ।।४।। वल्मीकपर्वताग्रनद्युभयतट महानदीसंगमकुशबिल्वमूलचतुष्पथदन्तिदन्तगोशृंगराजद्वारपद्मसरएकवृक्षादिमृत्तिकावर्गः ।।५।। गंगायमुनामहीनर्मदासरस्वतीताप्तीगोदावरीसमुद्रपद्मसरस्ताम्रपर्णीनदीसंगमादि पानीयवर्गः ।।६।। सहदेवीजयाविजयाजयन्तीअपराजिताविष्णुक्रान्ताशंखपुष्पीबलाअतिबलाहेमपुष्पीविशालानाकुलीगन्धनाकुलीसहवाराहीशतावरीमेदामहामेदाकाकोलीक्षीरकाकोलीकुमारीबृहतीद्वयं चक्रांकामयूरशिखालक्ष्मणादूर्वादर्भपतंजारीगोरम्भारुद्रजटालज्जालिकामेषशृंगीऋद्धिवृद्ध्याद्यौषधिवर्गः ।।७।। प्रियंगुवचारोअयष्टीमधुकुष्ठदेवदारुउशीरऋद्धिवृद्धिशतावरीप्रभृत्यष्टकवर्गः ।।८।। वालकामलकजातिपत्रिकाहरिद्राग्रन्थिपर्णकमुस्ताकुष्ठादिसर्वौषधिवर्गः ।।९।। सिल्हकुष्ठकमांसीमुरमांसीश्रीखण्डागुरुकर्पूरनखपूतिकेशादिगन्धवर्गः ।।१०।।

वासाश्रीखण्डकुंकुमकर्पूरमुद्रिकाकंकणमदनफलानि रक्तसूत्रंऊर्णासूत्रं लोहमुद्रिकाऋद्धिवृद्धियुतंकंकणं यवमालिकातर्कुका शिलागोरोचनाश्वेत सर्षपासितयुगाद्वयं पट्टाच्छादनं पटलकानि घण्टाः धूपदहनकानि रजतवट्टिकां सुवर्णशलाकां कांस्यवट्टिकां आदर्शः । नालिकेर बीजपूरककदलक दलक नारंगाम्र जम्बूकूष्माण्ड वृन्ताकामलकबदरादि प्रशस्त फलवर्गः । पूंगीफलनागवल्लीदलानि मातृपुटिकानां शतमष्टोत्तरं । अखण्डतण्डुलानां सेतिका इक्षुयष्टिकापुष्पाणं च इति प्रचुरमानीयोत्तमवेदिकायां कारकजातं विन्यस्य हस्तशतप्रमाणायां भुवि जीवरक्षादिना क्षेत्रशुद्धिं विदध्यात् । तथा चोक्तम् ।

काउं खेत्तविसुद्धिं, मंगलकोउयजुयं मणभिरामं ।
वत्थुं जत्थ पइट्ठा, कायव्वा वीयरायस्स ।।१।।

इति तदनु पूर्ववत् मण्डपप्रदेशं विधाय ततो मंगलार्थमादौ चैत्यवन्दन शांत्यर्थं देवतानां च कायोत्सर्गाणि कृत्वा तदनु वेदिकायामुपविश्य ॐ नमो अरिहंताणं नमो सिद्धाणं नमो आयरियाणं नमो उवज्झायाणं नमो लोए सव्वसाहूणं ॐ नमो सव्वोसहिपत्ताणं ॐ नमो विज्जाहराणं ॐ नमो आगासगामीणं कं क्षं नमः अशुचिः शुचिर्भवामि स्वाहेति पंचसप्तवारान् सुरभिमुद्रया शुचित्वापादनायात्मनि शुचिविद्यां विन्यस्य श्रीमदर्हदादिमन्त्रैरात्मनो रक्षां कुर्यात् । तथा चागमः—

सुइविज्जाए सुइणा, पंचंगाबद्धपरियरेण चिरा ।
निसिऊण जहाठाणं, दिसि देवयमाइए सव्वे ।।१।।

एवं सन्नद्धगत्तो य, सुइ दक्खो जिइंदिओ ।
सियवत्थपाउरंगो, पोसहिओ कुणइ अ पइट्ठम् ।।२।।

ततश्च श्रद्धायुक्तं शुचितपसा शुद्धदेहं शेखरकटककेयूरकुण्डलमुद्रिकाहारवैकक्षादिषोडशाभरणोपेतं देवस्य दक्षिणभुजाश्रितमिन्द्रं परिकल्पयेत् । उक्तं च—

उइयदिसासु विणिवेसियस्स, दक्खिणभुयागुमग्गेण ।
उत्तमसियवत्थविनसिएणं, कयसुकयकम्मेणं ।।१।।

तदनन्तरमिन्द्रस्य मन्त्रमयं कवचं कृत्वा नमो अरिहन्ताणं नमो सिद्धाणं नमो आयरियाणं नमो आगासगामीणं नमो चारणाइलद्धीणं जे इमे किंनरकिंपुरिसमहोरगगरुलसिद्धगन्धव्वजक्खरक्खसभूयपिसायडाइणिपभइ जिणघरणिवासिणो नियनियनिलयट्ठिया य वियारिणो सन्निहिया य असन्निहिया य ते सव्वे विलेवणपुप्फधूवदीवसणाहं बलिं पड़िच्छन्तु तुट्ठिकरा भवन्तु सिवंकरा भवन्तु सन्तिकरा भवन्तु सत्थयणं कुणन्तु सव्वजिणाणं संनिहाणं भावओ पसन्नभावेण सव्वत्थ रक्खं कुणन्तु सव्वदुरियाणि नासन्तु सव्वासिवं उवसमन्तु सन्तिपुट्ठितुट्ठिसिवसत्थयणकारिणो भवन्तु स्वाहेत्यादिमन्त्रेण विघ्नोच्चाटनाय भूतबलिं प्रक्षिपेत् ।

ततः प्रतिमाकोणेषु स्रक्सूत्रफलान्वितान् चतुःकुम्भान् संस्थाप्य ह्रां ललाटे। ॐ ह्रीं वामकर्णे। ॐ ह्रूं दक्षिणकर्णे ॐ ह्रौं शिरसि पश्चिमभागे। ॐ ह्रः मस्तकोपरि। ॐ क्ष्मां नेत्रयोः। ॐ क्ष्मीं मुखे। ॐ क्ष्मूं कण्ठे। ॐ क्ष्मौं हृदये। ॐ क्ष्मः बाह्वोः। ॐ क्रों उदरे। ॐ ह्रीं कट्यां। ॐ ह्रूं जंघयोः। ॐ क्ष्मूं पादयोः। ॐ क्ष्मः हस्तयोरिति कुंकुमश्रीखण्डकर्पूरादिना चक्षुःप्रतिस्फोटादिनिवारणाय प्रतिमायां विलिखेत्।

तदनु ॐ ह्रूं क्षूं फुट् किरिटि-किरिटि घातय-घातय परविघ्नानास्फोटयास्फोटय सहस्रखण्डान् कुरु-कुरु परमुद्रां छिन्द-छिन्द परमन्त्रान् भिन्द-भिन्द क्षः फट् स्वाहेत्यनेन श्वेतसर्षपान् परिक्षिप्य दिग्बन्धाय पूर्वादिकाष्ठासु विनिक्षिप्य तदनु चाचार्यश्चतुर कलशान् गालिताम्भसा प्रपूर्य पुष्पाक्षतादिभिः सम्पूज्य मन्त्रैरालभ्य स्थपतिं च वस्त्रालंकारताम्बूलादिना संपूज्य मुद्रितं कलशं समर्प्य शेषांश्चेन्द्रादीनां समर्प्येष्टांशसमयेसूत्रधारकलशपुरःसरां प्रतिमां स्नापयेत्। इति प्रथमं कलशस्नानम्॥

ततः सप्तधान्यरत्नमृत्तिकाकषायौषधिअष्टवर्गसर्वौषधिपंचामृतगन्धवासचन्दनकुंकुमकर्पूरतीर्थोदकादियुक्तैः स्वस्वमुद्राभिमन्त्रितैः कुम्भैः स्नाप्येदिति।

अत्र स्नानमन्त्राः। ॐ नमो यः सर्वशरीरावस्थिते महाभूते आढुजलं गृह्ण-गृह्ण स्वाहेति प्रथमस्नानषट्कस्यायं मन्त्रः।

ॐ नमो यः सर्वशरीरावस्थिते पृथु विपृथु-विपृथु गन्धं गृह्ण-गृह्ण स्वाहेत्यष्टवर्गादिस्नानसमूहस्यायं मन्त्रः।

ॐ नमो यः सर्वशरीरावस्थिति मेदिनि पुरु-पुरु पुष्पवति पुष्पं गृह्ण-गृह्ण स्वाहेति समस्तस्नानानां पुष्पमन्त्रोऽयम्।

ॐ नमो यः सर्वशरीरावस्थिते दह-दह महाभूते तेजोधिपतये धूपं गृह्ण-गृह्ण स्वाहेति समस्तस्नानानां धूपमन्त्रोऽयम्।

तदेवमाकारशुद्धिं विधाय परमेष्टिमुद्रया प्रतिमायां भगवन्तमावाहयेत्। ॐ नमोऽर्हत्परमेश्वराय चतुर्मुखपरमेष्ठिने त्रैलोक्यनताय अष्टदिक्कुमारीपरिपूजिताय देवाधिदेवाय दिव्यशरीराय त्रैलोक्यमहिताय आगच्छ-आगच्छ स्वाहा।

ततोऽभिमन्त्रितचन्दनेन प्रतिमां सर्वांगां समालिप्य अंजलिमुद्रया पुष्पाण्यधिरोप्य धूपं चोद्ग्राह्य वासान् प्रक्षिप्य श्वेतवाससा प्रच्छाद्य मूलमन्त्रेण संपूज्य हृदये संस्थाप्य मण्डपं प्रदक्षिणीकृत्य हिरण्यकांस्यवसुरत्नकरम्बकपर्दकप्रक्षेपपूर्वकं नीत्वा मण्डपाग्रे हृदये रथात्समुत्ताय पश्चिमद्वारेण मण्डपं प्रवेश्य भद्रपीठे संस्थाप्य अग्रतः पीठिकायां नन्दावर्ताख्यमण्डले मन्त्रान् सम्पूजयेत्। तत्र चन्दनानुलिप्ते

श्रीपर्णीफलके...................... ....केसरेषु मातृगणं प्रणवादिनमोन्तं सम्पूजयेत्।

तदनु पत्रेषु जयादिदेवताचतुष्टयमाग्नेयादिसु जम्भादिदेवतागणं वहिश्चतुर्विंशत्यब्जपत्रेषु लोकान्तिकदेवतागणं अनन्तरषोडशपत्रेषु विद्याषोडशकमभ्यर्च्य उपरितनपद्मद्वये क्रमेण वैमानिकदेवान् सदेवीकान् दिक्पालांश्च सम्पूज्य ततो द्वादशगणादिकमशेषमपि देवतागणं मण्डलध्वजतोरणादिकं च पुष्पाक्षतादिभिरभ्यर्चयेत् ।..........
(निर्वाणकलिका, पत्र ११ (२) से १६ (२) तक)

इसके पश्चात् पत्र सं० १७ से २१ तक निर्वाणकलिका में इन्द्रों, अनेकानेक सदेवीक देवों, उन देवों के आयुधों तक को आचार्य द्वारा "नमः" उच्चारण के साथ नमन करने के विधान के पश्चात् पत्र संख्या २२ (१) में निम्नलिखित रूप में विधान किया गया है :—

"तदनु रूपयौवनलावण्यवत्यो रचितोदारवेषा अविधवाः सुकुमारिकाः गुड़पिण्डपिहितमुखान् चतुरः कुम्भान् कोणेषु संस्थाप्य कांस्यपात्रीविनिहितदूर्वादध्यक्षत-तर्कु काद्युपकरणसमन्विताः सुवर्णादिदानपुरस्सरमष्टौ चतस्रो वा नार्यो रक्तसूत्रेण स्पृशेयुः । शेषांश्च मंगलानि दद्युः । तथा चागमः —

चउ नारीओमिणणं, नियमा अहियासु नत्थि उ विरोहो ।
नेवत्थं व इमासि, जं पवरं तं इहं सेयं ।।१।।
दिक्खिय जिणओमिणणा, दाणाउ ससत्तिओ तहेयंमि ।
वेहव्वं दालिद्दं, न होइ कइयावि नारीणं ।।२।।

तासां च लवणगुड़ादि दत्वा लवणारात्रिकमुच्चारयेत् । तथा चोक्तम् :—

आरत्तियमवयारणमंगलदीवं च निम्मिउं पच्छा ।
चउनारीहिं निम्मच्छणं च विहिणा उ कायव्वं ।।३।।

ततो वर्धमानस्तुतिभिः संघसहिताश्चैत्यवन्दनमधिवासनादिदेवतानां कायोत्सर्गाणि कुर्यात् । उक्तं च—

वंदितु चेइयाइं, उस्सग्गो तह य होइ कायव्वो ।
आराहणानिमित्तं, पवयणदेवीए संघेण ।।४।।
विश्वाशेषेसु वस्तुसु मन्त्रैर्याजस्रमधिवसति वसतौ ।
सास्यामवतरतु श्रीजिनतनुमधिवासनादेवी ।।५।।
प्रोत्फुल्लकमलहस्ता जिनेन्द्रवरभवनसंस्थिता देवी ।
कुन्देन्दुशंखवर्णा देवी अधिवासना जयति ।।६।।

एवमनेन विधिना श्रीमन्तभगवन्तमधिवास्य गन्धधूपपुष्पाद्यधिवासितायां स्वास्तीर्णायां विद्रुमशय्यायां शाययेत् । वर्मजप्ताऽरक्तवाससा चाच्छादयेत् ।

तदनु सप्तगीतवाद्यमंगलादिना चतुर्विधश्रमणसंघेन सह । ततः प्रभातायां शर्वर्यामुदये प्राप्ते वासरे सूरिः प्रतिष्ठांकुर्यात् । उक्तं च—

इय विहिणा अहिवासेज्ज देवबिम्बं निसाए सुद्धमणो ।
तो उग्गयम्मि सूरे होइ पइट्ठासमारम्भो ।।१।।

।। इति अधिवासना विधिः ।।

ततः कांचित् कालकलां विलम्ब्य पूर्ववच्छान्तिबलिं प्रक्षिप्य चैत्यवन्दनादिकं कर्म कृत्वा वस्त्रमपनीया विधवानायिकायाः समर्पयेत् । ततो रजतमयवर्तिकानिहित-मधुदिव्यया सुवर्णशलाकया अर्हन्मन्त्रमुच्चार्य ज्ञानचक्षुरुन्मीलयेत् ।। तथा चागमः—

कल्लाणसलायाए महुघयपुण्णाए अच्छि उग्घाड़े ।
अण्णेण वा हिरण्णेण नियजहसत्तिविहवेणं ।।२।।

दृष्टिन्यासे च दृष्टेराप्यायननिमित्तं घृतादर्शदधीनि संदर्शयेत् । तदनु योनेऽपि कोटिसहस्रावस्थानं वचनस्य स्वस्वभाषया परिणमनं रुग्वैरमारिदुर्भिक्षडमरादीनाम-भावः । अतिवृष्ट्यनावृष्टि न भवतः । इति कर्मक्षयोत्पन्नगुणान् जिनेन्द्राणां स्थाप-येत् ।

ॐ नमो भगवते अर्हते घातिक्षयकारिणे घातिक्षयोत्पन्नगुणान् जिने संस्थाप-यामि स्वाहा । घातिकर्मक्षयोत्पन्नैकादशातिशयस्थापनामन्त्रः ।। पश्चादाचार्यः स्व-मन्त्रोच्चारपुरस्सरं प्रासादं गत्वा विघ्नानुत्साद्य रत्नादिपंचकं विन्यसेत् । तत्र पूर्व-स्यां वज्र .... । (पत्र २२)

इस प्रकार लगभग ७७ पृष्ठों की कृति "निर्वाणकलिका" में प्रतिष्ठा पद्धति का विस्तार के साथ प्रतिपादन किया गया है । जैसा कि पहले बताया जा चुका है, पौर्णमिक गच्छ के संस्थापक आचार्य चन्द्रप्रभसूरि आदि अनेक क्रियोद्धारकों ने समय-समय पर क्रियोद्धार करते समय, "निर्वाणकलिका" में उल्लिखित प्रतिष्ठा पद्धति अथवा विधि के कतिपय उन विधानों को अमान्य घोषित कर दिया जो उन्हें श्रमणाचार अथवा जैन संस्कृति के मूल सिद्धान्तों से नितान्त प्रतिकूल प्रतीत हुए ।

समय-समय पर किये गये उन क्रियोद्धारों के अनन्तर नवीन प्रतिष्ठा पद्धतियों का निर्माण प्रारम्भ हुआ । पौर्णमिक, आगमिक, आंचलिक आदि कतिपय गच्छों के आचार्यों ने अपनी-अपनी समाचारी में यह नियम बना दिया कि प्रतिष्ठा सम्बन्धी

सब कार्य किसी सुयोग्य श्रावक के द्वारा ही करवाये जायं और कोई भी साधु प्रतिष्ठाविषयक कार्य न करे।

इसके विपरीत तपागच्छ खरतरगच्छ आदि कतिपय गच्छों के विद्वानों ने अपनी-अपनी नवीन प्रतिष्ठापद्धतियों का निर्माण कर प्रतिष्ठाचार्य के शरीर पर सधवाओं (सुहागिन स्त्रियों) द्वारा तैल मर्दन पीठी करने आदि निर्वाण कलिका में उल्लिखित विधानों को तो सदा के लिये छोड़-छिटका दिया किन्तु "प्रतिष्ठा कराते समय प्रतिष्ठाचार्य के कर में स्वर्णकंकरण एवं करांगुलि में स्वर्ण-मुद्रिका अवश्यमेव धारण करे" इस विधान को अपनी-अपनी नवनिर्मित प्रतिष्ठा-पद्धतियों में यथावत् ही रखा। तपागच्छ के विद्वान् उपाध्याय धर्मसागरगरिण ने अपनी वि० सं० १६२९ की "प्रवचनपरीक्षा" नामक कृति में प्रतिष्ठाचार्य द्वारा प्रतिष्ठा के प्रसंग में स्वर्णकंकरण एवं स्वर्ण मुद्रिका धारण के विधान को समुचित ठहराते हुए लिखा है—"थोड़े से समय के लिये प्रतिष्ठाचार्य द्वारा स्वर्णकंकण एवं मुद्रिका का धारण करना परिग्रह की परिभाषा में नहीं आता, अतः यह विधान समुचित ही है।"

इस उल्लेख से यह प्रमाणित होता है कि अनेक प्रकार की नवीन प्रतिष्ठा पद्धतियों अथवा विधियों के निर्माण के अनन्तर भी निर्वाण कलिका में उल्लिखित अनेक विधान श्रमणाचार एवं शास्त्रों के नितान्त विपरीत होते हुए भी जैन धर्म संघ की विभिन्न सम्प्रदायों—आम्नायों अथवा गच्छों में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहे। इसका मूल कारण यही प्रतीत होता है कि वर्तमान काल में जितनी भी प्रतिष्ठाविधियां उपलब्ध होती हैं, उनकी जननी वस्तुतः निर्वाण कलिका ही है। निर्वाण कलिका की अमिट छाप इन सब प्रतिष्ठा पद्धतियों पर वज्ररेखा की भांति आज भी अंकित है। आगमों में यदि कहीं प्रतिष्ठा अथवा प्रतिष्ठापद्धति का उल्लेख होता तो उस दशा में किसी न किसी विद्वान् के द्वारा, किसी न किसी आचार्य के द्वारा उस प्रकार की प्रतिष्ठा पद्धति का अनुसरण-अनुकरण किया जाता, किन्तु उपलब्ध आगमों में तो वस्तुतः प्रतिष्ठा करवाने अथवा प्रतिष्ठा-पद्धति का कहीं पर नाममात्र के लिए भी उल्लेख नहीं है। इस प्रकार की स्थिति में श्रमण भ० महावीर के विश्वकल्याणकारी एवं मूलतः मुक्तिप्रदायी एकमात्र आध्यात्मिकता से ही ओतप्रोत प्रशस्त पथ पर अग्रसर होने वाले धर्मरथ को बाह्याडम्बर की सम्मोहक धुन्ध से आच्छादित अनागमिक प्रतिकूल दिशागामी विपथ पर दौड़ाने के इच्छुक द्रव्यपरम्पराओं के कर्णधारों के पास, वस्तुतः देखा जाये तो निर्वाणकलिका का अन्धानुकरण करने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय भी तो नहीं था।

बाह्याडम्बर के घटाटोप से आच्छादित अनागमिक विपथ पर द्रव्य परम्पराओं द्वारा द्रुत गति से दौड़ाये जा रहे धर्मरथ को पुनः आगम प्रदर्शित आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत प्रशस्त पथ पर मोड़ देने के पुनीत लक्ष्य से लोंकाशाह

ने वि० सं० १५०८ में समग्र क्रान्ति का सूत्रपात किया, उससे जैन धर्मावलम्बियों के अन्तर्चक्षु उन्मीलित हुए। अभिनव जागरण की एक अमिट लहर आर्यधारा के इस छोर से उस छोर तक तरंगित हो उठी। मुक्तिकामी सच्चे मुमुक्षुओं ने अनागमिक आचार-विचार एवं विकृतियों का परित्याग कर विशुद्ध आगमिक पथ को अपनाया। आज न केवल लोंकाशाह द्वारा प्रदर्शित विशुद्ध मूल आगमिक पथ के पथिकों एवं उनके अनुयायियों में ही अपितु सम्पूर्ण जैन संघ में धर्म के आडम्बर विहीन आध्यात्मिक स्वरूप के प्रति जो प्रेम परिलक्षित होता है, वह प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष किसी न किसी रूप में लोंकाशाह द्वारा प्रारम्भ की गई शान्तिपूर्ण धर्मक्रान्ति का ही प्रतिफल है।

यदि लोंकाशाह द्वारा वि० स० १५०८ में धर्मक्रान्ति का सूत्रपात नहीं किया जाता तो आज चरणविहारी, अनियतवासी, विहरूक, निष्परिग्रही आचार्यों एवं श्रमण-श्रमणियों के स्थान पर छत्र-चामरधारी निर्वाणकलिका के विधानानुसार सुहागिन स्त्रियों से तैलमर्दन-पीठी आदि करवाने और स्वर्ण कंकण, स्वर्णमुद्रिका धारण करने वाले, हस्ती, अश्व, शिबिका आदि परिग्रह के अम्बार से आछन्न हुए आचार्यों एवं सन्तों का ही यत्र-तत्र-सर्वत्र बोलबाला होता।

इस प्रकार की अनेकानेक अगणित बुराइयां जैन समाज में घर की हुई थीं। उनमें से बहुत सी बड़ी-बड़ी बुराइयां लोंकाशाह द्वारा प्रचलित धर्मक्रान्ति के प्रवाह में बह गईं। आज जैन संघ में न ऐसे गुरु ही दृष्टिगोचर होते हैं और न अन्य इस प्रकार के अन्ध श्रद्धालु भक्तजन ही। यह सब लोंकाशाह के अमित ओजपूर्ण प्रयासों का ही प्रतिफल है, जिसके लिए जैन समाज की भावी पीढ़ियां "आचन्द्रदिवाकरौ" लोंकाशाह के प्रति आभारी रहेंगी। कोटिश: प्रणाम हैं उन महात्मा को।

पारिवारिक एवं वैयक्तिक जीवन परिचय

जहां तक लोंकाशाह के पारिवारिक अथवा वैयक्तिक जीवन परिचय का प्रश्न है, जैन वाङ्मय में अनेक प्रकार के परस्पर विरोधी एवं भ्रामक उल्लेख उपलब्ध होते हैं। पिछले अध्याय में अद्यावधिपर्यन्त उपलब्ध हुए अथवा प्रकाश में आये उन सभी उल्लेखों को शोधार्थियों की एतद्विषयक अग्रेतर शोध में सहायक समझकर प्रस्तुत ग्रन्थ में समाविष्ट कर लिया गया है।

यों तो विचार किया जाय तो किसी भी महापुरुष की महानता की द्योतक उनकी समाज के आध्यात्मिक, नैतिक एवं सुसभ्योचित सामाजिक धरातल को समुन्नत करने वाली सृजन शक्ति ही है। अतीत में हुए अनेक ऐसे परोपकारी महापुरुषों का पारिवारिक परिचय उपलब्ध नहीं होता किन्तु जन-जन के लिये परम श्रेयस्कर प्रशस्त पथ प्रदर्शित करने वाला केवल उनकी सृजनात्मक कृतित्व का परिचायक उनके आध्यात्मिक जीवन का ही परिचय उपलब्ध होता है। तो इस प्रकार की

स्थिति में पारिवारिक जीवन के परिचय के अभाव से उन महापुरुषों की महामहनीया महत्ता में कोई अन्तर नहीं आता। उदाहरण स्वरूप दिगम्बर परम्परा के महान् धर्मोद्धारक आचार्य कुन्द-कुन्द के पारिवारिक एवं वैयक्तिक जीवन का नाममात्र के लिए भी कोई प्रामाणिक परिचय उपलब्ध नहीं होता किन्तु फिर भी प्रतिदिन प्रातःकाल ऊषावेला में उठे लाखों श्रद्धालुओं के भावविभोर कण्ठों से गुंजरित हुए—

"मंगलं कुन्दकुन्दाद्या:, जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्"

इस भक्तिसुधासिक्त घोष से विस्तीर्ण वातावरण मुखरित हो उठता है।

यह सब कुछ होते हुए भी महापुरुषों के वैयक्तिक एवं पारिवारिक जीवन परचिय का भी अपनी जगह बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है—इस तथ्य को किसी भी दशा में भुलाया नहीं जा सकता। महापुरुषों के आध्यात्मिक जीवन परिचय के साथ-साथ सांगोपांग वैयक्तिक पारिवारिक जीवन का परिचय भी उपलब्ध हो तो वह समाज के लिए, श्रद्धालुजनों के लिए सोने में सुगन्ध तुल्य सुखावह होता है।

यदि लोंकाशाह का कोई प्रामाणिक पारिवारिक एवं वैयक्तिक परिचय उपलब्ध हो जाय तो उनके जीवन परिचय की दृष्टि से नहीं अपितु समाज के, श्रद्धालु अनुयायियों के कर्त्तव्य की दृष्टि से परम सन्तोषप्रद होगा। इतने बड़े महान् धर्मोद्धारक और अभूतपूर्व क्रान्ति के सूत्रधार लोंकाशाह जैसे महापुरुष के प्रेरणापुंज सर्वांगपूर्ण जीवन परिचय को एक अक्षय अमूल्य निधि की भांति सुरक्षित नहीं रखा गया इसके लिए किसी को दोष नहीं दिया जा सकता क्योंकि लोंकागच्छ के नाम से अभिहित की जाने वाली लोंकाशाह द्वारा प्रकाश में लाई गई विशुद्ध आगमिक परम्परा के आचार्यों की आठ पीढ़ियों के पश्चात् एक लम्बे सुनियोजित षड्यन्त्र के परिणामस्वरूप लोंकागच्छ के कतिपय कर्णधार अपने प्रमुख पट्टधरों के साथ लोंकाशाह द्वारा सूत्रित क्रान्ति की आधारशिला स्वरूपा मान्यता से मुख मोड़कर भी अपने आपको लोंकागच्छ के अनुयायी बताते हुए मूर्तिपूजक बन गये। परिणामत: लोंकागच्छ एवं लोंकाशाह से सम्बन्धित सम्पूर्ण महत्वपूर्ण लिखित सामग्री लोंकाशाह की मूल मान्यता से विमुख हुए लोगों के अधिकार में रह गई। यदि उस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक महत्व की सामग्री को अद्यावधि नष्ट नहीं किया गया है, तो वह बड़ौदा आदि लोंकागच्छीय उपाश्रयों के किन्हीं तलग्रहों में उपलब्ध हो सकती है। उस सामग्री को खोज निकालने के कुछ प्रयास किये गये हैं। किन्तु अभी तक किंचित्मात्र भी सफलता प्राप्त नहीं की जा सकी है। लोंकागच्छ के अन्यान्य उपाश्रयों से लोंकाशाह से सम्बन्धित ऐतिहासिक सामग्री के उपलब्ध हो सकने की प्रबल सम्भावना है। पर इस सब के लिए पूर्ण निष्ठा लगन, श्रम एवं तत्परता के साथ गहन शोध की आवश्यकता है। जब तक इस प्रकार की खोज से वास्तविक तथ्यों को प्रकाश में नहीं

लाया जाता तब तक लोंकाशाह के अद्यावधि उपलब्ध जीवन परिचय पर ही सन्तोष कर लेने के अतिरिक्त कोई मार्ग दृष्टिगोचर नहीं होता ।

अन्य किसी प्रकार का समुचित उपाय न देखकर अवशावस्था में केवल औपचारिकता का निर्वहन करने हेतु स्व० मुनि श्री मणिलालजी महाराज द्वारा अपने "जैन धर्म नो प्राचीन संक्षिप्त इतिहास अने प्रभु वीर पट्टावली" नामक ग्रन्थ में उल्लिखित लोंकाशाह के जीवन परिचय का और 'एक पातरिया' (पोतिया-बन्ध) गच्छ की पट्टावली में दृब्ध लोंकाशाह के अति संक्षिप्त एवं अधिकांश रूपेण अपर्याप्त वैयक्तिक व पारिवारिक जीवन परिचय का सार मात्र प्रस्तुत ग्रन्थ में, दिया जा रहा है ।

पाठकों को इस तथ्य से अवगत कराना अपना कर्त्तव्य समझ कर उपरि-लिखित दोनों कृतियों के आधार पर लोंकाशाह के जीवन परिचय का सारांश प्रस्तुत करने से पूर्व यह स्पष्ट किया जा रहा है कि कडुवा मत पट्टावली में, अनुमानतः विक्रम सं० १४८० से वि० सं० १५६३ तक की अवधि में विराजमान आगम मर्मज्ञ वयोवृद्ध विद्वान् पंन्यास हरिकीर्ति के मुख से लोंकाशाह के सम्बन्ध में जो कुछ थोड़ा बहुत कहलवाया गया है, उससे अधिकांश कृतियों में उल्लिखित लोंकाशाह सम्बन्धी काल निर्देश असत्य सिद्ध हो जाता है । अतः लोंकाशाह के प्रस्तुत किये जा रहे जीवन परिचय में जहां-जहां सम्वतों का निर्देश है, उसे प्रामाणिक न समझा जाय ।

कच्छ नानी पक्ष के यति (गोरजी) श्री सुन्दरजी के पास लगभग विक्रम की १६वीं शताब्दी की कल्प सूत्र की प्रति के पीछे संलग्न दो प्राचीन पत्रों पर लिखित लोंकाशाह के संक्षिप्त जीवन वृत्त को लींबड़ी (मोटा उपाश्रय) सम्प्रदाय के श्री मंगलजी स्वामी के शिष्य श्री कृष्णजी स्वामी ने लिपिबद्ध कर उसकी प्रति-लिपि मुनि श्री मणिलालजी की सेवा में भेजी थी, उस प्रति के आधार पर मुनि श्री मणिलालजी म० ने अपनी उक्त प्राचीन इतिहास नामक कृति में लोंकाशाह का जीवन वृत्त दृब्ध किया है । उसी के आधार पर लोंकाशाह का जो जीवन वृत्त सार रूप दिया जा रहा है, वह इस प्रकार है—

"भूतपूर्व सिरोही राज्य के अरहटवाड़ा नामक नगर के निवासी सम्मानास्पद चौधरी पद से विभूषित ओसवाल जाति के श्रेष्ठिवर्य श्री हेमाभाई की धर्मनिष्ठा पतिपरायणा धर्म पत्नी श्रीमती गंगाबाई की कुक्षी से वि० सं० १४८२ (ऐतिहासिक तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर प्रतीत होता है कि यहां वि० सं० १४७२ होना चाहिये) की कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा के दिन श्री लोंकाशाह का जन्म हुआ । लम्बी प्रतीक्षा के पश्चात् ओसवाल दम्पत्ति को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई थी अतः उनके हर्ष का पारावार न रहा । नियमित रूप से सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, पौषध आदि के माध्यम से यथाशक्ति धर्माराधन में निरत गंगाबाई ने

पुत्ररत्न की प्राप्ति को महान् पुण्योदय का प्रतिफल समझते हुए धर्माराधन में और भी अधिकाधिक समय लगाना प्रारम्भ कर दिया। पांच वर्ष की वय हो जाने पर बालक लोकचन्द्र को अरहटवाड़ा की पाठशाला में पढ़ने के लिये भेजना प्रारम्भ कर दिया। कुशाग्रबुद्धि बालक लोकचन्द्र ने बड़ी रुचि के साथ पढ़ना प्रारम्भ किया। आयु के बढ़ने के साथ-साथ लोकचन्द्र की लिखने-पढ़ने की रुचि भी उत्तरोत्तर बढ़ती गई और १५ वर्ष की वय को प्राप्त होते-होते तो उसने स्थानीय विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा में पारीणता प्राप्त कर ली।

धार्मिक और नैतिक सुसंस्कार बालक लोकचन्द्र को अपने माता-पिता से जन्म घुट्टी के साथ ही प्राप्त होते रहे थे। शैशवकाल में लोकचन्द्र अपनी ममतामूर्ति माता के साथ और बाल्यकाल तथा किशोर वय में अपने धर्मनिष्ठ पिता के मुनि-दर्शन एवं व्याख्यान श्रवण के लिये जाते। बाल वय में ही लोंकाशाह ने सामायिक, प्रतिक्रमण, भक्ति के रस से ओतप्रोत स्तवन, स्तोत्र आदि कण्ठस्थ कर लिये। लेखन कला में तो लोंकाशाह ने बाल्यकाल में ही अद्भुत निष्णातता प्राप्त कर ली थी। धर्म के प्रति लोंकाशाह की ऐसी प्रगाढ़ निष्ठा थी कि वे प्रति दिन नियमित रूप से सामायिक और पाक्षिक पर्व के अवसर पर सायंकालीन प्रतिक्रमण करने में सदा अग्रसर रहते। वे अवकाश मिलते ही अपने पिता के कारोबार में उनका हाथ बटाते। सामायिक के समय लोंकाशाह का स्वाध्याय का क्रम क्रमशः बढ़ता ही गया।

चौधरी (नगर श्रेष्ठि) श्री हेमा भाई अरहटवाड़ा के एक सुसम्पन्न सद्गृहस्थ थे। उनके गवाड़ में गायें थीं, भैंसें थीं, दूध दही, घी और खाने-पीने की किसी प्रकार की कमी का उस सम्पन्न घर में कोई प्रश्न ही नहीं उठता था।

जब १५ वर्ष की अवस्था में ही पूर्णतः सुस्वस्थ लोकचन्द्र युवावस्था को प्राप्त बलिष्ठ युवक की भांति प्रतीत होने लगे तो अनेक श्रेष्ठियों के यहां से उनके सगाई सम्बन्ध (वाग्दान) के प्रस्ताव आने लगे। उस समय तक हेमा भाई ने अपने पुत्र के मोतियों के समान अतीव सुन्दर अक्षरों को देख कर अपने कारोबार के नामे (लेखे-जोखे) का काम पूरी तरह लोंकाशाह को सम्हला दिया था। अपने कारोबार के सम्बन्ध में उन्हें प्रायः सिरोही जाना पड़ता था। प्रारम्भ में वे अपने पुत्र लोकचन्द्र को अपने साथ ले जाते और विभिन्न व्यवसायों के व्यापारियों से उसका परिचय करवाते। हेमा भाई ने जब यह देखा कि उनका पुत्र अपने व्यवसाय को चलाने, सिरोही आदि नगरों के व्यापारियों से सम्पर्क साधने, उनसे सौहार्द बढ़ाने, अपनी पटुतापूर्ण वाक् माधुरी से प्रत्येक व्यवसायी एवं सद्गृहस्थ का मन जीतने में सक्षम है तो उन्होंने अपने सम्पूर्ण कारोबार के साथ-साथ सिरोही नगर के व्यापारियों से सम्बन्धित कार्य का भार भी लोकचन्द्र के कन्धों पर रख दिया। लोकचन्द्र को

अब तो एकाकी ही अनेक बार सिरोही जाना पड़ता था। यों तो अनेक प्रकार के व्यवसायों के रहस्यों को समझने की ओर लोकचन्द्र की रुचि थी, किन्तु मोतियों के व्यवसाय से उसका विशेष लगाव हो गया था, उसे जब भी सिरोही जाना पड़ता वह जौहारियों की पेढ़ी पर कुछ समय के लिये अवश्यमेव बैठता और अच्छे-बुरे मोतियों की परख किस प्रकार की जाती है, इस कला को सीखने का प्रयास करता। शनैः शनैः वह मोतियों का अच्छा पारखी बन गया।

एक दिन जिस समय लोकचन्द्र एक जौहरी की दूकान पर बैठा हुआ मोतियों की परीक्षा कर रहा था, उस समय सिरोही निवासी ओसवाल जाति के ओधवजी नामक श्रेष्ठि ने मोतियों की परीक्षा में निरत-निमग्न प्रियदर्शी लोकचन्द्र को देखा। युवक लोकचन्द्र उस श्रेष्ठि के मन को भा गया। जब बहुमूल्य मोतियों को एक ओर तथा अल्प मूल्य के मोतियों को दूसरी ओर छांटते हुए लोकचन्द्र को ओधवजी ने देखा तो उन्होंने मन ही मन कोई संकल्प किया। लोकचन्द्र के चले जाने पर ओधवजी ने जौहरी से उस युवक का नाम, गांव, जाति, पिता, उनके व्यवसाय आदि के सम्बन्ध में पूछा। जौहरी ने यथेप्सित जानकारी प्रदान करने के पश्चात् कहा—"लड़का बड़ा ही होनहार है।"

जौहरी से लोकचन्द्र के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त कर लेने के पश्चात् ओधवजी ने अपनी धर्मपत्नी को कहा कि उसने अपनी पुत्री सुदर्शना के लिए एक अतीव सुन्दर और सुयोग्य वर देखा है। लोकचन्द्र के विषय में पूरा विवरण सुनकर श्रेष्ठिपत्नी भी बड़ी प्रसन्न हुई। दूसरे ही दिन अरहटवाड़ा जाकर बात पक्की कर लेने का श्रेष्ठि दम्पति ने निश्चय किया।

ओधवजी दूसरे ही दिन इस दृढ़ विश्वास के साथ कि मनचिन्तित कार्य सिद्ध हो जायेगा—श्रीफल और रुपया लेकर अरहटवाड़ा हेमा भाई के घर पहुंचे। दोनों परस्पर एक दूसरे के उत्तम कुलशील स्वभाव आदि से पूर्व परिचित थे। अतः ओधव जी का प्रस्ताव लोकचन्द्र के माता-पिता ने बिना किसी प्रकार की ननु-नच के स्वीकार कर लिया। ओधवजी ने लोकचन्द्र के भाल पर कुंकुम चावल का तिलक लगा, उसे श्रीफल के साथ रुपया भेंट स्वरूप प्रदान किया। दोनों समधी इस सम्बन्ध के सम्पन्न हो जाने से परम प्रसन्न थे। वि० सं० १४८७ के माघ मास में लोकचन्द्र का सुदर्शना के साथ विवाह सम्पन्न हुआ। सर्वगुण सम्पन्ना सुदर्शना के साथ दाम्पत्य सुख का वे उपभोग करने लगे। उनके स्वाध्याय का क्रम भी अनवरत रूप से चलता रहा। धार्मिक कार्यों में भी वे बड़े उत्साह के साथ भाग लेते। धार्मिक ग्रन्थों के स्वाध्याय एवं नियमित ध्यान-साधना के परिणामस्वरूप संसार की असारता एवं क्षणभंगुरता का बोध हो जाने के कारण उनके अन्तःकरण में विरक्ति का बीज उनकी युवावस्था में ही अंकुरित हो चुका था किन्तु अपने कर्त्तव्य के निर्वहन हेतु न्याय-नीति पूर्वक व्यवसाय एवं परमावश्यक सांसारिक कार्यों का बड़ी

सावधानी के साथ समय-समय पर निष्पादन करते रहे। लगभग १८ वर्ष की वय में उन्हें पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। दादा-दादी के हर्ष का पारावार न रहा। उन्होंने अपने पौत्र का नाम पूर्णचन्द्र रखा।

जिस समय लोकचन्द्र तेवीस वर्ष की वय के हुए उस समय उनकी माता गंगाबाई ने और उसके एक वर्ष पश्चात् ही उनके पिता हेमाभाई ने परलोक गमन किया।

लोंकाशाह का मुख्य व्यवसाय कृषकों के साथ लेन-देन करने का था। काल दुष्काल के कारण जब कृषकों की फसलें नष्ट हो जातीं, तो उस दशा में कृषकों से अपना पैसा वसूल करते समय उन्हें आन्तरिक कष्ट होता था। कृषकों को दी हुई रकम समय पर वसूल करने में भी दयार्द्र प्रकृति के लोकचन्द्र को अनेक प्रकार की कठिनाइयां होती थीं। इस कारण भी बहुत समय से लोकचन्द्र कृषकों के साथ लेन-देन का धंधा समेट कर किसी बड़े नगर में जवाहरात का व्यवसाय करने के इच्छुक थे। उन दिनों सिरोही राज्य और आबू पर्वत के समीपस्थ चन्द्रावती राज्य के बीच सम्बन्ध बिगड़ चुके थे। आये दिन शत्रुओं के आक्रमण और अराजकता जैसी स्थिति के परिणामस्वरूप लूट-खसोट, मार-धाड़ का डर प्रजाजनों को बना ही रहता था। इस प्रकार के अराजकतापूर्ण अशान्त वातावरण को अपनी आध्यात्मिक साधना एवं मानसिक शान्ति के लिए भी बाधक समझ कर वे उस अशान्त वातावरण से निकलने के लिए अपना पैत्रिक गांव छोड़ किसी बड़े नगर में व्यवसाय करने के इच्छुक थे।

अपने माता-पिता के देहावसान के कुछ समय पश्चात् युवक लोकचन्द्र ने कृषकों के साथ लेन-देन के अपने व्यवसाय को समेटना प्रारम्भ कर दिया और किसानों से जो कुछ मिला लेकर वे अपनी पत्नी और पुत्र के साथ अपनी आयु के पच्चीसवें वर्ष (वि० सं० १४९७) में अहमदाबाद आये। सुविधा सम्पन्न एक गृह लेकर उसमें उन्होंने निवास किया और वे वहां जवाहरात का व्यवसाय करने लगे। लोंकाशाह द्वारा अहमदाबाद में जवाहरात का व्यवसाय प्रारम्भ किये जाने के थोड़े ही समय पश्चात् वि० सं० १४९७ में मोहम्मदशाह अहमदाबाद (गुजरात) राज्य के राज्य सिंहासन पर बैठा और उसने जवाहरात खरीदने का निश्चय किया। सभी जौहरियों को राज दरबार में बुलाया गया। अतः अन्यान्य बड़े-बड़े जौहरियों के साथ लोंकाशाह भी मोहम्मद शाह के दरबार में पहुंचे। सभी रत्न-व्यवसायियों ने अपने-अपने बहुमूल्य रत्न मोहम्मद शाह के समक्ष उनकी विशेषता बताते हुए रखे। सूरत के जौहरी द्वारा दिखाये गये पानीदार मोतियों में दो बड़े-बड़े मोती उसे बहुत अच्छे लगे। पूछने पर सूरत के जौहरी ने उन आमुन तुल्य बड़े-बड़े मोतियों का मूल्य १,७२,००० रु० बताया। मोहम्मदशाह ने वहां उपस्थित जौहरियों को उन दोनों मोतियों की परीक्षा और उनका मूल्य निर्धारित

करने का निर्देश दिया। अहमदाबाद के सभी बड़े-बड़े जौहरियों ने उन दोनों मोतियों की परीक्षा करने के पश्चात् मोहम्मदशाह के समक्ष अपना अभिमत व्यक्त करते हुए कहा—"ये दोनों मोती बड़े श्रेष्ठ हैं, इनका जो मूल्य बताया गया है, वह भी उचित ही है।"

"इन सब जौहरियों की आंखों पर पर्दा कैसे पड़ गया है", इस विचार से लोंकाशाह के मुख मण्डल पर व्यंग भरी हंसी हठात् उभर आयी। मोहम्मदशाह ने उस युवा वय के जौहरी की मुखमुद्रा से ताड़ लिया कि दाल में कुछ काला है। उसने दोनों मोती लोंकाशाह की हथेली पर रख कर उनकी अच्छी तरह परीक्षा करने का आदेश दिया।

लोंकाशाह ने एक मोती को नवाब के हाथ पर रखते हुए कहा—यह मोती तो वस्तुतः श्रेष्ठ और बहुमूल्य है किन्तु इस दूसरे मोती में एक बहुत बड़ी ऐब है, खोट है, इसमें मत्स्य का चिन्ह है अतः यह किसी काम का नहीं। तत्काल सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से मोहम्मदशाह ने मोती को देखा और यह देखकर उसके आश्चर्य का पारावार न रहा कि उस मोती में वस्तुतः मत्स्य का चिन्ह है। उपस्थित बड़े-बड़े जौहरियों को भी पारदर्शक अथवा सूक्ष्म दर्शक यन्त्र से उस मोती को देखने परखने का बादशाह ने निर्देश दिया। सब ने उस मोती में मत्स्य के चिह्न को देखते हुए उस 'कल के जौहरी' लोंकाशाह के "रत्न परीक्षण कौशल" की मुक्त कण्ठ से भूरि-भूरि प्रशंसा की।

लोंकाशाह तत्काल मोहम्मदशाह के चित्त चढ़ गये। लोंकाशाह के परामर्श से आवश्यक जवाहरात का क्रय कर लेने के पश्चात् मोहम्मदशाह ने अन्य सब जौहरियों को विदा किया और लोंकाशाह से उनका पूरा परिचय प्राप्त कर उन्हें पाटण के राजस्व अधिकारी (खजांची, ट्रेजरार अथवा तिजोरीदार) के पद पर नियुक्त कर दिया।

लोंकाशाह अपनी पत्नी व पुत्र के साथ पाटण चले गये। वहां अपने पद के कर्त्तव्यों का न्याय-नीतिपूर्वक निर्वहन करने लगे। वहां भी उनका स्वाध्याय सामायिक आदि का धार्मिक कार्यक्रम पूर्ववत् चलता रहा। मोहम्मदशाह पाटण के अपने नव नियुक्त राजस्व अधिकारी के न्याय और नैतिकतापूर्ण कार्यकौशल से बड़ा प्रभावित हुआ और कुछ ही समय पश्चात् लोंकाशाह को पाटण से बुलाकर अपने पास रख लिया। बादशाह के प्रीतिपात्र बन जाने के उपरान्त भी अभिमान का लेश मात्र भी उनके पास तक नहीं फटक पाया। पीड़ितों के दुःखों को दूर करने की, उनको न्याय दिलाने की उनकी परोपकार परायणतापूर्ण वृत्ति उत्तरोत्तर वृद्धिगत होने के साथ निखरती ही गई। सामायिक, स्वाध्याय एवं आत्मचिन्तन का उनका दैनिक धार्मिक कार्यक्रम भी नियमित रूप से चलता रहा।

इस प्रकार लगभग १० वर्ष तक लोंकाशाह गुजरात के बादशाह मोहम्मद-शाह की सेवा में रहे। "गुजरात नो संक्षिप्त इतिहास" नामक अपनी कृति में श्री र. म. नीलकण्ठ के उल्लेखानुसार—वि. सं. १५०७ के आस-पास के किसी समय में गुर्जरेश मोहम्मदशाह ने चापानेर के रावल गंगादास पर आक्रमण कर पांवागढ़ के चारों ओर घेरा डाला। यह समाचार सुनते ही मालवे के सुलतान ने एक शक्तिशाली सेना ले गंगादास की सहायतार्थ पावागढ़ की ओर कूच किया। अपनी विशाल वाहिनी के साथ मालवे के सुलतान के आगमन की बात सुनकर मोहम्मद-शाह भयभीत होकर पावागढ़ का घेरा उठा अपनी सेना के साथ अहमदाबाद की ओर भाग खड़ा हुआ। मोहम्मदशाह के इस कायरता पूर्ण पलायन से रूष्ट हो उसके ही अमीरों ने विष देकर उसे मार डाला और उसके पुत्र कुतुबशाह को अहमदाबाद के राजसिंहासन पर आसीन किया।

इस प्रकार की षड्यन्त्रपूर्ण राजनीति से लोंकाशाह का अन्तर्मन बड़ा खिन्न और क्षुब्ध हुआ। उनके अन्तःकरण में पूर्व से ही अंकुरित विरक्ति के अंकुर ने इस प्रकार के खेद एवं क्षोभ की ऊष्मा पा तत्काल वट वृक्ष का रूप धारण कर लिया। आत्मकल्याण के अटल संकल्प के साथ उन्होंने शाही-सेवा से त्याग पत्र दे दिया। अहमदाबाद के सद्यः सिंहासनासीन शाह के आग्रहपूर्ण अनुरोध और उसके द्वारा दिये गये वेतनवृद्धि, पदवृद्धि आदि प्रलोभनों के उपरान्त भी शाही सेवा से निवृत्त हो लोंकाशाह अपनी धर्मपत्नी एवं अपने पुत्र के साथ पाटण पहुंचे और एक अच्छा सा गृह लेकर वहां रहने लगे। उनका अन्तर्मन, रोम-रोम, कभी न उतरने वाले वैराग्य के प्रगाढ़ रंग में रंजित हो चुका था। अपनी अर्द्धांगिनी और पुत्र पूनम चन्द की येन-केन-प्रकारेण अनुज्ञा प्राप्त कर लोंकाशाह ने उस समय पाटण में विराजित सुमति विजय जी के पास वि. सं. १५०९ में यति-धर्म की दीक्षा ग्रहण की। गुरु ने उनका नाम लक्ष्मी विजय रखा। अपने गुरु से उन्होंने आगमों का अध्ययन किया। आगमों के अध्ययन से जब उन्हें धर्म के आगम प्रतिपादित वास्तविक एवं विशुद्ध मूल स्वरूप का बोध हुआ तो उन्होंने सुमति विजयजी का साथ छोड़कर लोगों के समक्ष आगमों पर व्याख्यान देते हुए धर्म के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डालना प्रारम्भ किया। इस प्रकार लोंकाशाह ने अहमदाबाद पाटण आदि बड़े-बड़े तथा अनेक छोटे बड़े नगरों और ग्रामों में घूम घूम कर सर्वज्ञ सर्वदर्शी श्रमण भगवान् द्वारा प्ररूपित विशुद्ध आगमिक धर्म का प्रचार किया। जनमत लोंकाशाह के उपदेशों से जागृत हुआ और उनके अनुयायिओं की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली गई। अनेक यति भी उनके अनुयायी बनकर उनके साथ रहने लगे। अनेक वर्षों तक लक्ष्मी विजयजी (लोंकाशाह) विशुद्ध धर्म का प्रचार करते रहे।

वि. सं. १५१०-३१ के आस-पास एक समय अरहटवाड़ा, पाटण, सूरत आदि चार नगरों के संघ जो तीर्थयात्रा के लिए निकले थे, संयोगवशात् अहमदाबाद

में एकत्रित हुए। वर्षा होने व मार्ग में लीलन-फूलन के उत्पन्न हो जाने के कारण वे चारों संघ अहमदाबाद में रुक गये। चारों संघों के संघपतियों और लोगों को जब ज्ञात हुआ कि लोंकाशाह अपने आगमिक व्याख्यानों में जैन धर्म के सच्चे स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं तो वे सभी संघपति अपने-अपने संघों के लोगों के साथ लोंकाशाह का व्याख्यान सुनने के लिए गये। लोंकाशाह के व्याख्यान को सुनकर पहले ही दिन उन लोगों के अन्तर्चक्षु उन्मीलित होने लगे। उन्होंने अनुभव किया कि कहां तो एक ओर आगमों में वर्णित जैन धर्म का विशुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप एवं अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की पराकाष्ठा के आत्मविशुद्ध कारक उच्चतम आध्यात्मिक भावों से ओत-प्रोत शूरवीरों द्वारा आचरणीय, तलवारों की तीक्ष्ण धार पर चलने के समान अति दुश्चर, अति दुष्कर, नितान्त निरतिचार, नितान्त निर्दोष, एकमात्र मोक्ष प्राप्ति की उत्कट स्पृहा से पालनीय श्रमण धर्म का स्वरूप और कहां दूसरी ओर घोर शिथिलाचार में आनखशिख निमग्न परिग्रहग्रस्त एकमात्र धन के लोलुप साधु नामधारी यतियों द्वारा आचरित एवं प्रदर्शित प्ररूपित बाह्याडम्बरपूर्ण, विकारों से भरा धर्म का नितान्त विकृत स्वरूप। उन सबके अन्तर्मन लोंकाशाह को सुनकर पहले दिन ही इस प्रकार आन्दोलित हो उठे। वे सभी नित्य नियमित रूप से लोंकाशाह के उपदेशों को, आगमिक प्रवचनों को सुनने के लिएं जाने लगे। सर्वज्ञ प्रभु द्वारा प्ररूपित-प्रदर्शित धर्म के विशुद्ध आगमिक स्वरूप के प्रति लोंकाशाह के उपदेशों से उनकी आस्था-श्रद्धा उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। वे लोग लोंकाशाह के अनन्य परम भक्त बन गये।"

आशा है विद्वान शोधार्थी इस सम्बन्ध में गहन शोध कर काल सम्बन्धी वास्तविक आंकड़े प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

एक पातरिता (पोतिया बन्ध) पट्टावली में लोंकाशाह के पारिवारिक जीवन का परिचय

मरुधरा के खरंटिया नामक नगर के जोधावंशीय जागीरदार दुर्जनसिंह के वीसा ओसवाल मेहता कामदार के दो पुत्र थे। बड़े का नाम था मेहता जीवराज और छोटे का मेहता लखमसी। वे दोनों भाई विपुल सम्पत्ति के स्वामी, खरतर गच्छ के अनुयायी और जीवाजीवादि तत्वों के जानकार थे। किसी कारणवश मरुधराधीश राव जोधा जी के पुत्र रतनसिंह का पुत्र दुर्जनसिंह उन दोनों भाइयों से रुष्ट हो गया और उसने उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति अपने अधिकार में कर ली। वे दोनों भाई व्यापारार्थ घूमते-घूमते पाटण नगर में पहुंचे। वहाँ पूनमियां गच्छ के आचार्य आनन्द विमलसूरि के शिष्य खेमचन्द्र को दशवैकालिक सूत्र लिखते हुए उन दोनों भाइयों ने उपाश्रय में देखा। लखमसी ने खेमसी से सूत्र और पत्र लेकर पत्रों में "धम्मोमंगलमुक्किट्ठं" प्रभृति कतिपय गाथाएं लिखीं। मुनि खेमसी उस नवागन्तुक

के अदृष्टपूर्व सुन्दर अक्षरों को देख कर हर्ष-विभोर हो उठा। उसने तत्काल अपने गुरु आनन्द विमलसूरि के सम्मुख उपस्थित हो उन्हें मेहता लखमसी द्वारा लिखित पत्र बताया। सुन्दर अक्षरों को देख आश्चर्याभिभूत आचार्य आनन्दविमलसूरि ने अपने शिष्य से पूछा—"यह किसने लिखा है ?"

मुनि खेमचन्द्र ने दोनों भाइयों को आचार्य श्री के समक्ष उपस्थित कर लखमसी की ओर संकेत करते हुए कहा—"भगवन्, इस लखमसी ने लिखा है।"

उस समय विक्रम सं० १५३१ के शुभारम्भ के साथ ही भस्मग्रह उतर चुका था। आचार्य श्री ने जीवराज और मेहता लखमसी को सूत्रों के लिखने का कार्यभार सौंपा। लखमसी ने सूत्रों का लेखन प्रारम्भ किया तो उन्हें ज्ञात हुआ कि जिन प्ररूपित जैन धर्म का वास्तविक स्वरूप तो आगमों में इस प्रकार का निरतिचार और शुद्ध बताया गया है। इसके विपरीत वर्तमान काल में अहिंसा-प्रधान जैन धर्म के अनुयायी अनेक प्रकार की आडम्बर पूर्ण हिंसाप्रधान प्रवृत्तियों में ही धर्म मान बैठे हैं। आगमों की इस अमूल्य निधि को संचित करने के लक्ष्य से मेहता लखमसी ने वहां के नगर श्रेष्ठि रूपसी से सम्पर्क स्थापित कर आगमों के लेखन कार्य के लिए आर्थिक सहायता प्राप्त की और ३२ आगमों को लिखा एवं लिखवाया। तदनन्तर लखमसी और रूपसी ने आनन्दविमल सूरि के पास आगमों का अध्ययन किया। आगमों में निष्णात हो जाने पर लखमसी ने पाटण के त्रिपोलिया पर उपदेश देकर लोगों को धर्म का विशुद्ध स्वरूप बताना प्रारम्भ किया।

लोंकाशाह के उपदेशों से प्रबुद्ध हो रूपसी, शाह भामा, शाह भारमल आदि ४५ विरक्तात्माओं ने वि० सं० १५३१ की वैसाख शुक्ला एकादशी गुरुवार के दिन श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण की और लोंकागच्छ की स्थापना की। रूपसी को लोंकागच्छ का प्रथम पट्टधर तथा भारमल और भुजराज (भोजराज अथवा भामा जी) को स्थविर पदवी प्रदान की गई। तदनन्तर लोंकागच्छ उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।"

एक पातरिया गच्छ पट्टावली के रचनाकार (मुनि रायचन्द्र वि० सं० १७२६) पर तो पूर्णतः भष्मग्रह का भूत सवार रहा प्रतीत होता है। इस पट्टावली से विचार करने योग्य केवल एक ही नई बात प्रकाश में आती है कि लोंकाशाह मारवाड़ के निवासी थे। खरंटिया अथवा विरांटिया उनका गांव था। उनकी जाति बीसा ओसवाल थी। मारवाड़ में ठिकाने के कामदारों को मेहता की संज्ञा से अभिहित किये जाने की परिपाटी थी, इस कारण सुनिश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि लखमसी की जाति भी मेहता थी।

वि० सं० १५१५ में जोधपुर नगर का निर्माण करने वाले मरुधराधीश राव जोधा के वि० सं० १५३१ से पहले ही दुर्जन सिंह नाम का पौत्र था और वह खरंटिया जागीर का ठाकुर था, पट्टावली के इस उल्लेख में तथ्य है कि नहीं, यह प्रश्न भी शंकास्पद है।

इस पट्टावली में शोधार्थियों के लिये शोध की केवल इतनी सी सामग्री विचारणीय है कि क्या लोंकाशाह मूलतः मारवाड़ के निवासी थे ? क्या उनके पिता-पितामह आदि पूर्वज कामदार पद पर रहकर प्रशासनिक कार्य करते चले आ रहे थे और लोंकाशाह की धमनियों में पीढ़ी-प्रपीढ़ियों से प्रशासन करते आ रहे प्रशासकों का खून प्रवाहित हो रहा था, जिसके बल पर वे एक अति स्वल्प समय में ही धर्म के आगम प्रतिपादित विशुद्ध स्वरूप का देश के इस छोर से उस छोर तक प्रचार प्रसार करने में सक्षम हुए। बस इससे अधिक और कोई अन्य तथ्य इस पट्टावली में उल्लिखित लोंकाशाह विषयक परिचय में दृष्टिगोचर नहीं होता।



वि० सं० १३५७ से वि० सं० १३८२ तक की अवधि की राजनैतिक स्थिति

दिल्ली में खिलजीवंश के राज्यकाल में अल्लाउद्दीन खिलजी ने राजपूताने के राज्यों पर अधिकार करने के निश्चय के साथ सर्वप्रथम वि० सं० १३५७ में रणथंभौर पर आक्रमण किया। रणथंभौर के चौहान वंशीय राजा हमीर ने शत्रु को परास्त करने के संकल्प के साथ बड़ी वीरता से युद्ध किया किन्तु कड़े संघर्ष के पश्चात् अल्लाउद्दीन खिलजी ने रणथंभौर के किले पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार वि० सं० १२५० के आस-पास पृथ्वीराज चौहान के पुत्र गोविन्द राज द्वारा संस्थापित रणथंभौर का चौहान राज्य समाप्त हो गया।

रणथम्भौर पर अधिकार करने के तीन वर्ष पश्चात् वि० सं० १३६० में अल्लाउद्दीन खिलजी ने अपनी सशक्त एवं विशाल सेना ले चित्तौड़ पर आक्रमण किया। मेवाड़ के रावल रतन सिंह ने अद्भुत साहस एवं शौर्य प्रकट करते हुए लगभग ६ मास तक खिलजी की सेनाओं से लोहा लिया। अन्ततोगत्वा मेवाड़ के रावल रतन सिंह ने अपने पुत्रों, पौत्रों, पारिवारिक जनों, सरदारों एवं राजपूत योद्धाओं के साथ केसरिया बाना पहन कर चित्तौड़ के किले के द्वार खोल अपने प्राणों को हथेली पर रख शत्रु सेना पर भीषण आक्रमण किया। अन्तिम श्वास तक शत्रु सेना का संहार करते हुए रावल रतन सिंह अपने पुत्रों, पौत्रों एवं योद्धाओं के साथ अपनी मातृभूमि की रक्षा हित वीरगति को प्राप्त हुए। रावल रतन सिंह की महाराणी पद्मिनी ने जब यह देखा कि उसके पति अपने शूरमा योद्धाओं के साथ शत्रु सेना पर प्रलय ढ़हाते हुए वीर-गति को प्राप्त हुए हैं, तो मेवाड़ की महारानी पद्मिनी ने भी सहस्रों राजपूत रमणियों के साथ जौहर की ज्वालाओं में प्रवेश कर राजपूती आन-बान-शान एवं सतीत्व की रक्षा की। अल्लाउद्दीन खिलजी ने साक्षात् श्मशान बने चित्तौड़ के दुर्ग पर अधिकार कर अपने पुत्र खिजर खां को चित्तौड़ का शासक नियुक्त किया।

चित्तौड़ पर अधिकार कर लेने के पश्चात् अल्लाउद्दीन खिलजी ने वि० सं० १३६५ में सिवाणा पर आक्रमण किया। सिवाणा के राजा शीतल देव चौहान ने अपने दुर्ग की रक्षा करते हुए रणांगण में वीर गति प्राप्त की। इस प्रकार अल्लाउद्दीन खिलजी ने सिवाणा के किले पर भी अधिकार कर लिया। तदनन्तर अल्लाउद्दीन खिलजी ने वि० सं० १३६८ में जालौर पर आक्रमण किया। जालौर के राजा कान्हड़देव और राजकुमार वीरमदेव ने शत्रु सेना से बड़े शौर्य एवं साहस के साथ लोहा लिया। शत्रुओं का संहार करते हुए पिता और पुत्र-

दोनों युद्धभूमि में वीर गति को प्राप्त हुए और अलाउद्दीन खिलजी ने जालौर पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार रणथम्भौर, सिवाणा और जालौर के चौहान राज्यों की समाप्ति हो गई।

महाराणा हंमीर ने वि० सं० १३८२ के आस-पास मुसलमानों को परास्त कर चित्तौड़ पर अधिकार किया।

इससे आगे का भारत का राजनैतिक इतिहास राज्य-विप्लवों, मुसलमानों के आक्रमणों, भारतीय राजाओं के राज्यों के पतन, नवीन हिन्दू राज्यों के अभ्युदय, उत्थान, पतन, तलवार के बल पर बलात् धर्म-परिवर्तन, लूट, खसोट सामूहिक नरसंहार आदि भीषण घटनाचक्र के इतने अधिक घटनाक्रमों से संकुल है कि यदि एक-एक घटना पर पांच-पांच पंक्तियां भी लिखी जाएं तो एक स्वतन्त्र पुस्तक तैयार हो जाय।

प्रस्तुत ग्रन्थ का कलेवर पर्याप्त रूपेण बड़ा हो चुका है। उसे अब बड़ा करना समुचित प्रतीत नहीं होता। अतः इस ग्रन्थ का आलेखन यहीं समाप्त करते हुए पाठकों से सादर निवेदन किया जा रहा है कि इससे आगे का वि० सं० १५५० तक का राजनैतिक इतिहास भारतीय इतिहास के ग्रन्थों से पढ़ने की कृपा करें।

इत्यलम्। सुज्ञेषु किं बहुना।



परिशिष्ट

१. शब्दानुक्रमणिका

२. सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची

३. शुद्धि-पत्र

१. शब्दानुक्रमणिका

(क) तीर्थंकर, आचार्य, राजा, श्रावक आदि

श्र

ह

क्ष

ज्ञ

(ख) मत, सम्प्रदाय वंश, गोत्रादि

(ग) ग्राम नगर, प्रांत स्थानादि

२. सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची

अंचलगच्छ दिग्दर्शन
अपभ्रंश काव्यत्रयी
अभिधान राजेन्द्र कोष भाग, १-७
आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया
आगमिक गच्छ पट्टावली (पूर्णिमा गच्छ पट्टावली का अपर नाम)
आचारांग दीपिका
आचारांग सूत्र
आत्म प्रबोध
इलियट हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग १-२
उपकेश गच्छ पट्टावली
उपदेश तरंगिणी
उपदेश रसायन रास
उपदेश सप्ततिका — रत्न शेखर सूरि
एक पातरिया गच्छ पट्टावली
एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन्स आफ दी वर्ल्ड
एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन्स एन्ड एथिक्स भाग ८. हेस्टिंग्स
एशियाटिक रिसर्चेज - भाग-९
ए हिस्ट्री आफ करनाटिका, डा० पी. बी. देसाई
कडवामत पट्टावली
कुमार पाल प्रबन्ध - श्री जिन मंडनगणि
खतरगच्छ वृहद् गुर्वावली
खतरगच्छीया हस्तलिखित पट्टावली - कल्याण विजयजी
गच्छाचार पइण्णय वृति
गणधर सार्द्धशतक - जिन चन्द्राचार्य
गुर्वावली

चच्चरी टिप्पणक

जीव समास की वृत्ति - हेमचन्द्र सूरि

जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग-१ आ. श्री हस्तीमल जी म. सा.

जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग-२ "

जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग-३ "

जैन धर्म नो प्राचीन संक्षिप्त इतिहास अने प्रभुवीर पट्टावली

जैन शिलालेख संग्रह भाग १ से ३ माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला समिति हीराबाग बम्बई

तपागच्छ पट्टावली - कल्याण विजयजी म. सा.

तपागच्छ पट्टावली सूत्रम् - श्री धर्मसागर गणि

तपागण दूषण शतक 'तपोमत कुट्टण' - जिन प्रभ सूरी

दया धर्म की चौपाई - भानुचन्द्र यति

दर्शन सार दिगम्बराचार्य श्री देवसेन

द्वितीयोदय युग प्रधान यंत्रम्

दी इण्डियन एन्टीक्यूरी, भाग-२

नन्दि संघ की पट्टावली

निबन्ध निचय

निर्वाण कलिका

निशीथ सूत्र प्र० भा०

नेमिनाह चरिउ, हरिभद्र सूरी

पंचवस्तुक टीका

पण्हावागरण सूत्र

पट्टावली-पराग-संग्रह, भाग १-२ पं. कल्याण विजय जी शास्त्र संग्रह समिति जालोर (राज.)

पट्टावली प्रबन्ध संग्रह, आ० हस्तीमल जी म० सा०

पट्टावली समुच्चय, भाग-१ मुनि दर्शन विजयजी श्री चारित्र स्मारक ग्रंथमाला वीरम गांव (गुजरात वि. सं. [illegible])

पट्टावली सारोद्धार

पाइय लच्छी नाममाला, धनपाल

पार्श्वनाथ वस्ति का शिलालेख

पार्श्वनाथ परम्परा का इतिहास १
" २
पेरिय पुराण
प्रतिष्ठा पाठ
प्रतिष्ठा लेख संग्रह
प्रवन्ध चिन्तामणि मेरुतुंगाचार्य फोर्बस गुजराती सभा महाराज मेन्शन्स सेन्धर्स्ट रोड़ बोम्बे न. ४ (वि. सं. १९८८)
प्रभावक चरित्र आ० प्रभाचन्द्र सूरी सं. जिन विजय सिंघी, जैन ज्ञान पीठ अहमदाबाद, कलकत्ता (वि. सं. १९९५)
प्रभुवीर पट्टावली, मणिलाल जी म०
प्रमाण-नय-तत्वालोक
प्रवचन परीक्षा भाग १, २,
प्रश्न व्याकरण वृत्ति
ब्रिग फरिश्ता
भद्रवाहुचरित्र, आ० रत्न नंदी (वि. सं. १६२५)
मेरुतुंगीया अंचलगच्छ पट्टावली
महावीर चरियं, गुण चन्द्रगणि
महावीर देव पट्ट परम्परा
युगप्रधान-पट्टावली
रत्नाकरावतारिका
राजपूताने का इतिहास, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
लघु शतपदी
लाट के सोलंकी सामन्त पुलकेशिन का शिलालेख
लुंकामत प्रतिवोध कुलक
लोंकाशाह ना अट्ठावन बोल
वृद्धाचार्य प्रवन्धावली
वृद्धिसागर व्याकरण
वृहत्कल्प भाष्य, भाग ६
वृहद्गच्छ गुर्वावली
व्याख्या प्रज्ञप्ति

विपाकसूत्र-वृत्ति
वीरवंशपट्टावली अपरनाम विधिपक्ष गच्छ पट्टावली भाव सागर सूरी (वि. सं. १५१६)
वीरोदय काव्य दिगम्बर मुनि ज्ञानसागर जी म०
श्रमण संहार चरित्रम्
श्रवणवेल गोल शिलालेख संख्या ५७
श्री गुरु पट्टावली
श्री गुरु पर्वक्रम वर्णनम् – गुणरत्न सूरी
संमवायांग
स्ट्रगल फोर एम्पायर वोल्यूम ५
स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म
सुधर्म गच्छ परीक्षा
सप्त पदी शास्त्र
हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ दी इण्डियन पिपुल वोल्यूम IV&V आर. सी. मजूमदार



३. शुद्धि-पत्र

क्र.सं.	पेज सं.	पंक्ति सं	अशुद्ध वाक्य	शुद्ध वाक्य
१.	२४	३४–३५	श्रुता चार्य	श्रुताचार्य
२.	३०	१	वचस्व	वर्चस्व
३.	३२	१	जन धम	जैन धर्म
४.	३३	१	चत्यवासी	चैत्यवासी
५.	३३	४	गये, हैं	गये हैं,
६.	३७	३४	फमस्वरूप	फलस्वरूप
७.	३७	३५	देवर्द्धिगणी	देवर्द्धिगणि
८.	४४	४	उदायन	उदयन
९.	४७	१७	वग	वर्ग
१०.	५१	३	जैनों के शिव की	जैनों ने शिव की
११.	५१	४	त्याग शैव	त्याग कर शैव
१२.	५१	२३	जन	जैन
१३.	५१	३१	किया गया	किया गया है
१४.	५२	७	भूषण किन्तु	भूषण है, किन्तु
१५.	५२	९	तृषष्टि	त्रिषष्टि
१६.	५२	२१	किञ्चित्मात्र	किञ्चित्मात्र
१७.	५३	२०	कर्त्तव्य है ! को	कर्त्तव्य है जो
१८.	५३	२१	किंचितमात्र	किंचित्मात्र
१९.	५३	२१	कोताई	कोताह
२०.	५४	दूसरे पैरे में ४	जगतितल	जगती-तल
२१.	५७	१७	समूलन्मूलन	समूलोन्मूलन
२२.	६१	२६	कुवुल	कबूल
२३.	६१	३१	मुहम्मद	मुहम्मद
२४.	६६	९	कुबूल	[illegible]
२५.	७३	३०	मुण्डविहिन	मुण्डविहीन
२६.	७५	९	नुन्धुराज	सिन्धुराज
२७.	७७	१	बट राव	बड़े राव
२८.	७७	३३	पश्चानाप	पश्चात्ताप
२९.	७८	८	कुबून	कबूल

क्र.सं.	पेज सं.	पंक्ति सं.	अशुद्ध वाक्य	शुद्ध वाक्य
३०.	९६	१९	सूत्रपात्र	सूत्रपात
३१.	१०४	१९	श्री पूज्य के श्रीदान साग़र	श्रीपूज्य श्रीदान सागर
३२.	१०५	६	गुरू	गुरू:
३३.	१०५	१४	स्त्रत्र्यशीतिशिष्य	स्त्र्यशीतिशिष्य
३४.	१०५	१६	मध्यवृहस्पति प्रवेशं	मध्येवृहस्पति प्रवेशं
३५.	१०५	१८	शिष्या	शिष्या:
३६.	१०५	२४	त्र्यशितिश्य	त्र्यशीतिष्य
३७.	१०५	२४	चंत्रर शीति	चतुरशीति
३८.	१०६	२६	उतरवर्ती कालीन	उत्तरवर्ती कालीन
३९.	१०७	१६	किंचित्मात्र	किंचित्‌मात्र
४०.	१०९	८ वां दोहा	पूर्वविनीतो	पूर्वविनीतो
४१.	१०९	२७	उद्धेश्य	उद्देश्य
४२.	११०	२	चार्बूदाचलयात्राथ	चार्बुदाचल यात्रार्थ
४३.	११०	४	चतुनवत्यधिकनवशत	चर्तुनवत्यधिकनवशत
४४.	११२	२४	वर्द्धमना सूरि	वर्द्धमान सूरि
४५.	११४	९	निरोहित	तिरोहित
४६.	११४	१०	प्रभाचन्प्रसूरि	प्रभाचन्द्र सूरि
४७.	११७	१०	हए	हुए
४८.	११७	१४	दलवलिंगिणो	दव्वलिंगिणों
४९.	१२१	९	आर्यधारा	आर्यधरा
५०.	१२१	१८	महावीर चरियिम्	महावीर चरियं
५१.	१२३	२	पछवाथी	पूछवाथी
५२.	१२३	७	सामली	सांभली
५३.	१२३	१२	सोभाग्या चन्द्र सूरि	सोभाग्य चन्द्र सूरि
५४.	१२४	५	शाखेश्वर	शंखेश्वर
५५.	१३१	नीचे ३	संघवासेऽयासिपु:- भूयोऽपि	संघवासेऽयासिपु, भूयोऽपि
५६.	१३२	२३	श्रमण में जीवन	श्रमण जीवन में
५७.	१३४	१२	रचनाकर	रचनाकार
५८.	१३४	२५	पत्‌टवाली	पट्टावली
५९.	१३४	नीचे १	एद्धिपयक	एतद्विपयक
६०.	१३७	१३	कुवेरोपन	कुवेरोपम
६१.	१४२	३	उद्ययोतन	उद्योतन

क्र.सं.	पेज सं.	पंक्ति सं.	अशुद्ध वाक्य	शुद्ध वाक्य
६२.	१४४	२६	जन	जैन
६३.	१४५	१	वांग्मय	वाङ्मय
६४.	१४६	१५	किंचित्मात्र	किंचित्मात्र
६५.	१४६	१७	परम्परा का बताया	परम्परा बताया
६६.	१४७	१५	हरिभ्रद	हरिभद्र
६७.	१४७	१७	निवेषितौ	निवेषितौ
६८.	१४९	२०	विरत	निरत
६९.	१५६	३	वत्तियों	वृत्तियों
७०.	१५७	१६	शंकाओ को	शंकाओं के
७१.	१६१	१	वज्रानुप्रवृत प्रकट	वज्रादनुप्रवृत प्रकट
७२.	१६१	१८	संख्या ९९ को अन्तिम	संख्या ९९ के अन्तिम
७३.	१६८	२	परिणाम	परिमाण
७४.	१५६	१८	किंचित्मात्र	किंचिन्मात्र
७५.	१७६	१९	सत्यान्वेशी	सत्यान्वेषी
७६.	१७७	१	स्वय	स्वयं
७७.	१७७	२२	किंचित्मात्र	किंचिन्मात्र
७८.	१७८	३	प्रतिष्ठाचार्य के	प्रतिष्ठाचार्य की
७९.	१७९	२६	युग प्रानतुल्य	युग प्राणतुल्य
८०.	१८०	९	जसा	जैसा
८१.	१८१	११	किंचित्मात्र	किंचिन्मात्र
८२.	१८४	१४	चत्यवासियों	चैत्यवासियों
८३.	१८५	मैनहैडिंग	चत्यवासी	चैत्यवासी
८४.	१८७	१३	हीत्वा	गृहीत्वा
८५.	१८९	२१	चत्यवासी	चैत्यवासी
८६.	१९०	३०	चत्यवासी	चैत्यवासी
८७.	१९४	२८	आचाय	आचार्य
८८.	१९४	२९	आचाय	आचार्य
८९.	२०१	२५	रात्री हो जाने क	रात्रि हो जाने के
९०.	२०६	२६	वण	वर्ण
९१.	२१२	३	दिलवाकार	[illegible]
९२.	२२२	१	किंचित्मात्र	किंचिन्मात्र
९३.	२२३	२०	लील	[illegible]
९४.	२२३	९	सम्पादन कर दे	सम्पादन कर दे.
९५.	२३४	२३	जन धर्मावलम्बियों	जैन धर्मावलम्बियों
९६.	२२३	३०	[illegible]	[illegible]

क्र.सं.	पेज सं.	पंक्ति सं.	अशुद्ध वाक्य	शुद्ध वाक्य
९७.	२३८	नीचे ३	औ	और
९८.	२४०	१७	यथा ज्ञापयति	यथाऽज्ञापयति
९९.	२४०	अन्तिम	स्वय	स्वयं
११०.	२४३	नीचे २	यशोपताका	यश-पताका
१०१.	२५२	१२	व्यवह्लीयते	व्यवह्रियते
१०२.	२५४	५	प्रवचनोपघात्यैव	प्रवचनोपघात्येक
१०३.	२५६			टिप्पणी आ शु. ८ म.
१०४.	२६८	१०	गर्दमिः	गर्दभीः
१०५.	२६९	१९	लाखन कोटडी- से नाम	लाखन कोटड़ी- के नाम
१०६.	२७०	८	रामचन्द्रगणि	रामचन्द्रगणी
१०७.	२७५	८	वाङ्गमय	वाङ्मय
१०८.	२७७	४	अद्भुत्	अद्भुत
१०९.	२७८	८	ओष्टिक	औष्ट्रिक
११०.	२८४	२६	संघोक्तिभीतिस्तिेऽ- भूदा	संघोक्तिभीतिस्तेऽ- भूदा
१११.	२८९	५	ओर	और
११२.	२९३	५	देवसूरिनरेन्द्रवन्द्य	देवसूरिर्नरेन्द्रवन्द्य
११३.	२९४	८	चातुर्मासासावसार्थ	चातुर्मासावासार्थ
११४.	३०६	१७	वांग्मय	वाङ्मय
११५.	३०६	१७	वादि	वादी
११६.	३०६	२५	किमुचचते	किमुच्यते
११७.	३१०	१	सूरि चन्द्रपट्टे	चन्द्र सूरिपट्टे
११८.	३१३	१२	जिन मंडनगणि	जिन मंडनगणी
११९.	३१३	२५	शासनाविष्ठात्री	शासनाधिष्ठात्री
१२०.	३२१	६	विशद्ध	विशुद्ध
१२१.	३२४	नीचे ७	आगभोक्ता	आगमोक्ता
१२२.	३३०	२०	तवा	तथा
१२३.	३३१	१८	एये	गये
१२४.	३३२	२०	मुसुप्तावस्था	मुपुप्तावस्था
१२५.	३३३	१३	घन्धुका	धुन्धुका
१२६.	३३४	३	चाचिग	चाचिग
१२७.	३३४	१७	श्रेष्ठि	श्रेष्ठी
१२८.	३४१	नीचे ४	किन्चित्मात्र	किन्चिन्मात्र

क्र. सं.	पेज सं.	पंक्ति सं.	अशुद्ध वाक्य	शुद्ध वाक्य
१२९.	३४१	३	श्रेष्ठि	श्रेष्ठी
१३०.	३४२	१	तथ्यपूरण	तथ्यपूर्ण
१३१.	३४२	१४	श्रेष्ठि	श्रेष्ठी
१३२.	३४२	२३	अवनितल	अवनीतल
१३३.	३४३	नीचे ५	यशश्र्वन्द्रिका	यशश्चन्द्रिका
१३४.	३४४	६	श्रेष्ठि	श्रेष्ठी
१३५.	३४४	नीचे २	श्रेष्ठि	श्रेष्ठी
१३६.	३४४	नीचे २	चाचिग	चाचिग
१३७.	३४५	३	संगदेव	चांगदेव
१३८.	३४५	१२	श्रेष्ठि	श्रेष्ठी
१३९.	३४९	४	किंचित्मात्र	किंचिन्मात्र
१४०.	३५०	१६	उच्चरण	उच्चारण
१४१.	३५१	नीचे ३	स्वास्तिक	स्वस्तिक
१४२.	३५२	१	जगतितल	जगतीतल
१४३.	३७१	नीचे ५	किंचित्मात्र	किंचिन्मात्र
१४४.	३८२	२२	मुनाया	सुनाया
१४५.	३८८	५	आचाय श्री	आचार्य श्री
१४६.	३८८	१८	विश्वास	निश्वास
१४७.	३८८	अंतिम पंक्ति	यशोवर्मा के	यशोवर्मा के
			हाथ दे में दी	हाथ में दे दी
			अभिप्सित	अभीप्सित
१४८.	३९१	१९	हमचन्द्रसूरि	हेमचन्द्रसूरि
१४९.	३९३	१	वादि	वादी
१५०.	३९३	४	आखे	[illegible]
१५१.	३९७	नीचे ११	कृपण	[illegible]
१५२.	३९८	५	ईम्य	[illegible]
१५३.	३९९	नीचे ६	कुमरनरिन्दो	[illegible]
१५४.	४०१	१४	प्रतिस्ठापित	[illegible]
१५५.	४०४	नीचे १६	अपके	[illegible]
१५६.	४०८	नीचे ८	सर्वस्य	[illegible]
१५७.	४१०	नीचे ७	कमारपाल	[illegible]
१५८.	४१२	नीचे ११	आल्हानन	[illegible]
१५९.	४१३	२	श्रेष्ठि	[illegible]
१६०.	४२०	१२	किंचिन्मात्र	[illegible]
१६१.	४२५	नीचे ५	[illegible]	[illegible]
१६२.	४३०	१३		

क्र. सं.	पेज सं.	पंक्ति सं.	अशुद्ध वाक्य	शुद्ध वाक्य
१६३.	४३२	अन्तिम	वांग्मय	वांङ्मय
१६४.	४३३	१०	सोऽहंकुलरत्न	सोऽहम्म कुलरत्न
१६५.	४३३	नीचे ४	आचाश्रो	आचार्यश्री
१६६.	४३५	१६	कायाक्लेष	कायाक्लेश
१६७.	४३७	४	अन्तर्गत	अन्तंगत
१६८.	४३८	२	व्याघ्रपण्ली	व्याघ्रपल्ली
१६९.	४४०	अन्तिम	उल्लेखनीय श्री वृद्धि	उल्लेखनीय वृद्धि
१७०.	४४६	८	अवसर को टोह में	अवसर की टोह में
१७१.	४४६	नीचे ४	विद्युत्वेग	विद्युद्वेग
१७२.	४४८	१३	गुर्जराज्य	गुर्जरराज्य
१७३.	४४८	१४	सूलराज	मूलराज
१७४.	४५२	२०	अधिकर	अधिकार
१७५.	४४५	१	जन	जैन
१७६.	४६३	नीचे ८	चैत्वासियों	चैत्यवासियों
१७७.	४६३	नीचे ६	पड्यन्त्र	षड्यन्त्र
१७८.	४६५	नीचे ५	विषेधाज्ञा	निषेधाज्ञा
१७९.	४६७	८	किंचित्मात्र	किंचिन्मात्र
१८०.	४७०	१२	प्रामाणित	प्रामाणिक
१८१.	४७०	८	प्रदकित	प्रदर्शित
१८२.	४७२	नीचे १२	वांग्मय	वांङ्मय
१८३.	४७४	नीचे ५	श्रीकल्याण विजयजी	श्रीकल्याण विजयजी म०
१८४.	४७५	७	आचाय	आचार्य
१८५.	४७५	१८	खरतरगण श्राद्धैशतपा	खरतरगण श्राद्धैशतया
१८६.	४७७	१३	वांग्मय	वांङ्मय
१८७.	४७७	१५	गणि	गणी
१८८.	४७८	१६	प्रवेपित :	प्रवेशित :
१८९.	४८२	५	अनुयायियो का	अनुयायियों की
१९०.	४८२	१३	वांग्मय	वांङ्मय
१९१.	५०७	मैन	शामान्य	सामान्य
१९२.	५१६	८	किंचित्मात्र	किंचिन्मात्र
१९३.	५१६	१५	किंचित्मात्र	किंचिन्मात्र
१९४.	५४७	नीचे से ११	नाणं	नामं
१९५.	,,	नीचे से ७	अभिगम	अभिग

क्र. सं.	पेज सं.	पंक्ति सं.	अशुद्ध वाक्य	शुद्ध वाक्य
१९६.	,,	,, १	उसधरप्पवेसा	उधरप्पविसा
१९७.	६३४	नीचे से ७	समंव्यापी	सर्वव्यापी
१९८.	६४५	नीचे १२	उससे	उसने
१९९.	६५५	नीचे १०	सव्वेपाण	सव्वेपाणा
२००.	६५५	नीचे ७	अणवरदंडेसु	अणवरयदंडेसु
२०१.	६५८	२	लोमुक्खण	लोमुक्खणण
२०२.	६५८	१६	रलइ	रुलइ
२०३.	६५९	१७	शरीरननु छेद	शरीर नु छेद
२०४.	६८१	६	श्रोतारनइं	श्रोतानइं
२०५.	६८१	नीचे १२	असंकिणे	असंकिणो
२०६.	६८३	११	तहाएगणी	तहागणी
२०७.	६८३	१५	मयमं	मइमं
२०८.	६८४	१७	अपरियाणित्ता आया णो	परियाणित्ता आया
२०९.	६८४	नीचे ६	तण्णो	तंणो
२१०.	६८४	नीचे २	अमणन्नेण	अमणुन्नेणं
२११.	६८५	१६	परुभरणियाए	परभूरणियाए
२१२.	६८६	७	मासति	मांनंति
२१३.	६८६	८	जएणं	जणणं
२१४.	६८६	१२	असच्चाहमोसं	असच्चामोसं
२१५.	६८७	४	लिखोइ	निगोद
२१६.	६८७	५	जएणं	जणणं
२१७.	६८७	११	जल्या	जलया
२१८.	६८७	१५	संखेज्जजीवआ	संखेज्जविआ
२१९.	५८७	४	कायसोही	कायसोही
२२०.	६८८	३	जएणं	जणणं
२२१.	६८८	५	चोक्खं	चोक्खं
२२२.	६८८	७	कायसोही	कायसोही
२२३.	६८८	१६	गोसीसरस रत्तचंदण- दद्दरदिएण पंचंगुलितले	[illegible]
२२४.	६८८	नीचे १२	बहुजणवग्गस्स- विसयकिरणीए	[illegible]
२२५.	६८८	,, १०	नव्वोवाए	[illegible]

क्र. सं.	पेज सं.	पंक्ति सं.	अशुद्ध वाक्य	शुद्ध वाक्य
२२६.	६८८	९	अच्छेइ	अच्छेश्वइ
२२७.	६८९	१	तस्य जं	तस्य णं
२२८.	६९४	नीचे ६	एतला	केतला
२२९.	६९८	११	निहितस्वर्थ	निहित स्वार्थ
२३०.	७००	५	शथलाचारी	शिथिलाचारी
२३१.	७१७	५	मन्त्र बेने	मन्त्र देने

